उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड

(पञ्चस्तम्भात्मक)

२

निबन्धा—

मोतीलालशर्म्मा, 'वेदवीथीपथिक'

भारद्वाजोपाह्व

जयपत्तनाभिजन

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा

प्रकाशित

एवं श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) के द्वारा

मुद्रित

प्रथमवार ५००

मूल्य १५)

श्री

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के तत्त्वावधान से अनुप्राणित

एवं प्राच्यसाहित्य को ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा परिभाषाओं से समन्वित

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

(निबन्धा-मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाज)

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१—शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य— प्रथमवर्ष	४ ८★	१०)
२— " द्वितीयवर्ष	३९१★	१०)
३— " तृतीयवर्ष	४१४★	१)
४— " चतुर्थवर्ष	४६४	१९)
५— " पञ्चमवर्ष	१	७)
६—शतपथभाष्यत्रैवार्षिकविषयसूची	१० ★	२)
७—ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमखण्ड	५	१०)
८—ईशोपनिषत्-हिन्दी विज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड	५००	१०)
९—माण्डूक्योपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य	५०	१)
१०-हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड (बहिरङ्गपरीक्षा)	५००	१२)
११- " द्वितीयखण्ड-आत्मपरीक्षा 'क' विभाग	५ ०	१९)
१२- " " -ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा 'ख' विभाग	६००★	१५)
१३- " " -कर्म्मयोगपरीक्षा 'ग' विभाग	५ ०★	१९)
१४- " तृतीयखण्ड-बुद्धियोगपरीक्षा 'ग' विभाग	६५०	२०)
१५-हिन्दी-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड	५ ०	१२)
१६- " उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड	४००	१५)
१७- " उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड	५००	१५)
१८-'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक श्राद्धविज्ञान-प्रथमखण्ड	५००	२)
१९-'सपिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक श्राद्धविज्ञान-तृतीयखण्ड	६ ०	१५)
२०-खण्डचतुष्टयात्मक १ ० पृष्ठात्मक 'भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता' नामक निबन्धान्तर्गत भस्त्राख्यान-विश्वस्वरूपमीमांसात्मक प्रथमखण्ड	५५	१२)
२१-वेदेषु धर्मभि (सामयिक-संस्कृतनिबन्ध)	१४	॥)
२२-'श्राद्धविज्ञानप्रस्तापना (खण्डचतुष्टयात्मक श्रा ग्रन्थपरिचय)	६	१)
२३-हमारी समस्या (सामयिक-निबन्ध)	४ ★	।॥)
२४-मानवाश्रमवैदिक-क्षात्रसमष्टि (उपयोगी निबन्धसंग्रह)	२०	१)

चिह्नाङ्कित ग्रन्थ परिसमाप्त हैं, अतएव अनुपलब्ध हैं। पर्य्याप्त आर्थसंयोगोपलब्धि हो इनके पुनः प्रकाशन का आधार है।

एकमात्र प्राप्तिस्थान—
व्यवस्थापक-प्रकाशनविभाग—
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर'
प्रधान कार्य्यालय-मानवाश्रमविद्यापीठ
दुर्गापुरा, जयपुर (राजस्थान)

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डस्य
'किमपि प्रास्ताविकम्'

प्रस्तोता—वेदवीथीपथिकः

श्री
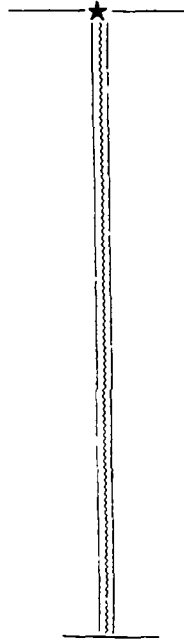
किमपि प्रस्ताविकम्

औपनिषद पुरुष के निग्रहात्मक अनुग्रह से 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड' प्रकाशित हो रहा है, जो विगत १५ वर्षों से प्रकाशन की आशा-प्रतीक्षा का अनुगामी बना हुआ था। विगत कतिपय-वर्षों से प्रकारणा अपनी शारीरिक अस्वस्थता के अनुबन्ध से बाह्यप्रवृत्ति प्रधान प्रकाशनादि कार्य्यों से हम तटस्थ बन चुके थे। सहसा गत वर्ष सुहृद्वर श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल महोदय का ध्यानभागात्मक वह सान्निध्य अङ्कुरित हो पड़ा, जिसका बीजवपन 'शतपथविज्ञानभाष्य' के माध्यम से सन् ३२ में हुआ था। अवश्य ही इस सान्निध्य को 'देवप्रसाद' ही माना जायगा, जिसके अनुग्रह से विगत १०-१२ वर्षों से सर्वथा अन्तर्मुख बन जाने वाली प्रकाशन-प्रचारादि-लोकप्रवृत्तियाँ आज पुनः अग्रवाल महाभाग के द्वारा अभिव्यक्त हो रही हैं। अपनी इन अभिव्यक्तियों को (युगभाषा के अनुसार) वैधानिकरूप से सुव्यवस्थित बनाने के लिए गत नवम्बर सन् ५५ में 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' नामक एक वैधानिक (राजस्थानशासन के द्वारा स्वीकृत-रजिस्टर्ड) संस्थान प्रतिष्ठित हुआ, जिसके 'मन्त्रित्व' का महान् उत्तरदायित्व भी सत्प्रेरक अग्रवाल महाभाग से ही अनुप्राणित हुआ।

संस्थान-संस्थापन से पूर्व अपनी अस्वस्थता के कारण प्रवासयात्राओं में कतिपय वर्षों से असमर्थ बन जाने से राजस्थान शासन का हमनें इस ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु निरन्तर २-३ वर्ष पर्य्यन्त सतत अनुधावन करते रहने पर भी हमें सम्भवतः किसी हमारी ही अज्ञात-त्रुटि से इस दिशा में कोई सफलता नहीं मिल सकी। संस्थान के मान्य मन्त्री महाभाग ने संस्थान के संस्कृतिनिष्ठ माननीय श्रीलक्ष्मीलालजी जोशी महाभाग के सहयोग से पुनः 'सत्ता' की अनुग्रहप्राप्ति का उपक्रम किया, जो निश्चयेन 'योगसंसिद्ध-कालोपस्थिति' पर सफल होगी ऐसी धारणा है।

'संस्थान' की शैशवावस्था को जीवन प्रदान करने वाले इस साहित्यसेवी के शाश्वत सहयोगी माननीय श्रेष्ठिप्रवर श्रीगुड़ीलालजी सेकसरिया—श्रीमहावीरप्रसादजी झुनझुनवाला, एवं श्रीजगदीशप्रसादजी सेकसरिया महाभाग के सात्त्विक सहयोग से ही संस्थान अब तक 'स्वजीवनधारण' में समर्थ बन सका है, जिसके लिए संस्थान अवश्य ही इन पुरातन-सहयोगियों

के प्रति कृतज्ञता अर्पित करना अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य मानेगा। इसी सहयोग के बल पर संस्थान ने अपने प्रक्रान्त सम्वत्सर में दो सहस्र पृष्ठात्मक तो साहित्य प्रकाशित किया है, एवं दो मेधावी प्रतिभाशाली आचार्य्य स्नातकों को वैदिकतत्त्व-परम्परानुगत स्वाध्याय के प्रति आकर्षित किया है।

संस्थान-हितैषी इस 'शुभवाद' को भी गौरव के साथ सुनेंगे कि, मान्य मन्त्री महाभाग के सर्वथा अभिनन्दनीय प्रयास से भारत राष्ट्र के महामहिम राष्ट्रपति **श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग** ने संस्थान के 'प्रधानसंरक्षक' बनने की अनुमति प्रदान कर संस्थान को कृतज्ञ बनाया है। इसके अतिरिक्त यह भी अग्रवाल महाभाग के ही साम्वत्सरिक प्रयास का सुपरिणाम है कि, राजस्थान के मुख्यमन्त्री माननीय **श्रीमोहनलालजी सुखाड़िया** ने भी संस्थान की उपयोगिता के सम्बन्ध में अपने उदार विचार अभिव्यक्त किए हैं। महामहिम राष्ट्रपति महाभाग की ओर से प्राप्त 'प्रधान संरक्षकता-स्वीकृतिपत्र' प्रतिकृतिरूप से मुखपृष्ठ के सान्निध्य में सम्मानपूर्वक उद्धृत कर दिया गया है। अवश्य ही यह संस्थान के लिए प्रतीक्षात्मक आशामय वातावरण माना जायगा, जिसके आकर्षण से संस्थान के सदस्य अब और भी अधिक उत्साह से इस प्राच्यतत्त्वानुष्ठान में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

'संस्थान' के अनुग्रह से ही प्रक्रान्त सम्वत्सर में हम चार ग्रन्थ-प्रकाशित कर सके हैं। अतएव कृतज्ञता के रूप में इस प्रास्ताविक के आरम्भ में हमें 'संस्थान' का मुक्त-प्रक्रान्त इतिवृत्त समाविष्ट करना पड़ा। अब दो शब्दों में प्रस्तुत द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन कर दिया जाता है।

उपनिषद्भूमिका-प्रथमखण्ड में—'क्या उपनिषत् वेद है ?', इस प्रासङ्गिक प्रश्न का उत्थान हुआ है, जिससे सम्बन्ध रखने वाले बाह्य-विषयों का प्रथमखण्ड में ही विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। प्रस्तुत द्वितीयखण्ड उसी प्रक्रान्त प्रश्न का शेष-समाधान करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। सचमुच यह भारतीय आर्षप्रजा का निःसीम दुर्भाग्य है कि, वह अपने सर्वस्वभूत आर्ष वैदिक-तत्त्ववाद के ज्ञानविज्ञानात्मक रहस्यपूर्ण बोध से, उसके मौलिक उपपत्ति-ज्ञान से सर्वथा पराङ्मुख ही बनी हुई है। पराङ्मुखता के विदित-अविदित अन्यान्य कारणों के समतुलन में सबसे प्रमुख कारण यही प्रतीत हो रहा है कि, आर्ष प्रजाने 'वेद की अपौरुषेयता' का मर्म्म न समझ कर शब्दात्मक वेदग्रन्थ को ही अपनी अपौरुषेयनिष्ठा का केन्द्र मान लिया। इसी महती भ्रान्ति ने इसके तात्त्विक जीवन को सर्वथैव साम्प्रदायिक, तथा अभिनिविष्ट जीवन बना डाला, जिसके दुष्परिणामस्वरूप इसके वैयक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-, तथा विश्वानुबन्धी समस्त कर्म्मकलाप एकान्ततः अव्यवस्थित ही प्रमाणित होते रहे। आप वैदिक-साहित्य जैसी

ज्ञानविज्ञाननिधि का अधिपति भी भारतीय आप्तवर्ग अपनी प्रज्ञापराधजनिता 'अपौरुषेयभ्रान्ति' से वैदिकसाहित्य के ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वबोध से अपरिचित रहता हुआ आज सभी क्षेत्रों के लिए उपहास का साधन बना हुआ है। इसकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही प्रस्तुत द्वितीय खण्ड उपनिबद्ध हुआ है।

क्या वेदों को पौरुषेय प्रमाणित करना ही हमारा मुख्य लक्ष्य है ?, प्रश्न के सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, शब्दार्थ के औत्पत्तिक (नित्य) सम्बन्ध से अनुप्राणित अपौरुषेय-तत्त्वात्मक वेदशास्त्र का निरूपक शब्दात्मक वेदग्रन्थ भी यद्यपि अवश्य ही है तो अपौरुषेय ही। किन्तु इस वेदग्रन्थ की यह अपौरुषेयता अपना एक विशेष महत्त्व रखती है, जिसे अवगत किए बिना वेदग्रन्थ की अपौरुषेयता का रहस्यात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं हो सकता। इसी रहस्यात्मक दृष्टिकोण के विश्लेषण के लिए 'भूमिका-तृतीयखण्ड' उपनिबद्ध हुआ है। प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में शब्दात्मक वेदग्रन्थ में उपवर्णित अर्थात्मक (तत्त्वात्मक) उस नित्यकूटस्थ-अपौरुषेय 'वेद' का ही स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है, जिसके स्वरूप से भारतीय प्रज्ञा अनेक शताब्दियों से सर्वथा अपरिचित ही मानी, और कही जा सकती है।

विगत शताब्दियों में वेदार्थ के सम्बन्ध में जिन भारतीय विद्वानों ने जो कुछ लिखा, सब का लक्ष्य शब्दात्मक वेदग्रन्थ ही रहा। "तेजोमय सूर्य्यमण्डल का मण्डलात्मक मूर्त्तिभाव 'ऋक्' है, सौर रश्मिरूप अर्चिर्म्मण्डल (तेजोमण्डल) साम है, एवं सौर प्राणात्मक गतिधर्म्मा अग्नि यजु है" इत्यादि रूप से उपवर्णित तत्त्वात्मक वेद की ओर किसी वेदव्याख्याता का ध्यान न गया *। "पाञ्चभौतिक महाविश्व में जितने भी व्यक्त-मूर्त्त-पिण्ड हैं, उन सबका अधिष्ठान तत्त्वात्मक ऋग्वेद है, वस्तुपिण्डों का स्वरूप सुरक्षित रखने वाला 'एति-प्रेति' लक्षण गतिधर्म्म तत्त्वात्मक यजुर्वेद से अनुप्राणित है, एवं स्पृश्य वस्तुपिण्ड को दृश्यमहिमामण्डलरूप में परिणत कर देने वाला 'विभूतिमण्डलात्मक'

---

*-यदेतन्मण्डलं तपति-तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते-तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तद्धैतदप्यविद्वांस आहुः-'त्रयी वा एषा विद्या तपति' इति।

—शत ब्रा० १०।५।२।१,२,।

तेजोमण्डल तत्त्वात्मक सामवेद है," इस रहस्य का किसी भी भारतीय व्याख्याता ने स्पर्श भी नहीं किया –। "वस्तुपिण्ड का विष्कम्भ (व्यास) ही उस वस्तु का ऋक् है, वस्तुपिण्ड का मध्यबिन्दु (केन्द्रबिन्दु) ही उस वस्तु का यजु है, एवं वस्तुपिण्ड का चारों ओर का वह परिणाह (घेरा-जो ऋग्रूप विष्कम्भ से त्रिगुणित है, अतएव जिसके लिए- 'त्रिच साम' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है)–ही उस वस्तु का साम है" इस वस्त्वाधार भूता तत्त्वात्मिका वेदत्रयी का किसी भी व्याख्याता ने अपनी वेदव्याख्याओं में नामस्मरण भी नहीं किया।

सचमुच हमारे लिए यह असमाधेय ही प्रश्न है कि, वेद के प्रति अनन्य श्रद्धा रखने वाले भी भारतीय व्याख्याता कैसे विस्पष्टतम भी इस यथोपवर्णित तत्त्वात्मक वेदस्वरूपबोध से अद्यावधि तटस्थ बने रह गए ? । सहजप्रज्ञानानुगत सविता देवता इस दिशा में यही समाधान कर रहे हैं कि त्रिगुणभावप्रधानता से वेदानुगत (ब्राह्मणभागानुगत) आर्षविद्या (प्राणविद्या)-त्मक धर्म्मबुद्धियोगलक्षण निष्कामकर्म्मयोग मानव की प्रकृतिनिबन्धना एषणा के निग्रहानुग्रह से कालान्तर में त्रिगुणभावापन्न बन गया। परिणामस्वरूप निष्कामयोग काम्ययोगात्मक 'यज्ञकाण्ड' रूप में परिणत हो गया। काम्यकर्म्मानुबन्धी इस यज्ञिय कर्म्मकाण्ड के प्रति भारतीय प्रज्ञा सर्वात्मना अभिनिविष्ट हो गई। इसी आसक्तिमूलक कर्म्माभिनिवेश ने भारतीय प्रज्ञा को इस सीमा पर्य्यन्त अभिनिविष्ट बना डाला कि, जिस किसी ने कर्म्मकाण्डपद्धतियों में जैसा कुछ सन्निवेश कर डाला, वह भी इस भावुक कर्म्मठ के लिए एक 'शास्त्रविधान' ही प्रमाणित हो गया। ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के महान कोश शतपथब्राह्मण में एक इसी प्रकार के अभिनिवेश का भगवान् याज्ञवल्क्य ने स्पष्टीकरण किया है । पाठकों के अनुरञ्जन के लिए वह उदाहरण यहाँ भी उद्धृत कर दिया जाता है।

शारीरिक भूताग्नि में प्राणाग्नि के आधान के लिए विहित विशेष यज्ञकर्म्म ही 'अग्न्याधान-कर्म्म' कहलाया है । तैत्तिरीय सम्प्रदाय के किसी याज्ञिक ने जब अग्न्याधान किया होगा, तो वहीं कहीं आस पास 'अज' पशु भी बँध रहा होगा। एकमात्र इसी आधार पर तद्वंशजों ने, एवं तदाचार्य्यसम्प्रदायशिष्यों ने अग्न्याधानकर्म्म में अजपशु बाँधना भी शास्त्रविहित मान लिया, जब

---

१ —ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्वं तेज सामरूप्य ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
—तैत्तिरीय ब्रा० ३।१२।९।१ २, ।

ज्ञानविज्ञाननिधि का अधिपति भी भारतीय आपवर्ग अपनी प्रज्ञापराधजनिता 'अपौरुषेयभ्रान्ति' से वैदिकसाहित्य के ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वबोध से अपरिचित रहता हुआ आज सभी क्षेत्रों के लिए उपहास का साधन बना हुआ है। इसकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही प्रस्तुत द्वितीय खण्ड उपनिबद्ध हुआ है।

क्या वेदों को पौरुषेय प्रमाणित करना ही हमारा मुख्य लक्ष्य है ?, प्रश्न के सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, शब्दार्थ के औत्पत्तिक (नित्य) सम्बन्ध से अनुप्राणित अपौरुषेय-तत्त्वात्मक वेदशास्त्र का निरूपक शब्दात्मक वेदग्रन्थ भी यद्यपि अवश्य ही है वो अपौरुषेय ही। किन्तु इस वेदग्रन्थ की यह अपौरुषेयता अपना एक विशेष महत्त्व रखती है, जिसे अवगत किए बिना वेदग्रन्थ की अपौरुषेयता का रहस्यात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं हो सकता। इसी रहस्यात्मक दृष्टिकोण के विश्लेषण के लिए 'भूमिका—तृतीयखण्ड' उपनिबद्ध हुआ है। प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में शब्दात्मक वेदग्रन्थ में उपवर्णित अर्थात्मक (तत्त्वात्मक) उस नित्यकूटस्थ—अपौरुषेय 'वेद' का ही स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है, जिसके स्वरूप से भारतीय प्रज्ञा अनेक शताब्दियों से सर्वथा अपरिचित ही मानी, और कही जा सकती है।

विगत शताब्दियों में वेदार्थ के सम्बन्ध में जिन भारतीय विद्वानों नें जो कुछ लिखा, सब का लक्ष्य शब्दात्मक वेदग्रन्थ ही रहा। "तेजोमय सूर्य्यमण्डल का मण्डलात्मक मूर्त्तिभाव 'ऋक्' है, सौर रश्मिरूप अर्चिर्म्मण्डल (तेजोमण्डल) साम है, एवं सौर प्राणात्मक गतिधर्म्मा अग्नि यजु है" इत्यादि रूप से उपवर्णित तत्त्वात्मक वेद की ओर किसी वेदव्याख्याता का ध्यान न गया *। "पाञ्चभौतिक महाविश्व में जितने भी व्यक्त—मूर्त्त—पिण्ड हैं, उन सबका अधिष्ठान तत्त्वात्मक ऋग्वेद है, वस्तुपिण्डों का स्वरूप सुरक्षित रखने वाला 'एति—प्रेति' लक्षण गतिधर्म्म तत्त्वात्मक यजुर्वेद से अनुप्राणित है, एवं स्पृश्य वस्तुपिण्ड को दृश्यमहिमामण्डलरूप में परिणत कर देने वाला 'विभूतिमण्डलात्मक'

---

*—यदेतन्मण्डल तपति—तन्महदुक्थं, ता ऋच , स ऋचां लोक । अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते—तन्महाव्रत, तानि सामानि, स साम्नां लोक.। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष सोऽग्नि , तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तद्ध—तदप्यविद्वांस आहु —'त्रयी वा एषा विद्या तपति' इति ।

—श० ब्रा० १०।५।२।१,२,।

से प्रसिद्ध हैं। आपने काम्य कर्म्मवाद की एषणाओं से भारतीय प्रज्ञा का उद्बोधन कराया। एव तत्परिणामस्वरूप राष्ट्र म कर्म्मत्यागलक्षणा वैसी वेदान्तनिष्ठा जागरूक हो पड़ी, जिससे कामना के साथ साथ कर्म्मकाण्ड भी अभिभूत हो गया। संहिता, एव तद्व्याख्याभूत ब्राह्मणग्रन्थों का स्पर्श भी न करते हुए आचार्य्य ने केवल उस 'उपनिषत्' को ही अपनी व्याख्या का मुख्य लक्ष्य बनाया, जो उपनिषत्-शास्त्र यात्प्रदृष्ट्या सहसा ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है, मानो इसके द्वारा कर्म्मकाण्ड का विरोध ही हुआ हो, जैसा कि-'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा'-'नास्त्यकृत कृतेन'-'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण'-'त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशु' इत्यादि कतिपय औपनिषद वचनों से स्पष्ट है।

वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, 'संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्' चारों विभाग परस्पर नित्य सश्लिष्ट हैं। चारों की समष्टि ही 'कृत्स्नवेदशास्त्र' है। अतएव चारों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं जैसाकि 'उपनिषत्' शब्द के अवच्छेदक का स्पष्टीकरण करते हुए भूमिका-प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। संहिता, एवं तद्व्याख्याभूत ब्राह्मणग्रन्थों को रहस्यपूर्णा सृष्टिविद्या का परिज्ञान किए बिना केवल उपनिषत् भाग के आधार पर 'उपनिषत्' के एक अक्षरार्थ का भी समन्वय सम्भव नहीं है। कहना न होगा कि, इसी भक्तिभावात्मिका उपनिषद्भक्ति ने भारतीय विज्ञानगरिमा को सर्वथा अभिभूत ही कर डाला। और केवल वेदान्तनिष्ठा का उद्घोष करने वाली आर्यप्रजा अभ्युदय-निःश्रेयस-ससाधक समस्त कर्त्तव्य-कर्म्मों से एकान्तत पराङ्मुख ही बन गई। कालान्तर में इसी पराङ्मुखता ने उस 'सन्तमत' को जन्म दे ही तो डाला, जिसका मूलकेन्द्र बना भावुकता, एवं महान् पुरुषार्थ बना' , आलस्यालसम्।

और आज के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारत की स्वतन्त्रनिष्ठ प्रज्ञा ने अपने इस मौलिक साहित्य, तथा तन्मूला राष्ट्रीय सस्कृति का कैसा स्वरूप समझा-समझाया ? प्रश्न इसलिए सर्वथा अमीमांस्य है कि आसन्नप्राप्ता अभिनव-स्वतन्त्रता की स्वातन्त्र्यचर्व्वणा से मन-शरीर-विभोर बने हुए जन-गण के अन्तराल को इस कटुप्रश्न की कटुमीमांसा से संक्षुब्ध कर देना हमें अभीष्ट नहीं है। 'संस्कृति' के नाम पर जहाँ-जैसा-जो कुछ घटित-विघटित हो रहा है वही बहुत सम्भव है-निकटभविष्य में ही राष्ट्रीय जन-मानस को उद्बोधन प्रदान करे। एतद्व्यतिरिक्त जब तक भारतीय विद्वान् अपने मौलिक आर्षसाहित्य को, एवं तन्मूला राष्ट्रीय सस्कृति को अनेक शताब्दियों के पूर्वनिर्दिष्ट काल्पनिक आवेशों से उन्मुक्त कर उसे विशुद्ध-ज्ञानविज्ञानस्वरूप से राष्ट्र के सम्मुख समुपस्थित नहीं कर देते, तब तक राष्ट्रीय प्रजा म इस सम्बन्ध में कुछ भी आग्रह करना केवल दुराग्रह ही तो माना जायगा।

कि इसका शास्त्रविधि से कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवान् याज्ञवल्क्य ने इसी काल्पनिक 'अज-पशुबन्धन' कर्म्म की निःसारता बतलाते हुए कहा है कि, यज्ञ में समागत हविर्द्रव्यादि को सुरक्षित रखने के लिए ही आचार्य्यविशेष ने अग्न्याधानकाल में अपने घर के अजपशु को बँधवा दिया था, जिस बन्धनकर्म्म का यज्ञपद्धति से कोई सम्बन्ध नहीं है। कहीं से अजपशु लाकर बाँधना, एवं इससे यज्ञपद्धति की पूर्णता मान बैठना सर्वथा निरर्थक है। यदि घर में अज पशु हो, और उससे आशङ्का ही हो, तो अग्नीध्रादि किसी ऋत्विक को ही वह दे देना चाहिए। इससे भी हविर्द्रव्यादिरक्षात्मक प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इसका तो कुछ भी अर्थ नहीं है कि, कहीं से अजपशु लाया जाय, और उसे पद्धति का अङ्ग मानते हुए बाँधा जाय ❀।

काम्य कर्म्मों का आत्यन्तिक अभिनिवेश, तत्पद्धतिमात्र के पूर्वापरसमन्वय की आतुरता, लोकफलैषणाओं की सतत पर्य्येषणा, आदि आदि अभिनिवेशों ने ही विगत शताब्दियों में वेद के रहस्यपूर्ण तत्त्ववाद को एकान्ततः आवृत कर लिया। फलस्वरूप तत्कालीन व्याख्याताओं का एकमात्र यही पुरुषार्थ शेष बना रह गया कि, वे पदान्वय-पदपर्य्यायादि के द्वारा प्रकृति-प्रत्यय-समन्वय-माध्यम से वेदशास्त्र की कर्म्मकाण्डपरा व्याख्याओं में ही अपनी प्रज्ञा समर्पित करते रहें। अवश्य ही जहाँ तक 'कर्म्मपद्धति' का सम्बन्ध है व्याख्याताओं का प्रयास स्तुत्य माना जायगा। किन्तु जिस मौलिक रहस्यविज्ञान के (सृष्टिविज्ञान के) आधार पर कर्म्मकाण्ड व्यवस्थित था, उसे सर्वथा विस्मृत कर देने का ही यह महाभयावह परिणाम हुआ जिसके कारण आज वही आर्ष शास्त्र हमारी दृष्टि में एक अनुपयोगी शास्त्र प्रमाणित हो रहा है, किंवा प्रमाणित किया जा रहा है। 'यदेव विद्यया करोति-श्रद्धया-उपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' (छान्दोग्य उप० १।१।१०) इत्यादि शास्त्रसिद्ध आदेश की उपेक्षा करने वाले व्याख्याताओं का कार्य्यकारण-सम्बन्धपरिज्ञानात्मिका विद्या, मानस सत्यसंकल्प से अनुप्राणिता बुद्धियुक्ता धृतिलक्षणा श्रद्धा, एवं मौलिक उपपत्तिपरिज्ञानात्मिका उपनिषत्, इन तीनों माध्यमों से वञ्चित केवल प्रकृति-प्रत्यय-समन्वयात्मक व्याख्याकौशल उत्तरोत्तर निर्वीर्य्य ही प्रमाणित होता गया।

यज्ञकर्म्मानुगता तथाकथिता अभिनिवेशभावना का विगत युगों में अवश्य ही एक भारतीय मेधावी-महाविद्वान के द्वारा संशोधन हुआ, जो आस्तिक प्रजा में 'भगवान् शङ्कराचार्य्य' नाम

❀—सदैक (तैत्तिरीया) अजमुपबध्नन्ति—'आग्नेयोऽज, अग्नेरेव सर्वत्वाय'—इति वदन्त । तदु तथा न कुर्यात् । यदि अज स्यात् (गृहे), अग्नीध्र एवैनं प्रातर्दद्यात् । तेनैव त कामममाप्नोति । तस्मान्नाद्रियेत ।

—शत०ब्रा०२।१।३।३।

ऐसा समझने में 'अग्निर्मुख प्रथमो देवतानामुत्तमो विष्णुरासीत्' इत्यादि मन्त्र ही प्रमाण है। अर्थात् मन्त्र में अग्नि को 'प्रथम', एवं विष्णु को 'उत्तम' कहा है। अतः यहाँ के अवम-परम-शब्दों को प्रथम-उत्तम-परक लगा लेना चाहिए। अथवा "वै" शब्द उपपत्ति का द्योतक है। और उपपत्ति की योजना (समन्वय) यों कर लेनी चाहिए कि, यद्यपि 'देव' शब्द सामान्यार्थक बनता हुआ सम्पूर्ण देवताओं का वाचक है। तथापि यहाँ प्रकरणबल से 'अग्निष्टोम' नामक यज्ञ के अङ्गों से सम्बन्ध रखने वाले शस्त्रकर्म्मों में प्रतीयमाना प्रधान देवता ही विवक्षित है। शस्त्र १२ हैं। इन में पहिला 'आज्यशस्त्र' है, जिसके सम्बन्ध में 'भूरग्निर्ज्योतिरग्नि' यह मन्त्र विहित है। 'अग्निमारुत' नामक शस्त्र अन्तिम (१२ वाँ) शस्त्र है, जिसके सम्बन्ध में 'विष्णोर्नु कम्' यह मन्त्र विहित है। इसप्रकार अग्निष्टोमसंस्था में द्वादश शस्त्रपाठापेक्षया अग्नि का प्रथमत्त्व एवं विष्णु का उत्तमत्त्व प्रमाणित हो रहा है। (एव यही पूर्ववचन के अवम-परम शब्दों की उपपत्ति है)। अथवा सभी संस्थाओं में उक्त न्यायानुसार अग्नि का प्राथम्य, एवं विष्णु का उत्तमत्त्व स्थापित है। (यह भी उपपत्ति मानी जा सकती है)। अथवा-प्रथमा दीक्षणीयेष्टि में अग्नि का यजन होता है, एवं अन्त की उपसद्वसानीयेष्टि के स्थान में वाजसेनयी लोग वैष्णवी पूर्णाहुति करते हैं। इसलिए भी अग्नि-विष्णु को अवम-परम-माना जा सकता है। सभी उपपत्तियों का सार ? यही है कि, स्तोतव्य, तथा यष्टव्य देवताओं की अपेक्षा अग्नि का प्राथम्य, एव विष्णु का उत्तमत्त्व ही युक्तियुक्त है। अतएव सम्पूर्ण देवताओं के दोनों ओर रक्षक की भाँति अग्नि-विष्णु ही प्रशस्त मान लिए गए हैं'।

—देखिए ऐ० ब्रा० १।१।१। का सायणभाष्य

शास्त्रवादी(शास्त्राभिनिविष्ट)केवल श्रद्धालु प्राच्य व्याख्याता कहते हैं-"अमुक अमुक स्थलों में अग्नि-विष्णु को प्रथम-उत्तम कहा है, इसलिए अग्नि को देवताओं में अवम, तथा विष्णु को परम मान लिया है"। एवं शुष्क-बुद्धिवादी प्रतीच्य व्याख्याता कहते हैं-"आरम्भ में अग्निपूजन प्रधान था, कालान्तर में विष्णुपूजन प्रधान बन गया। उसी युग में ऐसी मान्यता बन गई कि, अग्नि का गौण स्थान है, एव विष्णु का प्रमुख स्थान है"।

क्या उक्त दोनों दृष्टिकोणों से हम किसी तात्त्विक दृष्टिकोण का अनुगमन कर सकते हैं ?। नेति होवाच। इसी लिए तो हम यह निवेदन करना पड़ा कि तत्त्ववाद की विलुप्ति ने ही इसप्रकार वेदार्थ के सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियों का सर्जन कर डाला है। पारिभाषिक तत्त्वबोध का अभाव, एवं अपने कल्पित सिद्धान्तों के माध्यम से वेदाक्षरों के समन्वय की

अवश्य ही हमें इस दिशा में उन प्रतीच्य विद्वानों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर देनी चाहिए, जिन्होंने आर्ष वैदिक साहित्य के उन दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन कर अपनी प्राच्य-सांस्कृतिक निष्ठा से भारतराष्ट्र को ऋणी बनाया है, जबकि आर्ष वैदिक साहित्य की नाममक्ति में विभोर भारतराष्ट्र के सामान्य जनमानस की कौन कहे, अधिकांश विद्वानों को भी उन ग्रन्थों के नाम भी विदित नहीं हैं। रही बात प्रतीच्य विद्वानों के द्वारा सङ्कलिता अर्थसमन्वयात्मिका व्याख्याओं की। सो इसलिए अमीमांस्य है कि, जब कि स्वयं भारतीय विद्वान् ही तथाकथितरूपेण 'व्याख्याजगत्' की दृष्टि से मीमांस्य हैं, तो जिन प्रतीच्य विद्वानों के साहित्य-विमर्श का एकमात्र आधार विशुद्ध बुद्धिवाद है, वे यदि इस दिशा में अपनी मान्यताओं के अनुपात से ही भारतीय आर्ष साहित्य की व्याख्या करें, तो कोई आश्चर्य्य नहीं है साथ ही जो आधुनिक भारतीय विद्वान्, जिनके कि आदर्श एकदेशतया प्रतीच्य विद्वान् ही बने हुए हैं, वे भी यदि वेदव्याख्या के सम्बन्ध में उन्हीं के विचारों का अनुसरण करें, तो इसमें भी कोई आश्चर्य्य नहीं है। विशुद्ध बुद्धिवादात्मिका इन प्रतीच्य-व्याख्याओं का केवल एक ही उदाहरण पर्य्याप्त होगा यह प्रमाणित करने के लिए कि, वैदिक पारिभाषिक तत्त्वार्थसमन्वय से वञ्चित श्रद्धा-आस्था-विद्या-उपनिषत्-शून्य-शुष्क बुद्धिवाद, एवं बुद्धितत्त्वशून्य अभिनिवेशात्मक विशुद्ध अन्धश्रद्धावाद किस प्रकार वेदार्थ को विकृत कर दिया करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध ऐतरेय ब्राह्मण का आरम्भ-'ओं-अग्निर्वै देवानामवम, विष्णु परमः। तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' (ऐत० ब्रा० १।१।१।) इस वचन से हुआ है। बुद्धिवादी प्रतीच्य व्याख्याताओं नें, एवं तदनुगामी केवल बुद्धिवादी अर्वाचीन भारतीय व्याख्याताओं नें उक्त वचन का तात्त्विक ? समन्वय करते हुए अपने ये विचार व्यक्त किए हैं कि- "यज्ञारम्भकाल म भारतीय प्रधानरूप से अग्नि को ही प्रधानता देते थे। किन्तु आगे जाकर अग्नि का स्थान विष्णुपूजा ने ग्रहण कर लिया। फलस्वरूप अग्नि गौण देवता बन गए, एव विष्णु प्रधान देवता बन गए। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य देवता अनुपात से विभिन्न स्थान-सम्मानों के अधिकारी मान लिए गए"।

प्राच्य भारतीय वेदव्याख्याता केवल श्रद्धालु सर्वश्री सायणाचार्य्य ने उक्त वचन का कैसा, और क्या समन्वय किया है ?, यह भी देख लीजिए। जैसा कि निवेदन किया गया है, इन प्राच्य भारतीय व्याख्याताओं की दृष्टि भी केवल कर्म्मपद्धतियों पर ही विश्रान्त है। अतएव पद्धति के माध्यम से ही ये वेदार्थ में प्रवृत्त हुए हैं। सायणाचार्य्य कहते हैं-"जो देवता 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध हैं उन्हें देवताओं के मध्य में अवम-प्रथम समझना चाहिए। जो विष्णु हैं, वे परम-उत्तम हैं।

'अग्नि' नामक सत्वग्नि, मशान्त म 'विष्णु' नामक अन्तिम आदित्य, शेप मध्यस्थ ३१ मों प्राणदेवता दोना के मध्य में भुक्त, भेषा प्राकृतस्थिति' ।

वैध यज्ञ के द्वारा यज्ञकर्त्ता इन प्राकृतिक पार्थिव आधिदैविक प्राणाग्निदेवताओं को अपने आधिभौतिक प्राणाग्नि में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस आधिदैविक-कर्म्माधिकार की योग्यतासम्पादन करने के लिए जो आरम्भ में इष्टिकर्म्म' किया जाता है, वही 'दीक्षणीयेष्टि' कहलाया है। इससे यज्ञकर्त्ता दीक्षित (अधिकारी) बन जाता है। इस दीक्षणीयेष्टि में 'आग्नावैष्णवपुरोडाश द्रव्य सम्पन्न होता है, जैसा कि-'आग्नावैष्णव पुरोडाशं निर्वपति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐ० ब्रा० १।१।१) इत्यादि उत्तरवचन से स्पष्ट है। इस दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला पुरोडाश (हविर्द्रव्य) आग्नावैष्णव क्यों होता है ?, दूसर शब्दों में दीक्षणीयेष्टिकर्म्म में अग्नि, और विष्णु को ही क्यों प्रधानता दी जाती है ?, इसी प्रश्न की मौलिक उपपत्ति (उपनिषत्) बतलाते हुए भगवान् ऐतरेय ने कहा है कि-'अग्निर्वै देवानामवमः विष्णुः परमः । तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' । तात्पर्य्य स्पष्टतम है। तेंतीसों प्राणाग्नि-देवताओं के साथ यज्ञकर्त्ता को अन्तर्य्यामसम्बन्ध स्थापित करना है। एवं यह प्रयोजन सर्वादिभूत अग्निदेव, तथा सर्वान्तभूत विष्णुदेव के संग्रह से संसिद्ध होजाता है। क्योंकि इतर सम्पूर्ण प्राणदेवता इन दोनों अवम (उपक्रम)-परम (उपसंहार) स्थानीय प्राणदेवताओं से संगृहीत हैं। कहना न होगा कि, परिभाषाओं के समन्वय के बिना स्पष्टतम भी इत्थंभूत समन्वय प्राच्य-प्रतीच्य व्याख्याताओं के अनुग्रह से एक जटिल-समस्या प्रमाणित कर दिए गए हैं। अलमतिपल्लवितेन।

यही अवस्था वेदपदार्थ के सम्बन्ध में घटित हुई है। जिस तात्त्विक वेद का स्वरूप स्वयं वेदशास्त्र में विस्पष्टरूप से यत्र तत्र सर्वत्र प्रतिपादित हुआ है, उसके स्वरूप से व्याख्याताओं ने अपने आप को सर्वथा तटस्थ ही प्रमाणित किया है। उनकी दृष्टि में वेद का अर्थ केवल यह 'शब्दराशिमात्र' ही है, जिसका महर्षियों के द्वारा तत्त्वात्मक अपौरुषेय नित्यकूटस्थ वेद के स्वरूपानुपात से सङ्कलन हुआ है। व्याख्याता इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित हैं कि, 'वेद' यह मौलिक तत्त्व है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का, एवं तद्गर्भीभूता चराचरप्रजा का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। 'इषे त्वोर्जे त्वा०' इत्यादि शब्दात्मक मन्त्र से उपक्रान्त, तथा 'खं ब्रह्म' इत्यादि मन्त्र पर उप सहृत शब्दसमाम्नायात्मक यजुर्वेदग्रन्थ ही व्याख्याताओं की दृष्टि में 'अपौरुषेय वेदशास्त्र, है,-जबकि स्वयं वेदशास्त्र ही 'यजुर्वेद' के तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण करता हुआ यह कह रहा है कि—

"यही तो वह यजुः है, जो अपने प्राणात्मक गतिधर्म्म से सर्वत्र व्याप्त है। यही गतिधर्म्मा प्राणात्मक यजु सब कुछ उत्पन्न करता है। अतएव गत्यात्मक इस प्राणवायु को ही यजु कहा गया है। (वस्तुस्थिति यह है कि) आकाश ही 'जू' है, जो अन्तरिक्षरूप से प्रत्यक्ष है। इस 'जू' रूप अन्तरिक्षाकाश में आसन्नात् व्याप्त गतिधर्म्मा प्राणवायु ही 'यत्' है। एवं यत्-और जू की समन्वित अवस्था का ही नाम 'यज्जू ' है, जो परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में-'यजु'' नाम से व्यवहृत हुआ है। देखिए !

मनोविकार चेष्टा ही इस अनर्थ का प्रधान कारण है। पारिभाषिक तत्त्वसमन्वय की दृष्टि से 'यज्ञ' 'यज्ञ' की परम्परा से सम्बन्ध रखनें वाली संशयवृत्तियों की कोई आवश्यकता नहीं है। अपितु सर्वथा निर्णीत–व्यवस्थित समन्वय है वेदवचनों का। प्रकृत उदाहरण को ही लक्ष्य बनाइए।

'त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवा' इत्यादि निगमवचन के अनुसार पार्थिव आग्नेय प्राण–देवता ३३ कोटियों (श्रेणियों–विभागों) में विभक्त हैं। "यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार भूपिण्डोपलक्षिता पृथिवी के गर्भ में प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है, एवं सूर्य्योपलक्षिता द्यु के गर्भ में प्राणेन्द्र प्रतिष्ठित हैं। भूगर्भस्थ प्राणाग्नि अपने रश्म्यात्मक अर्कमात्र से भूपिण्ड से निकल कर चारों ओर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है, जिस प्राणाग्निमण्डल को 'रथन्तरसाम' कहा गया है। मण्डल में व्याप्त इस प्राणाग्नि की घन–तरल–विरल ये तीन अवस्थाएँ हो जातीं हैं, जो अवस्थाएँ वैदिक परिभाषानुसार क्रमश: ध्रुव–धर्त्र–धरुण कहलाईं हैं। ध्रुवाग्नि (घनाग्नि) 'प्राणाग्नि' नाम से, धर्त्राग्नि (तरलाग्नि) 'प्राणवायु' नाम से, एवं धरुणाग्नि (विरलाग्नि) 'प्राणादित्य' नाम से प्रसिद्ध है। इन तीनों प्राणाग्नियों के साथ क्रमश: अष्टाक्षर गायत्रीछन्द, एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द, एवं द्वादशाक्षर जगतीछन्द, इन तीन वाक्परिमाणात्मक छन्दों का सम्बन्ध होता है। इन छन्दाक्षरों के सम्बन्ध से प्राणाग्नि-वायु-आदित्य-तीनों के क्रमश: ८–११–१२ –ये अवान्तर अवस्थाविभाग हो जाते हैं, जो क्रमश: आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों में आठ और ग्यारह के मध्य में, तथा ११ और १२ के मध्य में दो साम्य प्राण और उद्भूत हैं। सम्भूय एक ही प्राणाग्नि के अवान्तर ३३ विवर्त्त हो जाते हैं। एवं यही पार्थिव ३३ प्राणदेवता हैं–।

आरम्भ के आठ वसुओं में पहिला वस्वग्नि 'अग्नि' कहलाया है, एवं यही ३३सों प्राणाग्निदेवताओं का उपक्रमस्थान है। एवं अन्त के १२ आदित्यों में सर्वान्त का आदित्य 'विष्णु' नाम से प्रसिद्ध है *, एवं यही तेंतीसों प्राणाग्निदेवताओं का उपसंहारस्थान है। आरम्भ में

— –अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ! ।
आदित्या–वसवो–रुद्रा–अश्विनौ च परन्तप ! ॥
—वाल्मीकिरा०

अष्टौ-वसव –८, एकादश–रुद्रा –११, द्वादश–आदित्या –१२, द्वौ–अश्विनौ–(इत्थं३३)।

* इन्द्रो–धाता–भग –पूषा–मित्रोऽ–थ वरुणो–ऽर्यमा ।
अंशु–विवस्वान्–त्वष्टा च–सविता–"विष्णु"–रेव च ॥

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका - द्वितीयखण्ड

की

संक्षिप्त - विषयसूची

श्री

उपरतञ्चेद किमपि प्रास्ताविकम्

उ० मू० द्वितीयखण्डानुगतम्

——※——
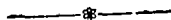
२२–अभिप्लवस्तोमार्कवितानपरिलेख (३३८–३३६ क मध्य में)
२३–परिखा॰त्मकसहस्रसामवितानपरिलेख (३४०-३४१ के मध्य में)
२४–प्रकारान्तरेण सहस्रसामवितानपरिलेख (३४४-३४५ के मध्य में)
२५–विष्कम्भ-सूचि वितान-समष्टिपरिलेख (३४४ ३४५ के मध्य में)
२६–पारावतपृष्ठानुगत-पार्थिव-जागतमण्डलपरिलेख (३५४-३५५ के मध्य म)
२७–त्रैलोक्यत्रिलोकी-रूप-स्तोम्यत्रैलोक्यानुगत-महापृथिवी-परिलेख (३५४-३५५के मध्यमें)
२८–पञ्चविधसामानुगत-पार्थिवमण्डलपरिलेख (३५४ ३५५ के मध्य में)
२६–छन्दो-वितान-रस-भावानुगत-त्रयीवेदस्वरूपपरिलेख (३६४-के अन्त में)
३०–वेदत्रयी-समष्टिपरिलेख (३६४ के अन्त में)
३१-सौर अदितिमण्डलपरिलेख (३७६-३७७ के मध्य मे)

इति–उपनिषद्विज्ञानभाष्यमूमिका–द्वितीयखण्डान्तर्गता परिलेखसूची

—•()•()—

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्डान्तर्गता

परिलेखसूची

——[()-❀-()]——

१—अभिव्यक्तित्वाधारभूत-'मधुन' परिलेख' (पृ०स०६०, तथा ६६१ के मध्य में)
२—सर्वत्सरात्मक-सम्वत्सरमण्डलपरिलेख (१८४—१८५ के मध्य में)
३—अग्न्यात्मक-कालात्मक-सम्वत्सरचक्र-त्रयी-स्वरूपपरिलेख (१८४—१८५ के मध्य में)
४—वागापोऽग्निशुक्रत्रयवितानपरिलेख (२०१—२०२ के मध्य में)
५—सौर-पार्थिव-सम्वत्सरातिमानपरिलेख (२४०—२४१ के मध्य में)
६—सप्त देवच्छन्दोमय-सौररथचक्रपरिलेख (३५२—३५३ के मध्य में)
७—विष्कम्भ(व्यास) मात्रानुगतस्त्रिगुणितपरिणाहमण्डलपरिलेखः(३१४ ३१५के मध्यमें)
८—छन्दोवेदप्रतिकृतिप्रदर्शनात्मक परिलेख' (३१४—३१५ के मध्य में)
९—अणु-स्कन्ध प्रतिकृतिप्रदर्शनात्मक' परिलेखः (३१८—३१९ के मध्य में)
१०—रश्म्यर्कसहस्रवितानपरिलेख (३१९—३२० के मध्य में)
११—व्यासाणुबिन्दुवितानपरिलेख (३२१—३२२ के मध्य में)
१२—पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत-सामत्रयी-परिलेख (३२४—३२५ के मध्य में)
१३—सौरसम्वत्सरचक्रानुगत-सामत्रयी-परिलेख (३२४—३२५ के मध्य में)
१४—सौर-पार्थिव-मामातिमानपरिलेख (३२४—३२५ के मध्य में)
१५—चान्द्रुपमामातिमानपरिलेग' (३२६—३२७ के मध्य में)
१६—छन्दोवेदात्मक-विष्कम्भवितानपरिलेख' (३२८—३२९ के मध्य में)
१७—व्यासाणुमाहस्री वितानपरिलेख' (३२८—३२९ के मध्य में)
१८—व्यासानुगतपरिणाहसाहस्रीवितानपरिलेख (३२८—३२९ के मध्य में)
१९—ग्रर्यानुगत-उक्थामद (मूर्चि) वितानपरिलेख (३३०—३३१ के मध्य म)
२०—परिणाहात्मकसामभण्डलवितानपरिलेख' (३३४—३३५ के मध्य में)
२१—मण्डलात्मक-पृष्ठ्य-रश्म्यात्मक-अभिप्लव-मण्डलस्वरूपपरिलेख (३३६-३३७के मध्यमें

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्डान्तर्गता

आलेखसूची

—◻)-•-(◻—

१—ब्रह्मनिःश्वसित-ब्रह्मस्वेदवेदात्मक-दशकल विराड्ब्रह्म-आलेख पृ०स० ३७
२—वेद-लोक-देव-विवर्त्तभाव-आलेख ४१
३—त्रिमूर्त्तिस्चतुर्मुखब्रह्मा-आलेख ४३
४—त्रिमुखविष्णु-आलेख ४४
५—त्रिमुखशिव-आलेख ४४
६—ब्रह्मा-विष्णु-शिव-संस्था-आलेख ४४
७—त्रैलोक्यत्रिलोकी-आलेख ४५
८—अष्टादशविध (१८)-ग्रहोपग्रहभाव-आलेख ४८
९—प्रजापत्यनुगता-वेदसम्बन्धत्रयी-आलेख ५६
१०—पञ्चाग्निसोमानुगत-पञ्चवेदस्वरूप-आलेख ५६
११—पञ्चवेदानुगता वेदत्रयी-आलेख ५६
१२—'सर्वमिदं वयुनम्'-आलेख ६१
१३—त्रितन्त्रात्मक नवकल आत्मप्रजापति-आलेख ६२
१४—ज्ञान-कर्म्म-भूतात्मक वेदप्रजापति-आलेख ६४
१५—शुक्रवेदविकास-आलेख ६४
१६—अनन्त दिव्य-गायत्रीमात्रिक-वेद-आलेख ६६
१७—ब्राह्मण-रभ-ऋषि-देवता-ब्रह्मानुगता वेदविधासंस्था-आलेख ७५
१८—अविज्ञेय-दुर्विज्ञेय-विज्ञेय-वेद-आलेख ९०
१९—असत्-रोचना-त्र्यृष्टु-वक्ट्-लक्षण ऋषि-आलेख ९०
२०—स्तोम-लोक-द्व-वेद-चतुष्टयी-आलेख १२०
२१—प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञात्मक वेद आलेख १५२
२२—वेदत्रयीप्रवर्ग्यक-अग्नित्रयविवर्त्त-आलेख — १६४

२३–सत्याग्नि-नारायणाग्नि-पलितवामाग्नि-रूप वेद-आलेख १६८
२४–परमाकाश-समुद्र-इलान्द-रूपा त्रैलोक्यत्रिलोकी-आलेख १६६
२५- ब्राह्मी-वैष्णवी-शैवी-त्रिलोकी-आलेख १७०
२६–छन्दोमा-गोसव-सम्वत्सर-यज्ञ आलेख १७?
२७–सपिण्डतानुगत अग्निवश-आलेख १७६
२८–प्राजापत्यत्रिलोकी-सौम्या-आलेख १७६
२६–जगदाधार-जगत्कर्ता-जगत्-रूप समन्वयमूलक प्रजापति-आलेख १६०
३०–चित्यप्रजापति-अनुगता चतुर्दश-चिति-आलेख १६१
३१–रूप-शरीर प्राणात्मक-अग्निहोत्र-आलेख १६८
३२–पृश्नि-कृष्णा-शुक्ला-गौ-स्वरूप-आलेख १६८
३३–कृष्णाजिन-पुष्करपर्ण-स्वरूप-आलेख २०१
३४–प्रतिष्ठा-यज्ञ-काल प्रजापति आलेख २०८
३५–'सप्त वै देवच्छन्दांसि'-आलेख २१२
३६–बृहतीभावानुगत आधिदैविक प्रजापति-आलेख २१८
३७–बृहतीभावानुगत-आध्यात्मिक-प्रजापति-आलेख २१६
३८–सम्वत्सरप्रजापतिकलाव्यूहन आलेख २२५,एवं२२६
३६–महापृथिवीस्वरूप-आलेख २२८,तथा२२६ के मध्य म
४०–दशकल चित्य विराडग्नि-आलेख २२६
४१–उक्थ-अर्क-महान्-स्वरूप आलेख २३०
४२–पार्थिव अग्नि-अनुगत उक्थभाव-आलेख २३१
४३–आन्तरिक्ष्य यजुरग्नि अनुगत-अर्कभाव आलेख २३१
४४–दिव्य सामाग्नि-अनुगत-महद्भाव-आलेख २३२
४५–आदित्य-वायु-अग्न्यनुगत-उक्थ-महान्-अर्क-भाव-आलेख २३३
४६–भूपिण्ड, एवं पृथिव्यनुगत उक्थ-अर्क-महान्-भाव-आलेख २३५
४७–व्रत-महा, कर्म अर्क, यम्-उक्, भाव-आलेख २३६
४८–प्रजनयिता सम्वत्सरप्रजापति-आलेख २४०
४६–ब्रह्म-देव भूत-पशु-प्रजाचतुष्टयी-आलेख २४२

५०–'त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि'-आलेख	२४४
५१–सप्तच्छन्दोऽनुगता वेदत्रयी-आलेख	२५१
५२–छन्दोऽनुगता वेदविद्या आलेख	२५२
५३–प्राजापत्यवेद-कलाविभाग-आलेख	२५३
५४–तत्त्ववेदानुगत पङ्क्तिभावसमन्वय आलेख	२५६
५५–वेदानुगत-मुहूर्तावयव आलेख	२६०
५६–'दवीयसि परः-दवीयसि परः'-आलेख	२६२
५७–चिति-परिश्रित-लोकम्पृणा-समन्वय-आलेख	२६३
५८–पञ्चचितिक न्यूनप्रजापति-आलेख	२६४
५९–पञ्चचित्यनुगत ३९५-कलाविभाग-आलेख	२६५
६०–चितिकलाविस्तार-आलेख	२६६
६१–'पदार्थस्य पदार्थत्त्वम्'-आलेख	२७५
६२–महदुक्थ-पुरुष-महाव्रतात्मक विवस्वान्-आलेख	२७९
६३–'सैषा त्रयीविद्या तपति'-आलेख	२८०
६४–अमृत-सत्य-यज्ञ विराड्-मात्रानुगत प्रजापति-आलेख	२८१
६५–आत्मा-महिमा-शरीरानुगत प्रजापति-आलेख	२८२
६६–रस-बल अम्भानुगत प्रजापति-आलेख	२८३
६७–मन प्राण-वागनुगत प्रजापति-आलेख	२८३
६८–नभ्य-उद्गीथ-सर्वानुगत प्रजापति-आलेख	२८४
६९–उक्थ-ब्रह्म-सामानुगत प्रजापति-आलेख	२८५
७०–ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय विभाग-आलेख	२९२
७१–सत्य-नभ्य-सर्व-उद्गीथ-प्रजापतिचतुष्टयी-आलेख	२९६
७२–अग्निवेदविवर्त-आलेख	३०१
७३–आत्मा-प्रतिष्ठा-ज्योतिर्वेद आलेख	३०१
७४–रस-छन्द वितान-वेद-आलेख	३०१
७५–सच्चिदानन्दमयात्मकवेदस्वरूप आलेख	३०२
७६–मनोमयी आत्मवेदत्रयी आलेख	३०२

७७–प्राणमयी ज्योतिर्वेदत्रयी आलेख ३०३
७८–वाङ्मयी-प्रतिष्ठावेदत्रयी आलेख ३०३
७९–आत्मवेदात्मक-आनन्द-आलेख ३०४
८०–प्रतिष्ठावेदात्मिका सत्ता-आलेख ३०४
८१–ज्योतिर्वेदात्मिका चेतना-आलेख ३०४
८२–वस्तु-तन्मूर्त्ति-तन्मण्डल-लक्षण 'पदार्थ'-आलेख ३०८
८३–हृदय विष्कम्भ-परिणाह-लक्षण ऋग्वेद-आलेख ३१५
८४–शाक्वर-वैरूप-रथन्तर-सामत्रयी आलेख ३२४
८५–रैवत-वैराज-बृहत्-सामत्रयी-आलेख ३२४
८६–'दशगर्भं चरसे धापयन्ते'-आलेख ३३८
८७–पूर्व-उत्तर-मध्य-मण्डललक्षण सामवेद-आलेख ३४०
८८–गुण-अणु रेणु-महाभूतात्मक-आलेख ३४६
८९–उत्क्रमण-विक्रमण-व्युत्क्रमण-आलेख ३४८
९०–अग्निवेदत्रयी-आलेख ३४८
९१–'सर्वे वेदा.'-आलेख ३४८
९२–सामवितानपरम्पराक्रम-आलेख ३५०
९३–त्रिपृष्ठात्मक साम-आलेख ३५१
९४–'पञ्चविध सामोपासीत'-आलेख ३५३
९५–'सर्वं मृग्वङ्गिरोमयम्'-आलेख ३५३
९६–'सर्वमापोमयं जगत्'-आलेख ३५३
९७–व्रह्म-पारावत-दृश्य-स्पृश्य-पृष्ठचतुष्टयी आलेख ३५४
९८–'अपां पृष्ठे सप्तविधं सामोपासीत' आलेख ३५५
९९–'शब्दवाक्प्रपञ्चे सप्तविधं सामोपासीत'-आलेख ३५६
१००–'सत्त्ववाक्प्रपञ्चे सप्तविध सामोपासीत' आलेख ३५६
१०१–महापुरुषरक्षयाज्या-स्तोत्र-शस्त्रानुगता वेदत्रयी आलेख ३६१
१०२–मूर्त्ति-तेज-गति-स्वरूपा तत्त्ववेदत्रयी आलेख ३६३
१०३–मूलवेदत्रयी-आलेख ३६५

५०–'त्रय्या वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि'-आलेख २४४
५१–सप्तच्छन्दोऽनुगता वेदत्रयी-आलेख २५१
५२–छन्दोऽनुगता वेदविद्या-आलेख २५२
५३–प्राजापत्यवेद-कलाविभाग-आलेख २५३
५४–तत्त्ववेदानुगत पङ्क्तिक्रमात्समन्वय-आलेख २५६
५५–वेदानुगत-मुहूर्तावयव आलेख २६०
५६–'दवीयसि पर-दवीयसि पर'-आलेख २६२
५७–चिति-परिश्रित-लोकम्पृणा-समन्वय-आलेख २६३
५८–पञ्चचितिक न्यूनप्रजापति-आलेख २६४
५९–पञ्चचित्यनुगत ३६५-कलाविभाग-आलेख २६५
६०–चितिकलाविस्तार-आलेख २६६
६१–'पदार्थस्य पदार्थत्वम्'-आलेख २७५
६२–महदुक्थ-पुरुष-महाव्रतात्मक विवस्वान्-आलेख २७९
६३–'सैषा त्रयीविद्या तपति'-आलेख २८०
६४–अमृत-सत्य-यज्ञ-विराड्-भावानुगत प्रजापति-आलेख २८१
६५–आत्मा-महिमा-शरीरानुगत प्रजापति-आलेख २८२
६६–रस-बल अम्वानुगत प्रजापति-आलेख २८३
६७–मन.प्राण-वागनुगत प्रजापति-आलेख २८३
६८–नभ्य-उद्गीथ-सर्वानुगत प्रजापति-आलेख २८४
६९–उक्थ-ब्रह्म-सामानुगत प्रजापति-आलेख २८५
७०–ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-विभाग-आलेख २९२
७१–सत्य-नभ्य-सर्व-उद्गीथ-प्रजापतिचतुष्टयी-आलेख २९६
७२–अग्निवेदविवर्त-आलेख ३०१
७३–आत्मा-प्रतिष्ठा-ज्योतिर्वेद-आलेख ३०१
७४–रस-छन्द वितान-वेद-आलेख ३०१
७५–सच्चिदानन्दब्रह्मात्मक-वेदस्वरूप-आलेख ३०२
७६–मनोमयी आत्मवेदत्रयी आलेख ३०२

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

'वेद का मौलिकस्वरूप' नामक

प्रथम-स्तम्भ

१
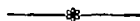
१०४—वेदशास्त्रविभाग-आलेख ३७३
१०५—अदितिविवर्तस्वरूपदिग्दर्शन-आलेख ३७६
१०६—पृथिव्यन्तरिक्षद्यौर्दिशः-आलेख ३६१
१०७—ऋक्-यजुः-साम अथर्वाणः-आलेख ३६१
१०८—मूलवेदात्मिका अदितिसंहिता आलेख ३६१
१०६—अग्निवाय्वादित्यसोमानुगता मूलवेदचतुष्टयी आलेख ३६२
११०—मूल-तूल-वेद—विवर्तभावाः-आलेख ३६२
१११—शब्दात्मक-पौरुषेय-वेदविभागसंकलन-आलेख ३६३
११२—सोमाग्नियमादित्यानुगत-पूर्णस्थान-आलेख ४१०
११३—विकासमात्रास्वरूपविश्लेषक-आलेख ४११
११४—चतुःस्थानानुगत विकासविवर्त-आलेख ४१२
११५—'नवो नवो भवति जायमानः'-आलेख ४१४
११६—नवाक्षरानुगत-न्यूनविराट्-आलेख ४१५
११७—वेदसम्मतशून्यवितान-आलेख ४१६
११८—मतान्तरस्थ-वेदसम्मत शून्यवितान-आलेख ४१७
११६—लोकसम्मत शून्यवितान-आलेख ४१८
१२०—मृत्युशिरोमूर्त्ति-सूर्य-आलेख ४२०
१२१—विकासमात्रासमन्वय-आलेख ४२०
१२२—विकासस्वरूपप्रदर्शक प्रथम-आलेख (क) ४२६
१२३—विकासस्वरूपप्रदर्शक द्वितीय-आलेख (ख) ४२६
१२४—विकासस्वरूपप्रदर्शक तृतीय-आलेख (ग) ४२७
१२५—विकासस्वरूपप्रदर्शक चतुर्थ-आलेख (घ) ४२७
१२६—विकासस्वरूपप्रदर्शक पञ्चम-आलेख (ङ) ४२८
१२७—विकासस्वरूपप्रदर्शक षष्ठ-आलेख (च) ४२८

इति—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्डान्तर्गता

आलेखसूची

—❀—

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डस्य

संक्षिप्ता-विषयसूची

१—वेद का मौलिकस्वरूप (प्रथमस्तम्भ)
२—तात्त्विक वेद, और प्रमाणवाद (द्वितीयस्तम्भ)
३—प्राजापत्यवेदमहिमा (तृतीयस्तम्भ)
४—अपौरुषेयवेद का तात्त्विक इतिवृत्त (चतुर्थस्तम्भ)
५—अग्निचिकासरहस्य, और वेदशाखाविभाग (पञ्चमस्तम्भ)
७—परिशिष्टविभाग

सैषा पञ्चस्तम्भात्मिका द्वितीयखण्डानुगता उपनिषद्भूमिका

(१)—'वेद का मौलिक स्वरूप' नामक प्रथमस्तम्भान्तर्गत अवान्तर परिच्छेद—

१—माङ्गलिकसंस्मरण १
२—भूमिकाप्रथमखण्ड का सिंहावलोकन १
३—वेदव्याख्याता यास्क की आलोच्या निर्वचनशैली २
४—वेदभाष्यकार श्रीसायण-महीधर आचार्य्य की आलोच्या भाष्यशैली ६
५—वेदार्थपरिशीलनसाफल्योपक्रम ७
६—मौलिक वेद का इतिवृत्त ८
७—वेदार्थ की समस्यापूर्णा जटिलता ११
८—महर्षि भरद्वाज के अनन्तवेद २
९—सावित्राग्नि के तटस्थ लक्षण १४
१ —सावित्राग्निमूलक महोपमहभाव १५
११—अनन्तवेद का अविज्ञेय इतिवृत्त १६
१२—अनन्तवेद का दुर्विज्ञेय इतिवृत्त १८
१३—अनन्तवेद का विज्ञेय इतिवृत्त २५
१४—प्रतिपद्नुचरभाव ४२
१५—सावित्राग्नि का स्वरूपलक्षण ४९
१६—उक्थलक्षण प्राजापत्यवेद ५५
१७—आत्ममहिमालक्षण त्रिविध वेद ६१
१८—वेदविद्या के सत्याविभाग ६८
१९—वेद का 'ऋषि' पदार्थ ७५
२०—असल्लक्षण 'ऋषि' (१) ७६
२१—रोचनालक्षण 'ऋषि (२) ८२
२२ द्रष्टृलक्षण 'ऋषि' (३) ८६
२३—अर्कलक्षण ऋषि' (४) ८९

उपरतश्चायं प्रथमस्तम्भ

—१—

(३)—'प्राजापत्य वेदमहिमा' नामक तृतीयस्तम्भ के अवान्तर परिच्छेद—

१—चतुष्कलप्रजापति	१४२	२३—प्रतिष्ठा, यज्ञ, और काल	२०८
२—अमृत-मर्त्य-प्रजापति	१४३	२४—बृहत्सूर्य्य, और बृहतीछन्द	२०६
३—सम्वत्सराग्नि का मूलरूप	१४६	२५—सप्तच्छन्दोवितान	२१०
४—प्राजापत्यवेद के दर्शन	१५१	२६—चतुर्द्धा व्यूहन	२१३
५—सम्वत्सरवेला, और हिरण्मयाण्ड	१५३	२७—प्रजापति की सात अभिव्यक्तियाँ	२१४
६—सम्वत्सर, और विकर्षणविज्ञान	१५५	२८—आध्यात्मिक प्रजापति	२१७
७—यज्ञप्रजापति, और लोकवितान	१६१	२९—अहरहर्यज्ञ	२२१
८—त्रैलोक्य-त्रिलोकी, और वेदवितान	१६५	३०—अहोरात्रव्यूहनप्रक्रिया	२२२
९—अग्निप्रातरः	१७२	३१—सम्वत्सर, और पुरुष का समतुलन	२२६(क)
१०—अग्निवंश की सपिण्डता	१७२	३२—विराडग्नि	२२८
११—व्याहृति, और पञ्चाक्षररहस्य	१७६	३३—अर्काग्नि का वितान	२२९
१२—सवत्सर, और सम्वत्सर	१८०	३४—ब्रह्म-क्षत्र-मूर्त्ति अग्नि	२३६
१३—कृत्या, एवं चित्या कर्म्म	१८६	३५—नवाहयज्ञ का वितान	२३७
१४—पाङ्क्तो वै यज्ञः	१८८	३६—भूतत्रय्यात्मक प्रजापति	२३९
१५—गौजनक अग्निहोत्र	१९२	३७—प्रजापति की प्रजाचतुष्टयी	२४१
१६—शाकायनि महर्षि का अग्नि	१९३	३८—त्रयीविद्या, और भूतदृष्टि	२४२
१७—हिरण्यगर्भमहर्षि का अग्नि	१९३	३९—छन्दांसि, और त्रयीवेद	२५०
१८—शाट्यायनिमहर्षि का अग्नि	१९४	४०—बृहतीछन्द के तीन वितान	२५०
१९—सम्-वसन्, और सम्वत्सर	१९६	४१—वितानवेदत्रयी, और बृहतीछन्द	२५१
२०—रूप-प्राण-शरीर-विवर्त्त	१९७	४२—बृहतीसहस्र, और तत्त्ववेदसंस्था	२५२
२१—कृष्णाजिन, और पुष्करपर्ण	१९९	४३—वेदसम्पापरिज्ञानोपयोग, और अभियज्ञ	२५४
२२ (क)—'अपां शरः'	२०२	४४—वेदव्यूहनप्रक्रिया, और चयनयज्ञ	२५८
२२ (ख)—बृहती छन्द का वितान और चयनयज्ञरहस्य	२०५	※—प्रकरणोपसंहार	२६८

उपरतश्चायं तृतीयस्तम्भः

३

—※—

(२)-'तात्त्विक वेद और प्रमाणवाद' नामक द्वितीयस्तम्भान्तर्गत अवान्तर परिच्छेद—

१-प्रचलित श्रद्धा विश्वास, और प्रमाणवाद	६४
२-ऋक्तत्त्व, और अग्नि	६४
३-अग्नितत्त्व, और ऋक्-साम	६५
४-यज्ञप्रजापति, और त्रयीवेद	६७
५-पाञ्चजन्य अग्नि, और त्रयीवेद	६८
६-मनःप्राणवाङ्मय आत्मा और त्रयीवेद	६८
७-सर्वेन्द्रियमन, और त्रयीवेद	६९
८-मनोमय गन्धर्व, और ऋक्साम रूपा अप्सरा	९९
९-गरुत्मान् सुपर्णो, और त्रयीवेद	१००
१०-नवाहयज्ञ, और त्रयीवेद	१०१
११-विष्कम्भ, और त्रयीवेद	१०१
१२-अध्यात्मसंस्था, और त्रयीवेद	१०१
१३-व्यूढत्रिलोकी, और त्रयीवेद	१०२
१४-सम्वत्सरप्रजापति, और त्रयीवेद	१०२
१५-स्वायम्भुवी वाक्, और त्रयीवेद	१०४
१६-सूर्य्यसंस्था, और त्रयीवेद	१०५
१७-कृष्णमृग, और त्रयीवेद	१०५
१८-आत्मसमुद्र, और वेदत्रयी	११३
१९-'सा'-'अम'-, और सामवेद	११४
२०-वेदात्मा और वेदत्रयी	११५
२१-ब्रह्म-क्षत्र, और ऋक्-साम	११६
२२-इन्द्र, और ऋक्-साम	११७
२३-दिक्-काल-देश-पर्व, और वेदत्रयी	११८
२४-द्यावापृथिवी और ऋक्-साम	११८
२५-लोकचतुष्टयी, और वेदचतुष्टयी	११९
२६-मृगशिरा, और वेदत्रयी	१२०
२७-प्राजापत्यसृष्टि, और वेदत्रयी	१२१
२८-त्रैलोक्यरस, और वेदत्रयी	१२१
२९-माता-पिता, और ऋक्-साम	१२३
३०-भैषज्ययज्ञ, और वेदत्रयी	१२३
३१-व्याहृतित्रयी, और वेदत्रयी	१२६
३२-अजपृश्नि, और महानिःश्वसितवेद	१२६
३३-महाव्रत, और वेदत्रयी	१२६
३४-चतुष्पाद् साम, और वेदचतुष्टयी	१२७
३५-उद्गीथ, और वेदत्रयी	१२८
३६-देवमधु, और वेदत्रयी	१२८
३७-अमृतरस, और वेदत्रयी	१२९
३८-अधिदैवत, और वेदत्रयी	१३०
३९-अध्यात्म, और वेदत्रयी	१३०
४०-सर्वोङ्कार, और वेदत्रयी	१३१
४१-विसृष्ट प्रजापति, और त्रयीवेद	१३२
४२-वाङ्मय भूतात्मा, और त्रयीवेद	१३२
४३-महन्मूर्त्तिरव्यय, और त्रयीवेद	१३३
४४-अमितौजा पर्य्यङ्क, और त्रयीवेद	१३३
४५-देवमानुषपितृभाव, और वेदत्रयी	१३४
४६-प्राजापत्य त्रिवृद्भाव, और त्रयीवेद	१३४
४७-सावित्री के तीन पाद, और त्रयीवेद	१३५
४८-विश्वसंस्थाविभाग, और वेद	१३५
४९-वेदत्रयी, और मन्त्रात्मक वेद	१३५
५०-सर्वप्रसूति, और त्रयीवेद	१३६
५१-सम्वत्सरप्रजापति, और त्रयीवेद	१३६

उपरतश्चायं द्वितीयस्तम्भ

—२—

श्री

॥ ओं तत्सद् ब्रह्मणे नमः ॥

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका

द्वितीयखण्ड

—*—

१—माङ्गलिकस्मरण—

> नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
> न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥ १ ॥
> एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
> एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति—"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥ २ ॥
> वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
> वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥ ३ ॥
> वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
> सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥ ४ ॥
> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
> तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ ५ ॥
> अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
> अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥ ६ ॥
> सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
> सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥ ७ ॥
> ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
> सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥

विषयोपक्रम

२—भूमिकाप्रथमखण्ड का सिंहावलोकन—

"क्या उपनिषत् वेद है ?", यह विषय प्रक्रान्त है। भूमिका के प्रथमखण्ड में इस प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाले 'दार्शनिक विचार'—'वैज्ञानिक वेदनिरुक्ति', इन दो विषयों का विवेचन हुआ है। इन दोनों

श्री

उपरता चेयमुपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्डस्य

सङ्क्षिप्ता–विषयसूची

को लक्ष्य में रखते हुए सुप्रसिद्ध वेदव्याख्याता यास्काचार्य्य ने वेदार्थ के लिए प्रयास किया, जिसके फल स्वरूप 'यास्कनिरुक्त' नामक ग्रन्थ आज विद्वत्समाज में सम्मानार्ह बन रहा है। यास्काचार्य्य के इस सम्मान को अणुमात्र भी कम न करते हुए हमें इनके सम्बन्ध में भी इस अप्रिय सत्य का आश्रय लेना ही पड़ रहा है कि, जहाँ सायणमहीधरादि भाष्यकारों के भाष्य कर्म्मकाण्ड (पद्धति) से सम्बन्ध रखने वालों सम्पूर्ण जिज्ञासाओं के पूरा परितोषक बन रहे हैं, वहाँ यास्काचार्य्य का निरुक्तग्रन्थ वैदिक पदार्थों की वैकल्पिक निरुक्ति करता हुआ सन्देहनिवृत्ति के स्थान में 'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानं संशयः" के अनुसार सन्देहदवत्ता का ही कारण बन रहा है। यास्काचार्य्य के वेदशब्दनिर्वचनों में हमारी सब से बड़ी विप्रतिपत्ति यही है कि, इन्होंने ब्राह्मणग्रन्थोक्त शब्दनिर्वचनों की एक प्रकार से उपेक्षा कर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ही शब्दों का निर्वचन किया है। कहना न होगा कि, ब्राह्मणग्रन्थों के निर्वचन जहाँ हमें एक सर्वथा निर्णीत तात्त्विक अर्थ का बोध कराते हैं, वहाँ यास्काचार्य्य के निर्वचन अविस्पष्टार्थसूचक ही बने हुए हैं। उदाहरण के लिए समतुलनदृष्टि से कुछ एक शब्दों का विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा। इन्द्र, अग्नि, वरुण, वैश्वानर, बृहस्पति, अन्तरिक्ष, सम्वत्सर, इत्यादि शब्दों के जो निर्वचन यास्काचार्य्य ने किए हैं, उन्हें भी दृष्टि के सामने रखिए, एवं स्वयं वेद ने जो निर्वचन किए हैं, उन्हें भी लक्ष्य बनाइए, और फिर दोनों का समतुलन कीजिए। स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा—

१-इन्द्र—

"इन्द्र"-इरां दृणाति, इति वा"।

—या० नि० १०।८।२।

"स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः। तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्ध। यदैन्ध, तस्मादिन्धः। इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्"।

—शत० ब्रा० ६।१।१।२।

२-अग्नि—

"अग्निः कस्मात्?, अग्रणीर्भवति"।

—या० नि ७।१४।४।

"स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत, तस्मादग्रिः। अग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्'।

—शत० ब्रा० ६।१।१।११।

३—मृत्यु—

"मृत्युर्मारयतीति सतः"

—या० नि० ११।६।२।

"स समुद्रात्—अमुच्यत। स मुच्युरभवत्। तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः"।

—गोपथ ब्रा० पू० १।७।

विषयों में से वैज्ञानिक वेदनिरुक्ति से सम्बन्ध रखने वाली मूलवेद, आत्मवेद, सच्चिदानन्दवेद, वेद–विद्या–ब्रह्मवेद, उक्थ–ब्रह्म–सामवेद, पशुवेद, मायनावेद, मानवेद, कालवेद, दिग्वेद, देशवेद, सर्ववेद, आदि १७ वेदनिरुक्तियों का प्रथमखण्ड में स्पष्टीकरण हो चुका है–। अब स्वतन्त्ररूप से वेद के मौलिक स्वरूप का विचार उपक्रान्त है। हमारा विश्वास है कि, प्रथमखण्ड में वेद की जो निरुक्तियाँ बतलाई गई हैं, एवं प्रस्तुत प्रकरण में वेद का जो तात्त्विक स्वरूप बतलाया जाने वाला है, उसके सम्यक् अवलोकन करने के अनन्तर वेदशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले चिरकालिक 'वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय ?" इस प्रश्न का यथावत् समाधान हो जायगा। एवं इसी वेदस्वरूप के आधार पर दार्शनिक दृष्टि से सम्बन्ध रखनें वाले उन मतवादों का भी पूरा पूरा समन्वय हो जायगा, जो कि विभिन्न मतवाद वेद के तात्त्विक स्वरूप–ज्ञान के अभाव से वेदशास्त्र की अपौरुषेयता, पौरुषेयता के सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियों के कारण बने हुए हैं।

३–वेदव्याख्याता यास्काचार्य की आलोच्या निर्वचनशैली—

मौलिक 'वेदपदार्थ' का परिज्ञान हमें उपलब्ध होने वाले सायण, महीधर, हरिहरादि के वेदभाष्यों से हो सकता है, अथवा नहीं ?, इस अप्रिय चर्चा से यथासम्भव हमें इसलिए बचना चाहिए कि, जिस श्रद्धातिरेक का प्रथमखण्ड में विश्लेषण किया जा चुका है, उस प्रचलित श्रद्धा का विघात करना हमें कदापि इष्ट नहीं है। कर्मकाण्ड के नाते सायण–महीधरादि वेदभाष्यकारों के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पित करते हुए, इन महापुरुषों के प्रति समस्त वेदभक्तों की ओर से कृतज्ञता प्रकट करते हुए, तथा इनके यश को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में केवल यही स्पष्टीकरण पर्याप्त होगा कि, स्वतःप्रमाण वेदशास्त्र के सम्बन्ध में सायणादि व्याख्याताओं के द्वारा बुद्धिपूर्वक जो व्याख्याएँ हुई हैं, वे कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाली इतिकर्त्तव्यताओं का जहाँ अक्षरशः अनुगमन कर रहीं हैं, वहाँ वेद के मौलिक स्वरूप की दृष्टि से, वेदशास्त्र में प्रतिपादित पारिभाषिक शब्दों के तात्त्विक अर्थसमन्वय की दृष्टि से उनकी वे व्याख्याएँ अधिकांश में व्यर्थ ही प्रमाणित हुई हैं।

यास्काचार्य्य से प्राचीन 'कौत्स' नामक वेदव्याख्याता के–"* अविस्पष्टार्थत्वात्, अनर्थकत्वात्, विप्रतिषिद्धार्थत्वाच्च विधिमन्त्रयोर्वेदार्थप्रत्ययाय शास्त्रारम्भो निरर्थकः" इस हेतुवाद की उपेक्षा करते हुए,–"न × ह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति" इस न्याय

– देखिए, उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका प्रथमखण्ड, अन्तिमप्रकरण के १पृष्ठ से १ २ पृष्ठ पर्य्यन्त।

* "वैदिक शब्दों के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं–इसलिए वैदिक शब्दों के कोई निश्चित अर्थ नहीं किए जा सकते। इसलिए वैदिक शब्दों के अर्थ एक दूसरे शब्दार्थों से अप्रामाणिक बन रहे हैं। अतएव विधिमन्त्रात्मक वेद के अर्थावबोध के लिए वेदव्याख्या करना निरर्थक है।"

× "यदि एक अन्धा मनुष्य स्थाणु से टकरा जाता है, स्थाणु उसे नहीं दिखाई देता है, तो यह स्थाणु का अपराध नहीं है, अपितु यह स्वयं उस अन्धे मनुष्य का ही अपराध है। इसी प्रकार यदि किसी को वेद–शब्दार्थों में सन्देह है, तो यह सन्देह करने वाले का ही अपराध माना जायगा"।

इसके अतिरिक्त यास्काचार्य्य के अमनस्क विक पभाव (वा–वा–भाव) भी हमें पदे-पदे लक्ष्यच्युत करते रहते हैं। उदाहरण के लिए यास्क के 'देवतावाद' को ही लीजिए। देवताओं के सम्बन्ध में यास्क ने प्रश्न उठाया है कि, देवता स्वरूपधारी हैं ?, अथवा तत्त्वात्मक ?। आगे जाकर इन प्रश्नों की मीमांसा करते हुए विरुद्धार्थप्रतिपादक वेदवचनों के आधार पर यह मत मानने की चेष्टा की गई है कि, देवता शरीरधारी भी हो सकते हैं, अथवा तत्त्वात्मक भी हो सकते हैं। इस प्रकार विविध पक्षों को उद्धृत करते हुए अन्त में यास्काचार्य्य वही संदिग्ध निर्णय करते दिखलाई देते हैं, जैसा कि सन्देहात्मक निर्णय अस्मदादि साधारण *मनुष्य पहिले से ही किए बैठे हैं।* देखिए !

(१)—"* अपि वा उभयविधाः स्यु"।

—या० नि० ७।२।७।

(२)—"अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्म्मात्मान-
एते स्यु, यथा यज्ञो यजमानस्य"।

—या० नि० ७।२।८।

हम अपने वेदप्रेमी पाठकों से पूछते हैं कि, देवतावाद–सम्बन्धिनी जिस जिज्ञासा को लेकर वे यास्काचार्य्य की शरण में पहुँचते हैं, क्या वहाँ उन की जिज्ञासा का पूरा पूरा समाधान हो जाता है ?। क्या वे यास्क के 'अपि वा उभयविधा स्यु' इस सन्देहात्मक उत्तर से सन्तुष्ट हो जाते हैं ?। इसके अतिरिक्त यास्कनिरुक्त का जब हम आदि से अन्त तक अध्ययन करते हैं, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि, मानो यास्काचार्य्य की दृष्टि में वैदिक अनन्त तत्त्ववाद मेघ, जल, सूर्य्यकिरण, इन में भी *विशेषत* मेघ पर ही विश्रान्त है। यास्कनिरुक्त की इस संदिग्ध व्याख्याप्रणाली से थोड़ी देर के लिए तो हमें यह भी भ्रम हो जाता है कि बहुत सम्भव है, यास्क के नाम से किसी अर्वाचीन पण्डित ने ही *गत शताब्दियों में इस ग्रन्थ का निर्म्माण कर डाला हो!!* कारण इस भ्रम का यही है कि शाकपूणि, काशकृत्स्न, क्रौष्टुकि कात्थक्य, और्णनाभ, चर्म्मशिरा आदि भिन्न निरुक्तकारों के निर्वचन उदाहरणरूप से यत्रतत्र उपलब्ध होते हैं, उन निर्वचनों के समतुलन में प्रचलित यास्कनिरुक्त सर्वथा प्रत्याख्यास्त–सा प्रतीत हो रहा है। अस्तु इस अप्रिय सत्य के *साथ ही* कृतज्ञता के नाते हमें यह भी मान ही लेना पड़ता है कि जब लोगों की वेदार्थ की ओर प्रवृत्ति नहीं है, वेदार्थ में स्वप्रतिभा से श्रम करने वाले विद्वानों का अभाव-सा है तो हमारी इस प्रारम्भिक दशा में यास्कनिरुक्त की निर्वचनशैली से भी लाभ उठाया ही जा सकता है। परन्तु इसके साथ ही वेदप्रे*मियों से यह निवेदन किए बिना भी नहीं* रहा जा सकता कि यास्कनिर्वचन, एवं ब्राह्मणनिर्वचन में जहाँ कुछ भी विरोध प्रतीत होता हो, कुछ भी सन्देह हो, वहाँ ब्राह्मणनिर्वचन को ही प्रधानता देनी चाहिए। एक एक शब्द के अनेक वैकल्पिक अर्थों का अनु-*गमन* करने वाले ये यास्कीय निर्वचन कभी निश्चितार्थप्रतिपादक वैदिकमन्त्रों का *तत्त्वविश्लेषण नहीं* कर सकते। "यह भी हो सकता है यह भी हो सकता।" यह तो एक प्रकार का संशयवादमूलक जैसा स्याद्वाद है, जिससे

* देवतावाद से सम्बन्ध रखने वाला विशद वैज्ञानिक विवेचन *'शतपथहिन्दीविज्ञान' भाष्यान्तर्गत* "अष्टविधदेवतानिरूपण" नामक *प्रकरण में देखना चाहिए।*

४–वरुण —

"वरुणो वृणोतीति सतः" ।

—या० नि० १०।४।२।

"आप —यच्च वृत्वाऽतिष्ठ स्तद्वरणोऽभवत् । त वा एत वरण सन्त 'वरुण' इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः"

५–वैश्वानर —

—गो० ब्रा० पू० १।७।

वैश्वानर कस्मात् ? विश्वान्नरान्नयति" ।

—या० नि०७।२१।४।

"स य स वैश्वानर –इमे स लोकाः । इयमेव पृथिवी विश्व, अग्निर्नरः । अन्तरिक्षमेव विश्व, वायुर्नरः । द्यौरेव विश्व, आदित्यो नरः । (विश्वेभ्यो नरेभ्यः—अग्निवाय्वादित्येभ्य —संघर्षादुत्पन्नस्तापलक्षणस्त्रैलोक्यव्यापको यौगिकाग्निरेव वैश्वानरः)" ।

—शत० ब्रा० ६।३।१।३।

६–बृहस्पति —

"बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा, पालयिता वा" ।

—या० नि० १०।१०।६।

"वाग्वै बृहती,, तस्या एष पतिः, तस्माद् बृहस्पतिः" ।

—शत० ब्रा० –१४।४।१।२२।

७–अन्तरिक्षम्—

"अन्तरिक्ष कस्मात् ?, अन्तरा क्षान्त भवति, अन्तरेमे इति वा, शरीरेष्वन्तर-क्षयमिति वा" ।

—या० नि० २।१०।४।

"सह हैवेमावग्रे लोकावासतु । तयोर्वियतयोर्योऽन्तरेणाकाश-आसीत् तदन्तरिक्षमभवत् । ईक्ष हैतन्नाम तत पुरा । अन्तरा वाऽइदमीक्षमभूत् , इति–तस्मादन्त रक्षम् " ।

—शत० ब्रा० ७।१।२।२३।

८–सम्वत्सर—

'सम्वसर'—सम्वसन्तेऽस्मिन् भूतानि" ।

—या० नि० ४।२७।

"स ऐक्षत प्रजापतिः–'सर्व वाऽअत्सारिष, य इमा देवता असृक्षीति' । स सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो ह वैनामैतयत्–'सम्वत्सर' इति"।

—शत० ब्रा० ११।१।६।१२।

पूर्वापर प्रकरणसमन्वय से वञ्चित रहती हुई वेदार्थसम्बन्ध में अनुपयोगिनी ही सिद्ध हुई । हमारा तो इन मन्त्रसंहिताओं के सम्बन्ध में आज भी ऐसा विश्वास है कि, ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषदों के अतिरिक्त मन्त्रसंहिताओं के स्वतन्त्र भाष्य से कभी मन्त्रों के तात्त्विक अर्थ अवगत हो ही नहीं सकते । संहिता में पठित असख्य ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका अर्थ व्याकरण के बल पर नहीं लगाया जा सकता । ऐसी असख्य परिभाषाएँ हैं, जिनका विश्लेषण केवल मन्त्रों के अक्षरों के आधार पर नहीं किया जा सकता । इनके सम्यक् बोध के लिए ब्राह्मणनिरुक्तियों के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थाध्ययन ही अपेक्षित है । बिना परिभाषाज्ञान के एक वेदभाष्य तो क्या, सहस्र वेदभाष्य भी मन्त्रार्थपरिज्ञान में यथावत् सहायक नहीं बन सकते । सायणाचार्य्य के सम्बन्ध में दूसरी विप्रतिपत्ति है—"व्याकरणबलप्रयोग" । मन्त्रों में असंख्य शब्द ऐसे पठित हैं, जो अपना अर्थ वहाँ आप प्रकट रहे हैं, वहाँ व्याकरणबलप्रयोगद्वारा धातु-प्रत्यय की अर्गला लगा देने से वे अपना अर्थ खो बैठते हैं । इन सब विषम समस्याओं को देखते हुए एक वेदार्थपरिशीलनप्रेमी के सामने अवश्य ही यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, वह अपनी वेदार्थविषयिणी जिज्ञासा शान्त करने के लिए ऐसे कौन-से उपाय का आश्रय ले, जिससे उसका अन्तर्जगत् सम्मुगत्या वेद के वास्तविक तात्पर्य्य की ओर अनुगत बन सके ? ।

५–वेदार्थपरिशीलनसाफल्योपाय—

उक्त प्रश्न का सिवाय इसके और क्या उत्तर हो सकता है कि, परम्परागत वेदव्याख्याओं को ही अपने स्वाध्यायकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा बनाना चाहिए । जो अर्थ परम्परानुगति से सम्बन्ध नहीं रखता, वह वेदार्थपरिशीलनकर्म्म में कभी उपोद्बलक सिद्ध नहीं हो सकता । अब इस उत्तर के सम्बन्ध में यह प्रतिप्रश्न शेष रह जाता है कि, वे परम्परागत वेदव्याख्याएँ कौन सी हैं जिनका अनुगमन तत्त्वज्ञान का सहायक बनता है ? । इस प्रतिप्रश्न का एकमात्र उत्तर है-"आर्षपरम्परा"–"ऋषिसम्प्रदाय" । समस्त ब्राह्मणग्रन्थ, समस्त आरण्यकग्रन्थ, समस्त उपनिषद्ग्रन्थ इसी आर्षपरम्परा की प्रतिमा माने जाएँगे । मन्त्रात्मिका संहिता के पारिभाषिक शब्दों की जैसी व्याख्याएँ इस ब्राह्मणात्मक वेदभाग में हुई हैं, वैसी अन्य अनार्ष (मानुष) व्याख्याओं में सर्वथा अनुपलब्ध हैं । * सन्तमत से सम्बन्ध रखने वाली जिस साम्प्रदायिक दृष्टि ने हमारी बुद्धि को आर्षदृष्टि से पृथक् कर दिया है, ऐसी अनार्षदृष्टि से अनार्षव्याख्याओं को एकमात्र अवलम्ब बनाते हुए कभी वेद के तत्त्वार्थपरिशीलन में हम सफल नहीं बन सकते ।

वैदिकसाहित्य आर्षदृष्टि से पूत, आर्षधर्म्म के अन्यतम प्रतिष्ठापक महामहर्षियों के द्वारा दृष्ट ईश्वरीय सहज ज्ञाननिधि है । सम्भव है, हमारी बुद्धि प्रयास करने पर इसके तट पर पहुँच सके । परन्तु इतना निश्चित है कि, जब तक हमारी बुद्धि कृत्रिमज्ञानप्रधाना बनती हुई बुद्धिगम्य वेदव्याख्याओं का अनुगमन करती रहेगी, तब तक हम कभी उस सहजज्ञानसागर के अन्तस्तल में निमज्जन नहीं कर सकेंगे । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए, स्वतःप्रमाण वेद के मन्त्रभाग का यथावत् परिज्ञान प्राप्त करने के लिए तो

---

* गीताविज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्डान्तर्गत 'वैदिककर्म्मयोग' नामक प्रकरण के 'आर्षधर्म्म एवं सन्तमत' नामक अवान्तर प्रकरण में इस विषय का विशद विवेचन देखना चाहिए ।

सन्देहनिवृत्ति के स्थान में उत्तरोत्तर सन्देहवृद्धि ही होती है। हमें तो वैसे विद्वान् का आश्रय अपेक्षित है, जो वाग्जाल के प्रपञ्च में न डालकर हमें एक निर्णीत, निश्चित 'इदमित्थमेव, नान्यथा' लक्षण अर्थ का बोध कराय। स्वयं श्रुति भी ऐसे विद्वान् के आश्रय का ही समर्थन कर रही है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

१—सम्पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥
२—समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति।
इम एवेति च ब्रवत् ॥
३—पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽवपद्यते।
नो अस्य व्यथते पविः ॥

—ऋक्सं० ६।५४।१-२-३ मन्त्र।

४-वेदभाष्यकार श्रीसायण-महीधराचार्य की आलोच्या भाष्यशैली—

यही अवस्था सायण-महीधरादि आचार्य्यों की समझिए। इन आचार्य्यों ने कर्मपरक जो वेदभाष्य लिखे हैं उनके लिए आर्यप्रजा सदा इन की कृतज्ञ रहेगी। परन्तु वैदिक तत्त्वों के सम्बन्ध में इनकी ओर से जो स्पष्टीकरण हुआ है, वह परस्पर तो विरोध का सूचक ही है। इस के अतिरिक्त यास्काचार्य्यसिद्धान्तों का भी पूरा विरोध हुआ है। दोनों हीं आचार्य्य सम्मान्य हैं। ऐसी दशा में किनका कथन प्रामाणिक, एवं किन का अप्रामाणिक माना जाय ?, यह भी एक जटिल समस्या है। सायणमहीधरभाष्यों के सम्बन्ध में दो विप्रतिपत्तियों को प्रधान स्थान दिया जा सकता है। पहिली विप्रतिपत्ति है-'मुक्तकरूप से मन्त्रव्याख्या'। जब आप ऋक्संहिता पर दृष्टि डालेंगे, तो आपको विदित होगा कि, किसी भी सूक्त में क्रमबद्ध किसी विद्या का निरूपण नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए 'सृष्टिविद्या' को ही लीजिए। इस के कुछ मन्त्र प्रथम मण्डल के कतिपय सूक्तों में मिलेंगे, कुछ मन्त्र दशममण्डल के विभिन्न सूक्तों में। इसी प्रकार यज्ञविद्या, खगोलविद्या, कालचक्रविद्या, नक्षत्रविद्या, अथर्व्वविद्या, प्रणवविद्या, आत्मगतिविद्या, प्रजातन्तुवितानविद्या, इन्द्रविद्या, वरुणविद्या, ओषधिविद्या वनस्पतिविद्या सोमविद्या, वाग्विद्या, प्राणविद्या मनोविद्या, ब्रह्मविद्या, छन्दोविद्या, इत्यादि यच्चयावत् विद्याओं का मुक्तक सूक्तों के मुक्तक मन्त्रों के द्वारा मुक्तकरूप से ही यत्रतत्र निरूपण हुआ है। इस मुक्तकभाव का कारण यही है कि भिन्न भिन्न सूक्तों के भिन्न भिन्न ऋषि द्रष्टा हैं। जिस ऋषि ने जिस विद्या के सम्बन्ध में जिस विषय का जिस मन्त्र में स्पष्टीकरण कर दिया है, अन्य ऋषि ने उस विषय को छोड़ते हुए शेषांश पर ही प्रकाश डाला है। यही कारण है कि ऋग्वेद में जिन असंख्यात गुप्त विद्याओं का निरूपण हुआ है, उन्हें आप क्रमबद्ध प्राप्त नहीं कर सकते। प्रत्येक विद्या के यथावत् समन्वय के लिए आपको समस्त ऋग्वेद का मन्थन करना पड़ेगा, यत्रतत्र से अंशात्मक विद्याविषयों का संग्रह करना पड़ेगा तब कहीं आप अभीप्सित विद्याविषय को सर्वाङ्गीण बना सकेंगे।

सायणमहीधर ने स्वभाष्यों में इस प्रकरणमर्य्यादा की उपेक्षा क्यों की ?, यह प्रश्न तो अतिप्रश्न है। हाँ, उपेक्षा अवश्य हुई है, यह सिद्धान्त मान्य है। इन्होंने मुक्तकरूप से ही वेदमन्त्रों की व्याख्या की, जो कि

पूर्वापर प्रकरणसमन्वय से वञ्चित रहतीं हुई वेदार्थसम्बन्ध में अनुपयोगिनीं ही सिद्ध हुई। हमारा तो इन मन्त्रसंहिताओं के सम्बन्ध में आज भी एसा विश्वास है कि, ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषदों के अतिरिक्त मन्त्रसंहिताओं के स्वतन्त्र भाष्य से कभी मन्त्रों के तात्त्विक अर्थ अवगत हो ही नहीं सकते। संहिता में पठित असंख्य ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका अर्थ व्याकरण के बल पर नहीं लगाया जा सकता। ऐसी असंख्य परिभाषाएँ हैं, जिनका विश्लेषण केवल मन्त्रों के अक्षरों के आधार पर नहीं किया जा सकता। इनके सम्यक् बोध के लिए ब्राह्मणनिरुक्तियों के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थाध्ययन ही अपेक्षित है। बिना परिभाषाज्ञान के एक वेदभाष्य तो क्या, सहस्र वेदभाष्य भी मन्त्रार्थपरिज्ञान में यथावत् सहायक नहीं बन सकते। सायणाचार्य के सम्बन्ध में दूसरी विप्रतिपत्ति है—"व्याकरणबलप्रयोग"। मन्त्रों में असंख्य शब्द ऐसे पठित हैं, जो अपना अर्थ जहाँ आप प्रकट रहे हैं, वहाँ व्याकरणबलप्रयोगद्वारा धातु-प्रत्यय की अर्गला लगा देने से वे अपना अर्थ खो बैठते हैं। इन सब विषम समस्याओं को देखते हुए एक वेदार्थपरिशीलनप्रेमी के सामने अवश्य ही यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, वह अपनी वेदार्थविषयिणी जिज्ञासा शान्त करने के लिए ऐसे कौन-से उपाय का आश्रय ले, जिससे उसका अन्तर्जगत् वस्तुगत्या वेद के वास्तविक तात्पर्य्य की ओर अनुगत बन सके ?।

५—वेदार्थपरिशीलनसाफल्योपाय—

उक्त प्रश्न का सिवाय इसके और क्या उत्तर हो सकता है कि, परम्परागत वेदव्याख्याओं को ही अपने स्वाध्यायकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा बनाना चाहिए। जो अर्थ परम्परानुगति से सम्बन्ध नहीं रखता, वह वेदार्थपरिशीलनकर्म्म में कभी उपोद्बलक सिद्ध नहीं हो सकता। अब इस उत्तर के सम्बन्ध में यह प्रतिप्रश्न शेष रह जाता है कि, वे परम्परागत वेदव्याख्याएँ कौन सी हैं, जिनका अनुगमन तत्त्वज्ञान का सहायक बनता है ?। इस प्रतिप्रश्न का एकमात्र उत्तर है—"आर्षपरम्परा"—"ऋषिसम्प्रदाय"। समस्त ब्राह्मणग्रन्थ, समस्त आरण्यकग्रन्थ, समस्त उपनिषद्ग्रन्थ इसी आर्षपरम्परा की प्रतिमा माने जायँगे। मन्त्रात्मिका संहिता के पारिभाषिक शब्दों की जैसी व्याख्याएँ इस ब्राह्मणात्मक वेदभाग में हुई हैं, वैसी अन्य अनार्ष (मानुष) व्याख्याओं में सर्वथा अनुपलब्ध हैं। * सन्तमत से सम्बन्ध रखने वाली जिस साम्प्रदायिक दृष्टि ने हमारी बुद्धि को आर्षदृष्टि से पृथक् कर दिया है, ऐसी अनार्षदृष्टि से अनार्षव्याख्याओं को एकमात्र अवलम्ब बनाते हुए कभी वेद के तत्त्वार्थपरिशीलन में हम सफल नहीं बन सकते।

वैदिकसाहित्य आर्षदृष्टि से पूत, आर्षधर्म्म के अन्यतम प्रतिष्ठापक महामहर्षियों के द्वारा दृष्ट ईश्वरीय सहज ज्ञाननिधि है। सम्भव है, हमारी बुद्धि प्रयास करने पर इसके तट पर पहुँच सके। परन्तु इतना निश्चित है कि, जब तक हमारी बुद्धि कृत्रिमज्ञानप्रधाना बनती हुई बुद्धिगम्य वेदव्याख्याओं का अनुगमन करती रहेगी, तब तक हम कभी उस सहजज्ञानसागर के अन्तस्तल में निमज्जन नहीं कर सकेंगे। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए, स्वतःप्रमाण वेद के मन्त्रभाग का यथावत् परिज्ञान प्राप्त करने के लिए तो

---

* गीताविज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्डान्तगत 'वैदिककर्म्मयोग' नामक प्रकरण के 'आर्षधर्म्म, एवं सन्तमत' नामक अवान्तर प्रकरण में इस विषय का विशद विवेचन देखना चाहिए।

इमें सम्प्रदायवादशून्य, आर्षदृष्टि के विकास का प्रयत्न करते हुए स्वतःप्रमाणभूत वेद के ब्राह्मणभाग का ही अनुगमन करना पड़ेगा। "स्वयम्प्रकाशा स्वतःसिद्धाश्च भवन्ति वेदार्थाः" इस सूक्ति को एक सप्राण सूक्ति मानते हुए स्वयं वेदशास्त्रपरम्परा को ही वेदार्थ में प्रमाण मानना पड़ेगा। जिन तात्त्विक निर्णयों का स्पष्टीकरण परम्परासिद्ध स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ कर रहे हैं, जो तात्त्विक अर्थ स्वयं मन्त्रों में बिना किसी खींचातानी के स्वतः अभिव्यक्त हो रहे हैं, उनकी उपेक्षा कर वेदार्थबोध के लिए परतःप्रमाणभूत अन्य व्याख्याग्रन्थों का आश्रय लेना, आर्षपरम्परा का परित्याग कर अनार्षपरम्परा का अनुगमन करना किसी भी आर्षधर्मानुयायी को शोभा नहीं देता। इसी आर्षदृष्टि को, आर्षद्रष्टाद्वारा दृष्ट परम्परा को प्रमाण मानते हुए ही वेद का स्वरूपविचार प्रक्रान्त है। मौलिक वेद के जिस तात्त्विक स्वरूप का इस प्रकरण में संक्षेप से स्पष्टीकरण होने वाला है, प्रचलित परम्परा के अनुयायी विद्वानों के लिए यह सर्वथा नवीन बात होगी। उपलब्ध सायण-महीधर-यास्कादि व्याख्याग्रन्थों की परम्परा से वे इसका समर्थन प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इस वेदस्वरूप का समर्थन उन्हें स्वयं वेदशास्त्र में ही उपलब्ध होगा, जो कि समर्थन परतःप्रमाणभूत इतर शास्त्रों की अपेक्षा सर्वात्मना प्रामाणिक माना जायगा। यही प्रकृत प्रकरण का उपक्रम है, एवं इसी के अव्यवहितोत्तरकाल में पाठकों का ध्यान वेद के तात्त्विक स्वरूप की ओर आकर्षित किया जा रहा है।

इति—विषयोपक्रम

———:※:———

६–मौलिक वेद का इतिवृत्त—

महामायावच्छिन्न, सर्वेश्वर, सगुण, सर्वधर्म्मोपपन्न प्रजापति जिस तत्त्व के सहयोग से विश्वनिर्माण में समर्थ हुए हैं, उसी तत्त्व का नाम 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व के सहयोग से प्रजापति यज्ञवितान में समर्थ होते हैं, वही तत्त्व मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व के आधार पर प्रजापति प्रजासृष्टिवितानद्वारा अपने 'प्रजापति' नाम को सार्थक करते हैं, वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व के आधार पर स्वयं प्रजापति त्रैलोक्य में अपनी ज्ञानकला का प्रसार करते हैं, वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्वाश्रय से सर्वेश्वर भगवान् प्रजापति रोदसी ब्रह्माण्ड में अपनी क्रिया का विस्तार करते हैं, वही तत्त्व मौलिकवेद' है। जिस तत्त्वानुगति से सर्वकर्त्ता (सर्वार्थचेतन) प्रजापति अर्थप्रपञ्च के अध्यक्ष बने हुए हैं वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर प्रजापति ध्रुव, अतएव प्रतिष्ठाशून्य आपोमय समुद्र के गर्भ में प्रविष्ट होकर प्रतिष्ठित होते हैं, वही प्रतिष्ठातत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो प्रतिष्ठातत्त्व सप्तपुरुषपुरुषात्मक विश्व प्रजापति को प्रतिष्ठा प्रदान करता है वही प्रतिष्ठातत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर गुणभूत, अणुभूत, रेणुभूत, महाभूत, सत्त्वभूत, इन पांच भूतवर्गों का विकास होता है, वही प्रतिष्ठातत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस प्रतिष्ठातत्त्व को आधार बनाकर प्रजापति 'विद्यते' लक्षण अस्तिभाव से युक्त हो रहे हैं, सत्यात्मक, सत्तास्वरूपसमर्पक वही प्रतिष्ठाभाव 'मौलिकवेद' है। जिसे प्रतिष्ठा बनाकर प्रजापति 'वेत्ति' लक्षण चिद्भाव से युक्त हो रहे हैं, चिदात्मक चित्स्वरूपसमर्पक वही प्रतिष्ठाभाव 'मौलिकवेद' है। जिसके सहयोग से प्रजापति 'विन्दति' लक्षण रसभाव (आनन्द) से युक्त हो रहे हैं, रसात्मक, रसस्वरूपसमर्पक वही प्रतिष्ठाभाव 'मौलिकवेद'

है। जिस मौलिक तत्त्व से सर्वव्यापक कालचक्र के भूत-वर्त्तमान-भविष्यत्, ये तीन सोपाधिक खण्ड हो जाते हैं वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के आधार पर ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र-भावापन्न दिव्य-वीर-पशु-मृत्-भावमय अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव, पूषा, नामक चार वर्णदेवताओं का विकास हुआ है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्वधरातल पर अग्निमय पृथिवीलोक, वायुमय अन्तरिक्ष लोक, आदित्यमय द्युलोक, तथा आपोमय चतुर्थलोक का वितान हुआ है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस मौलिक तत्त्व के सहयोग से वियत्कलित असरपरमाणु संघरूप में परिणत होते हुए 'मूर्ति (पिण्ड) भाव में आ जाते हैं, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के अनुग्रह से मूर्तिभावापन्न (पिण्डात्मक) पदार्थों में आदान, विसर्गात्मक गतिभाव का सञ्चार हुआ करता है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक उक्थतत्त्व अपने तत्रूप अर्क (रश्मि) भावों के वितान से मूर्तिभावापन्न पदार्थों की आभ्यन्तर प्राणमूर्ति को केन्द्र बनाते हुए बड़ी दूरतक विममण्डल में अपना एक स्वतन्त्र तेजोमण्डल बनाने में समर्थ होता है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के आश्रय से एकांशु सूर्य्य सहस्रांशु बनता हुआ अनन्तांशु बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने सल्लक्षण स्वरूप से 'आप' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ सत्यपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति का जन्मदाता बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिक वेद' है। जो मौलिक तत्त्व केन्द्र-विष्कम्भ-परिणाहभावों में परिणत होता हुआ पिण्डों का स्वरूपरक्षक बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व मौलिकवेद है।

जो मौलिक तत्त्व प्रस्ताव, उद्गीथ, निधन-भावों में परिणत होता हुआ वस्तुमात्र के उपक्रम, मध्य, उपसंहार-भावों का प्रवर्त्तक बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व उक्थ, ब्रह्म, सामरूप से पदार्थमात्र का प्रभव प्रतिष्ठा, परायण बनता हुआ आत्मा बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व हृदयपृष्ठ, बाह्यपृष्ठ, पारावतपृष्ठरूपों में परिणत होता हुआ पदार्थमात्र की साहूली के वितान का कारण बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व पार्थिव रथन्तर, नौधसभावों का अभिमान करता हुआ द्यावापृथिवी के परिणय का कारण बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने वितानभाव से बृहत्, वैराज, रैवत-सामों में परिणत होता हुआ सूर्यपिण्ड को प्राणात्मना तत्र लोक पर्य्यन्त व्याप्त किए हुए है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने वितानभाव से रथन्तर, वैरूप, शाक्वर-सामों में परिणत होता हुआ भूपिण्ड को प्राणात्मना सूर्य्यपिण्ड से भी ऊपर तक व्याप्त किए हुए है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जो मौलिक तत्त्व 'स्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध 'आभूप्रजापति' का निःश्वास बनता हुआ 'ब्रह्मनिःश्वसित' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व मायी पुरुषस्वरूप के भी विकास का कारण बनता हुआ स्वयं 'अपौरुषेय' बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व भाग्यविशेषरूप से षड्ब्रह्म बनता हुआ पारमेष्ठ्यमण्डल की प्रतिष्ठा बन 'सुब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व गायत्रतेज में परिणत होता हुआ सौरगायत्रमण्डल का अधिष्ठाता बनकर 'गायत्रीमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व सम्वत्सर, अयन, मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त, घटिका, पल, श्वास, आदि

असंख्यखण्डों में विभक्त होकर चान्द्रसम्वत्सर का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'चान्द्रवेद' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व वसन्तादि षड्ऋतुमण्डलरूप पार्थिवसम्वत्सरयज्ञ का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'यज्ञमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस मौलिक तत्त्व नें अपने सहस्र (अनन्त) भाव से प्रत्येक वस्तु में सहस्र 'उक्थ' उत्पन्न कर, प्रत्येक वस्तु में सहस्र 'अर्क' उत्पन्न कर, प्रत्येक वस्तु में सहस्र 'अग्नि' भाग उत्पन्न कर ऋक्समुद्रलक्षण 'महोक्थ', सामसमुद्रलक्षण 'महाव्रत', एवं यजुःसमुद्रलक्षण 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व शस्त्र, स्तोत्र, ग्रहभावों के द्वारा शंसन, उद्गान, ग्रहण-कर्म्मों का सञ्चालक बना हुआ है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व ने अपने शस्त्रभाव से प्राणाग्नि को हौत्रकर्म्म का, ग्रहभाव से प्राणवायु को आध्वर्य्यवकर्म्म का, एवं स्तोत्रभाव से प्राणादित्य को औद्गात्र कर्म्म का अध्यक्ष बना रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व ने प्रातःसवन के द्वारा गायत्री का, माध्यन्दिनसवन के द्वारा त्रिष्टुप् का एवं सायंसवन के द्वारा जगती का नियन्त्रण कर इन नियन्त्रित छन्दों के द्वारा त्रयस्त्रिंशत् यज्ञिय प्राणदेवताओं का नियन्त्रण कर रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस मौलिक तत्त्व नें अपने अपान—व्यान—समान—रूप में परिणत होते हुए अपानद्वारा वस्तिगुहा का, व्यानद्वारा उदरगुहा का, समानद्वारा उरोगुहा का नियन्त्रण कर हमारी अध्यात्मसंस्थाओं को सुछन्दस्क बना रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व नें अपने वाङ्मय शरीर को परा, पश्यन्ती, मध्यमा वैखरी—रूप में परिणत करते हुए वाङ्मय प्रपञ्च पर अपना अनन्य शासन प्रतिष्ठित कर रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व ने अपने शुक्ल, कृष्ण एवं बभ्रूणीय हरीणि रूपों से कृष्णमृग को यज्ञस्वरूप प्रदान कर रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के आधार पर त्रैलोक्यव्यापक प्रजापति यज्ञसाधनभूता वेदि—स्वरूपसम्पत्ति सम्पादन करने में समर्थ होते हैं, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने ऋण—धन भावों से ११३१ धाराओं में विभक्त हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

अनन्त ब्रह्माण्डों की अनन्त मायाओं के सहयोग से अनन्त बने हुए जिस मौलिक तत्त्व ने देवेन्द्र के वरप्रदान से अनुगृहीत भरद्वाज महर्षि को अपने आंशिक स्वरूप से कृतार्थ किया, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व का ईश्वरीय प्रेरणा से ब्रह्मादि—ऋषिपर्य्यन्त आप्त महापुरुषों के अन्तःकरणों में प्रादुर्भाव हुआ वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। अन्तःकरणों में प्रस्फुटित जो मौलिक तत्त्व (विद्यातत्त्व) अनादि-निधना सत्या वाक् के द्वारा शब्दरूप से आर्यप्रजा के सर्वाभ्युदय के लिए प्रवृत्त हुआ वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो शब्दशास्त्र जिस मौलिक तत्त्व (विद्यातत्त्व) के प्रतिपादन से 'वेदशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्वप्रतिपादन से अनित्यशब्दात्मक भी वेदशास्त्र स्वतः प्रमाणशास्त्र माना गया वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। महर्षि कश्यप-वसिष्ठ-भृगु-अङ्गिरा-बृहस्पति-आदि सौम्य महर्षियों नें अपने तपःपूत जीवन का जिस मौलिक तत्त्व की आराधना-प्रचार, प्रसार में उपयोग करते हुए अपने आपको धन्य बनाया वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के रासायनिक सम्मिश्रण से भारतवर्ष के प्राचीन वैज्ञानिकों नें सूर्य्यवेधन, इन्द्रवेध, स्तम्भ, वज्र

(वेत्रयज्ञ), गो, नौका, चमस, विमान, ग्रह, ज्योति, विद्युत्, आदि आविष्कारों से संसार को चमत्कृत किया, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जहां के भूसुरों ने जिस मौलिकविद्या के बल से सैनापत्य, राजदण्ड, लोकनीति, समाजनीति, नागरिकनीति, राष्ट्रनीति, अर्थनीति, कामनीति, मोक्षनीति, शिल्प, कला, वाणिज्य, आदि में पारदर्शिता प्राप्त करते हुए अपने आपको 'जगद्गुरु' की उपाधि से विभूषित किया, वही मौलिक विद्या 'मौलिकवेद' है।

और सर्वान्त में—घातक सम्प्रदायवाद से स्वस्वरूप से आवृत होने वाले जिस मौलिक तत्त्व की विस्मृति से आर्यप्रजा ने अपना सर्वस्व वैभव नियति के जिस विपुलोदर में आहुत कर दिया, वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस विस्मृत मौलिक तत्त्व ने शब्दराशिरूप जिस वेदशास्त्र का केवल पारायण की वस्तु बना डाला, वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस विस्मृत मौलिक तत्त्व की स्मृति के बिना आर्यप्रजा का समुद्धार असम्भव है, वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस विस्मृत मौलिक तत्त्व की स्मृति के लिए सम्प्रदायवादशून्य विशुद्ध आर्षदृष्टि का अनुगमन अपेक्षित है, वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है, जिसके कि कुछ एक स्मृतिचिन्हों का प्रकृत प्रकरण में संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जा रहा है। यही हमारे इस विस्मृत, तात्त्विक, मौलिकवेद का अथ से इति पर्यन्त का संक्षिप्त इतिवृत्त है। इसी इतिवृत्त को सामने रखते हुए हमें *मौलिकवेदस्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्त होना है।*

७—वेदार्थ की समस्यापूर्ण जटिलता —

वेदशास्त्र में प्रतिपादित अनन्त विषयों में यदि कोई सब से जटिल विषय है, तो वह एकमात्र यही 'वेदपदार्थ' है। वेद के (वेदशास्त्र के) वेद को (वेदपदार्थ को) जिसने जान लिया, वही सर्ववित् बन गया। और जिसने वेद के वेद को नहीं जाना, 'न स वेद, न स वेद'। प्रस्तुत प्रकरण में इस वेदपदार्थ के सम्बन्ध में हम जो कुछ कहेंगे, वेदप्रेमी पाठक उसे अटपटा-सा समझेंगे, एक काल्पनिक वस्तु मान लेने का भ्रम कर बैठेंगे। क्योंकि जिस शैली से, जिस दृष्टिकोण से वेद का जो तात्त्विक स्वरूप हम बतलाने चले हैं, उसकी उपलब्धि वर्त्तमान युग में उपलब्ध होने वाले वेदभाष्यों, वेदव्याख्यानों में सर्वथा अनुपलब्ध है। और इसी भ्रान्ति के निराकरण के लिए प्रकरणारम्भ से पहले ही 'विषयोपक्रम' में हमें इस स्थिति का, इस जटिलता का स्पष्टीकरण करना पड़ा है। भवतां तावत् 'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु' को अपना आराध्य मन्त्र बनाते हुए सर्वथा नवीनदृष्टि से, नहीं नहीं प्राचीनतमदृष्टि से वेद का मौलिक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा जा रहा है।

सो, दो सौ वर्षों से प्रचलित रूढ़िवादों को ही 'परम्परा' नाम से व्यवहृत करने वाले, इत्थंभूत परम्परानुगामी अनर्थात्मक अर्थों से ही सन्तुष्ट होने वाले, वैदिक साहित्य के तात्त्विक परिशीलन से सर्वथा अतिक्रान्त जो महानुभाव 'परम्परासिद्ध अर्थ ही मान्य है' इस वाक्य का उद्घोष किया करते हैं उनका समाधान भाषिकरूप से तो पूर्व प्रकरण में किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त स्वयं श्रुतिप्रमाण के आधार पर आर्षपरम्परासिद्ध जिस वेदार्थ का स्वरूप आगे बतलाया जाने वाला है यदि शुष्क तटस्थ समालोचना को छोड़ते हुए दोषदृष्टि से भी इस वेदस्वरूप पर वे दृष्टि डालने का समय निकाल सकेंगे, तो हमें आशा ही नहीं, अपितु दृढ़ विश्वास है कि, चिरकाल से विलुप्तप्राय वेदपरम्परा के तात्त्विक स्वरूप

की ओर उनका ध्यान आकर्षित हो सकेगा। इस सामयिक उद्गार की आवश्यकता यह हुई कि, वेदप्रचार सम्बन्धिनी अतीत यात्राओं में कई बार यह सुनने का अवसर मिला कि, "उपलब्ध वेदभाष्यों में जब वेदों का अर्थ उपलब्ध नहीं होता, तो इन्हें कैसे परम्परासम्मत कहा जाय"। यही नहीं, एक बार भारतवर्ष के एक सम्मान्य, सम्पन्न, गृहस्थ के यहाँ होने वाली वेदव्याख्या के सम्बन्ध में–'वेद अनन्त हैं' इस वाक्य को लेकर वहाँ उपस्थित, गृहस्थ के सम्पर्क में आए हुए एक वेदभक्त महाशय ने परोक्ष में बड़े उपहास के साथ अपने ये उद्गार प्रकट किए कि, "लो, आजतक सनातनधर्मी वेद की ११३१ शाखा मानते थे, स्वामी दयानन्द ने चार ही वेद माने थ, परन्तु अब तो वेद अनन्त हो गए"। क्यों कि ये महाशय उस गृहस्थ के किसी एक प्रमुख व्यक्ति की दृष्टि में वेदों क पारदर्शी थ। अतएव उनका उक्त कथन ही इस बात में दृढ़ प्रमाण बन गया कि, "सचमुच हम वेदार्थ के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, यह एक सारहीन भ्रान्त कल्पनामात्र है। और ऐसे भ्रान्त साहित्य क प्रचार–प्रसार में हमें कोई सहयोग नहीं देना चाहिए।"

उक्त निदर्शन से अभिप्राय केवल हमारा यही है कि, वैदिक साहित्य का परिज्ञान स्वाध्यायवैमुख्य से हम से कितना पीछे हट चुका है!, इसके लिए यह एक ही निदर्शन पर्याप्त है। जो वैदिक साहित्य से प्रेम नहीं रखते, उनकी बात तो जाने दीजिए। परन्तु जो अहर्निश वेदभक्ति का विज्ञिकघोष करते हैं, उन के लिए भी जब 'अनन्ता वै वेदाः' वाक्य एक उपहास की सामग्री बन जाता है, तो अवश्य ही वेदना का आविर्भाव हो पड़ता है। क्योंकि हमारे इस वेदस्वरूप से अनन्तता का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए, एवं साथ ही भ्रान्त पथिकों की भ्रान्ति के निराकरण के लिए भी प्रसङ्गोपात्त वेद की अनन्तता प्रतिपादन करने वाला स्वयं वेद का ही एक आख्यान सर्वप्रथम वेदप्रेमियों के सामने रक्खा जा रहा है।

८–महर्षि भरद्वाज के अनन्तवेद—

"सुप्रसिद्ध वेदनिष्ठ महर्षि भरद्वाज ने अपनी वेदस्वाध्यायविषयिणी जिज्ञासा पूरी करने के लिए आयुः–प्रवर्त्तक इन्द्र की उपासना की। इन्द्र ने प्रसन्न होकर इन्हें १०० वर्ष की आयु प्रदान की। अपनी आयु के इन १०० वर्षों में अनन्ययोग से वेदस्वाध्याय किया। अन्त में समय आने पर भरद्वाज का शरीर सर्वथा जीर्ण–शीर्ण हो गया वृद्धावस्था ने घर कर लिया, भरद्वाज ने शय्या का आश्रय ले लिया। भरद्वाज इस जीर्णावस्था से शय्या में पड़े हुए अन्तिम समय की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि, सहसा एक दिन इन्द्रदेवता आ पहुँचे, और भरद्वाज से कहने लगे कि, भरद्वाज! यदि मैं तुम्हें १ वर्ष की आयु और प्रदान करदूँ, तो इस प्राप्त आयु का उपयोग तुम किस कार्य्य में करोगे? वेदानन्यभक्त भरद्वाज के मुख से यही निकला कि, मैं आप से प्राप्त इस आयु में भी वेदस्वाध्याय ही करूँगा, (क्योंकि अभी मेरा वेदज्ञान अपूर्ण है)। (मन ही मन हँसते हुए इन्द्र ने भरद्वाज की इस तृष्णा का निराकरण करने के लिए) भरद्वाज की दृष्टि के सामने पर्वताकार वेद के वैसे तीन विशाल स्तूप रक्खे, जिन्हें कि इस दिन से पहिले भरद्वाज ने कभी न देखे थे। उन तीनों वेदपर्वतों में से इन्द्र ने एक एक मुट्ठी भर वेद लिया, और भरद्वाज को सम्बोधन कर कहने लगे कि भरद्वाज! देखते हो, मेरी मुट्ठी में क्या है? ये वेद हैं। भरद्वाज! "वेद अनन्त हैं"। अपनी आयु के मुक्त तीन सौ वर्षों में तुमने इन तीन मुट्ठियों जितना वेदतत्त्व प्राप्त किया है। अभी यह अनन्त पर्वताकार अनन्त वेद तुम्हारे लिए अविज्ञात ही पड़ा हुआ है। इसलिए यह आशा छोड़ दो कि, १०० वर्ष और मिल जाने से मैं सम्पूर्ण वेद जान जाऊँगा"।

स्पष्ट ही 'अनन्ता वै वेदाः' घोषणा के माध्यम से देवेन्द्र निम्नलिखित रूप से वेद की अनन्तता का समर्थन कर रहे हैं—

"भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्य्यमुवास । तं ह जीर्णं, स्थविरं, शयान-इन्द्र उपव्रज्य उवाच । भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां, किमेनेन कुर्य्या इति ? । ब्रह्मचर्य्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच । तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार । तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे । स होवाच, भरद्वाजेत्यामन्त्र्य । वेदा वा एते । "अनन्ता वै वेदाः" । एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः । अथ त इतरदनूक्तमेव' । (तै० ब्रा० ३।१०।११) ।

कृतयुग जैसे शान्तयुग के शान्त वातावरण में सतत ब्रह्मचर्य्य का अनुगमन करने वाले तपःपूत स्वाध्यायी भरद्वाज जैसे सर्वसमर्थ महर्षि ने निरन्तर तीन सौ वर्ष पर्य्यन्त वेदस्वाध्याय किया, और परिणाम में पर्वताकार अनन्त त्रयीवेदों में से वे मुट्ठी भर वेदज्ञान प्राप्त कर सके, उनको यह लालसा बनी ही रह गई । ऐसी दशा में कलियुग जैसे अशान्तयुग के अशान्त वातावरण में ब्रह्मचर्य्य, तप, सत्य, आदि स्वाध्यायोपयिक साधनों से वञ्चित स्वल्पायु आज के द्विजाति के अन्तर्जगत् में स्वतएव इस भावना का उद्रेक सहज बन जायगा कि, जब कृतयुग में भरद्वाज जैसे महर्षि वेद का पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर सके, तो इस घोरयुग में हमारे जैसे हीनवीर्यों का वेदस्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होना ही निरर्थक है । प्रश्न होता है कि, जब वेद अनन्त हैं, उनका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, समस्त आयु लगाकर भी जिसका कणमात्र ही बोध होता है, ऐसे अनन्तवेद की प्रवृत्ति का आदेश ही श्रुति ने क्यों दिया ? । क्योंकि बिना परिपूर्णता के किसी भी विषय में कौशल प्राप्त नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त अन्य श्रुतियों ने कई स्थलों में कई महर्षियों के लिए जब यह घोषित किया है कि, अमुक महर्षि वेद के पारदर्शी हैं, अमुक वेदवित् हैं, अमुक सर्ववित् हैं । तो ऐसी दशा में उक्त तैत्तिरीय श्रुति के— "वेदज्ञान की परिपूर्णता असम्भव है" इस विरोधी सिद्धान्त का समन्वय भी कैसे किया जाय ? । सचमुच तैत्तिरीय श्रुति का उक्त आख्यान वेदस्वाध्यायप्रवृत्ति की ओर से हमें उदासीन ही बना रहा है । क्या कोई ऐसा भी उपाय है, जिसके अनुगमन से हमें यह विश्वास हो जाय कि, ऐसा करने से वेद की परिपूर्णता के हम भी अनुगामी बन जायँगे ? । है, और अवश्य है । जो तैत्तिरीय श्रुति अपने पूर्वांश से वेदों की अनन्तता का व्याख्यान करती हुई हमें एक दृष्टिकोण से निराश-सा करती है, वही तैत्तिरीय श्रुति अपने उत्तरांश से एक उपायविशेषद्वारा उपाधिभेद से अनन्तवेद को सान्त बनाती हुई दूसरे दृष्टिकोण से हमें यह आशामय विश्वास भी दिला रही है कि उस उपाय से तुम वेदवित् बन सकते हो, अमृतत्व प्राप्त कर सकते हो सम्पूर्ण विश्व का वैभव प्राप्त कर सकते हो, कृतकृत्य बन सकते हो । श्रुति का वह उपाय है सुप्रसिद्ध 'सावित्राग्नि', जिसके कि मौलिक स्वरूप-परिचय से सतृष्ण भरद्वाज अन्त में सन्तुष्ट हो गए थे, जिसके विज्ञान से विश्वोपाधिक सादि सान्त वेदस्वरूप की परिपूर्णता चरितार्थ है, जिसका कि संक्षिप्त स्वरूप-प्रदर्शन ही प्रकृत वेदस्वरूपनिरूपण प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है ।

६—सावित्राग्नि के तटस्थ लक्षण—

सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने मर्त्यरूप से जहाँ प्रजापति के मर्त्यभाग पर अपनी प्रभुता स्थापित कर रक्खी है, वहाँ अपने अमृतरूप से प्रजापति के अमृतभाग को स्वायत्त कर रक्खा है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने मर्त्यभाग से वेदमूलक प्रवृत्तिलक्षण यज्ञ–तप–दानकर्मों के द्वारा लौकिक वैभव की रक्षा कर रक्खी है, एवं अपने अमृतभाग से वेदमूलक निवृत्तिलक्षण यज्ञ–तप–दानकर्मों से आत्मवैभव को सुरक्षित कर रक्खा है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने ज्योतिर्भाग से विश्वमर्य्यादा का सञ्चालन करने वाले प्राणदेवताओं का स्वरूप सुरक्षित रख रक्खा है, अपने गौभाग से विश्व के पाञ्चभौतिक वर्ग का स्वरूप–सम्पादन कर रक्खा है, एवं अपने आयभाग से चर–अचर की आत्मप्रतिष्ठा बना हुआ है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने ऊर्ध्वलक्षण अमृतभाग से ब्रह्मनिःश्वसित, एवं ब्रह्मस्वेदवेद को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित कर रक्खा है, अपने प्रातिस्विक (अमृतमृत्युलक्षण उभयविध) रूप से गायत्रीमात्रिकवेद को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित कर रक्खा है, एवं अधोलक्षण अपने मर्त्यभाग से चान्द्रवेद, तथा यज्ञमात्रिकवेद की स्वरूपरक्षा कर रक्खी है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने नाचिरूप से अपने उपासक महर्षि याज्ञवल्क्य को शुक्लयजुर्वेद का वर प्रदान किया है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अग्निमयी पृथिवी, वायमय अन्तरिक्ष, इन्द्रमय द्युलोक, बृहस्पतिमय बृहन्मण्डल प्रजापतिमय परमेष्ठीलोक, ब्रह्ममय स्वयम्भूलोक, इन ६ओं की स्वरूप-रक्षा करते हुए–उस अनन्तवेदविभूति को १७ पर्वा विश्व में सीमित कर रक्खा है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसके (चित्याग्नि की भाँति) न तो पक्ष है, न पुच्छ है। अपितु पक्षपुच्छ वाला चित्याग्नि उसका मुख (प्रवृत्तिद्वार) है, प्रत्यक्षदृष्ट आदित्य उसका मस्तक है। पूर्वोक्त ६ओं देवता उसी प्रकार इस सावित्राग्नि से बद्ध हो रहे हैं, जैसे कि एक महावस्त्र में अन्य वस्तु सूची से सीं दी जाती हो। इसीलिए तो यह सर्वमूर्त्ति अग्नि 'सावित्र' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सावित्राग्नि ही तो वास्तविक अग्नि है, अग्नि ही तो विश्व है, विश्व ही तो वेद है, इस वेदात्मक विश्व के सावित्राग्निरहस्य को जान लेना ही तो वेद का मौलिक स्वरूप जान लेना है। सावित्राग्नि की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए इन्द्र भरद्वाज से कहते हैं—

१—"एहि! इमं विद्धि। अयं वै 'सर्वविद्या'–इति। तस्मै हैतमग्निं सावित्रमुवाच। स स विदित्वा, अमृतो भूत्वा, स्वर्गं लोकमियाय–आदित्यस्य सायुज्यम्। अमृतो हैव भूत्वा स्वर्गं लोकमेति, आदित्यस्य सायुज्यं, य एवं वेद।"

२—"एषा उ त्रयीविद्या। यावन्तं ह वै त्रय्या विद्यया लोकं जयति, तावन्तं लोकं जयति, य एवं वेद"।

३—"अग्नेर्वा एतानि नामधेयानि। अग्नेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य०।
वायोर्वा एतानि नामधेयानि। वायोरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य०।
इन्द्रस्य वा एतानि नामधेयानि। इन्द्रस्यैव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य०।

घृतः तर्वा एतानि नामधेयानि । घृहस्पतेरव सायुज्य सलोकतामाप्नोति य० ।
प्रजापतेर्वा एतानि नामधेयानि । प्रजापतेरेव साडुज्य सलोकतामोप्नोति, य० ।
ब्रह्मणो वा एतानि नामधेयानि । ब्रह्मण एव सायुज्य सलोकतामाप्नोति, य० ।"

४—"स वा एषोऽग्निरपक्षपुच्छो वायुरेव । तस्य-आग्नमुंख, असावादित्य —
शिर । स यदेत देवत अन्तरेण तत्सन्वं सीव्यति । तस्मात् सावित्र " ।
—तैत्तरीयब्राह्मण ३ काण्ड । १०३ प्रपाठक । १ अनुवाक ।

१०-सावित्राग्निमूलक ग्रहोपग्रहभाव—

यह तो हुआ सावित्राग्नि का तटस्थलक्षणदृष्टि से सामान्य विचार । अब स्वरूपलक्षणदृष्टि से इस का विशेष विचार करना चाहिए । जिस सावित्राग्नि ने अग्नि वायु, इन्द्र, बृहस्पति प्रजापति, ब्रह्म, इन ६ देवताओं को अपने में ही रक्खा है, जो सावित्राग्नि स्वयं त्रयीविद्यामय बनता हुआ इन ६ ओं वेदसंस्थाओं की प्रतिष्ठा बन रहा है, उस सावित्राग्नि का, और उस सावित्राग्नि का–जिसके परिज्ञान से भरद्वाज की प्रबल वेदतृष्णा शान्त हो जाती है, क्या स्वरूप है ?, पहिले संक्षेप से इन प्रश्नों का विचार किया जायगा, अनन्तर क्रमशः इससे सम्बन्ध रखनें वाली ६ वेदसंस्थाओं का स्पष्टीकरण किया जायगा ।

'सावित्राग्नि' शब्द से ही यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि, इस अग्नि का और सवितप्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है । सवितापाण के सम्बन्ध से ही यह अग्नि 'सावित्र' कहलाया है । अतएव इस के स्वरूपपरिचय के लिए हमें पहिले तदभिन्न, किंवा तद्रूप 'सवितप्राण' का ही विचार करना पड़ेगा । एव इसके लिए 'ग्रहोपग्रह पद्धति' का आश्रय लेना पड़ेगा । जो वस्तु केवल अपने अनेक अनुयायियों को साथ लेकर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, उसे तो 'ग्रह' कहा जाता है, एवं इस ग्रह के ही अवयवांशों से उत्पन्न, इस ग्रह से नित्य युक्त ग्रहानुयायी 'उपग्रह' (ग्रह के समीप, अनुवर्त्ती ग्रह) नाम से प्रसिद्ध है । ग्रह सदा एक होता है, उपग्रह सदा अनेक होते हैं । वैदिकविज्ञानपरिभाषा के अनुसार मुख्याधिष्ठातारूप ग्रह को 'इन्द्र' कहा जाता है, एवं तदनुवर्त्ती उपग्रहों को 'जनता' कहा जाता है । 'एक हो वै जनतायामिन्द्र ' (तै ब्रा १।४।१।१) इस निगम-वचन के अनुसार उपग्रहभूता जनता (समूह राशि, ढेर , संघ) में अवश्य ही एक एक ग्रहलक्षण इन्द्र हुआ करता है । बिना इन्द्र के जनता अप्रतिष्ठित है, बिना जनता के इन्द्र अप्रतिष्ठित है । दोनों में परस्पर उपकार्य्य, उपकारक सम्बन्ध है । वैदिक यज्ञपरिभाषा के अनुसार मुख्याधिष्ठातारूप ग्रह को 'प्रतिपत्' कहा जाता है । उपग्रह इसी में प्रपन्न रहते हैं ग्रह ही उपग्रहों की उपक्रम पर्यवसानभूमि है, अतएव इसे प्रतिपत् कहना अन्वर्थ बनता है । एवं उपग्रहों को 'अनुचर' कहा जाता है । ग्रह को मूल बनाकर ये उपग्रह इसी के अनुगत बने रहते हैं, अतएव इन्हें 'अनुचर' कहना अन्वर्थ बनता है । इस प्रकार ग्रह, इन्द्र प्रतिपत्, आदि नामों से व्यवहृत मुख्याधिष्ठाता, एवं उपग्रह जनता, अनुचर, आदि नामों से प्रसिद्ध अनुयायी इन दोनों के समन्वित रूप का ही नाम ईश्वर है । यह ईश्वरमर्य्यादा इसी रूप से ईश्वरीय गर्भ में प्रतिष्ठित आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधियाज्ञिक, आधिनाक्षत्रिक, आदि यच्चयावत् विवर्तों में ज्यों की त्यों व्यवस्थित है ।

एक गृहस्थ परिवार को ही लीजिए। गृहस्थ का वह वृद्धपुरुष, जो सम्पूर्ण गृहधर्म्मों का संचालक है, जिस के आदेश पर गृहस्थ के अन्य व्यक्ति स्वस्वकर्म्मों में प्रवृत्त होते हुए इस वृद्धपुरुष के अनुगामी बने रहते हैं—ग्रह है, एवं आदिष्ट पारिवारिक सब व्यक्ति उपग्रह हैं। वृद्धपुरुष इन्द्र है, प्रतिपत् है, पारिवारिक व्यक्ति जनता है, अनुचर है। जातीय व्यवस्थाओं का निर्णायक पञ्च (चौधरी) ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् है, तदनुगता सम्पूर्ण जाति उपग्रह, जनता, अनुचर है। ग्रामाध्यक्ष ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् है तदनुगता ग्रामप्रजा उपग्रह, जनता, अनुचर है। कर्म्मात्मा ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् है, तदनुगत शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि सब कुछ उपग्रह, जनता, अनुचर है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, बुद्धि, शरीर, सब एक एक स्वतन्त्र ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् हैं, एवं विविधभावापन्न शब्दप्रपञ्च, प्राणापानसमानव्यानोदानादि प्राणप्रपञ्च, विविधभावापन्न रूपप्रपञ्च, विविधभावापन्न सत्–असत् शब्दश्रुतियां, काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा, सुख, दुःखादि मानसप्रपञ्च, विद्या, अविद्या, धृति, मात्स्य, आदि विविध बौद्धप्रपञ्च, एवं रसासृङ्मांसादि धातुप्रपञ्च, सब इन ग्रहों के क्रमशः उपग्रह, जनता, अनुचर हैं।

ब्राह्मणवर्ण ग्रह,* प्रतिपत् इन्द्र है, इतर वर्ण उपग्रह, जनता, अनुचर है। राजा ग्रहादि है, प्रजा उपग्रहादि है। चक्रवर्ती ग्रहादि है, सामन्तराजगण उपग्रहादि है। गुरु ग्रहादि है, शिष्यमण्डली उपग्रहादि है। भोक्ता ग्रहादि है, भोग्य उपग्रहादि है। शास्ता ग्रहादि है, शासित उपग्रहादि है। और इस प्रकार भोक्तृ–भोग्यलक्षणा यह ग्रहोपग्रहमर्य्यादा न केवल मानवसमाज में ही, अपितु चर–अचर सर्वत्र व्याप्त है। मधुमक्खियां यहां उपग्रह हैं, मधुकरराजा यहां ग्रह है। इसी प्रकार, पशु–पक्षी–कृमि–कीट–ओषधिवनस्पति–पर्वत–नद–नदी–नक्षत्र–आदि सर्वत्र सब जनताओं (मण्डलियों) में आप एक एक इन्द्र (मुख्याधिष्ठाता) का साम्राज्य देखेंगे। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, यह इन्द्र जनता से कोई पृथक्, विलक्षण तत्त्व नहीं है। अपितु जनता का ही यह एक भाग, जोकि स्वबल–वीर्य्य–पराक्रमात् से उन्नत बना रहता है, इन्द्र बन जाया करता है। इन्द्र क्या बन जाया करता है, स्वयं जनता ही उसे नतमस्तक होकर इन्द्र मान लेती है। सिंह का किसने राज्याभिषेक किया ?, अपितु वह अपने वीर्य्य से स्वयमेव अपने आपको जङ्गल का इन्द्र मनवा रहा है। सभी स्वात्मवीर्य्यविकास से इन्द्र बन सकते हैं, सभी का ऐन्द्रपद वीर्य्यपात से जनता के रूप में परिणत हो सकता है। अपेक्षया सभी इन्द्र (भोक्ता–अन्नाद) हैं, सभी जनता (भोग्य–अन्न) हैं।

११–अनन्तवेद का अविज्ञेय इतिवृत्त—

विश्वप्रवर्त्तक, किंवा सर्वप्रवर्त्तक मौलिकतत्त्व ही 'मौलिकवेद' है, यह मौलिकवेद के इतिवृत्त से गतार्थ है। अब इस सम्बन्ध में हमें यह विचार करना है कि, जिस मौलिकवेद से विश्व का उद्गम हुआ है, उस विश्व का तो क्या स्वरूप है ?, तत्प्रवर्त्तक मौलिकवेद की अनन्तता का क्या स्वरूप है ?, एवं यह अनन्तवेद सोमाग्नि के द्वारा कैसे सादि–सान्त बनता हुआ बुद्धिग्राह्य बन जाता है ?। सावित्राग्नि का महापग्रहविज्ञान से क्या सम्बन्ध

---

* पन्द्रह दिनों की प्रवृत्ति जिस तिथि से आरम्भ होती है, उस तिथि को भी इसी परिभाषा के अनुसार 'प्रतिपत्' (पड़वा) कहा जाता है। इसी परिभाषा के अनुरोध से शेष तिथियों का 'अनुचर' कहा जायगा।

है ?, एवं स्वयं सावित्राग्नि का मौलिक स्वरूप क्या है ? । इन प्रश्नों के समाधान के लिए हमें ग्रह नामक 'प्रतिपत्' भाग, एवं उपग्रह नामक 'अनुचर' भाग के इतिवृत्त का ही अन्वेषण करना पड़ेगा, जो कि इतिवृत्त उक्त प्रश्नों का यथावत् समाधान कर रहा है।

ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, शतपथविज्ञानभाष्य, गीताविज्ञानभाष्यभूमिका आदि पूर्व प्रकाशित निबन्धों में, विशेषतः ईशभाष्य प्रथमखण्ड में विश्वात्मा के परात्पर, ईश्वर, उपश्वर, जीव, आदि आत्मविवर्त्तों का, विश्व के स्वयम्भू, परमेष्ठी, आदि विश्वपर्वों का सुविशद निरूपण किया जा चुका है। जिन्हें इस दोनों विषयों के क्रमिक-संस्थान की जिज्ञासा हो, उनसे यही निवेदन किया जायगा कि, वे इस वेदस्वरूप का यथापूर्व समन्वय करने के लिए एक बार उन विवर्त्तों का अवश्य ही देखने का कष्ट करें। क्योंकि वैदिक साहित्य तन्तुरूप नहीं है, अपितु पटरूप है। एक भी तन्तु के ग्रहण से जैसे सारा पट गृहीत हो जाता है, एवमेव तन्तुस्थानीय प्रत्येक वैदिक विषय का उपक्रम करते ही पटस्थानीय सम्पूर्ण विश्वविज्ञान हमारे सामने उपस्थित हो पड़ता है। जब तक आत्मयुक्त विश्वविज्ञान को लक्ष्य नहीं बना लिया जाता, तब तक आप अणु से अणु, एवं महान् से महान्, किसी भी वैदिक विषय का पूरा पूरा स्पष्टीकरण नहीं कर सकते। वैदिक विषयों के परिज्ञान के सम्बन्ध में यही एक ऐसी जटिलता है, जिसने परिभाषाज्ञान के अभाव से सर्वथा सुगम भी इन विषयों को क्लिष्ट बना रक्खा है। और इसी क्लिष्टता को लक्ष्य में रख कर, विस्तारक्रम को असामयिक समझते हुए भी, प्रत्येक विषय के उपक्रम में हमें उस महाविज्ञान का थोड़ा-बहुत दिग्दर्शन कराना ही पड़ता है। क्योंकि बिना ऐसा किए हम वर्त्तमान युग की जनता का किसी भी प्रतिपाद्य विषय से सन्तोष नहीं करा सकते। वेदस्वरूप भी एक ऐसा ही विषय है। इसके इतिवृत्त के साथ भी उस महाविश्वविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी कि, बिना उसके परिज्ञान के इसका समन्वय कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। इसीलिए हमने यह निवेदन करना आवश्यक समझा है कि, प्रकृत वेदस्वरूप का यथापूर्व समन्वय करने के लिए वेदप्रेमियों को एक बार ईशादि में प्रतिपादित महाविश्वस्वरूप पर दृष्टि डाल ही लेनी चाहिए।

प्रतिपादित आत्म-विश्वविज्ञान के अवलोकन से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति 'परात्पर' ही अनन्त ब्रह्म है। इस अनन्त, असीम, विश्वातीत परात्परब्रह्म के गर्भ में सीमाभाव-सम्पादक अनन्त (असंख्य) मायाबल अपनी व्यक्त, अव्यक्त अवस्थाओं से क्रीड़ा किया करते हैं। प्रत्येक मायाबल माया, धारा, आप, अम्भ, यश, मोह, आदि गर्भीभूत इतर १५ बलकोशों से युक्त रहता हुआ व्यापक परात्पर के अंशों को सीमित बनाता रहता है। इस सीमा से मायापुरात्मक विश्व का उद्गम होता रहता है। जिस समय मायाबल व्यक्तावस्था को छोड़कर अव्यक्तावस्था में आ जाता है भावी विश्व भी लयावस्था में परिणत हो जाता है। कब किस मायाबल से किस विश्व का उद्गम होता है ?, कब किस का लय होता है ?, नियति की दृष्टि से यह सब कुछ व्यवस्थित होता हुआ भी मानवीय ज्ञान के लिए अतीत है, अगम्य है। इस सम्बन्ध में मानवीय ज्ञान केवल यह अनुमान ही लगा सकता है कि, जब उसमें अनन्त मायाबल है, एवं प्रत्येक मायाबल से व्यक्तावस्था में जब स्वतन्त्र ब्रह्माण्ड का उदय होता है, तो अवश्य ही अनवच्छिन्न परात्परब्रह्मधरातल में अनन्त ब्रह्माण्ड आविर्भूत, तिरोभूत होते रहते होंगे। मायाबल वेद का, किंवा वेदमूर्त्ति ब्रह्म को अग्रणी बना कर ही ब्रह्माण्डोत्पत्ति का सब कारण बनता है, तो इन अनन्त ब्रह्माण्डों के द्वारा हमें वेद के आनन्त्य की सत्यता पर भी विश्वास करना ही पड़ता है। एक एक मायाबल, और एक एक त्रयीवेद

एक एक अश्वत्थ, और एक एक ब्रह्माण्ड, अनन्त मायाबल, इसीलिए अनन्त अश्वत्थ, अतएव अनन्त ब्रह्माण्ड। अनन्त के इस अनन्त इतिहास का अनुगमन करते हुए ही महर्षिगण अनन्तपद के अधिकारी बन हैं। अनन्त के इस अनन्त इतिहास का विश्लेषण करने से ही वेदज्ञान अनन्त बना है। अनन्त की उपासना करने वाली आर्यप्रजा की यही अनन्तता है यही इसका शाश्वतधर्मानुगमन है, एवं यही उस अनन्त, सनातन, परात्पर का अनन्त सनातन सनातनधर्म है, जोकि ऋषिदृष्ट होने से 'आर्षधर्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

१२–अनन्त वेद का दुर्विज्ञेय इतिवृत्त—

वेद क्यों कैसे अनन्त हैं ?, इस प्रश्न का पर्यवसान में, इदन्ता वाली वेदायतिभूमा महामायाओं के आनन्त्य की दृष्टि से एक समाधान किया गया। सर्वथा अविज्ञेय परात्पर, सर्वथा अविज्ञेय उसके अनन्त मायाबल, एवं सर्वथा अविज्ञेय मायामय अनन्त वेद, इन अविज्ञेयभावों की चर्चा छोड़कर, केवल एक उस मायाबल पर दृष्टि डालिए, जिसका हमारे ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध है। जिस मायामय महाब्रह्माण्ड के गर्भ में चर-अचर प्रजावर्ग प्रतिष्ठित है, उस महाब्रह्माण्ड का, ब्रह्माण्ड के उन असंख्य उपग्रहों का, जनता का, अनुचरों का एकाकी अधिष्ठाता, महद्, इन्द्र, प्रतिपक्ष कौन ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका कि समाधान निम्न लिखित श्रुतियाँ कर रहीं हैं—

> १—ब्रह्मवन, ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
> मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥
> —तैत्तिरीयब्राह्मण ।

> २—यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
> वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
> —श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।९।४।

> ३—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
> तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
> तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥
> —कठोपनिषत् ६।१।

> ४—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
> छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद, स वेदवित् ॥
> —गीता १५।१।

उपनिषद्–भूमिका प्रथमखण्ड के 'वैज्ञानिक वेदनिरुक्ति' नामक प्रकरण में (पृ॰ सं॰ १ से ६ पर्यन्त) यह स्पष्ट किया जा चुका है कि एक एक मायाबल से सम्बन्ध रखने वाला एक एक वृक्ष है, एवं उस परात्पर में अनन्त मायाबलों की अपेक्षा से अनन्त वृक्ष हैं। इन अनन्त ब्रह्माण्डोपलक्षित अनन्त वृक्षों को

अपने अनन्त परात्पर पर प्रतिष्ठित रखने वाला विश्वातीत अनन्त परात्पर ही 'महायन' है। इस ब्रह्मयन (परात्पर) के एक प्रदेश में प्ररोहित एक मायाबल से सम्बन्ध रखने वाला अव्यय, अक्षर, क्षरमूर्ति, महामायी, 'षोडशीपुरुष' ही एक वृक्ष है, यही एक महाब्रह्माण्ड की इयत्ता है। वृक्षात्मक यही पुरुष सम्पूर्ण भुवनों का, उपग्रह, वनता, अनुचरों का एकाकी अधिष्ठाता, ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् है। प्रथम श्रुति का— 'ब्रह्माप्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" यह वाक्य इसी प्रतिपत्, वृक्षब्रह्म का स्पष्टीकरण कर रहा है।

अपने मायामय महाविश्व में न तो इस मायी ब्रह्म से कोई पर है, न कोई अपर है। सापेक्षवादशून्य इससे न कोई छोटा है, न बड़ा है। यही पर है, यही अपर है, यही अणोरणीयान् है, यही महतामहीयान है। अपने विश्व में यही सर्वस्व बना हुआ है। यह वृक्षवत् (वृक्षस्थूणावत्, न तु शाखा, प्रशाखा, वृन्त, पत्रादिवत्) सर्वथा अचल है। इसी *पूर्णपुरुष से यह मायामय महाब्रह्माण्ड परिपूर्ण है।*

इसी वृक्ष को वैज्ञानिकों ने 'अश्वत्थ' (ब्रह्माश्वत्थ) नाम से व्यवहृत किया है, जिसका कि मूल ऊर्ध्व (केन्द्र) है, जो मायासीमा से सीमित, अतएव सादि-सान्त रहता हुआ भी मायोपाधिविरहितदशा से अपने मौलिकस्वरूप से सनातनपरम्परारूप बनता हुआ सनातन है, यही 'शुक्र'-ब्रह्म'-अमृत' (क्षर'-अक्षर'-अव्यय') अपने इन तीन रूपों में परिणत होता हुआ 'विकृति'-प्रकृति'-पुरुष' भावों का स्वरूपसमर्पक बन रहा है। सम्पूर्ण लोक (पञ्चपुरडीरप्राणापत्या सहस्र वर्शाएं) इसीमें प्रतिष्ठित हैं। ऊर्ध्वमूल, तथा अवाक्शाख इसी अश्वत्थ को उपनिषद्रहस्यवेत्ता 'अव्यय' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। वेद ही इस अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते हैं। जो इस अश्वत्थ को, अश्वत्थ की शाखाओं को, अश्वत्थ के पत्तों को जान लेता है, वैज्ञानिक लोग इसे ही 'वेदवेत्ता' कहा करते हैं।

महाब्रह्माण्ड की महा उपनिषत्, महाग्रह, महा इन्द्र, महाप्रतिपत्-लक्षण इस महामायीमहेश्वर के 'उक्थ, अर्क, अशीति' भेद से तीन संस्थाविभाग हो जाते हैं। उक्थरूप से (बिम्बरूप से) यह उस महा मायापुर के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ 'विश्वात्मा' बन रहा है। अर्करूप से (रश्मिरूप से) विश्वप्रवर्त्तक बनता हुआ महामायापुर के केन्द्र से परिधि तक व्याप्त होता हुआ 'विश्वोपादान' बन रहा है। एवं अशीति (अन्न) रूप से विश्वस्वरूप में परिणत होता हुआ 'विश्वमूर्त्ति' बन रहा है। अशीतिलक्षण विश्व उसी का क्षरप्रधान, विकृतिरूप 'शुक्र' रूप है। अर्कलक्षण विश्वोपादान उसी का अक्षरप्रधान, प्रकृतिरूप 'ब्रह्म' रूप है। एवं उक्थलक्षण विश्वात्मा उसी का अव्ययप्रधान, पुरुषरूप 'अमृत' रूप है, जैसाकि—'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते' इत्यादिरूप से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। महामायी के ये तीनों रूप इनके अमृत-ब्रह्म-शुक्र, इन तीनों भावों से युक्त हैं। केवल गर्भभाव में अन्तर है। ब्रह्म-शुक्रगर्भित अमृतभाग अमृतात्मा है, यही अव्यय है, यही पुरुष है। अमृत-शुक्रगर्भित ब्रह्मभाग ब्रह्मात्मा है, यही अक्षर है, यही प्रकृति है। एवं अमृतब्रह्मगर्भित *शुक्रभाग विश्व है, यही क्षर है यही विकृति है। यही पुरुष है, यही प्रकृति है,* यही विकृति है। पुरुष भी पुरुष-प्रकृति-विकृतिमय है, प्रकृति भी पुरुष प्रकृति-विकृतिमयी है, एवं विकृति भी पुरुष-प्रकृति-विकृतिमयी है। 'तत्' के वितानरूप तीनों ही विश्व 'तत्' रूप हैं। और 'एतद्वै तत्' का यही मौलिक रहस्य है।

'तत्'-वितानपरिलेख'—

महामायावच्छिन्नः—षोडशीपुरुष —अश्वत्थः

१—पुरुष (प्रकृति-विकृतिगर्भितः—पुरुषः, अव्यय -अमृतम्)—उक्थ—'विश्वात्मा' (विश्वेश्वर)।

२—प्रकृति (पुरुष-विकृतिगर्भिता—प्रकृतिः, अक्षर -ब्रह्म)—अर्क'—'विश्वोपादानम्' (विश्वकर्ता)

३—विकृति (पुरुष-प्रकृतिगर्भिता—विकृति , क्षरः—शुक्रम्)—अशीतिय 'विश्वम्' (विश्वम्भर)

इसके उक्त तीनों रूपों में उक्थरूप, केन्द्रस्थ, अव्ययभाव एकाकी है क्योंकि मूलबिम्ब सदा एक ही हुआ करता है। इस मूलबिम्बरूप उक्थलक्षण अव्ययात्मा से निकलने वाले रश्मिरूप अर्क अनन्त हैं, क्योंकि एक मूलबिम्ब से निकलने वाली रश्मियाँ अनन्त ही हुआ करती हैं। रश्मिरूप अर्कलक्षण अक्षरात्मा से परिवेष्टित विश्वरूपा अशीतियाँ भी अनन्त हैं। इन अनन्तरश्मियों का वैज्ञानिकों नें 'सहस्र' (१०००) संख्या पर पर्य्यवसान माना है। सहस्र का पारिभाषिक अर्थ है-'पूर्ण', जैसाकि-'पूर्णं वै सहस्रम्" (शत० ४।४।१।१५) इत्यादि निगमवचन से स्पष्ट है। सूर्य्यबिम्ब से निकल कर सौर बृहन्मण्डल में सर्वत्र व्याप्त होनें वाली रश्मियों को हम इसलिए पूर्ण कह सकते हैं कि, बृहन्मण्डल का कोई प्रदेश इन सौर रश्मियों से वञ्चित नहीं है। वाक्, वेद, लोकसाहस्रियों से सम्बन्ध रखने वाले 'वषट्कार' स्वरूप के समन्वय के लिए वैज्ञानिकों नें इन अनन्त, पूर्ण रश्मियों के सहस्रभाव मान लिए हैं, एवं एकमात्र इसी दृष्टि से सहस्र शब्द पूर्णार्थ का, एवं पूर्णशब्द सहस्रभाव का सूचक बन गया है। वस्तुगत्या सहस्र का अर्थ 'पूर्ण' ही माना जायगा। परन्तु व्यवहारभाषा में विषयसमन्वय की दृष्टि से सहस्र को सहस्रसंख्यापरक लगाया जायगा। इसी संख्या भाव को प्रधान मानते हुए उस उक्थविश्वात्मा से चारों ओर वितत होनें वाली अर्करूपा सहस्ररश्मियों का विचार कीजिए।

'अर्चन्तश्चरति' इस निर्वचन के अनुसार प्राणनापाननव्यापार से ही इन उक्थविनिर्गत रश्मियों को प्राणरूप 'अर्क' कहा गया है। प्राणनापानन दोनों प्राण के स्वाभाविक व्यापार माने गए हैं। आगे बढ़ना 'प्राणन' है, पीछे हटना 'अपानन' है। एवं ये दो व्यापार ही सृष्टिमात्र के सामान्य अविनाभूत अनुबन्ध हैं। कर्म्ममात्र की स्वरूपनिष्पत्ति इन्हीं दोनों व्यापारों के सहयोग पर निर्भर है। सूर्य्यरश्मि को ही लीजिए। प्रत्येक सूर्य्यरश्मि पीछे हटती हुई आगे सर्पण करती है, जिसका कि छाया, और आतप (धूप) की सन्धि में प्रत्यक्ष किया जा सकता है। छायाभाग अपानन है आतपभाग प्राणन है। इन दोनों का स्वाभाविक व्यापार ही इस ब्रह्म की तपश्चर्य्या है, जैसाकि 'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति' (कठोपनिषत् १।३।१) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। श्वास प्राणन है, यही अमृत है, निःश्वास अपानन है, यही मृत्यु है। अमृत इन्द्र है, यही अग्नि है। मृत्यु वरुण है, यही दक्ष है। अग्निवरुणात्मक, इन्द्रवरुणरूप, श्वासप्रश्वास ही आध्यात्मिक कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा माने गए हैं, जैसाकि

अन्यत्र मैत्रावरुणब्रह्मविज्ञानों में विस्तार से निरूपित है। इसी प्राणनापानन व्यापार की दृष्टि से सूर्यरश्मि के लिए कहा जाता है—'अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानती' (ऋक्सं० १०।१८९।२।)।

प्राणनापाननलक्षण अर्क ही गतितत्त्व है, गति ही क्रिया है, क्रिया ही सृष्टि का मूलबीज है। यह मूल-बीज ज्ञान, एवं अर्थ का सहयोग लेकर ही विश्वस्वरूप में परिणत होता है। जैसाकि पूर्व में बतलाया गया है, उभयात्मा अव्यय है, अर्क अक्षर है, एवं अशीति क्षर है। अव्ययात्मा सर्वमूलभूत ब्रह्म है। इसके विद्या, कर्म, नामक दो धातु हैं। आनन्द, विज्ञान, अन्तर्मन की समष्टि विद्याधातु है, यही मुक्तिसाक्षी भाग है। मन-प्राण-वाक्-समष्टि कर्मधातु है यही सृष्टिसाक्षी है। यह सृष्टिसाक्षी कर्मात्मा जहाँ कर्माश्वत्थ की मूलप्रतिष्ठा बनता है, वहाँ मुक्तिसाक्षी विद्यात्मा ब्रह्माश्वत्थ का स्वरूपसमर्पक बनता है। ब्रह्माश्वत्थलक्षण विद्याव्यय 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति' के अनुसार जहाँ अचल है, अविचाली है, विचलित सृष्टिमर्यादा से बहिर्भूत है। वहाँ कर्माश्वत्थलक्षण कर्माव्यय चल है, विचाली है, चलसृष्टिमर्यादा का साक्षीरूप से सञ्चालक है। चलाचल की समष्टिलक्षण यही ब्रह्म चलाचललक्षण विश्वरूप में परिणत हो रहा है। स्थिति अचलभाव है, यही विद्याव्यय है। गति चलभाव है, यही कर्माव्यय है। दोनों के समन्वितरूप का ही नाम वह (आत्मा) है, एवं दोनों के समन्वितरूप का ही नाम यह (विश्व) है। केवल 'चल-चल' के अनुगमन से (गतिभावानुगमन से) भी काम नहीं चल सकता, एवं केवल 'अचल-अचल' के अनुगमन से (स्थितिभाव के अनुगमन से) भी काम नहीं चल सकता, अपितु लोकप्रसिद्ध 'चलाचल, चलाचल' वाक्य ही सिद्धि का अन्यतम द्वार है। चलमार्ग कर्मनिष्ठा है, योगनिष्ठा है। अचलमार्ग ज्ञाननिष्ठा है, एवं 'एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' के अनुसार दोनों के समन्वय से कृतरूप ज्ञानकर्मोभयात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा ही अव्ययनिष्ठा, किंवा भगवन्निष्ठा है, जिसका कि बुद्धियोगशास्त्र (गीताभाष्य) में विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है।

मनःप्राणवाङ्मय कर्मात्मा का मनोभाग ज्ञानमय, प्राणभाग क्रियामय, एवं वाग्भाग अर्थमय है। इन तीनों का क्रमशः अव्यय, अक्षर, क्षर, इन तीन विवर्तों में वर्गीकरण हो रहा है। स्वयं अव्यय मनःप्रधान बनता हुआ ज्ञानघन है, अव्यय के प्राणभाग से युक्त अक्षर क्रियामय है, अव्यय के वाग्भाग से अनुगृहीत क्षर अर्थमय है। इन तीनों में क्रियामय अक्षर ही 'अर्क' बतलाया गया है। यह उस ओर से तो अव्यय के ज्ञानघन मन से इस ओर से क्षर की अर्थमयी वाक् से युक्त होकर मनःप्राणवाङ्मय बन जाता है। मनोऽव-च्छेदेन सर्वज्ञ बना हुआ, प्राणावच्छेदेन सर्वशक्तिमान् बना हुआ, एवं वागवच्छेदेन सर्ववित् (सर्वार्थमय) बना हुआ यह मध्यस्थ, अर्करूप अक्षर ही वेद, यज्ञ, प्रजासृष्टि का मूलप्रवर्त्तक बनता है। अर्करूप अक्षर का मनोऽनुगत भाग ज्ञानाधिकरण है, यही वेदवित्त है। प्राणानुगत भाग क्रियाधिकरण है, यही आदानविसर्गात्मक यज्ञवित्त है। एवं वागनुगत भाग अर्थाधिकरण है, यही प्रजाविवर्त्त है। वेद ज्ञानमूर्त्ति है, यज्ञ क्रियामूर्त्ति है, प्रजा अर्थमूर्त्ति है। अक्षर त्रिमूर्त्ति है, त्रिमूर्त्ति अक्षर ही अर्क है, जिसके कि सहस्रभाव मायामय ब्रह्माण्ड में रश्मिरूप से व्याप्त हो रहे हैं।

परिच्छेदनाम	पृष्ठसंख्या
८. लोकमानव की 'भाग्यपशुता', और माया विमोहनसमाधानचेष्टा	१८
९. महाभारतयुगानुगता संक्रमणावस्था	१९
१०. तथाविध संक्रमणकाल, एवं सामाजिक मानव का विमोहन	२२
११ निबन्ध-माध्यम में महती विप्रतिपत्ति, एवं तत्समाधान	२३
१२ कौरवनिष्ठा का स्खलन, और भावुक अर्जुन से कुशलप्रश्न	२७
१३ अर्जुन के द्वारा उपस्थिता समस्यापूर्णा भावुकतापरम्परा	२९
१४ कृष्णार्जुनप्रश्नोत्तरपरम्परा	३४
१५. पाण्डुपुत्रों की भावुकता का (१) प्रथमोदाहरण	४१
१६ पाण्डुपुत्रों की भावुकता का (२) द्वितीयोदाहरण	४८
१७ पाण्डुपुत्रों की भावुकता का (३) तृतीयोदाहरण	५७
१८. पाण्डवों की भावुकता के (४-५-६) चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठोदाहरण	११३
१९. पाण्डवों की भावुकता का (७) सप्तमोदाहरण	११६
२० पाण्डवों की भावुकता का (८) अष्टमोदाहरण	११८
२१ कौरव-पाण्डवानुगता निष्ठा-भावुकता, एवं इतिहासपरति	१२०
२२ प्रत्यक्षोदाहरण के माध्यम से भावुक अर्जुन का उद्बोधन, एवं प्रक्रान्त 'असदाख्यानो' परति	१२१
२३ निबन्धानुगता सामयिक-उपयोगिता के सम्बन्ध में	१२२
२४ मान्य सहयोगियों का उद्भावनानुग्रह	१२७
२५. श्रद्धेय विद्वानों का व्यामोहन	१२९
२६. निबन्ध के मीमांस्य विषयों की रूपरेखा	१३०

उपरता चेयं निबन्धोपक्रमाधारभूता-प्रथमखण्डान्तर्गता

प्रथमस्तम्भात्मिका

असदाख्यानस्वरूपमीमांसा

—१—

भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता

(उद्बोधनात्मक—सामयिक निबन्ध)

तदन्तर्गत—

प्रथमखण्ड की—संक्षिप्त—विषयसूची

तस्मिन्नेतस्मिन् प्रथमखण्डे द्वौ स्तम्भौ निरूपितौ द्रष्टव्यौ—

(१)—असदाख्यानस्वरूपमीमांसा (प्रथमस्तम्भ) पृ० सं० १ से १३४ पर्य्यन्त

(२)—विश्वस्वरूपमीमांसा (द्वितीयस्तम्भ) पृ० सं० १३५ से ४४७ पर्य्यन्त

श्री

'भारतीयहिन्दूमानव, और उसकी भावुकता'—

निबन्धोपक्रमाधारभूता—प्रथमखण्डान्तर्गता

प्रथमस्तम्भात्मिका

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

(१)—प्रथमस्तम्भात्मिकायां—'असदाख्यानस्वरूपमीमांसायां'—एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः

[१ पृष्ठ· १३४ पृष्ठपर्य्यन्त]

परिच्छेदनाम	पृष्ठसंख्या
* मातृसिद्धर्षिस्मरण	१
* एक महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न, और उसके समाधान का प्रयत्न	२
१ भावुकतास्वरूपसंग्राहक 'असदाख्यानोपक्रम	३
२. असदाख्यान के वशीभूत पूर्व मानव	४
३ वशीभूत पूर्व मानवों का प्रारम्भिक उत्कर्ष (परिणाम)	५
४ असदाख्यान के प्रति अभिनिविष्टों का अभिनिवेश	५
५. सदाख्यानोपक्रम—माध्यम से अभिनिवेश-मुक्ति का प्रयास	७
६. 'निष्ठा' स्वरूप समर्थक वैदिक 'सदाख्यान' की रूपरेखा	७
७. महामाया के द्वारा लोकमानव का विमोहन	११

परिच्छेदनाम	पृष्ठसंख्या
५० हृदयबलाधिभाव	२१३
५१ कामना का मूल	२१४
५२ दुरधिगम्या प्रश्नावली	२१५
५३ लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्	२१५
५४ महाप्रश्न जिज्ञासा	२१६
५५ सामयिक समाधानोपक्रम	२१७
५६ ब्रह्म की सहज महिमा	२१८
५७ भ्रान्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण	२१८
५८. कृत्रिम कार्य्यकारणवाद	२१९
५९. सृष्टिसर्गमीमांसा	२१९
६० दिग्देशकालमीमांसा	२२०
६१ सम्वत्सरचक्र की असमर्थता	२२१
६२ सर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति	२२१
६३ प्राक्सृष्टि की सर्वात्मकता	२२३
६४ मानसप्रश्नोत्तरपरम्परा	२२४
६५. पारिभाषिक शैली के द्वारा समाधान	२२७
६६ अहोरात्रनिबन्धन सहज कर्म्म	२३०
६७ पञ्चविधा ज्ञानधारा	२३०
६८. अवस्थात्रयी-माध्यम से प्रश्नसमाधान	२३१
६९. ज्ञान-इच्छा-क्रतु-कर्म्म-स्वरूपपरिचय	२४२
७० बल-प्राण-क्रिया-स्वरूपपरिचय	२४३
७१ बल का सहजधर्म्म, और प्रश्नसमाधान	२४४
७२ अचिन्त्याः खलु ये भावा	२४५
७३ युगानुगता लोकभावुकता	२४५
७४ मनोमय कामात्मक रेत	२४६
७५. 'सकल' शब्दमीमांसा	२४६
७६ रस-बल की व्यापकता	२४६
७७ सांस्कारिक कर्म्यस्वरूपपरिचय	२४७
७८. रसबल का अन्तरान्तरीभाव	२४८
७९. सिसृक्षा-मुमुक्षा-स्वरूपपरिचय	२४८
८० ध्वंसनिर्म्माणमीमांसा	२४९
८१ पञ्चचितिक चिदात्मस्वरूपपरिचय	२४९
८२. रसचिति का मूलाधार	२५०
८३ अन्तर्वित्त, और अन्तर्महिमा	२५
८४ अधामच्छद् प्राणतत्त्व	२५१
८५. सप्तप्राणात्मिका सुपर्णचिति	२५१
८६ मनःप्राणवाङ्मय 'वौषट्' एवं वषट्कार	२५२
८७ यजु का तात्त्विक स्वरूप	२५३
८८ ऋक्सामात्मक यजुःप्राण	२५४
८९. यातयाम, और यजु	२५४
९० यजुःप्राण के द्वारा यज्ञ का आधानात्मक वितान	२५५
९१ अन्नात्मक यजुःप्राण	२५६
९२. यजुर्वाक्चिति का आपोभाग	२५६
९३ पञ्चकोशात्मक अव्ययब्रह्म	२५६
९४ वाङ्मय अन्तर्वित्त	२५७
९५. मायी महेश्वर के त्रिविध विवर्त	२५९
९६ अत्यन्तनिरस्त ब्रह्म	२६०
९७ निर्विशेष, और परात्परब्रह्म	२६१
९८. षोडशविध बलकोशपरिचय	२६२
९९. प्रधानबलकोशत्रयी	२६३
१०० शक्त्युपासना की मूलप्रतिष्ठा	२६४
१०१ दार्शनिकों का व्यामोहन	२६४
१०२ सर्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म	२६५
१०३ सीमाभावप्रवर्त्तक मायापरिग्रह, तथा मायापरिग्रहयुक्त निष्कलपुरुष (१)	२६५
१०४ षोडशकलाभावप्रवर्त्तक कलापरिग्रह, तथा कलापरिग्रहयुक्त सकलपुरुष (२)	२६७
१०५. सत्यभावप्रवर्त्तक गुणपरिग्रह, तथा गुणपरिग्रहात्मक सत्यपुरुष (३)	२७
१०६ यज्ञभावप्रवर्त्तक विकारपरिग्रह, तथा विकारपरिग्रहात्मक यज्ञपुरुष (४)	२७१
१०७ सर्वमहान्तरात्मभावप्रवर्त्तक अञ्जनपरिग्रह, तथा अञ्जनपरिग्रहात्मक विराट्पुरुष (५)	२७३

परिच्छेदनाम	पृष्ठसंख्या
१६६ अन्नौदन, और प्रयग्य	३१३
१६७ 'सृष्टि' शब्द का विशेष अर्थ	३१४
१६८ मनु का त्रिविध सर्ग	३१६
१६९. भाव–गुण–विकार–सर्गत्रयी	३१६
१७० चतुरशीतिलक्षयोनिर्लक्षणमहद्ब्रह्म	३१६
१७१ चतुरशीतिकल तन्तुवितान	३१७
१७२ चतुर्विध मनुस्वरूपपरिचय	३१८
१७३ विभूति–योग–बन्धात्मकसम्बन्ध	३२०
१७४ वर्णों के अष्टादश (१८) वियत्त	३२०
१७५. रसबन्धमीमांसा	३२२
१७६. पेशस्कारसम्बन्ध, और मनुत्रयी	३२२
१७७ मनुसृष्टि के सामान्य अनुबन्ध	३२५
१७८. तप, और ऋतु–मीमांसा	३२६
१७९. श्रम, और ऋत–मीमांसा	३२६
१८० ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्	३२७
१८१ यत् सर्वाण्यन्नानि	३२७
१८२ अन्नानुगत स्वातन्त्र्य–पारतन्त्र्य	३२७
१८३ अनुकूलतावादी सर्वशून्य मानव	३२८
१८४ प्रणववाचकता–मीमांसा	३२८
१८५. आप्तक्रमस्वरूपपरिचय	३३०
१८६ विपर्येच्छास्वरूपपरिचय	३३
१८७ स्वायम्भुवमनु–हिरण्यगर्भमनु–गर्भित इरामय पार्थिव मनु	३३२
१८८. मानवीय मूलभौतिक सर्ग की रूपरेखा	३३३
१८९. कामयमान, श्रान्त, सन्तप्त, आप्त–मनुप्रजापति	३३४
१९० मनु का प्रथम सर्ग	३३४
१९१ सृष्टिमूलक 'केतु' स्वरूपपरिचय	३३५
१९२. सृष्टिस्वरूपव्याख्यानुगता गोपथश्रुति	३३७
१९३ गोपथश्रुति का अक्षरार्थ	३३७
१९४ मानसिकसंस्मरणमीमांसा	३३८
१९५. 'ओं मह' का समन्वय	३३८
१९६ 'इदमग्र आसीत्' का समन्वय	३३८
१९७ अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्तीभाव	३३९
१९८. 'स्वयम्भ्वेवमेव' का समन्वय	३३९
१९९. स्वयम्भु–एक–एव–लक्षण ब्रह्म	३४
२०० 'मदेव मन्मात्र' की स्वरूपमीमांसा	३४०
२०१ सहयोग–सेवा–तटस्थता–शत्रुता–सम्बन्धचतुष्टयी	३४१
२०२ समानमस्तु वो मन	३४२
२०३ सहधर्मं चरताम्	३४३
२०४ द्वितीयदेव का निर्माण	३४३
२०५. तदश्राम्यत्–अभ्यतपत्	३४४
२०६ तदभ्यतपत्–अश्राम्यत्	३४४
२०७ श्रान्तस्य–तप्तस्य–स्वरूपमीमांसा	३४४
२०८. आर्द्र–शुष्क–स्वरूपपरिचय	३४५
२०९. अग्नीषोमात्मकं जगत्	३४६
२१० अम्बुफेनमय विश्व	३४७
२११ दिवं भूमिं च निर्ममे	३४८
२१२ सुमस्वरूपमीमांसा	३४८
२१३ अथर्वेया सृष्टिस्वरूपस्थिति	३४९
२१४ भृगुत्रयी, एवं अङ्गिरात्रयी	३४९
२१५. सुवेद, और स्वेदस्वरूपपरिचय	३५३
२१६ चतुर्धा विभक्त अग्निस्वरूपपरिचय	३५३
२१७ सावित्राग्नि, और सुब्रह्मण्याग्नि–स्वरूपपरिचय	३५४
२१८. गुहानुगता अग्निचतुष्टयी	३५४
२१९. प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति	३५५
२२० अरण्याग्निस्वरूपपरिचय	३५६
२२१ अस्त्वस्वरूपमीमांसा	३५७
२२२ ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत–त्रयीमेव विद्याम्	३५८
२२३ प्रजापति की कूर्मसृष्टि	३५८
२२४ चतुर्विध 'अभु' स्वरूपपरिचय	३५९
२२५. 'महद्यक्ष' लक्षण महान् के आश्चर्य का समन्वय	३६२
२२६. विद्युत–ताप–प्रकाश–त्रयी	३६३

परिच्छेदनाम	पृष्ठसंख्या
१०८. मृतामभायमगर्तक आवरणपरिग्रह, तथा आवरणपरिग्रहात्मक वैश्वानरपुरुष (६)	२७२
१०६. विभूति-व्याप्ति, और मानव	२७३
११० परोरजामूर्ति वेदमय ब्रह्मा	२७७
१११, सर्वभूतमय स्वयम्भू मनु	२७८
११२ अतीत्य पर्यानम्	२७६
११३ पुरुष एवेदं सर्वम्	२८०
११४ प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान	२८०
११५. रसबलमूर्ति स्वयम्भू पुरुष	२८०
११६ मनस्तन्त्र के चार विवर्त (प्रकारान्तरेण)	२८१
११७ ऐन्द्रियकज्ञाननिकाय	२८२
११८. श्वः श्वः वसीयान् आत्ममनु	२८२
११६. सत्यस्य सत्यात्मक सत्यात्मलाभ	२८३
१२० सर्वशास्ता मनु	२८३
१२१ 'मनु' शब्द की शाब्दिक स्वरूपनिष्पत्ति	२८४
१२२. आयु के अधिष्ठाता मनु	२८४
१२३ ज्योतिर्गौरायुष्टोमस्वरूपपरिचय	२८५
१२४ प्राकृतिक कोश के ११ सत्र	२८६
१२५. आयुर्लक्षण मनु	२८६
१२६ मन, और मनु की अभिन्नता	२८६
१२७ मनसा धिया, और मनु	२८७
१२८. मनवो धिया, और मनु	२८७
१२६. मनन और मन	२८८
१३० मनु और सर्वविद मानव	२८८
१३१ अग्निमूर्ति मनु (एतमेके वदन्त्यग्निम्)	२८६
१३२. सर्वमिद वयुनम्	२६१
१३३ वाग्देवी के दो विवर्त	२६२
१३४ वाग्देवी और वेदाग्नि	२६२
१३५. अग्निविद मनु	२६३
१३६. प्रजापतिमूर्ति मनु (मनुमन्ये प्रजापतिम्)	२६४
१३७ इन्द्रमूर्ति मनु (इन्द्रमेके)	२६५
१३८ आत्मना पतिरिन्द्र	२६५
१३६. इन्द्र के दक्ष, और शिर्षावर्त	२६५
१४० विश्वम्भर विष्णु	२६६
१४१ विजित इन्द्र, और विजेता विष्णु	२६७
१४२ छन्दस्य प्रतिष्ठा	२६८
१४३ हृदि अर्थ हृ-द-यम्	२६८
१४४ मनु का इन्द्रत्व	२६८
१४५. 'शुन' इन्द्र की व्यापकता	२६६
१४६ इन्द्र और सुन्दर	२६६
१४७ वैश्वानरमनु, और इन्द्र	३००
१४८. प्राणमूर्ति मनु (परे प्राणम्)	३००
१४६. ऋषिप्राण की मूलोपनिषत्	३०१
१५० सृष्टिगति-क्रिया, और प्राणतत्त्व	३०१
१५१ सृष्टिमूलाधार आधिदैविक सप्तर्षिप्राण	३०२
१५२ आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण	३०२
१५३ शिरोवेष्टन की अपेक्षा, एवं 'श्री' स्वरूपसंरक्षण	३०३
१५४ श्वेत, और रक्तवर्ण शिरोवेष्टन का तारतम्य	३०४
१५५. गुहायाम् निहिता सप्त सप्त	३०५
१५६. विरूपास इदृषयः	३०७
१५७ ऋषि और ऋषिद्रष्टा मानवमहर्षि	३०७
१५८. सप्तर्षिप्राण, और सुपर्णचिति	३०८
१५६. सप्तपुरुषपुरुषात्मा की वेदपुरुषता	३०८
१६० प्राणमूर्ति मनु	३१
१६१ शाश्वतब्रह्ममूर्ति मनु (अपरे ब्रह्मशाश्वतम्)	३१
१६२. शाश्वतब्रह्म का मौलिक स्वरूप	३११
१६३ सन्तर्मसृष्टि	३१२
१६४ मनुमूलक 'मानव' शब्द की व्यापकता	३१२
१६५. 'सृष्टि' शब्द का सामान्य अर्थ	३१२

परिच्छेदनाम	पृष्ठसंख्या
२६९ वाक् की अपेक्षा मन की श्रेष्ठता	४३१
२७० मन की अपेक्षा वाक् की श्रेष्ठता	४३२
२७१ मन और वाक् का परोक्षत्व-प्रत्यक्षत्व	४३२
२७२ वाग्व्यवहार का महामहिमत्वख्यापन	४३२
२७३ मानस संकल्प का महामहिमत्वख्यापन	४३४
२७४ तस्यैव मात्रामुपादाय-उपजीवन्ति-इन्द्रियाणि	४३६
२७५ सवाग्घ्येन्द्रियाणि-अतीन्द्रियाणि	४३७
२७६ प्रजापति का उपांशुकर्म	४३८
२७७ प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः	४३९
२७८. प्रवि-अक्ष, और प्रत्यक्ष	४३९
२७९. रूपानुसमापरूपमीमांसा	४४०

परिच्छेदनाम	पृष्ठसंख्या
२८० अनृतं वाव दीक्षा, सत्यं वाव दीक्षा	४४०
२८१ सत्यं वै चक्षुः	४४१
२८२ परोक्षप्रिया हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः	४४२
२८३ 'कृत्स्न', और 'कृत' स्वरूपपरिचय	४४३
२८४ नैष्ठिकों की एकान्तनिष्ठा	४४३
२८५. परोक्ष-प्रत्यक्ष-तारतम्य	४४४
२८६ औपासनिक परोक्षभाव	४४४
२८७ समृद्धि का मूलमन्त्र	४४५
२८८. राष्ट्रसमृद्धि, और पुष्टि	४४६
२८९. विश्वस्वरूपमीमांसोपराम	४४६
* स्तम्भद्वयात्मक प्रथमखण्ड की उपरति	४४७

उपरता चेयं स्तम्भद्वयात्मकस्य प्रथमखण्डस्य

संक्षिप्तविषयसूची

——❀——

परिच्छेदनाम — पृष्ठसंख्या

२२७ सर्वेश्वर, और सम्वत्सर — १६१
२२८. कृष्णमृग, और त्रयीविद्या — १६१
२२९. अष्टाक्षरभूपिण्ड — १६४
२३० प्रदोषप्रदमावमीमांसा — १६५
२३१ जाया-धारा-आपः-अक्षत्रयी — १६६
२३२ पञ्चापञ्चस्वरूपपरिचय — १६७
२३३ दर्शपूर्णमासानुगत अण्डवृत्त — १६९
२३४ भावविकारानुगत अण्डवृत्त — १७०
२३५. भावविकारों के साथ अण्डस्वरूप का समतुलन — १७१
२३५. * भूपिण्ड, और पृथिवी — १७२
२३६ युग्म-अयुग्म-स्तोमस्वरूपपरिचय
२३७ आदर्शोदरसन्निमा भगवती पृथिवी, और आलोचक — १७३
२३८. यावद्ब्रह्मविष्ठितं, तावती वाक् — १७५
२३९. न विश्वमूर्त्ते रवधार्य्यते वपु — १८१
२४० धामचतुष्टयी-स्वरूपपरिचय — १८२
२४१ 'य इमा विश्वा भुवनानि'
(१) मन्त्रार्थसमन्वय — १८४
२४२. 'किंस्विदासीदधिष्ठानं' (२) मन्त्रार्थसमन्वय १८५
२४३ 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुख'
(३) मन्त्रार्थसमन्वय — १८५
२४४ 'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस'
(४) मन्त्रार्थसमन्वय — १८६
२४५. 'या ते धामानि परमाणि'
(५) मन्त्रार्थसमन्वय — १८९
२४६. 'विश्वकर्म्मन् हविषा वावृधान'
(६) मन्त्रार्थसमन्वय — १९१
२४७ 'वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये
(७) मन्त्रार्थसमन्वय — १९१
२४८. 'यो नः पिता जनिता'
(८) मन्त्रार्थसमन्वय — १९१
२४९. 'परो दिवा पर एना०'
(९) मन्त्रार्थसमन्वय — १९३
२५० 'तमिद्गर्भं प्रथमं०'
(१०) मन्त्रार्थसमन्वय — १९६
२५१ 'न तं विदाथ०' (११) मन्त्रार्थसमन्वय १९९
२५२ 'अचिकित्वान् चिकितुष०'
(१२) मन्त्रार्थसमन्वय — ४०१
२५३ 'तिस्रो मातॄस्त्रीन्०'
(१३) मन्त्रार्थसमन्वय — ४ ७
२५४ 'तिस्रो भूमीर्धारयन्०'
(१४) मन्त्रार्थसमन्वय — ४१५
२५५. सन्दर्भसङ्गति — ४१९
२५६. प्रासङ्गिक प्रतिज्ञात प्रत्यक्ष-परोक्षभाव-मीमांसोपक्रम — ४२१
२५७. आत्म-बुद्धि-मनो-विमूढ मानस — ४२२
२५८. प्रत्यक्ष-परोक्षशब्दार्थसमन्वय — ४२३
२५९. प्रत्यक्ष के ६ विवर्त्त — ४२३
२६० प्रत्यक्षस्वरूपविश्लेषक रहस्यपूर्ण श्रौत आख्यान — ४२४
२६१ श्रौत आख्यान का अक्षरार्थसमन्वय — ४२४
२६२. रहस्यविद्योपक्रम — ४२५
२६३ गर्भ-पिण्ड-महिमा-संस्थात्रयी — ४२६
२६४ सुरव्यक्ति, और हरममण्डल-स्वरूपमीमांसा — ४२६
२६५. 'अग्नीषमप्रजापति' स्वरूपपरिचय — ४२७
२६६ 'सर्वप्रजापति' स्वरूपपरिचय — ४२८
२६७ 'पशुपति-पाश-पशु' स्वरूपपरिचय — ४२८
२६८. 'आत्मा-सत्त्व-शरीर'-संस्थात्रयी — ४३

* २३५ संख्या भूल से दो बार समाविष्ट हो गई है ।

३७ एकविंशतिसहस्रमायापथमनुःस्वरूप-परिलेख: ३१६
३८. चतुरशीतिलक्षमितमनुर्मायपरिलेख ३१६
३९. मूल-तूल-वितान-महिम-मनुश्चतुष्टयी-परिलेख ३२०
४० मूलात्ममनुःस्वरूपपरिलेख ३२४
४१ विश्वातीत-विश्वसाक्षी-विश्वरूप विश्व-स्वरूपपरिलेखः ३३३
४२ त्रिदयस्वरूपपरिलेख ३३३
४३ स्वयम्भु-हिरण्यगर्भ-हृदामय-मनुस्वरूपपरिलेखः ३३३
४४ सर्वमूर्त्तिर्मनुःप्रजापतिःस्वरूपपरिलेख: ३३३
४५ सहस्रधूमकेतुपरिलेख: ३३६
४६ दशावयवविराट्मूर्त्ति-प्रथमदाम्पत्य-मायपरिलेख ३५०
४७ प्रजापत्यनुगत-ललाट-हृदय-पादप्रदेश-स्वरूपपरिलेखः ३५५
४८. मनुरनुगतमूलसर्गपरिलेख ३५८
४९. चतुर्विध-'प्रभु' स्वरूपपरिलेख ३६१
५ पञ्चाण्डसर्गस्वरूपपरिलेख ३६८
५१ त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षण-पृथिवी-स्वरूपपरिलेखः ३७३
५२ स्तोमानुगत-महापृथिवी-स्वरूप-परिलेखः ३७३
५३ पोषाण्डानुगतमहापृथिवी-स्वरूपपरिलेखः (३७६-७७ के मध्यमें)
५४ भू-भुव-स्व-र्व्याहृतिलक्षणा-महापृथिवी-स्वरूपपरिलेख: ३७७
५५. मनोतामायानुगतसर्वमहस्स्वरूपपरिलेख ३७८
५६ विश्वस्वरूपमीमांसानुगत-महाविश्वस्वरूप-परिलेख: ३७९
५७ काम-तपः-श्रम-लक्षणविश्वकर्म्म-स्वरूपपरिलेख ३८६
५८. पञ्चविध-वैश्वरूप्यस्वरूपपरिलेख: ३८७
५९. द्यावापृथिवी-स्वरूपपरिलेख: ३९६
६० नवलोकात्मक-त्रैलोक्यस्वरूपपरिलेख ४०९
६१ वाक-राक्-मह-हविः-सोमचतुष्टयी-स्वरूपपरिलेख: ४१८
६२ पूर्वेषामुत्तम-उत्तरेषां प्रथमः-स्वरूप-परिलेखः ४१९
६३ एकशालात्मकविश्वस्वरूपपरिलेख: ४१९
६४ उपांशु-सप्तदश-चतुस्त्रिंश-प्रजापति-स्वरूपपरिलेख ४२९
६५. गर्भाभ्यस-सूर्यपिण्डाभ्यस-हृदय-मण्डलाभ्यस-विवर्त्तत्रयीस्वरूपपरिलेख: ४३
६६ निर्णायक-स्वर्द्दालु-स्वर्द्दालीस-विवर्त्त परिलेखः ४३१

उपरता चेय तालिका-परिलेखसूची
स्तम्भद्वयात्मकस्य प्रथमखण्डस्य

१

श्री

रतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गता—

'असदाख्यानमीमांसा'

प्रथमखण्डान्तर्गता

(पौराणिक आख्यान की ऐतिहासिक मीमांसा)

नामक

प्रथमस्तम्भ

१

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

भारतीय हिन्दू–मानव, और उसकी भावुकता

(उद्‌बोधनात्मक–सामयिक निबन्ध)

मांगलिकस्मरण

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतम कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
—ऋक्संहिता १०।११२।६।

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं वा इद वि बभूव सर्वम्' ॥
—ऋक्संहिता ६।४।२६।

३—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।५।

४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां मातामृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देव 'मात्मबुद्धिप्रकाशं' मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

६—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐतरेय आरण्यक

१–भावुकतास्वरूपसंग्राहक–'असदाख्यानो'पक्रम—

कालदोष, संस्कारदोष, शिक्षादोष, वेदानभ्यासदोष, आलस्यदोष, आचारपरित्यागदोष, अन्नदोष, सङ्गदोष, परप्रत्ययनेयतादोष, आदि आदि दोषपरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से परिपूर्ण–नितान्त नैष्ठिक भी मानव किस प्रकार आत्मसहकृता बुद्धिलक्षणा सन्निष्ठा से पराङ्मुख बनता हुआ शरीरसहकृता मनोऽनुभूतिलक्षणा भावुकता से आक्रान्त होकर अपनी प्रकृतिसिद्ध सहज परिपूर्णता से अपने आपको अभिभूत कर लेता है ?, प्रश्नमीमांसा वर्त्तमानयुग के युगधर्म्मानुगत, सर्वात्मना परप्रत्ययनेयबुद्धि, अतएव ऐकान्तिक भावुक भारतीय हिन्दू मानव के लिए कोई विशेष महत्त्व इसलिए नहीं रख रही कि, यह स्वयं ही इस मीमांसा का लक्ष्य बना हुआ है । क्या वर्त्तमानयुगीय भारतीय मानव ही इस भावुकतापूर्ण मीमांसा का लक्ष्य है ?, प्रश्नमीमांसा का सम्बन्ध अवश्य ही पूर्वयुगानुगत उस भावुक मानव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जो पूर्वयुगयुक्त पुरातन भावुक मानवश्रेष्ठ प्रस्तुत 'असदाख्यान' का उपक्रम बन रहा है ।

भारतीय चतुर्युगानुबन्धिनी कालगणना के अनुपात से सप्तम वैवस्वत * मन्वन्तर की २२ वीं चतुर्युगी के अन्तिम कलियुग के मुक्त आनुमानिक ५ सहस्रपूर्व के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में, उस महाभारतयुग में–जो युग भारतीय निगमागमसाहित्य, संस्कृति, सभ्यता, आम्नायपरम्परा, धर्म्म, आदर्श, आचार, लोकनीति, राजनीति, परिवारनीति, व्यक्तिनीति आदि के लिए एक निःसीम निरतिशय संक्रमणात्मक–संघर्षात्मक–द्वन्द्वात्मक युग प्रमाणित हो रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ मानवता और दानवता में प्राकृतिक देवासुरसंग्रामवत् प्रतिद्वन्द्विता प्रक्रान्त थी, उस पूर्वयुग में–जहाँ सत्त्व और तम (मध्यस्थ रजोगुण के समसमन्वयाभाव से), दोनों चरम उत्कर्षानुगामी बने हुए थे, उस पूर्वयुग में–जहाँ आत्मानुप्राणित धर्म्म, एवं शरीरानुगत कर्म्म, दोनों (*मध्यस्था बुद्धि, तथा मध्यस्थ मन के सन्तुलन के अभाव से*) *सर्वथा* विभक्त बने रहते हुए उन्मथ्यादित होकर अधर्म्म एवं अकर्म्म के ही उत्तेजक बन रहे थे, उस पूर्वयुग में–जहाँ भारतवैभव चरमसीमानुगामी बनता हुआ भी मानवतृष्णा की तुष्टि के लिए सन्तोषकर प्रमाणित नहीं हो रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ मानव का आत्मबुद्ध्यनुगत निष्ठाबल मन शरीरानुगता भावुकता से आक्रान्त होकर मूर्च्छित बन रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ सहज भावुकता का दर्प दलन कर आसुर निष्ठाबल भावुक मानव समाज को लक्ष्यच्युत बना रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ आस्थायुक्ता श्रद्धोपेता पूर्णा आस्तिकता के साथ साथ अनास्थाश्रद्धावञ्चिता नास्तिकता भी प्रबलवेग से अपना प्रभाव व्यक्त कर रही थी, तदित्थं विविध द्वन्द्वपरम्पराक्रान्त, तमोपर्यवसित, नितान्त संघर्षात्मक महाभारतकालीन तथाविध

---

* मन्वन्तरानुगता इस कालगणना का विशद वैज्ञानिक विवेचन स्वर्णचतुष्टयात्मक भाष्यविज्ञानग्रन्थ के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में द्रष्टव्य है ।

एक महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न, और उसके समाधान का प्रयत्न

महामायी परात्पर परमेश्वर व सहस्रकल्याणात्मक महाशिव के सातन्त्यापरिच्छिन्न शाश्वत विश्व में निवास करने वाला मानव अपने मौलिक स्वरूप से जबकि सर्वात्मना परिपूर्ण है, आप्तकाम है, आत्मकाम है, अतएव निष्काम है, तो इसके लिए "दुःख-अशान्ति-शोक-मोह-भय-विकार-अपूर्णता-अभाव-असफलता"-आदि भावों का आविर्भाव कैसे, और क्यों, किस रूप में हो गया है, अवश्य ही यह एक महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न माना जायगा, जिसके समाधान के लिए मानवीय मस्तिष्क चिरन्तन काल से ही प्रयत्नशील बना रहा है। क्या मानव ने यथाकथञ्चित् प्रश्न का समाधान प्राप्त कर लिया है, यह एक सामयिक प्रश्न है, जिसे लक्ष्यबिन्दु मान कर ही हमें मानव की इन समस्यापरम्पराओं के चिरन्तन इतिहास की रूपरेखा का अनुगमन करना है।

विश्वमानव की समस्याओं के चिरन्तन इतिहास की रूपरेखा से सम्बन्धित व्यापक दृष्टिबिन्दु के साथ साथ हमें उस भारतीय मानव की समस्याओं को भी लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिस भारतीय मानव का ऐसा महान् उद्घोष कर्णाकर्णिपरम्परया श्रुत उपश्रुत है कि, उसी ने सर्वप्रथम इस प्रश्न के आत्यन्तिक समाधान का सफल प्रयत्न किया है। "विश्वेश्वर के प्राकृतिक विश्व का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण करने वाला निगमशास्त्र, तदनुगामी आगमशास्त्र, तद्व्याख्यारूप इतिहास-पुराणशास्त्र, तदाम्नायसंरक्षक दर्शनशास्त्र, आदि आदि रूपेण भारतीय शास्त्रपरम्परा ने मानव की उन सम्पूर्ण समस्याओं का सफल समाधान कर दिया है, जिसके द्वारा भारतीय मानव अपनी प्राकृतिक परिपूर्णता को सर्वात्मना अन्वय बना सकता है" इस मान्यता के सम्बन्ध में यह स्वाभाविक प्रश्न अगत्या समुपस्थित हो ही जाता है कि, क्या भारतीय मानव ने अपनी लोकोत्तर शास्त्रपरम्परा से अपनी प्राकृतिक परिपूर्णता को अन्वय बना लिया है ?। मानसिक सन्तुष्टि विभिन्न दृष्टिकोण है, एवं स्वरूपानुगता आत्मतृप्ति अन्य दृष्टिकोण है। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी प्रतीत होती हो रही है कि, विगत द्विसहस्राब्दियों का इतिहास तो इस दिशा में भारतीय मानव को सर्वात्मना असफल ही प्रमाणित कर रहा है। इस प्रत्यक्षानुभूता प्रतीति के यथारूप बने रहते हुए उस महान् उद्घोष का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, *जिसे शास्त्रभक्त भारतीय मानव अपने लक्ष्य बनाए* हुए है। शास्त्रभक्ति की आलोचना हमारा लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' लक्षण लक्ष्यबिन्दु। शास्त्रों की विद्यमानता में भी भारतीय मानव कैसे सब दिशाओं में पराभूत बन गया है, प्रश्न की मीमांसा में समय यापन करते रहना सर्वथा असामयिक, एवं व्यर्थ ही माना जायगा। निदान अन्वेष्टव्य है उस रोग का, जिसने 'शास्त्र' जैसी अमोघ दिव्यौषधि के विद्यमान रहते भी भारतीय मानव को आखो मम्य मानसाभेभ्यः अस्वस्थ-अशान्त-अशान्त-भ्रान्त बना रखा है। इसी 'अन्वेषण' लक्ष्य की साधना के सम्बन्ध में मानवसमस्याचिन्तकों की उदार सम्मति की निम्नानुग्रहभावजिज्ञासाभिव्यक्ति के उद्देश्य से यह सामयिक निबन्ध लिपिबद्ध हुआ है। हमारी ऐसी धारणा है कि, प्रस्तुत सामयिक निबन्ध के आद्योपान्त निरीक्षण के द्वारा मानव चिरन्तनप्रश्नसमाधि के साथ साथ युगधर्मानुगत अन्यान्य सभी आपातरमणीय समस्याओं के निदान में सफल बन सकेगा। इसी मानसिक भावना के माध्यम से ऐतिहासिकसन्दर्भरूप 'असदाख्यान' उपक्रान्त है।

१—भावुकतास्वरूपसंग्राहक—'असदाख्यानो'पक्रम—

कालदोष, संस्कारदोष, शिक्षादोष, वेदानभ्यासदोष, आलस्यदोष, आचारपरित्यागदोष, प्रमदोष, सङ्गदोष, परप्रत्ययनेयतादोष, आदि आदि दोषपरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से परिपूर्ण—नितान्त नैष्ठिक भी मानव किस प्रकार आत्मसहकृता बुद्धिलक्षणा सन्निष्ठा से पराङ्मुख बनता हुआ शरीरसहकृता मनोऽनुभूति-लक्षणा भावुकता से आक्रान्त होकर अपनी प्रकृतिसिद्ध सहज परिपूर्णता से अपने आपको अभिभूत कर लेता है ?, प्रश्नमीमांसा वर्त्तमानयुग के युगधर्म्मानुगत, सर्वात्मना परप्रत्ययनेयबुद्धि, अतएव ऐकान्तिक भावुक भारतीय हिन्दू मानव के लिए कोई विशेष महत्त्व इसलिए नहीं रख रही कि, यह स्वयं ही इस मीमांसा का समर्थक बना हुआ है। क्या वर्त्तमानयुगीय भारतीय मानव ही इस भावुकतापूर्ण मीमांसा का समर्थक है ?, प्रश्नमीमांसा का सम्बन्ध अवश्य ही पूर्वयुगानुगत उस भावुक मानव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जो पूर्वयुगभुक्त पुरातन भावुक मानवश्रेष्ठ प्रस्तुत 'असदाख्यान' का उपक्रम बन रहा है।

भारतीय चतुर्युगानुबन्धिनी कालगणना के अनुपात से सप्तम वैवस्वत * मन्वन्तर की २२ वीं चतुर्युगी के अन्तिम कलियुग के भुक्त आनुमानिक ५ सहस्रपूर्व के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में, उस महाभारतयुग में—जो *युग भारतीय निगमागमसाहित्य, संस्कृति, सभ्यता, आम्नायपरम्परा, धर्म्म, आदर्श, आचार*, लोक-नीति, राजनीति, परिवारनीति, व्यक्तिनीति आदि के लिए एक निःसीम निरतिशय संक्रमणात्मक—सङ्घर्षा त्मक—द्वन्द्वात्मक युग प्रमाणित हो रहा था, उस पूर्वयुग में—जहाँ मानवता और दानवता में प्राकृतिक देवासुरसंग्रामवत् प्रतिद्वन्द्विता अक्रान्त थी, उस पूर्वयुग में—जहाँ सत्त्व और तम (मध्यस्थ रजोगुण के समसमन्वयाभाव से), दोनों चरम उत्कर्षानुगामी बने हुए थे, उस पूर्वयुग में—जहाँ आत्मानुप्राणित धर्म्म, एवं शरीरानुगत कर्म्म, दोनों (मध्यस्था बुद्धि, तथा मध्यस्थ मन के सन्तुलन के अभाव से) सर्वथा विभक्त बने रहते हुए उन्मर्य्यादित होकर अधर्म्म एवं अकर्म्म के ही उत्तेजक बन रहे थे, उस पूर्वयुग में—जहाँ भारतवैभव चरमसीमानुगामी बनता हुआ भी मानवतृष्णा की तुष्टि के लिए सन्तोषकर प्रमाणित नहीं हो रहा था, उस पूर्वयुग में—जहाँ मानव का आत्मबुद्ध्यनुगत निष्ठामय मन शरीरानुगता भावुकता से आक्रान्त होकर मूर्च्छित बन रहा था, उस पूर्वयुग में—जहाँ सहज भावुकता का दर्प दलन कर आसुर निष्ठामय भावुक मानव समाज को लक्ष्यच्युत बना रहा था, उस पूर्वयुग में—जहाँ आस्थायुक्ता श्रद्धोपेता पूर्ण आस्तिकता के साथ साथ अनास्थाभ्यासमिश्रिता नास्तिकता भी प्रबलवेग से अपना प्रभाव व्यक्त कर रही थी तादृश विविध द्वन्द्वपरम्पराक्रान्त, तर्कोपवर्णित, नितान्त सङ्घर्षात्मक महाभारतकालीन तथाविध

* मन्वन्तरानुगता इस कालगणना का विशद वैज्ञानिक विवेचन खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञानभाष्य के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में द्रष्टव्य है।

पूर्वयुग से सम्बन्ध रखने वाला एक महत्वपूर्ण 'असदाख्यान'× एक विशेष उद्देश्य से आज हम 'विश्व-मानव' के सम्मुख, तथापि 'भारतीय हिन्दू मानव' के सम्मुख, एवं निष्कर्षतः–'भारतीय भावुक हिन्दू मानव' के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं, जो 'असदाख्यान' अपने सहज उपलालनभाव से कल्पनाप्रधान बनता हुआ भी 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इस सिद्धान्तानुसार + आख्यानभाव से मानव के सम्मुख लक्षीभूत 'सत्य' स्थिति ही अभिव्यक्त किया करता है।

२–असदाख्यान के लक्षीभूत पूर्वमानव—

प्रतिपाद्य संकलित असदाख्यान उस महाभारतकाल से सम्बन्धित है, जिसके प्रधान लक्ष्य बन रहे हैं दुर्य्योधनप्रमुख कौरव, एवं युधिष्ठिरप्रमुख पाण्डव। प्रज्ञाचक्षुष्क धृतराष्ट्र के लौकैषणात्मक दुर्य्योधनप्रमुख धार्त्तराष्ट्र, एवं सहज भावुक अतएव पाण्डुवंश्य नृपति के लोककामना से भी पराङ्मुख युधिष्ठिर प्रमुख पाण्डव, दोनों ही पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित प्रतिद्वन्द्विता के अनुगामी बने रहते हुए सर्वथा विभिन्न विरुद्धदिग्द्वयानुगत दो लक्ष्यों पर आरूढ हो चले थे। कर्म्मभीरू दुर्य्योधन का पथ विभिन्न था, एवं धर्म्मभीरू युधिष्ठिर का मार्ग स्वतन्त्र था। दूसरे शब्दों में लोकैभय से आकर्षितमना बनते हुए दुर्य्योधन जहाँ केवल 'कुरु' (इदं कुरु) लक्षण कर्म्मक्षेत्र के अनुगामी थे, वहाँ पारलौकिक आत्म-शान्तिमात्र से ही अपने आपको कृतकृत्य अनुभूत करने वाले धर्म्मराज युधिष्ठिर केवल धर्म्मक्षेत्र के पथिक बने हुए थे। दुर्य्योधन जहाँ भूतजिज्ञासा के अर्जन में आसक्त्यासक्त थे, वहाँ युधिष्ठिर आत्म-सत्यसंरक्षण में ही पूर्णरूपेण तल्लीन थे। इस प्रकार तद्गुणानुगता राज्यसत्ता, किंवा राजसत्ता इन दो विभिन्नधर्म्मा शासकों के नियन्त्रण से नियन्त्रित बनी रहती हुई तद्गुणानुगता भारतीय प्रजा भी सर्वथा विभिन्न दो लक्ष्यों की समर्थिका प्रमाणित हो रही थी, एवं 'राजा कालस्य कारणम्' यह ऐतिहासिक तथ्य अक्षरशः अन्वर्थ बन रहा था।

स्वाभाविक ही था प्रतिद्वन्द्वितात्मिका तथाविधा स्थिति में 'बल' (भूतबल) के द्वारा 'सत्य' (आत्मसत्य) का तात्कालिक अभिभव, किंवा प्रत्यक्षरूपेण पराभव। 'बलं सत्यादोजीयः' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार बल सत्य की अपेक्षा आरम्भ में अवश्य ही अपने सहज आक्रमणभाव से ओजस्वी बना रहता है। अतएव इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में कुछ समय के लिए बल ही प्रमुख बन जाया करता है। एक भूतशाली (भौतिक वित्त परिग्रहशाली, एवं भौतिक शारीरिक बलशाली धनमदान्ध

× पुराण में उपवर्णित सुप्रसिद्ध आठ प्रकार के आख्यानों में उपलालनभावात्मक एक विशेष आख्यान ही 'असदाख्यान' कहलाया है, जिन आठों का तात्विक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत स्तम्भपर्शुहरणोपाख्यानप्रकरण' में (तृतीयवर्ष में) द्रष्टव्य है।

— उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥
—भगवान् भर्तृहरिः

धनिक, एवं शरीरबलसम्पन्न मल्ल) दुष्टबुद्धि आततायी आसुर मानव के भौतिक प्रहार के सम्मुख सहसा एकबार तो सत्यनिष्ठ–सत्यवादी को अवनतशिरस्क ही बन जाना पड़ता है । 'अकारणाविष्कृतवैरदारुणादसज्जनात् कस्य भयं न जायते' ख्यामाणक प्रसिद्ध ही है ।

३–लक्ष्यीभूत पूर्व मानवों का प्रारम्भिक उदर्क (परिणाम)—

प्रारम्भिक उदर्क (परिणाम) वही घटित हुआ, जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति के साम्राज्य में घटित होता रहता है । बलासक्त बलाभिमानी दुर्य्योधन की प्रतिद्वन्द्विता में सत्यासक्त आत्माभिमानी युधिष्ठिर को स्वभ्रातृवर्गसहित न्यायसिद्ध लोकवैभव–व्यवस्था से वञ्चित हो जाना पड़ा । बलशाली दुर्य्योधन बन बैठे साम्राज्यभोक्ता, एवं सत्यासक्त धर्म्मभीरू युधिष्ठिर बना दिए गए 'शून्यं–शून्यम्' । कैसी विषमावस्था थी !, कैसा प्राकृतिक वैषम्य था ! । वैषम्य इसलिए कि, निगमागमशास्त्र–श्रुतिनिष्ठापरम्परा लोकमान्यता परम्परा–सम्बद्ध धारणा, निश्चित आस्था के अनुसार 'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः' इस दार्शनिक सिद्धान्तानुसार सत्यात्मक धर्म्म, किंवा धर्म्मात्मक सत्य * ही ऐहलौकिक 'अभ्युदय' नामक 'समृद्धानन्द' (लोकसमृद्धि लोकवैभव–लोकसुख) का, तथा पारलौकिक 'निःश्रेयस्' नामक 'शान्तानन्द' (पारलौकिक ऋद्धि–शान्ति) का, दोनों का अनन्याधार–प्रवर्त्तक–संरक्षक–संवर्द्धक माना गया है । किन्तु स्थिति घटित–विघटित हुई धारणा के सर्वथा विपरीत । बलनिष्ठ कौरवों के सम्मुख सत्यनिष्ठ पाण्डवों की कैसी दशा दुर्दशा भुक्त–प्रक्रान्त रही !, प्रश्न की मार्म्मिक व्यञ्जना से भी धर्म्मनिष्ठ आस्तिक सुपरिचित हैं । क्या यही है धर्म्मनिष्ठानुगति का परिणाम !, निरतिशय दुःखात्मक उदर्क ! ।

४–असदाख्यान के प्रति अभिनिविष्टों का अभिनिवेश—

'वेदभक्ति' व्याज से वेदमर्म्मसंहारक अमुक अभिनिविष्ट वर्ग पौराणिक 'असदाख्यान' की प्रामाणिकता के भी प्रति अन्यान्य सनातन सिद्धान्तों की भाँति भावुकप्रजा के व्यामोहन का कारण बन सकता है । एक अन्य वर्ग ओर भी है, जिसे हम 'विज्ञानवादी' वर्ग कहेंगे । दोनों ही वर्ग भारतीय सनातन मान्यताओं के प्रति सर्वात्मना अभिनिविष्ट बने हुए हैं । वेदभक्त अभिनिविष्ट वर्ग के निरर्थक शून्य तर्कवादाभास का महत्त्व तो आस्तिक प्रजा को विदित हो चुका है । अतः तत्सम्बन्ध में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है । वक्तव्य है उस द्वितीय वर्ग के अभिनिवेश के सम्बन्ध में, जिसने क्षणिक भौतिक विज्ञानवाद की आपातरमणीयता से आज आस्तिक मानव को सर्वथा आत्मविस्मृत कर दिया है । प्रत्यक्षानुभूति के द्वारा प्रमाणित, अतएव तात्कालिकरूपेण प्रभावोत्पादक, अतएव सहसा मानवीय श्रद्धा–विश्वास को दृढ़ बनाने में समर्थ वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की दृष्टि से ही प्रत्येक विषय की मीमांसा के लिए आतुर विज्ञानवादी मानव की दृष्टि में, तथा तदनुगामी गतानुगतिक नवशिक्षासुसंस्कृत भारतीय मानव की दृष्टि

* यो वै धर्म्मः–सत्यं वै । तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः–'धर्म्मं वदति' इति । धर्म्मं वा वदन्तं 'सत्यं वदति' इति । (शत० १४।४।२।२६।)

पूर्वयुग से सम्बन्ध रखने वाला एक महत्त्वपूर्ण 'असदाख्यान'× एक विशेष उद्देश्य से आज हम 'विश्व-मानव' के सम्मुख, तथापि 'भारतीय हिन्दू मानव' के सम्मुख, एवं निष्कर्षतः—'भारतीय भावुक हिन्दू मानव' के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं, जो 'असदाख्यान' अपने सहज उपलालनभाव से कल्पनाप्रधान बनता हुआ भी 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इस सिद्धान्तानुसार + आख्यानव्याज से मानव के सम्मुख लक्ष्यीभूत 'सत्य' स्थिति ही अभिव्यक्त किया करता है।

२—असदाख्यान के लक्ष्यीभूत पूर्वमानव—

प्रतिपाद्य सङ्कल्पित असदाख्यान उस महाभारतकाल से समन्वित है, जिसके प्रधान लक्ष्य बन रहे हैं दुर्य्योधनप्रमुख कौरव, एवं युधिष्ठिरप्रमुख पाण्डव। प्रज्ञाचक्षुष्क धृतराष्ट्र के लोकैषणात्मक दुर्य्योधनप्रमुख धार्त्तराष्ट्र, एवं सहज भावुक अतएव पाण्डुमना नृपति के लोककामना से भी पराङ्मुख युधिष्ठिरप्रमुख पाण्डव, दोनों ही पूर्वपरिष्कृतदोषपर्य्यवसित प्रतिद्वन्द्विता के अनुगामी बने रहते हुए सर्वथा विभिन्न विरुद्धदिग्द्वयानुगत दो लक्ष्यों पर आरूढ़ हो चले थे। कर्म्मभीरु दुर्य्योधन का पथ विभिन्न था, एवं धर्म्मभीरु युधिष्ठिर का मार्ग स्वतन्त्र था। दूसरे शब्दों में लोकवैभव से आकर्षितमना बनते हुए दुर्य्योधन जहाँ केवल 'कुरु' (इद कुरु) लक्षण कर्म्मक्षेत्र के अनुगामी थे, वहाँ पारलौकिक आत्मशान्तिमात्र से ही अपने आपको कृतकृत्य अनुभूत करने वाले धर्मराज युधिष्ठिर केवल धर्म्मक्षेत्र के पथिक बने हुए थे। दुर्य्योधन जहाँ भूतलिप्सा के अर्जन में आसक्तव्यासक्त थे, वहाँ युधिष्ठिर आत्मसत्यसंरक्षण में ही पूर्णरूपेण तल्लीन थे। इस प्रकार तद्गुणानुगता राज्यसत्ता, किंवा राजसत्ता इन दो विभिन्नधर्म्मा शासकों के नियन्त्रण से नियन्त्रित बनी रहती हुई तद्गुणानुगता भारतीय प्रजा भी सर्वथा विभिन्न दो लक्ष्यों की लक्षिका प्रमाणित हो रही थी, एवं 'राजा कालस्य कारणम्' यह ऐतिहासिक तथ्य अक्षरशः अन्वर्थ बन रहा था।

स्वाभाविक ही था प्रतिद्वन्द्वितात्मिका तथाविधा स्थिति में 'बल' (भूतबल) के द्वारा 'सत्य' (आत्मसत्य) का तात्कालिक अभिभव, किंवा अल्पकालव्यापी पराभव। 'बलं सत्यादोजीयः' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार बल सत्य की अपेक्षा आरम्भ में अवश्य ही अपने सहज आक्रमणभाव से ओजस्वी बना रहता है। अतएव इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में कुछ समय के लिए बल ही प्रमुख बन जाया करता है। एक भूतशाली (भौतिक वित्त परिग्रहशाली, एवं भौतिक शारीरिक बलशाली धनमदान्ध

× पुराण में उपवर्णित सुप्रसिद्ध आठ प्रकार के आख्यानों में उपलालनभावात्मक एक विशेष आख्यान ही 'असदाख्यान' कहलाया है, जिन आठों का तात्त्विक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत स्तम्भस्कुर्दरयोपाख्यानप्रकरण' में (तृतीयखण्ड में) द्रष्टव्य है।

+ उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥
—भगवान् भर्तृहरिः

पौराणिक यह आख्यान भी सर्वात्मना मान्य है, जिसका मूल भी निगमशास्त्र ही बना हुआ है। ऐसी स्थिति में उन वैज्ञानिकों के अभिनिवेश का समादर नहीं किया जा सकता, नहीं करना चाहिए।

५–'सदाख्यानोपक्रम माध्यम से अभिनिवेशतुष्टि का प्रयास—

पुराणमहात्मक अभिनिवेश को स्वीकृत करते हुए हम अभ्युपगमवाद से तुष्यद्दुर्जनन्यायेन विज्ञानवादी के मनोभावों का समादर कर लेते हैं, एवं नैगमिक 'सदाख्यान' के माध्यम से ही पूर्वस्थिति की प्रामाणिकता की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हैं। हमारी ऐसी धारणा है कि, परदेशीय वैज्ञानिक, एवं तदुच्छिष्टभोगी भारतीय वैज्ञानिक, दोनों ही निगमशास्त्र को अप्रामाणिक घोषित करते हुए सकुचित हो पड़ते हैं। अवश्य ही मानना पड़ेगा कि, किसी न किसी रूप से निगम की ओर उनका सहज आकर्षण है। महाभारत युग से शत-सहस्र युग-परम्पराओं से कहीं पूर्व के 'देवयुगात्मक' 'यज्ञयुग' (वैदिकयुग) में एक बार इसी दृष्टिकोण के माध्यम से धर्मनिष्ठा के सम्बन्ध में महाभारतयुगवत् ही संघर्ष उत्पन्न हो गया था, जिसका ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। वही सदाख्यान यहाँ संक्षेप से प्रस्तुत किया जा रहा है।

६–निष्ठास्वरूपप्रवर्त्तक वैदिक 'सदाख्यान' की रूपरेखा—

"स ये हाग्रऽईजिरे, ते ह स्मावमर्शं यजन्ते। ते पापीयांस आसुः। अथ ये नेजिरे, ते श्रेयांस आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद–'ये यजन्ते–पापीयांसस्ते भवन्ति, यऽउ न यजन्ते–श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति (वदन्तः)। मत इतो देवान् हविर्न जगाम। इत प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति।

ते ह देवा ऊचुः–बृहस्पतिमाङ्गिरसं–'अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्, तेभ्यो विधेहि यज्ञम्' इति। स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–कथं न यजध्व–इति। ते होचुः–'किं काम्या यजेमहि। ये यजन्ते–पापीयांसस्ते भवन्ति, यऽउ न यजन्ते–श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति।

स होवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–यद्वै शुश्रुम–'देवानां परिपूतं सदेव यज्ञो भवति–यच्छृतानि हवींषि, क्लृप्ता वेदिः। तेनावमर्शमचारिष्ट। तस्मात्पापीयांसोऽभूत।

तेनावमर्शं यजध्वम्। तथा श्रेयांसो भविष्यथ–इति। आ कियत इति?। आ बर्हिषस्तरणात्–इति। बर्हिषा ह वै सन्त्वेषा शाम्यति। स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत, बर्हिरेवस्तृणन्नपास्येत्। अथ यदा बर्हिस्तृणन्ति, अपि पदामितिष्ठन्ति। स यो हैष विद्वाननवमर्शं यजते, श्रेयान् हैव भवति। तस्मादनवमर्शमेव यजेत" इति।

—शतपथब्राह्मण १।२।३।२४,२५,२६ कं०।

में पुराणेतिहास का विशेष महत्त्व इसलिए नहीं है कि, पुराणप्रतिपादित आख्यानों का यह अपनी प्रयोगशालाओं (Laboratries) में हाईड्रोजन (Hydrogen) ऑक्सिजन (Oxygen) कार्बन (Carbon) नाइट्रोजन, (Nytrogen) आदि तत्त्वों की भाँति यन्त्रमाध्यम से विश्लेषण (Analyse) पूर्वक परीक्षण नहीं कर सकता। बिना इस भौतिक-वैज्ञानिक-परीक्षण के इस वैज्ञानिक, तथा तदनुवर्त्ती नवशिक्षित भारतीय की दृष्टि में सम्पूर्ण भारतीय आम्नाय नहीं, तो न्यूनतम दन्तकथात्मक पुराण तो अवश्य ही अप्रामाणिक, अतएव मानव के सहज विकास का अवरोधक नितान्त व्यर्थ का अकाण्डताण्डवमात्र ही है। बड़े बड़े शिक्षाधुरीणों के श्रीमुख से ऐसी वैखरी वाणी विनिर्गत हुई है कि— 'पुराण ! अरे पुराण तो माइथालॉजी (Mythology) है'। तात्पर्य इस वाणी का यही कि, "पुराण के विषय, उसके आख्यानोपाख्यान, गाथाएँ, इतिहास, सब कुछ काल्पनिक हैं, अतएव पुराण तो सर्वथा उपेक्षणीय है"। जबकि भारतीय इतिहास पुराण ग्रन्थ ही अवैज्ञानिक, अतएव अप्रामाणिक हैं, तो तदनुरूपी 'असदाख्यान' के माध्यम से मानव की किसी महती समस्या के समाधान की चेष्टा करना क्या अप्रामाणिक नहीं माना जायगा ?, ओमित्येतत् ।

पुराणेतिहासज्ञानलव से भी असंस्पृष्ट विज्ञानवादियों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, 'असदाख्यान' तो पुराण का आठ प्रकार के आख्यानों में से केवल अन्तिम, सो भी बालानामुपलालनात्मक एक विभाग है। शेष सात दैविक-भौतिक-आत्मिकादि आख्यानों की वैज्ञानिकता का जिस दिन उन विज्ञानवादियों को आभास भी हो जायगा, तत्क्षण वे अपने सर्वस्वघातक क्षणिक विज्ञान का अहि-कञ्चुकिवत् परित्याग करते हुए प्रणतभाव से पुराणेतिहास के क्रोड का आश्रय ग्रहण कर लेंगे। अस्तु, यह कथा विषयान्तर से सम्बन्ध रखती है। अभी मान लेते हैं हम विज्ञानवादियों का अभिनिवेशात्मक अभियोग। इस सम्बन्ध में हम उनके सम्मुख केवल एक यही प्रतिप्रश्न उपस्थित करेंगे कि, क्या शिक्षापद्धति में उनके यहाँ 'माइथालॉजी' का कोई महत्त्व नहीं है ?। अवश्य ही अमुक सामान्यवर्ग के प्रारम्भिक उद्बोधन के लिए वहाँ की शिक्षापद्धति में भी असद्ज्ञानसरणी समाविष्ट है। खगोलीय-भूगोलीय वृत्तों के बोध कराने के लिए पार्थिव मृण्मयादि गोलकों को ही तो शिक्षक इसे अपने हाथ से परिभ्रममाण रखते हुए—यह उत्तर ध्रुव है, यह दक्षिण ध्रुव है, यह इक्वेटर है, यह केन्सर है, इत्यादि उपलालनात्मिका माइथालॉजी को ही तो माध्यम बनाते रहते हैं। इसी आधार पर तो भारतीय उपासनाकाण्ड में उपासक की लक्ष्यसिद्धि के लिए प्रतिमा को माध्यम माना गया है *। 'माइथा' शब्द 'मिथ्याभाव समाहक' 'लॉजी' शब्द 'ज्ञान' भाव का समाहक। फलतः 'माइथालॉजी' का भावार्थ हुआ 'मिथ्याज्ञान'। यही तो तात्पर्य 'असदाख्यान' शब्द का है। एवं आरम्भविज्ञानुगत उपलालनभाव की अपेक्षा

---

* अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

जबकि हम प्रत्यक्ष में यह अनुभव कर रहे हैं, देख रहे हैं कि, जो हम लोग यज्ञ कर रहे हैं, वे तो दु ख दारिद्र्य से उत्पीड़ित बने हुए हैं। एवं जो नहीं कर रहे, वे सुख-समृद्धि के भोक्ता बने हुए हैं।"

भारतीय मानवप्रजा के यज्ञकर्म्मपरित्यागनिबन्धन तथाकथित कारण के वास्तविक तथ्य को हृदयङ्गम करते हुए, यज्ञकर्म्म के वास्तविक-प्राकृतिक-मौलिक रहस्यात्मक-तत्त्ववाद के आधार पर समाधान में प्रवृत्त आङ्गिरस महर्षि कहने लगे कि-हे मनुष्यो! हम सनातनपरम्परा से-यज्ञविज्ञानरहस्यवेत्ता वैदिक महा-महर्षियों की परम्परा से-ऐसा सुनते आ रहे हैं कि, यह जो तुम्हारा वैध यज्ञकर्म्म है, यह कोई साधारण लौकिक कर्म्म नहीं है। (मन शरीरानुबन्धी भौतिक कर्म्म नहीं है), अपितु यह तो देवपरिगृत कर्म्म है, छन्दोबद्ध-मन्यादिव-प्राकृतिक-सौरप्राण देवताओं के द्वारा सञ्चालित नित्य प्राकृतिक ईश्वरीय यज्ञ की प्रतिकृति में देवप्राणात्मक देवयज्ञरहस्यवेत्ता महर्षियों के द्वारा मानव अभ्युदय के लिए आविष्कृत दिव्य कर्म्म है, अलौकिक कर्म्म है, जिसमें मानवीय मानस कल्पना का समावेश कदापि इष्टजनक नहीं बन सकता। तात्पर्य-अशन, पान, भोग, शुद्धि, आदि की भाँति यज्ञकर्म्म कोई साधारण लौकिक कर्म्म नहीं है। अपितु प्रत्यक्ष में वितायमान वेदि-इध्म-बर्हि-पुरोडाश-स्फ्य-कपालादि पात्र-इत्यादि पार्थिव भौतिक परिग्रहों से समन्वित इस वैध यज्ञकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा यह परोक्ष अतीन्द्रिय प्राकृतिक प्राण तत्त्व है, जिसमें यत्किञ्चित् भी प्रमाद-असावधानी-मानवीयकल्पनासमावेश-से, मन्त्रप्रयोगानुगत वर्ण-अक्षर-पद-वाक्य-स्वर के दोष के समावेश से यह यज्ञकर्म्म इष्टफलसाधकता के स्थान में सर्वनाश का कारण बन जाया करता है। हमारी धारणा नहीं, विश्वास है कि, अवश्य ही तुम मनुष्योंने-'मनुष्या एवैकेऽति प्रजमन्ति' (शत० २।४।२।६।) इस सहज स्खलनदोष से इस यज्ञकर्म्म में कहीं न कहीं प्राकृतिक यज्ञ के विरुद्ध कोई ऐसी भूल कर डाली है, जिससे यह यज्ञ तुम्हारे लिए इष्टस्थान में अनिष्ट का कारण बन गया है। उस अज्ञातदोष से अपरिचित रहने के कारण ही तुमनें दूसरी महामयावह यह भ्रान्ति कर डाली है कि, तुमने यज्ञ को ही अनिष्ट का कारण घोषित करते हुए इसके प्रति अश्रद्धा कर ली है। उसी प्रमाद से तुम्हारा उद्बोधन कराने के लिए भौमदेवताओं की ओर से हमें यहाँ आना पड़ा है।

सुनो! अवधान पूर्वक सुनो! और समझो कि, तुमने कहाँ भूल कर डाली। तुमनें देवताओं को आहुति देने के लिए हविर्द्रव्य का परिपाक कर लिया, यथाविधि वेदि का स्वरूप सम्पादन कर लिया। एवं यहाँ तक तुमने-'**प्रकृतिवत् विकृतिः कर्त्तव्या**' आदेश के अनुसार अपने इस विकृतियज्ञ में प्रकृतिवत् ही सब कुछ सम्पादन किया। किन्तु आगे चल कर तृणादि अपकरण के लिए तुमने अवैधरूप से प्रकृतिविरुद्ध वेदि का स्पर्श कर डाला। वेदि बन ही चुकी थी, अभी उस पर दर्भास्तरण नहीं हुआ था। कहीं से कोई तृण वेदि पर आ गिरा होगा। तुमने हाथ से उसे निकाल दिया, किन्तु यह न सोचा कि, दर्भास्तरण से पूर्व वेदि का किसी भी निमित्त से स्पर्श कर लेना अपने सर्वनाश का आमन्त्रण करना है। इसी स्पर्शदोष से तुम्हारा अनिष्ट हो गया। अतएव भविष्य के लिए हम तुम्हें सावधान कर देते हैं कि, वेदि का हाथ से स्पर्श न करते हुए ही तुम्हें यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

"उस पूर्वयुग में (तात्त्विक रहस्य को न जानने के कारण) भारतीय मानवोंने जो यज्ञानुष्ठान किया, उस अनुष्ठानकर्म में उन्होंने अवमर्शपूर्वक वैपरीत्यपूर्वक (वेदिका स्पर्श करते हुए) यज्ञपद्धति का अनुगमन किया। परिणाम यह हुआ इस वैपरीत्य का कि, इष्टफलभोग के स्थान में वे यज्ञकर्त्ता मानव अनिष्ट-पतन-प्रत्यवाय के भागी बन गए। ठीक इसके विपरीत उस युग में भी जो अश्रद्धान-नास्तिक-आसुरभावापन्न भारतीय मानव यज्ञ में श्रद्धा नहीं रखते थे, यज्ञ नहीं करते थे, वे (अपनी मौलिक लौकिक कर्म परम्परा के अनुगमन से-लोककर्मानुष्ठान से लोकदृष्ट्या) सुखोपभोगरत बने हुए थे। इस वैषम्य के आधार पर श्रद्धाशील यज्ञकर्त्ता आस्तिक मानव के मानसक्षेत्र में सहसा इस प्रकार की अश्रद्धा उत्पन्न हो गई कि, अरे! देखते हैं—जो हम मानव यज्ञ कर रहे हैं उनका तो पतन हो रहा है, दुःखी हो रहे हैं हम यज्ञानुष्ठान से। एवं जो यज्ञ का नामस्मरण भी नहीं करते, वे सुखी-समृद्ध बन रहे हैं। इस अश्रद्धा के कारण आस्तिकोंने भी सहसा यज्ञानुष्ठान का परित्याग कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, यज्ञानुगता आहुति के अवरुद्ध हो जाने से आन्तरिक्ष्य प्राकृतिक प्राणदेवता इस वैध पार्थिव प्राणाहुति से वञ्चित होकर कोपप्रवर्त्तक बन गए (प्रकृति की आदान-प्रदानात्मिका परस्परभावात्मिका सहज शान्ति उच्छिन्न हो गई *) क्योंकि, पार्थिव यज्ञाहुति से ही तो प्राणदेवात्मिका-प्रकृति स्वस्थ बनी रहती है। प्राकृतिक प्राणदेवों की स्वस्थता-स्वस्वपरिस्थिति ही तो उनकी जीवनसत्ता है।

सत्यात्मना विकम्पित भारतवर्ष की, तन्मानवों की इस प्रकार की अश्रद्धा का इतिवृत्त तत् समय के भौम-पार्थिव मानवदेवताओं के समीप जब पहुँचा, तो वे चिन्तित हो पड़े। तत्काल मन्त्रणा कर उन्होंने यज्ञरहस्यवेत्ता अङ्गिरयुवाज, अतएव 'आङ्गिरस' नाम से प्रसिद्ध देवगुरु बृहस्पति को भारतवर्ष में इस उद्देश्य से भेजा कि, वे यहाँ आकर यज्ञरहस्यविश्लेषणपूर्वक भारतीय मानवों की चलित श्रद्धा को पुनः यज्ञकर्म में स्थिर बनाते हुए प्राकृतिक कोप का उपशम करें। मन्त्रणानुसार बृहस्पति आए इलावृतवर्षात्मक भौम स्वर्गस्थान से भारतवर्षात्मक इस कृष्णमृगदेश (यज्ञदेश) में। बृहस्पतिने प्रश्न किया कि— हे मानवो! तुम लोग यज्ञ कैसे नहीं करते?, क्यों तुम लोगोंने यज्ञकर्मानुष्ठान का परित्याग कर दिया?। उत्तर स्पष्ट था। मानव कहने लगे—हे देवगुरो! हम किस इष्टसिद्धि-फलकामना के लिए यज्ञ करें,

---

* प्राणदेवता, अभिमानीदेवता मन्त्रदेवता, कर्मदेवता, आम्नदेवता, पार्थिवभूतदेवता, भौममानवदेवता, आध्यात्मिकप्रेयता भेद से देवविज्ञान आठ भागों में विभक्त है। प्रकृतिवत् इस पृथिवी पर ही स्वयम्भू ब्रह्मा के द्वारा देवत्रैलोक्य, एवं असुरत्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित हुई थी, जो वसुसोमरसरूप गन्धर्व मानव चन्द्रमा के कुकाव्य से कालान्तर में मानव असुरों के द्वारा स्मृतिगर्भ में विलीन कर दी गई। यह सम्पूर्ण देवविज्ञान शतपथसाम्य में अन्यत्र विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। तद्युग के भौम देवताओं-मनुष्यदेवताओं-ने ही बृहस्पति को यहाँ भेजा था।

७–महामाया द्वारा लोकमानव का विमोहन—

निश्चयेन केवल अपने प्रज्ञापराध से घटित–विघटित दुरवस्थापरम्परा का दोष अपनी सहज भावुकता के तात्कालिक आवेश से अन्यान्य व्यक्तियों से समर्पित मानने वाले, किंवा दैव को ही इस दोषपरम्परा का कारण घोषित करने की महती भ्रान्ति करने वाले एक वैसे ही कर्त्तव्यविमुख सुप्रसिद्ध भावुक मानव के तात्कालिक भावाविष्ट उद्‌गारों की ओर आज हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जो मानव प्रारम्भोपवर्णित महाभारतानुगत पूर्वयुग में अपने 'आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक' इन चारों ही आध्यात्मिक–मानवस्वरूपनिबन्धन–पर्वों से असाधारण योग्यता प्रमाणित कर रहा था। नित्य–प्राकृतिक–विज्ञानानुमोदित वेदशास्त्र सिद्ध 'अवतारवाद' सिद्धान्त के अनुसार तो, सुनते हैं–यदि उस पूर्वयुग में वासुदेव श्रीकृष्ण सौर हिरण्मय मण्डल को अपने महिमामय आपोमण्डल में बुद्‌बुद्वत् गर्भीभूत बनाए रखने वाले पारमेष्ठ्य नारायण विष्णु के पूर्णावतार थे, तो यह महामानव सौर इन्द्रात्मक ज्योतिर्मय 'नर' का अवतार था। पारमेष्ठ्य आपोमय नारायण, एवं सौर ज्योतिरिन्द्ररूप नर, दोनों का प्राकृतिक महाब्रह्माण्ड में सहज सख्यसम्बन्ध सनातनरूप से सुरक्षित है। अतएव पारमेष्ठ्य नारायणावतार (विष्ण्ववतार) रूप वासुदेवकृष्ण, तथा नरावतार (इन्द्रावतार) रूप इस महामानव का मैत्रीसम्बन्ध इन दोनों के इस योगमायानिबन्धन पार्थिव–अवतार–स्वरूपों में भी तद्युग में प्रकृतिवत् अक्षुण्ण बना रहा था, जिसकी वैज्ञानिक दिशा का गीताविज्ञानभाष्य में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। सभी कुछ यथार्थ था, प्राकृतिक था यद्यपि, तथापि—

> "ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
> बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥"
>
> —दुर्गासप्तशती

इत्यादि रहस्यवाणी के सनातन नियमानुसार नरावतारस्वरूप सर्वात्मना सुयोग्यतम–कुशल–मेधावी–प्रज्ञाशील–बुद्धिनिष्ठ–महासत्त्व–महाप्राण–आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण उस महामानव पर भी सदसद्विलक्षणा–परात्परा–ईश्वरीपरमेश्वरी–जगन्माता जगदम्बा योगमाया के बलवत् मोहपाश का वैसा आक्रमण हो ही गया, जिस आक्रमण का सम्भार वैसा महामानव भी न संभाल सका, न संभाल सका। एवं तत्परिणामस्वरूप इस मोहपाशाक्रमण से अपनी सहज भी बुद्धिनिष्ठा को, परिपूर्ण भी मानवता को, सनातन भी आस्थाश्रद्धा को, निर्णीत भी शास्त्रकर्मैतिकर्त्तव्यतापरायणता को सर्वात्मना विस्मृत करता हुआ, इस लौकिकी सामान्या मनोऽनुगता–यथाजातमानवमान्यता युक्ता–मुग्धभावापन्ना किंकर्त्तव्यविमूढोत्पादिका भावुकस्थिति से समन्वित होता हुआ सर्वात्मना पुरुषार्थशून्य–सा, आत्मविमूढ–सा, बुद्धिनिष्ठा–वञ्चित–सा, उदासीनवदासीन–सा, दिग्विमूढ सा, असहाय–सा, सर्वसाधन–परिग्रह–शून्य–सा बनता हुआ आज अपने सवसामर्थ्य परिपूर्ण अतिमानव (आधिकारिक–अवतार) मित्र के सम्मुख अश्रुपूर्णाकुलेक्षणभावमाध्यम से

कब तक हम वेदिका स्पर्श न करें ?, यदि वेदि पर निरर्थक, अतएव अयज्ञिय तृणादि यत्र-तत्र से आ जायँ तो उन्हें कैसे दूर करें ?, यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करने पर बृहस्पति ने समाधान किया कि, बर्हिस्तरण से पहिले पहिले वेदि का हाथ से स्पर्श इसलिए नहीं करना चाहिए कि, 'स्फ्य' नामक यज्ञिय शस्त्र से भूगर्भ की मृत्तिका को उत्पीड़ित कर (खोद कर) वेदि का जो स्वरूपनिम्माण किया जाता है, इस शस्त्रप्रहारकर्म्म से वेदि हिंसात्मक क्रूरकर्म्मानुगत घातक प्राण से समन्वित बन जाती है। इस घातक प्राण को सुशान्त करने की शक्ति और आपोमय रश्मिरूप 'वेन' से उत्पन्न 'बर्हि' (दर्भ—डाभ) में मानी गई है। जब तक इस बर्हि का स्तरण वदि पर नहीं कर दिया जाता, तब तक वेदि घातक प्राण से आक्रान्त रहती है। अतएव इस समय यदि हस्तस्पर्श कर लिया जायगा, तो वेदिस्थ घातक प्राण यज्ञ को अनिष्टभाव से समन्वित कर देगा। अतएव बर्हिस्तरण से पूर्व पूर्व यदि वेदि पर अन्य तृण आदि आ भी जायँ, तो उन्हें बर्हि से ही हटाना चाहिए। जब बर्हि बिछा दिए जाते हैं, तो हिंसाप्राण उपशान्त हो जाता है। तदनन्तर हस्तस्पर्श ही क्या, यदि (अभ्युपगमवादेन) तुम वेदि पर पैर भी रख दोगे, तो भी कोई अनिष्ट न होगा। इस प्रकार कुशास्तरण से पूर्व पूर्व अनवमर्श (अस्पृष्ट) रूप से यजन करने वाला यज्ञ कर्त्ता द्विजाति मानव अवश्यमेव इष्टफलभोक्ता ही बनता है। इसलिए—'अनवमर्शमेव यजेत' ।*"।

उक्त वैदिक–नैगमिक–सदाख्यान से प्रकृत में हमें इसी तथ्य का अनुगामी बनना है कि, मानव कभी कभी अपने प्रज्ञापराध (नासमझी) जनित दोषों का स्वरूप न जानता हुआ अपने इन दोषों–अपराधों–भ्रान्तियों–त्रुटियों का उत्तरदायित्व दैववाद पर छोड़ने की महती भ्रान्ति कर बैठता है। भूल होती है स्वयं इस की, दोष दिया करता है यह दैव को। अज्ञानतावश–मोहवश–आवेशवश–अभिनिवेशाक्र-पितान्तःकरणमना मानव अभ्युदय–निःश्रेयस् पथ से वञ्चित रहता हुआ कभी दैववाद (भाग्य) को, कभी सहयोगी मानवों को, कभी साधनों को, तो कभी साध्य धर्म्म–कर्म्म–शास्त्रादि अन्यान्य निमित्तों को दोषी ठहराता हुआ कालान्तर में अपनी निश्चित–निर्णीत–शास्त्रनिष्ठा से पराङ्मुख बन जाया करता है, कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा से च्युत हो जाया करता है। आज एक वैसे ही मानव, किंवा महामानव, किन्तु भावु कतावश लक्ष्यच्युत बने हुए भारतीय मानव से सम्बन्ध रखने वाले उस ऐतिहासिक तथ्य की ओर हमें भावुक मानवसमाज का ध्यान आकर्षित करना है, जिसकी मध्यस्थता ही प्रस्तुत सामयिक निबन्ध की जननी प्रमाणित होने वाली है।

---

* इस सदाख्यान का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य–प्रथमवर्ष के 'वेदिब्राह्मण' नामक प्रकरण में हो चुका है, जो प्रथमवर्ष अब पुन प्रकाशन सापेक्ष है। हम इस प्रयास में जागरूक हैं कि, सुविधा प्राप्त होने पर शतपथभाष्य के १–२–३– वर्षत्रयात्मक तीनों खण्ड पुनः प्रकाशित कर दिए जाँय, जिस इस जागरूकता की सफलता का एकमात्र उत्तरदायित्व भाष्यसंस्कृतिप्रेमी साहित्यिकों की लोकैषणाविनिर्मुक्ता निष्ठा पर ही अवलम्बित है।

७–महामाया द्वारा लोकमानव का विमोहन—

निश्चयेन केवल अपने प्रज्ञापराध से घटित–विघटित दुर्दशापरम्परा का दोष अपनी सहज भावुकता के तात्कालिक आवेश से अन्यान्य व्यक्तियों से सम्बन्धित मानने वाले, किंवा देव को ही इस दोषपरम्परा का कारण घोषित करने की महती भ्रान्ति करने वाले एक वैसे ही कर्त्तव्यविमुख सुप्रसिद्ध भावुक मानव के तात्कालिक भावाविष्ट उद्‌गारों की ओर आज हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जो मानव प्रारम्भोपवर्णित महाभारतानुगत पूर्वयुग में अपने 'आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक' इन चारों हीं आध्यात्मिक–मानवस्वरूपनिबन्धन–पर्वों से असाधारण योग्यता प्रमाणित कर रहा था। नित्य–प्राकृतिक–विज्ञानानुमोदित वेदशास्त्र सिद्ध 'अवतारवाद' सिद्धान्त के अनुसार तो, सुनते हैं–यदि उस पूर्वयुग में वासुदेव श्रीकृष्ण सौर हिरण्मय मण्डल को अपने महिमामय आपोमण्डल में बुद्बुदवत् गर्भीभूत बनाए रखने वाले पारमेष्ठ्य नारायण विष्णु के पूर्णावतार थे, तो यह महामानव सौर इन्द्रात्मक ज्योतिर्मय 'नर' का अवतार था। पारमेष्ठ्य आपोमय नारायण, एवं सौर ज्योतिरिन्द्ररूप नर, दोनों का प्राकृतिक महाब्रह्माण्ड में सहज सख्यसम्बन्ध सनातनरूप से सुरक्षित है। अतएव पारमेष्ठ्य नारायणावतार (विष्ण्ववतार) रूप वासुदेवकृष्ण, तथा नरावतार (इन्द्रावतार) रूप इस महामानव का मैत्रीसम्बन्ध इन दोनों के इस योगमायानिबन्धन पार्थिव–अवतार–स्वरूपों में भी तद्युग में प्रकृतिवत् अक्षुण्ण बना रहा था, जिसकी वैज्ञानिक दिशा का गीताविज्ञानभाष्य में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। सभी कुछ यथार्थ था, प्राकृतिक था यद्यपि, तथापि—

> "ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
> बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥"
>
> —दुर्गासप्तशती

इत्यादि रहस्यवाणी के सनातन नियमानुसार नरावतारूप सर्वात्मना सुयोग्यतम–कुशल–मेधावी–प्रज्ञाशील–बुद्धिनिष्ठ–महासत्त्व–महाप्राण–आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण उस महामानव पर भी सदसद्विलक्षणा–परा–परात्परमा–ईश्वरीपरमेश्वरी–जगन्माता जगदम्बा योगमाया के बलवत् मोहपाश का वैसा आक्रमण हो ही गया, जिस आक्रमण का सम्भार वैसा महामानव भी न संभाल सका, न संभाल सका। एवं तत्परिणामस्वरूप इस मोहपाशाक्रमण से अपनी सहज भी बुद्धिनिष्ठा को, परिपूर्ण भी मानवता को, सनातन भी आस्थाश्रद्धा को, निर्णीत भी शास्त्रकर्मेतिकर्त्तव्यतापरायणता को सर्वात्मना विस्मृत करता हुआ, इस लौकिकी सामान्या मनोऽनुगता–यथाभावमानवमान्यता युक्ता–मुग्धभावापन्ना–किंकर्त्तव्यविमूढोत्पादिका भावुक-स्थिति से समन्वित होता हुआ सर्वात्मना पुरुषार्थशून्य–सा, आत्मविमूढ-सा, बुद्धिनिष्ठा–वञ्चित-सा, उदासीनवदासीन-सा, दिक्‌विमूढ सा, असहाय-सा, सर्वसाधन–परिग्रह–शून्य–सा बनता हुआ आज अपने सर्वसमर्थ परिपूर्ण अतिमानव (आधिकारिक-अवतार) मित्र के सम्मुख अश्रुपूर्णाकुलेक्षणभावमाध्यम से

अपने इस नितान्त भावुकतापूर्ण अन्तर्द्वन्द्व के समाधान के लिए समुपस्थित होता हुआ इस प्रश्नभाव का अनुगामी बन रहा है—

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
>
> —गीता २।७।

इस व्यामोहनप्रसङ्ग में ही एक आभ्यन्तर सामयिक प्रश्न । यह यथार्थ है कि, महामायाऽभिन्ना योगमाया (विष्णुमाया) के मोहपाशाक्रमण से नितान्त ज्ञाननिष्ठ मानव भी लक्ष्यच्युत बन जाया करते हैं । महतोमहीयान् आश्चर्य ! क्या महामङ्गलविधात्री जगन्माता 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' अपनी इस मातृभावना के सर्वथा विपरीत इसी प्रकार स्वसन्तति पर अपना वात्सल्य अभिव्यक्त करती है ? । क्या मङ्गलमयी माता का स्ववात्सल्याभिव्यक्ति के लिए एकमात्र यही कर्त्तव्य शेष रह गया है कि, वह अपनी ज्ञाननिष्ठ-सर्वविध योग्य-धारणाश्रद्धासमन्वित भी सन्तति पर सहसा अपने स्नायुमण्डलावेधक मोहपाश का आक्रमण कर इसे सर्वात्मना हतवीर्य्य बना दे ?, इसकी जागरूक सहज शक्तियों को कुण्ठित- अभिभूत कर इसे दीनहीन-सा, मूर्खविमूढ़-सा, किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा बना दे ?, यही वह सामयिक प्रश्न है, जो अवश्य ही हमारे इस ऐतिहासिक 'मानव' के गाथा प्रसङ्ग में एक आस्तिक-भावुक, विशेषतः धर्म्मभीरू भावुक भारतीय मानव के निम्दमान सौम्य अन्तःकरण में एक जटिल समस्या उत्पन्न कर रहा है । इस महत्वपूर्ण सामयिक प्रश्न का समाधान हम क्या करें, जबकि हम स्वयं भी इसी पथ के पथिक बने हुए हैं । इस समस्यात्मक प्रश्न के समाधान का उत्तरदायित्व तो एकमात्र कालपुरुष के अनुग्रह पर ही अवलम्बित माना जायगा । पार्थिव—चान्द्र—सौरसम्वत्सरात्मक कालचक्रभवी की सतत परिभ्रममाणा–नियति के निग्रहानुग्रह से पार्थिव मानवसमाज की चन्द्रानुगता मानसिक प्रवृत्तियों में कब क्या क्या उच्चावच परिवर्त्तन हुआ करते हैं ?, स्वयं मानव इन प्राकृतिक परिवर्त्तनों के प्रति किस सीमा पर्य्यन्त उत्तरदायी है ?, इत्यादि प्रश्नपरम्परा एक स्वतन्त्र विषय है, जिसका 'मानवस्वरूपमीमांसा' रूप से अग्रिम परिच्छेदों में समाधान करने की चेष्टा की जारही है । प्रकृत में सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए दो शब्दों में तद् निरूपित समाधानदिशामात्र से ही पाठकों को अवगत करा दिया जाता है ।

८—लोकमानव की ग्राम्यपशुता, और मायाविमोहनसमाधानचेष्टा—

नैगमिक 'पञ्चपशुविज्ञान' के अनुसार अश्व–गो–अवि (मेष)–अज (बकरा) वत् पुरुष भी महाकालद्वारा क्रमशः परिगत बना रहने के कारण अग्निस्थानीय (सौम्यस्थानीय) बना रहता हुआ (मनःशरीर मात्रयोमात्र की अपेक्षा से) एक प्रकार का 'पशु' ही माना गया है, जैसा कि–'अश्वमश्वं पुरुषं पशुम्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । पञ्चविध 'पुरुषाश्वगवाव्यजाः' इन प्राकृतिक पार्थिव मुख्य पशुओं के जाति–उपजाति–प्रजातरजाति–अनुलोम–प्रतिलोमसंकर–आदि बीज–योनि भेद से अवान्तर शत–सहस्र

विभेद हो रहे हैं । इन असंख्य भेदभिन्न पशुजातियों का भारतीय वैज्ञानिक महर्षियोंनें 'आरण्यक-पशु'–'ग्राम्यपशु' इन दो भागों में वर्गीकरण करते हुए पशुस्वरूप की तात्त्विक मीमांसा की है ।

'पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यान्–आरण्यान्–ग्राम्याश्च ये' इत्यादि रूप से पशुवर्ग–ग्राम्यपशु, आरण्य पशु, इन दो वर्गों में विभक्त है । दुर्भाग्यवश, किंवा निगतशताब्दियों से परम्परया उत्तराधिकारसमर्पण प्रक्रिया की भाँति भावुकमानवपरम्परा के द्वारा भावुकमानवपरम्परा को दायादरूप से प्राप्त भावुकतावश वैदिकपरम्परा के अभिभूत हो जाने से वेदार्थमीमांसा के सम्बन्ध में सर्वसामान्य चलितप्रज्ञ व्याख्याताओं की कौन कहे, महामान्य मेधावी वेदव्याख्याताओं के द्वारा भी यत्रतत्र वैसी उद्वेगकरी भ्रान्तियाँ अभिव्यक्त हो पड़ीं हैं, उन भ्रान्त व्याख्याओं के अनुग्रह से अर्थ के स्थान में बड़े बड़े अनर्थ हो पड़े हैं । उदाहरण, यही प्रक्रान्त पशुवर्गद्वयी । व्याख्याताओंनें 'आरण्यपशु' का अर्थ किया है–'जंगलीपशु' (अर्थात्–शून्य निर्जन–वनोपवनों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले पशु)। एवं 'ग्राम्यपशु' का अर्थ किया है–'गाँव के पशु' (अर्थात् ग्राम, एवं नगर में रहने वाले पशु)। भावुकतापूर्णा प्रत्यक्षप्रभावमूला लोकदृष्टि से इस अर्थ में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं हो रही, जबकि 'अरण्य', एवं 'ग्राम' शब्दों के अमरकार सम्मत 'जंगल' और 'गाँव' अर्थ सर्वसाधारण की लोकदृष्टि म लोकसम्मत बन रहे हैं । किन्तु

'किन्तु' का आश्रयग्रहण इसलिए करना पड़ा कि, वैदिकसाहित्य काव्यनाटकसाहित्य की भाँति कोई लौकिक साहित्य नहीं है, जिसे लोककोश–एवं लोकव्याकरण के माध्यम से सहसा समन्वित कर लिया जाय, किंवा आपातरमणीयभावापन्ना प्रत्यक्षदृष्टिमात्रमाध्यम से जिसका यथेच्छ समन्वय कर लिया जाय। अपितु अलौकिक–अपौरुषेय–तत्त्वपरिपूर्ण–रहस्यार्थगम्भीर–वेदशास्त्र की अपनी रहस्यपूर्णा एक स्वतन्त्र परोक्ष, किन्तु आम्नायपरम्परानुप्राणित परिभाषापरम्परा है, जिसे आधार बनाए बिना अन्य लौकिक सहस्र मेधाओं प्रयत्नों–लोकव्याख्याओं से भी कथमपि वेदार्थ का तत्त्वार्थबोध सुसमन्वित नहीं बन सकता, कथमपि नहीं बन सकता ।

'आरण्य' शब्द का पारिभाषिक अर्थ है 'अरण' सम्बन्ध से 'एकाकीभाव', एवं 'ग्राम' शब्द का अर्थ है 'समूहभाव' । वनोपवनादि में क्योंकि ऐकान्तिकता (एकान्तपना) स्वाभाविक है, सहज सुलभ है । अतएव इस एकाकीपन से वनादि प्रान्त भी 'अरण्य' नाम से लोक में व्यवहृत होने लग गए हैं । एवमेव ग्रामनगरादि में क्योंकि प्राणी सामूहिक रूप से आवास निवास करते हुए से प्रतीत होते हैं । अतएव ग्रामनगरों को 'ग्राम' नाम से व्यवहृत करना भी लोकसम्मत बन गया है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि, अरण्य और ग्राम शब्द एकाकीपन एवं सामूहिकभाव के सर्जक नहीं हैं, अपितु एकाकीभाव, समूहभाव अरण्य–ग्राम–शब्दों के सर्जक हैं । दूसरे शब्दों में अरण्य एवं ग्राम शब्दों का मुख्य अर्थ है एकाकीभाव, एवं समूहभाव, न कि जंगल, और गाँव । अरण्य (एकाकीभाव), एवं ग्राम (समूहभाव) के कारण वनोपवनादि अरण्य, एवं प्राणिसमूहात्मक प्रदेश ग्राम कहलाए हैं । वनोपवनादि, एवं ग्राम-

नगरादि कदापि 'अरण्य–ग्राम' शब्दों के साध्य नहीं हैं। ऐसे सामान्य यथाजात लोकमानव की स्थूलदृष्टि से अरण्य–ग्राम शब्दों का जंगल–गाँव अर्थ घोषित करते रहना भी लोकदृष्ट्या समादरणीय बन ही रहा है। एवं इस लौकिक दृष्टि के अनुग्रह से 'आरण्यकपशु' का अर्थ–'जंगल के जीव', और 'ग्राम्यपशु' का अर्थ 'गाँव के जीव' करते रहना कोई असह्य अपराध नहीं माना जा सकता। हाँ, वैदिक अरण्य–ग्राम शब्दों के साथ न तो यह जंगलीपना ही क्षम्य है, एवं न यह गँवारपना ही उपेक्षणीय है।

तात्त्विकदृष्ट्या 'अरण्य' शब्द का अर्थ होगा 'एकान्तिकता', एवं 'ग्राम' शब्द का अर्थ होगा 'सामूहिकता'। इस दृष्टि से 'आरण्यकपशु' का अर्थ होगा 'एकान्तनिष्ठप्राणी', एवं 'ग्राम्यपशु' का अर्थ होगा–'समूहनिष्ठप्राणी'। एकाकी निवास विचरणशील प्राणी ही आरण्यकपशु कहा जायगा, एवं सामूहिक (समूह बना कर–निवास–विचरण करने वाला) प्राणी ग्राम्यपशु माना जायगा। लौकिक दृष्टि से सम्बन्धित अरण्य (जंगल) में भी आरण्य–ग्राम्य, दोनों प्रकार के प्राणी उपलब्ध हो सकते हैं, होते हैं। एवं ग्राम (गाँव–शहर) में भी दोनों निवास–विचरण करते हैं। पहिले 'पशु' नाम से प्रसिद्ध दोनों प्राणियों के उभयत्र निवास का अन्वेषण कीजिए। शरभ–अष्टापद–सिंह–व्याघ्र–आदि कुलानुगत पराक्रमी पशु भेड़ बकरियों की भाँति समूह–झुण्ड बना कर विचरण–निवास करते रहना अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ के सर्वथा विरुद्ध मानते हैं। स्वतन्त्ररूप से स्वच्छन्द वृत्ति से विचरण करते रहना ही इन शरभादि कतिपय भेद पशुओं का सहज स्वभाव है। ऐसे शरभादि जंगली प्राणियों को ही हम 'आरण्यकपशु' कहेंगे। मदमत्त मौक्तिक गज, एमूषवराह प्रतिकृतिरूप महासत्त्व शूकर, वान्य गन्धवहप्राणप्रतीकरूप वर्जितप्रज्ञ–वर्जितशरीरस्पर्शधर्म्मा–सचकितनयन मृग, धूर्त्तशिरोमणि शृगाल, आदि आदि मनःशरीरानुगत वीर्य्य–बलानुशयानुभावित कतिपय पशु समूह झुण्ड बना कर ही आवास निवास किया करते हैं। झुण्ड के झुण्ड बना कर विचरण करते रहना ही इन जंगली पशुओं का सहज स्वभाव है। इस झुण्डरूप सामूहिकभाव के कारण ही इन जंगली पशुओं को 'ग्राम्यपशु' कहा जायगा। तदित्थं–केवल आरण्य (जंगल) में ही आरण्यक, तथा ग्राम्य, दोनों प्रकार के पशुओं का आवास प्रमाणित हो रहा है। यही उभयवर्ग ग्राम से सम्बन्धित माने जायँगे। महासत्त्व साण्ड वृषभ (साँड) उत्क्षुद्रवृषभ, महाप्राण साण्ड महिष (सवीर्य्य भैंसा), मस्तकविस्फोटक नर अवि (मींढा), आदि आदि कितने एक नागरिक पशु नगर में रहते हुए भी ऐकान्तिकरूप से विचरण करते हुए अपनी आरण्याभिधा को अन्वर्थ बनाते रहते हैं। 'गौ–महिष–अश्व–वाहनगज–आदि पशु सामूहिकरूप के अनुगामी बने रहते हुए ग्रामनिवासी 'ग्राम्याभिधा' को अन्वर्थ बना रहे हैं। तदित्थं ऐकान्तिकरूप से, तथा सामूहिकरूप से नगर–ग्रामों में निवास करने वाले पशु क्रमशः आरण्यक–ग्राम्य बने हुए हैं। दोनों ही वर्ग अरण्य में, दोनों ही वर्ग ग्राम में। अरण्य में भी आरण्यक–ग्राम्य दोनों, ग्राम में भी आरण्यक, ग्राम्य दोनों, यही निष्कर्ष है। अलमतिपल्लवितेन। अब शेष प्रश्न रह जाता है पशुभेद मानववर्ग के सम्बन्ध में, जिसकी मीमांसा विस्तार से इसी निबन्ध के द्वितीयप्रकरण में होने वाली है। विषय-सन्दर्भसमन्वयदृष्टि से अभी इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि—

आश्रमचतुष्टयानुगत द्विजातिमानव, एवं यथाजात लौकिकमानव, भेद से सर्वप्रथम हम मानव के दो वर्ग मानते हुए इन्हें क्रमशः **अलौकिक परिपूर्ण नैष्ठिक मानव, लौकिक अपूर्ण भावुक मानव,** इन नामों से व्यवहृत करेंगे। अतीतानागतज्ञ–विदितवेदितव्य–अधिगतयाथातथ्य–तप पूत–निगमागमतत्त्व वित्–तत्त्वानुशीलननिष्ठ आरण्यक आचार्य्य (ऋषि) के पावन चरणों में समिधग्रहणपूर्वक प्रणतभाव से अणुभाव–अविमता–सत्य–श्रद्धा–आदि सत्त्वगुणमाध्यम से पञ्चविंशतिपरात्मक प्रथम वय में श्रौतस्मार्त्त ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर उत्तरपञ्चविंशति में श्रौतस्मार्त्त यज्ञकर्म्मों का अनुगमन करता हुआ, तृतीयपञ्चविंशति में निवृत्तिप्रधान कर्म्मों का अनुगामी बनता हुआ, चतुर्थ पञ्चविंशति में कामत्यागलक्षणा सन्यासनिष्ठा के द्वारा मानवजीवन को धन्य बनाता हुआ द्विजातिमानव ही **'अलौकिकमानव'** कहलाया है। इस प्रकार के द्विजातिमानव की सेवाशुश्रूषा में निश्छलरूप से अपने आपको अर्पित रखने वाला शास्त्रसिद्ध वर्णधर्म्मानुसार आजीविकाकर्म्म में निरत रहता हुआ, लोकमान्यताओं के अनुसार पितृ–देवकर्म्मों का अनुगमन करता हुआ मानव ही **'लौकिकमानव'** है, जिन इन द्विविध मानवों का विशद वैज्ञानिकस्वरूप द्वितीय स्तम्भ की प्रतीक्षा कर रहा है। इन्हीं दोनों वर्गों को हम क्रमशः **'आत्मबुद्धिनिष्ठमानव',** एवं **'मनःशरीरयुक्तमानव'** इन नामों से व्यवहृत करेंगे।

अलौकिक मानव भी मन शरीरभावों से युक्त है। किन्तु यहाँ प्रधानता आत्मा, और बुद्धि की है। एवमेव लौकिक मानव भी आत्मबुद्धिभावों से युक्त है। किन्तु यहाँ प्रधानता मन –शरीरभावों की है। आत्मा और बुद्धि (विद्याबुद्धि) सदा एकान्तनिष्ठा को ही लक्ष्य बनाते हैं। अतएव तत्प्रधान अलौकिक मानव को हम 'आरण्यक मानव' ही कहेंगे, फिर वह वीणोदकपद्धति से अरण्य (जंगल) में रहे, अथवा तो भूमोदर्कपद्धति से ग्राम–नगर में रहे। 'पशु' सर्ग चौदह भागों में विभक्त है, जिसका रजोविशाल मध्य सर्ग 'मानवसर्ग' कहलाया है। यह सर्ग 'चान्द्रसर्ग' है *। चन्द्रमा ही मनोभाव का स्वरूप सम्पादक है। अतएव मन शरीरप्रधान, अतएव रजोविशाल इस लौकिक **'चान्द्रमानव'** को ही हम 'पशु' श्रेणि से सम्बद्ध मानेंगे। आत्मबुद्धि का प्रभव सूर्य्य माना गया है, जैसा कि–**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**– **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। यही देवसर्ग का अभिष्ठाता है। यही आत्मबुद्धि प्रधान सत्त्वविशाल अलौकिक मानव की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव इस **'सौरमानव'** को हम **'देवमानव'** मानते हुए पशुश्रेणि से सर्वात्मना असम्पृक्त ही घोषित करेंगे। इसी अलौकिक सौर देव मानव को लक्ष्य बना कर मानवधर्म्मस्वरूपविधाता भगवान् मनु ने–**'पितृभ्यो देवमानवाः'** (मनु ३।२०१।) यह घोषणा अभिव्यक्त की है। तात्पर्य्य, इन दोनों मानव वर्गों में से आत्मबुद्धिनिष्ठ सौर

---

* भाष्यविज्ञानोपनिषद्ग्रन्थान्तगत **'सावित्र्युपनिषद्ग्राणोपनिषत्'** नामक प्रथमखण्ड में (पृ० २५० से ३०० पर्य्यन्त) इस चतुर्दशविध चान्द्र पशुसर्ग का विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

द्विजातिमानव आरण्यक ही है, एवं यह 'मानव' ही है, देव ही है। दूसरा मन शरीरयुक्त चान्द्र पशुभाव मानव ग्राम्य ही है, यह 'पशु' ही है। इसी के लिए संस्कृतसाहित्य में 'दयानां प्रियः' अभिधा व्यवहृत हुई है, जिस अभिधा को निगमनिष्ठामार्ग से स्खलित भावुकतापूर्णमतवादाभिनिविष्ट प्रमुख भारतीय भावुक राजाओंनें (अशोकादिनें) भी अन्वर्थ बनाया है।

प्रसङ्ग प्रक्रान्त है 'भावुकता' से सम्बन्ध रखने वाले प्रसङ्गाख्यान का। निष्ठा जहाँ विद्याबुद्धि का सहज धर्म्म है, वहाँ भावुकता मन का सहज भाव है। इस दृष्टि से आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक आरण्यक और मानव, एवं मनःशरीरयुक्त भावुक ग्राम्य चान्द्र मानव, दोनों में से भावुक ग्राम्य मानव को ही हम पशुमीमांसाप्रसङ्ग में प्रधान मानेंगे, एवं इसी लोकमानव के माध्यम से हम महामायानुगत विमोहन की मीमांसा करेंगे। आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक महामानव तो 'निर्म्मानमोहा-जितसंगदोषा' इत्यादि के अनुसार इस प्रक्रान्त मीमांसा से सर्वात्मना असंस्पृष्ट ही माने जायँगे। 'ज्ञानिनामपि० बलादाकृष्य मोहाय०' इत्यादि महामायामोहपाशाक्रमण के लक्ष्य पशुमानव-ग्राम्यमानव-लोकमानव-मन शरीरयुक्त मानव-भावुकमानव ही बना करते हैं, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है।

'मानव सामाजिक प्राणी है' इस लोकमान्यता की मीमांसा में प्रवृत्त होने से पूर्व ही हमें मानव के पूर्वप्रतिपादित आरण्यक, ग्राम्य, दोनों अलौकिक-लौकिक वर्गों को लक्ष्य बना लेना चाहिए। अलौकिक मानव को वस्तुतस्तु 'आरण्यक' कहना भी उसकी परिपूर्णता पर आक्रमण ही करना है। वह स्व स्वरूपत आत्मबुद्ध्यपेक्षया एकान्तनिष्ठ बनता हुआ जहाँ आरण्यक है, वहाँ लोकसंग्रहमात्र के लिए मन शरीरापेक्षया समाजनिष्ठ बनता हुआ यह ग्राम्य भी प्रतीत होने लगता है। यह दोनों हैं, दोनों हीं नहीं है, सब कुछ है, अतएव सर्वधर्म्मोपपन्न है। अतएव लोकदृष्ट्या वैसा महामानव ग्राम्यलौकिक मानवदृष्ट्या सर्वथा अमीमांस्य है। मीमांस्य है केवल मन शरीरयुक्त भावुक वह लौकिक मानव, जो अपने सहज आत्मबुद्धिलक्षण नैष्ठिक स्वरूप को प्रत्यक्ष-प्रमाद-द्वारा विस्मृत करता हुआ सहसा पशुसमाजधर्म्मा बनता हुआ *पशुवत् किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। ऐसा है यह लौकिक* ग्राम्य (सामाजिक) पशुमानव, जिसके लौकिक स्वरूप विश्लेषण के लिए हमें मानव के दो वर्गों की रूपरेखा उपस्थित करनी पड़ी। अभी एक तीसरा लौकिक ग्राम्य मानववर्ग और मीमांस्य है, जो अविद्याबुद्धिसहकृता असभिज्ञा का महापात्र बनता हुआ भावुक मानव को सतत उत्पीड़ित किया करता है। प्रतीक्षा कीजिए उस असभिज्ञ दानवमानव की असत्स्वरूपमीमांसा की कुछ काल पर्य्यन्त।

(लोकदृष्ट्या)—मानव आरण्यक पशु नहीं है, अपितु 'ग्राम्यपशु' है समूहात्मक पशु है, समष्टि में आवासनिवास विचरण करने वाला 'सामूहिक प्राणी है, जिसका अर्थ किया जाता है वर्त्तमानयुग के नितान्त भावुक समाजवादियों के द्वारा 'सामाजिक प्राणी'। मानव की-लोकमानव की-ग्राम्यमानव की- नागरिक मानव की-किंवा वर्त्तमान भावुकभाषाव्यवहार की अपेक्षा राष्ट्रिय मानव की वैय्यक्तिक-

पारिवारिक–कौटुम्बिक–जातीय–सामाजिक–नागरिक–राष्ट्रिय आदि आदि कुछ एक ऐसी अनिवार्य आवश्यकता–परम्पराएँ हैं, जिन का अनुगामी बने रहना, जिनके प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण किए रहना, मानव का–लोकमानव का अनन्य कर्त्तव्य बना रहता है। इस सामूहिक कर्त्तव्यानुगति के कारण ही लोकमानव को 'सामाजिक प्राणी', किंवा 'ग्राम्यपशु' बन जाना पड़ता है, विवशता वश बना रहना पड़ता है। तब तक बना रहना पड़ता है, जब तक कि यह स्वस्वरूपबोधपूर्वक आत्मबुद्धिनिष्ठ नहीं बन जाता। लोकमानव की इस सामाजिकानुबन्ध की सीमा का क्षेत्र बहु विस्तृत है। व्यक्तिगत शिक्षा–योग्यता–निष्ठा–प्राप्ति के अतिरिक्त इसे अगत्या अपने व्यक्तितन्त्र के साथ साथ पारिवारिक कौटुम्बिक–जातीय–सामाजिक–नागरिक–एवं राष्ट्रिय अनुबन्धों से अनुप्राणित शिक्षा–योग्यता–नैतिकता–आदि का भी लक्ष्य बना रहना पड़ता है, तदनुपात से ही इसे सदसत् परिणामों का अनुगामी बना रहना पड़ता है। यही नहीं, अपितु समाज, किंवा राष्ट्रदोष से स्व-समस्तयोग से स्खलित कालपुरुषानुगत प्राकृतिक मण्डल में घटित विघटित घटना–दुर्घटनाओं का भी इसे फलभोक्ता बना रहना पड़ता है। सुनते हैं एक पापात्मा के विराजमान हो जाने मात्र से सम्पूर्ण नौका ही सरितावक्ष में निमज्जित हो जाया करती है। प्रकृतिविरोध–प्रकृतिवैषम्य–जनपदोध्वंसिनी–महामारी–अतिवृष्टि–स्वल्पवृष्टि–अवृष्टि–करकापात–हिमपात–उल्कापातविद्युत्वज्रपात–आदि आदि प्राकृतिक महाद्भवों से इस सामाजिक प्राणी के व्यक्तितन्त्र को भी अवश्य ही दण्डित होना पड़ता है। किंवा इन सब झञ्झावातों के निग्रहानुग्रह का फलाफल–कुफल–सुफल–उस लोक–ग्राम्य मानव को भी परिस्थितिवश, एवं अपनी सामाजिक ग्राम्य पशुता के अनुपात–तारतम्य से भोगना ही पड़ता है, जिस लोकमानव ने स्वप्न में भी प्रकृतिविरुद्ध कर्मात्मक अधर्मपथ का सस्मरण भी तो नहीं किया था। इसी दिशा में तो 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' को चरितार्थ होने का अवसर प्राप्त हुआ करता है। निष्कर्षतः–तात्कालिक सम–विषम सामाजिक राष्ट्रिय वातावरणों के तात्कालिक प्रभाव से निर्दोष भी भावुक लोकमानव सर्वात्मना स्वभाण करने में असमर्थ ही बना रहता है।

जो महामानव, अलौकिक परिपूर्ण मानव, आधिकारिक पुरुषोत्तम मानव एवंविध संघर्षात्मक–प्रतिद्वन्द्वितात्मक विभीषिकामय संक्रमणकालानुबन्धी विषम वातावरणों का भी अतिक्रमण कर निराकुल–सुशान्त–धीर–दृढ़नैतिक–अविकम्पित बने रहते हुए नैगमिक पथ पर आरूढ़ रहते हैं, वे ही मानव वास्तव में 'मानव' जैसी सर्वश्रेष्ठतम अभिधा के पात्र माने गए हैं। तथाकथित महाभारतात्मक संक्रमणात्मक युग में समस्त भारत में ही क्या, अपितु सम्पूर्ण विश्व में तथाविध विषमकालात्मक भयावह अशान्त–क्षुब्ध–बीभत्स–उत्तेजक–वातावरण से अपने आपको एकान्ततः असंस्पृष्ट बनाए रखने में केवल चार ही अतिमानव–लोकोत्तरमानव–सर्वात्मना समर्थ प्रमाणित हुए ये हमारी धारणा से भी, एवं तद्युग की आस्तिक मान्यता से भी। चारों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण मानव उस युग में कालप्रभाव से आक्रान्त थे, कुछ एक मानव तो स्वदोषात्मिका प्रज्ञास्खलनरूपा अपनी भावुकता से, एवं कुछ एक सामाजिक

दिव्यातिमानव आरण्यक ही है, एव यह 'मानव' ही है, देव ही है। दूसरा मन शरीरयुक्त चान्द्र यथाबात मानव ग्राम्य ही है, यह 'पशु' ही है। इसी के लिए संस्कृतसाहित्य में 'देवानां प्रिय' अभिधा व्यवहृत हुई है, जिस अभिधा को निगमनिष्ठामार्ग से स्खलित भावुकतापूर्णमतवादाभिनिविष्ट अमुक भारतीय भावुक सम्राटोंने (अशोकादिने) भी अन्वर्थ बनाया है।

प्रसङ्ग प्रकान्त है 'भावुकता' से सम्बन्ध रखने वाले असदाख्यान का। निष्ठा जहाँ विद्याबुद्धि का सहज धर्म्म है, वहाँ भावुकता मन का सहज भाव है। इस दृष्टि से आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक आरण्यक और मानव, एवं मन शरीरयुक्त भावुक ग्राम्य चान्द्र मानव, दोनों में से भावुक ग्राम्य मानव को ही हम पशुमीमांसाप्रसङ्ग में प्रधान मानेंगे, एवं इसी लोकमानव के माध्यम से हम महामायानुगत विमोहन की मीमांसा करेंगे। आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक महामानव तो 'निर्म्मानमोहा'-जितसंगदोषा'' इत्यादि के अनुसार इस प्रक्रान्त मीमांसा से सर्वात्मना असंस्पृष्ट ही माने जायेंगे। 'ज्ञानिनामपि० बलादाकृष्य मोहाय०' इत्यादि महामायाम्मोहपाशाक्रमण के लक्ष्य पशुमानव-ग्राम्यमानव-लोकमानव-मन शरीरयुक्त मानव-भावुकमानव ही बना करते हैं, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है।

'मानव सामाजिक प्राणी है' इस लोकमान्यता की मीमांसा में प्रवृत्त होने से पूर्व ही हमें मानव के पूर्वप्रतिपादित आरण्यक, ग्राम्य, दोनों अलौकिक-लौकिक वर्गों को लक्ष्य बना लेना चाहिए। अलौकिक मानव को वस्तुतस्तु 'आरण्यक' कहना भी उसकी परिपूर्णता पर आक्रमण ही करना है। वह स्व-स्वरूपतः आत्मबुद्ध्यपेक्षया एकान्तनिष्ठ बनता हुआ जहाँ आरण्यक है, वहाँ लोकसंग्रहभाव के लिए मनःशरीरापेक्षया समाजनिष्ठ बनता हुआ वह ग्राम्य भी प्रतीत होने लगता है। वह दोनों है, दोनों ही नहीं है, सब कुछ है, अव्यवत् सर्वधर्म्मोपपन्न है। अतएव लोकदृष्ट्या वैसा महामानव ग्राम्यलौकिक मानवदृष्ट्या सर्वथा अमीमांस्य है। मीमांस्य है केवल मनःशरीरयुक्त भावुक वह लौकिक मानव, जो अपने सहज आत्मबुद्धिलक्षण नैष्ठिक स्वरूप को प्रयत्न-प्रमाद-द्वारा विस्मृत करता हुआ सहसा पशुसमानधर्म्मा बनता हुआ पशुवत् किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। ऐसा है यह लौकिक ग्राम्य (सामाजिक) पशुमानव, जिसके लौकिक स्वरूप विश्लेषण के लिए हमें मानव के दो वर्गों की रूपरेखा उपस्थित करनी पड़ी। अभी एक तीसरा लौकिक ग्राम्य मानववर्ग और मीमांस्य है, जो अविद्याबुद्धिसहकृता असभिज्ञा का महापात्र बनता हुआ भावुक मानव को सतत उत्पीड़ित किया करता है। प्रतीक्षा कीजिए उस असभिज्ञ दानवमानव की असत्स्वरूपमीमांसा की कुछ काल पर्य्यन्त।

(लोकदृष्ट्या)—मानव आरण्यक पशु नहीं है, अपितु 'ग्राम्यपशु' है, समूहात्मक पशु है, समष्टि में आवासनिवास विचरण करने वाला 'सामूहिक प्राणी' है, जिसका अर्थ किया जाता है वर्त्तमानयुग के नितान्त भावुक समाजशास्त्रियों के द्वारा 'सामाजिक प्राणी'। मानव की-लोकमानव की-ग्राम्यमानव की- नागरिक मानव की-किंवा वर्त्तमान भावुकभाषाव्यवहार की अपेक्षा राष्ट्रिय मानव की वैय्यक्तिक-

पारिवारिक–कौटुम्बिक–जातीय–सामाजिक–नागरिक–राष्ट्रिय आदि आदि कुछ एक ऐसी अनिवार्य आवश्यकता–परम्पराएँ हैं, जिन का अनुगामी बने रहना, जिनके प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण किए रहना, मानव का–लोकमानव का अनन्य कर्त्तव्य बना रहता है। इस सामूहिक कर्त्तव्यानुगति के कारण ही लोकमानव को 'सामाजिक प्राणी', किंवा 'ग्राम्यपशु' बन जाना पड़ता है, विवशता वश बना रहना पड़ता है। तब तक बना रहना पड़ता है, जब तक कि यह स्वस्वरूपबोधपूर्वक आत्मबुद्धि निष्ठ नहीं बन जाता। लोकमानव की इस सामाजिकानुबन्ध की सीमा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। व्यक्तिगत शिक्षा–योग्यता–निष्ठा–आदि के अतिरिक्त इसे अगत्या अपने व्यक्तितन्त्र के साथ साथ पारिवारिक कौटुम्बिक–जातीय–सामाजिक–नागरिक–एवं राष्ट्रिय अनुबन्धों से अनुप्राणित शिक्षा–योग्यता–नैतिकता–आदि का भी लक्ष्य बना रहना पड़ता है, तदनुपात से ही इसे तदसत् परिणामों का अनुगामी बना रहना पड़ता है। यही नहीं, अपितु समाज, किंवा राष्ट्रदोष से स्व-समस्वयोग से स्खलित कालपुरुषानुगत प्राकृतिक मण्डल में घटित विघटित घटना–दुर्घटनाओं का भी इसे फलभोक्ता बना रहना पड़ता है। सुनते हैं एक पापात्मा के विराजमान हो जाने मात्र से सम्पूर्ण नौका ही सरितातल में निमज्जित हो जाया करती है। प्रकृतिविरोध–प्रकृतिवैषम्य–जनपदोध्वंसिनी–महामारी–अतिवृष्टि–स्वल्पवृष्टि–अवृष्टि–करकापात–हिमपात–उल्कातारावित्युत्प्रपात–आदि आदि प्राकृतिक महादण्डों से इस सामाजिक प्राणी के व्यक्तितन्त्र को भी अवश्य ही दण्डित होना पड़ता है। किंवा इन सब झञ्झावातों के निग्रहानुग्रह का फलाफल–कुफल–सुफल–उस लोक–ग्राम्य मानव को भी परिस्थितिवश, एवं अपनी सामाजिक ग्राम्य-पशुता के अनुपात–तारतम्य से भोगना ही पड़ता है, जिस लोकमानव ने स्वप्न में भी प्रकृतिविरुद्ध कर्म्मात्मक अधर्म्मपथ का स्मरण भी तो नहीं किया था। इसी दिशा में तो **'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'** को चरितार्थ होने का अवसर प्राप्त हुआ करता है। निष्कर्षत–तात्कालिक सम–विषम सामाजिक राष्ट्रिय वातावरणों के तात्कालिक प्रभाव से निर्दोष भी भावुक लोकमानव सर्वात्मना स्वत्राण करने में असमर्थ ही बना रहता है।

जो महामानव, अलौकिक परिपूर्ण मानव, आधिकारिक पुरुषोत्तम मानव एवंविध समष्ट्यात्मक–प्रतिद्वन्द्वितात्मक विभीषिकामय सङ्क्रमणकालानुबन्धी विषम वातावरणों का भी अतिक्रमण कर निराकुल–सुशान्त–धीर–दृढ़नैतिक–अविकम्पित बने रहते हुए नैगमिक पथ पर आरूढ़ रहते हैं, वे ही मानव वास्तव में 'मानव' जैसी सर्वश्रेष्ठतम अभिधा के पात्र माने गए हैं। तथाकथित महाभारतात्मक सङ्क्रमणात्मक युग में समस्त भारत में ही क्या, अपितु सम्पूर्ण विश्व में तथाविध विषमकालात्मक भयावह अशान्त–क्षुब्ध–बीभत्स–उत्तेजक–वातावरण से अपने आपको एकान्ततः असंस्पृष्ट बनाए रखने में केवल चार ही अतिमानव–लोकोत्तरमानव–सर्वात्मना समर्थ प्रमाणित हुए ये हमारी धारणा से भी, एवं तद्युग की आस्तिक मान्यता से भी। चारों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण मानव उस युग में कालप्रभाव से आक्रान्त थे, कुछ एक मानव तो स्वदोषात्मिका प्रज्ञास्खलनरूपा अपनी भावुकता से, एवं कुछ एक सामाजिक

राष्ट्रिय–भावानुगत वातावरण दोष से, जिसे आस्तिकप्रजा 'कालप्रभाव' नाम से घोषित किया करती है। पूर्णावतार पूर्णेश्वर स्वयं भगवान् वासुदेवश्रीकृष्ण, पूर्णज्ञानवैराग्यनिष्ठ पुराणपुरुष भगवान् कृष्ण द्वैपायन (व्यास), सत्यव्रती सूनु भीष्मप्रतिज्ञ महाप्राण महात्मा दृढव्रत (भीष्मपितामह), एवं धर्म-राजनीतितत्त्वरहस्यवेत्ता महात्मा विदुर, इन चार अतिमानवों के अतिरिक्त महाभारतकालीन सम्पूर्ण मानवसमाज ही स्वयं मानव के वैय्यक्तिक–पारिवारिक–कौटुम्बिक–सामाजिक–एवं राष्ट्रिय, आदि में से किसी न किसी विषमभावापन्न कालदोष के प्रभाव से महामाया जगदम्बा के सहज–वात्सल्यपरिपूर्ण अनुग्रह से वञ्चित रहता हुआ लक्ष्यच्युत बन कर–'धार्मिनामपि धर्तास्मि०' इत्यादि पूर्वादृष्टा रहस्य-वाणी को चरितार्थ कर रहा था, जिस चरितार्थता की कोटि में सन्नीभूत हमारे ऐतिहासिक उस प्रधान पात्र का भी समावेश हो पड़ा था उसकी सहज भावुकता से, जो ऐतिहासिक सर्वगुणसम्पन्न नरपुङ्गव तद्युग में 'पार्थ, महाबाहु' आदि प्रशस्त सम्बोधनों से यत्रतत्र उपवर्णित होता हुआ सुप्रसिद्ध 'अर्जुन' नाम की नरावतार–इन्द्रावतार–निष्ठा को भी अभिव्यक्त कर रहा था ०।

---

० प्रसिद्ध है कि, पाँचों पाण्डुपुत्र आधिदेवताओं के अंश से ही समुत्पन्न थे। धर्म से युधिष्ठिर की, वायु से भीम की, इन्द्र से अर्जुन की, एवं नासत्य–दस्र नामक दोनों अश्विनीकुमारों से नकुल–तथा सहदेव की उत्पत्ति हुई थी। 'अर्जुन' वास्तव में प्राकृतिक सौर इन्द्रप्राण का गुप्त–परोक्ष नाम है, प्रातिस्विक अभिधा है। जैसे लोक में श्रेष्ठ सम्मान्य मानव का जन्मानुगत प्रातिस्विक नाम व्यवहार में लाना अशिष्टता अभद्रता माना जाता है, तथैव इन्द्र को भी 'अर्जुन' इस प्रातिस्विक नाम से सम्बोधित करना एक प्रकार का सभ्यतानुबन्धी शिष्टताविरोधी 'आगः' (अपराध) माना गया है। अतएव ब्राह्मणग्रन्थों में इन्द्र को 'अर्जुन' इस प्रातिस्विक अभिधा से सम्बोधित न कर 'इन्द्र' इस यौगिकार्थानुगत प्रत्यक्ष नाम से ही व्यवहृत किया गया है। नरावतार अर्जुन में इन्द्र का व्यक्तिगत प्राणांश ही अवतरित हुआ था। अतएव इसे 'अर्जुन' इस इन्द्र के व्यक्तिगत नाम से ही व्यवहृत करना अन्वर्थ माना गया। 'इन्द्र' और 'अर्जुन' शब्दों के इस रहस्यार्थ का विश्लेषण निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से भलीभाँति व्यक्त हो जाता है—

"अर्जुनो ह वै नामेन्द्र, यदस्य गुह्यं नाम। को ह्येतस्यार्हति
गुह्यं नाम ग्रहीतुम्"।

—शत० ब्रा० २।१।२।११।

"इन्द्र का वास्तविक वैय्यक्तिक नाम इसके शुक्ल–धवल–ज्योतिर्मयभाव के कारण ही 'अर्जुन' है, जो कि नाम सर्वथा गुह्य है परोक्ष माना गया है। भला किस में यह साहस है कि, जो देवाधिपति अतएव 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध इस त्रैलोक्याधिष्ठाता सौरप्राणदेवता के परोक्ष [illegible] में उच्चारण कर सके'।

६–महाभारतयुगानुगता संक्रमणावस्था—

नरावतार–इन्द्रावतार–पार्थ अर्जुन को 'भावुकतानिबन्ध' का सूत्राधार मानने से पूर्व हमें तत्कालीन महाभारतयुग की सम–विषम कालिक, दैशिक, राष्ट्रीय स्थिति–परिस्थितियों को विहङ्गमदृष्ट्या लक्ष्य बना लेना होगा। अपनी विशेष गुण–विभूति के तारतम्य से ज्योतिःशास्त्रसम्मत द्वादशभाववत् द्वादश (१२) श्रेणिविभागों–वर्गों–में विभक्त इस सामाजिक मानव प्राणी के १२ हों वर्ग महाभारतयुग में सर्वात्मना समुपलब्ध थे, जैसा कि द्वितीय खण्डात्मिका मानवस्वरूपमीमांसा में इन द्वादश मानववर्गों की स्वरूप दिशा का स्पष्टीकरण होने वाला है। उत्कृष्ट–उत्कृष्टतर–उत्कृष्टतम, एवं निकृष्ट–निकृष्टतर–निकृष्टतम–मानव की सभी श्रेणियाँ महाभारतयुग को समलङ्कृत कर रहीं थीं। एक दूसरी श्रेणि के मानवीय गुण दोष मानव के सहज सामाजिक–भावानुबन्धन के कारण, पारस्परिक आदान–प्रदान सम्बन्ध के कारण परस्पर संक्रान्त थे। यही कारण था कि, उस युग में बड़े से बड़ा धार्म्मिक मानव भी तात्कालिक वातावरण से तात्कालिकरूप से प्रभावित होकर प्रकृतिविरुद्ध अधर्म्मपथ का तात्कालिक समर्थन कर बैठता था। क्या धृतराष्ट्र धर्म्म–बुद्धिशून्य थे ? नहीं। किन्तु कालदोषात्मक वातावरणदोष से इन्हें भी अनेक बार अपने मनोभावों में समविषम परिवर्त्तन करने पड़े। क्या गुरुद्रोण का कौरवों की ओर से युद्ध में समाविष्ट होना धर्म्मपथ था ? । क्या द्यूतकर्म्मावसर पर भारतीय नारी की निर्लज्जता के रोमाञ्चकर वातावरण को देखते हुए भी वहाँ के सभासदों का मौनवृत्ति से तटस्थ–दर्शकमात्र बने रह जाना नैतिकता थी ? । वस्तुतः–महाभारतयुग का वातावरण ही एक अभूत–अदृष्टपूर्व घोर–घोरतम सर्वघातक संक्रमणकाल प्रमाणित होरहा था। पूर्व क्षण में यदि उस युग में किसी का उद्बोधन कराया जाता था, तो उत्तर क्षण में ही पुनः यह उद्बोधन स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाता था। उद्बोधन कराने वाले वासुदेव, व्यासादि थक थक जाते थे उद्बोधन कराते कराते। किन्तु उद्बोधन के पात्र उद्बोधनपथों को अविलम्ब विस्मृत कर देने में यत्किञ्चित् भी तो शिथिलता प्रदर्शित नहीं करते थे। स्थिरता–दृढ़ता–निष्ठा–धृति–आदि से सर्वात्मना वञ्चित एक ओर का विशुद्ध भावुकतापूर्ण महाभारतयुग, तो दूसरी ओर का शकुनि–कर्ण–दुर्योधन–दुःशासन–आदि जैसे कुशल नीतिनिष्ठ मानवों का सुदृढ़ अर्थनिष्ठात्मक युग। परस्परात्यन्तविरुद्ध भावों का कैसा अद्भुत–आश्चर्य्यप्रद समन्वय था उस युग में, जिस युग में मानव का अपने वैय्यक्तिक तन्त्र को सुशान्त–सुस्थिर–सुनिष्ट–निराकुल–निरापद बनाए रख लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भवप्राय ही था।

तथाकथित राजनैतिक क्षेत्र की भाँति धार्म्मिक–सांस्कृतिक–साहित्यिक क्षेत्र की भी ऐसी ही संक्रमणावस्था प्रक्रान्त थी उस युग में। वस्तुतस्तु यह संक्रमणावस्था ही तो नैतिक–संक्रमणावस्था की जननी बनी थी। यद्यपि—आस्तिकप्रजा से यह भारतीय सिद्धान्त परोक्ष नहीं है कि, विकृतिस्थानीया पार्थिव मानवप्रजा अपने मूलभूत प्राकृतिक विसत्त्व–प्राकृतिक–नियम के विरुद्ध जब उत्पथ–गमन में प्रवृत्त हो जाती है, तो प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है। प्रकृति का यह प्रारम्भिक क्षोभ ही भूकम्प–महामारी आदि कोपों का जनक बनता हुआ पार्थिव प्रजा के उत्पीडन के द्वारा इसके उद्बोधन का प्रारम्भिक प्रयास करता है।

यदि इसकी उपेक्षा कर लक्ष्यच्युत मानव स्वेच्छया अधिकाधिक उच्छृङ्खल बनने लगता है, तो तदनुपात में ही प्रकृति भी अधिकाधिक क्षुब्ध होने लगती है। जब यह प्राकृतिक क्षोभ निःसीम बन जाता है, प्राकृतिक सनातन नियमरूपात्मक सनातनधर्म मानव के प्रज्ञापराध से अभिभूत हो जाता है, तो प्रकृतिसहयोगी चेतनपुरुष विकम्पित हो पड़ता है, जिसका परिणाम होता है चिदंश का प्रकृति के द्वारा योगमायामाध्यम से पार्थिव आधिकारिक अवतरण, यही अवतारसिद्धान्त का रहस्यार्थ है। धर्मग्लानि के उपशम के लिए ही भगवदवतार हुआ करते हैं, जैसा कि 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति०' इत्यादि आगमवचन से प्रमाणित है। पूर्णकलापेत (षोडशकलापत्र प्रजापति की सोलह कलाओं से संयुक्त), अतएव 'पूर्णावतार' नाम से उपवर्णित भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण का अवतार ही स्वरूप से महाभारतयुगानुगता धर्मग्लानि का, परिपूर्ण प्राकृतिक क्षोभ का, मानवीय आत्यन्तिक स्खलन का समर्थक बना हुआ है।

धर्म की मूलप्रतिष्ठा है निगमशास्त्र—'वेदात् धर्मो हि निर्बभौ' (मनुः)। निगमाम्नाय जब जब मानव के प्रज्ञापराध से अभिभूत हो जाता है, तब तब ही वेदसिद्ध सनातनधर्म अधर्म से अभिभूत हो जाता है, अतएव मानना पड़ेगा कि, महाभारतयुगीय संघर्षात्मक क्षोभात्मक भावों का मूलकारण निगमाम्नाय का अभिभव ही था। निगमाम्नायमूलक विधि—विधान उसी प्रकार उस युग में अभिभूत हो गए थे, जैसे कि वर्त्तमानयुग में मानवप्रजा की अमर्य्यादा से वेदाम्नायपरम्परा सर्वात्मना स्मृतिगर्भ में विलीन हो गई है। तत्-युगों में तत्तद्युगों के महर्षि अभिभूत वेदाम्नाय को पुनः पुनः अभिव्यक्त करते हुए धर्मसंरक्षण में प्रयत्नशील* बने रहते हैं। इनका प्रयत्न जब उपरत हो जाता है, तो उस स्थिति में पुरुषोत्तम को अवतार धारण करना पड़ता है।

तथोपवर्णित महाभारतयुगीय राजनैतिक क्षेत्र की, सामाजिक—पारिवारिक जातीय—भावों की दुर्व्यवस्था का मूलकारण था निगमाम्नायसम्मत आत्मबुद्धिलक्षण बुद्धियोगपथ की विस्मृति। नैगमिक आम्नाय ही धर्म्म का, धर्म ही साहित्य का, साहित्य ही संस्कृति का, एवं संस्कृति ही सभ्यता का परम्परया आधार बना करते हैं। निगमाम्नाय की विलुप्ति के दुष्परिणामस्वरूप उसकी धर्म्मनिष्ठा, तदनुप्राणिता साहित्यनिष्ठा (शास्त्रनिष्ठा), तदभिन्ना संस्कृति, तन्मूला सभ्यता (श्रौतस्मार्त्त आचार—व्यवहार—शिष्टता आदि) आदि जब दीनहीन दशा को प्राप्त हो गए, तो तत्प्रकार की पारिवारिक—सामाजिक—राजनैतिक दीनहीन दशा का जन्म हुआ। उदाहरण के लिए हिरण्यगर्भ महर्षि के द्वारा उद्भाविता प्रकृतिप्रधाना मनयशालिका कर्म्मलक्षणा 'योगनिष्ठा' सर्वथा स्वतन्त्ररूप से प्रगतिशील बन चुकी थी उस युग में निगमाम्नाय से वञ्चित रहने के कारण। उधर महर्षि कपिल के द्वारा उद्भाविता कर्म्मत्यागलक्षणा 'सांख्यनिष्ठा' स्वतन्त्र

* युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥

रूप से ही अपना डिण्डिमघोष अव्यक्तरूप से व्यक्त कर रही थी। इन दोनों शास्त्रीय निष्ठाओं में परस्पर असहमाहिष्य प्रक्रान्त था। परिणामस्वरूप तद्राष्ट्र में विभिन्न इस प्रकार के दो विरोधी सम्प्रदाय बन गए थे, जो अपनी अपनी निष्ठा के यशोगान में ही तल्लीन बने रहते हुए पारस्परिक दोषान्वेषणमूला भावुकता को ही अपना मुख्य पुरुषार्थ मान बैठे थे। विवस्वान् से सम्बन्धित देवयुग से आरम्भ होकर अमुक युग पर्यन्त आचार्य–अन्तेवासी परम्परारूप से अविच्छिन्नरूप से प्रक्रान्त बनी रहने वाली उभय समन्वयात्मिका आत्मबुद्धिमूला बुद्धियोगनिष्ठा महाभारत युग में आकर निष्ठाद्वयी के काल्पनिक–अकल्पित कलहात्मक–कलियात्याहित संघर्ष से सर्वथा विलुप्त–अभिभूत हो गई थी।

इस स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, धर्मनिष्ठा का स्थान वर्त्तमान युग की भाँति उस युग में मतवाद ने ही ग्रहण कर लिया था। निगमनिष्ठा का स्थान मतवादानुगता भावुकता ने ग्रहण कर लिया था। धर्म का नीति ने अभिभव कर डाला था। जो नीति–राजनीति नैगमिक प्राकृतिक धर्म के स्वरूप–संरक्षण के लिए विहित थी, वह मतवादानुग्रह से अनीतिलक्षणा विशुद्ध–धर्मनिरपेक्षा नीति बनती हुई धर्म की उपेक्षा, अधर्म के समर्थन में ही अपना सत्तागौरव–अनुभूत करने लगी थी। एवं इसी एकमात्र नैगमिकधर्मबहिष्कृता, धर्मभीरुत्वानुगता अनीतिलक्षणा स्वार्थलिप्सापरिपूर्णा महाभारतयुगानुगता नीति ने पूर्वोपवर्णिता संक्रमणावस्था को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था और उस प्रकार राष्ट्र के धार्मिक–साहित्यिक–सांस्कृतिक–संघर्षात्मक–संक्रमणात्मक वातावरण से तत्कालीन वैय्यक्तिक–पारिवारिक–जातीय–सामाजिक–राष्ट्रिय वातावरण सर्वात्मना संक्रमणात्मक बनता हुआ मतवादानुगता सांख्य–योगनिष्ठा की भाँति भावुकवर्ग असक्लिष्टवर्ग रूप से दो मार्गों में विभक्त होता हुआ असहमाहिष्यवत् परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का अनुगामी बन चला था। कर्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा को आदर्श मान लिया था धर्मभीरु सहज भावुक मानववर्ग ने, एवं कामनालक्षणा योगनिष्ठा को मूल बना लिया था असत्कर्मलिप्सु सहजनिष्ठ मानववर्गने। धर्मकर्मोभयसमन्वयात्मिका बुद्धियोग निष्ठा यों महाभारतकाल में–'**एकं सांख्यञ्च योगञ्च**' सिद्धान्त को सर्वात्मना विस्मृत कर '**सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति**' को सर्वात्मना चरितार्थ बना चुकी थी।

यह सर्वथा स्वाभाविक है कि, अवश्य ही राष्ट्र के सामाजिक, एवं राजनैतिक वातावरण के साथ साथ धार्मिक–सांस्कृतिक–संघर्षमय वातावरण से भी मानव अपने आप को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। एवं वैसा मानव, जो सहजरूप से दिव्य–सात्त्विक–गुणों से जन्मतः समन्वित रहता हुआ धर्म परायण है, वह तो अपनी सहज मृदुता–कोमलता के कारण अवश्य ही ऐसे संघर्षात्मक–संक्रमणात्मक–युग में स्खलित–चलितप्रज्ञ बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। असन्निष्ठ, किंवा कुनिष्ठ मानवा भास–मानव स्वार्थासक्त बना रहता हुआ जहाँ ऐसे संघर्षात्मक राष्ट्रभयसमाकुलित–अशान्त वातावरणों से स्वार्थलिप्सालाभ उठाने में कुशल बन जाता है, वहाँ सभिष्ठ–सुकोमलमति–धर्मपरायण (धर्मभीरु) मानव इस प्रकार के संघर्षात्मक वातावरणों में सहयोगदान की अपेक्षा भिक्षावृत्ति का अनुगामी बन

यदि इसकी उपेक्षा कर लक्ष्यच्युत मानव आवेशवश अधिकाधिक उच्छृङ्खल बनने लगता है, तो तदनुपात से ही प्रकृति भी अधिकाधिक क्षुब्ध होने लगती है। जब यह प्राकृतिक क्षोभ निःसीम बन जाता है, प्राकृतिक सनातन नियमसंघात्मक सनातनधर्म्म मानव के प्रज्ञास्खलन से अभिभूत हो जाता है, तो प्रकृतिसहयोगी चेतनपुरुष विकम्पित हो पड़ता है, जिसका परिणाम होता है चिदंश का प्रकृति के द्वारा योगमायामाध्यम से पार्थिव आधिकारिक अवतरण, यही अवतारसिद्धान्त का रहस्यार्थ है। धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए ही भगवदवतार हुआ करते हैं, जैसा कि 'यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति०' इत्यादि आगमवचन से प्रमाणित है। पूर्णकलापेत (षोडशकलोपेत प्रजापति की सोलह कलाओं से संयुक्त), अतएव 'पूर्णावतार' नाम से उपवर्णित भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण का अवतार ही स्वरूप से महाभारतयुगानुगता धर्म्मग्लानि का, परिपूर्ण प्राकृतिक क्षोभ का, मानवीय आत्यन्तिक स्खलन का समर्थक बना हुआ है।

धर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है निगमशास्त्र-'वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ' (मनु)। निगमाम्नाय जब जब मानव के प्रज्ञापराध से अभिभूत हो जाता है, तब तब ही वेदसिद्ध सनातनधर्म्म अधर्म्म से अभिभूत हो जाता है, अतएव मानना पड़ेगा कि, महाभारतयुगीय संघर्षात्मक क्षोभात्मक भावों का मूलकारण निगमाम्नाय का अभिभव ही था। निगमाम्नायमूलक विधि-विधान उसी प्रकार उस युग में अभिभूत हो गए थे, जैसे कि वर्त्तमानयुग में मानवप्रजा की अमर्य्यादा से वेदाम्नायपरम्परा सर्वात्मना स्मृतिगर्भ में विलीन हो गई है। तत्तद्युगों में तत्तद्युगों के महर्षि अभिभूत वेदाम्नाय को पुनः पुनः अभिव्यक्त करते हुए धर्म्मसंरक्षण में प्रयत्नशील * बने रहते हैं। इनका प्रयत्न जब उपरत हो जाता है, तो उस स्थिति में पूर्णेश्वर को अवतार धारण करना पड़ता है।

तथोपवर्णित महाभारतयुगीय राजनैतिक क्षेत्र की, सामाजिक-पारिवारिक जातीय-भावों की दुर्व्यवस्था का मूलकारण था निगमाम्नायसम्मत आत्मबुद्धिलक्षण बुद्धियोगपथ की विस्मृति। नैगमिक आम्नाय ही धर्म्म का, धर्म्म ही साहित्य का, साहित्य ही संस्कृति का, एवं संस्कृति ही सभ्यता का परम्परया आधार बना करते हैं। निगमाम्नाय की विलुप्ति के दुष्परिणामस्वरूप उसकी धर्म्मनिष्ठा, तदनुप्राणिता साहित्यनिष्ठा (शास्त्रनिष्ठा), तन्मिका संस्कृति, तन्मूला सभ्यता (श्रौतस्मार्त्त आचार-व्यवहार-शिष्टता आदि) आदि जब दीनहीन दशा को प्राप्त हो गए, तो तत्प्रकार की पारिवारिक-सामाजिक-राजनैतिक दीनहीन दशा का जन्म हुआ। उदाहरण के लिए हिरण्यगर्भ महर्षि के द्वारा उद्भाविता प्रवृत्तिप्रधाना यज्ञयज्ञात्मिका कर्म्मलक्षणा 'योगनिष्ठा' सर्वथा स्वतन्त्ररूप से प्रगतिशील बन चुकी थी उस युग में निगमाम्नाय से वञ्चित रहने के कारण। उधर महर्षि कपिल के द्वारा उद्भाविता कर्म्मत्यागलक्षणा 'सांख्यनिष्ठा' स्वतन्त्र

---

* युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥

रूप से ही अपना डिरिडमघोष अभ्यक्तरूप से व्यक्त कर रही थी। इन दोनों शास्त्रीय निष्ठाओं में परस्पर अश्वमाहिष्य प्रक्रान्त था। परिणामस्वरूप तद्राष्ट्र में विभिन्न इस प्रकार के दो विरोधी सम्प्रदाय बन गए थे, जो अपनी अपनी निष्ठा के यशोगान में ही तल्लीन बने रहते हुए पारस्परिक दोषान्वेषणमूला भावुकता को ही अपना मुख्य पुरुषार्थ मान बैठे थे। विवस्वान् से सम्बन्धित देवयुग से आरम्भ होकर अमुक युग पर्य्यन्त आचार्य–अन्तेवासी परम्परारूप से अविच्छिन्नरूप से प्रक्रान्त बनी रहने वाली उभय समन्वयात्मिका आत्मबुद्धिमूला बुद्धियोगनिष्ठा महाभारत युग में आकर निष्ठाद्वयी के काल्पनिक–अकल्पित कलहात्मक–कलिवात्याहित संघर्ष से सर्वथा विलुप्त–अभिभूत हो गई थी।

इस स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, धर्म्मनिष्ठा का स्थान वर्त्तमान युग की भाँति उस युग में मतवाद ने ही ग्रहण कर लिया था। निगमनिष्ठा का स्थान मतवादानुगता भावुकता न ग्रहण कर लिया था। धर्म्म का नीति ने अभिभव कर डाला था। जो नीति–राजनीति नैगमिक प्राकृतिक धर्म्म के स्वरूप–संरक्षण के लिए विहित थी, वह मतवादानुग्रह से अनीतिलक्षणा विशुद्ध–धर्म्मनिरपेक्षा नीति बनती हुई धर्म्म की उपेक्षा, अधर्म्म के समर्थन में ही अपना सत्तागौरव–अनुभूत करने लगी थी। एवं इसी एकमात्र नैगमिकधर्म्मबहिष्कृता, धर्म्मभीरुतानुगता अनीतिलक्षणा स्वार्थलिप्सापरिपूर्णा महाभारतयुगानुगता नीति ने पूर्वोपवर्णिता संक्रमणावस्था को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था और उस प्रकार राष्ट्र के धार्म्मिक–साहित्यिक–सांस्कृतिक–संघर्षात्मक–संक्रमणात्मक वातावरण से तत्कालीन वैय्यक्तिक–पारिवारिक–जातीय–सामाजिक–राष्ट्रिय वातावरण सर्वात्मना संक्रमणात्मक बनता हुआ मतवादानुगता सांख्य–योगनिष्ठा की भाँति **भावुकवर्ग असत्निष्ठवर्ग** रूप से दो भागों में विभक्त होता हुआ अश्वमाहिष्यवत् परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का अनुगामी बन चला था। कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा को आदर्श मान लिया था धर्म्मभीरु सहज भावुक मानववर्ग ने, एवं कामनालक्षणा योगनिष्ठा को मूल बना लिया था असत्कर्म्मलिप्सु सहजनिष्ठ मानववर्गने। धर्म्मकर्म्मोभयसमन्वयात्मिका बुद्धियोग निष्ठा यों महाभारतकाल में–'**एकं सांख्यञ्च योगञ्च**' सिद्धान्त को सर्वात्मना विस्मृत कर '**सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति**' को सर्वात्मना चरितार्थ बना चुकी था।

यह सर्वथा स्वाभाविक है कि, अवश्य ही राष्ट्र के सामाजिक, एवं राजनैतिक वातावरण के साथ साथ धार्म्मिक–सांस्कृतिक–संघर्षमय वातावरण से भी मानव अपने आप को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। एवं वैसा मानव, जो सहजरूप से दिव्य–सात्त्विक–गुणों से जन्मतः समन्वित रहता हुआ धर्म्म परायण है, वह तो अपनी सहज ऋजुता–कोमलता के कारण अवश्य ही ऐसे संघर्षात्मक–संक्रमणात्मक–युग में स्खलित–चलितप्रज्ञ बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। असन्निष्ठ, किंवा कुनिष्ठ मानवाभास–मानव स्वार्थासक्त बना रहता हुआ जहाँ ऐसे संघर्षात्मक राष्ट्रभयसमाकुलित–अशान्त वातावरणों से स्वार्थलिप्सालाभ उठाने में कुशल बन जाता है, वहाँ सन्निष्ठ–सुकोमलमति–धर्म्मपरायण (धर्म्मभीरु) मानव इस प्रकार के संघर्षात्मक वातावरणों में सहयोगदान की अपेक्षा भिक्षारुचि का अनुगामी बन

जाता यहीं अधिक उत्तम पक्ष मान बैठता है, जैसा कि-'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' (गी० २।५)-'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः, किन्तु महीकृते' इत्यादि भावुकमानवभेद्योद्‌गारों से स्पष्ट है। यही महाभारतकालानुगता उस संक्रमणावस्था का संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है, जिसके माध्यम से ही हमें महा मायानुगत आत्मविमोहन-समाधान की चर्चा करनी है।

(१०) तथाविध संक्रमणकाल, एवं सामाजिक मानव का विमोहन—

प्रलभिज्ञ प्रसन्मानव जहाँ संक्रमणकालों को स्वार्थलिप्सा-साधन के लिए उपादेयकाल मानते हैं, वहाँ सम्बद्ध समानव ऐसी संघर्षावस्था में सहसा विकम्पित होता हुआ स्वार्थ-परमार्थ-दोनों को विस्मृत कर बैठता है। अतएव इस विमोहन का निमित्त हम कालदोष ही मान सकते हैं, जिसका बीज बनता है 'भावुकता' ही। यदि सन्मानव नैगमिक निष्ठा पर आरूढ़ रहता है, तो कदापि इसका विमोहन नहीं हो सकता। इस दृष्टिबिन्दु से एकमात्र 'भावुकता' को ही हम आत्मविमोहन का अनन्यकारण घोषित करेंगे, जिसका इस भावुक की भावुकतासंरक्षण के व्याज से इन शब्दों में अभिनय किया जा सकता है कि, सामाजिकानुबन्ध ही वह महामोहपाश है, जिसके माध्यम से महामाया जगदम्बा महामानव की सहज सद्बुद्धिनिष्ठा को सहसा आवृत कर लिया करती है। इस महामायानुबन्धी महामोहपाश से आत्मत्राण प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय शेष रह जाता है आस्थाश्रद्धाशील मानव के समीप कि, वह अपनी सहज भावुकता का समाजानुबन्धात्मक संघर्षभाव में अर्पित न कर अपनी इस भावुकता को भावुकता के रूप से ही उस 'महामाया-पीताम्बरा-भगवती के पावन चरणों में ही अनन्यनिष्ठापूर्वक सहजरूप से अर्पित कर दे, जिस आगमीय पद्धति-प्रकार के माध्यम से ही पीताम्बरोपासक, अतएव पीताम्बराचरणसम्बन्धी प्रतिमानव नारायण (वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण) ने अन्ततोगत्वा अपने लक्ष्यच्युत-किंकर्त्तव्यविमूढ़-सखा को पीताम्बरा की शरण में न्यस्त करते हुए ही उसे विजयश्री की मुख्य नीति में सफलता प्रदान करने का महद्यश प्राप्त किया था *।

---

* ऐतिहासिक स्वाध्यायशील भद्रात्माओं से यह परोक्ष नहीं है कि, महाभारतयुद्धप्रसङ्ग में अपने अनन्य सखा-सयुक् व्याक सखा-नरांश अर्जुन को युद्ध में विजयश्री का भोक्ता बनाने के लिए युद्ध से पूर्व ही पीताम्बराराधना में प्रवृत्त किया था। इसी उपासना के बल पर भगवती पीताम्बरा से अर्जुन ने लोक-संघर्ष-विजय का वर प्राप्त किया था, जिस पीताम्बरास्तोत्र का एवंविध सम्पूर्ण इतिवृत्त महाभारत-शान्ति-पर्व में जिस अध्याय से श्रीमद्भगवतगीता आरम्भ होती है, उस अध्याय के पूर्वाध्याय में ही स्पष्ट हुआ है। गीताभक्तों से हम आग्रह करेंगे कि, वे गीता के नवीन संस्करणों में उस अध्याय का भी इसलिए समावेश करने कर देने का निःसीम अनुग्रह करेंगे कि, यही अध्याय वस्तुतः भगवद्गीता का मूलाधार है, जिस मूल के आधार पर पुरुषपुरुष के मुख से गीतोपसंहार में यह आपसूक्ति विनिःसृत हुई है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

—गीता १८।७८।

यद्वा तद्वास्तु । आपातरमणीय भावुकतापरिपूर्णा सभी सामयिक प्रश्नाभासों का यथानुरूप लोकसंग्रहात्मक समाधान सम्भव बन ही जाय, इस भावुकतापूर्णा चिन्ता में कालयापन व्यर्थ है । अर्जुन महासत्त्व था, सन्निष्ठ था, तो उसमें भावुकता का उदय क्यों और कैसे हो गया ?, महामाया ने क्यों ऐसे श्रद्धालु आस्तिक ज्ञाननिष्ठ मानवश्रेष्ठ का आत्मविमोहन कर डाला ?, क्यों वीर धनुर्द्धर पार्थ सहसा इस प्रकार अनाम्यजुष्ट कायरता का अनुगामी बन गया ?, इत्यादि भावुकतापूर्ण प्रश्नाभास के समाधान का उत्तरदायित्व वर्त्तमानयुग के नीरक्षीरविवेकी भावुकतापरिपूर्ण आलोचकों–प्रत्यालोचकों के मनोऽनुरञ्जन के लिए शेष छोड़ते हुए हमें तो उस घटना की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जो ऐतिहासिक घटना हमारे इस प्रस्तुत उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध का मूलाधार प्रमाणित होने वाली है । हाँ, नरावतार जिस अर्जुन को, सर्वगुण–योग्यताशाली जिस पार्थ महाबाहु क्षत्रियश्रेष्ठ को निबन्धमूलाधारभूता जिस आख्यान घटना का मुख्य पात्र बनाया जा रहा है, उसके सम्बन्ध में अवश्य ही एक ऐसी विप्रतिपत्ति शेष रह जाती है, जिसके समन्वय–समाधान के बिना निबन्धोपक्रम निर्मूल सा प्रतीत होने लगता है ।

(११)–निबन्धमाध्यम में महती विप्रतिपत्ति, एवं तत् समाधान—

युधिष्ठिरप्रमुख पाण्डव सर्वात्मना दु:खार्त्त, एवं दुर्योधनप्रमुख कौरव सर्वात्मना सुखी–समृद्ध क्यों और कैसे ?, यह है वह मूल प्रश्न, जिसका हिन्दू मानव की भावुकता के माध्यम से हमें निबन्ध में विश्लेषण करना है । इसके लिए हम महाभारत की ऐतिहासिक घटना को लक्ष्य बना रहे हैं, एवं उस घटना का प्रधान लक्ष्य बनाया जा रहा है महाबाहु पार्थ धनुर्द्धर, किन्तु सहज भावुक 'अर्जुन' को। यही, इसी दशा में एक महती विप्रतिपत्ति, महती समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती है, जिसका हम केवल अपनी भावुकता के माध्यम से ही इस प्रकार समाधान करने के लिए आतुर बनते जा रहे हैं । श्रूयताम् !

प्रकृतिसिद्ध–धर्मधनसमन्वित–लब्धसिद्ध राज्यवैभव से वञ्चित होकर पाण्डुपुत्रों का सर्वथा दीन हीन–दशा में अनाथवत् इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बने रहने का प्रधान उत्तरदायित्त्व किस पर ? यह प्रश्न है । जिस पाण्डुपुत्र के भी साथ यह उत्तरदायित्व विशेषरूप से सम्बन्धित होगा, न्यायतः वही प्रस्तुत भावुकता–निबन्ध का मूलाधार माना जायगा । प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यवत् यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है कि, इस सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का सम्बन्ध नि:शेषरूप से एकमात्र धर्मराज–धर्मनिष्ठ युधिष्ठिर के साथ ही सम्बन्धित है । अपनी धर्म्मासक्ति–धर्म्माग्रह–धर्म्माभिनिवेश के आवेश से भूतावेशवत् आमूलचूड सतत आविष्टमना बने रहते हुए युधिष्ठिर ही अपने भीमार्जुनादि अनुजों के समय समय पर आग्रहपूर्वक निरोध करते रहने पर भी दुष्टबुद्धि–असन्निष्ठ–दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों को बन्धुभावरूप से अपनाते रहने की मयाग्रह भ्रान्ति का अनुगमन करते रहे, करते ही गए । एवं अपनी इस भावुकतापूर्णा बन्धुजनस्नेहासक्ति

में आसक्त्यासक्तमना धर्मधुरितैषी युधिष्ठिर एकप्रकार से ही क्यों, निश्चितरूप से कौरवों की अशभिप्रा लक्षणा दुर्बुद्धि को ही परोक्षरूपेण प्रोत्साहित करते रहने वाले परोक्ष निमित्त बनते रहे, बनते ही गए। सर्वलोकवैभवापहारिणी द्यूत-क्रीड़ा जैसे निगमविरुद्ध-शास्त्रविरुद्ध-आमन्त्रण को भी एकमात्र अपने कुलज्येष्ठ-मानव पुत्रमोहान्ध-सबाध धृतराष्ट्र के अनुबन्ध से ही युधिष्ठिरने धर्मानुगत मानने की भयावह भ्रान्ति कर डाली। इस द्यूतकर्म्म में शकुनिप्रेरित कौरवों के द्वारा यच्चि सर्वस्वापहरण के प्रत्यक्ष निमित्त भी एकमात्र युधिष्ठिर ही बने। नितान्त जघन्या धर्मविरुद्ध इस प्रपंच-परम्परा का यदि महाबली भीम, महाप्राण अर्जुन ने मध्ये मध्ये अवरोध करने की व्यग्रता अभिव्यक्त की भी, तो युधिष्ठिर के परोक्ष संकेत इन आज्ञावशवर्त्ती अनुजों को अपने गदास्त्र एवं गाण्डीवास्त्रों को अवनत करते हुए विवशता पूर्वक अपने उचित भी आवेश को उपशान्त ही कर लेना पड़ा। इस प्रकार अथ से इति पर्य्यन्त एकमात्र युधिष्ठिर की धर्म्मानुगता, किंवा अनुचित धर्मधुरागाधाकत्यनुगता भावुकता के निग्रहानुग्रह से ही पाण्डुपुत्रों को न्यायसिद्ध राज्यतन्त्र से विमुख बनते हुए अपने जीवन को कण्टकाकीर्ण बना लेना पड़ा। स्वयं द्रौपदी जैसी सलज्जा आर्य्यनारी तक को आपद्धर्म्मविधया इन्हीं सब प्रमाणित कारणपरम्पराओं के माध्यम से युधिष्ठिर की जैसी भर्त्सना करने का साहस करना पड़ा था, वह भी सर्वविदित है ही। ऐसी स्थिति में सर्वानिष्टजनक-निमित्तरूप नितान्त भावुक युधिष्ठिर को निबन्ध का उपक्रम न बना कर (अमुक अंशों में भावुक, किन्तु) समय समय पर निष्ठाकर्म्म की ही घोषणा करने वाले महावीर दृढप्रतिज्ञ अर्जुन जैसे नरावतार मानवश्रेष्ठ को 'भावुकता' का प्रतीक बनाते हुए निबन्धोपक्रम करना क्या एक महतीविप्रतिपत्ति नहीं है।

है, और अवश्य है। किन्तु एक भावुक मानव की दृष्टि में, जो प्रत्यक्षदृष्टि-श्रुति के आधार पर तत्काल ही प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर अपने भावुकतापूर्ण मानस-परिवर्त्तनों के साथ-साथ ही क्षण-क्षण में सिद्धान्त परिवर्त्तित करता रहता है। 'भावुकता' स्वयं एक वैसा दुरधिगम्य समस्यापूर्ण-विप्रतिपन्न जटिल तत्त्व है, जिसके यथावत् स्वरूपसमन्वय में बड़े से बड़ा नैष्ठिक भी सहसा कुण्ठित हो जाता है, जैसा कि निबन्धानुगत उदाहरणों के द्वारा आगे यथावसर स्पष्ट होने वाला है। बड़े आटोप के साथ विप्रतिपत्ति का स्वरूपविश्लेषण करते हुए हमने प्रातःस्मरणीय धर्मराज जिस युधिष्ठिर को नितान्त भावुक प्रमाणित करते हुए उन्हें ही एकमात्र सर्वानिष्ट का उत्तरदायी बनाने, एवं मानने का महत्पातक कर डाला, उन संस्मरणीय धर्म्मराज धर्म्म की सगुणमूर्त्ति युधिष्ठिर की धर्मनीतिमानुगता धर्म्मनिष्ठालक्षणा धर्म्मभावुकता के अनुग्रह से ही शेष पाण्डुपुत्रों के यशःशरीर अद्यावधि अक्षुण्ण बने हुए हैं। धर्म्मनिष्ठात्मिका धर्म्मभावना के दृष्टिकोण से युधिष्ठिर न केवल महामानव ही थे अपितु अतिमानव थे, आधिकारिक अवतारमानवसमतुलित धर्म्म के सगुण अवतार थे। वे अपनी इस धर्म्मानुगति में अनन्यनिष्ठा से प्रणत-भाव द्वारा आराधाश्रद्धापूर्वक आध्यापन में तल्लीन थे। अर्जुन की भाँति—'करिष्ये वचनं तव' रूप से युधिष्ठिर धर्म्ममान्यता के सम्बन्ध में किसी भी अन्यप्रेरणा-अन्यशक्ति से प्रभावित होने के लिए स्वप्न में भी सहमत न थे। यही कारण था कि, गुरुद्रोणवध-प्रसङ्गावसर पर वासुदेवकृष्ण के महतो-

महीमान् प्रबलतम प्रयास–आग्रह–निग्रह के अनन्तर भी इस अतिमानव के पावन मुख से केवल वैखरी वाणीमात्र के रूप में ही अन्तर्भावों के सर्वथा विपरीत, सो भी पूर्ण आत्मदमन करते हुए शुष्कखिन्नमानस बनते हुए—'अश्वत्थामा हतः'—नरो वा, कुंजरो वा' (अश्वत्थामा मारा गया, किन्तु विदित नहीं–यह इस नाम का हाथी मारा गया, अथवा तो नर) ये परिमित–सीमित अक्षरमात्र ही विनिर्गत हो सके थे।

भावुकता की चरमसीमात्मिका धर्म्मभावुकता ही 'निष्ठा' का उपक्रमस्थान मानी गई है, जैसा कि निबन्ध में यत्र–तत्र विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है। अपनी आत्यन्तिक धर्म्मभावुकता, किंवा मनोऽनुगता धर्म्मभावना से ही आत्मबुद्ध्यनुगता सत्य–धर्म्मनिष्ठा से सत्य–धर्म्मनिष्ठ बन जाने वाले अतिमानव धर्म्मराज युधिष्ठिर इसी धर्म्मनिष्ठा के बल पर सदेह स्वर्गारोहण में समर्थ हुए थे, जबकि इनके अन्य अनुज, और प्रतारणा करने वाली द्रौपदी मध्य मध्ये ही विराम ग्रहण कर चुके थे। धर्म्ममूर्त्ति यक्ष के सम्मुख भावावेशवश निधनावस्था को प्राप्त भीमादि चारों अनुजों को इसी धर्म्मनिष्ठा के प्रभाव से यक्ष को प्रश्नोत्तरविमर्शद्वारा तुष्ट करते हुए पुनरुज्जीवित किया था इसी धर्म्मभावुक अतिमानव ने। इसी धर्म्मनिष्ठा के आकर्षण से स्वयं मूर्त्तिमान् धर्म्म ने इस अतिमानव की महायात्रा में प्रच्छन्नरूप से सहयोग प्रदान करते हुए अपने आपको धन्य माना था। इसी सांस्कारिकी दृढ़तमा धर्म्मभावना के प्रभाव से स्वर्गारोहण करते समय इनके पावनतम आतिवाहिक शरीर से संलग्न वायुदेवता पवित्र हो गए थे, जिस पवित्र वायु के संस्पर्शमात्र से याम्य यातनाएँ सहन करने वाले प्रेतलोकस्थ प्रेतभावापन्न इनके बन्धु क्षणमात्र के लिए शान्ति–स्वस्ति के भोक्ता बन गए थे ×। ऐसे धर्म्मनिष्ठ, अतएव नितान्तनिष्ठ, यावज्जीवन अनन्यरूप से इस निष्ठातन्त्र के उपासक बने रहने वाले लोकदृष्ट्या 'भावुक' भी प्रतीयमान युधिष्ठिर को, इस धर्म्ममूर्त्ति अतिमानव को 'भावुकता' जैसे लौकिक–निघर्ष का आधार, किंवा माध्यम बना कर क्या यह भावुक निबन्धा सदा के लिए अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बना लेता ?। नेतिहोवाच ! अब्रह्मण्यम् !! अब्रह्मण्यम् !!!

होंगे, और अवश्य ही होंगे अमुक परिगणित भावों की दृष्टि से बलशाली वायुपुत्र भीम भी अवश्य ही भावुक। किन्तु अवसर प्राप्त होने पर क्षणमात्र भी विलम्ब न करते हुए अपने विपक्षी पर

× धार्म्मिक सिद्धान्त है कि, युद्ध में मृत क्षत्रिय योद्धा स्वर्गगति का ही अधिकारी बनता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज बन जाता है कि, युद्ध में हत क्षत्र–दुर्य्योधनादि युधिष्ठिर के बन्धुबान्धव नरकगामी कैसे बने !, जहाँ युधिष्ठिर के शारीरिक वायु से उन्हें शान्ति प्राप्त हुई। कर्म्मभोक्ता भूतात्मा अवश्य ही स्वर्गगति का अधिकारी बन जाता है। किन्तु 'रमशा' नामक रुद्रदेवतानुबन्धी हंसात्मा, एवं तन्मिश्र औपपातिक महानात्मा, दोनों एकात्मक बनते हुए कर्म्मानुसार हीन उत्तम लोकों के भोक्ता बने रहते हैं। यही प्रेतात्मा है, जिसकी दृष्टि से उक्त भाव अभिव्यक्त हुआ है। भाष्यविज्ञानग्रन्थान्तर्गत 'मातापितृभ्यविज्ञानोपनिषत्' द्वितीय खण्ड में इन विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन द्रष्टव्य है।

अणुमात्र भी दया–करुणा प्रदर्शित न कर उसे सर्वात्मना निःशेष कर देने की जैसी निष्ठा सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव जैसी इस उग्रकर्म्मा–भीमकर्म्मा–क्रूरकर्म्मा पाण्डुपुत्र में सहज–निजाभरूप–से विद्यमान थी, उसका अन्य पाण्डुनन्दनों में अभाव ही था। युधिष्ठिर की क्षमाशीलता तो प्रसिद्ध है ही। अर्जुन भी वैसे अवसरों पर नितान्त भावुक ही बन जाया करते थे, जैसा कि कर्णार्जुन–युद्धप्रसङ्गावसर पर निःशस्त्र असहाय बने हुए प्रातःस्मरणीय कर्ण पर भावुकतावश प्रहार करने से अर्जुन सहसा तटस्थ बन गए थे, एवं अनन्तर निष्ठावतार भगवान् की प्रेरणा से कहीं अर्जुन का इस दिशा में उद्बोधन हो पाया था। यह भीम की भीमा निष्ठा का ही सुपरिणाम था कि, वर्षों से विगलितकेशा–वेणिबन्धनवञ्चिता–प्रतिक्रिया नुगता द्रौपदी को दुःशासन के उष्णसम सद्योविनिःसृत रक्त–सिञ्चन से वेणीबन्धन का सौभाग्य प्राप्त हो सका था। शत्रुविमर्दनलक्षणा इस अनन्यनिष्ठा के सन्तुलन में वृकोदर भीम धर्म से धर्म अनिष्ट की भी उपेक्षा कर डालना अपना सहज धर्म्म मानते रहते थे। शत्रु के सम्मुख किसी भी परिस्थिति में अवनत-शिरस्क बन जाना, किंवा उस पर दया–ममता अभिव्यक्त करते हुए क्षमा प्रदान कर देना, ऐसा कोई शब्द उनके लिए कोश में निर्म्मित ही नहीं हुआ था। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के द्वारा पाण्डवविनाशाय प्रक्षिप्त देवविद्यात्मक मन्त्राभिमन्त्रित ब्रह्मास्त्र के सम्मुख भी तो भीम ने तब तक रथ से अवतीर्ण होकर नतमस्तक बनना स्वीकार नहीं किया, जब तक कि स्वयं श्रीकृष्ण ने करग्रहणपूर्वक भीम को रथ से नीचे उतार कर बलवदावेश से उसके क्षात्रतेज को ब्रह्मास्त्रतेज के सम्मुख कृताञ्जलि नहीं बना डाला। द्रौपदीमानमङ्गकर्त्ता आततायी कीचक का उपहास में ही नामशेष कर देने वाले पाँचों पाण्डवों में से भीमातिरिक्त और किस पाण्डुनन्दन में ऐसा असम साहस था ?। और इस प्रकार की भूतबलानुगता शारीरिक निष्ठा का एकमात्र कारण था भीम की सुप्रसिद्धा यह 'आहारनिष्ठा,' जिसके अनुग्रह से इन्हें महायात्रा में मध्य में ही गिर जाना पड़ा था। युद्धकर्म्मनिष्ठासंवर्द्धिका भूतबलनिष्ठा की आधारभूता आहारनिष्ठा अन्य सभी पाण्डुपुत्रों की अपेक्षा भीम में अप्रतिम थी, फिर भले ही मन्वादि धर्म्माचार्य्यों ने इस निष्ठा को सत्त्वगुणविघातिका निन्द्या ही घोषित क्यों न किया हो। आहारनिष्ठा के अतिरिक्त बाल्यमयोऽनुगता बल तलस्पर्शानिबन्धना सौम्यनागवेसताप्रदत्ता सौम्या बलशक्ति भी इस निष्ठा का मूलकारण बनी हुई थी, जिसके अनुग्रह से भीम 'दशसहस्रगजबलमितबलशाली' नाम से प्रसिद्ध थे। पूर्ण स्वस्थता–निराकुलता–के साथ साथ अपनी आहारनिष्ठा पर प्रयासपूर्वक आरूढ़ रहते हुए 'युद्धाय कृतनिश्चयः' लक्षणा क्षात्र निष्ठा का बिना किसी गीतादि–उपदेशाकर्षण के ही निष्ठाबरूपेण अनुगमन करने वाले अन्यान्य व्यावहारिक–लौकिक–सामाजिक भावुकता–निष्ठापरम्पराओं से अपने आपको सर्वात्मना असंस्पृष्ट बनाए रखने वाले ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के अनुशासन–आदेश को नतमस्तक बन कर स्वीकार करते रहने वाले एवंविध लोकनिष्ठ स्वर्णीय्यगुप्त क्षत्रिय मानव को भी लौकिक भावुकता–निबन्ध का माध्यम नहीं बनाया जा सकता था, नहीं बनाया गया।

सर्वात्मना सौम्यभावापन्न माद्रीसुत नकुल, और सहदेव अवश्य ही निरतिशयरूपेण भावुक थे। किन्तु इनकी भावुकता लोकसंपर्क से सर्वथा असंस्पृष्ट बनी रहती हुई वैसी कारुणीकता–विम्बमाना–

रूसथा भावुकता थी, जैसी भावुकता मातृस्तनपान करने वाले एक अबोध शिशु में रहा करती है। सौम्य माद्रीसुत अपनी ज्येष्ठभ्रातृत्रयी की सबसमर्थ छत्रछाया में निरापद–निराकुलरूप से स्वस्थतापूर्वक अपने सहज आमोद–प्रमोद में तल्लीन थे। अशन पान, और स्वमूलप्राणनिबन्धन सहज अश्वप्रेम से आकर्षित नकुल–सहदेवयुग्म की निष्ठा अधिक से अधिक पाण्डवराज्य की अश्वशाला का पर्य्यवेक्षण निरीक्षण था। किसी भी पारलौकिकी, ऐहलौकिकी धर्म्म–समाज–राजनीतिनिष्ठाओं के उत्तरदायित्व का इन दोनों से कोई विशेष सम्पर्क न था। ज्येष्ठबन्धुत्रयी की आज्ञा का अनुगमन करते हुए, उनकी सुख-दु स्वानुभूतियों के साथ साथ यथावसर यथायोग्यता वैसी स्थिति–परिस्थितियों को ही स्वानुगत बनाने वाले माद्रीसुत भी इस सर्वपूर्ण भावुकता–निबन्ध के माध्यम नहीं बनाये जा सकते थे, नहीं बनाने चाहिये थे।

अब शेष रह गए थे केवल 'अर्जुन'। स्वाधिकारसंचित पाँचों पाण्डवों में से अपेक्षया महाबाहु अर्जुन के अतिरिक्त महाभारतयुग में अन्य कोई वैसा सर्वरूप्या योग्य भावुक मानवश्रेष्ठ उपलब्ध न हो सका, जिसे हम निबन्ध का माध्यम बना लेते। महासत्व, महाप्राण, महाधनुर्दर, नरावतार, अतएव अवतार गुणविभूषित, अतएव च सर्वगुणसम्पन्न, शास्त्रनिष्ठ, आस्थाश्रद्धापरायण महामानव 'अर्जुन' जैसे मानव श्रेष्ठ को 'भावुकता' जैसे मानस भाव का प्रतीक मानते हुए हम अन्तरात्मना संक्षुब्ध हैं। यह भी सम्भव है कि स्वयं अपनी सहज–भावुकता के कारण समुत्पन्न दृष्टिदोष से ही हमारे लक्ष्य अर्जुन जैसे महामानव बन रहे हों। इस अपनी भावुकता का, अपने दृष्टिदोष का इसके अतिरिक्त हमारे समीप और कोई अन्य समाधान शेष नहीं है कि, मानव की प्रत्येक महती विप्रतिपत्ति–महती–समस्या का मूलाधार महाप्राण मानव ही बना करता है। सुप्रसिद्ध है कि, युद्धविजय की कामना से कुरुक्षेत्रभूमि को वीरप्राण-संस्कारदान से सुसंस्कृत बनाने के लिए उस युग के सर्वश्रेष्ठ अप्रतिम–साथ ही निर्दोष (अतएव भावुक) नरपुङ्गव भीमपुत्र बर्बरी का ही आलम्बन आवश्यक समझा गया था, अनुरूप माना गया था। इसी दृष्टि बिन्दुमाध्यम से हम इस महती विप्रतिपत्ति के समाधान के लिए महामानव अर्जुन को ही निबन्धमाध्यम मानने की धृष्टता कर रहे हैं, जिसके लिए चान्द्रमण्डलस्थ अर्जुन का हसात्मा हमें क्षमा प्रदान करेगा।

नरावतार अर्जुन जैसे सर्वगुणसम्पन्न महामानव समस्या उपस्थित करने वाले, एवं नारायणावतार वासुदेवकृष्ण जैसे अतिमानव समस्या का सफल समाधान करने वाले, इन दोनों लोकोत्तर गुरुशिष्यों की प्रश्नोत्तरपरम्परा से महतोमहीयान् बने हुए महाभारतयुगानुगत, महाभारत समर से पूर्व–एवं राज्याधिकार से वञ्चित पाण्डुपुत्रों के संघर्षात्मककाल में घटित नितान्तभावुकतापूर्ण यह आख्यान उपक्रान्त हो रहा है, जिसे अवधानपूर्वक श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

(११)–कौरवनिष्ठा का स्खलन, और भावुक अर्जुन से कुशलप्रश्न—

महाभारतयुग के सुप्रसिद्ध शिल्पी शुक्रशास्त्रपारङ्गत मयासुर के द्वारा विनिर्मित पाण्डुपुत्रों के त्रैलोक्याप्रतिम सभाभवन में द्रौपदी के नारीसुलभ सहजभावुकतापूर्ण नितान्त घातक उपहास से, द्रौपदी

अणुमात्र भी दया–करुणा प्रदर्शित न कर उसे सर्वात्मना निःशेष कर देने की जैसी निष्ठा सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव वैसी इस उग्रकर्म्मा–भीमकर्म्मा–क्रूरकर्म्मा पाण्डुपुत्र में सहज–निसर्गक्रम–से विद्यमान थी, उसका अन्य पाण्डुनन्दनों में अभाव ही था। युधिष्ठिर की क्षमाशीलता तो प्रसिद्ध है ही। अर्जुन भी वैसे अवसरों पर नितान्त भावुक ही बन जाया करते थे, जैसा कि कर्णार्जुन–युद्धप्रसङ्गावसर पर निःशस्त्र असहाय बने हुए प्रातःस्मरणीय कर्ण पर भावुकतावश प्रहार करने से अर्जुन सहसा तटस्थ बन गए थे, एवं अनन्तर निश्चयवचार भगवान् की प्रेरणा से कहीं अर्जुन का इस दिशा में उद्बोधन हो पाया था। यह भीम की भीमा निष्ठा का ही सुपरिणाम था कि, वर्षों से विगलितकेशा–वेणीबन्धनवंचिता–प्रतिक्रिया नुगता द्रौपदी को दुःशासन के उष्णतम सद्योविनिःसृत रक्त–सिञ्चन से वेणीबन्धन का सौभाग्य प्राप्त हो सका था। शत्रुविमर्दनलक्षणा इस अनन्यनिष्ठा के समतुलन में वृकोदर भीम बड़े से बड़े अनिष्ट की भी उपेक्षा कर डालना अपना सहज धर्म्म मानते रहते थे। शत्रु के सम्मुख किसी भी परिस्थिति में अवनत शिरस्क बन जाना, किंवा उस पर दया–ममता अभिव्यक्त करते हुए क्षमा प्रदान कर देना, ऐसा कोई शब्द उनके लिए कोश में निर्म्मित ही नहीं हुआ था। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के द्वारा पाण्डवविनाशाय प्रक्षिप्त देवविधात्मक मन्त्राभिमन्त्रित ब्रह्मास्त्र के सम्मुख भी तो भीम ने तब तक रथ से अवतीर्ण होकर नतमस्तक बनना स्वीकार नहीं किया, जब तक कि स्वयं श्रीकृष्ण ने करग्रहणपूर्वक भीम को रथ से नीचे उतार कर बलवदादेश से उसके क्षात्रतेज को ब्रह्मास्त्रतेज के सम्मुख कृताञ्जलि नहीं बना डाला। द्रौपदीमानभङ्गकर्त्ता आततायी कीचक का उपहास में ही नामलेश कर देने वाले पाँचों पाण्डवों में से भीमातिरिक्त और किस पाण्डुनन्दन में ऐसा असम साहस था ?। और इस प्रकार की भूतबलानुगता शारीरिक निष्ठा का एकमात्र कारण था भीम की सुप्रसिद्धा यह 'आहारनिष्ठा,' जिसके अनुग्रह से इन्हें महायात्रा में मध्य में ही गिर जाना पड़ा था। युद्धकर्म्मनिष्ठासंरक्षिका भूतबलनिष्ठा की आधारभूता आहारनिष्ठा अन्य सभी पाण्डुपुत्रों की अपेक्षा भीम में अप्रतिम थी, फिर भले ही मन्वादि धर्म्माचार्य्यों ने इस निष्ठा को सत्त्वगुणविघातिका निन्द्या ही घोषित क्यों न किया हो। आहारनिष्ठा के अतिरिक्त बाल्यभावोऽनुगता जल सहस्पर्शानिबन्धना सौम्यनागदेवताप्रदत्ता सौम्या बलशक्ति भी इस निष्ठा का मूलकारण बनी हुई थी, जिसके अनुग्रह से भीम 'दशसहस्रगजबलमितबलशाली' नाम से प्रसिद्ध थे। पूर्ण स्वस्थता–निराकुलता– के साथ साथ अपनी आहारनिष्ठा पर प्रयासपूर्वक आरूढ़ रहते हुए 'युद्धाय कृतनिश्चयः' लक्षणा क्षात्र निष्ठा का बिना किसी गीतादि–उपदेशाकर्षण के ही निष्ठाभरूपेण अनुगमन करने वाले, अन्यान्य व्यावहारिक–लौकिक–सामाजिक भावुकता–निष्ठापरम्पराओं से अपने आपको सर्वात्मना असंस्पृष्ट बनाए रखने वाले ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के अनुशासन–आदेश को नतमस्तक बन कर स्वीकार करते रहने वाले एवंविध लोकभिन्न स्वधर्म्मगुप्त क्षत्रिय मानव को भी लौकिक भावुकता–निकष का माध्यम नहीं बनाया जा सकता था, नहीं बनाया गया।

सर्वात्मना सौम्यभावापन्न माद्रीसुत नकुल, और सहदेव अवश्य ही निरतिशयरूपेण भावुक थे। किन्तु इनकी भावुकता लोकसंघर्ष से सर्वथा असंस्पृष्ट बनी रहती हुई वैसी कापालीकृता–पिण्डमाना–

से आतिथ्य किया। परस्पर नीवारपाकादिकङ्करीया लक्षणा कुशलक्षेमपरम्परा के आदेश का सामयिक अनुगमन हुआ। रात्री विश्रामवेला में एकान्त में कृष्ण के अनन्य सखा अर्जुन अपनी विगत मुक्त एवं प्रक्रान्त करुणापूर्ण दयनीय स्थिति से अश्रुपूर्णामुखेक्षणा बनते हुए श्रीकृष्णावासशाला की ओर समसम्मुख हुए। अपने इस अन्यतम सखा का आलिङ्गन कर निःशेषरूप से आत्मविभोर बनते हुए, त्रैलोक्यमाधुरी का मानो उपहास-सा ही करने वाले अपने सहज मन्दस्मितभाव से निष्ठापूर्ण उद्घोषरव पूर्वक सर्वप्रथम वासुदेव ने शान्ति-स्वस्त्ययनात्मक सहज प्रश्न किया कि—

मित्र ! कहो, कुशल तो है ?

(१३)-अर्जुन के द्वारा उपस्थिता समस्यापूर्णा भावुकतापरम्परा—

नितान्त भावुक अर्जुन, परिस्थित्यनुगत कालदोषमाध्यम से महामाया के द्वारा चलितप्रज्ञ बने हुए अर्जुन, अपनी इस कालदोषानुगता आगन्तुक भावुकता के अनुग्रह से मायाविष्ट बने रहने वाले अर्जुन अपने मान्य सखा के उक्त कुशलप्रश्न से सहसा आविष्ट हो पड़े। एवं आवेशपूर्णा वैखरी वाणी का अनुसरण करते हुए अर्जुन निम्नलिखित शब्दावली के माध्यम से अपनी भावुकता अभिव्यक्त करने लगे—

भगवन् ! शास्त्रानुशीलन के द्वारा, श्रौतस्मार्तकर्म्मानुष्ठान के द्वारा, वृद्धपरम्परा-आराधना के द्वारा साक्षात्, तथा परम्परया अवलोकित, एवं श्रुत है कि,—**"जो द्विजातिमानव निगमागमशास्त्र विहित विधि-विधानों का अनुगमन करता हुआ अपनी आत्मबुद्धिमनःशरीरलक्षणा अध्यात्म संस्था को आश्रमचतुष्टयीपूर्वक नियत वर्णाधर्म्म के माध्यम से नियत कैर्त्तव्यकर्म्म द्वारा नियमितरूप से सञ्चालित रखता है, निश्चयेन धर्म्मात्मक इस शास्त्रीय कर्म्मानुष्ठान से अपनी अध्यात्मसंस्था को परिपूर्ण बनाता हुआ प्रजापतिसमतुलित वह मानवश्रेष्ठ ऐहलौकिक सुख समृद्धि का भोक्ता बनता हुआ प्रेत्य पारलौकिक शान्ति-स्वस्ति का सफल अतिथि प्रमाणित हो जाता है"।**

आध्यात्मिक संस्था के स्वायम्भुव भूतात्मा, सौरी बुद्धि, चान्द्र मन, एवं पार्थिव शरीर, इन चारों पर्वों की गहन-गम्भीरतमा व्याख्या शास्त्रकारों ने कुछ भी की हो, उस शास्त्रीय दुरधिगम्या मीमांसा का प्रकृत में अवसर नहीं है। अभी तो सर्वथा लौकिक दृष्टि से ही इस मान्यता के आधार पर ही नम्र निवेदन किया जा रहा है कि, 'धर्म्म-पराक्रम-अनुशासन-दक्षता-' मानव की इन चार पुरुषार्थ-वृत्तियों को, दूसरे शब्दों में चार कर्त्तव्य-कर्म्मभावों को क्रमशः अध्यात्मसंस्था के चारों 'आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर' आध्यात्मिक पर्वों के लौकिक (एवं अमुक अंशपर्य्यन्त पारमार्थिक भी) स्वरूपसंरक्षक कहा और माना जा सकता है। सत्यात्मक धर्म्म, किंवा धर्म्मात्मक सत्य सत्यस्वरूप स्वायम्भुव आत्मा का स्वरूप-संरक्षक (मूलप्रतिष्ठा) है, तो पर पर आक्रमण कर उस पर को अपने सत्त्व से आक्रान्त करने वाला—

की भावुकता का समर्थन कर डालने वाले तात्कालिक भावुकताजन्य स्त्रैणभम्मा आहार्यनिग्रहयत्न भीमादि द्वारा उपहाससमर्थन से धृतराष्ट्र के नीतिकुशल-सुयोग्य पुत्र अतिथिरूपेण समागत एकान्तनिष्ठ दुर्य्योधन के मानस पटल पर प्रतिक्रिया का जो विषाक्त बीज दैवदुर्विपाक से न्युप्त हो गया था, वही कालान्तर में भारतराष्ट्र की लोकसमृद्धि, लोकवैभव का सर्वस्व संहारक बना, यह ऐतिहासिक तथ्य सभी इतिवृत्तवेत्ता स्वीकार कर रहे हैं। सामान्य-सी भी भ्रान्ति से समुत्पन्ना प्रतिक्रिया कालपरिपाकानन्तर कैसा घातक स्वरूप धारण कर लेती है !, यदि भावुक मानव प्रतिक्रिया के इस महादुष्परिणाम से अंशतः भी परिचित बना रहे, तो तात्कालिकी भावुकता से समुत्पन्ना अनर्थपरम्परा का निरोध शक्य बन सकता है। किन्तु ?

सर्वस्व घातक इस 'किन्तु ?' का समाधान यथावसर आगे चल कर स्वतएव सम्भव बन जायगा। अभी आख्यान-प्रसङ्ग के समन्वय को लक्ष्य बनाइए। द्रौपदी की भावुकता से समुत्पन्ना दुर्य्योधन की प्रतिक्रिया प्रज्वलित बनी भीम के उपहास से, एवं इस प्रज्वलित प्रतिक्रिया को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ उस युग के कूटनीतिचतुरचाणक्य लोकनिष्ठ महातन्त्रायी शकुनिराज के द्वारा। इस घृताग्निसमन्वय से यह प्रतिक्रियाज्वाला निःसीम हो पड़ी, जिसके झञ्झावात-समन्विता घातक आक्रमण से भावुक पाण्डुपुत्र अपना आत्मत्राण न कर सके, न कर सके। नीति से, अनीति से, छल से, बल से, द्यूत से, प्रतारणात्मक-आर्तिभाव प्रहार से, जैसे भी शक्य बन सका, शकुनिप्रमुख दुर्य्योधन के सुसघटित-सबसाधन सुसम्पन्न-तन्त्र ने पाण्डवों का वह समृद्ध वैभव देखते देखते ही अपने अधिकार में कर लिया। और यों जिस त्रैलोक्यसुन्दर सभाभवन के जल-स्थल-व्यतिक्रमात्मक शिल्पकौशलों के माध्यम से पाण्डुपुत्रों ने दुर्य्योधन को प्रतिक्रियानुगामी बनाने की भयावह भ्रान्ति कर डाली थी, वही सभाभवन कालान्तर में कौरवनरेश दुर्य्योधन की यशःपताका से सुसज्जित बन कर अपने पताकाप्रकम्पनधर्म्म से पाण्डुपुत्रों को अधिकाधिक विकम्पित करने लगा, और साथ ही नैष्ठिक सुयोधन की यशोगाथा का विमलगान करने लगा।

दुर्य्योधन के नीतिकौशल-प्रभाव से पाण्डवों का स्वदेश में शान्ति-स्वस्तिपूर्वक जीवनयापन भी असम्भव बन गया। अमुक सन्धा के व्याजात्मक छल से इन्हें एक सुदीर्घकाल पर्य्यन्त वनवास एवं अज्ञातवास का अनुगामी बना रहना पड़ा। यों अपनी भावुकता से प्रतारित ये राजपुत्र सम्पूर्ण राजवैभवों से वञ्चित रहते हुए कालान्तर में अपनी वैशालवृत्ति को चरितार्थ बनाते हुए पुनस्तत्रैव स्वदेश में दीनहीन क्षतविक्षत-आपद्दशा में परिवर्तित हुए। पाण्डुपुत्रों के अन्यतम हितैषी वासुदेव श्रीकृष्ण को जब यह विदित हुआ कि, कालपुरुष से प्रतारित पाण्डुपुत्र पुनः इन्द्रप्रस्थ परावर्तित हो गए हैं, तो अपने सहज आत्मबन्धुभाव से आकर्षितमना बनते हुए द्वारिकाधीश इनकी कुशल-क्षेम-कामना-अभिव्यक्ति के लिए, सान्त्वनाप्रदान के लिए, एवं प्रबोधनिग्रहरूप से इनकी भावुकता का उद्बोधन कराने के लिए सहसा एक दिन इन्द्रप्रस्थ पधार आए। पाण्डुपुत्रों ने यथासाधन पूर्णश्रद्धा से अपने इस आराध्यदेव का प्रस्तवभाव

से आतिथ्य किया। परस्पर नीवारपाकादिकद्रव्यरीया लक्षणा कुशलक्षेमपरम्परा के आदश का सामयिक अनुगमन हुआ। रात्री विश्रामवेला में एकान्त में कृष्ण के अनन्य सखा अर्जुन अपनी विगत शुक्र एवं प्रकान्त करुणापूर्ण दयनीय स्थिति से अश्रुपूर्णाश्रुलोचन बनते हुए श्रीकृष्णआवासशाला की ओर समसम्मुख हुए। अपने इस अन्यतम सखा का आलिङ्गन कर नि शेषरूप से आत्मविभोर बनते हुए, त्रैलोक्यमाधुरी का मानो उपहास–सा ही करने वाले अपने सहज मन्दस्मितभाव से निष्ठापूर्ण उद्‌घोषपरख-पूर्वक सर्वप्रथम वासुदेव ने शान्ति–स्वस्त्ययनात्मक सहज प्रश्न किया कि—

मित्र ! कहो, कुशल तो है ?

(१३)–अर्जुन के द्वारा उपस्थिता समस्यापूर्णा भावुकतापरम्परा—

नितान्त भावुक अर्जुन, परिस्थित्यनुगत कालदोषमाध्यम से महामाया के द्वारा चलितप्रज्ञ बने हुए अर्जुन, अपनी इस कालदोषानुगता आगन्तुक भावुकता के अनुग्रह से भावाविष्ट बने रहने वाले अर्जुन अपने मान्य सखा के उक्त कुशलप्रश्न से सहसा आविष्ट हो पड़े। एवं आवेशपूर्णा वैखरी वाणी का अनुसरण करते हुए अर्जुन निम्नलिखित शब्दावली के माध्यम से अपनी भावुकता अभिव्यक्त करने लगे–

भगवन् ! शास्त्रानुशीलन के द्वारा, श्रौतस्मार्तकर्म्मानुष्ठान के द्वारा, वृद्धपरम्परा–आराधना के द्वारा साक्षात्, तथा परम्परया अवलोकित, एवं श्रुत है कि,—"जो **द्विजातिमानव निगमागमशास्त्र विहित विधि–विधानों का अनुगमन करता हुआ अपनी आत्मबुद्धिमनःशरीरलक्षणा अध्यात्म संस्था को आश्रमचतुष्टयीपूर्वक नियत वर्णधर्म्म के माध्यम से नियत कैसम्यकर्म्म द्वारा नियमितरूप से संचालित रखता है, निश्चयेन धर्म्मात्मक इस शास्त्रीय कर्म्मानुष्ठान से अपनी अध्यात्मसंस्था को परिपूर्ण बनाता हुआ प्रजापतिसमतुलित वह मानवश्रेष्ठ ऐहलौकिक सुख समृद्धि का भोक्ता बनता हुआ प्रेत्य पारलौकिक शान्ति–स्वस्ति का सफल अतिथि प्रमाणित हो जाता है**'।

आध्यात्मिक संस्था के स्वायम्भुव भूतात्मा, सौरी **बुद्धि**, चान्द्र मन, एवं पार्थिव शरीर, इन चारों पर्वों की गहन–गभीरतमा व्याख्या शास्त्रकारों ने कुछ भी की हो, उस शास्त्रीय दुरधिगम्या मीमांसा का प्रकृत में अवसर नहीं है। अभी तो सर्वथा लौकिक दृष्टि से ही इस मान्यता के आधार पर ही नम्र निवेदन किया जा रहा है कि, '**धर्म्म–पराक्रम–अनुशासन–दक्षता–**' मानव की इन चार पुरुषार्थ वृत्तियों को, दूसरे शब्दों में चार कर्तव्य–कर्मभावों को क्रमशः अध्यात्मसंस्था के चारों '**आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर**' आध्यात्मिक पर्वों के लौकिक (एवं अमुक अंशपर्य्यन्त पारमार्थिक भी) स्वरूपसंरक्षक कहा और माना जा सकता है। सत्यात्मक धर्म्म, किंवा धर्म्मात्मक सत्य सत्यस्वरूप स्वायम्भुव आत्मा का स्वरूप-संरक्षक (मूलप्रतिष्ठा) है, तो पर पर आक्रमण कर उस पर को अपने सत्त्व से आक्रान्त करने वाला–

'पराक्रम'–भाव" सौरी बुद्धि का सहज उपोद्‌मूलक है *। अनुशासन–नियमन—संयम–आज्ञानुवर्त्तित्व–आदि एक ही अनुशासनशीलता के विभिन्न स्वरूप हैं, जिन्हें चञ्चल सौम्य मन का अनुग्राहक माना गया है। स्नायु–मज्जा–शिरा–धमन्यादि की दृढ़ता ही दृढ़गात्रता है। यही वह वास्तविक दृढ़ता है, जिसके आधार पर शेष तीनों आध्यात्मिक पर्व सुव्यवस्थित बने रहते हैं। इसी आधार पर तो देवकीनन्दन! 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। दृढ़निश्चय, दृढ़प्रतिज्ञा का निर्वाह–पालन–दृढ़गात्र–दृढ़ावयव–शरीर से ही तो शक्य बनता है। अतएव इस दृष्टि से इस दृढ़ता, साथ ही दृढ़प्रतिज्ञा का चतुर्थ शरीरपर्व के साथ सम्बन्ध माना जा सकता है।

निवेदन इस सम्बन्ध में यहाँ यही करना है कि, समष्टिरूप से नहीं, तो व्यष्टिरूप से अवश्य ही पाण्डुपुत्रों ने मानव की तथाकथिता पूर्णभावापन्ना अध्यात्मसंस्था को लक्ष्य बनाते हुए ही अब तक जीवन–यापन किया है। चारों ही आध्यात्मिक शास्त्रीय कर्त्तव्यकर्म्मों का जागरूकता–पूर्वक अनुगमन करते हुए ही आपके इन आत्मीय बन्धुओं ने मानव की 'परिपूर्णता' को अन्वर्थ बनाए रखने का यथाशक्य प्रयास प्रक्रान्त रक्खा है। मानवोचित उन सभी सुव्यवस्थित कर्त्तव्यों का पाण्डुपुत्रोंने समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा निर्व्याजरूप से अनुसरण करते हुए सर्वात्मना यह प्रमाणित कर दिया है कि,–"पाण्डुपुत्र वास्तव में धर्म्मपथ पर, अभ्युदयनिःश्रेयससाधक शास्त्रीय पथ पर, न्यायपथ पर ही आरूढ़ हैं"। यदुनन्दन! परिस्थितिवश आकुल–व्याकुलमना बन जाने वाले अपने इस न्योक सखा के आवेश पर किसी अन्यथा कल्पना को स्थान नहीं मिलना चाहिये, यह विशेष प्रार्थना है। जैसी सहज अनुभूति हो रही है, यथाभाव से अपने आराध्य सखा के सम्मुख प्रस्तुत है। अनुभूति गतार्थ है इसी निवेदन से। अनुभूति का सर्वथा लौकिक विश्लेषण होना चाहिए अर्जुन!। क्या भगवन् यह भी अपेक्षित है?। यथाज्ञापयति देवः!।

आराध्य वासुदेव! अजातशत्रु धम्मराज युधिष्ठिर जैसे धम्मनिष्ठ–धर्म्मात्मा अतिमानव, धर्मनिष्ठा से एकान्तनिष्ठ बने हुए 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' शास्त्रादेश का उत्सुकता पालन करने वाले ज्येष्ठवग के अनुशासनवर्त्ती महावीरांश भीम जैसे पराक्रमी, सर्वथा सौम्यमूर्त्ति–मनोमूर्त्ति आज्ञानुकारी माद्रीसुत नकुल सहदेव जैसे अनुशासनानुगामी व्यक्ति वर्त्तमानयुग में अन्यत्र कहां उपलब्ध होंगे? अतिमान नहीं कर रहा भगवन्! इस न्योकसखा की दृढ़प्रतिज्ञा–दृढ़निष्ठा–शास्त्रनिष्ठा भी आप से तो

---

* बुद्धिबल 'पराक्रम' है, मनोबल 'वीर्य्य' है, एवं शरीरबल 'बल' है। लौकिक उदाहरण है–'पुरुष-सिंह-गज'। गज शरीरबलात्मक 'बल' का उदाहरण है, सिंह मनोबलात्मक 'वीर्य्य' का उदाहरण है, एवं पुरुष बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' का उदाहरण है। तीनों उत्तरोत्तर ज्यायान् हैं। अतएव बलशाली गज को वीर्य्यशाली सिंह परास्त कर देता है, एवं वीर्य्यशाली सिंह को पराक्रमशाली मानव पञ्जरबद्ध कर देता है।

परोक्ष नहीं है। ऐसे सुसमन्वित सुसंघटित शास्त्रनिष्ठ अध्यात्मनिष्ठ आत्मबुद्धिमनःशरीरपर्व–संरक्षक समुदाय का अन्यत्र मिल सकना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है।

भारतीय मानवधर्म्मशास्त्र की एमी घोषणा देखी–सुनी गई है कि, यदि मानव सुख–शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है, तो उसे अनन्यनिष्ठा से निष्काम बुद्धि से धर्म्मशील, पराक्रमी, अनुशासना नुशासित, एवं दृढ़प्रतिज्ञ बना रहना चाहिए। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्म्मः' के अनुसार धर्म्मानुशीलता–धर्म्माचरण से मानव जहाँ ऐहलौकिक ऐश्वर्यलक्षण अभ्युदयात्मक सुखोपभोग में समर्थ बन जाता है, वहाँ इसी धर्म्मानुष्ठान–प्रभाव से यह पारलौकिक निःश्रेयसात्मक शान्तानन्द–लाभ में समर्थ बन जाया करता है। शारीरिक बलात्मक 'बल', एवं मनोबलात्मक 'वीर्य्य', इन दोनों बलों से संयुक्त मानव बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' के प्रभाव से उस लौकिक आततायीवर्ग के दर्पदलन में समर्थ बना रहता है, जो दुष्टबुद्धि असन्निष्ठ आततायी मनुष्य धर्म्मशील मानव की सुख–शान्ति में विघ्न उपस्थित करने का जघन्य प्रयत्न किया करते हैं। पारिवारिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, जातीय, तथा राष्ट्रिय समसामयिक अनुशासनों से (राजशासनानुशासन से) नम्रतापूर्वक अनुशासित रहने वाला मानव क्रमशः अपने परिवार–कुटुम्ब–समाज–जाति एवं राष्ट्र के लौकिक व्यवस्थातन्त्रों को अक्षुण्ण बनाए रखने में सफल होता हुआ इन तन्त्रों का सहयोग अपनी सुव्यवस्था के लिए सहजभाव से प्राप्त करता रहता है। सर्वोपरि अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा से समन्वित दृढ़निश्चय के प्रभाव से पुरुषार्थसाधक प्रत्येक शास्त्रीय, तथा लौकिक कर्म्मानुष्ठान में निश्चयात्मिका सफलता प्राप्त करता हुआ मानव कभी किसी साधन–परिग्रह–सुविधा–प्राप्ति–से भी वञ्चित नहीं रहता, एवं किसी क्षेत्र में असफल भी नहीं बनता। इस प्रकार "धर्म–पराक्रम–अनुशासन दृढ़प्रतिज्ञालक्षण दृढ़निश्चय" इन चारों शास्त्रीय आदेशों का अनुगमन करने वाला मानव सदा पूर्ण शान्त–सुखी–लोकवैभवसम्पन्न–अपराजेय–बना रहता हुआ अपने मानव जीवन को सर्वात्मना कृतकृत्य बना लेता है, जिसके प्रतीक युधिष्ठिर–भीम माद्रीसुत, एवं आपका यह स्नेही सखा (अर्जुन) माने जा सकते हैं। धर्म्मानुगत युधिष्ठिर, पराक्रमानुगत भीम, अनुशासनानुगत माद्रीसुत, एवं दृढ़प्रतिज्ञानुगत आपका यह स्नेही अर्जुन, पाँचों ही अन्तःकरण से मनसा–वाचा–कर्म्मणा तथोक्त शास्त्रादेश का अबतक अक्षरशः अनुगमन करते चले आरहे हैं। किन्तु !

किन्तु परिणाम इस शास्त्रादेशानुगति के आपके इन पाण्डवों को अबतक क्या क्या और कैसे कैसे भोगने पड़े हैं !, और कौन जाने, अथवा तो आप ही जानें–भविष्य में इस धर्म्मासक्ति–शास्त्रासक्ति के और क्या क्या परिणाम–दुष्परिणाम कैसे कैसे हमें भोगने पड़ेंगे !, यह एक महती समस्या आज आपके इस श्रद्धाशील उस अर्जुन को आकुल व्याकुल बना रही है। सर्वविध सुखशान्तिप्रवर्त्तक तथा कथित शास्त्रीय आदेशों का ज्यों ज्यों हमनें आवेशपूर्वक अनुगमन किया, त्यों त्यों उत्तरोत्तर हम अधिकाधिक दुःखी–संत्रस्त बनते गए। सांसारिक सुखसमृद्ध वैभव की कथा तो दूर रही, इस शास्त्रनिष्ठा के निःसीम अनुग्रह से हम तो अपने जन्मसिद्ध शरीरयात्रानिर्वाहक पैतृक दायाद भोग से भी मक्षिकावत्

'पराक्रम'–भाव" सौरी बुद्धि का सहज उपोद्बलक है *। अनुशासन–नियमन–संयम–आज्ञाअनुवर्तित्व–आदि एक ही अनुशासनशीलता के विभिन्न स्वरूप हैं, जिन्हें चञ्चल सौम्य मन का अनुग्राहक माना गया है। स्नायु–मज्जा–शिरा–धमन्यादि की दृढ़ता ही दृढ़गात्रता है। यही यह वास्तविक दृढ़ता है, जिसके आधार पर शेष तीनों आध्यात्मिक पर्व सुव्यवस्थित बने रहते हैं। इसी आधार पर तो देवकीनन्दन! 'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। दृढ़निश्चय, दृढ़प्रतिज्ञा का निर्वाह–पालन–दृढ़गात्र–दृढ़ावयव–शरीर से ही तो शक्य बनता है। अतएव इस दृष्टि से इस दृढ़ता, साथ ही दृढ़प्रतिज्ञा का चतुर्थ शरीरपर्व के साथ सम्बन्ध माना जा सकता है।

निवेदन इस सम्बन्ध में यहाँ यही करना है कि, समष्टिरूप से नहीं, तो व्यष्टिरूप से अवश्य ही पाण्डुपुत्रों ने मानव की तथाकथिता पूर्णभावापन्ना अध्यात्मसंस्था को लक्ष्य बनाते हुए ही अब तक जीवन्–यापन किया है। चारों ही आध्यात्मिक शास्त्रीय कर्त्तव्यकर्मों का जागरूकता–पूर्वक अनुगमन करते हुए ही आपके इन आत्मीय बन्धुओं ने मानव की 'परिपूर्णता' को अन्वय बनाए रखने का यथाशक्य प्रयास अक्रान्त रक्खा है। मानवोचित उन सभी सुव्यवस्थित कर्त्तव्यों का पाण्डुपुत्रोंने समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा निर्व्याजरूप से अनुसरण करते हुए सर्वात्मना यह प्रमाणित कर दिया है कि,–**"पाण्डुपुत्र वास्तव में धर्म्मपथ पर, अभ्युदयनिःश्रेयससाधक शास्त्रीय पथ पर, न्यायपथ पर ही आरूढ़ हैं"।** यदुनन्दन! परिस्थितिवश आकुल–व्याकुलमना बन जाने वाले अपने इस न्योक सभा के आवेश पर किसी अन्यथा कल्पना को स्थान नहीं मिलना चाहिये, यह विशेष प्रार्थना है। जैसी सहज अनुभूति हो रही है, प्रसंगवश से अपने आराध्य सखा के सम्मुख प्रस्तुत है। अनुभूति गतार्थ है इसी निवेदन से। अनुभूति का सर्वथा लौकिक विश्लेषण होना चाहिए अर्जुन!। क्या भगवन् यह भी अपेक्षित है?। **यथाज्ञापयति देवः!।**

आराध्य वासुदेव! अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर जैसे धर्म्मनिष्ठ–धर्म्मात्मा प्रतिमानव, क्षात्रनिष्ठा से एकान्तनिष्ठ बने हुए **'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'** शास्त्रादेश का सतत्वण पालन करने वाले ज्येष्ठवग के अनुशासनवर्त्ती महावीरांश भीम जैसे पराक्रमी, सर्वथा सौम्यमूर्त्ति–मनोमूर्त्ति आज्ञानुकारी माद्रीसुत नकुल सहदेव जैसे अनुशासनानुगामी व्यक्ति वर्तमानयुग में अन्यत्र कहां उपलब्ध होंगे! प्रतिमान नहीं कर रहा भगवन्! इस न्योकसभा की दृढ़प्रतिज्ञा–दृढ़निष्ठा–शास्त्रनिष्ठा भी आप से तो

---

* बुद्धिबल 'पराक्रम' है, मनोबल 'वीर्य्य' है, एवं शरीरबल 'बल' है। लौकिक उदाहरण है–'पुरुष–सिंह–गज'। गज शरीरबलात्मक 'बल' का उदाहरण है, सिंह मनोबलात्मक 'वीर्य्य' का उदाहरण है, एवं पुरुष बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' का उदाहरण है। तीनों उत्तरोत्तर ज्यायान् हैं। अतएव बलशाली गज को वीर्य्यशाली सिंह परास्त कर देता है, एवं वीर्य्यशाली सिंह को पराक्रमशाली मानव पञ्जरबद्ध कर देता है।

चेष्टा की थी। द्यूतशिरोमणि मातुलकार शकुनि के गुप्तम मणारूप प्रेरणाबल के आधार पर आयोजित द्यूतक्रीडा के छल से किसी के सहजसिद्ध धर्मसम्मत सत्त्वाधिकार के अपहरण करने का ही नाम यदि पराक्रम है, तो फिर योगमायासमावृत भगवान्! आसुरी माया की परिभाषा क्या की जायगी ?। असंख्य उदाहरणों में से उद्धृत ये कुछ एक उदाहरण ही कौरवों के पराक्रम के यश पूर्ण इतिहास को अभिव्यक्त करने के लिए सम्भवतः आपकी दृष्टि में पर्याप्त बन जायँगे।

तीसरे मनोनिबन्धन 'अनुशासन', आदेशपालन का इतिहास तो हमारी अपेक्षा कौरवों के वे मातापिता ही सम्यग्रूपेण उपवर्णित कर सकेंगे, जिनके आदेशों का सुपुत्र कौरव अक्षरशः अनुगमन करते रहते थे। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' इत्यादि अनुशासनात्मक औपनिषद आदेशों का पदे पदे उल्लंघन करने में पूर्ण कुशल दुर्य्योधन ने अपने वृद्ध अन्ध पिता धृतराष्ट्र के सामयिक उद्घोषन सूत्रों (चेतावनी) का, आदेशावदेशों का किस सीमापर्य्यन्त अनुगमन किया ?, अनुशासनसम्बन्धी ये सम्पूर्ण मनोभाव अन्तर्यामी भगवान् के लिए सम्भवतः परोक्ष न होंगे। क्षमा करेंगे भगवन् इस कालप्रवाहित प्रश्न का, 'अतिथिदेवो भव' इस श्रौत अनुशासन का सुफल ? तो स्वयं वासुदेव जैसे महामान्य अतिथि को भी ... । 'आचार्य देवो भव' आदेश के उल्लंघनरूप महासत्कार से गुरु द्रोणाचार्य भी अनेक बार आत्मतुष्टि का अनुभव कर चुके होंगे ?। गुरुजनों की आदेशानुशासन परम्परा को गजनिमीलिकान्याय से सर्वथा निराकृत करने वाले दुर्य्योधन की—'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन माधव' घोषणा का रहस्यवेत्ता आपके अतिरिक्त और कौन होगा ?। हाँ, शरीरानुगता हठनिश्चयात्मिका दृढ़निष्ठा अवश्य ही दुर्य्योधन की लोकोत्तर मानी जानी चाहिए, जिसके आधार पर उसका एकमात्र मूलमन्त्र था—'शरीरं वा पातयामि, कार्य्यं वा साधयामि' यह। क्या इस दुराग्रहरूपा दृढ़निष्ठा का 'दृढ़प्रतिज्ञा' जैसे सत्यभाव से आप समतुलन करेंगे ?। कदापि नहीं, सर्वथा नहीं। तदित्थं, पाण्डवों की दिशा से सर्वथा विपरीत धर्म्म–पराक्रम–अनुशासन–दृढ़प्रतिज्ञा–चारों शास्त्रीय निष्ठाओं–मर्यादाओं–आदेशोपदेशों–विधिविधानों का प्रत्यक्षरूप से पदे–पदे, स्थाने–स्थाने, क्षणे–क्षणे उल्लंघन करते रहने वाले दुर्य्योधनप्रमुख कौरव आज स्वच्छन्दरूप से साम्राज्य-सुखोपभोग के सफल उपभोक्ता प्रमाणित हो रहे हैं।

''शास्त्रनिष्ठ–आस्थाश्रद्धापूर्वक नैगमिक वर्णाश्रमनिबन्धन-स्वधर्म्मात्मक नियत-कर्म्मनिष्ठ सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों की ऐकान्तिक दुःखानुगति, एवं शास्त्रविमुख–आस्थाश्रद्धाशून्य–उच्छृंखलकर्म्मरत स्वार्थलिप्सु आततायी सर्वपापसम्पन्न भी कौरवों की आत्यन्तिक सुखानुगति''
क्या यह वैषम्य विधि का विचित्र विमोहक सिद्धान्त नहीं है ?। ऐसे विचित्र, आस्तिक श्रद्धालु मानव का विमोहक, इसकी आस्था–श्रद्धा को निःशेषरूप से विगलित कर देने वाला वैषम्य क्या भगवान् से आज परोक्ष रह गया है ?। ऐसी स्थिति में, एसे विचित्र–विषम–विधिविधानों के समुपस्थित रहते हुए आज हमारे आत्मीय सत्या मानो हमारा ही नहीं, अपितु शास्त्रनिष्ठा, धर्म्मनिष्ठा, निगमनिष्ठा, आचारनिष्ठा, आदर्श

बहिष्कृत कर दिए गए आततायीवर्ग के द्वारा । अनन्त कृतज्ञतापरम्परा समर्पित है सभन्यवाद इस आपकी शास्त्रनिष्ठा के प्रति, धर्म्माचरण के प्रति, जिसके लोकोत्तर अनुग्रह से आज हम वर्त्तमान उस स्थिति में उपस्थित हो गए हैं, जिस स्थिति के स्मरणमात्र से भी सहृदय मानव विकम्पित हो पड़ता है ।

सुनने का अनुग्रह करेंगे भगवन्! इसी प्रक्रान्त प्रसङ्ग में पाण्डवों के कुशलक्षेमात्मक समाधान से ही सम्बन्धित एक दूसरे प्रत्यक्ष दृष्टिकोण का स्वरूपविश्लेषण ! । यदि हाँ, तो सुनिए ! सज्जीभूत मन कर सुनिए ! सम्भव है यह पावनगाथा आपके 'परित्राणाय साधूनाम्' इस उद्घोष को बलप्रदान कर सके । पाण्डवों के ही बन्धुगण दुर्योधनप्रमुख कौरवों की आत्मगाथा, विमलगाथा से सम्भवतः वासुदेव अपरिचित न होंगे, जिन्होंने जगतीतल पर अवतीर्ण होने के अव्यवहितोत्तरक्षण से ही अपना प्रकाण्ड ताण्डवलक्षण सर्वशान्तिविघातक ताण्डवनृत्य आरम्भ करते हुए संहारक रुद्र के ताण्डवनृत्य को भी स्मृतिगर्भ में विलीन कर दिया है । बालक्रीडाप्रसङ्ग जैसे सर्वथा शुद्ध—भावुक—रागद्वेषशून्य—पावन वाता वरण से ही यह ताण्डव आरम्भ होगया था उन आततायी कौरवों का । बालक्रीडाप्रसङ्ग पर हमारे ज्येष्ठभ्राता भीम को सरोवर में निष्प्राण बना कर निमज्जित कर देने की कौरवबालकों की अभूतपूर्वा अदृष्टपूर्वा धर्मगाथा ! की पावनस्मृति ! सम्भवतः आप के स्मृतिपटल से अद्यावधि विलुप्त नहीं हुई होगी ! । विश्वमानव की सभ्यता—संस्कृति—आदर्श—धर्म—आदि को आमूलचूड़ विकम्पित कर देने वाली निगमविरुद्ध द्यूतक्रीडा के शुभअवसर ! पर घटित विघटित की जाने वाली उन धर्मधुरीणों ! की धर्म्मानुगता !, हाँ, विशुद्धधर्म्मानुगता सर्वथा सत्यनिष्ठ ! शकुनिराजसञ्चालकत्वा द्यूतपद्धति के उद्गमकर इतिहास की पावनस्मृति भी सम्भवत मेरे भगवान् अब तक विस्मृत न कर सके होंगे ! । सम्भवतः क्यों, निश्चय ही अपने बन्धुबन्धु पाण्डवों की शीघ्रनिवृत्तिमात्र के लिए, इस करुणापूर्णा शुभ वासना को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए ही आयोजित 'लाक्षागृहदाह' की पावनगाथा भी आपने अपने अनन्यभक्त विदुर से सुन ही रक्खी होगी ! । परम्परार्द्धमित भी गणनाङ्क निःशेष बन रहे हैं मेरे वासुदेव कृष्ण ! उन कौरवबन्धुओं की इस प्रकार की पावन—गाथा परम्परा का यशोगान करने के लिए । यही है उन नैष्ठिक दुर्योधनप्रमुख कौरवों की धर्म्मशीलता—धर्म्मपरायणता का लोकोत्तर इतिहास, जिसे स्मृत्वा स्मृत्वा अवश्य ही भगवान् भी लोकमानववत् 'रोमहर्षश्च जायते' वैखरी अभिव्यक्त किए बिना न रह सकेंगे, नहीं रह सकेंगे ।

यह तो हुआ आत्मानुगता धर्म्मगाथा की तत्सम्बन्धिनी पावनगाथा का संक्षिप्त इतिवृत्त । दूसरी बुद्धयनुगता पराक्रमविभूति के भी शतशः सहस्रशः सफल उदाहरण उनके सम्बन्ध में उपस्थित किए जा सकते हैं । द्रुपदराज के गार्हस्थ्य का स्तेयकर्म्म जैसे पावन ! कर्म्म के पराक्रममाध्यम से अपहरण करने के लिए निष्फल प्रयास करने के अतिरिक्त उनके पराक्रम का ज्वलन्त उदाहरण और क्या हो सकता है ! यदि उस समय भावुक धर्म्मराज अनुग्रह न करते, तो विश्वविख्यात बन जाता कौरवों का यह पराक्रम, जिसके बल पर उन्होंने गन्धर्वराज चित्ररथ के ऐकान्तिक उपवन—विहार में हस्तक्षेप करने की जघन्य

अभिव्यक्त किया कि,–"यदि ऐसा है, तो सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डव दुःखी क्यों ?, एवं सब दोषान्वित भी कौरव सुखी क्यों" इस अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में ही हम तुम से आज कुछ कहना है तुम्हारी मान्यता का समादर करते हुए ही।

हम यह कहना पड़ेगा कि, तुम्हारी इत्थंभूता अभिव्यक्ति नितान्त भावुकतापूर्ण है। कारण स्पष्ट है इस तात्कालिक भावुकता का। अपनी भुक्त–वर्त्तमान संघर्षपरम्परा के निविड़ निग्रहपाश से विमोहित तुम्हारी सहज धृति आज पलायित हो रही है। अतएव क्षणमात्र भी पूर्वापर के समन्वय–पर्य्यवेक्षणमूला धृति का अनुगमन तुम्हारे लिए अशक्य बन गया है। यदि धृतिलेश के माध्यम से भी तुम अपनी समस्या पर दृष्टिपात कर लेते, तो तुम स्वयं अपनी समस्या का सरल समाधान प्राप्त कर लेते। यदि तुम से ऐसा भी सम्भव न था, तो अपनी आभ्यन्तर धृति से तुम कुछ समय और कालपुरुष की तो प्रतीक्षा करते। कालपुरुष–प्रतीक्षा निकट भविष्य में ही तुम्हारी सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान कर देती। तुम्हें कालान्तर में यह अनुभव हो जाता कि, सत्परिणाम सत् ही होता है, एवं असत् परिणाम असत् ही रहता है। आस्तां तावत्। जो कुछ हो गया, उसकी भावुकतापूर्णा निरर्थक चर्वणा से अपने आपको उत्पीड़ित करते रहना अब निष्प्रयोजन है। अब तो तुमने आवेशपूर्वक परिस्थिति वैसी उत्पन्न कर दी है, सर्वथा लौकिक–भावुकता के आवेश से तुमने जो समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित कर दी है, सर्वथा लौकिक–निष्ठा के आधार पर ही हमें तुम्हारा तात्कालिक समाधान करना ही पड़ेगा।

मानते हैं, सर्वात्मना अनुभव कर रहे हैं कि, पाण्डव सर्वगुणसम्पन्न हैं, एवं कौरव सर्वदोषसम्पन्न। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही क्या हम तुम्हारी इस मान्यता का इस रूप से विरोध नहीं कर सकते कि, "सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों में एक वैसा महतो महीयान् महादोष आज अन्तर्य्यामसम्बन्ध से उनमें समाविष्ट हो पड़ा है, जिस उस एक ही बलवत्तम महादोष ने सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों को सन्त्रस्त बना डाला है, एवं जिस उस एक ही दोष से उनके सम्पूर्ण गुण भी दोषरूप में परिणत हो गए हैं"। अपने उस अज्ञात महादोष से ही पाण्डवों ने अपनी आय से शतपर्य्यन्त दुःख–सन्ताप–शोकानुशोकपरम्परा का जानबूझ कर आमन्त्रण किया है।

ठीक इसके विपरीत, "सर्वदोषसम्पन्न भी कौरवों में एक वैसा महतो महीयान् महागुण अन्तर्य्याम सम्बन्ध से उनका मूलाधार बन गया है, जिस उस एक ही बलवत्तम महागुण ने सर्वदोषसम्पन्न भी कौरवों को वैभवशाली बना दिया है, एवं जिस उस एक ही गुण से उनके सम्पूर्ण दोष भी गुणरूप में परिणत प्रतीत हो रहे हैं"। अपने उस सर्वथा ज्ञात महागुण से ही कौरवों ने अपनी आय से इतिपर्य्यन्त सुख–समृद्धि–राज्यवैभव परम्परा का सर्वथा अवधानपूर्वक अर्जन कर लिया है।

अर्जुन ! सहज भावुक पार्थ ! अपने भावावेश के कारण तुम सहसा अभी ही हम से प्रश्न कर बैठोगे कि, वह कौन सा वैसा महादोष है, जिसने पाण्डवों के सम्पूर्ण गुणों को दोषरूप में परिणत कर

निद्रा, परलोकनिद्रा, आदि का उपहास-सा ही करते हुए अपने आत्तायरथापन्न अश्रुपूर्णाकुलेक्षण इस योकसम्पा से प्रश्न कर रहे हैं कि,-'मित्र ! सब कुशल तो है ?' ।

भगवन् ! यही है आपकी आत्मबन्धुस्नेहमूला कुशलप्रश्नजिज्ञासा का संक्षिप्त, किन्तु नितान्त उद्गार-कर समाधान, जिसके गर्भ में आपके इस प्रिय सखा अर्जुन की ओर से परोक्षरूपेण निहित महती समस्या आज एक सर्वसमर्थ समाधानकर्त्ता अतिमानस के सम्मुख उपस्थित हो रही है। इस परोक्षसमस्या समुपस्थिति के साथ साथ ही अर्जुन आज स्वयं अपने अन्यतम हितैषी वासुदेव श्रीकृष्ण से भृष्टतापूर्वक यह प्रतिप्रश्न कर रहा है कि, भगवन् ! आपने आत्मबन्धु पाण्डवों की तथाप्रवर्णित, एवं लोकसंग्रहरूपा लोकसमाहक भगवान् के द्वारा भी कर्णाकर्णिपरम्परया श्रुत-उपश्रुत वर्त्तमान दीन-हीन-दुःखार्त्त दशा-दुरवस्था से निश्चयेन निरतिशयेन रूपेण अपने अन्तर्जगत् में क्षुब्धवत्-आर्त्तवत् बने रहते हुए मेरे अन्यतम स्नेही वासुदेव !

"आप कुशलक्षेमपूर्वक तो है ?"

(१४)-कृष्णार्जुनप्रश्नोत्तरपरम्परा—

अर्जुन की ओर से, महामायात्मक मोहपाशनिबन्धन परिस्थितिलक्षण कालक्षेप से भावुक बने हुए नितान्त क्षुब्ध-आर्त्त-अश्रुपूर्णाकुलेक्षण चलितप्रज्ञ अर्जुन की ओर से समुपस्थित समस्या के आधार पर समाधानदिशा के प्रमुख रहस्यपूर्ण (निष्ठापूर्ण) दृष्टिकोण को परोक्षरूपेण लक्ष्य बनाते हुए अन्तर्यामी वासुदेव कृष्ण अपने भावुक सखा की तात्कालिक भावुकता का लोकसंग्रहरूपा समर्थन करते हुए गम्भीर वाणी से उद्बोधन कराते हुए प्रहसन्निव कहने लगे, मित्र अर्जुन ! तुमने अपनी समस्या-महती समस्याओं-के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ भी उद्गार प्रकट किए, उसका अक्षर अक्षर यथार्थ है, सत्य है। अवश्य ही स्वस्वकक्षोपेत सूर्यवत् पाण्डव सद्गुणसम्पन्न ही हैं, एवं कौरव सर्वदोषसम्पन्न ही हैं। पाँचों पाण्डवों में से प्रत्येक अपने अपने गुण-योग्यता-शक्ति-वीर्य-पराक्रम-साहस-धृति-धर्म-परायणता-आदि आदि सद्विभूतियों के सम्बन्ध में आज सम्पूर्ण विश्व की मानवता के लिए आदर्श प्रमाणित हो रहे हैं। ठीक इसके विपरीत दुर्योधन की, तथा तत्सहयोगी दुःशासन-शकुनि-आदि प्रहसन्निव मानवों की अवगुण-अयोग्यता-भीरुता-अधर्माचरण-आसुरी माया से आज समस्त विश्व की मानवता विकम्पित है। पाण्डवों तथा कौरवों के सम्बन्ध में समरभाव से समुपस्थित किया जाने वाला सम्पूर्ण तथ्य प्रामाणिक है, अतएव सर्वात्मना अनुमोदनीय है। इस सम्बन्ध में तुमने जो कुछ भी कहा, अवश्य यथार्थ है, मननीय है। इस यथार्थता के साथ साथ ही तुम्हारा यह कथन भी सर्वात्मना सर्वसम्मत, अतएव सर्वथा मान्य ही माना जायगा कि, 'शास्त्रसिद्ध गुणविभूति के अनुगमन से जहाँ मानव प्रतिदिन श्वः श्वः अभ्युदय-निःश्रेयसस्वरूप सुख-शान्ति का भोक्ता बना रहता है, वहाँ शास्त्रविरुद्ध दोषपरम्परा के अनुगमन से मानव प्रतिदिन दुःखापभोक्ता ही प्रमाणित होता रहता है"। इसी गुण-दोषात्मक दृष्टिबिन्दु के माध्यम से तुमने आवेशपूर्वक जो यह

अभिव्यक्त किया कि,—"यदि एसा है, तो सवगुणसम्पन्न भी पाण्डव दुःखी क्यों ?, एवं सव दोषान्वित भी कौरव सुखी क्यों" इस अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में ही हम तुम से आज कुछ कहना है तुम्हारी मान्यता का समादर करते हुए ही।

हम यह कहना पड़ेगा कि, तुम्हारी इत्थभूता अभिव्यक्ति नितान्त भावुकतापूर्ण है। कारण स्पष्ट है इस तात्कालिक भावुकता का। अपनी मुक्त—वर्त्तमान मेघपरम्परा के निबिड़ निग्रहपाश से विमोहित तुम्हारी सहज धृति आज पलायित हो रही है। अतएव क्षणमात्र भी पूर्वापर के समन्वय—सम्प्रेक्षणमूला धृति का अनुगमन तुम्हारे लिए अशक्य बन गया है। यदि धृतिलेश के माध्यम से भी तुम अपनी समस्या पर दृष्टिपात कर लेते, तो तुम स्वयं अपनी समस्या का सफल समाधान प्राप्त कर लेते। यदि तुम से एसा भी सम्भव न था, तो अपनी आभ्यन्तर धृति से तुम कुछ समय और कालपुरुष की तो प्रतीक्षा करते। कालपुरुष—प्रतीक्षा निकट-भविष्य में ही तुम्हारी सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान कर देती। तुम्हें कालान्तर में यह अनुभव हो जाता कि, सत्परिणाम सत् ही होता है, एवं असत् परिणाम असत् ही रहता है। आस्तां तावत्। जो कुछ हो पड़ा, उसकी भावुकतापूर्णा निरर्थक चर्वणा से अपने आपको उत्पीड़ित करते रहना अब निष्प्रयोजन है। अब तो तुमने आवेशपूर्वक परिस्थिति वैसी उत्पन्न कर दी है, सवथा लौकिक—भावुकता के आवेश से तुमने जो समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित कर दी है, सवथा लौकिक—निष्ठा के आधार पर ही हमें तुम्हारा तात्कालिक समाधान करना ही पड़ेगा।

मानते हैं, सर्वात्मना अनुभव कर रहे हैं कि, पाण्डव सवगुणसम्पन्न हैं, एवं कौरव सवदोषसम्पन्न। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही क्या हम तुम्हारी इस मान्यता का इस रूप से विरोध नहीं कर सकते कि, "सवगुणसम्पन्न भी पाण्डवों में एक वैसा महतो महीयान् महादोष आज अन्तर्य्यामसम्बन्ध से उनमें समाविष्ट हो पड़ा है, जिस उस एक ही बलवत्तम महादोष ने सवगुणसम्पन्न भी पाण्डवों को सन्त्रस्त बना डाला है, एवं जिस उस एक ही दोष से उनके सम्पूर्ण गुण भी दोषरूप में परिणत हो गए हैं"। अपने उस अज्ञात महादोष से ही पाण्डवों ने अपनी अथ से इतपर्य्यन्त दुःख—सन्ताप—शोकानुशोकपरम्परा का जानबूझ कर आमन्त्रण किया है।

ठीक इसके विपरीत, "सवदोषसम्पन्न भी कौरवों में एक वैसा महतो महीयान् महागुण अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से उनका मूलाधार बन गया है, जिस उस एक ही बलवत्तम महागुण ने सवदोषसम्पन्न भी कौरवों को वैभवशाली बना दिया है, एवं जिस उस एक ही गुण से उनके सम्पूर्ण दोष भी गुणरूप में परिणत प्रतीत हो रहे हैं"। अपने उस सर्वथा ज्ञात महागुण से ही कौरवों ने अपनी अथ से इतिपर्य्यन्त सुख—समृद्धि—राज्यवैभव परम्परा का सवथा अवधानपूर्वक अर्जन कर लिया है।

अर्जुन ! सहज भावुक पार्थ ! अपने भावावेश के कारण तुम सहसा अभी ही हम से प्रश्न कर बैठोगे कि, वह कौन सा वैसा महादोष है, जिसने पाण्डवों के सम्पूर्ण गुणों को दोषरूप में परिणत कर

इन्हें 'आद्यन्त का दुःखी' बना डाला ! । एवं वह ऐसा कौनसा महागुण है, जिसने कौरवों के सम्पूर्ण दोषों को गुणरूप में परिणत करते हुए उन्हें 'आद्यन्त का सुखी' बना डाला ! । प्रश्न का समाधान अवश्य ही आरम्भ में तुम्हारे भावुक अर्जुन को अमुक अंशों में अस्तव्यस्त-सा, अशान्त-सा, अन्यथा-सा समविषमसमस्या-निराकरण के स्थान में समस्यावृद्धि का ही कारण प्रतीत होगा । किन्तु यह निश्चित है कि, कालान्तर में धृतिपूर्वक पूर्वापरविचार-विवेकविमर्शपूर्वक जब भी प्रस्तुत समाधान के आध्यात्मिक मौलिक रहस्य की ओर तेरा ध्यान आकर्षित होगा, अवश्य ही इस समाधान से आत्मतुष्ट बनता हुआ तू लब्धानन्द हो जायगा ।

नैगमिक आख्यानग्रन्थों में उपवर्णित सुप्रसिद्ध 'भावुकता' ही पाण्डवों का वह सब से बड़ा लौकिक दोष माना जायगा, जिसने पाण्डवों की स्वाभाविक लोकनिष्ठा को आवृत-आच्छादित कर तद्द्वारा पाण्डवों की गुणविभूति को अन्तर्मुख बनाते हुए इन्हें आद्यन्त का दुःखी बना डाला । एवं नैगमिक ग्रन्थों में ही उपवर्णित सुप्रसिद्ध 'निष्ठा' ही कौरवों का वह सब से बड़ा लौकिक गुण माना जायगा, जिसने कौरवों की स्वाभाविक लोकभावुकता को आवृत कर तद्द्वारा कौरवों की दोषपरम्परा को अन्तर्मुख बनाते हुए उन्हें आद्यन्त का सुखी बना लिया । अर्जुन ! होगया न इस समाधान से तेरी समस्या का समाधान ! ।

परिस्थिति की विषमता से आक्रान्तमना भ्रान्त-भ्रान्त-विभ्रान्त अर्जुन भगवान् की ओर से समुपस्थित समस्या-समाधान के आध्यात्मिक-तथ्य का तत्काल समन्वय करने में असमर्थ बनता हुआ अपने आवेश पर नियन्त्रण न कर सका, न कर सका । परिणामस्वरूप अपनी तात्कालिक चलितप्रज्ञा के आवेश से स्वयं ही भावुकता-निष्ठा-द्वन्द्व का लौकिक-बाह्य-आपातरमणीय समन्वय करने की भ्रान्ति से आविष्टमना अर्जुन सहसा इन उद्गारों का अनुगमन कर ही तो बैठा कि—

भगवन् ! आपकी दृष्टि में सम्भवत 'भावुकता' का यही तात्पर्य होगा कि, "भावुकता एक वैसा दोष है, जो मानव को दृढ़निश्चयी, दृढ़प्रतिज्ञ, कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बनने देता" । दूसरे शब्दों में भावुक मानव स्वदृढनिश्चय को, स्वप्रतिज्ञा को, अपने कर्त्तव्यकर्म्म को कार्य्यरूप में परिणत करने में क्योंकि असमर्थ-असफल रहता है, अतएव ऐसा भावुक मानव लोकवैभव-लोकसमृद्धि से वञ्चित बना रह जाता है । उधर आपकी दृष्टि में 'निष्ठा' का तात्पर्य भी इसके अतिरिक्त और क्या होगा कि, "निष्ठा एक वैसा गुण है, जो मानव को कर्त्तव्यनिष्ठ-कर्त्तव्यपरायण बनाए रखता है" । दूसरे शब्दों में नैष्ठिक मानव अपने दृढ़ निश्चय को, अनन्य लक्ष्य को क्योंकि कालप्रतीक्षा किए बिना अविलम्ब सोत्साह कार्य्यरूप में परिणत कर लेता है, अतएव यह लोकवैभव-समृद्धि से समन्वित बन जाता है । निष्कर्ष यदि आपकी दृष्टि में निष्ठा-भावुकता-शब्दों की यही परिभाषा है कि—

"दृढ़ निश्चयात्मक प्रतिज्ञापालन का प्रतिबन्धक-निरोधक दोष ही भावुकता है, एवं दृढ़-निश्चयात्मक प्रतिज्ञापालन-कर्त्तव्यपालन का समर्थक-उत्तेजक-गुण ही निष्ठा है"

तो भगवन् ! क्षमा करेंगे इस धृष्टता के लिए मुझे आप कि, पाण्डवों पर यह कलङ्क स्वप्न में भी नहीं लगाया जाना चाहिये, नहीं लगाया जा सकता। कौन कहता है कि, पाण्डव पृथग्लक्षणयुक्त भावुकता भाव के अनुगामी हैं ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! कौन यह कहने का दुःसाहस कर सकता है कि, पाण्डव दृढनिश्चयी नहीं हैं, क्रिया कर्त्तव्यपालक नहीं हैं ?। यह आरोप, यह दोषारोपण, भगवन् क्षमा करेंगे, आपकी ओर से हो रहा है। यदि दृढप्रतिज्ञ दृढनिश्चयी आपके इस स्नेही अर्जुन के सम्मुख पाण्डवों के सम्बन्ध में दूसरा कोई इस प्रकार की आलोचना करने का उपक्रम करता, तो तत्क्षण उसे ।

यह कौन नहीं जानता कि, धर्मराज युधिष्ठिर ने धर्मसम्मता इस प्रतिज्ञापालन, इस कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुगति-पूर्त्ति के लिए ही हास-परिहासपूर्वक वनवासकष्टपरम्परा का सहन कर लिया। अतिशय विनम्र शब्दों में—क्योंकि प्रसङ्ग उपस्थित हो ही गया है, तो इस अनुचरात्मा को भी सम्भवतः इस सम्बन्ध में यह निवेदन कर देने का अवसर दिया जा सकता है कि, एकमात्र दृढनिश्चयलक्षण दृढनिष्ठागुण के संरक्षण के लिए ही, किसी समय में किसी कारणानुबन्ध से परस्पर सन्धापूर्वक की गई प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए ही आततायी तस्कर के द्वारा अपहृत ब्राह्मण के गोधन के प्रसङ्ग में धर्मराज युधिष्ठिर के एकान्तकक्ष में निहित अपने गाण्डीव के आदान माध्यम से इस स्नेही ने उल्लासपूर्वक ही 'वनवास' अङ्गीकृत कर लिया था। अपने इसी दृढनिश्चय के आधार पर गुरुवर द्रोणाचार्य के प्रतिद्वन्द्वी द्रुपदराज का गर्व ध्वस्त किया गया था। इसी अनन्यनिष्ठा के अनुग्रह से स्वयम्बर में मत्स्यवेध के द्वारा पाञ्चाली का वरण सम्भव बना, शस्त्रास्त्र-परीक्षणप्रसङ्ग में चक्रमीवामाक्ष लक्ष्य बनी, गुरुद्रोण का मत्स्याक्रमण से त्राण हुआ। अलमतिपल्लवितेन। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, उदाहरणशतसहस्रपरम्पराओं के द्वारा आपके सम्मुख यह प्रमाणित करने की धृष्टता की जा सकती है कि, पाण्डवों का दृढनिश्चय, प्रतिज्ञापालन, अनन्यकर्त्तव्यनिष्ठानुगति, जिसे आप 'निष्ठारूप' महागुण घोषित कर रहे हैं, यह तो पाण्डवों के लिए सर्वथा सहजभाव है।

ठीक इसके विपरीत जिन दुर्योधनप्रमुख कौरवों को आप जिस निष्ठागुण से सुविभूषित ? घोषित करते हुए हमारे उद्बोधन का अनुग्रह अभिव्यक्त कर रहे हैं, उन दुष्टबुद्धि असन्मानधर्माओं के सम्बन्ध में शतशः सहस्रशः ऐसे उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं, जिनसे यह सर्वात्मना प्रमाणित हो जाता है कि, कौरववर्ग से अधिक सत्यच्युत–प्रतिज्ञाविभञ्जक–असत्यपरायण–स्खलितवचन–धूर्त–वञ्चक–परप्रतारक मानववर्ग का अन्यत्र मिल सकना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। सुसंस्कृत–सुसभ्य–धर्मनिष्ठ वृद्ध ऋषि–मुनि–नीतिज्ञ मानवश्रेष्ठसुविभूषित कुरुकुल की राजसभा में आर्यनारी द्रुपदसुता पाञ्चाली के नारीसुलभ लज्जापहरण का निर्लज्ज उद्वेगकर जघन्य प्रयास, सर्वथा छल–कपटपूर्वक द्यूतकर्म में विजयलाभ, गुप्तमन्त्रणा द्वारा लाक्षागृहनिर्माण का निकृष्टतम आयोजन, द्रुपदराज के गोधन जैसे पावनतम धन के अपहरण की कुत्सित मनोवृत्ति, न्यायसिद्ध दायाद का धूर्ततामाध्यम से अपहरण, अपनी अल्पावस्था में ही अपने भ्राताओं को विषगर्त्तानुगत बनाने जैसा महापातक कर्म, अपने प्रज्ञाचक्षु पिता का

पदे पदे तिरस्कार, आदि आदि उदाहरण क्या कौरवों के दृढनिश्चयात्मक–प्रतिज्ञापालनात्मक–निष्ठारूप गुण के महत्वपूर्ण लोकप्रशस्त ! निदर्शन हैं ! । पुन पुनः क्षमा याचना करता हुआ आपका यह भावुक ! अर्जुन इस सम्बन्ध में विवश बन कर यही आत्मनिवेदन करेगा कि, वासुदेव ने कौरवों, तथा पाण्डवों की अत्यन्त जटिल समस्या का 'भावुकता', तथा 'निष्ठा' नामक दो आकर्षक शब्दमात्रों के तथाकथित सम्भावित तात्पर्य्यों के आधार पर जो समस्यानिराकरण अर्जुन के सम्मुख रखने का निःसीम अनुग्रह किया, अर्जुन इससे सर्वात्मना तो क्या अंशतः भी सन्तुष्ट ही क्या नहीं है, अपितु विशेषरूप से उद्विग्न है । किसी भी दशा में स्वप्न में भी पाण्डव इस अभियोगपरम्परा के लाञ्छन के लक्ष्य बनने के लिए कदापि सन्नद्ध नहीं है, एवं कौरव त्रिकाल में भी कथमपि इस अभियोग परम्परा से अपना आत्मत्राण नहीं कर सकते ।

अर्जुन की, भावाविष्ट सौम्य अर्जुन की तुष्टिवञ्चिता तथोपवर्णिता उक्ति के आवेशपूर्ण भावुक उद्गारों के प्रति प्रहसन्निव वासुदेव श्रीकृष्ण उपलालनभाव के माध्यम से अपने इस सौम्य सखा को सम्बोधित करते हुए कहने लगे कि, अर्जुन ! प्रतीत होता है हमारे समस्या–समाधान से तू क्षुब्ध–रुष्ट बन गया है । ठीक ही है, जानते थे हम इस परिणाम को पहिले से ही । यही तो भावुक मानव की भावुकता का प्रत्यक्ष स्वरूप है, जिसका निमित्त बन रहा है हमारा प्रिय सखा अर्जुन । भावुक मानव अपनी भावुकता पूर्ण मान्यता के विरुद्ध एक अक्षर भी सुनना नहीं चाहता । कठिन है ऐसे उस भावुक का मनोऽनुरञ्जन, जो स्वमान्यता के विरुद्ध कुछ भी सहन न करता हुआ बड़े ही भावावेश के साथ उस समाधान के खण्डन में प्रवृत्त हो जाता है । मण्डन इस भावुक का धर्म्म है भी कहाँ । केवल खण्डनपरायण, निषेधप्रिय भावुक मण्डनात्मिका विधि से तबतक अनुभावित नहीं किया जा सकता, जबतक कि वह स्वयं मण्डनात्मिका विधि का साक्षात्कार न कर ले । तदवधिपर्य्यन्त तो भावुक मानव सहसा आवेश में आते हुए यों ही चशे घषे पदे-पदे तुष्ट एवं रुष्ट होते रहते हैं । इसी आधार पर तो हमें यह कहना पड़ रहा है, बार बार कहना पड़ रहा है कि, इस तात्कालिक भावावेशलक्षणा मानसिक भावुकता ने ही सहज निष्ठाबुद्धि को अभिभूत करते हुए सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों को आद्यन्त का दुःखी बना डाला है ।

निष्ठागुण का महतो महीयान् फल है–'प्रत्यक्ष से कभी भी प्रभावित न होना' । नैष्ठिक मानव प्रत्यक्ष से प्रभावित होना जानता ही नहीं । वह एक ओर जहाँ अपनी बड़ी से बड़ी स्तुति का, यशोवर्णन का, गरिमागाथाश्रवण का, कीर्त्तिउपवर्णन का सहजभाव से सर्वात्मना निगरण कर जाता है, वहाँ दूसरी ओर अपनी बड़ी से बड़ी निन्दा–अपयशख्यापन–लघिमागाथाश्रवण–अपकीर्त्तिउपवर्णन को भी उसी सहज भाव से अपने विपुलोदरमहिमागर्भ में निमज्जित कर लेता है । ऐसा यह नैष्ठिक महामानव, महामहिम–महाप्राणयमुक्त–महाशस्त मानव प्रपञ्च में घटित विघटित उत्तम–मध्यमाधम किसी भी प्रकार की श्रेष्ठ–कनिष्ठ–ही–स्थिति-परिस्थिति से यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं होता । न इसे अनुरूप स्थिति (अनुकूल परिस्थिति) चलितप्रज्ञ बना सकती, एवं नाहीं इसे प्रतिकूल स्थिति (विपरीत परिस्थिति) स्खलित

कर सकती। अन्यथा सम्पूर्ण उच्चावच स्थिति परिस्थितियों में–'वृक्ष इव स्तब्धस्तिष्ठति' को अन्वर्थ बनाता हुआ 'स यथा यथोपासते, तथैव भवति' इत्यादि औपनिषद् सिद्धान्तानुसार यह नैष्ठिक मानव लोकसंग्रहमात्र के लिए अपनी पारिवारिक–सामाजिक–एवं राष्ट्रिय उच्चावच अनुकूल–प्रतिकूल स्थिति परिस्थितियों के अनुरूप ही अपने आप को प्रदर्शित करता हुआ अरीबागर्त्ति, सदा सर्वदा जागरूक बना रहता है।

कारण स्पष्ट है। निष्ठाधान मानव का अनन्य लक्ष्य बना रहता है 'स्व' मात्र। भावुक मानव जहाँ 'पर' भावानुगत बना रहता हुआ परष्ठण्ण रहता है, वहाँ नैष्ठिक मानव 'स्व' भावानुगत बनता हुआ 'स्वद्रष्टा' है। भयल अपने आपके स्वरान–पर्यवेक्षण का ही इसे ध्यान रहता है, जबकि परभावानुगत भावुक मानव सदा परदर्शन–पर्यवेक्षण–आलोचना–आदि में ही अहोरात्र चिन्तानिमग्न बना रहता है। भावुक जहाँ अहोरात्र 'पर' तन्त्रचिन्तानिमग्न बना रहता हुआ पर उत्तरदायित्व से लक्ष्यच्युत रहता है, वहाँ नैष्ठिक को सदा अपने उत्तरदायित्वरूप 'स्व' तन्त्रसंरक्षण का ही ध्यान रहता है। वर्त्तमान कालात्मिका 'स्थितिबिन्दु' ही इस नैष्ठिक की 'स्व' भावानुगता मूलप्रतिष्ठा है। स्वभावानुगत–वर्त्तमान कालात्मक इस स्वरूपसंरक्षक स्थितिबिन्दुमात्र के संरक्षण में ही अनन्य-से प्रयत्नशील बने रहने वाले नैष्ठिक मानव को अपनी वर्त्तमानकालानुगता 'स्थिति' (स्वरूपस्थिति) की रक्षा के लिए सतत जागरूक भाव से भूत, एवं भविष्यत्, दोनों पूर्वापर कालस्थितियों को सदा लक्ष्यभूमि बनाए रखना पड़ता है। अतीत, और आगामी (भविष्य) का परिणामवाद ही क्योंकि इसकी वर्तमान स्थिति का स्वरूप संरक्षण करने की क्षमता रखता है, इसी रक्षासाधन के के बल पर इसकी वर्त्तमानस्थितिस्वरूप 'स्व' भाव की रक्षा विकास पुष्टि–अभिवृद्धि अवलम्बित है। यही कारण है कि, त्रिकालनिष्ठ–भूतभवत्भविष्यत्–निष्ठ–वर्त्तमानकालानुगामी यह नैष्ठिक मानव भूत–भविष्यत्कालसम्बन्धिता पूर्वापरपरिस्थितिविगलिता, अतएव उभयाधारशून्या, अतएव च सर्वात्मना अप्रतिष्ठिता केवल वर्त्तमानकालानुगता तात्कालिकभाव-मात्रा प्रत्यक्षस्थिति के आवेशपूर्ण तात्कालिक प्रभाव से सदा अपने आपका संत्राण करता रहता है, सदा बचता रहता है अपने लक्ष्यीभूत कर्मसिद्धि के लिए प्रत्यक्षानुगत वाच्यावाच्यवादपरम्पराओं से। संयुक्त रखता है यह नैष्ठिक अपने आपको अतीत भविष्यदनुगामी परिणामवाद के साथ, परिस्थितिवाद के साथ। परिस्थितिवादानुगामी नैष्ठिक की, ऐसे स्वद्रष्टा एकान्तनैष्ठिक महामानव की सफलता निश्चित है। इसलिए इसकी सफलता निश्चित है कि—,

इस 'स्व' (आत्मवृद्धि) तन्त्रमात्रैकनिष्ठ स्वनिष्ठ मानव के शब्दकोष में 'परार्थ–परमार्थ–परोपकार–परमोपकार' आदि भावुक शब्दों का प्रवेश सर्वात्मना निषिद्ध बन रहा है। कोई महत्त्व नहीं है इसकी दृष्टि में इस आपातरमणीय–प्रत्यक्ष–प्रभावोत्पादक–अतएव नितान्त भावुकतापरिपूर्ण–क्षणप्रियमात्र–मन–शरीरविमोहक–परोपकारादि मोहक शब्दजाल का। हाँ, लोकानुगता भावुकता के स्वरूप–संरक्षण के लिए यह नैष्ठिक एक सफल अभिनेता की भाँति इन मोहक शब्दों का गतानुगतिकन्याय से अभिनय अवश्य

करता रहता है। इसका यह अभिनयकौशल उसी सीमापर्य्यन्त प्रशान्त बना रहता है, जिस सीमापर्य्यन्त इस कौशल से परम्परया प्रत्यक्ष, तथा परोक्षरूप से इसका 'स्वार्थसाधन' सम्पन्न बना रहता है। 'स्वार्थ' की परिपूर्णता के उपरक्षण में स्वार्थप्रतिबन्धक, किंवा स्वार्थविघातक परमार्थादि मोहजाल का अभिनय, अभिनयकौशलानुगता लोकसमाहिका मधुरवाणी–वेशभूषा आदि का अहिकञ्चुकिवत् परित्याग कर देता है। कहना न होगा कि, भूतभविष्यदनुगामी परिणामवादी, प्रत्यक्ष से प्रभावित न होने वाला, परिस्थिति के अनुसार अपने आपको एक कुशल अभिनेता की भाँति लोकरुचिलक्षणा–परिवर्तन शीला–भावुकता के अनुरूप नवीन नवीन भाव–भङ्गियों में परिणत करते रहने की अभिनयकला में कुशल ऐसा मानव, नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ सदा लौकिक सुख–समृद्धि का सफल उपभोक्ता बना रहता है।

अर्जुन ! अवधानपूर्वक समस्या को लक्ष्य बनाते हुए ही तुम्हें हमारे समाधान–तथ्य को लक्ष्य बनाना चाहिए। तू निःसंशय बुद्धिमान् है, प्रज्ञाशील है, आस्थाश्रद्धापरायण है, निगमागमशास्त्रभक्त है। अतएव स्वयं तुम्हें ही इस समस्या–समाधान के अन्वेषण में प्रवृत्त होना है। हमने तो सूत्ररूप से संकेतमात्र कर दिया है। स्वयं तुम्हें ही अपने आप से ही धैर्यपूर्वक स्थितप्रज्ञ बन कर यह प्रश्न करना चाहिए कि, सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों ने क्या तथालक्षणा निष्ठा का अनुगमन किया है ?। क्या पाण्डवों ने कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होने से अपने आपको बचाया है ?। क्या कभी तुम लोगों ने अतीत एवं भविष्यत् के परिणामों को लक्ष्य बनाते हुए अपने वर्त्तमान को लक्ष्यबिन्दु बनाने का कष्ट उठाया है ?। क्या कभी तुमने भावुकता का संवरण करते हुए अपने आपको सुदीर्घकाल–पर्य्यन्त दृढ़ प्रतिज्ञ रहने में सफलता प्राप्त की है ?। क्या पाण्डुनन्दनों ने कभी अपने निश्चित लक्ष्य–साधन के लिए अनन्यनिष्ठापूर्वक आत्मार्पण किया है ?। यदि इत्यादि प्रश्नों का समाधान निषेध रूप से ही तुम्हें प्राप्त हो, तो उस अवस्था में तो अवनतशिरस्क बन कर यह स्वीकार कर लेने में सम्भवतः तुम्हें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, वास्तव में सर्वगुणसुविभूषित भी पाण्डव भावुकता दोष से नित्य आक्रान्त हैं, अत एव अत्यन्त के दुःखी हैं। एवं सर्वदोष–संयुक्त भी कौरव निष्ठागुण–सुविभूषित हैं, अतएव अत्यन्त के सुखी हैं।

अपनी तात्कालिक भावुकता के आवेश को अभी तक उपशान्त करने में असमर्थ बने रहते हुए भावाविष्ट भावुक अर्जुन भगवान् के द्वारा परोक्ष–प्रश्नरूप से समुपस्थित तथोक्त समाधान से सन्तुष्ट हो ही कैसे सकते थे। परिणामस्वरूप भगवद्द्वारा उपस्थित समाधान से सुशान्त–सन्तुष्ट होने के स्थान में अत्यधिक उग्र–आविष्ट बन गए भावुक अर्जुन महाभाग और इसी उद्वेगकर असम्पादित आवेश को अभिव्यक्त करते हुए यह प्रतिप्रश्न कर ही तो बैठे आविष्ट प्रतिक्रियावादी अर्जुन कि, भगवन् ! मैंने अत्यन्त ही धैर्य्य से स्थिरप्रज्ञा के माध्यम से आपके कथनानुसार सभी प्रश्न अपने अन्तर्जगत् में मीमांस्य बना डाले। किन्तु मुझे तो इस प्रश्नपरम्परा में यत्किञ्चित् भी तो तथ्य प्रतीत नहीं हुआ। आप पूज्य हैं, आराध्य हैं, पाण्डवों के अन्यतम हितैषी हैं, एवं इस स्नेही के प्रति अनन्य करुणादृष्टि रखने वाले

अर्जुन के हैं उपास्य देव। इस नैसर्गिक मान्यता भक्ता के आकर्षण से नतमस्तक होकर आपके शुभाशय को, पाण्डवों के प्रति आपकी ओर से उपस्थित अभियोगपरम्परा को स्वीकार कर लेता है यह अर्जुन। किन्तु भगवन ।

सावधान अर्जुन! अब सीमा का अतिक्रमण हो रहा है। हमारी ऐसी धारणा थी कि, अभी सद्भाग्य से पाण्डवों में इतनी प्रज्ञा शेष है, जिसके आधार पर वे अपने हिताहित का धैर्यपूर्वक पूर्वापर विमर्श करने की क्षमता सम्भवतः रख रहे हैं। किन्तु आज हमने यह देख लिया, सर्वात्मना अनुभव कर लिया कि, दुःखपरम्परा के आघात-प्रत्याघातों ने पाण्डवों के स्थिरप्रज्ञाबल को, स्थितप्रज्ञता को, सद् सद्विवेकशालिनी विवेकबुद्धि को सर्वथा अभिभूत बना दिया है। पूर्वापरविवेकसंस्कारशून्य-पशुसमानधर्म्मा *यथाजात विमूढ इन्द्रियपरायण लोकमानव जिस प्रकार अपने मात्र भौतिक विषयसंस्कारासक्तिलिप्त-*किञ्चित्कित्व-इन्द्रिय मन के भावुकतापूर्ण प्रत्यक्षभाव के परितोष के लिए सर्वथा स्थूल-स्थूलतर-सुस्थूलतम मात्र-भौतिक-प्रत्यक्षात्मक उदाहरणों के बिना सन्तुष्ट नहीं हो सकता, बुद्धिगम्या प्रज्ञासमन्विता परोक्ष विषयपरीक्षणप्रणाली जिस प्रकार इस लौकिक मानव का समाधान करने में असमर्थ बनी रहती है, दुर्दैववश आज वैसी ही दशा, किंवा दुर्दशा तुम पाण्डवों के मनोराज्य की हो रही है। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! पाण्डवों को आज एक बुद्धिशून्य यथाजात ग्रामीण विमूढ मानव की भाँति अपनी मन स्तुष्टि के लिए प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्यक्षात्मक भौतिक उदाहरणों की अपेक्षा हो रही है, यह जान कर आज हम स्तब्ध हो गए हैं। क्या पाण्डव यह चाहते हैं कि, हम उनके सम्मुख उन्हें सर्वथा विमूढ मानव मानते हुए लौकिक प्रत्यक्ष उदाहरणों के द्वारा हम उनका अनुरञ्जन करें?। दुरधिगम्य असम्प्रज्ञात काल-प्रभाव से समुत्पन्न पाण्डुपुत्रों की, विशेषतः मायाविष्ट प्रतिक्रियाशील अर्जुन की इस आत्यन्तिक पतनावस्था को कालपुरुष के उत्तरदायित्व पर ही अर्पित करते हुए उचित था कि, यह अप्रिय प्रसङ्ग यहीं निःशेष कर दिया जाता। किन्तु परिणामानुगता निष्ठा हमें इसके लिए प्रकृत्या विवश बना रही है कि, *युष्मद्दुर्जनन्यायेन एक बार, एवं अन्तिम बार उस प्रत्यक्षानुगता भौतिक-पद्धति के माध्यम से भी पाण्डु* पुत्रों की भावुकता का संरक्षण कर लेने का प्रयत्न और कर लिया जाय, जिस प्रत्यक्षपद्धति का सम्बन्ध प्रत्यक्षप्रमाणानुगत यथाजात मानव के ही दृष्टिबिन्दु से माना गया है।

(१५)—पाण्डुपुत्रों की भावुकता का प्रथमोदाहरण—

सुनो अर्जुन! अवधानपूर्वक सुनो, समझो, और तदनन्तर जिस भी तथ्य का अनुगमन कर सको, करो। पाण्डवों की भावुकता से सम्बन्धित हमें वैसे कतिपय प्रत्यक्ष उदाहरणों की ओर ही तुम्हारा ध्यान आकर्षित कर देना है, जिनके माध्यम से तुम स्वयं अपने अभिनिवेश की सामयिकता की मीमांसा के द्वारा यह अनुभव कर सको कि, वास्तव में पाण्डुपुत्र सर्वथा भावुक हैं, वैसे ऐकान्तिक भावुक हैं, जिनकी भावुकता ने ही जिन्हें लौकिक-धार्मिक-सामाजिक-पारिवारिक-आदि सभी क्षेत्रों में आत्मविमुग्ध बनाया है। लक्ष्य बनाओ निम्नलिखित प्रथमोदाहरण को—

(१)—"द्यूतकर्म के लिए अपने से श्रेष्ठ वयोवृद्ध किसी कुलपुरुष की ओर से आमन्त्रणात्मक-आदेशात्मक-आमन्त्रण-निमन्त्रण प्राप्त होने पर अवश्य ही आदिष्ट आमन्त्रित व्यक्ति को उसमें योगदान करना चाहिए" इस नैतिक लोकधर्म ! के संरक्षण के लिए धर्मशील युधिष्ठिर महात्मा विदुर के द्वारा प्रेषित कुलवृद्ध पुत्रमोहाविष्ट धृतराष्ट्र के द्यूतकर्मरति-आमन्त्रण के प्रति भावुकतावश आकर्षित होते हुए इस जघन्य कर्म में बन्धुगण सहित समाविष्ट हो ही तो गए* । थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, शास्त्रविरुद्ध द्यूतकर्म की निकृष्ट व्यञ्जना, घातक परिणाम से सुपरिचित + भी रहते हुए युधिष्ठिर धृतराष्ट्रप्रदत्त आदेश की मान्यतामात्र के माध्यम से लोकसंग्रहबुद्ध्या द्यूतकर्म में प्रवृत्त होते हुए इस लोकानुगता प्रत्यक्षदृष्टि से अवश्य ही लोकनिष्ठा के समर्थक प्रमाणित हो रहे हैं। किन्तु सत्यपथानुगता

---

*'ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः ।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ।
सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः ।।"
एवमुक्त्वा विदुरं धर्म्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् ।
प्रायात्-श्वो भूते सगणः सानुयात्रः सहस्त्रीभिर्द्रौपदीमादिकृत्वा ।।
—महाभारत सभापर्व ५७-५८ अ० ।

युधिष्ठिर उवाच—
—द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते न को वै द्यूतं रोचयते बुध्यमानः ।
किंवा भवान् मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ।।

विदुर उवाच—
जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे ।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वन् श्रेय इहाचरस्व ।।
(म० भा० स० ५८ अ०) ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ।
—ऋक्संहिता १०।३४।१३।

द्यूतकर्म का मूल मानसिक दृष्टिकोण है, "विशेष परिश्रम के बिना ही स्वल्प द्रव्य विक्षेप से बहुलाभ । इसी आकर्षण से तो भावुक मानव द्यूतकर्म में प्रवृत्त होता हुआ अपनी सर्वश्रेष्ठ 'मानव' उपाधि को 'कितव' (जुआरी-जुआबाज) जैसी अधम निकृष्टतम उपाधि से आवृत कर लेता है । ऐसे कितव का उद्बोधन कराती हुई ही श्रुति कह रही है कि, हे कितव ! तुम अक्षों (पाँसों) से द्यूत-

लोकनीति (किन्तु धर्मशून्या अनीति ही) के भावुकतापूर्ण प्रत्यक्ष वातावरण से प्रभावित होने वाले युधिष्ठिर यह विस्मृत कर बैठते हैं कि, भारतीय नीति के साथ (राजनीति, एवं समाजनीति के साथ) प्रन्थिबन्धन सम्बन्ध से आबद्ध धर्मनीति का यह प्रबलतम आग्रह है कि, अभ्युदय निःश्रेयस्कामुक शास्त्र निष्ठ मानव को, धार्मिक मानव को उसी लोकनीति का लोकसंग्रहदृष्ट्या समर्थन करना चाहिए, जो लोक-नीति धर्मनीति को ही अपना मूलाधार बनाए रहती हो। यदि कहीं दोनों नीतियों में संघर्ष, किंवा प्रतिद्वन्द्विता का अवसर आ जाय, तो उस स्थिति में धर्मनीति का समादर करते हुए धर्मविरोधिनी–धर्म निरपेक्षा लोकनीति की सर्वथा उपेक्षा ही कर देनी चाहिए। लोकनीति से सम्बद्ध द्यूतकर्म प्रत्यक्ष में जब आम्नायविरुद्ध है, लोकशिष्टमान्यता से भी विरुद्ध है, 'अक्षैर्मा दीव्येत्' रूप से जब विस्पष्ट शब्दों में द्यूतकर्म निषिद्ध घोषित हुआ है, तो ऐसी स्थिति में द्यूतकर्मामन्त्रण–निमन्त्रणा, अतएव शास्त्रविरुद्धा ऐसी लोकनीति का लोकसंग्रहात्मिका लोकनिष्ठा का समर्थन करना क्या युधिष्ठिर जैसे धर्मनिष्ठ के लिए उचित था ?। युधिष्ठिर की इस धर्मविरुद्धा द्यूतकर्मनिष्ठा–उपनाम नितान्त भावुकता से जो अनर्थ परम्परा समुद्भूत हो पड़ी, उसका समर्थन हमारे दृढ़प्रतिज्ञ–दृढ़निष्ठ अर्जुन किस आधार पर कर सकेंगे ?।

नीति और धर्म, दोनों का निर्विरोध समसमन्वय ही यहाँ का लोकोत्तर वैशिष्ट्य रहा है। सीमातिक्रान्ता नीति दण्डित हुई है यहाँ धर्म के द्वारा, एवं उन्मत्त धर्म का नियमन हुआ है यहाँ नीति के द्वारा। नीति का जहाँ केवल मन शरीरानुगत लौकिक विश्वानुबन्धी आधिभौतिक अभ्युदय से सम्बन्ध है, वहाँ धर्म का आत्मबुद्धिसमन्वित अलौकिक विश्वेश्वरानुबन्धी आध्यात्मिक निःश्रेयस् से सम्बन्ध है। नीतिधर्मसमन्विता उभयरूपा नीति ही, किंवा धर्म ही अभ्युदयनिःश्रेयस्, दोनों का संसाधक बनता है। संघर्षावस्था में लोकमूला नीति इसलिए उपेक्षणीय बन जाती है कि, परलोकमूलक निःश्रेयस्साधक धर्म

कर्म मत करो, अपितु अपनी इस द्यूतवासना–एक लगाना, और सौ पानारूपा वासना-को चरितार्थ करने के लिए कृषि कर्म का ही अनुगमन करो, जो कि कृषिरूप अक्षवित्त धातुद्रव्य (सुवर्णरजतादि) की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है। (अधिक धातुवित्त की लालसा इसीलिए तो है तुम्हारी कि, तुम उस भोग्य सम्पत्ति से समन्वित बन सको, जिसके लोकात्मकरूप अन्न–गोपशु जाया आदि ही माने गए हैं। हम तुम्हें विश्वास दिलाते हैं कि) इस कृषिकर्म में गौ–जाया–अन्नादि सम्पूर्ण लोकविभूतियाँ निहित हैं। प्रेरणाप्रदाता सविता ने मुझे यही रहस्य बतलाया है कि, विश्व का सब से बड़ा कितव तो यह सविता है, जो कृषि के द्वारा कृषिकर्मात्मक मानव कितव की प्रतिस्पर्धा में सदा हारता ही रहता है। एक लगाओ, और सौ पाओ, एक अन्नबीज भूमि में न्युप्त करो, और बदले में सौ बालियाँ प्राप्त करो। तात्पर्य, कृषि–गोरक्षादि द्वारा शरीरयात्रा निर्वाह करना उत्तम, किन्तु अक्षों से द्यूतकर्म करना सर्वनाश का कारण।

(१)—"द्यूतकर्म के लिए अपने से श्रेष्ठ वयोवृद्ध किसी कुलपुरुष की ओर से आमन्त्रणात्मक-आदेशात्मक-आमन्त्रण-निमन्त्रण प्राप्त होने पर अवश्य ही आदिष्ट आमन्त्रित व्यक्ति को उसमें योगदान करना चाहिए" इस नैतिक लोकधर्म्म ! के संरक्षण के लिए धर्म्मशील युधिष्ठिर महात्मा विदुर के द्वारा प्रेषित कुलवृद्ध पुत्रमोहाविष्ट धृतराष्ट्र के द्यूतकर्मरति-आमन्त्रण के प्रति भावुकतावश आकर्षित होते हुए इस जघन्य कर्म्म में बन्धुगण सहित समाविष्ट हो ही तो गए* । थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, शास्त्रविरुद्ध द्यूतकर्म्म की निकृष्ट व्यञ्जना, घातक परिणाम से सुपरिचित + भी रहते हुए युधिष्ठिर धृतराष्ट्रप्रदत्त आदेश की मान्यतामात्र के माध्यम से लोकसंग्रहबुद्ध्या द्यूतकर्म्म में प्रवृत्त होते हुए इस लोकानुगता प्रत्यक्षदृष्टि से अवश्य ही लोकनिष्ठा के समर्थक प्रमाणित हो रहे हैं। किन्तु प्रत्यक्षानुगता

---

*'ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः ।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ।
सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः ।
साऽस्यतां भ्रातृभिः सार्द्धमेत्य सुहृद्-द्यूतं वर्त्ततामत्र चेति ।।"।
एवमुक्त्वा विदुरं धर्म्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् ।
प्रायात्-श्वो भूते सगणः सानुयात्रः सहस्त्रीभिर्द्रौपदीमादिकृत्वा ।।
—महाभारत सभापर्व ५७-५८ अ० ।

युधिष्ठिर उवाच—
—द्यूते क्षत्त कलहो विद्यते नः को वै द्यूतं रोचते बुध्यमानः ।
किंवा भवान् मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ।।

विदुर उवाच—
जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे ।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वन् श्रेय इहाचरस्व ।।
(म० भा० स० ५८ अ०) ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ।
—ऋक्संहिता १०।३४।१३।

+ द्यूतकर्म्म का मूल मानसिक दृष्टिकोण है, "विशेष परिश्रम के बिना ही स्वल्प द्रव्य विनिमय से बहुलाभ"। इसी आकर्षण से तो भावुक मानव द्यूतकर्म्म में प्रवृत्त होता हुआ अपनी सर्वश्रेष्ठ 'मानव' उपाधि को 'कितव' (जुआरी-जुआबाज) जैसी जघन्य निकृष्टतम उपाधि से आवृत कर लेता है। ऐसे कितव का उद्बोधन कराती हुई ही श्रुति कह रही है कि, हे कितव ! तुम अक्षों (पाँसों) से द्यूत

एतादृशस्य किं मे ह्यजीवितेन विशांपते !
वर्द्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥
शकुनिरुवाच—यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यते, तां हरिष्यामि 'द्यूतेन' जयतांवर ! ॥
दुर्य्योधन उवाच—अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्तु मक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥
धृतराष्ट्र उवाच—अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र ! संग्रन्थनं कलहस्यातियाति ।
तद्वै प्रवृत्तं तु यथाकथञ्चित् सृजेदसीन्निशितान् सायकांश्च ॥

—महाभारत सभापर्व ४५ अ०

स्वयं युधिष्ठिर ने—'द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते०' इत्यादि रूप से द्यूतको निन्द्य ही अनुभूत किया भी है । यह सब कुछ जानते हुए भी युधिष्ठिर का इस व्यक्तिस्वार्थमूलक आमन्त्रण को स्वीकार कर लेना इससे अधिक और कुछ भी महत्त्व नहीं रखता कि, युधिष्ठिर सहज भावुक थे, कोमलप्रज्ञ थे, मन्द-प्रज्ञ थे । अतएव तात्कालिक प्रत्यक्ष वातावरण के प्रभाव से ये अपने आपको बचाने में नितान्त असमर्थ थे । और यही इनका इनकी धर्म्मनिष्ठा के साथ आमूलचूड आबद्ध रहने वाला सर्वस्वघातक भावुकता निबन्धन 'भीरुता' दोष था, जिसके कारण इन्हें यदि 'धर्म्मभीरु' भी कह दिया जाय, तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी । धर्म्मनिष्ठ होना एक पक्ष है, धर्म्मभीरु होना अन्य पक्ष है । दोनों दृष्टिकोणों में अहोरात्र का अन्तर है । धर्म्मनिष्ठा का आधार सर्वत्र 'निष्ठा' है, एवं धर्म्मभीरुता का आधार सर्वत्र भावुकता है । एक ओर धर्म्मनिष्ठा के आधार पर जहाँ युधिष्ठिर द्यूतकर्म की सर्वस्वघातकता का अनुभव करते हुए इसे निन्द्य घोषित कर रहे हैं, वहाँ वे ही युधिष्ठिर धर्म्मभीरुता के अनुग्रह से पड्यन्त्रमूला सर्वथा छलपूर्णा 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' के असामयिक नैतिक सिद्धान्त के अनुगामी बन जाते हैं । यही तो है भावुकतामूला प्रत्यक्षानुगति का, किंवा प्रत्यक्षमूला भावुकतानुगति का ज्वलन्त उदाहरण ।

शकुनि और दुर्योधन के सम्मिलित पड्यन्त्र से प्रभावित प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र का एकान्तनिष्ठ अभिमानव महात्मा विदुर के प्रति आमन्त्रणमाध्यम के लिए बलवदनुशासन परक्षया युधिष्ठिर का 'अय द्यूतावरस्य' विदुर के इस परोक्ष निरोध के अनन्तर भी द्यूत के लिए बड़े ही समारम्भ से विनिर्म्मित * सभामण्डप में बन्धुगण सहित प्रवेश, तत्र द्यूतावेशवश सर्वस्व का समर्पण, और अन्ततोगत्वा

---

* सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्य्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ॥
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतामेतद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥
कालेनाल्पेनान्यनिष्ठां गतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम् ।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥

—म० स० ५७ अ० ।

अपने शाश्वतभाव से विशेष महत्व रखता है। अवश्य ही पूर्ण स्वस्थता के लिए दोनों पर्वों का (बुद्ध्यनुगत आत्मपर्व, एवं मनोऽनुगत शरीरपर्व, दोनों का) स्वरूपसंरक्षण अपेक्षित है। अतएव नीतियुक्त धर्म्म, किंवा धर्म्मयुक्ता नीति का अनुगमन ही उभयपर्वस्वस्थतासाधक बनता हुआ अनुगमनीय है। किन्तु दोनों में विशेष मूल्य क्योंकि आत्मपर्व का है। अतएव संघर्षावस्था में नीति उपेक्षणीय-त्याज्या ही घोषित हुई है। इस शास्त्रीय धर्म्मसम्मत दृष्टिकोण से युधिष्ठिर का यह कर्त्तव्य था कि, शिष्टजनानुगता आमन्त्रणात्मिका नीति, एवं भौत आवेशसिद्ध धर्म्म, दोनों की संघर्षावस्था में धर्म्मशून्य नीतिपथ की उपेक्षा कर महात्मा विदुर के-'आनाय्यहं द्यूतममर्षमूलं-श्रेय इहाचरस्व' इस परोक्ष संकेत के अनुसार न्यायसिद्ध धर्मपथ का अनुगमन ही अपने लिए अनिवार्य घोषित कर देते। और यों परिणामानुगता इस धर्म्मनिष्ठा-वास्तविक धर्म्मनिष्ठा के अनुग्रह से न तो युधिष्ठिर को लोकनिन्दा का अनुगमन करना पड़ता, एवं न अपने सर्वनाश के आमन्त्रण के लिए ही विवश बनना पड़ता। इसी प्रथमोदाहरण के सम्बन्ध में कुछ और भी सामयिक स्पष्टीकरण। सुन सकोगे तुम इसे !

'अभ्युपगमवाद' के आश्रय से थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, युधिष्ठिर की मुख्य प्रतिष्ठाभूमि क्योंकि राजधर्म्म था, अतएव तदनुगत नीतिमार्ग की प्रधानता ही इनका सहज लक्ष्य बना रहना चाहिए था। धर्म्म का जहाँ युधिष्ठिर के केवल व्यक्तितन्त्र से सम्बन्ध था, वहाँ नीति का सम्पूर्ण राष्ट्रतन्त्र से सम्बन्ध था। द्यूत-आमन्त्रण की अस्वीकृति से उस युग के राष्ट्र के मुख्य कर्णधार ज्येष्ठ-वृद्धपुरुष धृतराष्ट्र की असमञ्जसता स्वाभाविक बन जाती। इस असमञ्जसता के दुष्परिणामस्वरूप अवश्य ही पारिवारिक-कौटुम्बिक-सामाजिक-तन्त्रदोषपरम्परा के द्वारा राष्ट्रतन्त्र-राष्ट्रनीति के विकम्पित हो जाने का भय स्वाभाविक बन जाता। इस भयपरम्परा से समष्टि के अनिष्ट की आशङ्का सहज बन जाती, जो व्यष्टि (वैयक्तिक) के अनिष्ट की अपेक्षा उसी प्रकार विशेष महत्व रखती है, जैसे कि नीति और धर्म्म, दोनों में धर्म्म विशेष महत्व रखने वाला प्रमाणित किया गया है। इसी तारतम्य का विमर्श करते हुए व्यापक हित के माध्यम से यदि युधिष्ठिर द्यूतानुगमन कर लेते हैं, तो यह इनका कौनसा अपराध है ?।

अपराध है, और महान् अपराध है। इसलिए कि विदुरमाध्यम से होने वाले इस द्यूतकर्म्म आमन्त्रण का राष्ट्रनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। एवं भाही राजनीति के मूलप्रवर्त्तक शिष्ट आचार्यों की ओर से कहीं भी इस निन्द्यकर्म्म का किसी भी रूप से समर्थन हुआ है। यह तो असत्यपथ माध्यम द्वारा उपलालित दुर्बुद्धि दुर्य्योधन के बलवत्तर आग्रह-दुराग्रह से समन्वित पुत्रमोहान्धकाराभिनिविष्ट धृतराष्ट्र की व्यक्तिगता-व्यष्टिरूपा दुष्प्रेरणा से समन्वित सर्वनाशक आमन्त्रण है, जिसकी सर्वनाशकता विदुर को आमन्त्रण देते हुए स्वयं धृतराष्ट्र ने स्वीकार की है। सुनो ! स्वयं दुर्य्योधन एवं धृतराष्ट्र शकुनि के ही प्रश्नोत्तर के द्वारा द्यूतकर्म्म की व्यक्तिगत भावना का स्वरूप-विश्लेषण—

दुर्य्योधन उवाच—नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति ।

अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शेष्ये वा निहतो युधि ॥

एतादृशस्य किं मे सजीवितेन विशांपते !
वर्द्धन्ते पाण्डवा नित्य वय त्वस्थिरवृद्धय' ॥
शकुनिरुवाच—यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यते, तां हरिष्यामि 'द्यूतेन' जयतांवर ! ॥
दुर्य्योधन उवाच—अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्त्तुं मद्यवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥
धृतराष्ट्र उवाच—अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र ! सग्रन्थन कलहस्यातियाति ।
तद्वै प्रवृत्तं तु यथाकथञ्चित् सृजेदसीन्निशितान् सायकांश्च ॥
—*महाभारत सभापर्व ५५ अ०*

स्वयं युधिष्ठिर ने—'द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते०' इत्यादि रूप से द्यूतको निन्द्य ही अनुभूत किया भी है। यह सब कुछ जानते हुए भी युधिष्ठिर का इस व्यक्तिस्वार्थमूलक आमन्त्रण को स्वीकार कर लेना इससे अधिक और कुछ भी महत्त्व नहीं रखता कि, युधिष्ठिर सहज भावुक थे, कोमलप्रज्ञ थे, मन्द प्रज्ञ थे। अतएव तात्कालिक प्रत्यक्ष वातावरण के प्रभाव से वे अपने आपको बचाने में नितान्त असमर्थ थे। और यही इनका इनकी धर्म्मनिष्ठा के साथ आमूलचूड़ आबद्ध रहने वाला सर्वस्वघातक भावुकता निबन्धन 'भीरुता' दोष था, जिसके कारण इन्हें यदि 'धर्म्मभीरु' भी कह दिया जाय, तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी। धर्म्मनिष्ठ होना एक पक्ष है, धर्म्मभीरु होना अन्य पक्ष है। दोनों दृष्टिकोणों में अहोरात्र का अन्तर है। धर्म्मनिष्ठा का आधार सर्वत्र 'निष्ठा' है, एवं धर्म्मभीरुता का आधार सर्वत्र भावुकता है। एक ओर धर्म्मनिष्ठा के आधार पर जहाँ युधिष्ठिर द्यूतकार्य की सर्वस्वघातकता का अनुभव करते हुए इसे निन्द्य घोषित कर रहे हैं, वहाँ वे ही युधिष्ठिर धर्म्मभीरुता के अनुग्रह से षड्यन्त्रमूला सर्वथा छलपूर्णा 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' के असामयिक नैतिक सिद्धान्त के अनुवर्त्ती बन जाते हैं। *यही तो है भावुकतामूला प्रत्यक्षानुगति का, किंवा प्रत्यक्षमूला भावुकतानुगति का ज्वलन्त उदाहरण।*

शकुनि और दुर्योधन के सम्मिलित षड्यन्त्र से प्रभावित प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र का एकान्तनिष्ठ अतिमानव महात्मा विदुर के प्रति 'तामन्त्रणमाध्यम के लिए बलवदनुशासन पद्धति युधिष्ठिर का 'अय इहाधरस्थ' विदुर के इस परोक्ष निषेध के अनन्तर भी द्यूत के लिए बड़े ही समारम्भ से विनिर्म्मित * सभामण्डप में बन्धुगण सहित प्रवेश, तत्र द्यूतावेशवश सर्वस्व का समर्पण, और अन्ततोगत्वा

* सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्य्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ॥
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतामेतद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥
कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम्।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥
—म० स० ५७ अ० ।

सर्वथा दोषविरहिता यज्ञप्रसूता आम्यनारी पाञ्चाली तक का इस प्रभन्य घृतकर्म में नितान्त भावुकतापूर्ण उत्सर्ग। कभी इतिहास इस अपराधपरम्परा के लिए भावुक युधिष्ठिर को क्षमाप्रदान नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए। अवश्य ही यावच्चन्द्रदिवाकरौ यह घटना, किंवा निःसीम दुर्घटना मानवता के लिए कलङ्क ही प्रमाणित बनी रहेगी। यह भी स्पष्टतम है कि, इस शक्ति–अवमानरूप महत्पाप से निकट भविष्य में ही भारतवर्ष का समस्त राष्ट्रवैभव युद्धाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला म आहुत हो जायगा। फिर भले ही अर्जुन ! तुम पाण्डवों की कल्पित दृढनिष्ठा का कल्पित यशोगान ही क्यों न करते रहो। क्यों अर्जुन ! पाण्डवों की भावुकता के सम्बन्ध में यह प्रत्यक्ष प्रथमोदाहरण अनुरूप प्रतीत हुआ न तुम्हें ! ।

—१—

१६–पाण्डुपुत्रों की भावुकता का द्वितीयोदाहरण

(२)—द्वितीय प्रासङ्गिक उदाहरण का उपक्रम हमें इस रूप से करना पड़ेगा कि, मानवता-शान्ति मानवता–में विघ्न उपस्थित करने वाला घातक–क्रूरकर्म्मा–दुष्टबुद्धि–परपीड़क मानव शास्त्रों में किंवा 'आततायी' माना गया है। ऐसे आततायी के सम्बन्ध में शास्त्रने यह निश्चित निर्णय अभिव्यक्त है कि, "यदि कभी आततायी सम्मुख आ पड़े, तो अणुमात्र भी विचार किए बिना अविलम्ब तत्क्षण उसे निःशेष कर देना चाहिए, भले ही वह कोई ही क्यों न हो" + । "तस्य पुण्यप्रदो वधः-मन्युस्तं मन्युमृच्छति" इत्यादि के अनुसार जिस एक दुष्ट आततायी के मार देने से अनेक सुजनों का संरक्षण सम्भव बन जाता हो, वैसे दुष्ट को तो इस लिए मार ही डालना चाहिए कि, उसका पाप ही उस की मृत्यु का कारण बनता है। इस प्रकार एवंविध आततायी के लिए 'क्षमाप्रदान' जैसा कोई भी आदेश शास्त्र में हमें अद्यावधि कुत्रापि उपलब्ध नहीं हुआ है। अपितु सर्वत्र इसे निर्मूल बना देने वाले विधि–विधान ही उपश्रुत हुए हैं। घटना को घटित हुए शताब्दियाँ सहस्राब्दियाँ व्यतीत नहीं हुई। कल परसों की ही तो घटना है। क्या तुम्हें स्मरण नहीं अर्जुन उस घटना का ! ।

अपनी द्वादशवार्षिकी वनयात्रा के प्रसङ्ग में द्वैतवन में अपने अस्थायी निवास गृहादि निर्म्मित करते हुए समीपवर्त्तिनी पर्वत–कन्दराओं में निवास करने वाले वेदवत्ता तपस्वियों की आराधना करते हुए जब तुमलोग किसी समय यहाँ विचरण कर रहे थे। द्वैतवन निवासी एक ब्राह्मण सहसा इन्द्रप्रस्थ पहुँचता है, तुम पाण्डवों की भव्य दुर्दशा से धृतराष्ट्र का उद्बोधन कराने के लिए। भीभत्स–या भव्यदृ

+ गुरु वा बाल वा वृद्ध वा अपि वेदान्तपारगम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

मने हुए पाण्डवों की असह्य–अश्रुतपूर्व दु खगाथाओं का धृतराष्ट्र के सम्मुख उपवर्णन करने लगता है। तत्रोपस्थित कर्ण–दुर्योधन को इस प्रसङ्ग से तुम्हारे निवास का पता लग जाता है। अयिलम्ब एक नवीन योजना सम्पन्न बन जाती है। ये कौरव इस नीच कार्य के लिए सन्नद्ध हो पड़ते हैं कि, "इस दीन–हीन–असमर्थ दशा से सन्त्रस्त पाण्डवों की आत्मनमनोवेदना को सुसमृद्ध करने के लिए अपना सुसमृद्ध ऐश्वर्य्य प्रदर्शित किया जाय, और यदि अवसर मिले तो पाण्डवों को वहीं नामशेषावस्था में भी परिणत कर दिया जाय।" धृतराष्ट्र के सम्मुख 'घोषयात्रा' को निमित्त घोषित करते हुए कौरवगण शस्त्रास्त्र सैन्य से सुसज्जित होकर द्वैतवन पहुँच ही तो जाते हैं। वहाँ सहसा कौरवों के दुर्भाग्य से, साथ ही तुम्हारे सौभाग्य से द्वैतवन के सुशान्त एकान्त वातावरण में वनविहार के लिए समागत चित्ररथप्रमुख गन्धर्वपरिवार के साथ कौरवोंका संघर्ष हो पड़ता है। इस संघर्ष में कौरव गन्धर्वों से पराजित हो जाते हैं। महापराक्रमी गन्धर्वराज चित्ररथ ने द्वारा कौरवप्रमुख दुर्योधनदु शासनादि बन्दी बना कर पाशबद्ध कर दिए जाते हैं। इस आकस्मिक आपत्ति से सन्त्राण प्राप्त करने में असमर्थ दुर्बुद्धि दुर्योधन, किन्तु अवसर–वादी नैष्ठिक सुयोधन, आततायी धार्त्तराष्ट्र तुम्हारे ज्येष्ठभ्राता धर्म्मराज युधिष्ठिर की शरण में पहुँच जाता है। परिणाम क्या होता है ?, यह तुम जानते ही हो।

भावुक युधिष्ठिर के भावनामय अन्त करण में इस आततायी के प्रति असामयिक शास्त्रविरुद्ध बन्धुप्रेम उमड़ पड़ता है। 'हमारे यशज इस समय कष्ट में हैं' इस तात्कालिक प्रत्यक्ष स्थिति के साथ साथ क्या यह मीमांसा कर लेना सामयिक न था कि, अतीत में इन वंशबन्धुओं ने हमारा कैसा इष्ट साधन किया है ?, एवं वर्त्तमान में भी किस महती कृपावृष्टि के लिए ये ससैन्य द्वैतवन में पधारे हैं ?, तथा भविष्य में इन असन्नैष्ठिकों के द्वारा पाण्डवों के प्रति कौन सा अमृतमहस्रोत प्रवाहित होने वाला है ?। जबकि अतीत, और वर्त्तमान, दोनों ही काल इन वंशबन्धुओं के सम्बन्ध में कटु अनुभव अभिव्यक्त कर रहे हैं, तो भविष्यत्काल किस परिणाम का सर्जन करेगा ?, प्रश्न भी स्वतः ही समाहित हो जाता है। फिर यह कैसी बन्धुप्रेमाभिव्यक्ति ?, आततायी का यह कैसा व्यामोहक आपातरमणीय संरक्षण ?। अब निकट भविष्य में ही सुफल भोग करना तुम लोग इस बन्धु प्रेम का। क्या यही है तुम्हारी निष्ठा का उदाहरण ? स्मरण है तुम्हें अर्जुन ! उस अवस्था में नैष्ठिक पराक्रमी भीम ने क्या उद्गार प्रकट किये थे ?, जिन सामयिक उद्बोधन सूत्रों की 'शरणागतविम्ब व्यामधर्म्म' के माध्यम से भावुक युधिष्ठिर ने उपेक्षा कर दी थी। भीमने कहा था—

> मद्दता हि प्रयत्नेन सनद्ध गजवाजिभि ।
> अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥
>
> —म० वनपर्व २४२ अ०, १५ श्लो०।

(१७)—पाण्डुपुत्रों की भावुकता का तृतीयोदाहरण—

स्थालीपुलाकन्यायेन पर्य्याप्त है दो ही उदाहरण पाण्डवों की भावुकता के उद्बोधन के लिए,

सर्वथा दोषविरहिता सपत्नवता आम्यनारी पाञ्चाली तक का इस प्रपन्य पूतकम्म में नितान्त भावुकतापूर्ण उत्सर्ग। कभी इतिहास इस अपराधपरम्परा के लिए भावुक युधिष्ठिर को क्षमाप्रदान नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए। अवश्य ही यावच्चन्द्रदिवाकरौ यह घटना, किंवा निःसीम दुर्घटना मानवता के लिए कलङ्क ही प्रमाणित बनी रहेगी। यह भी स्पष्टतम है कि, इस शक्ति-अपमानरूप महत्पाप से निकट भविष्य में ही भारतवर्ष का समस्त राष्ट्रवैभव युद्धाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में आहुत हो जायगा। फिर भले ही अर्जुन! तुम पाण्डवों की कल्पित दृढ़निष्ठा का कल्पित यशोगान ही क्यों न सतत करते रहो। क्यों अर्जुन! पाण्डवों की भावुकता के सम्बन्ध में यह प्रत्यक्ष प्रथमोदाहरण अनुरूप प्रतीत हुआ न तुम्हें!।

—१—

१६—पाण्डुपुत्रों की भावुकता का द्वितीयोदाहरण

(२)—द्वितीय मार्मिक उदाहरण का उपक्रम हमें इस रूप से करना पड़ेगा कि, मानवता-शान्त मानवता—में विघ्न उपस्थित करने वाला घातक—क्रूरकर्म्मा—दुष्टबुद्धि—परपीडक मानव शास्त्रों में किंवा 'आततायी' माना गया है। ऐसे आततायी के सम्बन्ध में शास्त्रने यह निश्चित निर्णय अभिव्यक्त है कि, "यदि कभी आततायी सम्मुख आ पड़े, तो अणुमात्र भी विचार किए बिना अविलम्ब तत्क्षण उसे निःशेष कर देना चाहिए, भले ही वह कोई ही क्यों न हो" +। "तस्य पुण्यमवो आबा-मन्युस्त मन्युमृच्छति" इत्यादि के अनुसार जिस एक दुष्ट आततायी के मार देने से अनेक सुजनों का संरक्षण सम्भव बन जाता हो, वैसे दुष्ट को तो इस लिए मार ही डालना चाहिए कि, उसका पाप ही उस की मृत्यु का कारण बनता है। इस प्रकार एवंविध आततायी के लिए 'क्षमाप्रदान' जैसा कोई भी आदेश शास्त्र में हमें अद्यावधि कुत्रापि उपलब्ध नहीं हुआ है। अपितु सर्वत्र इसे निर्मूल बना देने वाले विधि—विधान ही उपश्रुत हुए हैं। घटना को घटित हुए शताब्दियाँ सहस्राब्दियाँ व्यतीत नहीं हुईं। कल परसों की ही तो घटना है। क्या तुम्हें स्मरण नहीं अर्जुन उस घटना का!।

अपनी द्वादशवार्षिकी वनयात्रा के प्रसङ्ग में द्वैतवन में अपने अस्थायी निवास गृहादि निर्म्मित करते हुए समीपवर्त्तिनी पर्वत—कन्दराओं में निवास करने वाले वेदवेत्ता तपस्वियों की आराधना करते हुए जब तुमलोग किसी समय वहाँ विचरण कर रहे थे। द्वैतवन निवासी एक ब्राह्मण सहसा इन्द्रप्रस्थ पहुँचता है, तुम पाण्डवों की वन्य दुर्दशा से धृतराष्ट्र का उद्बोधन कराने के लिए। श्रीभ्रष्ट—राज्यभ्रष्ट

+ गुरुं वा बालं वा वृद्धं वा अपि वेदान्तपारगम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

एवं परोक्ष में अनेक बार अपने गाण्डीव की अमोघता की उदात्त घोषणाएँ की थीं। आविष्टमना धैर्यच्युत युधिष्ठिर को इस समय सम्भवतः यह स्मरण न रहा कि, अर्जुन ने यह भीष्म प्रतिज्ञा भी सुरक्षित बना रक्खी है कि,—"यदि कभी भी कोई भी भ्रान्ति से भी मुझे मेरे प्रिय गाण्डीव धनुष को उतार फेंकने का सङ्केतमात्र भी कर बैठेगा, तो तत्काल उस का शिरश्छेद कर दिया जायगा"।

दुर्भाग्यवश आज महाभारतसमराङ्गण में एक वैसा ही विषम प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा। एक ओर नितान्त भावुक धर्मभीरु युधिष्ठिर, तो दूसरी ओर आत्यन्तिक भावुक कर्मभीरु अर्जुन। एक भावुक ने भावुकता के आवेश में आ कर दूसरे सहज भावुक की अप्रत्याशित निर्मम आलोचना आरम्भ कर ही तो डाली, जिस आलोचना का विराम हुआ इन शब्दों में कि—"अर्जुन! क्या यही है तेरा, और तेरे गाण्डीव धनुष का अप्रतिम पराक्रम!। तुझे आज से अपना यह गाण्डीव धनुष उतार फेंक देना चाहिए। धिक्कार है तेरे गाण्डीव को, धिक्कार है तेरे बाहुपराक्रम को, धिक्कार है तेरे असंख्य अक्षय बाणों को, धिक्कार है तेरी ध्वजा को, धिक्कार है अग्निप्रदत्त सबल रथ को"।

युधिष्ठिर की तथोक्त आक्रोशपरिपूर्णा वाग्बाणप्रहारपरम्परा से सर्वात्मना आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य समुत्तेजित, सन्तप्त, संक्षुब्ध भावुक अर्जुन की अमुक कालनिबन्धना भावुकतापूर्णा तथाकथिता प्रतिज्ञा सहसा अग्निसोमसंयोगवत्, किंवा घृताग्निसमन्वयवत् ज्वालावत् प्रस्फुटित हो ही तो पड़ी। तत्काल "असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम्-" रूप से हाथ में तलवार उठा ली गई भरतकुलश्रेष्ठ स्व-ज्येष्ठबन्धु धर्मनिष्ठ युधिष्ठिर के आमूलचूड़ अनिष्ट के लिए मायाविष्ट क्रोधाविष्ट अर्जुन के द्वारा। सर्वत्र हाहाकारनिनाद तुमुलित हो पड़ा। महद्भाग्य था यह धार्त्तराष्ट्रलोकरूप पाण्डुराज का कि, इस सर्वविनाशात्मक भीषण वातावरण के समय भगवान् यदुनन्दन यहीं समुपस्थित थे। नहीं, तो कौन जाने क्या महान् अनर्थ घटित हो जाता। विपश्चित (मनोविज्ञानवेत्ता) श्रीकृष्ण ने अविलम्ब इस सम्पूर्ण स्थिति—भयानक परिस्थिति-के भावी भयावह दुष्परिणाम को लक्ष्य बना डाला। एवं अपनी सहजनिष्ठा के माध्यम से, निष्ठानुगता सहज मन्दस्मितसमन्विता गम्भीरवाणी से सर्वप्रथम भावुक अर्जुन का उद्बोधन उपक्रान्त कर दिया। वासुदेव कृष्ण उद्बोधन कराने में प्राणपण से संलग्न थे, और उधर अर्जुन घूर्णित—आरक्त भैरव नेत्रों से युधिष्ठिर का मानो अपनी क्रोधाविष्टदृष्टि से सशरीर निगरण कर जाने के लिए ही सन्नद्ध बन रहे थे। बड़ा ही रोचक प्रसङ्ग है इस विषमावस्था में भी, जिस के द्वारा पाण्डवों की मनःशरीरानुगता भावुकतामूला कर्मभीरुता, एवं आत्मबुद्ध्यनुगता निष्ठामूला धर्मभीरुता का स्वयं भगवान् कृष्ण के पावन मुखपद्म से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अतएव तत्प्रसङ्ग के कुछ एक अंश मूलरूप से यहाँ भी उद्धृत करने का लोभसंवरण करने में हम अपनी सहज भावुकता के आकर्षण से असमर्थ बनते जा रहे हैं—श्रूयताम्!

संजय उवाच—

श्रुत्वा कर्णं कल्पमुदारवीर्य्यं क्रुद्धः पार्थः फाल्गुनस्यामितौजाः ॥
धनञ्जयं वाक्यमुवाच चेदं युधिष्ठिरः कर्णशराभितप्तः ॥ १ ॥

यदि इन से पाण्डवों का उद्बोधन सम्भव बन सके, तो। किन्तु । 'किन्तु' इसलिए कि, पाण्डवों की भावुकता का उद्बोधन न हो सका, न हो सका। युधिष्ठिरादि अन्य पाण्डुपुत्रों की कथा तो छोड़िये। सम्भव है उनका उद्बोधन किसी ने कराया ही न हो। अतएव वे अपनी भावुकता को ही निष्ठा मानने की भ्रान्ति करते हुए सदा अनथ-परम्परा का ही सर्जन करते रहे हों। किन्तु भगवान् के सम्मुख बड़े आवेश के साथ महता समारम्भेण अपनी निष्ठा का यशोगान करने वाले प्रशावादी उस भावुक अर्जुन का तो सदा के लिए उद्बोधन हो जाना चाहिए था, जिसे युद्धारम्भ में भगवान् ने राजर्षि-विद्यारहस्यविश्लेषणपूर्वक गीता के रूप में 'बुद्धियोगनिष्ठा' का अनुगामी बना दिया था, एवं तत्फल स्वरूप उपदेशान्त में–'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत !' रूप से अर्जुन ने स्वयं अपने मुखसे अपनी उद्बोधननिष्ठा को अभिव्यक्त कर दिया था। किन्तु

अर्जुन की इस निष्ठा के वास्तविक तथ्य से सभी महाभारतेतिहासग्रन्थप्रेमी सुपरिचित हैं। तभी तो हमने इस भावुकतानिबन्ध का माध्यम पाँचों पाण्डवों में से भावुकमूर्धन्य–भावुकशिरोमणि अर्जुन को ही माना है। गीतोपदेशश्रवणानन्तर 'करिष्ये वचनं तव' इस दृढ़ निष्ठा प्रतिज्ञा पर आरूढ़ अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। एवं आगे चल कर पुनः अर्जुन अपनी उसी सहज भावुकता के आवेश से आविष्ट बन जाते हैं, जिस इस अर्जुन की सनातन भावुकता के असंख्य उदाहरणों में से केवल एक रोचक निदर्शन इस भावुक-निबन्ध की ओर से पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

युधिष्ठिर की धूतकर्मनिबन्धना महती भावुकता के अनुग्रह से कौरवपाण्डवों में युद्ध प्रक्रान्त हो गया है। प्रथम सेनानी भारत के सौभाग्यसूर्य अभिमानव भीष्मपितामह अस्त हो गए हैं। तदनन्तर सेनानी बनने वाले गुरुवर द्रोणाचार्य्य भी आज अपने प्रिय शिष्यों से मानों गुरु दक्षिणा के रूप में ही शराभिद्ध होते हुए कीनाशनिकेतनातिथि बनते हुए–'समार्थ्यो च समर्थोऽस्मि शापादपि शरादपि' घोषणा को स्मृति-गर्भ में विलीन कर गए हैं। प्रातःस्मरणीय महामानव सूर्य्यपुत्र अङ्गराज कर्ण आज सेनापति-पद को समलंकृत कर रहे हैं। अतुलित पराक्रमशाली कर्ण के सुतीक्ष्ण–अमोघ–अजस्रशरवर्षा से आज पाण्डवसेना 'कम्पशराभितप्ता' रूपेण अग्निज्वालावत् दग्ध होती जा रही है, जली जा रही है। सेना के साथ साथ सभी सेनाप्रमुख रथी–महारथी योद्धा, यहाँ तक कि स्वयं पाण्डव भी इस प्रकान्त कर्ण–शरवर्षा से आज उद्विग्न हैं, सक्षुब्ध हैं, सन्त्रस्त हैं, भविष्य के भयानक परिणाम से शङ्कित हैं, आतङ्कित हैं।

युद्ध के प्रधान उत्तरदायी युधिष्ठिर के सम्मुख जब ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है, तो बड़े से बड़े भय से भी अपना धैर्य्य अक्षुण्ण बनाए रखने में सुप्रसिद्ध धर्म्मराज भी सहसा विकम्पित हो पड़ते हैं। धैर्य्य विगलित हो जाता है, धर्म्मनिष्ठा अभिभूत बन जाती है। कर्णाक्रमणजनित पराभवाशङ्कातङ्कितमानस युधिष्ठिर सहसा किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं। एवं विमोहनजनित इस सम्पूर्ण आक्रोश का केन्द्र बन जाता है अमुक अर्जुन का वह 'गाण्डीवधनुष' जिस के अमोघ प्रहार पर युधिष्ठिर को बहुत बड़ा आत्मविश्वास था। गाण्डीव के साथ ही साथ गाण्डीवधन्वा यह अर्जुन भी लक्ष्य बन गए युधिष्ठिर के, जिन्होंने प्रायश

एवं परोक्ष में अनेक बार अपने गाण्डीव की अव्यथता की उदात्त घोषणाएँ की थीं। ग्लानिग्रस्तमना धैर्यच्युत युधिष्ठिर को इस समय सम्भवत यह स्मरण न रहा कि, अर्जुन ने यह भीष्म प्रतिज्ञा भी सुरक्षित बना रक्खी है कि,—"यदि कभी भी कोई भी भ्रान्ति से भी मुझे मेरे प्रिय गाण्डीव धनुष को उतार फेंकने का सङ्केतमात्र भी कर बैठेगा, तो तत्काल उस का शिरश्छेद कर दिया जायगा"।

दुर्भाग्यवश आज महाभारतसमराङ्गण में एक वैसा ही विषम प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा। एक ओर नितान्त भावुक धर्मभीरु युधिष्ठिर, तो दूसरी ओर आत्यन्तिक भावुक कर्म्मभीरु अर्जुन। एक भावुक ने भावुकता के आवेश में आ कर दूसरे सहज भावुक की अप्रत्याशित निर्मम आलोचना आरम्भ कर ही तो डाली, जिस आलोचना का विराम हुआ इन शब्दों में कि—"अर्जुन! क्या यही है तेरा, और तेरे गाण्डीव धनुष का अप्रतिम पराक्रम!। मुझे आज से अपना यह गाण्डीव धनुष उतार फैंक देना चाहिए। धिक्कार है तेरे गाण्डीव को, धिक्कार है तेरे बाहुपराक्रम को, धिक्कार है तेरे असंख्य अमोघ बाणों को, धिक्कार है तेरी रथध्वजा को, धिक्कार है अग्निप्रदत्त सबल रथ को"।

युधिष्ठिर की तथोक्ता आक्रोशपरिपूर्णा परुषवाक्प्रहारपरम्परा से सर्वात्मना आलोमभ्यः आनखाग्रभ्य समुत्तेजित, सन्तप्त, संक्षुब्ध भावुक अर्जुन की अमुक कालनिबन्धना भावुकतापूर्णा तथाकथिता प्रतिज्ञा सहसा अग्निसोमसंयोगवत्, किंवा घृताग्निसमन्वयवत् ज्वालावत् प्रस्फुटित हो ही तो पड़ी। तत्काल "असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम्—" रूप से हाथ में तलवार उठा ली गई भरतकुलश्रेष्ठ स्व ज्येष्ठबन्धु धर्म्मनिष्ठ युधिष्ठिर के आमूलचूल अनिष्ट के लिए मायाविष्ट क्रोधाविष्ट अर्जुन के द्वारा। सर्वत्र हाहाकारनिनाद तुमुलित हो पड़ा। महद्भाग्य था यह चान्द्रलोकस्थ पाण्डुराज का कि, इस सर्वविनाशात्मक भीषण वातावरण के समय भगवान् यदुनन्दन वहीं समुपस्थित थे। नहीं, तो कौन जाने क्या महान् अनर्थ घटित हो जाता। चित्तज्ञ (मनोविज्ञानवेत्ता) श्रीकृष्ण ने अविलम्ब इस सम्पूर्ण स्थिति—भयानक परिस्थिति-के भावी भयावह दुष्परिणाम को लक्ष्य बना डाला। एवं अपनी सहजनिष्ठा के माध्यम से, निष्ठानुगता सहज मन्दस्मितसमन्विता गम्भीरवाणी से सर्वप्रथम भावुक अर्जुन का उद्बोधन उपक्रान्त कर दिया। वासुदेव कृष्ण उद्बोधन कराने में प्राणपण से संलग्न थे, और उधर अर्जुन घूर्णित—आरक्त भैरव नेत्रों से युधिष्ठिर का मानो अपनी क्रोधाविष्टदृष्टि से सशरीर निगरण कर जाने के लिए ही सन्नद्ध बन रहे थे। बड़ा ही रोचक प्रसङ्ग है इस विषमावस्था में भी, जिस के द्वारा पाण्डवों की भावशरीरानुगता भावुकतामूला कर्म्मभीरुता, एवं आत्मबुद्ध्यनुगता निष्ठामूला धर्म्मभीरुता का स्वयं भगवान् कृष्ण के पावन मुखपद्म से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अतएव तत्प्रसङ्ग के कुछ एक अंश मूलरूप से यहाँ भी उद्धृत करने का लोभसंवरण करने में हम अपनी सहज भावुकता के आकर्षण से असमर्थ बनते जा रहे हैं—श्रूयताम्!

सञ्जय उवाच—

> श्रुत्वा कर्णं कल्पमुदारवीर्य्यं क्रुद्धः पार्थः फाल्गुनस्यामितौजाः ॥
> धनञ्जयं वाक्यमुवाच चेदं युधिष्ठिरः कर्णशराभितप्तः ॥ १ ॥

यदि इन से पाण्डवों का उद्बोधन सम्भव बन सके, तो। किन्तु । 'किन्तु' इसलिए कि, पाण्डवों की भावुकता का उद्बोधन न हो सका, न हो सका। युधिष्ठिरादि अन्य पाण्डुपुत्रों की कथा तो छोड़िये। सम्भव है उनका उद्बोधन किसी ने कराया ही न हो। अतएव वे अपनी भावुकता को ही निष्ठा मानने की भ्रान्ति करते हुए सदा अनय-परम्परा का ही सर्जन करते रहे हों। किन्तु भगवान् के सम्मुख बड़े आवेश के साथ महता समारम्भेण अपनी निष्ठा का यशोगान करने वाले प्रज्ञावादी उस भावुक अर्जुन का तो सदा के लिए उद्बोधन हो जाना चाहिए था, जिसे युद्धारम्भ में भगवान् ने राजर्षि-विद्याराजर्षिविशेषणपूर्वक गीता के रूप में 'बुद्धियोगनिष्ठा' का अनुगामी बना दिया था, एवं तत्फल स्वरूप उपदेशान्त में–'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत!' रूप से अर्जुन ने स्वयं अपने मुखसे अपनी उद्बोधननिष्ठा को अभिव्यक्त कर दिया था। किन्तु

अर्जुन की इस निष्ठा के वास्तविक तथ्य से सभी महाभारतेतिहासग्रन्थप्रेमी सुपरिचित हैं। तभी तो हमनें इस भावुकतानिबन्ध का माध्यम पाँचों पाण्डवों में से भावुकमूर्द्धन्य–भावुकशिरोमणि अर्जुन को ही माना है। गीतोपदेशश्रवणानन्तर 'करिष्ये वचनं तव' इस दृढ़ निष्ठा प्रतिज्ञा पर आरूढ़ अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। एवं आगे चल कर पुनः अर्जुन अपनी उसी सहज भावुकता के आवेश से आविष्ट बन जाते हैं, जिस इस अर्जुन की सनातन भावुकता के असंख्य उदाहरणों में से केवल एक रोचक निदर्शन इस भावुक-निबन्धा की ओर से पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

युधिष्ठिर की एतत्कर्म्मनिबन्धना महती भावुकता के अनुग्रह से कौरवपाण्डवों में युद्ध प्रक्रान्त हो गया है। प्रथम सेनानी भारत के सौभाग्यसूर्य्य अतिमानव भीष्मपितामह अस्त हो गए हैं। तदनन्तर सेनानी बनने वाले गुरुवर द्रोणाचार्य्य भी आज अपने प्रिय शिष्यों से मानों गुरु दक्षिणा के रूप में ही शरविद्ध होते हुए श्रीनारायणनिकेतनातिथि बनते हुए–'क्षमाभ्यां च समर्थोऽस्मि शापादपि शरादपि' घोषणा को स्मृति-गर्भ में विलीन कर गए हैं। प्रातःस्मरणीय महामानव सूर्य्यपुत्र अङ्गराज कर्ण आज सेनापति-पद को समलङ्कृत कर रहे हैं। अतुलित पराक्रमशाली कर्ण के सुतीक्ष्ण–अमोघ–अजस्रशरवर्षण से आज पाण्डवसेना 'कक्षशरपामितत्रः' रूपेण अग्निज्वालावत् दग्ध होती जा रही है, जली जा रही है। सेना के साथ साथ सभी सेनाप्रमुख रथी–महारथी योद्धा, यहाँ तक कि स्वयं पाण्डव भी इस प्रक्रान्त कर्ण–शरवर्षण से आज उद्विग्न हैं, संक्षुब्ध हैं, सन्त्रस्त हैं, भविष्य के भयानक परिणाम से सशङ्कित हैं, आतङ्कित हैं।

युद्ध के प्रधान उत्तरदायी युधिष्ठिर के सम्मुख जब ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है, तो बड़े से बड़े भय से भी अपना धैर्य्य अक्षुण्ण बनाए रखने में सुप्रसिद्ध धर्मराज भी सहसा विकम्पित हो पड़ते हैं। धैर्य्य विगलित हो जाता है, धर्म्मनिष्ठा अभिभूत बन जाती है। कर्णाक्रमणजनित पराभवाशङ्काशङ्कितमानव युधिष्ठिर सहसा किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं। एवं विमोहनजनित इस सम्पूर्ण आक्रोश का केन्द्र बन जाता है प्रमुख अर्जुन का वह 'गाण्डीवधनुष' जिस के अव्यर्थ प्रहार पर युधिष्ठिर को बहुत बड़ा आत्मविश्वास था। गाण्डीव के साथ ही साथ गाण्डीवधन्वा वह अर्जुन भी लक्ष्य बन गए युधिष्ठिर के, जिन्होंने प्रत्यक्ष

एवं परोक्ष में अनेक बार अपने गाण्डीव की अन्यथता की उदात्त घोषणाएँ की थीं। आविष्टमना धैर्यच्युत युधिष्ठिर को इस समय सम्भवत यह स्मरण न रहा कि, अर्जुन ने यह भीष्म प्रतिज्ञा भी सुरक्षित बना रक्खी है कि,-"यदि कभी भी कोई भी भ्रान्ति से भी मुझे मेरे प्रिय गाण्डीव धनुष को उतार फेंकने का सङ्केतमात्र भी कर बैठेगा, तो तत्काल उस का शिरश्छेद कर दिया जायगा"।

दुर्भाग्यवश आज महाभारतसमराङ्गण में एक वैसा ही विषम प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा। एक ओर नितान्त भावुक धर्म्मभीरु युधिष्ठिर, तो दूसरी ओर आत्यन्तिक भावुक कर्म्मभीरु अर्जुन। एक भावुक ने भावुकता के आवेश में आ कर दूसरे सहज भावुक की अप्रत्याशित निर्म्मम आलोचना आरम्भ कर ही तो डाली, जिस आलोचना का विराम हुआ इन शब्दों में कि—"अर्जुन! क्या यही है तेरा, और तेरे गाण्डीव धनुष का अप्रतिम पराक्रम! । तुझे आज से अपना यह गाण्डीव धनुष उतार फेंक देना चाहिए। धिक्कार है तेरे गाण्डीव को, धिक्कार है तेरे बाहुपराक्रम को, धिक्कार है तेरे असंख्य अव्यर्थ बाणों को, धिक्कार है तेरी रथध्वजा को, धिक्कार है अग्निप्रदत्त सबल रथ को"।

युधिष्ठिर की तथोक्ता आक्रोशपरिपूर्णा परुषवाक्प्रहारपरम्परा से सर्वात्मना आलोमभ्य आनखा-ग्रेभ्य समुत्तेजित, सन्तप्त, संक्षुब्ध भावुक अर्जुन की अमुक कालनिबन्धना भावुकतापूर्णा तथाकथिता प्रतिज्ञा सहसा अग्निसोमसंयोगवत्, किंवा घृताग्निसमन्वयवत् ज्वालावत् प्रस्फुटित हो ही तो पड़ी। तत्काल "असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम्-" रूप से हाथ में तलवार उठा ली गई भरतकुलश्रेष्ठ स्व ज्येष्ठबन्धु धर्म्मनिष्ठ युधिष्ठिर के आमूलचूड़ अनिष्ट के लिए भावाविष्ट क्रोधाविष्ट अर्जुन के द्वारा। सर्वत्र हाहाकारनिनाद तुमुलित हो पड़ा। महद्भाग्य था यह चान्द्रलोकस्थ पाण्डुराज का कि, इस सर्वविनाशा त्मक भीषण वातावरण के समय भगवान् यदुनन्दन वहीं समुपस्थित थे। नहीं, तो कौन जाने क्या महान् अनर्थ घटित हो जाता। चित्तज्ञ (मनोविज्ञानवेत्ता) श्रीकृष्ण ने अविलम्ब इस सम्पूर्ण स्थिति—भयानक परिस्थिति-के भावी भयावह दुष्परिणाम को लक्ष्य बना डाला। एवं अपनी सहजनिष्ठा के माध्यम से, निष्ठानुगता सहज मन्दस्मितसमन्विता गम्भीरवाणी से सर्वप्रथम भावुक अर्जुन का उद्बोधन उपक्रान्त कर दिया। वासुदेव कृष्ण उद्बोधन कराने में प्राणपण से संलग्न थे, और उधर अर्जुन घूर्णित—आरक्त भैरव नेत्रों से युधिष्ठिर का मानो अपनी क्रोधाविष्टदृष्टि से सशरीर निगरण कर जाने के लिए ही सन्नद्ध बन रहे थे। बड़ा ही रोचक प्रसङ्ग है इस विषमावस्था में भी, जिस के द्वारा पाण्डवों की भवशरीरानुगता भावुकतामूला कर्म्मभीरुता, एवं आत्मबुद्ध्यनुगता निष्ठामूला धर्म्मभीरुता का स्वयं भगवान् कृष्ण के पावन मुखपद्म से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अतएव तत्प्रसङ्ग के कुछ एक अंश मूलरूप से यहाँ भी उद्धृत करने का लोभसंवरण करने में हम अपनी सहज भावुकता के आकर्षण से असमर्थ बनते जा रहे हैं—श्रूयताम्!

संजय उवाच—

> श्रुत्वा कर्णं कल्यमुदारवीर्य्यं क्रुद्धः पार्थः फाल्गुनस्यामितौजा ॥
> धनञ्जय वाक्यमुवाच चेदं युधिष्ठिरः कर्णशरामितप्त ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—विप्रद्रु ता तात ! चमूस्त्वदीया तिरस्कृता चाघ यथा न साधु ॥
भीतो भीम त्यज्यचायास्तथा त्व यथाशक्त कर्णमथो निहन्तुम् ॥ २ ॥

२—स्नेहस्त्वया पार्थ ! कृत' पृथाया गर्भे समाविश्य यथा न साधु ॥
त्यक्त्वा रणे यदपाया स भीम यथाशक्त सूतपुत्रं निहन्तुम् ॥ ३ ॥

३—यत्तद्वाक्य द्वैतवने त्वयोक्त कर्णं हन्तास्म्येकरथेन सत्यम् ॥
त्यक्त्वा त वै कथमथापयात कर्णाद् भीतो भीमसेन विहाय ॥ ४ ॥

४—इदं यदि द्वैतवनेऽप्यवक्षः कर्णं योद्धु न प्रशक्ष्ये नृपेति ॥
वय ततः प्राप्तकाल च सर्वे कृत्यान्युपैष्याम तथैव पार्थ ॥ ५ ॥

५—मयि प्रतिश्रु त्य वध हि तस्य न वै कृत तच्च तथैव वीर ॥
आनीय न शत्रुमध्य स कस्मात् समुत्क्षिप्य स्थण्डिले प्रत्यपिष्ठा ॥ ६ ॥

६—अप्याशिष्म वयमर्जु न त्वयि यियासवो बहुकल्याणमिष्टम् ॥
तच्च सर्वं विफल राजपुत्र ! फलार्थिनां विफल इवातिपुष्प ॥ ७ ॥

७—प्रच्छादित बडिशमिनामिषेण सच्छादितं गरलमिवाशनेन ॥
अनर्थक मे दर्शितवानसि त्व राज्यार्थिनो राज्यरूपं विनाशम् ॥ ८ ॥

८—त्रयोदशे माहि समा सदा वय त्वामन्वजीविष्म धनञ्जयाशया ॥
काले वर्षं देवमिवोप्तबीजं तत्र सर्वानरके त्व न्यमज्ज ॥ ६ ॥

६—यत्तत् पृथां वागुवाचान्तरिक्षे सप्ताहजाते त्वयि मन्दबुद्धौ ॥
जातः पुत्रो वासवविक्रमोऽय सर्वान् शूरान् शात्रवान् जेष्यतीति ॥१०॥

१०—अयं जेता खाण्डवे देवसघान् सर्वाणि भूतान्यपि चोत्तमौजाः ॥
अय जेता मद्रकलिङ्गकेकयानयं कुरूनाजमध्ये निहन्ता ॥११॥

११—अस्मात्परो नो भविता धनुर्धरो नैन भूतं किञ्चन जातु जेता ॥
इच्छन्नय सर्वभूतानि कुर्याद्वशे वशी सर्वसमाप्तविद्य ॥१२॥

१२—कान्त्या शशाङ्कस्य जवेन वायोः स्थैर्य्येण मेरो क्षमया पृथिव्या ॥
सूर्य्यस्य भासा धनदस्य लक्ष्म्या शौर्य्येण शक्रस्य बलेन विष्णो ॥१३॥

१३ तुल्यो महात्मा तव कुन्तिपुत्रो जातोऽदितेर्विष्णुरिवारिहन्ता ॥
स्वेषां जयाय द्विषतां वधाय ख्यातोऽमितौजा कुलतन्तुकर्त्ता ॥१४॥

१४—इत्यन्तरिक्षे शतशृङ्गमूर्ध्नि तपस्विनां शृण्वतां वागुवाच ॥
एवंविधं तच्च नाभूत्तथा च देवापि नूनमनृतं वदन्ति ॥१५॥

१५—तथापरेषा मृषिमचमानां श्रुत्वा गिरः पूजयतां सदा त्वाम् ॥
न सनतिं प्रैमि सुयोधनस्य त्वां जानाम्याधिरथेर्भयार्त्तम् ॥१६॥

१६—पूर्वं यदुक्तं हि सुयोधनेन न फाल्गुन प्रमुखे स्थास्यतीति ॥
कर्णोस्य युद्धे ह महाबलस्य मौर्ख्यात्तु तन्नावबुद्धं मयासीत् ॥१७॥

१७—तेनाद्य तप्स्ये भृशमप्रमेयं यच्छत्रुवर्गे नरकं प्रविष्टः ॥
तदैव वाच्योऽस्मि न तु त्वयाऽहं न योत्स्येऽहं सूतपुत्रं कथञ्चित् ॥१८॥

१८—ततो नाहं सृञ्जयान् केकयांश्च समानयेयं सुहृदो रणाय ॥
एवं गते किं च मयाद्य शक्यं कार्य्यं कर्तुं विग्रहे सूतजस्य ॥१९॥

१९—तथैव राज्ञश्च सुयोधनस्य ये चाऽपि मां योद्धुकामाः समेताः ॥
धिगस्तु मज्जीवितमद्य कृष्ण ! योऽहं वशं सूतपुत्रस्य यातः ॥२०॥

२०—मध्ये कुरूणां सुहृदां च मध्ये ये चाप्यन्ये योद्धुकामाः समेताः ॥
यदि स्म जीवेत् स भवेत्—निहन्ता महारथानां प्रवरो रथोत्तमः ॥
तवाभिमन्युस्तनयोऽद्य पार्थ ! न चास्मि गन्ता समरे पराभवम् ॥२१॥

२१—अथापि जीवेत् समरे घटोत्कचस्तथापि नाहं समरे पराङ्मुखः ॥
मम त्वभाग्यानि पुरा कृतानि पापानि नूनं बलवन्ति युद्धे ॥२२॥

२२—तृणं च कृत्वा समरे भवन्तं ततोऽहमेव निकृतो दुरात्मना ॥
वैकर्तनेनैव तथा कृतोऽहं यथा ह्यशक्तः क्रियते ह्यबान्धवः ॥२३॥

२३—आपद्गतं कश्चन यो विमोचयेत् स बान्धवः स्नेहयुक्तः सुहृच्च ॥
एवं पुराणा मुनयो वदन्ति धर्म्मः सदा सद्भिरनुष्ठितश्च ॥२४॥

२४—त्वष्ट्रा कृतं वाहमकूजनाक्षं शुभं समास्थाय कपिध्वजं त्वम् ॥
खड्गं गृहीत्वा हेमपट्टानुबद्धं धनुश्चेदं गाण्डिवं तालमात्रम् ॥२५॥

२५—स केशवेनोच्यमानः कथ त्वं कर्णाद् भीतो व्यपयातोऽसि पार्थ ॥
धनुस्च तत् केशवाय प्रयच्छ यन्ता भविष्यस्त्वं रथे केशवस्य ॥२६॥

२६—तदा हनिष्यत् केशव कर्णमुग्र मरुत्पतिवृ त्रमिवात्तवज्रः ॥
राधेयमेतं यदि नाद्य शक्तश्चरन्तमुग्र प्रतिबाधनाय ॥२७॥

२७—प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेतदद्य त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वानरेन्द्र ॥
भ्रस्मान्नैव पुत्रदारैर्विहीनान् सुखाद् भ्रष्टान् राज्यनाशाच्च भूय ॥२८॥

२८—धिग् गाण्डीव, धिक् च ते बाहुवीर्यं, भ्रसख्येयान् बाणगणांश्च धिक्ते ॥
धिक्ते केतु केसरिणः सुतस्य, कृशानुदत्त च रथञ्च धिक्ते ॥२९॥

—महाभारत कर्णपर्व ६८ अ० ।

संजय उवाच—

युधिष्ठिरेणैवमुक्त कौन्तेय श्वेतवाहनः ॥
असिं जग्राह सक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम् ॥३०॥
तस्य कोप समुद्वीक्ष्य 'चित्तज्ञः' केशवस्तदा ॥
उवाच किमिद पार्थ ! गृहीतः 'खड्ग' इत्यपि ॥३१॥

कृष्ण उवाच—

१—न हि प्रपश्यामि योद्धव्यं त्वया किञ्चिद्धनञ्जय ! ॥
ते ग्रस्ता धार्तराष्ट्रा हि भीमसेनेन धीमता ॥३२॥

२—अपयातोऽसि कौन्तेय ! राजा द्रष्टव्य इत्यपि ॥
स राजा भवता दृष्टः कुशली च युधिष्ठिर ॥३३॥

३—स दृष्ट्वा नृपशार्दूल शार्दूलसमविक्रमम् ॥
हर्षकाले च सम्प्राप्ते किमिदं 'मोहकारितम्' ॥३४॥

४—न त पश्यामि कौन्तेय ! यस्ते वध्यो भविष्यति ॥
प्रहर्तु मिच्छसे कस्मात् किंवा ते 'चित्तविभ्रमः' ॥३५॥

५—कस्माद् भवान् महाखड्ग परिगृह्णाति 'सत्वरः' ॥
तत्–त्वां पृच्छामि कौन्तेय ! किमिद ते चिकीर्षितम् ॥३६॥

६—परामृशसि यत् क्रुद्ध खड्गमद्भुतविक्रम ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तस्तु कृष्णेन प्रेक्षमाणो युधिष्ठिरम् ॥३७॥
अर्जुन प्राह गोविन्द क्रुद्ध सर्प इव श्वसन् ॥

अर्जुन उवाच—

१—'अन्यस्मै देहि गाण्डीव'मिति मां योऽभिचोदयेत् ॥३८॥
२—'भिन्द्यामह तस्य शिर' इत्युपांशु व्रत मम ॥
तदुक्त मम चानेन राज्ञामितपराक्रम ! ॥३९॥
३—समक्ष तव गोविन्द ! न तत् क्षन्तुमिहोत्सहे ॥
तस्मादेन वधिष्यामि राजान 'धर्म्मभीरुकम्' ॥४०॥
४—'प्रतिज्ञां पालयिष्यामि' हत्वैन नरसत्तमम् ॥
एतदर्थं मया खड्गो गृहीतो यदुनन्दन ! ॥४१॥
५—सोऽह युधिष्ठिर हत्वा सत्यस्यानृण्यता गत ॥
विशोको विज्वरश्चापि भविष्यामि जनार्दन ! ॥४२॥
६—किंवा त्व मन्यसे प्राप्तमस्मिन् काल उपस्थिते ॥
त्वमस्य जगतस्तात ! वेत्थ सर्व गतागतम् ॥४३॥
७—तत्तथा प्रकरिष्यामि यथा मां वक्ष्यते भवान् ॥

संजय उवाच—

"धिग-धिग्"इत्येव गोविन्द पार्थमुक्त्वाऽब्रवीत् पुन ॥४४॥

कृष्ण उवाच—

१—इदानीं पार्थ जानामि न वृद्धा सेवितास्त्वया ॥
कालेन पुरुषव्याघ्र ! सरम्भ यद्भवानगात् ॥४५॥
२—न हि धर्म्मविभागज्ञ कुर्य्यादेव धनञ्जय ! ॥
यथा त्व पाण्डवाद्येह धर्म्मभीरुरपण्डित ॥४६॥
३—अकार्य्याणां क्रियाणाञ्च सयोग यः करोति वै ॥
कार्य्याणामक्रियाणाञ्च स पार्थ ! पुरुषाधमः ॥४७॥
४—अनुसृत्य तु ये धर्म्मं कथयेयुरुपस्थिता ॥
समासविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥४८॥

२५—स केशवेनोच्यमानः कथ त्वं कर्णाद् भीतो व्यपयातोऽसि पार्थ ॥
धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ यन्ता भविष्यस्त्वं रणे केशवस्य ॥२६॥

२६—तदा हनिष्यत् केशवः कर्णमुग्रं मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः ॥
राधेयमेतं यदि नाथ शक्तश्चरन्तमुग्रं प्रतिबाधनाय ॥२७॥

२७—प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेतदद्य त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्र ॥
नास्मानेवं पुत्रदारैर्विहीनान् सुखाद् भ्रष्टान् राज्यनाशाच्च भूय ॥२८॥

२८—धिग् गाण्डीवं, धिक् च ते बाहुवीर्यं, असङ्ख्येयान् बाणगणांश्च धिक् ते ॥
धिक् ते केतुं केसरिणः सुतस्य, कृशानुदत्तं च रथञ्च धिक् ते ॥२९॥

—महाभारत कर्णपर्व ६८ अ० ।

संजय उवाच—

युधिष्ठिरेणैवमुक्तः कौन्तेय श्वेतवाहनः ॥
असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम् ॥३०॥
तस्य कोपं समुद्वीक्ष्य 'चित्तज्ञः' केशवस्तदा ॥
उवाच किमिदं पार्थ ! गृहीतः 'खड्ग' इत्यपि ॥३१॥

कृष्ण उवाच—

१—न हि पश्यामि योद्धव्यं त्वया किञ्चिद्धनञ्जय ! ॥
ते ग्रस्ता धार्तराष्ट्रा हि भीमसेनेन धीमता ॥३२॥

२—अपयातोऽसि कौन्तेय ! राजा द्रष्टव्य इत्यपि ॥
स राजा भवता दृष्टः कुशली च युधिष्ठिरः ॥३३॥

३—स दृष्ट्वा नृपशार्दूलं शार्दूलसमविक्रमम् ॥
हर्षकाले च सम्प्राप्ते किमिदं 'मोहकारितम्' ॥३४॥

४—न तं पश्यामि कौन्तेय ! यस्ते वध्यो भविष्यति ॥
प्रहर्तुमिच्छसे कस्मात् किं वा ते 'चित्तविभ्रमः' ॥३५॥

५—कस्माद् भवान् महाखड्गं परिगृह्णाति 'सत्वरः' ॥
तत्-त्वां पृच्छामि कौन्तेय ! किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥३६॥

६—परामृशसि यत् क्रुद्धः खड्गमद्भुतविक्रम ॥

१७—भवेत् सत्यमवक्तव्य वक्तव्यमनृत भवेत् ॥
'यत्रानृत भवेत् सत्यं, सत्य चाप्यनृत भवेत्" ॥५६॥

१८—विवाहकाले, रतिसम्प्रयोगे, प्राणात्यये, सर्वधनापहारे ॥
विप्रस्य चार्थे–ह्यनृत वदेत, पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥६०॥

१६—सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृत भवेत् ॥
तत्रानृत भवेत् सत्य सत्य चाप्यनृत भवेत् ॥
तादृश पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम् ॥६१॥

२०—भवेत् सत्यमवक्तव्य न वक्तव्यमनुष्ठितम् ॥
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्म्मवित् ॥६२॥

२१—"किमाश्चर्य्यं कृतप्रज्ञ पुरुषोऽपि सुदारुण ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्य बलाकोऽन्धवधादिव ॥६३॥

२२—किमाश्चर्य्यं पुनर्म्मूढो धर्म्मकामो ह्यपण्डित ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पापमापगास्विव कौशिकः ॥६४॥

अर्जुन उवाच—

२३—आचक्ष्व भगवन्नेतद्यथा विन्द्याम्यह तथा ॥
बलाकस्यानुसम्बद्ध नदीनां कौशिकस्य च ॥६५॥

वासुदेव उवाच—

२४—पुरा व्याधोऽभवत् कश्चित्–'बलाको' नाम भारत !"॥
यात्रार्थं पुत्रदारस्य मृगान् हन्ति, न कामतः ॥६६॥

२५—वृद्धौ च मातापितरौ बिभर्त्यन्यांश्च सश्रितान् ॥
स्वधर्म्मनिरतो नित्यं सत्यवागनसूयकः ॥६७॥

२६—स कदाचित्–मृगलिप्सुर्नान्वविन्दत् मृगं क्वचित् ॥
अपः पिबन्तं ददृशे श्वापद घ्राणचक्षुषम् ॥६८॥

२७—अदृष्टपूर्वमपि तत् सत्त्व तेन हत तदा ॥
अन्धे हते ततो व्योम्नः पुष्पवर्षं पपात च ॥६६॥

५—अनिश्चयज्ञो हि नर कार्य्याकार्य्यविनिश्चये ॥
अवशो मुह्यते पार्थ ! यथा त्व 'मूढ' एव तु ॥४७॥
६—न हि कार्य्यमकार्यं वा सुख ज्ञातु कथञ्चन ॥
श्रुतेन ज्ञायते सर्व्वं तच्च त्व नावबुद्ध्यसे ॥४८॥
७—अविज्ञानाद् भवान्यत्र धर्म्मं रक्षति धर्म्मवित् ॥
प्राणिनां त्व वधं पार्थ ! धार्म्मिको नावबुद्ध्यसे ॥४६॥
८—प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम ॥
"अनृतां वा वदेद्वाच न तु हिंस्यात् कथञ्चन ॥५०॥
६—स कथं भ्रातर ज्येष्ठ राजान धर्म्मकोविदम् ॥
हन्याद्भवान्नरश्रेष्ठ ! प्राकृतोऽन्यः पुमानिव ॥५१॥
१०—अयुध्यमानस्य वधस्तथाऽशत्रोश्च मानद ! ॥
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ॥५२॥
११—कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च ॥
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥५३॥
१२—त्वया चैव व्रत पार्थ ! "बालेनेव" कृत पुरा ॥
तस्माद्धर्म्मसयुक्त "मौर्ख्यात्" कर्म्म व्यवस्यसि ॥५४॥
१३—स गुरु पार्थ ! कस्मात् त्वं हन्तुकामोऽभिधावसि ॥
असम्प्रधार्य्य धर्म्माणां गतिं सूक्ष्मां दुरत्ययाम् ॥५५॥
१४—इद धर्म्मरहस्यञ्च तव वक्ष्यामि पाण्डव ! ॥
यद् ब्रूयात्तव भीष्मो हि पाण्डवो वा युधिष्ठिरः ॥५६॥
१५—विदुरो वा तथा क्षत्ता कुन्ती वापि यशस्विनी ॥
तत्ते वक्ष्यामि तत्त्वेन निबोधैतद्धनञ्जय ! ॥५७॥

कृष्णप्रतिपादिता धर्म्मस्वरूपव्याख्या

१६—सत्यस्य वदिता साधुर्न सत्याद्विद्यते परम् ॥
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेय पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥५८॥

१७—भवेत् सत्यमवक्तव्य वक्तव्यमनृत भवेत् ॥
' यत्रानृत भवेत् सत्य, सत्य चाप्यनृत भवेत्" ॥५६॥

१८—विवाहकाले, रतिसम्प्रयोगे, प्राणात्यये, सर्वधनापहारे ॥
विप्रस्य चार्थे-ध्नृत वदेत, पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥६०॥

१६—सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृत भवेत् ॥
तत्रानृत भवेत् सत्य सत्य चाप्यनृत भवेत् ॥
तादृश पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम् ॥६१॥

२०—भवेत् सत्यमवक्तव्यं न वक्तव्यमनुष्ठितम् ॥
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्म्मवित् ॥६२॥

२१—"किमाश्चर्य्यं कृतप्रज्ञ पुरुषोऽपि सुदारुण ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्य बलाकोऽन्धवधादिव ॥६३॥

२२—किमाश्चर्य्यं पुनर्म्मूढो धर्म्मकामो ह्यपण्डितः ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पापमापगास्विव कौशिकः ॥६४॥

अर्जुन उवाच—

२३—आचक्ष्व भगवन्नेतद्यथा विन्दाम्यहं तथा ॥
बलाकस्यानुसम्बद्ध नदीनां कौशिकस्य च ॥६५॥

वासुदेव उवाच—

२४—पुरा व्याधोऽभवत् कश्चित्–'बलाको' नाम भारत !" ॥
यात्रार्थं पुत्रदारस्य मृगान् हन्ति, न कामतः ॥६६॥

२५—वृद्धौ च मातापितरौ बिभर्त्यन्यांश्च संश्रितान् ॥
स्वधर्म्मनिरतो नित्य सत्यवागनसूयकः ॥६७॥

२६—स कदाचित्–मृगलिप्सुर्नान्यविन्दत् मृगं क्वचित् ॥
अपः पिबन्त ददृशे श्वापद घ्राणचक्षुषम् ॥६८॥

२७—अदृष्टपूर्वमपि तत् सत्त्व तेन हत सदा ॥
अन्धे हते ततो व्योम्नः पुष्पवर्षं पपात च ॥६६॥

२८—अप्सरोगीतवादित्रैर्नादितं च मनोरमम् ॥
विमानमगमत्—स्वर्गात्—मृगव्याधनिनीषया ॥७०॥

२९—तद्भूतं सर्वभूतानामभावाय किलार्जुन ! ॥
तपस्तप्त्वा वरं प्राप्तं कृतमन्धं स्वयंभुवा ॥७१॥

३०—तद्धत्वा सर्वभूतानामभावकृतनिश्चयम् ॥
ततो बलाकः स्वरगादेवं धर्म्मः सुदुर्विदः ॥७२॥

३१—कौशिकोऽप्यभवद् विप्रस्तपस्वी नो बहुश्रुतः ॥
नदीनां सङ्गमे ग्रामाददूरात् स किलावसत् ॥७३॥

३२—'सत्यं मया सदा वाच्य' मिति तस्याभवद् व्रतम् ॥
'सत्यवादी'ति विख्यातः स तदासीद्धनञ्जय ! ॥७४॥

३३—अथ दस्युभयात् केचित्तदा तद्वनमाविशन् ॥
तत्रापि दस्यवः क्रुद्धास्तान् मार्गन्त यत्नतः ॥७५॥

३४—अथ कौशिकमभ्येत्य प्राहुस्ते सत्यवादिनम् ॥
कतमेन पथा याता भगवन् ! बहवो जनाः ॥७६॥

३५—सत्येन पृष्टः प्रब्रूहि यदि तान् वेत्थ, शंस नः ॥
स पृष्टः कौशिकः सत्यं वचनं तानुवाच ह ॥७७॥

३६—"बहुवृक्षलतागुल्ममेतद्वनमुपाश्रिताः" ॥
इति तान् ख्यापयामास तेभ्यस्तत्त्वं स कौशिकः ॥७८॥

३७—"ततस्ते तान् समासाद्य क्रूरा जघ्नु"रिति श्रुतिः ॥
तेनाधर्म्मेण महता वाग्दुरुक्तेन कौशिकः ॥७९॥

३८—गतः स कष्टं नरकं सूक्ष्मधर्म्मेष्वकोविदः ॥
"यथा चाल्पश्रुतो मूढो धर्म्माणामविभागवित्" ॥८०॥

३९—वृद्धानपृष्ट्वा सन्देहं महत्—श्वभ्रमिवार्हति ॥
तत्र ते लक्षणोद्देशः कश्चिदेव भविष्यति ॥८१॥

४०—"दुष्करं परमं ज्ञानं तर्केणानुव्यवस्यति ॥
'श्रुतेर्धर्म्म' इति ह्येके वदन्ति बहवो जनाः ॥८२॥

४१—तत्ते न प्रत्यसूयामि न च सर्व्वं विधीयते ॥
प्रभवार्थाय भूतानां धर्म्मप्रवचनं कृतम् ॥८३॥

४२—"यत् स्यादहिंसासंयुक्तं, स धर्म्म" इति निश्चयः ॥
"अहिंसार्थाय हिंस्राणां धर्म्मप्रवचनं कृतम्" ॥८४॥

४३—"धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजा ॥
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म्म" इति निश्चय ॥८५॥

४४—ये न्यायेन जिहीर्षन्तो धर्म्ममिच्छन्ति कर्हिचित् ॥
अकूजनेन मोक्षं वा नानुकूजेत् कथञ्चन ॥८६॥

४५—"अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्नप्यकूजत ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम्" ॥८७॥

४६—यः कार्य्येभ्यो व्रतं कृत्वा तस्य नानोपपादयेत् ॥
न तत् फलमवाप्नोति एवमाहुर्म्मनीषिणः ॥८८॥

४७—प्राणात्यये, विवाहे वा, सर्वज्ञातिधनात्यये ॥
नर्म्मण्यभिप्रवृत्ते वा न च प्रोक्तं मृषा भवेत् ॥८९॥

४८—अधर्म्मं नात्र पश्यन्ति धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिनः ॥
यस्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि ॥९०॥

४९—"श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम् ॥
न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथञ्चन ॥९१॥

५०—पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥
"तस्माद्धर्म्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग्भवेत्" ॥९२॥

५१—एष ते लक्षणोद्देशो मयोद्दिष्टो यथाविधि ॥
"यथाधर्म्मं यथाबुद्धि मयाद्य वै हितार्थिना" ॥९३॥

५२—एतच्छ्रुत्वा ब्रूहि पार्थ ! यदि वध्यो युधिष्ठिरः ? ॥

अर्जुन उवाच—

यथा ब्रूयान् महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान् महामतिः ॥९४॥

१—हित चैव यथास्माकं तथैवत्वचन तव ॥
भवान् 'मातृसमो'ऽस्माकं तथा 'पितृसमो'ऽपि च ॥९५॥

२—गतिश्च परमा कृष्ण ! त्वमेव च परायणम् ॥
न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित् ॥९६॥

३—तस्माद्भवान् पर धर्म्मं वेद सर्व्वं यथायथम् ॥
"अवध्य पाण्डव मन्ये धर्म्मराज युधिष्ठिरम्" ॥९७॥

४—अस्मिंस्तु मम सङ्कल्पे ब्रूहि किञ्चिदनुग्रहम् ॥
इद वा परमत्रैव शृणु इत्स्य विवक्षितम् ॥९८॥

५—जानासि दाशार्ह ! मम व्रत त्व यो मां ब्रूयात् कश्चन मानुषेषु ॥
"अन्यस्मै त्व गाण्डीव देहि पार्थ" त्वत्तोऽस्त्रैर्वा वीर्य्यतो वा विशिष्टः ॥९९॥

६—हन्यामहं केशव ! तं प्रसह्य भीमो हन्यात्—तूबरकेति चोक्त ॥
तन्मे राजा प्रोक्तवांस्ते समक्ष 'धनुर्देही'त्यसकृद् वृष्णिवीर ! ॥१००॥

७—त हन्यां चेत् केशव ! 'जीवलोके' स्थाता नाह कालमप्यल्पमात्रम् ॥
ध्यात्वा नून मनसा चापि मुक्तो वध राज्ञो भ्रष्टवीर्य्यो विचेताः ॥१०१॥

८—"यथा 'प्रतिज्ञा मम' लोकबुद्धौ भवेत् सत्या" धर्म्मभृतां वरिष्ठ !
यथा जीवेत् पाण्डवोऽह च कृष्ण ! तथा बुद्धि दातुमर्प्यहेसि त्वम् ॥१०२॥

वासुदेव उवाच—

१—राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च कर्णेन सख्ये निशितैर्बाणसंघैः ॥
पश्चानिश सूतपुत्रेण वीर ! शरैर्भृश ताडितो युध्यमानः ॥१०३॥

२—अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् ॥
'प्रकोपितो ह्येष यदि स्म सख्ये कर्णं न हन्यादिति' चाब्रवीत् स ॥१०४॥

३—जानाति त पाण्डव एष चापि पार्थं लोके कर्णमसह्यमन्यैः ॥
मतस्त्वमुक्तो भृशरोषितेन राज्ञा समक्ष परुषाणि पार्थ ! ॥१०५॥

४—नित्योद्युक्तं सतत चाप्रसह्य कर्णे द्यूत ह्यपरस्ते निबद्धम् ॥
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्युरेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्म्मपुत्रे ॥१०६॥

५—"ततो वध नार्हति धर्म्मपुत्रस्त्वया प्रतिज्ञार्जुन ! पालनीया ॥
जीवन्नय येन मृतो भवेद्धि तन्मे निबोधेह तवानुरूपम्" ॥१०७॥
६—"यदा मान लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके ॥
यदावमान लभते महान्त तदा 'जीवन्मृत' इत्युच्यते स" ॥१०८॥
७—सम्मानित पार्थिवोऽय सदैव त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम् ॥
वृद्धैश्च लोके पुरुषैश्च शूरैस्तस्यापमान 'कलया प्रयुङ्क्ष्व' ॥१०९॥
८—'त्व' मित्यत्र 'भवन्त' हि ब्रूहि पार्थ ! युधिष्ठिरम् ॥
"त्व'मित्युक्तो हि निहितो गुरुर्भवति भारत !" ॥११०॥
९—एवमाचर कौन्तेय ! धर्म्मराजे युधिष्ठिर ॥
अधर्म्मयुक्त सयोग कुरुष्वैन कुरूद्वह ! ॥१११॥
१०—अथर्वाङ्गिरसी ह्येषा श्रुतीनामुत्तमा श्रुतिः ॥
अविचार्य्यैव कार्य्यैषा श्रेयस्कामैर्नरैः सदा ॥११२॥
११—अवधेन वधः प्रोक्तो यद्गुरु'स्त्व'मिति प्रभुः ॥
तद् ब्रूहि त्व यन्मयोक्त धर्म्मराजस्य धर्म्मवित् ॥११३॥
१२ वध ह्येय पाण्डव ! धर्म्मराजस्त्वत्तोऽयुक्त वेत्स्यते चैवमेषः ॥
ततोऽस्य पादावभिवाद्य पश्चात् सम ब्रूयाः सान्त्वयित्वा च पार्थ ! ॥११४॥
१३—भ्राता प्राज्ञस्तव कोप न जातु कुर्य्याद् राजा धर्म्ममवेक्ष्य चापि ॥
मुक्तोऽनृताद् भ्रातृवधाच्च पार्थ ! हृष्टः कर्ण त्व जहि सूतपुत्रम् ॥११५॥

सूत उवाच—

इत्येवमुक्तस्तु जनार्दनेन पार्थ प्रशस्याथ सुहृद्वचस्तत् ॥
ततोऽब्रवीदर्जुनो धर्म्मराजमनुक्तपूर्व परुष प्रसह्य ॥११६॥

अर्जुन उवाच—

१—मा 'त्वं' राजन् ! व्याहर व्याहरस्व यस्तिष्ठति क्रोशमात्रे रणाद्वै ॥
भीमस्तु मामर्हति गर्हणाय यो युध्यते सर्वलोकप्रवीरैः ॥११७॥
२—काले हि शत्रून् परिपीड्य संख्ये हत्वा च शूरान् पृथिवीपतींस्तान् ॥
रथप्रधानोत्तमनागमुख्यान् सादिप्रवेकानमितांश्च वीरान् ॥११८॥

१—हित चैव यथास्माकं तथैतद्वचनं तव ॥
भवान् 'मातृसमो'ऽस्माकं तथा 'पितृसमो'ऽपि च ॥९५॥

२—गतिश्च परमा कृष्ण ! त्वमेव च परायणम् ॥
न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित् ॥९६॥

३—तस्माद्भवान् परं धर्म्मं वेद सर्व्वं यथायथम् ॥
"अवध्यं पाण्डवं मन्ये धर्म्मराजं युधिष्ठिरम्" ॥९७॥

४—अस्मिंस्तु मम संकल्पे ब्रूहि किञ्चिदनुग्रहम् ॥
इदं वा परमत्रैव शृणु हृत्स्थं विवक्षितम् ॥९८॥

५—जानासि दाशार्ह ! मम व्रतं त्वं यो मां ब्रूयात् कश्चन मानुषेषु ॥
"अन्यस्मै त्वं गाण्डीवं देहि पार्थ" त्वत्तोऽस्त्रैर्वा वीर्य्यतो वा विशिष्टः ॥९९॥

६—हन्यामहं केशव ! तं प्रसह्य भीमो हन्यात्—तूवरकेति चोक्त ॥
तन्मे राजा प्रोक्तवांस्ते समक्षं, 'धनुर्देहि'त्यसकृद् वृष्णिवीर ! ॥१००॥

७—तं हन्यां चेत् केशव ! 'जीवलोके' स्थाता नाहं कालमप्यल्पमात्रम् ॥
ध्यात्वा नूनं मनसा चापि मुक्तो वध राज्ञो भ्रष्टवीर्य्यो विचेताः ॥१०१॥

८—"यथा 'प्रतिज्ञा मम' लोकबुद्धौ भवेत् सत्या" धर्म्मभृतां वरिष्ठ !
यथा जीवेत् पाण्डवोऽहं च कृष्ण ! तथा बुद्धिं दातुमप्यर्हसि त्वम् ॥१०२॥

वासुदेव उवाच—

१—राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च कर्णेन संख्ये निशितैर्बाणसंघैः ॥
यश्चानिशं सूतपुत्रेण वीर ! शरैर्भृशं ताडितो युध्यमानः ॥१०३॥

२—अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् ॥
'प्रकोपितो ह्येष यदि स्म संख्ये कर्णं न हन्यादिति' चाब्रवीत् सः ॥१०४॥

३—जानाति तं पाण्डव एष चापि पापं लोके कर्णमसह्यमन्यैः ॥
ततस्त्वमुक्तो नृपरोपितेन राज्ञा भमषं परुषाणि पार्थ ! ॥१०५॥

४—नित्योद्युक्ते सततं चाप्रसह्ये कर्णे द्यूतं ह्यद्यरये निबद्धम् ॥
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्युरेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्म्मपुत्रे ॥१०६॥

१६—"अक्षेषु दोषा बहवो विधर्म्मा श्रुतास्त्वया सहदेवोऽब्रवीद्यान् ॥
तान्नैपि त्व त्यक्तुमसाधुजुष्टास्तेन स्म सर्वे निरय प्रपन्नाः ॥१३२॥

१७—सुख त्वत्तो नाभिजानीम किञ्चिद्यतस्त्वमक्षैर्देवितु सम्प्रवृत्तः ॥
स्वय कृत्वा व्यसन पाराडव ! त्वमस्मास्तीव्रा' श्रावयस्यद्य वाच. ॥१३३॥

१८—शेतेऽस्माभिर्निहता शत्रुसेना छिन्नैर्गात्रैर्भूमितले नदन्ती ॥
त्वया हि तत्कर्म्म कृत नृशस यस्माद्दोषः कौरवाणां वधश्च ॥१३४॥

१९—हता उदीच्या निहताः प्रतीच्या नष्टाः प्राच्या दाक्षिणात्या विशस्ताः ॥
कृत कर्म्माप्रतिरूप महद्भिस्तेषां योधैरस्मदीयैश्च युद्धे ॥१३५॥

२०—त्वं देविता त्वत्कृते राज्यनाशस्त्वत्सम्भव नो व्यसन नरेन्द्र ! ॥
मास्मान् क्रूरैर्वाक्प्रतोदैस्तुदस्त्व भूयो राजन् कोपयेस्त्वल्पभाग्यः ॥१३६॥

संजय उवाच—

*—"एता वाच परुषा सव्यसाची स्थिरप्रज्ञः श्रावयित्वा तु रूक्षा' ॥
बभूवासौ विमना 'धर्म्मभीरु" कृत्वा प्राज्ञ' पातक किञ्चिदेवम्" ॥१३७॥

*—तदानुतेपे सुरराजपुत्रो विनि श्वसस्चासिमथोद्वबर्ह ॥
तमाह कृष्ण —

कृष्ण उवाच

१—किमिद पुनर्भवान् विशोकमाकाशनिभ करोत्यसिम् ॥१३८॥

२—"प्रब्रीहि मां पुनरुत्तरं वचस्तथा प्रवक्ष्याम्यहमर्थसिद्धये" ॥

संजय उवाच—

इत्येवमुक्तः पुरुषोत्तमेन सुदुःखितः केशवमर्जुनोऽब्रवीत् ॥१३९॥

अर्जुन उवाच—

१—"अह हनिष्ये स्वशरीरमेव प्रसह्य येनाहितमाचर वै" ॥

संजय उवाच—

*—निशम्य तत् पार्थवचोऽब्रवीदिद धनञ्जयं धर्म्मभृतां वरिष्ठ ॥१४०॥

कृष्ण उवाच—

१—राजानमेनं 'त्व'मितीदमुक्त्वा किं कश्मल प्राविश पार्थ ! घोरम् ॥
त्व चात्मान हन्तुमिच्छस्यरिघ्न ! नेद सद्भिः सेवित वै किरीटिन् ॥१४१॥

३—य' कुञ्जराणामधिकं सहस्रं हत्वा नदस्तुमुलं सिंहनादम् ॥
काम्बोजानामयुतं पार्वतीयान् मृगान् सिंहो विनिहत्येव चाजौ ॥११६॥
४—सुदुष्करं कर्म्म करोति वीरः कर्तुं यथा नार्हसि 'त्वं' कदाचित् ॥
रथादवप्लुत्य गदां परामृशस्तया निहंत्यश्वरथद्विपाश्रणे ॥१२०॥
५—वरासिना वाजिरथाश्वकुञ्जरांस्तथा रथाङ्गैर्धनुषादहत्यरीन् ॥
प्रगृह्य पद्भ्यामहिताभिहन्ति पुनस्तुदोर्भ्यां शतमन्युविक्रम ॥१२१॥
६—महाबलो वैभवणान्तकोपमः प्रसह्य हन्ता द्विषतामनीकिनीम् ॥
स भीमसेनोऽर्हति गर्हणां मे 'न त्वं नित्यं रक्ष्यसे यं सुहृद्भि' ॥१२२॥
७—महारथान्नागवरान् हयांश्च पदातिमुख्यानपि च प्रमथ्य ॥
एको भीमो धार्त्तराष्ट्रेषु मग्नः स मामुपालब्धुमरिन्दमोऽर्हति ॥१२३॥
८—कलिङ्गवङ्गाङ्गनिषादमागधान् सदा मदानीलबलाहकोपमान् ॥
निहन्ति यः शत्रुगणाननेकान् स मामुपालब्धुमरिन्दमोऽर्हति ॥१२४॥
९—स युक्तमास्थाय रथं हि काले धनुर्विधुन्वन् शरपूर्णमुष्टिः ॥
सृजत्यसौ शरवर्षाणि वीरो महाहवे मेघ इवाम्बुधाराः ॥१२५॥
१०—शतान्यष्टौ वारणानामवश्य विषाणि तैः कुम्भकराग्रहस्तैः ॥
भीमेनाजौ निहितान्यद्य मार्यो स मां क्रूरं वक्तुमर्हत्यरिघ्न ॥१२६॥
११—'बलं तु वाचि द्विजसत्तमानां, क्षात्रं बुधा बाहुबलं वदन्ति ॥
त्वं वाग्बलो भारत ! निष्ठुरश्च त्वमेव मां वेत्थ यथाऽबलोऽहम्' ॥१२७॥
१२—यते ह नित्यं तव कर्तुमिष्टं दारैः सुतैर्जीवितेनात्मना च ॥
एवं यन्मां वाग्विशिखेन हन्सि त्वत्तः सुखं न वयं विद्म किञ्चित् ॥१२८॥
१३—मां मावमंस्था 'द्रौपदीतल्पसंस्थो' महारथान् प्रतिहन्मि त्वदर्थे ॥
'तेनाभिशङ्की' भारत ! निष्ठुरोऽसि त्वत्तः सुखं नाभिजानामि किञ्चित्॥१२९॥
१४—प्रोक्तः स्वयं सत्यसन्धेन मृत्युस्तव प्रियार्थं 'नरदेव !' युद्धे ॥
वीरः शिखण्डी द्रौपदोऽसौ महात्मा मयाभिगुप्तेन हतश्च तेन ॥१३०॥
१५—न चाभिनन्दामि तवाधिराज्यं यतस्त्वमस्वहिताय सक्तः ॥
स्वयं कृत्वा पापमनार्य्यजुष्टमस्माभिर्वा तर्तुमिच्छस्यरीन्त्वम् ॥१३१॥

स व्रीडया नम्रशिराः किरीटी युधिष्ठिरं प्राञ्जलिरभ्युवाच ॥

अर्जुन उवाच—

१—प्रसीद राजन् ! क्षमयन्मयोक्तं काले भवान् वेत्स्यति तन्नमस्ते ॥१५४॥

संजय उवाच—

*—प्रसाद्य राजानममित्रसाहः स्थितोऽब्रवीच्चैव पुनः प्रवीरः ॥

नेदं चिरात् क्षिप्रमिदं भविष्यत् प्रावर्त्तते साध्वमियामि चैनम् ॥१५५॥

१—याम्येष भीमं समरात् प्रमोक्तुं सर्वात्मना सूतपुत्रञ्च हन्तुम् ॥

तव प्रियार्थं मम जीवितं हि ब्रवीमि सत्यं तदवेहि राजन् ॥१५६॥

संजय उवाच—

*—इति प्रयास्यन्नुपगृह्य पादौ समुत्थितो दीप्ततेजा किरीटी ॥

एतच्छ्रुत्वा पाण्डवो धर्मराजो भ्रातुर्वाक्यं परुषं फाल्गुनस्य ॥१५७॥

*—उत्थाय तस्माच्छयनादुवाच पार्थं ततो दुःखपरीतचेता ॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—कृतं मया पार्थ ! यथा न साधु येन प्राप्तं व्यसनं वः सुघोरम् ॥१५८॥

२—"तस्माच्छिरश्छिन्धि ममेदमद्य कुलान्तकस्याधमपूरुषस्य ॥

पापस्य पापव्यसनान्वितस्य विमूढबुद्धेरलसस्य भीरोः ॥१५९॥

३—वृद्धावमन्तुः पुरुषस्य चैव किन्ते चिरं मे ह्यनुसृत्य रूक्षम् ॥

गच्छाम्यहं वनमेवाद्य पापः सुखं भवान् वर्त्ततां मद्विहीनः ॥१६०॥

४—योग्यो राजा भीमसेनो महात्मा क्लीबस्य वा मम किं राज्यकृत्यम् ॥

न चापि शक्तः परुषाणि सोढुं पुनस्तवेमानि रुषान्वितस्य ॥१६१॥

५—भीमोऽस्तु राजा मम जीवितेन न कार्य्यमद्यावमतस्य वीर ! ॥

संजय उवाच—

*—इत्येवमुक्त्वा सहसोत्पपात राजा ततस्तच्छयनं विहाय ॥१६२॥

*—इयेष निर्गन्तुमथो वनाय, तं वासुदेवः प्रणतोऽभ्युवाच—

वासुदेव उवाच—

१—राजन् ! विदितमेतद्धि यथा गाण्डीवधन्वन ॥

प्रतिज्ञा सत्यसन्धस्य गाण्डीवं प्रति विश्रुता ॥

ब्रूयाद्य एवं गाण्डीवमन्यस्मै देयमित्युत ॥१६३॥

२—धर्म्मात्मानं भ्रातरं ज्येष्ठमद्य खड्गेन चैनं यदि हन्या नृवीर ! ॥
धर्म्माद्भीतस्तत्कथं नाम ते स्यात् किंचोत्तरं वा करिष्यस्त्वमेव ॥१४२॥
३—सूक्ष्मो धर्म्मो दुर्विदश्चापि पार्थ ! विशेषतोऽज्ञैः प्रोच्यमानं निबोध ॥
हत्वात्मानमात्मना प्राप्नुयास्त्वं वधाद् भ्रातुर्नरकं चातिघोरम् ॥१४३॥
४—"ब्रवीहि वा चाद्य गुणानिहात्मनस्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ!"॥

संजय उवाच—

०—'तथास्तु कृष्णो'त्यभिनद्य तद्वचो धनञ्जयः प्राह धनुर्विनाम्य ॥
युधिष्ठिरं धर्म्मभृतां वरिष्ठं शृणुष्व राजन्निति शक्रसूनु ॥१४४॥

अर्जुन उवाच—

१—न मादृशोऽन्यो नरदेव ! विद्यते धनुर्द्धरो देवमृते पिनाकिनम् ॥१४५॥
२—अहं हि तेनानुमतो महात्मा क्षणेन हन्यां सचराचरं जगत् ॥
मया हि राजन् ! सदिगीश्वरा दिशो विजित्य सर्वा भवतः कृता वशे ॥१४६॥
३—स राजसूयश्च समाप्तदक्षिणः सभा च दिव्या भवतो ममौजसा ॥
पाणौ पृषत्का निशिता ममैव धनुश्च सज्यं विततं सबाणम् ॥१४७॥
४—पादौ च मे सरथौ सध्वजौ च न मादृशं युद्धगतं जयन्ति ॥
हता उदीच्या निहता प्रतीच्या प्राच्या निरस्ता दाक्षिणात्या विशस्ताः॥ १४८॥
५—संशप्तकानां किञ्चिदेवास्ति शिष्टं सर्वस्य सैन्यस्य हतं मयार्द्धम् ॥
शेते मया निहता भारतीया चमू राजन् देवचमूप्रकाशा ॥१४९॥
६—ये चास्त्रज्ञास्तानहं हन्मि चास्त्रैस्तस्मान्लोकानेव करोमि भस्म ॥
जैत्रं रथं भीममास्थाय कृष्णाया व शीघ्रं सूतपुत्रं निहन्तुम् ॥१५०॥
७—राजा भवत्वद्य सुनिर्वृतोऽयं कर्णं रणे नाशयितास्मि बाणैः ॥

संजय उवाच—

(इत्येवमुक्त्वा पुनराह पार्थो युधिष्ठिरं धर्म्मभृतां वरिष्ठम्) ॥१५१॥
८—अद्यापुत्रा सूतमाता भवित्री कुन्ती वाथो मामयातेन वापि ॥
सत्यं वदाम्यद्य न कर्णमाजौ शरैरहत्वा कवचं विमोक्ष्ये ॥१५२॥

संजय उवाच—

०—इत्येवमुक्त्वा पुनरेव पार्थो युधिष्ठिरं धर्म्मभृतां वरिष्ठम् ॥
विमुच्य शस्त्राणि धनुर्विसृज्य कोशे च खड्गं विनिधाय तूर्णम् ॥१५३॥

इतिस्म कृष्णवचनात् प्रत्युधार्य्य युधिष्ठिरम् ॥
बभूव विमना: पार्थः किञ्चित् कृत्वेव पातकम् ॥१७६॥
तदाऽब्रवीद् वासुदेव प्रहसन्निव पाण्डवम् ॥

वासुदेव उवाच—

१—कथ नाम भवेदेतद्यदि त्वं पार्थ ! धर्म्मजम् ॥१७७॥
२—असिना तीक्ष्णधारेण हन्या धर्म्मे व्यवस्थितम् ॥
त्वमित्युक्त्वाथ राजानमेव कश्मलमाविशः ॥१७८॥
३—हत्वा तु नृपतिं पार्थ ! अकरिष्यः किमुत्तरम् ॥
एव हि दुर्विदो धर्म्मो मन्दप्रज्ञैर्विशेषत ॥१७९॥
४—स भवान् 'धर्म्मभीरुत्वात्' ध्रुवमैष्यन्महत्तम ॥
नरक घोररूपञ्च भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वै वधात् ॥१८०॥
५—स त्व धर्म्मभृतां श्रेष्ठ राजान धर्म्मसहितम् ॥
प्रसादय कुरुश्रेष्ठमेतदत्र मत मम ॥१८१॥
६—प्रसाद्य भक्त्या राजान प्रीते चैव युधिष्ठिरे ॥
प्रयावस्त्वरितौ योद्धु सूतपुत्र रथं प्रति ॥१८२॥
७—"हत्वा तु समरे कर्णं त्वमद्य निशितैः शरैः
विपुलां प्रीतिमाधत्स्व धर्म्मपुत्रस्य मानद !" ॥१८३॥
८—एतदत्र महाबाहो ! प्राप्तकाल मत मम ॥
एवंकृते कृतञ्चैव तव कार्य्यं भविष्यति ॥१८४॥

संजय उवाच—

९—ततोऽर्जुनो महाराज ! 'लज्जया' वै समन्वित ॥
धर्म्मराजस्य चरणौ प्रपद्य शिरसा नतः ॥१८५॥
उवाच भरतश्रेष्ठ प्रसीदेति पुन पुनः ॥

अर्जुन उवाच—

१—क्षमस्व राजन् ! यत् प्रोक्त 'धर्म्मकामेन भीरुणा' ॥१८६॥

२—वध्योऽस्य स पुमाँल्लोके त्वया चोक्तोऽयमीदृशम् ॥
तत: सत्यां प्रतिज्ञां तां पार्थेन प्रतिरक्षिता ॥१६४॥
३—यच्छन्दाद्वमानोऽयं कृतस्तव महीपते ! ॥
"गुरूणामवमानो हि 'वध' इत्यभिधीयते" ॥१६५॥
४—तस्मात् त्वं वै महाबाहो ! मम, पार्थस्य, चोभयोः ॥
व्यतिक्रममिमं राजन् ! सत्यसरक्षणं प्रति ॥१६६॥
५—"शरणं त्वा महाराज ! प्रपन्नौ स्व उभावपि
क्षन्तुमर्हसि मे राजन् ! प्रणतस्याभियाचत" ॥१६७॥
६—राधेयस्याद्य पापस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि हत विद्ध्यद्य सूतजम् ॥१६८॥
यस्येच्छसि वधं तस्य गतमप्यस्य जीवितम् ॥

सञ्जय उवाच—

*—इति कृष्णवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१६९॥
स सम्भ्रमं 'हृषीकेश'मुत्थाप्य प्रणतं तदा ॥
कृताञ्जलिस्ततो वाक्यमुवाचानन्तरं वचः ॥१७०॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—एवमेव यथात्थ त्वमस्त्येषोऽतिक्रमो मम ॥
अनुनीतोऽस्मि गोविन्द ! तारितश्चास्मि माधव ॥१७१॥
२—मोचिता व्यसनाद् घोराद् वयमद्य त्वयाऽच्युत ! ॥
भवन्त नाथमासाद्य आवां व्यसनसागरात् ॥१७२॥
३—"घोरादद्य समुत्तीर्णावुभावज्ञानमोहितौ ॥
त्वद्बुद्धिप्लवमासाद्य दुःखशोकार्णवाद्वयम् ॥१७३॥
४—समुत्तीर्णाः सहामात्याः सनाथाः स्म त्वयाऽच्युत ! ॥१७४॥

संजय उवाच—

*—धर्मराजस्य तच्छ्रुत्वा प्रीतियुक्तं वचस्ततः ॥
पार्थं प्रोवाच धर्मात्मा गोविन्दो यदुनन्दनः ॥१७५॥

संजय उवाच—

*—एवमाभाष्य राजानमब्रवीन्माधव वच' ॥

अर्जुन उवाच—

१—अद्य कर्णं रणे कृष्ण ! सूदयिष्ये न संशय' ॥१९७॥

तव बुद्ध्या हि, भद्र ते, वधस्तस्य दुरात्मन' ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तोऽब्रवीत् पार्थं केशवो राजसत्तम ! ॥१९८॥

केशव उवाच—

१—शक्तोऽसि भरतश्रेष्ठ ! हन्तु कर्णं महाबलम् ॥

एष चापि हि मे कामो नित्यमेव महारथ ! ॥१९९॥

कथं भवान् रणे कर्णं निहन्यात् ॥

संजय उवाच—

*— इति सत्तम ! ॥

भूयश्चोवाच मतिमान् माधवो धर्मनन्दनम् ॥२००॥

माधव उवाच—

१—युधिष्ठिरेम बीभत्सु त्व सान्त्वयितुमर्हसि ॥

अनुज्ञातु च कर्णस्य वधायाद्य दुरात्मन ॥२०१॥

२—श्रुत्वा ह्ययं चैव त्वां कर्णशरपीडितम् ॥

प्रवृत्तिं ज्ञातुमायाताविहावां पाण्डुनन्दन ! ॥२०२॥

३—दिष्ट्यासि राजन्नहतो दिष्ट्या न ग्रहणं गतः ॥

परिसान्त्वय बीभत्सु जयमाशाधि चानघ ! ॥२०३॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—एह्येहि पार्थ ! बीभत्सो ! मां परिष्वज पाण्डव ॥

वक्तव्यमुक्तोऽस्मि हित त्वया क्षान्त च तन्मया ॥२०४॥

२—अहं त्वामनुजानामि जहि कर्णं धनञ्जय ! ॥

मन्यु च मा कृथाः पार्थ ! यन्मयोक्तोऽसि दारुणम् ॥२०५॥

संजय उवाच—

*—ततो धनञ्जयो राजन् ! शिरसा प्रणतस्तदा ।

पादौ जग्राह पाणिभ्यां भ्रातुर्ज्येष्ठस्य मारिष ॥२०६॥

संजय उवाच—

ⓞ—"दृष्ट्वा तु पतित पद्भ्या धर्म्मराजो युधिष्ठिर' ॥
धनञ्जयममित्रघ्न रुदन्त भरतर्षभ ! ॥१८७॥
उत्थाप्य भ्रातर राजा धर्म्मराजो धनञ्जयम् ॥
समाश्लिष्य च सस्नेह प्ररुरोद महीपति ॥१८८॥
रुदित्वा सुचिर काल भ्रातरौ सुमहाद्युती ॥
कृतशौचौ महाराज ! प्रीतिमन्तौ बभूवतु' ॥१८९॥
तत श्माश्लिष्य त प्रेम्णा मूर्ध्नि चाघ्राय पाण्डव ॥
प्रीत्या परमया युक्तो विस्मयश्च पुनः पुन' ॥
अब्रवीत्त महेष्वास धर्म्मराजो धनञ्जयम ॥१९०॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—कर्णेन मे महाबाहो ! सर्वसैन्यस्य पश्यत ॥
कवचं च ध्वज चैव धनुः शक्तिर्हयाः शरा ॥१९१॥

२—शरैः कृता महेष्वास ! यतमानस्य संयुगे ॥
सोऽहं ज्ञात्वा रणे तस्य कर्म्म दृष्ट्वा च फाल्गुन ! ॥१९२॥

३—व्यवसीदामि दुःखेन न च मे जीवितं प्रियम् ॥
न चेदद्य हि तं वीर निहनिष्यसि संयुगे ॥१९३॥

४—प्राणानेव परित्यक्ष्ये जीवितार्थो हि को मम ॥

संजय उवाच—

ⓞ—एवमुक्तः प्रत्युवाच 'विजयो' भरतर्षभ ! ॥१९४॥

अर्जुन उवाच—

१—सत्येन ते शपे राजन् ! प्रसादेन तथैव च ॥
भीमेन च नरश्रेष्ठ ! यमाभ्यां च महीपते ! ॥१९५॥

२—यथाद्य समरे कर्णं हनिष्यामि हतोऽपि वा ॥
महीतले पतिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥१९६॥

संजय उवाच—

*—एवमाभाष्य राजानमब्रवीन्माधव वचः ॥

अर्जुन उवाच—

१—अद्य कर्णं रणे कृष्ण ! सूदयिष्ये न संशयः ॥१९७॥

तव बुद्ध्या हि, भद्रं ते, वधस्तस्य दुरात्मनः ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तोऽब्रवीत् पार्थं केशवो राजसत्तम ! ॥१९८॥

केशव उवाच—

१—शक्तोऽसि भरतश्रेष्ठ ! हन्तुं कर्णं महाबलम् ॥

एष चापि हि मे कामो नित्यमेव महारथ ! ॥१९९॥

कथं भवान् रणे कर्णं निहन्यात्   ॥

संजय उवाच—

*—   इति सत्तम ! ॥

भूयश्चोवाच मतिमान् माधवो धर्म्मनन्दनम् ॥२००॥

माधव उवाच—

१—युधिष्ठिरेमं बीभत्सुं त्वं सान्त्वयितुमर्हसि ॥

अनुज्ञातुं च कर्णस्य वधायाद्य दुरात्मनः ॥२०१॥

२—श्रुत्वा ह्ययमहं चैव त्वां कर्णशरपीडितम् ॥

प्रवृत्तिं ज्ञातुमायाताविहावां पाण्डुनन्दन ! ॥२०२॥

३—दिष्ट्यासि राजन्नहतो दिष्ट्या न ग्रहणं गतः ॥

परिसान्त्वय बीभत्सुं जयमाशाधि चानघ ! ॥२०३॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—एह्येहि पार्थ ! बीभत्सो ! मां परिष्वज पाण्डव ॥

वक्तव्यमुक्तोऽस्मि हितं त्वया क्षान्तं च तन्मया ॥२०४॥

२—अहं त्वामनुजानामि जहि कर्णं धनञ्जय ! ॥

मन्युं च मा कृथाः पार्थ ! यन्मयोक्तोऽसि दारुणम् ॥२०५॥

संजय उवाच—

*—ततो धनञ्जयो राजन् ! शिरसा प्रणतस्तदा ।

पादौ जग्राह पाणिभ्यां भ्रातुर्ज्येष्ठस्य मारिष ॥२०६॥

तमुत्थाप्य ततो राजा परिष्वज्य च पीडितम् ॥
मूर्ध्न्युपाघ्राय चैवेनमिदं पुनरुवाच ह ॥२०७॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—धनञ्जय ! महाबाहो ! मानितोऽस्मि त्वया ॥
माहात्म्यं विजयं चैव भूयः प्राप्नुहि शाश्वतम् ॥२०८॥

अर्जुन उवाच—

१—अद्य तं पापकर्म्माणं सानुबन्धं रणे शरैः ॥
नयाम्यन्तं समासाद्य राधेयं बलगर्वितम् ॥२०९॥

२—येन त्वं पीडितो बाणैर्द्दमायम्य कार्मुकम् ॥
तस्याद्य कर्म्मणः कर्ण फलमाप्स्यति दारुणम् ॥२१०॥

३—अद्य त्वामनुपश्यामि कर्णं हत्वा महीपते ! ॥
समाजयितुमाक्रन्दादिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥२११॥

४—नाहत्वा विनिवर्तिष्ये कर्णमद्य रणाजिरात् ॥
इति सत्येन ते पादौ स्पृशामि जगतीपते ! ॥२१२॥

संजय उवाच—

इति प्रभाष्य सुमना किरीटिनं युधिष्ठिरः प्राह वचो बृहत्तरम् ॥
यशोऽक्षयं जीवितमीप्सितं ते जयं सदा वीर्य्यमरिक्षयं तदा ॥२१३॥

प्रयाहि वृद्धिञ्च दिशन्तु देवता 'यथाहमिच्छामि तथास्तु तत्तथा' ॥
प्रयाहि शीघ्रं जहि कर्णमाहवे पुरन्दरो वृत्रमिवात्मवृद्धये ॥२१४॥

इतिश्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अर्जुनप्रतिज्ञायां एकसप्ततितमोऽध्यायः ।

—महाभारत कर्णपर्व ६८,६९,७०,७१ अध्यायाः

—★—

कर्णपर्व के ६८ (अड़सठ में) अध्याय से आरम्भ कर ७१ (इकहत्तर) अध्याय पर्यन्त चार अध्यायांम पुराणपुरुष (भगवान् व्यास) की ओर से महावीर कर्ण के माध्यम से पाण्डवों की जिस भावुकता का, जिस धर्मभीरुता एवं कर्मभीरुता का स्वयं पाण्डवों के ही मुख से, तथा वासुदेव श्रीकृष्ण के द्वारा रोचक, रोमहर्षजनक, उद्वेगकर, विस्मयकर, आश्चर्यकर जो स्वरूपविश्लेषण हुआ है, उसका भावुकतास्वरूपविश्लेषक प्रस्तुत निबन्ध के आख्यानपरिच्छेद में समावेश करना प्रासङ्गिक ही माना जायगा। भावुक मानव किस प्रकार किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनता हुआ धर्म–लोक–समाजादि निष्ठाओं से पराङ्मुख हो जाता है !, ऐसे भावुक मानवों का समूह किस प्रकार सर्वथा भावुक स्त्रीवर्ग की भाँति, अथवा सौम्य भावुक बालकों की भाँति क्षण क्षण में कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी आक्रोश अभि–व्यक्त करता है, कभी निन्दा करता है, कभी स्तुति करता है, कभी हर्षोन्मत्त बन जाता है, तो कभी दुःखार्णव निमज्जन का अनुभव करने लगता है !, इत्यादि भावुकानुबन्धिनी प्रत्यक्ष समस्या का स्वरूपविश्लेषण इस अध्यायचतुष्टयी में हुआ है, उसकी उपयोगिता के महत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए अत्र उस का समावेश होना ही चाहिए था, अनिवार्यरूप से होना चाहिए था। पुराणपुरुष की सहजभाषा गम्भीरार्थसमन्विता होती हुई भी प्राञ्जल है। अतएव भारतीय संस्कृतिनिष्ठ मानवों को अत्र उद्धृत पूर्व सन्दर्भ के सुसमन्वय में कोई कठिनाई न होगी, ऐसी हमारी आत्मधारणा है। फिर पुराणपुरुष के आर्ष शब्दों की रहस्यपूर्णा व्यञ्जना–भावगरिमा का 'हिन्दी' जैसी प्राकृत–लौकिक–असंस्कृत–भाषा के उच्छिष्ट शब्दों के माध्यम से यथावत् तो क्या, अंशतः भी समन्वय नहीं किया जा सकता। यह सब कुछ यथार्थ होते हुए भी, जानते हुए भी एकान्त युगधर्मानुगता भाषा–हिन्दीभाषा–राष्ट्रभाषा–भावुकतान्तःकरण बने हुए भावुक मानवों के भावुकतापूर्ण परितोष के लिए भी भावुकभाषा में भी संक्षेप से उपात्त महाभारतसन्दर्भ की लोकदिशा का स्पष्टीकरण करा देना इस भावुक निबन्ध ने सामयिक, एवं लोकसंग्राहक मान लिया है।

स्पष्टीकरण से पहिले यह 'आमुख' हृदयङ्गम कर लेना चाहिए कि, पाण्डवों में सर्वज्येष्ठ–श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर की सहज भावुकता ही इस सन्दर्भ का मूलाधार है। युधिष्ठिर आरम्भ से ही सौम्य–वृत्तिपरायण रहे हैं। किसी भी धार्मिक राजनैतिक एवं सामाजिक–पारिवारिक संघर्ष का नामश्रवण भी सदा से ही इनकी मनोवृत्ति के सर्वथा विरुद्ध रहा है। "आमे दो, क्षमा कर दो, व्यर्थ कलह में प्रवृत्त होना उचित नहीं दूसरों को सुखी होने दो, अपने कष्ट को ही आनन्द मान लेंगे" इस प्रकार आमशमयोषिता क्षमाशीलता ही युधिष्ठिर का मुख्य लक्ष्य–बिन्दु रहा है। इसी क्षमाशीलता से अनुचित लाभ उठाते हुए दुष्टबुद्धि कौरवों के द्वारा समय समय पर इन्हें भी निःसीम रूप से उत्पीड़ित होना पड़ा है, एवं इनके साथ साथ सम्पूर्ण पाण्डवपरिवार को भी दुःखपरम्पराओं से आर्त्त बना रहना पड़ा है। युधिष्ठिर ने स्वयं भी सहर्ष इन आर्तिपरम्पराओं का इच्छापूर्वक अनुगमन किया है, एवं अपने आज्ञावशवर्त्ती पारिवारिक व्यक्तियों को भी उनकी इच्छा के विरुद्ध अनुगमन करते रहने के लिए विवश बनाया है। सब कुछ सहा है युधिष्ठिर ने, किन्तु प्रतिक्रिया से समन्वित संघर्ष से सदा अपने आपको असंपृक्त बनाए रखने का ही परमपुरुषार्थ ? अभिव्यक्त किया है। सम्भवतः इसीलिए स्वार्थनिष्ठ

परप्रतारक नैष्ठिकों ने युधिष्ठिर की भावुकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, इनकी इस भावुकता से अपना स्वार्थसाधन करने की दूषित भावना से ही इन्हें 'अजातशत्रु' जैसी भावुकतापूर्ण उपाधि से सुविभूषित किया है। ऐसा है धर्मराज युधिष्ठिर का सहज-स्वरूप चित्रण, जिसे आमुख मान कर ही हमें महाभारतसन्दर्भ का समन्वय करना है।

महता प्रयासेन भगवान् कृष्ण ने जैसे तैसे युधिष्ठिरप्रमुख भावुक-संघर्षशून्य अनुकूलताप्रेमी पाण्डवों को क्षात्रधर्म्मोचित मानवधर्म्म के संस्थापन जैसे महान् उद्देश्य से युद्ध के लिए अभिमुख किया। ठीक युद्धारम्भप्रसङ्ग पर भावुकता के महान् प्रतीक अर्जुन में पुनः पूर्वाभ्यस्त सहजभावुकता समुद्भूत हो पड़ी, जिसके उपशम के लिए श्रीमद्भगवद्गीतोपवर्णिता अव्ययेश्वरनिबन्धना उस बुद्धियोगनिष्ठा को ब्रह्मावतार वासुदेव को उसी प्रकार पुनः लक्ष्य बनाना पड़ा, जिस निष्ठा का अव्यक्तशरीरावच्छिन्न इसी ब्रह्मेश्वर के द्वारा पुरा देवयुग में सर्वप्रथम मानवप्रजासम्राट् विवस्वान् मनु के प्रति उपदेश हुआ था। बुद्धियोगनिष्ठा के द्वारा अज्ञानजनित आत्मस्वरूपविमोहन पलायित हुआ। फलस्वरूप अर्जुन सकम्पित क्षात्रनिष्ठा (युद्ध) में अभिप्रवृत्त हुए। आगे चल कर अनेकबार भीष्म-द्रोण-आदि युद्धप्रसङ्गों में पाण्डवों में पुनः पुनः भावुकता जागरूक होती रही, एवं परमनैष्ठिक भगवान् अपने सामयिक निष्ठासूत्रों से पाण्डवों का उद्बोधन कराते रहे। आज एक वैसा ही, उससे भी कहीं भयङ्कर अवसर उपस्थित हो पड़ा युधिष्ठिर की सहजभावुकता के अनुग्रह से, जिसके सचक बने महावीर अभिनेता अङ्गराज कर्ण।

भीष्म और द्रोण के सेनापत्यकाल में भी युधिष्ठिर युद्ध में प्रवृत्त रहे थे। किन्तु उन दोनों अवसरों पर युधिष्ठिर वैय्यक्तिकरूप से विशेष उत्पीड़ित इसलिए नहीं हुए थे कि, भीष्म और द्रोण अन्नदासकर्त्तव्य से कौरवसेना का आधिपत्य वहन करते हुए भी धर्म्मशील पाण्डवों के प्रति सहजरूप से अपना वात्सल्यप्रेम सुरक्षित रखते थे। दैवदुर्विपाक से दोनों ही महारथी क्षात्रगति को प्राप्त हो गए। अब सेनापति बनाए गए वे कर्ण, जिनका आरम्भ से ही पाण्डवों के प्रति सहज वैर प्रकान्त था, एवं जो अङ्गराजोपाधिप्रदाता दुर्य्योधन के हित में अपनी अनन्य निष्काम निष्ठा रखते थे। इनके अन्तःकरण में पाण्डवों के प्रति अणुमात्र भी स्नेह-दया-करुणा-ममताभाव न थे। अर्जुन को छोड़ कर शेष चारों पाण्डवों के बधकर्म्म से तटस्थ बन जाने वाले मातृभक्त कर्ण ने इन चारों के प्राण अवश्य नहीं लिए। किन्तु प्राणान्त-कष्ट के अनुग्रह में कर्ण ने कुछ भी शेष नहीं रहने दिया। जो भी पाण्डुपुत्र कर्ण के सम्मुख आ पड़ा कर्णशरवर्षणानुग्रह से वही त्राहि त्राहि उद्घोष कर पड़ा। और यहीं आकर युधिष्ठिर की सहज भावुकता उत्पीड़ित हो पड़ी। कर्णप्रक्षिप्त सुतीक्ष्ण शरों के आघात से युधिष्ठिर आकुल-व्याकुल हो पड़े। पाण्डवसेना के देखते देखते कर्ण ने अपने अमोघ शरवर्षा से युधिष्ठिर के कवच-रथ-ध्वजा धनुष-शक्ति-रथाश्व-तूणीर-सब कुछ काट फेंके, जैसा स्वयं युधिष्ठिर ने अपने मुख से स्वीकार किया है। निरस्त्र-हतवीर्य्य-युधिष्ठिर को कर्ण उसी समय यमराज का भी अतिथि बना सकते थे। किन्तु धर्म्मप्रतिज्ञा की दृष्टि से अनन्यनिष्ठ मातृस्मरणीय कर्ण माता कुन्ती के साथ की गई प्रतिज्ञा का स्मरण कर बधकर्म्म से पराङ्मुख बन गए।

आकस्मिक सघष महज सौम्यभावुक मानव को भावुकता को चरमसीमानुगामी बनाता हुआ प्रतिक्रियासजनपूर्वक निष्ठा का जनक बन जाया करता है। सहज भावुक युधिष्ठिर के सम्बन्ध में भी यही लोकसूत्र अन्वर्थ बना। भावुकता सर्वात्मना पलायित हो गई, निष्ठा का उदय हो पड़ा। सदा के सुशान्त युधिष्ठिर कर्णशराभितप्त बन कर अपने आपको भूल गए। आक्रोश आगरूक हो पड़ा। और सर्वत्र क्षमाप्रदानशील युधिष्ठिर यों कर्णानुग्रह से चरमसीमा के प्रतिक्रियावादी बन बैठे। इस प्रतिक्रिया ने कर्ण का तो तत्काल कुछ अनिष्ट किया नहीं, लक्ष्य बना इस प्रतिक्रिया का अर्जुन का 'गाण्डीवधनुष'। इसलिए कि कर्ण के धनुष ने ही तो इन्हें सन्तप्त किया था। सहसा इन्हें अपने अर्जुन का यह गाण्डीवधनु सस्मृत हो पड़ा, जिस की अप्रतिम शरवर्षणशक्ति का यशोगान युधिष्ठिर कई बार अर्जुन के मुख से सुन चुके थे। 'कर्ण का अवश्यमेव येन केनाप्युपायेन विनाश होना ही चाहिए' एक ओर युधिष्ठिर में जहाँ यह आत्मनिष्ठा उदित हुई, वहाँ दूसरी ओर निष्ठाभक्ताक्रमण से सहसा अहिभूतप्राया भावुकता का लक्ष्य बना गाण्डीव, और तद्धारी अर्जुन। सम्पूर्ण विवेक खो बैठे इस दिशा में युधिष्ठिर। पुरोऽवस्थित महामान्य वासुदेव कृष्ण की उपस्थिति भी युधिष्ठिर को सयत न रख सकी। और यों—कर्णमूलाधारजनिता प्रतिक्रिया के अनुग्रह से महाभारत का अतिशय रोचक सन्दर्भ इस रूप से उपक्रान्त हो ही तो पड़ा कि—

सञ्जय उवाच—"श्रुत्वा कर्णं कल्पमुदारवीर्य्यम्"।

(१)—व्यासप्रदत्त 'परोक्षदर्शनम्' रूपा देवविद्या के प्रभाव से कौरवराजभवन में समासीन भूतराष्ट्र को युद्धेतिवृत्त सुनाने के लिए नियत सञ्जय धृतराष्ट्र से कहने लगे—राजन्! (धृतराष्ट्र!)—युद्ध प्रसङ्ग में महारथी कर्ण के लोकप्रसिद्ध उदार–उदात्त–बल–वीर्य्य–पराक्रम (शारीरिक–मानसिक–बौद्धिक–बल) सुन सुन कर युधिष्ठिर क्रोधाविष्ट बन गए। स्वयं भी कर्ण के सुतीक्ष्ण बाणों के निर्मम प्रहाररूप रसास्वादन! से सन्तप्त उत्तप्त–विक्षिप्त–से बने हुए प्रतिक्रियानुगामी क्रोधनिष्ठ युधिष्ठिर अर्जुन के सुप्रसिद्ध गाण्डीव धनुष को, एवं तद्धारक महारथी अर्जुन को लक्ष्य बनाते हुए आक्रोशपूर्वक इस प्रकार परुषवाक्प्रहार (धिक्कारयुक्त वाणी का प्रहार) करने लगे कि—

(२) अर्जुन! गाण्डीवधारी अर्जुन! पृथापुत्र पार्थ! आज तुम्हारा सैन्यबल गलित–स्खलितवीर्य्य बन गया, कर्ण ने सहसा क्षणमात्र में तुम्हारी महती सेना का तिरस्कार कर डाला। क्या यह ठीक हुआ!। तुम कर्ण से भयत्रस्त बन कर भीम को असहाय छोड़ कर यहाँ आकर छिप गए। तुम युद्ध में कर्ण को मार न सके। (३)—अर्जुन! आज तुमने अपनी 'पार्थ' उपाधि को कलङ्कित करते हुए अपनी उस मातृकुक्षि (माता की कोख) को लज्जित ही कर दिया, जिस कुक्षि से उत्पन्न होकर भी भीम को असहाय छोड़ कर तुम युद्ध से पराङ्मुख तो हो गए, किन्तु सूतपुत्र को मार न सके॥ (४) तुमने द्वैतवननिवास प्रसङ्ग में भी यह सत्य प्रतिज्ञा की थी कि, मैं युद्ध में एकाकी ही कर्ण का वध कर डालूँगा। कहाँ गई तुम्हारी यह प्रतिज्ञा!। देख रहा हूँ, प्रतिज्ञा का विस्मरण कर आज तुम डर कर भीम को असहायावस्था

परप्रतारक नैष्ठिकों ने युधिष्ठिर की भावुकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, इनकी इस भावुकता से अपना स्वार्थसाधन करने की दूषित भावना से ही इन्हें 'अजातशत्रु' जैसी भावुकतापूर्ण उपाधि से सुविभूषित किया है। ऐसा है धर्मराज युधिष्ठिर का सहज-स्वरूप चित्रण, जिसे आमुख मान कर ही हमें महाभारतस्कन्दम का समन्वय करना है।

महता प्रयासेन भगवान् कृष्ण ने जैसे तैसे युधिष्ठिरप्रमुख भावुक-सफपशून्य अनुकूलतामेमी पाण्डवों को क्षात्रधर्मोचित मानवधर्म के संस्थापन जैसे महान् उद्देश्य से युद्ध के लिए अभिमुख किया। ठीक युद्धारम्भप्रसङ्ग पर भावुकता के महान् प्रतीक अर्जुन में पुन पूर्वाभ्यस्त सहजभावुकता समुद्भूत हो पड़ी, जिसके उपशम के लिए श्रीमद्भगवद्गीतोपवर्णिता अव्ययेश्वरनिष्ठ घना उस बुद्धियोगनिष्ठा को अवतारवतार वासुदेव को उसी प्रकार पुन लक्ष्य बनाना पड़ा, जिस निष्ठा का अन्यशरीरावच्छिन्न इन्हीं अव्ययेश्वर के द्वारा पुरा देवयुग में सर्वप्रथम मानवप्रजासम्राट् विवस्वान् मनु के प्रति उपदेश हुआ था। बुद्धियोगनिष्ठा के द्वारा अज्ञानजनित आत्मस्वरूपविमोहन पलायित हुआ। फलस्वरूप अर्जुन सङ्कल्पित क्षात्र-निष्ठा (युद्ध) में अभिप्रवृत्त हुए। आगे चल कर अनेकवार भीष्म-द्रोण-आदि युद्धप्रसङ्गों में पाण्डवों में पुन पुन भावुकता जागरूक होती रही, एवं परमनैष्ठिक भगवान् अपने सामयिक निष्ठासूत्रों से पाण्डवों का उद्बोधन कराते रहे। आज एक वैसा ही, उससे भी कहीं भयङ्कर अवसर उपस्थित हो पड़ा युधिष्ठिर की सहजभावुकता के अनुग्रह से, जिसके जनक बने महावीर अभिनेता अङ्गराज कर्ण।

भीष्म और द्रोण के सेनापत्यकाल में भी युधिष्ठिर युद्ध में प्रवृत्त रहे थे। किन्तु उन दोनों अवसरों पर युधिष्ठिर वैय्यक्तिकरूप से विशेष उत्पीड़ित इसलिए नहीं हुए थे कि, भीष्म और द्रोण अभ्रदासाकर्षण से कौरवसेना का आधिपत्य वहन करते हुए भी धर्मशील पाण्डवों के प्रति सहजरूप से अपना वात्सल्यप्रेम सुरक्षित रखते थे। दैवदुर्विपाक से दोनों ही महारथी क्षात्रगति को प्राप्त हो गए। अब सेनापति बनाए गए थे कर्ण, जिनका आरम्भ से ही पाण्डवों के प्रति सहज वैर एकान्त था, एवं जो अङ्गराजोपाधिप्रदाता दुर्य्योधन के हित में अपनी अनन्य निर्व्याज निष्ठा रखते थे। इनके अन्तःकरण में पाण्डवों के प्रति अणुमात्र भी स्नेह-दया-करुणा-ममताभाव न थे। अर्जुन को छोड़ कर शेष चारों पाण्डवों के वधकर्म्म से तटस्थ बन जाने वाले मातृभक्त कर्ण ने इन चारों के प्राण अवश्य नहीं लिए। किन्तु प्राणान्त-कष्ट के अनुग्रह में कर्ण ने कुछ भी शेष नहीं रहने दिया। जो भी पाण्डुपुत्र कर्ण के सम्मुख आ पड़ा कर्णशरवर्षणानुग्रह से त्राहि त्राहि उद्घोष कर पड़ा। और यहीं आकर युधिष्ठिर की सहज भावुकता उत्पीड़ित हो पड़ी। कर्णप्रक्षिप्त सुतीक्ष्ण शरों के आघात से युधिष्ठिर आकुल-व्याकुल हो पड़े। पाण्डवसेना के देखते देखते कर्ण ने अपने अमोघ शरवर्षा से युधिष्ठिर के कवच-रथ-ध्वजा धनुष-शक्ति-रथाश्व-तूणीर-सब कुछ काट फेंके, जैसा स्वयं युधिष्ठिर ने अपने मुख से स्वीकार किया है। निरस्त्र-हतवीर्य्य-युधिष्ठिर को कर्ण उसी क्षण यमराज का भी अतिथि बना सकते थे। किन्तु धर्मप्रतिज्ञा की दृष्टि से अनन्यनिष्ठ मातःस्मरणीय कर्ण माता कुन्ती के साथ की गई प्रतिज्ञा का स्मरण कर वधकर्म्म से पराङ्मुख बन गए।

की थी, जिन महापुरुषों तक द्वारा तू सम्मानित होता था, उस तेरे लोकोत्तर महत्त्व के आधार पर मैंने दुष्टबुद्धि दुर्योधन को उपसर्पणीय मान लिया था, एवं सर्वात्मना अपने आपको भविष्य के लिए इन भविष्य की आशाओं के माध्यम से निरापद अनुभूत कर लिया था ॥

(१५)—किसी समय जब दुर्योधन ने यह कहा था कि, "अर्जुन (फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न, अतएव 'फाल्गुन'-नियीय्यनक्षत्रमाणात्मक अर्जुन) महाबली कर्ण के साथ क्षण भी न रह सकेगा" उस समय मैंने यह केवल दुर्योधन की मूर्खता ही समझी थी। मैंने उस समय यह न समझा था कि, वास्तव में तू दुर्योधन की पूर्ववाणी को यों चरितार्थ कर देगा ॥ (१६)—उसी अपविश्वास-मिथ्या अनुमान के कारण आज मैं छला जा रहा हूँ। आज शत्रुगण के सम्मुख कर्णद्वारा पराभूत होता हुआ मैं जीवित ही नरकगति (अधोगति) को प्राप्त हो गया हूँ। अरे अर्जुन ! (कायर अर्जुन) ! तुझे आरम्भ में ही मुझे यह कह देना चाहिए था कि, मैं कर्ण के साथ युद्ध करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। एकमात्र तेरे बल पर ही मैं कर्ण के सम्मुख चला गया, और ऐसी दुर्दशा करा बैठा। क्या विदित था, और किसे विदित था कि, तू समय पर यों धोखा दे जायगा) ॥ (१७)—(यदि तेरी यह कापुरुषता तू पहिले ही व्यक्त कर देता, तो) मैं क्यों तो अपने मित्रराजा सृंजयों को आमन्त्रित करता, क्यों केकयराज को कष्ट देता। क्यों इनका उपकारभार वहन करता। अब मैं कब इस ऋण से उऋण बनूँगा। अथवा तो ऐसी विषमावस्था में मैं कर्ण के सम्मुख जाता ही क्यों ॥

(१८)—यही नहीं, (यदि तेरी कापुरुषता का मुझे यत्किंचित् भी आभास पूर्व में हो जाता, तो) न तो मैं दुर्योधन के सम्मुख ही (युद्धकामना से) उपस्थित होता, न अन्य शत्रुसेना की ही प्रतिद्वन्द्विता का अनुगामी बनता। सुन रहे हैं आप भी कृष्ण ! (देख रहे हैं आप भी अपने सखा की कायरता !)। अब मेरे इस जीवित रहने को ही धिक्कार है, जिसने आज युद्ध में अपने आपको कर्ण के वश में कर दिया ॥ (१९)—न केवल कर्ण की दृष्टि में ही, अपितु समस्त उन कौरवों की दृष्टि में (शत्रुसेना की दृष्टि में), मित्रसेना की दृष्टि में, अन्यान्य भी जो भी ज्ञात-अज्ञात-शत्रुमित्र यहाँ युद्धकामना से उप-स्थित हुए हैं, उन सब की दृष्टि में मेरा जीवन सर्वथा धिक्कृत, अतएव निरर्थक बन गया है ॥ (हा धिक्) यदि आज महारथियों में श्रेष्ठ कोई मेरा आत्मबन्धु जीवित होता, तो अवश्य ही कर्ण का निहन्ता बनता। अर्जुन ! यदि आज तेरा पुत्र अभिमन्यु जीवित रहता, तो किस की सामर्थ्य थी कि, यह मुझे इस प्रकार पराभूत कर देता ॥ (२०)—यदि भीमपुत्र घटोत्कच भी आज जीवित रहता, तो मैं इस प्रकार युद्ध में कर्ण के सम्मुख पराङ्मुख न बन जाता। आज मैंने यह मान लिया है कि, एकमात्र मेरी भाग्यहीनता से मेरे पूर्वजन्म के पाप बलवान् हो पड़े हैं ॥ (२१)—तभी तो अर्जुन तुझे तृण के समान अभिभूत कर के उस दुरात्मा कर्ण ने इस प्रकार मेरे मर्मस्थलों को स्थान-स्थान से छिन्न-विच्छिन्न कर दिया है। मुझे अपने सुतीक्ष्ण बाणों से कर्ण ने आज उस निर्दयता से स्थान स्थान से काट दिया है, जैसे धन्धुमान्धम शल्य एक अपराध को कोई आततायी निर्ममता से काट देता है ॥

में छोड़ कर पीठ दीखा कर (स्त्रियों की भाँति) घर में आ घुसे हो ॥ (५)—उसी द्वैतवन में तुमने यह भी तो घोषणा की थी कि यदि हम लोग युद्ध में कर्ण को मारने में असमर्थ रहे, तो हम सब जीते-जी जल मरेंगे । होगई न तुम्हारी यह घोषणा भी आज सर्वथा निरर्थक ॥ (६)—अर्जुन ! तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ धनुर्द्धर महावीर की विद्यमानता में हमने अपने मनोराज्य में अनेक महत्त्वाकांक्षाओं को स्थान दे रक्खा था। हमारी कल्पना थी कि, अर्जुन के द्वारा हमारे सम्पूर्ण इष्ट ससिद्ध होंगे । किन्तु राजपुत्र ! देख रहे हैं, हमारी वे सब फलाशायें अपुष्प-निष्फल वृक्षवत् सर्वथा विफल प्रमाणित हो गई हैं ॥ (७)—अर्जुन ! पूरे १२ वर्ष शातवनवास-कष्टपरम्परा, एक वर्ष अज्ञातवास-कष्ट, इस प्रकार तेरह वर्ष हमने इस आशा से अपना जीवन सुरक्षित रक्खा कि, किसी दिन अर्जुन इन सब के प्रवर्त्तक आततायी कर्ण-दुर्य्योधनादि से *प्रतिशोध लेगा । किन्तु जिस प्रकार समय पर होने वाली वर्षा में देवद्वारा भूगर्भ में न्युप्त बीज मूल*-मानव द्वारा नष्ट कर दिया जाता है । तथैव तुमने देवद्वारा प्राप्त कर्णवधप्रसङ्गरूप बीज को अपनी उपेक्षा से विस्मृत करते हुए आज हमें जीते जी नरक में निमज्जित कर दिया ।

(८)—अर्जुन ! आज हमें यह मान लेना पड़ा कि, तुम्हारी उत्पत्ति के समय 'आकाश के देवताओं' ने जो भविष्यवाणी की थी, वह क्योंकि सर्वथा निष्फल प्रमाणित हो गई । अतएव देवता भी आज से हमारी दृष्टि में 'अनृतभाषी' प्रमाणित हो गए । जब तुम केवल सात ही दिन के थे, उस समय यह भविष्यवाणी की थी देवमानवों ने कि—तुम्हारे वंश में उत्पन्न यह बालक इन्द्रसदृश पराक्रमी होगा । अपने *सम्पूर्ण प्रतिद्वन्द्वी महारथियों को युद्ध में परास्त करेगा* ॥ (९)—खाण्डव वन में यह देवताओं को भी पराभूत कर देगा । सम्पूर्ण प्राणियों-देवमानवों-के सन्तुलन में यह अप्रतिम ओजस्वी प्रमाणित होगा । अपने शौर्य्य से सुप्रसिद्ध मद्र-कलिङ्ग-केकय वीरों को यह क्षणमात्र में निस्तेज कर देगा । यह कौरवों का सर्वनाशक प्रमाणित होगा ॥ (१०)—पृथिवी में इस से बढ़ कर कोई दूसरा धनुर्द्धर न होगा । संसार में कोई इसे पराजित न कर सकेगा । यह इच्छामात्र से सत्त्वरा सब को अपना वशवर्त्ती बना सकेगा । इस क्षात्रधर्म्म के साथ साथ यह सम्पूर्ण विद्याओं का भी पारगामी विद्वान् प्रमाणित होगा । (११)—यह अपनी शारीरिक कान्ति से चन्द्रमा के समान आकर्षक होगा, प्राणगत्यपेक्षया वायु-समान होगा, स्थिरता में मेरु की समता करेगा, क्षमा में पृथिवी की समता करेगा, यश में सूर्य्य माना जायगा, लक्ष्मी में कुबेर कहलाएगा, शौर्य्य में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध होगा, एवं बल में विष्णु की प्रतिस्पर्द्धा करेगा ॥ (१२)—विष्णु के समान शत्रुहन्ता (असुरहन्ता) तुम्हारे कुल में उत्पन्न यह कुन्तिपुत्र (अर्जुन) महामहिमशाली (महात्मा) प्रमाणित होगा । अपनों की विजय का निमित्त बनेगा, एवं द्वेष करने वालों के लिए प्रचण्ड 'वधिक' प्रमाणित होगा, इसका ओज अमित-निःसीम होगा । कुलतन्तुवितानसंरक्षक वंशवर्द्धक होगा ॥ (१३)—इस प्रकार 'शतशृङ्ग' नाम से प्रसिद्ध हिमवत्तशिखा पर तपश्चर्या में निमग्न तपस्वी देवमानवों ने जो भविष्यवाणी की थी, वह सर्वात्मना मिथ्या प्रमाणित होती हुई 'देवा अपि नूनं मृषा वदन्ति' आज यह व्यक्त कर रही है । (१४)—इसी प्रकार जब आगे चलकर अन्य *भारतीय महर्षियों तक ने तुम्हारे सम्बन्ध में जो उदात्त भविष्यवाणियाँ* अभिव्यक्त

युधिष्ठिर ने भावावेश में आकर परुषवाणी से मार्मिक शब्दों में उद्वेगजननी कटु-भर्त्सना कर डाली, तो भरतकुलश्रेष्ठ युधिष्ठिर के वध के लिए क्रोधाविष्ट बन जाने वाले अर्जुन ने सहसा तलवार उठा ही तो ली ॥ (२९)—भावुक-भावाविष्ट अर्जुन के इस तात्कालिक आवेशपूर्ण कर्म को लक्ष्य बनाने के साथ ही मनोविज्ञानवेत्ता (चित्तज्ञ) वासुदेव कृष्णने अर्जुन के मनोभाव पहिचान लिए, एवं अर्जुन की इस अनात्म्यमुग्ध भावुकता के उपशम के लिए वासुदेव कहने लगे कि, हे पार्थ ! समझ में नहीं आरहा हमारे कि, इस असमय में तुमने खड्ग क्यों उठा लिया ? ॥ (३०)—देख रहे हैं हम, कौरवसेना के प्राय सभी प्रमुख महारथी तुम्हारे गाण्डीव से मारे जा चुके हैं। इस समय यहाँ, और क्या युद्धभूमि में भी अब कोई वैसा वीर शेष रहा प्रतीत नहीं हो रहा, जिसके साथ तुम्हें अभी युद्ध करना हो ! दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्र के अधिकांश पुत्र भी बुद्धिनिष्ठ भीम की गदा से चूर्णशिरस्क बन ही चुके हैं ॥ (३१)—अर्जुन ! आज तो वैसा शुभ समय अतिसन्निहित बनता जा रहा कि, निकट भविष्य में ही धर्मराज युधिष्ठिर राज्यपदासीन हों, तुम उन्हें राज्यारूढ़ देखो, वे तुम्हें अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से देखें ॥ (३२)—इस प्रकार सर्वथा प्रसन्न-हृदनिमग्न होने के ऐसे हर्षप्रद महामाङ्गलिक सुअवसर पर तुम यह खड्गोत्थानरूप महाअमाङ्गलिक, मोहात्मक कर्म करने के लिए जो सन्नद्ध प्रतीत हो रहे हो, क्या उत्तर दे सकोगे अपनी इस भावुकता का ? (३३)—अर्जुन ! हम तो पुन तुमसे यही कहेंगे कि, अब तुम्हारे लिए इस समय कोई भी तो वध्य नहीं है। हम समझ न सके कि, किसे मारने के लिए तुम खड्गोत्थान किए सन्नीभूत बन रहे हो ! कहीं तुम्हारा चित्त तो विभ्रान्त (डाँवाडोल) नहीं हो गया है ? ॥ (३४)—क्या अविलम्ब यह स्पष्ट करने का कष्ट करोगे कि, किस लिए किस के लिए यहाँ—अपने हितैषी परिजनों के मध्य में—तुमने वेगपूर्वक (सपाटे से) यह अचिन्त्य खड्ग वितत कर लिया (तलवार तान ली) ? । सुन रहे हो अर्जुन ! हम तुम से प्रश्न कर रहे हैं, तुम्हें बतलाना ही पड़ेगा हमें कि, आज तुम यह क्या करने जा रहे हो, क्या करने का निश्चय कर डाला है तुमने, जो यों घूर्णितनेत्र बनकर क्रोधाविष्ट बनते हुए इस प्रकार इतस्ततः परिभ्रमणरूप से खड्ग को बारम्बार संभाल रहे हो, लक्ष्य बनाते जा रहे हो ? ॥

(३५)—सञ्जय कहने लगे कि, हे कुरुराज धृतराष्ट्र ! वासुदेव कृष्ण के द्वारा सर्वथा परोक्षरूप से मानो भगवान् इस खड्गधारणप्रसङ्ग से अपरिचित ही हों, इस तटस्थ दृष्टि से—अर्जुन के सम्मुख प्रश्न-परम्परा उपस्थित हो जाने पर क्रोधाविष्ट विषधर कृष्णसर्पवत् ऊर्ध्वाध-श्वासपरम्परा का अनुगमन करते हुए घूर्णित नेत्रों से युधिष्ठिर का मानों सशरीर ही निगरण करने का भाव अभिव्यक्त करते हुए क्रोधाविष्ट अर्जुन कृष्ण से कहने लगे कि—

(३६)—भगवन् ! सम्भवत आपको यह विदित न होगा कि—मैंने किसी समय उपांशुरूपसे—अपने मन ही मन में—यह यह व्रतग्रहण (प्रतिज्ञाग्रहण) कर लिया था कि,—"जो भी मुझ से ज्ञान में अथवा अनजान में कभी भी किसी भी अवस्था में यह कहने का दु साहस कर बैठेगा कि—'तू तेरा गाण्डीव धनुष उतार फैंक ॥ (३७)—तो तत्काल बिना पूर्वापरविमर्शविवेक के मैं उसका मस्तक ही काट डालूँगा" ।

(२२)—"अपने आत्मीय बन्धु को विपत्ति में दुष्ट–शत्रु–आततायी के निर्म्मम आक्रमण से जो बचाता है, वही बान्धव है, वही स्नेहशील मित्र है ॥ इस प्रकार की बन्धु–सुहृद्व्याख्या, इस प्रकार का बन्धु–मित्रधर्म्म पुरातन मुनियों ने घोषित किया है, जो बन्धुधर्म्म इसी रूप से परम्परया श्रेष्ठ मानवकुलों में सदा से चला आता रहा है। (जो भी बन्धु, किंवा स्नेही इस धर्म्माम्नाय की उपेक्षा करता है, क्या उसे बन्धु माना जाय ?, नहीं, कदापि नहीं ॥ (२३)—देवरथकार त्वष्टा के द्वारा विनिर्म्मित ध्वजयुक्त–मारुतिध्वजयुक्त सुदृढ़ रथ, सुतीक्ष्ण खड्ग, सुवर्णपट्टबद्ध धनुष, तालपरिमाणयुक्त गाण्डीवधनुष, ऐसे लोकोत्तर युद्धसाधन परिग्रहों से युक्त भी अर्जुन ॥ (२४)—स्वयं कृष्ण द्वारा रथ से युद्ध में इतस्ततः अनुधावन करनेवाला अप्रतिम शक्तिशाली भी अर्जुन कर्ण से डर कर कैसे युद्धभूमि से पराङ्मुख बन गया ?, सच–मुच यह महा आश्चर्य्य है। अर्जुन ! अब इस स्थिति में तो मुझे यही कहना पड़ेगा कि, अपना गाण्डीव धनुष कृष्ण को ही समर्पित कर दे। तू तो केवल कृष्ण का अनुगामी (सारथी) बन जा ॥ (२५) मुझे विश्वास है, कृष्ण अवश्य ही उग्रकर्म्मा कर्ण का वध कर डालेंगे, उसी प्रकार से, जैसे कि वज्रधारी इन्द्र ने वृत्रासुर को मार डाला था (तात्पर्य्य इस युधिष्ठिर के आक्रोशवचन का यही है कि, अर्जुन तो डर गया था, किन्तु कृष्ण कहाँ चले गए थे उस समय। क्यों नहीं उन्होंने इस कायर अर्जुन के हाथ से गाण्डीव छीन कर, अथवा तो अपने सुप्रसिद्ध सुदर्शनचक्र से कर्ण का वध कर डाला ?। दोनों लोकोत्तर वीरों के रहते कर्ण बचा रहे, यह कम आश्चर्य्य है क्या ?) (२६) अर्जुन ! अन्ततोगत्वा मुझे आज यह कहना ही पड़ता है कि, यदि राधेय कर्ण को मारने में तू असमर्थ है, तो—

आज से तुम्हें अपना गाण्डीव धनुष दूसरों को दे देना चाहिए। मेरी धारणा से तो वानरेन्द्र (वायुपुत्र) महापराक्रमी भीम ही इस गाण्डीव का पात्र है, जो तुमसे कहीं अधिक अस्त्र–शस्त्र प्रयोग में निपुण है ! क्यों न गाण्डीव भी उसे ही दे दिया जाय ?। गाण्डीव जैसे धनुष को धारण करते हुए तुम्हें अब कोई अधिकार नहीं है कि, अपनी उदासीनता–उपेक्षा (किंवा कायरता) से हमारे परिवार को, तथा राज्य को सङ्कट में डालते हुए तुम हमें सुखभ्रष्ट कर दो ॥ (२७)—धिक्कार है आज तुम्हारे इस गाण्डीवधनुष को। धिक्कार है तुम्हारे उन सशक्त हाथों को, जिन्होंने गाण्डीव को उठा रक्खा है। धिक्कार है तुम्हारे उस तूणीर को, जिसमें असंख्य सुतीक्ष्ण बाण समाविष्ट हैं। धिक्कार है तुम्हारी उस रथध्वजा को, जिसमें अप्रतिम बल के प्रतीक भगवान् मारुति का बिम्ब अङ्कित है। धिक्कार है तुम्हारे सबल सुदृढ़ रथ को, जो खाण्डववनदाह के अवसर पर साक्षात् अग्निदेव ने तुम्हें दिया था।

(२८)—इस स्थिति के द्रष्टा, एवं धृतराष्ट्र के प्रति उपवर्णयिता सञ्जय धृतराष्ट्र से कहने लगे कि, श्वेत अश्वों से सुसज्जित–सुशोभित अग्निप्रख्य रथ में आरूढ़ धवलकीर्ति अर्जुन की जब इस प्रकार

ही रहा। अतएव उन वृद्ध अनुभवी ज्येष्ठपुरुषों (युधिष्ठिरादि) के उन मनोभावों से भी तू अपरिचित ही रहा, जिन मनोभावों के आधार पर परुषवाणी के द्वारा ये वृद्धकुलपुरुष अपने तुम जैसे भावुक आत्म-मन्युओं का उद्बोधन कराया करते हैं। यही कारण है कि, वृद्धपुरुषों के त्रिकालानुगत परिणाम को न समझ कर केवल तात्कालिक सामयिक स्थितिविशेष से प्रभावितमना बन कर आज तू जिस आटोपपूर्ण जघन्य कर्म्म के लिए समुद्यत हो पड़ा, उसका कोई भी वृद्धोपसेवी श्रद्धालु सङ्कल्प भी नहीं कर सकता था। हे पुरुषव्याघ्र! वर्त्तमानकाल के तात्कालिक प्रभाव से जिस महारम्भ, किन्तु परिणाम में सर्वसंहारक लक्ष्य का तू अनुगामी बन गया, यह देखकर निश्चयेन् यही मानना पड़ेगा हमें कि—'न वृद्धाः सेविता स्त्वया'॥ (४४)—अर्जुन! धर्म्म का गुहानिहित सुसूक्ष्म रहस्य जानने वाला कोई भी विचारशील धर्म्म-निष्ठ मानव ऐसा आपातरमणीय कर्म्म नहीं कर सकता था, जैसा कि सर्वथा धर्म्मभीरु-सदसद्विवेक-शालिनी निष्ठाबुद्धि से वञ्चित तुम अपविद्वत न कर डाला॥ (४५)—अकर्त्तव्य को जो भावुक कर्त्तव्य मान बैठता है, दूसरे शब्दों में जिसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक नहीं रहता, उससे अधिक निकृष्ट अधम मानव और कौन होगा! दुःख है हमें अर्जुन!, तुम इसी पुरुषाधमस्थिति को आज चरितार्थ कर रहे हो॥ (४६)—अर्जुन! हमें आज तुम जैसे विवेकशून्य को इस कटुसत्य से संयुक्त मानना ही पड़ेगा कि, धर्म्म के रहस्यार्थ को लक्ष्य बना कर जो धर्म्मतत्त्ववेत्ता संक्षेप से एवं विस्तार से धर्म्म का निर्णयात्मक निष्कर्ष अभिव्यक्त किया करते हैं, तू उस निश्चित-निर्णीत धर्म्मपरिभाषा के ज्ञानलवमात्र से भी आमूलचूल वञ्चित ही रहा है॥ (४७)—अर्जुन! तुम्हें यह विस्मरण नहीं कर देना चाहिए कि, धर्म्मतत्त्व के निश्चयात्मक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहने वाला मानव केवल अपनी भावुकप्रज्ञा के आधार पर-भावुकतानुगता तात्कालिकी-प्रत्यक्ष स्थिति के प्रभावाधार पर—अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक बनता हुआ अवश्यमेव प्रतारित हो जाता है (धोखा खा जाता है), जिसका, जिस मूढ़ता का प्रत्यक्ष उदाहरण बनता हुआ तू 'मूढ़' (ज्ञानविमुग्ध आत्मबुद्धिस्वरूपज्ञानविमूढ़) ही प्रमाणित हो रहा है॥ (४८)—वृद्धोपसेवन की उपेक्षा करते हुए, धर्म्म-तत्त्ववेत्ताओं के सुनिश्चित निर्णय से वञ्चित रहते हुए, यों ही केवल अपनी भावुकप्रज्ञा के बल पर ही, विमूढ़भावानुगता केवल मनोऽनुभूति के तात्कालिक आकर्षण से ही सहज सुविधापूर्वक कथमपि मानव अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चयात्मक बोध नहीं प्राप्त कर सकता। वृद्धजनोपसेवनपरम्परानुगता उपदेश श्रवणपरम्परा से ही तो अर्जुन! कर्त्तव्यनिष्ठा की प्राप्ति सम्भव बना करती है, जिस रहस्यात्मिका ज्ञान-निष्ठा को तू आज तक नहीं समझ सका है॥ (४९)—अर्जुन! धर्म्म के सुसूक्ष्म रहस्य को न जानने के कारण ही निष्ठुर-'प्राणिवध' जैसे कुकर्म्मात्मक अधर्म्म को धर्म्म मानता हुआ आज तू यह समझ रहा है कि, 'इस हिंसा कर्म्म से मैं धर्म्म की रक्षा कर रहा हूँ। प्रतीत होता है, तू धर्म्मभावना से सर्वात्मना बहिष्कृत हो चुका है। क्यों?, क्या अब भी तुझे धार्मिक माना जाय?! कदापि नहीं॥ (५०)—सुन रहा है अर्जुन! हमारी दृष्टि में प्राणिमात्र को उत्पीडनरूपा हिंसा से बचाए रखना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म्म है। भले ही निर्दोष प्राणियों के स्वरूपसंरक्षणात्मक हित के लिए मिथ्याभाषण भी क्यों न करना पड़े, वो तो क्षम्य है। किन्तु प्राणिहिंसा कदापि क्षम्य नहीं है।

आज यहाँ वैसी ही तु यह दुर्घटना घटित हो रही है केशव ! । (आपके सम्मुख ही तो) युधिष्ठिर ने मुझे मेरे गाण्डीव परित्याग करने का प्रतविरोधी आदेश देने की महाभयावह भ्रान्ति कर डाली है मधुसूदन ! ॥ (३८)—मेरे अनन्य हितैषी गोविन्द ! आपके सम्मुख इस आवेशपूर्ण स्थिति में खड़ा हुआ मैं आज आप से यह स्पष्ट आवेदन करने की धृष्टता करूँगा ही कि, किसी भी दशा में यह अर्जुन, सत्य प्रतिज्ञ दृढनिश्चयी अर्जुन इस प्रकार परुष वाक्प्रहार करने वाले युधिष्ठिर के इस अक्षम्य अपराध को सहन करने के लिए कदापि सन्नद्ध नहीं है। अवश्य ही आज मैं इस "धर्म्मभीरु" राजा का इस उत्थानित सुतीक्ष्ण खड्ग से वध करूँगा, अवश्य करूँगा ॥ (३९)—भगवन् ! इस धर्म्मभीरु आततायी युधिष्ठिर का 'आततायिनमायान्तं हन्यादेव-अविचारयन्' इस धार्मिक आदेश के संरक्षण के लिए अवश्य ही खड्ग से शिरश्छेद करूँगा, एवं इस वधकर्म्म से अपनी तथा-प्रतिज्ञात उपांशुप्रतिज्ञा अवश्य ही आज पूर्ण करूँगा। अलम्! आलप्यालम् यदुनन्दन ! बस एकमात्र यही कारण है मेरे सहसा खड्गोत्थान का ॥ (४०)—हे जनार्दन ! निकट भविष्य में ही—आपके सम्मुख ही—निष्पन्न होने वाले आततायी युधिष्ठिर के शिरश्छेद कर्म्म से आज वास्तव में यह अर्जुन प्रतिज्ञापालनात्मक सत्यधर्म्म के ऋणानुबन्ध से उन्मुक्त हो जायगा। इस वधकर्म्म से ही मैं शोकरहित—परितापरहित बन सकूँगा भगवन् ! नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय जनार्दन ! ॥

(४१)—अथवा तो भगवन् ! दुर्दैववशात् समुपस्थित, अघटितघटनात्मक, ऐसे घोर घोरतम विषम अवसर पर आपकी धारणा से क्या होना चाहिए ! क्या करना चाहिए इस अर्जुन को ! (क्योंकि इससे पूर्व भी अमुकामुक 'विषमे समुपस्थिते' आप ही के आदेश—पालन से अर्जुन लब्धयान्कृत बना था)। गोविन्द ! आप ही अतीत और भविष्यत् के परिणामों के सम्यक्प्रकारेण जानने वाले हैं। (यह अर्जुन तो केवल वर्त्तमान के आधार पर ही निर्णय करना जानता है) ॥ (४२)—अन्तिम निर्णय इस विषमावसर पर अर्जुन का यही है कि, मेरे गोविन्द भूत—भवत्—भविष्यत् के शुभाशुभ परिणामों के माध्यम से जो भी आप निर्णय करेंगे, वही अर्जुन को बिना किसी तर्क-वितर्क के सर्वात्मना मान्य होगा, एवं तदनुसार ही अर्जुन करेगा ॥

सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार अर्जुन के तथाविध भयानक दृढ निश्चय—आपातरमणीय संकल्प को सुन कर, साथ ही अर्जुन की मणिपातरूपा जिज्ञासा को देख—सुनकर भगवान् कृष्ण ने सर्वथा स्वभाव से पहिले तो—"धिक्कार है अर्जुन तुझे, बार बार धिक्कार है तुझे" इस प्रकार अर्जुन की भर्त्सना की, एवं तदनन्तर वास्तविक स्थिति से अर्जुन का उद्बोध कराने के लिए साधूर्ना परिणाम आविर्भूत पूर्वेश्वर अर्जुन से यों कहने लगे कि ॥—

(४३)—पार्थ ! आज मुझे यह विदित हुआ कि,—'न वृद्धा सेवितास्त्वया' (वृद्ध पुरुषों के सहवास से तू आज तक वंचित ही रहा) फलतः धर्म्म के सुसूक्ष्म तत्त्वों का देश—काल—पात्र—द्रव्य-श्रद्धा—धारणा—मनोभाव—पूर्वापरविवेकपूर्वक समन्वय करने वाले धर्म्मतत्त्वज्ञ अनुभवी धर्म्मव्यवहारनिष्ठ नैष्ठिक वृद्धपुरुषों ने ऐसे विषम प्रसङ्गों के लिए जो निर्णय निर्णीत किए हैं, उनसे तू सर्वात्मना वञ्चित

गात्री यशस्विनी माता कुन्ती भी तुझे धम्मरहस्य का बोध करा सकती है । (हमें आश्चर्य है कि, अपने ही कुल–परिवार में एसे धम्मरहस्यवेत्ताओं के वात्सल्यपूर्ण वातावरण में उपलालित–वर्द्धित अर्जुन कैसे धम्मरहस्यज्ञान से वञ्चित रह गया ! । अस्तु जब प्रसङ्ग उपस्थित हो ही गया है, तो) हे धनञ्जय ! धम्म का यही सूक्ष्म रहस्य हम तुझे तथ्यरूप से बतला रहे हैं, जिसे ध्यानपूर्वक तुझे लक्ष्य बनाना चाहिए ॥

भगवान् कृष्णद्वारा प्रतिपादित–'धर्म्मस्वरूपव्याख्या'

(५८)—अर्जुन ! लोक में 'सत्य' भाषण करने वाला मानव ही साधु (श्रेष्ठ) कहलाया है । अतएव इस लोकमान्यतानुसार मानना और कहना पड़ेगा कि, त्रैलोक्य में 'सत्य' से अतिरिक्त और कोई दूसरा 'पर' तत्त्व (उत्कृष्ट-विशिष्ट-तत्त्व) नहीं है । किन्तु इस सत्यभाषणात्मक-सत्यानुशीलनात्मक सत्यात्मक धर्म्म, किंवा (यद्वा वा इतरथा) धर्म्मात्मक सत्य का मौलिक रहस्य, व्यवहारकौशल सहसा सर्वसाधारण की प्रज्ञा में समाविष्ट नहीं हो सकता । अतएव इस सत्यधम्म को, किंवा धम्मसत्य को आप्तपुरुषों ने 'सुदुर्विज्ञेय' कहा है । जिस प्रकार इस सत्यधम्म का अनुष्ठान–(अनुशीलन एवं आचरण) हुआ करता है, यही तो कौशल है, एवं यही तो तुझे जानना है । प्रारम्भ में तुझे धम्मरहस्य के सम्बन्ध में यही मूलधारणा निश्चित कर लेनी है कि, सत्य ही धम्म का मौलिक स्वरूप है * ॥

---

* निगमग्रन्थों में विस्तार से सत्य की धम्मता का स्वरूपविश्लेषण हुआ है । ब्रह्म ने सृष्टि-सञ्चालन के लिए क्रमशः ब्रह्म–क्षत्र–विट्–शूद्रभाव उत्पन्न किए । किन्तु एतावता ही सृष्टिसञ्चालन कर्म्म में ब्रह्म सफलता प्राप्त न कर सके । अन्ततोगत्वा सर्वोत्कृष्ट उस धर्म्म का आविर्भाव हुआ ब्रह्म के द्वारा, जो 'सत्य' रूपसे लोक में प्रसिद्ध है । देखिए ।

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव । तदेकं सन्न व्यभवत् । तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत–'क्षत्रम्' । स नैव व्यभवत् । स विशमसृजत । स नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत–पूषणम् । स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत–'धर्म्मम्' । तस्माद् धर्म्मात्–परं नास्ति । अथोऽबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्म्मेण, यथा राज्ञा–एवम् । यो वै स धर्म्मः 'सत्यं' वै । तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः–'धर्म्मं वदति' इति । धर्म्मं वा वदन्तमाहुः –'सत्यं वदति' इति । एतद्धि एतद् उभयं भवति" ॥

शतपथब्राह्मण १४ । ४ । २ । २३ से २६ पर्य्यन्त

सत्य धम्म के मौलिक रहस्यज्ञान से एकान्ततः असंस्पृष्ट प्रतीच्य विद्वानोंने 'धर्म्म' के सम्बन्ध में श्रुति के–'अथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते' इस रहस्य को न जानने के कारण जो यह सिद्धान्त मान लिया है कि,–'धर्म्म केवल निर्बलों की रक्षा का साधन है', वह नितान्त उपेक्षणीय है । विशेषविवरण के लिए देखिए–(भाष्यविज्ञान तृतीयखण्ड पृ० सं० ११०)

(५१)—और आज तू किसी सामान्य 'प्राणी' का ही नहीं, अपितु धर्म्मरहस्यवेत्ता अपने ज्येष्ठ-भ्रातृ-कुलवृद्ध-धर्म्मराज युधिष्ठिर जैसे महामानव का वध करने के लिए प्रवृत्त हो रहा है। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!। सर्वथा पशुसमान एक यथाजात नराधम-निकृष्ट विमूढ़ मानव-प्राकृत मानव-के अतिरिक्त और कौन प्रज्ञाशील मानव ऐसे अदृष्टपूर्व-अश्रुतपूर्व-जघन्य कर्म्म का सङ्कल्प भी कर सकता है!॥ (५२)—सुन अर्जुन! युद्ध के लिए सम्मुख उपस्थित न रहने वाले, किन्तु सहजरूप से सम्मुख उपस्थित रहने वाले ऐसे अयुध्यमान निर्दोष मानव का वध, जिसने कभी स्वप्न में भी शत्रुबुद्धि न की हो, वैसे स्नेही का वध, शस्त्रास्त्रप्रहार की वेदना सहने में असमर्थ, अतएव युद्ध से लौट आने वाले शिथिलगात्र मानव का वध, अपनी इस पराभूति से आत्मत्राण प्राप्त करने की कामना से अपने समर्थ सहायक बन्धु-जनों के आश्रय में आ जाने वाले मानव का वध,॥ (५३)—अपनी असमर्थता के कारण ही विनयावनत बन कर शरण में आए हुए मानव का वध, उद्वेगकर-असह्य-परिस्थिति-वातावरणों के आकस्मिक आक्रमण से चलितप्रज्ञता के कारण आत्मबुद्ध्यनुगत विवेक को विस्मृत कर देने वाले प्रमादभावापन्न मानव का वध शिष्ट मानवों की शिष्ट मान्यता में कदापि मान्य नहीं बन सका है। अर्जुन! ये सम्पूर्ण अवध्य धर्म्म धर्म्मराज उस युधिष्ठिर में समाविष्ट हो रहे हैं, जो अपनी ज्येष्ठता से तेरा 'गुरु' है। क्या इस अवध्य का तू वध करने के लिए ही आतुर हो रहा है!॥

(५४)—कभी अपनी पूर्वावस्था में अवस्थानुगता भावुकता के आवेश में आकर सर्वथा बालबुद्धि से पहिले तो उपांशु प्रतिज्ञा कर बैठना, और आज इस सर्वथा धर्म्मविरुद्ध अवध्य प्रसङ्ग में अधर्म्मयुक्त-मूर्खतापूर्ण निन्द्य कर्म्म के लिए उस बालभावानुगता उपांशुप्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिए आवेश-पूर्वक सन्नद्ध हो जाना, यह कैसी विडम्बना है!॥ (५५)—मानवधर्म्मशास्त्रोपवर्णित नैगमिक अतीन्द्रिय धर्म्मों की त्रिकालसम्बन्धिनी सुसूक्ष्मा, अतएव प्रत्यक्षदृष्ट्या दुर्विज्ञेया गति का स्वरूप न जानते हुए अर्जुन! तू आज अपने अवध्य गुरु को मारने के लिए जो सहसा अनुधावन कर रहा है, यह विडम्बना नहीं, तो और क्या है!॥ (५६)—(जिस प्रकार तू वृद्धोपसेवन से पराङ्मुख है, एवमेव) हमें अब यह भी मान ही लेना चाहिए कि, धर्म्म के सुसूक्ष्म समन्वयात्मक मौलिक रहस्यज्ञान से भी तू आजतक वञ्चित ही रहा है। तेरे उद्बोधन के लिए आज यह आवश्यक हो गया है कि, तुझे धर्म्म के रहस्यात्मक उस दृष्टिकोण से परिचित करवाया जाय, जिसका वास्तविक मर्म्म तुझे तेरे कुल में धर्म्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म, एवं धर्म्मानुशीलनपरायण धर्म्मराज युधिष्ठिर के द्वारा प्राप्त हो सकता है *॥ (५७)—भीष्म और युधिष्ठिर के अतिरिक्त अर्जुन! धर्म्म-नीति-परपारदर्शी एकान्तनिष्ठ महात्मा विदुर, तथा तेरी जन्म-

* महान् आश्चर्य्य है इस 'भावुकता' के आश्चर्य्यपूर्ण दुर्विज्ञेय स्वरूप पर, जिसने आज उस अर्जुन को धर्म्मविरुद्ध कर्म्म में प्रवृत्त कर दिया, जो अर्जुन युद्धारम्भ से पूर्व भगवान् कृष्ण के द्वारा 'गीता' के माध्यम से सब कुछ जान चुका था। तभी तो हमने निरतिशय भावुक अर्जुन को इस निबन्ध का महान् उदाहरण घोषित किया है।

वास्तव में अनृतानुष्ठान बनता हुआ पुण्य के स्थान में पाप का ही उत्तेजक प्रमाणित हो रहा है, एवं ऐसी दशा में तू सर्वात्मना प्रमाणित हो रहा है 'प्राज्ञमान्यापरस्त्र मन्दा ही ॥ (६२)—अर्जुन ! पुनः हम तुम्हें यह स्मरण करा देना चाहते हैं कि, आपद्धर्मानुगत अमुक विशेष अवसरों पर प्रतिज्ञात सत्य भी परोक्ष बना लिया जाता है, एवं कभी अनुचित ऐसा प्रतिज्ञात्मक सत्य कार्यरूप में तो क्या, वाणी का भी विषय नहीं बनाया जाता। सत्य, और अनृत, दोनों के इस आपेक्षिक व्यवहार्य-कौशल का अपनी विवेकबुद्धि से निश्चय करने के अनन्तर ही वह मानव वास्तव में धर्मरहस्यवेत्ता कहलाता है। ठीक इसके विपरीत जो 'भवेत् सत्यमवक्तव्यं, न वक्तव्यमनुष्ठितम्' तत्त्व की अज्ञानता से सत्याभिनिविष्ट सत्याग्रही बना रहता है, एवं वह धर्मज्ञान से, एवं धर्म की मौलिकता से सर्वथा पराङ्मुख ही बना रहता है॥

(६३)—हे कृतप्रज्ञ अर्जुन ! (समझदार ! मानव !) तुम्हें सुप्रसिद्ध उस ऐतिहासिक घटना से कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए, जिसमें अपने हिंसा जैसे क्रूर कर्म्म से सुदारुण बना रहने वाला 'बलाक' नामक व्याध–(मृगयाप्रिय–शिकारी)–पुरुष अन्ध के वध से महतो महीयान् पुण्य का पुण्यभागी बन जाता है॥ (६४)—एवं इस से भी अधिक और क्या आश्चर्य्य होगा कि, अहोरात्र धर्मकामना–तदनुगत धार्म्मिक कर्म्मों में ही आसक्तिपूर्वक आरूढ परमसत्यभक्त–सत्याग्रही 'कौशिक' नामक तपस्वी ब्राह्मण अपनी सम्यग्विवेकशून्या अभिनिविष्टा बुद्धि से सर्वथा विमूढ बनता हुआ 'आपगास्विव' महतामही–यान् पाप का भागी बन गया। इस प्रकार बलाक जैसा पापात्मा व्याध हिंसा जैसे जघन्य कर्म्म से पुण्य गति का अधिकारी बन जाता है, एवं कौशिक जैसा पुण्यात्मा ब्राह्मण सत्यभाषण जैसे उत्कृष्ट कर्म्म से पापगति का भोक्ता बन जाता है। जो पापपुण्यात्मक–अधर्म्मधर्म्ममूलक अनृतसत्य–हिंसा–अहिंसा के सुसूक्ष्म रहस्य को नहीं जानते उनके लिए तो यह ऐतिहासिक प्रसङ्ग आश्चर्य्य का ही विषय प्रमाणित होगा॥

(६५)—(भावुक अर्जुन सचमुच कृष्ण के द्वारा श्रुत तथाकथित ऐतिहासिक सङ्केत से सहसा आश्चर्य्य विमुग्ध बन जाता है। इस आश्चर्य्य के उपशम के लिए अर्जुन जिज्ञासा कर ही तो बैठता है कि–) भगवन् ! अनुग्रह कर मुझे विस्पष्ट विशद रूप से वह ऐतिहासिक घटना बतलाने का अनुग्रह करें, जिसका 'बलाक' नामक व्याध के साथ, नदियों के साथ, एवं तपस्वी कौशिक के साथ सम्बन्ध है॥ अर्जुन की इस सहज जिज्ञासा का उपशमन करते हुए वासुदेव कहने लगे)—

(६६)—अर्जुन ! घटना बहुत पुरानी है (पुरा)। "किसी अरण्योपान्त–प्रदेश में 'बलाक' नामक एक व्याध सपरिवार निवास करता था। वह व्याध अपनी मृगया के व्याज से नहीं, अपितु अपने पुत्र पत्नी पुत्रवधू आदि की शरीरयात्रा निर्वाहमात्र के लिए तत्परिमित ही मृगादि वन्य पशुओं का वध करता हुआ अपने कौटुम्बिक संरक्षण में प्रवृत्त रहता था। इस प्रकार बलाक व्याध का यह हिंसात्मक भी कर्म प्रकृतिसिद्ध शरीरयात्रानिर्वाहकमात्र बना रहता हुआ उरथाप्याकांक्षारूपा इच्छात्मिका कामना (कामलिप्सा) से असंस्पृष्ट रह कर अन्ततः 'निष्कामकर्म' प्रमाणित हो रहा था॥ (६७)—इस व्याध के मातापिता अत्यन्त वृद्ध थे। इन वृद्ध मातापिता का, एवं अन्यान्य अपने आश्रित जनों (भगिनी

(५६)—"सत्य सदा 'सत्य' ही है (सच सच ही है)। इसलिए प्रत्येक दशा-स्थिति-परिस्थिति में सत्यभाषण ही करना चाहिए। एवमेव अनृत अनृत ही है (झूँठ झूँठ ही है), इसलिए कभी अनृत-भाषण (मिथ्याभाषण) नहीं करना चाहिए" इस प्रकार आवेशपूर्वक आग्रहपूर्वक 'सत्य' को, किंवा तद्रूप धर्म्म को लौकिक ऐन्द्रियिक व्यवहारों में कभी नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि-देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा-युगधर्म्म-शारीरिक अवस्था-मानसिक स्थिति-युगधर्म्म-समाजनीति-राजनीति-आदि की स्थिति-परिस्थितियों के तारतम्य से व्यावहारिक लोकतन्त्र में सत्यधर्म्म का व्यतिक्रम अनिवार्य्य बन जाता है। ०। ऐसे अवसर भी धर्म्मसम्मत माने गए हैं, जहाँ जान-बूझ कर सत्यभाषण को परोक्ष बना लिया जाता है, एवं अनृतभाषण को स्वीकृत कर लिया जाता है। जिन स्थलविशेषों-परिस्थितिविशेषों में अनृत 'सत्य' रूप से व्यवहार में आ जाता है, एवं सत्य 'अनृत' रूप से व्यवहारानुगामी बन जाता है, (उनका स्मार्त्तधर्म्मग्रन्थों में विस्तार से उपवर्णन हुआ है, जिनमें से कुछ एक उदाहरण यहाँ भी उद्धृत कर दिए जाते हैं)॥

(६०)—विवाहानुगत सम्बन्धियों के नर्म्मव्यवहारों (उपहास-हास-परिहास-अवसरों) पर, लोपामुद्रात्मक दाम्पत्यसम्बन्ध के अवसर पर, किसी निर्दोष के प्राणसंकटावसर पर, किसी के न्यायसिद्ध वित्तापहरण प्रसङ्ग पर, निगमागमाम्नायनिष्ठ-तदनुशीलनपरायण-आचरणपरायण-उपदेशक-द्विजातिमानव के इष्टसाधन प्रसङ्गावसर पर, इन सुप्रसिद्ध पाँच स्थलविशेषों में जान-बूझ कर भी किया गया अनृत-भाषण सत्यभाषणवत् पुण्य कर्म्म ही मान लिया गया है॥ (६१)—जहाँ किसी निर्दोष प्राणी के सर्वस्वापहरण का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय, और वहाँ यदि एक तटस्थ व्यक्ति के मिथ्याभाषण से उस निर्दोष का संरक्षण हो जाय, तो ऐसी परिस्थिति में उस साक्षीभूत तटस्थ व्यक्ति के द्वारा बोला गया अनृत अवश्यमेव सत्यभाव में परिणत हो जाता है। और यदि वह साक्षीभूत व्यक्ति पूर्वोक्त (५६) प्रारम्भिक दृष्टिकोण के आधार पर आवेशपूर्वक सत्यभाषण का पक्षपाती बनता हुआ ऐसे अवसर पर साभिमान में सत्यभाषण कर बैठता है, इसके इस 'सत्याग्रहात्मक' सत्यभाषण से यदि उस निर्दोष मानव का आततायी दुष्ट दस्यु आदि के द्वारा सर्वस्वापहरण हो जाता है, तो साक्षी का वह सत्यधर्म्म निश्चयेन असत्य-अधर्म्मरूप में परिणत हो जाता है—'तत्रानृतं भवेत् सत्यं, सत्यं चाप्यनृतं भवेत्'। सत्यानृत के इस व्यतिक्रमात्मक-अपवादात्मक रहस्य को न जानने के कारण ही तो अर्जुन! तू आज अपनी बालभावानुगता उपांशुकृता सत्यप्रतिज्ञा को आग्रहपूर्वक सत्य मानने की भ्रान्ति करता हुआ युधिष्ठिर जैसे दोषरहित मानवश्रेष्ठ के वध के लिए समुद्यत हो बैठा। अपने सत्याग्रहाभिनिवेश से अभिनिविष्ट तू जिस प्रकार सत्यधर्म्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो पड़ा, कहना पड़ेगा कि, तेरा यह सत्यानुष्ठान

---

० जिस स्पर्शास्पर्शनिबन्धन स्पर्शधर्म्म का यज्ञादि देवकर्म्मों में अनिवार्य अनुगमन विहित हुआ है, वही—'देवयात्राविवाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति' इत्यादि रूप से धर्म्मग्रन्थों में अपवाद मान लिया गया है।

कौशिक के आश्रम के सन्निकटवर्त्ती अरण्य में कौशिक के देखते-देखते छिप गए। बड़ी ही सतर्कता से लक्षीभूत इन मानवों का अन्वेषण करते-करते क्रोधाविष्ट दस्यु इस ओर आ निकले ॥ (७६)—यहाँ सहसा तपस्वी कौशिक पर इन दस्युओं की दृष्टि पड़ी। दस्यु भी यह जानते थे कि, कौशिक सत्यवादी हैं, कभी झूँठ नहीं बोला करते। अतएव दस्यु इन से प्रश्न कर बैठे कि, भगवन्! बहुत से मनुष्य इस ओर पलायित होकर आए हैं। किस मार्ग से वे आए, और कहाँ चले गये, कृपया यह बतलाने का अनुग्रह करेंगे ॥ (७७)—हम सत्य को साक्षी बना कर आप से यह प्रश्न कर रहे हैं। यदि आप जानते हैं, तो बतलाइए! हमें कि, वे कहाँ गए, कहाँ छिपे ?। सत्यवादी कौशिक—(किन्तु सत्यधर्म्म के सुसूक्ष्म रहस्य से अनभिज्ञ भावुक कौशिक) ने सत्यवाणी का उद्घोष कर ही तो डाला ॥ (७८)—धर्म्माभिनिविष्ट सत्यवादी ! कौशिक ने यह उदार घोषणा कर ही तो डाली दस्युओं को लक्ष्य बना कर कि,—'यह जो अमुक प्रदेश में वृक्ष-लता-गुल्म समुचित निबिड स्थान है, उसी धन्यप्रदेश में वे मनुष्य छिपे हैं ॥ (७९)—परिणाम इस सत्यवक्ता ब्राह्मण के सत्यभाषण का जो होना था, वही हुआ। उन क्रूर दस्युओं ने सत्यनिष्ठ कौशिक के निःसीम अनुग्रह से उन निर्दोष मानवों का निर्मम रूप से कौशिक की सत्यसाक्षी ! में ही वध कर डाला। दस्युगण कब इस पापकर्म्म का परिणाम भोगेंगे ?, प्रश्न का उत्तर कालपुरुष पर अवलम्बित बना। और इधर हमारे ये ब्राह्मणश्रेष्ठ अपने इस महा अधर्म्म के महान् सु ! परिणामस्वरूप, अपनी इस दुरुक्ता-दुष्प्रभावापन्ना वैखरीवाक् के महान् अनुग्रह ! स्वरूप ॥ (८०)—उस कष्टात्मक नरकगति को प्राप्त हुए, जहाँ धर्म्म के सूक्ष्मतत्त्वों को न जान कर धर्म्माभिनिवेश के द्वारा भावुकतापूर्ण कर्म्म करने वाले महानुभाव ससम्मान पधारते रहते हैं। अथवा तो जहाँ सामान्यज्ञानविमूढ-ज्ञानलव दुर्विदग्ध-धर्म्मविभागरहस्यज्ञानानभिज्ञ मूर्ख जाया करते हैं ॥

(८१)—(बड़ा ही सुसूक्ष्म है यह सत्यधर्म्म, जिसके निश्चयात्मक स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में शास्त्र में अनेक प्रकार उपवर्णित हुए हैं, जिनमें से कुछ एक अनिवार्य्य प्रकार वासुदेवकृष्ण के द्वारा यहाँ संगृहीत हो रहे हैं)—अर्जुन ! जो (भावुक जन अपनी अस्थिरप्रज्ञा के कारण धर्म्मनिर्णय में, "इदमित्थमेव कर्त्तव्यं, नान्यथा" इस रूप से यथार्थ असंदिग्ध विनिश्चय में स्वयं असमर्थ रहता है, उसके कर्त्तव्य कर्म्म निर्णय का सर्वश्रेष्ठ एकमात्र यही उपाय है कि, जैसा ऐसे अवसरों पर धर्म्मरहस्यवेत्ता अनुभवी वृद्धपुरुष आदेश दें, वैसा ही कर लेना चाहिए। उन्हीं के सम्मुख अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त कर देनी चाहिए। इस पर जैसा भी वे निर्णय करें, अनन्यशरण बन कर आस्था (बुद्धियोग)—श्रद्धा (मनोयोग) पूर्वक उसे लक्ष्य बना लेना चाहिए। स्वयं धर्म्मनिर्णय में असमर्थ भावुक मानव यदि वृद्धों से बिना निर्णय कराए ही अपनी प्रत्यक्ष-दृष्टिमात्र के आधार पर निर्णायक बन बैठता है, तो निश्चयनैव लक्ष्यच्युत बनता हुआ वह पापात्मक प्रत्यवाय का ही भागी बन जाता है। एवं निश्चयेन यह श्वभ्रगति (नरकगति) का अनुगामी बन जाता है। धर्म्म का लक्षणोद्देश (मौलिक आधार) क्या है ?, यह बोध प्राप्त किए बिना ही "होगा कुछ भी लक्षणोद्देश, ऐसा ही होगा अमुक धर्म्मादेश का

दौहित्रादि) का भरणपोषणभार भी इस कर्मयोगी पर अवलम्बित था। एक प्रकार से यह द्विजाति मानववत् गृहस्थानुबन्धिनी कौटुम्बिक व्यवस्था का संरक्षक बना हुआ था। यह अपने अवरवर्णोचित नियत-प्राकृतिक-कर्मरूप 'स्वधर्म्म' में अनन्य निष्ठा से आरूढ था। इसकी सहजपत्नी सदा 'सत्य' को ही मूलाधार बनाए रहती थी। यह कभी किसी के साथ ईर्ष्या-द्वेष नहीं करता था॥ (६८)—एक दिन अपने पारिवारिक भरणपोषणार्थ नित्यनियमानुसार जब यह मृगया के लिए निकला, तो दैवदुर्विपाकवश उस दिन इसे कोई पशु उपलब्ध न हो सका। निराशा में निमग्न इस व्याध का ध्यान सहसा नदीकूल पर पानी पीते हुए एक चक्षुर्विहीन 'श्वापद' (वन्य पशुविशेष) की ओर आकर्षित हुआ॥ (६९) उस अरण्य में मृगया करते बलाक की बहुत आयु व्यतीत हो चुकी थी। किन्तु कभी इसने ऐसा विलक्षण पशु न देखा था। इसे क्योंकि पारिवारिक पोषण का ध्यान था, अतएव विलक्षणता की अधिक मीमांसा न कर व्याध ने इसे मार डाला। इस अन्ध श्वापद के मरते ही उसी समय व्याध पर आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई॥ (७०)—यही नहीं, भौम अन्तरिक्षलोकनिवासी विमानचारी अप्सरा-गन्धर्वगणों ने मनोरम गीत-वाद्य से तदाकाश-मण्डल आपूर्ण बना दिया। इस मनोरम वातावरण में मृगव्याध को ले जाने के लिए सहसा स्वर्ग से विमान अवतरित हुआ॥ तथ्य यह है कि (७१)-(७२)—इस बलाक व्याध ने भूतासक्तिबन्धनविमोक की कामना से एक बार सुदारुण तप कर यह वर प्राप्त किया था कि, "कालान्तर में अपने स्वधर्म्म पर आरूढ रहते हुए ही मृगया करते हुए ही—जिस दिन तेरे हाथ से अन्ध श्वापद मारा जायगा, उसी समय पापपुण्यसमतुलन का क्षण आ जायगा। एवं इस निमित्तमात्र-व्याज-से तू स्वर्गगति प्राप्त कर लेगा"। वैसा ही घटित हुआ। इस प्रांशिवधकर्म के व्याज से व्याध बलाक-धर्मनिष्ठ-सहजधर्म्मारूढ-बलाक सद्गति को प्राप्त हो गया॥

७३—अर्जुन ! अब आख्यान के उस दूसरे दृष्टिकोण की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसका 'तपस्वीन' * कौशिक से सम्बन्ध है। बहुश्रुतरूप तपस्वी कौशिक नामक ब्राह्मण नागरिक सम्पर्क से विदूर वैसे किसी सुशान्त नदीसङ्गमात्मक नैगमिक स्वाध्याय के अनुरूप एकान्त स्थान में निवास करता था, जो नदीसङ्गमात्मक एकान्त स्थान ब्राह्मण की नैगमिक सात्त्विक बुद्धि को सत्त्वविभूति की ओर आकर्षित रखता है+॥ (७४)—अर्जुन ! इस द्विजभद्र ने भी तदनुसार ही किसी समय यह उपांशु प्रतिज्ञा करली थी कि,—"भले ही सम विषम कैसी भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित हो जाय, मैं सदा सत्य भाषण ही करूँगा"। इसी प्रतिज्ञा के कारण यह कौशिक तपस्वी तत्प्रान्त में (सत्यवादी हरिश्चन्द्र की भाँति) 'सत्यवादी' नाम से प्रसिद्ध हो गया था॥ (७५)—एक समय की घटना है कि, कुछ एक अभ्रान्त मानव पश्चात्-अनुधावन करने वाले आततायी दस्युओं के भय से त्राण प्राप्त करने के लिए

---

* तपस्विनां-इन-श्रेष्ठ-'तपस्वीन' (तपस्विश्रेष्ठ, श्रेष्ठतपस्वी वा)।
+ "उपह्वरे गिरीणां, सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत" (ऋक्संहिता)।

पूरिका अनुक्ता अपवाद विधियों का समन्वय सामयिक माना जायगा। उदाहरण के लिए—'**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**' यह है '**मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि**' इस नियम विधि की अपवादविधि। इसकी पूरिका अनुक्ता अपवादविधि भी अनुमान द्वारा कल्पना की जायगी—'**सर्वाभूतात्मकविश्वयज्ञसंरक्षणायाग्नीषोमीयं-पशुमालभेत**' इस प्रकार। इसी आनुमानिक विधिभाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, अर्जुन! तू सत्यधर्म का समन्वय कर जो युधिष्ठिर को मारने के लिए उद्यत हो पड़ा, इस अपराध के लिए '**न प्रत्यसूयामि**'। तुझे कोई विशेष दोष हम नहीं दे रहे इसलिए कि, तू धर्मविधियों के पूरक आनुमानिक विधिभावों से सर्वथा अपरिचित है। विधान हुआ है केवल मुख्य विधियों का ही। तत्पूरिका विधियाँ विहित नहीं हुई हैं, अपितु अनुमान के आधार पर कल्पित करली जाती हैं। यही धर्मनिर्णय का आनुमानिक विधिकल्पनारूप तीसरा प्रकार है।

(बतलाया गया है कि, धर्म के लक्षणोद्देश से अपरिचित रहने के कारण ही धर्म का समन्वय नहीं होता। उस लक्षणोद्देश—मौलिक आधार—का स्वरूप क्या?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं)—'**प्रभावार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्**'। सम्पूर्ण भूत—प्राणिमात्र अपने प्रभव भाव से सुरक्षित रहें, उत्पन्न भूतमात्र स्वरूप से सुरक्षित रहें, प्राणिमात्र (मानवमात्र) अभ्युदयपथानुगामी बने रहें, इसीलिए महर्षियों के द्वारा धर्म का प्रवचन हुआ है। अभ्युदय—संरक्षण—विकास—अभिवृद्धि—तृप्ति—तुष्टि—जिन आदेशों से हुआ करती है, वे आदेश ही धर्म हैं। निर्माण, अस्तित्व, स्वरूपसंरक्षण ही धर्म का मौलिक आधाररूप लक्षणोद्देश है। ध्वंस—नास्तित्व—स्वरूपविनाश कदापि धर्म का लक्षणोद्देश नहीं माना जा सकता। विधि यहाँ का धर्म है, निषेध नहीं। 'करना' यहाँ धर्म है, 'न करना' नहीं। 'अस्ति' यहाँ धर्म है, 'नास्ति' नहीं। 'प्रभव' यहाँ का धर्म है, 'विनाश' नहीं। इस लक्षणोद्देशरूपा निकषा (कसौटी) पर ही हमें धर्मविधियों की उपयोगिता के सम्बन्ध में निर्णय करना चाहिए। तदित्थं—महाजनपथसमर्थक वृद्धवचनप्रामाण्य, तर्कप्रामाण्य, अनुमानप्रामाण्य, रूप से तीन मुख्य प्रकार धर्म के सम्बन्ध में अनुगमनीय बना करते हैं। (जो भावुक इस रहस्य को न जान कर भारतीय धर्म के महाजनपथसम्मत वृद्धवचनप्रामाण्य के सम्बन्ध में यह आलोचना करने की धृष्टता करते हैं कि—"श्रुति—स्मृति—आदिवचन परस्पर विरोधी हैं। इस विरोधभाव से सन्त्राण पाने के लिए ही महाजनपथ का आश्रय लिया है भारतीयों ने" वे इसका मर्म समझ ही नहीं सके हैं। विधि, एवं पूरक विधियों के, नियमविधि एवं अपवादविधियों के समन्वय के कारण जो विरोध प्रतीत होता है, वह सर्व सामान्य के लिए अज्ञात ही बना रहता है। इनके लिए तो इस समन्वय के आचार्य रहस्यवेत्ता महाजन वृद्धों का आदेश ही हितकर बन सकता है, यही तात्पर्य है इस सूक्ति के मर्म का, जिसका निम्नलिखित स्वरूप आस्तिक जगत् में सुप्रसिद्ध है)—

" श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्य्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्म्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां "महाजनो येन गतः स पन्थाः" ॥

अमुक तात्पर्य्य, जैसा कि हम समझ रहे हैं" इस आवेशमात्र से अपनी मान्यता के आधार पर धर्म्मनिर्णय कर बैठना वास्तव में दुर्गति का ही कारण बना करता है। इस सम्बन्ध में तो शिष्टजन-वृद्धजन-सम्मत पथ ही गतानुगतिक भावुक मानव के लिए श्रेय पन्था माना जायगा। श्रुति ने विस्पष्ट शब्दों में लोकमान्यता में सुप्रसिद्ध 'महाजनो येन गतः, स पन्था'* पथ को ही प्रशस्त घोषित किया है—

(८०)—धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण प्रथम शिष्टानुमोदित पक्ष तो 'वृद्धवचन-प्रामाण्यानुगमन' ही है। किन्तु यदि कोई भावुक इस वृद्धवचन के आम्नायसिद्ध तात्त्विक रहस्य का मर्म्म न समझता हो, तो उसके परितोष के लिए मन्वादि धर्म्माचार्य्यों के 'यस्तर्केणानुसंधत्ते, स धर्म्मं वेद' इत्यादनुसार जिज्ञासात्मक तर्क-हेतु-युक्ति-कारणतावाद को भी धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में उपादेय माना जा सकता है। श्रुतिप्रतिपादित रहस्यात्मक धर्म्म का आदेशात्मक जो विधान स्मृति में हुआ है, उसे तर्क के द्वारा भी निर्णीत माना जा सकता है। किन्तु सहसा तात्कालिक आवेश के आधार पर तो कथमपि कदापि केवल अपनी मान्यता के अनुपात से 'इदमित्थमेव नान्यथा' रूप निर्णय नहीं किया जा सकता, नहीं करना चाहिए इस दुरूहतम धर्म्म के सुदुष्कर बोध के सम्बन्ध में॥

(८१)—मौलिक आधारभूत किस तादर्थ्योद्देश्य को लक्ष्य बना कर धर्म्म का विधान हुआ है— उसके अनुरूप उन विभागों का भी अनुमान के द्वारा प्रज्ञाशील मानव संग्रह कर लिया करते हैं। तात्पर्य यहाँ थोड़ा विमिश्रास्य है। 'स वै सत्यमेव वदेत्' यह है धर्म्मविधि का एक उदाहरण। केवल इस विधि वचन पर ही भावुकता के द्वारा आवेशपूर्वक आरूढ़ होने वाला मानव परिणाम में किस अशुभ फल का पात्र बन जाता है!, यह पूर्वोक्त सत्याभिनिविष्ट कौशिकोदाहरण से स्पष्ट है। अतएव यहाँ अनुमान द्वारा इस विधि के साथ साथ—'सर्वस्वापहारप्रहारप्रसंगे तु नैष्ठिक-अनृतमेव वदेत्' (सर्वस्वापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत्) इस विधि का भी समन्वय करना पड़ेगा। तभी धर्म्म का यथार्थ समन्वय सम्भव बन सकेगा। विधान हुआ है केवल नियमविधियों का ही स्मार्त्त ग्रन्थों में। किन्तु इनकी पूरक बनती हैं वे अपवादविधियाँ, जिनका विधान तो नहीं हुआ है। किन्तु अनुमान द्वारा अनुक्त भी उनका विधान मान लिया जाता है। कितनीं एक नियमविधियाँ भी ऐसी हैं, जिनके साथ अनुक्त अन्य नियम-विधियों का भी समन्वय करना अनिवार्य बन जाता है। उदाहरण के लिए—'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस नियम विधि की पूरिका 'अग्निष्टोमेन निष्कामो यजेत' विधि भी अनुमान द्वारा माननी पड़ेगी। नहीं तो निवृत्तिप्रधानकर्म्म का समन्वय असम्भव बन जायगा। एवमेव अपवादविधियों के साथ भी तत्

---

*अथ यदि ते कर्म्मविचिकित्सा वा, वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः -युक्ता -अयुक्ता -अलूक्षा -धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्॥

—तैत्तिरीयोपनिषत् १।११।४।

पड़ी, जिससे महान् अनर्थ घटित हो जाता है। हां रहा है उसी प्रकार, जैसे कि अहिंसा, सत्य, संयम (इन्द्रियनिग्रह) आदि धर्मों में वर्तमान युग के धर्मव्याख्याता–'यत्स्यात्कारणसंयुक्तम्' इस भगवद्वचन के आधार पर, एवं 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इस स्मार्त्तवचन के आधार पर सर्वथा वेदविरुद्ध कर्मों को भी 'धर्म' मानने–मनवाने की अनर्थपरम्परा का सर्जन कर रहे हैं। 'परोपकार ही धर्म है'–'अहिंसा ही परमधर्म है'–'सच बोलना ही अन्यतम धर्म है'—'आत्मा साक्षी प्रदान करे, वही धर्म है'—'किसी को दुःख न हो, वही धर्म है'—'गीतापाठ-मात्र कर लेना ही धर्म है'— इस प्रकार की कल्पित विधियों का सर्जन करने वाले, इनके आधार पर—'न्यायेन सन्तोषं जनयेत् प्राज्ञः–तदेवेश्वरपूजनम्' (न्यायपूर्वक–ईमानदारी से–काम करते हुए सन्तुष्ट बने रहना ही धर्म है, यही ईश्वरोपासना है) इस प्रकार की कल्पित सूक्तियों का सर्जन करने वाले यथेच्छाचारविहारपरायणमन शरीरानुगत कामभोगानुगत मानव 'यदि अमुक को हम सुख न पहुँचाते, तो हमें पाप लगता'— 'हमारी आत्मा–वास्तव में मन–ने साक्षी दे दी', इसलिए इसमें कोई पाप नहीं है, इत्यादि कल्पित मान्यताओं के आधार पर परदाराभिमर्शन जैसे* धर्मविरुद्ध कर्मों का भी समर्थन करने लग जाते हैं। ऐसे धर्मवादियों की, वस्तुतः धर्मापहारियों की आत्मसाक्षी के व्याज से केवल मनोभावानुगता कामभोगतुष्टि के नियमन के लिए अन्ततोगत्वा भगवान् को उस शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से मानव का उद्बोधन करना पड़ा, जिसका अन्य भगवद्ग्रन्थ में 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' रूप से उद्घोष हुआ है। इसमें अधिक से अधिक इसी मान्यता का समावेश सम्भव है कि, शास्त्रनिष्ठ वयोवृद्ध अनुभवी विद्वान् शास्त्र का जैसा तात्पर्य्य बतलावें, तदनुसार भी धर्मानुष्ठान शास्त्रसम्मत माना जा सकता है। इसी 'शब्दप्रमाणका वयम्। यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्' के अनुसार इसी शास्त्रनिष्ठा को धर्मनिर्णय में अन्यतम साधन–प्रमाण घोषित करते हुए भगवान् कहते हैं—)—"जो मानव (अपनी मानसिक कल्पनामात्र से कुकर्मों को–असत्–कार्यात्मक अधर्मों को–भी धारणात्मक धर्म घोषित करते हुए, वस्तुतस्तु) अन्याय–अधर्म से ही धर्माचरण की इच्छा रखते हैं, ऐसे धर्मध्वजी–धर्मवंचक–कल्पित स्वर्गमोक्षसुखेच्छु दम्भियों से तो सम्भाषण भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनका यह कल्पित धर्म्म अक्रम (वेदद्वारा अनुक्त) भावापन्न बनता हुआ तत्त्वतः अधर्म्म ही है। वेदशास्त्रनिष्ठा से विरोध हो नहीं और फिर सामयिक धर्म्म से समाज स्वस्ति-लाभ प्राप्त कर सके, ऐसा मान्य धर्म्म अवश्य ही संग्राह्य बन सकता है। उसे ही अनुक्तविधिरूप से अन्य शास्त्रविधि का पूरक माना जा सकता है, यही निष्कर्ष है" ॥

(८७)—(बड़ा ही रहस्यपूर्ण है धर्म का समन्वय–पथ। तभी तो भीष्म जैसे अतिमानवों को भी 'धर्म्मस्य सूक्ष्मा गतिः' कहना पड़ा है। उक्त धर्मसमन्वय के सम्बन्ध में पुनः एक विप्रतिपत्ति उपस्थित

* न हीदृशमनायुष्यं परदारोपसेवनम् (मनु)

(८४)—("प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्" रूप से धर्म का लक्षणोद्देश प्रतिपादक सिद्धान्त भावुक मानव की श्लथा भावुकप्रज्ञा के लिए प्रवाद दुर्विज्ञेय बन रहा है। इसीलिए भगवान् एक अन्य सुविज्ञेय दृष्टिकोण से इस धर्ममूलाधार का, दूसरे शब्दों में 'धर्मोपनिषत्' का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—)—"मानव का जो कर्म्म 'अहिंसा' से समन्वित होगा, निश्चयेन उसे ही धर्म्म, किंवा लक्षणोद्देश कहा जायगा। हिंसावृत्तिपरायण (परपीडनपरायण) क्रूर मानवों को अहिंसावृत्तिपरायण बनाने के लिए ही धर्म्माचार्य्यों ने धर्मप्रवचन किया है"। तात्पर्य स्पष्ट है। हिंसाकर्म्म से प्राणियों का विनाश होता है, इससे प्राकृतिक स्वरूप विकृत बन जाता है, इस से प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है, एवं यह प्राकृतिक क्षोभ ही मानव समाज की सहज-प्राकृतिक शान्ति का विघातक बन जाता है। प्राकृतिक स्वस्थता सुरक्षित रहे, यही धर्मप्रवचन का मूलोद्देश्य है, यही है धर्म्म का प्रधान लक्षणोद्देश॥

(८५)—(सम्भव है भावुक मानव धर्म्म के इस 'अहिंसा' भाव का भी मर्म्म न समझे, एवं परिणामस्वरूप 'अहिंसा' शब्द का यथेच्छ काल्पनिक अर्थ करने लगे, जैसा कि, सनातनधर्मेतर मतवादों ने किया है, वैसा कि सत्याग्रहाभिनिविष्ट गतानुगतिक यथाजात मानव किया करते हैं। इसलिए आवश्यक हो गया कि, धर्म्म का कोई वैसा लक्षणोद्देश माना जाय, जो असंदिग्धरूप से धर्म्म की मौलिकता अभिव्यक्त कर सके। इसी आवश्यकता को अनुभूत करते हुए भगवान् कहते हैं—)—अर्जुन! धर्म्म का लक्षणोद्देश क्या है? प्रश्न का समाधान स्वयं 'धर्म्म'शब्द ही कर रहा है। धारणार्थक 'धृञ्' धातु से निष्पन्न 'धर्म्म' का धारणात्मक जो सहज अर्थ है, वही धर्म्म का मौलिक आधार है। 'धर्म्मिणा धृतः सन् धर्म्मिणं स्वस्वरूपेऽवस्थापयति यः, स धर्म्मः'। धर्म्मी पदार्थ के द्वारा धारण किया जाने वाला जो तत्त्व धर्म्मी पदार्थ को उसके स्वरूप में सुरक्षित रखता है, वह तत्त्व ही उस धर्म्मी पदार्थ का धर्म्म है जो 'स्वरूपधर्म्म'-'सहजधर्म्म'-'स्वधर्म्म आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। यही धर्म्म का स्वरूपलक्षण है। धारणावृत्ति से ही धारक तत्त्व 'धर्म्म' कह जाया है। सूर्य्य का प्रकाश, जल का निम्नगामित्व, वायु का तिर्य्यग्गामित्व, अग्नि का ताप, चान्द्रसोम का शैत्य, आदि आदि गुण ही सूर्य्यादि के स्वरूपसंरक्षक हैं। यही प्राकृतिक-धर्म्मपरिभाषा प्राणिजगत् में समाविष्ट है। इसी तारतम्य से इस नित्य धर्म्म के सामान्य धर्म्म, विशेष धर्म्म, रूप से दो विभाग हो जाते हैं। इसी निबन्ध के क्रमप्राप्त तीसरे 'मानव स्वरूपमीमांसा' नामक परिच्छेद में धर्म्म के मौलिकस्वरूप की मीमांसा होने वाली है। अतः इस धर्म्मलक्षणमीमांसा का यहीं उपरत किया जा रहा है। इस धर्म्मलक्षण के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुस्वरूपसंरक्षण करने वाले सम्पूर्ण कर्म्म-फिर च प्रत्यक्ष में हिंसात्मक कर्म्म हों अथवा अहिंसात्मक, पापात्मक हों अथवा पुण्यात्मक, सत्यात्मक हों अथवा अनृतात्मक,-'धर्म्म' ही कह जायँगे।

(८६)—(धर्म्म के उक्त मूलाधार से भावुक का सन्तोष हुआ, किन्तु इसके साथ ही भावुक की भावुकता उत्तेजित हो कर धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में एक वैसे आपातरमणीय लक्ष्य की ओर आकर्षित हो

(६३)—अर्जुन ! हमने विभिन्न दृष्टिकोणमाध्यम से यथाधर्म्म, एवं अपनी समझ के अनुसार—जैसा कि हमने समझा है—एकमात्र तेरी हितैषिता के आकर्षण से धर्म्मानुबन्धी लक्षणोद्देश-धर्म्ममूलाधार-व्यक्त कर दिया है। इसे सुनकर-समझकर, पार्थ! कहो, अब भी तुम्हारी दृष्टि में युधिष्ठिर वध्य ही है क्या ? ॥

उपरता चेयं धर्म्मस्वरूपव्याख्या वासुदेवकृष्णोक्ता

★

६४—भगवान् के द्वारा तथापर्यवसिता धर्म्मव्याख्या के श्रवणानन्तर भावुक, किन्तु श्रद्धाशील अर्जुन का सामयिक उद्बोधन स्वाभाविक ही था। इसी तात्कालिक धर्म्मव्याख्याप्रभाव से तात्कालिकरूप से ही प्रभावित होता हुआ अर्जुन कहने लगा कि, भगवन् ! आप जैसे महाप्राज्ञ-महामति-अतिमानव पुरुष ने जो कुछ अब तक कहा है, उसके अनुगमन में निश्चयेन हमारा हित ही है॥ (६५)—आपके वचन इस अर्जुन के लिए सर्वथा मान्य हैं। आप हम पाण्डवों के मातृपितृस्थानीय हैं। अतएव तद्रूपेणैव आपकी आज्ञा हमारे लिए शिरोधार्य्य है॥ (६६)—हे कृष्ण ! हमारी गति (पहुँच) तो आप पर्य्यन्त ही है। आपही हमारी आश्रयभूमि हैं। सम्पूर्ण त्रैलोक्य में ऐसा कौनसा रहस्य है, जिसे यदुनन्दन न जानते हों ! ॥ (६७)—त्रैलोक्यज्ञाननिष्ठात्मिका इस अतिमानवता के कारण आप धर्म्म के सम्पूर्ण उत्कृष्टतम यथार्थ रहस्य से अभिज्ञ हैं। अतएव आपके द्वारा प्रदर्शित धर्म्मरहस्य के बोधाधार पर यह **अर्जुन अब धर्म्मराज युधिष्ठिर को अवध्य ही मान रहा है॥**

(६८)—*किन्तु भगवन् ! मेरा जो यह उपांशुसंकल्प (प्रतिज्ञा) है कि,—'जो मुझे गाण्डीव परित्याग के लिए किसी भी निमित्त से कह देगा, तत्क्षण उसका शिरश्छेद कर डालूँगा' उसके सम्बन्ध में भी तो निश्चित निर्णय का अनुग्रह कीजिए। (आश्चर्य है अर्जुन की इस भावुकता पर, जो अभी अभी तो वासुदेव कृष्ण के सम्बन्ध में आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण—"न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित्"॥ (६६)" ये उद्गार प्रकट करता हुआ उन्हें सर्वज्ञ अन्तर्य्यामी घोषित कर रहा है, और तत्क्षण ही नितान्त

---

* धर्म्मव्याख्या के द्वारा ही यद्यपि भगवान् ने अर्जुन की सभी भावुकताओं का समाधान कर दिया था। अब विस्पष्ट शब्दों में भगवान् ने अर्जुन के सम्मुख यह सिद्धान्त समुपस्थित कर दिया कि, उस सत्यधर्म्म का, सत्यप्रतिज्ञा का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जबकि उस प्रतिज्ञा के पालन से किसी निर्दोष का वध सम्भव बन रहा हो, तो। अब क्या जिज्ञासा शेष रह गई थी अर्जुन की। किन्तु कहना पड़ेगा कि, भावुक सदा भावुक ही बना रहता है। समझ लेने पर भी पुनः पुनः वह अपने भावुकता पूर्ण दृष्टिकोण की ओर आकर्षित होता रहता है। क्षण क्षण में उद्बोधनात्मक निष्ठाबल विस्मृत करता रहता है। यदि ऐसा न होता, तो गीतानुगता बुद्धिनिष्ठा का तत्त्व सुनने के पश्चात् अर्जुन में ऐसी धर्म्मभीरुता पुनः उत्पन्न ही क्यों होती।

हो जाती है, जिसका भावुक अर्जुन के परितोषार्थ समाधान करना भगवान् के लिए अनिवार्य्य बन जाता है। विप्रतिपत्ति का स्वरूप यह है कि, "जहाँ जब ऐसा अवसर उपस्थित हो जाय, जिसमें—'यह करें, अथवा न करें' इस प्रकार सन्देह उपस्थित हो जाय, ऐसे संशयात्मक स्थलों में क्या किया जाय, जबकि न तो इस सम्बन्ध में विधिवचनवत् कोई शास्त्रीय वचन ही उपलब्ध होता, एवं न लौकिक मान्यात्मक शिष्टजनसम्मत लौकिक वचन ही एस सन्देह में अपना कोई मन्तव्य प्रकट करता। क्या किया जाय, कैसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय किया जाय, ऐसे विषम–सन्देहास्पद स्थलों में, !" इस महती विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए ही भगवान् कहते हैं—)—

यह ठीक है कि, सर्वसाधारण के लिए ऐसे सन्देहास्पद स्थलों का निश्चित निर्णय करना कठिन है। किन्तु जो तत्त्ववेत्ता मनीषी विद्वान हैं, वे तो किसी भी स्थिति परिस्थिति में तथ्यात्मक निर्णय पर पहुँच ही जाते हैं। वे ही, उनका व्यक्तिगत वचन ही ऐसे अवसरों का निर्णायक मान लिया जाता है। निर्णायक के इस तथ्यात्मक सत्यात्मक निर्णय के प्रकट कर देने से यदि किसी निर्दोषी की हिंसा का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, तो ऐसे अवसर पर तत्त्ववेत्ता को मौनव्रत धारण कर लेना चाहिए। यदि इसके मौनव्रत के प्रभाव से भी हिंसा का प्रसङ्ग अवरुद्ध नहीं होता, तो उस स्थिति में उस तथ्य को परोक्ष बनाते हुए मिथ्याभाषण कर देना चाहिए। यहाँ यह अनृतभाषण भी सत्यरूप में परिणत हो जाता है। सन्देहास्पद विषमस्थलों में अहिंसामूलक धर्म्म ही प्रधान मान लेना चाहिए, यही निष्कर्ष है। एवं इस अहिंसा के संरक्षण के लिए पहिले मौनव्रत, इससे सफलता प्राप्त न हो, तो अनृतवचन-प्रयोग का अनुगमन कर लेना चाहिए॥

(८८)—अर्जुन! (उक्त विशेषधर्म्मतत्त्वोपवर्णन के साथ-साथ अब हम प्रासङ्गिक इस सामान्य-धर्म्म की ओर भी तुम्हारा ध्यान आकर्षित करा देना चाहते हैं कि)—किसी भी कार्य्य का, किंवा उद्देश्य का–लक्ष्य का–(कर्णवधादिरूपात्मक का) अपने अन्तर्जगत् में दृढ़ सङ्कल्प कर के जो मानव अन्यान्य प्रतारणा-पथों के द्वारा सङ्कल्प की उपेक्षा करना चाहता है, वह दाम्भिक है। व्रतपालन न करने से वह प्रत्यवाय का भागी बनता है। (अर्जुन! तुम्हारा ही तो यह व्रत था कि, तुम कर्ण को युद्ध में अवश्य मारोगे। आज इन प्रश्नों में पड़कर तुम अपना व्रत भग कर रहे हो, जो क्षत्रिय का सामान्यधर्म्म माना गया है। सामान्यव्रतधर्म्म की उपेक्षा, विशेषव्रतधर्म्म के लिए आवेश, यह कैसा विमोहन है तुम्हारा!॥

(८९)—किसी निर्दोष के प्राणसङ्कटावसर पर, विवाहावसर पर, कुलनाशप्रसङ्ग पर, पारस्परिक नर्म्म (उपहास) अवसर पर यदि अनृतभाषण मध्यस्थ बन जाता है, तो इससे पातक की आशङ्का करना विशुद्ध भावुकता ही मानी जायगी। (९०)–(९१)–(९२)–धर्म्मतत्त्वद्रष्टा विद्वान् ऐसे अनृतभाषण प्रसङ्ग में कोई अधर्म्म नहीं मानते। तत्त्व यही है इस सम्पूर्ण धर्म्मव्याख्या का कि—"तस्माद्धर्म्मार्थ-मनृतमुक्त्वा नानृतभाग् भवेत्" (धर्म्मस्वरूपसंरक्षण के लिए आश्रित अनृत-भाषण अनृत नहीं बना करता" ॥

(६३)—अर्जुन ! हमने विभिन्न दृष्टिकोणमाध्यम से यथाधर्म्म, एवं अपनी समझ के अनुसार–जैसा कि हमने समझा है—एकमात्र तेरी हितैषिता के आकर्षण से धर्म्मानुबन्धी लक्षणोद्देश्य–धर्म्ममूलाधार–व्यक्त कर दिया है। इसे सुनकर–समझकर, पार्थ ! कहो, अब भी तुम्हारी दृष्टि में युधिष्ठिर वध्य ही है क्या ? ॥

उपरता चेयं धर्म्मस्वरूपव्याख्या वासुदेवकृष्णोक्ता

★

६४—भगवान् के द्वारा यथापूर्वर्णिता धर्म्मव्याख्या के श्रवणानन्तर भावुक, किन्तु श्रद्धाशील अर्जुन का सामयिक उद्बोधन स्वाभाविक ही था। इसी तात्कालिक धर्म्मव्याख्याप्रभाव से तात्कालिकरूप से ही प्रभावित होता हुआ अर्जुन कहने लगा कि, भगवन् ! आप जैसे महाप्राज्ञ–महामति–अतिमानव पुरुष ने जो कुछ अब तक कहा है, उसके अनुगमन में निश्चयेन हमारा हित ही है ॥ (६५)—आपके वचन इस अर्जुन के लिए सर्वथा मान्य हैं। आप हम पाण्डवों के मातृपितृस्थानीय हैं। अतएव तद्रूपेणैव आपकी आज्ञा हमारे लिए शिरोधार्य है ॥ (६६)—हे कृष्ण ! हमारी गति (पहुँच) तो आप पर्य्यन्त ही है। आपही हमारी आश्रयभूमि हैं। सम्पूर्ण त्रैलोक्य में ऐसा कौनसा रहस्य है, जिसे यदुनन्दन न जानते हों ! ॥ (६७)—त्रैलोक्यज्ञाननिष्ठात्मिका इस अतिमानवता के कारण आप धर्म्म के सम्पूर्ण उत्कृष्टतम यथार्थ रहस्य से अभिज्ञ हैं। अतएव आपके द्वारा प्रदर्शित धर्म्मरहस्य के बोधाधार पर यह अर्जुन अब धर्म्मराज युधिष्ठिर को अवध्य ही मान रहा है ॥

(६८)—*किन्तु भगवन् ! मेरा जो यह उपांशुसंकल्प (प्रतिज्ञा) है कि,–'जो मुझे गाण्डीव परित्याग के लिए किसी भी निमित्त से कह देगा, तत्क्षण उसका शिरश्छेद कर डालूँगा' उसके सम्बन्ध में भी तो निश्चित निर्णय का अनुग्रह कीजिए। (आश्चर्य है अर्जुन की इस भावुकता पर, जो अभी अभी तो वासुदेव कृष्ण के सम्बन्ध में आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण–"न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित्"॥ (६६)" ये उद्गार प्रकट करता हुआ उन्हें सर्वज्ञ अन्तर्यामी घोषित कर रहा है, और तत्क्षण ही नितान्त

---

* धर्म्मव्याख्या के द्वारा ही यद्यपि भगवान् ने अर्जुन की सभी भावुकताओं का समाधान कर दिया था। जब विस्पष्ट शब्दों में भगवान् ने अर्जुन के सम्मुख यह सिद्धान्त समुपस्थित कर दिया कि, उस सत्यधर्म्म का, सत्यप्रतिज्ञा का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जबकि उस प्रतिज्ञा के पालन से किसी निर्दोष का वध सम्भव बन रहा हो, तो ! अब क्या जिज्ञासा शेष रह गई थी अर्जुन की। किन्तु कहना पड़ेगा कि, भावुक सदा भावुक ही बना रहता है। समझ लेने पर भी पुन पुनः यह अपने भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण की ओर आकर्षित होता रहता है। क्षण क्षण में उद्बोधनात्मक निश्चयबल विस्मृत करता रहता है। यदि ऐसा न होता, तो गीतानुगता बुद्धिनिष्ठा का तत्त्व सुनने के पश्चात् अर्जुन में ऐसी धर्म्मभीरुता पुन उत्पन्न ही क्यों होती।

भावुक अर्जुन अब यह कर रहा है कि)—"इदं वा परमंश्रेय स्त्वया। इत्यर्थं विवक्षितम्"। अर्जुन कहता है, वासुदेव ! (मुझे यह विश्वास तो है ही कि, आप मेरे उपांशु सङ्कल्प के सम्बन्ध में निश्चित मन्तव्य अभिव्यक्त करेंगे। किन्तु उस निर्णय से पूर्व) मैं आपको यह सम्पूर्ण स्थिति सुना देना चाहता हूँ, जो अभी तक मेरे हृदय में ही प्रतिष्ठित है। मैं ही जानता हूँ उस स्थिति को (मानो इसे न जान कर न सुनकर ! वासुदेव कहीं अन्यथा निर्णय न कर डालें–भावमयप भावमयप ही समर्पित कर रहे हैं हम उस भावुक अर्जुन को अपनी ओर से सधन्यवाद, जो वासुदेव को अन्तय्यामी भी मान रहा है, एवं उन्हें अपने मनोभावों से अवगत भी अनुभूत कर रहा है। इससे अधिक अर्जुन की भावमयपता और क्या होगी ! महा आश्चर्य !!!) ॥

(६६)–(१००)—हे दाशाह वासुदेव ! अब आपको यह तो विदित हो ही गया है कि, मेरा किसी समय का किया हुआ यह व्रत (प्रतिज्ञा) है कि, "मानवों में जो भी व्यक्ति मुझे यह कहने की धृष्टता कर बैठेगा कि—'तू अपना गाण्डीव किसी दूसरे को समर्पित कर दे' तो तत्काल प्रबल आक्रमण कर, मैं उसे मार ही डालूँगा"। हे केशव ! आपको तो यह विदित ही है कि, युधिष्ठिर ने आक्रोशपूर्वक मुझे 'प्रयच्छान्यस्मै गाण्डिवमेतदद्य-त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्रः' रूप से यह कहने का दुःसाहस कर डाला है। इस प्रकार युधिष्ठिर ने जो मुझे भीम जैसे 'तूबरक' (बहुभोजनपरायण–केवल भोजनमाह) को तो मुझ से अधिक शस्त्रास्त्रप्रहार में कुशल एवं पराक्रमी घोषित कर दिया, और मुझे उसे गाण्डीव अर्पित करने का आदेश दे डाला। आपके सम्मुख ही तो हे धार्मिकवीर केशव ! उक्त प्रकार से भीम के सन्तुलन में मुझे अयोग्य हीनवीर्य्य घोषित करते हुए स्पष्टरूप से–'धनुर्देहि' (दे दे तेरा धनुष भीम को, उतार फैंक अपना यह गाण्डीवधनुष) यह परुष आदेश दे डाला है ॥

(१०१)—भगवन् ! आप यह भी भली प्रकार जानते हैं कि, अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए यदि परवशता युधिष्ठिर को मैं मार डालूँगा, तो उस दशा में मैं स्वयं भी क्षणमात्र भी इस जीवलोक* (चान्द्रगर्भित पार्थिवलोक) में न ठहर सकूँगा (अर्थात् युधिष्ठिर को मार कर मुझे भी मर जाना पड़ेगा)। सम्भव है आप उस दशा में मुझ से यह आग्रह करें कि, अर्जुन ! इस युधिष्ठिरवधजनित पाप का तू प्रायश्चित्त कर ले। यह भी सम्भव है कि, मैं आपके आदेशानुसार प्रायश्चित्त कर भी लूँ। यह भी मान लेता हूँ कि, सम्भव है इस प्रायश्चित्त से मैं पाप से मुक्त भी हो जाऊँ। किन्तु तथापि मैं जीवित

---

* मानव स्वस्वरूप परिपूर्ण है, साक्षात् ब्रह्म है, सौरदेव की प्रतिकृति है। चतुर्दशविभूतभूतसर्गात्मक प्राणिसर्ग ही 'जीव' कहलाया है, जिसका आवास–निवासस्थान चान्द्रगर्भित पार्थिव 'इलावृत्त' नामक सम्वत्सर माना गया है। यही जीवलोक है। जिसमें प्रारब्धकर्म्म भोगार्थ परिपूर्ण भी सौर देव मानव को भौतिक शरीर धारण कर आना पड़ता है। इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन श्राद्धविज्ञान ३ खण्ड में द्रष्टव्य है।

न यह सकूँगा कदापि किसी भी दशा में भी। क्योंकि युधिष्ठिर के वध के अनन्तर मेरा चित्त स्खलित–अस्थिर बन जायगा। मैं इस वधकर्म से नष्टवीर्य बन जाऊँगा। एवं कोई भी मनस्वी ऐसी अस्थिरता अष्टवीर्यता में मर जाना ही उत्तम पक्ष मानेगा ॥

(१०२)—(इन सब विषमतार्थों को–जो मेरे हृदय में विस्फोटन कर रहीं हैं–आज आपको इसलिए यह अर्जुन सुना रहा है कि) हे धर्म्मधारकों में श्रेष्ठतम वासुदेव! जिस उपाय से मेरी यह उपांशु प्रतिज्ञा भी लोकसामान्य में 'सत्य' प्रमाणित हो जाय, साथ ही युधिष्ठिर और मैं दोनों ही जीवित भी रह जायँ, हे कृष्ण! आज आप ऐसी सद्बुद्धि ही प्रदान करने का अनुग्रह करेंगे * ॥

(१०३)—(उक्त भावुकतापूर्ण अर्जुनोद्गार–श्रवण से भगवान ने यह अनुभव कर लिया कि, अभी अर्जुन उसी भावावेश पर आरूढ है। धर्म्मव्याख्या का मर्म्म अभी तक वह हृदयङ्गम नहीं कर सका है। अवश्य ही इसे अब सर्वथा लोकदृष्टि से—प्रत्यक्ष दृष्टि से–सन्तुष्ट करना पड़ेगा। तभी यह लक्ष्यारूढ बन सकेगा। इसी लोकदृष्टिमूलक समाधान का उपक्रम करते हुए,) वासुदेव कहने लगे, अर्जुन! यह कल्पना कर ही कैसे ली तुमने कि, युधिष्ठिर वास्तव में तुम्हें गाण्डीव उतार फैंकने का आदेश दे रहे हैं। केवल वैखरीशब्द ही तो सब कुछ नहीं हैं। भावों के तारतम्य से ही तो शब्दार्थ के वास्तविक तथ्य का समन्वय हुआ करता है। युधिष्ठिर का भाव कुछ और था, शब्द किसी अन्य भाव से सम्बन्धित थे। क्यों?, तो सुनो।

युद्धप्रसङ्ग में महावीर कर्ण के द्वारा प्रबलवेग से प्रक्षिप्त सुतीक्ष्ण शरवर्षण से आमूलचूल आबद्ध विद्ध–क्षत–विक्षत–भ्रान्त–विभ्रान्त–सप्त–सन्तप्त बन जाने वाले युधिष्ठिर के अन्तर्जगत् में सहसा यह भावना अभिव्यक्त हो पड़ी कि, कर्ण जैसे अप्रतिम महापराक्रमी योद्धा को यों सहसा पाण्डवसेना में से कोई भी परास्त नहीं कर सकता। कहीं ऐसी दुर्घटना घटित न हो जाय कि, कर्ण अपने बाणवर्षण से ससैन्य पाण्डवों का सर्वसंहार कर डाले, और इस प्रकार अब तक का सम्पूर्ण पुरुषार्थ, सब कुछ बना–बनाया, इस

---

*—धर्म्मरहस्यात्मक समाधान प्राप्त करने के अनन्तर भी बार बार अपनी भावुकतापूर्ण प्रतिज्ञा का सस्मरण, मारने–मरने की शून्य कल्पना, अनागत भय से संक्षुब्ध बन जाना, साथ ही एकमात्र इस इच्छा से कि–'संसार मुझे झूठा न कहे–प्रतिज्ञापालन के उपाय का अन्वेषण करना, मरने से डरना, मारने से भी विकम्पित होना, ये सब कुछ विडम्बनाएँ भावुक मानवों की सहजभावुकता के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। भावुक को अपने हिताहित की अपेक्षा लोकदर्शन–लोकख्याति की विशेष चिन्ता रहती है। हमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति–प्राप्त हो जाय, वे हमें बुरा न कहें, इस भावुकतापूर्ण परदृष्टि से प्रभावित भावुक इस लोकैषणा से किस प्रकार अपने राष्ट्र के धन–जन का आततायिवर्ग के द्वारा सर्वस्वसंहार करा लेने में ही अपने आपको योग्य शासक मानने–मनवाने की भ्रान्ति करते रहते हैं ?, यह वर्त्तमान युग में नैष्ठिकों की दृष्टि से परोक्ष नहीं है।

अन्तिम युद्ध-प्रसङ्ग में विजय के स्थान में पराजय का कारण प्रमाणित हो जाय। अवश्य ही एकमात्र अर्जुन ही कर्ण के बल का निरोध करने की क्षमता रखता है। किन्तु यह अनुभव हो रहा है मुझे कि, जब से कर्ण सेनापति बना है, तब से विदित नहीं, किस कारण से अर्जुन उदासीनवदासीन-सा-उपेक्षा-परायण-सा बना हुआ है। सर्वसैन्य पाण्डव कर्ण के शरवर्षण से एक ओर जहाँ सन्त्रस्त बनते जा रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर अर्जुन कापुरुषवत् तटस्थ-सा बनता जा रहा है। यदि अधिक समय अर्जुन इसी उन्मना-वृत्ति का अनुगामी बना रहा, तो हमारा सर्वनाश निश्चित बन जायगा। अतएव अब क्षणमात्र भी विलम्ब न कर सत् असत्-जैसे भी बन पड़े, किसी न किसी उपाय से अर्जुन की इस उदासीनता पर ऐसा निर्मम प्रहार कर ही डालना चाहिए, जिससे यह उद्दीप्त हो पड़े, इसका सुप्त क्षात्र तेज प्रज्वलित हो पड़े, और इसके द्वारा यह कर्णनिरोध में सफलता प्राप्त कर ले। ×

(एकमात्र उपर्युक्त सद्भावना से भावित-अन्तःकरण बने हुए युधिष्ठिर ने अर्जुन के प्रति यथाविध परुषवाक्प्रहार का प्रयोग कर डाला, जिसकी सद्भावव्यञ्जना से अपरिचित भावुक अर्जुन प्रत्यक्ष-शब्दार्थ मात्र को ही आधार मान कर यों युधिष्ठिर के वधकर्म के लिए उद्यत हो पड़ा। क्या यह उचित था अर्जुन का भावावेश ?, इसी दृष्टिबिन्दु-माध्यम से भगवान् ने अर्जुन का उद्बोधन कराना आरम्भ किया कि—)—अर्जुन ! तू यह भली प्रकार जानता है कि पाण्डवराज युधिष्ठिर युद्ध से थक गये थे, क्षत-विक्षत होगए थे, दुःखसंविग्नमानस बन गए थे, युद्ध में सूतपुत्र महापराक्रमी कर्ण के द्वारा होने वाली अजस्र सुतीक्ष्ण शरवर्षा से कर्ण से युद्ध करते हुए धर्मराज आत्यन्तिकरूप से ताड़ित मर्माहत बन गए थे"॥ (१०४)—एकमात्र इन सांघातिक-मर्मान्तक संवेदनाओं से रोषपूर्ण वातावरण से समन्वित बनते हुए, दुःखकातर बने हुए, अतएव पूर्ण परिस्थिति का विचार करने में असमर्थ बनते हुए केवल इस भावना से कि—"कहीं बिना क्रोधपूर्ण आवेश के अर्जुन युद्ध में कर्ण वध से उपरथ न बन जाय", युधिष्ठिर इस प्रकार अयुक्तरूपा भी परुषवाक् का तुम्ह पर प्रहार कर बैठे। (तात्पर्य, यदि अर्जुन क्रोधाविष्ट न बना, तो यह युद्ध में कर्ण का वध न कर सकेगा। एकमात्र इस सद्भावना से समन्वित युधिष्ठिर का आक्रोश न तो वास्तव में गाण्डीव उतार फैंकना देना ही प्रमाणित कर रहा है, एवं न ऐसी अवस्था में केवल प्रत्यक्ष शब्दमात्र से प्रभावित होकर तेरा युधिष्ठिर के वधकर्म के लिए समुद्यत बन जाना ही कुछ अर्थ रखता है, यही प्रस्तुत भगवद्वाणी का निष्कर्षार्थ है)॥

(१०५)—हे पाण्डवार्जुन ! तुम स्वयं भी तो यह भली प्रकार जानते ही हो कि, सूतपुत्र कर्ण अपने दुष्कृत-पापाचरणों से (दुर्योधनसहानुगत पाण्डवोत्पीडनात्मक पापकर्मों से) पापात्मा बनता हुआ आत्यन्तिकरूपसे क्रूरकर्मा प्रमाणित है। इस असह्य वाक्प्रहार को तुम से अतिरिक्त और कोई सहन नहीं

× अप्रतिम बालवीर अभिमन्यु की स्वर्गगति-काल से ही महावीर अर्जुन उदासीन से बन गए थे। युद्ध करते थे, किन्तु उन्मना बन कर। प्रहार करते थे, किन्तु शिथिलतापूर्वक। तदवस्थ कर्ण के सेनापत्यकाल में अर्जुन की यह उदासीनता पाण्डवों के सर्वनाश का ही कारण ही प्रमाणित होती जा रही थी।

कर सकता। इस प्रकार जिस दृष्टिकोण से तुम कर्ण के प्रति आविष्ट बने हुए थे, उसी दृष्टिकोण से कर्ण के प्रति आविष्ट बन जाने वाले युधिष्ठिर केवल तुम्हारे शौर्योत्तेजन के लिए यदि रोषपूर्वक तुम्हारे प्रति परुषवाणी का प्रयोग कर रहे हैं, तो एतावता ही तुमने यह किस आधार पर मान लिया कि, युधिष्ठिर वास्तव में तुम पर अप्रसन्न हैं, एवं वास्तव में वे तुम्हें गाण्डीव-परित्याग की ओर आकर्षित कर रहे हैं ?॥

(१०६)—अर्जुन ! क्या तुम यह जानते हो कि, 'कर्णवध' के भावी परिणाम के सम्बन्ध में धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर के बुद्धितन्त्र में क्या धारणा है ! । नहीं, तो सुनो । हम बतलाते हैं । जिस प्रकार तुमने 'उपांशुप्रतिज्ञा' कर रक्खी है, वैसे ही युधिष्ठिर ने (द्यूतकर्म्मप्रिय, द्यूतसंस्था सहजभावुक युधिष्ठिर ने) भी एकान्त में अपनी बुद्धि में कर्ण के सम्बन्ध में इस 'द्यूत' (द्यूतात्मिका सन्धा) को माध्यम बना लिया है कि, "अपने छल-कपट-पूर्ण असद्व्यवहारों से, निर्म्मम शस्त्रप्रहारों से सदा से ही पाण्डवों के लिए, एवं पाण्डव-सेना के लिए असह्य बना रहता हुआ कर्ण यदि युद्ध में मारा जायगा, तो मैं यह बाजी लगाता हूँ कि, सम्पूर्ण कौरव ससैन्य विजित-एवं पराजित मान लिए जायँगे"। तात्पर्य्य-'कर्णवध ही कौरवों का पराजय है, कर्णविजय ही पाण्डवों का पराजय है । यह द्यूतात्मिका प्रतिज्ञा युधिष्ठिर ने कर रक्खी है । उदासीनता से युधिष्ठिर ने यह अनुभव किया कि, कहीं मेरी यह प्रतिज्ञा-द्यूतसन्धा-(होड़-बाजी-शर्त) निष्फल न बन जाय । क्योंकि, युधिष्ठिर यह जानते थे कि, युद्ध में यदि कोई कर्ण का वध कर सकता है, तो वह एकमात्र अर्जुन ही है । अपनी प्रतिज्ञा के निष्फल होने का अनुमान कर के ही युधिष्ठिर ने तुम्हारे प्रति इस प्रकार परुषवाणी से प्रहार किया है ॥

(१०७)—क्यों अर्जुन ! अब तो भली प्रकार समझ में आगई न सम्पूर्ण वास्तविक स्थिति तुम्हारी समझ में ! । क्या अब भी तुम युधिष्ठिर को वध्य मानते रहोगे !। 'सतो वधं नाहति धर्म्मपुत्रः' । इसलिए हमने कहा कि, धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर किसी भी दशा में (न तो तुम्हारी प्रतिज्ञा के ही विरोधी हैं, अतएव) न वधार्ह ही हैं । फिर भी (भावुकतावश) तुम यही कल्पना कर रहे हो कि, वध तो युधिष्ठिर का उचित नहीं है, किन्तु सङ्कल्पित प्रतिज्ञा का तो भङ्ग हुआ ही, भले ही भाव युधिष्ठिर का वैसा न हो (क्योंकि प्रतिज्ञा करते समय मैंने प्रतिज्ञासूत्र में इस व्यञ्जना का समावेश नहीं किया था कि — केवल शब्ददोष से प्रतिज्ञा भङ्ग न होगी, अपितु शब्द के साथ-साथ यदि भावदोष रहेगा, तभी प्रतिज्ञाभङ्ग माना जायगा) । ठीक ! समझे ! ! सम्यग्रूपेण समझे ॥ (भावुक ! अर्जुन ! हम । तो सुनो । यदि तुम्हें लोकदृष्ट्या-अनिन्दाभयदृष्ट्या प्रतिज्ञा का ऐसा ही विमोहन है, तो निम्नलिखित रूप से तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर लेना चाहिए । (कुछ भी ऊहापोह-सङ्कल्पविकल्प शेष रह न जाय अर्जुन तुम्हारे भावुक मनोराज्य में, नहीं तो निकट-भविष्य में ही समुपस्थित भीषणतम कर्णयुद्धप्रसङ्ग में यह सङ्कल्प-विकल्पता तुम्हें हतोत्साह करती रहेगी, परिणामस्वरूप कर्णपराभव अशक्य बन जायगा)। अर्जुन ! तू यदि तो इच्छा रखता है कि, "युधिष्ठिर जीवित भी रहें, और मेरी प्रतिज्ञा भी पूर्ण होजाय' । ओमित्येतत् ।

अन्तिम युद्ध–प्रसङ्ग में विजय के स्थान में पराजय का कारण प्रमाणित हो जाय। अवश्य ही एकमात्र अर्जुन ही कर्ण के बल का निरोध करने की क्षमता रखता है। किन्तु यह अनुभव हो रहा है मुझे कि, जब से कर्ण सेनापति बना है, तब से विदित नहीं, किस कारण से अर्जुन उदासीनवदासीन–सा–उपेक्षा–परायण–सा बना हुआ है। ससैन्य पाण्डव कर्ण के शरवर्षण से एक ओर जहाँ सन्त्रस्त बनते आ रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर अर्जुन कापुरुषवत् तटस्थ–सा बनता जा रहा है। यदि अधिक समय अर्जुन इसी उन्मना वृत्ति का अनुगामी बना रहा, तो हमारा सर्वनाश निश्चित बन जायगा। अतएव अब क्षणमात्र भी विलम्ब न कर सत् असत्–जैसे भी बन पड़े, किसी न किसी उपाय से अर्जुन की इस उदासीनता पर वैसा निर्मम प्रहार कर ही डालना चाहिए, जिससे यह उद्दीप्त हो पड़े, इसका सुप्त क्षात्र तेज प्रज्वलित हो पड़े, और इसके द्वारा यह कर्णनिरोध में सफलता प्राप्त कर ले। ×

(एकमात्र उपर्युक्त सद्भावना से भावितान्तःकरण बने हुए युधिष्ठिर ने अर्जुन के प्रति तथाविध परुषवाक्प्रहार का प्रयोग कर डाला, जिसकी सद्भावव्यञ्जना से अपरिचित भावुक अर्जुन प्रत्यक्ष शब्दार्थ मात्र को ही आधार मान कर यों युधिष्ठिर के वधकर्म के लिए उद्यत हो पड़ा। क्या यह उचित था अर्जुन का भावावेश ?, इसी दृष्टिबिन्दुमाध्यम से भगवान् ने अर्जुन का उद्बोधन कराना आरम्भ किया कि—)—अर्जुन ! तू यह भली प्रकार जानता है कि पाण्डवराज युधिष्ठिर युद्ध से थक गये थे, क्षत–विक्षत होगए थे, दुःखसंविग्नमानस बन गए थे, युद्ध में सूतपुत्र महापराक्रमी कर्ण के द्वारा होने वाली प्रबल सुतीक्ष्ण शरवर्षा से कर्ण से युद्ध करते हुए धर्मराज आत्यन्तिकरूप से ताड़ित मर्माहत बन गए थे"॥ (१०४)—एकमात्र इन सांघातिक–मर्मान्तक संवेदनाओं से रोषपूर्ण वातावरण से समन्वित बनते हुए, दुःखकातर बने हुए, अतएव पूर्ण परिस्थिति का विचार करने में असमर्थ बनते हुए केवल इस भावना से कि—"कहीं बिना क्रोधपूर्ण आवेश के अर्जुन युद्ध में कर्ण वध से तटस्थ न बन जाय", युधिष्ठिर इस प्रकार अयुक्तरूपा भी परुषवाक् का तुम पर प्रहार कर बैठे। (तात्पर्य, यदि अर्जुन क्रोधाविष्ट न बना, तो यह युद्ध में कर्ण का वध न कर सकेगा। एकमात्र इस सद्भावना से सम्भावित युधिष्ठिर का आक्रोश न तो वास्तव में गाण्डीव उतार डालने की शिक्षा देना ही प्रमाणित कर रहा है, एवं न ऐसी अवस्था में केवल प्रत्यक्ष शब्दमात्र से प्रभावित होकर तेरा युधिष्ठिर के वधकर्म के लिए समुद्यत बन जाना ही कुछ अर्थ रखता है, यही प्रस्तुत भगवद्वाणी का निष्कर्षार्थ है)॥

(१०५)—हे पाण्डवार्जुन ! तुम स्वयं भी तो यह भली प्रकार जानते ही हो कि, सूतपुत्र कर्ण अपने दुष्कृत–पापाचरणों से (दुर्योधनसहानुगत पाण्डवोत्पीड़नात्मक पापकर्मों से) पापात्मा बनता हुआ आत्यन्तिकरूपसे क्रूरकर्मा प्रमाणित है। इस असह्य वाग्प्रहार को तुम से अतिरिक्त और कोई सहन नहीं

× अप्रतिम बालवीर अभिमन्यु की दारुणगति–काल से ही महावीर अर्जुन उदासीन से बन गए थे। युद्ध करते थे, किन्तु उन्मना बन कर। प्रहार करते थे, किन्तु शिथिलतापूर्वक। सचमुच कर्ण के सेनापतिकाल में अर्जुन की यह उदासीनता पाण्डवों के सर्वनाश का ही कारण ही प्रमाणित होती जा रही थी।

भावुक का लक्ष्य बना हुआ था। भगवान् जान रहे थे कि, केवल हमारे कथनमात्र से अब अर्जुन को इस पथ में प्रवृत्त होने में इसलिए सङ्कोच हो सकता है कि, हमने बुद्धियोगनिष्ठास्वरूपप्रदर्शनावसर पर इसे 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्यव्यवस्थितौ' इस शास्त्रनिष्ठा में निष्ठ बना दिया है। भगवान् यह भी अनुभव कर रहे थे कि, प्रतिज्ञासमाधान के लिए प्रदर्शित उपाय की शास्त्रप्रामाणिकता में संदिग्ध बनता हुआ अर्जुन कहीं इस नवीन भावुकतापूर्णा-मीमांसा में प्रवृत्त हो पड़ा, तो वर्णयुद्ध-प्रसङ्ग तो तटस्थ बन जायगा, एवं शास्त्रचर्चा की भावुकमीमांसा उपक्रान्त बन जायगी। क्योंकि भावुक किसी भी विषय का आरम्भ तो करना जानता है, किन्तु समाप्ति-बिन्दु इसे सहसा उपलब्ध होता ही नहीं। इन्हीं सब भावी व्यञ्जनाओं को लक्ष्य बनाते हुए उपायप्रदर्शन के अव्यवहितोत्तरकाल में ही भगवान् को यह कहना पड़ा कि—)—"श्रुतियों में उत्तम अथर्वाङ्गिरसी श्रुति (आथर्वणश्रुति) ही वृद्धावमानरूप अपमान-पथ में प्रमाण है अर्जुन। जिन्हें श्रेयोलाभ प्राप्त करना हो, अपना लोकाभ्युदय करना हो (लोक-सम्पत् प्राप्त करनी हो), उन्हें पूर्वापर का कुछ भी विचार किए बिना इस श्रुति का अनुसरण कर लेना चाहिए (जैसे कि महाआथर्वण के पौत्र भगवान् जामदग्नेय परशुराम ने इस ज्येष्ठावमानरूप पथ का आश्रय लेते हुए पूज्या माता का भी) ॥ (११३)—(हाँ, तो आङ्गिरसी श्रुति के प्रमाण के आधार पर अब यह सिद्ध हो गया है कि)—'त्वम्' उच्चारण-सम्बोधनमात्र से बिना शस्त्रप्रहार के ही गुरुजन मृत बन जाते हैं। तो अब विलम्ब क्यों हो रहा है ? कह डालो धर्मराज युधिष्ठिर को 'त्वम्' सम्बोधन के माध्यम से, (जिससे फिर कहने के लिए तुम्हारे शब्दकोश में कुछ भी शेष रह न जाय अर्जुन) ॥ (११४)—अर्जुन ! तुम्हारे इस 'त्वम्' सम्बोधन की युधिष्ठिर में क्या प्रतिक्रिया होगी ?, यह जानते हो। सुनो ! धर्मराज तुम्हारी इस अवमानपरम्परा से इस निष्कर्ष पर पहुंच जायँगे कि, आज इस अनुज ने मेरा वध ही कर डाला है। (बहुत सम्भव है, इस मृत्युरूप अपमान को सहन करने में असमर्थ युधि-ष्ठिर वास्तव में शरीर छोड़ देने के लिए ही उद्यत हो जायँ। अतएव सावधान अर्जुन ! अपमानपरम्परा के समाप्त होते ही तुझे अविलम्ब प्रणतभाव से ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर के चरणों में प्रणिपात करते हुए क्षमवाणी का प्रयोग भी करना है, एवं प्रतिक्रियारूढ धर्मराज को सान्त्वना भी प्रदान करनी है ॥

(११५)—हमें विश्वास है कि, तेरे इस श्रद्धानुगत प्रणिपात से अपना रोष-आक्रोश विस्मृत कर देंगे युधिष्ठिर, एवं धर्म का सूक्ष्म विधान लक्ष्य बना कर सब कुछ समन्वित कर लेंगे धर्मराज। इस प्रकार सब कुछ समन्वित हो जायगा। तू अनृतरूप प्रतिज्ञाविरोध से भी मुक्त हो जायगा, एवं भ्रातृवधरूप महत्पातक से भी उन्मुक्त बन जायगा। तदित्थं सर्वात्मना तू स्वस्थ (आत्मप्रसादगुणयुक्त-प्रसन्न-स्वस्थ-) बन जायगा। उस अवस्था में तुम्हारे सम्मुख अर्जुन हमारा एकमात्र यही प्रस्ताव उपस्थित करना शेष रह जायगा कि-'कर्णं त्वं जहि सूतपुत्रम्' सूतपुत्र कर्ण पर युद्ध में विजय प्राप्त करो) ॥

(११६)—सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र ! जनार्दन वासुदेव कृष्ण के द्वारा अपनी प्रतिज्ञा पूर्त्ति के लिए इस प्रकार एक नवीन उपाय सुनकर सन्तुष्ट होते हुए पहिले तो अर्जुन ने भगवान् के

" जीवित रहता हुआ ही मानव कैसे मरा हुआ बन जाता है" इसका लौकिक प्रकार तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है ॥

(१०८)—विद्या-ऐश्वर्य्य-वित्त-वय-कलाद्यनुगत लोकमान्यतात्मक लोकसम्मान से संयुक्त सम्मान्य शिष्ट मानवश्रेष्ठ जबतक लोकद्वारा, स्वाश्रितों के द्वारा, पारिवारिक पुत्र-बन्धु आदि कनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा सम्मानित होता रहता है, तभी तक वह सम्मान्य जीवलोकात्मक पार्थिव मृत्युलोक में लोकानुबन्धद्वारा 'जीवित' माना जाता है। जब भी वैसा सम्मान्य व्यक्ति किसी अवर-कनिष्ठ के द्वारा किसी बड़े अपमान से अपमानित हो जाता है, तो वही "जीवन्मृत' (जीवित ही मृत, जीता हुआ ही मरा हुआ) कहलाने लगता है। लोकव्यवहार में 'जीवित' पद-'जीवन्मृत' की यही सहज परिभाषा मानी गई है ॥

(१०६)—अर्जुन ! पाण्डवराज युधिष्ठिर सदा से ही तुमसे, भीमसेन से, एवं नकुल-सहदेव से श्रद्धापूर्वक सम्मानित होते आरहे हैं। इसके अतिरिक्त कुरुराज्य में जो भी वृद्ध-एवं शिष्टपुरुष हैं, जो भी पराक्रमशाली शूर योद्धा हैं, उन सभी के द्वारा अजातशत्रु युधिष्ठिर सदा से ही सम्मानित रहे हैं। 'अपमान' क्या है !, इस प्रश्न की निकृष्ट व्यञ्जना से महामान्य सर्वमान्य धर्मराज सर्वथा अपरिचित हैं। यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है कि, तुम्हारी प्रतिज्ञा कार्य्यरूप में परिणत हो, तो तुम्हें इस महामान्य का पूर्व-परिभाषानुसार अपमान कर देना चाहिए। सावधान ! कहीं उच्छृङ्खलरूप से अपमान न कर बैठना। अपमान करने का भी एक शिष्टजनसम्मत कौशल होता है। अपमान करना भी एक कला है। इस कलात्मक कौशल से ही तुम्हें युधिष्ठिर का अपमान करना है—'तस्यापमानं कलया प्रयुङ्क्ष्व' ॥

(११०)—(भगवान् जानते थे भावुकों के द्वारा विधन्वित अपमान का कलाशून्य उच्छृङ्खल अव्यवस्थित—अमर्य्यादित प्रकार। अतएव भगवान् को स्वयं अपमान का कलात्मक स्वरूप भी बतलाना पड़ा। यही स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं)—अर्जुन ! कलात्मक शिष्टसम्मत अपमान का यही श्रेष्ठ प्रकार है कि, तुम 'भवान्' के स्थान में 'त्वम्' का सन्निवेशमात्र करते जाओ। 'त्वम्'मात्र से सम्बोधित होने से ही मान्य गुरु, मान्य ज्येष्ठ पुरुष की मृत्यु हो जाती है। (आजतक तुमने *युधिष्ठिर का 'भवान्' (आप) रूप से सम्बोधन किया है। अब इस प्रतिज्ञापालन-प्रसङ्ग में* 'त्वम्' (तुम-तू) रूप से सम्बोधन करते जाओ, यही तात्पर्य्य है) ॥

(१११)—हे कौन्तेय ! इस प्रकार पूज्यापमानरूप, अतएव तत्त्वत अधर्म्मात्मकसंयोगरूप इस 'त्व' व्यवहारात्मक आचरण का उपयोग कर लेना चाहिए तुम्हें धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रति अपनी प्रतिज्ञा के स्वरूपसंरक्षण के लिए ०॥ (११२)—(अर्जुन भी तो धर्म्मभीरु था) आत्मसम्मानभक्ति भी तो इस

०—इस पथ को भगवान् अधर्म्मपथ घोषित करते हुए अर्जुन का अन्तिम बार परोक्षरूपसे उद्-बोधन ही कराना चाहते हैं। सम्भव है अर्जुन इस निकृष्ट पथ का अनुगमन सर्वथा तत्त्वशून्या प्रतिज्ञा के व्यामोह में पड़ कर न करे। क्योंकि, भगवान् जानते हैं कि, इसकी प्रतिक्रिया युधिष्ठिर में क्या विपत्ति कर सकती है ? किन्तु ।

विक्रमशाली पराक्रमी भीम जब समराङ्गण में अवतीर्ण हो जाते हैं, तो शत्रुसेना को स्पष्टरूप से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि, मानों साक्षात् महाकाल-यमराज ही प्रलयान्तकोप से संयुक्त होकर उपस्थित हो गए हैं। दो-चार सैनिकों को ही नहीं, अपितु आक्रोश करने वाली पूरी सेना को ये वैभवप्रान्तकोपम भीम स्मृतिगम में विलीन कर देते हैं। ऐसे अप्रतिम भीम यदि इस अर्जुन की गर्हणा (भर्त्सना-निन्दा) करते, तो ठीक भी था। वे कर सकते हैं, और उसे अर्जुन सुन भी सकता है। किन्तु युधिष्ठिर तुम, अरे! तुम क्या अर्जुन की निन्दा करोगे, जो स्वयं अपने मित्र-अङ्गरक्षकों से अपनी रक्षा की चिन्ता में निमग्न बने रहते हो ॥ (१२३)—उधर महापराक्रमी भीम सिंहवत् एकाकी निर्भय युद्ध में विचरण करते हुए कभी महारथियों को विकम्पित करते हैं, कभी गजारूढ़ श्रेष्ठ योद्धाओं का मानविमर्दन करते हैं, कभी अश्वारोही सैनिकों का वक्षःस्थल विदीर्ण करते हैं, तो कभी पदातिसेना को ही कुचलते रहते हैं। सम्पूर्ण धार्तराष्ट्रों में इस प्रकार उनको, तथा उनके सम्बन्धित सेनाङ्गों को एकाकी ही विकम्पित करने वाले शत्रु-पराभवकर्त्ता भीम मुझे उपालम्भ देने की क्षमता रखते हैं। तुम क्या तो मुझे उपालम्भ दोगे, और क्या तुम्हारे जैसे भीरु के उपालम्भ का मुझ अर्जुन पर कुछ प्रभाव होगा ? ॥ (१२४)—अपनी प्रचण्ड पराक्रमप्रभा से नीलवलाहकोपम बने रहने वाले, अपने शौर्यमद से मदोन्मत्त सिंह-गजादिवत् मद गर्वित बन रहने वाले ऐसे विश्वविश्रुत कलिङ्ग-वङ्ग-निषाद-मागधादि दुर्द्धर्ष महावीरों को, इन शत्रुओं के समूहों के समूहों को जो भीम देखते-देखते निष्प्राण बना देते हैं, युधिष्ठिर! वे भीम मुझे उपालम्भ देने की योग्यता-क्षमता रखते हैं, तुम नहीं ॥ (१२५)—जिस प्रकार वर्षाकाल में पुष्करावर्त्तकादि विशेष जाति के घनकृष्णवर्णात्मक महामेघ महानिनादपूर्वक प्रचण्ड चलवेग से मेदिनी को आप्लावित कर देते हैं, एवमेव मानों अम्बुधारावर्षण करते हुए ही भीम अपने महारथ में सन्नद्धीभूत बन कर युक्तरूप से प्रतिष्ठित होकर इस महायुद्धात्मक कुरुक्षेत्र के महामेदिनी-प्राङ्गण को अपने महाधनुष के महाघोष के साथ बाणों से आच्छादित कर देते हैं ॥ (१२६)—महामदोन्मत्त अनुमानत आठसौ महागजों को तो भीम ने इस युद्ध में उन गजों के शुण्डादण्ड (सूँड) पकड़-पकड़ कर ही अब तक भूमिसात् कर दिया है। एवं इतने गजों का उस अरिघ्न भीम ने बाणप्रहार से निःशेष कर दिया है ॥ (सङ्कल्प भी किया है कभी युधिष्ठिर तुमने ऐसे महापराक्रम का युद्धभूमि में ? । नहीं, तो किस अपने वाक्-बलप्रधान भीमुख से तुमने मेरी गर्हणा कर डाली ?) ॥ (१२७)—सम्भवत यह तो तुम्हें विदित होगा ही कि, निगमशास्त्रनिष्ठ ब्राह्मणों की ही वाणी में बल प्रतिष्ठित रहता है। तत्त्वज्ञ विद्वानों ने क्षत्रियों का प्रधान बल तो 'बाहुबल' ही माना* है। हे भारत! (युधिष्ठिर!) तुम में तो केवल द्विजोचित वाग्बल प्रतिष्ठित है। इसीलिए तो तुम

---

* सिद्धं ह्येतद्-'वाचि वीर्यं द्विजानां'-बाह्वोर्वीर्यं यत्तु तत् क्षत्रियाणाम्।
शस्त्रग्राही ब्राह्मणो जामदग्न्यस्तस्मिन् दान्ते का स्तुतिस्तस्य राज्ञः ॥
—भवभूतिः।

वचनों का यशोगान किया, अनन्तर अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए आजतक अपने पूर्व जीवन में जैसा स्वप्न में भी अर्जुन ने सङ्कल्प भी न किया था, वैसे परुषवाक् का आवेशपूर्वक युधिष्ठिर पर प्रहार आरम्भ ही तो कर दिया निम्नलिखित रूप से—

(११७)—मायाविष्ट अर्जुन युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर कहने लगे कि, हे राजा युधिष्ठिर! 'तुम' जल्प न करो बल्प न करो (बक-बक मत करो), जो कि तुम अपनी सहज भीरुता-कायरता से स्वयं रणसंघर्ष से कोसों दूर रहने वाले हो (तुम जब युद्ध का मर्म्म जानते ही नहीं, तो तुम्हें युद्धसम्बन्ध में निरर्थक जल्प (बक-मक) करने का अधिकार ही क्या है ?) । हाँ, ज्येष्ठभ्राता भीम अवश्य ही हमारी भर्त्सना करने का अधिकार रखते हैं, जोकि सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध श्रेष्ठवीरों के साथ एकाकी ही युद्ध में निर्भय बन कर युद्ध करने लगते हैं (जूझ पड़ते हैं) ॥ (११८)—(सुनना चाहते हो युधिष्ठिर ! भीरु युधिष्ठिर ! तुम महापराक्रमी भीमसेन के पराक्रम की यशोगाथा !, तो सुनो)—जब युद्धभूमि में भीम अवतीर्ण होते हैं, तो बड़े बड़े शूरवीर-भूपतियों को मसल डालते हैं, मार डालते हैं, निःशेष कर देते हैं, बड़े बड़े सुदृढ़ विशिष्ट शस्त्रास्त्रसुसज्जित रथों में आरूढ़ युद्धकर्म्म में दुर्द्धर्ष सुप्रसिद्ध महारथी नागवीरों नागयोद्धाओं को, असंख्य 'सादिप्रवेक' नामक वीरों को क्षणमात्र में विस्मृति के गर्भ में विलीन कर देते हैं ॥ (११९)—जिस अप्रतिम वीर ने हजारों हाथियों को मार कर अपने तुमुल सिंहनाद से शत्रुसैन्य को विकम्पित कर दिया, अगणित काम्बोजवीरों का, असंख्य पार्वतीय वीरों का निर्म्मम संहार उसी प्रकार कर डाला, जैसे मदोन्मत्त सिंह मृगयूथ का अनायास ही वध कर डालता है ॥ (१२०)—जानते हो युधिष्ठिर तुम भीम के उस अभूतपूर्व-अश्रुतपूर्व-महापराक्रम को, जिसने अपनी सहजवीरता-शौर्य्य से युद्ध में कैसे कैसे दुष्कर-घोरघोरतम-महाभयानक कर्म्म किए हैं, जिनका तुम तो सङ्कल्प भी नहीं कर सकते । जिस समय यह पुरुषसिंह आवेश में आते हैं, रथ से उतर पड़ते हैं, अपना सुप्रसिद्ध 'गदा' शस्त्र उठा लेते हैं । एवं उसे प्रबल वेग से घुमाते हुए अश्वारोही वीरों को, रथारूढ़ महारथियों को, गजारूढ़ महावीरों को उनके अश्व-रथ-गजों के साथ चूर्णमुष्टिरूप में परिणत कर डालते हैं ॥ (१२१)—शत्रमन्युविक्रम (को इन्द्रसम बल-विक्रम रखने वाले भीम) क्या विक्रम करते हैं समरभूमि में, सुन भी सकोगे युधिष्ठिर तुम उस विक्रम की विक्रमगाथा ! । अपने सुतीक्ष्ण सर्वश्रेष्ठ खड्ग से, एवं प्रसयक्ष धनुष से, एवं शत्रुपक्ष के महारथियों के ही रथों को तोड़-फोड़ कर इतरा रथारूढ़ साहसिक शस्त्रों से शत्रुपक्ष के घोड़ों-हाथियों, एवं तदारूढ़ अश्वारोही-गजारोही-रथी-महारथियों को मानों क्षणमात्र में भस्मावशेष ही कर डालते हैं (जला डालते हैं) जिस प्रकार भस्मीभूत शरीर के अवयव उपलब्ध नहीं होते, तथैव भीम के द्वारा निहत शत्रुओं के शरीरों की, शरीरावयवों की उपलब्धि भी असम्भव बन जाती है । भीम इस प्रकार शत्रुशरीरों को चूर्णित कर देते हैं, जैसे अग्नि इसे भस्मरूप में परिणत कर देते हैं—'वहस्वरीन' । और सुनो ! सहसा झपाटा मार कर भीम शत्रु को अपने दोनों पैरों के मध्य में लेकर पीस डालते हैं, कुचल डालते हैं । अपने दोनों हाथों से शत्रुओं के मस्तकों को रगड़कर चूर्णित कर देते हैं ॥ (१२२)—ऐसे महा

करते हुए तुम्हारे उद्बोधन की प्रबल चेष्टा की थी। किन्तु 'याजाऽपि सुभाषितम्' पर कोई लक्ष्य न देते हुए तुमने एक न मानी। उस नीचजनसेवितयोग्य द्यूतकर्म्म के व्यामोहात्मक प्रमाद का निरोध तुम से न होसका, जिसके परिणामस्वरूप आज हम सब को इस दीन-हीन दशा का अनुगामी बनना पड़ा ॥ (१३३)—युधिष्ठिर! तुम से कभी हमें सुख-शान्ति प्राप्त हुई हो, यह तो कल्पना ही निरर्थक है। हाँ, अपने द्यूतकर्म्मव्यसन में सम्प्रवृत्त तुमने अपने आपको महादुर्व्यसनी-निकृष्टकर्मकर्त्ता-प्रमाणित करते हुए अपने आपको दुःखी सन्त्रस्त अवश्य बना लिया है और आश्चर्य्य है आज हमें इस बात पर कि, यह महादुर्व्यसनी आज हमें कटु-परुषवाणी सुना रहा है ॥ (१३४)—युधिष्ठिर! एकमात्र तुम्हारे द्यूतात्मक पापकर्म्म-दुर्व्यसन के कारण ही हमें उस अगणित शत्रुसेना का संहार करना पड़ा, जो क्षत्रीयवीर अपने क्षत-विक्षत शरीरों से भूगर्भ में समाविष्ट हो गए हैं। तुम्हारे उस नृशंस द्यूतकर्म्म के ही दुष्परिणामस्वरूप युद्धसहयोगी अन्य क्षत्रियवीरों के साथ साथ अपने वंशज कौरवों का भी सर्वनाश हुआ। निष्कर्षतः तुम्हारे पाप के कारण तुम तो नष्ट हुए सो हुए ही, हम, हमारे बन्धुबान्धव, एवं अन्य राजागण भी विनष्ट हुए, सन्त्रस्त बने ॥ (१३५)—हमने तुम्हारी विजयकामना से उत्तरप्रान्तीय वीरों का संहार किया, पश्चिमप्रान्तीय स्वराट् नीच्यराजाओं × का संहार किया, पूर्वदेशीय राजाओं का सर्वनाश किया, एवं दाक्षिणात्य सैन्यबल को स्मृतिगर्भ में विलीन किया। इस प्रकार हमने लोकोत्तर साहसपूर्वक अप्रतिम पुरुषार्थ का अनुगमन किया। साथ ही हमारे तथा शत्रुपक्ष के महावीर योद्धाओं ने युद्ध में अन्यतम पराक्रम प्रदर्शित किया। सभी ने सब कुछ किया, किन्तु तुमने क्या किया ?॥ (१३६)—तुमने जो किया !, यह सर्वविदित है। तुम प्रसिद्ध द्यूतकर्म्मा (बड़े जुआरी) हो, तुम्हारे अनुग्रह से सम्पूर्ण भारत राष्ट्र के वैभव का सर्वनाश हुआ, तुम्हारे सङ्गदोष से हमें 'कायर' उपाधि से विभूषित होना पड़ा। बस करो युधिष्ठिर! अब हम पर क्रूरवचन प्रहार का दुःसाहस तुम जैसे 'मन्दभाग्य' को कदापि भविष्य में नहीं करना चाहिए, नहीं करना चाहिए ॥

(१३७)—सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र! अपने प्रतिज्ञापालन के आवेश से कुछ समय के लिए स्थितप्रज्ञ बन जाने वाले सव्यसाची अर्जुन ने उग्ररूप से धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रति सर्वथा रूक्ष-कर्कश-उद्वेगकर-परुष वाक्प्रहार कर ही तो डाला। किन्तु तत्काल पुनः अर्जुन में सहसा सहज भावुकता जागरूक हो पड़ी। परिणामस्वरूप भर्त्सना के अनन्तर ही अर्जुन इस प्रकार उद्विग्न-क्षुब्ध हो पड़े, जैसे कोई प्राज्ञ (समझदार) मानव कोई बहुत बड़ा पापकर्म्म करके सहसा क्षुब्ध-विमना-उद्विग्न बन जाया करता है ॥ (१३८)—सन्तप्त हो पड़े अर्जुन इस प्रकार अपने ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर की इस प्रकार भर्त्सना करके। सुरराजपुत्र अर्जुन बार बार महाश्वास लेने लगे। इनकी इस प्रकार की दुरवस्था-उद्वेग को

× तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये केचन नीच्यानां राजानः, ये अपाच्यानां, स्वाराज्यैव तेऽभिषिच्यन्ते-'स्वराट्' इत्येतानभिषिक्तानाचक्षते।

—ऐतरेय ब्रा० ८।१४।

निष्ठुर बने हुए हो। (तुम्हें क्या विदित कि, वाहुवीर्य क्या है?, एवं ऐसे वीर्य से युक्त क्षत्रिय के लिए यह वचनवाक् किस प्रकार उद्वेग का कारण बन जाती है?)। आज अपनी वाक्शूरता के आधार पर तुमने मुझे उस प्रकार गर्हित कर डाला है, जैसे किसी निर्बल को सबल गर्हित बना दिया करता है॥ (१२८)—युधिष्ठिर! बस रहने दो अपना वाक्शौर्य। सब कुछ जानते हैं हम लोग कि, तुम्हारे पुरुषार्थ से हमें कैसे कैसे कष्ट उठाने पड़े हैं) क्या इसलिए—इस हितैषिता से उऋण होने के लिए—तुम इस प्रकार आज हमारी गर्हणा कर रहे हो कि, हमने, न केवल हमने हीं, अपितु हमारी स्त्रियों ने, पुत्रों ने, भ्राताओं ने सदा तुम्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा की, तुम्हारे हितसाधन् में प्रवृत्त बने रहे!। सचमुच तुम्हारी इस सेवाशुश्रूषा से आज तक हम लोगों ने सिवाय दुःखपरम्परा के कभी स्वप्न में भी सुख की प्रतिच्छाया-मी तो प्राप्त न की।

(१२९)—द्रौपदीतल्पसंस्थ (केवल नारी की शय्या के अनुगामी स्त्रैण) युधिष्ठिर! बहुत हुआ। रहने दो। सावधान! मेरा अपमान करने की भूल न करो। क्या इस अपमानरूप पुरस्कार की प्राप्ति के लिए ही हमने तुम्हारे हित के लिए (तुम्हें राज्यपदासीन बनाने के लिए) युद्ध में महारथियों का संहार किया है?। सम्भवतः तुम्हें आज ऐसी शङ्का हो गई है—कि, कहीं हम तुम्हारे स्थान में राज्यपद न ग्रहण कर लें। सचमुच तुम महानिष्ठुर हो, पाषाणहृदय हो, महाशङ्काशील हो। तुमसे कभी भी किसी भी प्रकार के सुख की इच्छा करना व्यर्थ है॥ (१३०)—युधिष्ठिर! केवल तुम्हारे हित के लिए सत्य प्रतिज्ञानिष्ठ कुरुकुलपितामह महात्मा भीष्म ने, उस सत्यनिष्ठ अतिमानव ने तुम्हें अपनी मृत्यु का आश्वासन देकर तुम्हें निर्भय सो बना दिया था। किन्तु क्या तुम भीष्म का पराभव सकते थे? मुझ से सुरक्षित द्रुपदराज के पुत्र शिखण्डी को मध्यस्थ बना कर एकमात्र तुम्हारे हित के लिए यदि हम अपने अनन्य—श्रद्धेय महापितामह के पावन शरीर को शरवर्षण से विद्ध न कर देते, सो क्या तुम स्वप्न में भी उस महा—पुरुष को शरशय्यानुगामी बना सकते थे?॥ (१३१)—और आज तो हमें यह भी अनुभव होने लगा है कि, यदि तुम्हारे लिए अपने प्राणसमर्पण कर जयलाभ द्वारा तुम्हें राज्यासीन कर भी दिया, तो भी इसमें हम लोगों को भविष्य में कोई हित प्रतीत नहीं हो रहा। तुम्हारे उस भावी राज्यपद का हम अब इसलिए समर्थन नहीं कर सकते कि, तुम्हारी तो एकमात्र आसक्ति का प्रियविषय 'द्यूतकर्म' बना हुआ है। (किसे विदित है कि, पुनः अपनी इस द्यूतासक्ति को कार्य्यरूप में परिणत करते हुए तुम राज्य को पुनः हार जाओ और हमारा सब कुछ पुरुषार्थ व्यर्थ चला जाय)। युधिष्ठिर! द्यूत जैसे महा निन्द्य—शास्त्रविरुद्ध—नीच मनुष्यों के द्वारा अनुष्ठेय (अनाप्तजुष्ट) महापातकात्मक जघन्य कर्म्म को अपनाते हुए तुम आज जो हम लोगों से अपने शत्रुओं से आत्मत्राण करने की चेष्टा कर रहे हो, यह किस मुख से?, किस योग्यता भार पर?॥ (१३२)—युधिष्ठिर! तुम्हें स्मरण होगा कि, जिस समय धार्त्तराष्ट्रों के कूटनीतिपूर्ण 'द्यूत' जैसे निन्द्य कर्म्म के आमन्त्रण को स्वीकार करने के लिए तुम समुद्यत हो रहे थे, उस समय भीमादि तो शिष्टाचार मौन धारण किए हुए थे? किन्तु सहजभावुक बालभावापन्न धर्मनिष्ठ अनुज सहदेव ने आक्रोशपूर्वक द्यूतकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले दोषों का, एवं तत्सम्बन्धी अधर्म्म—विधर्म्मभावों का विश्लेषण

करते हुए तुम्हारे उद्बोधन की प्रबल चेष्टा की थी। किन्तु 'याजादपि सुभाषितम्' पर कोई लक्ष्य न देते हुए तुमने एक न मानी। उस नीचजनसेवितयोग्य द्यूतकर्म्म के व्यामोहात्मक आमन्त्रण का निरोध तुम से न होसका, जिसके परिणामस्वरूप आज हम सब को इस दीन-हीन दशा का अनुगामी बनना पड़ा ॥ (१३३)—युधिष्ठिर! तुम से कभी हमें सुख-शान्ति प्राप्त हुई हो, यह तो कल्पना ही निरर्थक है। हाँ, अपने द्यूतकर्म्मव्यसन में सम्प्रवृत्त तुमने अपने आपको महादुर्व्यसनी-निकृष्टकर्म्मकर्त्ता-प्रमाणित करते हुए अपने आपको दुःखी सन्त्रस्त अवश्य बना लिया है और आश्चर्य्य है आज हमें इस बात पर कि, यह महादुर्व्यसनी आज हमें कटु-परुषवाणी सुना रहा है ॥ (१३४)—युधिष्ठिर! एकमात्र तुम्हारे द्यूतात्मक पापकर्म्म-दुर्व्यसन के कारण ही हमें उस अगणित शत्रुसेना का संहार करना पड़ा, जो क्षत्रीयवीर अपने क्षत-विक्षत शरीरों से भूगर्भ में समाविष्ट हो गए हैं। तुम्हारे उस नृशंस द्यूतकर्म्म के ही दुष्परिणामस्वरूप युद्धसहयोगी अन्य क्षत्रियवीरों के साथ साथ अपने वंशज कौरवों का भी सर्वनाश हुआ। निष्कर्षतः तुम्हारे पाप के कारण तुम तो नष्ट हुए सो हुए ही, हम, हमारे बन्धुबान्धव, एवं अन्य राजागण भी विनष्ट हुए, सन्त्रस्त बने ॥ (१३५)—हमने तुम्हारी विजयकामना से उत्तरप्रान्तीय वीरों का संहार किया, पश्चिमप्रान्तीय स्वराट् नीचराजाओं × का संहार किया, पूर्वदेशीय राजाओं का सर्वनाश किया, एवं दाक्षिणात्य सैन्यबल को स्मृतिगर्भ में विलीन किया। इस प्रकार हमने लोकोत्तर साहसपूर्वक अप्रतिम पुरुषार्थ का अनुगमन किया। साथ ही हमारे तथा शत्रुपक्ष के महावीर योद्धाओं ने युद्ध में अन्यतम पराक्रम प्रदर्शित किया। सभी ने सब कुछ किया, किन्तु तुमने क्या किया? ॥ (१३६)—तुमने जो किया?, यह सर्वविदित है। तुम प्रसिद्ध द्यूतकर्म्मी (पक्के जुआरी) हो, तुम्हारे अनुग्रह से सम्पूर्ण भारत राष्ट्र के वैभव का सर्वनाश हुआ, तुम्हारे सङ्गदोष से हमें 'कायर' उपाधि से विभूषित होना पड़ा। बस करो युधिष्ठिर! अब हम पर क्रूरवचन प्रहार का दुःसाहस तुम जैसे 'मन्दभाग्य' को कदापि भविष्य में नहीं करना चाहिए, नहीं करना चाहिए ॥

(१३७)—सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र! अपने प्रतिज्ञापालन के आवेश से कुछ समय के लिए स्थिरप्रज्ञ बन जाने वाले सव्यसाची अर्जुन ने उक्तरूप से धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति सर्वथा रूक्ष-कर्कश-उद्वेगकर-परुष वाक्प्रहार कर ही तो डाला। किन्तु तत्काल पुनः अर्जुन में सहसा सहज भावुकता जागरूक हो पड़ी। परिणामस्वरूप भर्त्सना के अनन्तर ही अर्जुन इस प्रकार उद्विग्न-क्षुब्ध हो पड़े, जैसे कोई प्राज्ञ (समझदार) मानव कोई अद्भुत बड़ा पापकर्म्म करके सहसा क्षुब्ध-विमना-उद्विग्न बन जाया करता है ॥ (१३८)—सन्तप्त हो पड़े अर्जुन इस प्रकार अपने ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर की इस प्रकार भर्त्सना करके। सुरराजपुत्र अर्जुन बार बार महाश्वास लेने लगे। इनकी इस प्रकार की दुरवस्था-उद्वेग को

× तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये केचन नीच्यानां राजानः, ये अपाच्यानां, स्वाराज्यैव तेऽभिषिच्यन्ते-'स्वराट्' इत्येतानभिषिक्तानाचक्षते।

—एतरेय ब्रा० ८।१४।

लक्ष्य बनाकर पुनः भगवान् कृष्ण को इनकी भावुकता का इस प्रकार उद्ग्रोधनोपक्रम करना पड़ा कि—अर्जुन ! यह क्या होने लगा, पुनः तुम यह क्या करने लगे। अपनी सत्य प्रतिज्ञापूर्त्ति करने के अनन्तर जहाँ तुम्हें सन्तुष्ट होना चाहिए था, वहाँ तुम आज पुनः अपने शोकाश्रुधारा से आकाश को विकम्पित कर रहे हो (आकाश-पृथिवी एक कर रहे हो) ॥ (१३९)—कहो, अर्जुन ! पुनः कर डालो, जिससे तुम्हारे इस आश्चर्यप्रद शोक के निवारण के लिए पुनः हम कोई मार्ग निकालें। सञ्जय कहने लगे कि, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के द्वारा इस प्रकार सान्त्वना-वचन सुनकर दुःखसंविग्नमानस अर्जुन केशव से कहने लगे कि-(१४०)—भगवन् ! (इस समय मुझे कुछ भी प्रतीत नहीं हो रहा)। जिस इस शरीर ने अपनी प्रतिज्ञापालन के आवेश में आकर जिस प्रकार अपने ज्येष्ठबन्धु युधिष्ठिर का अपमान कर डाला, उस शरीर को मुझे अवश्य ही नष्ट कर देना है। सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अर्जुन की तथाकथित स्थैर्य वाणी सुन कर धर्म्मभृतां वरिष्ठ भगवान् वासुदेव धनञ्जय से कहने लगे कि—

(१४१)—अर्जुन ! धर्म्मराज युधिष्ठिर को केवल अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए इस प्रकार 'त्वम्' सम्बोधनपूर्वक भर्त्सित कर क्यों इस प्रकार घोरघोरतम कश्मलभाव (बुद्धि-मनोमालिन्य) का अनुगमन कर रहे हो। हे किरीटिन् ! हे शत्रुविमर्दिन् ! (अरिघ्न !) यों जो तुम सहसा बिना कारण ही 'आत्महत्या' जैसे घोरघोरतम दुष्कर्म्म में प्रवृत्त होने जा रहे हो, क्या तुम्हारा यह घोरपथ शिष्ट-महापुरुषों के द्वारा अनुगमनीय है ?। कदापि नहीं ॥ (१४२)—कल्पना करो अर्जुन यदि तुम अपने ज्येष्ठभ्राता धर्म्मात्मा युधिष्ठिर का खड्ग से वध कर डालते, वास्तव में उन्हें मार ही डालते, तो उस दशा में तुम्हारी क्या अवस्था होती ?, उस समय की धर्म्मभीरुता तुम्हें किस ओर, कैसे प्रायश्चित्त की ओर आकर्षित करती ? (केवल भर्त्सनामात्र करने से तो प्रायश्चित्तस्वरूप तुम आत्महत्या कर रहे हो। सचमुच में ही यदि मार ही डालते, तो विदित नहीं कौनसे प्रायश्चित का तुम कैसे अनुष्ठान करते ?)। तुम ही जान सकते हो अर्जुन इस प्रकार की धर्म्मभीरुता से सम्भवित प्रायश्चित्त के मर्म्म को ॥ (१४३)—अर्जुन ! (धर्म्मव्याख्या स्वरूपविश्लेषण करते हुए पूर्व में हमने तुम्हें बतलाया था कि) धर्म्म सुसूक्ष्म तत्त्व है। केवल शब्द मात्र के आधार पर, प्रत्यक्षानुगता भावुकतापूर्णा कल्पना के आधार पर यथेच्छ विधि-विधान बना डालना, यथेच्छ प्रायश्चित्तों की कल्पना कर बैठना क्या उचित होगा ?। जो आचार्य्य धर्म्म के सुसूक्ष्म विशेष रहस्य के ज्ञाता हैं, उनके द्वारा उक्त धर्म्मविषय ही सुनना चाहिए, तदनुसार ही प्रायश्चित्तादि की व्यवस्था करनी चाहिए। धर्म्म सुसूक्ष्म तत्त्व है। अतएव अज्ञ सामान्य जनों की दृष्टि में दुर्विद बना हुआ है। अज्ञजन इसे दुर्विद कहते हैं। अतएव वे अपनी स्थूलदृष्टि से धर्म्मनिर्णय करने में असमर्थ हैं। तुमने अपनी कल्पना से जिस प्रायश्चित का सहसा सङ्कल्प कर डाला है, जानते हो उस सम्बन्ध में धर्म्म-रहस्यज्ञों के क्या उद्गार हैं ?। नहीं, तो सुनो !। अपने कश्मलभावापन्न (मलीमस, अतएव मोहावृत-विज्ञानात्मरूप ठौर) देवात्मा के (अविद्याबुद्धिरूप चरात्मा के) सङ्कल्पमात्र से अपने भूतात्मा (देहाभिमानी जीवात्मा) का (हत्वा आत्मना आत्मन-विज्ञानात्मना भूतात्मान देहिनं हत्वा) वध करने से तुम्हें

उस घोरनरकात्मिका असुर्य्यगति का अतिथि बनना पड़ेगा, जहाँ से आकल्पान्त पुनरागमन सम्भव नहीं है * । क्या यही है तुम्हारे प्रायश्चित्त का सुपरिणाम ! ॥

(१४४)—तुम्हें अपने ज्येष्ठबन्धु के अपमान से आत्मग्लानि का अनुभव हो रहा है । ठीक है । हम बतलाते हैं इसका वास्तविक शिष्टजनसम्मत प्रायश्चित्त । तुम सन्नद्ध बनकर अपने ज्येष्ठभ्राता के सम्मुख खड़े होजाओ और अपने ही मुख से अपने वास्तविक (किंवा—एषणात्मक कल्पित) गुणों का बड़े आवेश के साथ बखान कर डालो । इसी से तुम्हारा 'आत्महत्या' रूप प्रायश्चित्त सफल बन जायगा । जैसे छोटे से अपमान होने पर बड़ा जीवन्मृत मान लिया जाता है । तथैव बड़े के सम्मुख यदि छोटा अपना महत्त्वख्यापन करने लगता है, तो इससे यह छोटा जीवन्मृत मान लिया जाता है, यही निष्कर्ष है । सञ्जय कहने लगे कि, भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट इस प्रायश्चित्त के प्रति 'जैसी आज्ञा भगवन् !' इस प्रकार से अपनी प्रणत भावना व्यक्त करते हुए धनञ्जय ने अपना (अपने ही वध के लिए सधान किया हुआ) धनुष अवनत कर लिया ॥ (१४५)—एवं—धर्म्मधारण करने वालों में श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति—'सुनिए धर्म्मराज युधिष्ठिर ! अब आप मेरे वास्तविक गुणों का महत्त्वाख्यान', इस प्रकार भूमिकापूर्वक शक्रसूनु (इन्द्रपुत्र) कहने लगे कि—हे नरदेव ! (आपको सम्भवत यह विदित नहीं होगा कि)—

पिनाकपाणी भगवान् शङ्कर के अतिरिक्त मुझ जैसा अन्य दूसरा धनुर्द्धर समस्त भूमण्डल में ही क्या, त्रैलोक्य में नहीं है ॥ (१४६)—यदि भगवान् शङ्कर की मुझे आज्ञा प्राप्त हो जाय, तो यह महात्मा अर्जुन क्षणमात्र में शङ्करवत् सम्पूर्ण चराचर जगत् का सर्वनाश कर डाले । राजन् ! दिक्पतियों को उनकी दिशाओं के सहित परास्त कर इस अर्जुन ने ही तो उन सबको आपका वशवर्त्ती बनाया है ॥ (राजसूययज्ञ में सम्पूर्ण दिशाओं के नृपतियों को पराभूत कर उनके द्वारा आपके राजसूय यज्ञ को किसने सफल बनाया था !, इसी अर्जुन ने) ॥ (१४७)—अन्तिम कर्म्मात्मक दक्षिणाप्रदान के द्वारा सर्वात्मना सुसम्पन्न हो जाने वाला आपका यह त्रैलोक्यविश्रुत राजसूययज्ञ, देवसभाओं को भी अपने वैशिष्ट्य से लज्जित कर देने वाली आपकी यह दिव्यसभा (मयद्वारा विनिर्म्मित सभाभवन) एकमात्र मेरे ही ओज का प्रभाव था । सुदृढ़ मत्स्यबाणसहित तना हुआ बाणयुक्त मेरा धनुष, मेरा ओज, इन सब का ही तो यह प्रभाव था कि, राजसूययज्ञ को सफल बना डालना, दिव्यसभा का निर्म्माण करा डालना, सब-कुछ मेरे हाथों में एक बिन्दुवत् समा रहे थे । (अर्थात् यह तो मेरे बाहुबल का क्रीडाकौशलमात्र था) ॥ (१४८)—रथारूढ़ सुदृढ़ पैरों के प्रचण्ड आघात ने, मेरी अप्रतिम रथध्वजा ने कैसे कैसे युद्धों में विजय प्राप्त की

---

* असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
—ईशोपनिषत् ।

है, यह अप्रतिम है। मैंने उदीच्य-प्रतीच्य-प्राच्य-दाक्षिणात्य-चारों दिशाओं के वीर योद्धाओं को अपने इस अप्रतिम पराक्रम का स्वाद चखाया है ॥

(१४६)—अपने प्रचण्ड पराक्रम में लोकविश्रुत-प्रसिद्ध संशप्तकों के महावीर-दल में से अब कुछ ही शेष रह गए हैं। कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में युद्ध के लिए समुपस्थित शत्रुदल की एकादश अक्षौहिणी सेना में से प्रायः आधी सेना का तो मैंने ही संहार कर डाला है। देवसेना के साथ समता करने वाली इस भारतीय सेना का षष्ठभाग आज मेरे द्वारा सदा के लिए धरातल पर निद्रानिमग्न बन गया है ॥ (१५०)—इस महासमर में जो महारथी मन्त्रपूत देवविद्यात्मक अस्त्रों के स्वरूप से परिचित हैं, मैं उन्हें अपने देवविद्यात्मक उनसे भी कहीं प्रचण्ड पाशुपतादि महास्त्रों से भस्मसात् कर देता हूँ।

(इस प्रकार युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर मत्पत्रक्रम से यशोगान करने के अनन्तर अब अर्जुन वासुदेवकृष्ण को लक्ष्य बनाकर परोक्ष रूप से युधिष्ठिर को अपना महिमा-वर्णन सुनाने के अभिप्राय से कहते हैं कि—)—" हे वासुदेव कृष्ण ! भीमाकार जयशील, अतएव 'जैत्र' नाम से प्रसिद्ध सुविशाल रथ में (आप जैसे त्रैलोक्याप्रतिम सारथिश्रेष्ठ के सारथित्व में) आरूढ़ होकर अब अपन शीघ्र से शीघ्र सूतपुत्र कर्ण का संहार करने के लिए समरभूमि में चल ही तो रहे हैं ॥ (१५१)—हे कृष्ण ! धर्मराज युधिष्ठिर भले ही आज से ही अपने आपको राजा मान लें, क्योंकि समरभूमि में आज निश्चयेन अपने गाण्डीवधनुष से विनिर्गत सुतीक्ष्ण बाणों से मैं कर्ण का विनाश करने ही वाला हूँ"। सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार कृष्णव्याज से परोक्षरूपेण युधिष्ठिर को अपना महत्त्व सुनाकर पुनः युधिष्ठिर को ही पूर्ववत् साक्षात्रूपेण लक्ष्य बनाते हुए धर्मभृतांवरिष्ठ युधिष्ठिर से अर्जुन कहने लगे कि—

(१५२)—हे धर्मराज युधिष्ठिर ! आप यह निश्चय मानिए कि, प्रथम तो आज 'सूतमाता' (कर्णमाता) कुन्ती अपुत्रा बन जायगी। यदि कारणवश हम युद्धशय्या में सदा के लिए आरूढ़ होगए, तो 'अर्जुनमाता' कुन्ती अपुत्रा बन जायगी। कुन्ती दोनों में से किसी न किसी एक पुत्र के हनन से अपुत्रा अवश्य बना दी जायगी ॥

(१५३)—सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अपना दृढ़ निश्चय युधिष्ठिर के प्रति अभिव्यक्त कर, धर्मभृतांवरिष्ठ युधिष्ठिर को ही पुनः लक्ष्य बनाकर पार्थ अर्जुन ने अपने सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रों का परित्याग कर, धनुष को हटाकर, खड्ग और तूणीर एक ओर रखकर ॥ (१५४)—बड़ी ही लज्जापूर्वक अवनतशिरस्क बनते हुए अञ्जलि बाँधकर (दोनों हाथ जोड़कर) कहने लगे कि—हे धर्मराज ! अब आप मुझ पर अनुग्रहदृष्टि कीजिए। मैंने आपके प्रति जो परुष कहने की धृष्टता कर डाली, उन्हें क्षमा करते हुए मुझ पर प्रसन्न बनें। मैंने इस समय जो कुछ भी आक्रोश अभिव्यक्त किया है, उस के मूल में मेरी कोई दुर्भावना न थी, जैसा कि कालान्तर में स्वयं आपको अनुभव हो जायगा। मैं, आपको कृताञ्जलि बन कर नमन कर रहा हूँ आपके चरणों में ॥ (१५५)—सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अपने साञ्जलि-बन्ध प्रणतभाव से अपने शत्रुओं के आक्रोश को भी अपनी सहनशीलता के कारण सहने वाले सहनशील

युधिष्ठिरराज को प्रसन्न कर थोड़ा स्वस्थ–स्थिरमना बनते हुए वीर श्रेष्ठ अर्जुन पुनः धर्मराज को सम्बोधन करते हुए कहने लगे कि, हे युधिष्ठिर ! अब आप कर्णचिन्ता की ओर से सर्वथा निश्चिन्त बन जाइए। अब अधिक विलम्ब नहीं है। बहुत ही शीघ्र अब सब कुछ आपकी इच्छा के अनुरूप ही होने वाला है। मैं अब जा ही रहा हूँ उस कर्ण को लक्ष्य बना कर ॥ (१५६)—सर्वप्रथम तो प्रचण्ड–वेग से युद्धकर्म में रत भीम को (थोड़ा विश्राम लेने के लिए) युद्धकर्म से उन्मुक्त करता हूँ और पुनः आपको प्रसन्न करने के लिए सूतपुत्र कर्ण को मारने का उपक्रम करता हूँ। राजन् ! आप इस अर्जुन की यह सत्य प्रतिज्ञा ही समझिए। मैं जीवितदशा में–आत्मसाक्षी से यह प्रतिज्ञा कर रहा हूँ ॥

(१५७)–सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार कर्णविनाशार्थ समरभूमि में जाने के लिए कृतसंकल्प कृतप्रतिज्ञ, ऐसी वीरप्रतिज्ञा के आवेश से तेजोमय बनते हुए किरीटी अर्जुन धर्मराज युधिष्ठिर के दोनों चरणों का स्पर्श कर खड़े हो गए। (यह तो हुई अर्जुन की तुष्टि की गाथा। हे धृतराष्ट्र ! अब युधिष्ठिर की सामयिक गाथा सुनिए।)। धर्मराज पाण्डव इस प्रकार अपने अनुज फाल्गुन अर्जुन की तीव्रोपपर्याप्ता परुष–वाणी सुन कर ॥ (१५८)—सहसा अपनी शय्या॰ से उठ खड़े हुए, एवं दुःखसंविग्नमानस बनते हुए अर्जुन से इस प्रकार कहने लगे कि—

हे पार्थ अर्जुन ! वास्तव में हमने यह कोई शुभ कर्म नहीं किया, जो कि तुम्हारे कथनानुसार सर्वथा निकृष्ट 'द्यूत' जैसे घोर व्यसन का अनुगमन कर डाला (जिस इस हमारे दुर्व्यसन से आज तुम सब की ऐसी दुरवस्था हो गई है) ॥ (१५६)—अतएव अर्जुन ! हम तुम्हें यह आदेश दे रहे हैं आज कि, तुम अपने खड्ग से इस पापात्मा पापपूर्ण द्यूतव्यसन में संलग्न सर्वथा हतबुद्धि–विमूढ़–महाआलसी–अकर्मण्य अत्यन्त डरपोक–अपने कुल के क्षय के निमित्तरूप–अधमपुरुष–मुझ युधिष्ठिर का मस्तक काट ही डालो ॥ (१६०)—अर्जुन ! मैं तुम से अनुरोध कर रहा हूँ कि, अपने से ज्येष्ठ पुरुष के अपमान करने में कुशल तुम अर्जुन को अब इस मेरे शिरश्छेदरूप पुण्यकर्म में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। इस निष्ठुर रूढ़ अपने ज्येष्ठभ्राता का अब अधिक समय पर्य्यन्त गतानुगतिक बने रहना उचित नहीं तुम जैसे बुद्धिमान् के लिए। (यदि तुम में खड्ग से मेरे मस्तक काटने का साहस नहीं है, तो यह पापात्मा तेरा ज्येष्ठभ्राता स्वयं सबकुछ परित्याग कर अरण्य में चला जाता है। मुझ जैसे पापात्मा के दुष्ट सङ्ग से विमुक्त होकर अब भविष्य के लिए तुम लोग सुखी बनो, पुण्य–सञ्चय करो, यही मेरी कामना है ॥ (१६१)—तुम तो स्वयं यह प्रकट कर ही चुके हो कि, तुम्हारा ज्येष्ठभ्राता भीमसेन मुझ से कहीं अधिक योग्य है, शूर है, पराक्रमी है। ऐसी स्थिति में मुझ जैसे स्त्रैण–कापुरुष–हीनवीर्य्य–भीरु–युधिष्ठिर का राज्यपद से क्या सम्बन्ध ? अर्जुन ! बस करो, क्षमा करो मुझे तुम। अब

॰कर्णशरामिसन्तप्त युधिष्ठिर युद्धभूमि से पराङ्मुख बन कर अपने युद्ध के विश्रामस्थल में शय्या पर विश्राम कर रहे थे। इसी अवस्था में अर्जुन ने इनकी भर्त्सना की थी।

में कोपाविष्ट तुम्हारे इन क्रूर वचननाकुप्रहारों को सहने के लिए अधिक शक्ति नहीं रखता ॥ (१६२)—अब मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि, भीमसेन ही राज्यपद पर आसीन हों। हे वीर अर्जुन! सर्वथा अपमानित अब मेरे लिए अधिक समय पर्यन्त जीवित रहना सर्वथा व्यर्थ है।

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अर्जुन को लक्ष्य बना कर उक्त मन्तव्य प्रकट करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर सहसा खड़े हो ही तो गए। शय्या छोड़ कर आवेशपूर्वक नीचे उतर आए ॥ (१६३)-(१६४)—एवं (सब मुख्य शस्त्रास्त्रादि परिग्रहों का परित्याग कर वानप्रस्थी की भाँति) वनगमन के लिए उद्यत हो ही तो पड़े। (इस भयावह कायड को लक्ष्य बना कर तत्काल एकान्तनैष्ठिक अतिमानव भगवान्) वासुदेव कृष्ण ने बड़े ही प्रणतभाव से निम्नलिखित रूप से युधिष्ठिर का उद्बोधन आरम्भ किया—

वासुदेव कहने लगे कि, राजन्! गाण्डीवधनुर्धारी अर्जुन ने अपने गाण्डीवधनुष के सम्बन्ध में जो यह प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि—"जो मुझे यह कह देगा कि, तू तेरा गाण्डीवधनुष दूसरे को दे दे, वह पुरुष मेरे लिए वध्य है", उस प्रतिज्ञा का स्वरूप आप जान ही चुके हैं। अपनी उस प्रतिज्ञा के आवेश को उपशान्त करने के लिए अर्जुन ने इस प्रकार आपकी भर्त्सना कर डाली है। एवं इस भर्त्सनारूप उपाय के माध्यम से अर्जुन ने अपनी भावुकतापूर्णा प्रतिज्ञामात्र पूरी की है ॥ (१६५)—सो भी राजन्! अर्जुन ने अपनी इच्छा से नहीं अपितु—"बड़े ज्येष्ठ पुरुषों का अपमान कर देना ही उनकी मृत्यु है" मेरे इस सुझाव के आधार पर ही (मच्छन्दात्) अर्जुन ने आपका अपमान कर डालने का साहस किया है। जिसमें वस्तुतः अर्जुन का कोई दोष नहीं है। यदि दोष है भी, तो मेरा ॥ (१६६)—इसलिए हे राजन्! हे महाबाहो युधिष्ठिर! आप मेरे, और पार्थ अर्जुन के दोनों के सत्यप्रतिज्ञासंरक्षणादप्ता कृत अपराध के लिए जो भी दण्ड-नियम करें, उसे अवनतशिरस्क बन कर हम दोनों सहन करने के लिए सन्नद्ध हैं ॥ (१६७)—हे महाराज! हम दोनों आज आप के शरण में समागत हैं। आप हमें इस अपराध के लिए क्षमा करें। हम सर्वथा प्रणतभाव से आप से यह क्षमा-भिक्षा माँग रहे हैं ॥ (१६८)—साथ ही आपको यह विश्वास दिला रहे हैं कि, कुरुक्षेत्र की समरभूमि अब अवश्य राधेय कर्ण के शोणित का पान कर तृप्त बनेगी। यह कृष्ण आज आप से यह सत्य प्रतिज्ञा कर रहा है कि, (जिस कर्ण के माध्यम से ऐसा विषम वातावरण बन गया है वह) कर्ण आज अवश्य ही मारा जायगा। (१६९)—आपकी जैसी भी इच्छा है, तदनुसार ही आप समझ लीजिए कि, अब कर्ण की जीवनलीला समाप्त हो गई है ॥

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार भगवान् कृष्ण के सर्वथा विनयभावापन्न उक्त वचन सुन कर धर्मराज युधिष्ठिर (१७०)—सहसा सम्भ्रम में पड़ गए (कुण्ठित से बन गए) सहसा आगे बढ़े। एवं प्रणतभावापन्न वासुदेवकृष्ण को उठा लिया, इनके सम्मुख हाथ जोड़ कर प्रणतभाव से यह कहने लगे कि—

(१७१)—भगवन् ! आपने जैसा अभी जो कुछ कहने का अनुग्रह किया, वास्तव में यह सब कुछ मेरा अतिक्रम ही मान लें भगवन् । हे गोविन्द ! आपने आज इस युधिष्ठिर को सचमुच में अपना लिया है । हे माधव ! आज आपने इसे वास्तव में पापकर्म्म से बचा लिया है ॥ (१७२)—हे अच्युत ! आज आपने हम पाण्डवों का इस घोरकर्म्म से सन्त्राण कर लिया है । आपको अपना संरक्षक प्राप्त कर हम दोनों आज इस महा भयानक दुष्कर्म्मसागर से पार हो गए हैं ॥ (१७३)—सर्वथा अज्ञानविमोहित हम दोनों एकमात्र आपकी निष्ठाबुद्धिवलरूपा नौका को प्राप्त कर दुःखशोक–परिपूर्ण इस पार्थिव अर्णवसमुद–दुःखसमुद्र से हमने सन्तरण कर लिया है ॥ (१७४)—न केवल हम दोनों ही, अपितु सम्पूर्ण सेना के साथ, अपने मन्त्रिगणों के साथ, किंवा सबके साथ हम इस दुःखार्णव में डूबते–डूबते एकमात्र आपके अनुग्रह से सुरक्षित बच निकले हैं । हे अच्युत भगवन् ! सचमुच आज पाण्डव आपको प्राप्त कर सनाथ हैं ।

(१७५)–(१७६)–(१७७)–(१७८)—सञ्जय कहने लगे कि, धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रीतिपूर्ण–विनय भावापन्न–उक्त उद्गार सुन कर (युधिष्ठिर की ओर से तो भगवान् निश्चिन्त हो गए, किन्तु अभी एक उद्देश्य शेष रह गया । उस उद्देश्य को लक्ष्य बना कर) धर्म्मात्मा धर्म्मसंरक्षक यदुनन्दन गोविन्द के लिए अर्जुन से और भी कुछ कहना अनिवार्य बन गया । (हे धृतराष्ट्र ! पूर्व में यह कहा जा चुका है कि, अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए वासुदेव कृष्ण की प्रेरणा से युधिष्ठिर के प्रति परुषवाणी का प्रयोग करने के अनन्तर पार्थ अर्जुन उसी प्रकार उद्विग्न–क्षुब्ध–खिन्नमना बन गए थे, जैसे कि पापकर्म्माचरण के अनन्तर सात्त्विक मानव विमना बन जाया करता है । (अर्जुन इसी पाप से तो आत्महत्या के लिए सन्नद्ध हो पड़े थे । इसी सङ्कट से उन्मुक्त करने के लिए तो कृष्ण ने अर्जुन को यह आदेश दिया था कि, 'तू अपने मुख से अपनी बड़ाई कर । यही तेरा प्रायश्चित है' । तदनुसार ही अर्जुन ने किया था । इसी अवसर में सहसा युधिष्ठिर रुष्ट हो गए । उन्हें प्रणतभाव द्वारा प्रसन्न किया गया । इस प्रकार इस प्रसङ्ग में इन दोनों की सहज भावुकता के कारण परस्पर विरुद्ध ऐसे प्रसङ्ग उपस्थित हो गए कि, दोनों तुष्ट भी हुए, तो रुष्ट भी हुए । सर्वात्मना अभी दोनों का हृदयसम्मिलन नहीं हो सका । इस शेष उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ही सर्वप्रथम) अर्जुन को लक्ष्य बना कर मानों इसकी बालसुलभ सहज भावुकता का उपहास ही करते हुए वासुदेव कहने लगे—'ततोऽब्रवीद् वासुदेवः प्रहसन्निव पाण्डवम्' (स्पष्टम्)॥

वासुदेव कहने लगे कि, हे अर्जुन ! यह तो सम्भव ही कैसे था कि, तू अपने उत्तानित खड्ग से धर्म में व्यवस्थित धर्म्मराज युधिष्ठिर को अपनी उपांशुप्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए मार डालता । अत-एव इस सम्बन्ध में खड्गवधप्रसङ्ग की उपेक्षा कर हमारे सुझाव के अनुसार 'त्वम्' इस अपमानात्मक सम्बोधन से तुमने युधिष्ठिर की गर्हणा करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पूरी की । इस प्रतिज्ञापूर्त्ति के अनन्तर तुमने यह अनुभव किया कि, अपने ज्येष्ठबन्धु का अपमान कर इस अर्जुन ने बहुत बड़ा पाप कर डाला है । इसी काल्पनिक आवेश से पुनः तू कश्मलभावापन्न बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ होकर आत्महत्या के लिए सन्नद्ध हो पड़ा ॥

(१७९)—पार्थ अर्जुन ! धर्मराज युधिष्ठिर को यदि वास्तव में खड्ग से ही तू मार डालता, तो उस दशा में तू कौनसा प्रायश्चित्त करता ?। इसीलिए तो हमने कहा है कि, सामान्यप्रज्ञ सामान्य मानवों के लिए धर्म्म का सूक्ष्मरहस्य दुर्विज्ञेय ही बना रहता है ॥ (१८०)—यदि तू अपनी 'धर्म्मभीरुता' के आवेश से प्रतिज्ञापालन के लिए सत्र से युधिष्ठिर का वध कर डालता, साथ ही प्रायश्चित्तस्वरूप तू स्वयं भी यदि अपनी कल्पना से आत्महत्या कर बैठता, तो कल्पान्तपर्य्यन्त उस असुर्य्य नरकगति में तुझे रहना पड़ता, जहाँ से पुनरावर्त्तन सम्भव नहीं है ॥ (१८१)—अस्तु, तुमने भावुकतावश अब तक जो कुछ वैसा कुछ किया, वह इस लिए क्षम्य है कि, हमारी प्रेरणा के अनुसार उस महत्पातक से बचे रहने के उपायों को तुमने मान्यता प्रदान कर दी। अब हमारी ओर से इस प्रसङ्ग में एक प्रेरणा और शेष रह गई है। वह यही है कि, यद्यपि हमारे अनुरोध से युधिष्ठिर ने वनगमन का संकल्प तो छोड़ दिया है। किन्तु वे अभी तुझ पर पूर्णरूपेण प्रसन्न नहीं हुए हैं। अब तेरा यही कर्म्म शेष रह जाता है कि, अपने प्रणतभाव से, विनयावनता वाणी से धर्म्मराज कुरुश्रेष्ठ उस युधिष्ठिर को प्रसन्न कर, यह मेरा अपना मन्तव्य शेष है—'प्रसादय कुरुश्रेष्ठ-मेतदत्र मतं मम' ॥ (१८२)—सावधान ! यह प्रसाद-कर्म्म तुझे आत्मप्रपन्नलक्षणा—प्रपत्तिलक्षणा भक्ति के माध्यम से अन्तःकरण से श्रद्धापूर्वक करना है। युधिष्ठिर को जब तू इस प्रकार भक्तिपूर्वक प्रसन्न कर लेगा, तो जानता है तदनन्तर अपन क्या करेंगे ?। बस तत्काल अपन बहुत शीघ्र सूतपुत्र कर्ण के वध के लिए यहाँ से रथ पर चढ़कर चल ही तो पड़ेंगे+ ॥ (१८३)—वहाँ चलकर क्या करेंगे ?, जानते हो तुम ?। नहीं, तो सुनो ! युद्धभूमि में तुम अपने सुतीक्ष्ण बाणों से कर्ण का वध कर डालोगे। और इस प्रकार मानाह धर्म्मराज युधिष्ठिर से तुम महत्तम-महत् प्रीति प्राप्त कर लोगे (युधिष्ठिर के अपमान का प्रायश्चित्त यह नहीं है कि, तुम आत्महत्या कर लो। जिस कर्ण के कारण वे सन्तप्त हुए हैं, अपमानित हुए हैं, जिस निमित्त को—कर्ण को—परोक्ष कारणता से तुमने निमित्त बनाते हुए युधिष्ठिर का अपमान कर डाला है, उस कर्ण का संहार ही इस अपमानरूप पाप का वास्तविक प्रायश्चित्त माना जायगा। यही तुम्हें आज करना है। किन्तु इससे पूर्व युधिष्ठिर को प्रसन्न कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर लेना है) ॥ (१८४)—हे महाबाहो अर्जुन ! यही मेरा इस अवसर के लिए सर्वथा उपयुक्त, एवं आवश्यक अभिमत है। ऐसा कर लेने पर ही, ऐसा करके ही तुम्हारी अभीष्टसिद्धि (कर्ण-संहार) शक्य बन सकेगी।

(१८५)—सञ्जय कहने लगे कि, हे महाराज धृतराष्ट्र ! (वासुदेव कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिरप्रसाद प्राप्तिरूप प्राप्तकाल अनिवार्य्य कर्म्म की प्रेरणा प्राप्त कर) अर्जुन लज्जा से अवनतशिरस्क बनते हुए

+ " मेरे राजा ! तुम मानलो मेरा यह कहना। देखो तो, फिर अपन साथ साथ उत्सव में चलेंगे, खेल देखेंगे" इत्यादि उपलालनमात्र से ही तो भावुक के बालमात्र की भावुकता सुरक्षित रहा करती है।

धर्मराज के चरणों में अपने आपको प्रणतभाव से समर्पित कर—(१८६)—भरतश्रेष्ठ धर्मराज के प्रति 'आप मुझ पर प्रसन्न हों, क्षमा करें मेरा अपराध' यह बार बार अभिव्यक्त करते हुए कहने लगे कि—

हे राजन्! धर्मकाम इस भीरु (धर्मभीरु)' अनुज अर्जुन ने आपके प्रति जो कुछ परुष कहने की धृष्टता की है, इसके लिए आप इस धर्मभीरु को क्षमा करें ॥

(१८७)-(१८८)—सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने अनुज धनञ्जय को, इस शत्रुहन्ता कनिष्ठ भ्राता को अविरल अश्रुपात* करते हुए-अब अपने चरणों में पड़ा देखा तो, (सहज भावुक युधिष्ठिर ने सर्वात्मना विगलित होते हुए) अर्जुन को उठा लिया, वक्षस्थल से समन्वित कर लिया, एवं स्वयमपि युधिष्ठिर उच्चस्वर से रो पड़े ॥ (१८९)—चिर काल पर्यन्त दोनों भ्राता दोनों से संश्लिष्ट बने रहते हुए रुदन करते रहे। दोनों अपनी मूर्खतापूर्णा भावुकता के लिए पश्चात्ताप अभिव्यक्त करते रहे। हे महाराज धृतराष्ट्र! इस प्रकार दोनों का आवेश मनोमालिन्य इस रुदन से उपशान्त हो गया, एवं अन्ततोगत्वा दोनों परस्पर प्रीतियुक्त बन गए ॥ (१९०)—(दोनों के इस प्राप्तकाल सहज आवेश के सुशान्त होने पर) धर्मराज युधिष्ठिर अर्जुन का समालिङ्गन कर बड़े ही वात्सल्यप्रेम से मस्तकाघ्राण कर निरतिशय वात्सल्यप्रेम से सयुक्त बनते हुए स्वयं अपनी और अर्जुन की पूर्वभुक्ता, तथा वर्त्तमान परस्परात्यन्तविरुद्धा पूर्वापरस्थितियों के संस्मरण-दर्शन से पुनः पुनः विस्मय करते हुए अपने अनुज महेष्वास अर्जुन से कहने लगे कि—

(१९१)-(१९२)-(१९३)-(१९४)—हे महाबाहो अर्जुन! (अब तुम्हें यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि) सम्पूर्ण सेना के देखते देखते कर्ण ने अपने सुतीक्ष्ण बाणों से तुम्हारे इस ज्येष्ठ भ्राता के कवच-ध्वजा-धनुष-शक्ति-अश्व-तूणीर बाणसमूह-काट फैंके। हे महेष्वास! मैं युद्ध में अपने आपको सम्भालूँ-इससे तो पहिले ही उस दुरात्मा कर्ण ने मुझे सम्पूर्ण युद्धपरिग्रहों से शून्य बना कर मुझे सर्वात्मना क्षत-विक्षत कर डाला। इस प्रकार युद्ध में कर्ण के उस प्रचण्ड रणकौशल को भलीभाँति जान कर मैं अपने अन्तःकरण में निरतिशयरूपेण सन्तप्त हो गया हूँ। मुझे अपना जीवित रहना भी रुचिकर प्रतीत नहीं हो रहा। अर्जुन! तुम्हें मेरी इस बात पर विश्वास कर लेना चाहिए कि, यदि तू उस अप्रतिम वीर कर्ण को युद्ध में न मार डालेगा, तो मैं अपने प्राण विसर्जित कर दूँगा। कर्ण की विद्यमानता में मेरे जीवित बने रहने का अर्थ ही क्या रह जाता है ॥

---

* यह है भावुकों की भावुकता के हृदयग्रन्थिमिलन का अन्तिम परिणाम। यदि दुर्भाग्य से भावुकों का परस्पर समन्वय नहीं होता, तो दोनों का सर्वनाश हो जाता है, दोनों ही दोनों के सर्वनाश में प्रवृत्त हो जाते हैं। यदि सौभाग्य से किसी नैष्ठिक के माध्यम से दोनों समन्वित हो जाते हैं, तो दोनों ही विगलित होकर गला मिलाकर रोने लगते हैं, जैसे कि भावुक बालक, एवं भावुक स्त्रियाँ।

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा उद्बुद्ध उपलालित अर्जुन (कर्णवध की प्रतिज्ञा से धर्मराज को निश्चिन्त बनाते हुए) कहने लगे कि—(१६५-१६६)—हे राजन्! आपकी शपथपुरस्सर एकमात्र आपके ही आशीर्वाद के बल पर आपका यह अनुज प्रतिज्ञा कर रहा है कि, "भीमसेन, तथा नकुल-सहदेव के सहयोग से युद्धभूमि में आज मैं उस कर्ण का निश्चयेन वध करूँगा, जिसने आपको यों सन्तप्त किया है। मैं मर भले ही जाऊँ, किन्तु उसे भूमिसात् अवश्य कर दूँगा", यह प्रतिज्ञा-सत्यसंतग्रहण-अपने गाण्डीवधनुष का स्पर्श करता हुआ मैं आपके सम्मुख व्यक्त कर रहा हूँ।

(१६७)—सञ्जय कहने लगे कि, सत्यप्रतिज्ञा से युधिष्ठिरराज को इस प्रकार सन्तुष्ट कर वासुदेव की ओर अभिमुख बनते हुए अर्जुन कहने लगे कि, हे कृष्ण! मैं आज युद्ध में अवश्य ही कर्ण का संहार करूँगा, इसमें आप कुछ भी सन्देह न करें * ॥ (१६८) किन्तु इस कर्म में सफलता प्राप्त होगी एकमात्र आपके बुद्धिबल से ही। भगवन्! आपके लिए मैं मङ्गलकामना कर रहा हूँ। आप वैसा अनुग्रह कीजिए, जिसके बल पर मैं उस दुरात्मा का संहार कर सकूँ ॥ सञ्जय कहने लगे कि—अर्जुन के इस प्रकार अनुनय करने पर वासुदेव पुनः अर्जुन से यों कहने लगे कि—(१६९-२००)—हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! हम मानते हैं कि, तुम महाबली कर्ण के संहार में समर्थ हो। किन्तु हे महारथ! 'तुम युद्ध में अपने प्रतिद्वन्द्वी कर्ण का संहार किस कौशल से करोगे?' इस मीमांसा के उत्तरदायित्त्व से पूर्णरूपेण तुम्हें परिचित हो ही जाना चाहिए। (क्योंकि कर्णसंहार कर डालना कोई बालकर्म नहीं है) ॥

---

*क्षण क्षण में आवेश, क्षण क्षण में शान्ति, पूर्वक्षण में आवेश, उत्तरक्षण में शान्ति, तदुत्तरक्षण में पुनः आवेश, पुन प्रतिज्ञाभोग्यता, शपथग्रहण, आदि सम्पूर्ण तात्कालिक भाव एकमात्र उस मानसिक अनुभूति के ही भावुकतापूर्ण दुष्परिणाम हैं, जिनका अन्त एकमात्र सर्वनाश को ही लक्ष्य बनाता है। अपनी केवल एक उपांशु प्रतिज्ञा, भावुक अर्जुन की केवल एक उपांशु प्रतिज्ञा के कारण ही तो आज सम्पूर्ण पाण्डव सर्वनाश के अतिथि बनने जा रहे थे। यह काण्ड जैसे-तैसे कृष्ण के बुद्धिबल से अभी पूर्णरूपेण शान्त भी नहीं होने पाया था कि, दोनों भावुकों ने पुनः आवेश में आकर नवीन प्रतिज्ञाएँ कर डालीं। एक ने (युधिष्ठिर ने) यह प्रतिज्ञा कर डाली कि—(१६१)—"यदि तू आज युद्ध में कर्ण का संहार न करेगा, तो मैं अपने प्राण ही छोड़ दूँगा"। उधर भावाविष्ट अर्जुन पुनः यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि—"मैं आपके चरण स्पर्श कर यह सत्य प्रतिज्ञा कर रहा हूँ कि, आज कर्ण का संहार किए बिना मैं युद्ध से ही परावर्त्तित नहीं होऊँगा"। भगवान् अनुमान कर रहे थे भावुकों की भावुकतापूर्ण इस भावुक प्रतिज्ञा के भावी परिणाम का। किन्तु यह अवसर नहीं था, इस सम्बन्ध में उद्बोधन कराने का। यहाँ तो भगवान् ने केवल—'कथं भवान् रणे कर्णं निहन्यात्' इत्यादि रूप से परोक्षरूप से अर्जुन का ध्यान इस भीषण प्रतिज्ञा के भावी भीषण दुष्परिणाम की ओर आकर्षितमात्र कर दिया है। कर्ण का वध स्वयं भगवान् भी एक महती समस्या मान रहे थे। और यह यथार्थ है कि, कर्ण के अमुक शरप्रहार के समय यदि भगवान् रथ को भूमि में निमज्जित न कर देते, तो तत्काल कर्णद्वारा प्रक्षिप्त शर अर्जुन का

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार (परोक्षरूप से अर्जुन का उद्बोधन कराने के अनन्तर) वासुदेव कृष्ण अर्जुन से कहने लगे कि, (२०१)—हे अर्जुन ! कर्णशराभिताप से सन्तप्त, कर्ण की ओर से पाण्डवविजय में सशङ्कित भयसन्त्रस्त युधिष्ठिर को तुम सान्त्वना प्रदान करो, एवं दुरात्मा कर्ण के संहार के लिए इस ज्येष्ठ महात्मा पुरुष का आशीर्वाद प्राप्त करो ॥ (२०२)—अर्जुन ! तुम्हें इस प्रकार—इस कौशल से—युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करना है कि,—"हे पाण्डुनन्दन धर्मराज ! जब मैंने और कृष्ण ने युद्धभूमि में यह सुना कि, आप दुरात्मा कर्ण के शरों से उत्पीड़ित होकर विश्राम करने चले गए हैं, तो हम दोनों को बड़ी चिन्ता हुई। तत्काल युद्ध को छोड़कर हमें सर्वप्रथम आपके समीप आपकी कुशलक्षेमजिज्ञासा के लिए आजाना पड़ा (नहीं तो, हम कर्ण का संहार करके ही आपके दर्शन करते) ॥ (२०३)—हे राजन् ! आप अपनी सहज विशाल दृष्टि से हम पर अनुग्रह करें। हमें अनुग्रहपूर्वक अपनाएं। आप हमें जयलाभ का आशीर्वाद प्रदान करें" । (अर्जुन ने इसी प्रकार भीरुस्तु (भयग्रस्त) युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान की। इस सान्त्वना से निर्भय बनते हुए युधिष्ठिर गद्‌गद होकर अर्जुन से कहने लगे कि—)

(२०४)—अपने ज्येष्ठभ्राता के आक्रोश से भयग्रस्त बने हुए हे पार्थ अर्जुन ! आओ ! आओ !! मेरा समालिङ्गन करो पाण्डुपुत्र !!! मैंने तुम्हारी भर्त्सना नहीं की है। अपितु जिससे तुम में शौर्य्य का उदय हो, वैसी हितवाणी का ही प्रयोग किया है। तुम भी अपने आक्रोश को भूल जाओ, एवं मैं भी अपनी गर्हणा को विस्मृत कर देता हूँ ॥ (२०५)—मैं जानता हूँ अर्जुन तुम्हारे मनोभावों को,

— १०८ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश —

शिरश्छेद कर डालता। एवमेव यदि कौशलपूर्वक भगवान् एकपुरुषघातिनी शक्ति से घटोत्कच का संहार न करवा डालते, तो कर्ण निश्चयेन अर्जुन की जीवन-लीला समाप्त कर देते। अर्जुन की अपेक्षा कर्ण का पराक्रम कैसा और क्या था ?, इसके ज्ञाता तो भगवान् ही थे। अतएव इस वर्त्तमान क्षोभात्मक वातावरण के सुशान्त होने के अनन्तर भगवान् को कर्ण, तथा कर्ण के त्रैलोक्याप्रतिम सारथी शल्य का स्वरूप-परिचय कराते हुए अर्जुन का उद्बोधन कराना पड़ा है, जैसाकि तत्प्रकरण के निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों से प्रमाणित है —

> अवश्य तु मया वाच्य यत् पथ्य तव पाण्डव !
> मावमस्था महाबाहो ! कर्णमाहवशोभिनम् ॥
> त्वत्सम—त्वद्विशिष्ट वा कर्णं मन्ये महारथम् ॥
> सर्वैरवध्यो राधेयो देवैरपि सवासवै ॥
> अशक्यः सरथो जेतु सर्वैरपि युयुत्सुभिः ॥
>
> इत्यादि

वास्तविक सौम्य को। हे धनञ्जय ! कर्ण पर विजय प्राप्त करो। मैंने आवेश में आकर तुम्हें जो कुछ कटु-वचन कह दिए, उनके प्रति रोष मत करो ॥

(२०६-२०७)—सञ्जय कहने लगे कि, (युधिष्ठिर के स्नेहालिङ्गन से वस्तुगत्या अपने आक्रोश को विस्मृत करते हुए) अर्जुन शिरसा प्रणत बन गए। दोनों हाथों से ज्येष्ठभ्राता के चरण पकड़ लिए। इसे इस प्रकार प्रणत देख कर युधिष्ठिर ने उठा लिया, अपने से समालिङ्गित कर लिया, मस्तकाघ्राण-पूर्वक पुन युधिष्ठिर कहने लगे कि—(२०८)—हे धनञ्जय ! हे महाबाहो ! तुमने मुझे आज सर्वात्मना सम्मानित कर दिया है। मेरा तुम्हें यही आशीर्वाद है कि, तुम युद्ध में यश प्राप्त करो, शाश्वत विजय प्राप्त करो ॥

(२०९)—(ज्येष्ठभ्राता के आशीर्वाद से अपने आपको कर्णवध के लिए सर्वसमर्थ अनुभव करते हुए) अर्जुन कहने लगे कि, हे धर्मराज ! अपने बाहुबल से बलगर्वित बने हुए पापात्मा पापकर्मा राधेय कर्ण को उसके पुत्रादि सहित मैं आज नि शेष कर डालूँगा ॥ (२१०)—जिन सुतीक्ष्ण शरों से उस दुरात्मा ने दृढरूप से धनुष तान कर आपको पीड़ित किया है, उस कुकर्म का फल-दारुणफल-आज मेरे द्वारा युद्धभूमि में कर्ण अवश्य प्राप्त कर लेगा ॥ (२११)—हे महीपते ! मैं तो आज इसी समय आपके कर्ण का सहारकर्तारूप से ही दर्शन कर रहा हूँ। (आप समझ लीजिए-अर्जुन ने कर्णसंहार कर दिया ॥ (२१२)—आप यह विश्वास रक्खें कि, संग्राम में कर्ण का संहार किए बिना आज अर्जुन विनिवर्तित नहीं होगा, यह सत्यप्रतिज्ञा मैं आपके चरणों का स्पर्श करके कर रहा हूँ ॥

सञ्जय कहने लगे—(२१३)—कि, अर्जुन की इस प्रकार की सत्यप्रतिज्ञा सुनकर सुमना-स्वस्थ बनते हुए युधिष्ठिर किरीटी अर्जुन को लक्ष्य बनाकर बृहत्तर (महत्त्वपूर्ण) आशीर्वचन अभिव्यक्त करते हुए कहने लगे कि—मैं तुम्हारे अक्षय यश की कामना कर रहा हूँ, तुम्हारे जीवन की कामना कर रहा हूँ, तुम युद्ध में सदा जयलाभ करो, तुम्हारे शत्रु नष्ट हो जायँ ॥ (२१४)—मङ्गलगमन करो मेरे प्रिय अनुज अर्जुन, आकाश के देवता तुम्हारे लिए ऋद्धि-वृद्धि-समृद्धिप्रदाता बनें, मैं जैसी (कर्णवध) कामना कर रहा हूँ, तुम्हारे लिए वही कामना सफल हो। शीघ्र युद्ध के लिए प्रस्थान करो, पाण्डववंश की सर्वसमृद्धि के लिए समरभूमि में कर्ण का उसी प्रकार संहार करो, जैसे कि देववंश की समृद्धि के लिए तुम्हारे अशी इन्द्र ने वृत्रासुर का संहार किया था ॥

—श्लोकार्थसमन्वय उपरत—

वीर-करुणा-अद्भुत-हास्य-बीभत्स-भयानक-आदि साहित्योपवर्णित मनोनिरूपण, अतएव भावुकतापूर्ण रसों से समन्वित उक्त रोमहर्षणक तृतीयोदाहरणात्मक महाभारतप्रसङ्ग में पाण्डुपुत्रों की भावुकता का जैसा स्वरूपविश्लेषण हुआ है वह सम्पूर्ण भावुक-मानवसमाज के उद्बोधन का मूलस्तम्भ माना जा सकता है। भावुकताप्रधान वर्तमान भारतीय हिन्दूमानव-जीवन के वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक, एवं राष्ट्रिय, सभी सन्त्रों में तृतीयोदाहरणोपवर्णिता भावुकता सर्वात्मना प्रधान

मनी हुई है। स्वय एकाकी व्यक्ति इसी भावुकता के अनुग्रह से अहोरात्र में अनेक बार विविध रसों का अनुगमन किया करता है। कभी अपनी भावुकता से वह अपने आपको वीर मानने लगता है, कभी करुणा का अनुगामी बन जाता है, कभी आश्चर्य-विभोर हो जाता है, कभी अट्टाट्टहास में निमग्न बन जाता है, तो कभी भयानक निष्ठुर-निर्दय बन जाता है। तत्त्वत उसमें कोई भी स्थिरभाव है ही नहीं। अपनी मानसिक कल्पनामात्र से कल्पनासाम्राज्य म विचरण करता हुआ एक प्रमादी की भाँति-स्वप्नाभिभूत * स्वप्नद्रष्टा की भाँति स्वय ही अपनी कल्पना के बल पर अपने मनोराज्य में सम्भव-असम्भव-सब कुछ निर्म्मित करता रहता है, एवं उत्तर क्षण में ही स्वयं ही सब-कुछ विनष्ट करता रहता है। आद्यन्तरूप से आपादमस्तक अस्थिर-अशान्त-उद्विग्नमना व्यक्ति का क्षण-क्षण म परिवर्त्तित दृष्टिकोण इसे कदापि निश्चित स्थिर दृढ़ लक्ष्य पर आरूढ़ नहीं रहने देता। कभी धर्म्माभिनिवेश, तो कभी कामाभिनिवेश। कभी अर्थाभिनिवेश, तो कभी आत्मशान्तिलक्षण मोक्ष का अन्वेषणाभिनिवेश। कभी महादुःखी, तो कभी हर्षातिरेक में प्रमत्तोन्मत्त। कभी महा उदार, तो कभी कृपणश्रेष्ठ। कभी हास्यपरायण, तो कभी आक्रोशपरायण। इत्यादि इत्यादि रूपेण क्षणे तुष्टा—क्षणे रुष्टा रूप से सदा अपने मनोभाव के परिवर्त्तनात्मक भावुकताचक्र से चक्रायित मानव का व्यक्तित्त्व वर्त्तमान युग में सर्वथा अभूपूर्णाकुशोक्षय ही बन रहा है।

ठीक यही स्थिति आज भारतीय मानव के पारिवारिक जीवन की है। व्यक्तियों के समूह का ही नाम तो 'परिवार' है। यह ठीक है कि, बालक, स्त्री, नववयस्क तरुण पुत्र, कन्या, आदि सहजभावुक अनेक व्यक्तियों का पारिवारिक सीमा में समावेश रहता है। अतएव सहजरूप से पारिवारिक सीमामण्डल में अनेक प्रकार के उच्चावचभावों का समन्वय प्राकृतिक है, मान्य है। किन्तु प्रश्न है उस पारिवारिक कुलज्येष्ठ पुरुष के सम्बन्ध में, जिस पर समस्त परिवार का उत्तरदायित्त्व अवलम्बित माना गया है भारतीय कौटुम्बिक व्यवस्थातन्त्र में। यदि नेता नैष्ठिक है, तब तो पारिवारिक भावुक व्यक्तियों का समसमन्वयपूर्वक सञ्चालन होता रहता है, पारिवारिक व्यवस्थातन्त्र सुसमन्वित बना रहता है। दुर्भाग्यवश यदि पारिवारिक कुलज्येष्ठ केवल अवस्था से ही पलितशिरस्क बनता हुआ अपने आपको सर्वज्येष्ठ-सर्वश्रेष्ठ

---

* न तत्र रथाः, न रथयोगाः, न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान्-रथयोगान्-पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति। अथानन्दान् मुद प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति। अथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्त्ता। तदेते श्लोका भवन्ति—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।१०,११,।

मानने-मनवाने की यथावद् भ्रान्ति करता हुआ, अपने आश्रित पारिवारिक व्यक्तियों की परम्परानुगत-विरुद्धा सहज भावुकता के समन्वय में असमर्थ बना रहता हुआ स्वयं भी पारिवारिक भावुक व्यक्तियों की गणना में समाविष्ट हो जाता है, तो तथाविध परिवार सर्वात्मना अव्यवस्थित-विशकलित-उच्छृङ्खल-असम्पादित बन जाता है। बाल-स्त्रीवर्ग की भाँति स्वयं भी अपने अपने अग्रपातकर्म में कुशल, अस्थिर मत, केवल अपनी वयोऽनुगता ज्येष्ठता के मदगर्व से उन्मत्त, अपने आश्रितों की भावुकता का केवल दोषमीमांसक ऐसा कुनायक भावुक मानव जहाँ परिवार का सञ्चालक बन जाता है, वहाँ वैसे व्यक्तिस्वातन्त्र्य का भावुभाव सहज बन जाता है, जिससे परिवार का सर्वनाश विनिश्चित है। ऐसे पलितशिरस्क भावुक नायक की सत्पत्नी-पुत्र-पौत्र-अनुचर-अनुजादि यथयावत् पारिवारिक भावुक व्यक्तियों के द्वारा उपेक्षा कर दी जाती है। न वह सुखी शान्त रहता, न तदाश्रित सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पारिवारिक अन्य व्यक्ति। यही है नैष्ठिक नायक के निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व से वञ्चित केवल भावुकताप्रधान वर्त्तमानयुग के भारतीय हिन्दू-मानव के पारिवारिक जीवन के इतिहास की उद्वेगकरी रूपरेखा।

परिवारसमष्टि का ही तो नाम समाज है। जब परिवार ही निष्ठाबल से शून्य-वञ्चित है, तो तत् समष्टिरूप समाज-जाति में निष्ठा का उदय कैसे सम्भव बन सकता है! लोकैषणा-भावानुगत समाज-नेतृत्व की वासना का साम्राज्य, किन्तु निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व का आत्यन्तिक अभाव। अतएव अनेक भावुक नायकों का समाज पर आधिपत्य। अतएव च सामाजिकतन्त्र का स्वरूपोच्छेद। भारतीय पञ्चायती व्यवस्था उस नैगमिक 'पर्षत्' व्यवस्था से समतुलित थी, जो व्यवस्था समन्वयपूर्वक समाजव्यवस्था के उत्तरदायित्व का सञ्चालन कर सकती थी, पञ्च-पञ्चपरमेश्वररूप से जिस सामाजिक व्यवस्था के मूल में-'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्' रूप सर्वभूतहितपतिलक्षण ईश्वरनिबन्धन 'धर्म्म' मूलाधार बना हुआ था। केवल लोकैषणाप्रमुख समाजसञ्चालक भावुक समाजनेताओं के अनुग्रह से धर्म्मनिष्ठाशून्या समाज-व्यवस्था अपने सामाजिक आदर्श से स्खलित होती हुई केवल वैय्यक्तिक स्वार्थसाधना का ही निमित्त बनी रह गई है, जिसकी प्रतिक्रिया ने ही भारतीय नैगमिक सहज जीवन से एकान्ततः विरुद्ध-ईश्वरभाव बहिष्कृत सर्वस्वभासक उस 'समाजवाद' नामक कल्पित वाद को जन्म दे डाला है, जिसके मूल में प्रच्छन्नरूप से स्वार्थसाधनमूला व्यक्तिगता लोकैषणा ही पुष्पित-पल्लवित हो रही है, एवं यही वर्त्तमान भारतीय हिन्दूमानवसमाज की रूपरेखा का भावुकिक दृष्टिकोणस्वरूपविश्लेषण है॥ ५

अनेक समाजों की समष्टि को ही तो राष्ट्रतन्त्र, किंवा सत्तातन्त्र माना गया है। भावुकतापूर्ण व्यक्तितन्त्र, तत्समष्टिरूप भावुकतासमन्वित समाजतन्त्र, तत्समष्टिरूप तथाविध ही राष्ट्रतन्त्र। इस क्रमसमन्वय से ही राष्ट्रतन्त्र की रूपरेखा, वर्त्तमान सत्तातन्त्र की यशोगाथा, एवं भारतीय मानव की सत्तातन्त्रगाथा सर्वात्मना विस्पष्टरूप से अभिव्यक्त बन रही है, जिसकी आलोचना-प्रत्यालोचना की योग्यता से हमारे जैसे नितान्त भावुक का सम्बन्ध भी नहीं है। हाँ, इस जिज्ञासा का सम्यक्-समाधान सदा सर्वत्र सब अवस्थाओं में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-सार्वभौम-सर्वसत्तासम्पन्न-गणतन्त्रात्मक-भारत के सत्तातन्त्र से सम्यग्रूपेण सभी प्राप्त कर सकते हैं, कर रहे हैं, करते रहेंगे यावच्चन्द्रदिवाकरौ!

तात्पर्य निवेदन का यही है कि, महाभारतयुगानुगत तृतीयोदाहरण ।यथमान भारत के भारतीय हिन्दूमानव की सहज भावुकता का सर्वात्मना समर्थक। बन रहा है। पाण्डवपरिवार का समस्त उत्तर दायित्व जिस कुलज्येष्ठ–श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर से सम्बन्धित था, वे नितान्त भावुक थे। यदि पाण्डुवंश के पुण्य से इस पाण्डवपरिवार का नेतृत्व एकान्तनैष्ठिक भगवान् कृष्ण ग्रहण न करते, तो पुराणपुरुष भगवान् व्यास को अपने इतिहासग्रन्थ की सम्पूर्ण दिशा ही आमूलचूड़ परिवर्त्तित कर देनी पड़ती। एक भावुक (अर्जुन) का उद्बोधन कराया जाता है, तो दूसरा भावुक (युधिष्ठिर) उत्तेजित हो पड़ता है। यह भावुक उत्तेजित हो पड़ता है; जिस पर समस्त पाण्डवपरिवार का उत्तरदायित्व अवलम्बित है। छोटों की भूल क्षम्य है, किन्तु बड़ों की भूल कदापि इसलिए क्षम्य नहीं मानी जा सकती कि, "बड़ों की नादानी ही बच्चों की गैन्नामी है" इस लोकसूक्त्यनुसार बड़ों की भूल से ही छोटे भूल किया करते हैं। छोटे की भूल का उत्तर बड़े का भूल करना नहीं है, अपितु छोटे को बड़ा मान लेना ही छोटे की भूल का सुधार करना है, एवं बड़े का अपना स्वरूपसंरक्षण करना है। दुर्भाग्यवश बड़े युधिष्ठिर, छोटे अर्जुन, दोनों भावुकता के आवेश में भूलपरम्परा।के सर्जन में आत्मविस्मृत बन रहे थे। एवं कृष्ण अपने निष्ठाबल से पदे पदे इनका संरक्षण कर रहे थे। यदि अतिमानव साक्षात् पूर्णेश्वर यदुनन्दन प्रणतभाव के द्वारा भावुक युधिष्ठिर की उत्तेजना शान्त न कर देते तो, निश्चयेन युधिष्ठिर अरण्य में कहीं भी मर ख्प जाते। तदनुगामी अर्जुन भी निःशेष बन जाते। भीम युद्ध करते करते युद्ध में मर जाते, अथवा तो इतस्ततः भटकते रहते। नकुल–सहदेव को कौरवसेना इस असहायावस्था में जीवित छोड़ती ही कैसे। द्रौपदी का जीवन स्वतः ही समाप्त बन जाता। माता कुन्ती का निधन तो सहज बन ही जाता। इस प्रकार कैसा दुष्परिणाम घटित हो जाता इस विषमप्रसङ्ग में, यदि वासुदेव पाण्डुपुत्रों की इस भावुकता का उपशमन न करते तो! तदित्थं महासन्दर्भात्मक यह तृतीयोदाहरण पाण्डवों की सहज भावुकता का सर्वात्मना समर्थक बनता हुआ प्रश्नकर्त्ता भावुक अर्जुन का अवश्य ही समाधान कर रहा है। और इस समाधान के साथ ही नितान्त भावुक अर्जुन की अस्थिरप्रज्ञा से पुनः यह प्रश्न कर ही सकता है कि,– अर्जुन! इस उदाहरणस्वरूपविश्लेषण के अनन्तर भी क्या तुम अपने आपको नैष्ठिक मानने–मनवाने की भ्रान्ति कर सकते हो ?। कदापि नहीं।

—३—

(१८)—पाण्डवों की भावुकता का चतुर्थ–पंचम–षष्ठोदाहरण—

सुनते हैं, सदा सर्वदा इतस्ततः परिभ्रमणशील धर्मोद्बोधक नारदमुनि एक बार पाण्डुपुत्रों के राज्य में पधारे। आतिथ्य-स्वीकारानन्तर प्रासङ्गिक उद्बोधन कराते हुए नारद ने–'तिलोत्तमार्थं संकुद्धावन्योऽन्य-मभिजघ्नतुः' इत्यादि पुरातन ऐतिहासिक उदाहरण के माध्यम से—"यथा वो नात्र भेदः स्यात्-सर्वेषां द्रौपदीकृते! तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत् प्रियमिच्छथ" इत्यादि रूप से द्रौपदी के सम्बन्ध में परस्पर पाँचों भ्राताओं को सदा सौहार्द सुरक्षित रखने का, कभी कलह न करने का आदेश दिया। इसी

मानने-मनवाने की भयावह भ्रान्ति करता हुआ, अपने आश्रित पारिवारिक व्यक्तियों की परस्परसम्बन्धविरुद्धा सहज भावुकता के समन्वय में असमर्थ बना रहता हुआ स्वयं भी पारिवारिक भावुक व्यक्तियों की गणना में समाविष्ट हो जाता है, तो तथाविध परिवार सर्वात्मना अव्यवस्थित-विशकलित-उच्छृङ्खल-धर्म्मव्यापादित बन जाता है। बाल-स्त्रीवर्ग की भाँति स्वयं भी घरेलू घरेलू भावुकतापातकर्म्म में कुशल, अविकर भक्त, केवल अपनी वयोऽनुगता ज्येष्ठता के मदगर्व से उन्मत्त, अपने आश्रितों की भावुकता का केवल दोषमीमांसक ऐसा कुनायक भावुक मानव जहाँ परिवार का सञ्चालक बन जाता है, वहाँ वैसे व्यक्तिस्वातन्त्र्य का भावुभाव सहज बन जाता है, जिससे परिवार का सर्वनाश विनिश्चित है। ऐसे पलितशिरस्क भावुक नायक की तत्पत्नी-पुत्र-पौत्र-अनुचर-अनुगादि यथायथत् पारिवारिक भावुक व्यक्तियों के द्वारा उपेक्षा कर दी जाती है। न वह सुखी शान्त रहता, न तदाश्रित सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पारिवारिक अन्य व्यक्ति। यही है नैष्ठिक नायक के निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व से वञ्चित केवल भावुकताप्रधान वर्त्तमानयुग के भारतीय हिन्दू-मानव के पारिवारिक जीवन के इतिहास की उद्वेगकरी रूपरेखा।

परिवारसमष्टि का ही तो नाम समाज है। जब परिवार ही निष्ठापक्ष से शून्य-वञ्चित है, तो तत्समष्टिरूप समाज-जाति में निष्ठा का उदय कैसे सम्भव बन सकता है ? लोकैषणा-भावानुगत समाज-नेतृत्व की वासना का साम्राज्य, किन्तु निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व का आत्यन्तिक अभाव। अतएव अनेक भावुक नायकों का समाज पर आधिपत्य। अतएव च सामाजिकतन्त्र का स्वरूपोच्छेद। भारतीय पञ्चायती व्यवस्था उस नैगमिक 'पञ्चत्' व्यवस्था से समतुलित थी, जो व्यवस्था समन्वयपूर्वक समाजव्यवस्था के उत्तरदायित्व का सञ्चालन कर सकती थी, पञ्च-पञ्चपरमेश्वररूप से जिस सामाजिक व्यवस्था के मूल में-'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्' रूप सर्वभूतहितरतिलक्षणा ईश्वरनिबन्धन 'धर्म्म' मूलाधार बना हुआ था। केवल लोकैषणाकामुक समाजसञ्चालक भावुक समाजनेताओं के अनुग्रह से धर्म्मनिष्ठाशून्या समाजव्यवस्था अपने सामाजिक आदर्श से स्खलित होती हुई केवल वैय्यक्तिक स्वार्थसाधना का ही निमित्त बनी रह गई है, जिसकी प्रतिक्रिया ने ही भारतीय नैगमिक सहज जीवन से एकान्ततः विरुद्ध-ईश्वरभाव बहिष्कृत सर्वस्वघातक उस 'समाजवाद' नामक कल्पित वाद को जन्म दे डाला है, जिसके मूल में प्रच्छन्नरूप से स्वार्थसाधनमूला व्यक्तिगता लोकैषणा ही पुष्पित-पल्लवित हो रही है, एवं यही वर्त्तमान भारतीय हिन्दूमानवसमाज की रूपरेखा का भावुकिक इतिवृत्तस्वरूपविश्लेषण है।।

अनेक समाजों की समष्टि को ही तो राष्ट्रतन्त्र, किंवा सत्तातन्त्र माना गया है। भावुकतापूर्ण व्यक्तितन्त्र, तत्-समष्टिरूप भावुकतासमन्वित समाजतन्त्र, तत्समष्टिरूप तथाविध ही राष्ट्रतन्त्र। इस परम्परा से ही राष्ट्रतन्त्र की रूपरेखा, वर्त्तमान सत्तातन्त्र की यशोगाथा, एवं भारतीय मानव की सत्तातन्त्रगाथा सर्वात्मना विस्पष्टतमरूप से अभिव्यक्त बन रही है, जिसकी आलोचना-प्रत्यालोचना की योग्यता से हमारे जैसे नितान्त भावुक का सम्पर्क भी नहीं है। हाँ, इस जिज्ञासा का सम्यक्-समाधान सदा सर्वत्र उन अवस्थाओं में उपतन्त्रस्वतन्त्र-सार्वभौम-सम्प्रभुत्वसम्पन्न-गणतन्त्रात्मक-भारत के सत्तातन्त्र से सम्यग्रूपेण सभी प्राप्त कर सकते हैं, कर रहे हैं, करते रहेंगे भावुकतादिवाकरी!

सहसा शालाकक्ष में चले ही तो गए। शस्त्र उठाया, तस्कर का वध हुआ, ब्राह्मण को उसका गोधन प्राप्त हुआ। सर्वं सुखम्।

किन्तु इस पुण्यकर्म्म के अनन्तर परावर्त्तित होते ही अर्जुन ने ज्येष्ठभ्राता से तत्प्रतिज्ञानुसार १२ वर्षपर्य्यन्त 'ब्रह्मचर्य्य' पूर्वक वननिवास–परिभ्रमण की आज्ञा माँग ही तो ली। सहसा युधिष्ठिर स्तब्ध होगए, और कहने लगे, अर्जुन! तुमने कोई अधर्म्म नहीं किया है। केवल पुण्यकर्म्म के लिए शस्त्र–मात्रग्रहण किए हैं, जिसका तत्प्रतिज्ञा से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोकदृष्टि से भी–ज्येष्ठपुरुष ऐसी दशा में कनिष्ठ पुरुष के एकान्तनिवासगृह में जाता हुआ अवश्य ही अधर्म्मभाक् माना जासकता है। किन्तु कनिष्ठ यदि ज्येष्ठ के आयासगृह में चला जाय, तो इसमें उसका कोई अधर्म्माचरण नहीं है। बहुत समझाया धर्म्ममूर्त्तिवरिष्ठ धर्म्मराज ने। किन्तु भावुक अर्जुन– 'मेरी प्रतिज्ञा सत्य है, मैं धर्म्म को धोखा नहीं दे सकता' इस प्रकार अपना धर्म्माभिनिवेश अभिव्यक्त करते हुए अनिच्छन् युधिष्ठिर से आज्ञा प्राप्त कर वन में चले ही तो गए। यही पाण्डवों का पाँचवाँ भावुकतोदाहरण माना जासकता है।

इसी सम्बन्ध में अर्जुन की निष्ठा का आगे चल कर जिस प्रकार स्खलन होता है, वह भी एक प्रकार से भावुकता का ही उदाहरण बन रहा है। ब्रह्मचर्य्यव्रतपूर्वक यत्र-तत्र वनविचरण करते हुए सत्य प्रतिज्ञ अर्जुन के साथ नागराजकन्या अप्रतिम सुन्दरी 'उलूपी' से साम्मुख्य हो जाता है। साधारण भावुक प्राणी (अर्जुन) का एक असाधारण भावुक–जन्मभाव भावुक–प्राणी (उलूपी) से समसाम्मुख्य हो पड़ता है। उलूपी ज्यों ज्यों पत्नीव्रत की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित करती है, त्यों त्यों 'ब्रह्मचर्य्यानुगता' प्रतिज्ञा के माध्यम से अर्जुन अपनी निष्ठा पर सुदृढ़ रहने का प्रयत्न अभिव्यक्त करने लगते हैं। अन्ततोगत्वा भावुकश्रेष्ठा उलूपी की प्रतिद्वन्द्विता में सामान्य भावुक अर्जुन परास्त हो जाते हैं। युधिष्ठिर के आग्रह की 'न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्' घोषणा से उपेक्षा कर वनगमन करने वाले अर्जुन उलूपी के "धर्मं चरेद्–ब्रह्मचर्य्यं—इति च 'समयः' कृतः। तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योऽन्यस्य प्रवासनम्" इस तर्काभासमात्र से प्रभावित अर्जुन ब्रह्मचर्य्यव्रत से उन्मुक्त हो जाते हैं। क्या यहाँ अर्जुन को 'न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्' यह तत्त्वभाव स्मृत न हुआ! ब्रह्मचर्य्यात्मक सत्यप्रतिज्ञाता को–'यह प्रतिज्ञा तो केवल द्रौपदी से सम्बन्धित है' उलूपी के इस तर्काभास से विस्मृत कर देने वाले दृढ़प्रतिज्ञ अर्जुन की भावुकता का क्या यह पष्ठ उदाहरण नहीं माना जासकता?। अवश्य माना जासकता है, माना जाना चाहिए, माना गया है स्वयं पुराणपुरुष के शब्दों द्वारा।

उलूपी–कथा के समाप्त होने के अनन्तर उलूपी से वर प्राप्त कर* विविध तीर्थों में भ्रमण करते हुए अर्जुन मणिपुरेश्वर चित्रवाहन राजा के अतिथि बनते हैं, जिनकी 'चित्राङ्गदा' नामकी चारुदर्शना

---

* आगतस्तु पुनस्तत्र गङ्गाद्वारं तया सह॥
परित्यज्य गता साध्वी उलूपी निजमन्दिरम्॥१॥
दत्त्वा वरमजेयत्त्वं जले सर्वत्र भारत!॥
साध्या जलचरा सर्वे भविष्यति न संशयः॥२॥

आदेश के आधार पर तत्काल इस दिशा में भावावेश में आकर ये भावुक पाण्डव परस्पर इस प्रतिज्ञा में आबद्ध हो गए थे कि,—"एक भ्राता के सान्निध्य में समुपस्थिता द्रौपदी के एकान्त निवास में यदि दूसरा भ्राता भ्रान्तिवश चला जायगा, तो उसे द्वादश (१२) वर्षपर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्यव्रतपूर्वक वनवास का अनुगमन करना पड़ेगा*"। प्रतिज्ञा की अवधि को, तथा 'ब्रह्मचर्य्य' व्रत को लक्ष्य बनाइये। कल्पना कीजिए, यदि युधिष्ठिर–भीम–अर्जुन–, तीनों में से किसी एक से भी वैसी भूल हो जाय, तो राज्यतन्त्रानुगत सत्तातन्त्र की व्यवस्था पर कैसा प्रभाव हो?। प्रायश्चित्त के धर्म्मशास्त्रसम्मत और भी अन्यान्य विविध प्रकार थे। क्या उनमें माध्यम से प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती थी? किन्तु इन भावुकों को उस अवसर पर यह समझाता कौन कि, भीमन्! बारह वर्ष की अवधि के नियमन से सत्तातन्त्र में विप्लव उपस्थित हो जायगा। हाँ, भगवान् कृष्ण अवश्य ही इस प्रतिज्ञा की अवधि में संशोधन करवा सकते थे, अथवा तो अन्य प्रायश्चित्त-विधान के माध्यम से उनकी इस तात्कालिक भावुकता का समाधान कर सकते थे। किन्तु दुर्भाग्यवश उस समय कृष्ण द्वारिका विराज रहे थे। प्रतिज्ञा कर ही तो ली गई। आत्मधर्म्मसंरक्षण की दृष्टि से अवश्य ही प्रतिज्ञा अभिनन्दनीया मानी जायगी। किन्तु 'अवधि' की दृष्टि से तो प्रतिज्ञा को नितान्त भावुकतापूर्णा ही कहा जायगा और इस भावुकप्रतिज्ञा को ही पाण्डवों की भावुकता का चतुर्थ उदाहरण माना जायगा।

प्रतिज्ञा केवल 'प्रतिज्ञा' रूप से ही सुरक्षित न रही। अपितु भावुक अर्जुन के द्वारा एक वैसे प्रसङ्ग को लक्ष्य बनाकर प्रतिज्ञा कार्य्यरूप में भी परिणत करदी गई, जिस प्रसङ्ग का आपद्धर्म्मरूप से शास्त्रव्यवस्था समन्वय शक्य बन रहा था। एक दुष्ट तस्कर ने ग्रामवासी किसी ब्राह्मण की कुछ एक गायें छीन लीं। इस गोधन के अपहरण से ब्राह्मण क्रोधावेश से मूर्च्छित हो गए। मूर्च्छा से जाग्रत होने पर ब्राह्मण विलाप करता हुआ, साथ ही दुस्तात्त्राण करने वाले पाण्डव क्षत्रियों के प्रति परुषवाक् का (आक्रोशपूर्वक) प्रयोग करता हुआ पाण्डव प्रस्थ आया। यह सम्पूर्ण स्थिति अर्जुन ने लक्ष्य बनाई। अर्जुन के शस्त्रास्त्र संयोगवश उस शालाकक्ष में रक्खे हुए थे, जहाँ युधिष्ठिर–द्रौपदी के साथ स्नेहालाप में तल्लीन थे। अर्जुन, भावुक अर्जुन समस्या की मीमांसा में तल्लीन बने रहे कुछ समय पर्य्यन्त। अनन्तर

---

* वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा ॥
'समय चक्रिरे राजस्तेऽन्योऽन्यवशमागताः ॥
समक्ष तस्य देवर्षेर्नारदस्यामितौजस ॥१॥
"द्रौपद्या न सहासीनानन्योऽन्य योऽभिदर्शयेत् ॥
स नो द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत्" ॥२॥
—महाभारत, आदिपर्व्व २१२ अ० २८, २९ श्लोक।

प्रतिज्ञा के आवेश से आलोमस्य आनखाग्रम्य क्रोधाविष्ट बने हुए अर्जुन की सर्वसंहारात्मिका रुद्रमूर्त्ति के स्वरूप का परिचय जब जयद्रथराज को विदित हुआ, तो वे 'त्राहि मां त्राहि मां' की आर्त्तवाणी का आश्रय लेते हुए आमूलचूड़ प्रकम्पित बनते हुए कौरवराज दुर्य्योधन, तथा सेनापति द्रोणाचार्य्य के प्रति स्वसंरक्षण के लिए प्रपन्न बन गए। कौरवप्रमुखोंनें जयद्रथ को आश्वासन प्रदान किया। जयद्रथ को अर्जुन के प्रतिज्ञाघोर से बचाने के लिए उन्होंनें दृढ़ व्यूह रचना करते हुए कोई प्रयत्न शेष नहीं छोड़ा। वासुदेव स्वयं यह जान रहे थे कि, "षड्यन्त्रकर्म्मों में नितान्त सिद्धहस्त कुशल कौरवों का प्रयास इस दिशा में कभी निष्फल न जायगा। एवं सूर्य्यास्त से पूर्व ये जयद्रथ का अर्जुन से समसाम्मुख्य होने ही नहीं देंगे। एवं उस अवस्था में अवश्यम्भावी सूर्य्यास्त भावुक अर्जुन को महान् अनिष्ट की ओर प्रवृत्त कर देगा"। स्थिति का आमूलचूड़ आमन्थन कर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योगमाया निबन्धना देवविद्यात्मिका (परोक्षप्रभावविद्या) के द्वारा कल्पित आवरण से अस्तसमय से पूर्व ही सूर्य्य को आवृत कर दिया—१।

सर्वत्र असमय में ही निबिडान्धकार का साम्राज्य स्थापित हो गया। योद्धा लोग सायं सन्ध्याकाल मान कर शस्त्रास्त्रों का विसर्जन कर सायंकर्म्म में प्रवृत्त होने लगे। सायंसन्ध्या सर्वात्मना सुविकसित हो पड़ी। इस अनुरूप वातावरण के उपस्थित होने से जयद्रथ ने सन्तोष का निश्वास ग्रहण किया। जयद्रथसंघाशङ्का से निश्चिन्त बने हुए कौरवदल में हर्षातिरेक उत्पन्न हो गया। साथ ही प्रतिज्ञाबद्ध अर्जुन के निश्चित हुताशन-प्रवेश की कल्पना से कौरवोंनें उत्सव आरम्भ कर दिया। स्वयं जयद्रथ निःशङ्क बनते हुए उस स्थान पर धृष्टतापूर्वक आ पहुँचे, जहाँ अर्जुन अपने आपको आहुत करने के लिए चितामवेश का कार्य्यसम्पादन कर रहे थे, एवं कृष्ण भावुकतावश अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बनते हुए अपने स्नेही सखा को सान्त्वना प्रदान करते हुए मानो इनकी अनन्यनिष्ठा का उपहास ही कर रहे थे। सहसा योगमाया का आवरण निवृत्त हो जाता है, सूर्य्य व्यक्त हो जाते हैं। जयद्रथ भयसंत्रस्त बन जाता है। भगवान् के आदेश से कौशलपूर्वक अर्जुन सिन्धुराज का शिरश्छेद कर डालते हैं। और यों एकमात्र कृष्ण के निष्ठाबलानुग्रह से अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण में समर्थ बन जाते हैं।

आवेशपूर्वक,—प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर की गई प्रतिज्ञा वास्तव में धर्म्मनिबन्धना प्रतिज्ञा है ही नहीं। यह तो बाल-स्त्रीसुलभ अहोरात्र में बात बात में घटित-विघटित भावुकतापूर्ण वानूनपुत्र (शपथ ग्रहण) है। ऐसी आविष्ट प्रतिज्ञा अतीत एवं भविष्यत् की परिस्थितियों के समतुलन से बहिष्कृत बनती

१—ततोऽसृजत्तमः कृष्णः सूर्य्यस्यावरणं प्रति॥
योगी योगेन संयुक्तो योगिनामीश्वरो हरिः॥१॥
सृष्टे तमसि कृष्णेन गतोऽस्तमिति भास्करः॥
—म० द्रोणपर्व १४६ अ० ६७, ६८ श्लो०।

सुन्दरी कन्या से अर्जुन प्रभावित हो जाते हैं। उलूपी के सम्बन्ध में तो फिर भी अर्जुन को आरम्भ में अपने ब्रह्मचर्य्यव्रत का संस्मरण हो पड़ा था। किन्तु यहाँ तो स्वयं अर्जुन—'देहि मे क्षत्रियां राजन्! क्षत्रियाय महामते' इत्यादि रूप से प्रतिज्ञा का सर्वात्मना विस्मरण कर स्वयं ही प्रार्थयिता बन जाते हैं। इन्हीं से 'बभ्रुवाहन' नामक पुत्र उत्पन्न होता है, जिसकी प्रतिद्वन्द्विता में अर्जुन युद्धानन्तर युधिष्ठिर के द्वारा विहित अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में मूर्च्छित हो जाते हैं, एवं बभ्रुवाहन शान्त हो जाते हैं। चित्राङ्गदा के विलाप करने पर सहसा भूगर्भ से नागकन्या उलूपी विनिर्गत होती है, एवं 'सञ्जीवनमणि' तत्पर से इस सङ्कट का निवारण करती है। (देखिए, महाभारत आश्वमेधिकपर्व ७४ से ८१ अध्याय पर्य्यन्त)। इसी प्रसङ्ग को लक्ष्य में रख कर 'शान्तं पापम्' रूप से जो भाव अभिव्यक्त हुए हैं,[८] उन्हें हम भी 'आलव्यालम्' + रूप से उपेक्षणीय ही मान लेते हैं।

—४, ५, ६,—

(१६)—पाण्डवों की भावुकता का ससमोदाहरण—

एकादश महारथियों के सम्मिलित प्रयासात्मक क्रूर—जघन्य—क्षात्रधर्मविरुद्ध भीषण आक्रमण से आक्रान्त, द्रोणाचार्यद्वारा विरचित अभेद्य चक्रव्यूह के निबिड सीमापाश में आबद्ध वीरपुङ्गव षोडशवर्ष वयस्कमात्र बालयोद्धा बालसूर्य्य अर्जुनपुत्र सौभद्रेय अभिमन्यु निधनावस्था को प्राप्त होते हुए अपनी अमर यशोगाथा व्यासदेव के भूर्जपत्रों पर उनकी स्वर्णलेखिनी से गणपतिमाध्यम से समङ्कित करवा जाते हैं। इस अमर्त्यापादित घटना से सभी पाण्डव, विशेषतः अर्जुन आकुल—व्याकुल—संविग्नमानस बन जाते हैं। चक्रव्यूह द्वार के संरक्षक जयद्रथ का मस्तक ही अर्जुन के इस प्रचण्डरोष का अनन्य लक्ष्य बन जाता है। यस्माच्चापस्पर्शोच्चारानुगत वृषणाग्राभे स्थित चटकशिरोवत् तन्मयः अपने भावुकतापूर्ण सहज आवेश से अर्जुन यह प्रतिज्ञा कर ही तो बैठते हैं कि,—"* यदि सूर्य्यास्त से पूर्व पूर्व इस पापात्मा का हम शिरश्छेद न कर डालेंगे, तो हम स्वयं अपने आपको हुताशन में आहुत कर देंगे"। प्रत्यक्ष—प्रमाणमूला अर्जुन की इस सुदारुण प्रतिज्ञा का श्रवण कर अवश्य ही वासुदेव कृष्ण प्रतिज्ञा के भयङ्कर परिणाम को लक्ष्य बनाते हुए अपने इस बालसखा की भावुकता से चिन्तित हो पड़े होंगे। अर्जुन को क्या विदित था कि, उसके इस प्रतिज्ञा—पालन की मीमांसा दुर्बुद्धि कुनैतिक कौरवों के द्वारा किस प्रकार एक भयावह जटिल समस्या बना दी जायगी।

\+ आलव्यालमिदं वभ्रोर्यद् स दारानपाहरत् ॥
कस्यापि खलु पापानामक्षमश्रेयसे यतः ॥

* "यद्यस्मिन्नहते पापे सूर्य्योऽस्तमुपयास्यति ॥
इहैव सम्प्रवेष्टाहं ज्वलितं जातवेदसम् ॥

—म० द्रो० प० ७३ अ० ४७ श्लो०।

चातुर्वर्ण्य, संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि वसिष्ठवचन से प्रमाणित है *। तद्वद्याश्रम के तत्तत् प्राति-स्विक यथाश्रमस्वरूपानुगत-यथाश्रमस्वरूपसंरक्षक विकासक-तत्तद् गुण-कर्म्मभावों के स्वरूपसंरक्षण-विकास के लिए यथाश्रमभेदानुपातभेदभिन्ना विभक्ता योग्यता के अनुपात से जो प्राकृतिक नियमोपनियम विधिविधान व्यवस्थित हुए, उन विधिविधानों की समष्टि ही 'वर्णाश्रमधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुई। स्व स्व आश्रम-वर्णस्वरूपसंरक्षण-विकास की पारस्परिक अभिवृद्धि-समृद्धि के लिए इस धर्म्मव्यवस्था के अनुपालन में कट्टु नियन्त्रण अनिवार्य्य माने गए, जिनका-'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः, परधर्म्मो भयावहः'-'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्'-'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' इत्यादि स्मार्त्ती उपनिषत् से (गीता से) समर्थन हुआ है।

जन्मजात, अतएव अभिजात- क्षत्रियवर्णाविभूषित, वर्णानुगत श्रौतस्मार्तसंस्कारसुसंस्कृत, अतएव च प्रकृत्या, तथा संस्कारेण, उभयथा कृत्स्न भावापन्न-विकसित आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण अर्जुन को क्या यह विदित न होगा कि, वे उस क्षत्रियवंश को समलङ्कृत कर रहे थे, जिस वर्ण का स्वधर्म्मात्मक एकमात्र मुख्य-लक्ष्य माना गया है "स्वभावपौरुषवीर्यपराक्रमद्वारा अशान्तिप्रवर्त्तक-दुष्टबुद्धि-कुनैष्ठिक आततायीवर्ग के द्वारा इनके सहज आसुरभाव के कारण होने वाले निरीह-अनपराध-निर्दोष-असमर्थ-मानवसमाज के क्षत-विक्षत भावों से इस समाज का त्राण करते हुए 'क्षतात् त्रायते' रूप से लोक में प्रसिद्ध उदग्र 'क्षत्रिय' शब्द को चरितार्थ करते रहना," फिर भले ही वह आततायी वर्ग निकटतम सम्बन्धी ही क्यों न हो। जबकि 'आततायी' की सहजपरिभाषा में सभी वर्गों का समावेश शास्त्रसिद्ध माना गया है यह कि—(गुरु हो, बच्चा हो, बुड्ढा हो, किंवा वेदान्तशास्त्र का पारपारगामी विद्वान् ही क्यों न हो, यदि वह आत-

---

* प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" इति निगमो भवति। गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम्। न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्य-संस्कार्य्यो विज्ञायते॥ (वसिष्ठस्मृति ४।१,२,३,।)

व्यष्टिरक्षा-विकासमूला 'आश्रमव्यवस्था', समष्टिरक्षा-विकासमूला 'वर्णव्यवस्था,' दोनों का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत अन्तरङ्गपरीक्षानुबन्धी 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक चतुर्थ-खण्ड के 'भारतीय आश्रमव्यवस्थाविज्ञान', एवं 'भारतीय वर्णव्यवस्थाविज्ञान' नामक अवान्तर प्रकरणों में द्रष्टव्य है।

— — "मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव!"

—गीता० १६।५।

हुई कभी सफल नहीं हुआ करती। अतएव प्रत्यक्षप्रमाणमूला आवेशपूर्णा एसी प्रतिज्ञा का तत्त्वतः कोई धार्मिक महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि, अर्जुन की यह प्रतिज्ञा धर्मसम्मता ही थी। तदपि अर्जुन से यह तो आशा रक्खी ही जा सकती थी कि, बुद्धियोगोपदेशभवया प्रसङ्ग में युद्ध से पूर्व योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने परोक्ष विभूतिलक्षण सर्वसमर्थ कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुं समथ विराट्स्वरूप के प्रदर्शन के द्वारा जो शाश्वत अभयदान किया था, उसकी निरापद छत्रच्छाया में ये सदा ही अपने आपको सुरक्षित मानते रहते। अर्जुन समझते होंगे कि, मैंने जयद्रथ का वध कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। यह कैसी अहम्मन्यता थी अर्जुन की ! । उसे क्या विदित था कि, यदि मायाद्वारा सूर्यास्त न होता, तो कौरवों के महाव्यूह से सुरक्षित सिन्धुराज की छाया का भी अर्जुन स्पर्श नहीं कर सकते थे। साथ ही भगवान् यदि जयद्रथ के पिता के द्वारा प्रदत्त इस अभिशाप के—'जो जयद्रथ का मस्तक काटेगा, स्वयं उसका मस्तक भी शतधा विभक्त होकर भूमिगत् हो जायगा' माध्यम से अर्जुन को कौशलपूर्वक जयद्रथशिरश्छेद का आदेश न देते, तो बिना हुताशनप्रवेश के भी क्या अर्जुन जीवित रह जाते ! जिसके नामस्मरणमात्र से अतिमानव भीष्म विदुर उद्धवादि जैसे परम भागवत अपने को जीवन्मुक्त मानते थे, वह जिसका सारथी हो, और वह यों एक असहाय की भाँति पुन पुन अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बनता रहे, इससे अधिक अर्जुन की भावुकता, अस्थिरप्रज्ञता, परप्रत्ययनेयता और क्या होगी ! । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

(१०)—पाण्डवों की भावुकता का अष्टम उदाहरण—

आबाल-वृद्ध-वनिता, मूढ-अज्ञ-अल्पज्ञ-अर्द्धविदग्ध-विद्वान्, सभी प्रायः इस सहज धर्म्मनिष्ठा से सुपरिचित हैं कि, "व्यष्टि" रूपा 'व्यक्ति' के स्वरूपसंरक्षण-स्वरूपविकास-से सम्बन्धित ज्ञानकर्म्मो-भयलक्षण पौरुष (पुरुषार्थ) की संसाधिका 'ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास-'भेद से चतुर्द्धा विभक्ता 'आश्रम-व्यवस्था' के साथ साथ विदितवेदितव्य अधिगतयाथातथ्य निगमाम्नायपरायण-संरक्षक भारतीय नैगमिक समाजशास्त्रियोंनें 'समष्टि' रूप 'समाज' के स्वरूपसंरक्षण-स्वरूपविकास के लिए मानवीय प्राकृतिक गुण-धर्म्मयोग्यता के अनुपात से समाज के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित 'ज्ञान-शौर्य्य-वित्त-भूतत्त्व', इन चार आवश्यकताओं की सुव्यवस्थित-मर्य्यादित-छन्दोबद्ध-वंशानुगतिक-व्यवस्था की पूर्तिकामना से भारतीय सामाजिक मानववर्ग का ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र' इन चार भागों में वर्गीकरण करते हुए 'वर्णव्यवस्था' व्यवस्थित की है। दूसरे शब्दों में प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय चातुर्वर्ण्य को संस्कारविशेषद्वारा मर्य्यादित व्यवस्था का स्वरूप प्रदान किया है। इस प्रकार वर्णत्वेन जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य के आधार पर संस्कारत्वेन कर्म्मसिद्धा वर्णव्यवस्था व्यवस्थित हुई थी, जैसा कि—'प्रकृतिविशिष्टं

चातुर्वर्ण्य, संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि वसिष्ठवचन से प्रमाणित है * । तत्तद्वर्णाश्रम के तत्तत् प्राति-स्विक वर्णाश्रमस्वरूपानुगत–वर्णाश्रमस्वरूपसंरक्षक विकासक–तत्तद् गुण–कर्मभावों के स्वरूपसंरक्षण–विकास के लिए वर्णाश्रमभेदानुपातभेदभिन्ना विभक्ता योग्यता के अनुपात से जो प्राकृतिक नियमोपनियम-विधिविधान व्यवस्थित हुए, उन विधिविधानों की समष्टि ही 'वर्णाश्रमधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुई । स्व स्व आश्रम–वर्णस्वरूपसंरक्षण–विकास की पारस्परिक अभिवृद्धि–समृद्धि के लिए इस धर्मव्यवस्था के अनुपालन में कट्टु नियम अथ अनिवार्य्य माने गए, जिनका–'स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः' 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्'–'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' इत्यादि स्मार्त्ती उपनिषत् से (गीता मे) समर्थन हुआ है ।

जन्मजात, अतएव अभिजात– क्षत्रियवर्णविभूषित, वर्णानुगत श्रौतस्मार्तसंस्कारसुसंस्कृत, अतएव च प्रकृत्या, तथा संस्कारेण, उभयथा कृत्स्न भावपक्ष-विकसित आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण अर्जुन को क्या यह विदित न होगा कि, वे उस क्षत्रियवर्ण को समलङ्कृत कर रहे थे, जिस वर्ण का स्वधर्मात्मक एकमात्र मुख्य–लक्ष्य माना गया है "स्वमत्पौरुषवीर्य्यपराक्रमद्वारा अशान्तिप्रवर्त्तक–दुष्टबुद्धि–कुनैष्ठिक आततायीवर्ग के द्वारा इनके सहज आसुरभाव के कारण होने वाले निरीह–अनपराध–निर्दोष–असमर्थ–मानवसमाज के क्षत–विक्षत भावों से इस समाज का त्राण करते हुए 'क्षतात् त्रायते' रूप से लोक में प्रसिद्ध उदग्र 'क्षत्रिय' शब्द को चरितार्थ करते रहना," फिर भले ही वह आततायी वर्ग निकटतम सम्बन्धी ही क्यों न हो । जबकि 'आततायी' की सहजपरिभाषा में सभी वर्गों का समावेश शास्त्रसिद्ध माना गया है यह कि— (गुरु हो, बच्चा हो, बुड्ढा हो, किंवा वेदान्तशास्त्र का पारपारगामी विद्वान् ही क्यों न हो, यदि वह आत-

---

* प्रकृतिविशिष्ट चातुर्वर्ण्य, संस्कारविशेषाच्च । "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य' कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥" इति निगमो भवति । गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा राजन्य, जगत्या वैश्यम् । न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्य-संस्कार्य्यो विज्ञायते ॥ (वसिष्ठस्मृति ४।१,२,३,।)

व्यष्टिरक्षा–विकासमूला 'आश्रमव्यवस्था', समष्टिरक्षा–विकासमूला 'वर्णव्यवस्था,' दोनों का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत अन्तरङ्गपरीक्षानुबन्धी 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामके चतुर्थ–खण्ड के 'भारतीय आश्रमव्यवस्थाविज्ञान', एवं 'भारतीय वर्णव्यवस्थाविज्ञान' नामक अवान्तर प्रकरणों में द्रष्टव्य है ।

— — " मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ! "

—गीता० १६ । ५ ।

तायी है, यदि उसके द्वारा सामाजिक जीवन अत्यन्त क्षत–विक्षत होता है, तो क्षणमात्र भी विमर्श-विचार किए बिना तत्काल ऐसे आततायी का वध ही कर डालना चाहिए) + ॥

सहस्रदीधिति भगवान् सूर्यनारायणवत् प्रकाशमान 'हन्यादेव अविचारयन् ' आदेश से पूर्णतया अभिज्ञ, क्षत्रियानुगत भूतात्मावबोधनिष्ठ ऐसे क्षत्रियश्रेष्ठ अर्जुन आततायी समूह के संहार के लिए शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर समराङ्गण में अवतीर्ण होते हैं। वहाँ इनके सम्मुख उपस्थित मनुजन सहसा इन को भावाविष्ट बना देते हैं। भावुकतापूर्ण मधुरस्नेह से इनकी सहज भावुकता उत्तेजित हो पड़ती है, क्षात्र-निष्ठा पराभूत हो जाती है, स्त्रैणभावानुगता भावुकता उद्दीप्त बन जाती है, जिसके प्रबल आक्रमण के विरोध में असमर्थ बन जाने वाले इस क्षत्रियश्रेष्ठ के मुख से अनार्य्यजुष्ट यह कातर–कायर–वाणी विनिःसृत हो पड़ती है कि—'न योत्स्ये'। क्या यही था अर्जुन की धर्मनिष्ठा को, क्षत्रियवर्णोचिता स्वधर्म-निष्ठा को अभिव्यक्त करने का एकमात्र विशिष्टतम !, शास्त्रीय !! प्रकार !!! । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना किया भावुकता अर्जुनस्य नितान्तभावुकस्य !!! । कृतज्ञ हैं हम अर्जुन की इस सहज भावुकता के प्रति हृदय से, जिसे निमित्त बना कर एकान्तनैष्ठिक वासुदेव कृष्णद्वारा मानवसमाजोद्बोधन अभ्युदय निःश्रेयस् की अन्यतम साधनरूपा 'बुद्धियोगनिष्ठा' का पुनः संस्करण हुआ, जो निष्ठा देवयुगारम्भ में सर्वप्रथम इसी अव्ययेश्वर के द्वारा विवस्वान् मनु के प्रति उपदिष्ट हुई थी। अलमतिपल्लवितेन ।

(२१)—कौरवपाण्डवानुगता निष्ठा–भावुकता, एवं इतिहासोपरति—

कौन कह सकता है, किसने देखा सुना है कि, अपनी दृढ़प्रतिज्ञा–दृढ़निश्चय–दृढ़निष्ठा की घोषणा करने वाले अर्जुन के उद्बोधन के लिए नैष्ठिक कृष्ण द्वारा कितने असंख्य उदाहरण अर्जुन के सम्मुख उपस्थित हुए होंगे, एवं कौन जाने, अथवा तो कृष्ण ही जाने, उन अगणित उदाहरणों से उद्बुद्ध बन हुए अर्जुन की प्रज्ञा में वासुदेव का यह सिद्धान्त कब और कैसे तथा कबतक सुप्रतिष्ठित रहा होगा कि—"सर्वगुणसम्पन्न धर्म्मनिष्ठ, अतएव सुनिष्ठ भी पाण्डव प्रत्यक्षप्रमाणमूलक 'भावुकता' रूप एक दोष से जहाँ आद्यन्त (सदा) के दुःखी बने हुए हैं, वहाँ सर्वदोषसम्पन्न–अधर्मनिष्ठ, अतएव कुनिष्ठ भी कौरव परिस्थितिप्रभावमूलक 'निष्ठा' रूप एक गुण से आद्यन्त के सुखी प्रतीत हो रहे हैं"।

प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता जहाँ 'अवसर' प्राप्त लाभ से वञ्चित करती हुई विफलतारूपा रुचि की जननी बन जाती है वहाँ परिस्थितिमूला निष्ठा 'अवसर' प्राप्त लाभ से समन्वय कराती हुई सफलतारूपा

+ गुरुं वा बालं वा वृद्धं वा–अपि वेदान्तपारगम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥

—वसिष्ठस्मृति ३।२०।

बुद्धि की जननी बनी रहती है, भावुकता जहाँ कालप्रतीक्षानुगामिनी बनती हुई लक्ष्यीभूत उद्देश्य को पुरुषार्थ से असंस्पृष्ट रखती हुई लक्ष्य को यातयाम–गतरस–निष्फल प्रमाणित कर देती है, वहाँ निष्ठा प्राप्तकालानुगामिनी बनती हुई लक्ष्यीभूत उद्देश्य को पुरुषार्थ से समन्वित करती हुई लक्ष्यपूर्त्ति का साधक प्रमाणित होती रहती है। भावुकता जहाँ केवल अनुभूतिपरायण मानवीय ऐन्द्रियक मन की चलितप्रज्ञा को उत्तेजित करती हुई मानव को किंकर्त्तव्यविमूढ बनाए रहती है, वहाँ निष्ठा पूर्वापरवर्त्तमानस्थिति-परिस्थिति परायण मानवीय बुद्धि की स्थिरता को प्रोत्साहित करती हुई मानव को कर्त्तव्यकर्म्म पर आरूढ बनाए रखती है। भावुकता जहाँ मानव को बाह्यदृष्टिपरायण बनाती हुई इसे प्रावाहिक जगत् का गतानुगतिक–अन्धानुकरणकर्त्ता बनाए रहती है, वहाँ निष्ठा मानव को अन्तर्दृष्टिपरायण बनाती हुआ इसे स्थिर स्वार्थ संसाधक लक्ष्य पर आरूढ रखती है।

अर्जुन ! यही है भावुकतादोष से, तथा निष्ठागुण से सम्बन्ध रखने वाले भावुक पाण्डवों, तथा नैष्ठिक कौरवों का वास्तविक स्वरूप–विश्लेषण करने वाला यह असदाख्यान, जिसके माध्यम से तदुत्तरयुगभावी (महाभारतोत्तरभावी) मानव अपने भुक्त–प्रक्रान्त युगधर्म्म के माध्यम से (यदि वह चाहेगा, तो) स्व स्वकर्म्मोद्बोधन के लिए तुम कौरव–पाण्डवों के निष्ठा–भावुकतारूप ऐतिहासिक तथ्य के परिणाम को लक्ष्य बनाता हुआ अपना कर्त्तव्यकर्म्म निर्द्धारित कर सकेगा, इसी भावी मङ्गलभाव की आशंसा के साथ यह ऐतिहासिक प्रसङ्ग उपरत हो रहा है। ओमित्यलम्।

(२२)—प्रत्यक्षोदाहरणमाध्यम से भावुक अर्जुन का उद्बोधन, एवं प्रक्रान्त असदाख्यानोपरति—

प्रत्यक्षप्रभावोत्पादिका सामाजिक सम–विषम परिस्थिति के प्रभाव से भावुक बने हुए पार्थ अर्जुन आरम्भ में अपनी अभिनिवेशमूला भावुकता के कारण यह स्वीकार कर लेने में कथमपि प्रवृत्त नहीं हुए कि, 'सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डव भावुक हैं, अतएव एकमात्र इसी दोष से ये दुःखी हैं'। उधर 'सर्वदोष सम्पन्न भी कौरव नैष्ठिक हैं, अतएव एकमात्र इसी गुण से वे सुखी हैं'। समस्या की निदानपूर्वक चिकित्सा करने वाले आध्यात्मिक भिषगाचार्य्य भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन की भावुकता पर प्रहार न करते हुए किसी भी युक्ति से परोक्षरूप से जब तक उद्बोधन का प्रयास करते रहे, तब तक अर्जुन का उद्बोधन सम्भव न बन सका। अन्ततोगत्वा उन्हें भावुक अर्जुन की सहज–प्रत्यक्षप्रभावपरिपूर्ण–भावुक–मनोवृत्ति को–तन्मूला प्रत्यक्षदृष्टि–(प्रत्यक्षोदाहरणरूपा प्रत्यक्षदृष्टि)–को माध्यम बनाते हुए सप्रमाण इस भावुक अर्जुन के सम्मुख वैसी उदाहरणपरम्परा उपस्थित करनी पड़ी, जिसके आगे विवशतावश अर्जुन को अवनतशिरस्क बन ही जाना पड़ा कि, "वास्तव में पाण्डव एकमात्र भावुकतादोष से ही दुःखी रहे हैं, एवं वास्तव में कौरव निष्ठागुण से ही ऐश्वर्योपभोग करने में समर्थ बन सके हैं"। इस अनुभवमापन के साथ साथ ही निरूपोपक्रम में प्रतिज्ञात आज से अनुमानतः पञ्चसहस्रवर्ष पूर्व में घटित महाभारतयुगानुगत वह ऐतिहासिक 'असदाख्यान' सत्परिणाम की ओर भावुकों का ध्यान आकर्षित करता

हुआ उपरत हो रहा है, जिसे मूल बना कर ही हम—"भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता" को उपक्रान्त करने के लिए अपनी भावुकता की प्रेरणा से सङ्कल्पमना बन रहे हैं।

(२३)—निबन्धानुगता सामयिक उपयोगिता के सम्बन्ध में—

पञ्चसहस्र वर्ष से पूर्व के युग में घटित, कृष्णार्जुनप्रश्नोत्तरविमर्शात्मक, महाभारतयुगानुगत 'ऐतिहासिक असदाख्यान' के आधार पर सुखदुःखप्रवर्तिका जिस निष्ठा—भावुकता के संक्षिप्त स्वरूप–विश्लेषण की अब तक चेष्टा हुई है, वह वर्त्तमान युग के सर्वथा परप्रत्ययनेय भावुक मानव के मनःपरितोष के लिए इसलिए पर्य्याप्त नहीं मानी जासकती कि—

साम्राज्यलिप्सात्मिका लोकैषणालिप्सा से आमूलचूड लिप्त प्रतीच्य देशों की भूतसमृद्धिलिप्सा प्रधाना संस्कृति—सभ्यता—शिक्षा—विज्ञापनपद्धति, एवं तदनुगत आचार—व्यवहार—जीवनकौशल—आदि आदि भावपरम्पराओं का अन्धानुकरण करने वाले वर्त्तमान युग के प्राच्य भारतराष्ट्र के मानव ने, विशेषत भारतीय हिन्दू—मानव ने धर्मनीतिशून्य इस राजनैतिक सिद्धान्त को अक्षरशः चरितार्थ कर लिया है कि—" **विजेता राष्ट्रों की संस्कृति–सभ्यता–शिक्षा आदि ही विजित राष्ट्रों की संस्कृति–सभ्यता–शिक्षा आदि बनी रहती है**"।

यह मान्य है कि, नियतिचक्रानुगत 'भगीरथभागीरथीन्याया' नुग्रह से, किंवा भूतबल की कालान्त मोघिनी सहज पराभूति के व्यक्त हो जाने से आज भारतराष्ट्र उस सर्वस्वघातक 'विजित' मण्डल की सीमा परिधि—से शरीरमात्र का त्राण करता हुआ अपने आपको 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' घोषित करने के अतिमानात्मक गर्व से उन्नतशिरस्क प्रमाणित हो रहा है। किन्तु विजेताओं की, केवल नीतिनिष्ठ निष्ठाभक्तसमन्वित, अतएव नीतिकुशल प्रतीच्य राष्ट्रों की सर्वस्वमूला जिस नीति ने, जिस बौद्धिक कौशल ने भारतराष्ट्र की आत्मबुद्धि मन शरीरसमन्विता जिस धर्म्म—नीतिनिष्ठाभावापन्ना तदनुगता सभ्यता—संस्कृति—शिक्षापद्धति—परम्परा को अपनी मायाप्रसारिणी पद्धतियों से सर्वात्मना अभिभूत कर इस राष्ट्र को मनः—शरीरदासता के साथ साथ जिस निर्म्मम—जघन्य—पद्धति से आत्मबुद्धिदासता का अन्यतम सत्पात्र ! बना लिया है, वह दासता अन्व व्यामसम्बन्ध से इस प्रकार इस राष्ट्र का मूलधन प्रमाणित हो गई है, जो इस वर्त्तमान सर्वतन्त्र स्वतन्त्र युगमें भी सर्वात्मना 'स्वरक्षित' बनती हुई प्रतीच्यशासनकालानुगत 'सुरक्षित' भाव को भी लज्जित कर रही हैं। उनके शासनकाल में हमारी आत्मदासता जहाँ उनके द्वारा रक्षित होती हुई 'सुरक्षित' थी, वहाँ हमारे अपने 'गणतन्त्रात्मक—सर्वतन्त्रस्वतन्त्रात्मक—सर्वसत्ता—प्रभुसत्तात्मक शासन' काल में वही दासता स्वयं हमारे ही अपने—स्व—भाव—से ही रक्षित बनती हुई अश्माकृप (पाषाणशिला) रूप से 'स्वरक्षित' है, सर्वात्मना अपनी रक्षा से रक्षित है। इसी स्वरक्षितात्मिका आत्मदासतामूला इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता की हम यह प्रामाणिक स्वरूपव्याख्या कर सकते हैं कि—

नाममात्र के लिए, उच्चघोषणामात्र के लिए सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता, किंवा स्वच्छन्द—असभ्यावित—देश—जाति—कुलधर्म्मविरोधी यथेच्छाचारविहारमात्र के लिए सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता, मूलतः सर्वात्मना परतन्त्रता,

शरीरमात्रनिर्वाह जैसे सामान्य कर्म्म के अनुबन्ध से भी क्षणे क्षणे पदे-पदे स्थान-स्थाने परमुखावलोकनरूपा आत्महनन समतुलिता घोरघोरतमा परतन्त्रता, वही सभ्यता, वही संस्कृति, वही वेशभूषा, वही भाषाव्यामोहन, वही आचारविचारपरम्परा, सर्वात्मना यच्चयावत् क्षेत्रों में प्रतीच्यभावपरम्पराओं का ही, उनके आदर्शों का ही अन्यतमा भावुकता के आकर्षणानुग्रह से गतानुगतिक विधिपूर्वक अन्धानुकरण। सर्वथा परप्रत्ययनेयता-लक्षणा-आत्मबुद्धि-मन-शरीर-पारतन्त्र्यरूपा-आत्मदासतानुगता-स्वदासता - परतन्त्रावस्था - एवंविधा उत्पीडितावस्था के निग्रहानुग्रह से आत्यन्तिकरूप से उत्पीडित वर्त्तमान भारतीय हिन्दू-मानव के लिए पुरातन युगानुगता सर्वथा प्राच्यसंस्कृति के आधार पर उपकल्पित कृष्णार्जुन-प्रश्नोत्तरविमर्शात्मक असदाख्यान-मात्र के द्वारा सङ्केतमात्र से समुपस्थित समाधान से किसी भी जटिल समस्या का यथावत् समाधान प्राप्त कर उसे कर्त्तव्यनिष्ठा रूप से बुद्धिनिष्ठ बना लेना असम्भव नहीं, तो कठिनतम अवश्य ही है। अवश्य ही समस्या के वर्त्तमानयुगानुगत प्रत्यक्षप्रभावमूलक दृष्टिबिन्दु के माध्यम से हमें विशेष स्पष्टीकरणपूर्वक लौकिक मुक्त-प्रक्रान्त उदाहरणों के साथ, लोकसमहर्षिया भगत प्रतीच्य भौतिक-विज्ञान-दर्शनसम्मत सिद्धान्ताभासों का आश्रय ग्रहण करते हुए समन्वयबुद्धिपूर्वक ही विषय का अनुगमन करना पड़ेगा। तभी वर्त्तमान युग के सुसंस्कृत !, शिक्षित ! मानव का अनुरञ्जन सम्भव बन सकेगा, जिस अनुरञ्जनात्मिका विषयपरम्परा का दिग्दर्शन संक्षिप्तविशेषपरिचय प्राक्कथनरूप से इस जिज्ञासासूत्र-माध्यम से उपक्रान्त हो रहा है कि—

"भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता" नामक निबन्धनिर्म्माण का सङ्कल्प क्यों हुआ ?, क्या आवश्यकता अनुभूत की इस भावुक ने इस भारभूतनिबन्धनिर्म्माण की ? एवं इसका एवंविध नामकरण किस आधार पर हुआ ?"।

जिज्ञासासूत्र-माध्यम का तात्पर्य स्पष्ट है। "क्यों ?, क्या ?, कैसे ?" इत्यादि भावुकतापूर्ण प्रश्नपरम्परा का (भावुकतास्वरूपसंरक्षणमात्र) समाधान किए बिना आज का सुशिक्षित मानव केवल प्रमाणभक्ति के आधार पर कुछ भी तो सुनने सुनाने के लिए सन्नद्ध नहीं बना करता। आज के बहु कर्त्तव्यनिष्ठ ! बहुप्रवृत्युन्मुख बुद्धिमान् ! मानव के समीप 'व्यर्थ' समय का नितान्त अभाव है। प्रत्येक समस्या, प्रत्येक विषय, प्रत्येक कर्त्तव्य में प्रवेश करने से पहिले कार्य्यकालपक्षवादी आज का मानव * 'क्यों ?' का समाधान प्राप्त कर लेना चाहता है, समाधानानन्तर भी वह प्रवृत्त भले ही न हो उस कर्त्तव्य में। हाँ, समाधान से उसकी सत्कर्म्मप्रवृत्ति सम्भव अवश्य मान ली जा सकती है। वही सहज 'क्यों ?' प्रश्न प्रस्तुत निबन्ध में भी सहजरूप से उपस्थित होता हुआ समाधान-जिज्ञासा अभिव्यक्त कर रहा है।

---

* शब्दशास्त्रप्रमाणाधार पर कर्त्तव्यारूढ बन जाने वाले आस्थाश्रद्धायुक्त मानव का पक्ष शास्त्र में 'यथोद्देशपक्ष' कहलाया है, एवं तर्क-युक्ति-कारणता-परिज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यप्रवृत्ति की जिज्ञासामात्र को अक्षुण्ण बनाए रखने वाले मानव का पक्ष 'कार्य्यकालपक्ष' कहलाया है।

—परिभाषेन्दुशेखर

सुनते हैं, प्राकृतिक-सहज-वृत्तियों के सम्बन्ध में—'प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति' (गीता) इस सहज उत्तर के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं हो सकता। यही उत्तर इस निबन्ध के सम्बन्ध में भी समन्वित माना जायगा, जिसका स्पष्टीकरण यों किया जा सकता है कि, अपने यथोचित वेदस्वाध्यायमन्त्र दीक्षाकाल से ही दीक्षारम्भ स्वाध्याय के साथ साथ दीक्षित विषय का लिपिबद्ध करते रहने का सहज स्वभाव सदा से ममानत रहा है। पढ़ना, और लिखना, दोनों हीं, किंवा दो ही हमारे नैसर्गिक नित्यकर्म रहे हैं, जिन नित्यविधियों के सम्बन्ध में—क्यों ?, कैसे ?' इत्यादि प्रश्नों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध ही माना गया है। इसी अभ्यासवश, किंवा प्रकृतिमूलक नैसर्गिक प्रवृत्ति के वश शतपथादिभाष्यों के साथ साथ सामयिक प्रवाह के संरक्षण के लिए 'मानवाश्रम' नामक पाक्षिक पत्र भी अन्यपरिस्थितरूप से प्रकाशित होता था, जिसमें अन्यान्य सामयिक विचारधाराओं के साथ इस सामयिक निबन्ध की रूपरेखा भी प्रकरणा समाविष्ट हो पड़ी। आगे चल कर कतिपय सहयोगियों की प्रेरणा से वह रूपरेखात्मक निबन्ध अनुमानतः शतपृष्ठ कायरूप से स्वतन्त्ररूप से भी प्रकाशित कर दिया गया। पुनः सहयोगियों का इस सम्बन्ध में प्रबल आग्रह हुआ कि, "इस स्वल्पकाय निबन्ध से समस्या का सर्वात्मना समन्वय नहीं हो सका है। अत विशद ग्रन्थरूप से इसे सम्पन्न किया जाय"। आग्रह मान लिया गया, एवं अपनी उसी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण वह लघुकायनिबन्ध प्रस्तुत बृहत्कायग्रन्थ में निर्मित हो पड़ा। 'क्यों लिखा गया यह निबन्ध ?' प्रश्न का यही नैसर्गिक समाधान है।

अब प्रश्न शेष रह जाता है इसके नामकरण के तथाविध स्वरूप से सम्बन्धित 'क्यों ?' का, जिसके सम्बन्ध में भावुकतास्वरूपसंरक्षण की दृष्टि से कुछ विशेष वक्तव्य अनिवार्य्य बन रहा है। लोकदृष्टि से सम्बन्धित वर्त्तमान मानव की भावनापरम्पराओं समस्यापरम्पराओं के साथ, वर्त्तमान राजनीतिवाद-समाजवाद-आदि वादपरम्पराओं के साथ किसी भी काल में हमारा कोई भी विशेष सम्बन्ध नहीं रहा है। अतएव इन वादों के तात्त्विक ? स्वरूपपरिचयबोध से हम सर्वथा पुष्करपलाशवन्निर्लेप ही रहे हैं। हाँ, तथाविध सत्-सुसत्-परम्पराओं की यथाकाल प्राप्त सुविधा से यदाकदा कर्णाकर्णिपरम्परया इन वादों के तात्कालिक स्वरूप श्रवणमात्र का सौभाग्य अवश्य प्राप्त होता रहा है। लेखनकर्म्म की एकमात्र अनन्य लक्ष्यभूमि रही है प्राच्यसंस्कृति, तथापि विशेषतः वैदिक संस्कृति। इस पावन संस्कृति की चिरकालिक उपासना के अनुग्रह से किसी आकस्मिक समय में आकस्मिकरूप से ही अपने भावुक मनोराज्य में सहसा इस प्रकार की भावुकतापूर्ण अनुभूति जागरूक हो पड़ी कि, जिस वैदिक संस्कृति-साहित्य का वाङ्मय कलेवर इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान परिपूर्ण हो, जो साहित्य सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तत्त्वों का भी पूर्ण समन्वय करने की अद्भुत अभूतपूर्व अद्वितीय क्षमता रख रहा हो, जिसके वाङ्मय पावन क्रोड में धर्म्म, नीति, सभ्यता, आचार, ज्ञान, कर्म्म, उपासना संगीत, शिल्प, कला, वाणिज्य, पौरुष, आदि आदि विश्व की यावद्यावत् तात्म्य-विज्ञातम्य-निधियाँ विद्यमान हों, ऐसी इस सर्वसम्पन्ना सर्वसमृद्धा परिपूर्णा ज्ञाननिधि के विद्यमान रहते हुए भी तदुपासक आस्तिक भारतीय हिन्दूमानव इस प्रकार सन्त्रस्त क्यों ?।

अभ्युपगमवादाश्रय से थोड़ी देर के लिए हम संस्कृतवाङ्मयकोश के निगम, आगम, पुराण, स्मृति, दर्शन, निबन्ध, कल्प, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्तादि भागों की गणना ही न करते हुए केवल 'गीताशास्त्र' को ही लक्ष्य बना कर स्थितिमीमांसा में प्रवृत्त होते हैं। गीताशास्त्र की मौलिकता पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें सहसा आश्चर्यचकित-थकित-स्तब्ध हो जाना पड़ता है। और सहसा इस प्रकार के उत्तेजक उद्‌गारों का अनुगामी बन जाना पड़ता है हमें कि, "जिस राष्ट्र के कोश में 'गीता' जैसा 'बुद्धियोगशास्त्र' सुगुप्त हो, जिसका एक एक सिद्धान्त ही मानव के कायाकल्प की पूर्ण क्षमता रखता हो, वह राष्ट्र, एवं उस राष्ट्र का गीताभक्त मानवसमाज आज इस प्रकार आर्त्त-दुःखी-त्रस्त-सन्त्रस्त क्यों ?"

सभी प्रकार के आध्यात्मिक साधन सुलभ, भौतिक साधनों की भी इस भारत-वसुन्धरा के पावन प्राङ्गण में प्रचुरमात्रा से समुपलब्धि, वसन्तादि ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सर-प्रजापति का भी इस पुण्यभूमि देश-भारत पर पूर्ण अनुग्रह-सामयिक अनुग्रह, सभी कुछ तो यहाँ सहजरूप से विद्यमान है। वैय्यक्तिक उपासना-साधन के लिए उत्तुङ्ग शिरोधवलश्रीरुचि सत्त्वगुणसमतुलित स्वच्छ शुभ्र हिमगिरि की पावन कन्दरा उपत्यकाएं, सामूहिक उपासना को चरितार्थ करते रहने वालीं दक्षिणोत्तरभारत की अभूतपूर्व शिल्प-कौशल की सगुणमूर्त्तिरूपा देवमन्दिरपरम्पराएँ, विविध शास्त्रोपशास्त्र-शिक्षण-स्वाध्यायानुगामिनीं शत-शत-सहस्र सहस्र संस्कृतपाठशालाएँ, धर्म्मोपदेशनिष्णात ! सर्वसाधनसुसम्पन्न-(अपने लोकैश्वर्य्य से सत्तामद का भी उपहास करने वाले भूतैश्वर्य्य से सम्बन्ध ओतप्रोत)-सन्त-महन्त-मठाधीश-पीठाधीश-सम्प्रदायाचार्य्य आदि की धर्म्मोपदेष्टृपरम्पराएँ, 'उपह्वरे गिरीणां-संगमे च नदीनाम्' इत्यादि श्रौत आदेश को अक्षरशः चरितार्थ करते रहने वालीं कुत्रचन भागीरथी-तटे, कुत्रचन यमुनातटे, कुत्रचन कावेरीतटे, कुत्रचन वृन्दावने, कुत्रचन अन्यत्रान्यत्र महतासमारम्भेण प्रतिष्ठिता-ऋषिकुल-गुरुकुल-योगाश्रम-स्वर्गाश्रम-योगाश्रम-ब्रह्माश्रमा-आदि विविध अभिधासमन्विता तत्त्वशिक्षणस्वाध्यायशालापरम्पराएँ, मानव के वर्त्तमान जन्म के ही नहीं, अपितु अनेक जन्मों के सञ्चित पापों को क्षणमात्र में निर्मूल बना देने वालीं पावनतमा तीर्थ-क्षेत्रपरम्पराएँ, सभी कुछ तो सुलभतया समुपलब्ध है इस भारतराष्ट्र में। सुख-शान्तिप्रवर्त्तक-संरक्षक-अभिवर्द्धक-सम्पूर्ण साधन जिस राष्ट्र में सुलभतया समुपलब्ध हों, और तदपि वहाँ का आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण आस्तिक मानव तथाकथित रूप से सन्त्रस्त बना रहे !, कैसा आश्चर्य्य है !, कैसी विषम समस्या है !, एवं कैसा है यह भाग्यहीन भारतीय आस्तिक हिन्दू-मानव, जो सब कुछ विद्यमान रहते भी दीन-हीन-सा, हतप्रभ-सा, विगलित-शौर्य्य-सा, क्षुब्ध विक्षुब्ध-सा, असहाय-परसहायानुगत-सा, भ्रान्त-विभ्रान्त सा, अशुचि अशिष्ट-अभद्र अमङ्गल-मूर्त्ति-सा, अशिक्षित अपठित सा, सर्वसमृद्धि ऋद्धिशून्य-सा प्रमाणित होता हुआ आज अन्य देशीय नैष्ठिक मानवों के, एवं तदुच्छिष्टभोगी निष्ठाभावपरायण भारतीय मानवों के द्वारा तिरस्कृत उपेक्षित-भर्त्सित आलोच्य बनता हुआ इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है, दन्द्रम्यमाण है।

सत्त्वदोष के प्रभाव से यदा-कदा ऐसा भी कुछ सुना जा रहा है कि, अमुकामुक विषम समस्यापरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से न केवल भारतीय मानव ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व के मानव आज इसी प्रकार किसी न

किसी विषम समस्या से आक्रान्त बने रहते हुए सन्त्रस्त हैं। इस जनश्रुति का लोकसंग्रहबुद्ध्या समादर कर लेने मात्र के अतिरिक्त इसकी समस्या के प्रति इस नितान्त भावुक व्यक्ति का कोई कर्त्तव्य इसलिए शेष नहीं रह जाता कि, हम विश्वगर्मीभूत अन्य राष्ट्रों की दैशिक–कालिक–नैतिक–सांस्कृतिक–साहित्यिक–लोकव्यावहारिक–बौद्धिक–सामाजिक–आदि आदि व्यवस्था–सुव्यवस्थाओं के स्वरूपज्ञानलव से भी सम्पन्न नहीं रह रहे। अपने सहजभावावेश से करुणामयान्तःकरण बने रहने वाले, पदे पदे 'विश्वबन्धुत्व' की उदात्त–आदर्श घोषणाओं से महिमामय अनन्ताकाश को विकम्पित करते रहने वाले अन्तर्राष्ट्रीय–ख्याति–पथानुगामी किसी भावाविष्ट सर्वज्ञ–सर्ववित्–वर्त्तमान मानव से ही तथाकथिता जनश्रुतिमूला समस्या का निदान कराना चाहिए। हमारा तो लक्ष्य है एकमात्र भारतराष्ट्र, एवं इस राष्ट्र का भारतीय मानव समाज, यद्यपि 'हिन्दू–मानव समाज', जो तथाकथितरूप से सर्वसाधन–परिग्रह–सुसम्पन्न बनता हुआ भी आततायीवर्ग से पदे पदे प्रताड़ित–ताड़ित–भर्त्सित–अपमानित होता हुआ सर्वथा अशान्त बनता जा रहा है, अथवा तो बन गया है। ऐसा क्यों ?

तथाविध 'क्यों ?' प्रश्न की परम्परा ने ही प्रस्तुत निबन्ध के तथाविध नामकरण के लिए प्रोत्साहित किया, एवं यही प्रोत्साहन इस निबन्धनिर्म्माणोत्तेजना का भावुकतास्वरूपसंरक्षक कारण बना। सब कुछ साधन–परिग्रह विद्यमान रहते हुए भी मानव के आत्यन्तिकानुगत दुःखभाव का एकमात्र कारण मानव की मनोऽनुगता वह 'भावुकता' ही मानी जायगी, जिसका भावुकहृदय शृङ्गारकरुणारसमूर्च्छित भारतीय काव्य–साहित्यसम्भाषणे मानव के महान् गुणरूप से उपवर्णन किया है। वस्तुतः नैगमिक विद्याक्षेत्र की दृष्टि से 'भावुकता' के समान भयानक, सर्वगुण–योग्यता–स्वरूपसंहारक अन्य दोष और कोई है ही नहीं। शारीरिक जीवनयात्रा के निर्वाह से सम्बन्धित अशनवसनादि की चिन्तानिवृत्ति के लिए भारतीय समाजशास्त्रियों की ओर से जो निश्चिन्त–अनुकूल–साधन सुव्यवस्थित बने, उनकी उस अनुकूलता ने ही कालान्तर में भारतीय मानव को सहज–प्राकृतिक–जीवनाधारभूत–निष्ठाबलसंरक्षक–संघर्ष से बहिष्कृत कर इसे अकर्मण्य बना दिया। यों इसका गुण (शरीरयात्रानिश्चिन्ततात्मक अनुकूलभावात्मक गुण) ही सीमातीत बनता हुआ कालान्तर में महादोषरूप में परिणत होता हुआ सर्वगुणसम्पन्न–सर्वसाधनसम्पन्न भी भारतीय नैष्ठिक–मानव की भावुकता का जनक बनता हुआ सर्वविनाशक प्रमाणित हो गया।

एकमात्र इसी आधार पर हमें निबन्धोपक्रम में महाभारतयुगानुगत कृष्णार्जुनसंवादरूप आख्यान का समावेश करना पड़ा। प्रत्यक्षप्रमाणमूला–परदर्शनानुगता–अतएव स्वदर्शनपेक्षिता भावुकता ने ही भारतीय हिन्दू मानव को नैगमिक निष्ठालक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा से महाभारतयुग से ही वंचित करते हुए इसे भावुक पाण्डवों की भाँति सम्पीड़ित बना रक्खा है। पाण्डवों का उद्बोधन तो शक्य बन गया था भगवान् मधुसूदन के निष्ठात्मकोपदेशानुग्रह से। किन्तु तदुत्तरवर्ती युगों में कोई वैसा नैष्ठिक महापुरुष अवतीर्ण न हुआ, जिसने वासुदेवोक्ता बुद्धियोगनिष्ठा का स्वरूप भावुक भारतीय मानव के सम्मुख रक्खा हो। इन पूर्वयुगों में जो भी शास्त्रनिर्म्माता–शास्त्रोपदेष्टा–शास्त्रस्वरूपव्याख्याता

अवतीर्ण हुए, उन सब ने न्यूनाधिक रूप से प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण इस भावुक मानव की भावुकता से अनुचित लाभ उठाते हुए इसे उत्तरोत्तर सुषुप्ति में ही निमग्न किया, जिन नवमहात्मक इन नवधा विभक्त उपदेशकों की यशोगाथा का उपवर्णन आगे विस्तार से होने वाला है।

(२४)—मान्य सहयोगियों का उद्बोधन—

विगत कुछ एक वर्षों के प्रचारानुबन्धी अपने परिभ्रममाण क्या, दन्द्रम्यमाण-कालमें-'यथाकाष्ठ' न्याय से * सम्प्राप्त जिस भूतसमागम का सौभाग्य भाग हुआ, उस समागम-प्रसङ्ग में बहुकाल से मनो-राज्य में चर्विता सङ्कल्पित-निबन्धानुगता समस्या के सम्बन्ध में भी पारस्परिक विचार-विनिमय-परामर्श स्वाभाविक ही था। कितने एक सहयोगी इस समस्या की ओर आकर्षित हुए, कितने एक अभिजात व्यवहारनिष्ठोंने इस विषय में अपनी कौशलपूर्णा-परप्रतारणाकुशला-स्वार्थैकसाधननिपुणा लोकबुद्धि से सम्बद्ध वाक्पटुता के परिचयप्रदान से अपने आपको गौरवान्वित अनुभूत किया। और अपने आपको सर्वा त्मना बुद्धिनिष्ठ मान बैठने की भयावह भ्रान्ति में निमग्न कतिपय 'महा' मान्य सहयोगी मानों इस महती समस्यासमाधान के परमाचार्य्य ही बनते हुए उस ऐकान्तिक निष्ठापथ के निष्ठुर पथिक बन गए, जो ऐकान्तिक निष्ठापथ, भावुकताशून्य-अतएव क्रूर-रूक्ष-शुष्क-निष्ठुरभावापन्न असन्निष्ठापथ (उपनाम कुनिष्ठापथ) आरम्भ में असन्निष्ठ दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों की भाँति लोकसफलताभास का जनक प्रमाणित होता हुआ भी वैसे असन्निष्ठ-भावुकताशून्य-अतएव आस्थाभद्राशून्य-अतएव कुत्सित जघन्य स्वार्थपरायण नीरस रूक्ष मानव के सर्वनाश का ही कारण प्रमाणित हो जाया करता है। दुर्भाग्यवश, किंवा (लोकैषणा से उद्बोधन कराने की अपेक्षा से) सौभाग्यवश ही अधिकांश में वैसे ही परीक्षण अबतक हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हैं, जिनका स्वरूपपरिचय-स्वरूपोद्बोधन प्राप्त हुआ है कालान्तर में हमें सुप्रसिद्ध 'भस्मासुर न्याया'नुग्रह से। आस्थाभद्रापरिपूर्णा भावुकतागर्भिता तत्समतुलिता-सुनिष्ठा (सन्निष्ठा) के आध्या त्मिक मर्म्मज्ञान-लव से भी वञ्चित, भद्रा-आस्थाशून्या-भावुकता-विरहिता, अतएव नितान्त रूक्षा कुनिष्ठा (असन्निष्ठा) को ही 'निष्ठा' का तात्त्विक स्वरूप मानने-मनवाने की महाभ्रान्ति में निमग्न, तथाविध उन व्यवहारनिष्ठ-लोकनैष्ठिकोंने निष्ठासूत्रों का भ्रान्त अर्थ लगाते हुए परीक्षण के लिए सर्व-प्रथम इस भावुक को ही अपना लक्ष्य बनाने में अपने 'महा' महिम गौरव का संरक्षण अनुभूत किया। और इस दिशा में प्राप्त होने के अनन्तर हमें सहसा आर्षमहर्षि के उद्बोधनात्मक इस सूत्र का सस्मरण हो पड़ा कि—

> "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ॥
> असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्य्यवती तथा स्याम् ॥"
>
> —यास्कनिरुक्त २।४।१।

---

* यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ ।
व्यपेत्य च समेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्ष० १ अ०।१५ श्लो०।

तथाविध व्यवहारनिष्ठों की, प्रत्यक्ष में अपने आपको हमारे अन्यतम 'महा' सहयोगी घोषित करने वाले उन 'महा' मानवों की लोकसंग्रहानुगता परनिन्दा-परप्रालोचना प्रत्यालोचना-लक्षणा 'असूया' ने, इसी असूयावृत्ति से समुत्पन्न मानसिक संकल्प, मायानिबन्धन कर्म, वाचिक वैखरीवाङ्मय शब्द, आत्मप्रवञ्चनी-मूलक इन तीन आत्मभावों से चक्ररूप में परिव्याप्त 'अनृजु' भाव ने, अतएव निश्चितरूपेण समुत्पन्न बौद्धिक-मानसिक-ऐन्द्रियक शारीरिक स्खलनरूप 'असंयम' ने उन्हें इस 'निष्ठासूत्रस्वाध्याय' के द्वारा अध्यात्म-दिशा के सर्वथा विपरीत-उपविघातिका कुदिशा का ही अनुगामी बना डाला। आत्मबुद्ध्यनुगता निष्ठा-विद्या (सर्वसिद्धिप्रदात्मिका बुद्धिविद्या) भी कतिपय असूयकाम-अनृजु-असंयत-अनधिकारियों के मानस-पटल पर सञ्चित होती हुई सर्वात्मना अधोऽध्यपतनी बन ही गई, जिस भावुकतापूर्ण गुरुतम असह्य अपराध के लिए आप्तमहर्षियों से मुहुर्मुहुः क्षमा-याचना करते हुए भविष्य के लिए निष्ठापथजिज्ञासु-निष्ठापथानु-गामी अपने मान्य पाठकों से हम इस सम्बन्ध में यह नम्र आवेदन कर देना अपना अनिवार्य कर्त्तव्य घोषित करने की धृष्टता कर रहे हैं कि—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' लक्षण इस निष्ठारूप दुर्गम पथ के पथिक बनने से पूर्व रहस्यपूर्ण भावुकता-निष्ठा शब्दों की तत्त्वात्मिका प्रत्यक्षपरोक्ष मार्मिक व्यञ्जनाओं को हृदयङ्गम बना कर ही सहयोगियों को अपने जीवन का लक्ष्य सुस्थिर करने का अनुग्रह करना चाहिए। पूर्वापर, तथा मध्य भावापन्न (भूत-भविष्यत् तथा वर्त्तमानभावापन्न) स्थिति-परिस्थितियों के सतर्कता-अवधानपूर्वक शुभाशुभपरिणाममीमांसाविमर्शद्वारा ही भावुकता, तथा निष्ठा के समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए। अपनी कल्पनामात्र के समावेश से यत्किञ्चित् भी स्खलितप्रज्ञ बन जाने से इन दोनों रहस्यपूर्ण शब्दों की मार्मिक व्यञ्जना, इन दोनों का विरोधात्मक समन्वय निश्चयेन अनर्थपरम्परा का सर्जक बन जाया करता है। एवं उस दशा में हमारा मानवोद्बोधनानुगत यह माङ्गलिक प्रयास मानव के अपने ही प्रज्ञापराध से उसी प्रकार महा अमाङ्गलिक प्रमाणित हो जाता है, जैसे कि स्वस्तिभावसम्पादक समत्व-योगानुगत अशनपान हीन-अति-मिथ्या-अयोगात्मक विरुद्ध योगों से अस्वस्तिभाव-सम्पादक बन जाया करते हैं। अपने लोकपाण्डित्य के बुद्धिविनाशनात्मक पदानुसरण की अपेक्षा शास्त्रैकशरणतामूला आप्तोपदेशपरम्परा की अनन्य आस्थाश्रद्धापूर्वक अनुगति ही इस दिशा में सफलता प्राप्त करने की एकमात्र अजिह्मा-अकुटिला राजपद्धति है, निष्कण्टक राजपथ है। इस सामयिक आवेदन को लक्ष्य बना कर ही सहृदय पाठकों को प्रस्तुत निबन्ध की आलोचना-प्रत्यालोचना, किंवा अनुगमन-विरोध में प्रवृत्त होना चाहिए।

(२५)—श्रद्धेय विद्वानों का व्यामोहन—

पारम्परिक आम्नाय के विलुप्तप्राय हो जाने से केवल अङ्गशास्त्रभक्त–व्याकरण-न्याय–साहित्यनिष्ठ भारतीय विद्वान् भी इस दिशा में इस नैगमिक भावुकता–निष्ठा–मीमांसा की पारम्परिक उपयोगिता से आज पराङ्मुख बन गए हैं। उनकी दृष्टि में भी यह मीमांसा एक समस्या प्रमाणित हो सकती है, जैसे कि पूर्वघटित यात्राप्रसङ्गों में हीं इस स्थिति का भी साक्षात्कार हो चुका है।

घटना का स्थान–समय विस्मृत है, किन्तु घटना अद्यावधि स्मृतिपटल पर जागरूक बनी हुई है। किसी स्थान–अवसर–विशेष में विशेष प्रसङ्ग के माध्यम से समुपस्थित कतिपय सहयोगियों से इसी विषय का प्रसङ्ग प्रक्रान्त बन रहा था। वहीं हमारे राजपत्तनप्रान्त के एक वयोवृद्ध पूज्य अनुभवी सस्तवत विद्वान् भी समुपस्थित थे, जिनका वात्सल्य प्रेम हमें सहज रूप से ही सम्प्राप्त था, एवं जिनके प्रति हमारी श्रद्धा शाश्वतीभ्य समाभ्य अजस्ररूप से प्रवाहित है। कर्णाकर्णिपरम्परया ऐसा सुना गया कि, किसी समय उन्होंने अपने कुलयजमानों के (एवं हमारे सहयोगियों के) प्रति इत्थंभूत उद्गार प्रकट करने का अनुग्रह किया कि,—"हमनें तो अद्यावधि किसी ग्रन्थ मे निष्ठा–भावुकता की ऐसी व्याख्या देखी सुनी नहीं। विदित नहीं, ये बच्चे कैसे इस प्रक्रिया के अनुगामी बन जाते हैं। निष्ठा और भावुकता, भावुकता और निष्ठा, क्या यह व्यामोहक जाल हमें तो व्यामोह में ही डाल रहा है—इत्यादि"। श्रद्धेय वयोवृद्ध पण्डितजी महाराज से तो इस श्रुतोपश्रुता आलोचना के सम्बन्ध में उनके सम्मान को सर्वात्मना सुरक्षित रखने की कामना से इससे अधिक और क्या निवेदन किया जा सकता है कि, यदि कभी साक्षाद्रूप से इस पर उनका अनुग्रह होता तो, हमें यही निवेदन करना पड़ता कि, भगवन्! भावुकता और निष्ठा ही क्या, वाङ्मयप्रपञ्चात्मक समस्त शब्दशास्त्र ही केवल बालकों का उपलालनमात्र ही तो है। बालो विस्मापनं हि तत्। प्रसिद्ध ही है कि—

> उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
> असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥
>
> —भर्तृहरिः (वाक्यपदी)

आलप्यालमिदम्। हाँ, सहयोगी सहृदय पाठकों से इस सम्बन्ध में यह सामयिक आवेदन कर देना अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक होगा कि, बिना शब्दप्रमाण के केवल लौकिक–वाचिक–हेत्वाभासमूलक मान्यभाव के आधार पर कभी किसी भी पारलौकिक–लौकिक मान्यता के प्रति अन्धःश्रद्धापूर्वक गता नुगतिकता के आवेश में आकर आस्था नहीं कर लेनी चाहिए। मानव की, विशेषतः विविध मतवाद समाकुलित वर्त्तमानयुग के स्खलित–चलितप्रज्ञ मानव की सहज भावुकता को समाकर्षित करने में सहज कुशल भाव के प्रवञ्चनापथनिपुण कौशलतत्त्ववेत्ताओं नें सम्पूर्ण क्षेत्रों में अनुरञ्जनात्मक–व्यामोहक उस

प्रकार के आविष्कारों का चयन कर लिया है, जिनके तात्कालिक सामयिक प्रभाव से प्रभावित होकर, दूसरे शब्दों में 'प्रत्यक्षस्थिति' से प्रभावित हो कर भावुक मानव सर्वात्मना लक्ष्यच्युत बन जाया करता है।

"भारतीय हिन्दू मानव अपने विलुप्त विस्मृतप्राय नैगमिक निष्ठापथ पर आरूढ़ बने, मानव की सहज भावुकता पलायित हो, नैगमिक निष्ठा के द्वारा मानव अपने ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय निःश्रेयस् का सफल भोक्ता प्रमाणित हो, एकमात्र इसी उद्बोधनोद्देश्य से असदाख्यानमाध्यम से प्रस्तुत सामयिक निबन्ध लिपिबद्ध हुआ है, जिसे अथ से इति-पर्य्यन्त लक्ष्य बना कर ही मानव निष्ठापथानुसरण में समर्थ बन सकता है।"

भावुकतास्वरूपसमाहक कृष्णार्जुन-प्रश्नोत्तरविमर्शात्मक जिस ऐतिहासिक असदाख्यान को आधार बना कर प्रस्तुत निबन्ध उपक्रान्त हो रहा है, उस असदाख्यान के समन्वय के लिए विविध दृष्टिकोणों को लक्ष्य बनाया गया। आख्यान-माध्यम से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई कि, मानव, भारतीय मानव, तथापि आस्तिक हिन्दूमानव जहाँ अपनी भावुकता से वर्त्तमानयुग में आयन्त का दुःखी प्रमाणित हो रहा है, वहाँ सर्वथनिष्ठ एतद्देशीय इतर मानवसमाज (यवनादयः), एवं परदेशीय मानव उपगा-मिता निष्ठा के अनुग्रह से ऐहिक सुखसाधन-परिग्रह (मात्र) से सुखकवत् प्रतीत हो रहे हैं। अर्जुन, किंवा पाण्डव जहाँ इसी प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से लोकसुख से वञ्चित बन गए थे, वहाँ दुर्योधनप्रमुख कौरव परिस्थितिप्रभावमूला लोकनिष्ठा से सुसमृद्धवत् बन गए थे। इस आख्यानविजृम्भण के आधार पर ही यन्ततोगत्वा सर्वप्रथम हम अपनी प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के आधार पर इस प्रश्न का सर्जन कर रहे हैं कि—

(२६)—निबन्ध के मीमांस्य विषयों की रूपरेखा—

"विश्वेश्वर के शरीररूप विश्व में निवास करने वाला, विश्वेश्वर की ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों से परिपूर्ण भी बना रहता हुआ प्रज्ञाशील भी मानव दुःखी क्यों ?"

उक्त सहज प्रश्न का निरूपित 'असदाख्यान' के माध्यम से स्वरूप से यही समाधान हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि— **'सर्वशक्ति-सर्वसाधनपरिग्रहसम्पन्न भी विश्वमानव एकमात्र प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से ही आयन्त का दुःखी बना रहता है'**। इस *प्रश्नोत्तरविमर्श* के माध्यम से हमारे सम्मुख १-विश्व, २-भावुकता, ३-मानव, ४-दुःख, ये चार तत्त्व मुख्यरूप से उपस्थित हो जाते हैं। ये चारों ही शब्द सर्वथा सापेक्ष हैं। 'विश्व' शब्द के साथ विश्वकर्त्ता विश्वेश्वर का स्वरूप अपेक्षित बना हुआ है, 'भावुकता' शब्द के साथ 'निष्ठा' शब्द का स्वरूपार्थ अपेक्षित बना हुआ है। 'मानव' स्वयं ग्राम्यपशु है, जैसा कि असदाख्यानमीमांसा के आरम्भ में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। ग्राम्यपशुता ही मानव की 'सामाजिकता' है, इसी आधार पर मानव 'सामाजिकप्राणी' माना गया है। कुटुम्ब-जाति-समाज-राष्ट्र-आदि भेद से सामाजिक मानव के साथ अनेक अपेक्षाभाव न्यूनाधिकरूप से सम्बद्ध हैं। 'दुःख' शब्द भी अपने प्रतिद्वन्द्वी 'सुख' शब्द की नित्य अपेक्षा रख रहा है।

इस प्रकार विश्वादि चारों ही शब्द नित्य सापेक्ष बनते हुए अपने अपठित क्रमशः १-विश्वात्मा-२-निष्ठा-३-समाज-४-सुख इन चारों शब्दों की तात्त्विक मीमांसा की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

उक्त चार मुख्य मीमांसाओं के अतिरिक्त निबन्ध के मुख्य प्रतिपाद्य निष्ठा-भावुकता-द्वन्द्व का लौकिक-व्यावहारिक-समन्वय भी सर्वथा आपेक्षिक बन जाता है, जिसके आधार पर ही सर्वथा लोकसूत्रों, लौकिक व्यवहारों के माध्यम से मानव की मुक्त-प्रक्रान्त दैनिक जीवनधारा व्यवस्थित (निष्ठा से), किंवा अव्यवस्थित (भावुकता से) बनती रहती है। तदित्थ, निबन्ध के अन्यान्य प्रासङ्गिक गौण विषयों के साथ साथ निम्नलिखित पाँच तत्त्वमीमांसाएं मुख्य बन जातीं हैं, जिन्हें लक्ष्य बना कर ही हमें निबन्ध के भावशरीर का निम्माण करना है—

१—विश्वेश्वर समन्वित—विश्व की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
२—निष्ठासमन्वित——भावुकता की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
३—समाजसमन्वित——मानव की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
४—सुखसमन्वित——दुःख की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
५—लोकनिष्ठासमन्वित—लोकभावुकता की व्यावहारिक स्वरूपमीमांसा

किंवा—

१—विश्वस्वरूपमीमांसा (क्रमप्राप्त द्वितीयस्तम्भ)
२—भावुकतास्वरूपमीमांसा (तृतीयस्तम्भ)
३—मानवस्वरूपमीमांसा (चतुर्थस्तम्भ)
४—दुःखस्वरूपमीमांसा (पञ्चमस्तम्भ)
५—लौकिकभावुकतास्वरूपमीमांसा (षष्ठस्तम्भ)

निष्कर्षतः—

१—असदाख्यानस्वरूपमीमांसा	(१—स्तम्भ)	प्रथमखण्ड १
२—विश्वेश्वरविश्वस्वरूपमीमांसा	(२—स्तम्भ)	
३—निष्ठाभावुकतास्वरूपमीमांसा	(३—स्तम्भ)	द्वितीयखण्ड २
४—समाज—मानवस्वरूपमीमांसा	(४—स्तम्भ)	
५—सुखदुःखस्वरूपमीमांसा	(५—स्तम्भ)	तृतीयखण्ड ३
६—लौकिकनिष्ठा—भावुकतास्वरूपमीमांसा	(६—स्तम्भ)	
७—संदर्भसंगति, और निबन्धोपराम	(७—स्तम्भ)	

सैषा खण्डत्रयात्मकस्य सामयिकनिबन्धस्यास्य स्वरूपदिशा, रूपरेखा वा

सप्तस्तम्भात्मक सामयिक उद्बोधनमालापन्न प्रक्रान्त निबन्ध के सात स्तम्भों में से प्रथम-खण्डान्तर्गत १-असदाख्यानमीमांसा नामक प्रथम स्तम्भ उपरत हुआ। अब क्रमप्राप्त प्रथमखण्डान्तर्गत २-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीय स्तम्भ की तात्त्विकमीमांसा की ओर ही नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। नैगमिक रहस्यपूर्ण परिभाषाओं की विलुप्ति से अवश्य ही विश्वस्वरूप-मीमांसा आरम्भ में अमुक सीमापर्यन्त जटिलवत् प्रतीत हो सकती है। किन्तु निष्ठाबुद्धिसमन्विता अवधानता से क्रमबद्ध यदि विषय को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह हुआ, तो असन्दिग्धरूपेण सभी मीमांस्य पारिभाषिक विषय सुसमन्वित हो जाएँगे, इसी अभ्यर्थना के साथ प्रथमखण्डान्तर्गत यह प्रथम स्तम्भ उपरत हो रहा है।

उपरता चेयं—

निबन्धोपक्रमाधारभूता—प्रथमखण्डान्तर्गता—

प्रथमस्तम्भात्मिका

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

— १ —

श्री

'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गता—

'विश्वस्वरूपमीमांसा'

प्रथमखण्डान्तर्गता

(विश्व के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा)

नामक

द्वितीयस्तम्भ

२

उपरता चेय—

निबन्धोपक्रमाधारभूता–प्रथमखण्डान्तर्गता—

प्रथमस्तम्भात्मिका

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

— १ —

(२)—असदाख्यानानुगत सिंहावलोकन, एवं विषयोपक्रम—

महाभारतयुगानुगत असदाख्यान के माध्यम से पूर्व के प्रथमस्तम्भ में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि,–'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम्'–'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'–'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार विश्वेश्वर की सम्पूर्ण शक्तियों के प्रत्यग्भाग का भोक्ता मानव-सहजरूप से परिपूर्ण–सर्वशक्तिसम्पन्न बना रहता हुआ भी एकमात्र उस भावुकता के निग्रहानुग्रह से ही उत्पीड़ित बना रहता है, जिस भावुकता का मानवीय मन की दुर्बलता से, एवं सहज निष्ठाबुद्धि की उपेक्षा से समय समय पर उदय होता रहता है। मानवीय मनकी इस दुर्बलता का कारण क्या ?, साथ ही सहजनिष्ठाबुद्धि के अभिभव का कारण क्या ?, क्यों परिपूर्ण भी मानव सहसा मनस्तन्त्रानुबन्धिनी भावुकता का अनुगामी बनता हुआ लक्ष्यच्युत बन जाता है ?, इत्यादि प्रश्नों की स्वरूपमीमांसा के लिए यह अनिवार्य्यरूप से आवश्यक है कि, सत्त्व–रजस्तमोभावसमाकुलित–त्रिवृद्भावापन्न–षोडशान्त–शताधार–पञ्चस्रोतोम्बक–पञ्चयोन्युग्रवक्र–पञ्चप्राणोर्मिसमन्वित–पञ्चावर्त्त–पञ्चाशद्भेदभिन्न–मायामय उस पाञ्चभौतिक विश्व की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा का समन्वय कर लिया जाय, जिसके आधार पर ही तथाकथित प्रश्नों का समसमन्वय सम्भव है। 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' इत्यादि गौतमीय सिद्धान्तानुसार वस्तुस्वरूप के तात्त्विक बोध पर ही अभ्युदय–निःश्रेयस् सम्भव है। त्रिगुणात्मक विश्व के नैगमिक तात्त्विक स्वरूप के बोधमाध्यम से मानव की भावुकता के साथ साथ अन्यान्य कई एक सम–विषम समस्याएँ क्योंकि समाहित बन जातीं हैं। अतएव 'असदाख्यानमीमांसा' नामक प्रथमस्तम्भ के अनन्तर ही '**विश्वस्वरूप मीमांसा**' विश्वेश्वर के माङ्गलिक संस्मरण के साथ उपक्रान्त हो रही है। समस्या का सम्बन्ध उस मानव के साथ है, जिसका प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण–स्थान सप्तवितस्तिपरिमाणात्मक–सप्तभुवनात्मक–पाञ्चभौतिक-मायामय विश्व है। अतएव '**सम्पूर्ण साधन–परिग्रहों की विद्यमानता में भी विश्वगर्भीभूत मानव दुःखी क्यों**'' प्रश्न के *समाधान में प्रवृत्त होते हुए यह सर्वथा सामयिक है* कि, दुःखकारणता की मीमांसा के पहिले मानव के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण–लक्षण उस विश्व के तात्त्विक (वेदसम्मत) स्वरूप की संक्षिप्त स्वरूपदिशा पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दी जाय, जिससे अनेक समस्याओं का स्वतः एव समन्वय हो जाता है।

(३)—विश्व शब्द का निर्वचनार्थ—

प्रवेशनार्थक 'विश' धातु (तु० प० अ०) से 'क्वुन्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न विश्व शब्द के '**विशन्त्यत्र आत्मा, तद् विश्वम्**' इत्यादि निर्वचनानुसार जिस पाञ्चभौतिक महिमलक्षण विवर्त्त में आत्मदेवता प्रविष्ट रहते हैं, वही 'जहाँ आत्मा प्रविष्ट रहता है' इस भाव से '**विश्व**' कहलाया है। यह है विश्वशब्द का सामान्य–सहजस्वरूपनिर्वचन, जिसे मूल बना कर ही हमें विश्व के तात्त्विक स्वरूप की

श्री

अथ सामयिकनिबन्धेऽस्मिन्–'विश्वस्य तात्त्विकस्वरूपमीमांसा'

(विश्व के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा)

द्वितीयस्तम्भ

२

(१)—मांगलिक संस्मरण—

१—किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

२—तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्द्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

३—पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्म्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥

४—य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

५—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

६—छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥

७—य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

८—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥

९—एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ।

वैयक्तिक परिपूर्णता को ही लक्ष्य में रखकर श्रुति में—"सोऽस्य कृत्स्नोऽमुष्मिल्लोके आत्मा भवति" (शत०ब्रा० ३।८४।३७) इस प्रकार आत्मा के लिए 'कृत्स्न' शब्द व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकार 'स कृत्स्न एव देवानां हविरभवत्' (शत० ३।६।४।११) इस वचन के द्वारा भी एक हविः—पदार्थ की पूर्णता के लिए ही 'कृत्स्न' शब्द प्रयुक्त हो रहा है। अन्यत्र उभयविध (सामूहिक, एवं वैय्यक्तिक) परिपूर्णता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने 'सर्वः—कृत्स्नाः-मन्यमानोऽगायत्, तस्मादग्निर्गायत्रः' (शत० ६।१।१।१५।) इस रूप से दोनों भावों के लिए दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।

वक्तव्य यही है कि, सब शब्द उस तत्त्व का संग्राहक बन रहा है, जिसमें व्यष्टि—समष्ट्यात्मक सम्पूर्ण भाव समाविष्ट हैं। षोडशकल प्रजापति (शत० १३।२।२।१३)—विश्वेदेव (गोपथ ब्रा० पू०५।१५)—आपोमय अथर्ववेद (गो०पू० ५।१५)—दक्षिणा (५।१५)—एकविंशस्तोम (५।१५)—अनुष्टुप्छन्द (५।१५)—लोक और दिशा (शत० ६।५।२।२।१३)—अभिक्रमभाव (शत० १।३।५।१०।)—प्रजातन्य (शत० १।६।१।१६) रूप और नाम—(शत० ११।२।३।६) इत्यादि तत्त्व समष्टि के संग्राहक बनते हुए 'सर्व' शब्द से ही निगमशास्त्र में व्यवहृत हुए हैं। एवार्थक विश्व शब्द आत्मप्रवेशापेक्षया सापेक्ष शब्द है। अतएव 'विश्व' शब्द 'विश्व' और 'विश्वात्मा' दोनों का संग्राहक बना हुआ है। + विश्वात्मा त्रिसत्य है, विश्व एकसत्य * है। तीन, और एक, इन चार सत्याओं की (विश्वसंस्था एवं, त्रिकल विश्वात्मसंस्था की) समष्टि ही विश्व की तात्त्विक स्वरूपमीमांसा है। इसी आधार पर—'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' (कौ० ब्रा० २।१) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है, जिसे मूल बना कर ही हमें विश्व के तात्त्विक स्वरूप का समन्वय करना है।

(४)—आत्मबोध की नैगमिक परिभाषा—

'स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्' × इस दार्शनिक सूक्ति का यदि यह अर्थ है कि, "सापेक्ष भावापन्न 'आत्मा' शब्द की प्राकृतिक अपेक्षा को कृत्स्न बनाने वाला आत्मावरणरूप पाञ्चभौतिक विश्व

+—"त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥"

—यजुःसंहिता ३१।४।

*—"अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं 'कृत्स्न' मेकांशेन स्थितो जगत्॥"

—गीता १०।४२।

×—इतो न किञ्चित्, परतो न किञ्चित्, यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।
विचार्यमाणे तु जगत् किञ्चित्, स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्॥

—प्राचीनसूक्तिः।

मीमांसा में प्रवृत्त होना है। विश्वशब्द का विशति–भावात्मक यह निर्वचन * आगमानुगत है, जिसका निगम के साथ समन्वय माना जा सकता है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैत्तिरीयोपनिषत् २।६।) इत्यादि निगमवचन "अपने द्वार भाग से उसे उत्पन्न कर वह उसी में आधारम्भ से प्रविष्ट हो गया" इत्यादिरूप से आगमीय 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम्' इस सिद्धान्त का उपोद्बलक बन रहा है।

उक्त निर्वचन के अतिरिक्त विश्व शब्द का दूसरा तात्त्विक अर्थ एक विशेष दृष्टिकोण से 'सर्व' भी है, जैसाकि—+'विश्वानि देव०' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इसी मन्त्रप्रामाण्य के आधार पर आचार्यभूति ने भी विश्वशब्द का–'सर्वं विश्वं, सर्वं तत्' (शत० ब्रा० ३।१।२।११) यह निर्वचन किया है। एकत्व जहाँ आत्मनिबन्धन है, वहाँ अनेकत्व विश्वनिबन्धन माना गया है। अमृतलक्षण आत्मा अखण्ड है, एकाकी है। मृत्युलक्षण चराचरात्मक विश्व खण्ड–खण्डात्मक बनता हुआ नानाभावापन्न है, जैसा कि–'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति' (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।४।१६।) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। परस्परात्यन्तविरुद्ध मलनिबन्धन–दिग्देशकालसीमित–योगमायात्मिका विष्णुमाया से अनुगृहीत–असंख्य–अनन्त पदार्थों की समष्टि ही, अनेक पदार्थों का समुच्चय ही तो विश्व है। अतएव विश्वशब्द का अर्थ 'सब' मान लिया गया है। इसी आधार पर विद्वानोंने 'सर्व' शब्द का पारिभाषिक अर्थ किया है—'अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्'। इसी सर्वता का सूचक दूसरा शब्द है—'कृत्स्न'। एक ही वस्तु की परिपूर्णता के लिए 'कृत्स्न' शब्द व्यवहृत हुआ है। अतएव कृत्स्न शब्द का 'एकस्य–अशेषत्वं कार्त्स्न्यम्' यह पारिभाषिक अर्थ हुआ है ×।

तात्पर्य यही है कि, सामूहिक पूर्णता के लिए 'सर्व' शब्द (सब) प्रयुक्त हुआ है, एवं वैय्यक्तिक पूर्णता के लिए 'कृत्स्न' शब्द (पूरा) प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए ११४४ शाखाओं में विभक्त वेद के समूह को (शाखासमूह को) 'सर्व' शब्द से व्याहृत किया जायगा, जैसा कि–'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति' (कौषी०उप० ५।१५।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। प्रत्येक शाखा की पूर्णता के लिए वैय्यक्तिकभावनिबन्धन 'कृत्स्न' शब्द व्यवहृत किया जायगा, जैसाकि—'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना' (मनुस्मृति, २।१६५।)) इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

---

* विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं ब्रह्ममायया ॥
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥
—भागवत ३।१०।१२।

+ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥(यजु.संहिता ३।२०) (विश्वानि–सर्वाणि दुरितानि परासुव)।

× लोकभाषा (हिन्दी) में 'सर्व' के लिए 'सब' शब्द, एवं कृत्स्न के लिए 'पूरा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अनेक पदार्थों, किंवा अनेक व्यक्तियों के समूह के लिए 'सब' बोला जाता है, एवं एक ही वस्तु की पूर्णता के लिए 'पूरा' शब्द व्यवहार में आता है।

केवल धृष्टता ही मानी जायगी। दुरधिगम्य सृष्टिमूल–प्रश्न के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित समस्यापूर्ण श्रुतिवचनों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तत्, यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ १ ॥
ऋक्संहिता १०।८१।४।

ब्रह्म वन ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ २ ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।९।७ कण्डिका

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ॥
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन् महिना विश्वचक्षाः ॥ ३ ॥
—ऋक्संहिता १।८१।४।

को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत्, कुत आजाता, कुत इयं विसृष्टिः ॥
अर्वाग्देवा विसर्जनेऽनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ४ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ॥
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ५ ॥
—ऋक्संहिता १० मण्डल नासदीयसूक्त (१२९)–६,७ मन्त्र, एवं तैत्तिरीयब्राह्मण—
२।८।९।५।६, कण्डिका

ऋक्संहिता, तथा तैत्तिरीयब्राह्मण के उक्त पाँच मन्त्रों में बड़ी ही रहस्यपूर्णा गम्भीरभाषा में विश्व के मूल की जिज्ञासा, एवं समाधान हुआ है। 'किं स्विद्वन क उ स वृक्ष आस०' इत्यादि प्रथम मन्त्र में व्यक्त जिज्ञासा का अक्षरार्थ यही है कि,–'वह ऐसा कौनसा (महा) वन (अरण्य-जङ्गल) था, उस महा अरण्य का वह ऐसा कौन सा महावृक्ष था, जिसे काट छाँट कर यह पृथिवी एवं द्यु रूप विश्व बना दिया गया ?। हे मनीषी विद्वानो ! आप अपने मन से ही यह प्रश्न करें कि, जिसने इसप्रकार महावृक्ष से द्यावापृथिवीरूप विश्व के स्वरूप का निर्माण कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से जो इन द्यावापृथिव्य भुवनों को धारण करता हुआ इन का आधार बन कर वृक्षवत् स्थिर बना हुआ है, वह कौन है ?॥ १ ॥

प्रश्नात्मिका जिज्ञासा हुई ऋक्संहिता में। एवं इसका उत्तर प्राप्त हुआ हमें तैत्तिरीयब्राह्मण के द्वारा। उत्तर कैसा रहस्यपूर्ण है !, उत्तर से हमारे जैसा साधारण व्यक्ति क्या समझ लेगा !, यह समस्या भी कम जटिल नहीं है। उत्तरमन्त्र के अक्षरार्थ को लक्ष्य बनाइए। "ब्रह्मरूप ही एक महावन

(ईश्वरापेक्षया), एवं पाञ्चभौतिक शरीर-(जीवापेक्षया)-रूप भूतभाग भी आत्मस्वरूपबोध-सीमा में अन्तर्भूत है" तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि निगमविरुद्ध जगन्मिथ्यात्ववाद के काल्पनिक अभिनिवेश से आविष्ट वेदान्तनिष्ठ दार्शनिकों की दृष्टि में उक्त सूक्ति का यह तात्पर्य है कि, "पाञ्चभौतिक विश्व, शरीर, भोग, आदि सब कुछ मिथ्या है, असत् है, काल्पनिक है। इनका आत्यन्तिक रूप से परित्याग कर नित्यबुद्ध-शुद्ध-मुक्त-निर्विशेषरूप आत्मब्रह्म का बोध ही जीव का परमपुरुषार्थ है" तो हमें आपत्ति ही नहीं है, अपितु पूर्ण आक्रोश है। इसी + अनीश्वरवादमूला वेदान्तनिष्ठा ने भारतीय मानव के सहज-परिपूर्ण-विकास को आत्यन्तिकरूप से अभिभूत कर दिया है। इसी कल्पितवाद ने नियमानुगत प्राकृतिक सत्यज्ञानमयवादसमन्वित, असत्यज्ञानमयवाद के वास्तविक स्वरूपबोध से आस्तिक भारतीय मानव को वञ्चित करते हुए धार्मिक-लौकिक-विधि-विधानों में पदे पदे संशयशील बना डाला है। इसी मिथ्या कल्पित ज्ञानदृष्टि के अनुग्रह से नैगमिक वह नित्यविज्ञानसिद्धान्त सर्वात्मना अभिभूत हो गया है, जिसके अभाव में भारतीय मानव ने केवल ज्ञानवाद की चर्व्वणा में ही अपने आपको चर्वित रखते हुए अपना ऐहिक अभ्युदय विसर्जित कर दिया है। इसी आर्षनिष्ठाविरुद्ध दृष्टिकोण ने भारतीय मानव को विश्व-विभूति की ओर से उदासीनवदासीन बनाते हुए इसे संघर्षात्मक जीवनीय रस से पृथक् कर इसे, केवल भावुक बना डाला है, जो भावुकता आज इसके आत्यन्तिक पराभव का कारण प्रमाणित हो रही है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि, प्रस्तुत विश्वस्वरूपमीमांसा-परिच्छेद में सापेक्ष आत्मा के, उस ज्ञानविज्ञानोभयनिष्ठ× तात्त्विक स्वरूप का भी दिग्दर्शन करा दिया जाय, जिसके बिना विश्वस्वरूपमीमांसा असर्व ही बनी रह जाती है। अतो हि अवधानपूर्वक विश्वाधाररूप आत्मा की स्वरूपमीमांसा से समन्वित इस विश्वस्वरूपमीमांसा को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करेंगे हम आत्मबोधपथानुगत मानवों से। क्योंकि जिस नैगमिक आम्नायानुप्राणित आर्षदृष्टिकोण से यह मीमांसा मीमांसिता होने वाली है, वह आर्षदृष्टिकोण मतवादपरम्परा के आक्रमण से आज विलुप्तप्राय बन चुका है।

(५)—पाञ्चभौतिक विश्व के 'मूल' की जिज्ञासा—

विश्व का मूल कौन ?, प्रश्न नैगमिक महर्षियों के लिए भी जब एक-महती समस्या बन रहा है, तो अस्मदादि सामान्य जनों का इस सम्बन्ध में 'इदमित्थमेव' रूप से निर्णय व्यक्त करने का साहस

+—असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥
—गीता १६।८।

×—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
—गीता ७।२।

"यह सृष्टि जिससे प्रादुर्भूत हुई है, सम्भवत उसी ने इसे धारण कर रक्खा है। अथवा तो सम्भवत उसने इसे धारण नहीं कर रक्खा है। (अपितु यह स्वयं अपने स्वरूप से अपने आप में ही धृत है), यदि कोई इसका जो भी मूलप्रभव अध्यक्ष–अधिष्ठाता है, जोकि–परमाकाश में प्रतिष्ठित माना जाता हुआ 'परमे व्योमन्' नाम से प्रसिद्ध है, हमें तो यह कहने में भी अणुमात्र भी संकोच नहीं होगा कि, वह स्वयं सृष्टिकर्ता भी अपनी सृष्टि के इस मूलरहस्य को, सृष्टि कैसे–कब–किससे–किस पर बनी? इस प्रश्न के निर्णयात्मक उत्तर को जानता है, अथवा नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा है यह दुरधिगम्य सृष्टिमूलविषयक जटिल प्रश्न" ॥५॥

(६)—मूलजिज्ञासासमाधान का मूलाधार—

क्या वास्तव में सृष्टिमूल ऐसा दुरधिगम्य है?, जिसके सम्बन्ध में महर्षि को ये अप्रत्याशित उद्गार प्रकट करने पड़े कि—"**स्वयं सृष्टिकर्त्ता भी इस रहस्य को जानता है, अथवा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता**" सर्वप्रथम इसी दृष्टिकोण की मीमांसा कीजिए। ऋषि के इन उद्गारों का क्या अभिप्राय?, इस प्रश्न की मीमांसा में प्रवृत्त होने के साथ ही उन दो इच्छाविवर्त्तों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, जो क्रमशः 'उत्थिताकांक्षा' एवं 'उत्थाप्य कांक्षा' नामों से प्रसिद्ध है। आत्माधारेण प्रतिष्ठिता विद्याबुद्धि सहकृता सत्त्वगुणान्विता स्थिरप्रज्ञा से संयुक्त मन की सहज–प्राकृतिक इच्छा ही 'उत्थिताकांक्षा' कहलाई है, जिसके लिए 'कामना'—'काम' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। आत्माधारवञ्चिता अविद्याबुद्धिसमन्विता रजस्तमोगुणान्विता अस्थिरप्रज्ञा से युक्त मन की कृत्रिम–वैकारिक इच्छा ही 'उत्थाप्याकांक्षा' है, जो 'लालसा—जिप्सा–एषणा–इच्छा–' इत्यादि नामों से यत्र तत्र प्रसिद्ध हुई है। 'अपने आप उठी हुई कामना' ही उत्थिताकांक्षा है। एवं 'वासना की प्रेरणा से उठाई हुई इच्छा' ही उत्थाप्याकांक्षा है।

कामनालक्षणा उत्थिताकांक्षा सहजसिद्धा है, नित्या है। इस कामना के सम्बन्ध में–'कब किस से', कहाँ?, कैसे?, इत्यादि प्रश्न सर्वात्मना असङ्गत हैं। क्योंकि यह कामना उस आत्मा से सम्बन्ध रखती है, जो प्रकृति के साथ समन्वित रहता हुआ भी तत्त्वत प्रकृति से परे है, अतएव 'पर' (अव्यय) नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति से 'पर' विद्यमान आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में तर्क–प्रश्नादि का प्रवेश निषिद्ध* है। प्राकृतिक विश्वसीमामें दोनों इच्छायें प्रक्रान्त बनी रहती हैं। इनमें परेच्छा (अव्ययात्मेच्छा) नित्या है, सहजसिद्धा है। अतएव वह अमीमांस्या है। सहजकामनालक्षणा इस ईश्वरेच्छा का विचार–विमर्श स्वयं इच्छाध्यक्ष ईश्वर को भी क्यों होने लगा। विमर्श होता है कृत्रिमता में, लोकनिबन्धना मान इच्छा में।

---

* अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्य परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
प्राचीनसूक्ति।

था, उसमें ब्रह्मरूप ही एक महावृक्ष था, जिसे काट-छाँट कर यह द्यावा-पृथिवीरूप महाविश्व निर्मित कर दिया गया। हे मनीषी विद्वानो! (हमने अपने मन में-अन्तर्जगत् में इस उत्तर की पर्याप्त मीमांसा करली है। उसी को मूल बना कर अपने) मन से ही ध्यान हम यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, ब्रह्म ने ही ब्रह्म से द्यावापृथिवीरूप ब्रह्म का निर्माण किया है, ब्रह्म ही इसका आधार बना हुआ है, वही मूलप्रतिष्ठा बन रहा है ॥ २ ॥

ऋक्संहिता का एक अन्य मन्त्र (तृतीय मन्त्र) विभिन्न दृष्टिकोण से ही विश्वमूलजिज्ञासामात्र का विश्लेषण करता हुआ कहता है कि,—"इस महाविश्व का अधिष्ठान (आलम्बनकारण, मूलाधार, जिस आधार पर विश्व का निर्माण हुआ) क्या था, कैसा था? । इस विश्व का आरम्भण (आरम्भक-उपादानकारण) क्या था, कैसा था?, एवं कैसे उस अधिष्ठान पर उस आरम्भण से किसने विश्व उत्पन्न कर दिया?, किंवा इस द्यौ और पृथिवी को उत्पन्न करते हुए जिस विश्वकर्मा (विश्वरचयिता-विश्वनिर्माणकर्त्ता) विश्वचक्षा (विश्वसाक्षी) ने अपनी महिमा से द्युलोक को अनन्ताकाशरूप से विस्तृत कर दिया, उस विश्वनिर्माता (निमित्तकारण) का क्या स्वरूप था?, कैसा स्वरूप था?" ॥ ३ ॥

समस्या का कोई विस्पष्ट समाधान न कर समस्या को अधिकाधिक जटिल बनाती हुई वही ऋक्संहिता आगे जाकर कहती है कि-"किसने विस्पष्टरूप से-'इदमित्थमेव, नान्यथा' (यह निश्चितरूप से ऐसा ही है, इसे इसी रूप से ऐसा ही बना है) रूप से (इस विश्वमूल-रहस्य का) परिज्ञान प्राप्त किया, वैसा भी) किसने अपने मुख से इस सृष्टिमूलरहस्य का विस्पष्ट स्वरूप वर्णन किया? (अर्थात् किसी ने नहीं किया)। कहाँ से किस अधिष्ठान पर किस आरम्भण से किसके द्वारा यह सृष्टि आविर्भूत हो पड़ी-आ गई?, यह कौन जान सका है? (अर्थात् कोई नहीं जान सका है)। (कदाचित् इस सम्बन्ध में यह कहो कि, इन्द्र-वरुण-चन्द्र-अग्नि-सोम-वायु-आदि प्राणदेवताओं से इस सृष्टि का निर्माण-विकास हुआ, सो भी इसलिए सर्वथा असङ्गत, अतएव अमान्य है कि) प्राणदेवता तो स्वयं अर्वाक्-(सृष्टि के बहुत पीछे-सृष्टि के-विश्व के-गर्भ में उत्पन्न होने वाले) हैं। भला वे कैसे सृष्टि के नाथ (रचयिता, किंवा आधार) माने जा सकते हैं। तत्त्वत हमें अन्ततोगत्वा इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, यह कौन जान सकता है कि, कहाँ से किससे किस उपादान से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है? (अर्थात् सृष्टिमूलविषयक प्रश्न सर्वथा असमाधेय बनते हुए अनतिप्रश्न ही प्रमाणित हो रहे हैं) ॥ ४ ॥

(जब सृष्टिमूलविषयक प्रश्नों का कोई निश्चयात्मक समाधान ही प्राप्त नहीं हो सकता, तो इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो तूष्णीं बन जाना ही श्रेयस्कर है। यदि 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' न्याय से कुछ कहने के लिए कोई आतुर ही है, तो वह अधिक से अधिक इस सम्बन्ध में और भी अधिक संशय को दृढ़मूल बनाता हुआ यही असम्बद्ध-अनर्गल-वाणी बोल सकता है कि)—

महाविश्व विनिर्मित हुआ है" । निश्चित ही प्रश्न, और उसका निश्चित ही समाधान । किन्तु प्रश्न भी रहस्यपूर्ण, एवं समाधान भी रहस्यपूर्ण, जिस रहस्यात्मिका प्रश्नोत्तरपरम्परा का सम्बन्ध उस **'महाश्वत्थविज्ञान'** के साथ है, जिसके सम्बन्ध में उपनिषदों में यह घोषणा हुई है कि—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन ।
तदेव शुक्र , तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥
—कठोपनिषत् ४।१।

"अपने मूल को ऊर्ध्वभाग ० में प्रतिष्ठित रखने वाला यह महाश्वत्थ+ वृक्ष सनातन है । यही शुक्र है, यही ब्रह्म है, यही अमृत है । अमृत–ब्रह्म–शुक्रमूर्त्ति उसी सनातन अश्वत्थवृक्ष के आधार पर सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं । कोई उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता" इस अभिप्राय से सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्माश्वत्थविद्या ही वेद की वास्तविक विद्या है, जिसका सम्यक् बोध प्राप्त करने वाला ही स्मार्त्ती उपनिषत् में 'वेदवित्' कहलाया है × । यही वह महावृक्ष है, जिसकी सहस्रवल्शा (शाखा) मानी गई हैं, एवं जिसकी एक एक वल्शा एक एक स्वतन्त्र विश्व है । *सहस्र स्वतन्त्र वल्शेश्वररूप उपेश्वरों की समष्टिरूप मायी* महेश्वररूप एक अश्वत्थ वृक्ष जिस महावन के एक प्रदेश में अवस्थित है, वही विश्वातीत–मायातीत–परात्परब्रह्म नामक वह महावन है, जिसमें महामायावच्छिन्न–सहस्रवल्शामूर्त्ति–असंख्य अश्वत्थवृक्ष समाविष्ट हैं । सर्वमिदमानन्त्यम्, सर्वमिदमानन्त्यम् ।

सर्वबलविशिष्ट रसैकघन मायातीत अद्वय–विश्वातीत **'परात्परपरमेश्वर' ही महावन है** । तत्र *प्रतिष्ठित असंख्य–अगणित 'मायी महेश्वर' ही महावृक्ष हैं* । प्रत्येक मायी महेश्वर की सहस्र शाखाओं में से **'पंचपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा'** नाम से प्रसिद्ध एक एक शाखा से अनुप्राणित स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–इन पाँच पाँच पुण्डीरों की समष्टिरूप एक एक उपेश्वर ही यह हमारा मीमांस्य

० वृत्ताकार मण्डल में परिणाह (बहिर्मण्डल–घेरा–परिधि), विष्कम्भ (व्यास), एवं हृदय (केन्द्र) ये तीन छन्द प्रतिष्ठित रहते हैं । इनमें हृदय ही परिणाहरूपा परिधि की अपेक्षा 'ऊर्ध्व' माना गया है । 'ऊर्ध्वमूल' का अर्थ है 'केन्द्रमूल' । **'प्रजापतिश्चरति गर्भे–तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'** से भी हृदय ही ऊर्ध्वमूल प्रमाणित है ।

+—कर्माश्वत्थ का योगमायावच्छिन्न प्राणिशरीरों के कर्मभोग से सम्बन्ध है, एवं ब्रह्माश्वत्थ का महामायावच्छिन्न पाञ्चभौतिक विश्वरूप विश्वेश्वर के उत्पत्तिस्थित्यात्मक शरीर से सम्बन्ध है ।

×—ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित् ॥ (गीता० १५।१।)

महामायावच्छिन्न मायी अव्ययेश्वर के केन्द्रीय रसवशात्मक हृदय 'श्वोवसीयस्' नामक आत्ममन की कामना–सहजेच्छा–से बलपरम्परा रसाधाररूपेण नैसर्गिकभाव से ग्रन्थिबन्धन–ग्रन्थिविमोक–लक्षणा सिसृक्षा (सृष्टि–इच्छा)–मुमुक्षा (मुक्ति–इच्छा) के द्वारा व्यक्त–अव्यक्तरूप में परिणत होती रहती है, जिस इस सहज व्यक्ताव्यक्त–पुनः व्यक्त–पुनः अव्यक्तादिपरम्परा में सम्वत्सरानुगत दिग्देशकालचक्रत्रयी का कोई नियमन नहीं है। सहज स्वभाव है यह बलपरम्परा का, जिस परम्परा की मूलभूता सिसृक्षा मुमुक्षा से अनुप्राणित सर्ग और लयपरम्परा के सम्बन्ध में कब ?, कैसे ?, कब तक ?, किससे ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकते। सहजेच्छानुसार हमें बुभुक्षा लगती है, सहजभाव से प्रातः भोजन कर लेते हैं। इसी सहजेच्छा से सायङ्काल का भोजनकर्म सम्पन्न बन जाता है। विश्रामेच्छा से शयन में प्रवृत्त हो जाते हैं। इत्यादिरूप से हमारे सहजेच्छानिबन्धन सभी सहजकर्म सहजरूप से 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से प्रक्रान्त बने रहते हैं। इन सहज कर्मों के सम्बन्ध में कभी कब इच्छा हुई ?, किसने इच्छा की, इत्यादि प्रश्न उपस्थित नहीं होते। होता है सब कुछ इच्छापूर्वक (उत्थिताकांक्षारूपा कामनापूर्वक) ही, सर्वथा व्यवस्थित–मर्य्यादितरूप से ही। किन्तु इच्छा करने वाले स्वयं हम भी इस इच्छा के सहज कामना के–सम्बन्ध में कभी उक्त प्रश्न–जिज्ञासा–समाधानादि के अनुगामी बनते हैं, ऐसा कभी अनुभव नहीं होता। अतएव हम अपनी इस सहजेच्छा के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि,—"जो हम इस इच्छा के अध्यक्ष–मूलप्रवर्त्तक हैं, वे हम भी इस इच्छानुगत इन सर्गप्रश्नपरम्पराओं को जानते, अथवा नहीं जानते, यह कौन कह सकता है"। इसप्रकार इस कामनालक्षणा सहज इच्छा के 'याथातथ्येनार्थान् व्यदधात्-शाश्वतीभ्य समाभ्यः' (ईशोपनिषत्) इत्यादिरूप से शाश्वत सहजभाव को व्यक्त करने मात्र के अभिप्राय से ही ऋषि ने 'योऽस्याध्यक्षः परमेव्योमन्–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' ये उद्गार प्रगट किए हैं। जिनका कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि, 'स्वयं विश्वकर्त्ता विश्वेश्वर भी जानते हैं, अथवा नहीं, इसमें सन्देह है'। क्योंकि अन्य श्रुतियों के द्वारा शतधा सहस्रधा इस सहज कामना का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। कामनारूपा सहजेच्छा ही अपने सहजभाव के कारण 'निष्कामभाव' कहलाया है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, "निष्कामकर्म्म किया नहीं जाता, अपितु निष्कामकर्म्म तो होता है"। यही गीताप्रतिपादित बुद्धियोगरहस्यार्थ है। ऐसी कामनालक्षणा इच्छा आसक्तिपाशबन्धन से असंस्पृष्टा रहती हुई सर्वथा अबन्धना है, जबकि इच्छालक्षणा एषणा आसक्तिपाशबन्धनप्रवर्त्तिका बनती हुई सबन्धना घोषित हुई है। इन दोनों सहज–कृत्रिम–कामना–इच्छा-तत्त्वों के स्वरूपभेद को लक्ष्य बना कर ही हमें मन्त्रोक्त सृष्टिमूल की मीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए।

(७)—सृष्टिमूलानुगता प्रश्नमन्त्रस्वरूपदिशा का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय—

(१–२)—"किस महावन के किस महावृक्ष को काट–छाँट कर द्यावापृथिवीरूप महाविश्व बना दिया गया" ?, यह प्रश्न हुआ है ऋक्संहिता में, जिसका उत्तर इस रूप से उपलब्ध हुआ है हमें तैत्तिरीयब्राह्मण में कि—"ब्रह्मरूप महावन के ब्रह्मरूप महावृक्ष को काट–छाँट कर ही द्यावापृथिवीरूप

महाविश्व विनिर्म्मित हुआ है"। निश्चित ही प्रश्न, और उसका निश्चित ही समाधान। किन्तु प्रश्न भी रहस्यपूर्ण, एवं समाधान भी रहस्यपूर्ण, जिस रहस्यात्मिका प्रश्नोत्तरपरम्परा का सम्बन्ध उस 'ब्रह्माश्वत्थविज्ञान' के साथ है, जिसके सम्बन्ध में उपनिषदों में यह घोषणा हुई है कि—

> ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन ।
> तदेव शुक्र, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ॥
> तस्मिँल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥
> —कठोपनिषत् ५।१।

"अपने मूल को ऊर्ध्वभाग * में अवस्थित रखने वाला यह ब्रह्माश्वत्थ+ वृक्ष सनातन है। यही शुक्र है, यही ब्रह्म है, वही अमृत है। अमृत–ब्रह्म–शुक्रमूर्त्ति उसी सनातन अश्वत्थवृक्ष के आधार पर सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं। कोई उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता" इस अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्माश्वत्थविद्या ही वेद की वास्तविक विद्या है, जिसका सम्यक् बोध प्राप्त करने वाला ही स्मार्त्ती उपनिषत् में 'वेदवित्' कहलाया है ×। यही वह महावृक्ष है, जिसकी सहस्रवल्शा (शाखा) मानीं गई हैं, एवं जिसकी एक एक वल्शा एक एक स्वतन्त्र विश्व है। सहस्र स्वतन्त्र वल्शेश्वररूप उपेश्वरों की समष्टिरूप मायी महेश्वररूप एक अश्वत्थ वृक्ष जिस महावन के एक प्रदेश में अवस्थित है, वही विश्वातीत–मायातीत–परात्परब्रह्म नामक वह महावन है, जिसमें महामायावच्छिन्न–सहस्रवल्शामूर्त्ति–असंख्य अश्वत्थवृक्ष समाविष्ट हैं। सर्वमिदमानन्त्यम्, सर्वमिदमानन्त्यम्।

सर्वबलविशिष्ट रसैकघन मायातीत अद्वय–विश्वातीत 'परात्परपरमेश्वर' ही महावन है। तत्र प्रतिष्ठित असंख्य–अगणित 'मायी महेश्वर' ही महावृक्ष हैं। प्रत्येक मायी महेश्वर की सहस्र शाखाओं में से 'पंचपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा' नाम से प्रसिद्ध एक एक शाखा से अनुप्राणित स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–इन पाँच पाँच पुण्डीरों की समष्टिरूप एक एक उपेश्वर ही वह हमारा मीमांस्य

* वर्त्तुलाकार मण्डल में परिणाह (महिम्नमण्डल–घेरा–परिधि), विष्कम्भ (व्यास), एवं हृदय (केन्द्र) ये तीन छन्द प्रतिष्ठित रहते हैं। इनमें हृदय ही परिणाहरूपा परिधि की अपेक्षा 'ऊर्ध्व' माना गया है। 'ऊर्ध्वमूल' का अर्थ है 'केन्द्रमूल'। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे–तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' से भी हृदय ही ऊर्ध्वमूल प्रमाणित है।

+—कर्म्माश्वत्थ का योगमायावच्छिन्न प्राणिशरीरों के कर्म्मभोग से सम्बन्ध है, एवं ब्रह्माश्वत्थ का महामायावच्छिन्न पाञ्चभौतिक विश्वरूप विश्वेश्वर के सप्तवितस्तिकायात्मक शरीर से सम्बन्ध है।

×—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (गीता० १५।१।)

महामायावशवसित मायी अव्ययेश्वर के केन्द्रीय रसबलात्मक हृत् 'श्वोवसीयस्' नामक आत्ममन की कामना—सहजेच्छा—से बलपरम्परा स्वाभावरूपेण नैसर्गिकभाव से ग्रन्थिबन्धन—ग्रन्थिविमोक—लक्षणा सिसृक्षा (सृष्टि—इच्छा)—मुमुक्षा (मुक्ति—इच्छा) के द्वारा व्यक्त—अव्यक्तरूप में परिणत होती रहती है, जिस इस सहज व्यक्ताव्यक्त—पुन व्यक्त—पुन अव्यक्तादिपरम्परा में सम्वत्सरानुगत दिग्देशकालचक्रयी का कोई नियमन नहीं है। सहज स्वभाव है यह बलपरम्परा का, जिस परम्परा की मूलभूता सिसृक्षा मुमुक्षा से अनुप्राणित सग और लयपरम्परा के सम्बन्ध में कब ?, कैसे ?, कब तक ?, किससे ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकते। सहजेच्छानुसार हमें बुभुक्षा लगती है, सहजभाव से प्रातः भोजन कर लेते हैं। इसी सहजेच्छा से सायङ्काल का भोजनकर्म्म सम्पन्न बन जाता है। विश्रामेच्छा से शयन में प्रवृत्त हो जाते हैं। इत्यादिरूप से हमारे सहजेच्छानिबन्धन सभी सहजकर्म्म सहजरूप से 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से प्रक्रान्त बने रहते हैं। इन सहज कर्म्मों के सम्बन्ध में कभी कब इच्छा हुई ?, किसने इच्छा की, इत्यादि प्रश्न उपस्थित नहीं होते। होता है सब कुछ इच्छापूर्वक (उपस्थिताकांक्षारूपा कामना पूर्वक) ही, सर्वथा व्यवस्थित—मर्य्यादितरूप से ही। किन्तु इच्छा करने वाले स्वय हम भी इस इच्छा के सहज कामना के—सम्बन्ध में कभी उक्त प्रश्न—जिज्ञासा—समाधानादि के अनुगामी बनते हैं, ऐसा कभी अनुभव नहीं होता। अतएव हम अपनी इस सहेच्छा के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि,—"जो हम इस इच्छा के अध्यक्ष—मूलप्रवर्त्तक हैं, वे हम भी इस इच्छानुगत इन सर्गप्रश्नपरम्पराओं को जानते, अथवा नहीं जानते, यह कौन कह सकता है"। इसप्रकार इस कामनालक्षणा सहज इच्छा के 'याथातथ्येनार्थान् व्यदधात्—शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' (ईशोपनिषत्) इत्यादिरूप से शाश्वत सहजभाव को व्यक्त करने मात्र के अभिप्राय से ही ऋषि ने 'योऽस्याध्यक्ष परमेव्योमन्—सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद" ये उद्गार प्रगट किए हैं। जिनका कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि, 'स्वयं विश्वकर्त्ता विश्वेश्वर भी जानते हैं, अथवा नहीं, इसमें सन्देह है'। क्योंकि अन्य श्रुतियों के द्वारा शतधा सहस्रधा इस सहज कामना का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। कामनारूपा सहजेच्छा ही अपने सहजभाव के कारण 'निष्कामभाव' कहलाया है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, 'निष्कामकर्म्म किया नहीं जाता, अपितु निष्कामकर्म्म तो होता है"। यही गीताप्रतिपादित बुद्धियोगरहस्यार्थ है। ऐसी कामनालक्षणा इच्छा आसक्तिपाशबन्धन से असंस्पृष्टा रहती हुई सर्वथा अबन्धना है, जबकि इच्छालक्षणा एषणा आसक्तिपाशबन्धनप्रवर्त्तिका बनती हुई सबन्धना घोषित हुई है। इन दोनों सहज—कृत्रिम—कामना—इच्छा-तत्त्वों के स्वरूपभेद को लक्ष्य बना कर ही हमें मन्त्रोक्त सृष्टिमूल की मीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए।

(७)—सृष्टिमूलानुगता पञ्चमन्त्रस्वरूपदिशा का सङ्क्षिप्त स्वरूपपरिचय—

(१–२)—"किस महावन के किस महावृक्ष को काट–छाँट कर द्यावापृथिवीरूप महाविश्व बना दिया गया" ?, यह प्रश्न हुआ है ऋक्संहिता में, जिसका उत्तर इस रूप से उपलब्ध हुआ है हमें तैत्तिरीयब्राह्मण में कि—"ब्रह्मरूप महावन के ब्रह्मरूप महावृक्ष को काट–छाँट कर ही द्यावापृथिवीरूप

'आलम्बन'* कहेंगे, जिसके लिए ऋक्संहितामें—" किंस्विदासीदधिष्ठानम् ? " इत्यादि रूप से 'अधिष्ठान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तटस्थ आधार, एवं सहयोगी आधार, रूपसे हम आधार, किंवा आलम्बनरूप अधिष्ठान को दो भागों में विभक्त मान सकते हैं। पार्थिव धरातल घट का तटस्थ–पारम्परिक आधार है। एवं अवयवदृष्ट्या सर्वथा विकम्पित–परिभ्रममाण, किन्तु अवयवी–दृष्ट्या सर्वथा अविकम्पित, अतएव × अनेजदेजत् अलातचक्र घट का सहयोगी–साक्षात्–आधार है। तटस्थ–भावात्मक आधार की तटस्थता के कारण, एवं अन्ततोगत्वा 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं–मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छां०उप०६।१।१) के अनुसार मृण्मय घट का विलयनस्थान बनने के कारण (जिस विलयन को वस्तु का बन्धनविमोक–मुक्ति–कहा जाता है) 'मुक्तिसाक्षी आधार' कहा जायगा। एवं सहयोगात्मक साक्षात् आधारभाव के कारण अलातचक्र को 'सृष्टिसाक्षी आधार' माना जायगा। *विश्वाधार–गगनसदृश उस उभयविध आधार का नामकरण हुआ है महर्षियों की भाषा में आनन्दविज्ञानघन* मन:प्राणवाग्रूप–पञ्चकोशात्मक–अव्ययपुरुष, जो गीता में 'परपुरुष' नाम से उपवर्णित हुआ है। आनन्दविज्ञानमनोघन अव्ययात्मा पार्थिव तटस्थ धरातल से समतुलित मुक्तिसाक्षी तटस्थ आधार है, एवं मन:प्राणवाग्रूप अव्ययात्मा अलातचक्र से समतुलित सहयोगी धरातल है। मनका विकम्पित रूप ज्ञानसहकृता 'कामशक्ति' (काम–कामना), प्राण का विकम्पित रूप 'क्रियाशक्ति' (तप), एवं वाक्का विकम्पित रूप 'अर्थशक्ति' (श्रम), तीनों की समष्टि अवयवस्थानीया है, एजद्भावापन्ना है। इसका उक्थ–ब्रह्म–साम (प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण) रूप मूल आत्मा मन:प्राणवाक् की समष्टिरूप अवयवी है, जो सर्वथा स्थिर रहता हुआ अनेजत् है। इस मन:प्राणवाग्रूप आत्म (सृष्टिसाक्षी आत्म) लक्षण अनेजद्भावरूप अवयवी से अभिन्न काम–तप–श्रमरूप एजद्भावापन्न अवयवत्रयी ही अनेजदेजद्रूप सृष्टिसाक्षी धरातल है, जैसा कि–निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

---

* एतदालम्बनं श्रेष्ठं, एतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(परम्–अव्ययात्मकम्–'पर' अव्यय, तद्रूपमालम्बनमेव परमालम्बनम्)

कठोपनिषत् १।२।१७।

× अवयवगति, अवयवीगति, उभयगति, भेद से लोकगतियाँ त्रिधा विभक्त हैं। सम्वत्सरचक्रगति–रथचक्रगत्यादि उभयगति के उदाहरण हैं। इनमें अवयव–अवयवी दोनों गतिशील हैं। रथारूढ अश्वारूढ–वाष्पशकटारूढ हमारी गति केवल अवयवगति के उदाहरण हैं। हमारे अवयव स्थिर हैं, किन्तु समष्टिरूप से हम पूर्वदेशपरित्यागानुगत–उत्तरदेशसंयोगरूपा गति के फलभोक्ता बन रहे हैं। अलातचक्रगति केवल अवयवगति है। अवयव चल रहे हैं। समष्टिरूप चक्र कीलक पर सर्वथा स्थिर है। अतएव इसे अवयवदृष्ट्या एजत् (कम्पनशील), समुदायदृष्ट्या अनेजत् (अविकम्पित) कहा जा सकता है।

विश्व है, जिसके मूलान्वेषण में प्रवृत्त होने का हम दुःसाहस ही क्या, असम्भव साहस करने की धृष्टता कर रहे हैं। परात्परस्प विश्वातीत ब्रह्म 'किंस्विद्वनम्?' का उत्तर है। सहस्रकल्पात्मक अश्वत्थब्रह्म 'क उ स वृक्ष आस?' का समाधान है। एवं एककल्पात्मक विश्व 'यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः' की स्वरूपव्याख्या है, एवं यही विश्वमूलविषयक पाँचों मन्त्रों में से प्रथम–द्वितीय–मन्त्रों की सत्यपूर्णा रहस्यदिशा की रूपरेखा है।

(३)—तृतीय मन्त्र की स्वरूपदिशा स्पष्ट है। प्रत्येक नवीन निर्म्माण में, नवीन कार्य्य में आधार, निमित्त, उपादान, विविधचेष्टा, आदि अनेक कारणों की अपेक्षा मानी गई है। कार्य्य के प्रति एक कारण की कारणता नहीं है। अपितु 'कारणसमुदायस्य कार्य्यं प्रति कारणत्वम्' के अनुसार प्रत्येक कार्य्य के स्वरूपसम्पादन के लिए अनेक कारण अपेक्षित बना करते हैं। उदाहरण के लिए लोकप्रजापति (कुम्भकार–घटादिनिर्म्माता कुम्हार) के घटकार्य्य को ही लक्ष्य बनाइए। जिस पार्थिव धरातल पर लौहकीलानुगत अलातचक्र (कुम्हार का चाक) प्रतिष्ठित रहता हुआ द्रुतवेग से परिभ्रमण करता रहता है, उस लौह कीलक का आधार पार्थिव धरातल भी घटकार्य्य का कारण बना हुआ है। स्वयं अलातचक्र भी कारण है। प्रजापति की कारणता तो स्पष्ट है ही। चक्रविवर में समाविष्ट दण्ड भी कारण है। चीवर (वस्त्र की लीर), सूत्र (जिससे चक्रस्थित मृण्मय घटादिपात्र पृथक् कर भूमि पर रख दिए जाते हैं) भी कारण है। जिस मिट्टी से घट बनता है, उसकी कारणता तो प्रत्यक्षतम है ही। मिट्टी को पिण्डमान बनाने वाले पानी की भी कारणता स्पष्ट है। मिट्टी को अन्य स्थान से वहन कर लाने वाला रासभराज (गर्दभ) भी कारणता से पृथक् नहीं किया जा सकता। जिस वायु–आतप (धूप) से घड़े शुष्क बनते हैं, उन वायु–आतपभावों को भी कारणसीमा में ही अन्तर्भूत माना जायगा। जिस अलाव (हाव) में प्रचण्डाग्नि से घटकपालसम्पूर्वक घटकपालों को परिपक्व कर घट का अन्तिम कार्य्य सम्पादन किया जाता है, उस अलाव–ताप को भी कारण माना ही जायगा। इस प्रकार अनेक कारणों के एकत्र समन्वित होने पर ही 'घट' रूप एक कार्य्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। तृतीय मन्त्र ने 'विश्व' कार्य्यरूप इस एक कार्य्य से सम्बन्ध रखने वाले अनेक कारणों में से कुछ एक मुख्य कारणों की ही जिज्ञासा अभिव्यक्त की है, जिसका लोकप्रजापति की उक्त कारणता के माध्यम से निम्न लिखित रूप से समन्वय किया जा सकता है।

घट के निर्म्माणकार्य्य में एकान्ततः स्थिरभावापन्न पार्थिव धरातल, एवं अवयवदृष्ट्या अस्थिर, अवयवी की दृष्टि से स्थिर (अतएव स्थिर–अस्थिर–अचल–चल–अविकम्पित–विकम्पित–) अनेजदेजत् अलातचक्र धरातल, ये दो आधार हैं घटकार्य्य के। इन दोनों आधारों को हम उपनिषद् के शब्दों में

शक्ति का उदय ही सम्भव नहीं है। अक्षर को, किंवा अक्षर की अव्ययात्मानुगामिनी मनःप्राणवाङ्मयी ज्ञानक्रियाअर्थशक्तित्रयी को मूल बनाकर ही स्वरूप से जड भी बना हुआ क्षर उसी प्रकार विश्वका उत्पादकरूप उपादानकारण बन जाता है, जैसे कि कुम्भकार की शक्तित्रयी से युक्त बन कर अलातचक्ररूप मृत् पिण्ड घटोत्पादनरूप उपादानकारण बनने में समर्थ होजाता है। अतएव कथासीत्? प्रश्न के समाधान में हमें अक्षरविशिष्ट क्षर की क्रियाशीलता को ही समुपस्थित करना पड़ेगा, जिसके द्वारा उपादानकारण के साथ साथ निमित्तकारणजिज्ञासा का भी समाधान स्वतः एव समन्वित होजाता है। क्रियाशीलता वस्तुतः अक्षर की ही है। अतएव उपनिषदोंने अक्षर को ही निमित्तकारण घोषित किया है। देखिए !

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ॥
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥१॥

—मुण्डकोपनिषत् १।७।

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥२॥

—मुण्डकोपनिषत् ।१।

अधिष्ठान, निमित्त, और आरम्भण, ये तीन मुख्य कारण माने गए हैं कार्य्य की सर्वता-भूतस्वता-सम्पादन के लिए। शेष कारण गौण हैं, जो इस मुख्य कारणत्रयी के एकत्र समन्वित हो जाने से स्वतः समन्वित हो जाते हैं। अतः श्रुति ने विश्वमूलजिज्ञासा से इन तीन मुख्य कारणों का ही दिग्दर्शन कराया है। इन तीनों कारणों का पूर्वप्रतिपादिता दोनों मन्त्रश्रुतियों के केवल 'ब्रह्म स सृष्टा आस' इस पद से सम्बन्ध है। 'ब्रह्म परमम्' रूप मायातीत, अतएव सर्वातीत अतद्व्यावृत्त परात्पर इस त्रिविध कारणतावाद से सर्वथा असंस्पृष्ट ही है। इस परात्पररूप महावन के मायोपाधिक महावृक्ष (ब्रह्माश्वत्थ) का अमृतलक्षण अव्ययात्मा ही अधिष्ठान है, ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा (परप्रकृति) ही निमित्त है, एवं शुक्रलक्षण क्षरात्मा (अपराप्रकृति) ही उपादान है। इन तीनों की समष्टिरूप एकात्मरूप 'सर्व-सदेकमयमात्मा लक्षण मायी महेश्वर ही वह विश्वकर्म्मा है, जिसके अन्तिम पर्वरूप शुक्रात्मक क्षरपर्व से ही अव्यक्त स्वयम्भू के द्वारा वितानरूप महिमा के माध्यम से त्रैलोक्य त्रिलोकीरूप उस महाविश्व का वितान हुआ है, जिसके भूः-भुवः-स्वः-महस्-जनस्-तपः सत्यम् ये सात पर्व प्रसिद्ध हैं। इसी सप्त-पर्व से सप्तवितस्तिकाय बने हुए सर्वद्रष्टा, सर्वकर्म्मा (आरम्भण-निमित्त-अधिष्ठानरूपा कारणत्रयी से सर्वकर्म्मा) विश्वकर्म्मा प्रजापति वृक्ष इव ही स्तब्धरूप से प्रतिष्ठित होते हुए अपनी 'पूर्णपुरुष' अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं। यही तृतीय मन्त्र की संक्षिप्त स्वरूपदिशा की रूपरेखा है, जिसका महर्षि श्वेता-श्वतर के शब्दों में निम्नलिखितरूप से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

किं कारणं ब्रह्म कुतस्म जाता जीवाम केन क्वच सम्प्रतिष्ठाः ॥
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

(१)—अयं वा इदं नाम-रूपं-कर्म्म । तेषां नाम्नां 'वाक्' इत्येतदेषामुक्थम् । अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति । एतदेषां साम । एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम् । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ अथ रूपाणां चक्षु (प्रज्ञानेत्रात्मक मनः) इत्येतदेषां-उक्थ-साम-ब्रह्म ॥ अथ कर्म्मणां—आत्मा (प्राणब्रह्म) इत्येतदेषामुक्थ ब्रह्म साम ॥ तदेतत् त्रय सत्-एकमयमात्मा । आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् । तदेतदमृत सत्येन (नामरूपकर्म्मात्मकसत्यभावापन्नविश्वेन) छन्नम् । प्राणो वा (मन प्राणवाङ्मयो वा आत्मा) अमृतम् । नामरूपे (कर्म्म च) सत्यम् । ताभ्यामय प्राणश्छन्न ॥

—शत० ब्रा० १४।४।४।१ से ४ पर्य्यन्त

(२)—सवा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमय । सोऽकामयत (मनसा), स तपोऽतप्यत—(प्राणेन) सोऽश्राम्यत् (वाचा) । (शत० ब्रा० १४।४।३।१०)

आनन्दविज्ञानमनोरूप यही मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा तटस्थ धरातल, एव मन प्राणवाग्रूप यही सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा सहयोगी धरातल, दोनों क्रमशः धम्सर्गवत् सर्वथा स्थिर पार्थिव धरातल, एवं अनेकदेवद्भावापन्न अलातचक्रधरातल से समतुलित । और यही 'इस विश्व का अधिष्ठान (आलम्बनकारण) कौन?' इस प्रश्न का संक्षिप्त समाधान ।

अब क्रमप्राप्त दूसरा प्रश्न उपस्थित हुआ—'आरम्भणं कतमत्स्वित्, कथासीत् ?' यह । घट काम्य में जो स्थान उपादानकारणभूता मृत्तिका (मिट्टी) का है, वह स्थान यहाँ विश्वकार्म्य में किसका है ?, विश्व का उपादानकारण कौन है, और वह कैसा है ?, यही इस प्रश्न का अक्षरार्थसमन्वय । अधिष्ठानरूप अव्ययात्मा के सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाग्रूप अनेकदेवत्-धरातल पर प्रतिष्ठित इस साक्षी पुरुष के पराप्रकृतिरूप अक्षर के मन.प्राणवागनुगत पूर्वोक्त काम-तपः श्रमात्मक * 'ज्ञान-(ज्ञानशक्ति)-बल-(अर्थशक्ति)-क्रिया (क्रियाशक्ति)' भावों से अपराप्रकृतिरूप क्षर के द्वारा ही वैज्ञानिक पञ्चजन-पुरञ्जन-रूप से पुरात्मक विश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। कौन ?, का समाधान है—अपराप्रकृतिरूप 'क्षर' । यही 'कतमत्स्वित् ?' का समाधान है । 'कथासीत् ?' (वह उपादान कारण कैसा है ?) इस प्रश्न के गर्भ में लोकप्रजापति (कुम्भकार) अनुबन्धिनी निमित्तकारणजिज्ञासा अन्तर्निगूढ है । पराप्रकृतिरूप अक्षर से नित्य सम्बद्ध होकर ही अपराप्रकृतिरूप क्षर कतमत्स्वित् ? प्रश्न का समाधान करता है । बिना अक्षर के क्षर की उपादानता में कार्य्यानुगता कामतप श्रममूला ज्ञानबलक्रियात्मिका कर्तृत्व

---

* न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल क्रिया च ॥
श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१२।

स्वरूपनिम्माण हुआ है *। स्वायम्भुव सूत्रलक्षण, उपनिषदों में 'सूत्रात्मा' नाम से प्रसिद्ध (शत० ब्रा० १४।६।७।२।) सूत्रवायु से ही सातों भुवनों के सातों प्रवर्ग्यभागों का परस्पर-'प्रश्लिष्टो संयोग'-प्रयुता संयोगः,' रूप परस्पर आदानप्रदान हुआ करता है। पार्थिव कपाल में उपलिप्त क्षाररसात्मक घन आग्नेयप्राण ही पार्थिव भूतों का आधार बना रहता है, जिसे-'अथ यद्रसदिव-स रासभोऽभवत्' (शत० ब्रा० ६।१।१।११) इत्यादि रूप से 'रासभप्राण' कहा है, जिस प्राण के प्राधान्य से तद्वादन्याय से गर्दभ पशु भी 'रासभ' कहलाया है, जो पार्थिव आग्नेय मृण्मयभूत का आधार बना करता है। स्वायम्भुव अन्तर्य्यामी का नियतिदण्ड ही यह दण्ड है, जिसकी प्रेरणा से अलातचक्रात्मक सौर पार्थिव चान्द्रसम्वत्सर-चक्रत्रयी परिभ्रममाण है। इस प्रकार लौकिक प्रजापति कुम्भकार के घट निम्माणकर्म्म में जो जो गौण मुख्य कारण समाविष्ट हैं, उन सबका अलौकिक प्रजापति त्रिभुवनविधाता के कारण समुदाय के साथ भी समतुलन हो रहा है। सम्भवतः इसी आधार पर 'घटानां निर्म्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः' इत्यादि सूक्ति का आविर्भाव हुआ है। लोकमान्यतामें प्रजासर्गाधारभूत दाम्पत्य भावस्वरूपसम्पादक परिणय (विवाह) कर्म्म में सम्भवतः इसी आधार पर प्रजापतिचक्र का (कुम्हार के चाक का) का पूजन विहित हुआ है। तालिका से दोनों के कारणों का सम-समन्वय समतुलित हो रहा है। देखिए !

१—अव्ययात्मा —	—पार्थिवधरातलानुगृहीत अलातचक्र — (अधिष्ठानकारण)		मुख्यकारणानि
२—अक्षरात्मा —	—कुम्भकार — (निमित्तकारण)		मुख्यकारणानि
३—क्षरात्मा —	—मृण्मयपिण्ड — (उपादानकारण)		मुख्यकारणानि
४—स्वायम्भुवसूत्रात्मा —	—कच्चा सूत		गौणकारणानि
५—स्वायम्भुवनियतिदण्ड	—काष्ठदण्ड		गौणकारणानि
६—पार्थिवकपालरस —	—रासभ		गौणकारणानि
७—पारमेष्ठ्यआप —	—पानी		गौणकारणानि
८—सत्याग्नि —	—हाथ का अग्नि		गौणकारणानि
९—सौराग्नि —	—सौरताप (आतप)		गौणकारणानि
अलोकप्रजापतिः —	—लोकप्रजापतिः		
विश्वकर्त्ता —	—घटनिर्म्माता		

* अप्सु त मुख्य भद्र ते लोका अप्सु प्रतिष्ठिताः ।
आपोमया सर्वरसा सर्वमापोमय जगत् ॥
—महाभारत

उद्गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च ॥
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥२॥
संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ॥
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥३॥
ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम् ॥
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥४॥
यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ॥
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥५॥
स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी यः सर्वविद्य ॥
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः * ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत्

उक्त तीन मुख्य कारणों से—जो लोकप्रजापति कुम्भकार के घटनिर्माणकर्म के पार्थिवधरातलानुगृहीत भ्रमणात्मकधरातल (अधिष्ठान), स्वयं कुम्भकार (निमित्त), एवं भ्रमणात्मक मध्य में पिण्डरूपेण अवस्थित आर्द्र मृत्पिण्ड (आरम्भण), इन तीन लौकिक कारणों से समतुलित हैं, विश्वकर्म्मा बने हुए अमृत-ब्रह्म—शुक्रात्मक अव्यय—अक्षर—क्षररूप त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशीप्रजापति ही विश्व के सर्वस्व बन रहे हैं, जैसा कि निम्नलिखित अन्य वचनों से भी प्रमाणित है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ॥
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥१।
या ते धामानि परमाणि यावमा यामध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ॥
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥

—ऋक्संहिता १०।८१।३,५ ।

'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्' (गोपथब्राह्मण) के अनुसार भृग्वङ्गिरोलक्षण आपोमय ऋततत्त्व ही सुब्रह्मात्मक यह अप्तत्त्व (पानी) है, जिसमें—'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' (ईशोपनिषत्) रूप से 'मातरिश्वा' नामक पिण्डस्वरूपसम्पादक आदि—पत्र—श्वेत—ब्रह्म—एमूष—नामक पञ्चविध स्वायम्भुव—पारमेष्ठ्य—सौर—चान्द्र—पार्थिव इन पञ्चपदवायुओं के द्वारा ऋग्यजु सामलक्षण वेदरूप सत्याग्नि में (ब्रह्माग्नि में) आहुति होती रहती है, एवं जिस आहुति से ही सप्त आपोमय भुवनों का

---

* स एव मोक्षहेतु —अमृतरूपाव्ययात्मदृष्ट्या—अधिष्ठानकारणदृष्ट्या वा । स्थिति-हेतु —अक्षररूपाक्षरात्मदृष्ट्या—निमित्तकारणदृष्ट्या वा । बन्धहेतुः—शुक्ररूपक्षरात्मदृष्ट्या—आरम्भणकारणदृष्ट्या वा ।

बुद्धिवादी मानव "इसका यह उक्थ (मूलकारण) है, इसका अमुक मौलिक रहस्य है, इसे हमने यों जान लिया है, त्यों जान लिया है" इस प्रकार काल्पनिक रूप से अपने कारणताज्ञान की निरर्थक घोषणा किया करते हैं। चले हैं हम विश्वमूल का वर्णन करने, एवं विदित नहीं है हमें स्वयं अपना यह सीमित योगमायानिबन्धन स्वरूप ही *। कैसी प्रतारणा कर रहे हैं हम अपने बुद्धिवाद के अतिमान में पड़ कर अपने आपकी ही। मूलकारणरूप परात्पर के किसी एक अत्यंशतम भाग में महामायावच्छिन्न मायी अश्वत्थेश्वर प्रतिष्ठित, जिसकी एक सहस्र शाखा। प्रत्येक शाखा में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–ये पाँच पुण्डीर। पाँचों में पाँचवें पार्थिव पुण्डीर के अमुक भाग के अमुक स्थान में मानव की अमुक सीमिततमा स्वरूपसत्ता। और ऐसा यह सीमिततम मानव उस मूलकारण के अद्धा परिज्ञान का अतिमान करे, इससे अधिक इसका और क्या विमोहन होगा !। मानव के इसी आत्मातिमानलक्षण आत्मविमोहन का उच्छेद कराती हुई श्रुति कहती है—'को अद्धा वेद ?'।

मान लेते हैं अतीतानागतज्ञ अतिमानव महर्षियोंने उस मूल कारण का स्वरूप 'अद्धा' जान लिया है। किन्तु क्या उन्होंने जिस रूप से अपने अन्तर्जगत्‌में उसे जाना है, उसी रूपसे वाणी के द्वारा उसका वर्णन भी होसकता है ?, असम्भव। इसलिए असम्भव कि, वैखरी वाणी उस असीम का उपवर्णन कर ही नहीं सकती। यह तो स्वानुभवैकगम्य तत्त्व है। इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए श्रुति मानव का यह उद्बोधन करा रह हैं कि, तुम उसे भी जान सकते हो, जबकि एकान्तनिष्ठ बन कर तुम सदा तत्त्वानुशीलनपरायण बने रहो। यदि लोकैषणात्मिका बुभुक्षा के पाश में आबद्ध होगए, तो कभी उसे न जान सकोगे। 'क इह प्रवोचत्' से यही परोक्ष उद्बोधनसूत्र व्यवस्थित हुआ है। कहाँ से, किस उपादानकारण से यह विश्वसृष्टि आई है ! (कुत आजाता ?), एवं कहाँ से–किस निमित्त कारण से यह सृष्टि हुई है ! (कुत इयं विसृष्टिः ?), इत्यादि उपादान–निमित्तकारणरूप सभी प्रश्न दुरधिगम्य हैं, जो उन प्राणदेवताओं के लिए भी अज्ञात हैं, जो सृष्टिसर्ग के गर्भ में उत्पन्न होने से अर्वाचीन हैं। इस प्रकार यह विश्व किसके आधार पर किस निमित्त से किस उपादान से कैसे समुत्पन्न हो गया !, इत्यादि सभी प्रश्नपरम्परायें अज्ञातवत् ही प्रमाणित हो रही हैं। स्वयं प्रजापति तो जानते होंगे इस अपने सृष्टिकारण रहस्य को !, श्रुति उत्तर देती है—'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'। इस वाक्य का क्या मौलिक अभिप्राय है?, यह पूर्व में स्पष्ट किया ही जा चुका है—(देखिए पृष्ठसंख्या १३७)। यही सृष्टिमूल–विषय की पञ्चमन्त्रसमष्टि की स्वरूपदिशा का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसे आधार बना कर ही हमें विश्वस्वरूपमीमांसा में प्रवृत्त होना है।

---

* न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ॥
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

—ऋक्संहिता १।१६४।३७ (अस्यवामीयसूक्त)

(४-५)—यह ठीक है कि, मानवीय बुद्धि विश्वमूल के अन्वेषण में प्रवृत्त होती हुई अमुक अंशों में कारणतान्वेषण में शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से आंशिक सफलता प्राप्त कर लेती है। किन्तु यह निश्चित है कि, इस दुर्विज्ञेय मूलकारणतावाद का वैखरीवाणी से विस्पष्टरूप से (अथवा) स्वरूपविश्लेषण कर देना कठिन है। यह तो केवल अपनी प्रज्ञा की अनुभूति का ही विषय है। जाना जा सकता है, सो भी स्वरूपबुद्ध्या ही। इसीलिए तो प्रथम-द्वितीयमन्त्रों में—'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'-'मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो' (मन से ही पूछो, मन से ही बतला रहा हूँ) यह घोषणा हुई है।

'इदमित्थमेव नान्यथा' इस निर्णयबुद्धिरूप से उस विश्वमूल का सम्यक् परिज्ञान सम्भव बन भी कैसे सकता है, जबकि उसका वास्तविक मूल प्रतिष्ठित है मायातीत अस्यनपिनद्ध उस परात्पर में, जिसे + वाङ्मनसपथातीत माना जा रहा है। हमारी (मानव) सत्ता का विश्वगर्भ में क्या स्वरूप है, क्या महत्त्व है?, यह भी हम अपने अन्तर्जगत् में अनुभव कर रहे हैं। एक स्थान पर श्रुति ने हमारी इस उक्थशास्त्रवृत्ति (कारणोद्घोष) का उपहास ही करते हुए हमारा (मानवीय बुद्धि का) इस प्रकार उद्बोधन कराया है कि—

* न त विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ॥
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
—ऋक्संहिता १०।८२।७।

"जिस विश्वकर्म्मा प्रजापति ने इन सम्पूर्ण भूत-भौतिक-विश्वप्रपञ्चों को उत्पन्न किया है, उसका वास्तविक स्वरूप तुम नहीं जानते, नहीं जान सकते। (जिसे तुम अपना जाना हुआ कहते हो, वह तो तुम्हारे इस परिज्ञान से कहीं विलक्षण तत्त्व है। अतएव) तुमने तो और ही कुछ जान रक्खा है। उसी के आधार पर तुमने अपने मन में यह मान लिया है कि, हमने सब कुछ जान लिया है, पहिचान लिया है। जिस प्रकार एक व्यक्ति नीहार (कोहरा) से आसमन्तात् आच्छन्न-अभिभूत बना रहता हुआ आत्मविस्मृत होकर हक्का-बक्का भौंचक्का बन जाता है, ठीक ऐसी ही स्थिति से अभिभूत बने हुए हम

— सविदन्ति न य वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
—तै० उपनिषत् २।४।१।

* किमीहः किंकाय स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम् ।
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ॥
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः ।
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥
—पुष्पदन्त

एवं उस अवस्था में परस्पर विरुद्ध प्रतीयमान सनातन सिद्धान्तों के कारण उत्पन्न संशयपरम्परा का भी सर्वात्मना मूलोच्छेद हो जाता है। एवं तदवस्था में विश्वमूलविषयिणी जटिल प्रश्नपरम्परा सर्वथा सहज रूप से समाहिता बन जाती है। कहीं आत्मा को निर्लेप बतलाया जा रहा है, तो कहीं उसे विश्वाधार माना जा रहा है। कभी आत्मा को अनाद्यनन्त घोषित किया जा रहा है, तो कभी आत्मा को जन्ममृत्यु-प्रवाह से आक्रान्त बतलाया जा रहा है। कहीं आत्मा निष्काम-विश्वातीत-अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-निर्गुण-रूप से उपवर्णित है, तो अन्यत्र आत्मा को सकाम-विश्वेश्वर-सगुणरूप से निरूपित किया जा रहा है। यदि आत्मा व्यापक है, तो उसमें कामना कैसी ?। कामना नहीं तो विश्वसर्ग कैसे ? और क्यों, किससे ?। यदि आत्मा ही विश्वसर्ग का मूल है, तो इस काममाव के कारण वह व्यापक नहीं। क्योंकि-अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति के लिए ही इच्छा हुआ करती है। 'सोऽकामयत' इत्यादि रूप से इच्छा ही यह प्रमाणित कर रही है कि, आत्मा व्यापक नहीं है। यदि आत्मा इस प्रकार व्यापक नहीं है, तो फिर-'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि अद्वैतप्रतिपादक अन्य निगमवचनों का समन्वय कैसे ?, किस आधार पर ? इत्यादि इत्यादि शत-सहस्र-प्रश्नपरम्पराओं के आविर्भाव-तिरोभाव का एकमात्र मुख्य कारण आत्मस्वरूप के बोध का अभाव, एवं आत्ममहिमारूप विभूतिस्वरूप का न जानना ही है। सर्वथा विभक्त-सर्वात्मना सुव्यवस्थित बलसम्बन्ध-तारतम्यानुबन्धी आत्मस्वरूपपरिज्ञान के अनन्तर (जिस परिज्ञान का आधार वह 'अक्षर' है, जो अव्यय तथा क्षर के मध्य में प्रतिष्ठित रहने के कारण 'सेतु' नाम से प्रसिद्ध है, 'पर' नामक अव्ययपुरुष से अवरस्थान में प्रतिष्ठित रहने से 'अवर', तथा 'अवर', नामक क्षरपुरुष से परस्थान में प्रतिष्ठित रहने से 'पर', तदित्थं 'परावर' नाम से प्रसिद्ध है। इस 'परावर' नामक अक्षर के परिज्ञान के अनन्तर) सम्पूर्ण यावत् संशय-परम्पराओं का आमूलचूल निराकरण होजाता है, जैसाकि उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
> क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

(६)—षोडशीपुरुष की त्रिविधा सृष्टि—

भौती उपनिषदों का सुविशद निरूपण करने वाली स्मार्त्ती उपनिषत् ने (श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत् ने) इसी विभक्त-व्यवस्थित दृष्टिकोण के माध्यम से त्रिपुरुषस्वरूपविश्लेषणपूर्वक ही निगमागम सिद्धान्तों का बड़े ही कौशल से समसमन्वय किया है, जिस अभूतपूर्व कौशल से गीताशास्त्र परतःप्रमाण बनता हुआ भी लोकमान्यता में स्वतःप्रमाण प्रमाणित हो रहा है। पुरुषत्रयी की विस्पष्ट शब्दों में घोषणा करती हुई गीतोपनिषत् कहती है—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥
> क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥

(८) —विश्वसर्गनिबन्धन संशयों की आपातरमणीयता—

पूर्वप्रदर्शिता पञ्चमन्त्राधानुगता विश्वमूलमीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, इस पाञ्चभौतिक महाविश्व का मूल, किंवा मूलाधार विश्वकर्म्मा–विश्वेश्वर–सर्वकर्म्मा–षोडशीप्रजापति–'त्रिपुरुषपुरुषात्मक' है। एवं इस पूर्ण पुरुष के तीनों मूलपर्व (कारणपर्व) क्रमशः 'अव्यय–अक्षर आत्म क्षर' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनके स्वरूपोपबृंहण में ही समस्त वाङ्मयप्रपञ्च (सम्पूर्ण निगमागम-शास्त्र) उपक्रान्त है। 'आनन्द–विज्ञानघना–मनोमयी–प्राणगर्भिता वाक्' पञ्चकोशात्मिका वह वाग्देवी है, जिससे अव्ययपुरुष 'कृतकाम' बने हुए हैं। यही पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा विश्वसर्ग के अधिष्ठान (आधार–आलम्बन) बन रहे हैं, जो श्रुति के—'किंस्विदासीदधिष्ठा म्?' की समाधानभूमि हैं। 'ब्रह्मा–विष्णुघन–इन्द्रमय–सोमगर्भित–अग्नि'-मूर्त्ति—पञ्चामृतमूर्त्ति—पञ्चकल-अक्षरपुरुष ही (जिसे अव्ययपुरुष की 'पराप्रकृति' माना गया है) विश्वसर्ग के निमित्त कारण बन रहे हैं, जिस अक्षरानुगता निमित्तकारणता का 'तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावा प्रजायन्ते' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से समर्थन हुआ है, एवं संहिताश्रुति ने जिस प्रश्न का 'कथासीत्?' रूप से जिसकी ओर सङ्केत किया है। 'प्राण–आपोघन–वाङ्मय–अन्नगर्भित–अन्नादमूर्त्ति'– पञ्चमृत्युमूर्त्ति–पञ्च-कल क्षरपुरुष ही (जिसे अव्ययपुरुष की—'अपराप्रकृति' माना गया है) विश्वसर्ग के आरम्भण (उपादान) कारण बन रहे हैं, जो मूलश्रुति के—'आरम्भणं किमासीत्?' प्रश्न की तात्त्विक समाधानभूमि हैं। सर्वसृष्टिसञ्चालक– परात्परसमन्वित, पञ्चकलाव्यय—पञ्चकलाक्षर–पञ्चकलक्षरसमष्टिरूप, अतएव 'षोडशीप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध *, सर्वसृष्टि–आधारनिमित्त–उपादानरूप, त्रिपुरुषपुरुषात्मक इस पूर्णेश्वर विश्वेश्वर विश्वकर्म्मा–प्रजापति को क्षरदृष्टि से विश्व का 'उपादान' कह सकते हैं, अक्षरदृष्टि से विश्व का 'कर्त्ता' (निमित्त) कह सकते हैं, एवं अव्यय दृष्टि से 'मूलाधार' (विश्वाधार) कह सकते हैं। क्षरोपादानरूप से वही 'विश्व' है, अक्षरकर्तृस्वरूप से वही 'विश्वात्मा' है, एवं अव्ययाधिष्ठानरूप से वही 'विश्वातीत' है। इस पारिभाषिक दृष्टिकोण के समन्वय के अनन्तर परस्परविरुद्ध प्रतीत श्रौत–स्मार्त्त सिद्धान्तों का सर्वात्मना सुसमन्वय हो जाता है।

---

* यस्मान्नान्यो न परो अस्ति जातो य आविवेश भुवनानि विश्वा ॥
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥१॥
तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ॥
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥२॥
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ॥
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ३ ॥
— श्वेताश्वतरोपनिषत् १।४,५।

है गीताशास्त्र ने कि,—'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्' (शत०ब्रा० १०।१।३।२) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक ही प्रकृति का अमृतप्रधान—अविपरिणामी भाग तो 'न क्षीयते' निर्वचन से 'अक्षर' कहलाया है, एवं इसी का मृत्युप्रधान—(अविकृतपरिणामात्मक) परिणामी भाग 'क्षीयते—क्षरति' इत्यादि निर्वचनों से 'क्षर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अतएव अमृतरूप अक्षर, मर्त्य लक्षण क्षर, दोनों परा—अपरा प्रकृतियों (प्रकृति—विकृतियों) का 'प्रकृति', इस एक नाम से ही संग्रह कर लिया गया है, जैसा कि निम्नलिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
"विकारांश्च—गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
—गीता १३।१९।

अयमत्र संग्रहः—

(१)—अधिष्ठानकारणम्—अव्ययपुरुषः —पुरुषः ——अमृतात्मा—ततो भावसृष्टिः—(असृष्टिरूपा सृष्टिः)
(२)—निमित्तकारणम्—अक्षरपुरुषः —परप्रकृतिः —ब्रह्मात्मा——ततो गुणसृष्टिः—(उभयसमन्विता सृष्टिः)
(३)—उपादानकारणम्- क्षरपुरुषः ——अपराप्रकृतिः -शुक्रात्मा——ततो विकारसृष्टिः-(संसृष्टिरूपा सृष्टिः)

(१०)—सृष्टिभावानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूपपरिचय—

अव्ययपुरुषानुगता भावसृष्टि, एवं अक्षरप्रकृत्यनुगता गुणसृष्टि, दोनों ही संसृष्टिलक्षणा सृष्टिस्वरूप-व्याख्या से असंस्पृष्ट रहतीं हुई अमीमांस्या ही मानी जायगी। अतएव 'विश्वस्वरूपमीमांसात्मक' प्रस्तुत परिच्छेद में क्षरविकृत्यनुगता विकारसृष्टि की ही प्रधानरूप से मीमांसा की जायगी, जिसकी स्वरूप-व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम 'सृष्टि' शब्द को ही मीमांस्य बनाना पड़ेगा।

न्यूनतम दो, अथवा तो अनेक विरुद्ध पदार्थों का सम्बन्ध ही 'सृष्टि' का आधार माना गया है। दिग्देशकालानवच्छिन्न अनाद्यनन्त रसाधार पर प्रतिष्ठित दिग्देशकालावच्छिन्न सादिसान्त बलों का यह पारस्परिक सम्बन्ध औपनिषद् विज्ञान के अनुसार विभूति—संसर्ग—ग्रन्थिबन्धन—उपृढ—ओतप्रोत—वसु धानकोश—आवाप—आयतन—अधिष्ठान—उदार—प्रसङ्ग—आदि आदि भेदों से अनेक प्रकार का माना गया है। इन बलसम्बन्धों का सम्यक्—परिज्ञान ही सृष्टिस्वरूपविज्ञान है। उदाहरण के लिए प्रकृत में केवल दो तीन सम्बन्धों की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। अन्तर्याम, बहिर्याम, उपयाम इन तीन नैगमिक सम्बन्धों का ब्राह्मणग्रन्थ में प्रतिपादित चत्वारिंशत् (४०) ग्रहात्मक सुप्रसिद्ध 'ग्रहयाग' में विस्तार से विश्लेषण हुआ है (देखिए—शतपथब्राह्मण—चतुर्थकाण्ड—ग्रहयागात्मककाण्ड)।

नितान्त भावुकतापूर्ण अतएव सर्वथा अवैज्ञानिक—'सांसिद्धिकं द्रवत्वं जलं' (न्यायन्याय ग्रन्थ) (जलका द्रवत्व प्राकृतिक है—नित्य है) इत्यादि बालसिद्धान्त का आमूलचूल (उन्मूलन) करने वाले 'अपां संघातो, विलयनञ्च—तेजःसंयोगात्' (वैशेषिक द० ५।२।८) इस सूत्रसिद्धान्त के अनुसार पानी का संघात (हिमरूप घनीभाव), एवं विलयन (द्रुतभाव), दोनों तेज संयोग पर ही अवलम्बित

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥

—गीता १५।१६,१७,।

उक्त पुरुषत्रयी के आधार पर समष्टिरूप विश्वकर्म (सृष्टिकर्म) के साथ साथ इन तीनों पुरुषों से (किंवा अव्ययपुरुष, तथा अक्षर–क्षररूपा परा–अपराप्रकृतियों से) क्रमशः तीन स्वतन्त्र सृष्टिधाराओं का विनिगमन शास्त्रतीम्यः समाम्यः प्रक्रान्त है। अधिष्ठानकारणात्मक अव्ययपुरुष के आनन्दविज्ञान–प्राणावाक्–भावों से सीमित हृदयस्थ 'श्वोवसीयस्' नामक मन की सहज कामना से * जिस सहज स्वतन्त्र असङ्ग सृष्टिधारा का प्रवाह प्रक्रान्त है, वही 'भावसृष्टि' कहलाई है। यही अव्यय-मूला असङ्ग भावसृष्टि यत्रतत्र निगमागमग्रन्थों में—'भावसृष्टि–मानसीसृष्टि–आत्मसृष्टि–ऋषिसृष्टि प्राणसृष्टि–मनुसृष्टि–आदि विविध नामों से (अपेक्षाभेद से) उपवर्णित हुई है। गीताशास्त्र ने प्रथम पञ्चदशाध्याय अव्यय की इस सृष्टि का निम्नलिखित रूप से विश्लेषण किया है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

—गीता १०।६।

अव्ययात्मानुगता यह भावसृष्टि अपने असङ्गमात्र के कारण सर्वथा 'अबाधमध्वना' (स्थानानव रोधिनी–जगह न रोकने वाली सुसूक्ष्मा) है, मानससङ्कल्पप्रधाना–सङ्कल्परूपमात्रा है। निमित्तकारणरूप अक्षरात्मा (प्राकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से समन्वित सृष्टि 'गुणसृष्टि' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसके— "क्रियासृष्टि–प्राणमयीसृष्टि–देवसृष्टि–प्राकृतिकसृष्टि–तन्मात्रसृष्टि–आदि विविध भेद यत्रतत्र उप वर्णित हैं। दार्शनिक दृष्टिनिबन्धन गुण–अणु–रेणु नामकी सूक्ष्ममूलसृष्टित्रयी का भी इस गुणसृष्टि में ही अन्तर्भाव है, जिसका विशदरूप से प्रकृतिकारणमात्रवादी प्राधानिकदर्शन ('सांख्यदर्शन' नाम से प्रसिद्ध 'कणाददर्शन') में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। उपादानकारणात्मक क्षरात्मा (विकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से समन्वित सृष्टि 'विकारसृष्टि' कहलाई है, जिसे—"अर्थसृष्टि–वाङ्मयीसृष्टि–भूतसृष्टि–पशुसृष्टि–प्रत्ययसृष्टि–उद्भिज्जसृष्टि–वैकारिकीसृष्टि–मैथुनीसृष्टि' इत्यादि विविध नामों से समन्वित किया गया है। परामप्रकृतिलक्षण अक्षरात्मा (प्रकृति) से सम्बद्ध गुणसृष्टि, एवं अपराप्रकृतिलक्षण क्षरात्मा (विकृति) से सम्बद्ध विकारसृष्टि, दोनों का समष्टिरूप से इसलिए संग्रह कर लिया

* कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
ऋक्संहिता १०।१२९।४। (नासदीयसूक्त)
(ऋषयः–भृगवः–सौम्यप्राणाः–मनीषा)

है गीताशास्त्र ने कि,–'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्' (शत०ब्रा० १०।१।३।२) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक ही प्रकृति का अमृतप्रधान–अविपरिणामी भाग तो 'न क्षीयते' निर्वचन से 'अक्षर' कहलाया है, एवं इसी का मृत्युप्रधान–(अविकृतपरिणामात्मक) परिणामी भाग 'क्षीयते-क्षरति' इत्यादि निर्वचनों से 'क्षर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अतएव अमृतरूप अक्षर, मर्त्य लक्षण क्षर, दोनों परा–अपरा प्रकृतियों (प्रकृति–विकृतियों) का 'प्रकृति', इस एक नाम से ही संग्रह कर लिया गया है, जैसा कि निम्नलिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

> प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
> "विकारांश्च–गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
>
> —गीता १३।१९।

अयमत्र संग्रहः—

(१)–अधिष्ठानकारणम्–अव्ययपुरुष —पुरुष ——अमृतात्मा—ततो मायसृष्टि –(असृष्टिरूपा सृष्टिः)
(२)–निमित्तकारणम्—अक्षरपुरुष —पराप्रकृति –ब्रह्मात्मा——ततो गुणसृष्टिः–(उभयसमन्विता सृष्टिः)
(३)–उपादानकारणम्– क्षरपुरुष ——अपराप्रकृति -शुक्रात्मा——ततो विकारसृष्टिः–(सृष्टिरूपा सृष्टिः)

(१०)—सृष्टिभावानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूपपरिचय—

अव्ययपुरुषानुगता मायसृष्टि, एवं अक्षरप्रकृत्यनुगता गुणसृष्टि, दोनों ही संश्लिष्टा सृष्टिस्वरूप व्याख्या से असंस्पृष्ट रहतीं हुईं अमीमांस्या ही मानी जायगी। अतएव 'विश्वस्वरूपमीमांसात्मक' *प्रस्तुत परिच्छेद में क्षरविकृत्यनुगता विकारसृष्टि की ही प्रधानरूप से मीमांसा की जायगी,* जिसकी स्वरूप-व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम 'सृष्टि' शब्द को ही मीमांस्य बनाना पड़ेगा।

न्यूनतम दो, अथवा तो अनेक विरुद्ध पदार्थों का सम्बन्ध ही 'सृष्टि' का आधार *माना गया* है। दिग्देशकालानवच्छिन्न अनाद्यनन्त रसाधार पर प्रतिष्ठित दिग्देशकालावच्छिन्न सादिसान्त बलों का यह पारस्परिक सम्बन्ध औपनिषद विज्ञान के अनुसार **विभूति–संसर–ग्रन्थियन्धन–उदूढ–ओतप्रोत–वसु धामकाश–आवाप–आयतन–अधिष्ठान–उदार–प्रसक्त**–आदि आदि भेदों से अनेक प्रकार का माना गया है। इन सम्बन्धों का सम्यक्–परिज्ञान ही सृष्टिस्वरूपविज्ञान है। उदाहरण के लिए प्रकृत में केवल दो तीन सम्बन्धों की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। **अन्तर्य्याम, बहिर्य्याम,** उपयाम इन तीन नैगमिक सम्बन्धों का ब्राह्मणग्रन्थ में प्रतिपादित चत्वारिंशत् (४०) महात्मक सुप्रसिद्ध **'ग्रहयाग'** में विस्तार से विश्लेषण हुआ है (देखिए–शतपथब्राह्मण–चतुर्थकाण्ड–ग्रहयागात्मककाण्ड)।

नितान्त भावुकतापूर्ण, अतएव सर्वथा अवैज्ञानिक–**'सांसिद्धिकं द्रवत्वं जले'** (न्यायग्रन्थ) (जल का द्रवत्व प्राकृतिक है–नित्य है) इत्यादि बालसिद्धान्त का आमूलचूड़ (उन्मूलन) करने वाले **'अपां संघातो, विलयनञ्च–तेजःसंयोगात्'** (वैशेषिक द० ५।२।८) इस सूत्रसिद्धान्त के अनुसार पानी का संघात (हिमरूप घनीभाव), एवं विलयन (द्रुतभाव), दोनों तेज संयोग पर ही अवलम्बित

उत्तम पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥

—गीता १५।१६,१७,।

उक्त पुरुषत्रयी के आधार पर समष्टिरूप विश्वकर्म्म (सृष्टिकर्म) के साथ साथ इन तीनों पुरुषों से (किंवा अव्ययपुरुष, तथा अक्षर—क्षररूपा परा-अपराप्रकृतियों से) क्रमशः तीन स्वतन्त्र सृष्टिधाराओं का विनिगमन शास्त्रसम्मत समाम्य प्रक्रान्त है। अधिष्ठानकारणात्मक अव्ययपुरुष के आनन्दविज्ञान-प्राणवाक्-भावों से सीमित हृदयस्थ 'श्वोवसीयस्' नामक मन की सहज कामना से * जिस सहज स्वतन्त्र असङ्ग सृष्टिधारा का प्रवाह प्रक्रान्त है, वही 'भावसृष्टि' कहलाई है। यही अव्यय-मूला असङ्ग भावसृष्टि यत्रतत्र निगमागमग्रन्थों में—'ज्ञानसृष्टि-मानसीसृष्टि-आत्मसृष्टि-ऋषिसृष्टि-प्राणसृष्टि-मनुसृष्टि-आदि विविध नामों से (अपेक्षाभेद से) उपवर्णित हुई है। गीताशास्त्र ने अक्षर-पुरुषवाच्य अव्यय की इस सृष्टि का निम्नलिखित रूप से विश्लेषण किया है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

—गीता १०।६।

अव्ययात्मानुगता यह भावसृष्टि अपने असङ्गभाव के कारण सर्वथा 'यथामच्छन्दा' (स्थानानव रोधिनी—जगह न रोकने वाली सुसूक्ष्मा) है, मानससङ्कल्पप्रधाना—सङ्कल्परूपमात्रा है। निमित्तकारणरूप अक्षरात्मा (प्राकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से समन्वित सृष्टि 'गुणसृष्टि' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसके—"क्रियासृष्टि-प्राणमयीसृष्टि-देवसृष्टि-प्राकृतिकसृष्टि-तन्मात्रसृष्टि-आदि विविध भेद यत्रतत्र उप वर्णित हैं। दार्शनिक दृष्टिनिबन्धन गुण-अणु-रेणु नामकी सूक्ष्मभूतसृष्टित्रयी का भी इस गुणसृष्टि में ही अन्तर्भाव है, जिसका विशदरूप से प्रकृतिकारणवादी प्राधानिकदर्शन ('सांख्यदर्शन' नाम से प्रसिद्ध 'कणाददर्शन') में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। उपादानकारणात्मक क्षरात्मा (विकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से समन्वित सृष्टि 'विकारसृष्टि' कहलाई है, जिसे—"भूतसृष्टि-वाङ्मयीसृष्टि-भूतसृष्टि-पशुसृष्टि-प्रयर्थ्यसृष्टि-उद्भिज्जसृष्टि-वैकारिकीसृष्टि-मैथुनीसृष्टि" इत्यादि विविध नामों से समन्वित किया गया है। परप्रकृतिलक्षण अक्षरात्मा (प्रकृति) से सम्पदा गुणसृष्टि, एवं अपरप्रकृतिलक्षण क्षरात्मा (विकृति) से सम्पदा विकारसृष्टि, दोनों का समष्टिरूप से इसीलिए संग्रह कर लिया

---

* कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

ऋक्संहिता १०।१२९।४। (नासदीयसूक्त)

(कवय-भृगवा-सौम्यप्राणा-मनीषा)

मघवन् ! मादयस्व (यजु स० ७।५।) रूप से ऋषि इन्द्रादि प्राणदेवताओं के अन्तर्याम सम्बन्ध की ही कामना अभिव्यक्त कर रहे हैं, जो सम्बन्ध आगन्तुक को आगमनाधार का आत्मा बना देता है। सभी प्राणदेवता, सभी ईश्वरीय-विभूतियाँ सौरसम्वत्सरमण्डल में सर्वत्र व्याप्त रहतीं हुई सब चराचर प्राणियों के साथ सम्बन्धित हैं। किन्तु बहिर्याम, किंवा उपयाम, अथवा तो यातयाम सम्बन्ध से। अतएव इन असम्बन्धात्मक सम्बन्धों से प्राणियों में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता। प्राणतत्त्वरहस्यानभिज्ञ अभिनिविष्ट मन्दबुद्धि भागरथीसलिल में अधिष्ठित, अभिमानीरूप से आत्मरूप से प्रतिष्ठित भगवती गङ्गामाता के पावनसंस्मरण से भी वञ्चित रहते हुए आस्तिक श्रद्धालु प्रजा के सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तर्काभास उपस्थित करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जा से अवनतशिरस्क नहीं बन जाते कि,—"यदि गांगेय सोम में इस प्रकार मृत्युबन्धनविमोक की शक्ति है, तो उसमें रहने वाले मत्स्य-मकर-तिमिङ्गिलादि जलजन्तुओं की मुक्ति क्यों नहीं होती ?"। इस जघन्य तर्काभास का उत्तर स्पष्ट है। मृत्युसंसारसागर में मत्स्य-मकरादिवत् इतस्ततः सन्तरण करने वाले उन अभिनिविष्ट पापात्माओं पर उस ब्रह्मद्रवी का अनुग्रह सम्भव ही कैसे है, जबकि इन पापात्माओं की आसुरवृत्ति से संयुक्त इनके पापपूर्ण मानसतन्त्र के साथ इस देवता का अन्तर्याम सम्बन्ध स्वप्न में भी सम्भावित नहीं है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इत्यादि श्रद्धासिद्धान्तानुसार सात्त्विक श्रद्धाशून्य इन पापात्माओं के अन्तर्जगत् के साथ कैसे दिव्यतत्त्वों का अन्तर्याम सम्बन्ध सम्भव हो सकता है ?। एवं तदभावे वे कैसे उस ब्रह्मानन्द का स्वप्न में भी अनुभव कर सकते हैं ? उन अश्रद्धालुओं आसुरबुद्धिपरायणों के लिए तो ऐहिक-आमुष्मिक कुछ भी तो दिव्यप्राणातिशय अनुग्राहक नहीं बना करता। अन्तर्याम सम्बन्ध ही क्या, वे तो बहिर्याम, एवं उपयाम के भी पात्र नहीं हैं। सर्वथा यातयामात्मक उन अभिनिविष्टों के लिए तो सब कुछ यातयाम ही प्रमाणित हो रहा है। अलम्प्यालम् , कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।

(१२) —प्रजोत्पादक यागसम्बन्ध—

उक्त सम्बन्धत्रयी में से 'अन्तर्याम' सम्बन्ध ही संसृष्टिमूला सृष्टि का आधार बना करता है, यही वक्तव्यांश है। विभिन्न जातीय दो, अथवा तो अनेक पदार्थों का पारस्परिक अन्तर्याम सम्बन्ध ही लोकभाषा में 'रासायनिक मिश्रण' कहलाया है। यही यज्ञभाषा में 'याग' सम्बन्ध कहलाया है। 'सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा०' इत्यादि सिद्धान्तानुसार यज्ञात्मक यही यागसम्बन्ध विश्व, एवं विश्वप्रजा का जनक बना हुआ है। सोरा और कोयला, दोनों का यागात्मक मिश्रण जिस प्रकार विस्फोटक द्रव्य (बारूद) का जनक बनता है, अम्म —(ऑक्सिजन Oxygen), और पवमान (हाइड्रोजन Hydrogen), दोनों का रासायनिकमिश्रण जैसे पेय जल का उत्पादक बनता है, एवमेव ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा हृदयशक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित प्राणाग्नि, एवं प्राणसोम का यागात्मक, किंवा प्राण-रयिरूप यागसम्बन्ध विश्व तथा विश्वप्रजा का उत्पादक बना करता है। इसी आधार पर–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

है। 'ध्रुव' नाम से प्रसिद्ध घनाग्नि के प्रवेश से यही पानी सहित बनता हुआ घनभाव (हिमभाव-बर्फ) में परिणत हो जाता है, एवं 'धर्त्र' नामक तरलाग्नि के प्रवेश से वही पानी रसभावमय बनता हुआ तरलभाव (पेयभाव) रूप में परिणत हो जाता है, जो इस सरित्-इरा के सम्बन्ध में (द्रवीभूत रससम्बन्ध से) निगम में 'सलिल' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'सरित्' का ही रूपान्तर 'सलिल' है। इस सलिल, और तेजोमय अग्नि को लक्ष्य बना कर ही उस त्रयी का अन्वेषण कीजिए।

पानी बह रहा है। यह बहाव तरलाग्निसमावेश का ही परिणाम है। अग्नि ने अपने तापधर्म रूप स्वधर्म्म को (स्वरूपधर्म्म को, स्वप्रकृति को) आत्मसमर्पणरूप जल के प्रति अर्पित कर दिया है। वह अग्निधर्म्म आज जलधर्म्म बन गया है। परधर्म्म (पानी का धर्म्म) किस प्रकार स्वधर्म्म (अग्निधर्म) का स्वरूपोत्क्रामक बन जाता है ?, यह प्रश्न भी इसी उदाहरण से समाहित बन रहा है। इस जलाग्निसम्बन्ध को ही हम 'अन्तर्य्याम' सम्बन्ध कहेंगे। जलको किसी पात्र में भर कर अग्निसमिन्धन द्वारा उष्ण (गरम) कीजिए। जल उष्ण हो ही जायगा इस समिन्धनकर्म्म से। इस जलाग्नि का सम्बन्ध 'बहिर्य्याम' सम्बन्ध कहलाएगा। इस उष्णतारूप जलधर्म्म को जल का आगन्तुक धर्म्मलक्षण परधर्म्म कहा जायगा, जो अत्यन्तानलसंयोग पर पानी को बाष्परूप में परिणत कर कालान्तर में पानी का स्वरूप ही उच्छिन्न कर सकता है। इसीलिए तो आगन्तुक धर्म्मात्मक इस धर्म्म [illegible] प्रकृतिविरुद्ध धर्म्म को 'भयावह' माना गया है। सामुद्रजल में बड़वानल प्रज्वलि[illegible] सम्बन्ध 'उपयाम' सम्बन्ध माना जायगा। किसी भी पात्र में अवस्थित अङ्गार[illegible] पात्र के साथ जो सम्बन्ध है, वही 'उपयाम' सम्बन्ध है। इस प्रकार द्रुत पानी-उष्ण पानी-अ[illegible]क पानी-रूप से जलाग्निसम्बन्ध तीन भावों में परिणत हो रहा है। हमनें भोजन किया, उसे [illegible]ग्नि ने आत्मसात् कर लिया, यही भोजन का हमारे साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है। भोजन किया, कि[illegible] शारीरिक मन्दाग्नि आदि-संग्रहणी आदि-विकारों के कारण भोजन आत्मसात् न बन सका, रसनिर्म्माण न होसका। भोजन का यही हमारे साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है। भोजनद्रव्य ग्रासादिरूप से हाथ में उठा लिया। यही भोजन के साथ हमारा उपयाम सम्बन्ध है। भोजन किया, किन्तु किसी शारीरिक पित्तादि विकार से, अथवा तो भोजनद्रव्य-निक्षिप्त मक्षिकादि के कारण भोजनद्रव्य अविलम्ब ही वान्तिरूप से विनिर्गत हो गया, ऐसे निरर्थक भोजनद्रव्य के साथ हमारा कौनसा सम्बन्ध माना जाय ?, प्रश्न का उत्तर है एक चौथा 'यातयाम' नाम का असम्बन्धात्मक सम्बन्ध, जिस के लिए— यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितं च यत्' (गीता १७।१०) कहा गया है।

(११) —प्राणनिबन्धन अन्तर्य्याम सम्बन्ध का महत्त्व—

भौतिक-वैकारिक विश्व का अव्ययात्मा के साथ उपयाम सम्बन्ध है, अक्षरात्मा के साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है, एवं उपादानकारणरूप क्षरात्मा के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, और यही अन्तर्य्याम सम्बन्ध विसृष्टिलक्षण वह सम्बन्ध है, जो यज्ञवाद में 'याग' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अन्तर्यामी'

भवयन् ! मात्र्यस्व (यजु स० ७।५।) रूप से श्रुति इन्द्रादि प्राणदेवताओं के अन्तर्य्याम सम्बन्ध की ही कामना अभिव्यक्त कर रहे हैं, जो सम्बन्ध आगन्तुक को आगमनाधार का आत्मा बना देता है। सभी प्राणदेवता, सभी ईश्वरीय-विभूतियाँ सौरसम्वत्सरमण्डल में सर्वत्र व्याप्त रहतीं हुई सब चराचर प्राणियों के साथ सम्बन्धित हैं। किन्तु बहिर्य्याम, किंवा उपयाम, अथवा तो यातयाम सम्बन्ध से। अतएव इन असम्बन्धात्मक सम्बन्धों से प्राणियों में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता। प्राणतत्त्वरहस्यानभिज्ञ अभिनिविष्ट मन्दबुद्धि भागरथीसलिल में अधिष्ठित, अभिमानीरूप से आत्मरूप से प्रतिष्ठित भगवती गङ्गामाता के पावनसंस्मरण से भी वञ्चित रहते हुए आस्तिक श्रद्धालु प्रजा के सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तर्काभास उपस्थित करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जा से अवनतशिरस्क नहीं बन जाते कि,—"यदि गांगय तोय में इस प्रकार मृत्युबन्धनविमोक की शक्ति है, तो उसमें रहने वाले मत्स्य-मकर-तिमिङ्गिलादि जलजन्तुओं की मुक्ति क्यों नहीं होती ?"। इस जघन्य तर्काभास का उत्तर स्पष्ट है। मृत्यु संसारसागर में मत्स्य-मकरादिवत् इतस्ततः सन्तरण करने वाले उन अभिनिविष्ट पापात्माओं पर उस ब्रह्मद्रवी का अनुग्रह सम्भव ही कैसे है, जबकि इन पापात्माओं की आसुरवृत्ति से संयुक्त इनके पापपूर्ण मानसदेश के साथ इस देवता का अन्तर्य्याम सम्बन्ध स्वप्न में भी सम्भावित नहीं है। 'श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इत्यादि श्रद्धासिद्धान्तानुसार सात्त्विक श्रद्धाशून्य इन पापात्माओं के अन्तजगत् के साथ कैसे दिव्य तत्त्वों का अन्तर्य्याम सम्बन्ध सम्भव हो सकता है ?। एवं तदभावे वे कैसे उस ब्रह्मानन्द का स्वप्न में भी अनुभव कर सकते हैं ? उन अश्रद्धालुओं-आसुरबुद्धिपरायणों के लिए तो ऐहिक-आमुष्मिक कुछ भी तो दिव्यप्राणातिशय अनुग्राहक नहीं बना करता। अन्तर्य्याम सम्बन्ध ही क्या, वे तो बहिर्य्याम, एवं उपयाम के भी पात्र नहीं हैं। सर्वथा यातयामात्मक उन अभिनिविष्टों के लिए तो सब कुछ यातयाम ही प्रमाणित हो रहा है। आजल्पाजम् , क्वापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।

(१२) —प्रजोत्पादक यागसम्बन्ध—

उक्त सम्बन्धत्रयी में से 'अन्तर्य्याम' सम्बन्ध ही सर्गसृष्टिमूला सृष्टि का आधार बना करता है, यही यज्ञभाषा है। विभिन्न जातीय दो, अथवा तो अनेक पदार्थों का पारस्परिक अन्तर्य्याम सम्बन्ध ही लोकभाषा में 'रासायनिक मिश्रण' कहलाया है। यही यज्ञभाषा में 'याग' सम्बन्ध कहलाया है। 'सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा०' इत्यादि सिद्धान्तानुसार यज्ञात्मक यही यागसम्बन्ध विश्व, एवं विश्वप्रजा का जनक बना हुआ है। सोरा और कोयला, दोनों का यागात्मक मिश्रण जिस प्रकार विस्फोटक द्रव्य (बारूद) का जनक बनता है, यम्मः—(ऑक्सिजन Oxygen), और पवमान (हाइड्रोजन Hydrogen), दोनों का रासायनिकमिश्रण जैसे पेय जल का उत्पादक बनता है, एवमेव ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा हृदयशक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित प्राणाग्नि, एवं प्राणसोम का वृषायोषात्मक, किंवा प्राण-रयिरूप यागसम्बन्ध विश्व तथा विश्व प्रजा का उत्पादक बना करता है। इसी आधार पर–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

है। 'भृगु' नाम से प्रसिद्ध घनाग्नि के प्रवेश से वही पानी सहित बनता हुआ घनभाव (हिमभाव-बर्फ) में परिणत हो जाता है, एवं 'घर्म' नामक तरलाग्नि के प्रवेश से वही पानी रसपाचक बनता हुआ तरलभाव (पेयभाव) रूप में परिणत हो जाता है, जो इस सरित्–द्रव के सम्बन्ध में (द्रवीभूत रससम्बन्ध से) निगम में 'सलिल' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'सरित्' का ही रूपान्तर 'सलिल' है। इस सलिल, और तेजोमय अग्नि को लक्ष्य बना कर ही सम्बन्धत्रयी का अन्वेषण कीजिए।

पानी बह रहा है। यह बहाव तरलाग्निसमावेश का ही परिणाम है। अग्नि ने अपने तापधर्म-रूप स्वधर्म्म को (स्वरूपधर्म्म को, स्वप्रकृति को) आत्मसमर्पणरूप जल के प्रति अर्पित कर दिया है। यह अग्निधर्म्म आज जलधर्म्म बन गया है। परधर्म्म (पानी का धर्म्म) किस प्रकार स्वधर्म्म (अग्नि-धर्म) का स्वरूपोत्क्रामक बन जाता है ?, यह प्रश्न भी इसी उदाहरण से समाहित बन रहा है। इस जलाग्निसम्बन्ध को ही हम 'अन्तर्य्याम' सम्बन्ध कहेंगे। जलको किसी पात्र में भर कर अग्निसमिन्धन द्वारा उष्ण (गरम) कीजिए। जल उष्ण हो ही जायगा इस समिन्धनकर्म्म से। इस जलाग्नि का सम्बन्ध 'बहिर्य्याम' सम्बन्ध कहलाएगा। इस उष्णतारूप जलधर्म्म को जल का आगन्तुक धर्म्मलक्षण परधर्म्म कहा जायगा, जो अत्यन्तानलसंयोग पर पानी को वाष्परूप में परिणत कर कालान्तर में पानी का स्वरूप ही उच्छिन्न कर सकता है। इसीलिए तो आगन्तुक धर्म्मात्मक इस धर्म्म [illegible] प्रकृति-विरुद्ध धर्म्म को 'भयावह' माना गया है। समुद्रजल में वडवानल प्रज्वलित [illegible] सम्बन्ध 'उपयाम' सम्बन्ध माना जायगा। किसी भी पात्र में अवस्थित [illegible] पात्र के साथ जो सम्बन्ध है, वही 'उपयाम' सम्बन्ध है। इस प्रकार इस पानी–उष्ण पानी–[illegible] पानी–रूप से जलाग्नि-सम्बन्ध तीन भावों में परिणत हो रहा है। हमनें भोजन किया, उसे [illegible] ने आत्मसात् कर लिया, यही भोजन का हमारे साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है। भोजन किया, कि[illegible] शारीरिक मन्दाग्नि आदि-समग्रहणी आदि–विकारों के कारण भोजन आत्मसात् न बन सका, रसनिर्म्माण न होसका। भोजन का यही हमारे साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है। भोजनद्रव्य ग्रासादिरूप से हाथ में उठा लिया। वही भोजन के साथ हमारा उपयाम सम्बन्ध है। भोजन किया, किन्तु किसी शारीरिक पित्तादि विकार से, अथवा तो भोजनद्रव्य–निक्षिप्त मक्षिकादि के कारण भोजनद्रव्य अविलम्ब ही वान्तिरूप से विनिर्गत हो गया, ऐसे निरर्थक भोजनद्रव्य के साथ हमारा कौनसा सम्बन्ध माना जाय ?, प्रश्न का उत्तर है एक चौथा 'यातयाम' नाम का असम्बन्धात्मक सम्बन्ध जिस के लिए—' यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितं च यत् ' (गीता १७।१०) कहा गया है।

(११) —प्राणनिबन्धन अन्तर्य्याम सम्बन्ध का महत्त्व—

भौतिक–वैकारिक विश्व का अध्यात्मा के साथ उपयाम सम्बन्ध है, अन्नात्मा के साथ बहिर्याम सम्बन्ध है, एवं उपादानकारणरूप प्राणात्मा के साथ अन्तर्याम सम्बन्ध है, और यही अन्तर्याम सम्बन्ध सर्वविलक्षण यह सम्बन्ध है, जो मन्त्रशास्त्र में 'याग' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अन्तर्यामे'

मान लिया गया है। ऐतिहासिक घटना-परम्पराओं से सम्बन्धित मानवस्वरूपव्याख्या की विशद मीमांसा तो उत्तरखण्ड से ही सम्बन्धित मानी जायगी।

(१५)—मानवस्वरूपानुगता रूपरेखा का उपक्रम—

(मानवस्वरूपरूपरेखात्मिका-मूलभूमिकालक्षणा-मानवस्वरूपमीमांसा)

नैमिषारण्य के शान्त-पावन-सस्यश्यामल-दिव्यपल्लवछायासमाक्रान्त-गिरीणामुपह्वर-नदीनां-संगमसुशोभित दिव्य क्षेत्र में नैगमिक तत्त्वज्ञानविमर्श के लिए समवेत ऋषिसंसत् के प्रज्ञाक्षेत्र में किसी अज्ञातप्रेरणा से सहसा एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न समुपस्थित हो पड़ा कि—

" इस त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ कौन ? "

तब समवेत महामहर्षियों में से अध्यात्मज्ञाननिष्ठ विश्वेश्वरस्वरूपवेत्ता तत्त्ववित् तपःपूत किसी महर्षि की ओर से संसत् के सम्मुख उक्त प्रश्न का यह समाधान समुपस्थित हुआ कि—" **सर्वप्रज्ञाविशिष्ट-रसैकघन, 'शाश्वतब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध, मायातीत, निरञ्जन, निर्विकार, निर्गुण, अद्वय, दिग्-देशकालानवच्छिन्न, सच्चिदानन्दलक्षण, सर्वधर्मोपपन्न, सर्वेश्वर परमेश्वर ही त्रैलोक्यरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ है—।**"

संसत् में समवेत तत्त्वज्ञ सदस्योंने श्रुत-उपश्रुत तथोत्तर के माध्यम से परस्पर दृष्टिनिक्षेप करते हुए मानो अपने ये ही मनोभाव अभिव्यक्त किए कि, 'हम इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हैं। ' **यातो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुष ! ते मनः** ' सिद्धान्तानुसार केवल मात्र शारीरिक भावावरण के आधार पर, चेष्टाओं के आधार पर आभ्यन्तर मनोभावों के परिज्ञान में कुशल उत्तरप्रदाता महर्षि ने तत्काल ऋषि सदस्यों के असन्तोष को लक्ष्य बना लिया। एवं तत्क्षण ही उनकी ओर से यह दूसरा उत्तर ऋषिसंसत् के सम्मुख उपस्थित हो पड़ा कि—"**सर्वेश्वर परात्परब्रह्म की विभूतिलक्षणा महिमा से महीयमान ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय द्युलोकाधिष्ठाता सर्वज्ञमूर्त्ति इन्द्र, अन्तरिक्षलोकाधिष्ठाता हिरण्य-गर्भमूर्त्ति वायु एवं पार्थिवलोकाधिष्ठाता विराड्-मूर्त्ति अग्नि ही त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ माने जायँगे×** "।

—यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।९।

×—तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान्—यदग्निः, वायुः, इन्द्रः। ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुः। ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

—केनोपनिषत् ४।२,३,।

(१३) —मैथुनीसृष्टि की मौलिक परिभाषा—

त्रपुरुषानुगता विकारसृष्टि अग्नि–सोमरूप पुम्भाव–स्त्रीभाव के दाम्पत्यभावात्मक याग सम्बन्ध के कारण ही–'मैथुनीसृष्टि' कहलाई है। मौतिक-शरीरद्वय का मिथुनभाव यहाँ अभिप्रेत नहीं है। नाहीं मौतिक सौम्यशुक्र–आग्नेय शोणित का मिथुनभाव ही सृष्टि का उत्पादक है। अपितु सृष्टि का आधार बनता है प्रकृति में अग्नि–सोमगर्भित प्राणात्मक वृषा–योषा तत्त्व, जो प्रश्नोपनिषत् (तलवकारोपनिषत्) नामक प्रश्नोपनिषत् में 'रयि–प्राण' युग्म नाम से प्रसिद्ध हुआ है। बिना भी भूतमिथुन के यदि यह प्राणमिथुन हो जाता है, तत्काल अपूर्वसृष्टि का उदय हो जाता है। एवं बिना प्राणमिथुन के शत-सहस्र बार का भी ऐकान्तिक भूतमिथुनभाव सृष्ट्युत्पादन में असमर्थ बना रहता है। दाम्पत्यरूप मिथुनभाव का ही नाम है, एवं ऐसा मिथुनभाव ही मैथुनीसृष्टि का मूलप्रभव बना करता है।

मैथुनीसृष्टि का तात्पर्य है—'संसृष्टि'। संसृष्टि का तात्पर्य्य है अन्तर्याम सम्बन्ध से समुत्पन्न दो, अथवा अनेक विजातीय अन्न-अन्नादात्मक भावों का पारस्परिक उपमर्दनपूर्वक 'अपूर्वभावोदय'। जैसा कि कहा गया है, संसृष्टिलक्षणा सृष्टि के वे दोनों आधार तत्त्व 'योषा–वृषा' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका विभिन्न सृष्टिभावों के स्वरूपानुपात से 'ब्रह्म–सुब्रह्म'–'अंगिरा-भृगु'–'तेज-स्नेह'–'अग्नी-सोम'–'प्राण-रयि'–'गति-स्थिति'–'पुम्भाव–स्त्रीभाव'-'शोणित-शुक्र'' आदि अनेक दृष्टिकोणों से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अव्ययाक्षरगर्भित- त्रपुरुषात्मक, अतएव त्रिपुरुषात्मक पूर्वेश्वर के क्षरात्मक उपादानभाग से समन्वित संसृष्टिरूपा सृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलारम्भणा बनी हुई है। विरुद्ध तत्त्वों के अन्न-अन्नादात्मक याज्ञिक सम्बन्ध से समुत्पन्ना वैकारिकी याज्ञिकी संसृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलप्रभवा है–यहीं तात्पर्य्य है।

(१४) —मानवस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में—

विश्व का मूल यदि दुरधिगम्य है, तो विश्वका, एवं तद्गर्भीभूता चराचरप्रजा का स्वरूप भी कम समस्यापूर्ण नहीं है। न तो विश्वमूल ही हमारा प्रधान लक्ष्य है, एवं न विश्व, तथा तत्–चराचरप्रजा ही प्रधान लक्ष्य। प्रधानलक्ष्य है भारतीय हिन्दू मानव की भावुकता। अतः विश्वसर्ग के सम्बन्ध में अधिक से अधिक विश्वप्रजा में से केवल 'मानव प्रजा' ही निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है। इस मानव प्रजा के स्वरूप समन्वय के लिए ही हमें यहाँ विश्वस्वरूप की मीमांसा का अनुगमन करना पड़ रहा है। मानव की स्वरूपमीमांसा को हम— मनुःस्वरूपमीमांसा' एवं 'मानवस्वरूपमीमांसा' इन दो भागों में विभक्त मानेंगे। एवं इसी दृष्टि से मानवस्वरूप के समन्वय का प्रयास करेंगे। मनुःस्वरूपमीमांसा–लक्षणा मानवस्वरूपमीमांसा मानवस्वरूपमीमांसा की रूपरेखा, किंवा मूलभूमिका मानी जायगी। एवं मानवस्वरूप-मीमांसात्मिका मानवस्वरूपमीमांसा इस मीमांसा की मूलभूमिका कही जायगी, जिसका उत्तर स्पष्ट में निरूपण होगा। मानवस्वरूपरेखा के समन्वय के बिना क्योंकि विश्वस्वरूपमीमांसा अपूर्ण रह जाती है। अत-एव विश्वस्वरूपमीमांसा की सन्तुलनपद्धति के लिए यहाँ मानवस्वरूपरेखा का समावेश करना आवश्यक

मान लिया गया है। ऐतिहासिक घटना–परम्पराओं से सम्बन्धित मानवस्वरूपव्याख्या की विशद मीमांसा तो उत्तरखण्ड से ही सम्बन्धित मानी जायगी।

(१५)—मानवस्वरूपानुगता रूपरेखा का उपक्रम—

(मानवस्वरूपरूपरेखात्मिका-मूलभूमिकालक्षणा-मानवस्वरूपमीमांसा)

नैमिषारण्य के शान्त–पावन–सस्यश्यामल–दिव्यपल्लवच्छायासमाक्रान्त–गिरीणामुपह्वर–नदीनां–संगमसुशोभित दिव्य क्षेत्र में नैगमिक तत्त्वज्ञानविमर्श के लिए समवेत ऋषिसंसत् के प्रज्ञाक्षेत्र में किसी अज्ञातप्रेरणा से सहसा एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न समुपस्थित हो गया कि—

" इस त्रैलोक्य–त्रिलोकीरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ कौन ? "

तब समवेत महामहर्षियों में से अध्यात्मज्ञाननिष्ठ विश्वेश्वरस्वरूपवेत्ता तत्त्ववित् सप्पूत किसी महर्षि की ओर से संसत् के सम्मुख उक्त प्रश्न का यह समाधान समुपस्थित हुआ कि—" सर्वज्ञत्वविशिष्ट–रसैकघन, 'शाश्वतब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध, मायातीत, निरञ्जन, निर्विकार, निर्गुण, अद्वय, दिग्–देशकालानवच्छिन्न, सच्चिदानन्दलक्षण, सर्वधर्मोपपन्न, सर्वेश्वर परमेश्वर ही त्रैलोक्यरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ हैं–।"

संसत् में समवेत तत्त्वज्ञ सदस्योंने भ्रु–उपभ्रु तथोत्तर के माध्यम से परस्पर दृष्टिनिक्षेप करते हुए मानो अपने ये ही मनोभाव अभिव्यक्त किए कि, वे इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हैं। 'यातो देवेभ्य आवहे, यथा पुरुष ! ते मन' सिद्धान्तानुसार केवल बाह्य शारीरिक वातावरण के आधार पर, चेष्टाओं के आधार पर आभ्यन्तर मनोभावों के परिज्ञान में कुशल उत्तरप्रदाता महर्षि ने तत्काल ऋषि सदस्यों के असन्तोष को लक्ष्य बना लिया। एवं तत्क्षण ही उनकी ओर से यह दूसरा उत्तर ऋषिसंसत् के सम्मुख उपस्थित हो गया कि—"सर्वेश्वर परात्परब्रह्म की विभूतिलक्षणा महिमा से महीयमान ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय द्युलोकाधिष्ठाता सर्वज्ञमूर्त्ति इन्द्र, अन्तरिक्षलोकाधिष्ठाता हिरण्य–गर्भमूर्त्ति वायु एवं पार्थिवलोकाधिष्ठाता विराट्–मूर्त्ति अग्नि ही त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ माने जायँगे× "।

—यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।६।

×—तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान्–यदग्निः, वायुः, रिन्द्रः। ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुः। ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

—केनोपनिषत् ४।२,३,।

(१३) —मैथुनीसृष्टि की मौलिक परिभाषा—

चरपुरुषानुगता विकारसृष्टि अग्नि–सोमरूप पुम्भाव–स्त्रीभाव के दाम्पत्यभावात्मक याग सम्बन्ध के कारण ही–'मैथुनीसृष्टि' कहलाई है। भौतिक–शरीरद्वय का मिथुनभाव यहाँ अभिप्रेत नहीं है। नाँही भौतिक सौम्यशुक्र–आग्नेय शोणित का मिथुनभाव ही सृष्टि का उत्पादक है। अपितु सृष्टि का आधार बनता है प्रकृति में अग्नि–सोमगर्भित प्राणात्मक वृषा–योषा तत्त्व, जो प्राणोपनिषत् (सलक्षकारोपनिषत्) नामक प्रश्नोपनिषत् में 'रयि–प्राण' युग्म नाम से प्रसिद्ध हुआ है। बिना भी भूतमिथुन के जहाँ यह प्राणमिथुन हो जाता है, तत्काल अपूर्वसृष्टि का उदय हो जाता है। एवं बिना प्राणमिथुन के शत-सहस्र बार का भी ऐकान्तिक भूतमिथुनभाव सृष्ट्युत्पादन में असमर्थ बना रहता है। दाम्पत्यरूप मिथुनभाव का ही नाम है, एवं ऐसा मिथुनभाव ही मैथुनीसृष्टि का मूलप्रभव बना करता है।

मैथुनीसृष्टि का तात्पर्य है—'संसृष्टि'। संसृष्टि का तात्पर्य है अन्तर्याम सम्बन्ध से समुत्पन्न दो, अथवा अनेक विजातीय अन्न–अन्नादात्मक भावों का पारस्परिक उपमर्दनपूर्वक 'अपूर्वभावोदय'। जैसा कि कहा गया है, संसृष्टिलक्षणा सृष्टि के वे दोनों आधार तत्त्व 'योषा–वृषा' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका विभिन्न सृष्टिभावों के स्वरूपानुपात से 'अन्न–सुब्रह्म'–'अंगिरा-भृगु'–'तेज–स्नेह'–'अग्नी–सोम'–'प्राण–रयि'–'गति–स्थिति'–'पुम्भाव–स्त्रीभाव'–'शोणित–शुक्र'' आदि अनेक दृष्टिकोणों से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अव्ययाक्षरगर्भित- क्षरपुरुषात्मक, अतएव त्रिपुरुषात्मक पूर्णेश्वर के क्षरात्मक उपादानभाग से सम्भूत संसृष्टिरूपा सृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलारम्भणा बनी हुई है। विरुद्ध तत्त्वों के अन्न–अन्नादात्मक याज्ञिक सम्बन्ध से समुत्पन्ना वैकारिकी याज्ञिकी संसृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलप्रभवा है–यही तात्पर्य्य है।

(१४) —मानवस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में—

विश्व का मूल यदि दुरधिगम्य है, तो विश्वका, एवं तद्गर्भीभूता चराचरप्रजा का स्वरूप भी कम समस्यापूर्ण नहीं है। न तो विश्वमूल ही हमारा प्रधान लक्ष्य है, एवं न विश्व, तथा तत्–चराचरप्रजा ही प्रधान लक्ष्य। प्रधानलक्ष्य है भारतीय हिन्दू मानव की भावुकता। अतः विश्वसर्ग के सम्बन्ध में अधिक से अधिक विश्वप्रजा में से केवल 'मानव प्रजा' ही निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है। इस मानव प्रजा के स्वरूप समन्वय के लिए ही हमें यहाँ विश्वस्वरूप की मीमांसा का अनुगमन करना पड़ रहा है। मानव की स्वरूपमीमांसा को हम—'मनुःस्वरूपमीमांसा एवं 'मानवस्वरूपमीमांसा' इन दो भागों में विभक्त मानेंगे। एवं इसी दृष्टि से मानवस्वरूप के समन्वय का प्रयास करेंगे। मनुःस्वरूपमीमांसा–लक्षणा मानवस्वरूपमीमांसा मानवस्वरूपमीमांसा की रूपरेखा, किंवा मूलभूमिका मानी जायगी। एवं मानवस्वरूप मीमांसात्मिका मानवस्वरूपमीमांसा इस मीमांसा की मूलभूमिका कही जायगी, जिसका उत्तर खण्ड में निरूपण होगा। मानवस्वरूपरेखा के समन्वय के बिना क्योंकि विश्वस्वरूपमीमांसा अपूर्ण रह जाती है। अत-एव विश्वस्वरूपमीमांसा की सम्भवस्तुति के लिए यहाँ मानवरूपरेखा का समावेश करना आवश्यक

अधिकारी–पात्र–जिज्ञासु उपलब्ध हो गए थे। अतएव अन्ततोगत्वा पुराणपुरुष भगवान् व्यास के पावन मुखपङ्कज से यह ऐहिक–आमुष्मिक- श्री विनिगत हो ही पड़ी कि—

गुह्य ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि "न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"

—महाभारत

पुराणपुरुष ने कहा—हम आज आप लोगों के सम्मुख उस सुगुप्त ब्रह्म (तत्व) का स्वरूप विश्लेषण समुपस्थित कर रहे हैं, जिसे सुन कर आप सहसा आश्चर्यविभोर हो जायेंगे। यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, "पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शत०ब्रा० ७।५।१।१।)—"अहं मनुरभवम्"–(ऋक् सं० ४।२६।१) "अहं सूर्य्य इवाजनि" (ऋक् सं० ८।६।१०)—"योऽहं–सोऽसौ, योऽसौ–सोऽहम्" (नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत् ६)—"पूर्णमदः पूर्णमिदम्" (ईशोपनिषत् १) इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तों के अनुसार विश्वाधिष्ठाता सर्वभूतान्तरात्मा प्रजापति के सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–भावों से सर्वात्मना समतुलित प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानरमूर्त्ति, अतएव सर्वमूर्त्ति पूर्णता–सम्पन्न 'पुरुष' ही अपने हृदयस्थ 'मनु' तत्त्व के सम्बन्ध से * 'मानव' अभिधा से विभूषित बनता हुआ त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित हो रहा है"। मानव से अतिरिक्त और कोई वैसा श्रेष्ठ नहीं है, जिस श्रेष्ठतर मानव ने अपने प्रज्ञाबल से श्रेष्ठतम देवता–पितर–ऋषयादि का भी अपनी ज्ञानसीमा में अन्तर्भुक्त बनाते हुए 'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः" (शत० ब्रा० १४।४।२।२०) इस उदात्त घोषणा का अप्रतिम स्वत्वाधिकार प्राप्त कर लिया है।

सर्वश्रेष्ठ मानव, वास्तव में सर्वापेक्षया श्रेष्ठ–श्रेष्ठतर–श्रेष्ठतम मानव अपने प्रकृतिसिद्ध सहज गुण–धर्म्म (मानवधर्म्म) के प्रभाव से अपने पुराकाल में कैसा था?, क्या था?, और कौन था?, एवं आज वर्त्तमान में वही श्रेष्ठतम मानव अपने सहज गुण–धर्म्म–परित्याग से कैसा–क्या–और कौन बन गया?, यह एक महती समस्या आज हमारे सम्मुख उपस्थित है। "अतीत के श्रेष्ठतम भी परिपूर्ण भी मानव की वर्त्तमान में ऐसी निकृष्टतम दशा–दुर्दशा कैसे, और क्यों होगई" इसी महती समस्या के मौलिक–सामयिक–उद्बोधनात्मक समाधान की जिज्ञासा अभिव्यक्त करता हुआ यह भावुक मानव राष्ट्र की विद्वत् संसत् के सम्मुख, इसके विचारशील मनीषी सदस्यों के सम्मुख प्रणतभाव से यह निवेदन कर रहा है कि, वे अनुग्रह कर अपनी लोकानुगता मतवादाभिनिविष्टा शास्त्राभासनिष्ठा का अहि कञ्चुकिवत् परित्याग करते हुए विलुप्तप्राय उस नैगमिक राद्धान्त के आधार पर वैसा समाधान राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित करने का निःसीम अनुग्रह करें, जिससे द्रुतवेग से अपनी मौलिकता विस्मृत करता हुआ आज का भारतराष्ट्र उद्बोधन प्राप्त कर सके, एवं तद्द्वारा अपनी शाश्वत–सनातननिष्ठा के माध्यम से पुनः एक बार अपनी इस उदात्त घोषणा से असुरभावों को विकम्पित कर दे कि—"न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"।

---

* य एवं मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद, मनस्येव भवति। नैनं मनुर्जहाति।

—तैत्तिरीय ब्रा० ३।३।८।३।

पुनः वही तटस्थता, उदासीनवदासीनता, पारस्परिक मूकदृष्टि–निक्षेप। तत्त्ववेत्ता महर्षि की ओर से इसी परम्परा से पौनःपुनिक प्रश्नसोषपरम्परा के अनुपात से निम्नलिखित समाधानपरम्परा समुपस्थित हुई कि—

"ब्रह्मनि श्वसितवेदमूर्त्ति–गायत्रीमात्रिकवेद के स्रष्टा सृष्ट्यु त्पादक भगवान् ब्रह्मा सर्वश्रेष्ठ हैं"(१)। "सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति वामन–सत्यनारायण–गोलवलोकाधिष्ठाता सृष्टिपालक भगवान् विष्णु सर्वश्रेष्ठ हैं"(२)। "सर्वाभावमूर्त्ति-भूतपति–पशुपति–धु र्माभोऽवस्थित दक्षिणामूर्त्ति सर्वसंहारक–सर्वसंरक्षक भगवान् रुद्र सर्वश्रेष्ठ हैं"(३)। "सृष्टिरहस्यवित्, अतएव सर्ववित् प्राणविद्यावित् महामहर्षि सर्वश्रेष्ठ हैं"(४)। "प्राणविद्या के आधार पर यज्ञविद्या का वितान कर इसके द्वारा मानवसमाज के त्रिविध पापों का उन्मूलन करने वाले विश्वमानवसमाज के शान्तिसन्देशवाहक भारतीय वेदवित् ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं (५)'।

उक्त पारस्परिक उत्तरों के साथ साथ ही महर्षि यह अनुभव करते गए कि, सभत् का कोई भी सदस्य इन पारस्परिक उत्तरों से सन्तुष्ट नहीं है। यही हुआ भी। सम्पूर्ण उत्तरों को अपने अन्तर्जगत् में केवल उत्तराभास ही अनुभव करने वाले संसत् के किसी भी तो सदस्य के मुख से तुष्ट्यात्मक 'ओमित्येतत्' इस प्रणव का उच्चारण न हुआ। पुराणपुरुष संसत् के इस मूकभाव से सहसा शान्तानन्दविभोर हो गये इसलिए कि, आज की इस ऋषिसंसत् में उन्हें वास्तविक तत्त्वपरीक्षक–तत्त्वविमर्शक योग्य

---

(१)—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

(२)—तद्विष्णोः परम पद सदा पश्यन्ति सूरय।
दिवीव चक्षुराततम्" (ऋक्संहिता १।२२।२०)।

(३)—यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥
—श्वेता० ३।४।

(४)—विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरस सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे॥
—ऋक्सं० १०।६२।५।

(५)—"कर्तृषु ब्रह्मवेदिनो ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः" (मनु)
सदसत्त्वानुशीलनपरायणा एव ब्रह्मवादिन।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने वागुरापाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्त्वभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुईं अन्तर्मुख बनतीं गईं। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्ततः विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञानवादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नवप्रज्ञात्मक नववर्ग का उद्रेगकर इतिवृत्त उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज-निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म सहजगति से सुव्यवस्थित-सम्पादित बने रहते हुए मानव को श्व श्व अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव समतुलित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो चका, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकश्रद्धा के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मनःशरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के वाक्चिक्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-पुष्ट मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु-परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक मन की ऐसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक–निबन्ध के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्त्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज–परिपूर्ण–आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुईं भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होतीं रहतीं हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!"

पूज्यपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आस्थाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव को आर्षनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आर्षनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति प्रथा नीतिर्मतिर्मम।

(१६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्यात्मावबोधादपरं न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण–अल्पज्ञ–अल्पशक्ति–असमर्थ–अयोग्य–हीनबलवीर्य्यपराक्रम–दीन–दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्।

आर्षधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनुमान्) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलंघन जैसे दुष्कर–दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणचिन्ता में निमग्न समुपस्थित वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण–योग्यता के सम्बन्ध में स्व–स्व–बलपौरुष की इयत्ता का प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान श्रीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य–साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो यूथाधिप की ओर से 'सुनो मारुति ! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम–बल–वीर्य्य–पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल, मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोद्बोधन आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप–विश्लेषण–श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्जनसमन्वित हुङ्कार–गर्जन–तर्जन–पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झटिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं, जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपक्रम से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति–परिस्थिति आज के भावुक मानव की, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्ष, भावुकता पूर्ण–अन्धश्रद्धा–अभीष्सित–पुरुषार्थविहीन स्थिति की मूढ़ता का भी एक दुःखपूर्ण उद्गमस्थल इतिहास है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने वाग्जाल में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्यभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुई अन्तर्मुख बनतीं गईं। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्ततः विस्मृत कर 'शून्य शून्य' मात्र में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नयप्रहात्मक नयवर्ग का उद्वेगकर इतिवृत्त उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज-निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्व श्व अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब प्रादुर्भावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव समतुलित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकसङ्ग्रह के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गमिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मन शरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के चाकचिक्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु- परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक मन की ऐसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक–विषय के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज–परिपूर्ण–आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहती हुई भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होती रहती हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!"

पूज्यपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आस्थाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव का आर्षनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आर्षनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

(१६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण–अल्पज्ञ–अल्पशक्ति–असमर्थ–अयोग्य–हीनबलवीर्यपराक्रम–दीन–दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्।

आर्षधर्मसंरक्षक (मानवधर्मसंरक्षक) मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनूमान्) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलंघन जैसे दुष्कर–दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणचिन्ता में निमग्न तत्रोपस्थित वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण–योग्यता के सम्बन्ध में स्व–स्व–बलपौरुष की इयत्ता का प्रश्न प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान श्रीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य–साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं तो यूथाधिप की ओर से 'सुनो मारुति ! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम–बल–वीर्य्य–पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोद्बोधन आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप–विश्लेषण–श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्जनसमन्वित हुङ्कार–गर्जन–तर्जन–पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झटिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपक्रम से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति–परिस्थिति आज के भावुक मानव के, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ़ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्ष, भावुकतापूर्ण–असंयम–अकर्मण्यकर–पुरुषार्थविहीन दशा, किंवा दुर्दशा का भी एक दुःखपूर्ण उद्वेगकर इतिहास है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानामात्र का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने पाशपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्यभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुई अन्तर्मुख बनतीं गई। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्ततः विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नवग्रहात्मक नववर्ग का उद्ग्रह इतिवृत्त उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मयोगानुगता सहज-निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्व श्व अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकरीतिविविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव समतुलित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकसंग्रह के व्यामोहन से आत्मभाषा करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मनःशरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के भावचिन्त्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व' भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु-परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक बन की ऐसी धारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक-निबन्ध के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्त्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज-परिपूर्ण-आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुई भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होतीं रहतीं हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!"

पूज्यपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले श्रद्धाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव का आगमनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आपनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

(१६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण-अल्पज्ञ-अल्पशक्ति-असमर्थ-अयोग्य-हीनबलवीर्य्यपराक्रम-दीन-दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्!

आर्षधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनुमान) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलंघन जैसे दुष्कर-दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणलिप्सा में निमग्न वहाँ उपस्थित वानरभट्टों के द्वारा उल्लंघन की परिमाण-योग्यता के सम्बन्ध में स्व-स्व-बलपौरुष की इयत्ता का प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान श्रीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य-साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो यूथाधिप की ओर से 'सुनो मारुति! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम-बल-वीर्य्य-पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल, मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोपवर्णन आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप-विश्लेषण-श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्जनसमतुलित हुङ्कार-गर्जन-तर्जन-पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झटिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं, जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपवर्णन से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति-परिस्थिति आज के भावुक मानव के, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ़ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्ष भावुकता पूर्ण-असमय-अधीरसिकर-पुरुषार्थविहीन दशा किंवा दुर्दशा का भी एक दुःखपूर्ण उद्वेगकर इतिहास है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने वाग्जपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्यभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुईं अन्तर्मुख बनतीं गईं। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्ततः विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नवग्रहात्मक नववर्ग का उद्घाटक इतिहास उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म-सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्व श्व अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर म तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकरीयतिविच्युति से जब प्रादुर्भावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव सम्मूलित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकश्रद्धा क व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मनःशरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के चाकचिक्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु- परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक जन की ऐसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक-निबन्ध के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्त्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज-परिपूर्ण-आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुई भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होतीं रहतीं हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!"

पूर्णपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आस्थाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव को आगमनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आगमनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति भुवा नीतिर्मतिर्मम।

(२६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपज्ञान के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण-अल्पज्ञ-अल्पशक्ति-असमर्थ-अयोग्य-हीनबलवीर्य्यपराक्रम-दीन-दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्।

आर्षधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनूमान्) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलंघन जैसे दुष्कर-दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणचिन्ता में निमग्न तभोपस्थित वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण-योग्यता के सम्बन्ध में स्व-स्व-बलपौरुष की इयत्ता का प्रवाह प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान श्रीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य-साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो यूथाधिप की ओर से सुनो मारुति ! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम-बल-वीर्य्य-पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल, मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोपबृंहण आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप-विश्लेषण-श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्ज्जनसमतुलित हुङ्कार-गर्ज्जन-तर्ज्जन-पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झगिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं, जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपबृंहण से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति-परिस्थिति आज के भावुक मानव के, स्वरूपज्ञान के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ़ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वय प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्ष, भावुकता पूर्ण-अम्बम्ब-आक्रीसिकर-पुरुषार्थविहीन दशा, किंवा दुर्दशा का भी एक दुःखपूर्ण उद्वेगकर इतिहास है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज-जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने बन्धनपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्त्वभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुई अन्तर्मुख बनतीं गई। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्तत विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्घोषक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नवग्रहात्मक नववर्ग का उद्‌घाटन इतिवृत्त उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक सत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्व श्वः अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर म तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावप्रतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव सम्तुलित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकश्रद्धा के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मन शरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के आकर्षित-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तृप्त-तुष्ट मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु- परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक जन की ऐसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक–निबन्ध व सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्त्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज–परिपूर्ण–आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुई भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होतीं रहतीं हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!"

पुण्यपुरुष व उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आस्थाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव को आगमनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आर्षनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति भुवा नीतिर्म्मतिर्म्मम।

(१६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्वात्मावबोधात्पर न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण–अल्पज्ञ–अल्पशक्ति–असमर्थ–अयोग्य–हीनबलवीर्य्यपराक्रम–दीन–दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्!

आर्षधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनूमान्) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलङ्घन जैसे दुष्कर–दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणचिन्ता में निमग्न तथोपस्थित वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण–योग्यता के सम्बन्ध में स्व–स्व–बलपौरुष की इयत्ता का प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान भीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य–साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं तो यूथाधिप की ओर से 'सुनो मारुति ! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम–बल–वीर्य्य–पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोपस्थान आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप–विश्लेषण–श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्ज्जनसमन्वित हुङ्कार–गर्ज्जन–तर्ज्जन–पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झटिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपस्थान से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति–परिस्थिति आज के भावुक मानव की, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ़ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्ष, भावुकता पूर्ण–अस्वर्ग्य–अकीर्त्तिकर–पुरुषार्थविहीन दशा, किंवा दुर्दशा का भी एक दुःखपूर्ण उद्वेगकर इतिहास है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध अनिवार्या बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने वारुणपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्यमायापक्ष-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुई अन्तर्मुख बनतीं गई। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्तत विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नवग्रहात्मक नयवर्ग का उद्गकर इतिवृत्त उत्तरखण्डानुगता मानवधर्म्मस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं सदाचारैक प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज-निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म-सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्व श्वः अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव समधुषित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकश्रद्धा के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवाग्समर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मनःशरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के भाकविक्रय-प्रन्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु- परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

शिश्नोदरपरायणभोगी सर्वात्मना परतन्त्र । इसी आक्रमणयात-युग की संक्रान्ति के मध्यमयकाल में महाविकराल-महाकाल से समुद्भूत उन परदेशीय सम्मान्य अतिथियोंनें इस भारतीय मानव की यथाविधा नितान्त भावुकस्थिति को लक्ष्य बनाते हुए-"दूसरों की दुर्बलता से लाभ उठाना ही मानव का महान् गुण है" इस लोकसूत्रास्त्र का प्रहार कर ही तो डाला इसके मर्म-भावुक-स्थलों पर । सुअवसर अनुरूप अनुकूल परिस्थिति से लाभ उठाने की कला में पूर्ण कुशल इन आगन्तुक अतिथिनैष्ठिकोंनें इस भावुक मानव की भावुकता के साथ जो जो वैसे वैसे क्रीडाकौशल किए!, वे आज सर्वविदित हैं, सर्वानुभूत हैं । विवेकभ्रष्ट, स्वलक्ष्यच्युत, परप्रत्ययनेय, आत्मबुद्धिविमूढ भावुक मानव की स्थिति का यही तो परिणाम, किंवा दुष्परिणाम सुनिश्चित था, जिसका कुफल अद्यावधि इसे विवश बन कर भोगना पड़ रहा है । यही है दासानुदासधर्म्मा वर्त्तमान भारतीय मानव के पतन के दुःखपूर्ण-उद्वेगकर इतिवृत्त का संस्मरण, जिसे माध्यम मान कर ही हमें 'मानवस्वरूपरेखा' में प्रवृत्त होना है ।

(१८)—मानव की सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता—

कथाकर्णिपरम्परया सुना जा रहा है कि, अमुकामुक मानवश्रेष्ठों की मानवीय लघुपायपरम्परा से अमुक मानवराष्ट्र (भारतवर्ष) परदासता से एकान्ततः विनिर्गत होता हुआ आज सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन कर प्रभुसत्तासम्पन्न-सार्वभौम-गणतन्त्र-पद पर समासीन हो गया है, जिसकी लोक अभिधा मानी जाती है वर्त्तमान में 'प्रजातन्त्रराज्य' । "स्वराष्ट्रानुगता विविध मतवादपरम्परा * के साथ साथ परराष्ट्रानुग्रह से आगत समागत विविध मतवादपरम्पराओं+ने आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य-आपाद-मस्तक-आमूलचूड सुविभूषित भारतीय मानवसमाज आज सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन कर स्वच्छन्दतापूर्वक सुखशान्ति से विचरण कर रहा है" नितान्त भावुकतापूर्णा इस भावपरिपूर्णा कल्पित उद्घोषणा की प्रतारणा से यहाँ का मानव आज किस प्रकार स्वात्मावबोध के स्थान में स्वात्मावबोधपथ से पराङ्मुख बन रहा है !, किंवा बनाया जा रहा है !, यह सामयिक प्रश्न भी मीमांस्य ही माना जायगा, जिसका समाधान उत्तरखण्डान्तर्गत परिच्छेदों में ही यथासम्भव समाहित बन सकेगा । प्रकृत में तो हमें केवल मानव की उस प्राकृतिक स्वरूपरेखा की ही ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जिस प्राकृतिक स्वरूपबोध के विलुप्तप्राय हो जाने से वर्त्तमान युग के भारतीय भावुक मानव ने अपना सब कुछ विस्मृत करते हुए, 'मूढ: परप्रत्ययनेयबुद्धिः' सिद्धान्त को अक्षरशः चरितार्थ बनाते हुए अपने आपको सर्वात्मना लक्ष्यभ्रष्ट ही बना लिया है ।

---

*—श्रीरामानुज, रामानन्द, वल्लभ, निम्बार्क, माध्व, चैतन्य, कबीर, नानक, दयाल, सुन्दरदास, दादू, रैदास, आदि आदि सन्तों की भावना से संयुक्त अगणित भाष्य मतवादपरम्परा ।

+—फासिज्मवाद-कम्यूनिज्मवाद—सोशलिज्मवाद—कैपिटलिज्मवाद—गणतन्त्रवाद—आदि आदि—असंख्य प्रतीच्यमतवादपरम्परा ।

(१९)—'मानव' शब्द का प्रावाहिक निर्वचन—

अमुक आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति (आकार–स्वभाव–एवं आत्मप्रत्ययानुभूतिलक्षण–अहम्भाव) से संयुक्त अमुक पाञ्चभौतिकपिण्ड (रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्र–त्वक्–रोम–केश–नखादि युक्त शरीरपिण्ड) 'मानव' अभिधा से क्यों ?, और कब से सम्बोधित होने लगा ?, यह प्रश्न मानव की रूपरेखा में प्राथमिक प्रमाणित हो रहा है। अतएव सर्वप्रथम इस भावुकतापूर्ण सहजप्रश्न के भावुकतास्वरूपसम्प्राहक, किंवा लोकसम्प्राहक सामयिक समाधान की ओर ही भावुकतापथानुगामी मानवों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

शब्दशास्त्र–(व्याकरणशास्त्र)–वेत्ता धातु–प्रकृति–प्रत्यय–आदि व्यञ्जनाओं के ज्ञाता विद्वान् कहते हैं,–'मनोरपत्यं मानवः' के अनुसार 'मनु' की सन्तति ही 'मानव' है। यही 'मानव' अभिधा का मौलिक कारण है। तात्पर्य्य स्पष्ट है। मानवजाति के मूलपुरुष क्योंकि–'मनु' नामक व्यक्तिविशेष थे। तद्वंशज होने से ही अमुक भौतिक पिण्डशरीरी अमुक आकृतिप्रकृत्यहङ्कृतिरूप प्राणिसमाज 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रकार–'मनोरपत्यं–मनोर्गोत्रापत्यं वा' इत्यादि निर्वचन के अनुसार सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक 'मनु' नामक व्यक्तिविशेष की वंशपरम्परा से अनुप्राणित, अतएव 'मानव' अभिधा से व्यवहृत इस भद्रतमा मानवजाति के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ (महाभारत) ने भी इसी शाब्दिक, किंवा प्रावाहिक भावुकतापूर्ण निर्वचन का ही समर्थन किया है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

> धर्म्मात्मा स मनुर्धीमान् यत्र वंशः प्रतिष्ठितः ॥
> मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ॥ १ ॥
> ब्रह्म–क्षत्रादयस्तस्मात्–"मनोर्जातास्तु मानवाः" ॥
> ततोऽभवन् महाराज ! ब्रह्मक्षत्रेण सङ्गतम् ॥ २ ॥
>
> —महाभारत

आदि मनु स्वयम्भू, तत्पुत्र विवस्वान्मनु, तत्पुत्र वैवस्वत मनु, तत्पुत्र अयोध्याराज्यसंस्थापक इक्ष्वाकु मनु, इत्यादि वंशपरम्परारूप से सुप्रसिद्ध विविध मनुओं में से कौन से मनु–'मानववंश' के मूल प्रवर्त्तक थे ?, किस सृष्टिक्रम के आधार पर किस मनु को कैसे मानव का मूलपुरुष माना गया ?, असुर–गन्धर्व–यक्ष–राक्षस पिशाच–आदि आदि भिन्न विभिन्न योनियों को, किंवा प्राणिजातियों को भी 'मानव जाति' के समान ही 'मनुवंशजाः' घोषित करने वाला भारतीय इतिहास किन किन विभिन्न दृष्टिकोणों के माध्यम से किस किस मनु को किस किस प्राणिजाति का मूलपुरुष मान रहा है ?, इत्यादि सम्पूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का निर्विरोध समन्वय उस वैज्ञानिक तत्त्ववाद पर ही अवलम्बित है, मतवादद्वारा जिसके अभिभूत विलुप्तप्राय हो जाने से इस प्रकार के सभी प्रश्न वर्त्तमानयुग के भावुक भारतीय मानव के लिए पदे पदे सन्देहजनक प्रमाणित हो रहे हैं। अवश्य ही इस संदिग्ध जाल से आत्मत्राण करने के लिए हमें अनन्य

निष्ठा से पारम्परिक निगमागमाम्नाय के आधार पर उस ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण सम्यग्ज्ञान का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा, जिसके समाश्रयाधार पर ही औपनिषद महर्षि का "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" (कठोपनिषत्) यह सिद्धान्त अन्वर्थ बना करता है। प्रक्रान्त 'मानवस्वरूपपरिरेखा' में उपवर्णित यह आर्ष दृष्टिकोण अवश्य ही हमें सभी स्थलों के समसमन्वय की प्रेरणा प्रदान करेगा। अभी तो इसे भद्रशील बन कर 'यदस्माकं शास्त्रं आह, तदस्माकं प्रमाणम्' को ही आधार मानते हुए इस तथ्य पर ही विश्राम कर लेना है कि,—

अवबोधनात्मक-ज्ञानात्मक-'मनु' धातु से ('मनु' अवबोधने, तनादि धातु से) अपत्यार्थ में 'अण्' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न 'मानव' शब्द का भावुकतास्वरूपसमर्थक प्रचलित-प्रावाहिक (गता-नुगतिक) अर्थ है—'मनु की सन्तान'। प्रकृति-प्रत्यय-धातु-क्रिया-शब्दार्थ-लिङ्ग-प्रक्रिया-आदि आदि भावुकतापूर्णा प्रचलित निर्वचनशैली के आधार पर 'मानव' का यही सदिग्ध शब्दार्थ हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है। किन्तु ? !

(२०)—शब्दानुगता इतिहासमर्य्यादा—

किन्तु समस्या है तत्त्ववादमूला शब्दरहस्यात्मिका उस वैज्ञानिकी पद्धति के सम्बन्ध में, जिसकी निर्वचनप्रणाली का मूल आधार है—'न सन्ति यदृच्छाशब्दाः'। न केवल सम्पूर्ण ग्रन्थ का ही, अपितु ग्रन्थान्तर्गत गद्य-पद्य-विभागों का, तदन्तर्गत वाक्य-श्लोकों का, वाक्य-श्लोकावयवरूप पद-शब्दों का, पदशब्दावयवरूप स्वर-वर्णमात्रों का, सबका अपना अपना एक स्वतन्त्र इतिहास प्रातिस्विकरूप से सुरक्षित रहा करता है। उस इतिहास के आधार पर ही शब्दब्रह्म के वाङ्मयकाय (शरीर) का स्वरूपनिर्म्माण हुआ करता है। इस नित्यसिद्ध, अतएव प्राकृतिक शब्देतिहास के अनुग्रह से वाङ्मयप्रपञ्च का प्रत्येक सन्दर्भ (प्रकरण), प्रत्येक वाक्य-श्लोक, प्रत्येक पद-शब्द, प्रत्येक स्वर-वर्ण अवश्य ही अपना अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व सुरक्षित किए हुए है। बाह्य-लोकदृष्टि से सर्वथा निरर्थक भी प्रतीयमान शास्त्रीय डित्थ-कपित्थ-आदि यदृच्छाशब्द एवं-ग्याटप् अयमट्-आदि लौकिक यदृच्छाशब्द भी अपना सुगुप्त भावार्थ सुरक्षित रख रहे हैं। अ-आ-इ-ई-आदि स्वरात्मक वर्ण, एवं क-च-ट-त-आदि व्यञ्जनात्मक वर्ण भी अर्थगरिमा से समन्वित हैं *। इसी आधार पर आगमशास्त्र की एकाक्षरबीजमन्त्रव्यवस्था व्यवस्थित

---

*—शृणु तत्त्वमकारस्य अतिगोप्यं वरानने ! शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पञ्चकोणमयः सदा ॥
आकारं परमाश्चर्य्यं शङ्ख्ज्योतिर्म्मयं प्रिये ! ॥ इकारं परमानन्दसुगन्धकुसुमच्छविम् ॥
ईकारं परमेशानि ! स्वयं परमकुण्डली ॥ उकारं परमेशानि ! अधः कुण्डलिनी स्वयम् ॥
'क' क्रोधीशो महाकालो कामदेवप्रकाशकः ॥ 'ख' पुष्करो हली वामी चात्मशक्तिः सुदर्शनः ॥
—कामधेनुतन्त्रे

हुई है। सर्वात्मना मननीय उस निश्चित शब्देतिहासात्मक अर्थ के आधार पर ही शब्दब्रह्म प्रादुर्भूत हुआ है। जब तक उस तात्त्विक इतिहास को द्दतप्रतिष्ठ नहीं बना लिया जाता, तब तक केवल प्रकृति-प्रत्यय-धातु-क्रिया-लिङ्गादिमात्र के बल पर (व्याकरणमात्र के निर्वचनाधार पर) कदापि शब्दब्रह्म के तत्त्वार्थबोध का अनुगमन सम्भव नहीं बन सकता। बाह्यदृष्ट्या सर्वथा अशुद्ध-निरर्थक-निष्प्रयोजन-से प्रतीयमान यत्रयावत् भाषाओं से कृतरूप सुप्रसिद्ध 'शाबरमन्त्र' इसी सिद्धान्त के आधार पर तत्त्वाग परिपूर्ण प्रमाणित हो रहे हैं *। प्रत्येक शब्द के प्रत्येक स्वर (अक्षर)-वर्ण (व्यञ्जन) भी अपनी तत्त्वपूर्णा अर्थगरिमा से मननीय हैं। एवं इसी आधार पर इस मननीयता के कारण ही प्रत्येक अक्षर वर्ण भी मननात् 'मन्त्र' है। इसी आधार पर भारतीय आगमशास्त्र का—'अमन्त्रमक्षरं नास्ति' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

कृत्रिम-काल्पनिक-बुद्धिवादी, किंवा बुद्ध्यतिमानी भावुक मानवों की स्थूल भूतदृष्टि से सर्वथा परोक्ष, किन्तु सहज श्रद्धाशील सन्निष्ठ मानवों की विद्याबुद्धिदृष्टि के लिए सर्वथा प्रत्यक्ष तथाकथित इतिहासानुगत शब्दब्रह्म-रहस्यार्थ अवश्य ही पुराणयुगे अन्यान्य-पारम्परिक-आम्नाय-भारतीय निगमागम-विद्याओं की भाँति पारम्परिकरूप से शिक्षापद्धति में सहजरूप से समाविष्ट रहा होगा। किन्तु भृगु-गाथा-कुम्भ्या-नाराशंसी-वाकोवाक्य-आदि आदि शिक्षानुगता अन्यान्य दिव्यप्रणालियों की विस्मृति के साथ-साथ शब्दब्रह्मानुबन्धिता तत्त्वमूला परम्परानुप्राणिता निर्वचनप्रणाली भी दुर्भाग्यवश, किंवा हमारी पर प्रत्ययनेयानुगता भावुकता से आज सर्वात्मना विस्मृत-विलुप्तप्राय बन चुकी है। शब्दार्थमर्य्यादा की यह तत्त्वप्रणा निकषा हमनें अपने ही प्रज्ञादोष से परा पराहता बना दी है। 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः' इस लोकन्यायमात्र से सन्तुष्ट बनते हुए हम शब्दगरिमा का महत्त्व 'इतिश्री' से समन्वित मान बैठते हैं। अधिक हुआ, तो तत्त्वज्ञानानुगति से एकान्ततः विरुद्ध पर्य्यायपरम्परा का आश्रय ग्रहण करते हुए हम तुष्टि-तृप्ति के अनुगामी बन जाते हैं। इसी काल्पनिक अनर्थात्मक अर्थसाङ्कर्य्य का यह दुष्परिणाम है कि, वर्त्तमान युग का मानव अन्य विशिष्ट योग्यता-विकास की तो कथा ही विदूर, केवल भाषाव्यवहार-कौशल से भी पराङ्मुख बन गया है। "किस अवसर पर किस के सम्मुख कौनसा शब्द किस भाव से व्यवहार में लाना चाहिए" इस प्राकृतिक शब्दव्यवहारमर्य्यादा-स्वरूपज्ञानलव से भी वञ्चित भावुक मानव ने 'धा तोषात्मा' सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए अपना लिखा-पढा-सीखा-सिखाया-सब कुछ धूलिसात् कर दिया है +। "मुद्गमस्तीति वक्तव्यं, दराहस्ता हरीतकी' आभाणक को चरितार्थ करने वाला भाषाव्यवहार-तत्त्व-ज्ञानवञ्चित आज का मानव अपनी असफलता-परम्पराओं के अन्यान्य कारणों में से

*—फाली फलकवे वाली, तेरा वचन आय नहि खाली। एक फूल हँसे, एक फूल हसे। फुरो मन्त्र। ईश्वरोवाच। हुँफट्-अस्त्राय फट् इत्यादि।

+—"बोलबो न सीख्यो सब सीख्यो गयो धूल में"। (लोकसूक्ति)

इस 'भाषाव्यवहारमर्य्यादास्खलन'-रूप महाकारण का भी आज प्रधानरूप से सम्मान्य अतिथि बन चुका है। कर्त्तव्यनिष्ठा (आचरणनिष्ठा) के साथ-साथ मानव की वाङ्मयी शब्दव्यवहारनिष्ठा (भाषा) का आत्यन्तिक स्खलन ही मानव की याम्यान्तर-पतनपरम्परा का प्रत्यक्ष प्रमाण बन रहा है।

कहाँ-कब-कैसे-क्या करना चाहिए, एवं कहाँ-कब-कैसे-क्या बोलना चाहिए !, ये दोनों नसर्गिक व्यवस्थित धाराएँ आज सर्वात्मना दूषित-अमर्य्यादित-उच्छृंखल-अमानवीय भावों की अनुगामिनी बन गई हैं। 'वाणी' विकारानुग्रह से 'पाणी' के द्वारा कृतस्वरूपा 'लिपि' के सम्बन्ध में तो आज कुछ कहना ही व्यर्थ है। वर्त्तमान युग की-महामहनीया ! उस भद्रतमा ! लिपि के सम्बन्ध में क्या कहें, किससे कहें कि-'श्री'-'ओम्'-'राम' आदि देवभावों की उपेक्षा करने वाली, लिपिपरम्परासिद्ध (समाम्नायव्याकरणाम्नायानुमोदित) प्राकृतिक वर्णाक्षरकारों की सर्वथा उपेक्षा कर देने वाली, (आई-गई-इत्यादि के स्थान में आग्री-गग्री-इत्यादि रूप से भ्रष्टाचार का अनुगमन करने वाली) यह श्रीविहीना मस्तकश्रीशून्या कल्पिताक्षरसमन्विता नग्नस्वरूपा आज की लिपि मानों मानव की नास्तिकभावना-सर्वशून्य भावना का ही वायवबन्धन कर रही है। आस्तां तावत्। युगधर्म्मानुगता भावुकता के अनुग्रह से सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता के इस दुर्दान्त युग में अभिनिवेशाविष्ट परसंस्कृति-परभाषा-परसभ्यता-परभाषा-परलिपि के व्यामोहन से आकर्षित होकर आज का मानव किस क्षेत्र में कैसा क्या बन गया है !, अथवा तो बनता जा रहा है, उन सब अघटित-घटनाओं को मध्यस्थ मानते हुए लक्षीभूत 'मानव' शब्द के उस तात्त्विक निर्वचनात्मक इतिहास की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिस इतिहास के क्रोड में मानवकर्मरेखा का इतिवृत्त अन्तर्निगूढ़ है।

(२१)—मानवबोधानुगत श्रुतिपञ्चक—

'मानव' शब्द के तात्त्विक निर्वचन में प्रवृत्त होने से पूर्व हम यहाँ कुछ एक ऐसे श्रौत-स्मार्त-वचन उद्धृत कर रहे हैं, जिनके माध्यम से मानव इस अनुभूति में प्रवृत्त हो सकेगा कि, मानव ने मानव को जो इस प्रकार सहज सुबोधगम्य मान रक्खा है, पश्वादि प्राकृतिक प्राणियों की भाँति-'जायस्व म्रियस्व' परम्परा से आक्रान्त एक सामान्य प्राणी मान रक्खा है, मानव की स्वरूपस्थिति ठीक इसके विपरीत है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए निम्नलिखित आर्षवचनों को, एवं सदावारेण मुकुलितनयन बन कर मीमांसा कीजिए अपने अन्तर्जगत् में मानव के उस गुहानिहित परोक्ष गरिमामय तात्त्विक स्वरूप की—

(१)—न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

—ऋक्संहिता १।१६४।३७

(२)—अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

—सामसंहिता पू० ६।१

(३)—अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य्य इवाजनि ॥

—ऋक्संहिता ८।६।१०

(४)—स (प्रजापतिः) पितॄन्त्सृष्ट्वा मनस्यैत् । तदनु मनुष्यानसृजत ।
तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम् । य एवं मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद—
मनस्वेव भवति । नैनं मनुर्जहाति ॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।३।८।२।

(५)—यद्वै तत् पुरुषे शरीरं—इदं वाव तत्—यदिदमस्मिन्नन्तः शरीरे हृदयम् ।
अस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः । यद्वै तद्—'ब्रह्म' इति—इदं वाव तद्—
योऽयं बहिर्द्धा पुरुषादाकाशः । यो वै स बहिर्द्धा पुरुषादाकाशः—अयं वाव
स —योऽयमन्तः पुरुष आकाशः । यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः —अयं
वाव सः—योऽन्तर्हृदयआकाशः । तदेतत् पूर्णम् । अप्रवर्त्ति । पूर्णा—अप्रवर्त्तिनीं
श्रियं लभते, य एवं वेद ॥

—छान्दोग्योपनिषत् १।३।१२।

(१)—मैं—मानव—जोमी—जैसा भी कुछ वास्तव में हूँ, यह मैं तत्त्वतः नहीं जानता । (अपने वास्तविक तात्त्विक स्वरूपबोध से सर्वथा अपरिचित रहता हुआ भी केवल अभिमानाकर्षण से) मैं 'निश्चय' रूप से (सर्वथा सावधान—सज्जीभूत रूप से) इतस्ततः विचरण कर रहा हूँ (तात्पर्य्य, अपने अन्तर्जगत् में अपने मन ही मन में अपने आपको सर्वात्मना—सावधान—सज्जीभूत—योग्य—कुशल—मेधावी—मनीषी—मननशील—बुद्धिमान् मानता हुआ—समझता हुआ अपने मनमाने ढंग से—इतस्ततः उसका पथप्रदर्शन कराता हुआ विचर रहा हूँ । इस प्रकार मुझे अपने स्वरूप का बोध तो है नहीं, और मान रहा हूँ मैं अपने आपको पूर्ण कुशल, पूर्ण योग्य, मन्त्रपूर्वार्द्ध का यही निष्कर्षार्थ है) । (सौभाग्य से) जब मुझ मानव में 'ऋत' (परमेष्ठी) तत्त्व की प्रथमजा (पहिले उत्पन्न होने वाली—ऋततत्त्व से सर्वप्रथम आविर्भूता) सहजप्रज्ञा (सहजज्ञानात्मक प्राकृतिक सहज आत्मबोध) का उदय हो जाता है, तो इस ज्ञानोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही (आदित्)—मैं मानव—उस ऋतस्य प्रथमजा—सहजा—आत्मबोधपरिपूर्णा 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' (सत्यनिष्ठासमाहिणी प्रज्ञा) देवी—(पारमेष्ठिनी आम्भृणीदेवी से अविनाभूता सरस्वती

वाग्देवी) के भागधेय का भोक्ता मनन का अधिकारी बनता हूँ (मन बनता हूँ)। (तात्पर्य, स्वरूप-बोधानन्तर ही मानव अपने परिपूर्ण स्वरूप का अनुगामी बनने में समर्थ होता है। यही मन्त्रात्तराद का भावार्थ है) ॥

(२)—मैं-मानव-'ऋत' (पारमेष्ठ्य ऋतरूप-चिद्ब्रह्मयोनिलक्षण आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिरिधिष्ठाता-सत्वरजस्तमोगुणान्वित महानात्मा) से सर्वप्रथम (चेतनसृष्टि में) उत्पन्न होने के कारण ('ऋतस्य-प्रथमजा'(ऋत पारमेष्ठ्य महान् से सर्वप्रथम उत्पन्न) नाम से प्रसिद्ध हो रहा हूँ। (और) देवसर्ग से (भी) पूर्व (पहिले) अमृत (सोम) तत्त्वात्मक ऋत (पारमेष्ठ्य महान्) के 'नमन' (आगमन) से मेरा स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। क्रमिक सृष्टिधाराक्रम में मेरा (मानवसृष्टि का) स्थान-(ऋतपरमेष्ठी के भृगुगर्भित अङ्गिरातत्त्व के चितिभाग से समुत्पन्न सूर्य्य, एवं तत्प्राणरूप) देवसर्ग से भी पूर्व है। जो सत्य प्रजापति (परमेष्ठी प्रजापति) मुझे मेरे शरीर की रक्षा के लिए सौरचान्द्रमयबलद्वारा अन्नविध अन्नसम्पत्ति प्रदान करता है, यही देवाधिदेव (सौरदेवों का भी अधिपति) प्रजापति सौर बृहतीछन्दसमित (३६००० छत्तीस हजार आयुःसूत्रमित) जीवन सूत्रों के मुक्त हो जाने पर (शतायुर्भोगानन्तर) मुझे अपने आप में आत्मसात् करता हुआ मुझे अपना अन्न बना लेता है। मैं उसका अन्न हूँ, भोग्य हूँ, समष्टि-व्यष्टिरूप से उभयथा। अन्नात्मक बने हुए मुझे निरन्तर आत्मसात् करते रहने वाले उस सबके प्रजापति को मैं भी आत्मसात् करता रहता हूँ। उसकी ऐश्वर्य्यशक्तियों को आत्मसात् कर मैं स्वस्वरूप से सुरक्षित हूँ, तो उसमें मेरी शक्तियाँ ऐश्वर्य्यरूप से समाविष्ट होतीं रहतीं हैं। दोनों का परस्पर अन्नान्नाद-भोग्यभोक्तृ-प्रदानादान-सम्बन्ध सहजरूप से-धारावाहिक रूप से प्रक्रान्त है ॥

(३)—(ऋत) प्रजापति की भृगुप्राणानुगता स्नेहगुणान्विता, अतएव सङ्गमनशीला, अतएव 'मेधा' नाम से प्रसिद्ध आशुमहद्भावात्मिका मानसवृत्ति का अपने विद्याबुद्धिक्षेत्र में सम्पूर्ण प्राणियों में से केवल मैंने ही ग्रहण किया है (मानसमेधागुणान्विता विद्याबुद्धि का विकास प्राणिसृष्टि में केवल मानव में ही हुआ है, यही तात्पर्य्य है)। इसी मेधामयी बुद्धि के अनुग्रह से मैं (मानव) सूर्य्य की भाँति विश्व में प्रादुर्भूत हुआ हूँ * (जो स्थान महाब्रह्माण्ड में ब्रह्माण्डकेन्द्रस्थ अमृतमृत्युमय, अतएव पूर्णभावापन्न सूर्य्य का है, प्राणिजगत् में वही स्थान मानव का है, यही निष्कर्ष है) ॥

(४)—उस (सौम्यप्राणप्रधान, अतएव-'पितरः सोम्यासः' के अनुसार पितृप्राणप्रधान महन्मूर्त्ति परमेष्ठी) प्रजापति ने पितरों को उत्पन्न कर उन्हें अपने (मनुर्लक्षण) मन की ओर आकर्षित किया (जिस इस प्राकृतिक स्थिति के आधार पर ही-'मन इव हि पितरः', (शत० १४।४।३।१३ यह निगम प्रतिष्ठित हुआ), मनोबल-मानसशक्ति-को लक्ष्य बनाया। इस लक्ष्यीभूत मनुर्मय मानसबल-हृदयबल-के द्वारा ही प्रजापति ने मनुष्यों को उत्पन्न किया। मानवप्रजा क्योंकि प्रजापति के मनोबल से,

*—"योऽसावादित्ये पुरुषः-सोऽहम्। सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"।

मानस हृदयबल से उत्पन्न हुई, अतएव यह मनोबल–(हृत्पावच्छिन्न अन्तर्य्यामात्मक ध्यान प्राणात्मक सत्यनिष्ठात्मक अशुभावापन्न बल) ही मनुष्यों का मनुष्यत्त्व (मानवता–मानवधर्म्म) कहलाया, यही इसका स्वरूपधर्म्म माना गया। जो मनुष्य सृष्टिधाराक्रम के इस पारमेष्ठ्य प्राजापत्य रहस्य को सम्यक् प्रकारेण जान लेता है, इसे सम्यग्रूपेण अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अपने मानसक्षेत्र में अनुभूत कर लेता है, वह मनुष्य अपने सबक प्रजापति के उस महन्मन में ही समाविष्ट हो जाता है, ईश्वरीय मनोबल से समन्वित हो जाता है। ऐसे मनस्वी–परिपूर्ण–प्रजापतिसमतुलित–महामानव का मनु (प्राजापत्य हृदय बल) कभी परित्याग नहीं करते। कभी ऐसा मानवश्रेष्ठ अपनी प्राकृतिक ईश्वरशासित् नैगमिक कर्त्तव्य निष्ठा से पराङ्मुख नहीं बनता ॥

(५)—जो कि इस पुरुषसंस्था (अध्यात्मसंस्था) म पाञ्चभौतिक शरीराकाश (भूताकाश) है, वह वही आकाश है, जो कि इस अध्यात्मसंस्था में 'हृदयकाश' है, जिसमें कि आत्मदेव प्रतिष्ठित हैं। (शरीरप्रतिष्ठारूप भूताकाश, एवं आत्मप्रतिष्ठारूप हृदयाकाश, दोनों समतुलित हैं, अतएव महिमारूप से दोनों अभिन्न हैं, यही तात्पर्य्य है)। भूताकाश से अभिन्न इस हृदयाकाश में ही द्वासप्ततिसहस्र (७२००० बहत्तर हजार) सुसूक्ष्म नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्राण अर्करूप से (रश्मिरूप से) प्रतिष्ठित हैं। जो कि लोक एवं वेद में 'ब्रह्म'–'परब्रह्म' 'ईश्वर'–'प्रजापति' आदि विविध नाम–रूपों से प्रसिद्ध हो रहा है, वह ब्रह्म यह महतोमहीयान् विशाल आकाश (परमाकाश) ही तो है, जो इस पुरुष (अध्यात्मसंस्था) में बहिर्गत अनन्त अपरिमित रूप से प्रतीत हो रहा है। 'खं' ब्रह्म ही तो ब्रह्म का साक्षात् स्वरूपदर्शन है। जो कि–पुरुष (अध्यात्मसंस्था) से बाहिर की ओर सर्वत्र व्याप्त ब्रह्मात्मक यह परमाकाशलक्षण 'नभस्वान्' नामक ब्रह्मात्मक भावाकाश (खं ब्रह्म) है, वही तो यह है, जो कि (पुरुष में) हृत्यात्मक आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) आकाश है। (परमाकाशरूप आधिदैविक ईश्वरीय ब्रह्माकाश, एवं हृदयाकाशरूप आध्यात्मिक मानवीय पुरुषाकाश, दोनों अभिन्न हैं, यही तात्पर्य्य है)। इस प्रकार इस अभिन्नता के कारण ही मानव उस परब्रह्म की व्यापक ब्रह्मविभूतियों से सर्वात्मना समतुलित बनता हुआ परिपूर्ण है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है, शाश्वत है, सनातन है। जो मानव आकाशात्मक ब्रह्म के इस स्वस्वरूपानुगत स्वात्मबोध से वास्तविकरूप से सुपरिचित–समन्वित–संयुक्त हो जाता है, दूसरे शब्दों में आत्मनिष्ठापूर्वक इस आकाशाभेद को अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अपनी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित कर लेता है, वह ब्रह्मवत् शाश्वत–परिपूर्ण–भूमात्मक वैभव का अन्यतम भोक्ता बन जाता है।

संहिता, ब्राह्मण, उपनिषदों के पूर्वोद्धृत पाँच वचनों के तथाकथित अक्षरार्थमात्र के आधार पर ही यद्यपि 'मानव' के स्वात्मबोधस्वरूप 'बोध' का (मानव के वास्तविक परिपूर्ण स्वरूप का) स्पष्टीकरण हो जाता है। तथापि ऋषिवाणी के, इस गहन–गम्भीरार्थ–गर्भिता आर्षवाणी के अक्षरार्थ समन्वयमात्र से हम इसके अन्तस्तलस्पर्श से वञ्चित ही रह जाते हैं। अतएव उक्त आर्षवचनों के सम्बन्ध में इन वचनों को मूल बनाते हुए संक्षेप से कुछ और भी निवेदन कर देना अनिवार्य्य मान रहे हैं। वचनक्रमानुसार ही आर्षवचनों के तात्त्विक समन्वय को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए, एवं तदाधारेण मानव के वास्तविक स्वरूप से अपने आपको कृतकृत्य कीजिए।

(२२)—श्रुतिवचनों का तात्त्विक समन्वय—

(१)—मानव, हाँ—पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर से संयुक्त, वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन, इन पञ्चविध इन्द्रियों से नित्य समन्वित *, 'सर्वेन्द्रिय', अतएव 'अतीन्द्रिय', अतएव च 'अनिन्द्रिय' नाम से प्रसिद्ध इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानमय मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, इन सप्तदशावयवलक्षण प्राकृतात्माओं (प्रज्ञानात्मा-विज्ञानात्मा-महानात्मा-अव्यक्तात्मा-की समष्टि) से नित्य समाश्लिष्ट, अर्थशक्तिमय पार्थिव वैश्वानर, क्रियाशक्तिमय आन्तरिक्ष्य तैजस, एवं ज्ञानशक्तिमय द्युलोकानुगत प्राज्ञ, इन तीनों स्तोम्य (त्रिवृत्—९—, पञ्चदश—१५—, एकविंश—२१—स्तोमरूप स्तोम्यलोकत्रयी) भावों से तद्रूप भूतात्मा (जीवात्मा—देहाभिमानी—सप्तदशशरीरयुक्त भोक्तात्मा नामक वैश्व कर्मात्मा) के सहभाव से ओतप्रोत, 'अव्यय' नामक पुरुषब्रह्म (अमृतब्रह्म—विश्वेश्वर) से अनुगृहीत, इन सम्पूर्ण तत्त्वभावों—भूतभावों—भाव भावों से परिपूर्ण बना हुआ भी मानव अपने शरीरानुरूपी जन्मकाल से आरम्भ कर मृत्यूपक्रमक्षणपर्य्यन्त योगमायाप्रभावेण अपने आपको सर्वज्ञ—(सर्वज्ञानमय)—सर्ववित्—(तथात्मय)—सर्वशक्ति (सर्वक्रियामय) के अभिमान से संयुक्त मानने की भयावह भ्रान्ति करता हुआ लक्ष्यहीन बन कर इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है। योगमायानिबन्धन मोह के निग्रहानुग्रह से विश्वप्राणियों का यह सर्वश्रेष्ठ भी मानवप्राणी अपने आत्मस्वरूपबोध से वञ्चित हो रहा है, और यही 'न विजानामि यदि वा इदमस्मि' मूला (अज्ञानमूला) दुःख प्रवृत्ति का मूलकारण है।

मोह भी कैसा भयानक !, कैसा प्रतारक !, सर्वथा अनतिप्रश्नात्मक। सत्—असत्—विवेक का कुछ भी बोध तो है नहीं। किन्तु मान और मसान रहा है यह अपने आपको अपने मन ही मन में, तथा स्वसदृश अभिमानी मानववर्ग में पूर्ण योग्य, सर्वात्मना कुशल, निःसीम बुद्धिमान्, सब विषयों का तत्त्व परिज्ञाता बड़ा ही धनीभूत—धावमान। "मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैंने ऐसा कर दिया, मेरा ही यह अद्भुत साहस था कि जो ऐसा हो गया, मैंने यों दान दे डाला, मैंने बड़े बड़े व्यवसाय क्षेत्र स्थापित कर दिए मैंने उसे पत्थर से सम्पन्न बना डाला, मेरा तर्क—मेरी भाषणशक्ति—मेरी लेखनशक्ति—मेरी वाचनशक्ति—मेरा प्रभूत वैभव, मेरा श्रेष्ठ कुल, मेरा यशोनाम" इस प्रकार पदे पदे पदे-पदे स्थाने स्थाने अहन्ता—ममता—गर्विष्ठता—दम्भ—मान—मदान्धिता की घर्घणा—घोषणा में आपादमस्तक ओतप्रोत आत्मस्वरूपविस्मृत यह भ्रान्त—दिग्भ्रान्त—दिग्विमूढ मोहवश लक्ष्यविहीन—किंकर्त्तव्यविमूढ बना रहता हुआ अपने सर्वश्रेष्ठ मानव जीवन को जिस प्रकार सर्वथा निरर्थक—अकर्मण्यरूप से व्यतीत करता हुआ भी

---

* वर्त्तमान भारतीय दर्शनशास्त्र जहाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ १ इन्द्रियमन, इस प्रकार एकादश—११—इन्द्रियाँ मानता है, वहाँ वैदिकविज्ञानकाण्ड में ''वाक्—प्राण—चक्षु—श्रोत्र—मनांसि' रूप से पञ्चेन्द्रियवाद ही स्वीकृत हुआ है। दार्शनिक ग्यारहों इन्द्रियों का स्वरूपानुपात से वैदिक पञ्चेन्द्रियवर्ग में ही यथावयवरूपेण अन्तर्भाव हो जाता है, जैसा कि 'ईश' भाष्यादि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है।

भ्रान्तिवश मानता रहता है अपने आपको नित्य-सम्बद्ध-बाह्यरूप से, तथा आभ्यन्तररूप से, उभयथा। श्रुति के—'नित्य सम्बद्धो मनसा चरामि' का यही भावार्थ है, जिसके द्वारा मानव की इस आसुर भावनिबन्धना मोहदशा का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है—उद्बोधनात्मक परोक्ष संकेत के माध्यम से।*

"नित्य सम्बद्धो मनसा चरामि" यह तो है मानव की मोहात्मिका दशा, किंवा दुर्दशा। "हम ऐसे-हम वैसे, हम शिक्षित, हम लेखक, हम कवि, हम संगीतज्ञ, हम विद्वान्, हम धनिक, हम बड़े आदमी, हम बड़े आदमियों के मित्र" इत्यादिलक्षणा कल्पितवचनपरिपूर्णा, अतएव शून्या अहम्मन्यता ने ही मानव को स्वरूपबोधपथ से वञ्चित कर रक्खा है। ऐसे महामोहा धकाराभिनिविष्ट, कल्पना द्वारा अपने आपको सर्वेसर्वा मान बैठने की भयानक भ्रान्ति में निमग्न लक्ष्यहीन मानवों का परोक्षरूपेण उद्बोधन कराने का एक ही सात्त्विक सूत्र श्रुति की ओर से समुपस्थित हो रहा है—'न विजानामि०' इत्यादि। यदि यथागुणलक्षणा मोहासक्त मानव भी किसी शुभ अनुरूप ब्राह्ममुहूर्त्तादिलक्षण पावन मुहूर्त्त में, स्वस्थ-शान्त-निष्प्रपञ्च-एकान्त वातावरण में समासीन होकर क्षणमात्र के लिए भी स्वयं अपने आप से ही यह मूक प्रश्न करने का अनुग्रह कर लेगा अपनी मानवता से कि,—"अरे! यह रात दिन "मैं ऐसा करता हूँ, वैसा करता हूँ'—ऐसा हूँ-वैसा हूँ-इस प्रकार यह ही साहस-सावधानी-अतिमानपूर्वक जो अपनी जीवनयात्रा-लोकव्यवहारयात्रा में प्रवृत्त रहता हूँ, यह "मैं"-वास्तव में है क्या?"-तो निश्चयेन अवश्य ही इस मूक प्रश्न के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही इसके अन्तर्जगत् में एक महती समस्या जागरूक बन जायगी। और ज्यों-ज्यों यह अधिकाधिक उत्तरोत्तर इस मूकप्रश्नात्मिका महती समस्या को लक्ष्य बनाता जायगा, त्यों-त्यों इस का कृत्रिम दम्भ शनै शनै स्वयमेव विगलित होता जायगा। "मैं कौन हूँ" कहाँ से आया हूँ-कहाँ चला जाऊँगा"-इस प्रकार की मूकप्रश्नपरम्परा सहसा इसे आरम्भ में तो कुण्ठित हतप्रभ-सा बना देगी। अतएव नहीं प्राप्त कर सकेगा यह तत्काल ही इस प्रश्नपरम्परा का निर्णयात्मक समाधान। किन्तु कालान्तर में इसी मूक प्रश्न की अभ्यासपरम्परा अन्ततोगत्वा इसे उस अचिन्त्यभाव की ओर उन्मुख करती हुई इसके मुख से सहसा इन उद्गारों को ही विनिःसृत कर देगी कि—'न विजानामि, यदि वेदमस्मि"। अरे रे! मैं स्वयं अपने आप तक को तो जानता नहीं, और फिर भी—"नित्य सम्बद्धो मनसा चरामि"। यह मेरी अपने आपकी कैसी आत्मप्रवारणा है!, अपने आपको कैसा धोखा देना, किंवा छलना है!, अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! महती विडम्बना!!!। अवश्य ही इस प्रकार की अपनी काल्पनिक चित्तवृत्ति का मर्म्मज्ञ बनता हुआ यह आरुरुक्षु मानव कालान्तर में—"तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत" की अनुभूति के माध्यम से एकान्तचिन्तनानुगत इस उत्तरगर्भित प्रश्नसूत्रानुग्रह से स्वरूपबोध की ओर प्रवृत्त हो जायगा, निश्चयेन हो जायगा।

---

* गीताविज्ञानभाष्य में विस्तार से, तथा अन्य निबन्धों में संक्षेप से मानव की दम्भ-मान-मदान्विता इस अतिमानिपरता का निरूपण हुआ है। देखिए भाष्यविज्ञानग्रन्थान्तर्गत 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड का 'आसुरमानवस्वरूपोपवर्णन' नामक अवान्तर प्रकरण-(पृ० सं० १६० से १६७ पर्य्यन्त)।

आज मानव इस प्रकार आत्मबोध से वञ्चित क्यों है ', प्रश्न का समाधान भी पूर्वसन्दर्भ से गतार्थ बन रहा है। आज के मानव का सब से बड़ा दोष यह भी माना जायगा कि, 'यह आज अपने आपको सम्पूर्ण क्षेत्रों में अपनी चञ्चुप्रवेशात्मिका ज्ञानलवदुर्विदग्धता के दम्भ से सर्वात्मना निःसीमरूप से निपुण-समर्थ-योग्य-कुशल-दक्ष मान रहा है। 'सर्वे सर्वेषु क्षेत्रेषु कुशलाः'-भ्रान्ति ही मानव के सर्वनाश का कारण बन रही है, जिससे न केवल मानव ही, अपितु तत्समष्टिरूप राष्ट्र ही आज मोहगर्त में निमग्नित हो गया है *। ज्ञानलवदुर्विदग्धतामूलिका अल्पज्ञता के सात्मेप-प्रदर्शनस्थापन को ही आज मानव ने अपना अनन्य कौशल (चातुरी) मान लिया है, जिसका निदर्शन दुर्भाग्यवश हमारी जन्मभूमि का मानव (जयपुरीय मानव) प्रमाणित हो रहा है +। बेच रहे हैं शुण्ठि-मरीचिका-पिप्पल (सोंठ-मिर्च-पीपल), और बखान कर रहे हैं वेदान्तनिष्ठा का। कर रहे हैं अस्तव्यस्तरूप से-शुद्धाशुद्ध प्रकारभाव से पर 'वणिकों के यहाँ पूजन-पाठ, दम्भ कर रहे हैं 'महामहर्षि' पद का। अहोरात्र व्यस्त-सन्त्रस्त हैं अपनी जघन्य अर्थलिप्सा में, पथप्रदर्शक बन रहे हैं ज्ञान-विद्या-शिक्षाक्षेत्र के। मानों सभी क्षेत्रों की विदितवेदितव्यता प्राप्त कर ली हो इन सर्वकामुक सर्ववादियोंने। यह धनात्पकृष्ट पाण्डित्य का विमोहन, यह अकीर्तिकर सर्वज्ञता का दम्भ, सर्वोपरि यह असभ्य-दम्भ-मान-मदान्वित शुष्क-उद्वेगकर-मिथ्या प्रदर्शन मानव की आभ्यन्तर-ईश्वरप्रत्त-सहज-सात्त्विक-विमल विभूतियों-शक्तियों को किस प्रकार द्रुतवेग से अभिभूत-मूर्च्छित करता जा रहा है ', यदि यह मानव अंशतः भी इस दुःखोदर्कलक्षण इतिहास का परिज्ञान प्राप्त कर लेता, तो इसका माङ्गलिक अभ्युदयलक्षण उपक्रान्त-प्रक्रान्त बन जाता। इसी माङ्गलिक सूत्र की ओर परोक्षरूप से संकेत करते हुए श्रुति ने कहा है—'न विजानामि०'।

इसी सम्बन्ध में एक अन्य उपनिषच्छ्रुति भी विशेष महत्त्व रख रही है। औपनिषद महर्षि ने तो विस्पष्ट भाषा में ही इस सूत्र का स्पष्टीकरण मानव के सम्मुख-आत्मबोधजिज्ञासु मानव के सम्मुख-यों समुपस्थित कर देने का निःसीम अनुग्रह कर दिया है कि—"पाण्डित्यं निर्विद्य, बाल्येन तिष्ठासेत्"

---

* सर्वे यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः ।
सर्वे सर्वस्वमिच्छन्ति सर्वं तत्र विनश्यति ॥

\+ शेखावाटीप्रान्तीय एक चारण ने प्रान्तीय भाषा में जयपुराभिजनों की इस कल्पित यशःस्थापनता का जो चित्रण चित्रित किया है, वह भाषास्खलनदोष से असङ्गत बनता हुआ भी भावदृष्ट्या इस रूप से समाविष्ट माना जा सकता है—

"चणा चाब कहे-म्हे चाँवल खाया। नहीं छान पर फूँस-कहे होली सें आया ॥
ऊँची देख दुकान-कहे या चुणाई मैंने, काम काज क माँय-बैठवा की फुरसत कोनें ॥
इतनी बात बणायक, फेर गली में जा धसे। 'प्रेमसुख' भोजक कहे इस्या लोग जेपर बसे ॥

(बृहदारण्यकोपनिषत् ३।५।१)। "कल्पित पाण्डित्य के अतिमान का आत्यन्तिक परित्याग कर सर्वथा बालमात्र से ही मानव को स्वस्वरूपबोधपथ पर आरूढ़ होना चाहिए"। पाण्डित्याभिमानपरित्याग से, तथा बालभावानुगति से होगा क्या !, क्या फलसिद्धि होगी !, इस जिज्ञासा का समाधान श्रुतिवाग्भृति का उत्तरार्द्ध कर रहा है।

'ऋत का प्रथमजा सत्य' मानव पर जब अनुग्रह करता है, तो मानव का स्वतएव उद्बोधन आरम्भ हो जाता है। अनृत-जिह्मता-माया-दम्भ-मोह-मद-मान-मात्सर्य्य-असूया-लोभ-क्रोध-आदि मलीमस-पाप्मभावों का जब विषयानुरागिणी इन्द्रियों के द्वारा प्रज्ञानात्मक मानसक्षेत्र में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से समावेश हो जाता है, तो इन आसुरभावों के कारण सौम्य (चान्द्र) मन का सहज ऋतमायात्मक अजिह्म-अकुटिल-सत्त्वगुण तो हो जाता है अभिभूत-मूर्च्छित, एवं आसुरमायात्मिका वारुणी जिह्मता-कुटिलता से संयुक्त रजोमिश्रित तमोगुण हो जाता है उद्रिक्त-उद्बुद्ध। सुशान्त मानसप्रज्ञा विकम्पित-विचलित हो पड़ती है। प्रज्ञाप्राणात्मक-स्नेहगुणक-इस ऋतसोममय मन के विकम्पित होजाने से तत्र प्रतिष्ठिता बुद्धि कम्पित-चलित बन जाती है। मनो-बुद्धियुग्म का यह कम्पन-विचलन ही 'मतिविभ्रम' है, जिसका मुख्य पुरुषार्थ है सत् में असत् की प्रतीति करा देना, एवं असत् में सत् का व्यामोहन करा देना। इसी व्यामोहन के कारण बुद्धि के उस व्यवसायात्मक-निश्चयात्मक-ऋजु सत्यपथ से मानव स्खलित हो जाता है, जो व्यवसायात्मिका बुद्धि मानव को मानस-ऋतानुगामी बनाती हुई इसे अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर अग्रगामी किए रहती है।

सहज-अजिह्म-अकुटिल-मानसप्रज्ञा सुशान्त स्थिर अविकम्पित बनी रहती है। इस सुशान्त प्रज्ञा के स्थिर धरातल पर प्रतिबिम्बित सत्यात्मिका विद्याबुद्धि भी निश्चलरूप से पूर्ण विकास-प्रभारूपेण उद्रिक्त बनी रहती है। यही सुब्रह्मलक्षणा-'सुब्रह्मण्या' नाम से प्रसिद्धा पारमेष्ठिनी आम्भृणी वाग्देवी का वह ऋतम्भराप्रज्ञात्मक अमृत (सौम्य) भाग है, जिसे इस प्रकार प्रज्ञा-बुद्धि के व्यवसायात्मक सत्त्व गुणानुग्रह से सहजबुद्धिसमन्वित मानवश्रेष्ठ अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अपना भोग बनाता हुआ स्वस्वरूपबोधानुगति में समर्थ हो जाता है। 'यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्य-आदिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः' यह मन्त्रोत्तरभाग इस आत्मबोधस्वरूपोपयिक ऋतलक्षण अमृतफलभोग की ओर ही मानव का ध्यान आकर्षित कर रहा है, जिसके वास्तविक स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही 'मानव' शब्द के तात्त्विक स्वरूप निर्वचनात्मक तात्त्विक शब्देतिहास का समग्र अग्र अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक मान लिया गया है। 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य०'-'अहमिद्धि पितुष्परि'-'स पितृन्त्सृष्ट्वा'-'यद्वैतत् पुरुषे शरीरम्०' इत्यादि चारों श्रुतियों का क्रमशः आगे यथाक्रम स्वरूपविश्लेषण होता रहेगा। अभी 'मानव' शब्द के तात्त्विक निर्वचन को ही लक्ष्य बनाया जा रहा है, जिस निर्वचन के माध्यम से ही उक्त श्रुतिचतुष्टयी का तात्त्विक समन्वय गतार्थ बन सकता है

(१३)—मनु की ऐतिहासिक परम्परा—

जैसा कि सप्तहवें परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है, 'मानव' शब्द भावुकतापूर्ण प्रासादिक निर्वचन के अनुसार 'मनुधर्मशास्त्र' का सूचक बन रहा है, इस दृष्टिकोण की प्रामाणिकता का हमें प्रति-

हासिक सन्दर्भसङ्गति के लिए सर्वात्मना समर्थन ही करना पड़ेगा। तथाकथित पौराणिक ऐतिहासिक तथ्य की प्रामाणिकता भी इसी आधार पर निर्विवादरूप से अक्षुण्ण ही मानी जायगी कि, पौराणिक त्रयीविध आख्यानों में से एक आख्यान–प्रकार ऐसा भी है, जिसका समन्वय अध्यात्म–अधिदैवत–अधिभूत– तीनों विश्वविवर्त्तों से सम्बद्ध है। तथाविध त्र्यात्मक आख्यानों का पार्थिव प्राणिलक्षण आध्यात्मिकजगत् से भी सम्बन्ध रहता है, पार्थिव भौतिकजगत्–भौतिक जड़पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध रहता है, एवं सौर दैविक पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध रहता है। इन तीनों दृष्टिकोणों में से आध्यात्मिक क्षेत्र व्यष्टि–समष्टिरूप से उभयथा आख्यान से समन्वित माना गया है। व्यष्ट्यात्मक आध्यात्मिक क्षेत्र विशुद्ध आध्यात्मिक है, जिसका मानवेतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। समष्ट्यात्मक आध्यात्मिक क्षेत्र विशुद्ध ऐतिहासिक है। इस प्रकार मानव के मूलपुरुष स्थानीय 'मनु' की इस दृष्टिकोण से सर्वथा प्रवृत्ति प्रमाणित हो जाती है। इतिहासप्रसिद्ध मनु (राजर्षिमनु) मानवसमाज की ऐहिक आमुष्मिक–नैतिक–लौकिक–धार्मिक–सामाजिक–राष्ट्रिय–आदि सम्पूर्ण व्यवस्थाओं के प्रवर्त्तक–व्यवस्थापक बनते हुए मानव-समाज के 'मूलपुरुष' कहलाए। एवं इस दृष्टिकोण से ही 'मनोरपत्यं मानवः' निर्वचन से मानवसमाज को मनुप्रजा मान लिया गया, उसी प्रकार—जैसे कि एकेश्वर सत्तावादी भारतराष्ट्र में राष्ट्रपति शास्ता क्षत्रियराजा पिता मान लिया गया है, एवं तदनुशासित समाज '*प्रजा' शब्द से संयुक्त मान लिया गया है। इस मान्यता का एकमात्र आधार ऐतिहासिकी पारम्परिकी राजसत्ता ही मानी जायगी, जिस इस ऐतिहासिकी मान्यता का स्वयं निगमशास्त्र ने भी निम्नलिखित रूप से समर्थन किया है—

"मनुर्वैवस्वतो राजा–इत्याह। तस्य मनुष्या विशः (प्रजाः)। तऽइमऽआसतऽइत्य श्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति"।

—शतपथब्राह्मण १३।४।३।३।

स्वयम्भू मनु के पौत्र, विवस्वान्मनु के पुत्र, अतएव "वैवस्वत' नाम से प्रसिद्ध अयोध्याधिपति सूर्यवंशी क्षत्रिय महाराज मनु ने × देवसर्गभूमि को ही अपना लक्ष्य मानते हुए मानवप्रजा (भारतीय प्रजा)

---

* प्रजा स्यात् सन्ततौ जने।

× प्राकृतिक 'विराट्' तेजोमय तत्त्व सौरतेज–चान्द्रतेज–आग्नेयतेज, रूप से तीन भागों में विभक्त है। इस प्राकृतिक स्थिति के आधार पर भारतीय क्षत्रियवर्ग सूर्य–चन्द्र–अग्नि भेद से तीन ही मुख्य वर्गों में विभक्त रहा है। विवस्वान् से आरम्भ कर महाराज सुमित्र पर्यन्त अनुमानतः १२८ वंश-वितान भावों में अपने ओजस्वी प्रताप से भारतीय चक्रवर्त्ती पद का उपभोग करने वाले क्षत्रिय राजा सूर्यवंशी हैं। कुरुवंश चन्द्रवंश था। पर्म–पमार–परिहार–सोलंकी–चौहान आदि अग्निवंशी माने गए हैं। विवस्वान् स्वं सदा देवस्वर्ग में ही। ये कभी भारतवर्ष नहीं आए। इनके इक्ष्वाकुप्रमुख आठ पुत्र हुए। इला नाम की एक कन्या हुई। इक्ष्वाकु ही प्रथम अयोध्यानरेश घोषित हुए।

की सम्पूर्ण व्यवस्था व्यवस्थित की। अतएव भारतीय प्रजा इन वैवस्वत मनु की 'विट्' (प्रजा) कहलाई। कौनसा मानवसमाज मनोरपत्यरूपा मानवप्रजा कहलाया?। क्या तत्पूत–ज्ञाननिष्ठ–ब्रह्मवचस्वी ब्राह्मणसमाज मानवप्रजा कहलाई?। नेति होवाच। नहीं। अपितु जो भौततत्त्व ज्ञानानुशीलन से बहिष्कृत थे, अतएव जो उस युग में सद्गृहमेधी (गृहस्थी) अब्रह्मेविय कहलाते थे, वे वैश्यादि मानव ही, एवं तदतिरिक्त यथाजात सामान्य वर्णा–शूद्र–अवर्णशूद्रादि मानव ही मनु की प्रजासीमा में अन्तर्भुक्त माने जाते थे। मनु का शासनदण्ड एवंविधा ब्राह्मणेतरप्रजा से ही सम्बन्धित था। ब्रह्मनिष्ठ–श्रोत्रिय–ब्राह्मण तो राजाओं का भी पौरोहित्यरूप से अनुशासन ही करते थे। ब्राह्मणों का एकमात्र बल था 'यज्ञ', जिसका मूलाधार माना गया है चान्द्रसोम। अतएव ब्राह्मण किसी क्षत्रिय राजा को अपना शास्ता न मानते हुए यज्ञ-प्रतिष्ठारूप सोम को ही अपना अनुशासक मानते थे, जैसा कि उनकी इस घोषणा से स्पष्ट है—"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना राजा"

(२४)—सर्वव्यापक मनुतत्त्वोपक्रम—

तथाकथित ऐतिहासिक क्षेत्र के अतिरिक्त व्यष्ट्यात्मक–आध्यात्मिक–क्षेत्र की दृष्टि से तो मानव ही क्या, सम्पूर्ण प्राणिमात्र ही तत्त्वात्मक 'मनु' के वंशज माने और कहे जायँगे। प्रत्येक वस्तुतत्त्व के केन्द्र में–वह चेतन हो, अथवा तो जड़, उसके गर्भ में—अवस्थित तत्त्वविशेष ही तत्त्वात्मक 'मनु' है। अतएव प्राणिवत् प्रत्येक भौतिक जड़ पदार्थ की भी मूलप्रतिष्ठा तत्त्वात्मक 'मनु' ही प्रमाणित हो रहा है। एवमेव सौरमण्डलानुगत यावन्मात्र आधिदैविक पदार्थों की स्वरूपसत्ता भी मनुतत्त्वाधार पर ही अवलम्बित है, तदित्थं 'मनु' ऐतिहासिक पुरुषरूप से, तथा तत्त्वरूप से अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवत, सर्वत्र के मूलाधिष्ठान मूलप्रवर्त्तक बने हुए हैं। ऐतिहासिक तथ्य सर्वविदित है। तत्त्वात्मक तथ्य ज्ञानविज्ञानात्मिका नैगमिक परिभाषाओं के विलुप्तप्राय हो जाने से विस्मृत बन चुका है। उसी तथ्यात्मक मनु के तात्त्विक रूप की संक्षिप्त दिशा के माध्यम से ही हमें 'मानव' की मौलिक रूपरेखा के अन्वेषणकर्म्म में प्रवृत्त होना है।

लक्षीभूत 'मानव' शब्द के स्वरूप–निर्वचन से पूर्व हमें तत्प्रतिष्ठानलक्षण 'मनु' तत्त्व को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा, एवं मानवधर्म्मशास्त्रव्याख्याता ऐतिहासिक मानवश्रेष्ठ भगवान् मनु से ही हमें यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करनी पड़ेगी कि भगवन्! जिस मानव की सुव्यवस्था–मर्य्यादा के लिए आपने 'मानवधर्म्म शास्त्र' (मनुस्मृति) के आविर्भाव का निःसीम अनुग्रह किया, उस मानव के मूलभूत–मूलप्रतिष्ठानरूप तत्त्वात्मक 'मनु' का क्या तात्त्विक स्वरूप है?, इस प्रश्न के समाधान का उत्तरदायित्व भी एकमात्र आपके अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। कारुणिक भगवान् मनु की ओर से अविलम्ब इस जिज्ञासा के समाधान के लिए यह समाधान हमें प्राप्त होगा कि—

> प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ॥
> रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥१॥

एतमेके वदन्त्यग्निं—मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥
इन्द्रमेके—परे प्राण—मपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥२॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभि ॥
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥३॥
एवं य सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ॥
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति पर पदम् ॥४॥

—मनुस्मृति १२ अ०।१२२,१२३,१२४,१२५ श्लोका ।

"सम्पूर्ण चर–अचरप्रपञ्च पर अनुशासन करने वाले, सुसूक्ष्म से भी सुसूक्ष्म, विशुद्ध–सुवर्णकान्ति-सदृश कान्तियुक्त, स्वप्नबुद्धिमात्र से जानने योग्य उस तत्त्वविशेष को (तत्त्वत) 'परपुरुष' ही समझना चाहिए । (१)। कितने एक विद्वान् तथालक्षण इस तत्त्वविशेष को 'अग्नि' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं । तो दूसरे इस मनु को 'प्रजापति' अभिधा से सम्बोधित कर रहे हैं । कोई इसे 'इन्द्र' कह रहे हैं, तो दूसरे इस मनु को 'प्राण' रूप से ही उपवर्णित कर रहे हैं । कितने एक पूर्णतत्त्वज्ञों की दृष्टि में यही मनु 'शाश्वतब्रह्म' नाम से उद्घोषित कर रहे हैं । इस प्रकार 'परपुरुष'–'अग्नि'–'प्रजापति'–'इन्द्र'–'प्राण'–'शाश्वतब्रह्म' इत्यादिरूप से विविध अभिधाओं से प्रसिद्ध यही 'मनु' गुणभूत–अणुभूत–रेणुभूत–महाभूत–भौतिकभूत, इन पञ्चधा विभक्त सम्पूर्ण भूतप्रपञ्चों को अपनी पाँच ही मूर्त्तियों से (परपुरुषमूर्त्ति–अग्निमूर्त्ति–प्रजापतिमूर्त्ति–इन्द्रमूर्त्ति–प्राणमूर्त्ति–इन मूर्त्तियों से–) मूर्त्त-व्यक्त स्वरूपों से चारों ओर से, किंवा सब ओर से–आसमन्तात्–अभिव्याप्त कर जन्मवृद्धि–क्षयादि (जायते–अस्ति–विपरिणमते–वर्द्धते–अपक्षीयते–नश्यति–इन सुप्रसिद्ध षड्भावविकारों) के द्वारा इस संसार को 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'–'व्यदधात्-शाश्वतीभ्य समाभ्य' इत्याद्यनुसार सनातनरूप से चक्रवत् परिभ्रममाण बना रहे हैं । (३)। पञ्चमूर्त्तिलक्षण यथाप्रतिपादित मनु के इस शाश्वतब्रह्मरूप सनातनस्वरूप के–इस सर्वव्यापक आत्मा के सर्वव्यापक स्वरूप के जो मानव दर्शन कर लेता है, आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, इस समदर्शनलक्षण आत्मबोध द्वारा अपने देही कर्म्मात्मा से उस देहातीत का स्वरूपबोध प्राप्त कर लेता है, वह आत्मतत्त्ववित् मानवश्रेष्ठ समब्रह्म से समन्वित बनता हुआ इस समत्वयोग के प्रभाव से शाश्वत ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है। (४)।" मनुतत्त्व स्वरूपविश्लेषिका उक्त श्लोकचतुष्टयी का यही अक्षरार्थ है । अब संक्षेप से मनुप्रेमी मानवों का ध्यान श्लोकचतुष्टयी के तात्त्विक–पारिभाषिक उस परोक्ष अर्थ की ओर भी ध्यान आकर्षित कर दिया जाता है, जो अथ नैगमिक परिभाषाज्ञान से वञ्चित व्याख्याकारों के प्रज्ञादोष से आज सर्वथा विपरीत पथानुगामी बन चुका है ।

(२५)—महात्मा, दुरात्मा की मौलिक परिभाषा—

मानव, सर्वात्मना परिपूर्ण भी मानव अपने ज्ञानशक्तिघन मनोमय, क्रियाशक्तिघन प्राणमय, एवं अर्थशक्तिघन वाङ्मय केन्द्रस्थ भूतात्मा (कर्म्मात्मा) को, अपने इस भूतात्मा के मनःप्राणवाङ्मयरूप तीनों

भूतात्मपर्वों को प्रज्ञापराधवश कुटिल–विषम–वक्र बनाता हुआ, दूसरे शब्दों में वाणी का प्रयोग कुछ और, कर्म विभिन्न ही प्रकार का, एवं मानस सङ्कल्प कुछ विभिन्न ही। इसप्रकार सङ्कल्प–कर्म–वाणी–तीनों धाराओं को अज्ञानमूला अविद्या–अनैश्वर्य्यमूला अस्मिता, रागद्वेषमूला आसक्ति, अधर्म्ममूलक अभिनिवेश–लक्षणा अविद्याबुद्धिचतुष्टयी के समावेश से सर्वथा विपरीत–विषम–दिगनुगामी बनाता हुआ अपने परिपूर्ण भी 'महानात्मा' के स्वरूप से सर्वात्मना 'दुरात्मा' (कुटिलात्मा–वक्रात्मा–विषमात्मा–असमात्मा) बनता हुआ मानव आज दानवकोटि की सीमा का भी उल्लङ्घन कर गया है। मानव का यह निःसीम आत्यन्तिक आत्मपतन किस दिशा–विदिशा का अनुगामी बन गया है !, प्रश्न भी आज तो अनतिप्रश्न कोटि में समाविष्ट हो चला है।

अपनी बाल्यावस्था में ऐसी घटनाओं की समुपस्थिति का सौभाग्य प्राप्त हुआ है हम कि, पारम्परिक लोकव्यवहार में मानव हरितवृक्ष–छाया में खड़ा होकर सानृतपूत्रग्रहण (शपथग्रहण) में भी पूर्ण साहस अभिव्यक्त किया करता था। आज से कुछ एक वर्षों का ही पूर्वमानव अपनी वाणी, तथा पाणी (लेख) की नैतिकता, धर्म्मशीलता का पूर्ण समर्थक था। किन्तु इन परिगणित २०–३० वर्षों में ही मानव का वह नैतिकबल, वह धर्म्मनिष्ठा, यह आस्था सहसा कैसे एवं क्यों अभिभूत हो गई !, प्रश्न आज हमें आश्चर्य में डाल रहा है। 'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी'* का निर्म्मम हनन कर देने वाला आज का दुरात्मा मानव सर्वात्मना–"मनस्यन्यत्–वचस्यन्यत्–कर्म्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्" (मन में कुछ और, मुख में कुछ और, करते हैं कुछ और ही, किंवा कल्पना कुछ और है, कह कुछ और ही रहे हैं, करते सर्वथा कल्पना–कथन से विपरीत ही। तभी तो मन-प्राणवाङ्मय आत्मा को कुटिल बनाते हुए ऐसे मानव–'दुरात्मा'–'कुटिलात्मा' कहलाए हैं) इस आभाणक को अक्षरशः चरितार्थ कर रहे हैं। "मनस्येकं वचस्येकं कर्म्मण्येकं महात्मनाम्" लक्षण नैतिक आदर्श इस मानव ने सर्वात्मना विस्मृत कर दिया है। और ऐसा दानवोपम मानव लोकैषणामूला अर्थलिप्सापरिपूर्णा, किंवा वित्त–पुत्र–लोकलिप्सासमन्विता अपनी चातुरी के बल पर अभ्युदय–निःश्रेयसमूला शान्ति के, स्वस्त्ययन के सुखस्वप्न देख रहा है, इससे अधिक इसकी अपनी ही ओर से आत्मवञ्चना और क्या होगी !। यदि अभूतपूर्व–परिपूर्ण–भूमरूप प्रथमजा मानव को वास्तव में अभ्युदय–निःश्रेयस् का अनुगामी बनना है, तो इसका एकमात्र उपाय है—

* या रात्रिः शशिशोभना गतघना सा यामिनी यामिनी।
या सौन्दर्य्यगुणान्विता पतिरता सा कामिनी कामिनी॥
या गोविन्दरसप्रमोदमधुरा सा माधुरी माधुरी।
या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी॥
—कविसूक्ति

"स्वात्मावबोधपूर्वक–ऋजुभावानुगतिपूर्वक प्राकृतिक धर्म्मपथ का निर्व्याज–निश्छलरूप से निष्ठामाध्यम से ऐकान्तिक अनुगमन । नान्य पन्था विद्यते–अयनाय —" ।

(२६)—यत्तदग्रे विषमिव, किन्तु परिणामेऽमृतोपमम्—

मानव के गरिमामहिमामय परिपूर्ण आत्मस्वरूपबोध के विश्लेषक कतिपय (५) श्रौतवचन (आर्षवचन) मानवधर्मप्रेमी पाठकों के सम्मुख इस आशाप्रतीक्षा से उपस्थित हुए हैं कि, इनके माध्यम से अपने स्वरूपबोध से विस्मृत–पराधपरायत बना हुआ मानव उद्बोधन प्राप्त करे, तद्द्वारा अपनी महद्भ्रान्ति का मुकुलित-नयन बन कर अपने अन्तर्जगत् में ही अन्वेषण करे, एवं प्राणपण से तन्निराकरण के लिए सन्नद्ध बने । अब प्रतिज्ञात तत्त्वार्थ की ओर–मानवशब्द–निर्वचन की ओर–ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

"अहम्'– 'मन'– 'मनु'–'मनुष्याणाम्'– इत्यादि शब्दों का मूलाधारभूत 'मनु' तत्त्व ही मानवरूपरेखा की मूलव्याख्या है, एवं यही मानव का वास्तविक स्वरूप है, जिसके पाञ्चभौतिक महा-विश्व में "परपुरुष–अग्नि–प्रजापति–इन्द्र–प्राण–" ये पाँच मुख्य विवर्त्त माने गए हैं, जिनके परि-ज्ञान से शाश्वत ब्रह्मपद प्राप्त हो जाता है । इस दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वोद्धृत पाँच आर्ष वचनों के तत्त्वार्थ का समसमन्वय ही एकमात्र 'मनु' शब्द की मानवधर्मशास्त्रोक्ता–मनुश्लोकचतुष्टयी से प्रतिपादिता–नैष्ठिकी तात्त्विकस्वरूपव्याख्या सर्वात्मना समन्वित बन जाती है ।

इस में कोई सन्देह नहीं कि, शताब्दियों से विलुप्तप्राय वैदिक–तत्त्ववादानुगता परिभाषाओं के वास्तविक–पारिभाषिक–स्वरूपबोध से अधिकांश में असंस्पृष्ट जगत् के मानव के लिए प्रस्तुत 'मानवरूपरेखा' आरम्भ में 'इन्द्रशब्दस्य टीका–बिडौजा' न्याय से जटिलतमा दुर्बोध्या ही प्रमाणित होगी । किन्तु–'यत्तदग्रे विषमिव, परिणामेऽमृतोपमम्' * इस आर्षसिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में कठिनवत् प्रतीत होती

— तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय । (यजुःसंहिता ३१।१८)
यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।२०

* यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
—गीता १८।३७।

हुई भी—यह स्वरूपव्याख्या मानवकी विविध समस्याओं का सहजभाव से समाधान करती हुई निश्चयेन परिणाम में आत्मबुद्धिप्रसादलक्षणा अमृतनिष्पत्ति–अमृतानुभूति को ही प्रमाणित करेगी। अतएव आग्रह पूर्वक इस सम्बन्ध में हम अपने आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण मानवश्रेष्ठों से यह नम्र आवेदन करेंगे, कि, वे साहित्य की विषयगम्भीरतानुगता जटिलता की ओर से अनुकूलतापरायण मन को नियन्त्रित करते हुए बुद्धिपूर्वक ही इस रूपरेखा को लक्ष्य बनाने का नैतिक प्रयत्न अवश्य रक्खेंगे।

मानवस्वरूप का ही क्या, अपितु सम्पूर्ण चर–अचर–सृष्टि का मूलाधार 'मनु' तत्त्व यद्यपि मनु के शब्दों में अग्नि–प्रजापति–इन्द्र–प्राण–परपुरुष–शाश्वतब्रह्म–इत्यादि विविध नामों से उपवर्णित हुआ है। अवश्य ही मानवाधारभूत मनु के तत्त्वार्थ–बोध के लिए मनु स्वरूपसंग्राहक इन अग्नि–प्रजापत्यादि सभी तात्त्विक अभिधाओं का तात्त्विक इतिहास जान लेना अनिवार्य्य माना जायगा, जिस परिज्ञानमात्र के लिए किसी वैसी सामान्य परिभाषा का अनुगमन आवश्यक होगा, जिसके आधार पर इन विभिन्नार्थों के प्रतिपादक अग्न्यादि विभिन्न शब्दों का अविभिन्नरूप से समसमन्वय सम्भव बन सके। चरब्रह्मानुगता केवल विकारसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली उस सामान्य–परिभाषा से पूर्व क्योंकि कतिपय विशेष परिभाषाओं का परिज्ञान भी सामयिक था। अतएव इस 'मानवरूपरेखा' से पूर्व हमें उन विशेष परिभाषाओं का संक्षिप्त समन्वय करना पड़ा (देखिए पृ० सं० १३७ वें पृष्ठ से १६० वें पृष्ठपर्य्यन्त)।

(२७)—काममयी मन्त्रदृष्टि—

*'सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा' इत्यादिमूलक प्रजोत्पादक (संस्थितलक्षण–सृष्टिप्रवर्त्तक) यज्ञ के आधार पर जिस योषावृषात्मिका मैथुनीसृष्टि का दिग्दर्शन पूर्व की विशेष परिभाषाओं का उपसंहार करते

+यथार्थ में स्थिति तो यह है कि, मानवीय मन अपने प्रभव चान्द्रतत्त्व से सम्बन्धित गन्धर्वाप्सरा प्राणों के सहज प्रभाव से सवर्य से सदा उन्मुख ही बनता रहता है। काल्पनिक मनोभावों को, तदनुगता भावुकता को समुत्तेजित–प्रोत्साहित करने वाले सहजबोधगम्य–श्रवणप्रिय रसनाप्रिय अनुकूल सङ्गीत नृत्य *वादन–वाङ्मुखमात्र उपन्यास–नाटक–कथा कविता–साहित्यादि ही मनस्तत्त्वके अनुरूप प्रमाणित होते रहते हैं।* आत्मबुद्ध्यनुगत सौरविद्यमानों–वेदशास्त्र–स्वाध्याय–ईश्वरोपासन–धर्मानुगमन–तत्त्वपूर्ण शास्त्रवाचन–आदि सवर्यात्मक सभी भावों से अनुकूलताप्रेमी मन की अनुकूलता पर क्योंकि प्रहार होता है। अतएव आत्म बुद्ध्यनुगत सभी क्षेत्र इसके लिये आरम्भ में विषवत्–जटिलवत् अरुचिकरवत् ही बने रहते हैं। यदि मानव निष्ठापूर्वक इस आरम्भदशा में संयम–नियन्त्रणद्वारा इन आत्मबुद्ध्यनुगत भावों में अभ्यास करता रहता है, तो निश्चयेन कालान्तर में यह आत्मबुद्धिक्षेत्रप्रसादभावापन्न बन जाता है। एवं उस दिशा में आरम्भ का व्यग्र मन भी शान्ति–तृप्ति का अनुभव करने लगता है।

* सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता ३।१०।

हुए बतलाया गया था (पृ० सं० १६०), उस सृष्टि के सम्बन्ध में एक यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि,—"जबकि सृष्टि का मूल अव्ययाक्षरगर्भित एक ही क्षरात्मा है, तो उस स्थिति में सृष्टि में, किंवा सृष्ट पदार्थों में परस्पर वैभिन्य क्यों ?, विभिन्नता क्यों ?। इस विभिन्नता का एकमात्र मूलकारण है सृष्ट्युत्पादनभूत सजातीय-विजातीय-मायापन्न उन बलभावों का पारस्परिक सम्बन्धविभेद, जिन बलों के माया-जाया-धारा-आप -अम्ब-सूत्र-नियति-हृदय-आदि आदि १६ मुख्य जातिभेद, एवं अगणित असम्म्य उपजातिभेद यत्रतत्र उपवर्णित हैं। इन सम्पूर्ण सविशेष-भेदक बलों के रहते हुए भी एक ऐसा सामान्य भी सृष्टि-अनुबन्ध है, जिसके माध्यम से विभक्त भी सृष्टिपदार्थों को समानधर्म्मा माना, और कहा जा सकता है। न केवल मनुनिबन्धन सामान्य अभिव्यक्त स्वरूपों का ही, अपितु मनुनिबन्धन विशेष-विभक्त ऋषि-प्रजापति इन्द्रादिस्वरूपों का भी इस प्रतिपाद्य सामान्य परिभाषासूत्र से निर्विशेष समन्वय हो जाता है।

आप्तकाम-आत्मकाम-सर्वजगद्व्यापक-सर्वव्यापक-अखण्ड-अद्वय-निर्विकार-निर्गुण-परमेश्वर में सृष्टि जैसे सीमित-खण्ड-द्वैतभावापन्न-सविकार -सगुण-भाव की कामनारूपा सृष्टिकामना का उदय सम्भव ही कैसे हुआ ?, जबकि वहाँ कुछ भी अप्राप्त नहीं है, प्रश्न एक स्वतन्त्र प्रश्न है, जिसका ईशविज्ञान भाष्यादि में विस्तार से समाधान हुआ है। अभी हमें इस सिद्धान्त के माध्यम से ही मनु सम्बन्धिनी इस सामान्य परिभाषा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, त्रिपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति बलाविर्भावतिरोभावलक्षणा सहज कामना के आकर्षण से 'सोऽकामयत' इत्यादि रूप से अपने अव्ययभाग से सृष्टिकामना अभिव्यक्त करते हैं, उस अव्ययभाग से-जिसे कुम्भकारानुगत षट्सर्गप्रक्रिया के सम्बन्ध में पूर्व में हमने मनःप्राणवाग्रूप सृष्टिसाक्षी बतलाया है (देखिए पृ० सं० १५१)। 'स तपोऽतप्यत' रूप से अपने प्राणमय अक्षरभाग से आभ्यन्तरव्यापाररूपा क्रिया (मन-चेष्टा-कृति) का अनुगमन करते हैं। एवं-'सोऽश्राम्यत्' रूप से अपने वाङ्मय क्षरभाग से बाह्यव्यापाररूप कर्म्म का अनुगमन करते हैं। इस प्रकार अव्यय-अक्षर-क्षरानुगत मन प्राण-वाङ्मय-काम-तप -श्रम के समसमन्वय से प्रजापति पूर्णेश्वर यज्ञात्मिका ससलिलक्षणा प्रजासृष्टि में समर्थ बना करते हैं, जिस प्रजासृष्टि का मूलाधार-सामान्य आधार-बना करता है—"काम"। इसी कामभाव का स्वरूप-विश्लेषण करती हुई निम्नलिखित श्रुति हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है—

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
>
> —ऋक्सं० १०।१२९।४

(२८)—सदसत् का विलक्षण सम्बन्ध—

त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप, पञ्चपुण्डीरप्रजापत्यवरगानुगत-सहस्रपुण्डीरात्मक-अश्वत्थब्रह्ममूर्ति-सर्वजगद् व्यापक-पूर्णपुरुष के द्वारा होने वाले सृष्टिकर्म्म में प्रधान एवं प्रथम सामान्य अनुबन्ध कौनसा है ?, ऋक्

श्रुति इसी प्रश्न का समाधान कर रही है, जिस रहस्यार्थ की संक्षिप्त स्वरूपदिशा यही है कि, हमारे इस प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमानकालिक सर्गसत्ताकाल में गगन–पवन–तेज–तारापुञ्ज–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–कृमि–कीट–पक्षी–पशु – मानव – देवदेवता–असुर–गन्धर्व–पितर–राक्षस–यक्ष–पिशाच–किन्नर–गुह्यक–धातु–उपधातु–रस–उपरस–विष–उपविष–नद–नदी–सर–सरोवर–सागर–अम्भोधि–पर्वत–आदि आदि रूप से प्रत्यक्ष में दृष्ट श्रुत उपवर्णित-सर्वविध चर अचर प्रपञ्च जब न था, सो क्या था ?, यह एक सामान्य प्रश्न है, जिसका रहस्यात्मक समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—'असद्वा इदमग्र आसीत्'। यह सब कुछ वर्त्तमान चर-अचरप्रपञ्च इस वर्त्तमानदशा से पूर्व (इदमग्रे) 'असत्' था। "किंतदसदासीत्" ?, उस सृष्टिमूलभूत असत् का क्या स्वरूप था ?, इस द्वितीय प्रश्न का ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक प्रकार से समन्वय हुआ है, जिन अनेक प्रकारों में से 'सत्-सदासीत, कथमसत सज्जायेत' इस एक समाधान की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

लोकभाषा में 'असत्' शब्द का अर्थ 'अभाव' भी हुआ करता है। विश्वसर्ग से पूर्व का तत्त्वविशेष 'असत्' रूप अभावरूप था। भला कहीं अभावात्मक असत् भी मायात्मक सत्तासिद्ध का मूलप्रभव बना है !! अवश्य ही यह विश्वमूलभूत विश्वातीत असत्-तत्त्व सद्रूप था, जिसका अन्य श्रुतियों के द्वारा 'आभू-अभ्व' रूप से उपवर्णन हुआ है। सर्वथा–निरञ्जन–शान्त–दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न–व्यापक–आवमन्तादभवति-लक्षण–निर्गुण 'आभू' तत्त्व ही विज्ञानभाषा में 'रस' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं सर्वथा साञ्जन–अशान्त–दिग्देशकाल से अवच्छिन्न–परिच्छिन्न–'अभूत्वा भाति–अभवन् भाति–अभवन् भवति लक्षण सगुण 'अभ्व' तत्त्व ही विज्ञानकाण्ड में 'बल' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'सद्' मायात्मक रस, तथा असद्मायात्मक बल, दोनों अविनाभूत हैं, 'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'–अन्तरं मृत्योरमृतं,–मृत्यावमृतमाहितम्' इत्यादि रूप से अन्तरान्तरीभावात्मक ओतप्रोतसम्बन्ध से एक ही बिन्दु में दोनों निर्विशेष समन्वित हैं। अमृत–मृत्युनिबन्धन–सदसन्मूर्ति–आभू–अभ्व–लक्षण–सर्वबलविशिष्टरसैकघन वही विश्वातीत तत्त्व 'असदेवेदमग्र आसीत्' का समाधान बना, जिसके सद्रस, तथा असद्बल के बन्धु (बन्धन-सम्बन्ध) से–ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से 'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्' रूप कामनामय बीज के द्वारा वर्त्तमान चराचरमायात्मक विश्व का उदय हुआ। विशुद्ध 'सद्बन्धरसम्बन्ध' से रससमुद्र में असङ्गरूप से प्रतिष्ठित बलतत्त्व तदवधिपर्य्यन्त सृष्टिकर्म में असमर्थ रहा, यदवधिपर्य्यन्त मायाबलोदय के द्वारा उस व्यापक रसब्रह्म का अमुक प्रदेश सीमित बन कर सीमाभावानुगत हृदयबलावच्छिन्न कामनामय नहीं बन गया। कामभाव विरहित, सर्वबलविशिष्टरसैकघन, विश्वातीत वही तत्त्व विज्ञानभाषा में 'परात्पर'–'परमेश्वर'–'शाश्वतब्रह्म'–'अक्षरब्रह्म'–'अद्वयब्रह्म' आदि विविध नामों से उपवर्णित हुआ, जिसे शब्दशास्त्र के आचार्य्योंने यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही निरूढ़ शब्द से अवाच्यत्वाग्रह रहने के कारण वाङ्मनसपथातीत, अतएव सर्वथा अविशेष ही घोषित किया है, जिसके सम्बन्ध में निम्नलिखित घोषणा प्रसिद्ध है—

हुए बतलाया गया था (पृ० सं० १६०), उस सृष्टि के सम्बन्ध में एक यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि,—"जबकि सृष्टि का मूल अव्ययाक्षरगर्भित एक ही क्षरात्मा है, तो उस स्थिति में सृष्टि में, किंवा सृष्ट पदार्थों में परस्पर वैचित्र्य क्यों ?, विभिन्नता क्यों ?। इस विभिन्नता का एकमात्र मूलकारण है सृष्ट्युत्पादनभूत सजातीय–विजातीय–भावापन्न उन बलभावों का पारस्परिक सम्बन्धविभेद, जिन बलों के माया–छाया–धारा–आप–अम्भ–सूत्र–नियति–हृदय–आदि आदि १६ मुख्य जातिभेद, एवं अगणित असंख्य उपजातिभेद यत्रतत्र उपवर्णित हैं। इन सम्पूर्ण सविशेष–भेदक बलों के रहते हुए भी एक वैसा सामान्य भी सृष्टि-अनुबन्ध है, जिसके माध्यम से विभक्त भी सृष्टिपदार्थों को समानधर्म्मा माना, और कहा जा सकता है। न केवल मनुनिबन्धन सामान्य अभिव्यक्त स्वरूपों का ही, अपितु मनुनिबन्धन विशेष विभक्त अग्नि-प्रजापति इन्द्रादिस्वरूपों का भी इस प्रतिपाद्य सामान्य परिभाषासूत्र से निर्विशेष समन्वय हो जाता है।

आप्तकाम–आत्मकाम–सर्वजगद्व्यापक–सर्वव्यापक–अखण्ड–अद्वय–निर्विकार–निर्गुण–परमेश्वर में सृष्टि जैसे सीमित–सखण्ड–द्वैतभावापन्न–सविकार–सगुण–भाव की कामनारूपा सृष्टिकामना का उदय सम्भव ही कैसे हुआ ?, जबकि वहाँ कुछ भी अप्राप्त नहीं है, प्रश्न एक स्वतन्त्र प्रश्न है, जिसका ईशविज्ञान भाष्यादि में विस्तार से समाधान हुआ है। अभी हमें इस सिद्धान्त के माध्यम से ही मनुः सम्बन्धिनी इस सामान्य परिभाषा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, त्रिपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति बलाविर्भावतिरोभावलक्षणा सहज कामना के आकर्षण से 'सोऽकामयत' इत्यादि रूप से अपने अव्ययभाग से सृष्टिकामना अभिव्यक्त करते हैं, उस अव्ययभाग से–जिसे कुम्भकारानुगत चक्रसर्गप्रक्रिया के सम्बन्ध में पूर्व में हमने मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी धरातल बतलाया है (देखिए पृ० सं० १५१)। 'स तपोऽतप्यत' रूप से अपने प्राणमय अक्षरभाग से आभ्यन्तरव्यापाररूपा क्रिया (यत्न–चेष्टा–कृति) का अनुगमन करते हैं। एवं–'सोऽश्राम्यत्' रूप से अपने वाङ्मय क्षरभाग से बाह्यव्यापाररूप कर्म्म का अनुगमन करते हैं। इस प्रकार अव्यय–अक्षर–क्षरानुगत मनः प्राण–वाङ्मय–काम-तप -श्रम के समसमन्वय से प्रजापति पूर्णेश्वर यज्ञात्मिका स्वयम्भूविलक्षणा प्रजासृष्टि में समर्थ बना करते हैं, जिस प्रजासृष्टि का मूलाधार–सामान्य आधार–बना करता है—"काम"। इसी कामभाव का स्वरूप–विश्लेषण करती हुई निम्नलिखित श्रुति हमारे सम्मुख उपस्थित हो रही है—

> कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
>
> —ऋक्सं० १०।१२९।४।

(२८)—सदसत् का विलक्षण सम्बन्ध—

त्रैलोक्यविलोकीरूप, पञ्चपुण्डीराभावापरपर्यवस्थानुगत–सहस्रपुण्डीरात्मक–अरवत्थवृक्षमूर्त्ति–सर्वजगद् व्यापक–पूर्णपुरुष के द्वारा होने वाले सृष्टिकर्म्म में प्रधान एवं प्रथम सामान्य अनुबन्ध कौनसा है ?, अब

श्रुति इसी प्रश्न का समाधान कर रही है, जिस रहस्यार्थ की संक्षिप्त स्वरूपदिशा यही है कि, हमारे इस प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमानकालिक सर्गसर्गकाल में गगन–पवन–तेज–तारापुञ्ज–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–कृमि–कीट–पक्षी–पशु – मानव – देवदेवता–असुर–गन्धर्व–पितर–राक्षस–यक्ष–पिशाच–किन्नर–गुह्यक–धातु–उपधातु–रस–उपरस–विष–उपविष–नद–नदी–सर–सरोवर–सागर–अम्भोधि–पर्वत–आदि आदि रूप से प्रत्यक्ष में दृष्ट श्रुत उपवर्णित-सर्वविध चर अचर प्रपञ्च जब न था, तो क्या था ?, यह एक सामान्य प्रश्न है, जिसका रहस्यात्मक समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—'असद्वा इदमग्र आसीत्'। यह सब कुछ वर्त्तमान चर-अचरप्रपञ्च इस वर्त्तमानदशा से पूर्व (इदमग्रे) 'असत्' था। "किंतदसदासीत्" ?, उस सृष्टिमूलभूत असत् का क्या स्वरूप था ?, इस द्वितीय प्रश्न का ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक प्रकार से समन्वय हुआ है, जिन अनेक प्रकारों में से 'सत्-सदासीत, कथमसत सज्जायेत' इस एक समाधान की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

लोकभाषा में 'असत्' शब्द का अर्थ 'अभाव' भी हुआ करता है। विश्वसर्ग से पूर्व का तत्त्वविशेष 'असत्' रूप अभावरूप था। भला कहीं अभावात्मक असत् भी भावात्मक सत्तासिद्ध का मूलप्रभव बना है !। अवश्य ही वह विश्वमूलभूत-विश्वातीत असत्-तत्त्व सद्रूप था, जिसका अन्य श्रुतियों के द्वारा 'आभू-अभ्व' रूप से उपवर्णन हुआ है। सर्वथा–निरञ्जन–शान्त–दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न–व्यापक–आसमन्ताद्भवति–सगुण–निगुण 'आभू' तत्त्व ही विज्ञानभाषा में 'रस' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं सर्वथा साञ्जन–अशान्त–दिग्देशकाल से अवच्छिन्न–परिच्छिन्न–'अभूत्वा भाति–अभवन् भाति–अभवन् भवति लक्षण सगुण 'अभ्व' तत्त्व ही विज्ञानकाण्ड में 'बल' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'सद्' भावात्मक रस, तथा असद्भावात्मक बल, दोनों अविनाभूत हैं, 'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'–अन्तरं मृत्योरमृतं,–मृत्यावमृतमाहितम्' इत्यादि रूप से अन्तरान्तरीभावात्मक ओतप्रोतसम्बन्ध से एक ही बिन्दु में दोनों निर्विरोध समन्वित हैं। अमृत–मृत्युनिबन्धन–सदसन्मूर्त्ति–आभू–अभ्व–लक्षण–सर्वबलविशिष्टरसैकघन वही विश्वातीत तत्त्व 'असद्वेदमग्र आसीत्' का समाधान बना, जिसके सद्रस, तथा असद्बल के बन्धु (बन्धन–सम्बन्ध) से-ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से 'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्' रूप कामनामय बीज के द्वारा वर्त्तमान चराचरभावात्मक विश्व का उदय हुआ। विशुद्ध 'सहचरसम्बन्ध' से रससमुद्र में असङ्गरूप से प्रतिष्ठित बलतत्त्व तदवधिपर्य्यन्त सृष्टिकर्म में असमर्थ रहा, यदवधिपर्य्यन्त मायाबलोदय के द्वारा उस व्यापक रसब्रह्म का अमुक प्रदेश सीमित बन कर सीमाभावानुगत हृदयबलावच्छिन्न कामनामय नहीं बन गया। कामभाव विरहित, सर्वबलविशिष्टरसैकघन, विश्वातीत वही तत्त्व विज्ञानभाषा में 'परात्पर'–'परमेश्वर'–'शाश्वतब्रह्म'–'अक्षरब्रह्म'–'अद्वयब्रह्म' आदि विविध नामों से उपवर्णित हुआ, जिसे शब्दशास्त्र के आचार्य्योंने यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही निरूढ शब्द से अतद्व्यावृत्त रहने के कारण वाङ्मनसपथातीत, अतएव सर्वथा अविज्ञेय ही घोषित किया है, जिसके सम्बन्ध में निम्नलिखित घोषणा प्रसिद्ध है—

स विदन्ति न य वेदा विष्णुर्वेद न वा विधि ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

(२९) चतुर्विध मनस्तन्त्रनिरूपण, और कामभाव—

पूर्वोद्धृत ऋक्श्रुति के रहस्यार्थसमन्वय से पूर्व दो शब्दों में सृष्टिबीजभूत 'काम', किंवा 'कामना' शब्द के इतिहास की रूपरेखा पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक होगा। लोकव्यवहार में 'कामना'-'इच्छा' परस्पर पर्य्याय माने जा रहे हैं, अभिन्नार्थक माने जा रहे हैं, एवं यह कामना, किंवा इच्छा मन का व्यापार कहा जा रहा है। वर्त्तमानयुग के वेदान्तनिष्ठ महामानव गीताशास्त्र के माध्यम से सर्व्वबन्धन विनिर्मुक्ति के लिए 'कामना' का परित्याग अनिवार्य्य मानते हुए पदे-पदे गीता के 'निष्काम कर्मयोग' की उद्घोषणा करते हुए नहीं अघा रहे। इस काल्पनिक घोषणा में कितना तथ्य है !, प्रश्न की मीमांसा तो आगे सम्भव बन सकेगी। अभी तो हमें 'कामना' के स्वरूप की ही मीमांसा करनी है, जो कि मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

भारतीय आर्ष-मनोविज्ञान के अनुसार मनस्तन्त्र चार भागों में विभक्त माना गया है। दूसरे शब्दों में भारतीय मनोविज्ञान के आचार्य्योंने परस्पर सर्वथा विभिन्न स्वरूप-गुण-धर्म्मात्मक चार प्रकार के मनोभावों की सत्ता स्वीकार की है, जो क्रमशः "श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन, इन्द्रियमन" इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। अध्यात्मसंस्था के माध्यम से इन चारों मनस्तन्त्रों का समन्वय निम्न लिखित रूप से सम्भव माना जा सकता है।

(१) 'ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' सिद्धान्तानुसार प्रत्येक प्राणी के शरीराकाश से वेष्टित हृदयाकाशानुगत दहराकाश (दभ्राकाश-दहरपुण्डरीक-नामक हृत्कमल) में 'अन्तर्य्यामी' नामक ईश्वर का निवास सनातन मान्यता से अनुप्राणित है। यह केन्द्रस्थ ईश्वरप्रजापति 'मनोमय' 'भा' रूप है, 'सत्यात्मा' है, 'आकाशात्मा' है। यही वह प्रथम मुख्य ईश्वरीय मन है, जो अपने उत्तरोत्तरवैभविक श्व -श्वः-भावात्मक समृद्धि-विकास के कारण 'श्वोवसीयस्' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो तैत्तिरीय श्रुति में 'तद्वेत्-श्वोवस्यसं मह' (तै० आ०२।२।६।१) रूप से 'श्वोवस्यस्' नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। यही वह 'मन' है, जो 'मनु' रूप से सर्वसर्गाधिष्ठाता बनता हुआ 'शाश्वतब्रह्म' उपाधि से समलंकृत हुआ है, जैसा कि आगे चल कर स्पष्ट होने वाला है। निम्नलिखित उपनिषत्-श्रुति इसी भारूप अव्ययमन का दिग्दर्शन करा रही है—

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः-तस्मिन्नन्तर्हृदये-यथा व्रीहिर्वा यवो वा।
स एष सर्वस्येशान , सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति-यदिदं किञ्च ॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ६।१।

(२) परपुरुषात्मक ईश्वराव्यय के श्वोवसीयसमन को ही 'चिदात्मा' 'चिद्ब्रह्म' माना गया है दार्शनिकभाषा में। यह चिद्ब्रह्मलक्षण चिदात्मा, किंवा चिदात्मरूप श्वोवसीयसमन जगत्प्रपञ्चानुगत बनता हुआ जिस योनि को मूलाधार बनाता है, वही पारमेष्ठ्य-सोममूर्त्ति महानात्मा है, जिसका—'मम योनि र्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है। अदितिप्राणावच्छिन्न यह सौम्य महान् ही दूसरा 'सत्त्व मन' है, जो मानवीय कर्म्मात्मा की सत्त्वविभूति का अनुग्राहक माना गया है, एवं जो सत्त्वमन अहंभावात्मक जीवन का मूलाधार बना हुआ है। शैशवदशा में भी जो आध्यात्मिक कर्म्म परोक्षरूप से प्रक्रान्त रहते हैं, उनका मूल यही सत्त्वमनोमय महानात्मा बना करता है। निम्नलिखित श्रुति इसी का स्वरूप-विश्लेषण कर रही है—

महान् प्रभुर्वै पुरुष सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तक ।
सुनिर्म्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्यय ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।१२।

(३) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ' इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार केन्द्रस्थ-मनोमय-ईश्वर नामक 'साक्षी सुपर्ण' से 'जीवात्मा' नामक 'भोक्तासुपर्ण' सख्यभाव से नित्य संयुक्त रहता है। अनुग्राहक ईश्वर की दिव्य-सत्य-शक्तियों के अजस्र सहयोग से समन्वित रहता हुआ ही अनुग्राह्य जीव स्वस्वरूप विकास-संरक्षण में समर्थ बना करता है। ईश्वरसंयुक्त जीवात्मा एक वैसा यात्री है, जिसे ज्ञानजनित भावना-कर्म्मजनित वासनासंस्कारपुञ्जों के स्वरूपानुपात से संसारयात्रा का उच्चावचरूप से अनुगमन करना पड़ता है। इस संसारयात्रा को निर्विघ्न समाप्त करने के लिए मोक्तात्मलक्षण-जीवात्मा को अमुका मुक देव-भूत-परिग्रहसाधन-सम्भारों की अपेक्षा रहती है। यात्रासंसाधक ये परिग्रह ही शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियवर्ग-पाञ्चभूतपरिग्रह (विषय), आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। जिस पाञ्चभौतिक विश्व के गर्भ में मातापिता के भोगाद्यपामय शुक्रशोणितात्मक-अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक-दाम्पत्यभाव से जीवात्मा औपपातिक रूप से-भौतिकस्वरूप से-भूपृष्ठ पर अभिव्यक्त होता है, उस विश्व के अमुकामुक पर्वों से ही इसे यात्रासंसाधक तथाकथित परिग्रह उपलब्ध हुए हैं, कर्म्मानुसार होते रहते हैं। भूपिण्डानुगत ओषधि-वनस्पति के द्वारा इसे 'पुष्टशरीरपरिग्रह' प्राप्त होता है। सुषुम्णानाड़ी के द्वारा सौरतत्त्वात्मक 'बुद्धि परिग्रह' प्राप्त होता है। रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रओजभावों की क्रमिक-चिति के द्वारा चान्द्रमसब्रह्म से मुक्ताम माध्यम से 'मन परिग्रह' प्राप्त होता है। त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश नामक ६-१५-२१-२७-३३-इन पाँच पार्थिव स्तोमलोकों के शयसोनपात् (अधिष्ठाता-अभिष्ठाता) अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वरसोम-दिक्सोम-इन पाच पार्थिव प्राणदेवों के प्रवर्ग्यभागों से इसे 'पञ्चे न्द्रियपरिग्रह' प्राप्त होता है। और और भी तत्तद्विशेष प्राकृतिक-विश्वपर्वों से इसे असंख्य-परिग्रह प्राप्त होते हैं, जिनका स्वरूपविश्लेषण स्वतन्त्रनिबन्धसापेक्ष है। चन्द्रमा के सोमतत्त्व से (भास्वर सोम से) पर्जन्याग्निक्रमद्वारा वृष्टिमाध्यम से समुत्पन्न ओषधि (अन्न) ही जीवात्मा के 'सर्वेन्द्रिय' नामक

'मनस्तत्त्व' की स्वरूपसम्प्राहिका बनती है। यह ध्यान रहे कि–पार्थिव सौम्यभिल्लोमी के भिन्नावल्लोम में प्रतिष्ठित पार्थिव अभिप्रायाखमन्वित परोक्ष भास्वर सोम जहाँ 'इन्द्रियमन' का स्वरूपारम्भक बनता है, वहाँ सर्वेन्द्रियमन का चान्द्र भास्वरसोम से अोपचिद्वारा (मुक्ताभद्वारा) स्वरूपनिर्माण हुआ है। यही इन दोनों मनोभावों की स्वरूपदिशा है।

सर्वेन्द्रियमन उपनिषदों में 'प्रज्ञानमह'–'प्रज्ञानमन'–'अनिन्द्रियमन'–'अतीन्द्रियमन' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्त्वम्' ही इन्द्रिय का सामान्य लक्षण माना गया है। जिसका ग्राह्य विषय सर्वथा नियत–सीमित–रहता है, उसे ही 'इन्द्रिय' कहा जाता है। वाक्–प्राण–चक्षु श्रोत्र एवं संकल्पविकल्पात्मक मन, इन पाँचों के विषय सर्वथा नियत–सीमित रहते हैं। अतएव इन्हें 'इन्द्रिय' कहना अन्वर्थ बन जाता है। हम देखते हैं—अनुभव करते हैं कि, प्रत्येक व्यापार में 'मन' नामक तत्त्व के सहयोग की भी अनिवार्य्य आवश्यकता रहा करती है। बिना मनःसहयोग के कोई भी इन्द्रिय कभी भी स्वव्यापारसञ्चालन में समर्थ नहीं बन सकती। आप किसी वक्ता से कुछ सुन रहे हैं। इस श्रवणकर्म्म में श्रोत्रेन्द्रिय के साथ जब तक आपका मन संयुक्त रहेगा, तभी तक आप वक्ता के वक्तव्य का मर्म समझते रहेंगे। यदि सहसा आपका मन अन्य किसी चक्षु-घ्राणादि इन्द्रिय का अनुगामी बन जायगा तो, इस अन्यमनस्कता के कारण आप सुनते हुए भी कुछ न सुन सकेंगे, एवं कुछ न समझ सकेंगे। आप स्वयं ही कालान्तर में यह बोल पड़ेंगे कि–"कृपा कर अमुक विषय का पुनरावर्तन कर दीजिए। मैं उस समय ठीक ठीक समझ न सका, सुन न सका। कारण, सहसा मेरा मन दूसरी ओर चला गया था"। "न प्रज्ञापेतं श्रोत्रं शब्दं कञ्चन प्रज्ञापयेत्–अन्यत्र मे मनोऽभूत्" (कौषी॰ उप॰ ३।८।७)) इत्यादि श्रुति, एवं सम्मूलक प्रत्यक्षानुभव यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, बिना मन को अवलम्ब बनाए कोई भी इन्द्रिय स्वविषय-ग्रहण में समर्थ नहीं बन सकती। सम्पूर्ण इन्द्रियों का आधार बना रहने वाला, अतएव च 'नियतविषय- ग्रहणत्व' लक्षण इन्द्रियलक्षण की मर्यादा से बहिर्भूत एवंविध भास्वर सोममय–अन्नमय चान्द्रमन ही जहाँ इन्द्रियभाव के पार्थक्य से 'अनिन्द्रियमन' कहलाया है, वहाँ वही सम्पूर्ण इन्द्रियों के अवलम्ब-आधार बने रहने के कारण 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। जीवात्मानुगत इन्द्रियवर्ग-सञ्चालक–यही सौम्य अन्नमय मन 'प्रज्ञानमन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका निम्नलिखित मन्त्र से स्वरूपविश्लेषण हुआ है—

> यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
> यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥
>
> —यजुःसंहिता मनःसूक्त ३४।११

(४) भिन्नावल्सौम्य–भास्वरसोम से निष्पन्न चौथा इन्द्रियमन अपने संकल्पविकल्पात्मक 'ग्रहण–परित्याग' रूप नियत विषय से समन्वित रहता हुआ 'इन्द्रियलक्षणानुधर्मी बनता हुआ अपने 'इन्द्रियमन'

नाम को चरितार्थ कर रहा है । 'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि'' (अथर्वसंहिता १९।९।५।) ही इस इन्द्रियमन का मूलाधार है । अनुकूल विषय का ग्रहण, एवं प्रतिकूल विषय का परित्याग, इन्द्रियमन के ग्रहणात्मक सङ्कल्प-परित्यागात्मक विकल्प, ये दो ही मुख्य कर्म हैं । तदित्थं मानवीय अध्यात्मसंस्था में ईश्वरानुगत सर्वाधिष्ठाता-श्वोवसीयस्मन, चिदनुगत सत्त्वमन, जीवानुगत सर्वेन्द्रियमन, भूतानुगत इन्द्रियमन, इन चार स्वतन्त्र मनस्तन्त्रों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जिन इन चारों मनस्तन्त्रों में से मानवसंस्थाधारभूत 'मनु' तत्त्व का आधार बनता है ईश्वराव्ययात्मानुगत 'श्वोवसीयस्' नामक सर्वाधार-निराधार यह मन, जिसके स्वरूपविश्लेषण के प्रसङ्ग से ही यहाँ प्रासङ्गिकी मनस्तन्त्रस्वरूपचतुष्टयी का दिग्दर्शन कराना पड़ा है।

प्रकृतमनुसरामः । तथोपवर्णित स्वतन्त्र मनोविवर्त्तों के स्वतन्त्र ही कर्म हैं, जिनका सङ्क्षेप से इस प्रकार समन्वय किया जा सकता है कि, ईश्वरीय श्वोवसीयस् मन का प्रधान कर्म (व्यापार) है 'काम', किंवा 'कामना' । चिदनुगत सत्त्वमन का प्रधान व्यापार है 'अहंभावस्वरूपसंरक्षण', एवं परोक्ष आध्यात्मिक सुसूक्ष्म कर्म्मसञ्चालन' । जीवानुगत सर्वेन्द्रियमन का प्रधान व्यापार है ऐन्द्रियक विषय समष्ट्यनुगत 'इच्छा' किंवा 'अशनाया' (बुभुक्षा-भूख) । एवं भूतानुगत इन्द्रिय मन का प्रधान व्यापार है 'संकल्प-विकल्प', किंवा 'ग्रहणपरित्यागात्मिका विचिकित्सा' ।

(३०) शब्दब्रह्म और परब्रह्म का समतुलन—

'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' * इस पावन घोषणा से सम्मानित पारमेष्ठिनी सरस्वती वाक् से कृतरूप शब्दब्रह्म, एवं पारमेष्ठिनी आम्भृणीवाक् से कृतरूप परब्रह्म, दोनों का समसमन्वय भारतीय निगमागमशास्त्र का वह अलौकिक-अद्भुत-आश्चर्य्यमय दृष्टिबिन्दु है, जिसे लक्ष्यभूमि बना लेने से सम्पूर्ण नैगमिक-आगमिक तत्त्वार्थ सर्वात्मना, सुसमन्वित हो जाते हैं । 'काम' शब्दात्मक शब्दब्रह्म के इसी तात्त्विक समन्वय के स्पष्टीकरण के प्रसङ्ग में शब्दब्रह्म से समतुलित परब्रह्म का एक प्रासङ्गिक तात्त्विक उदाहरण प्रकृत में प्रसङ्गवशात् इसलिए उपस्थित कर दिया जाता है कि, इसके द्वारा 'काम' शब्द के तात्त्विक इतिहास का, इसकी भाषार्थगरिमा का सर्वात्मना समसमन्वय हो जाता है ।

'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तस्योपनिषत्-ओम् इति' इत्यादि रूप से आर्षमानवों ने ईश्वरप्रजापति-ब्रह्मात्मक परब्रह्म का ग्राहक-वाचक शब्द माना है-'प्रणवोङ्कार'+। क्या समानता है परब्रह्मात्मक ईश्वर प्रजापति के साथ इस प्रणवोङ्कारात्मक शब्दब्रह्म की, जिसके आधार पर प्रणव को ईश्वर का वाचक-संग्राहक

---

* द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

+ उद्गीथोङ्कार-प्रणवोङ्कार-हिङ्कारोङ्कार-निधनोङ्कार-सामोङ्कार-प्रस्तावोङ्कार- आदि भेद से ओङ्कार के अनेक विवर्त्तवाद निगमशास्त्र में उपवर्णित हुए हैं, जिनमे से सवमूलाधारभूत ओङ्कार ही 'प्रणवोङ्कार' नाम से व्यवहृत हुआ है ।

माना गया ? प्रश्न है, किस इस प्रश्न का सम्बन्ध निगम-शास्त्र की सुप्रसिद्ध उस '+अनुगम' परिभाषा है, जिसके द्वारा प्रश्नोत्तर का अनेक दृष्टियों से समन्वयसम्भव है। उन असंख्य प्रश्नसम्बन्ध प्रकारों में से केवल एक प्रकार की ओर ही यहाँ पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जारहा है। पञ्चकलात्मक ईश्वरीय विवर्त्त के अमृतलक्षण अव्ययात्मा-ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा-शुक्रलक्षण क्षरात्मा (देखिए पृ० सं० ११६), इन तीन विवर्त्तों का आरम्भ में दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पञ्चश्रेयात्मक अव्ययात्मा सृष्टि का अधिष्ठान (आलम्बन कारण) है, पञ्चदेवमूर्त्ति अक्षरात्मा सृष्टि का निमित्तकारण है। एवं पञ्चतन्मात्रमूर्त्ति क्षरात्मा विश्व का आरम्भण (उपादानकारण) है। ईश्वर प्रजापति के ये तीनों ही आत्मविवर्त्त 'महामाया' नामक सीमाभावप्रवर्त्तक महाबल से सीमित बनते हुए "तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य प्रयुक्ता" (प्रश्नोपनिषत् ५।६।) रूप से-'संयोगा विप्रयोगान्ता', पतनान्ता' समुच्छ्रया' (महाभारत) इस सिद्धान्त के अनुसार मरणधर्म्माक्रान्त हैं, विनश्वरधर्म्मा हैं। इन तीनों मृत्युमात्राओं का आधारभूत अमात्रिक-असखण्ड-विश्वातीत-मायातीत-परात्परात्मा-परमेश्वर-ब्रह्मरूप से विराजमान है, जिसे राजर्षि मनु ने 'शाश्वतब्रह्म' कहा है। इस दृष्टि से ईश्वरप्रजापतिलक्षणा आधि दैविकसंस्था के 'परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर' ये चार पर्व संसिद्ध बन जाते हैं।

शब्दब्रह्मप्रतिपादक व्याकरणशास्त्रने तयोपवर्णित चतुष्पर्वात्मक परब्रह्मविवर्त्तसे सर्वात्मना समतुलित शब्दब्रह्म के भी चार ही मुख्य पर्व स्वीकार किए हैं, जो तत्र शास्त्र में क्रमशः 'स्फोट-अन्तस्थ-स्वर-वर्ण' अभिधाओं से प्रसिद्ध हुए हैं। क-ख-ग-घ-ङ-आदि व्यञ्जनात्मक पार्थिव वर्णों से क्षरात्म-पर्व समतुलित है। अ-आ-इ-ई-ऋ-ॡ-आदि स्वरात्मक वर्णों से अक्षरात्मपर्व समतुलित है। स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग-नपुंसकलिङ्ग-इन तीनों शब्दलिङ्गों में समानरूप से अपरिवर्त्तनरूप से व्यवहृत सुप्रसिद्ध अव्यय लिङ्गत्रयानुगता प्रजासृष्टि में स्वयं अलिङ्गरूप से आधार बने-रहने रहने वाले अव्ययात्मपर्व* से

+ निपातार्थ-निरुक्तार्थ-नैगमिक परिभाषासूत्र 'निगमवचन' कहलाए हैं, जैसे 'अग्निर्वा अक्षरः'-इन्द्रो देवानामोजिष्ठो बलिष्ठ' इत्यादि। यौगिकार्थप्रतिपादक नैगमिक परिभाषासूत्र 'अनुगम-वचन' कहलाए हैं, जैसे-'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'- 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'-चतुष्टयं वा-इदं सर्वम्'-तस्योक्त निपदोभिति' इत्यादि।

* नैव स्त्री-न पुमानेष-न चैवायं नपुंसकः ॥
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥१॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ५।१०।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्यति तदव्ययम् ॥ (गोपथब्राह्मण)
लिङ्गेषु-त्रिविधप्राणिसर्गेषु। विभक्तिषु-खण्डखण्डभावेषु-'अविभक्तं-विभक्तेषु' इत्यादिवत्। वचनेषु-वाङ्मयभूतपदार्थेषु नानाभावापन्नेषु यत्र वैविध्यमेति-तदव्ययम्।

समतुलित हैं। एवं-वर्ण-पद-वाक्य-अखण्डादि-विविधभावापन्न सुप्रसिद्ध 'स्फोट' पदार्थ अखण्ड परात्पर पर्व से समतुलित है।

स्फोटशब्दब्रह्म से समतुलित परात्परब्रह्म 'तुरीयपद' है, निरुपाधिक ब्रह्म है, विश्वातीतब्रह्म है। अव्ययशब्दब्रह्म से समतुलित अव्ययात्मा 'ज्ञानात्मा' है। स्वरशब्दब्रह्म से समतुलित अक्षरात्मा 'कर्मात्मा' है। एवं व्यञ्जनशब्दब्रह्म से समतुलित क्षरात्मा 'अर्थात्मा' है। स्फोटानुगत परात्पर 'अविज्ञेय ब्रह्म' है, अव्ययानुगत अव्ययात्मा 'दुर्विज्ञेयब्रह्म' है, स्वरानुगत अक्षरात्मा 'विज्ञेयब्रह्म है, एवं व्यञ्जनानुगत क्षरात्मा 'सुविज्ञेयब्रह्म' है। स्फोटसमाख्य परात्मा का 'परावाक्' से सम्बन्ध है, अव्यय समाख्य अव्ययात्मा का 'पश्यन्तीवाक्' से सम्बन्ध है, स्वरसमाख्य अक्षरात्मा का 'मध्यमावाक्' से सम्बन्ध है, एवं व्यञ्जनसमाख्य क्षरात्मा का 'वैखरीवाक्' से सम्बन्ध है। स्फोटसयुक्त परात्परब्रह्म सङ्ग-असङ्ग-मर्यादा से 'अतिक्रान्त' है, अव्ययसयुक्त अव्ययात्मा विश्वगर्भ में प्रविष्ट रहता हुआ भी 'अ[illegible] है, स्वरसयुक्त अक्षरात्मा (अव्ययदृष्टया ससङ्ग, क्षरदृष्टया असङ्ग बनता हुआ) 'ससङ्गासङ्ग' है, एवं वर्णसयुक्त क्षरात्मा अपनी सश्लिष्टलक्षणा उपादानकारणता से 'ससङ्ग' है। ठीक यही स्थिति स्फोटादि शब्दब्रह्मविवर्तभावों की है।

कण्ठताल्वादि के स्नेहगुणात्मक सौम्य स्पर्शभाव-तेजोगुणात्मक आग्नेय ऊष्मभावरूप उभयभाव के कारण * व्यञ्जनात्मक वर्ण ससङ्ग बनते हुए ससङ्ग क्षरात्मा से समतुलित हैं। कण्ठताल्वादि के अभिघातलक्षण स्पर्शभाव से असंस्पृष्ट, अतएव अपने प्रातिस्विकरूप से स्पर्शमर्यादा से असंस्पृष्ट बने रहते हुए अकारादि स्वर जहाँ असङ्ग हैं, वहाँ व्यञ्जनात्मक वर्णों के सहयोग में आकर ससङ्ग भी हैं, जैसा कि सुप्रसिद्ध स्वरभक्ति से समन्वित ऋ-लृ-आदि स्वरों के गर्भ में समाविष्ट 'र्-ल्' इत्यादि ससङ्ग व्यञ्जनों के द्वारा प्रमाणित है। अतएव ससङ्गासङ्ग बने हुए स्वर ससङ्गासङ्ग अक्षरात्मा से समतुलित माने जा सकते हैं। अपनी समानरूपा-अविभक्तरूपा-अक्लिष्टरूपा-अप्रवचनरूपा-अव्याकृतावस्था से असङ्ग बने हुए अव्यय अव्ययात्मा से समतुलित हैं। एवं अपनी व्यन्यात्मिका अखण्डता के कारण ससङ्गासङ्गमर्यादा से अतिक्रान्त वर्ण-स्वर-शब्द-पद-वाक्यादि लक्षण वर्णस्फोट-स्वरस्फोट-शब्दस्फोट-पदस्फोट-वाक्यस्फोट-अखण्डस्फोट-आदि आदि स्फोटभाव अखण्ड ससङ्गासङ्गमर्यादातिक्रान्त परात्परब्रह्म से समतुलित हैं। तदित्थ, शब्दब्रह्मविवर्तचतुष्टयी इस रूप से परब्रह्मविवर्तचतुष्टयी से सर्वात्मना समतुलित प्रमाणित हो रही है। जो पर्वविभाग, जैसा स्वरूपसंस्थान परब्रह्मविवर्त का है, ठीक वही पर्वविभाग, वैसा ही स्वरूप-संस्थान शब्दब्रह्मविवर्त का है। अतएव निश्चयेन तत्त्वसमन्वयपूर्वक ज्ञानविज्ञानपद्धतिपूर्वक शब्दब्रह्म की स्वाध्याय

— देखिए-वैय्याकरण भूषणसार का 'स्फोट' प्रकरण

*—"अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति"

—ऐतरेय आरण्यक

माना गया ? प्रश्न है, किंतु इस प्रश्न का सम्बन्ध निगम-शास्त्र की सुप्रसिद्ध उस '+अनुगम' परिभाषा है, जिसके द्वारा प्रपञ्चोद्धार का अनेक दृष्टियों से समन्वयसम्भव है। उन अनन्त प्रपञ्चलक्षण प्रकारों में से केवल एक प्रकार की ओर ही यहाँ पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है। पञ्चात्मक ईश्वरीय विवर्त्त के अमृतलक्षण अव्ययात्मा-ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा-शुक्रलक्षण क्षरात्मा (देखिए पृ० सं० १३६), इन तीन विवर्त्तों का आरम्भ में दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा सृष्टि का अधिष्ठान (आलम्बन कारण) है, पञ्चदेवमूर्त्ति अक्षरात्मा सृष्टि का निमित्तकारण है। एवं पञ्चतन्मात्रमूर्त्ति क्षरात्मा विश्व का आरम्भण (उपादानकारण) है। ईश्वर प्रजापति के ये तीनों ही आत्मविवर्त्त 'महामाया' नामक सीमाभावप्रवर्त्तक महाबल से सीमित बनते हुए "तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः" (प्रश्नोपनिषत् ५।६।) रूप से-'संयोगा विप्रयोगान्ताः, मरणान्ता च जीवितम्'-'समुच्छ्रया' (महाभारत) इस सिद्धान्त के अनुसार मरणधर्म्माक्रान्त हैं, विनश्वरधर्म्मा हैं। इन तीनों मृत्युमाभावों का आधारभूत अमाभिक-अखण्ड-विश्वातीत-मायातीत-परात्परात्मा-परमेश्वर-ब्रह्मरूप से विराजमान है, जिसे राजर्षि मनु ने 'शाश्वतब्रह्म' कहा है। इस दृष्टि से ईश्वरप्रजापतिलक्षणा आधिदैविकसंस्था के 'परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर' ये चार पर्व सिद्ध बन जाते हैं।

शब्दब्रह्मप्रतिपादक व्याकरणशास्त्रने तथोपवर्णित चतुष्पर्वात्मक परब्रह्मविवर्त्तसे सर्वात्मना समतुलित शब्दब्रह्म के भी चार ही मुख्य पर्व स्वीकार किए हैं, जो तत्र शास्त्र में क्रमशः 'स्फोट-अव्यय-स्वर-वर्ण' अभिधाओं से प्रसिद्ध हुए हैं। क-ख-ग-घ-ङ-आदि व्यञ्जनात्मक पार्थिव वर्णों से क्षरात्म पर्व समतुलित है। अ-आ-इ-ई-ऋ-लृ-आदि स्वरात्मक वर्णों से अक्षरात्मपर्व समतुलित है। स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग-नपुंसकलिङ्ग-इन तीनों शब्दलिङ्गों में समानरूप से अपरिवर्त्तनरूप से व्यवहृत सुप्रसिद्ध अव्यय लिङ्गत्रयानुगता प्रजासृष्टि में स्वयं अलिङ्गरूप से आधार बने-रहने रहने वाले अव्ययात्मपर्व* से

\+ निष्कार्य-निरुक्तार्थ-नैगमिक परिभाषासूत्र 'निगमवचन' कहलाए हैं, जैसे 'अग्निर्वा अमात्य'-इन्द्रो देवानामोजिष्ठो बलिष्ठ' इत्यादि। यौगिकार्थप्रतिपादक नैगमिक परिभाषासूत्र 'अनुगम-वचन' कहलाए है, जैसे-'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'- 'पोडशकलं वा इदं सर्वम्'-चतुष्टयं वा-इदं सर्वम्'-तस्योप निषदोमिति' इत्यादि।

* नैव स्त्री-न पुमानेष-न चैवायं नपुंसकः ॥
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥१॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ५।१०।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ (गोपथब्राह्मण)

लिङ्गेषु-त्रिविधप्राणिसर्गेषु। विभक्तिषु-खण्डखण्डभावेषु-'अविभक्तं-विभक्तेषु' इत्यादिवत्। वचनेषु-वाङ्मयभूतपदार्थेषु नानाभावापन्नेषु यन्न वैविध्यमेति-तदव्ययम्।

समतुलित हैं। एवं-वर्ण-पद-वाक्य-अखण्डादि-विविधभावापन्न सुप्रसिद्ध 'स्फोट' पदार्थ अखण्ड परात्पर पर्व से समतुलित है।

स्फोटशब्दब्रह्म से समतुलित परात्परब्रह्म 'तुरीयपद' है, निरुपाधिक ब्रह्म है,-विश्वातीतब्रह्म है। अव्ययशब्दब्रह्म से समतुलित अव्ययात्मा 'ज्ञानात्मा' है। स्वरशब्दब्रह्म से समतुलित अक्षरात्मा 'कर्मात्मा' है। एवं व्यञ्जनशब्दब्रह्म से समतुलित क्षरात्मा 'अर्थात्मा' है। स्फोटानुगत परात्पर 'अविज्ञेय ब्रह्म' है, अव्ययानुगत अव्ययात्मा 'दुर्विज्ञेयब्रह्म' है, स्वरानुगत अक्षरात्मा 'विज्ञेयब्रह्म है, एवं व्यञ्जनानुगत क्षरात्मा 'सुविज्ञेयब्रह्म' है। स्फोटसमाक्ष परात्मा का 'परावाक्' से सम्बन्ध है, अव्यय समाक्ष अव्ययात्मा का 'पश्यन्तीवाक्' से सम्बन्ध है, स्वरसमाक्ष अक्षरात्मा का 'मध्यमावाक्' से सम्बन्ध है, एवं व्यञ्जनसमाक्ष क्षरात्मा का 'वैखरीवाक्' से सम्बन्ध है। स्फोटयुक्त परात्परब्रह्म सङ्ग-असङ्ग-मर्यादा से 'अतिक्रान्त' है, अव्ययसंयुक्त अव्ययात्मा विश्वगर्भ में प्रविष्ट रहता हुआ भी 'असङ्ग' है, स्वरयुक्त अक्षरात्मा (अव्ययदृष्ट्या ससङ्ग, क्षरदृष्ट्या असङ्ग बनता हुआ) 'ससङ्गासङ्ग' है, एवं वर्णसंयुक्त क्षरात्मा अपनी सङ्गशिलक्षणा उपादानकारणता से 'ससङ्ग' है। ठीक यही स्थिति स्फोटादि शब्दब्रह्मविवर्त्तभावों की है।

कण्ठताल्वादि के स्नेहगुणात्मक सौम्य स्पर्शभाव-तेजोगुणात्मक आग्नेय ऊष्माभावरूप सगभाव के कारण * व्यञ्जनात्मक वर्ण ससङ्ग बनते हुए ससङ्ग क्षरात्मा से समतुलित हैं। कण्ठताल्वादि के अभिघातलक्षण स्पर्शभाव से असंस्पृष्ट, अतएव अपने प्रातिस्विकरूप से स्पर्शमर्यादा से असंस्पृष्ट बने रहते हुए अकारादि स्वर जहाँ असङ्ग हैं, वहाँ व्यञ्जनात्मक वर्णों के सहयोग में आकर ससङ्ग भी हैं, जैसा कि सुप्रसिद्ध अनुमिति से समन्वित ऋ-ऌ-आदि स्वरों के गर्भ में समाविष्ट 'र्-ल्' इत्यादि ससङ्ग व्यञ्जनों के द्वारा प्रमाणित है। अतएव ससङ्गासङ्ग बने हुए स्वर ससङ्गासङ्ग अक्षरात्मा से समतुलित बने जा सकते हैं। अपनी समानरूपा-अविभक्तरूपा-अखिलरूपा-अमघनरूपा-अव्याकृतावस्था से असङ्ग बने हुए अव्यय अव्ययात्मा से समतुलित हैं। एवं अपनी धन्यात्मिका अखण्डता के कारण ससङ्गासङ्गमर्यादा से अतिक्रान्त वर्ण-स्वर-शब्द-पद-वाक्यादि लक्षण वर्णस्फोट-स्वरस्फोट-शब्दस्फोट-पदस्फोट-वाक्यस्फोट-अखण्डस्फोट-आदि आदि स्फोटभाव अखण्ड ससङ्गासङ्गमर्यादातिक्रान्त परात्परब्रह्म से समतुलित हैं। तदित्थं, शब्दब्रह्मविवर्त्तचतुष्टयी इस रूप से परब्रह्मविवर्त्तचतुष्टयी से सर्वात्मना समतुलित प्रमाणित हो रही है। जो पर्वविभाग, जैसा स्वरूपसंस्थान परब्रह्मविवर्त्त का है, ठीक यही पर्वविभाग, वैसा ही स्वरूप-संस्थान शब्दब्रह्मविवर्त्त का है। अतएव निश्चयेन तत्समन्वयपूर्वक ज्ञानविज्ञानपद्धतिपूर्वक शब्दब्रह्म की स्वाध्याय

— देखिए-वैय्याकरण भूषणसार का 'स्फोट' प्रकरण

*—"अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति"

—ऐतरेय आरण्यक

निष्णातता से अवश्यमेव तदभिन्न—तत्समतुलित परब्रह्मबोध की निष्णातता का अनुग्रह हो जाता है। इसी समतुलनात्मक समसमन्वय के आधार पर 'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात', परं ब्रह्माधिगच्छति' सिद्धान्त समन्वित हुआ है। एवं इसी समसमन्वय के माध्यम से इस शब्दब्रह्मात्मक प्रणवोद्गार को उस परब्रह्म का वाचक—समाह्रक घोषित किया गया है।

अयमत्र संग्रह —(१) अतिक्रान्तासङ्गससङ्गासङ्गससङ्गभावपरिलेखः—

(१)—सर्वमूर्त्ति —	परात्परब्रह्म-	स्फोटानुगत —	तुरीय —	अविज्ञेय	(परासमन्वित)	अतिक्रान्त
(२)—केशरमूर्त्ति —	अव्ययात्मा-	अव्ययानुगत —	ज्ञानात्मा	तुर्यविज्ञेय	(पश्यन्तीसमन्वित)	असङ्ग
(३)—देवमूर्त्ति —	अक्षरात्मा—	स्वरानुगत —	कर्म्मात्मा	विज्ञेय	(मध्यमासमन्वित)	ससङ्गासङ्ग
(४)—तन्मात्रमूर्त्ति:	क्षरात्मा —	व्यञ्जनात्मक —	अर्थात्मा-	सुविज्ञेय	(वैखरीसमन्वित)	ससङ्ग

—चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्याः

(३१) प्रणवोद्गारस्वरूपपरिचय—

ईश्वरप्रजापति—वाचक प्रणवोद्गार के तात्त्विक रहस्य के परिज्ञाता आर्षमहर्षियोंने अनुग्रह कर हमारे सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तत्त्ववाद उपस्थित किया कि, परब्रह्म के चार विवर्त्तों में से पहिला परात्परब्रह्म अर्द्धमात्रिक—किंवा—अमात्रिक—अथवा तो सर्वमात्रिक तत्त्व है, अतएव अचिन्त्य है। अतएव च उस अर्द्धमात्रिक—अमात्रिक—परात्परभाव की वाचकता भी उसके अतद्भावाद्वचभावानुबन्ध से अचिन्त्य ही समझनी चाहिए। चिन्त्यकोटि में प्रविष्ट है परब्रह्म की मायोपाधिक शेष तीनों मृत्युमती मात्राएं, जिन्हें आधार बना कर ही वाङ्मनसपथानुगत वाङ्मय शब्दशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इस शास्त्रप्रवृत्ति को आधार बनाकर ही हमें ब्रह्म की वाचकता का समन्वय करना है।

परात्परब्रह्मगर्भित अव्ययाक्षरात्मब्रह्ममूर्त्ति क्षेपाधिक आत्मा का स्वरूपलक्षण हुआ है—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि (देखिए पृ० सं० १४८)। ज्ञानमय अव्ययात्मा मनोमय है, कर्ममय अक्षरात्मा प्राणमय है, एवं अर्थमय क्षरात्मा वाङ्मय है। 'अयं सदेकमयमात्मा' इत्यादि पूर्व निरूपणानुसार तीनों का समन्वित रूप एक आत्मा है। एव—'आत्मा उ वा एकः सन्नेतत् त्रयम्' के अनुसार एक ही आत्मा के (रसाधार पर प्रतिष्ठित बलसम्बन्धतारतम्य से) ये तीन विवर्त्त हैं। पर ब्रह्माधारेण सुप्रतिष्ठिता यह आत्मविवर्त्तत्रयी शब्दब्रह्मसमतुलनमर्य्यादा से क्रमशः 'अकार—उकार—मकार' इन तीन वर्णाक्षरों से समन्वित है। ज्ञानशक्तिघन मनोमय अव्ययात्मा जिस प्रकार अपने अधिष्ठानरूप से विभक्त विश्व में अविभक्तरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ भी सर्वथा असङ्ग है, असंस्पृष्ट है। तथैव कण्ठ-ताल्वादि के अभिघातक्रम स्पर्श से सर्वथा असङ्ग—असंस्पृष्ट रहता हुआ 'अ'कार भी

निष्पावता से अवश्यमेव तदभिन्न–तत्समतुलित परब्रह्मघोष की निष्पावता का अनुग्रह हो जाता है। इसी समतुलनात्मक समसमन्वय के आधार पर 'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधिगच्छति' सिद्धान्त समन्वित हुआ है। एवं इसी समसमन्वय के माध्यम से इस शब्दब्रह्मात्मक प्रणवोङ्कार को उस परब्रह्म का वाचक–सम्राहक घोषित किया गया है।

अथमत्र संग्रह —(१) अतिक्रान्तासङ्गससङ्गासङ्गससङ्गभावपरिलेखः—

(१)–	सर्वमूर्त्ति —	परात्परब्रह्म–	स्फोटानुगत —	तुरीय —	अविज्ञेयः	(परासमन्वित)	अतिक्रान्त
(२)–	केशमूर्त्ति —	अव्ययात्मा–	अव्ययानुगत —	ज्ञानात्मा	दुर्विज्ञेय	(पश्यन्तीसमन्वित)	असङ्ग
(३)–	देवमूर्त्ति —	अक्षरात्मा–	स्वरानुगत —	कर्म्मात्मा	विज्ञेय	(मध्यमासमन्वित)	ससङ्गासङ्ग
(४)–	तन्मात्रमूर्त्तिः	क्षरात्मा —	व्यञ्जनात्मकः —	अर्थात्मा–	सुविज्ञेय	(वैखरीसमन्वित)	ससङ्ग

—चतुष्टय वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः

(३१) प्रणवोङ्कारस्वरूपपरिचय—

ईश्वरप्रजापति–वाचक प्रणवोङ्कार के तात्त्विक रहस्य के परिज्ञाता आर्षमहर्षियोंने अनुग्रह कर हमारे सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तत्त्ववाद उपस्थित किया कि, परब्रह्म के चार विवर्तों में से पहिला परात्परब्रह्म अर्द्धमात्रिक–किंवा–अमात्रिक–अथवा तो सर्वमात्रिक तत्त्व है, अतएव अचिन्त्य है। अतएव च उस अर्द्धमात्रिक–अमात्रिक–परात्परभाव की वाचकता भी उसके अतद्भ्यावृत्तभावानुरूप से अचिन्त्य ही समझनी चाहिए। चिन्त्यकोटि में प्रविष्ट है परब्रह्म की मायोपाधिक शेष तीनों मृत्युमती मात्राएं, जिन्हें आधार बना कर ही वाङ्मनस्पथानुगत वाङ्मय शब्दशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इस शास्त्रप्रवृत्ति को आधार बनाकर ही हमें ब्रह्म की वाचकता का समन्वय करना है।

परात्परब्रह्मगर्भित अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति सोपाधिक आत्मा का स्वरूपलक्षण हुआ है—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि (देखिए पृ० सं० १४८)। ज्ञानमय अव्ययात्मा मनोमय है, कर्ममय अक्षरात्मा प्राणमय है, एवं अर्थमय क्षरात्मा वाङ्मय है। 'त्रयं सदेकमयमात्मा' इत्यादि पूर्व निरूपणानुसार तीनों का समन्वित रूप एक आत्मा है। एवं–'आत्मा उ वा एकःसन्नेतत् त्रयम्' के अनुसार एक ही आत्मा के (रसाधार पर प्रतिष्ठित बलसम्बन्धतारतम्य से) ये तीन विवर्त हैं। पर ब्रह्माधारेण सुप्रतिष्ठिता यह आत्मविवर्त्तत्रयी शब्दब्रह्मसमतुलनमर्यादा से क्रमशः 'अकार–उकार–मकार' इन तीन वर्णाक्षरों से सम्मन्वित है। ज्ञानशक्तिघन मनोमय अव्ययात्मा जिस प्रकार अपने अधिष्ठानरूप से विभक्त विश्व में अविभक्तरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ भी सर्वथा असङ्ग है, असंस्पृष्ट है। तथैव कण्ठ-तात्वादि के अभिघातरूप स्पर्श से सर्वथा असङ्ग–असंस्पृष्ट रहता हुआ 'अ'कार भी

'विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त' का आधार बना करता है। प्रजापति का वह स्वरूप-जिसमें अधिष्ठानात्मक अव्ययात्मा प्रधान रहता है, एवं शेष दोनों अक्षर-आत्मक्षर-पर्व गर्भीभूत बने रहते हैं, 'ईश्वर' कहलाया है। अव्ययपुरुष ही जो कि 'नित्यकाममय' है, सम्प्रदायभाषानुसार 'अनन्तकल्याणगुणाकर' है। आत्मक्षर-अक्षर-गर्भित अव्ययपुरुष ही प्रथम यह 'ईश्वरतन्त्र' है, जिसका पूर्व में-'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर' इत्यादि रूप से स्वरूपनिरूपण हुआ है (देखिए पृष्ठ सं० १४८-४६)।

ईश्वरप्रजापति का वही उक्त स्वरूप-जिसमें निमित्तकारणात्मक अक्षरात्मा प्रधान रहता है, एवं शेष दोनों अव्यय-आत्मक्षरपर्व गर्भीभूत बने रहते हैं,-'जीव' कहलाया है। यह अक्षरपुरुष ही 'नित्य इच्छामय' है, सम्प्रदायभाषानुसार जो ईश्वरशरणागति में ही शाश्वत शान्ति प्राप्त किया करता है। अव्ययात्मक्षरगर्भित अक्षरात्मा ही यह द्वितीय 'जीवतन्त्र' है, जिसका-'इतस्त्वन्या प्रकृतिं विद्धि मे परां-जीवभूतां महाबाहो' 'ययेदं धार्य्यते जगत्' 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' (गीता७।५,एवं १५।१६)) इत्यादि रूप से स्पष्टीकरण हुआ है। ईश्वरप्रजापति का वह प्रवर्ग्यभाग-जिसमें उपादानकारणात्मक आत्मक्षरात्मा प्रधान रहता है, शेष दोनों अव्यय-अक्षरपर्व गर्भीभूत बने रहते हैं-'जगत्' कहलाया है। यह क्षर पुरुष ही नित्यमहदपरित्यागलक्षणा इन्द्रियमनोऽनुगता इच्छा-से सयुक्त है, अतएव जिसे विज्ञानभाषा में 'नित्यविचिकित्सामय' कहा गया है, सम्प्रदायभाषानुसार जो सप्तवितस्तिकायात्मक भगवद्विग्रह * है, जिसके माध्यम से साधक-उपासक-भक्त जीवात्मा अपनी नवधा विभक्ता साम्प्रदायिक भक्ति में सफल बना करता है। अव्ययाक्षरात्मगर्भित क्षरात्मा ही वह तृतीय 'जगत्तन्त्र' है, जिसका-'भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धि-अविद्याबुद्धि-रेव च। अपरेयम्। क्षर सर्वाणि भूतानि' (गीता ७।४,एवं १५।१६।) इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है। इस प्रकार प्रजापति की अव्यय अक्षर आत्मक्षर कलाओं की प्रधानता-अप्रधानता, किंवा गौण-मुख्यभाव-तारतम्य से एक ही प्रजापति के प्रत्येक त्र्यात्मक-त्र्यात्मक-अतएव पूर्णात्मक-त्रिवृद्भावापन्न तीन स्वतन्त्र तन्त्र निष्पन्न हो जाते हैं। अव्ययप्रधाननिबन्धन ईश्वरतन्त्र का 'भोगतन्त्र' नाम से, अक्षरप्रधाननिबन्धन जीवतन्त्र का 'कर्म्मतन्त्र' नाम से, एवं क्षरप्रधाननिबन्धन जगत्तन्त्र का 'आचरणतन्त्र' नाम से ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यप्रथमखण्ड में इन तीनों तन्त्रों के त्र्यात्मकनिरूपणपूर्वक तीनों के प्रत्येक के विज्ञान-धर्म्म-राजनीतिपरक अर्थसमन्वयपूर्वक विस्तार से विश्लेषण हुआ है। निम्न लिखित माङ्गलिक वचन इसी पूर्णता का समर्थन कर रहा है—

पूर्णमदः-पूर्णमिदं-पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
—ईशोपनिषत्

---

* क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥
—श्रीमद्भागवत १०।१४।११।

है। शान्तानन्दलक्षण आत्मसुख, किंवा आत्मशान्ति का पारिभाषिक-साङ्केतिक नाम है 'कम्' *। वैसा अव्ययमन, जो अपने (स्वानुगत) आत्मसुखात्मक 'कम्' में (आनन्दभाव में) इसलत्त्व बाह्याभ्यन्तररूप से सर्वात्मना ओतप्रोत रहे, 'काममय अव्यय' कहलाएगा। 'काम' शब्द का तात्त्विक रहस्यार्थ है— "सुखे आनन्दे वा अ तप्रोत मन काम"। 'कम्'रूप आनन्दभाव के आभ्यन्तर भाग में भी अव्ययमन समाविष्ट है, तो बाह्यभाग में भी मन अवस्थित है। 'कामः' शब्द का विभक्तरूप है—'क-अ-म्-अ' यह। ककार से आगे और मकार से पूर्व 'क—म्' के मध्य में (आनन्द के आभ्यन्तर में) 'अ' कार का (अकारवाच्य अव्ययमन का) समावेश है, तो 'म' कार से आगे भी अकाररूप अव्ययमन का ,समावेश हो रहा है। इस प्रकार आनन्दात्मक-मौलिक 'कम्' शब्द ही-'क-अ-म्-अः' रूप से 'कामः' रूप में परिणत हो रहा है, जिसका तात्पर्यार्थ है—"आनन्दमय मनोमय अव्यय, किंवा आनन्द में सर्वात्मना ओतप्रोत अव्ययमन"।

(३३)—कामभाव की नित्य सफलता—

यहाँ एक यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है कि, काम की (कामना की) सफलता में जहाँ आनन्दानुभूति (सुखानुभूति) होती है, वहाँ कामविफलता में दुःखानुभव भी हुआ करता है। ऐसी स्थिति में केवल काम, किंवा कामना के आधार पर ही 'सुखे ओतप्रोतं मन' यह परिभाषा कैसे समन्वित मानी जा सकती है ?। प्रश्न का लोककामनामय उस इच्छातन्त्र, किंवा लालसालिप्सापरिपूर्ण उस परतन्त्र से सम्बन्ध है, जिसका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है। सहजभावानुगता प्राकृतिकी ईशकामना कभी निष्फल नहीं बना करती। काम (कामना), एवं तत्फल, दोनों ईशतन्त्र में अभिन्न बने रहते हैं। अतएव नित्यकाम यह प्रजापति आत्मकाम-आप्तकाम-(प्राप्तकाम) आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। श्वोवसीयसुमनोऽनुगत कामना शब्द, किंवा काम शब्द का यही प्रासङ्गिक स्वरूपव्याख्यान है। अब क्रमप्राप्त जीवानुबन्धिनी सर्वेन्द्रियमनोऽनुगता उस 'इच्छा' ('इच्छा' शब्द) के स्वरूप की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिस इच्छात्मक व्यापार का जीवात्मानुगत प्रज्ञानमन के भावनावासनासंस्कारग्राहक सौम्य 'प्राज्ञ' तन्त्र से प्रधान सम्बन्ध माना गया है।

(३४)—ईश्वर-जीव-जगत्-तन्त्रत्रयी—

त्रिपुरुषपुरुषात्मक ईश्वरप्रजापति के सोम-तप.-मनमय अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-पर्वों से ही क्रमशः उस सुप्रसिद्ध त्रित्ववाद का आविर्भाव हुआ है, जो भारतीय रामानुजसम्प्रदाय के ईश्वर-जीव-जगद्विशिष्ट

---

* सु सङ्काशा मातृमृष्टेव योषा विस्तन्वं कृणुषे दृशे-'कम्'

—ऋक्संहिता १।१२३।११

ककाराज्जायते सर्वं धर्मं कैवल्यमेव च (अव्ययधाम एव च)।
अर्थश्च जायते देवि तथा धर्मश्च नान्यथा ॥ (कामधेनुतन्त्र)

है, यहाँ सर्वत्र 'इच्छा' से ईश्वरकामना का ही ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य, मानव के सम्बन्ध में जहाँ कामना शब्द दुःखाशान्ति का कारण घोषित होगा, वहाँ 'इच्छा' मानी जायगी। एवं ईश्वर के सम्बन्ध में जहाँ 'इच्छा' शब्द प्रयुक्त होगा, वहाँ 'कामना मानी जायगी, जैसा कि—'यथेच्छा पारमेश्वरी'* (भावप्रकाश—आयुर्वेदग्रन्थ) में प्रयुक्त इच्छाशब्द कामना का समाहक बना हुआ है। इसी परिभाषा के अनुसार शास्त्रीय 'निष्कामकर्म्मयोग' का अर्थ माना जायगा 'जीवेच्छात्यागात्मक कर्म्म', एवं ईश्वरीय निष्काममभावात्मिका अबन्धना कामना से युक्त कर्म्म। अभ्ययात्मानुगता कामना का परित्याग तो कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी कामना से वियुक्त निष्काममाव तो भ्रान्त मानवों की खपुष्पकल्पना ही है। शान्तानन्दलक्षण—नित्यशान्तिस्वरूप—रसमूर्त्ति—मनोमय—काममाव ही 'ईश्वरेच्छा' का वास्तविक स्वरूप है, जिसे आधार बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला मानव कभी बन्धनाविष्ट नहीं बन सकता, नहीं बन सकता। सर्वत्र 'कामनात्याग' का एकमात्र तात्पर्य व्यतिक्रमानुसार 'इच्छात्याग' ही मानना चाहिए, जिस इच्छातन्त्र को उपनिषदों ने—'अशनाया' नाम से व्यवहृत किया है। 'अशनाया' शब्द का निर्वचन ही 'इच्छा' शब्द का तात्त्विक इतिहास बना हुआ है।

'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे' (यजुःसंहिता १।१।) इत्यादि मन्त्रश्रुति में पठित 'इषे' शब्द का अर्थ किया गया है—'अन्नाय'। 'अन्नं वा इषः' (ऐतरेय ब्राह्मण २।४।) के अनुसार अन्न का ही नामान्तर 'इट्' है, जो अन्नात्मक इट् 'इडा' भाव में परिणत होता हुआ 'मनोर्दुहिता' (मनुकन्या) कहलाई है, जैसाकि—'इडा वै मानवी यज्ञानूकाशिन्यासीत्' (तै०ब्रा० १।२।४।४।)—'सा मनोर्दुहिता एषा निदानेन यदिडा' (शत० ब्रा० १।८।१।११) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। विषय थोड़ा बुद्धिगम्य, अतएव सतर्कतापूर्वक अवधेय है। 'इट्' भाव के त्रित्वविज्ञान के स्वरूप-परिचयाधार पर ही 'इच्छा' शब्द के तात्त्विक इतिहास का समन्वय सम्भव है।

(३६)—इट्—ऊर्क्—अन्नत्रयी—स्वरूपपरिचय—

"अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः" इस यज्ञानुबन्धी तात्त्विक लक्षण के अनुसार 'इट्—ऊर्क्—अन्न' इन तीन भावों के आधार पर 'इट्' (अन्न) का स्वरूप अवलम्बित है। 'आदित्याज्जायते वृष्टिः, वृष्टेरन्नं, ततः प्रजा'—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः—पर्जन्यादन्नसम्भवः' इत्यादि श्रौती—स्मार्त्ती उपनिषदों के अनुसार आदित्याग्निद्वारा पर्जन्यवायु से पार्थिव धरातल पर वृष्ट जलीय ही तो ओषधि—वनस्पत्यादि लक्षण 'अन्न' रूप में परिणत होता है। यही अन्न 'इट्' कहलाता है। 'वृष्टये तत्राह—यत्राह—

---

* आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादार्त्तवाधिके।
नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी॥

श्रेयत्रसंग्रहः—

(३)—कामेच्छाविचिकित्सापुरुषत्रयीस्वरूपपरिलेखः—

१–चराचरगर्भित ———नित्यकाममयः—अव्ययप्रधान पुरुषात्मा त्रिपुरुषलक्षणः—ईश्वरः—पूर्णमदः
२–अव्ययात्मचरगर्भित –नित्येच्छामय —अक्षरप्रधानःप्राज्ञात्मा त्रिपुरुषभावापन्न –जीव पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
३–अव्ययाचरगर्भित –नित्यविचिकित्सामय –क्षरप्रधानो विकृतात्मा-त्रिपुरुषानुगत —जगत्—पूर्णमिदम्

(२५)—कामना और इच्छा का व्यतिक्रम—

नित्यकाममय त्रिपुरुषपुरुषात्मक अव्ययात्मप्रधान ईश्वरप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाले 'काम', किंवा 'कामना' का शब्दब्रह्मरहस्यानुगत तात्त्विक समन्वय पाठकों के समक्ष उपस्थित किया गया। अब दो शब्दों में नित्येच्छामय त्रिपुरुषपुरुषात्मक अक्षरात्मप्रधान जीवप्रजापति (मानव) से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा, किंवा 'अशनाया' का भी स्वरूपविश्लेषण प्रासङ्गिक मान लिया जाता है। 'न हि कामानामन्तोऽस्ति काममय एवायं पुरुषः। समुद्र इव कामः। न हि समुद्रस्यान्तोऽस्ति' (तै०ब्रा०२।२।५।५) इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार मानवीय कामनाओं (इच्छाओं) का कोई अन्त नहीं है। जन्म से निधन क्षणपर्य्यन्त मानव इस कामसमुद्र की ऊर्म्मियों (लहरों) में ही सतत प्रवाहित रहता है। इस सम्बन्ध में एक विशेष परिभाषा को लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

सौरमण्डलानुगत वर्तुलवृत्तात्मक स्वस्तिक को 'कश्यपप्रजापति' कहा गया है। एवं तत्समाना कृतियुक्त प्राणी (कछुए) को 'कूर्म्म' कहा गया है। अमुक विशेष (चयन) याज्ञिक कारण से वैज्ञानिकोंने कश्यपप्रजापति को तो 'कूर्म्म' नाम प्रदान कर दिया है, एवं कूर्म्मप्राणी को 'कश्यप' नाम प्रदान कर दिया है। और यही शब्दव्यतिक्रमात्मक विशेषपरिभाषात्मक एक विशेष उदाहरण है। इस पारिभाषिक व्यतिक्रम–सिद्धान्तानुसार ईश्वरीय कामना को प्रायशः 'इच्छा' नाम से भी, एवं मानवीय इच्छा को 'कामना' नाम से भी व्यवहृत कर दिया गया गया है। इसी व्यतिक्रमाधार पर ईश्वरकामना 'ईश्वरेच्छा' कहला सकती है, एवं जीवेच्छा 'जीवकामना' कहला सकती है।

यह निर्विवाद है कि, अपने स्वतन्त्र भाव में निरूढ़ा ईश्वरानुगता कामना कभी बन्धन का, अशान्ति का, दुःख का कारण नहीं बना करती। तथैव अपने स्वतन्त्र भाव में निरूढ़ा जीवानुगता इच्छा सदा बन्धन–अशान्ति–दुःख का ही कारण प्रमाणित हुई है, जिन दोनों इच्छाविवर्तों का पूर्व में भी दिग्दर्शन करा दिया गया है (देखिए पृष्ठसंख्या १४१)। जहाँ कहीं काम, किंवा कामना को शास्त्रों में दुःख–अशान्ति–उद्वेग– का कारण बतलाया गया है, वहाँ वहाँ सर्वत्र तथाकथित शब्दव्यतिक्रमसिद्धान्तानुगत 'इच्छाभाव' का ही प्राधान्य समझना चाहिए। उदाहरण के लिए–'स शान्तिमाप्नोति–न कामकामी' (गीता २।७०) इत्यादि गीतावचन 'काम' भाव से व्यतिक्रमानुगत इच्छाभाव की ओर ही संकेत कर रहा है। तथैव जहाँ 'इच्छा' को सुखशान्तिप्रवृत्ति का कारण बतलाया गया

है, यहाँ सर्वत्र 'इच्छा' से ईश्वरकामना का ही ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य, मानव के सम्बन्ध में जहाँ कामना शब्द दुःखाशान्ति का कारण घोषित होगा, वहाँ 'इच्छा' मानी जायगी। एवं ईश्वर के सम्बन्ध में जहाँ 'इच्छा' शब्द प्रयुक्त होगा, वहाँ 'कामना' मानी जायगी, जैसा कि—'यथेच्छा पारमेश्वरी'* (भावप्रकाश-आयुर्वेदग्रन्थ) में प्रयुक्त इच्छाशब्द कामना का समाहक बना हुआ है। इसी परिभाषा के अनुसार शास्त्रीय 'निष्कामकर्म्मयोग' का अर्थ माना जायगा 'जीवेच्छात्यागात्मक कर्म्म', एवं ईश्वरीय निष्कामभावात्मिका अबन्धना कामना से युक्त कर्म्म। अध्यात्मानुगता कामना का परित्याग तो कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी कामना से वियुक्त निष्कामभाव तो भ्रान्त मानवों की खपुष्पकल्पना ही है। शान्ता नन्दलक्षण-नित्यशान्तिस्वरूप-रसमूर्त्ति-मनोमय-कामभाव ही 'ईश्वरेच्छा' का वास्तविक स्वरूप है, जिसे आधार बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला मानव कभी बन्धनाविष्ट नहीं बन सकता, नहीं बन सकता। सर्वत्र 'कामनात्याग' का एकमात्र तात्पर्य्य व्यतिक्रमानुसार 'इच्छात्याग' ही मानना चाहिए, जिस इच्छातत्त्व को उपनिषदों ने—'अशनाया' नाम से व्यवहृत किया है। 'अशनाया' शब्द का निर्वचन ही 'इच्छा' शब्द का तात्त्विक इतिहास बना हुआ है।

'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे' (यजु संहिता १।१।) इत्यादि मन्त्रश्रुति में पठित 'इषे' शब्द का अर्थ किया गया है—'अन्नाय'। 'अन्नं वा इट्' (ऐतरेय ब्राह्मण २।४) के अनुसार अन्न का ही नामान्तर 'इट्' है, जो अन्नात्मक इट् 'इडा' भाव में परिणत होता हुआ 'मनोर्दुहिता' (मनुकन्या) कहलाई है, जैसाकि—'इडा वै मानवी यज्ञानूकाशिन्यासीत्' (तै०ब्रा० १।२।४।४)—'सा मनोर्दुहिता एषा निदानेन यदिडा' (शत० ब्रा० १।८।१।११) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। विषय थोड़ा बुद्धिगम्य, अतएव सतर्कतापूर्वक अवधेय है। 'इट्' भाव के शिल्पविज्ञान के स्वरूप-परिचयाधार पर ही 'इच्छा' शब्द के तात्त्विक इतिहास का समन्वय सम्भव है।

(३६)—इट्—ऊर्क्—अन्नत्रयी—स्वरूपपरिचय—

"अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः" इस यज्ञानुबन्धी तात्त्विक लक्षण के अनुसार 'इट्-ऊर्क्-अन्न' इन तीन भावों के आधार पर 'इट्' (अन्न) का स्वरूप अवलम्बित है। 'आदित्याज्जायते वृष्टिः, वृष्टेरन्नं, ततः प्रजाः'—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः—पर्जन्यादन्नसम्भवः' इत्यादि श्रौती—स्मार्त्ती उपनिषदों के अनुसार आदित्याग्निद्वारा पर्जन्यवायु से पार्थिव भयवल पर वृष्ट्यपाक्षेप ही तो ओषधि-वनस्पत्यादि लक्षण 'अन्न' रूप में परिणत होता है। यही अन्न 'इट्' कहलाया है। 'वृहत्' वराह—यवाह—

---

* आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादार्त्तवाधिके।
नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी॥

इपे-पिन्वस्वेति' (शत० १४।२।२।२७)- यथा या इड्'' (शत० १।५।१।११) के अनुसार वर्षा-जल से-समुत्पन्न अन्न ही 'इट्' है, यही निष्कर्ष है। 'अग्निर्वा इतो वृष्टि मुदीरयति' ❀ के अनुसार पार्थिव अग्नि (प्राणाग्नि) से ऊर्ध्व प्रक्षिप्त वाष्परूप में परिणत जल खगोलीय मरुद् धरातल में सार्द्ध सप्त मासपर्य्यन्त गर्भीभूत बना रहता है। यही अनन्तर पर्जन्य द्वारा भूपृष्ठ पर आकर इसे सस्यश्यामला बना देता है, एव यही अन्न का प्रभव बनता है, जो अन्न 'इट्' कहलाया है। यही अन्न की 'इट्' रूपा प्रथमावस्था है।

वृष्टि (जलवर्षण) से भूपृष्ठ एक प्रकार की वैसी आभा—कान्ति—ओजपूर्ण उल्लास से समन्वित हो जाता है, मानों भूपृष्ठ ने षोडशशृङ्गार धारण कर लिया हो। जलवर्षण से इसलिए दूर्वादि तृण-बीजांकुर उल्लसित—विकसित हो जाते हैं कि, इस आन्तरीक्ष्य सलिल में आन्तरीक्ष्य वह 'अवि' नामक प्राण प्रतिष्ठित रहता है, जो हरितवर्ण का उद्भावक माना गया है। इसी से सर्वत्र सघनघना हरितवर्णाभा व्याप्त हो जाती है ×। इस अविःप्राणप्राधान्य से ही अमुक प्राणी 'अवि' (मेष) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वृक्ष—लता—गुल्मादि का पत्ता पत्ता थिरक उठता है इस अविःप्राणानुग्रह से। यही स्वाभाविक उल्लासात्मक विकास इनकी उत्तरावस्था है, जिसे वैज्ञानिकोंने—'ऊर्क्' नाम से व्यवहृत किया है। जिस 'ऊर्क्' तत्त्व का—'ऊर्जेस्त्वेति—यो वृष्टात्—ऊर्गसो जायते—तस्मै तदाह (शत० १२।२।६।)—'ऊर्ग्वा आपो रस' (कौ०ब्रा० १२।१।)—'ऊर्वै रस' (शत० ५।१।२।८)—'रसवतीरित्येवैतदाह-यदाह—ऊर्जस्वतीरिति' (शत० ५।३।४।२।) इत्यादि रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। भोजन करते ही शारीरिक अवयव समुद्दीप्त हो पड़ते हैं, मानों किसी ने निर्वाणापद प्राप्त करते हुए दीपशिखा को तैलधारा से उद्दीप्त कर दिया हो।

जलवर्षण हुआ, अन्न समुत्पन्न हुआ, बीजांकुर जीवनीय रस से संयुक्त बने। कालान्तर में यही जीवनीय 'ऊर्क्' रस परिपाकावस्था में आकर घनावस्था में परिणत होता हुआ भोग्य—स्थूलान्न रूप में

❀ अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुत' सृष्टां नयन्ति। यदा खल्वसावादित्योन्यङ्‌ रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभिः। भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नय ॥
सप्तार्द्ध गर्भा भुवनस्य रेतो अपो यसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्र सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
—इस वृष्टिविज्ञान का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथभाष्य पञ्चमवर्ष में द्रष्टव्य है—

× अविर्व नाम देवता ऋतेनास्ते परिवृता।
तस्या रूपेणेमा वृक्षा हरिता हरितस्रजा ॥

परिणत हो गया। यही भोजनीय बन कर-'अद्यते' रूप से 'अन्न' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार एक ही आप्‌तत्त्व आपःरूप 'इट्' (अन्न की पूर्वावस्था-दुग्धात्मिका प्रथमावस्था)-'ऊर्क्' (जीवनरसात्मिका मध्यावस्था-परिपाकानुगतावस्था)-'अन्न' (भोग्यरूपा परिपक्वा उत्तरावस्था-तृतीयावस्था), इन तीन भावों में परिणत हो जाता है। यही त्रिमूर्त्ति अन्न शारीराग्नि में आहुत होकर विशकलन प्रक्रिया के माध्यम से रसासृगादि रूप में परिणत होता हुआ अपने स्थूल पार्थिव मृद्भावापन्न घन-अन्न भूतभाग से स्थूलशरीर की प्रतिष्ठा बनता है, यही अन्न अपने सूक्ष्म आन्तरीक्ष्य-ऊर्ग्रस भाव से सूक्ष्मशरीरात्मक 'ओज' का आधार बनता है, एवं यही अन्न दिव्य-चान्द्र-सौम्य-सुसूक्ष्म आपोभाव से कारणशरीरात्मक-सर्वेन्द्रियनामक प्रज्ञान मन का स्वरूपाधार बनता है। इस प्रकार इडात्मक एक ही अन्न अपने इट्-ऊर्क्-अन्न भावों से प्राणिसृष्टि के सर्वस्व का स्वरूप सम्पादक बना हुआ है, जिसे आधार मान कर ही श्रुति ने कहा है—

> "अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति।
> अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व। अन्नं न परिचक्षीत"।

अयमत्र संग्रह —

(४)—इडूर्क्-अन्नत्रयी-स्वरूपपरिलेखः—

१—आपोमय सोमरस —वृष्टि —इट्—चान्द्रम्—ततो मन स्वरूपनिष्पत्तिः (कारणशरीरनिष्पत्ति)
२—सोममयो जीवनीयरसः-रस —ऊर्क्—आन्तरीक्ष्यम्—ततः—ओजस्वरूपनिष्पत्ति (सूक्ष्मशरीरनिष्पत्ति)
३—सोममयमन्नम्—ओषधय -अन्नम्—पार्थिवम्—ततः—भौतिकशरीरनिष्पत्ति (स्थूलशरीरनिष्पत्ति)

(२७)—इट् और इच्छा का तात्त्विक स्वरूप—

हाँ, तो पूर्वोपात्त मनु श्रुति के 'इषेत्वा' वाक्य का 'इट्' शब्द परम्परया यों इट्-ऊर्क्-अन्न, तीनों भावों का स्वरूपसंग्राहक बनता हुआ 'भोग्यपरिग्रहमात्र' का अनुग्राहक प्रमाणित हो रहा है। मानव के भोग्यपरिग्रह को, किंवा शरीरत्रयी के आधारभूत परिग्रह को अवश्य ही हम 'इट्' अभिधा से सम्बोधित कर सकते हैं। जिस प्रकार पूर्णेश्वरप्रजापति स्वरूपसंरक्षण के लिए नित्यकाममय बने रहते हैं, भोग्यपरिग्रहात्मक स्वस्वरूपानुगत ब्रह्मगर्भित रस मे जिस प्रकार पूर्णेश्वर का काममय श्वोवसीयस्मन ओतप्रोत रहता है। तथैव पूर्णेश्वरांशरूप जीवात्मा (मानव) भी अपने स्वरूपसंरक्षण के लिए नित्य इच्छामय बना रहता है। भोग्यरूप बहिर्भावात्मक पार्थिव अन्नपरिग्रह में इसका 'प्रज्ञान' नामक सर्वेन्द्रियलक्षण अन्नमय मन ओतप्रोत बना रहता है। सैषा उभयोर्मन स्थितिः।

दोनों के ही मन यद्यपि भोग्यपरिग्रहों में ओतप्रोत रहते हैं। तथापि दोनों की इस मानसस्थिति में महोदय का अन्तर है। वह अन्तर यही है कि, पूर्णेश्वर का कामनामय मन जहाँ स्वस्वरूपानुगत ब्रह्म

गर्भित स्वस्य परिग्रह में–उपनिषदों के शब्दों में–'अपि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित' के अनुसार स्वमहिमारूप स्वस्वरूप में ही ओतप्रोत रहने के कारण स्वस्वरूप से सर्वदिशाओं में सुविकसित रहता हुआ अपनी परिपूर्णता से अक्षुण्ण बना रहता है, अतएव जो महिमारूप भोग्य परिग्रहानुगामी बना रहता हुआ भी–'अपि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित' इत्यादि रूप से परिग्रह–भोगातीत भी बन रहा है, वहाँ जीवात्मा का मानवीय प्रज्ञान मन इच्छातन्त्र का वशवर्त्ती बनता हुआ परस्वरूपानुगत बाह्य भौतिक 'इद्' रूप अन्नपरिग्रह के प्रति आत्मार्पण करता हुआ स्वस्वरूपविकास–स्वपरिपूर्णता से अभिभूत बन जाता है। अतएव यह परपरिग्रहासक्ता जीवात्मकामना "इद्'–इत्यन्नम्–भोग्यपरिग्रह। तत्र शेते मन। इच्छात्मके अन्ने–भोग्यपरिग्रहे समासक्त मन। अन्ने च तप्रोतं मन" इत्यादि रूप से 'इच्छा' नाम से व्यवहृत हुई है, जो मानस इच्छासूत्र अशितिरूप परान्न की लिप्सा–लालसा–एषणा में अहर्निश आसक्त–व्यासक्त–लिप्त–समालिप्त बना रहता हुआ उपनिषदों में–'अशं–भोग्यपरिग्रहात्मकम् शर्न–नयते' इत्यादि निर्वचन से 'अशनाया' नाम से व्यवहृत हुआ है।

यही 'अशनाया' जिसे हम इच्छासूत्रानुगता 'बुभुक्षा' (भूख) कहेंगे, जिसकी नित्यसहचारिणी 'पिपासा' मानी जायगी–के अनुग्रह से ही जीवात्मा किंवा मानव अपने मूलप्रभव–मूलप्रतिष्ठारूप हृदयस्थ अमृतलक्षण अव्ययपुरुष के सहज अनुग्रह (सम्बन्ध) से वञ्चित होता हुआ नित्य अशान्त–आर्त–व्यस्त–सन्त्रस्त बना रहता है। अतएव इस सन्त्रासमूला अशनाया–पिपासा को मानव की जीवन्मृत्युलक्षणा 'अहरहर्मृत्यु' (दैनिकमृत्यु) मान लिया गया है। अतएव च उपनिषदों ने अशनालक्षणा इस इच्छा को, किंवा इच्छारूपा अशनाया को 'मृत्यु'–'पाप्मा' आदि नामों से व्यवहृत किया है, जैसा कि–"मृत्युनैवेदमावृतमासीत्–अशनायया। अशनाया हि मृत्यु (अशनाया वै पाप्मा)" (बृहदारण्यकोपनिषत् १।२।१।४।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

(३८)–सत्यकामनिष्ठ मानव—

अव्ययप्रधान ईश्वरप्रजापति जहाँ इच्छातन्त्र पर प्रभुतापूर्वक आरूढ बने रहते हुए सर्वतन्त्रस्वतन्त्र अबन्धनभावापन्न हैं, वहाँ अक्षरप्रधान जीवप्रजापति अपने कामनातन्त्र का वशवर्त्ती बनता हुआ सर्वतन्त्र परतन्त्र–सम्बन्धनभावापन्न प्रमाणित हो रहा है। वह जहाँ इच्छातन्त्र का अनुशासक बनता हुआ सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी नित्यमुक्त है, वहाँ यह कामनातन्त्र से अनुशासित रहता हुआ सबसे अभिभूत बनता हुआ नित्यबद्ध है। यह परतन्त्रतामूलक वशवर्त्तित्वरूप आत्माभिभवमूलक–सत्यसङ्कुचित 'शयनभाव' (चेतनाविकासान्तमुखभाव) ही इसकी कामना का 'इद्–अन्नं–तत्र शेते–अभिभूतो भवति' रूप से 'इच्छाभाव' है, जो कि मानव की आत्मदासता की मौलिक उपनिषत् मानी जायगी। इच्छातन्त्र में आत्मशक्ति–आत्मसहजविकास सर्वथा अन्तर्मुख–अभिभूत बन जाता है। अतएव इच्छापरम्पराओं का पदे पदे व्याघात स्वाभाविक बना रहता है। यदि मानव अपने हृदयाकाशात्मक केन्द्र में प्रतिष्ठित

काममय अव्ययेश्वर-प्रजापति से अपना सहजसिद्ध अविच्छिन्न घनात्मक सम्बन्ध व्यक्त करने में समर्थ बन जाता है, तो इसका अन्नमय प्रज्ञानमन श्वोवसीयस् काममय मन से अनुग्राहकभावेन अनुगृहीत बनता हुआ स्वयं भी काममय ही बन जाता है। एवं इस सहजस्थिति को प्राप्त कर लेने के अनन्तर मानव की कामना ईशकामनावत् कभी निष्फल-निरर्थक-व्यायाम नहीं बना करती, नहीं बन सकती। अवश्य ही 'जात्यायुर्भोगा' सिद्धान्तानुसार जन्मान्तरीय अभिक्रमानुगत प्रारब्धकर्मवश ऐसे आत्मनिष्ठ सहज पूर्ण मानव को भी अपने लोकव्यवहारों में इच्छातन्त्रानुबन्धी सामयिक व्याघात यदा-कदा सहन करते रहने पड़ेंगे। किन्तु एतावता इसका अन्त कामात्मक आत्मसंकल्प, आत्मनिष्ठाबल का कोई भी भौतिक व्याघात कोई भी बाह्यशक्ति निरोध नहीं कर सकेगी। कालपरिपाकानन्तर अवश्य ही सत्यकामनिष्ठा-सत्यसंकल्प मानव की सहज कामना-'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (गीता ४।३८) के अनुसार निश्चयेन सफल हो जायगी। अवश्य ही सत्यकामनिष्ठ मानव के सत्यकाममय ईश्वरीय सत्य संकल्प में विघ्नपरम्परा-उपस्थित करते रहने वाले इच्छातन्त्रवशवर्त्ती दुर्बुद्धि मानव 'बलं सत्याद्दोजीय' के अनुसार तात्कालिक रूप से मेघावरणवत् सत्यसंकल्प का निरोध करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, कर लेते हैं। किन्तु

(३६)—कुनैष्ठिक दुर्बुद्धिमानव-

किन्तु उन दुर्बुद्धियों को यह कदापि विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि, अश्मावरणात्मक ईश्वरीय नित्यकामना यदि निम्नाग्ररूप से उस नैष्ठिक मानव का ईश्वरीयकाम है, तो तत्प्रतिबन्धक मच्छयावत् आगन्तुक विरोधी भावों को कालान्तर में अनिवार्यरूपेण उस प्राकृतिक-प्रतिक्रियात्मक भयानक दण्ड का-नियतिदण्ड का-वशवर्त्ती बनना ही पड़ेगा, जिस भयानक दण्डप्रहार से सृष्टि से आरम्भ कर अद्यावधिपर्य्यन्त मानवेतिहास में कोई भी दुर्बुद्धि-प्रतिक्रियावादी मानव अपना संरक्षण नहीं कर सका है, नहीं कर सकता है। मानव का, शान्ति स्वस्त्ययनकामुक मानव का अनन्य लक्ष्य बनना चाहिए ईश्वरीय कामभाव, न कि *मर्त्यभोगलिप्सापरिपूर्ण बन्धनप्रवर्त्तक* इच्छाभाव। कामभाव आत्मस्वरूप-संरक्षणपूर्वक मानव की सहजशान्ति का प्रवर्त्तक बनता है, तो इच्छाभाव आत्मस्वरूपावरणपूर्वक मानव की अशान्ति का ही जनक प्रमाणित होता है। यही काम, और इच्छा के मौलिकस्वरूपों में महान् स्वरूपविभेद है, जिसका उत्थिताकांक्षा, उत्थाप्याकांक्षा रूप से पूर्व में स्वरूपविश्लेषण किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० १४१)।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, ईश्वरीय सहज-प्राकृतिक इच्छा (कामना) उत्थिताकांक्षा है, दूसरे शब्दों में स्वतः उत्थित इच्छा ईश्वरीय कामना ही उत्थिताकांक्षा है। एवं जीवात्मानुगता कृत्रिम कामना (इच्छा) उत्थाप्याकांक्षा है, दूसरे शब्दों में *मलीमसभावनावासनासंस्कारपरम्परा* के आघात-प्रत्याघातों की निर्मम जघन्य प्रेरणा से परशक्ति-परप्रेरणा द्वारा उत्थापित कामना ही मानवीय इच्छा है, यही उत्थाप्याकांक्षा है। ईश्वरीय कामानुगत जीवात्मा के समस्त कर्म अबन्धन हैं, फिर भले ही

सामान्य–लौकिक–यथाजात–भावुक–मानवसमाज की प्रत्यक्षदृष्टि में एवंविध ईश्वरीय सहज कर्म–सम्बन्धन ही क्यों न प्रतीत होते रहें। उधर मानवीय इच्छानुगत मानव के समस्त कर्म सम्बन्धन हैं, फिर भले ही मानवसमाज की दृष्टि में एवंविध लोकैषणात्मक कृत्रिम कर्म प्रत्यक्ष में श्रेष्ठकर्म ही क्यों न प्रमाणित होते रहें। यही भारतीय आर्षधर्म्मानुगता 'पाप-पुण्यद्वन्द्व' की वह महती निकषा है, जिसकी नैष्ठिकी तुला से समतुलित कर्म्माकर्म्मव्यवस्था–शुभाशुभव्यवस्था–पापपुण्यव्यवस्था–निकृष्टश्रेष्ठव्यवस्था–कभी मानव को स्वात्मस्वरूपतन्त्र से, स्वानुगत नैष्ठिक परिपूर्ण स्वरूप से स्खलित नहीं होने देती। यही वह आर्षतुला है, जिसके समतुलन को विस्मृत कर वर्त्तमान एषणाक्लिष्ट मानव कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक से वञ्चित रहता हुआ केवल जगन्मूला सङ्कल्प–विकल्पभावापन्ना इन्द्रियमनोऽनुगामिनी विचिकित्सा को ही अपना परमपुरुषार्थ मानने की महद्भ्रान्ति करता हुआ सर्वथा किंकर्त्तव्यविमूढ–दिग्विमूढ–भ्रान्त–विभ्रान्तरूप से निरुद्देश्य–निर्लक्ष्य–अकर्म्मण्य–उत्पथकर्म्मानुगत बनता हुआ पशुवत् सर्वक्षेत्रों में सर्वथा परतन्त्र प्रमाणित होता हुआ क्लान्त–भ्रान्त–परिभ्रान्त–नितान्त–अशान्तरूप से इतस्ततः दग्धम्मन्यरूप से विचरण कर रहा है।

(४०)—मानव के तीन वर्ग—

श्वोवसीयस् मनोऽनुगत काम, किंवा कामना का, एवं अशनमनोऽनुगता इच्छा, किंवा अशनाया का संक्षिप्त इतिहास पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अब संक्षेप से इन्द्रियमनोऽनुगता विचिकित्सा, किंवा सङ्कल्पविकल्प के सम्बन्ध में भी स्वरूप–परिचय प्राप्त कर लेना प्रासङ्गिक ही माना जायगा। कामतन्त्र अव्ययप्रधान बनता हुआ जहाँ ईश्वरानुगत है, इच्छातन्त्र अक्षरप्रधान बनता हुआ जहाँ जीवानुगत है, वहाँ विचिकित्सातन्त्र क्षरप्रधान बनता हुआ जगदनुगत ही माना गया है। यह एक नितान्त ही रहस्यपूर्ण विषय है कि, जीवात्मानुगत 'इच्छातन्त्र' का अनन्य–अन्यतम क्षेत्र मानव ही बना करता है। मानवेतर अन्य सभी जडचेतनपदार्थ प्राकृत हैं, अतएव पशुभावापन्न हैं, अतएव जगद्भावानुगत हैं, अतएव वे केवल विचिकित्साभावापन्न ही हैं। इस रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण की मीमांसा उत्तरखण्ड में इसलिए प्रासङ्गिक मानी जायगी कि, जबतक मानवकी तत्त्वमूला स्वरूपमीमांसा सर्वात्मना हृदयङ्गम नहीं कर ली जाती, तबतक इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना बुद्धिभेदजनक ही प्रमाणित होगा। अभी इस सम्बन्ध में यही स्थूल पर्य्याप्त मान लेना चाहिए कि, आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति केवल 'मानव' में ही है। मानवेतर यच्चयावत् प्राणी–अप्राणीवर्ग आत्मदृष्ट्या अनभिव्यक्त हैं, पशुभावसमतुलित हैं, एवं नितान्त प्राकृत ही हैं। इनमें स्वतन्त्र पुरुषार्थ का आत्यन्तिक अभाव है। इत्यादि।

छोड़िए रहस्यपूर्ण इस रहस्यमीमांसा को। प्रकृत को लक्ष्य बनाइए। अधिकारीभेद से मानव के साथ हम इन तीनों तन्त्रों का समन्वय कर सकते हैं। लक्ष्यारूढ अधिकारी, लक्ष्यानुगत अधिकारी, लक्ष्यभ्रष्ट अनधिकारी, रूप से मानव को तीन श्रेणिविभागों में विभक्त मान कर इन तीनों इच्छातन्त्रों का सम्यक् समन्वय किया जा सकेगा। इशावास्योपनिषत्–अव्ययात्मानुयोगी–आत्मबुद्धियोग-

निष्ठ–परिपूर्ण सद्यमानव 'लक्ष्यारूढ' अधिकारी माना जायगा। स्व–भावपरायण–अध्यात्मानुयोगी–व्यवहारबुद्धिनिष्ठ अतएव लोकनिष्ठ मानव 'लक्ष्यानुगत' अधिकारी कहा जायगा। एवं परभावपरायण–परप्रत्ययनेयमूढ–सम्यक्लक्ष्यवञ्चित–जयत्मानुयोगी–निष्ठाच्युत–पाप्रुक मानव 'लक्ष्यभ्रष्ट' अनधिकारीरूप अधिकारी प्रसिद्ध होगा। आत्मबुद्धिनिष्ठ लक्ष्यारूढ अलौकिक मानव की मूलप्रतिष्ठा काममय श्वोवसीयस् मन बना रहेगा। लोकव्यवहारनिष्ठ लौकिक मानव का मूलाधार इच्छामय प्रज्ञानमन माना जायगा। एवं सम्यग्व्यवहारविच्युत लोकभ्रष्ट मानवाभास का अमूलात्मक मूल विचिकित्सामय इन्द्रियमन कहा जायगा। इन तीनों मानववर्गों में मध्यस्थ लोकनिष्ठ मानव का इच्छामय प्रज्ञानमन मानव की वह साम्यावस्था है, जिस पर प्रतिष्ठित रहने वाला लौकिक मानव काममय बुद्धिनिष्ठ अलौकिक महामानव के द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करता हुआ जहाँ अपना क्रमिक अभ्युदयसाधन करता हुआ, कालान्तर में लक्ष्यानुगतिपूर्वक लक्ष्यारूढ बनता हुआ निःश्रेयसभावमाध्यम से अपना मानव–जीवन कृतकृत्य–सफल प्रमाणित कर लेता है। वहाँ यही लौकिक मानव लोककामनानुगता एषणात्रयी (वित्त–पुत्र–लोकैषणात्रयी), तथापि विशेषत लोकैषणा (नामैषणा) के व्यामोह में आसक्त–व्यासक्त बनता हुआ सत्यमार्ग–सत्पथ–प्रदर्शक आत्मबुद्धियोगनिष्ठ महामानवों के आदेशोपदेशों की अत्यन्तिक उपेक्षा करता हुआ ठीक इस के विपरीत लक्ष्यहीन–हीनचरित्र–चरित्रभ्रष्ट–भ्रष्टलक्ष्य–लक्ष्यवञ्चित–वञ्चकपथकुशल–चाटुकार–कुनैष्ठिक–असन्निष्ठ–आसुर मानवों के वातावरण से–आदेशोपदेशों से आक्रान्त बनकर कालान्तर में स्वयं भी सर्वात्मना लक्ष्यभ्रष्ट बनता हुआ केवल विचिकित्सापथ का ही पथिक बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। और यों यह साम्य मानव अपने प्रज्ञाकौशलसे ऊर्ध्व पथानुगमन द्वारा जहाँ अलौकिक मानव बन सकता है। वहाँ प्रज्ञापराध से अधःपथानुगमनद्वारा लक्ष्यभ्रष्ट मानव प्रमाणित होता हुआ अपना मानव–जीवन निष्फल भी प्रमाणित कर लेता है।

अयमत्र सङ्ग्रहः—

(४)—लक्ष्यारूढ–अनुगत–भ्रष्टमानवत्रयीस्वरूपपरिलेखः—

(१)—लक्ष्यारूढमानवः—ईश्वरानुगत —आत्मानुगत —काममयः—श्वोवसीयसमनोऽनुगतः (आत्मनिष्ठः)
(२) —लक्ष्यानुगतमानव —स्वानुगतः——जीवानुगतः—इच्छामय –सर्वेन्द्रियमनोऽनुगत (लोकनिष्ठः)
(३)—लक्ष्यभ्रष्टमानव ——परानुगतः——जगदनुगतः—विचिकित्सामयः इन्द्रियमनोऽनुगत (निष्ठाच्युत)

(४१)—विनाशक विचिकित्साभाव—

विचिकित्सामय इन्द्रियमन की विद्युत्–इन्द्रानुगता नैसर्गिक चञ्चलता से समन्विता ग्रहणपरित्यागात्मिका–सङ्कल्पविकल्पभावापन्ना सदिहानवृत्ति (सन्देहवृत्ति) ही 'विचिकित्सा' कहलाई है, जो इन्द्रियमन का स्वरूपधर्म्म माना गया है। संशयार्थक 'कित' धातु–(भ्वा० प० से०) से 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (पा०सू०३।१।५।) तथा 'अप्रत्ययात्' (पा०सू०३।३।१०२) सूत्रों से, सनादि

प्रत्यय द्वारा ही 'विचिकित्सा' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोटयवगाहि ज्ञानं संशयः' ही संशयवृत्ति का दार्शनिक लक्षण माना गया है। अपनी व्यवसायात्मिका निश्चित निर्णयकर्तृत्वशक्तिमावापन्ना बुद्धिनिष्ठा से स्खलित विचलित मानव एक ही लक्ष्य में जो—"यह करूँ—अथवा यह करूँ—अमुक सर्वश्रेष्ठ है, अथवा तो निकृष्ट है" इस प्रकार सदा संकल्प-विकल्पात्मक ऊहापोह तर्क-वितर्क—कुतर्कपरम्परा—परस्परात्यन्तविरुद्धभावानुगता कल्पनापरम्परा का अनुगामी बना रहता है, वही मानव—वही यह संशयशील मानव इस संशयशीलता के अनुग्रह से कालान्तर में स्वयं अपनी आध्यात्मसंस्था (अपने आप) पर भी सन्देह करने लग जाता है। परिणाम स्वरूप अपनी यच्चयावत् प्राकृतिक आध्यात्मिक—आधिदैविक—आधिभौतिक शक्तियों पर अविश्वास—सन्देह करने में अभ्यस्तमना यह मन्दभाग्य मानव इन्द्रियमनोऽनुगता तमोबहुला इस विचिकित्सालक्षणा संविदान वृत्ति से वास्तव में चिकित्स्य बन जाता है। अविलम्ब ऐसे महारोगग्रस्त—चिकित्स्य—विचिकित्सानुगामी भ्रान्त मानव की किसी आत्मबुद्धिनिष्ठ नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ के द्वारा चिकित्सा का आयोजन कराना चाहिए समाजनैष्ठिकों को। अन्यथा कालान्तर में इस सन्दिहानवृत्ति के बद्धमूल बन जाने पर यह सर्वात्मना अचिकित्स्य—असाध्यरोगी प्रमाणित हो सकता है। एवं असाध्यदशा में 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' पथ ही इसके लिए शेष बना रह जाता है।

केवल इन्द्रियारामपरायण—आसक्तिपूर्वक लोकवैभवभोगपरायण—वैषयिक—यथाजात—विमूढ मानव में विचिकित्सामय इन्द्रियमन का ही प्राधान्य रहता है। परमकारुणिक महर्षि विचिकित्सामय इस ऐन्द्रियक मानव के उद्बोधन के लिए एक वैसे महामाङ्गलिक पथ का निर्देशन करा रहे हैं कि, यदि यह मानव उस पथ का अनुसरण कर लेता है, तो कालान्तर में इसका क्रमिक अभ्युत्थान सम्भव बन जाता है। आभ्यन्तर मनोभावों के परिशोध के लिए अलौकिक-ज्ञाननिष्ठ महामानवों का आस्थाश्रद्धा-पूर्वक सम्मान, प्रयतमाव से—अथवा तो आरम्भ में केवल इस प्रयतमाव को निम्बादिक्वाथवत् कटु औषधि ही मान कर श्रद्धा—अश्रद्धा से—जैसे भी बने वैसे अभ्यर्चन, तथा उन ज्ञाननिष्ठ महामानवों के लोक-समाहक—धर्म—पथानुगत लौकिक—शास्त्रीय कर्मों की गतानुगतिकता, आदि का अनुगमन करना चाहिए। निश्चयेन इस श्रद्धाऽऽस्थानुगमन से आत्ममल (मनोमल) विशोधनपूर्वक अभ्युदय सम्भव है, जिस इस अभिमत शब्दपद्धति का निम्नलिखित आर्षवाणी से स्पष्टीकरण हुआ है, एवं जिस इस श्रद्धापथ की विशद—वैज्ञानिक मीमांसा निबन्ध के उत्तरखण्ड में होने वाली है—

ये के चास्मात्—श्रेयांसो ब्राह्मणा—तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते—'कर्म्मविचिकित्सा' वा, वृत्तिविचिकित्सा' वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः—युक्ता अयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः, एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्॥

—तैत्तिरीयोपनिषत् १।११।२,४,।

(४२)–चर्म्ममयाकाश का वेष्टन—

मानवीय अध्यात्मसंस्था से सम्बन्धित अमृतलक्षण अव्ययात्मा, ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा, शुक्रलक्षण क्षरात्मा, इन तीन आत्मतन्त्रों से क्रमशः अनुप्राणित भोगतन्त्रानुगत-अव्ययात्मनिबन्धन श्वोवसीयस्मन, कर्म्मतन्त्रानुगत अक्षरात्मनिबन्धन सर्वेन्द्रियमन, प्रज्ञानुगत क्षरात्मनिबन्धन इन्द्रियमन-तीनों मनस्तन्त्रों के काममय-इच्छामय-विचिकित्सामय व्यापारों का संक्षिप्त स्वरूप विज्ञ पाठकों की मानस अनुभूति का लक्ष्य बनाया गया। इन तीनों मनस्तन्त्रों में से प्रतिपाद्य प्रतिज्ञात 'मनु' के तात्त्विक इतिहास का सम्बन्ध अव्ययात्मनिबन्धन काममय श्वोवसीयसमन के साथ ही है, जिसके माध्यम से यह मन स्वरूपविवेचन भी प्रासङ्गिक बन गया है। अत्र पुनः सृष्टिमूलभूत कामभाव से सम्बन्धित मनु का परोक्षरूपेण सङ्केत करने वाली पूर्वोद्धृता 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि०' इत्यादि मन्त्रश्रुति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। मन के रेतोभूत कामने मनुद्वारा कैसे विश्वसर्ग को व्यक्त बना डाला ?, इस मूल-प्रश्न से सम्बन्धित तात्त्विकसृष्टिविज्ञान की रूपरेखा को लक्ष्य बना लेना अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक होगा। उसी को सर्वप्रथम लक्ष्य बनाया जारहा है।

'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' 'योऽहं-सोऽसौ-'योऽसौ-सोऽहम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार त्रिपुरुष-पुरुषात्मक-षोडशकल-पूर्णप्रजापति का उक्थरूप मानव भी प्रकृत्या-पुरुषेण च (क्षराक्षरविद्या-अव्ययविद्या च) उभयथा परिपूर्ण है। इस परिपूर्ण भी मानवश्रेष्ठ में अन्नमय प्रज्ञानमन की प्रज्ञापराध जनिता भ्रान्ति (भूल) से, स्वयं अपनी ही इस प्रज्ञापराधपरम्परा से इसके स्नेहगुणयुक्त, अतएव आसक्ति धर्म्माक्रान्त स्नेममय प्रज्ञाधरातल पर विचिकित्सा (सङ्कल्पविकल्प) मय ऐन्द्रियक मन के द्वारा आगत-समागत-अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेशादि मलीमस-पाप्मा-संस्कार दृढमूल बन जाते हैं। इन मलीमस-संस्कारपुञ्जों से मेघावरणयुक्त सूर्य्यवत् तमोऽभिभूत बनता हुआ प्रज्ञानमन स्वधरातल पर प्रतिबिम्बरूप से प्रतिष्ठिता सौरप्राणमयी धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्यभावात्मिका विद्याबुद्धि के अव्ययात्मानुगत सत्त्वगुणान्वित-सत्त्वात्मक-भा रूप-आकाशसमतुलित ज्योतिर्भाव को (अव्ययात्मज्योति को) भी उसी प्रकार आवृत कर लेता है, जैसे कि मेघावरण से सौरप्रभा आवृत बन जाया करती है। इस मध्यस्थित तामस के आवरण से सत्यसङ्कल्पधर्म्मा काममय अन्तरात्मा, दूसरे शब्दों में मानव के शरीराकाश केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयाकाश के केन्द्र में स्थित दहराकाशावस्थित हृत्पुण्डरीक में-सहस्रसूर्य्यज्योति सम तुलित नित्यकाममय श्वोवसीयस् मन सर्वात्मना अन्तर्मुख बन जाता है। तदित्थं, मानव के अपने ही गोप मे इस प्रकार आत्मवेदता (परवेदता) के अन्तर्मुख बन जाने से मानव अपनी आध्यात्मिक परिपूर्णता के बोध से वञ्चित होता हुआ अपने आपको अपूर्ण-अज्ञ-ऐश्वर्य्यशून्य-सा अनुभूत करने लग जाता है। इस स्वदोषानुगता अपूर्णतानुभूति के अनुग्रह से ही मानव-परिपूर्ण भी मानव-पदे पदे कष्ट-दुःख-भय-शोक-मोह-अशान्ति-परम्पराओं का सम्मान्य अतिथि बन जाता है। निश्चित है कि—सत्यसङ्कल्पात्मक-नित्यकाममय-किंवा कामनामय अतएव निष्कामभावापन्न-श्वोवसीयस् मनोमय अव्ययात्मवेद के अनुग्रह प

बिना अन्य लौकिक प्रयाससहस्रों से भी मानव की इस दुःखपरम्परा का अवसान कदापि कथमपि सम्भावित नहीं है। यदि अनन्त परमाकाश ('नभस्वान्' नामक स्वायम्भुव परमेष्ठ्योमन् लक्षण परमाकाश) को मानव एक चर्म्मास्तरणवत् अपने शरीर से वेष्टित कर सकता है, तो उस दशा में मानव अवश्य ही तथाकथित आत्मदेव के बोध के बिना भी दुःखपरम्परा से उन्मुक्त हो सकता है। तात्पर्य्य, जैसे अनन्ता-काश को चर्म्मवेष्टनवत् शरीर से आवेष्टित कर लेना मानव के लिए असम्भव है। एवमेव आत्मदेव-स्वरूपबोध के बिना अमृतलक्षणा शान्ति की कामना भी मानव के लिए सर्वथा असम्भव ही बनी रहती है। इसी भाव का काकुभाषा में दिग्दर्शन कराते हुए आत्मबोधनिष्ठ महामानवों ने कहा है—

> यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
> तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥
>
> —उपनिषत्

> तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
>
> —यजुःसंहिता।

(४३)—मानव और पशुभाव—

काममय अव्ययात्मा के मनोमय मनुर्भाव के सम्बन्ध से ही पुरुषप्राणी 'मानव' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है, एवं मनु सम्बन्ध से, किंवा मनु के विकास से ही मानव इतर प्राणियों के समतुलन में परिपूर्ण बना है। यदि मानव अपने तथाकथित प्रज्ञापराध से इस मनुलक्षण परिपूर्णभाव की सहज अभिव्यक्ति से वञ्चित रहता हुआ दुःखभागी है, तो इसकी 'मानव' अभिधा ही व्यर्थ मानी जायगी। आत्मानुग्रहात्मक (आत्मविकासात्मक) 'स्वात्मावबोध' से पराङ्मुख मानव में, तथा यथाजात प्राकृत पशु में कोई अन्तर नहीं है। 'समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्' प्रसिद्ध ही है। हाँ, इस समतुलनावस्था में भी दोनों में यह अन्तर अवश्य माना जा सकता है कि, यथाजात पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि–वर्ग प्रकृतितन्त्रात्मक नियति तन्त्र से–अन्तर्य्यामी के द्वारा सृष्ट्यारम्भ में विहित–निश्चित–मर्य्यादित प्राकृतिक धर्म्म से अनुशासित रहता हुआ प्रकृत्या स्व–स्व–पशुत्व–पक्षित्वादि सहज प्राकृतिक धर्मों पर सुव्यवस्थितरूप से आरूढ़ बना रहता हुआ जहाँ अमुक अंशों में ही क्या, अधिकांश में निर्व्याजरूप से प्रत्युपकार की भावना से अपने आपको असंस्पृष्ट बनाए रखता हुआ सहजभाव से मानवसमाज का हितसाधन करता रहता है, वहाँ–पश्वादिवर्गसमानधर्म्मा मानवाभासात्मक एवंविध विमूढ़ मानव प्राकृतिक सम्पूर्ण नियन्त्रण-नियमन-मर्य्यादा सूत्रों की आत्यन्तिकरूप से उपेक्षा करता हुआ, सर्वात्मना उच्छृङ्खल उन्मर्य्याद बनता हुआ, अपनी इस उद्दण्डता–उच्छृङ्खलता–अमर्य्यादा–अविवेकिता–आदि को ही 'स्वतन्त्रस्वतन्त्रता' जैसे पावन शब्द से सम्बोधित करने का अक्षम्य–पापार्जन करता हुआ अपने ग्राम पारिवारिक व्यक्तियों के, पार्श्ववर्ती पड़ोसियों के, समाज के मर्य्यादित शिष्ट–वृद्ध–मानवों के उत्पीड़न का ही अन्यतम कारण प्रमाणित होता हुआ, अपने आश्रितवर्ग के लिए महाकालकालकराल ही प्रमाणित होता हुआ उन उपकारक पश्वादि

प्राणियों के संहारकर्म में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करता, जो इसकी अमुक हितैषिता में आत्मापण किए रहते हैं। स्वय नित्य अशान्त–भ्रान्त–विभ्रान्त–बने हुए, 'जहँ जहँ चरण पड़े सन्तन के, तँह तँह, न्याय से अपने सम्पर्क स्थलों को भी सर्वात्मना सङ्क्षुब्ध–अशान्त–उत्पीड़ित करने के कारण अपने आपद्दर भी दकारामिधा से समलङ्कृत करते हुए इस मानव की दृष्टि में–'परापकारः पुण्याय,–पापाय हितैसाधनम्' यही सूत्र जीवन का मुख्य पुरुषार्थ बना रहता है। आवश्यक है कि, सर्वश्रेष्ठ–परिपूर्ण–मानव का इस उद्वेगकारी दयनीय स्थिति से परित्राण हो। तदर्थ अत्यावश्यक है कि, यह अपने आपको पहिचाने, अपनी अभिभूत आत्मशक्तियों का उद्बोधन प्राप्त करे। तदर्थ अनिवार्य्य है कि यह अपने प्राकृतिक विश्वसर्गानुबन्धी तात्त्विक स्वरूप को अपने स्वाध्याय का लक्ष्य बनाये। एवं तदर्थ ही यह आवश्यकरूप से अनिवार्य्यतम है कि, मानव के वास्तविक हितसाधक (ज्ञानविज्ञानपूर्ण)–शतसहस्राब्दियों से विलुप्तप्राय–नैगमिक आम्नायपरम्परानुप्राणित उस सृष्टिविज्ञान की रूपरेखा की ओर इसका ध्यान आकर्षित किया जाय, जिसके आधार पर इसकी मूलप्रतिष्ठारूप वे 'मनु' प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिन्हें विस्मृत कर सचमुच इस प्राणी ने आज अपनी सर्वश्रेष्ठा–गुणगणसम्पन्ना–श्रेष्ठतमा 'मानव' अभिधा को अभिभूत कर लिया है।

तथाकथिता आवश्यकतापरम्परा को दृष्टि में रखते हुए प्रसङ्ग के वाङ्मय प्रपञ्च के द्वारा तथाविध मानव के सम्मुख काममय ईश्वरप्रजापति का संक्षिप्त स्वरूप समुपस्थित किया गया। तत् प्रसङ्ग से ही ईश की प्रणवधारकता का स्वरूप उपस्थित किया गया। इसी प्रसङ्ग में मानव की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित 'श्वोवसीयस्‌मन–प्रज्ञानमन–इन्द्रियमन–' इन तीन मनस्तन्त्रों का स्वरूपविश्लेषण करते हुए तीनों के 'काम–कामना, इच्छा–अशनाया, विचिकित्सा–संकल्पविकल्प' इन सहज धर्मों का दिग्दर्शन प्रासङ्गिक समझा गया। इस प्रासङ्गिकी परम्परा के अनन्तर ही अब यद्यपि मूलभूत–'मनु' को ही लक्ष्यभूमि बनाना प्रासङ्गिक था, किन्तु काममय आत्ममन के सत्यसङ्कल्प से सम्बन्धिता काममयी आत्मसृष्टि के दिग्दर्शन के बिना क्योंकि विश्वस्वरूप अपूर्ण बना रह जाता है। अतएव इस सम्बन्ध में भी प्रसङ्गोपात्त कुछ निवेदन कर देना प्रासङ्गिकविधया अनिवार्य्य ही मान लिया जायगा।

(४४)–विश्वाधारभूत अव्ययमन का सिंहावलोकन—

पूर्व के तृतीय परिच्छेद में विश्व की मूलजिज्ञासा को मानते हुए हमने 'अव्ययमनरहस्य'–प्रतिपादक पाँच मन्त्र उद्धृत किए थे (देखिए पृ०सं० १४१)। 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि' मन्त्र से सम्बन्धित विविध मनस्तन्त्रों का दिग्दर्शन कराते हुए निष्कर्षपूर्व में ही काममय अव्ययेश्वर के श्वोवसीयस् नामक नित्य मन के साथ मानवाधारभूत 'मनु' का सम्बन्ध प्रतिपादित हुआ है। वहीं यह भी स्पष्ट हुआ है कि, यह मनोमय मनु ही विश्व का मूल बनता है। यहीं एक नवीन जिज्ञासा अभिव्यक्त हो जाती है। प्रस्तुत मीमांसा के आरम्भ में 'अव्ययमन' को विश्व का मूल बतलाया गया था, एवं आगे चलकर मनु को

बिना अन्य लौकिक प्रयाससहस्रों से भी मानव की इस दुःखपरम्परा का अवसान कदापि कथमपि सम्भावित नहीं है। यदि अनन्त परमाकाश ('नभस्वान्' नामक स्वायम्भुव परमेष्ठ्योमन् लक्षण परमाकाश) को मानव एक चर्म्मास्तरणवत् अपने शरीर से वेष्टित कर सकता है, तो उस दशा में मानव अवश्य ही तथाकथित आत्मदेव के बोध के बिना भी दुःखपरम्परा से उन्मुक्त हो सकता है। तात्पर्य्य, जैसे अनन्ताकाश को चर्म्मवेष्टनवत् शरीर से आवेष्टित कर लेना मानव के लिए असम्भव है। एवमेव आत्मदेव स्वरूपबोध के बिना अमृतलक्षणा शान्ति की कामना भी मानव के लिए सवथा असम्भव ही बनी रहती है। इसी भाव का काकुभाषा में दिग्दर्शन कराते हुए आत्मबोधनिष्ठ महामानवों ने कहा है—

> यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
> तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥
>
> —उपनिषत्
>
> तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय॥
>
> —यजुःसंहिता।

(४३)—मानव और पशुभाव—

काममय अन्ययात्मा के मनोमय मनुर्भाव के सम्बन्ध से ही पुरुषप्राणी 'मानव' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है, एवं मनुःसम्बन्ध से, किंवा मनु के विकास से ही मानव इतर प्राणियों के समतुलन में परिपूर्ण बना है। यदि मानव अपने तथाकथित प्रज्ञापराध से इस मनुर्लक्षण परिपूर्णभाव की सहज अभिव्यक्ति से वञ्चित रहता हुआ दुःखभाग् है, तो इसकी 'मानव' अभिधा ही व्यर्थ मानी जायगी। आत्मानुग्रहात्मक (आत्मविकासात्मक) 'स्वात्मानबोध' से पराङ्मुख मानव में, तथा यथाजात प्राकृत पशु में कोई अन्तर नहीं है। 'समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्' प्रसिद्ध ही है। हाँ, इस समतुलनावस्था में भी दोनों में यह अन्तर अवश्य माना जा सकता है कि, यथाजात पशु—पक्षी—कृमि—कीटादि—वर्ग प्रकृतितन्त्रात्मक नियतितन्त्र से—अन्तर्य्यामी के द्वारा सृष्ट्यारम्भ में विहित—निश्चित—मर्य्यादित प्राकृतिक धर्म्म से अनुशासित रहता हुआ प्रकृत्या स्व—स्व—पशुत्व—पक्षित्वादि सहज प्राकृतिक धर्म्मों पर सुव्यवस्थितरूप से आरूढ़ बना रहता हुआ जहाँ अमुक अंशों में ही क्या, अधिकांश में निर्म्मोहरूप से प्रत्युपकार की भावना से अपने आपको सर्वस्वप्रद बनाए रखता हुआ सहजभाव से मानवसमाज का हितसाधन करता रहता है, वहाँ—पश्वादिवर्गसमानधर्म्मा मानवाभासात्मक एवंविध विमूढ़ मानव प्राकृतिक सम्पूर्ण नियन्त्रण-नियमन-मर्य्यादासूत्रों की आत्यन्तिकरूप से उपेक्षा करता हुआ, सर्वात्मना उच्छृंखल उन्मर्य्याद बनता हुआ, अपनी इस उद्दण्डता—उच्छृंखलता—अमर्य्यादा—अविवेकिता—आदि को ही 'स्वतन्त्रस्वतन्त्रता' जैसे पावन शब्द से सम्बोधित करने का जघन्य—पापार्जन करता हुआ अपने ग्राम पारिवारिक व्यक्तियों के, पार्श्ववर्ती पड़ोसियों के, समाज के मर्य्यादित शिष्ट—वृद्ध—मानवों के उत्पीड़न का ही अन्यतम कारण प्रमाणित होता हुआ, अपने आश्रितवर्ग के लिए महाकालकालकराल ही प्रमाणित होता हुआ उन उपकारक पश्वादि

प्राणियों के संहारकर्म में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करता, जो इसकी प्रमुक हितैषिता में आत्मार्पण किए रहते हैं। स्वयं नित्य अशान्त–भ्रान्त–विभ्रान्त–बने हुए, 'जहँ जहँ चरण पड़े सन्तन के, तँह तँह, न्याय से अपने सम्पर्क स्थलों को भी सर्वात्मना सन्क्षुब्ध–अशान्त–उत्पीड़ित करने के कारण अपने आपत्वर को दकारामिधा से समलंकृत करते हुए इस मानव की दृष्टि में–'परापकार' पुण्याय,–पापाय हितेसाधनम्' यही सूत्र जीवन का मुख्य पुरुषार्थ बना रहता है। आवश्यक है कि, प्रकृत्या सर्व श्रेष्ठ–परिपूर्ण–मानव का इस उद्वेगकारी दयनीय स्थिति से परित्राण हो। तदर्थ अत्यावश्यक है कि, यह अपने आपको पहिचाने, अपनी अभिभूत आत्मशक्तियों का उद्बोधन प्राप्त करे। तदर्थ अनिवार्य्य है कि यह अपने प्राकृतिक विश्वसगानुभन्धी तात्त्विक स्वरूप को अपने स्वाध्याय का लक्ष्य बनाये। एवं तदर्थ ही यह आवश्यकरूप से अनिवार्य्यतम है कि, मानव के वास्तविक हितसाधक (ज्ञानविज्ञानपूर्ण)–सहस्रसहस्राब्दियों से विलुप्तप्राय–नैगमिक आम्नायपरम्परानुप्राणित उस सृष्टिविज्ञान की रूपरेखा की ओर इसका ध्यान आकर्षित किया जाय, जिसके आधार पर इसकी मूलप्रतिष्ठारूप वे 'मनु' प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिन्हें विस्मृत कर सचमुच इस प्राणी ने आज अपनी सर्वश्रेष्ठा–गुणगणलक्षणा–श्रेष्ठतमा 'मानव' अभिधा को अभिभूत कर लिया है।

तथाकथिता आवश्यकतापरम्परा को दृष्टि में रखते हुए अबतक के वाङ्मय प्रपञ्च के द्वारा तथाविध मानव के सम्मुख काममय श्वःप्रजापति का संक्षिप्त स्वरूप समुपस्थित किया गया। तत् प्रसङ्ग से ही ईश की प्रग्णबन्धकता का स्वरूप उपस्थित किया गया। इसी प्रसङ्ग में मानव की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित 'श्वोवसीयस्मन–प्रज्ञानमन–इन्द्रियमन–'इन तीन मनस्तन्त्रों का स्वरूपविश्लेषण करते हुए तीनों के 'काम–कामना, इच्छा–अशनाया, विचिकित्सा–संकल्पविकल्प' इन सहज धर्म्मों का दिग्दर्शन प्रासङ्गिक समझा गया। इस प्रासङ्गिकी परम्परा के अनन्तर ही अब यद्यपि मूलभूत–'मनु' को ही लक्ष्यभूमि बनाना प्रासङ्गिक था, किन्तु काममय आत्ममन के सत्यसङ्कल्प से सम्बन्धिता काममयी आत्मसृष्टि के दिग्दर्शन के बिना क्योंकि विश्वस्वरूप अपूर्ण बना रह जाता है। अतएव इस सम्बन्ध में भी प्रसङ्गोपात्त कुछ निवेदन कर देना प्रासङ्गिकविधया अनिवार्य्य ही मान लिया जायगा।

(४४)–विश्वाधारभूत ब्रह्मवन का सिंहावलोकन—

पूर्व के तृतीय परिच्छेद में विश्व की मूलजिज्ञासा को मानते हुए हमने 'ब्रह्मवनरहस्य'–प्रतिपादक पाँच मन्त्र उद्धृत किए थे (देखिए पृ०सं० १४१)। 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि' मन्त्र से सम्बन्धित त्रिविध मनस्तन्त्रों का दिग्दर्शन कराते हुए निकटपूर्व में ही काममय अव्ययेश्वर के श्वोवसीयस् नामक नित्य मन के साथ मानवाधारभूत 'मनु' का सम्बन्ध प्रतिपादित हुआ है। यहीं यह भी स्पष्ट हुआ है कि, यह मनोमय मनु ही विश्व का मूल बनता है। यहीं एक नवीन जिज्ञासा अभिव्यक्त हो जाती है। प्रस्तुत मीमांसा के आरम्भ में 'ब्रह्मवन' को विश्व का मूल बतलाया गया था, एवं आगे चलकर मनु को

बिना अन्य लौकिक प्रयाससहस्रों से भी मानव की इस दुःखपरम्परा का अवसान कदापि कथमपि सम्भावित नहीं है। यदि अनन्त परमाकाश ('नभस्वान्' नामक स्वायम्भुव परमेव्योमन् लक्षण परमाकाश) को मानव एक चर्म्मास्तरणवत् अपने शरीर से वेष्टित कर सकता है, तो उस दशा में मानव अवश्य ही तथाकथित आत्मदेव के बोध के बिना भी दुःखपरम्परा से उन्मुक्त हो सकता है। तात्पर्य्य, जैसे अनन्ताकाश को चर्म्मवेष्टनवत् शरीर से आवेष्टित कर लेना मानव के लिए असम्भव है। एवमेव आत्मदेव स्वरूपबोध के बिना अमृतलक्षणा शान्ति की कामना भी मानव के लिए सर्वथा असम्भव ही बनी रहती है। इसी भाव का काकुभाषा में दिग्दर्शन कराते हुए आत्मबोधनिष्ठ महामानवों ने कहा है—

यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥
—उपनिषत्

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
—यजुःसंहिता।

(४३)—मानव और पशुभाव—

काममय अव्ययात्मा के मनोमय मनुर्भाव के सम्बन्ध से ही पुरुषप्राणी 'मानव' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है, एवं मनु सम्बन्ध से, किंवा मनु के विकास से ही मानव इतर प्राणियों के समतुलन में परिपूर्ण बना है। यदि मानव अपने तथाकथित प्रज्ञापराध से इस मनुर्लक्षणा परिपूर्णभाव की सहज अभिव्यक्ति से वञ्चित रहता हुआ दुःखभागी है, तो इसकी 'मानव' अभिधा ही व्यर्थ मानी जायगी। आत्मानुप्राणात्मक (आत्मविकासात्मक) 'स्वात्मावबोध' से पराङ्मुख मानव में, तथा यथाजात प्राकृत पशु में कोई अन्तर नहीं है। 'समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्' प्रसिद्ध ही है। हाँ, इस समतुलनावस्था में भी दोनों में यह अन्तर अवश्य माना जा सकता है कि, यथाजात पशु—पक्षी—कृमि—कीटादि—वर्ग प्रकृतितन्त्रात्मक नियतितन्त्र से—अन्तर्य्यामी के द्वारा सृष्ट्यारम्भ में विहित—निश्चित—मर्य्यादित प्राकृतिक धर्म्म से अनुशासित रहता हुआ प्रकृत्या स्व—स्व—पशुत्व—पक्षित्वादि सहज प्राकृतिक धर्म्मों पर सुव्यवस्थितरूप से आरूढ बना रहता हुआ जहाँ अमुक अंशों में ही क्या, अधिकांश में निर्व्याजरूप से प्रत्युपकार की भावना से अपने आपको प्रसन्न बनाए रखता हुआ सहजभाव से मानवसमाज का हितसाधन करता रहता है, वहाँ—पश्वादिवर्गसमानधर्म्मा मानवाभासात्मक एवंविध विमूढ मानव प्राकृतिक सम्पूर्ण नियन्त्रण-नियमन-मर्य्यादासूत्रों की आत्यन्तिकरूप से उपेक्षा करता हुआ, सर्वात्मना उच्छृङ्खल उन्मर्य्याद बनता हुआ, अपनी इस उद्दण्डता—उच्छृङ्खलता—अमर्य्यादा—अविवेकिता—आदि को ही 'स्वतन्त्रस्वतन्त्रता' जैसे पावन शब्द से सम्बोधित करने का जघन्य-पापाचरण करता हुआ अपने घर पारिवारिक व्यक्तियों के, पार्श्ववर्ती पड़ोसियों के, समाज के मर्य्यादित शिष्ट—वृद्ध—मानवों के उत्पीडन का ही अन्यतम कारण प्रमाणित होता हुआ, अपने आश्रितवर्ग के लिए महाकालकालकराल ही प्रमाणित होता हुआ उन उपकारक पश्वादि

यह महाविश्व विनिर्म्मित होगया, इसे किसने धारण कर रक्खा है ?" । प्रश्न उपस्थित हुआ ऋक्संहिता में भुवनपुत्र अतएव 'भौवन' नाम से प्रसिद्ध महामहर्षि विश्वकर्म्मा * के द्वारा, एवं इस प्रश्न के मार्मिक उत्तर का विश्लेषण हुआ भगवान् तित्तिरि के द्वारा तैत्तिरीय ब्राह्मण में–'ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्' इत्य दि रूप से । कैसा परोक्ष प्रश्न, एवं कैसा आश्चर्य्योत्पादक परोक्ष ही समाधान, जिस के पारिभाषिक रहस्यार्थ के परिज्ञान के बिना प्रश्नोत्तर का यत्किञ्चित् भी तो समन्वयन हीं किया जा सकता । ब्रह्म ही वन, ब्रह्म ही वृक्ष, इससे काट–छाँट कर बना हुआ ब्रह्म ही विश्व, और ब्रह्म ही अपने इस सृष्ट रूप का सर्वाधार, एवं ऐसा यह समाधान हुआ मनोयोगपूर्वक तत्त्वज्ञ महामहर्षियों के द्वारा" कैसा है यह अद्भुत प्रश्न, और कैसा है यह अद्भुत समाधान 'स्मृत्त्वा स्मृत्त्वा रोमहर्ष प्रजायते' ।

(४५)—आलोचकों की आक्षेपपरम्परा—

वेदशास्त्र की इत्थभूता रहस्यार्थगभीरा पारिभाषिकी तत्त्वदृष्टि के स्पर्शलेश से भी वञ्चित वर्तमान युग के प्रत्यक्ष–भूतवादी–प्रतीच्यसरणिभक्त–अर्वाचीन–नव्य विद्वानों ने सम्भवतः इसीलिए अपने ये उद्गार प्रकट कर देने का अक्षम्य अपराध कर डाला है कि,–"जो तत्त्ववाद, जो मौलिकरहस्य–प्राकृतिक रहस्य भारतीय विद्वान् अपनी तत्त्वविज्ञानशून्या केवल प्रमाणभक्तिमूला भावुकता के कारण समझ न सके, उसे सर्वप्रथम तो इन्होंने 'अगम्य–अनिर्वचनीय–वाङ्मनसपथातीत' कह कर अपनी विद्वत्ता की रक्षा करली है । अथवा तो वैसे अज्ञात तत्त्ववादों के लिए केवल अपनी कल्पना के माध्यम से 'ब्रह्म' नामक एक वैसे अज्ञात नाममात्र की कल्पना कर डाली है, जिसे प्रमुख बनाकर ये विद्वम्मन्य आस्थाश्रद्धाशील अन्धभक्त भावुक भारतीयों की प्रतारणा किया करते हैं । जिस का समाधान इनकी समझ में न आया, वह अनिर्वचनीय, अगम्य, और वही 'ब्रह्म', जिस इसका अन्धसमतुलित काल्पनिक 'ब्रह्म' नाम मात्र के सम्मुख, इसकी अचिन्त्यता–अनिर्वचनीयता की घोषणा के सम्मुख आस्तिक भारतीय मानव अवनतशिरस्क बन जाने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है । किन्तु जो हमारे वैसे तत्त्वज्ञ

---

*–निगमशास्त्र में वसिष्ठ–अगस्त्य–भरद्वाज–दीर्घतमा–बृहस्पति–अङ्गिरा–भृगु–अत्रि–आदि–आदि जितने भी ऋषिनाम भ्रु तोपश्रु त हैं, वे सब वस्तुत मौलिक प्राणरूप तत्त्वों के ही नाम हैं । जिस जिस महामानव ने अपनी तपःपूता दिव्यदृष्टि से सर्वप्रथम जिस जिस ऋषिप्राण का साक्षात्कार किया, तत्कालीना सम्मानप्रदानपद्धति के अनुसार ब्रह्मपर्षदध्यक्षों के द्वारा तत्तदन्वेषक–आविष्कारक महामानवों को तत्तत् ऋषिनामों से ही व्यवहृत कर दिया गया, जो इन मानवों के 'यशोनाम' बनते हुए तद्वंशधरों में भी प्रचलित होगए । विश्वस्रष्टा विश्वकर्म्मा–भुवनाधिष्ठाता मौलिकतत्त्व का अन्वेषण करने वाले महापुरुष इसी आधार पर 'विश्वकर्म्मा भौवन' नाम से ही प्रसिद्ध हो गए । वे ही इस मन्त्र के मन्त्रद्रष्टा (तत्त्वसाक्षात् कर्त्ता) माने गए ।

विश्वमूल घोषित किया गया। इन दोनों दृष्टिकोणों का किस आधार पर, कैसे समन्वय किया जाय। यही नवीन जिज्ञासा है, जिस के समाधान के लिए हमें सिंहावलोकनदृष्टया आरम्भ में मन्त्रपञ्चक द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मवन को ही सिंहावलोकन दृष्टया लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

जब कुछ न था, तो क्या था ?, दूसरे शब्दों में वर्तमान में अपने चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्षदृष्ट स्थूल भौतिक–चर अचरप्रपञ्च, विज्ञानदृष्टि से दृष्ट–अवलोकित परोक्ष प्राणादिप्रपञ्च, आदि आदि कुछ भी जब न था, तो उस समय क्या था ?, प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् तित्तिरि ने समाधान उपस्थित किया कि—

* ब्रह्मवन ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।६।७

विश्वमूलजिज्ञासानुगत विचारविमर्शप्रसङ्गावसर पर एक बार ऋषिसंसत् (ब्रह्मपर्षत्–परिषत्) में प्रश्न उपस्थित यह हो पड़ा कि—

किं स्विद्वन क उ स वृक्ष आस ? यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु, तदध्यतिष्ठद् भुवननि धारयन्॥
ऋक्संहिता १०।८१।४।

'वह ऐसा कौनसा महावन (जंगल) था, उस महावन में ऐसा कौन सा महावृक्ष था, जिसे काट छाँट कर–(काट तराश कर–छील छालकर) यह इतना बड़ा सुविस्तृत त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप द्यावापृथिव्य विश्व बना डाला गया ?। हे मनीषी विद्वानो! आप लोग अपने मनसे भली भाँति निश्चित कर कृपया यह समाधान करने का अनुग्रह करें कि, जिस महावन के महावृक्ष से षड्भुवनात्मक त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप

---

* इन मन्त्रों की मीमांसा पूर्व में (१४० पृ०) की जा चुकी है। अतः ये ही दोनों मन्त्र यहाँ समुपस्थित हो रहे हैं। सम्भव है 'समयमहुमुत्पयावी' भावुक मानव इस पुनरुक्ति से हमारी अज्ञता का उपहास करे। उसकी इस अज्ञता का हम इसलिए हृदय से अभिनन्दन ही करेंगे कि, तात्त्विक विषयों के निरूपण से सम्बन्ध रखने वाली पुनरुक्तिपरम्परा व्याख्यानिष्ठा में उपादेया ही मानी गई है। 'एक ही सिद्धान्त, उसी का पुन पुन दृष्टिकोणभेद से निरूपण' यही सहज आपदृष्टिकोण है। यदि भावुक मानव सौभाग्य से कभी वेदग्रन्थस्वाध्याय में प्रवृत्त होगा, तो यह स्वयं इस दृष्टिकोण का यथावत् सत्त्व पदे-पदे साक्षात्कार कर लेगा। फिर हमतो एसे भावुक हैं इस जटिलतावाद के समन्वय करने के सम्बन्ध में कि, आगे आगे विषय–विषयों को लिपिबद्ध करते हुए पूर्व-पूर्व के मूल विषय विस्मृत करते जाते हैं। स्वान्त सुखमूला केवल अपनी स्वाध्यायनिष्ठानुगता अपनी तत्त्वसंस्मरणमूला भावुकताके संरक्षण के लिए ही हमें पुन पुनः उसी शास्त्रतत्त्व का संस्मरण करना पड़ता है।

"हे पूषादेवता ! आप हमें अनुग्रह कर उन परतत्त्वदर्शी (आत्मतत्त्वद्रष्टा) तत्त्ववेत्ता विद्वानों की शरण में ले चलिए (नय), जो हमें 'इदमित्थमेव, नान्यथा' रूप से सदा निर्णयात्मक निश्चयात्मक सन्देहरहित–वैज्ञानिक समाधान से ही सर्वथा ऋजुभाव से–सरल–सुबोधगम्य शैली से ही–समाहित–आत्मतुष्ट कर सकने की क्षमता रखते हैं", इस प्रकार की उदार घोषणा करने वाला आगमशास्त्र समाधान विदित न होने पर केवल काल्पनिक ब्रह्मादि–अनिर्वचनीयादि भावों के–शब्दों के–द्वारा हमारी प्रतारणा करता रहेगा, इस अनार्य–जघन्य–दृष्टिकोण के तो सम्मरणमात्र से भी हम महापातक का अनुभव कर रहे हैं। जो आप्तमहर्षि अविशेष तत्त्वों के सम्बन्ध में–'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' रूप से विस्पष्ट शब्दों में अपनी असमर्थता स्वीकार कर लेते हैं। जो दुर्विशेय तत्त्वों के सम्बन्ध में अचिकित्वाँश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्, इत्यादि रूप से अपनी अज्ञता स्वीकार करने में अणुमात्र भी संकोच नहीं करते, जो ऋजु पथानुवर्त्ती सहजप्रज्ञ महर्षि–'नाहं मन्ये सुवेदेति' कहते हुए अपनी ऋजुरुचि का स्पष्ट विश्लेषण करते हुए नहीं अघाते, उनके प्रति इस प्रकार की जघन्य कल्पना करते हुए कि–"उनके समझ में जो नहीं आया, किन्तु जिन्हें अपने पाण्डित्य की रक्षा करने का विमोहन था, उन्होंने परप्रतारणा के लिए ब्रह्म–अचिन्त्य–अनिर्वचनीयादि शब्दों की काल्पनिक सृष्टि कर डाली"–क्या सचमुच अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी नहीं बना रहे ! ।

(४७)—सहजपरिभाषाविलुप्ति—

बात कुछ ऐसी घटित हो गई है कि, निगमतत्त्ववाद से सम्बन्ध रखने वाली वे सहज परिभाषाएं आज हमारी आम्नायविद्या परम्परा के क्षेत्र से विस्मृत हो गई हैं, जिन परिभाषाओं के माध्यम के बिना हम अन्य प्रयत्नसहस्रों के आधार पर भी व्याकरणानुगत केवल धातु–प्रत्यय–प्रकृति–क्रिया–करण–कर्त्तादि के माध्यम से तात्त्विक समन्वय करने में नितान्त असमर्थ बने रह जाते हैं। गतानुगतिकभावापन्ना–पर–उच्छिष्ट ज्ञानलवानुगता–काल्पनिक युक्तिनिष्ठा के बल पर, अथवा तो केवल व्याकरण के बल पर वेदतत्वार्थ के मर्म्म का स्पर्श भी सम्भव नहीं बन सकता। स्वाध्यायपरम्परा के साथ साथ ही दुर्भाग्यवश आज हमारा यह पारम्परिक पारिभाषिक बोध भी विलुप्तप्राय बन चुका है। अतएव व्याकरण–न्याय–दर्शन–वेदान्त–धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र)–आदि आदि इतर शास्त्रों के मर्म्मस्पर्शी महामहान् शास्त्रपारङ्गतों–महामहोपाध्यायों–महामहोपदेशकों–महामहाशास्त्रार्थियों के लिए भी वेदार्थसमन्वय आज एक 'समस्या' ही प्रमाणित हो रहा है *। अपने इसी एकमात्र दोष से, इसी परिभाषा–ज्ञानविस्मृतिरूप महा अपराध से आज हमें सर्वथा बालभी अर्वाचीनों के द्वारा किए गए वेदशास्त्रसम्मत तत्त्ववादों के प्रति–आक्षेप–आलोचनाओं को नतमस्तक बन कर सहन करते रहना पड़ रहा है। जिस इस असह्य स्थिति से परित्राण का एकमात्र पथ पूषादेवता का तथोक्त अनुग्रह ही बन सकता है।

---

*—देखिए–'हमारी समस्या, और उसका समाधान' नामक स्वतन्त्र निबन्ध।

विज्ञानपथानुवर्त्ती-सत्य-स्थितिपरीक्षक मानव हैं, वे कभी ऐसी प्रतारणाओं को कुछ भी तो भावीमात्र का भी तो सम्मान प्रदान करने की इच्छा नहीं करते"। नेति हृ वाच।

(४६)—समाधानकर्त्ता पूषादेवता—

अशान्तपापम्। अशान्तपापम्॥ महती विडम्बना॥॥ बड़ी भ्रान्ति, महा अज्ञान, वेदार्थपरिभाषाज्ञान के अभाव से समुत्पन्न अभिनिवेशमूलक निरतिशय बुद्धिविभ्रम। वैदिकतत्त्ववाद के सम्बन्ध में पदे पदे "य एवेदमिति ब्रवत्" की निर्भ्रान्त घोषणा करने वाला वेदशास्त्र इस प्रकार परप्रतारणा के लिए प्रवृत्त होगा!, इस प्रकार की भावना के श्रवणमात्र से भी हम प्रायश्चित्त के भागी बन रहे हैं, जिसके लिए हमें यहाँ दो शब्दों में केवल अनन्य श्रद्धात्मिका श्रुति (श्रवण) मात्र से सम्भावित भी 'श्रद्धावर्न श्रद्धा स वृक्ष आस' की पारिभाषिकी तत्त्वदृष्टि की उपासना करनी पड़ रही है। जिस वेदशास्त्र की यह घोषणा है कि—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः', उसके सम्बन्ध में अपनी लिप्सापूर्वा मूढ-विज्ञानदृष्टि के माध्यम से प्रतारणा-धारणा की कल्पना करने वालों के लिए वेदमहर्षि को अवश्य ही 'असुर्य्या नाम ते ते लोका' से भी कहीं घोरघोरतम लोक की कल्पना करनी पड़ेगी, ऐसी हमारी केवल धारणा ही नहीं, अपितु दृढ़तम आत्मविश्वास है। हम अपनी सहज 'सर्वे सन्तु निरामयाः'—मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत' इस भारतीय भावना के माध्यम से पूषादेवता से इससे अधिक और क्या निवेदन कर सकते हैं कि,-'पुनर्नो नष्टमाजतु'। (हे पूषादेवता हमारे प्रज्ञापराध से हमने जिस तत्त्ववाद को, जिस मौलिक तत्त्वसम्पत् को विनष्ट-विस्मृत कर दिया है, आप ही अनुग्रह कर पुनः उस व्यक्त करने का अनुग्रह करें, जिसके आधार पर हम अपनी विलुप्तप्राय-पारिभाषिकज्ञानसमन्विता उस तत्त्वदृष्टि को पुनः अर्जित-समार्जित करने की क्षमता प्राप्त कर सकें, जिसके प्राप्त हो जाने के अनन्तर कुछ भी तो-अज्ञात-सशयास्पद नहीं बना रह जाता। 'शान्तिस्तुभ्य पूषादेवता'।

> सम्पूषन् ! विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति। य एवेदमिति ब्रवत् ॥१॥
> समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति। इम एवेति च ॥२॥
> पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽवपद्यते। न अस्य व्यथते पविः ॥३॥
> माकिर्नेशन् माकीं रिषन् माकीं संशारि केवटे। अथारिष्टाभिरा गहि ॥४॥
> परिपूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु ॥५॥
>
> —ऋक्सं० ६ मं० ५४ सू०।

हे पार्थिव पूषादेवता! आप अनुग्रह कर हमें वैसे तत्त्वज्ञविद्वान् के समीप ले चलिए, जो सर्वथा सहजभाव (अञ्जसा) से तत्त्वों का अनुशासन (स्वरूपविश्लेषण) किया करता है (करने की क्षमता रखता है), एवं जो-'इदमित्थमेव नान्यथा'-यह ऐसा ही है, इस प्रकार सन्देहरहित घोषणा करता है।

नुगत-मायाबलनिबन्धन असख्य ही सीमाभाव आविर्भूत होते रहते हैं, एवं एक निश्चित अवधि के अनन्तर 'संयोगा विप्रयोगान्ता' न्याय से उसी परात्परसमुद्र में इन सीमाभावों का उसी प्रकार तिरोभाव-विलयन भी होता रहता है, जैसे कि अनन्ताधार पर प्रतिष्ठित अनन्त पार्थिव धरातल पर ऋतुकालानुबन्ध से अनन्त असख्य उत्पन्न होते रहते हैं, एवं कालपरिपाकान्त में उसी अनन्त धरातल मे विलीन भी होते रहते हैं। किंवा जैसे अनन्त समुद्राधार पर तरङ्गे आविर्भूत तिरोभूत होती रहती हैं। मायाबलोदय के कारण परात्परब्रह्मधरातल पर उदीयमान मायामय सीमित अनन्त भाव ही उस परात्पर-वनब्रह्म में समाविष्ट 'वृक्षब्रह्म' हैं, जिसे विज्ञानभाषा में 'पुरुषब्रह्म' कहा गया है। अनन्त परात्परब्रह्मरूप महावन में मायामय (मायाबलसीमित) अनन्तपुरुष रूप अनन्त ही महावृक्ष समाविष्ट हैं, जिन अनन्त वृक्षों को एक विशेष रहस्य के आधार पर 'अश्वत्थवृक्ष' नाम से व्यवहृत किया गया है। विश्वमहिम्ना इस आनन्त्य के दर्शन कर हम अपना जीवन इस प्रकार धन्य-कृतकृत्य बना सकते हैं।

(४९)—योगमायासमावृत आत्मा—

रसघनविशिष्टरसैकघन लक्षण-अतएव अलक्षण स्वयं परात्परब्रह्म आत्यन्तिकरूप से-अत्यन्तनिविड रूप से सर्वात्मना अनन्त, अतएव दिग्देशकालानवच्छिन्न, अतएव वाङ्मनसपथातीत-अतएव च अचिन्त्य-अमूर्तमय-अनिर्वचनीय-अविज्ञेय। इस अनन्त परात्पर के अमुकामुक असंख्य-अनन्त-प्रदेश असख्य-अनन्त मायाबलों के उदय से (बलदृष्ट्या ही, न तु रसदृष्ट्या) सीमित बनते हुए, इन माया पुरों से सीमित-वेष्टित के कारण 'पुरि-शते' निर्वचनानुसार 'पुरुष' अभिधा से समलङ्कृत बनते हुए 'वृक्ष' रूप में परिणत हो गए। कितने वृक्ष ?। नेति होवाचाम भावुक। असख्य मायाबलों की गणना करने में कौन मायागर्भित मानव अद्यावधि समर्थ हुआ है ?। यदि मायाबल-असख्य-अनन्त हैं, तो मायिक वृक्षात्मक पुरुषब्रह्म भी असंख्य-अनन्त ही मानें जायँगे। इन असख्य-अनन्त पुरुषब्रह्मों में से केवल एक मायानुगत एक पुरुषब्रह्म को ही अपना लक्ष्य बनाइए, जिसे शास्त्रों ने 'दुर्विज्ञेय' माना है। महामायाबलान्वित इस एक पुरुषब्रह्म की स्वयं की अवयवरूपा असंख्य-अनन्त मायापञ्चा योगमाया-परम्परा के आनन्त्य से सम्बन्ध रखने वाली अनन्त विभूति को ज्ञानगम्या बनाने का प्रयास कीजिए, जो पुरुषविभूति-'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' रूप से अस्मदादि भावुकों के लिए तो अचिन्त्या ही बनी रहती है।

(५०)—हृदयबलाविर्भाव—

महामाया एक वैसा महाबल है, जिसने परात्परब्रह्म के अमुक प्रदेश को सीमित बना कर सद्रूप परात्पर को (परात्पर के मायावच्छिन्न तद्प्रदेशमात्र को) 'पुरुष' अभिधा से संयुक्त कर दिया है। महामायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही महामायावच्छिन्न रसबलात्मक मायिक पुरुषब्रह्म में (तदनुगता

ऋग्वेदश्रुति ने प्रश्न किया, तैत्तिरीयश्रुति ने समाधान किया। जहाँ असङ्ख्य–अनन्त छोटे-बड़े वृक्ष समाविष्ट रहते हैं, उसे ही वन (अरण्य-जङ्गल) कहा जाता है। आइए! सर्वप्रथम इस अनन्त वृक्षसमाकुलित गहन–गम्भीर–ब्रह्मवन में ही आपका प्रवेश कराया जाय। बतलाया गया है कि, सृष्टि के मौलिक तत्त्व, किंवा मूलकारण 'आभू–अभ्व' नाम से प्रसिद्ध हैं, जो क्रमशः–'रस–बल' नामों से भी प्रसिद्ध हुए हैं। नित्य–शान्त–व्यापक तत्त्व 'आभू' है, यही 'रससमुद्र' है। सर्वथा अशान्त व्याप्य तत्त्व 'अभ्व' है, यही 'बलोर्म्मि' है। जो स्थिति, जो जैसा स्वरूप उच्चावचभावापन्न तरङ्गसमाकुलित एक आपूर्य्यमाण, अतएव अचलप्रतिष्ठ अनन्त समुद्र का है, लोकदृष्ट्या, उदाहरण के लिए यही ज्ञानमात्रमाध्यम से ठीक यही स्वरूप थोड़े समय के लिए उस रस–बलतत्त्वसमष्टिरूप 'ब्रह्मवन' का समझ लीजिए।

(४८)—मायाबलस्वरूपपरिचय—

रसतत्त्व शान्तसमुद्र से समतुलित है, तो बलतत्त्व अशान्त ऊर्म्मियों (लहरों–तरङ्गों) से समतुलित है। एक 'नित्यशान्त' है, तो दूसरा 'नित्यअशान्त' है। नित्यअशान्तिगर्भित–नित्यशान्तिस्वरूप सर्वबलविशिष्ट रसैकघन उस महा अनन्त समुद्र को ही वैज्ञानिकों ने 'परात्परब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है, जिसे मनु ने मनुस्वरूपप्रतिपादक वचन में 'शाश्वतब्रह्म' नाम से, एवं गीता ने–'शाश्वतधर्म्म' नाम से लक्ष्य बनाया है। रससमुद्रात्मक इस परात्परब्रह्म के असीम धरातल पर अनन्त–असंख्य–रूप से समाविष्ट सञ्चित प्रतिक्षण परिवर्तनशील–अतएव सामुद्रतरङ्गसमतुलित बलतत्त्वों में से एक विशेष प्रकार का सर्वबलप्रधान–सर्वबलाधारभूत बलविशेष ही 'मायाबल' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका तात्त्विक स्वरूप सृष्टिसर्गव्याख्या के नैगमिक दृष्टिकोण की उपेक्षा करदेने वाले वर्त्तमान दार्शनिकों ने केवल 'मायावाद' कहकर उसके वास्तविक तत्त्वबोध से अपने आप को पराङ्मुख बनाते हुए भारतीय श्रद्धालु प्रजा को महाव्यामोह का अनुगामी बना डाला है।

अनन्तरससमुद्राधारेण प्रतिष्ठित अनन्तबलाधारभूत 'मायाबल' का एकमात्र कार्य्य है अपने अभिव्यक्त भावापन्न रसप्रदेश को (परात्पर प्रदेश को ०) सीमित कर देना, अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बना देना, अमित को मितभाव प्रदान कर देना, व्यापक को व्याप्यभावानुगामी बना देना। अपनी सहज 'क्षोभवृत्ति' के कारण यह सीमाभावप्रवर्त्तक मायाबल भी असङ्ख्य है। अनन्त–निःसीम–व्यापक–परात्परब्रह्म के निःसीम धरातल पर जलबुद्बुद्वत् आविर्भूत–तिरोभूत–होते रहने वाले इन असङ्ख्य मायाबलों से तत्तत्परात्परप्रदेश

---

० दिक्–देश–काल–भावानुगत ये सम्पूर्ण सीमाभाव सम्वत्सरब्रह्मानुगत (–सौर–चान्द्र–पार्थिव सम्वत्सरानुगत) सृष्टिसर्गों से ही सम्बद्ध हैं। वस्तुगत्या यहाँ इन सब दिग्–देशादि भावों का समावेश सर्वथा निषिद्ध है।

(५२)—दुरधिगम्या प्रश्नावली—

आस्तिकों में एक प्रवाद सुना गया है कि, सृष्टि का मूल क्या है ?, प्रश्न ही दुरधिगम्य है। यह सब तो भगवान् की माया है। इसे कौन जान सकता है, इत्यादि। अपनी भावुकतापूर्णा आस्तिकता के अनुग्रह से हम भी भगवान् की इस माया के भरोसे ही इस उत्तरदायित्त्व को छोड़ते हुए थोड़ी देर के लिए–'योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सोऽङ्ग, वेद यदि वा न वेद, इस अन्यघोषणा पर विश्राम कर लेते हैं। साथ ही वर्त्तमान दृष्टिकोण की मान्यता का समादर करते हुए हम भी नितान्त भावुकतापूर्ण–लोकवत्त्वलीलाकैवल्यम्' (व्याससूत्र) रूप से ऊर्ध्वग्रोव बन कर उच्चस्वर से इसी घोषणा के गतानुगतिक बन जाते हैं कि–"ना, बाबा ना। यह तो सब भगवान् की लीला है। इसे कौन जान सका है"। *अथवा तो हम भी आदिदेवोपासक भक्तराज पुष्पदन्त की उसी श्रद्धापूर्णा घोषणा के अनुगामी बन जाते हैं*, जिसका आविर्भाव हो पड़ा है सम्भवतः श्रुति के–'किं स्विद्वन' क उ स वृक्ष आस० –किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्–कथासीत्०' इत्यादि वचनों के आधार पर इस रूप से कि—'किमीहः किंकाय –स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्। कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगत'। इत्यादि इत्यादि सभी घोषणाओं को हम श्रद्धापूर्वक मान्यता प्रदान कर रहे हैं उस औपासनिक दृष्टिकोण के माध्यम से, जहाँ सचमुच भगवान् की लीला ही अनन्य अशरण-शरण है। एवं मनोऽनुगता भावुकता, भावुकतानुगता मानस अनुभूति ही जहाँ सब कुछ संसाधन कर लेने में तुष्टि का अनुभव कर लेती है, भले ही यहाँ 'वेदन'लक्षणा तृप्ति का प्रवेश, वास्तविक सत्तासिद्ध बुद्ध्यनुगत पूर्णता का प्रवेश आत्यन्तिकरूप से अवरुद्ध ही क्यों न हो।

लक्ष्य है प्रक्रान्तस्थल में यह विज्ञानकाण्ड, जहाँ केवल श्रद्धा—भक्ति—उपासना—लीला घोषणा—आदि शब्दमात्र सहायक नहीं हो सकते। अवश्य ही इस नित्यकार्यकारणानुबन्ध से हमें निश्चयेन कारणतावाद के समन्वय का अन्वेषण करना ही पड़ेगा। और उस दशा में–'ये सब कुतर्क हैं, अनतिप्रश्न हैं,' इत्यादि *भावावेशपूर्वक हम इन प्रश्नों के साथ कदापि गजनिमीलिका न कर सकेंगे, नहीं करनी चाहिए, नहीं* की है विज्ञानपाथोदतलावगाहननिष्णात परमवैज्ञानिक महामहर्षियों ने।

(५३)—लोकवत्त्वलीलाकैवल्यम्—

इसीलिए तो पुनः हमें यह कहना पड़ रहा है कि, केवल 'लीला' कह कर इस लीला का योंही स्वरूप नहीं कर सकता है। अपितु स्वयं को इस भगवल्लीलादेश में महर्षियों की विज्ञानदृष्टि की उपासना के माध्यम से प्रविष्ट कराना है। तदनुप्रवेश कारणान्वेषण में प्रवृत्त होना है। यदि यह लीला कोरी *लीला ही होती, तो कभी*–'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि०'–सोऽकामयत'–'तदैक्षत'–'एकोऽहं बहुस्याम्'–इत्यादि कारणतामूला घोषणायें अभिव्यक्त ही न होतीं। हुई हैं, विस्तार से हुई हैं। अतएव कारणतावाद उपेक्षणीय नहीं है। जिसे अपने भावावेश में आकर उपेक्षित करते हुए दुर्भाग्यवश हमने स्वयं को सब ओर से उपेक्षित-तिरस्कृत—दीन—हीन—दासानुदास प्रमाणित कर लिया है। पुनः हमें कहना ही पड़ेगा

मायासीमा–मायामयबल–मायापुर–के गर्भ में) 'हृदि अयं हृदयम्' के अनुसार एक दूसरे प्रसुप्त 'हृदयबल' नामक महाबल का आविर्भाव हो पड़ा। निःसीम–असीम–व्यापक में केन्द्रभाव नहीं हुआ करता, किंवा वह सम्पूर्ण–सर्वस्वरूप से ही केन्द्ररूप ही है। वह अपने कण–कण से केन्द्रमूर्ति है, अतएव उस असीम का कोई नियत केन्द्र बिन्दु मानना असङ्गत बन जाता है। अथवा यों कह लीजिए कि निःसीम तत्त्व की प्रतिबिन्दु–बिन्दु ही केन्द्रात्मिका बनी रहती है, जिस ऐसे केवल केन्द्रभाव का सखण्डिलक्षणा सृष्टि से कोई सम्पर्क नहीं रहता। महामायोदय से तदवच्छिन्न प्रदेश सीमित बना, इस सीमाभाव के उदित होते ही मायावेष्टित रसबलात्मक परात्पर (जिसे अब हम मायापुरसम्बन्ध से परात्पर न कह कर 'पुरुष' ही कहेंगे) स्वरूप सीमित पुर के हृदय में (केन्द्र में) हृदय (हृदयबल–हृच्छक्तिरूप विशेषबल) अभिर्भूत हो गया, किंवा सर्वकेन्द्रता का स्थान इस पुरुषात्मक परात्पर में नियमित–एक केन्द्रभाव ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार अब पुरुषब्रह्म में 'परिधिकेन्द्र' इन दो सापेक्ष भावों का आविर्भाव स्वत सिद्ध बन गया। परिधिमयबल बना 'शरीर' एवं केन्द्र भाव बना 'आत्मा'। केन्द्रावच्छिन्न रसबलात्मक यह पुरुषात्मा ही 'सुप्रसिद्ध यह 'श्वोवसीयस्' नामक 'अव्ययात्मन' कहलाया, जिसका यशोगान आरम्भ से उपक्रान्त है। परिधि, तथा केन्द्रभावापन्न मनोमय यही मायिक पुरुष (महामायावच्छिन्न परात्पर) 'अव्ययपुरुष' कहलाया, जिसकी कोशात्मिका पञ्चकलाओं का अनुपद में ही स्वरूपदिग्दर्शन कराया जाने वाला है।

(५१)—कामना का मूल—

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही तो कामना, किंवा इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ करता है। महावनात्मक परात्परब्रह्म अनन्त है, व्यापक है। उसके लिए उसकी अनन्तता के कारण, व्यापकता के कारण कुछ भी तो अप्राप्त नहीं है, अतएव उसे 'अप्राप्तवस्तुप्रधानुगता कामना'लक्षणा कामना से सर्वथा असस्पृष्ट ही घोषित किया जायगा। वह अपने अहृदय, किंवा सर्वहृदयमान से मनोभाव से पृथक् है, अतएव मनोऽनुगत कामभाव से परात्परवत। इधर मायोपाधिक, अतएव नियमित (एक) हृदयभावानुगत, अतएव मनोमय बन हुए पुरुषब्रह्म म भाव अपनी उस सहज अनन्तता का व्याघात उपस्थित हो पड़ा है, उस सहज स्वानुगत (रसानुगत) भूमाभाव से यह पुरुष मायापुर के सीमाबन्धन के कारण पराङ्मुख-सा प्रमाणित हो चला है जो अनन्तता इसका स्वरूपधर्म है। अपने इसी सहज अनन्त व्यापकत्वानुगत भूमालक्षण भूमाभाव में पुनः परिणत होने की कामना का आविर्भाव इसका सहज धर्म बन जाता है। यही नैसर्गिकी पुरुष कामना 'आत्मकामना' कहलाई है जिसका श्रुति ने अपनी भाषा में–'सोऽकामयत, बहु स्याम्' इत्यादि शब्दों में अभिनय किया है। यही इस पुरुष का मनोमय यह कामात्मक–प्रथम 'रेत' (परिणाम–सृष्टिबीज) है, जिसकी 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि 'मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' रूप से सूत्र में आरोपपूर्वक उपवर्णन हुआ है, जिसे आधार मान कर हमें यहाँ कुछ थोड़ा और भी कुछ समझ लेना है।

समाधान होता है प्रश्न का। प्रश्न होता है कल्पित कारणतावादपरम्परा में। जो स्वत एव अपने सहज भाव से अपनी मूलकारणता के विश्लेषण के साथ-साथ सर्वथा सहजभाव से ही मायाबलोदय की कारणभूता प्रेरणा के कारण का भी स्वरूप विश्लेषण कर रहा है, वहाँ अपनी ओर से कारणता के कृत्रिम प्रश्न का उत्थान करना, और पुन उसके समन्वय के लिए व्यग्र बन कर इतस्तत कारणपरम्परा के अन्वेषण के लिए आकुल-व्याकुल बना बन जाना, एवं इसमें अन्ततोगत्वा असमर्थ बन कर स्वयं ही उस सर्वथा-ज्ञात-नित्यसिद्ध सहज कारणता को अज्ञात कह कर उसे अचिन्त्य अप्रतर्क्य अवक्य मानने-मनवाने की शून्य घोषणा कर बैठना अवश्य ही हमारी दृष्टि में वैसा कारण है, जिसे हम अवश्य ही अचिन्त्य कह सकते हैं। इसीलिए उपासनाकाण्डानुगता पुष्पदन्तादि की घोषणा हमारी दृष्टि में तो सर्वथा चिन्त्य (मीमांस्य-उपेक्षणीय) ही मानी जायगी। अब प्रश्न रह जाता है-'सोऽङ्ग वेद, यदि वा न वेद' इस घोषणा का, जिसकी उपेक्षा करना असम्भव है। अत तत्सम्बन्ध में ही अपनी भावुकता अभिव्यक्त कर देना अनिवार्यरूप से शेष बना रह जाता है।

(५५)-सामयिक समाधानोपक्रम—

उक्त शेष प्रश्न का समाधान यद्यपि पूर्व के (१४१ पृ०, तथा १५२ पृ० के) परिच्छेदों में किया जा चुका है। तथापि यहाँ भी एक विशेष दृष्टिकोण से उसी समाधान का सिंहावलोकन कर लिया जाता है। जो नैष्ठिक विद्वान्-निगमशास्त्र के-'ब्रह्मणो वा विजये महीमघ्यम्'-'एतावानस्य महिमा-अतो ज्यायांश्च पूरुषः'-'अपि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित'-'महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे' इत्यादि महिमा सिद्धान्तों के अन्तस्तल का स्पर्श कर चुके हैं, वे ब्रह्म की विश्वसर्गमूलानुगता 'महिमा' के तात्त्विक स्वरूपसमन्वय के आधार पर सभी कारणपरम्पराओं का सर्वात्मना सुसमन्वय करने में समर्थ हैं। इसी महिमासिद्धान्त के आधार पर वेदान्तनिष्ठा का 'अविकृतपरिणामवादात्मक वह विवर्त भाव' आविर्भूत हुआ है, जो महिमानुगता नैगमिक सापेक्षव्याख्या से पराङ्मुख बनता हुआ यद्यपि सर्वात्मना मूलकारणतावाद का सहजसमन्वय करने में प्राय असमर्थ ही रहा है। अतएव भावुक भक्तसमाज की भाँति यद्यपि उसने भी दुर्भाग्य से गतानुगतिकता का आश्रय लेते हुए सर्वथा भावुकतापूर्ण आवेश में-'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' यह लीलाघोषणा करते हुए ही कारणतावाद की सहजरहस्यात्मकनिष्पत्ति का लीलासंवरण ही कर दिया है। तथापि भक्तिकाण्ड की भगवल्लीला की अपेक्षा वेदान्तनिष्ठा की लोकवत्लीला महिमभाव के स्वाजितरूप विवर्तवाद, किंवा अविकृतपरिणामवाद के कारण महिमभाव से प्रायशः समन्वित रहती हुई समाधानाभास, किंवा सामान्य समाधान बनती हुई भावुक तात्त्विक-दर्शनभक्त भावुक की तुष्टि का कारण प्रमाणित हो सकती है, जैसा कि उत्तरखण्ड की दार्शनिक मानव मीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है। यहाँ हम इस सहज कारणतावाद की मीमांसा विस्तार से करने वाले हैं। अतएव यहाँ सन्दर्भसङ्गति की अपेक्षा से केवल इसी सामयिक समाधान पर हमें विश्रान्त हो जाना पड़ेगा कि—

कि, अभी बात कुछ और भी समझना शेष रह गया है। यदि कारणतावाद की ऐसी प्रबल–उन्मत्त घोषणा है–तो फिर–'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद०' का समन्वय कैसे और किस आधार पर ?। यही वह 'शेष' है, जिसे 'शेषप्रश्न' ही बना रहने दिया जाता, तो श्रेयःपन्था था। किन्तु जब आग्रह है तो इसका समन्वय भी प्रासङ्गिक बन ही जाता है।

(५४)–महाप्रश्नजिज्ञासा—

सभी कारणपरम्पराओं का सहजरूप से समन्वय सम्भव बनाया जा सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में समुपस्थित इस एक महाकारण का समन्वय सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परब्रह्म जबकि असीम है, अतएव सर्वप्राप्त–सर्वाप्त, अतएव च निष्काम है, तो उसमें सर्वप्रथम सुप्त मायाबल को किसने उदित किया ?। "मायाबलोदय हो गया, इससे असीमप्रदेश सीमितप्रदेश बन गया। इस सीमाभाव के कारण हृदयबल उत्पन्न हो गया। तदवच्छिन्न रसबलात्मक पुरुष मनोमय बनता हुआ कामना का भी सर्जक बन गया। एवं मनोरेतोभूत कामरूप शुक्र से संसार का निर्म्माण भी हो गया"–यहाँ तक तो फिर भी कारणतावाद यथाकथञ्चित् बुद्धिगम्य बनाया जा सकता है, बन सकता है। किन्तु बिना कामना के कोई भी व्यापार सम्भव नहीं, बिना मन के कामना सम्भव नहीं, बिना हृदय के हृत्प्रतिष्ठ मन की सम्भावना नहीं। बिना सीमाभाव के हृदय का आविर्भाव सम्भव नहीं। बिना माया बलोदय के सीमाभाव सम्भव नहीं। बिना प्रेरणा के मायाबलोदय के सीमाभाव सम्भव नहीं। बिना प्रेरणा के मायाबलोदय सम्भव नहीं। एवं इच्छा किंवा कामना के प्रेरणारूपा क्रिया सम्भव नहीं, क्योंकि– 'अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित, यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इत्यादि क्रियासिद्धान्त से सभी सुपरिचित हैं। कामना हो, तब प्रेरणा हो। प्रेरणा हो तब मायो-दय हो। तदनन्तर सीमा हृदय–मन का प्रादुर्भाव हो। तदनन्तर कामना का उदय सम्भव बने। ऐसी स्थिति में प्राथमिक मायोदय की कारणता का समन्वय कैसे सम्भव बनाया जाय, जबकि–तत्सम्बन्धी सभी कारणतावाद 'अन्योऽन्याश्रयाणि कार्य्याणि न प्रकल्पन्ते' न्यायानुसार असम्भव ही सम्भावित बन रहे हैं। इस महा भ्रमात्मक महाकारण का इससे अतिरिक्त और कोई समाधान सम्भव बन ही नहीं सकता कि,–"ऐसे कारण की जिज्ञासा करना सर्वथा निष्कारण है, निर्मूल है, कुतर्क है। मानव तो क्या, स्वयं उस कारणाधिष्ठान जगदीश्वर को भी इस मूलकारणता का रहस्य विदित है, अथवा नहीं !, सन्देह है। सम्भवतः मूलकारण की इसी असमर्थता के आधार पर ही ऋषि ने कहा होगा कि–'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्–सोऽङ्ग वद यदि वा न वद'। फिर पुष्पदन्त ने जो इस सम्बन्ध में–'कुतर्कोऽयं कांश्चित् मुखरयति मोहाय जगत' घोषणा की, उसे केवल उपासनाश्रयः की घोषणा कहने-मात्र से विज्ञानवादी इस भावुक ने ही कौनसा पुरुषार्थ-साधन कर लिया ?। कर सकेगा भावुक इस प्रश्न का समाधान ?।

नहीं। सर्वथा नहीं। इसलिए 'नहीं, नहीं' कि, इस प्रश्न का हमारी भावुकता के क्षेत्र में समाधान नहीं है। अपितु इसलिए 'नहीं कि, इस प्रश्न की कारणता का प्रश्न ही नहीं बन रहा।

आरम्भ कब हुआ ?, किसने किया ?, कब तक रहेगी ?, इत्यादि रूप से कृत्रिम प्रश्नपरम्पराओं के आधार पर इनके कार्य्यकारणात्मक कृत्रिम समाधानों को ही अपना सबसे बड़ा पुरुषार्थ घोषित करते रहते हैं।

(५८)—कृत्रिम कार्य्यकारणवाद—

कृत्रिम-कार्य्यकारणवाद केवल प्रत्यक्षदृष्टि का ही उत्तेजक बना करता है। शाश्वत विश्वसर्ग के सम्बन्ध में तो स्वाभाविक वह सहज कार्य्यकारण ही आधार बना रहता है, जिसके ज्ञान क्रिया अर्थरूप शक्तिभाव सहजरूप से बिना क्यों ? कैसे ? के सुसमन्वित हैं। सहजकार्य्यकारणभावों से अनुप्राणित सहजसृष्टि के मूलस्वरूप की उपासना-अनुशीलन ही भारतीय आपमहर्षियों की दृष्टि में प्रधान लक्ष्य रहा है। इस मूलतत्त्वान्वेषण-अनुशीलन से ही सभी कार्य्यकारणरहस्य सहजरूप से सर्गस्वरूपानुपात से सुसमन्वित होते रहते हैं। कृत्रिम कार्य्यकारणवाद उस स्वाभाविक सहजकार्य्यकारणवाद के समतुलन में कोई महत्त्व नहीं रखता, इसी दृष्टिकोण का अपनी सहजभाषा में स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि ने कहा है—

> न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाप्यधिकश्च श्रूयते।
> पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल क्रिया च ॥

इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, सृष्टि के सम्बन्ध में यहाँ कार्य्यकारणभाव की मीमांसा हुई ही नहीं है। हुई है, विस्तार से हुई है, महता समारम्भ से हुई है। इसी आधार पर कालगणनात्मिका वह युग सम्मम्यवस्था व्यवस्थित हुई है, जिसके नैगमिक-आगमिक (पौराणिक) मौलिक-रहस्यज्ञान से परिचित न होने के कारण कितने एक भारतीय विद्वानों को भी व्यामोह हो गया है, जिसके फलस्वरूप उस अनन्त कालगणना के सम्बन्ध में उनके मुख से भी ये श्रद्धा-आस्थाशून्य भावुकतापूर्ण उद्गार विनिःसृत हो पड़े हैं कि—"एतत् सर्वं पुराणमितं बोध्यम्"(भास्कराचार्य्य)। मानों इनकी दृष्टि में पौराणिक कालगणना केवल आलङ्कारिक वर्णन ही हो, जैसाकि पारिभाषिक ज्ञान से वञ्चित अन्य अभारतीय पुराणशास्त्र के सम्बन्ध में इस प्रकार की शून्यकल्पनाओं के द्वारा अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बनाते रहते हैं।

(५९)—सृष्टिसर्गमीमांसा—

युगानुगता कालगणना का सृष्टि के साथ सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु उस सृष्टि के साथ, जिसका सौरसम्वत्सरस्वरूपात्मक 'पुराणाकाश' से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। पुराणाकाश के सम्बन्ध से ही 'पुराण' नाम से प्रसिद्ध यह आप्यसर्वस्वशास्त्र सौरसर्ग, तद्गर्भीभूत पार्थिवसर्ग, एवं तद्गर्भीभूत चान्द्र सर्ग, इन त्रिविध देवमानवसर्ग-भौतिक अचेतनसर्ग-चतुर्दशविध चान्द्र चेतनसर्ग, इन तीन सर्गों को ही मुख्यरूप से अपना प्रतिपाद्य विषय बनाता है। देव, और मानव, दोनों का कालापेक्षया सौरसम्वत्सर चक्र से सम्बन्ध है, जिसे हम 'मनःसर्ग-आत्मसर्ग'-भी कह सकते हैं कि जिसका—"पितृभ्यो देवमानवाः" (मनुस्मृति ३।२०१) से समर्थन हुआ है, जो कि वेदान्तदर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है।

(५६)—ब्रह्म की सहज महिमा

नित्य शान्त रससमुद्र में तरङ्गरूप से प्रतिष्ठित नित्य अशान्त क्षणिक बलतत्त्वकी सहज महिमा है—सदा सहज रूप से 'अव्यक्त–व्यक्त–अव्यक्त–पुन –व्यक्त–पुन –अव्यक्त' इस शाश्वत धाराक्रम में प्रवाहित बने रहना, जिस के लिए न किसी सीमाभाव की अपेक्षा है, न हृदयबल अपेक्षित है, नापि मनस्तन्त्र अपेक्षित है, नापि या कामना अपेक्षिता है। सभी कुछ अपेक्षित है, जो कुछ सर्गात्मक व्यक्तरूप के लिए अपेक्षित होना चाहिए। कुछ भी अपेक्षित नहीं है, जो कुछ लयात्मक अव्यक्तरूप के लिए अपेक्षित नहीं होता। दूसरे शब्दों में कुछ भी अपेक्षित नहीं है सहज व्यक्त रूप के लिए, एवं सब कुछ अपेक्षित है सहजरूप से व्यक्त होने के लिए। अव्यक्त को व्यक्तरूप में परिणत होने के लिए सभी कारण अपेक्षित हैं, एवं व्यक्त को अव्यक्तरूप में परिणत होने के लिए कोई कारण अपेक्षित नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि, व्यक्त के अव्यक्त रूप में परिणत होने के लिए सभी कारण अपेक्षित हैं, एवं अव्यक्त के व्यक्त रूप में परिणत होने के लिए कोई कारण अपेक्षित नहीं। अथवा तो यह भी कहा जा सकता है कि—अव्यक्त व्यक्तरूप में परिणत होता है कारणसमुदाय को मूल बना कर, एवं व्यक्त के अव्यक्तरूप में परिणत होता है सभी कारणों को मूल बना कर। इसी विलक्षणता के कारण ही तो यह तत्त्व दुरधिगम्य बना हुआ है। इसी दुरधिगम्य दृष्टिकोण के कारण ही तो वेदान्तनिष्ठा का विवर्त्तवाद आज भावुक मानव की कृत्रिम–स्खलितप्रज्ञा के लिए एक जटिल समस्या प्रमाणित हो रहा है।

(५७)—भ्रान्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण—

स्थिति वास्तव में यह है कि, शत-शत शताब्दियों के प्रज्ञास्खलनाभ्यास के निग्रहानुग्रह से नितान्त भावुक बना हुआ मानव सहजभाव को सर्वात्मना विस्मृत कर उस कृत्रिमता पर आरूढ़ बन गया है, जिसका मूलाधार बन जाती हैं—'क्यों–कैसे–कहाँ–कब–किन्तु–परन्तु–यद्यपि–तथापि–' आदि भावुकतापूर्ण प्ररोचनाएँ। इसी भावुकता के आधार पर उस भावुकतापूर्ण ऐतिहासिक दृष्टिकोण का आविर्भाव हो पड़ा है, जिसमें तत्त्वभावचर्चा तो है सर्वात्मना असस्पृष्ट, एवं निरर्थक एवंविध चर्चाओं का है आग्रहपूर्वक समावेश कि, "अमुक कब उत्पन्न हुआ ?, अमुक के समय में सामाजिक–पारिवारिक–नैतिक–अवस्था कैसी थी ?, उस युग में लिपि का प्रचलन था, अथवा नहीं ?, वेशभूषा कैसी थी ?, भाषा का क्या स्वरूप था ?, आवास–निवास–अशन–पान–गमन–आगमनादि कथंभूत थे ?, इत्यादि। मानव के सहज जीवन में क्या अतिशय उत्पन्न हो सकता है इत्यादि भावप्रश्नों से ?, कौनसी तत्त्वचर्चा गतार्थ बन जाती है आमुष्मिक–निःश्रेयसिता कथञ्च मन शरीरभावप्रधाना इस भावुकता से–भावुकतापूर्ण भावचर्चा से ?, प्रश्न का समाधान तो उन इतिहासान्वेषकों से ही कराना चाहिए। जिस प्रकार मानवेतिहास के सम्बन्ध में निरर्थक दृष्टिकोणपरम्पराओं का समावेश हो रहा है, एवमेव सृष्टिविज्ञान में भी यही दृष्टिकोण समाविष्ट है। ब्रह्म के महिमालक्षण विवर्त्तवाद के स्वरूपबोध से असस्पृष्ट ये ऐतिहासिक अपनी दिग्–देश–कालानुगता भूतदृष्टि के माध्यम से सहजसिद्ध सृष्टि–सर्ग के सम्बन्ध में भी 'सृष्टि का

मीमांसा एवं तदनुगता इतिहासमीमांसा सर्वात्मनैव अभिभूत हो जाती है, जो कि वेदान्तनिष्ठा का सुप्रसिद्ध दिग् देशकालानवच्छिन्न अविकृतपरिणामवादात्मक विवर्त्तवाद माना गया है। तदित्थं—कार्य्यकारणात्मिका हेतुवादसम्मता ऐतिहासिकदृष्टिकोण-निबन्धना मीमांसा का एकमात्र लक्ष्य शेष रह जाता है, त्रिविध सर्गों में से सर्वान्त का केवल पार्थिव सर्ग—लोष्ठ—पाषाणादि भूतसर्ग। इनका इतिहास अवश्य ही क्यों, !, कैसे !, कब !, कहाँ !, कबतक !, इत्यादि ऐतिहासिक प्रश्नपरम्पराओं का विषय बन सकता है, बनना चाहिए, इसीलिए बना भी है। किन्तु !।

(६१)—सम्वत्सरचक्र की असमर्थता—

स्पष्ट हो जाना चाहिए इसी त्रिविधसर्ग के आधार पर ऐतिहासिक मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाली जिज्ञासा का वास्तविक मर्म्म। किन्तु जो इस दृष्टिकोण से एकान्ततः अपरिचित हैं, वे कदापि इस तथ्य को हृदयङ्गम कर ही नहीं सकते अपनी भूतविज्ञानानुगता जड़दृष्टि के निग्रहानुग्रह से। जब कि सम्वत्सर कालानुगत त्रिविध आगमीय पौराणिक सर्ग में भी केवल अन्त के पार्थिव जड़ अचेतन भूतसर्ग के साथ ही दिग्देशकालानुगता कार्य्यकारणजिज्ञासा का सम्बन्ध है, तो उस लोकातीत सुसूक्ष्मतम अव्ययसर्ग के सम्बन्ध में कालानुगता कार्य्यकारणता की जिज्ञासा करना, एवं तत्समाधान की आशा-प्रतीक्षा करना, सो भी मनोऽनुगता अनुभूतिलक्षणा सर्वथा स्थूलतमा प्रत्यक्षभावापन्ना भूतदृष्टि के माध्यम से। इससे अधिक मानव की स्वप्रतारणा और क्या होगी !।

[६२]—सर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति—

तीनों साम्वत्सरिक सर्गों का मूलाधार माना गया है भृग्वङ्गिरोमय वह आपोमय पारमेष्ठ्यसर्ग,—जिसके 'सरस्वान्' नामक महासमुद्र में पुराणशास्त्र ने पार्थिव—चान्द्र—सौर—सम्वत्सराधिष्ठाता त्रैलोक्यभाग्यविधाता महामहिम सहस्रांशु सूर्य्य की वही स्वरूपसत्ता मानी है, जो कि स्वरूपसत्ता अनन्त समुद्र में बिन्द्वात्मक एक बुद्बुद की मानी गई है। अतएव आगम (पुराण) ने एक स्थान पर सूर्य्य को 'बुद्बुद' (बुलबुला) नाम से भी व्यवहृत किया है। इसी आधार पर निगम ने—'द्रप्सश्चस्कन्द' (ऋक्संहिता १०।१७।११)—'अपा गम्भन्त्सीद' (शत० ७।५।२।८।) इत्यादि रूप से सूर्य्य को आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का 'द्रप्स' * माना है। सौरब्रह्माण्ड को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला परमेष्ठी ही 'पितृसर्ग' का मूलाधिष्ठान माना गया है जिसके सम्बन्ध में आगमशास्त्र तो तटस्थ है, किन्तु निगम ने विस्तार से इसके

---

* स्तोक—पृषत्—द्रप्स—आदि भेद से जलबिन्दु की अनेक अवस्थाएँ मानी गई हैं। बड़ी स्थूलबिन्दु को ही 'द्रप्स' कहा गया है, जिसके लिए प्रान्तीय भाषा में—'टपका' शब्द प्रसिद्ध है, एवं जिसके सम्बन्ध में सङ्गीतरसिक 'बरस निसक घन बड़ी-बड़ी यूँ बनतें, ऐसो गहराव, जैसो पुर गहरावतो, अब तोसों डरूँ नाय, तोरे पांय परूँ नाय, वे तो दिन व्यतीत भये, जामें तू डरावतो इत्यादि रूप से उपवर्णन किया करते हैं।

धातुपधातु—आदिलक्षण पार्थिवसर्ग जड़सर्ग (अचेतनसर्ग) कहलाया है, जो वैशेषिक दर्शन का मूल-प्रतिपाद्य विषय माना गया है। ब्रह्मादिस्तम्बान्त—चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग चेतनसर्ग कहलाया है, जो सांख्यदर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है। ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्त चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग का चान्द्रसम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे हम 'चेतनसर्ग' कह सकते हैं, 'प्राणसर्ग' कह सकते हैं, जिसके सत्त्व—रज—तमोभिशाल तीन अवान्तर वर्ग माने गए हैं, एवं जो सांख्यदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। पाषाण-लोष्ट—धातुपधातु आदि सर्ग का पार्थिव सम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे 'अचेतन-सर्ग'—'भूतसर्ग' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है, एवं जो वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। इस प्रकार कालचक्रानुगत यह त्रिविध सर्ग ही आगमशास्त्र के सृष्टिसर्ग का मुख्य लक्ष्य बना हुआ है, जैसाकि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है ●।

अथमत्र संग्रहः—

(८९)—सम्वत्सरचक्रानुगतसर्गत्रयीस्वरूपपरिचयपरिलेखः—

—त्रिविधसर्गाः— {

(१)—सौरसम्वत्सरचक्रानुगत—देवमानवसर्ग——आत्मानुगतो मनःसर्ग (वेदान्तप्रतिपाद्य)

(२)—चान्द्रसम्वत्सरचक्रानुगत—चतुर्दशविधभूतसर्ग—प्राणसर्ग—चेतनसर्ग (सांख्यप्रतिपाद्य)

(३)—पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत—जड़सर्ग — वाक्सर्ग—अचेतनसर्ग (वैशेषिकप्रतिपाद्य)

(९०)—दिग्देशकालमीमांसा—

उक्त तीनों सर्गों के साथ ही यद्यपि कार्य्यकारणमीमांसात्मक दिग्देशकालमावों का अपवादभेद से सम्बन्ध स्वीकार किया है पुराणशास्त्र ने। तथापि सूक्ष्मविवेचना के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुतः दिग्देशकालानुगता कार्य्यकारणमीमांसा का प्रधान सम्बन्ध पार्थिवसम्वत्सर चक्रात्मक उस जड़सर्ग के साथ ही है, जिसमें प्रत्यक्ष में दिग्—देश—कालानुबन्धी—स्थूलभावापन्न—"जायते अस्ति—विपरिणमते—वर्द्धते—अपक्षीयते—नश्यति" इन षड्भावविकारों का सम्बन्ध अन्वय बना करता है। चेतनसर्गात्मक सांख्याभिमत प्राणसर्ग सूक्ष्मसर्ग है। अतः भूतरूपेण स्थूल भी प्राणरूपेण सूक्ष्म ही इस चेतनसर्ग की मीमांसा दिग्—देश—कालानुबन्ध से यथावत् समन्वित नहीं की जा सकती, जैसाकि सांख्यदर्शन के प्रतत्त्वसर्गानुगत दिग्—देश—कालानुबन्ध से प्रमाणित है। तीसरे देवमानवात्मक आत्म-सर्ग के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। यहाँ आते-आते तो दिग्—देश—कालानुगता कार्य्यकारण

● देखिए, भारतीयविज्ञानान्तर्गत 'शतपथब्राह्मणविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड का चान्द्रसर्गप्रकरण—पृ० सं० २०८ से पृ० २२४ पर्य्यन्त।

मीमांसा एव तदनुगता इतिहासमीमांसा सवात्मनैव अभिभूत हो जाती है, जो कि वेदान्तनिष्ठा का सुप्रसिद्ध दिग्-देशकालानवच्छिन्न अविकृतपरिणामवादात्मक विवर्त्तवाद माना गया है। तदित्थ—कार्य्यकारणात्मिका हेतुवादसम्मता ऐतिहासिकदृष्टिकोण—निबन्धना मीमांसा का एकमात्र लक्ष्य शेष रह जाता है, त्रिविध सर्गों में से सर्वान्त का केवल पार्थिव सर्ग—लोष्ठ—पाषाणादि भूतसर्ग। इनका इतिहास अवश्य ही क्यों, !, कैसे !, कब !, कहाँ !, कबतक !, इत्यादि ऐतिहासिक प्रश्नपरम्पराओं का विषय बन सकता है, बनना चाहिए, इसीलिए बना भी है। किन्तु !।

(६१)—सम्वत्सरचक्र की असमर्थता—

स्पष्ट हो जाना चाहिए इसी त्रिविधसर्ग के आधार पर ऐतिहासिक मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाली जिज्ञासा का वास्तविक मर्म्म। किन्तु जो इस दृष्टिकोण से एकान्ततः अपरिचित हैं, वे कदापि इस तथ्य को हृदयङ्गम कर ही नहीं सकते अपनी भूतविज्ञानानुगता जड़दृष्टि के निग्रहानुग्रह से। जब कि सम्वत्सर कालानुगत त्रिविध आगमीय पौराणिक सर्ग में भी केवल अन्त के पार्थिव जड़ अचेतन भूतसर्ग के साथ ही दिग्देशकालानुगता कार्य्यकारणजिज्ञासा का सम्बन्ध है, तो उस लोकातीत सुसूक्ष्मतम अव्ययसर्ग के सम्बन्ध में कालानुगता कार्य्यकारणता की जिज्ञासा करना, एवं तत्समाधान की आशा प्रतीक्षा करना, सो भी मनोऽनुगता अनुभूतिलक्षणा सर्वथा स्थूलतमा प्रत्यक्षभावापन्ना भूतदृष्टि के माध्यम से। इससे अधिक मानव की स्वप्रतारणा और क्या होगी !।

[६२]—सर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति—

तीनों साम्वत्सरिक सर्गों का मूलाधार माना गया है भृग्वङ्गिरोमय वह आपोमय पारमेष्ठ्यसर्ग,—जिसके 'सरस्वान्' नामक महासमुद्र में पुराणशास्त्र ने पार्थिव—चान्द्र—सौर—सम्वत्सराधिष्ठाता त्रैलोक्यमाप्यविधाता महामहिम सहस्रांशु सूर्य्य की वही स्वरूपसत्ता मानी है, जो कि स्वरूपसत्ता अनन्त समुद्र में विन्द्वात्मक एक बुद्बुद की मानी गई है। अतएव आगम (पुराण) ने एक स्थान पर सूर्य्य को 'बुद्बुद' (बुलबुला) नाम से भी व्यवहृत किया है। इसी आधार पर निगम ने—'द्रप्सश्चस्कन्द' (ऋक्संहिता १०।१७।११)—'अपा गम्भन्त्सीद' (शत० ७।५।२।८।) इत्यादि रूप से सूर्य्य को आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का 'द्रप्स' * माना है। सौरब्रह्माण्ड को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला परमेष्ठी ही 'पितृसर्ग' का मूलाधिष्ठान माना गया है जिसके सम्बन्ध में आगमशास्त्र तो तटस्थ है, किन्तु निगम ने विस्तार से इसके

* स्तोक—पृषत्—द्रप्स—आदि भेद से जलबिन्दु की अनेक अवस्थाएँ मानी गई हैं। बड़ी स्थूलबिन्दु को ही 'द्रप्स' कहा गया है, जिसके लिए प्रान्तीय भाषा में—'टपका' शब्द प्रसिद्ध है, एवं जिसके सम्बन्ध में सङ्गीतरसिक 'बरस निसक घन घड़ी-घड़ी यूँ घनतें, ऐसो गहरात, जैसो पुर गहरावतो, अब तोसों कहूँ नाय, तोरे पांय परूँ नांय, वे तो दिन व्यतीत भये, जामें तू डरावतो' इत्यादि रूप से उपवर्णन किया करते हैं।

धातूपधातु–यादिलक्षण पार्थिवसर्ग जड़सर्ग (अचेतनसर्ग) कहलाया है, जो वैशेषिक दर्शन का मूल-प्रतिपाद्य विषय माना गया है। ब्रह्मादिस्तम्बान्त–चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग चेतनसर्ग कहलाया है, जो सांख्यदर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग का चान्द्रसम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे हम 'चेतनसर्ग' कह सकते हैं, 'प्राणसर्ग' कह सकते हैं, जिसके सत्त्व–रज–तमोविभाग तीन अवान्तर वर्ग माने गए हैं, एवं जो सांख्यदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। पाषाण-लोष्ठ–धातूपधातु आदि सर्ग का पार्थिव सम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे 'अचेतन-सर्ग'–'भूतसर्ग' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है, एवं जो वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। इस प्रकार कालचक्रानुगत यह त्रिविध सर्ग ही आगमशास्त्र के सृष्टिसर्ग का मुख्य लक्ष्य बना हुआ है, जैसाकि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है *।

अयमत्र संग्रहः—

(६)—सम्वत्सरचक्रानुगतसर्गत्रयीस्वरूपपरिचयपरिलेखः—

—त्रैलोक्य—

(१)—सौरसम्वत्सरचक्रानुगत —देवमानवसर्ग——आत्मानुगतो मनःसर्गः वेदान्तप्रतिपाद्य)

(२)—चान्द्रसम्वत्सरचक्रानुगत–चतुर्दशविधभूतसर्ग–प्राणसर्ग–चेतनसर्ग (सांख्यप्रतिपाद्य)

(३)—पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत जड़सर्ग — वाक्सर्ग–अचेतनसर्ग (वैशेषिकप्रतिपाद्य)

(६०)—दिग्देशकालमीमांसा—

उक्त तीनों सर्गों के साथ ही यद्यपि कार्यकारणमीमांसात्मक दिग्देशकालभावों का अपवादभेद से समन्वय स्वीकार किया है पुराणशास्त्र ने। तथापि सूक्ष्मविवेचना के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुतः दिग्देशकालानुगता कार्यकारणमीमांसा का प्रधान सम्बन्ध पार्थिवसम्वत्सर चक्रात्मक उस जड़सर्ग के साथ ही है, जिसमें प्रत्यक्ष में दिग्–देश–कालानुबन्धी–स्थूलभावापन्न–' जायते अस्ति–विपरिणमते–वर्द्धते–अपक्षीयते–नश्यति" इन षड्भावविकारों का सम्बन्ध अन्वय बना रहता है। चेतनसर्गात्मक सांख्याभिमत प्राणसर्ग सूक्ष्मसर्ग है। अतः भूतरूपेण स्थूल भी प्राणरूपेण सूक्ष्म ही इस चेतनसर्ग की मीमांसा दिग्–देश–कालानुबन्ध से यथावत् समन्वित नहीं की जा सकती, जैसाकि सांख्यदर्शन के पतत्सर्गानुगत दिग्–देश–कालासंस्पृष्टत्व से प्रमाणित है। तीसरे देवमानवात्मक आत्म-सर्ग के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। यहाँ आते-आते तो दिग्–देश–कालानुगता कार्यकारण

* देखिए, भारतविज्ञानान्तर्गत 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड का चान्द्रसर्गप्रकरण–पृ० सं० २०८ से पृष्ठ २२४ पर्यन्त।

यस्मादर्वाक् सम्वत्सरोऽहोभि: परिवर्त्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥

—शतपथब्राह्मण १४।७।२।२०।

(६३)–प्राणसृष्टि की सर्वात्मकता—

पितृसर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति का मूलाधिष्ठानरूप 'ब्रह्मा' नामक स्वयम्भू प्रजापति उस–'ऋषि सृष्टि' का आधार माना गया है, जिसे 'प्राणसृष्टि' भी कहा गया है। जो स्थान पारमेष्ठ्य समुद्र में समष्टिम सौरब्रह्माण्ड का है, वही स्थान परमाकाशलक्षण 'नभस्वान्' नामक स्वायम्भुवमण्डल में समष्टिम पृथिवी–चन्द्रमा–सूर्य को स्वगर्भ में बुद्बुदवत् प्रतिष्ठित रखने वाले आपोमय पारमेष्ठ्यमण्डल का है। इसी से स्वयम्भू की महिमा के आनन्त्य का अनुमान लगाया जा सकता है। इस स्वायम्भुव ऋषिसर्ग की कार्य्यकारणमीमांसा भी निगमशास्त्र में–'असद्' रूप से विस्तार के साथ हुई है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो रहा है—

असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहु –किं तदसदासीदिति ?–ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः–के ते ऋषय इति ?, प्राणा वा ऋषय । ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मात्–इदमिच्छन्त श्रमेण तपसा अरिषन्–तस्माद् ऋषय ।

—शतपथब्राह्मण ।१।१।१।

अयमत्र सर्वसंग्रहः—पञ्चसर्गानुगत —

(७)–ऋषि–पितृ–देव–सत्त्व–भूतानुगतपञ्चविधसर्गपरिलेख*

(१)–ऋषिसर्ग	(स्वायम्भुव)–प्राणमय –सर्वाधारसर्ग	(जनज्जनकानुगत*)	*	–निगमसर्गत्रयी
(२)–पितृसर्ग	(पारमेष्ठ्य)–आपोमय आत्माधारसर्ग	(सम्वत्सरजनकानुगत*)		
(३)–देवमानवसर्ग (सौर*)	—वाङ्मय –आत्मसर्ग	(सौरसम्वत्सरानुगत)	*	
(४)–सत्त्वसर्ग (चान्द्र)	–अन्नमय –चेतनसर्ग*	(चान्द्रसम्वत्सरानुगत*)	*	–आगमसर्गत्रयी
(५)–भूतसर्ग (पार्थिव)	–अन्नादमय –अचेतनसर्ग	(पार्थिवसम्वत्सरानुगत*)	*	

— ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत । तत् स्वाराज्य पर्य्यैत् । (शत० १३।७।१।१। ।

कार्यकारणभाव की मीमांसा की है। जिसके आधार पर सुप्रसिद्ध 'पिण्डपितृयज्ञ' प्रतिष्ठित है। जो देवयज्ञात्मक सौरमण्डल की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है, एवं जिस आधार पर–'देवकार्य्याद् द्विजातीना पितृकार्य्यं विशिष्यते' सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। आपोमय पारमेष्ठ्य सोम की अजस्र आहुति इस सौर सावित्राग्नि में होती रहती है। इसी आधार पर–'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्' (शत० २।३।१।१) इत्यादिरूप से सूर्य्य को अग्निहोत्र माना गया है। सौरसावित्राग्नि अपने स्वरूप से घोरकृष्ण (काला) है, इसी लिए तत्प्रवर्ग्यभूत पार्थिव भूताग्नि को मृग्यमाणत्वेन 'मृगाग्नि' कहा गया है, जिसका नैदानिक प्रतीक माना गया है–'कृष्णमृग' (काला हरिण द्रुतगामी) +, जिसे इसी माशिकभाव-सम्बन्ध से हविर्यज्ञ में हविःपेषण का आधार बनाया जाता है। सौरमण्डल में जो प्रकाश–ज्योति–आतप है, वह सौर कृष्णसावित्राग्नि में + निरन्तर आहुत होने वाले दाक्ष पारमेष्ठ्य सोमाहुति का ही प्रभाव है। इसी प्रज्वलित सोम का नाम सौर प्रकाश है *। जबतक सौर दाहक अन्नादाग्नि में उस पारमेष्ठ्य दाक्ष अन्नसोम की आहुति प्रक्रान्त है, तभी तक सुप्रिस्वरूपसरक्षण है। जिस दिन यह यज्ञक्रम विच्छिन्न हो जाता है, सूर्य्य अपने प्रचण्डाग्नि से अपने सौर–चान्द्र–पार्थिव त्रैलोक्य को भस्मसात् करता हुआ अन्तत स्वयमपि अपने प्रभव पारमेष्ठ्य समुद्रगर्भ में विलीन हो जाता है, और यही सूर्य्याविर्भाव–तिरोभावात्मिका कालयुगानुगता कालसीमा कालगणना–मन्वन्तरस्वरूपा पौराणिकी सृष्टि–प्रतिसृष्टि (सर्ग–प्रतिसर्ग–सर्ग–लय) का मूलाधार माना गया है। यही रहस्यात्मक पुराणशास्त्र का समस्त तात्त्विक स्वरूपपरिचय+ है। वक्तव्य प्रकृत में यही है इस पितृसर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति के सम्बन्ध में कि, सम्वत्सरचक्रमयी से अनुप्राणिता पूतसप्ताहात्मिका सर्गत्रयी इसी परमेष्ठी के प्रधान्–वरुणलक्ष में चङ्क्रमण कर रही है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

– 'यस्मिन् देशे मृग कृष्णस्तत्र धर्म्मं निबोधत' ॥

\+ आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥
—ऋक्संहिता १।३५।२।

* त्वमिमा ओषधी सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वान्तरिक्षं त्व ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥
—ऋक्संहिता १।९१।२२।

\+ सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

कैसे कब उत्पत्तिधाराक्रम का अनुगामी बन गया ?, उस नितान्त सूक्ष्म अणोरणीयान् अतएव सर्वथा अनस्थिमत्–स्थूलभूतानुगता घनता से असस्पृष्ट–तत्त्वविशेष ने इस अस्थिमत्–स्थूल–विश्व को कैसे अपने अनस्थिमत्–सुसूक्ष्म स्वरूप पर धारण कर लिया ?, इत्यादि सहजसिद्ध प्रश्न, एवं सहजसिद्ध केवल मनोऽनुगत बुद्धिगम्य–स्वानुभवैकगम्य समाधान के सम्बन्ध में किसने तो देखा, किसने सुना, एवं कौन किस विद्वान् से इस सम्बन्ध में ऐसे प्रश्नोत्तरविमर्श के लिए अग्रगामी बना ?"। तात्पर्य, इन स्वानुभवैकगम्य सहजसिद्ध शाश्वत–सिद्धान्तों में इन सम्वत्सरकालचक्रानुगत कृत्रिम कार्य्यकारण भावों का प्रवेश ही जब निषिद्ध है, तो तत्सम्बन्ध में प्रश्न, और उत्तर की जिज्ञासा–समाधान के लिए प्रवृत्त होगा ही कौन ?। देखिए ! महर्षि दीर्घतमा इस सम्बन्ध में क्या कह रहे हैं–

> को ददर्श प्रथम जायमान–मस्थन्वन्त यदनस्था बिभर्त्ति ।
> भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥
>
> —ऋक्संहिता १।१६४।४।

> अवः परेण पितर यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
> कवीयमान क इह प्रवोचत् देव मन कुतो अधि प्रजातम् ॥
>
> —ऋक्सं० १।१६४।१८।

मानस प्रश्न, और मानस उत्तर, ही इस दिशा में वास्तविक प्रश्नोत्तरविमर्श माना जायगा। इसी आधार पर निगमशास्त्र में एक वैसी विलक्षण परिभाषा का आविर्भाव हुआ है, जिसमें प्रश्न, और उत्तर, दोनों भाव समाविष्ट रहते हैं। जो प्रश्न, वही उत्तर। दूसरे शब्दों में जिस वाक्य से, किंवा मन्त्र–सन्दर्भ से प्रश्न का स्वरूप अभिव्यक्त होता है, उसी वाक्य–मन्त्रसन्दर्भ से उत्तर का स्वरूप भी गतार्थ बन जाता है। इसी शैली के आधार पर लोकव्यवहार में भी इस प्रकार के वाक्यविन्यास व्यवस्थित हुए हैं, जिनके द्वारा प्रश्न एवं उत्तर, दोनों समाहित बन जाते हैं। अमुक कार्य्यकारण का स्वरूप जानकर भी अमुक व्यक्ति इस प्रकार की अनिरुक्त शैली के माध्यम से अपनी कार्य्यकारणविज्ञता अभिव्यक्त कर दिया करता है कि,–"विदित नहीं, वे–क्या किया करते हैं, कब कैसे कहाँ उनकी जीवनधारा प्रवाहित रहती है ?"। इस प्रश्नवाक्य के गर्भ में ही उत्तर भी समाविष्ट रहता है। जानकार व्यक्ति ही इस प्रकार की अनिरुक्तभाषापद्धा काकुभाषा का उपयोग किया करते हैं। दुरधिगम्य–सुसूक्ष्म–मनोभावानुगत–अतएव अनिरुक्त ऐसे कार्य्यकारणभावों के सम्बन्ध में भी इसी परोक्षशैली के माध्यम से प्रश्नोत्तरविमर्श हुआ है। महर्षि श्वेताश्वतर के द्वारा आरम्भ में आदिकारण के सम्बन्ध में इसी अनिरुक्तशैली के आधार पर कार्य्यकारणमीमांसा अभिव्यक्त हुई है। देखिए !

> किं कारणं ? ब्रह्म ? कुतः स्म जाता ? जीवाम केन ? क्व च सम्प्रतिष्ठा ? ॥
> अधिष्ठिता केन ? सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

(६५) — मानसप्रश्नोत्तरपरम्परा—

काम्यकारणानुगत पाँचों सर्गों की समष्टि है एक पञ्चपुरडीरामाबापत्यवल्या (*पञ्चपर्वयुक्त—अश्वत्थ की एक शाखा—टहनी)। ऐसी सहस्र शाखाएँ जिस महामायी त्रिपुरुषपुरुषात्मक अव्ययेश्वरप्रजापति में प्रतिष्ठित हों, उसके दुर्विज्ञेय आनन्त्य को लक्ष्य बनाइए, जिसकी कारणता का भी निगमशास्त्र ने—'कामस्तदग्रे०' इत्यादि रूप से साक्षेप निरूपण किया है। सहस्रवल्शात्मक ऐसे महामायी अव्ययेश्वर जिस मायातीत—निरवातीत—सर्वातीत—सर्वधर्मोपपन्न—शाश्वतममूर्त्ति—सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परब्रह्म के अमुक स्वरूप—स्वल्पतर—स्वल्पतम प्रदेश में बिन्दुवत् समाविष्ट हैं, उसके आनन्त्य का भी अपने मानव क्षेत्र में ही स्मरण कीजिए। इस सम्पूर्ण अनन्त प्रक्रिया को लक्ष्य बनाने के अनन्तर अपने मन से ही यह प्रश्न करने का अनुग्रह कीजिए कि, उस अनन्तानन्त-सर्वरूप-सर्वातीत—परात्पर के मन को—मायाबल को उदित होने के लिए किसने प्रेरित किया ?। यही वह अचिन्त्य-अविज्ञेय, किन्तु स्वानुभवैकगम्य—शब्द द्वारा अनिर्वचनीय काम्यकारणवाद है, जिसके सम्बन्ध में महर्षि को—'क इत्था वेद यत्र स ?'—सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'—'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु०'—'मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो' इत्यादि सहज सिद्धान्तों का समाश्रय ग्रहण करना पड़ा है, एवं जिस इस दुरधिगम्य प्रश्न के सहज उत्तरात्मक—'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस' इस यथार्थ समाधान की प्राप्ति का विमूढ़तम मानवाभास आलोचना करता हुआ अपनी विमूढ़ता को सर्वतोभावेन चरितार्थ कर रहा है। इसीलिए पुन हमको उसी इस वाक्य की पुनरावृत्ति करनी पड़ रही है कि, अभी इस सम्बन्ध में पुन कुछ समझना शेष है, जिस शेषप्रश्न का समाधान प्राप्त हो रहा है हमें उस जगन्माता जगदम्बा हैमवती उमा भगवती के निःसीम अनुग्रह से, जिसके वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह से हमारे जैसा सर्वज्ञानवञ्चित नितान्त भावुक लौकिक यथाजात जन भी इस मीमांसा के समसमन्वय की चेष्टा में प्रवृत्त होने का दुःसाहस कर रहा है।

'पुनस्तत्रैवावस्थितो वेताल' न्याय से हम पुनः अपने सहज स्वभाव के कारण अज्ञानुगता उसी वेतालवृत्ति का अनुगमन कर ही तो बैठे। वही अचिन्त्य—अनिर्वचनीय—शब्दों का आश्रयग्रहण, वही अज्ञात स्वरूप 'ब्रह्म' शब्द की उच्च घोषणा। क्या वास्तव में इस परेचनापथ के अतिरिक्त उस मूलतत्त्व के सम्बन्ध में कोई काम्यकारणमीमांसा है ही नहीं ?। निवेदन किया तो जा चुका इस सम्बन्ध में अपनी स्वल्पमति के सम्बन्ध में, जो कुछ भी निवेदन करना अपेक्षित था। सहजसिद्ध मानस काम्यकारणभावों के साथ कौन किससे अद्यावधि यह प्रश्न करने गया है कि—"सर्वप्रथम यह विश्व किसकी प्रेरणा से

---

* पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां 'पञ्चपर्वां'मधीमः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् १।५।

कैसे कब उत्पत्तिधाराक्रम का अनुगामी बन गया ?, उस नितान्त सूक्ष्म अणोरणीयान् अतएव सर्वथा अनवस्थिमत्-स्थूलभूतानुगता बनता से असंस्पृष्ट-तत्त्वविशेष ने इस अवस्थिमत्-स्थूल-विश्व को कैसे अपने अनवस्थिमत्-सुसूक्ष्म स्वरूप पर धारण कर लिया ?, इत्यादि सहजसिद्ध प्रश्न, एवं सहजसिद्ध केवल मनोऽनुगत बुद्धिगम्य-स्वानुभवैकगम्य समाधान के सम्बन्ध में किसने तो देखा, किसने सुना, एवं कौन किस विद्वान् से इस सम्बन्ध में ऐसे प्रश्नोत्तरविमर्श के लिए अग्रगामी बना ?"। तात्पर्य्य, इन स्वानुभवैकगम्य सहजसिद्ध शाश्वत-सिद्धान्तों में इन सम्वत्सरकालचक्रानुगत कृत्रिम कार्य्यकारण भावों का प्रवेश ही जब निषिद्ध है, तो तत्सम्बन्ध में प्रश्न, और उत्तर की जिज्ञासा-समाधान के लिए प्रवृत्त होगा ही कौन ?। देखिए ! महर्षि दीर्घतमा इस सम्बन्ध में क्या कह रहे हैं-

को ददर्श प्रथमं जायमानं-अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ।।
—ऋक्संहिता १।१६४।४।

अव परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्रवोचत् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ।।
—ऋक्सं० १।१६४।१८।

मानस प्रश्न, और मानस उत्तर, ही इस दिशा में वास्तविक प्रश्नोत्तरविमर्श माना जायगा। इसी आधार पर निगमशास्त्र में एक वैसी विलक्षण परिभाषा का आविर्भाव हुआ है, जिसमें प्रश्न, और उत्तर, दोनों भाव समाविष्ट रहते हैं। जो प्रश्न, वही उत्तर। दूसरे शब्दों में जिस वाक्य से, किंवा मन्त्र-सन्दर्भ से प्रश्न का स्वरूप अभिव्यक्त होता है, उसी वाक्य-मन्त्रसन्दर्भ से उत्तर का स्वरूप भी गतार्थ बन जाता है। इसी शैली के आधार पर लोकव्यवहार में भी इस प्रकार के वाक्यविन्यास व्यवस्थित हुए हैं, जिनके द्वारा प्रश्न एवं उत्तर, दोनों समाहित बन जाते हैं। अमुक कार्य्यकारण का स्वरूप जानकर भी अमुक व्यक्ति इस प्रकार की अनिरुक्त शैली के माध्यम से अपनी कार्य्यकारणविज्ञता अभिव्यक्त कर दिया करता है कि,-"विदित नहीं, वे-क्या किया करते हैं, कब कैसे कहाँ उनकी जीवनधारा प्रवाहित रहती है ?"। इस प्रश्नवाक्य के गर्भ में ही उत्तर भी समाविष्ट रहता है। जानकार व्यक्ति ही इस प्रकार की अनिरुक्तभावापन्ना वाग्भाषा का उपयोग किया करते हैं। दुरधिगम्य-सुसूक्ष्म-मनोभावानुगत-अतएव अनिरुक्त ऐसे कार्य्यकारणभावों के सम्बन्ध में भी इसी परोक्षशैली के माध्यम से प्रश्नोत्तरविमर्श हुआ है। महर्षि श्वेताश्वतर के द्वारा आरम्भ में आदिकारण के सम्बन्ध में इसी अनिरुक्तशैली के आधार पर कार्य्यकारणमीमांसा अभिव्यक्त हुई है। देखिए !

किं कारणं ? ब्रह्म ? कुतः स्म जाता ? जीवाम केन ? क्व च सम्प्रतिष्ठाः ? ।।
अधिष्ठिता केन ? सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।।१।।

(६५) – मानसप्रश्नोत्तरपरम्परा–

कार्य्यकारणानुगत दोनों पर्वों की समष्टि है एक पञ्चपुण्डीरमभावात्मकसत्ता (०पञ्चप्रमुख–पञ्चशाख की एक शाखा–टहनी)। ऐसी सहज शाखार्थ जिस महामायी त्रिपुरसुन्दरीरूपात्मक अव्यक्तयज्ञाकृति में प्रतिष्ठित हों, उसके दुर्गम आनन्त्य को लक्ष्य बनाइए, जिसकी कारणता का भी निगमशास्त्र ने– 'ब्रह्मस्तदग्रे०' इत्यादि रूप से सावय निरूपण किया है। सहजसत्यात्मक ऐसा महामायी अव्यक्तपर जिस मायातीत–निरपानीत–सर्वातीत–धर्माधर्मातीत–शाश्वतममूर्त–अपरिमितविश्वकेतन परात्पर के प्रमुक स्वल्प–स्वल्पतर–स्वल्पतम प्रदेश में बिन्दुरूप समाविष्ट है, उसके आनन्त्य का भी स्मरण मानस-क्षेत्र में ही सम्पन्न कीजिए। इस सम्पूर्ण अनन्त प्रक्रिया को लक्ष्य बनाने के अनन्तर अपने मन से ही यह प्रश्न करने का अनुग्रह कीजिए कि, उस अनन्तानन्त स्वरूप-सर्वातीत–परात्पर के मन को–मायाबल को उदित होने के लिए किसने प्रेरित किया ?। यही वह अचिन्त्य-अनिर्वाच्य, किन्तु स्वानुभवैकगम्य–शब्द द्वारा अनिर्वचनीय कार्य्यकारणवाद है, जिसके सम्बन्ध में महर्षियों को–'क इत्था वेद यत्र सः ?'–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'–'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु०'–'मनीषिणो मनसा विमृशीमि वो' इत्यादि सहज सिद्धान्तों का समाश्रय ग्रहण करना पड़ा है, एवं जिस इस दुरधिगम्य प्रश्न के सहज उत्तरात्मक– 'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस' इस यथार्थ समाधान की आज का विमूढतम मानवाभास आलोचना करता हुआ अपनी विमूढता को सर्वतोभावेन चरितार्थ कर रहा है। इसीलिए पुनः हमको उसी इस मानव की पुनरावृत्ति करनी पड़ रही है कि, अभी इस सम्बन्ध में पुनः कुछ वक्तव्य शेष है, जिस शेषप्रश्न का समाधान प्राप्त हो रहा है हमें उस जगन्माता जगदम्बा हैमवती उमा भगवती के निःसीम अनुग्रह से, जिसके वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह से हमारे जैसा सर्वज्ञानवञ्चित नितान्त भावुक लौकिक यथाजात जन भी इस मीमांसा के समसमन्वय की चेष्टा में प्रवृत्त होने का दुःसाहस कर रहा है।

'पुनस्तत्रैवाश्वसम्वितो वैताल' न्याय से हम पुनः अपने सहज स्वभाव के कारण ब्रह्मानुगता उसी वैतालवृत्ति का अनुगमन कर ही तो बैठे। वही अचिन्त्य–अनिर्वचनीय–शब्दों का आश्रयग्रहण, वही अज्ञात स्वरूप 'ब्रह्म' शब्द की उच्च घोषणा। क्या वास्तव में इस प्ररोचनापथ के अतिरिक्त उस मूलतत्त्व के सम्बन्ध में कोई कार्य्यकारणमीमांसा है ही नहीं ?। निवेदन किया तो जा चुका इस सम्बन्ध में अपनी स्वल्पमति के सम्बन्ध में, जो कुछ भी निवेदन करना अपेक्षित था। सहजसिद्ध मानस कार्य्यकारणभावों के साथ कौन किससे अद्यावधि यह प्रश्न करने गया है कि,–"सर्वप्रथम यह विश्व किसकी प्रेरणा से

---

* पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां 'पञ्चपर्वा'मधीमः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् १।५।

अची–ओवी–आप'–आदि अनिरुक्त व्याहृतियाँ ही प्रयुक्त होतीं हैं। इसी दृष्टि से हृदय मनोमय अनिर्वचनीय (वाणी के द्वारा निरूपण करने की मर्यादा से अतीत) प्रजापति के लिए अनिरुक्तभावाभिव्यञ्जक 'कः'–'स' इत्यादि सङ्केतपरिभाषा व्यवस्थित कर दी गई है। 'कस्मै देवाय' का प्रश्नात्मक रूप है–'हम किसके लिए हवि का विधान करें'। एवं इसी का उत्तरात्मक रूप है–'हम किसके लिए ही हवि का विधान करें'। प्रश्न में 'कस्मै' का अर्थ होगा किसके लिए, उत्तर में 'कस्मै' का अर्थ होगा–ककारवाच्य हृदय अन्तर्यामी अनिरुक्त प्रजापति के लिए। यही दृष्टिकोण हैमवती उमानुग्रहप्रतिपादक ब्रह्मस्वरूपोद्बोधक 'केनोपनिषत्' (अनिरुक्तप्रजापतिविद्यारहस्योपनिषत्) के मन्त्रों के साथ सुसमन्वित हुआ है। देखिए !

प्रश्न—केनेषितं पतति प्रेषितं मनः ?।	(किससे प्रेरित मन विषयानुगामी बनता है ?)।
उत्तर—('केने'षितं पतति प्रेषितं मनः)।–	'अनिरुक्तप्रजापतिरूप ककार से।
प्रश्न—केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ?।	(किस से प्रेरित प्राण युक्त होता है ?)।
उत्तर—('केन'प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः)।–	ककारप्रजापति से, अन्तर्यामी से।
प्रश्न—केनेषितां वाचमिमां वदन्ति ?।	(किससे प्रेरित वाक् बोलते हैं ?)
उत्तर—('केने'षितां वाचमिमां वदन्ति)।–	ककारप्रजापति की प्रेरणा से।
प्रश्न—चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ?–	(कौन चक्षु और श्रोत्र को विषयानुगामी बनाता है?)
उत्तर—(चक्षुः श्रोत्रं 'क' उ देवो युनक्ति)।–	ककार ही इन्हें विषयानुगत बनाता है।

—केनोपनिषत् १।१।

(६५)—पारिभाषिक शैली के द्वारा समाधान—

यही पारिभाषिक शैली 'किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्०' इत्यादि मन्त्रों के सम्बन्ध में समन्वित हुई है। 'को ददर्श प्रथमं जायमानम्' का उत्तर भी 'को ददर्श प्रथमं जायमानं' ही प्रमाणित हो रहा है। 'कमीयमानः क इह प्रवोचत्–देवं, मनः कुतो अधिजातम्' प्रश्नात्मक वाक्य भी इसी वाक्य के द्वारा उत्तर भी प्रदान कर रहा है। यही कारण है कि ऋक्संहिता में–किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस०' इत्यादि रूप से केवल प्रश्न ही हुआ है, उत्तर का स्वतन्त्ररूप से विश्लेषण इसीलिए नहीं किया गया कि, इस प्रश्न के गर्भ में ही अनिरुक्त 'क' कारव्याहृति के माध्यम से उत्तर गर्भीभूत है। अनिरुक्त मानस हृदयभाव ही इस प्रश्न का मौलिक समाधान है, इसीलिए–'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्' रूप से 'मनसा पृच्छतेदु०' घोषणा हुई है। महर्षि तित्तिरि ने जो इस ऋक् श्रुति का यह समाधान किया कि–'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस०', सो भी तत्त्वतः अनिरुक्त भाव का ही समर्थक बना हुआ है। जैसा अनिरुक्तभावप्रतिपादक 'कः', वैसा ही 'ब्रह्म'। इसीलिए तो तित्तिरि को भी अपने इस उत्तर का उपसंहार करते हुए–'मनसा विब्रवीमि वः' रूप से मानस अनिरुक्त भाव का ही आश्रय लेना पड़ा है। 'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' भी इस अनिरुक्तता की ओर ही सङ्केत

कालः-स्वभावो-नियति-र्यदृच्छा-भूतानि-योनि -पुरुष-इति चिन्त्यम् ॥
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥
उद्गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ॥
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् १ अध्याय १,२,३,७,।

उपनिषत् के अनिरुक्तभावात्मक किं ?, कुतः ? क्व ?, क्व ?, इत्यादि प्रश्नों के गर्भ में ही इसी अनिरुक्त भाव से (ककार से) सम्बन्धित उत्तर भी समाविष्ट हैं। एक अन्य मूलसंहिता के मन्त्र पर दृष्टि डालिए—जहाँ इसी अनिरुक्त भाव से प्रश्नोत्तर का समन्वय हुआ है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' ॥

—यजुःसंहिता २५।१०।

"सम्पूर्ण भूतों के (चान्द्र तथा पार्थिव भूतों के) अधिपति हिरण्यगर्भप्रजापति (सौर—मर्यादित—मध्य प्रजापति—केन्द्रप्रजापति—अतएव अनिरुक्तप्रजापति) ही इस त्रैलोक्य में सर्वप्रथम आविर्भूत हुए। जिन्होंने इस द्यावापृथिवीरूप त्रैलोक्य को अपने महिमामण्डल में धारण किया। हम किस के लिए हवि प्रदान करें" इत्याद्यर्थक मन्त्र का—'कस्मै देवाय हविषा विधेम' वाक्य प्रथमेय है। 'कः—सः' आदि व्याहृतियाँ (अभिधाएँ—नाम) अनिरुक्तभाव की ओर संकेत कर रही हैं। केन्द्रस्थ अन्तर्यामी तत्त्व अपने सुसूक्ष्म भाव के द्वारा वाणी का विषय नहीं बना करता। अतएव यज्ञकर्म में प्रजापतिकर्म्म उपांशु ही होता है*। जिसका कोई व्यक्त नाम नहीं, उसका नाम 'कः—सः' इत्यादि ही तो लोक में प्रसिद्ध है। 'कौन—वह—' ये सब अभिधाएँ अनिरुक्तभाव का ही समर्थन कर रही हैं। पति के लिए इसी दृष्टि से 'कुणीचीरु—

*—"वाक् और मन में परस्पर अहमहमिकारूपा प्रतिस्पर्द्धा जागरूक हो पड़ी। मन कहता था, मैं महान् हूँ—वाक् की अपेक्षा। वाक् कहती थी, मैं महीयसी हूँ मन की अपेक्षा। निर्णयार्थ दोनों प्रजापति के समीप गए। प्रजापति ने दोनों के समाधान में मन को ही श्रेष्ठ घोषित कर दिया। इस से वाक् अप्रसन्न हो गई प्रजापति पर। और वाक् ने यह घोषणा कर दी कि, अब मैं तुम्हारे लिए (प्रजापति के लिए) कभी हवि का वहन न करूँगी। तभी से प्राजापत्य कर्म्म तूष्णीं होने लगा।" इत्यादि आख्यान का वैज्ञानिक रहस्य शतपथविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

—शतपथब्रा० १।४।१।१९।

चक्षुगा असकल्पित-अवर्णित-अदृष्ट बनता हुआ भी आप्तमनोद्वारा भाव-परावाग्द्वारा वर्णित-विज्ञान चक्षुद्वारा सर्वात्मना दृष्ट है, जो विज्ञानदृष्टि 'अग्र्यदृष्टि' कहलाई है * ।

जिन आलोचकों का इस सम्बन्ध में यह दुराग्रह है कि, जबतक उन्हें भूतवत् प्रत्यक्ष स्थूल कार्य्य कारणद्वारा मूलकारण का साक्षात्कार नहीं हो जाता, जबतक उस मूलकारण का वे साक्षात् रूप से मत्य भूतेतिहास की भाँति वर्णन नहीं सुन लेवें, तबतक वे कथमपि मूलकारणतानुगता जिज्ञासा को उपशान्त नहीं कर सकते । उनसे इसके अतिरिक्त हम तो अब कुछ भी निवेदन करने में असमर्थ हैं कि, ऐन्द्रियक भौतिक विषयों की अनुभूति का वर्णन भी जो आलोचक करने में असमर्थ हैं, वे इन्द्रियातीत, किंवा सर्वातीत — पुरुषब्रह्म के निरुक्तभावापन्न साक्षात् वर्णन की कामना करें, इस से अधिक उनकी अपनी ओर से ही वञ्चना और क्या होगी ? । मधुर ही द्राक्षा, मधुर ही शर्करा, दोनों ही मधुर । किन्तु दोनों के रसमाधुर्य्य में महान् विभेद । क्या इस विभेद का, इस इन्द्रियानुभूति का आलोचक शब्दद्वारा स्पष्टीकरण कर सकेंगे ?, असम्भव । 'भवति रसनामात्रविषय' । रसनेन्द्रियानुभूति ही इस माधुर्य्यविभेद का अनुभवमात्र कर सकती है, वर्णन नहीं । जब कि लौकिक-भौतिक विषयों का भी केवल अनुभव ही सम्भव है, मन से ही जो ज्ञात विज्ञात बने रहते हैं, तो फिर लोकातीत सूक्ष्मतम भावों के सम्बन्ध में स्वानुभवैकगम्यपथातिरिक्त स्थूल वर्णन की जिज्ञासा रखना, तत्समाधान के लिए व्यग्र हो पड़ना, क्या जानबूझ कर अपनी स्वयं की वञ्चना नहीं है । तदपि निराशा का क्षेत्र नहीं है । अवश्य ही योगनिष्ठ आविमानव इस सम्बन्ध में भी उन आलोचकों को वैखरीवाणी के माध्यम से भी उनका समाधान करा सकते हैं । किन्तु यह सम्भव तभी है, जब कि हम आस्थाश्रद्धापूर्वक सर्वप्रथम इस पथ पर आरूढ़ हो जायँ । अवश्य ही कालान्तर में प्रत्यक्षदर्शक भी उन्हें प्राप्त हो ही जायँगे । महाविद्यात्मिका वेदविद्या के द्वारा सभी कुछ सम्भव है । इसी आस्था के आधार पर इस दृष्टिकोण को उपस्थित करते हुए हमें प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है ।

---

* एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
—कठोपनिषत् १।३।१२।

— इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था:, अर्थेभ्यस्च पर मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥
महत परमव्यक्त —अव्यक्तात् पुरुषः परः ॥
पुरुषान्न पर किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति ॥२॥

कर रहा है । इत्थंभूत इस-मनोमय-काममय अनिरुक्तभाव का अनिरुक्तरूप से ही तो समाधान शक्य है, जिस अनिरुक्तभावदर्शन में स्थूलदृष्टि का प्रवेश, तदनुगत भूतविज्ञानानुगत स्थूल कार्य्यकारणभाव का प्रवेश सर्वथा अवरुद्ध ही बना रहता है । विशुद्धिलक्षण मानसप्रज्ञानात्मा ही तद्दर्शन में, तत्कार्य्यकारणानुभूति में समर्थ है, जैसा कि–'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा' (मुण्डकोपनिषत् २।२।७) इत्यादि श्रुत्यन्तर से स्पष्ट है । यदि उदग्र आलोचक के कथनानुसार 'अनिरुक्त'–'अनिर्वचनीय'–'ब्रह्म' आदि शब्द केवल प्रतारक ही होते, तो ''कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि –'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'–'सोऽश्रमयत–स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत–तस्य श्रान्तस्य श्रममानस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहोऽजायत । तत् सुवर्णोऽभवत' इत्यादि रूप से निरूपित कार्य्यकारणभावों का क्या अर्थ हुआ ?। अतएव एक बार और अन्तिम बार पुनः हमें यह कहना पड़ा कि, ऋषिमूलविद भावात्मक कार्य्यकारणभाव के सम्बन्ध में बात कुछ समझने जैसी है । स्थूलदृष्टि से उपलक्षणीय नहीं है ।

समझने जैसी बात क्या शेष रह गई ?, प्रश्न का समाधान एक अन्य श्रुति से प्राप्त हो रहा है कि, उस सत्य ज्ञान अनन्तलक्षण, नित्य विज्ञान आनन्दलक्षण शाश्वत ब्रह्म का भले ही शब्दद्वारा, वैखरीवाग्द्वारा निर्वचन सम्भव न हो, किन्तु 'सत्ता' रूप से आत्मानुभूतिरूपनिष्ठा तत्त्व से उसका साक्षात्कार हो रहा है । 'अस्ति' लक्षणा सत्ता का 'सत्' रूप से सम्बन्धित बोध ही (अस्तित्व का परिज्ञान ही) 'चित्' है, इस सद्बोध से स्वतः अभिव्यक्ता तृप्ति (सोपाधिका आत्मतृप्ति–शान्ति) ही 'आनन्द' है। अस्ति (सत्) की बोध (चित) रूपा * उपलब्धि (रसप्राप्ति–तृप्ति–लाभलक्षण आनन्द) ही तो 'सच्चिदानन्दलक्षण' ब्रह्म का साक्षात् स्वरूपदर्शन है, जिस काममय इस सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म का तैत्तिरीय ने 'कोशात्मक' रूप से विस्तार से विश्लेषण किया है । 'ब्रह्म' शब्द ऐसा नहीं है, जिसकी अनिर्वचनीयता हमारी प्रतारणा कर के ही उपशान्त हो जाती हो । अपितु यह ऐसी अनिर्वचनीयता है, जिसके गर्भ में– अनिरुक्तभाव से सत्यज्ञानानुभूतिरूपा ब्रह्मकारणता अन्तर्निगूढ है । तभी तो यह कोशात्मा 'गुहा रसा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो अपने सहज अनिरुक्तभाव से अनिर्वचनीय–मनसा–वाचा–

---

* सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । ब्रह्मैवेदं सर्वम् । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ॥
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥२॥

—कठोपनिषत् २।६।१२,१३,।

विवेकबुद्धया अनुभवमात्र कर सकते हैं आप इन ज्ञानधाराओं का। अनुभव (मानसिक अनुभव) भी इन चारों में से केवल तीन ज्ञानधाराओं का ही सम्भव है। चौथी महद्ज्ञानधारात्मिका सत्त्वज्ञानधारा, एवं सर्वाधारभूता पुरुष (अव्यय) ज्ञानधारा, दोनों तो मानसानुभूतियों से भी अतीत हैं। आभ्यन्तर सुक्ष्म प्राण–रक्त–शिरा–स्नायु–आदि का सघठन–विघटन–परिरक्षण–आदि सभी व्यापार (कर्म्म) बुद्धिज्ञान धारा (विज्ञानधारा) से भी परे की वस्तु है, यही सत्त्वलक्षणा महद्ज्ञानधारा है, तदनुरूपी कर्म्म ही सहजकर्म्म है, जिनकी कामना–कार्य्यकारणमीमांसा बुद्धि के द्वारा दृश्यमात्र अवश्य है, किन्तु–'इदमित्थमेव' रूप से मीमांस्य नहीं। इस महद्ज्ञानधारा की इत्थंभूतलक्षणा मीमांसा का आधार तो पुरुषज्ञानधारा ही बना करती है। इन पाँचों, किंवा सम्पूर्ण ज्ञानधाराओं का आधार सर्वाधार सर्वबलविशिष्टरसैकघन 'परात्पर' नामक शाश्वतब्रह्म, एवं तत्सम्बन्ध में इस प्रकार की निरुक्तभावमूला कार्य्यकारणजिज्ञासा कि–'सुप्त मायाबल को किसने प्रेरित किया ?, क्या सचमुच ऐसी जिज्ञासा से हम सर्वात्मना अपनी प्रतारणा नहीं कर रहे ?। मुकुलितनयन बन कर पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए, स्वतः समाधान हो जायगा। यदि तदनन्तर भी समाधान न होगा, तो समाधान के अन्य प्रकारों से आलोचकों के समाधान करने का प्रयत्न किया जायगा।

अयमत्र सग्रह —

(८)–स्वपरात्मानुगतषड्विधज्ञानधारापरिलेख'—

श्री—शाश्वतज्ञानधारा (निराधारा शाश्वतब्रह्मधारा)——विश्वातीता (परात्पर)

(१)—पुरुषज्ञानधारा (सर्वाधारा अव्ययज्ञानधारा)——विश्वाधारभूता (पुरुष)

(२)—महज्ज्ञानधारा (सहजकर्म्माधारा सत्त्वज्ञानधारा)–अध्यात्माधारभूता (महान्)

(३)—विज्ञानज्ञानधारा (विचारविमर्शरूपा-बुद्धिज्ञानधारा)–पुरुषार्थाधारभूता (बुद्धिः)

(४)—प्रज्ञानज्ञानधारा (श्रवण–दर्शनादिरूपा–सर्वेन्द्रियमनोज्ञानधारा)–कर्त्तव्याधारभूता (मन)

(५)—ऐन्द्रियकज्ञानधारा (संकल्पविकल्पात्मिका–इन्द्रियमनोज्ञानधारा)–लोकाधारभूता (इन्द्रियाणि)

(६८)–अवस्थात्रयीमाध्यम से प्रश्नसमाधान—

एक दूसरे उदाहरण से कारणमीमांसा कीजिए, किन्तु–"सर्वथा अपने मनस्तन्त्र में ही, मनोऽनुगता अनिबद्ध भाषा में ही" इस सत्यसधा के साथ। क्योंकि, कारणमीमांसा का आप लक्ष्य उसे बना रहे

(६६)—अहोरात्रनिबन्धन सहजकर्म्म—

हम जब अपने अहोरात्रनिबन्धन सहजइच्छा (कामना) तदनुगत कर्म्मों की मीमांसा में प्रवृत्त होते हैं, तो सहसा इनकी कामना–प्रवृत्ति–परिणाम आदि के सम्बन्ध में हमें स्वयं अपने ही अन्तर्जगत् में आश्चर्यविभोर बन जाना पड़ता है। कब किसने इच्छा की, कब आध्यात्मिक सूक्ष्मशक्तियाँ जागरूक हो पड़ीं, कब उन्होंने मूर्त परिणाम धारण कर लिया !, इत्यादि हमारे स्वयं के ही प्रश्न, हमारे अपने ही कार्य्यकारणभाव हमारे लिए अचिन्त्य–अनिर्वचनीय–अप्रतर्क्य–अनिर्देश्य–अप्रमाणित होते रहते हैं।

एक स्थूल उदाहरण को लक्ष्य बना कर इस स्थिति का समन्वय कीजिए। दो व्यक्ति, किंवा अनेक व्यक्ति किसी गन्तव्य स्थान की ओर अग्रसर हैं। परस्पर किसी तात्त्विक विषय के आधार पर प्रश्न प्रक्रान्त है। प्रश्नोत्तरपरम्परा अवधानपूर्वक प्रक्रान्त है, और प्रक्रान्त है इनकी सहजगति। कब पैर उठे, कब आगे बढ़े, मार्ग में कौन मिला, क्या मिला, क्या देखा, क्या सुना, कुछ भी तो आभास नहीं रहता इन मार्गानुगामी विचारविमर्शकों को। फिर भी मानना तो पड़ेगा ही कि, पूर्ण स्वस्थदशा में ही इनकी गति प्रक्रान्त रही, सभी कुछ मिलते गए–देखते गए–सुनते गए अवधानपूर्वक। फिर भी इन सहज गति–मिलन–दर्शन–श्रवण–परम्पराओं का वर्णन यदि आप इनसे पूँछने लगेंगे तो ये यही कह पड़ेंगे कि,—हम स्पष्ट रूप से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कह सकते। हमारा ध्यान तो विचारविमर्श में समाविष्ट था। ध्यान गत्यादि की ओर न था, तो ये ठोकर खाकर गिर क्यों न पड़े, मार्ग में आगत–गत वाहनादि से कुचले क्यों न गए, इत्यादि सभी प्रश्न तब तक हमारे लिए मीमांस्य बने रहते हैं, जब तक कि हम आध्यात्मिक ज्ञानधाराओं के वास्तविक सुसूक्ष्म स्वरूप का बोध प्राप्त नहीं कर लेते।

(६७)—पञ्चविधा ज्ञानधारा—

महद्‌ज्ञानधारा, विज्ञानज्ञानधारा, प्रज्ञानज्ञानधारा, इन्द्रियमनोज्ञानधारा, आदि रूप से चार ज्ञानधाराओं का जब हम विश्लेषण करने लगते हैं, तो इस सम्बन्ध की अनेक मीमांसाऐं स्वतःएव समाहित बन जाती हैं। आगत–समागत–वस्तुओं का दर्शन, शब्दश्रवण, गन्धग्रहण, शीतोष्णवायुस्पर्श आदि आदि ऐन्द्रियक अनुभूतियों के सङ्कल्पविकल्पभावों का आधार है इन्द्रियमनोज्ञानधारा। इनकी अनुभूतियों का आधार है प्रज्ञानमनोज्ञानधारा। तात्त्विक विषयानुगत प्रश्नोत्तरविमर्श का आधार है विज्ञानधारा। एवं शारीरिक सुसूक्ष्मसूत्रशक्तियों के संचरण से अनुप्राणित सहज गति का आधार है महद्‌ज्ञानधारा। चारों में पूर्व पूर्व उत्तरोत्तरापेक्षया गरीयान् है, बलीयान् है। चारों के समसमन्वय का ही नाम 'समत्वयोग' है, यही कर्म्मकौशल है। 'सत्त्वज्ञान, बुद्धिज्ञान, मनोज्ञान, ऐन्द्रियकज्ञान', चारों स्वतन्त्र उक्थ–ब्रह्म–सामलक्षण स्वतन्त्र ब्रह्म हैं, जो उस एक अव्यय पुरुषब्रह्म से प्रेरित होकर स्व स्व संस्थाओं के प्रभव प्रतिष्ठा–परायण बने रहते हैं। इन चारों ज्ञानधाराओं में सर्वान्त की बाह्यभूतानुगता–स्थूलभूतानुगता श्रवण–दर्शनादिरूपा ऐन्द्रियक अनुभूति ही जब पूर्वकथनानुसार यथावत् उपवर्णित नहीं हो सकती, तो इतर तीनों ज्ञानधाराओं के उपवर्णन की जिज्ञासा भी कर बैठना क्या अपराध नहीं है ?। हाँ,

विवेकबुद्धया अनुभवमात्र कर सकते हैं आप इन ज्ञानधाराओं का। अनुभव (मानसिक अनुभव) भी इन चारों में से केवल तीन ज्ञानधाराओं का ही सम्भव है। चौथी महद्ज्ञानधारात्मिका सत्त्वज्ञानधारा, एवं सर्वाधारभूता पुरुष (अव्यय) ज्ञानधारा, दोनों तो मानसानुभूतियों से भी अतीत हैं। आभ्यन्तर सुसूक्ष्म प्राण-रक्त-शिरा-स्नायु-आदि का सघटन-विघटन-परिरक्षण-आदि सभी व्यापार (कर्म) बुद्धिज्ञान धारा (विज्ञानधारा) से भी परे की वस्तु है, यही सत्त्वलक्षणा महद्ज्ञानधारा है, तदनुरूपी कर्म ही सहजकर्म है, जिनकी कामना-कार्य्यकारणमीमांसा बुद्धि के द्वारा तर्कमात्र अवश्य है, किन्तु-'इदमित्थमेव' रूप से मीमांस्य नहीं। इस महद्ज्ञानधारा की इत्थंभूतलक्षणा मीमांसा का आधार तो पुरुषज्ञानधारा ही बना करती है। इन पाँचों, किंवा सम्पूर्ण ज्ञानधाराओं का आधार सर्वाधार सर्वबलविशिष्टरसैकघन 'परात्पर' नामक शाश्वतब्रह्म, एवं तत्सम्बन्ध में इस प्रकार की निष्कर्मभावमूला कार्य्यकारणजिज्ञासा कि-'मुग्ध मायाबल को किसने प्रेरित किया !, क्या सचमुच ऐसी जिज्ञासा से हम सर्वात्मना अपनी प्रतारणा नहीं कर रहे !। मुकुलितनयन बन कर पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए, स्वतः समाधान हो जायगा। यदि तदनन्तर भी समाधान न होगा, तो समाधान के अन्य प्रकारों से आलोचकों के समाधान करने का प्रयत्न किया जायगा।

अथमत्र संग्रह —

(८)-स्वपञ्चात्मानुगतपञ्चविधज्ञानधारापरिलेखः—

❀—शाश्वतज्ञानधारा (निराधारा शाश्वतब्रह्मधारा)——विश्वातीता (परात्पर)

(१)—पुरुषज्ञानधारा (सर्वाधारा अव्ययज्ञानधारा)——विश्वाधारभूता (पुरुष)

(२)—महज्ज्ञानधारा (सहजकर्म्माधारा सत्त्वज्ञानधारा)—अध्यात्माधारभूता (महान्)

(३)—विज्ञानज्ञानधारा (विचारविमर्शरूपा-बुद्धिज्ञानधारा)—पुरुषार्थाधारभूता (बुद्धिः)

(४)—प्रज्ञानज्ञानधारा (श्रवण-दर्शनादिरूपा-सर्वेन्द्रियमनोज्ञानधारा)—कर्त्तव्याधारभूता (मन)

(५)—ऐन्द्रियकज्ञानधारा (संकल्पविकल्पात्मिका-इन्द्रियमनोज्ञानधारा)—लोकाधारभूता (इन्द्रियाणि)

(९८)-अवस्थात्रयीमाध्यम से प्रश्नसमाधान—

एक दूसरे उदाहरण से कारणमीमांसा कीजिए, किन्तु-"सर्वथा अपने मनस्तन्त्र में ही, *मनोऽनुगता* अनिरुद्ध माया में ही" इस सत्यनिष्ठा के साथ। क्योंकि, कारणमीमांसा का आप लक्ष्य उसे बना रहे

है, जहाँ ० वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन-बुद्धि-महान्-आदि किसी भी ज्ञानधारा की गति नहीं है श्रुति के-'विज्ञातारमरे! या केन विजानीयात्' इस सिद्धान्तानुसार। प्रज्ञानमनानुगता तमूल इन्द्रियचम्पना को सहजभाव से महज्जम्द्रा (इतस्ततः आत्मकामना) पूर्ण अपने समूल-(कृत्स्न) बना लिया। इसी सहजभाव से अपने क्रम से पूर्व-पूर्व मन कर आप रात्री विश्रामानुगत बनते हुए 'स्वमपीतो भवति' लक्षणा स्वपिति' अवस्था (सुषुप्ति-शयन) के भाव में समाविष्ट हो गए, जिसकी व्याख्या वैज्ञानिकोंने इस प्रकार की है कि, अहःकालीन ज्ञानानुगत भावनासंस्कारों को अपने प्रज्ञागर्भित प्रच्छन्न प्राणधरातल में, एवं कर्मानुगत वासनासंस्कारों को अपने प्राणगर्भित सहज प्रज्ञा-(सौम्य)-धरातल में समाविष्ट अर्जित करते रहने वाला 'सर्वेन्द्रिय' नामक इन्द्रियाध्यक्ष प्रज्ञानमन अपने इस संस्कारपुञ्ज के साथ स्वाध्यक्ष विज्ञानात्मा (बुद्धि) के ज्योतिर्भाग से जबतक अनुगृहीत प्रकाशित रहता है, तबतक तो अपने इन्हीं संस्कारपुञ्जों के आधार पर काल्पनिक निर्म्माणात्मक स्वप्नों का सर्जन कर इनका द्रष्टोपद्रष्टा बना रहता है, एवं यही इसकी 'स्वप्नावस्था, कहलाई है, जिसका 'न तत्र रथा न रथयोगा' इत्यादिरूप से विस्तार से उपवर्णन हुआ है। आगे चल कर जब विज्ञानात्मा अपने आश्रित इस संस्कारी प्रज्ञानमन को अपनी प्रभूतज्योति से अभिभूत कर देता है, तो यह चान्द्रप्रज्ञानमन उसी प्रकार इस सौरविज्ञान के प्रखर तेज से निस्तेज बन जाता है, जैसे कि अहःकाल में सौरतेजसे खगोलमें विद्यमान भी चन्द्रमा निस्तेज-हतप्रभ बन जाया करता है। चन्द्रमा है, चन्द्रिका भी है। किन्तु अभिभव के कारण रहती हुई-भी चन्द्रिका नहीं के समान है। ठीक यही दशा इस समय चान्द्रप्रज्ञान मन की हो जाती है। मन भी है, उसमें चन्द्रिकास्थानीय भावना-वासनासंस्कारप्रज्ञा भी है। किन्तु कोई उपयोग नहीं हो सकता इस अभिभवदशा में इस मानसी प्रज्ञा का। यहाँ आकर विवश बने हुए मन को विज्ञानात्मा के साथ पुरीतन्नाडीमाग से दहराकाशस्थ ज्योतिषांज्योतिर्लक्षण नित्यविज्ञानघन सत्यज्ञानमनन्तब्रह्म पुरुषात्मक उस ईश्वरात्मा में विलीन हो जाना पड़ता है, जो इसका ही नहीं, अपितु इन्द्रिय-मन-बुद्धि-महान्-अव्यक्तादि सम्पूर्ण सोपाधिक भावों का प्रभवरूप 'स्व' आत्मा माना गया है।

---

* न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्म (बुद्धिर्न गच्छति-), न विजानीमः। यथैतदनुशिष्यात् अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्व्वेषां येनस्तद् व्याचचक्षिरे। केनोपनिषत् १।३।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा ॥
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥१॥
एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ॥
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥२॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।८,९।

इस 'स्व' रूप आत्मज्योति में इन सब (केवल महान् को छोड़ कर) सपञ्चात्मभावों की अपीति (अप्यय-विलयन) हो जाती है। यही 'सुषुप्ति-अवस्था' कहलाई है, जिसे स्व में अपीत होने के कारण 'स्वपिति' कहा गया है। इस अद्वैतावस्था में कुछ भी तो भान नहीं रहता। केवल जाग्रत महान् के अनुग्रह से + आध्यात्मिक प्राणों का सञ्चार होता रहता है, अतएव श्वास-प्रश्वास कर्म प्रक्रान्त रहता है, जो प्रक्रान्ति जीवनसत्ता का आधार मानी गई है। इसी आधार पर महानात्मनिबन्धन प्राणों को भी (प्राणापानसमानोदानव्यानरूप पञ्च प्राणों को भी) प्राणोपनिषत् ने जाग्रत मान लिया है। तदित्थ—इन्द्रियमायागर्भित (सौम्य वषट्कार के त्रिवृदग्नि-पञ्चदश वायु, एकविंश आदित्य, त्रिणव भास्वरसोम, त्रयस्त्रिंश दिक्सोम, इन पाँच पार्थिव भौतिक प्राणदेवताओं के प्रभव्यस्य से निष्पन्न आग्नेयी + वाक्-वायव्य प्राण-आदित्य चक्षु-दिश्य श्रोत्र-भास्वरसौम्य सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन, इन पञ्चविध प्राणेन्द्रियों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले) प्रज्ञानमन को स्वज्योति से सर्वात्मना अभिभूत कर देने वाले विज्ञानात्मा (बुद्धि) का पुरीतति नाड़ी के द्वारा दहराकाशस्थ अव्ययस्वरूपात्मा में अपीत हो जाने का नाम ही सुषुप्त्यवस्था है। निम्नलिखित श्रौत वचन इन्हीं तीनों अवस्थाओं का दिग्दर्शन करा रहे हैं, जिन तीनों अवस्थाओं का भोक्ता ज्ञानशक्तिमय प्राज्ञ, क्रियाशक्तिमय तैजस, एवं अर्थ-शक्तिमय वैश्वानर, ये तीनों सौम्यात्मपर्व बन रहे हैं। जाग्रदवस्था में महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-तीनों जाग्रत हैं। स्वप्नावस्था में महान्-विज्ञान जाग्रत हैं। सुषुप्त्यवस्था में केवल महान् जाग्रत है, जिसे सुषुप्त्यवस्थानन्तर-'सुखमहमस्वाप्सी' यह उद्घोष करने का अवसर प्राप्त हुआ करता है। महानात्मा की सुषुप्ति ही मृत्युलक्षणा सर्वावसाना वस्था मानी गई, जिस इस सर्वावसान-सर्वप्रवृत्ति के मूलाधार महानात्मा को स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा के सम्बन्ध से 'शान्तात्मा' (क) भी कहा गया है।

— य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाणः। तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् (महानात्मा)

—कठोपनिषत् ५।८।

+ अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायु प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्य श्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् ॥

—ऐतरेयोपनिषत् २।४।

(क) तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि (कठोपनिषत्–१।३।१३)।

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्।

यदा स्वपिति 'शान्तात्मा' तदा सर्वं निमीलति ॥

मनु १।५२।

क (१)–अथ हैनं सौर्य्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ–भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे (अध्यात्मसंस्थायां) कानि स्वपन्ति ?, कान्यस्मिन् जाग्रति ?, कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति ?, कस्यैतत् सुखं भवति ?, कस्मिन्नु सर्व्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति ?, इति । तस्मै स होवाच–यथा गार्ग्य ! मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः, सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकी भवन्ति, ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवन्ति (इन्द्रियाणि)। तेन तर्ह्येष पुरुषः–न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नादत्ते, न विसृजते, नेयायते । 'स्वपिति' इत्याचक्षते । (सैषा सुषुप्त्यवस्था) ॥

(२)–प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः, व्यानोऽन्वाहार्य्य पचनः । यद्गार्हपत्यात्–प्रणीयते, प्रणयनात्–आहवनीयः प्राणः । यदुच्छ्वास निःश्वासौ–एतावाहुती समं नयतीति, स समानः । मनो ह वाव यजमानः । इष्ट फलमेवोदानः । स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति । (सैषा जाग्रदवस्था) ॥

(३)–अत्रैष देवः (मनः) 'स्वप्ने' महिमानमनुभवति, यत्–दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्व्वं पश्यति, सर्व्वः पश्यति । (सैषा स्वप्नावस्था) ॥

(४)–स यदा तेजसा (विज्ञानात्मना) अभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति, अथैतस्मिञ्छरीरे एतत् सुखं भवति । (सैषा सुखावस्था) ॥

(५)–स यथा सोम्य ! वयांसि (पक्षिणः) वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्व्वं पर आत्मनि (अव्ययात्मनि) सम्प्रतिष्ठते । (सैषा सम्प्रतिष्ठितावस्था)॥

(६)–एष हि द्रष्टा–स्प्रष्टा–श्रोता–घ्राता–रसयिता–मन्ता–बोद्धा–कर्त्ता–'विज्ञानात्मा' पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते । परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते । स यो ह वैतत्-

क–इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यों में, विशेषतः 'प्रश्नोपनिषत्-विज्ञानभाष्य' के एतत्प्रकरण में देखना चाहिए ।

अच्छाय–अशरीर–अलोहित–शुभ्रमक्षर वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वो भवति, तदेष श्लोकः—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वै प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षर वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्व्वज्ञ. सर्व्वमेवाविशेति"

—प्रश्नोपनिषत् ४ प्रश्न' ।

अयमत्र सग्रहः–अवस्थानुगत —

(१)—कानि स्वपन्ति ?	प्रज्ञानमनोऽनुगतानीन्द्रियाणि स्वपन्ति ।
(२)—कान्यस्मिन् जाग्रति ?	महानात्मानुगता पञ्च प्राणा जाग्रति ।
(३)—कतर एष देव' स्वप्नान् पश्यति ?	सर्वेन्द्रियमन स्वप्नान पश्यति विज्ञानात्मना ।
(४)—कस्यैतत सुखं भवति ?	महानात्मन' सुखं भवति ।
(५)—कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति ?	परेऽव्यये सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति सर्वे ।

(७)–तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत –इद च (जाग्रत्स्थान)–परलोक-स्थान च (सुषुप्तिस्थानञ्च) । सन्ध्य तृतीय स्वप्नस्थानम् * । तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति–इद च, परलोकस्थान च । अथ यथाक्रमोऽय परलोकस्थाने भवति । तमाक्रम्याक्रम्य–उभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति । स यत्र प्रस्वपिति–अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वय विहत्य स्वय निर्म्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति । अत्राय पुरुष स्वयञ्ज्योतिर्भवति ।

(८)–न तत्र रथाः, न रथयोगा , न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान्–रथयोगान्–पथ –सृजते । न तत्रानन्दा –मुद –प्रमुदो भवन्ति, अथानन्दान्–मुद –प्रमुद सृजते । न तत्र वेशान्ता –पुष्करिण्यः–स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्ता –पुष्करिण्य स्रवन्त्यो सृजते । स हि कर्त्ता । तदते श्लोका भवन्ति—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्त सुप्तानभिचाकशीति ॥
शुक्रमादाय पुनरति स्थान हिरण्मय पुरुष एकहस ॥१॥ (विज्ञानात्मा)

---

* सन्ध्ये सृष्टिराह हि । सूचकश्च हि । निर्म्मातार चैक पुत्रादयश्च । (वेदान्तसूत्राणि)

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलाय बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ॥
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंस ॥२॥ (हंसात्मा)
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देव कुरुते बहूनि ॥
उतेव स्त्रीभि सह मोदमानो जक्षदुतवापि भयानि पश्यन् ॥३॥ (प्रज्ञानात्मा)॥

(९)—आराममस्य पश्यन्ति, न त पश्यति कश्चनेति । त नायत बोधयेदित्याहु । दुर्भिषज्यं हास्मै भवति, यमेष न प्रतिपद्यते । अथो खल्वाहु —'जागरितदेश एवास्यैष' इति । यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्त, इति । अत्राय पुरुष' स्वयज्योतिर्भवति ।

(१०)—स वा एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य च पाप च पुनः प्रतिन्याय प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव । स यत्तत्र किंचित् पश्यति, अनन्वागतस्तेन भवति । असङ्गो ह्यय पुरुषः ।

(११)—स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य च पाप च पुनः प्रतिन्याय प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव । स यत् यत्र किञ्चित् पश्यति, अनन्वागतस्तेन भवति । असङ्गो ह्ययं पुरुष ।

(१२)—स वा एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य च पाप च पुन' प्रतिन्याय प्रतियोन्याद्रवति, स्वप्नान्तायैव ।

(१३)—तद्यथा महामत्स्य —उभे कूलेऽनुसञ्चरति—पूर्वञ्च—अपरञ्च, एवमेवायं पुरुषः—एतौ—उभौ—अन्तौ—अनुसञ्चरति स्वप्नान्त च बुद्धान्त च । तद्यथास्मिन्—आकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियते, एवमेवाय पुरुषः—एतस्मा (स्मै) अन्ताय धावति, यत्र सुप्तो न कञ्चन काम कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ।

(१४)—ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो—यथा केशाः सहस्रधा भिन्नास्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति—शुक्लस्य—नीलस्य—पिङ्गलस्य—हरितस्य—लोहितस्य—पूर्णाः । अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव—हस्तीव—विच्छाययति—गर्तमिव पतति । यदेव जाग्रद्भयं पश्यति, तदत्राविद्यया मन्यते । अथ यत्र देव इव, राजेव, अहमेवेद सर्वोऽस्मि—इति मन्यते,

सोऽस्य परमो लोक । तद्वा अस्यैतत्–अतिच्छन्दा–अपहतपाप्मा–अभय रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद, नान्तरम् । तद्वा अस्यैतत्–आप्तकाम–आत्मकाम–अकाम रूप शोकान्तरम् ।

(१५)–अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवा, वेदा अवेदा । अत्र स्तेनोऽस्तेना भवति, भ्रूणहा अभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डाल, पौल्कसोऽपौल्कस, श्रमणोऽश्रमण, तापसोऽतापस । अनन्वागत पुण्येन, अनन्वागत पापेन । तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ।

(१६)–यद्वै तन्न पश्यति–पश्यन्वै तन्न पश्यति । न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति -ततोऽन्यद्विभक्त पश्येत् । यद्वै तन्न जिघ्रति, न रसयते, न वदति, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति, न विजानाति, न हि–घ्रातुर्घ्रातेः –रसयितुः रसयते –वक्तुर्वक्ते –श्रोतुः श्रुतेः–मन्तुर्मते –स्प्रष्टुः स्पृष्टेः-विज्ञातुर्विज्ञाते –विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति-ततोऽन्यद्विभक्त यज्जिघ्रेत्–यद्रसयेत्–यद्वदेत्–यच्छृणुयात्–यन्मन्वीत–यत् स्पृशेत्–यद्विजानीयात् । यत्र वा अन्यदिव स्यात्–तत्राऽन्योऽन्यत् पश्येत्–जिघ्रेत्–रसयेत्–वदेत्–शृणुयात्–मन्वीत–स्पृशेत्–विजानीयात् । सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति । एष ब्रह्मलोकः सम्राट्–इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य । एषास्य परमा गतिः । एषास्य परमा सम्पत् । एषोऽस्य परमो लोक । एषोऽस्य परम आनन्दः । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ४ अ०।३ ब्रा०।

(१७)–सर्वं ह्येतद्ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात् । जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञ–सप्ताङ्गः–एकोनविंशतिमुखः–स्थूलभुक्–वैश्वानरः प्रथमः पाद (जाग्रदवस्थानुगत) । स्वप्नस्थानोऽन्त प्रज्ञ –सप्ताङ्ग –एकोनविंशतिमुख–प्रविविक्तभुक्–तैजस –द्वितीय पादः (स्वप्नावस्थानुगतः) ॥ यत्र सुप्तो न कञ्चन काम कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान –एकीभूत -प्रज्ञानघन –एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्–चेतोमुख–प्राज्ञः–तृतीयः पाद (सुषुप्त्यवस्थानुगत) ॥ एष सर्वेश्वरः (अध्यात्मसंस्थायाः) । एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्यामी, एष योनि सर्वस्य । प्रभवाप्ययौ हि (शारीर) भूतानाम् ।

(१८)–नान्तःप्रज्ञ—न बहिः प्रज्ञ–नोभयतः प्रज्ञ–न प्रज्ञानघन–न प्रज्ञ–नाप्रज्ञ—मदृष्ट–अव्यवहार्य्य—अग्राह्य–मलक्षण–मचिन्त्य–मव्यपदेश्य–एकात्मप्रत्ययसार—प्रपञ्चोपशम–शान्त–शिव–मद्वैत–चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा। स विज्ञेय। सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रम्। पादा मात्रा। मात्राश्च पादाः–मकार, उकार, मकारः, इति।

(१६)–जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा–माप्तरादिमत्त्वात्। माप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिश्च भवति, य एव वेद॥ स्वप्नस्थानस्तैजस–उकारो द्वितीया मात्रा–उत्कर्षादुभयत्त्वाद्वा। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति, समानश्च भवति, नास्याऽब्रह्मवित् कुले भवति, य एव वेद॥ सुषुप्तस्थान प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा–मितेरपीतेर्वा। मिनोति ह वा इद सर्व, मपीतिश्च भवति–य एवं वेद। ममात्रश्च तुर्योऽव्यवहार्य्यः प्रपञ्चोपशमः शिव–मद्वैतः। एवमोङ्कार आत्मैव। संविशत्यात्मना (अमृतात्मना–सर्वभूतान्तरात्मना) आत्मान (जीवात्मानं–भूतात्मानं) य एव वेद, य एव वेद॥ —माण्डूक्योपनिषत्।

मयमत्र सग्रहः—

(६) अवस्थाप्रवर्त्तकमोङ्कारात्मस्वरूपपरिलेखः—

(क)–प्रपञ्चोपशम–(चतुर्थ–सर्व)–सर्वाधार–सर्वमात्रासमतुलित–साक्षी
(१)–प्राज्ञ–(विश्वः–एकर्षिरा–ऐन्द्र)–सुषुप्त्यवस्थाधार–मकारमात्रिक–मानन्दभुक्
(२)–तैजस (आन्तरिक्ष्य–पञ्चवरा–वायव्य)–स्वप्नावस्थाधार–उकारमात्रिक–प्रविविक्तभुक्
(३)–वैश्वानर) पार्थिव–त्रिवृत–माग्नेय)–जाग्रदवस्थाधार–मकारमात्रिकः–स्थूलभुक्
—प्रणवोङ्कारमूर्त्तिर्मोक्षसाक्षी

(१०) चतुष्पादात्मस्वरूपपरिलेख—

१—इन्द्रियानुगतो वैश्वानर —(इन्द्रियाणि)—जाग्रदवस्थाभूमि
२—प्रज्ञानमनोनुगतस्तैजस —(मन)—स्वप्नावस्थाभूमि
३—विज्ञानबुद्ध्यनुगत प्राज्ञ —(बुद्धि)—सुषुप्त्यवस्थाभूमि
४—महानात्मानुगत प्रपञ्चोपशम—(महान्)—सर्वावस्थाभूमि
—सोऽयमात्मा चतुष्पात् 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'

अथमत्र सर्वसंग्रह — (११)–अधिदैवत–अध्यात्मसमतुलनपरिलेख:—

अधिदैवत		अध्यात्म	
—सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्पर		—अभयम्	—सर्वभाव
(क) त्रिपुरुषपुरुषात्मक —पुरुष		—साक्षी (श्वोवसीयसमन)	—पुरुषभाव
(१) स्वायम्भुवाव्यक्त	—परमात्मा	—शान्तात्मा (विरज)	प्रकृतिभाव
(२) पारमेष्ठ्य	—प्रजापति	—महानात्मा (सत्त्वम्)	
(३) सौर	—हिरण्मयः पुरुष	—विज्ञानात्मा (बुद्धिः)	
(४) चान्द्र	—अन्नमय पुरुष	—प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रियमन)	
—१—विश्वेन्द्रमूर्त्ति	—सर्वज्ञ	—प्रज्ञानात्मा (आनन्दभुक्)	भोक्ता
—२—आन्तरिक्ष्यवायुमूर्त्ति	—हिरण्यगर्भ	—तैजसात्मा (प्रविविक्तभुक्)	
—३—पार्थिवाग्निमूर्त्ति	—विराट्	—वैश्वानरात्मा (स्थूलभुक्)	
त्रयस्त्रिंशानुगत (३३)	—दिक्सोम (५)	—श्रोत्रम्	भोगसाधनानि
त्रिणवानुगत (२७)	—भास्वरसोम (४)	—इन्द्रियमन	
एकविंशानुगत (२१)	—आदित्य (३)	—चक्षु	
पञ्चदशानुगत (१५)	—वायु (२)	—प्राण	
त्रिवृदनुगत (९)	—अग्नि (१)	—वाक्	
(५) भौम —	—भूतेश	—शरीरम्	भोगायतनम्

इति नु—अधिदैवतम् ——— ——— इति नु—अध्यात्मम्

पूर्णमद ——— ——— पूर्णमिदम्

सोऽसौ ——— ——— योऽहम्

योऽसौ ——— ——— सोऽहम्

"सर्वमिदमोङ्कार एव"

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।
इन्द्रियेभ्य परं मन , मनस सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा,महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।
अव्यक्तस्तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्त्वं च गच्छति॥
—कठोपनिषत् ६।६।७,८

एकोनविंशतिविधप्रपञ्चानुगत पूर्वोद्धृत औपनिषद् वचनों के मानसिक समन्वय के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि—प्रसङ्गोनिभूत सत्यमूर्त्ति महानात्मा के महदायतन में प्रतिष्ठित वैश्वानर तैजस-प्राज्ञभावों से ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तिमय बनता हुआ भोक्ता यही कर्मात्मा इन्द्रिय-प्रज्ञानमन-विज्ञानबुद्धि, इन तीन प्राकृत भावों के सहयोग से क्रमशः जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति नाम की तीन सुप्रसिद्ध अवस्थाओं का सहजरूप से अनुगामी बना रहता है, बना रहना चाहिए। 'बना रहना चाहिए' यह सन्दिग्ध वाक्य इस लिए प्रयुक्त हुआ कि, यदि विज्ञान-प्रज्ञान-इन्द्रिय-शरीरादि-सूक्ष्मतम-सूक्ष्मतर-सूक्ष्म-स्थूल-चारों आभ्यन्तर-बाह्य साधनों के द्वारा कर्मात्मा सत्यमूर्त्ति महानात्मा की सहज-प्राकृतिक-ईश्वरेच्छा का अनुगामी बना रहता है, तब तो इसके शारीरिक-ऐन्द्रियक-मानसिक-एवं बौद्ध कर्म भी उत्पत्तिकांक्षारूपा सहजकामनालक्षणा सहजेच्छा से ही सुसमन्वित बने रहते हैं। यदि प्रज्ञापराधवश कर्मात्मा उत्थाप्याकांक्षारूपा कृत्रिमकामनारूपा इच्छा का क्रीतदास बन जाता है, तो इस अवस्था में यह उस सहज आत्मकामनानुग्रह से वञ्चित होता हुआ लक्ष्यभ्रष्ट बन जाता है। एवं इस दुरवस्था में आकर ही यह लक्ष्यभ्रष्ट-सर्वभ्रष्ट मानव भूतदृष्टिपरायण बनता हुआ भौतिक-स्थूलकाम्यकर्मों की मीमांसा-जिज्ञासा-प्रश्नोत्तरविमर्शाकांक्षा में प्रवृत्त हो जाता है।

सहजरूप से जाग्रदवस्था में संयुक्त सहज मानव सहज कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ सहजभावापन्न भावना-वासनासंस्कारपुञ्जों से समन्वित होता हुआ सहजरूप से निद्रानुगामी बन कर भोक्ता बन सहज स्वप्नद्रष्टा हो गया। ऐसे सहज मानव के सहज स्वप्न वास्तव में शुभाशुभ भावों के सूचक बनते रहते हैं। स्वप्नावस्थापर्यन्त कर्मप्रवृत्त्याधारभूत भावना-वासनासंस्कारपुञ्ज अन्तर्जगत् में उद्बुद्ध हैं, विकसित हैं। अतएव स्वप्नावस्था में जाग्रदवस्था की भाँति विविध सूक्ष्म कर्म वस्तुगत्या प्रक्रान्त रहते हैं। जो अर्वाचीन दार्शनिक स्वप्नवत् जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन करने की महद्भ्रान्ति करते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, जब स्वप्न ही मिथ्या नहीं, तो तदाधारेण 'नामरूपे वै सत्यम्। *ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः*' (शत० ब्रा० १४।४।४।४) इत्यादि श्रौती घोषणाओं से अनुप्राणित सर्वथा 'सत्य' विश्व को मिथ्या प्रमाणित करने का साहस कथमपि क्षम्य नहीं माना जा सकता। शशशृङ्ग-खपुष्प-वन्ध्यापुत्र-आदि कतिपय उदाहरण तो अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए फिर भी हम मान्यकोटि में अन्तर्भुक्त कर लेते हैं। किन्तु जिस स्वप्नजगत् में तदनुबन्धी सूक्ष्म कर्मों का स्थूल परिणाम भूत-परिणामवत् प्रत्यक्ष दृष्ट है, उस स्वप्नजगत् को तो कथमपि काल्पनिक-भ्रान्तिसिद्ध-किंवा मिथ्या नहीं कहा जा सकता। स्वयं मूलदर्शन ने (वेदान्तसूत्र) जब कि—'सन्ध्ये सृष्टिराह हि—सूचकश्च हि' इत्यादि रूप से स्वप्न को शुभाशुभ भावों का सूचक घोषित किया है, तो विदित नहीं किस प्रकार वेदान्तनिष्ठ-व्याख्या के आवेश से वेदान्तव्याख्याताओं ने स्वप्नवत् जगन्मिथ्यावाद की कल्पना कर डाली ! । त एव प्रष्टव्या अभिनिविष्टाः ।

'सुप्तोऽहं किल विललाप' इत्यादि अनुभूतियाँ स्पष्ट हैं। स्वप्न में मानव के अश्रुपात होते देखे गए हैं, अट्टाट्टहास-मन्दहास-अलग्न वैखरीवागुच्चारण अनुभूत हैं। स्वप्नानुगत दाम्पत्यकर्म के परिणामस्वरूप रेत स्खलन 'स्वप्नदोष' नाम से प्रसिद्ध ही है। यदि इन स्थूल-प्रत्यक्षदृष्ट परिणामों के अनुरूप स्वप्न में कर्म न होता, तो इन परिणामों का एवंविध मूर्तरूप खपुष्प-वन्ध्यापुत्रादिवत् सर्वथा असम्भव ही बना रहता। इसीलिए तो इस व्याख्यात्मक भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में हमें विवश बन कर यह कहना ही पड़ रहा है कि, नैगमिक सर्गव्याख्यालक्षणा आचारमीमांसा से असंस्पृष्ट यह केवल तत्त्वमीमांसात्मक भारतीयदर्शन 'दर्शन' से अधिक कुछ भी तो नहीं है। अलमतिपल्लवितेन। उत्तर खण्ड में थोड़े विस्तार से दार्शनिक दृष्टिकोण की मीमांसा होने वाली है। अतः इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत कर दिया जाता है। निष्कर्षत ये स्वाप्न अनुभूतियाँ अपने उदकमार्गों से यह प्रमाणित कर रहीं हैं कि, स्वप्नानुगत सांस्कारिक कर्म केवल भातिसिद्ध-काल्पनिक पदार्थ नहीं हैं, अपितु स्थूल जाग्रज्जगद्वत् सत्ता-सिद्ध सत्य तत्त्व हैं। अतएव 'स्वप्नवत् जगत् मिथ्या' वाक्य के स्थान में अवश्य ही निगमनिष्ठ मानव को 'जगद्वत् स्वप्न भी सत्य' इस वाक्य का प्रतिष्ठान कर लेना चाहिए।

हाँ, तो प्रकृत दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाइए। इत्थंभूता सूक्ष्म स्वप्नावस्था के अनन्तर संस्कारसमन्वित प्रज्ञानमन विज्ञानज्योति से सर्वथा अभिभूत होता हुआ विज्ञानद्वारा पुरीतत्‌नाड़ी के मार्ग से स्वाधार-सर्वाधार आत्मदेवता में अपीत हो जाता है, यही इस की सुषुप्त्यवस्था है, जिसे ब्रह्मावस्था (अद्वैतावस्था) से समतुलित माना गया है दाम्पत्यभाववत्। इस अवस्था में सब कुछ अपीत है। यहीं यह मूलप्रश्न उपस्थित हो पड़ता है, जिसके समन्वय की आज तक चेष्टा हुई है। जबकि कामना-संस्कार-क्रिया-बुद्धि-मन-इन्द्रियव्यापार-आदि सब कुछ इस अवस्था में विलीनवत् है, तो पुन जाग्रदवस्था किसकी कामना-किसकी प्रेरणा से आविर्भूत हो पड़ी ? यही तो आलोचक का मुख्य मूलप्रश्न है। जो समाधान इस प्रश्न का है, वही समाधान उस प्रश्न का है। समाधान का मूलाधार है 'बल की सहज अवस्था', जिसका शाश्वत चक्रमणात्मक अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्तादि धारारूप से सतत चंक्रमण होता रहता है। चङ्क्रमण सहज, तदनुगता कामना-प्रेरणा सहज। और इस सहज परिवर्त्तन में कृत्रिम काम्य-कारणात्मक प्रश्नों का समावेश सर्वथा अवरुद्ध।

त्रयाभावापन्न बलों की 'सुप्तावस्था कुर्वद्रूपावस्था-निगच्छदवस्था' रूप से तीन मुख्य अवस्थाएँ मानीं गईं हैं। ये ही तीनों अवस्थाएँ विज्ञानपरिभाषानुसार क्रमशः 'बल-प्राण-क्रिया' इन नामों से प्रसिद्ध हुईं हैं। सुप्तावस्था में वही बल 'बल' कहलाया है, कुर्वद्रूपावस्था में वही बल 'प्राण' कहलाया है, एवं निगच्छदवस्था में वही बल 'क्रिया' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उदाहरण के माध्यम से इस बलत्रयी का समन्वय कीजिए। आप सशक्त हैं, इसका यह अर्थ हुआ कि आप बलवान हैं। तात्पर्य, आप में बल मात्रा आवश्यकतानुसार परिपूर्ण है। इसी बल के आधार पर तो आप गमनागमन-अशनपानादि करने में सशक्त (सक्षम-समर्थ) माने जाते हैं। हाँ, तो आपको अपने दैनंदिन नियमानुसार सहजभाव से

अपने नियत सहज समय में गन्तव्य स्थान की ओर गमन करता है। इस गमन से पूर्व आप यथास्थान सहज भाव से समासीन हैं। इस आसीनावस्था में आपका बल (गत्युन्मुख बल) 'सुप्त' माना जायगा, जिसे कि आपने अभी कार्य्यरूप में परिणत नहीं किया है, किन्तु निकट भविष्य में ही कार्य्यरूप में परिणत करने वाले हैं। इस अनुदयावस्थापन्न बल को ही 'सुप्तबल' कहा जायगा, यही 'बल' कहलायगा।

सहसा सहजभाव से बिना किसी तात्कालिक कामना से प्रेरित होकर नियत समय पर गन्तव्य स्थान की ओर आप अभिमुख हो पड़ते हैं। सुप्त—अचित—प्राणात्मक बल जागरूक हो पड़ता है, उद्बुद्धावस्था में परिणत हो जाता है। बल की गतिरूपा यही द्वितीयावस्था 'प्राण' कहलाई है। इस प्रकार आप कपतक—कहाँतक—कितने वेग से गत्युन्मुख बने रह सकते हैं ?, प्रश्नों का समाधान योग्यबलोदय के द्वारा प्राणरूप में परिणत बल की इयत्ता पर ही अवलम्बित है। प्राणावस्था में परिणत बल शनैः शनैः भावानुगत भी तो बनता रहता है, दूसरे शब्दों में व्यय भी तो होता रहता है। ऐसा भी समय आ सकता है, जब आप एक पादमात्र भी अग्रगामी बनने में असमर्थ हो जायें। इसलिए कि, प्राणावस्थापन्न बल अपने सहज विस्रंसन—क्षयरूप—धर्म्म से व्यय जो होता रहता है। यही बल की तीसरी निगच्छदवस्था है, जिसे वैज्ञानिकोंने गुणभूतावयवानुगत भावबल के माध्यम से 'क्रिया' नाम से व्यवहृत किया है*।

(९६)—ज्ञान—इच्छा—क्रतु—कर्म्मस्वरूपपरिचय—

एक अन्य दृष्टिकोण से बलावस्थात्रयी का समन्वय कीजिए। आप का हाथ अभी निश्चल है। मक्षिका—मशकादि के दंश निवारणार्थ निश्चल भी हाथ सहसा गतिरूप में परिणत हो जाता है। इस हस्तविधूननरूप कर्म्म में 'ज्ञान—इच्छा—क्रतु—कर्म्म' ये चार भाव समाविष्ट माने गए हैं। 'मैं हाथ उठाऊँ' इस सहज इच्छा का मूलाधार (जिसके कार्य्यकारण से हम स्वयं भी परिचित नहीं हो पाते) मनोमय प्रज्ञानज्ञान है, यही सम्पूर्ण इच्छारूप अर्कों (रश्मियों) का मूल उक्थ (प्रभव) है। इसी आधार पर 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इच्छा के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही हाथ में आमूलचूलरूप से एक प्रकार का कम्पन-सा हो पड़ता है, जिसका अर्थ है आभ्यन्तर प्राणव्यापार। जिसे संस्कृत भाषा में कृति—यत्न—चेष्टा आदि कहा जाता है, यही छन्दोम्यस्ताभाषा (वेदभाषा) में 'क्रतु' कहलाया है। अर्द्धाङ्ग (लकवा) का रोगी कामना करता है, कामना को कर्म्मरूप स्थूलभाव में परिणत करने वाला भौतिक शरीर भी यहाँ है। किन्तु भूत तथा मन, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहने वाला प्राण इसका मूर्च्छित है। अतएव इसकी कामना कार्य्यरूप में परिणत नहीं हो पाती। यही 'कृति' का निदर्शन है। इस आभ्यन्तर—सूक्ष्म—प्राणव्यापाररूप क्रतु के अव्यवहितोत्तरकाल में ही हाथ (हस्तात्मक स्थूलभूत) क्रियाशील बन जाते हैं, हाथ हिल पड़ता है। यही 'कर्म्मावस्था' कहलाई है, जिसे

* गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः 'क्रिये'ति व्यपदिश्यते ॥
—वाक्यपदी (भर्तृहरिर्म्महावैय्याकरणः)।

विज्ञानभाषा में 'दक्ष' कहा गया है। अतएव कर्मवृत्ति 'दक्षता-दाक्षिण्य' कहलाई है, तथ च मानवमें यह 'दक्ष' कहलाया है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही चान्द्रकलात्मक दक्षसूत्र के आधार पर दक्षप्रजापति का सुप्रसिद्ध पौराणिक इतिहास अवतीर्ण हुआ है। इस प्रकार मनोमय ज्ञान, तज्जन्या इच्छा, तज्जन्य क्रतु, तज्जन्य कर्म, चारों के समसमन्वय से ही 'क्रतु' (कर्मस्वरूपनिष्पत्ति) भाव का उदय होता है, जैसाकि अभियुक्तोंने कहा है—

> ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।
> कृतिजन्य भवेत् कर्म, तदेतत् 'क्रत' मुच्यते ।।

(७०)—बल-प्राण-क्रिया-स्वरूपपरिचय—

महानात्मा मनोमय है, कृतिभाव प्राणमय है, कर्मभाव वाङ्मय है। मन-प्राणवाङ्मय आत्मा ही ज्ञान सहकृत कामना-कृति-कर्म-रूप कृतात्मा नामसे प्रसिद्ध हुआ है, जिसका—'कृतात्मा महालोकमभिसम्भ वामि'—(छान्दोग्य० उप० ८।१२।१) इत्यादि रूपसे यशोवर्णन हुआ है। यही कृतात्मा श्रौतस्मार्त्त उपनिषदों में—'युक्तात्मा'—'आरूढ'—'पर्य्याप्तकाम'—'आत्मकाम'—'आप्तकाम' इत्यादि उपाधियों से विभूषित हुआ है *। इन चारों कृतभावों में मनोमय बल मुख्यबल है, ज्ञानसहकृत-इच्छाभाव, एवं तदभिन्न आभ्यन्तर प्राणबलात्मक कृतिभाव कुर्वद्बल है। एवं भूतानुगत कर्म निर्गच्छद्बल है। इस दृष्टि से भी बल-प्राण-क्रिया का समन्वय हो रहा है।

अयमत्र संग्रहः—ज्ञानेच्छाक्रतुकर्मविषयसमष्टिपरिलेख —

१—ज्ञानम् (उक्थम्) २—इच्छा (अर्कः)	—मनस्तन्त्रम् (ज्ञानम्)—मुप्तबलात्मकं बलम् (१)	—समष्टिरेव (कृतभावाः)
३—क्रतुः (अर्कभावाः) ४—कर्म (अर्करूपाः)	—प्राणतन्त्रम् (क्रिया)—कुर्वद्रूपात्मकः प्राणः (२)	
*क्रिया (अशीतयः)	—अर्थतन्त्रम् (अर्थ)—निर्गच्छद्रूपा क्रिया (३)	

---

*कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते यत्र तत्र ।।
पर्य्याप्तकामस्य 'कृतात्मनस्तु' इहैव सर्व्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।१।।
सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ता 'कृतात्मानो' वीतरागा प्रशान्ता ।।
ते सर्व्वगं सर्व्वतः प्राप्य धीरा 'युक्तात्मान' सर्व्वमेवाविशन्ति ।।
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।२,५।

(टिप्पणी का शेषांश पृष्ठ २९४ पर देखिए)

(७१)-मन का सहज धर्म्म, और प्रश्न समाधान—

अवस्थात्रयी मन का सहज स्वभाव है। कब क्यों कहाँ क्या हो पड़ता है ?, इत्यादि प्रश्नपरम्पराओं का मन के इस सहजकाम—सहजप्रेरणा—सहजक्रिया—सहजकर्म्मों के सम्बन्ध में प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। सुप्तावस्था का यह अर्थ किस आधार पर मान लिया गया कि, अब यह मन अपने सहज कुर्वद्भाव से ही उच्छिन्न हो गया। कुर्वद्रूपता का अभिभवमात्र है अव्यक्तावस्था में। जैसे कुर्वद्रूपता—कामना—क्रियाभावों का अभिभवभावात्मक अव्यक्तभाव सहज है, स्वाभाविक है, तथैव इनका व्यक्तीभाव भी तो सहज ही रहेगा। इस दिशा में किसने, कब, कहाँ प्रेरित किया ? प्रश्नों का अवसर ही कहाँ प्राप्त होता है। सुषुप्ति में श्रवण—मननादि सब व्यापार अव्यक्तभाव में परिणत हो जाते हैं, इसका यह अर्थ कैसे मान लिया गया कि, ये सब व्यापार नष्ट ही होगए, अतः अब इनकी पुनः प्रवृत्ति के लिए किसी नवीन सृष्टि-कर्म्म—नवीन कामना—नवीन प्रेरणा—नवीन क्रिया—कर्म्म की अपेक्षा है ? 'नासतो विद्यते भाव—नाभावो विद्यते सतः' लक्षण सत् कार्य्यवाद सिद्धान्त से परिचित मानव कभी इस आविर्भाव-तिरोभावमूलक सहज सर्ग—प्रलयधारा में इस प्रकार के न च—नु च की कल्पना भी नहीं कर सकता। 'धाता यथापूर्वमकल्पयात्—'—'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इत्यादि निगमवचन सत्कार्यानुबन्धी इसी शाश्वत धाराक्रम का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिसके महिमभाव (विवर्त्तभाव) से अपरिचित यथाजात मानव ही कब—कैसे—किसलिए ? इत्यादि निरर्थक प्रश्नों का अनुगामी बना रहता है। जो समाधान यह अपनी विज्ञानदृष्टि से अपनी सुषुप्त्यवस्था के अनन्तर समागत जाग्रत् अवस्था के लिए करेगा, कर सकेगा ?, वही समाधान उस सुप्त मायाबल के सम्बन्ध में समन्वित मान लिया जायगा, जो सर्वलयभाव शाश्वत मनलक्षण मायाबीज अनन्तर परात्पर में लुप्त हो जाया करता है।

यह सत्कार्य्यवादी ऐसा निरर्थक प्रश्न करेगा ही क्यों, जिसने यह मर्म्म हृदयङ्गम कर लिया है कि शिल्पी पाषाणशिला से किसी नवीन प्रतिमा का निर्म्माण नहीं करता। अपितु अव्यक्तरूप से पूर्व से ही विद्यमान यथेच्छ प्रतिमा के आवरण को हटाकर मूर्ति को अपने शिल्पकौशल से व्यक्तमात्र कर दिया करता है। नहीं, तो वह पानी की प्रतिमा क्यों नहीं बना डालता ?। दुग्ध से ही तो घृत का विनिर्गमन सम्भव है। जो है, उसी का तो व्यक्तीभाव होता है। अहरागम में अव्यक्त से व्यक्त का सहज रूप से आविर्भाव, एवं राज्यागम में व्यक्त का अव्यक्त में सहज रूप से ही विलयन, इस सहज सर्ग—लयभाव में काल्पनिक कार्यकारण—प्रश्नोत्तर—विमर्शों का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। स्पष्ट है कि—

> अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(२४१ की टिप्पणी का शेषांश)

> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्॥
> आस्थितः स हि 'युक्तात्मा' मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(७२)–अचिन्त्या खलु ये भावाः—

असमविपत्तिविवेन। कुप्यद्वनन्यायेन विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्वमूलकारणभूत–सीमाभावप्रवर्त्तक–अव्यक्तावस्थापन्न मायाबल के प्राथमिक उदय से सम्बन्धित आलोचक के कार्य्यकारणभाव के समाधान की चेष्टा की गई। वह इससे कृतात्मा (संतुष्ट) बन जाय, अथवा तो अभिनिवेशानुग्रह से अपनी विमुखता को और भी दृढ बनाता हुआ सर्वज्ञानविमुख अकृतात्मा ही बना रह जाय, इत्यादि मीमांसाओं का भार उसी के बुद्धि-तन्त्र पर विसर्जित करते हुए हम तो जो सवान्त में अपनी उसी 'पुन एक बार भाव कुछ समझने जैसी है' इस-धारणा के माध्यम से इस सम्बन्ध में 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' आदेश को शिरोधार्य्य कर यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त समझते हैं कि, उस अनन्त ब्रह्म के अनन्त स्वरूप को भी जिस महामाया जगदम्बा उमा हैम वती पीताम्बरा भगवती ने सीमित बना डाला, उस महिमामयी विश्वाधारभूता महामाया के आविर्भाव–तिरोभाव जैसे अचिन्त्य प्रश्न को श्रद्धापूर्वक अचिन्त्य ही मानते हुए उसके इसी निःसीम अनुग्रह की कामना से सर्वात्मना तच्चरणों में अर्पित कर रहे हैं अपनी सामान्य बुद्धि को निम्नलिखित आर्षवाणी के आधार पर—

> अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
> प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

(७३)–युगानुगता लोकभावुकता—

वर्त्तमानयुग की लोकभावुकता के कारण समुपस्थित सामयिक उद्वेगकारी प्रश्नचर्चा को यहीं सदा के लिए समाप्त करते हुए हम पुनः अपने श्रद्धाशील पाठकों को उस महामाया की शरण में आकर्षित कर रहे हैं, जिसने अपने बलानुबन्धी सहजभाव से उदित होकर व्यापक परात्परब्रह्म के अमुक प्रदेश को स्वपुरसीमा से सीमित करते हुए 'पुरुष' अभिधा में परिणत कर दिया है, जो कि मायावच्छिन्न परात्पर अब परात्पर न कहला-कर 'पुरुष' नाम से ही घोषित होने लगा है। इसी दुर्विज्ञेय पुरुषाव्यय की उपासना में यह भावुक उसी महा-मायानुग्रह से प्रवृत्त होने का साहस कर रहा है।

पृष्ठ सं० २१२ से आरम्भ कर पृष्ठ सं० २१४ पर्य्यन्त यह स्पष्ट हुआ है कि, असीम परात्पर में सीमा-भावसम्पादक मायाबल का सहज भाव से उदय हुआ। इससे परात्पर ब्रह्म का तत्प्रदेश सीमित बनता हुआ इस मायापुर सम्बन्ध से 'पुरिशेते' निर्वचन से 'पुरिशय' बन गया, जो कि 'पुरिशय' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं (महर्षियों) की परोक्षभाषा में—'पुरुष' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ। इस पुरुष का केन्द्रस्थ बल ही 'श्वोवसी-यस्' नामक काममय आत्ममन कहलाया। इससे सर्वप्रथम उद्भूत मनोरेतोभूता कामना से यही अव्ययपुरुष–निष्कलपुरुष–आगे चलकर पञ्चकलात्मक बनता हुआ 'कोशब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस स्थिति के प्रसङ्ग में ही यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो गया था कि, असीम अतएव सर्वग्रास–अग्रास–परात्परब्रह्म में सुप्त माया बल को किसने प्रेरित किया?। इस प्रासङ्गिक प्रश्न का प्रसङ्गविधया विविध दृष्टिकोणों के माध्यम से समाधान करने की चेष्टा की गई। अब पुनः मायी निष्कल अव्यय पुरुष के पञ्चकल, तत्र प्रतिष्ठित कोशस्वरूप की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

(७४)—मनोमय कामात्मक रेत—

मनोमय कामात्मक रेत का मनामात्र निष्कल अव्ययपुरुष में 'एकोऽहं बहुस्याम्-प्रजायेय' इत्येवरूपा भूमाभावपरिणति की कामना से सहज कामनाभावरूप उदित हुआ। इस कामाख्य से निष्कल अव्यय-पुरुष को अपनी भूमा के साफल्य के लिए क्या प्राप्त हुआ ?, दूसरे शब्दों में अपनी इस प्रथम कामना से अव्यय को क्या लाभ हुआ ?, प्रश्न का समाधान है—"निष्कलरूपता से अव्ययपुरुष का कलात्मक 'सकल' रूप में परिणत हो जाना"। 'सकल' शब्द एक रहस्यार्थक शब्द है। लोकव्यवहार में 'सकल' शब्द का उपयोग सम्पूर्ण-पूर्णता' आदि भावों के लिए हुआ करता है, जैसा कि—'सकल ब्रह्माण्ड नायक परमेश्वर'-'सकलविश्वाधिष्ठाता'-'सकलत्रिभुवनभाग्यविधाता' आदि लोकव्यवहारों से प्रमाणित है। तत्त्वतः 'सकल' शब्द का अर्थ सम्पूर्ण, किंवा पूर्णता नहीं है। अपितु कलाभाव-सावयवभाव-का ही नाम 'सकल' है (कला सहित-सावयवसहित)। निष्कल अव्ययपुरुष की पांच कलाएँ ही पुरुष का कलात्मक-सावयवात्मक-सकलभाव है।

(७५)—'सकल' शब्द मीमांसा—

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, जब तक पुरुषात्मा रसबलचितिलक्षणा पांच कलाओं में अपने आपको विभक्त-परिणत न कर पञ्चकल विश्वात्मस्वरूप में परिणत नहीं हो जाता, तब तक विश्वसर्गरूपा सावयवात्मिका-नाना-भावात्मिका परिपूर्णता (विश्वस्वरूपनिष्पत्तिलक्षणा विश्वपरिपूर्णता-सम्पूर्णत्व) असम्भव ही बनी रहती है। सकल (कलात्मक-सावयवात्मक-नानाभावात्मक-विभिन्नपदार्थात्मक) पाञ्चभौतिक महाविश्व की परिपूर्णता (स्वरूपनिष्पत्ति) निष्कल अव्ययपुरुष के सकलभाव (पञ्चकलात्मकभाव) पर ही अवलम्बित है। इस विश्वपूर्णता-सापेक्षता की दृष्टि से ही कलासापेक्ष सकल शब्द का लौकिक अर्थ 'पूर्णता' बन गया है। इसके अतिरिक्त स्वयं निष्कल अव्ययेश्वर की भूमाभावात्मिका परिपूर्णता भी अमुक दृष्टिकोण से कलात्मक-नाना भावात्मक विश्वस्वरूप पर ही अवलम्बित है। विश्व ही 'विश्वेश्वर-पूर्णेश्वर' अभिधाओं का मूल बनता है। अतएव सकल (कलात्मक) विश्वनिबन्धना ईश्वरपरिपूर्णता की दृष्टि से भी 'सकल' शब्द व्यवहार में पूर्णता का वाचक बन गया है। इस प्रकार निष्कल अव्यय की कलाओं के द्वारा विश्व परिपूर्ण बनता है, इस आत्म-निबन्धन दृष्टिकोण से, तथा सकल विश्व के द्वारा विश्वेश्वर 'परिपूर्ण' अभिधा से घोषित होता है, इस विश्वनिबन्धन दृष्टिकोण से, उभयथा कलाभावात्मक भी सकलशब्द व्यवहार में पूर्णतावाचक बन गया है।

(७६)—रसबल की व्यापकता—

रसबलात्मिका महामाया की परिधि के आसमन्तात्-चारों ओर से वेष्टित हृदयबलावच्छिन्न मनोमय-रसबलात्मक निष्कल-अव्ययात्मा में भूमाभावात्मिका पूर्णता के उदय के लिए सर्वप्रथम 'कामरेत' का प्रादुर्भाव हुआ, कामना का आविर्भाव हुआ। इस रेतोमयी (सृष्टि-मुक्ति-बीजमयी) कामना का क्या स्वरूप ? प्रश्न का उत्तर 'रस-बल' के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। सद्रूप रस, एवं असद्रूप बल, दो के अतिरिक्त, दोनों के समन्वित, किंवा वियुक्त रूप के अतिरिक्त कामना का यथार्थ में अन्य कोई रूप हो भी क्या सकता है। रस-बल, दो ही तत्त्व परिधिमण्डल में व्याप्त, रस-बल, दो ही तत्त्व केन्द्र में व्याप्त। दो ही तत्त्व हृदयस्थ मन के स्वरूपनिर्मापक। फलतः मनोमयी कामना में रसबल के अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है। यह

रसबल ही कामना का वास्तविक स्वरूप है। अतएव इस अध्ययात्मानुगत मनोमयी कामना के हम 'रसकामना'-'बलकामना',-रसबलकामना, ये तीन ही नामकरण कर सकते हैं। मन रस की कामना कर सकता है, बल की कामना कर सकता है, रसबल दोनों की कामना कर सकता है। यही तो कामना का वास्तविक स्वरूप है। उक्थ का स्वरूप ही कामना का आधार बना करता है। अतएव जैसा स्वरूप उक्थ का होता है, 'अर्चंश्चरति' रूपा अर्कलक्षणा कामना का भी वैसा ही स्वरूप हुआ करता है। उदाहरण से समन्वय कीजिए।

(७७) सास्कारिक उक्थस्वरूपपरिचय—

स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है कि, 'यान्येव जाग्रत् पश्यति-तानि सुप्तः। श्रुति' (मु० उप० १।३।)। तात्पर्य्य, स्वप्नावस्था में मन अपने मनोराज्य में संस्कारपुञ्ज के द्वारा उन्हीं दृश्यों को देख सकता है, देखता है, जिन्हें जाग्रदवस्था में देख सकता है, देख चुका है, अनुभव कर चुका है। ठीक यही स्थिति कामना के सम्बन्ध में समझिए। मन उन्हीं विषयों की कामना कर सकता है, करता है, जो संस्काररूप से, बीजरूप से पहिले से ही इसके प्रज्ञाधरातल पर प्रतिष्ठित रहा करते हैं। जिनका संस्कार मन में नहीं होता, उनकी इच्छा भी नहीं होती, नहीं हो सकती। कटु-अम्ल-लवण-तिक्त-मधुर-(कड़ुए-खट्टे-खारे-तीखे मीठे) स्वादु अस्वादु भावों की सत्ता स्वयं मानसप्रज्ञा में पहिले से ही विद्यमान रहती है। यही तो वह सुप्रसिद्ध सत्कार्य्यवाद सिद्धान्त है, जिसका निष्कर्ष पूर्व में ही प्रासङ्गिक प्रश्नसमाधान में दिग्दर्शन कराया गया है। निम्ब-आमलक-लवण-मरीचिका-इक्षुरस (नीम-आँवला-नमक-मिर्च-गन्ने का रस) आदि कटु-अम्लादि पदार्थों में कटु-अम्लादि तत्त्व नहीं हैं। अपितु ये तो कटु अम्लादि भावों के अभिव्यञ्जकमात्र हैं। दीपशलाका सुप्त दीप में ज्वाला का समावेश नहीं करती। अपितु अव्यक्त ज्वाला को व्यक्तरूप प्रदानमात्र कर देती है। तथैव निम्बादि पदार्थों के सम्पर्क से रसनेन्द्रिय में प्रतिष्ठित कट्वादिरस अभिव्यक्तमात्र हो पड़ते हैं। कहीं से इन रसों का अपूर्व आगमन नहीं होता। जिसकी रसनेन्द्रिय में जो रस संस्काररूप से जितनी मात्रा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है, उसकी रसनेन्द्रिय उसी मात्रा से तत्सजातीय पदार्थ के सम्पर्क से तद्रसानुभूति में समर्थ बना करती है। देखते हैं, स्वयं भी अनुभव करते हैं कि, किसी के लिए तिक्त मरीचिका अश्रुपात का कारण बन जाती है, एवं कोई इस मधुररस की भाँति चर्वित कर जाता है। कहीं प्रचण्ड सीत्कार है, तो कहीं सीत्कार का आभास भी नहीं। ज्वरादिदशा में मधुर भी रस कटु प्रतीत होने लग जाते हैं। जिस जिस रसोक्थ पर किसी दोष का आक्रमण हो जाता है, वह वह रस अभिभूत होता हुआ तत्तदभिव्यञ्जक बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से भी उद्बुद्ध नहीं हो पाता। इस सहज स्थिति के आधार पर हमें यह मान लेना पड़ता है कि, जिन भौतिक विषयों की मन कामना करता है, वे भौतिक विषय संस्काररूप से पहिले से ही मानसप्रज्ञा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। जो संस्कार उक्थरूप से प्रज्ञा में नहीं हैं, उनकी इच्छा भी नहीं हुआ करती, नहीं हो सकती। सुप्रसिद्ध "जात्यायुर्भोगाः" भी सिद्धान्त का यही मूल है। यही दृष्टिकोण 'भाग्यवाद' की मूलप्रतिष्ठा बना करता है, जिसे पुरुषार्थानुगत स्वतन्त्र उक्थ से अभिभूत भी किया जा सकता है। पूर्वोक्थ अभिभूत किए जा सकते हैं, नवीन उक्थ प्रतिष्ठित किए जा सकते हैं। प्रत्येक दशा में कामना के लिए उक्थ की पूर्वसत्ता अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित ही मानी जायगी।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥
—ईशोपनिषत्

(८०)–ध्वंसनिर्म्माणमीमांसा—

प्रतिक्षण–विलक्षण–निर्म्माण–ध्वंस–चक्रपरम्परा के सहज शाश्वत आवर्त्तन का नाम ही वास्तविक 'सृष्टिविद्या', किंवा' सृष्टिविज्ञान' है । 'प्रतिक्षण' शब्द तो समझने के लिए–व्यवहारमात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है । वस्तुतस्तु इस सृष्टिधाराचक्र के परिभ्रमण के सम्बन्ध में काल का नियमन कदापि कथमपि सम्भव नहीं है । दिग्–देश–कालभाव इस सहज–नित्य–शाश्वत सर्गलयधारा का कदापि कथमपि नियमन नहीं कर सकते, जिनके नियमनसूत्रों का केवल सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सरमात्र से ही सम्बन्ध माना गया है । एवं जो मूलसृष्टिधारा–'यस्मादर्वाक् सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते' के अनुसार सम्वत्सर का भी मूल बनी हुई है, सम्वत्सरात्मक दिग्–देशकाल–चक्र जिस सृष्टिधारा के गर्भ में अपने नियमनसूत्रों का संचालन कर रहा है । तभी तो श्रुति को इस शाश्वत सृष्टिधारा के सम्बन्ध में 'क इत्था वेद, यत्र स' यह घोषणा करनी पड़ी है । क्षण–निमेष–काष्ठा आदि की कथा का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है, जब कि यदवच्छेदेन सिसृक्षा है, तदवच्छेदेनैव मुमुक्षा भी प्रक्रान्त रहती है । क्या महत्त्व शेष रह जाता है उन भूतकार्य्यकारणवादी आलोचकों की आलोचना का, प्रश्नपरम्परा का, जो अपनी काल्पनिक इतिहास दृष्टि के माध्यम से—'इससे पूर्व यहाँ तक यह–यहाँ से आगे यह' इत्यादि रूप से अपने कल्पनाप्रसूनों का सर्जन किया करते हैं । अन्तरान्तरीभावात्मक सहज धाराक्रम में रस–बल के सहजभावापन्न इस मुमुक्षा–सिसृक्षा क्रम में–'यहाँ से यह–यहाँ से यह' इत्यादिलक्षण कालनियमन का, तन्निबन्धना दिग्–देशभावानुगता इतिहासपरम्परा का संस्मरण भी हमें प्रायश्चित्त का भागी बना रहा है । स्पष्ट है कि, रसबल की इस नैसर्गिक अविनाभूति के सम्बन्ध में भावुक मानव जब भी कभी भ्रान्ति कर बैठता है वही क्षण इसके दुःख का श्रीगणेश बन जाया करता है । सम्भूति और विनाश, निर्म्माण एवं ध्वंस, सर्ग तथा प्रलय, इन दोनों बलरसनिबन्धन भावों की अविनाभावानुभूति जहाँ नैष्ठिक सहज मानव की अध्यात्मानुगता सहज आत्मनिष्ठा है, वहाँ इस द्वन्द्वभाव की पार्थक्यानुभूति भावुक मानव की चरणानुगता वैकारिक मानसिक भावुकता है । अध्यात्मानुगत समत्वबुद्धियोग के उपदेष्टा भगवान् ने अपने गीताशास्त्र में इसी अविनाभावलक्षणा समता (समत्वयोगमूलक समदर्शन) को लक्ष्य बनाते हुए ही पदे पदे भावुक अर्जुन के माध्यम से हमारे जैसे भावुक मानवों का अनुग्रहपूर्वक उद्बोधन कराया है ।

(८१)–प्रथमचितिक चिदात्मस्वरूपमीमांसा —

बलगर्भिता रसकामना का अभ्युदयन से उदय हुआ । इस रसकामना के उदय से केन्द्रस्थ मनोमय रसबलोभयमूर्त्ति निष्कल अव्ययपुरुष परात्पर पर केन्द्र से परिधिपर्यन्त व्याप्त परिपूर्ण–रसबलात्मक अशीति–परिग्रह (कामनाभोग्यपरिग्रह) में से रस (बलगर्भित रस) की चिति (चयन–बन्धन) हुई । यही 'प्रथमा रस चिति' कहलाई, जिसमें बल सर्वथा सहचर–संचर–श्लथभाव से रस के साथ समन्वित रहा, अतएव ऐसे सहचरभावात्मक बल की विद्यमानता में भी वैज्ञानिकों ने इस बलरसोभयात्मिका भी मुमुक्षाक्रमनानुगता चिति का केवल रसचिति' नाम से ही व्यवहार कर दिया । अतएव इसे 'विशुद्धरसचिति' मान लिया गया (अपने

ज्ञानक्षेत्र में)। विशुद्धरसाभिनिष्ठ यही प्रथमा चिति (प्रभवप्रतिष्ठापरायणा रसचिति) ही अध्यात्मा की प्रथमा 'आनन्दकला' कहलाई, जिसका 'रसो वै स । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादिरूप से यशोगान हुआ है। स्मरण रहे—यह रसात्मक आनन्द, किंवा आनन्दात्मक रस लोकप्रसिद्ध ऐन्द्रियक 'सुख' से सर्वथा विभिन्न विलक्षण तत्त्व है। सुख अपने परावलम्बनत्व (विषयावलम्बन) से—वहाँ आदि-अन्त बनता हुआ क्षणिक है, पराश्रयत है, विनश्वर है, परिणाम में दुःखान्त है, महद् 'मन' सम्बन्ध से ऐन्द्रियक बनता हुआ अनुकूलवेदनालक्षण दुःखैकसार ही है, वहाँ आनन्दात्मक रस स्वप्रज्ञानात्मक (अध्यात्मस्थानात्मक) केन्द्र बल से अच्युत बना रहता हुआ अपने केन्द्रस्थ श्वोवसीयस् नामक मनोभाव के सम्बन्ध से श्वः श्वः भूमा-अनन्तभाव का स्वरूपसमर्पक-संग्राहक-संरक्षक बनता हुआ शाश्वत है, सनातन है, अविनाशी है, अनुच्छित्तिधर्मा है, 'मन' (इन्द्रिय) सम्बन्ध से असंसृष्ट-विमुक्त-उन्मुक्त रहता हुआ शाश्वत शान्ति का प्रवर्त्तक है, शाश्वतशान्तिस्वरूप है। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (व्याससूत्र) रूप से भगवान् व्यास ने इसी आनन्दरूपा अध्यात्मनिबन्धना रसात्मिका प्रथमा अध्यात्मकला का ही यशोगान किया है।

(८२)—रसचिति का मूलाधार—

बलगर्भिता रसप्रधाना की प्रशान्ति से आनन्दचिति पर पुनः बलगर्भित रस की चिति हुई। इस द्वितीया रसचिति में यद्यपि ग्रन्थिबन्धन तो नहीं है, किन्तु बलों का असम्बन्धात्मक सहचर सम्बन्ध भी नहीं है। 'संचरबन्धन' नामक असंसर्गात्मक सम्बन्ध, ('बहिर्य्याम सम्बन्ध' नामक असम्बन्धात्मक संचर भावात्मक सम्बन्ध) तथा ('अन्तर्य्याम सम्बन्ध' नामक सम्बन्धात्मक ग्रन्थिबन्धनभावात्मक सम्बन्ध,) इन दोनों सम्बन्धों के मध्य का जो एक उभयधर्म्मात्मक सम्बन्ध होगा, वही इस दूसरी रसचिति का मूलाधार माना जायगा, जिसका अर्थ यह होगा कि, इस द्वितीया रसचिति में बल उद्बुद्धावस्थापन्न रहेगा, रस भी उद्बुद्धावस्थापन्न रहेगा, दोनों एक प्रकार से समतुलित रहेंगे। किन्तु ग्रन्थिबन्धनात्मक अन्तर्य्यामसम्बन्धलक्षण योगसम्बन्ध नाम के अपनी सहज वास्तविक उद्बोधनावस्था से वञ्चित रहने के कारण यहाँ बल को निर्बल तथा रस को ही उद्बुद्ध-प्रधान-माना जायगा। एवं इसी प्राधान्य से इस द्वितीया चिति को बल के उद्बुद्ध बने रहने पर भी कहा जायगा रसचिति ही।

(८३)—अन्तश्चित्, और अन्तर्म्महिमा—

इस द्वितीया रसचिति में क्योंकि बल प्रथमा चिति की अपेक्षा उद्बुद्ध हो जाता है, अतएव यहाँ बल का स्वाभाविक मूलनिबन्धन नानात्वधर्म्म भी जागरूक हो जाता है। इस बलनिबन्धन नानात्व से एकत्वनिबन्धन रसानुगत, किंवा रसरूप ज्ञानभाव भी नानाभावसहचारी बन जाता है। एकमात्र इसी आधार पर इस द्वितीया रसचिति को 'विज्ञानचिति' (विविधं ज्ञानं—नानाभावापन्नं ज्ञानं—नानाभावानुगतो रस एव विज्ञानम्। तस्यैषा चितिर्विज्ञानचितिः) नाम से व्यवहृत किया जायगा। इस प्रकार बलगर्भीभूता—सहचरबलनिबन्धना प्रथमा 'आनन्दचिति' नाम की रसचिति ही—रसरमा ही—इस बलजागरूकावस्था में 'विज्ञानचिति' रूप में परिणत हो जाता है। वही यह है, जो कि विज्ञानचिति है। इसी रसनिबन्धना अद्वयभावना की श्रुति ने सर्वत्र इन चितियों में—"तस्यैष एव शारीरात्मा, यः पूर्वस्य" (तै० उप० २।३) इस प्रकार घोषणा की है। बलसहचरभावनिबन्धना प्रथमा रसचिति, बलजागरूकभावनिबन्धना द्वितीया रसचिति, इन दोनों

आनन्द–विज्ञानचितियों का एक स्वतन्त्र विभाग इसलिए माना जायगा कि, इन दोनों में ही तत्त्वतः प्राधान्य रस का ही है। रस ही वस्तुगत्या यहाँ उद्बुद्ध है। बल दोनों ही चितियों में सुप्तप्राय ही है। क्योंकि बिना बलग्रन्थिसम्बन्ध के केवल सहचर, किंवा आमदुभावापन्न भी बल संसृष्टिलक्षण सृष्टिकर्तृत्व धर्म में असमर्थ बना रहता हुआ सुप्तवत् ही माना जायगा। तभी तो बल के रहते हुए भी इन दोनों चितियों को 'रसचिति' कहना अन्वर्थ प्रमाणित होगा। रस सुसूक्ष्मभाव है। सूक्ष्मता का अन्तर्भाव से सम्बन्ध है। अतएव इस उभयचितिसमष्टि को विज्ञानभाषा में 'अन्तश्चिति' कहा जायगा, जिसका मूल बनती है केन्द्रस्थ रसबलोभयात्मक काममय पुरुषमन की बलगर्भिता रसकामनारूपा 'मुमुक्षा'। स्वस्वरूप से बन्धन से विमुक्त रस की कामना मुमुक्षा ही तो मानी जायगी, जिससे ग्रन्थिबन्धनविमोक ही हुआ करता है। अतएव इस अन्तश्चितिरूप आनन्दविज्ञानमय अव्ययपुरुष को अवश्य ही 'मुक्तिसाक्षी' आत्मा कहा और माना जायगा, एवं यही मुमुक्षारूपा कामना का प्रथम 'अन्तर्विवर्त्त', किंवा निगमभाषा में 'अन्तर्महिमा' मानी जायगा।

(८४) अधामच्छद् प्राणतत्त्व—

काममय मन का बलभाग अब उत्तेजित होने लगा। उत्तेजित–उद्बुद्ध तो वह हो चुका था विज्ञानचिति में ही, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु वहाँ रसप्राधान्य से बल को सृष्टिकार्योन्मुख मनन का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। अतएव आनन्द–विज्ञानात्मिका रसचितियों में बल की जागरूकावस्था–उत्तेजितावस्था भी तत्त्वतः सुप्तावस्था में ही परिणत हो रही थी। केन्द्रस्थ काममय मन में सहज स्वभाव से बलनिबन्धना क्रियेच्छा जागरूक हो पड़ी, जिसे हम 'यतेच्छा' (रसगर्भिता बलेच्छा) कहेंगे। इस मनोमय कामात्मक बल की प्रेरणा से विज्ञानचिति के उत्तेजित–उद्बुद्ध बल को प्रोत्साहन मिला। उद्बुद्धोत्तेजित विज्ञानचितियुक्त बल सहसा और भी अधिक उत्तेजित होता हुआ एक प्रकार से क्रियाशील बन गया। यहाँ रसभाव अंशतः अपने सहज शान्त भाव से अभिभूत–सत् बन गया (बलापेक्षया, न तु स्वरूपापेक्षया)। बल की प्रधानता से, तथा रस की गौणता से यह चिति 'बलचिति' (रसगर्भिता बलचिति) कहलाई, जिसे विज्ञानपरिभाषा में 'प्राणचिति' कहा गया है। क्रियाशीलतत्त्व का ही नाम 'प्राण' है, जैसा कि पूर्व के 'बल–प्राण–क्रिया' मायास्वरूपनिरूपण प्रसङ्ग में स्पष्ट कर दिया गया है। सुप्तावस्थापन्न वही बल 'बल' है, कुर्वद्रूपावस्थापन्न वही बल 'प्राण' है, एवं निर्गच्छदवस्थापन्न वही बल 'क्रिया' है। रसचिति (आनन्द–विज्ञानचिति) में बल उद्बुद्ध तो था, किन्तु कुर्वद्रूपावस्थापन्न नहीं था। अतएव मायातीत नितान्त प्रसुप्त बलवत् इस बल को भी उन दोनों चितियों में 'बल' नाम की सुप्तावस्थापन्ना अभिधा से ही समन्वित रहना पड़ा। किन्तु बलप्रधाना क्रियेच्छारूपा बलकामना के सजातीय प्रेरणाबल से कुर्वद्रूपावस्थापन्न बनने वाला वही सुप्त बल यहाँ इस तृतीया बलचिति में 'प्राण' अभिधा से समन्वित हो गया। इसी दृष्टि से इस बलचिति को 'प्राणचिति' (कुर्वद्रूपावस्थापन्न बल की चिति) कहना सर्वात्मना अन्वर्थ बना, जिसमें रस बना अन्तर्मुख, बल बना बहिर्मुख। रस का यहाँ आत्यन्तिक रूप से अभिभव (अन्तर्मुखता) नहीं है। अपितु सहज अभिभव है। अतएव इस इस चिति का सहज भी बल रस की इस आंशिक जागरूकावस्था से असङ्ग ही बना रहता है। अतएव वैज्ञानिकों ने प्राण को 'असङ्ग' मानते हुए इसे 'अधामच्छद्' ही कहा है। अतएव च प्राण का "रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्दाऽस्पृष्ट–अधामच्छद्–सुसूक्ष्मभाव एव प्राणः" यह लक्षण किया गया है।

(८५) सप्तप्राणात्मिका सुपर्णचिति—

तृतीया बलचितिरूपा यह प्राणचिति सृष्टिकर्म्म में अपना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। सम्पूर्ण सर्गरहस्यों में सर्वत्र यह 'प्राणब्रह्म' ही उपक्रमोपसंहार बना है। सर्गमूलान्वेषक आर्षवैज्ञानिक महर्षि इस प्राणात्मक बलान्वेषण के आधार पर ही 'ऋषि' अभिधा से समलंकृत हुए हैं। अपने कुतर्करूपावरण-लक्षण गतिभाव से ही यह बलतत्त्व 'ऋषि' निर्वचन से 'ऋषि' कहलाया है। बड़ा ही गहन गम्भीरतम स्वरूप है इस प्राणतत्त्व का, जिसके अनन्त विवर्त हो जाते हैं। अतएव 'स इदूगम्भीरवेपस'* कहते हुए मन्त्रर्षि ने प्राण के आनन्त्य का यशोगान किया है। 'को हि प्राणानामानन्त्यं वेद' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति भी प्राण के आनन्त्य का ही यशोगान कर रही है। यही वह सुप्रसिद्ध प्राणर्षि, किंवा ऋषिप्राण है, जिसे 'असत्' रूप (सदात्मकरूप) से उपवर्णित करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने विश्व का मूल माना है। इसी को सृष्टि का मूलाधार माना गया है। यही ऋषिप्राण आगे जाकर सर्वप्रथम सप्तर्षिप्राणरूप में परिणत होता है। सातों के पारस्परिक रसानुगत सर्वहुतयज्ञात्मक आहुतिसम्बन्ध से सप्त-सप्त प्राणात्मक सप्त-सप्त पुरुषात्मक 'सप्तपुरुषप्रजापति' की स्वरूपनिष्पत्ति होती है, जिसका 'चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से संस्थान माना गया है, जो कि संस्थान सुप्रसिद्ध 'सुपर्णचिति' का मूलाधार माना गया है। यही सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्राणप्रजापति सृष्टि का मूलाधार बनता हुआ 'प्रतिष्ठाब्रह्म' कहलाया है, जिसका त्रय्यात्मक त्रयीवेदरूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। "ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाया प्रतिष्ठितोऽतप्यत" इत्यादि रूप से सत्यवेदमूर्त्ति इस प्राणब्रह्म के अन्तर्य्यामीतारतम्य क्रम्में से ही अपस्तपस-योषावृष-यशोऽण्ड-रेतोऽण्ड आदिरूप आगे जाकर अण्डसृष्टि (ब्रह्माण्डसृष्टि) का विकास हुआ है। जिसका शतपथभाष्य के अनुप्रकरण (अग्निचितिरहस्यप्रकरण) में विस्तार से उपबृंहण हुआ है, यही प्राणचितिरूप प्राणब्रह्म का प्रासङ्गिक यशोगान है, जिसे आधार मान कर ही हमें विश्वस्वरूप-मीमांसा का स्वरूपविश्लेषण करना है। 'परे प्राणम्' रूप से यही प्राण 'ऋतु' कहलाया है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही हमें इस प्राणस्वरूपमीमांसा का प्रासङ्गिक आश्रय लेना पड़ा है। सर्वगति-लक्षण यही वह प्राणतत्त्व है, जिसके गति-स्थित्य दि पञ्च विवर्तों के आधार पर 'निष्ठा-भावुकता की तात्त्विक मीमांसा' व्यवस्थित बनने वाली है। प्राणविद्या ही ऋषिविद्या है। यही निगमविद्या है, यही वह सुप्रसिद्ध ब्रह्मविद्या है, जिस ब्रह्मात्मिका देवविद्या के बल पर नैगमिक महर्षियों ने किसी युग में यह घोषणा की थी कि, "ब्रह्मविद्यया ह वै सर्व्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः"।

(८६)—मन'प्राणवाङ्मय 'वौक्' एवं वषट्कार—

बल कुर्वद्रूपावस्था में परिणत होता हुआ विशेषरूप से समुद्दीप्त हुआ। आनन्दमय मन की सिसृक्षा का पुन' प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस आत्यन्तिक सम्पर्कावस्था में आकर यही प्राणात्मक बल मूल रूप का अनुगामी

---

* विरूपास इदृ ऋषयस्त इद्गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥
—ऋक्सं० १ ।६२।५

बन गया। दूसरे शब्दों में अव्यक्तावस्थापन्न प्राण व्यक्तावस्थापन्न 'वागभाव' में परिणत हो गया, जिस वागभाव के गर्भ में अकार-उकार-समतुलित मन, प्राण, दोनों भाव समाविष्ट हैं। 'अ-उ-अच्' ही वागभाव का मौलिक स्वरूप माना गया है। वागभाव में 'उ' रूप प्राण का प्राधम्य है, 'अ' रूप मन का द्वितीय स्थान है। अतएव 'अ'-'उ' ('मन'-'प्राण') इस प्राकृतिक स्थिति के स्थान में प्राण-प्राधम्यापेक्षया 'उ'-'अ' ('प्राण'-'मन') यह स्थिति बन जाती है। जो बल-जो मूलावस्थानुगत क्रियाशील व्यक्त बल 'उ-अ' दोनों को (प्राण और मन, दोनों को) अपने स्वरूपविकास के लिए 'अञ्चति', वही व्यक्तबल 'उ-अ-अच्' रूपसे 'वाक्' कहलाया है, जिस मनःप्राणगर्भिता, किंवा प्राणमनोगर्भिता इत्थंभूता वाक् को 'वौक्' माना गया है, जिसके आधार पर निगमशास्त्र की सुप्रसिद्धा 'वषट्कारविद्या' का वितान हुआ है। मनुरूप इन्द्र, किंवा इन्द्रवाक्रूप मनु इसी वागाहुति से संतृप्त बना करते हैं, जैसाकि-'इन्द्राय वौ 'षट्' इत्यादि निगमवचन से स्पष्ट है। 'उ' को वकारदेश हुआ, इस से 'उ-अ-अच्' स्वरूप 'व्-अ-अच्' स्वरूप में परिणत होगया। दीर्घभाव से 'व्-अ-अच्' ही 'वाच्', किंवा 'वाक्' रूप में परिणत होगया। यही 'वाक्' शब्द का निर्वचनेतिहास माना गया। इस मनःप्राणमय बल में यज्ञसृष्टि के द्वारा पुनः-'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' रूपसे मन और प्राण का (अ और उ का) समावेश हुआ। इससे वाक् शब्दकी 'वा-अ-उ-क्' यह स्थिति बन गई। गुणद्वारा मध्यस्थ अ-उ 'ओ' रूप में परिणत हो गए। वृद्धिद्वारा 'वा-ओ-क्' भाव 'वौक्' रूप में परिणत हो गया। यही वौषट् 'वौक्-षट्' रूप 'वौषट्' कहलाया, जिसे 'वाक्स्ट्कार' रूपसे 'वषट्कार' कहा गया है।

(८७)-यजुः का तत्त्वात्मक स्वरूप—

त्रयीवेदमूर्त्ति प्राणचितिलक्षण प्रतिष्ठाबल को पूर्व में 'सप्तपुरुषपुरुषप्रजापति' कहा गया है। इसका ऋक्सामरूप वयोनाध से नद्ध (सीमित-छन्दित) भमरूप यजुर्भाग ही वह वास्तविक मौलिक तत्त्व है, जो अपने अव्यक्तरूप से 'प्राण' है, एवं व्यक्तरूप से 'वाक्' है। पूर्वावस्था उसी मौलिक तत्त्व की 'प्राणावस्था है, जिसे हमने 'प्राणचिति' कहा है। उत्तरावस्था उसी मौलिक बलतत्त्व की 'वागवस्था', है जिसे यहाँ 'वाक्चिति' कहा जायगा। प्राणचितिलक्षण बल ही संकेतपरिभाषा में अपने गमनधर्म्म-गतिस्वरूप से—'यत्' कहलाया है, एवं वाक्चितिलक्षण बल ही पूर्वप्राणरूप, तथा प्राण के भी पूर्वरूप मन, दोनों के समन्वयभाव से 'वाक्' कहलाता हुआ संकेतभाषा में 'जू' कहलाया है। प्राणरूप 'यत्', तथा वाक्रूप 'जू' इन दोनों बलतत्त्वों की समष्टि ही, दूसरे शब्दों में प्राण-वाक्-रूप दोनों बलचितियों की समष्टि ही निगम में—'यत्-जू' रूप से-'यज्जू' कहलाई है। यह 'यज्जू' शब्द ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजु' कहलाया है, यही तत्त्वात्मक-प्राणवाग्रूप-नित्य यजुर्वेदतत्त्व का मौलिक रहस्यार्थ है, वयात्मक जो यजुर्वेद वयोनाधात्मक 'ऋक्सामे में अपीत * रहता हुआ ही मूर्त्तसृष्टि का अपने उत्तरभावी 'मुखभ' रूप के माध्यम से प्रभव-मूलप्रवर्त्तक बना करता है। 'यत्' रूप प्राण स्वरूपतः 'गति'-धर्म्मात्मक 'वायु' (प्राणवायु) है, 'जू' रूपा वाक् स्वरूपतः

* तदेनमेते उभे रसो भूत्वापीत ऋक्च सामाच। तदुमे ऋक्सामे यजुरपीतः।
(शत० ब्रा० १०।१।१।६।)।

'दिग्पति' धर्म्मात्मक 'आकाश' (भूताकाश मर्त्याकाश) है। तदित्थं-'यत्-जू'-'वायु-आकाश'-'प्राण-वाक्'-'प्राणचिति-वाक्चिति'-इत्यादि विविध द्वन्द्व नामों से पर्याप्तापर्याप्तता, अन्यगमन की स्वनिरूपना इच्छा से आविर्भूता प्राणचिति वाक्चिति की समष्टिरूपा पर्याप्तावस्था है। ऋक्सामावच्छिन्ना यह यजुर्चिति है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-निरूपण हुआ है—

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु-प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेव-आकाशो जूः×, यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याका-शमनुजवते। तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षं च (आकाशश्च), यच्च-जूश्च। तस्मात्-यजुः। एष एव यदेष सन्निति। तदेतत्-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्, ऋक्सामे वहत।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१।

(८८)-ऋक्सामात्मक यजुःप्राणः—

श्रुति के अक्षरों का अक्षरशः से यद्यपि समन्वय कठिन है, अतएव दो शब्दों में इसके भावार्थ का समन्वय कर लेना चाहिए। श्रुति ने कहा है— 'यह जो सर्वत्र (दोषभावों को हटाने से 'पूत' नाम से-'पवन' नाम से प्रसिद्ध) वायु बह रहा है, यही तो 'यजु' (यजुर्वेद) है। यही गतिशील (यत्) बनता हुआ इन सब भूत-भौतिक प्रपञ्चों का जनिता (जनक-उत्पादक-सुप्रभव) है। इसके गतिभाव का अनुसरण करके ही सब कुछ उत्पन्न होता है। यह आकाश ही 'जू' नामक तत्त्व है, जो कि (इस द्यावापृथिवी-सूर्य्य और भूपिण्ड को अपनिगर्भ में समाविष्ट रखने वाला नीलाभरूप से प्रतीयमान) यह अन्तरिक्ष है। इस आकाशरूप अन्तरिक्ष को आधार बना कर ही तो यह वायु अपने बल (वेग) से बह रहा है। सो यह यजु वायु और अन्तरिक्ष है, यत् और जू है। इसीलिए तो यह 'यजुः' कहलाया है। यही तो गतिशील तत्त्व है। सो यह गतिशील यजुः तत्त्व ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋक्साम ही यजु का वहन कर रहे हैं"।

(८९)-वातवायु और यजुः—

त्वक्स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्षतः-अनुभूत वायु का ही नाम क्या तत्त्वात्मक वह यजुर्वेद है, जो विश्वेश्वर का मौलिक स्वरूप उद्घोषित हुआ है ?। उत्तर है यह प्रसिद्ध उपलालनभाव, नैदानिक प्रतीकभाव, जिसे माध्यम बना कर ही मानव बालभावापन्न व्यक्तियों को तत्त्व की ओर शनैः शनैः आकर्षित किया गया है। जिस वायु का हमारे शरीर से स्पर्श होता है, जो सर्वत्र विधूनन करता हुआ सब को विधूनित करता रहता है, वह तो पारिभाषिकी 'वातवायु' नामकी अभिधा से निगम में वर्णित हुआ है, जो कि अपने मौलिक विधूननधर्म से भूतपरमाणुओं का भूतों में परस्पर 'प्रश्लिष्टा संयोग-अयुता संयोग' अथवा आदानविसर्गात्मक सम्बन्ध से अन्नादि ओषधि वनस्पत्यादि का पोषण करता रहता है, जिसका कि—'वात आ वातु भेषजम्' (ऋक्सं १।१८८।१) इत्यादि

× जूराकाशे, सरस्वत्यां, पिशाच्यां, यवने, स्त्रियाम्।
—विश्वकोश।

रूप से उपवर्णन हुआ है। गुणाणुरेणुभूतभौतिक-भावानुगता चलग्रन्थिपरम्परा से प्राणवायु ही कालान्तर में अन्तिम चलग्रन्थि का अनुगामी बनता हुआ अविकृतपरिणामरूप से इस भूतवायु के स्वरूप में परिणत हुआ करता है। अतएव उस प्राणतत्त्व का, सुसूक्ष्म-इन्द्रियातीत प्राणवायु का स्वरूप-परिचय कराने मात्र के लिए श्रुति ने नैदानिकविधि से, किंवा प्रतीकविधि से, किंवा उपलालनविधि से—'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते' इत्यादि रूप से प्रवहणशील भूतवायु को ('वात' वायु को) लक्ष्य बना लिया है। प्राण—गतिशील प्राण-के गतिधर्म्म से ही तो सब कुछ उत्पन्न होता है। अतः अवश्य ही इस सुसूक्ष्म प्राणवायु को 'यजु' कहा जा सकता है।

(९०)—यजुःप्राण के द्वारा यज्ञ का आतानात्मक वितान—

यहाँ श्रुति वायु (प्राण) को यजु' कह रही है, एवं यही श्रुति आगे चल कर 'यजु' के—'यत्—जू' ये दो विभाग करती हुई 'यत्' को वायु (प्राण) कह रही है, एवं 'जू' (वाक्) को 'आकाश' कह रही है। यह कैसा पारस्परिक विरोध ?। समन्वय कीजिये। जबकि 'यत्' का नाम वायु (प्राण), तथा 'जू' का नाम आकाश (वाक्) है, तो 'यजु' (यत् और जू दोनों की समष्टि) को 'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते' इत्यादि रूप से 'यजु' नाम से कैसे व्यवहृत किया गया ?, यह विप्रतिपत्ति की जा सकती है। मनोमय क्षिप्रधारूप ही प्रथम चलचिति से 'प्राण' भाव में (यत्भाव में) परिणत हुआ है यह कहा जा चुका है। पूर्व पूर्व चिति में उत्तर उत्तर चिति का बीज 'बीजांकुरन्याया' नुगत अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारण से समाविष्ट रहता है। पूर्व पूर्व कारण ही अविकृतपरिणामवादात्मक नित्यमहिमाभाव से उत्तरोत्तर के कार्य्यभावों में परिणत होता है। साथ ही पूर्व पूर्व कारण अपने उत्तरोत्तर के व्यक्तीभूत कार्य्यों को व्यक्त कर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार उन कार्य्यों में गर्भीभूत बनता जाता है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, पूर्व पूर्व कारण में कारण—कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं सूक्ष्म रूप से, एवं उत्तरोत्तर कार्य्यों में कारण—कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं सूक्ष्म—स्थूलरूप से। जो 'यत्' रूप प्राण अपने बीजात्मक कारणभाव से कार्य्यरूप 'जू' (मर्त्याकाश) भाव में परिणत होने वाला है, उसमें सत्कार्य्यवादसिद्धान्तानुसार पहिले से ही सूक्ष्म—अव्यक्त रूप से 'जू' रूप आकाशभाव भी प्रतिष्ठित है। इसी अभिन्नसत्तात्मक अव्यक्तभावात्मक कार्य्यकारणैक्यदृष्टि से यत्रूप भी प्राण को यजुरूप प्राणवाक्रूप से व्यवहृत कर देना निर्विरोध समन्वित हो जाता है। यही कारण है कि, प्राण के कार्य्यभूत वाक्—(मर्त्याकाश) से उत्पन्न आगे के वायु—तेज—जल—मृत्—आदि सम्पूर्ण व्यक्त कार्य्यों को—'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि रूप से 'वाक्' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। प्राण तथा वाक्, दोनों के संगमनात्मक 'यजन' का ही नाम 'यजु' है जो कि देवयजन (देवप्राणसंगमनात्मक यज्ञ) का आधार बना करता है। इसी उभयसमन्वित दृष्टिकोणमाध्यम से 'यजु' को 'यज' नाम से भी व्यवहृत कर दिया है। 'यज्जू' का परोक्ष नाम तो 'यजु' है ही। साथ ही वाक्प्राणसंगमनभावात्मक 'यज' शब्द का भी परोक्ष नाम 'यजु' मान लिया गया है, इसी अभिन्नसत्तामाध्यम से। देखिए !

> यजुषा ह देवा—अग्रे यज्ञं तेनिरे, अथ ऋचा, अथ साम्ना। तदिदं नप्येतर्हि—
> यजुषैवाग्रे तन्वते, अथ ऋचा, अथ साम्ना। 'यजो' ह वै तद्यजुरिति ॥
>
> —शत० ४।६।७।१३।

'स्थिति' धर्मात्मक 'आकाश' (भूताकाश मर्त्याकाश) है। तदित्थं-'यत्-जू'-'वायु-आकाश'-'प्राण-वाक्'-'प्राणचिति-वाक्चिति'-इत्यादि विविध द्वन्द्व नामों से सम्भिन्नतापर्यवसिता, प्रणगमन की स्वनिकल्पना लिप्सा से आविर्भूता प्राणचिति मनश्चिति की समष्टिरूपा यजश्चितिरूपी ही ऋक्सामामार्ग हुआ यह यजुर्वेद चिति है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूपनिरक्षेपण हुआ है—

अग्र वाव यजुर्योऽय पवते। एप हि यन्नेवेदं सर्व्वं जनयति। एत यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजु। अयमेव-आकाशो जूः×, यदिदमन्तरिक्षम्। एत आकाशमनुजवते। तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्ष च (आकाशश्च), यच्च-जूश्च। तस्मद्-यजु। एप एव यदेष एति। तदेतद्-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्, ऋक्सामे वहतः।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१।

(८८)—ऋक्सामात्मक यजुःप्राणः—

श्रुति के अक्षरों का शब्दरूप से यथोचित समन्वय कठिन है, अतएव दो शब्दों में इसका भावार्थ का समन्वय कर लेना चाहिए। श्रुति ने कहा है— 'यह जो स्वच्छ (दोषमार्गों को हटाने से 'पूत' नाम से-'पवन' नाम से प्रसिद्ध) वायु बह रहा है, यही तो 'यजु' (यजुर्वेद) है। यही गतिशील (यत्) बनता हुआ इन सब भूत-भौतिक प्रपञ्चों का जनिता (जनक-उत्पादक-सुप्रमत्व) है। इसके गतिभाव का अनुसरण करके ही सब कुछ उत्पन्न होता है। यह आकाश ही 'जू' नामक तत्त्व है, जो कि (इस द्यावापृथिवी-सूर्य्य और भूपिण्ड को अग्निगर्भ में समाविष्ट रखने वाला नीलाभरूप से प्रतीयमान) यह अन्तरिक्ष है। इस आकाशरूप अन्तरिक्ष को आधार बना कर ही तो यह वायु अपने जव (वेग) से बह रहा है। सो यह यजु वायु और अन्तरिक्ष है, यत् और जू है। इसीलिए तो यह यजु" कहलाया है। यही तो गतिशील तत्त्व है। सो यह गतिशील यजुः तत्त्व ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋक्साम ही यजु का वहन कर रहे हैं"।

(८९)—वातवायु और यजु—

त्वक्स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्षदृष्ट-अनुभूत वायु का ही नाम क्या तत्त्वात्मक वह यजुर्वेद है, जो विश्वेश्वर का मौलिक स्वरूप उद्घोषित हुआ है ?। उत्तर है यह सुप्रसिद्ध उपलालनमात्र, नैदानिक प्रतीकमात्र, जिसे माध्यस्थ बना कर ही मादृश वातभावापन्न व्यक्तियों को सत्य की ओर शनैः शनैः आकर्षित किया गया है। जिस वायु का हमारे शरीर से स्पर्श होता है, जो सर्वत्र विधूनन करता हुआ सब को विधूनित करता रहता है, वह तो पारिभाषिकी 'वातवायु' नामकी अभिधा से निगम में वर्णित हुआ है, जो कि अपने भौतिक विधूननधर्म से भूतपरमाणुओं का भूतों में परस्पर 'प्रहिता संयोग -प्रयुता संयोग' लक्षण आदानविसर्गात्मक सम्बन्ध से अन्नादि ओषधि-वनस्पत्यादि का पोषण करता रहता है, जिसका कि—'वात आ वातु भेषजम्' (ऋक्सं १।१८९।१) इत्यादि

× जूराकाशे, सरस्वत्यां, पिशाच्यां, यवने, स्त्रियाम्।
—विश्वकोश।

रूप से उपवर्णन हुआ है। गुणाणुरेणुभूतभौतिक–भायानुगता वलग्रन्थिपरम्परा से प्राणवायु ही कालान्तर में अन्तिम वलग्रन्थि का अनुगामी बनता हुआ अविकृतपरिणामरूप से इस भूतवायु के स्वरूप में परिणत हुआ करता है। अतएव उस प्राणतत्त्व का, सुसूक्ष्म–इन्द्रियातीत प्राणवायु का स्वरूप–परिचय कराने मात्र के लिए श्रुति ने नैदानिकविधि से, किंवा प्रतीकविधि से, किंवा उपलक्षणविधि से—'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते' इत्यादि रूप से प्रवहणशील भूतवायु को ('वात' वायु को) लक्ष्य बना लिया है। प्राण–गतिशील प्राण के गतिधर्म्म से ही तो सब कुछ उत्पन्न होता है। अतः अवश्य ही इस सुसूक्ष्म प्राणवायु को 'यजु' कहा जा सकता है।

(२०)–यजुःप्राण के द्वारा यज्ञ का आतानात्मक वितान—

यहाँ श्रुति वायु (प्राण) को यजु' कह रही है, एवं यही श्रुति आगे चल कर 'यजुः' के–'यत्–जू' ये दो विभाग करती हुई 'यत्' को वायु (प्राण) कह रही है, एवं 'जू' (वाक्) को 'आकाश' कह रही है। यह कैसा पारस्परिक विरोध !। समन्वय कीजिये। जबकि 'यत्' का नाम वायु (प्राण), तथा 'जू' का नाम आकाश (वाक्) है, तो 'यजु' (यत् और जू दोनों की समष्टि) को 'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते' इत्यादि रूप से 'यजु' नाम से कैसे व्यवहृत किया गया ?, यह विप्रतिपत्ति की जा सकती है। मनोमय स्विच्छावल ही प्रथम स्वचिति से 'प्राण' भाव में (यत्भाव में) परिणत हुआ है यह कहा जा चुका है। पूर्व पूर्व चिति में उत्तर उत्तर चिति का बीज 'बीजांकुरन्याया' नुगत अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारण से समाविष्ट रहता है। पूर्व पूर्व कारण ही अविकृतपरिणामवादात्मक नित्यमहिमाभाव से उत्तरोत्तर के कार्य्यभावों में परिणत होता है। साथ ही पूर्व पूर्व कारण अपने उत्तरोत्तर के व्यक्तीभूत कार्य्यों को व्यक्त कर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार उन कार्य्यों में गर्भीभूत बनता जाता है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, पूर्व पूर्व कारण में कारण–कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं सूक्ष्म रूप से, एवं उत्तरोत्तर कार्य्यों में कारण–कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं स्थूल–स्थूलरूप से। जो 'यत्' रूप प्राण अपने बीजात्मक कारणभाव से कार्य्यरूप 'जू' (मर्त्याकाश) भाव में परिणत होने वाला है, उसमें सत्कार्य्यवादसिद्धान्तानुसार पहिले से ही सूक्ष्म–अव्यक्त रूप से 'जू' रूप आकाशभाव भी प्रतिष्ठित है। इसी अभिन्नसत्तात्मक अव्यक्तभावात्मक कार्य्यकारणैक्यदृष्टि से यत्रूप भी प्राण को यजुरूप प्राणवाक्रूप से व्यवहृत कर देना निर्विरोध समन्वित हो जाता है। यही कारण है कि, प्राण के कार्य्यभूत वाक्–(मर्त्याकाश) से उत्पन्न आगे के वायु–तेज–जल–मृत्–आदि सम्पूर्ण व्यक्त कार्य्यों को–'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि रूप से 'वाक्' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। प्राण तथा वाक्, दोनों के संगमनात्मक 'यजन' का ही नाम 'यजु' है जो कि देवयजन (देवप्राणसंगमनात्मक यज्ञ) का आधार बना करता है। इसी उभयसमन्वित दृष्टिकोणमाध्यम से 'यजु' को 'यज' नाम से भी व्यवहृत कर दिया है। 'यत्जू' का परोक्ष नाम तो 'यजु' है ही। साथ ही वाक्प्राणसंगमनभावात्मक 'यज' शब्द का भी परोक्ष नाम 'यजु' मान लिया गया है, इसी अभिन्नसत्तामाध्यम से। देखिए।

यजुषा ह देवा–अग्रे यज्ञं तेनिरे, अथ ऋचा, अथ साम्ना। तदिदमप्येतर्हि—
यजुषैवाग्रे तन्वते, अथ ऋचा, अथ साम्ना। 'यजो' ह वै तद्यजुरिति ॥

—शत० ४।६।७।१३।

'रयिति' धर्मात्मक 'आकाश' (भूताकाश मर्त्याकाश) है। तदित्थं-'यत्-जू'-'वायु-आकाश'-'प्राण-वाक्'-'प्राणचिति-वाक्चिति'-इत्यादि विविध द्वन्द्व नामों से परिगृहीत-परिभाषित, अन्नागमन की अनिवार्यता से आविर्भूता प्राणचिति अर्वाचित की समष्टिरूपा परावतिरूपा ही ऋक्सामापेक्षिता यह यजुर्चिति है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेव-आकाशो जूः ×, यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनुजवते। तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षं च (आकाशश्च), यच्च-जूश्च। तस्माद्-यजुः। एष एव यदेष यन्नेति। तदेतत्-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्, ऋक्सामे वहतः।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१।

(८८)—ऋक्सामात्मक यजुःप्राणः—

श्रुति के अक्षरों का अक्षरशः से यथापि समन्वय कठिन है, अतएव इन शब्दों में इसके अक्षरार्थ का समन्वय कर लेना चाहिए। श्रुति ने कहा है— 'यह जो सर्वत्र (दोषभावों को हटाने से 'पूत' नाम से-'पवन' नाम से प्रसिद्ध) वायु बह रहा है, यही तो 'यजु' (यजुर्वेद) है। यही गतिशील (यत्) बनता हुआ इन सब भूत-भौतिक प्रपञ्चों का जनिता (जनक-उत्पादक-सुप्रभव) है। इसके गतिभाव का अनुसरण करके ही सब कुछ उत्पन्न होता है। यह आकाश ही 'जूः' नामक तत्त्व है, जो कि (इस द्यावापृथिवी—सूर्य और भूपिण्ड को अग्निगर्भ में समाविष्ट रखने वाला नीलाभरूप से प्रतीयमान) यह अन्तरिक्ष है। इस आकाशरूप अन्तरिक्ष को आधार बना कर ही तो यह वायु अपने जव (वेग) से बह रहा है। सो यह यजु वायु और अन्तरिक्ष है, यत् और जूः है। इसीलिए तो यह 'यजुः' कहलाया है। यही तो गतिशील तत्त्व है। सो यह गतिशील यजुः तत्त्व ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋक्साम ही यजु का वहन कर रहे हैं"।

(८९)—वातवायु और यजुः—

त्वक्स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्ष-अनुभूत वायु का ही नाम क्या तत्त्वात्मक यह यजुर्वेद है, जो विश्वेश्वर का मौलिक स्वरूप उद्घोषित हुआ है ?। उत्तर है यह सुप्रसिद्ध उपलालनभाव, नैदानिक प्रतीकभाव, जिसे माध्यम बना कर ही भारत बालभावापन्न व्यक्तियों को सत्य की ओर शनैः शनैः आकर्षित किया गया है। जिस वायु का हमारे शरीर से स्पर्श होता है, जो सर्वत्र विधूनन करता हुआ सब को विधूनित करता रहता है, वह तो पारिभाषिकी 'वातवायु' नामकी अभिधा से निगम में वर्णित हुआ है, जो कि अपने मौलिक विधूननधर्म से भूतपरमाणुओं का भूतों में परस्पर 'प्रहिता संयोग—अयुता संयोग' अथवा आदानविसर्गात्मक सम्बन्ध से अन्नादि ओषधि वनस्पत्यादि का पोषण करता रहता है, जिसका कि—'वात आ वातु भेषजम्' (ऋक्सं १।१८६।१) इत्यादि

× जूराकाशे, सरस्वत्यां, पिशाच्यां, यवने, स्त्रियाम्।

—विश्वकोश।

में बल सहचारीमात्र है, रस ही प्रधान है। तृतीया प्राणचिति में रस सहचारी है, बल ही प्रधान है। इन चारों चितियों के मध्य में हृदयस्थान में रसनिबन्धना मुमुक्षा, बलनिबन्धना सिसृक्षा–दोनों से समन्वित रसबलमूर्ति काममय उभयात्मक श्वोवसीयस् नामक अव्ययमन प्रतिष्ठित है, जिसकी रसात्मिका कामना से आनन्द–विज्ञान चितियाँ अनुप्राणित हैं, एवं बलात्मिका कामना से प्राण–वाक्चितियाँ अनुप्राणित हैं। अतएव काममय उभयात्मक मन दोनों का साक्षी बनता हुआ दोनों में अन्तर्भूत है। इसी आधार पर 'आनन्द–विज्ञान–रसप्रधान-मन' इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग माना जा सकता है। 'बलात्मक मन–प्राण–वाक्' तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग माना जा सकता है। प्रथम विभाग को रसकामनानुबन्ध से 'मुक्तिसाक्षी आत्मा' कहा जा सकता है। द्वितीय भाग को 'सृष्टिसाक्षी आत्मा' कहा जा सकता है। चितिदृष्टि से मुमुक्षाप्राणिता आनन्दविज्ञान-चिति समष्टि को 'अन्तश्चिति' कहा जा सकता है, सिसृक्षानुप्राणिता प्राण–वाक्चितिसमष्टि को 'बहिश्चिति' कहा जा सकता है, एवं मध्यस्थ उभयात्मक मन को 'कामचिति' कहा जा सकता है। परात्परभिन्न मायी रस-बलमूर्ति निष्कल अव्ययपुरुष की इस प्रकार मनोमयी कामना, किंवा कामरस से सत् रस के असत् बल में बन्धु (सम्बन्ध) तारतम्य से 'आनन्दचिति–विज्ञानचिति–कामचिति–प्राणचिति–वाक्चिति' ये पाँच चितियाँ व्यवस्थित हो जाती हैं। यों निष्कल पुरुष सकलपुरुष, किंवा पञ्चचितिकपुरुष बनता हुआ इन पाँच चितियों से 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध हो जाता है, जिसका उपनिषत् ने 'पञ्चकोशब्रह्म' रूप से यशोगान किया है। इन पाँचों में रस–बल के तारतम्य से पूर्व पूर्व कोश उत्तर उत्तर कोश का आत्मा है, उत्तर उत्तर कोश पूर्व पूर्व कोश का शरीर। पूर्व पूर्व कोश सूक्ष्म है, तदपेक्षया उत्तरोत्तर कोश स्थूल है। सूक्ष्म पूर्व कोश स्थूल उत्तर कोश का शरीर–आत्मा है, स्थूल उत्तरकोश सूक्ष्म पूर्वकोश का शरीर है। अतएव यह कोशब्रह्म 'आत्मन्वी' (शरीरविशिष्ट आत्मा–प्रजापति) नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। 'एक वा इदं वि बभूव सर्वम्' के अनुसार यह एक ही निष्कल ही मायी अव्ययपुरुष तदित्थं पञ्चकल बन रहा है।

(९४)–वाङ्मय अन्तविवर्त्त—

उपनिषत् ने 'वाङ्मयकोशब्रह्म' को 'अन्नमयकोशब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है। कारण यही है कि मन-प्राणगर्भिता यजुर्वाक् ही यह मर्त्याकाश है, जिसका मनोगर्भित प्राणमयकोश के अनन्तर 'वाक्चिति' रूप से आविर्भाव बतलाया गया है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' के अनुसार मनोगर्भित प्राणात्मा ही वाग्रूप भूताकाश का प्रभव बनता है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, मनोगर्भित प्राणात्मा के सिसृक्षामूलक प्राणव्यापार से बलबलावर्त्त के द्वारा प्राण ही उत्तरावस्थामें 'वाक्' रूप में परिणत होगा। सिसृक्षा प्रक्रान्त रही, बलग्रन्थि का उपक्रम हुआ। इस मनःप्राण वाङ्मय (मन-प्राणवागाकाशमय) आत्मा से वायु (आप) नामक भूत का आविर्भाव हुआ। मनःप्राणवाग्वायुरूप आत्मा से तेजोभूत का, मनःप्राण वाग्वायुतेजोमय आत्मा से जलभूत का, मनःप्राणवाग्वायुतेजजलात्मा से पार्थिवभूत का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार बलग्रन्थितारतम्य से मन-प्राणगर्भिता वाक्, किंवा मन-प्राणगर्भित आकाश ही आकाश–वायु–तेज–जल पृथिवी, इन पञ्च सूक्ष्म–गुण–भूतों में परिणत हो गया, जो कालान्तरमें–रेणु–अणु–भूत-मात्रिकभावानुगता पञ्चीकरणप्रक्रिया से 'पञ्चमहाभूत' रूप में परिणत हो जाता है। पञ्चमहाभूतात्मिका पृथिवी ही ओषधि वनस्पत्यादिरूप में परिणत होती है। यही शारीराग्निमें हुत होकर रस–बल के क्रमिक विशकलन के द्वारा

(६१)—अन्नात्मक यजुःप्राण—

अव्यक्तप्राण से व्यक्तीभूत वाक् ही आगे जाकर पञ्च महाभूतभूतरूपों में परिणत होती हुई 'अन्न' रूप में परिणत होती है। अतएव "अन्नमय यजु" (शत० १०।३।५।५१) रूप से वाङ्मय भूतसमष्टिरूप अन्न को भी 'यजुः' कह दिया जाता है। अन्नमय मन ही यत्-जूरूप प्राण-वाक् स्थितिरूप में परिणत होता है। अतएव 'मनो यजुर्वेदः' (शत० १४।४।३।१२)—'मन एव यजूंषि' (शत० ८।१।३।५)—'मनो वै यजुः' (शत० ६।३।१।४०) इत्यादि रूप से मन को भी 'यजु' कह दिया जाता है, जबकि व्यवस्थया प्राणवाक् के समन्वित रूप का ही नाम 'यजुः' है। जिन छन्दोरूप ऋक्-सामों का यहाँ—'ऋक्सामे यजुरपीतः' 'ऋक्सामे वहतः' इत्यादि रूप से प्राणवाक्रूप यजु का आधार माना गया है, वहाँ अन्यत्र आधाराधेयभाव के अन्तरङ्गत्वभाव सम्बन्ध से 'वागेवर्ग्यश्च-सामानि च-मन एव यजूंषि' (शत० ८।१।३।५) इत्यादि रूप से वाक् को ऋक्साम-अभिधा से भी व्यक्त मान लिया गया है। हमें अपनी स्थूल भावुकदृष्टि से यद्यपि श्रौतसिद्धान्त विप्रतिपन्न प्रतीत होने लगते हैं। किन्तु वस्तुगत्या सम्पूर्ण तत्त्ववचनों का तत्त्वदृष्टया निर्विरोध समन्वय हो रहा है। वक्तव्यांश यही है कि, 'सर्वा गतिर्याजुषी हैव शाश्वत्' (तै० ब्रा० ३।१२।६।) इत्यादि निगमानुसार गतिप्रकृतिक प्राण, तथा सापेक्ष स्थितिप्रकृतिक 'वाक्' दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही 'यजुः' है, जो परोक्षभाषा में 'यजुः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है *।

(६२)—यजुर्वाक्चिति का आपोभाग—

मनोमयी सिसृक्षा से उद्भूत प्राणचिति में जहाँ रसतत्त्व निरतिशयरूप से समुत्तेजित था, वहाँ उसी सिसृक्षा से उद्भूत वाक्चिति में रसतत्त्व ग्रन्थिभावानुगत बन जाता है। साथ ही इसमें 'सत् त्यत् वा' न्याय से मनः-प्राण दोनों गर्भीभूत रहते हैं। यही अर्यमात्मक-मनःप्राणवाङ्मय विश्वसाक्षी-सृष्टिसाक्षी आत्मा कहलाता है। सृष्टिसाक्षी इस आत्मब्रह्मलक्षण प्रतिष्ठाब्रह्म के तप (प्राणव्यापार) से यजु के जूरूप वाक् भाग का (वाक्चिति का) द्रुत भाग ही 'आपः' (वायु नामक सूक्ष्म आपः) का आविर्भाव हुआ है, जैसाकि 'सोऽपो सृजत-वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत' (शत० ६।१।१।७) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

(६३)—पञ्चकोशात्मक अव्ययब्रह्म—

स्पष्ट किया गया है कि बल कुर्वद्रूपा अवस्था में परिणत होता हुआ विशालरूप से समुदीत हुआ (२५२ २५१)। इस आत्यन्तिक उत्तेजन से बल मूल रस का अनुगामी बन गया। यही चौथी 'वाक्चिति' कहलाई, जिसमें रस सर्वथा अभिभूत है। जो स्थिति आनन्दचिति की है वही इस वाक्चिति की है। जो स्थिति विज्ञानचिति की है, वही स्थिति प्राणचिति की है। इसलिए कि—प्रथमा आनन्दचिति में बल अभिभूत-सुप्तवत् है, रस सर्वात्मना विकसित है। चतुर्थी वाक्चिति में—रस अभिभूत है, सुप्तवत् है, बल सर्वात्मना विकसित है। एवमेव द्वितीया विज्ञानचिति

---

* जिस अपौरुषेय शब्दवाङ्मय शास्त्र में प्राकृतिक अपौरुषेयतत्त्वात्मक वेद का निरूपण हुआ है, वह तत्त्वात्मक वेद क्या ही रहस्यपूर्ण विषय है, जिसका रहस्यपूर्णात्मक निरूपण उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय-तृतीय खण्डों में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

मीमांसा होती रहेगी । परात्परविनाभूत पञ्चकल अव्ययपुरुष, तदभिन्ना–पञ्चकला पराप्रकृति (अक्षर), तदभिन्ना पञ्चकला अपराप्रकृति, इन १–परात्पर–५–अव्यय–५–अक्षर ५–क्षर–कलाओं की समष्टि को ही 'षोडशी पुरुषप्रजापति' कहा गया है, जिसका परात्परविशिष्ट अव्ययात्मभाग विश्व का अधिष्ठानकारण बनता है, तद्गर्भीभूत अक्षरात्मा (पराप्रकृति) विश्व का निमित्तकारण बनता है । एवं तद्गर्भीभूत किंवा सबगर्भीभूत क्षरात्मा विश्व का उपादानकारण बनता है । अधिष्ठान–निमित्त–उपादान (आरम्भण) कारणत्रयीसमष्टिरूप यह षोडशीपुरुष ही मायी महाविश्व का मूल बनता है, जिसे मूल बनाकर ही हमें विश्व के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा करते हुए निबन्ध के प्रधान साक्षीभूत पूर्वप्रतिज्ञात मनु के तात्त्विकस्वरूप का अत्र अविलम्ब उपक्रम कर देना है, जिस उपक्रान्ति के लिए थोड़ी प्रतीक्षा तो अनिवार्य्यरूपेण क्षम्य मान ही ली जायगी ।

(६५)–मायी महेश्वर के विविध विवर्त्त—

'परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर' मूर्त्ति, षोडशीप्रजापति को विश्व का मूल प्रमाणित करते हुए हमने इसी को 'मनु' स्वरूप का उपक्रम भी माना है । परिभाषाविलुप्ति के कारण, साथ ही निगमव्याख्या-लक्षणा आचारमीमांसा से एकान्ततः असंस्पृष्टा वर्त्तमान दार्शनिक तत्त्वमीमांसा के अनुग्रह से नैगमिक व्यवच्छिन्न आत्मस्वरूप–बोध क्योंकि विलुप्तप्राय है । अतएव सर्वथा सहज भी यह आत्मस्वरूप आज के मानव के लिए दुर्बोध्य प्रमाणित हो सकता है । इसीलिए पुनः पुनः हमें विभिन्न दृष्टिकोणों से इन आत्मस्वरूपमीमांसाओं को लक्ष्य बनाना पड़ता है । दार्शनिक दृष्टि का ही यह असीम अनुग्रह है ! कि, सर्वथा विभक्त भी आत्मविवर्त्त आज पारस्परिक उन पर्य्यायसम्बन्धों के माध्यम से अभिन्नार्थक मानने-मनवाने की भ्रान्ति से स्व–स्व–व्यवस्थित विभक्त स्वरूपों से अभिभूत हो गए हैं । उदाहरण के लिए 'परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीवात्मा' आदि प्रत्येक शब्द यद्यपि विज्ञानदृष्ट्या सर्वथा विभिन्न आत्मभावों के वाचक हैं । किन्तु आज एकहेलया इन सब को अभिन्नार्थक माना जा रहा है, फलस्वरूप इन शब्दों को पर्य्याय घोषित किया जा रहा है । मायातीत सर्वविलिष्टरसैकघन तत्त्व परात्पर परमेश्वर है । महामायावलावच्छिन्न सहस्र-वल्शामूर्त्ति अश्वत्थवल्शलक्षण षोडशीपुरुष मायी महेश्वर है * । स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, इन पाँच पुण्डीरों की समष्टिरूप–अतएव 'पञ्चपुण्डीरप्राजापत्यवल्शा' नाम से प्रसिद्ध, दूसरे शब्दों में स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिव्यन्त व्याप्त पञ्चवल्शाधिष्ठाता आत्मन्वी वल्शेश्वर ही त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षण सप्तभुवनात्मक विश्व का ईशिता बनता हुआ 'विश्वेश्वर' है । स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्यादि–पाँचों पुण्डीर स्वतन्त्ररूप से संगृहीत बनते हुए अपने अपने स्वतन्त्र स्वरूप से 'उपेश्वर' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनकी समष्टि को 'पञ्चोपेश्वरा' कहा गया है । पाँचों उपेश्वरों में से केवल पार्थिव उपेश्वर से अनुप्राणित पार्थिव सौम्यत्रिलोकी के अग्नि-वायु आदित्य के त्रिवृद्भाव से कृतरूप विराट् हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति उपनिषदों में 'सर्वभूतान्तरात्मा'–'साक्षी सुपर्ण'

* मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्–मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्व्वमिदञ्जगत् ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।१ ।

रेतोरूप में परिणत होती है। यह शुक्रतत्व ही योषाग्नि में आहुत होकर पर्यान्त में 'पुरुष' रूप में परिणत होता है। यह है सहज सृष्टिक्रम, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः,—आकाशाद्वायुः—वायोरग्निः—अग्नेरापः—अद्भ्यः पृथिवी—पृथिव्या ओषधयः—ओषधीभ्योऽन्नम्—अन्नात्—रेतः—रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। —तै० उ० १० २।१।

आकाश (वाक्)—वायु—अग्नि—जल—पृथिवी—पाँचों भूत ही भोग्य बनते हैं। अतएव 'अद्यते' के अनुसार इन की समष्टि को अवश्य ही 'अन्न' कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से इस वाङ्मयविवर्त्त को 'अन्नविवर्त्त' कहा जाता है, जिसे 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' रूप से सर्वभूतात्मक घोषित किया गया है। इसी आधार पर भगवान् तित्तिरि ने वाङ्मय कोशको 'अन्नमयकोश' नामसे व्यवहृत कर दिया है। केवल मौलिक तत्त्वसृष्टि के प्रसङ्ग में तो इसे 'वाङ्मयकोश' ही कहा जायगा। किन्तु अन्नरसद्वारा समुत्पन्ना वैकारिकी प्रजासृष्टि की व्याख्या करते हुए इसे 'अन्नमयकोश' अभिधासे समलङ्कृत किया जायगा। सृष्टिमूलमीमांसा का उपक्रम करते हुए हम ने पूर्व में 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि०' इत्यादि मन्त्र उद्धृत किया था। उस मन्त्र की प्रथमभूमिका कामनीयानुगता—सद्सद्बन्धु—(सदसत्सम्बन्ध) लक्षणा इस पञ्चकोश-निष्पत्ति पर ही उपसंहृत हो रही है।

रसबलानुगतषड्विधचितिभावपरिलेख—

आनन्द-विज्ञानघनमनःप्राणगर्भिता वाक्—एष अव्ययः पुरुषः—

(१)—बलगर्भितो रसः——रसचितिः——आनन्दचितिः——आनन्द (आनन्दकला) }—अन्तश्चितिः
(२)—बलसञ्चरितो रसः—रसचितिः——विज्ञानचितिः——विज्ञानम् (विज्ञानकला) }

(३)—बलानुगतो रसः——रसचितिः——मुमुक्षाचितिः }—मनः (अमनकला)——चितिप्रवर्त्तकः
(४)—रसानुगतं बलम्——बलचितिः—सिसृक्षाचितिः }

(५)—रससञ्चरितं बलम्——बलचितिः——प्राणचितिः——प्राणः (प्राणकला) }—बहिश्चितिः
(६)—रसगर्भितं बलम्——बलचितिः——वाक्चितिः——वाक् (वाक्कला) }

[illegible]

उपर्युपवर्णित—उपस्तुत—अमनमय—निष्कलभावापन्न—मनोघन अतएव अमन—प्राणघन—अतएव अप्राण वाग्घन—अतएव अवाक्—सर्वसम—अतएव सर्वातीत—पञ्चकोशात्मक इस सकल—अतएव निष्कल परात्परसम्पुटित अव्ययपुरुष के साथ नित्य सम्बद्धा 'परा—अपरा' नाम की प्रकृति ही प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसकी इन प्रक्रान्त—तथा आगामिनी मीमांसाओं में यथावसर दृष्टिकोणभेद से

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स' । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप० ११७) इत्यादि प्रसिद्ध है। दूसरा बलसापेक्ष सर्वबलविशिष्टरसकैघन सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म नाम घोषित हुआ है। 'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७।) से दोनों का विभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है। यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है।

(९७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च सत्तातीत सर्वामूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्त्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है। परात्पर परमेश्वर सत्तादृष्ट्या यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है। तथापि सापेक्ष सत्तानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भातिभाव मान लिए जाते हैं। जो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनतीं हुई बलभातियाँ ही मानीं जायेंगी। इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्टया यह 'अनन्त' (नि:सीम–असीम) है। साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचालो–स्थिर–अपरिवर्त्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'अमृत-सत्–आभू' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है। ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असंख्यात) है, वहाँ यह दिग्दिशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है। तात्पर्य्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है। सर्वमिदमानन्त्यम्। किन्तु रसानन्त्वा जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्ततानुगता है। सहजभाषा में रस दिग्देश–काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है। रस संख्या में एक है; बल संख्या में अनेक है। संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्त्तनभाव के कारण 'मृत्यु–असत्–अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है। सदा सर्वथा एकरस–अक्षण–अद्रस के आधार पर सदा–सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का 'वीची–तरङ्गन्याय' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश अजस्र धाराधाहिक रूप से अक्रान्त बना रहता है। बलों की इन उच्चावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है। एवं जो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'–'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता।

(९८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन–निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षण–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–परातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है। किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशबल भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्त समस्त समाविष्ट रहते हैं। जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया[1]–हृदयम्[2]–आया[3] धारा[4]–आप[5]–भूति[6]–यक्ष[7]–सूत्रम्[8]–सत्यम्[9]–यक्षम्[10]–अभ्वम्[11]–वय[12]–वयोनाध[13]–वयुनम्[14]–मोह[15]–विद्या[16]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं। इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'वैषसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भीम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है–।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा समन्वय के लिए सिंहावलोकनदृष्टया संक्षेप से आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विषयमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्षार्थ पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-केवल-ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड-निरवयव-ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आभू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों नें–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे जाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध–तारतम्य से परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–सर्वेश्वर–ईश्वर–जीव–जगत्–आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(९६)—अत्यनपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य–पारुष–सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर-परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में *'अत्यनपिनद्ध' (निःसीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसभाव' विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाया है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से यही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु स्वानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बल निरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष–बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर), ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्वार्त्ती उपनिषत् की परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

+ परमेश्वर–महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणानिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक भारतविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

* सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यनपिनद्ध' है।

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स' । रसं ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप०२।७) इत्यादि प्रसिद्ध है । दूसरा बलसापेक्ष सप्तबलविशिष्टरसरूपेण सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म नाम घोषित हुआ है । 'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७) से दोनों का विभिन्नमान स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है । यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है ।

(९७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च सर्वातीत सर्वमूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है । परात्पर परमेश्वर तत्त्वदृष्टया यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है । तथापि सापेक्ष बलानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भाति-भाव मान लिए जाते हैं । यो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनतीं हुई बलभातियाँ ही मानीं जायेंगी । इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्टया यह 'अनन्त' (नि सीम–असीम) है । साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली–स्थिर–अपरिवर्त्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'अमृत-सत–अभू' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है । ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असंख्यात) है, वहाँ यह दिग्देशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है । तात्पर्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है । सर्वमिदमानन्त्यम् । किन्तु रसानन्त्य जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्त्यतानुगता है । सहजभाषा में रस दिग्देश–काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है । रस संख्या में एक है; बल संख्या में अनेक है । संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्त्तनभाव के कारण 'मृत्यु–असत्–अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है । सदा सर्वथा एकरस–अक्षण–सद्रस के आधार पर सदा-सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का 'वीची–तरङ्गन्याय' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश अजस्र धाराप्रवाहिक रूप से अभ्रान्त बना रहता है । बलों की इन उच्चावच्चतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है । एवं यो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'–'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता ।

(९८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन–निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षण–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है । किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशकक्ष भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्तबल समाविष्ट रहते हैं । जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया[१]–हृदयम्[२]–छाया[३]-धारा[४]-आप[५]-भूति[६]-यक्ष[७]-सूत्रम्[८]–सत्यम्[९]-यक्षम्[१०] –अभ्वम्[११]–वय[१२]–वयोनाध[१३]–वयुनम्[१४]–मोह[१५]–विद्या[१६]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं । इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'वैपसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है–।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा समन्वय के लिए सिंहावलोकनदृष्टा संग्रहरूप में आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्षार्थ पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-केवल-ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड-निरवयव-ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आभू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों ने–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे चाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध–तारतम्य से परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीव–जगत्–आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(९९)–अत्यनपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य–वारुण–सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में *'अत्यनपिनद्ध' (निःसीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसमात्र विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाया है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से यही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु सत्तानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बल निरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष–बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर) ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्मार्त्ती उपनिषत् की–परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

–परमेश्वर–महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणानिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक आत्मविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

* सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यनपिनद्ध' है।

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स' । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप०२।७) इत्यादि प्रसिद्ध है । दूसरा बलसापेक्ष सर्वबलविशिष्टरसरूपेण सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म' नाम भाषित हुआ है । 'शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७।) से दोनों का विभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है । यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है ।

(६७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च सर्वातीत सर्वमूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्त्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है । परात्पर परमेश्वर स्वादृष्ट्या यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है । तथापि सापेक्ष बलानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भाति-भाव मान लिए जाते हैं । दो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनती हुई बलभातियाँ ही मानी जायेंगी । इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्ट्या यह 'अनन्त' (निःसीम–असीम) है । साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली–स्थिर–अपरिवर्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'अमृत-सत्–अभ्व' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है । ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असंख्यात) है, वहाँ यह दिग्देशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है । तात्पर्य्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है । सर्वमिदमानन्त्यम् । किन्तु रसानन्त्वता जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्त्वानुगता है । सङ्क्षेप में रस दिग्देश–काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है । रस संख्या में एक है; बल संख्या में अनेक है । संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्त्तनभाव के कारण 'मृत्यु–असत्–अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है । सदा सर्वथा एकरस–अक्षण–अक्षय के आधार पर सदा-सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का 'वीची–तरङ्गन्याय' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश अजस्र धारावाहिक रूप से प्रक्रान्त बना रहता है । बलों की इन उच्चावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है । एवं जो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'–'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता ।

(६८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन–निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षण–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है । किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशरूप भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्तबल समाविष्ट रहते हैं । जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया[1]–हृदयम्[2]–छाया[3]-धारा[4]–आप[5]–भूति[6]–यक्ष[7]–सूत्रम्[8]–सत्यम्[9]–यज्ञम्[10] –अभ्वम्[11]–वय[12]–वयोनाध[13]–वयुनम्[14]–मोह[15]–विद्या[16]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं । इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'वियसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवेश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव वियत्त्व से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्म्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है–।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथासमन्वय के लिए सिंहावलोकनदृष्ट्या संग्रहरूप से आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस *निष्कर्षार्थ* पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड–अद्वय–निरञ्जन–केवल–ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड–निरवयव–ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आमू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों नें–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे जाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध–तारतम्य से परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीव–जगत्–आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(९६)—अत्यनपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य–आरुण–सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में •'अत्यनपिनद्ध' (निःसीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसभाव' विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाया है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से वही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु सत्तानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बलनिरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष–बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर), ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्मार्त्त उपनिषत् की परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

–परमेश्वर–महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणनिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक आद्यविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

• सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यनपिनद्ध' है।

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स' । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप०२।७) इत्यादि प्रसिद्ध है। दूसरा बलसापेक्ष सर्वबलविशिष्टरसकैघन सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म नाम घोषित हुआ है। 'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७।) से दोनों का निभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है। यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है।

(९७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च सर्वातीत सर्वमूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है। परात्पर परमेश्वर सत्तादृष्ट्या यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है। तथापि सापेक्ष बलानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भातियाँ मान लिए जाते हैं। वो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनती हुई बलभातियाँ ही मानी जायेंगी। इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्ट्या यह 'अनन्त' (नि सीम–असीम) है। साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली–स्थिर–अपरिवर्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'अमृत-सत्–आभू' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है। ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असख्यात) है, वहाँ यह दिग्दिशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है। तात्पर्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है। सर्वमिदमानन्त्यम्। किन्तु रसानन्त्यता जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्त्यतानुगता है। सहजभाषा में रस दिग्देश–काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है। रस संख्या में एक है; बल संख्या में अनेक है। संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्तनभाव के कारण 'मृत्यु–असत्–अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है। सदा सर्वथा एकरस–अक्षरण–सद्रस के आधार पर सदा-सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का 'वीची–तरङ्गन्याय' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश अजस्र धारावाहिक रूप से प्रक्रान्त बना रहता है। बलों की इन उच्चावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है। एवं जो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'–'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता।

(९८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन–निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षरण–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है। किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशभाव भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्तबल समाविष्ट रहते हैं। जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया[१]–हृदयम्[२]–छाया[३] धारा[४]–आप[५]–भूति[६]–याम[७]–सूत्रम्[८]–सत्यम्[९]–यक्षम्[१०] –अभ्वम्[११]–वय[१२]–वयोनाध[१३]–वयुनम्[१४]–मोह[१५]–विद्या[१६]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं। इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'वैश्वसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवेश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्म्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावा-पन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है+।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा समन्वय के लिए सिंहावलोकनरूपेण संग्रहरूप से आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्ष पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड–अद्वय–निरञ्जन–केवल–ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड–निरवयव–ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आभू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों ने–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे जाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनो मय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध–तारतम्य से परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीव–जगत्–आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(६६)–अत्यनपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य–वारुण–सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में *'अत्यनपिनद्ध' (निःसीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसभाव' विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाया है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से वही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु सत्तानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बल निरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष–बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर), ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्मार्त्त उपनिषत् की परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

+ परमेश्वर–महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणनिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक भाष्यविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

* सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यनपिनद्ध' है।

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप०१।७) इत्यादि प्रसिद्ध है। दूसरा बलसापेक्ष सर्वबलविशिष्टरसकैवल्य सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म' नाम घोषित हुआ है। 'शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७।) से दोनों का विभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है। यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है।

(९७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च स्वातीत सर्वमूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है। परात्पर परमेश्वर स्वतादृष्ट्या यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है। तथापि सापेक्ष बलानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भातिभाव मान लिए जाते हैं। वो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनतीं हुई बलभातियाँ ही मानीं जायेंगी। इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्ट्या यह 'अनन्त' (नि सीम–असीम) है। साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली–स्थिर–अपरिवर्त्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'अमृत-सत्–आभू' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है। ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असंख्यात) है, वहाँ यह दिग्देशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है। तात्पर्य्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है। सर्वमिदमानन्त्यम्। किन्तु रसानन्त्यता जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्ततानुगता है। सहजभाषा में रस दिग्देश–काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है। रस संख्या में एक है; बल संख्या में अनेक है। संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्तनभाव के कारण 'मृत्यु–असत्–अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है। सदा सर्वथा एकरस–अक्षरण–सद्रस के आधार पर सदा–सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षरणभावापन्न असद्बलों का 'वीची–तरङ्गन्याय' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश प्रभृति धारावाहिक रूप से प्रक्रान्त बना रहता है। बलों की इन उच्चावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है। एवं जो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'–'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता।

(९८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन–निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षरण–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है। किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशरूप भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्तबल समाविष्ट रहते हैं। जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया[१]–हृदयम्[२]–छाया[३] धाता[४]–आप[५]–भूति[६]–यक्ष[७]–सूत्रम्[८]–सत्यम्[९]–यक्षम्[१०]–अभ्वम्[११]–वय[१२]–वयोनाध[१३]–वयुनम्[१४]–मोह[१५]–क्रिया[१६]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं। इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'वैचसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवरयर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'—'कर्मात्मा'—'देही'—इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है– ।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा समन्वय के लिए सिंहावलोकनदृष्ट्या संग्रहरूप से आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्षार्थ पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-केवल-ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड-निरवयव-ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आभू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों ने-'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे जाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध-तारतम्य से परमेश्वर-महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर-जीव-जगत्-आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(९६)—अत्यनपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य-वारुण-सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में *'अत्यनपिनद्ध' (निःसीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसभाव' विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाता है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से यही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु स्वानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बल-निरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष-बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर) ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्मार्त्ती उपनिषत् की परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

– परमेश्वर-महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणनिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक आद्यविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

* सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यनपिनद्ध' है।

(६६)–प्रधानबलकोशत्रयी—

उक्त सोलह बलों में सम्पूर्ण अनन्त बल गर्भीभूत बने रहते हैं। अतएव ये १६ बल 'बलकोश' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें सर्वादि का 'मायाबलकोश' यह महाबल है, जिसके गर्भ में सम्पूर्ण (१५ हों) बलकोश समाविष्ट हैं। इन सोलहों में सर्वादिभूत मायाबलकोश का अपना एक स्वतन्त्र महत्त्व है, जिसके द्वारा सिसृक्षामूला सृष्टि का स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। सर्वान्त का 'विद्याबलकोश' अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है, जिसके द्वारा मुमुक्षामूला मुक्ति की प्रवृत्ति हुआ करती है। मध्यस्थ चतुर्दशबलकोश व्यष्टयात्मक बलकोश हैं, जिनका एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा, जिनमें कि भौतिक मर्त्यविश्व के यावयावत् त्वग्बलगयात्मक विज्ञान समाविष्ट माने गए हैं। इस दृष्टिकोण से इन षोडशविध बलकोशों की तीन मुख्य श्रेणियाँ निष्पन्न हो जाती हैं।

मायाबलकोशात्मक आदिबल को सीमाभावानुगता कामनाबल से अनुप्राणित हम 'अशनाया बल' कहेंगे, जिसका पूर्वपरिच्छेदों में इच्छा–अशनाया के स्वरूपनिरूपण–प्रसङ्ग में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। 'अशनाया वै पाप्मा' रूप से मायानुगता अशनाया ही 'अविद्याबलकोश' है, जो व्यष्ट्यात्मक हृदय–छाया–धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर व्यष्टिबलकोशों के सर्वान्त के 'मोहबलकोश' के द्वारा आवरणसर्ग (अविद्यासर्ग) की मूलाधिष्ठात्री बनती है। ठीक इसके विपरीत विद्याबलकोशात्मक सर्वान्त के बलकोश को–जो अपने रसानुबन्धी ज्योतिर्भाव के कारण निष्कामभावापन्न बना रहता है–हम बन्धननिवर्त्तक मुक्तिसाक्षी बलकोश कहेंगे, जो उन्हीं हृदय–छाया–धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर व्यष्टिबलकोश के सर्वादि हृदयबलकोश के द्वारा (अन्तर्य्यामीरूपनियतिर्बल की प्रेरणाद्वारा) आवरणसर्ग (अविद्या–मोह) का मूलनिवर्त्तक प्रमाणित होता है। मायाबलकोश को तमोमय अविद्यासर्गप्रवृत्ति के कारण हम 'अविद्याबल' कहेंगे एवं अन्तिम बलकोश 'विद्याबल' प्रसिद्ध होगा। तथा मध्य की चतुर्दशबलव्यष्टिसमष्टि मायानुगता बनकर वही 'अविद्या' कहलाएगी, विद्यानुगता बनकर वही 'विद्या' कहलाएगी। अतएव अविद्याबलात्मक मायाबलकोश को बलनिबन्धन 'मृत्युबल', विनाशी 'क्षरबल' कहा जायगा। विद्याबलकोश को रसनिबन्धन 'अमृतबल' अविनाशी 'अक्षरबल' कहा जायगा। एवं मध्यपतितचतुर्दश बलों को 'अमृतमृत्युबल'-विद्याऽविद्याबल' 'अक्षरक्षरबल' माना जायगा। इस दृष्टि से १६ बलों का त्रिधा वर्गीकरण निष्पन्न हो जायगा। अमृतबल का सहायक हृदयबल माना जायगा, मृत्युबल का सहायक मोहबल माना जायगा। मोहात्मक मृत्युबल 'तमोबल' कहा जायगा, हृदयात्मक (मनुर्भावात्मक) अमृतबल 'ज्योतिर्बल' माना जायगा। तमोबल को 'असद्बल' कहा जायगा, ज्योतिर्बल को 'सद्बल' माना जायगा। एवं इसी आधार पर– "असतो मा सद्गमय–मृत्योर्मा अमृतं गमय–तमसो मा ज्योतिर्गमय" इत्यादि उद्घोष व्यवस्थित होंगे। निम्नलिखित वचन इसी विद्या–अविद्यात्मक अक्षर–क्षरबलों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

प्रधानबलकोशत्रयीस्वरूपपरिलेख —

(१)	(१)—मायाबलम्	—असानुगतम्	—मृत्युः	—अविद्या	—(असत्—तमः)	—क्षरबलम्
(१४)	(२)—हृदयादिमोहान्तबलम्	—उभयानुगतम्	—अमृतमृत्यू	—विद्याविद्ये	—(सदसत्—उभयम्)	—उभयात्मकम्
(१६)	(३)—विद्याबलम्	—रसानुगतम्	—अमृतम्	—विद्या	—(सत्—ज्योतिः)	—अक्षरबलम्

ही भारतीय विज्ञानकाण्ड को १६ विभागों में विभक्त माना जा सकता है, जो विज्ञानभाग इन बलों पर अवलम्बित है, एवं जिस दृष्टिकोण के माध्यम से ही विज्ञानमूलभूत ब्रह्म का 'भर्ता यात्र विज्ञानाद्भूय' इत्यादि रूप से तूलरूपात्मक विज्ञान की अपेक्षा मूलरूप ब्रह्म का भूयोभावात्मक महिमशाली घोषित किया गया है।

षोडशपत्रकोशसप्तपरिलेखः—

(१)	(१)	मायाकोशानुगर्त— मायाविज्ञानम् —छन्दोविज्ञानम्—अश्वत्थविज्ञानम्-समष्टिविज्ञानम्		
(१)	(२)	हृदयकोशानुगर्त— हृदयविज्ञानम्—	नियतिर्विज्ञानम्—	व्याप्तिमात्रापन्नानि—अध्यात्म—अधिभूत—अधिदैवत—नक्षत्र—ग्रह—लोक—लोकी—आदित्यात्मक-खण्डखण्डविज्ञानानि । मानं तेजः ——— 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति रसमात्रः ।) पञ्चज्ञानेन्द्रियोप- सविज्ञानमिदं वक्ष्यामि-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति बलमात्रः ।) उपलक्षितत्वमव- (भाषण) विरूपत 'विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानमेव प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' । 'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्' । 'विज्ञानमित्युपासत' ।
(२)	(३)	जायाकोशानुगत— जायाविज्ञानम्—	दाम्पत्यविज्ञानम्	
(३)	(४)	धाराकोशानुगर्त— धाराविज्ञानम्—	क्रियाऽभेदविज्ञानम्—	
(४)	(५)	आपःकोशानुगर्त— आपोविज्ञानम्—	आप्तिविज्ञानम्—	
(५)	(६)	भूतिकोशानुगर्त— भूतिविज्ञानम्—	प्रभवविज्ञानम्—	
(६)	(७)	यज्ञकोशानुगर्त— यज्ञविज्ञानम्—	अन्नादविज्ञानम्	
(७)	(८)	सूत्रकोशानुगर्त— सूत्रविज्ञानम्—	प्रतिमेतिविज्ञानम्	
(८)	(९)	सत्यकोशानुगर्त— सत्यविज्ञानम्—	प्रतिष्ठाविज्ञानम्—	
(९)	(१०)	यज्ञकोशानुगर्त— यज्ञविज्ञानम्—	कर्मविज्ञानम्—	
(१०)	(११)	अभ्वकोशानुगत— अभ्वविज्ञानम्—	नामरूपविज्ञानम्	
(११)	(१२)	वयःकोशानुगर्त — वयोविज्ञानम्—	प्राणविज्ञानम् —	
(१२)	(१३)	वयोनाधकोशानुगर्त वयोनाधविज्ञानम्—	वाग्विज्ञानम् —	
(१३)	(१४)	वयुनकोशानुगर्त— वयुनविज्ञानम्—	पदार्थविज्ञानम्—	
(१४)	(१५)	मोहकोशानुगर्त— मोहविज्ञानम्—	मनोविज्ञानम्—	
(१)	(१६)	विद्याकोशानुगर्त— विद्याविज्ञानम्—	बुद्धिविज्ञानम्—	कर्म्मोरस्यत्वविज्ञानसमष्टि-विज्ञानम्

(६६)–प्रधानबलकोशत्रयी—

उक्त सोलह बलों में सम्पूर्ण अनन्त बल गर्भीभूत बने रहते हैं। अतएव ये १६ बल 'बलकोश' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें *सर्वादि का 'मायाबलकोश' यह महाबल है, जिसके गर्भ में सम्पूर्ण* (१५ हों) बलकोश समाविष्ट हैं। इन सोलहों में सर्वादिभूत मायाबलकोश का अपना एक स्वतन्त्र महत्व है, जिसके द्वारा इच्छा-मूला सृष्टि का स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। सर्वान्त का 'विद्याबलकोश' अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है, जिसके द्वारा मुमुक्षामूला मुक्ति की प्रवृत्ति हुआ करती है। मध्यस्थ चतुर्दशबलकोश व्यष्टयात्मक बलकोश हैं, जिनका एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा, जिनमें कि भौतिक मर्त्यविश्व के यच्चयावत् खण्डखण्डात्मक विज्ञान समाविष्ट माने गए हैं। इस दृष्टिकोण से इन षोडशविध बलकोशों की तीन मुख्य श्रेणियाँ निष्पन्न हो जाती हैं।

मायाबलकोशात्मक आदिबल को सीमाभावानुगता कामनाबल से अनुप्राणित हम 'अशनाया बल' कहेंगे, जिसका पूर्वपरिच्छेदों में इच्छा–अशनाया के स्वरूपनिरूपण–प्रसङ्ग में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। 'अशनाया वै पाप्मा' रूप से मायानुगता अशनाया ही 'अविद्याबलकोश' है, जो व्यष्टयात्मक हृदय–माया–धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर व्यष्टिबलकोशों के सर्वान्त के 'मोहबलकोश' के द्वारा आवरणसर्ग (अविद्यासर्ग) की मूलाधिष्ठात्री बनती है। ठीक इसके विपरीत विद्याबलकोशात्मक सर्वान्त के बलकोश को–जो अपने रसानुबन्धी ज्योतिर्भाव के कारण निष्कामभावापन्न बना रहता है–हम बन्धननिवर्त्तक मुक्तिसाक्षी बलकोश कहेंगे, जो उन्हीं हृदय–माया–धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर *व्यष्टिबलकोश के सर्वादि हृदयबलकोश के द्वारा* (*अन्तर्यामीरूपनियतिबल की प्रेरणाद्वारा*) *आवरणसर्ग* (अविद्या–मोह) का मूलनिवर्त्तक प्रमाणित होता है। मायाबलकोश को तमोमय अविद्यासर्गप्रवृत्ति के कारण हम 'अविद्याबल' कहेंगे एवं अन्तिम बलकोश 'विद्याबल' प्रसिद्ध होगा। तथा मध्य की चतुर्दशबल कोशसमष्टि मायानुगता बनकर वही 'अविद्या' कहलाएगी, विद्यानुगता बनकर वही 'विद्या' कहलाएगी। अतएव अविद्याबलात्मक मायाबलकोश को बलनिबन्धन 'मृत्युबल', विनाशी 'क्षरबल' कहा जायगा। विद्याबलकोश को रसनिबन्धन 'अमृतबल' अविनाशी 'अक्षरबल' कहा जायगा। एवं मध्यप्रतिष्ठितचतुर्दश बलों को 'अमृतमृत्युबल'-विद्याऽविद्याबल' 'अक्षरक्षरबल' माना जायगा। इस दृष्टि से १६ बलों का त्रिधा वर्गीकरण निष्पन्न हो जायगा। अमृतबल का सहायक हृदयबल माना जायगा, मृत्युबल का सहायक मोहबल माना जायगा। मोहात्मक मृत्युबल 'तमोबल' कहा जायगा, हृदयात्मक (मधुर्भावात्मक) अमृतबल 'ज्योतिर्बल' माना जायगा। तमोबल को 'असद्बल' कहा जायगा, ज्योतिर्बल को 'सद्बल' माना जायगा। एवं इसी आधार पर– "असतो मा सद्गमय–मृत्योर्मा अमृतं गमय–तमसो मा ज्योतिर्गमय" इत्यादि उद्घोष व्यवस्थित होंगे। निम्नलिखित वचन इसी विद्या–अविद्यात्मक अक्षर–क्षरबलों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

प्रधानबलकोशत्रयीस्वरूपपरिलेख —

(१) (१)—मायाबलम् –बलानुगतम् –मृत्युः –अविद्या –(असत्–तमः) –क्षरबलम्

(१५) (२)—हृदयादिमोहान्तबलम् –उभयानुगतम्–अमृतमृत्यू –विद्याविद्ये –(सदसत्–उभयम्)–उभयात्मकम्

(१६) (३)—विद्याबलम् –रसानुगतम् –अमृतम् –विद्या –(सत्–ज्योतिः) –अक्षरबलम्

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं, त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ श्वे०उप०५।१।
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ श्वे० १।१०

(१००) शक्त्युपासना की मूलप्रतिष्ठा—

यह ठीक है कि, सोलहवाँ विद्याबल ही हृदयग्रन्थ्यात्मक अन्तर्यामी नियतिग्रन्थि की प्रेरणा से बलग्रन्थिविमोकद्वारा बन्धन–मुक्ति का कारण बनता है। किन्तु यह श्रेय भी अन्ततोगत्वा सर्वादिभूत उस महामायाबल को ही समर्पित किया जायगा, जो असीम परात्पर को भी ससीम बनाकर सर्वाधिष्ठाता बन रहा है। माया के अनुग्रह से ही तो मायी अव्ययात्मा रसानुबन्धिनी मुमुक्षा के द्वारा निष्पन्ना पूर्वोपवर्णिता आनन्दविज्ञानाभिमुख अन्तर्भिति के माध्यम से बन्धनविमोक का अधिष्ठाता बनता है। अतएव बन्धन, किंवा विमोक, सर्ग, अथवा प्रलय, यत्किञ्चिदिदं जगद्वस्तु द्वन्द्वात्मक है, सब का निःशेष उत्तरदायित्व इस महामाया जगदम्बा पर ही अवलम्बित माना जायगा। इसी महामाया के विष्णु–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से मोहद्वारा सर्गप्रवृत्ति होती है। इसी महामाया के इन्द्र–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से रागद्वारा सर्गस्थिति, इसी महामाया के 'ब्रह्माक्षरनिबन्धन–रजोगुणात्मक–योगमायाबल' से सर्गसंरक्षण होता है। एवं इसी महामाया के इन्द्राक्षरनिबन्धन–सत्त्वगुणात्मक–योगमायाबल से सर्गबन्धननिवृत्ति होती है। अतएव आर्षवैज्ञानिक महामहर्षियों ने 'शक्त्युपासना' को ही उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा माना है।

(१०१)—दार्शनिकों का व्यामोहन—

यदवधिपर्य्यन्त महामायाबल सुप्त रहता है (अव्यक्तावस्था में परिणत रहता है), तदवधिपर्य्यन्त शेष पन्द्रहों बलकोश भी अव्यक्त भाव में परिणत रहते हैं। फलतः बलानुगता सृष्टिप्रक्रिया भी अव्यक्त ही बनी रहती है। मायाबल के जागरण से (व्यक्तावस्था में परिणत होने से) ही शेष बलकोश जागरूक बनते हैं, तदनन्तर ही सृष्टिप्रक्रिया प्रक्रान्त बनती है। मायाबल के इसी महामहिम–गरिमामय–महामहत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए ही सम्भवतः अर्वाचीन दार्शनिकों ने (वेदान्तनिष्ठों ने) अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि,–"यह सम्पूर्ण भूत–भौतिक प्रपञ्च मायिक है, मायामय है"। यह दार्शनिकधारणा तथाकथित अंशपर्य्यन्त जहाँ आर्षविज्ञानानुमोदित है, वहाँ इस धारणा के साथ–साथ अपनी निगमव्याख्याशून्या नित्यविज्ञानशून्या कल्पित इस धारणा, किंवा असद्धारणा का कोई महत्त्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता, जिस धारणामात्र का इन दार्शनिकों ने —(जगत् क्योंकि मायिक है, अतएव मिथ्या है) इन काल्पनिक शब्दों में घोषणा करते हुए 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' न्याय को ही अक्षरशः चरितार्थ करने का महान् गौरव प्राप्त किया है।

(१०२)—सर्व्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म—

मायासत्तानुबन्धी सर्ग का एक महत्वपूर्ण प्रासङ्गिक विश्लेषण और। निष्कल पुरुष 'सकल' बन गया, षोडशकल बनता हुआ 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हो गया, यह पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इस सकल ने किया क्या ?, इस प्रश्न का एक प्रासङ्गिक विश्लेषण यों समन्वित किया जा सकता है कि, मायोदय से पूर्व ब्रह्मतत्त्व निर्धर्म्मक बना रहता है। यही मायोदय से बलग्रन्थिनिबन्धन आत्मपरिग्रहों से युक्त होकर 'सधर्म्मा' बन जाता है। वे आत्मपरिग्रह जहाँ बलकोशदृष्टि से पूर्वानुसार १६ भागों में विभक्त है, वहाँ 'आत्मन्वी' दृष्टि से ६ भागों में विभक्त माने गए हैं *। ये आत्मपरिग्रह क्रमशः "माया"—कला"—गुण"—विकार"—अञ्जन"—आवरण"" इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन परिग्रहात्मक षड्धर्म्मों से संयुक्त बनता हुआ निर्धर्म्मक मायातीत ब्रह्म 'सर्वधर्म्मोपपन्न' बन गया है, जिसका पुराणपुरुष ने—'सर्व्वधर्म्मोपपत्तेश्च' (व्याससूत्र) रूप से यशोगान किया है।

उक्त ६ओं परिग्रहों का त्रिधा वर्गीकरण किया है आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वानों नें। माया-कला, इन दोनों का एक स्वतन्त्र वर्ग है। गुण-विकार, का स्वतन्त्र वग है। एवं अञ्जन-आवरण, का एक स्वतन्त्र वर्ग है। माया-कला-रूप प्रथम द्वन्द्व 'अमृतात्मा' का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ 'अमृतपरिग्रह' माना जायगा। गुण-विकाररूप द्वितीय द्वन्द्व 'ब्रह्मात्मा' का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ 'ब्रह्मपरिग्रह' माना जायगा। एवं अञ्जन-आवरण रूप द्वन्द्व 'शुक्रात्मा का स्वरूपनिर्म्मापक बनता हुआ 'शुक्रपरिग्रह' माना जायगा। यद्यपि माया-कला आदि ६ परिग्रहों से सम्बन्धित इन वर्गात्मक तीन द्वन्द्वों से फलरूप तीन आत्मविवर्त्त पृथक्-पृथक् तीन आत्मविवर्त्त माने जायेंगे। तथापि परिग्रहनिरपेक्षावस्था में 'अय सर्वेष्वमयमात्मा' 'एष एवात्मा-च पूर्वस्य' इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीनों को एक ही आत्मा कहा जायगा। परिग्रहविरहित विशुद्ध आत्मदृष्ट्या यद्यपि एक ही 'आत्मा' उद्घोषित होगा। तथापि परिग्रहसापेक्षावस्था में—'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'-'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'-'आत्मा वा एकः सन्नेतत् त्रयम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीन आत्मविवर्त्त माने जायेंगे। इन तीनों आत्मपरिग्रहद्वन्द्वों के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रसङ्गविधया यह स्पष्टीकरण अनुगमनीय माना जायगा कि—

(१०३)—सीमाभावप्रवर्त्तक मायापरिग्रह,तथा—मायापरिग्रहयुक्त निष्कलपुरुष (१)

'माया' नामक प्रथम परिग्रह एकाकी है, निष्कल है। अवान्तर खण्ड-खण्डात्मिका विष्णुमाया-ब्रह्ममाया-शिवमाया-योगमाया-आदि असंख्य अनन्त-सापेक्ष मायाविवर्त्तों की अपेक्षा से इस —सदसद्विलक्षणा

---

* देखिए-ब्रह्मविज्ञानम थान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड पृ० सं २६१ से २६७ पर्य्यन्त—

— न सती सा, नासती सा, नोभयात्मा विरोधतः ।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी ॥
"वस्तु प्रकृतिरिष्यत" इति वा ।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं, त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ श्वे०उप०५।१।
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ श्वे० १।१०

(१००) शक्त्युपासना की मूलप्रतिष्ठा—

यह ठीक है कि, साक्षाद्ब्रह्म विद्याब्रह्म ही हृदयब्रह्मात्मक अन्तर्यामी नियतिबन्ध की प्रेरणा से ब्रह्मग्रन्थिविमोकद्वारा बन्धन-मुक्ति का कारण बनता है। किन्तु यह श्रेय भी अन्ततोगत्वा सर्वादिभूत उस महामायाबल को ही समर्पित किया जायगा, जो असीम परात्पर को भी ससीम बनाकर सर्वाधिष्ठाता बन रहा है। माया के अनुग्रह से ही तो मायी अव्ययात्मा रसानुबन्धिनी मुमुक्षा के द्वारा निष्पन्न पूर्वोपवर्णिता आनन्द विज्ञानात्मिका अन्तश्चिति के माध्यम से बन्धनविमोक का अधिष्ठाता बनता है। अतएव बन्धन, किंवा विमोक, सर्ग, अथवाऽपि लय, यत्किञ्चिदिदञ्जगद्वस्तु सदसदात्मक है, सब का निःशेष उत्तरदायित्व इस महामाया भगवती पर ही अवलम्बित माना जायगा। इसी महामाया के विष्णु-अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से मोहद्वारा सर्गप्रवृत्ति होती है। इसी महामाया के इन्द्र-अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से रागद्वारा सर्गस्थिति, इसी महामाया के 'ब्रह्माक्षरनिबन्धन-रजोगुणात्मक-योगमायाबल' से सर्गसंरक्षण होता है। एवं इसी महामाया के इन्द्राक्षरनिबन्धन-सत्त्वगुणात्मक-योगमायाबल से सर्गबन्धननिवृत्ति होती है। अतएव आर्षवैज्ञानिक महामहर्षियों ने 'शक्त्युपासना' को ही उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा माना है।

(१०१)—दार्शनिकों का व्यामोहन—

स्वप्नावधिपर्य्यन्त महामायाबल सुप्त रहता है (अव्यक्तावस्था में परिणत रहता है), तदवधिपर्य्यन्त शेष पञ्चहों बलकोश भी अव्यक्त भाव में परिणत रहते हैं। फलतः बलानुगता सृष्टिप्रक्रिया भी अव्यक्त ही बनी रहती है। मायाबल के जागरण से (व्यक्तावस्था में परिणत होने से) ही शेष बलकोश जागरूक बनते हैं, तदनन्तर ही सृष्टिप्रक्रिया प्रक्रान्त बनती है। मायाबल के इसी महामहिम-गरिमामय-महामहत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए ही सम्भवतः अर्वाचीन दार्शनिकों ने (वेदान्तनिष्ठों ने) अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि,—"यह सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च मायिक है, मायामय है"। यह दार्शनिकधारणा तथाकथित अंशपर्य्यन्त जहाँ आर्ष-विज्ञानानुमोदित है, वहाँ इस धारणा के साथ-साथ अपनी निगमव्याख्याशून्या नित्यविज्ञानशून्या कल्पित इस धारणा, किंवा असद्धारणा का कोई महत्त्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता, जिस धारणाभास का इन दार्शनिकों ने—(जगत् क्योंकि मायिक है, अतएव मिथ्या है) इन अस्वाभाविक शब्दों में घोषणा करते हुए 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' न्याय को ही अक्षरशः चरितार्थ करने का महान् गौरव प्राप्त किया है।

(१०२)–सर्व्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म—

मायाबलानुबन्धी सर्ग का एक महत्वपूर्ण प्रासङ्गिक विश्लेषण और। निष्कल पुरुष 'सकल' बन गया, षोडशकल बनता हुआ 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हो गया, यह पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इस सकल न किया क्या ?, इस प्रश्न का एक प्रासङ्गिक विश्लेषण यों समन्वित किया जा सकता है कि, मायोदय से पूर्व ब्रह्मतत्त्व निर्धर्म्मक बना रहता है। यही मायोदय से बलसम्बन्धनिबन्धन आत्मपरिग्रहों से युक्त होकर 'सधर्म्मा' बन जाता है। ये आत्मपरिग्रह जहाँ बलकोशदृष्टि से पूर्वानुसार १६ भागों में विभक्त हैं, वहाँ 'आत्मन्वी' दृष्टि से ६ भागों में विभक्त माने गए हैं *। ये आत्मपरिग्रह क्रमशः "माया[१]—कला[२]—गुण[३]—विकार[४]—अञ्जन[५]—आवरण[६]" इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन परिग्रहात्मक षड्धर्म्मों से संयुक्त बनता हुआ निर्धर्म्मक मायातीत ब्रह्म 'सर्वधर्म्मोपपन्न' बन गया है, जिसका पुराणपुरुष ने— 'सर्व्वधर्म्मोपपत्तेश्च' (व्याससूत्र) रूप से यशोगान किया है।

उक्त ६ओं परिग्रहों का त्रिधा वर्गीकरण किया है आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने। माया-कला, इन दोनों का एक स्वतन्त्र वर्ग है। गुण-विकार, का स्वतन्त्र वर्ग है। एवं अञ्जन-आवरण, का एक स्वतन्त्र वर्ग है। माया-कला-रूप प्रथम द्वन्द्व 'अमृतात्मा' का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ 'अमृतपरिग्रह' माना जायगा। गुण-विकाररूप द्वितीय द्वन्द्व 'ब्रह्मात्मा' का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ 'ब्रह्मपरिग्रह' माना जायगा। एवं अञ्जन-आवरण रूप द्वन्द्व 'शुक्रात्मा का स्वरूपनिर्म्मापक बनता हुआ 'शुक्रपरिग्रह' माना जायगा। यद्यपि माया-कला आदि ६ परिग्रहों से सम्बन्धित इन वर्गात्मक तीन द्वन्द्वों से क्रमशः तीन आत्मविवर्त' पृथक्-पृथक् तीन आत्मविवर्त' माने जायँगे। तथापि परिग्रहनिरपेक्षावस्था में 'अयं सदृक्षमयमात्मा' 'एष म्यात्मा-य पूर्वस्य' इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीनों का एक ही आत्मा कहा जायगा। परिग्रहविरहित विशुद्ध आत्मदृष्ट्या यद्यपि एक ही 'आत्मा' उपासित होगा। तथापि परिग्रहसापेक्षावस्था में—'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—'आत्मा उ एक सन्नेतत् त्रयम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीन आत्मविवर्त्त' माने जायँगे। इन तीनों आत्मपरिग्रहद्वन्द्वों के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रसङ्गप्रिया यह स्पष्टीकरण अनुगमनीय माना जायगा कि—

(१०३)–सीमाभावप्रवर्त्तक मायापरिग्रह,तथा-मायापरिग्रहयुक्त निष्कलपुरुष (१)

'माया' नामक प्रथम परिग्रह एकाकी है, निष्कल है। प्रमाणान्तर भगवद्-भगवतीविषयक विष्णुमाया-ब्रह्ममाया-शिवमाया-योगमाया आदि अनेक अनन्त-सापेक्ष मायाविवर्तों की अपेक्षा से इस "असङ्गदृष्टिलक्षणा

---

* देखिए-ब्रह्मविज्ञानग्रन्थान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड पृ० में २९१ से २९७ पर्यन्त—

—न सती सा, नासती सा, नोभयात्मा विरोधत ।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी ॥
"वस्तु प्रकृतिरिष्यते" इति वा ।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं, त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ श्वे०उप०५।१।
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ श्वे० १।१०

(१००) शक्त्युपासना की मूलप्रतिष्ठा—

यह ठीक है कि, सालहवां विद्याकला ही हृदयग्रन्थ्यात्मक अन्तर्यामी नियतिबल की प्रेरणा से बलग्रन्थिविमोकद्वारा बन्धन–मुक्ति का कारण बनता है। किन्तु यह श्रेय भी अन्ततोगत्वा सर्वादिभूत उस महामायाबल को ही समर्पित किया जायगा, जो असीम परात्पर को भी ससीम बनाकर सर्वाधिष्ठाता बन रहा है। माया के अनुग्रह से ही तो मायी अव्ययात्मा रसानुबन्धिनी मुमुक्षा के द्वारा निष्प्रभा पूर्वोपर्वीणा आनन्द विज्ञानात्मिका अन्तर्भित्ति के माध्यम से बन्धनविमोक का अधिष्ठाता बनता है। अतएव बन्धन, किंवा विमोक, सर्ग, अथवा लय, यत्किञ्चिद्विश्वद्वस्तु द्वन्द्वात्मक है, सब का निःशेष उत्तरदायित्व इस महामाया जगदम्बा पर ही अवलम्बित माना जायगा। इसी महामाया के विष्णु–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से मोहद्वारा सर्गप्रवृत्ति होती है। इसी महामाया के इन्द्र–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से रागद्वारा सर्गस्थिति, इसी महामाया के 'ब्रह्माक्षरनिबन्धन–रजोगुणात्मक–योगमायाबल' से सर्गसरक्षण होता है। एवं इसी महामाया के इन्द्राक्षरनिबन्धन–सत्त्वगुणात्मक–योगमायाबल से सर्गबन्धननिवृत्ति होती है। अतएव आर्षवैज्ञानिक महामहर्षियों ने 'शक्त्युपासना' को ही उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा माना है।

(१०१)–दार्शनिकों का व्यामोहन—

स्वत्वविपर्य्यन्त महामायाबल सुप्त रहता है (अव्यक्तावस्था में परिणत रहता है), तद्वत्विपर्य्यन्त शेष पन्द्रहों बलकोश भी अव्यक्त भाव में परिणत रहते हैं। फलतः बलानुगता सृष्टिप्रक्रिया भी अव्यक्त ही बनी रहती है। मायाबल के जागरण से (व्यक्तावस्था में परिणत होने से) ही शेष बलकोश जागरूक बनते हैं, तदनन्तर ही सृष्टिप्रक्रिया प्रक्रान्त बनती है। मायाबल के इसी महामहिम–गरिमामय–महामहत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए ही सम्भवतः अर्वाचीन दार्शनिकों ने (वेदान्तनिष्ठों ने) अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि,–"यह सम्पूर्ण भूत–भौतिक प्रपञ्च मायिक है, मायामय है"। यह दार्शनिकधारणा तथाकथित अंशपर्य्यन्त जहाँ आर्ष-विज्ञानानुमोदित है, वहाँ इस धारणा के साथ-साथ अपनी निगमव्याख्याशून्या नित्यविज्ञानशून्या कल्पित इस धारणा, किंवा अन्धधारणा का कोई महत्त्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता, जिस धारणामात्र का इन दार्शनिकों ने –(जगत् क्योंकि मायिक है, अतएव मिथ्या है) इन काल्पनिक शब्दों में घोषणा करते हुए 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' न्याय को ही अक्षरशः चरितार्थ करने का महान् गौरव प्राप्त किया है।

कलाभावों का उदय होता है। अतएव इस निष्कलाव्यय को 'कलासर्गकर' नाम से व्यवहृत किया गया है ×। आदिभूत मायापरिग्रहविशिष्ट आत्मविवर्त का यही संक्षिप्त स्वरूप-परिचय है।

(१०८) षोडशकलाभावप्रवर्त्तक 'कला' परिग्रह, तथा कलापरिग्रहयुक्त सकलपुरुष-(२)

मायापरिग्रहावच्छिन्न पुरभावात्मक निष्कल परात्पर पुरुष * ही मनोमयी कामना से रस-बलचिति के द्वारा कलाभाव में परिणत हो जाता है, यह पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया-जा चुका है। इस

× भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् (मायी महेश्वरम्)।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥ —श्वे० उप० ५।१।४।

* यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः 'परात्परं पुरुष'मुपैति दिव्यम्॥
(मुण्डकोपनिषत्) ३।२।८।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥

मुण्डकोपनिषत् २।१।२। (अप्राण प्राणघन अमना —मनोघन)

यहाँ बात कुछ समझने जैसी है। 'पर' शब्द 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः' इत्यादिरूप से केवल 'अव्ययपुरुष' के लिए निरूढ़ है, एवमेव 'परात्पर' शब्द केवल मायातीत निरञ्जन परमेश्वर के लिए ही निरूढ़ है। ऐसी स्थिति में-'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादि रूप से 'पर' नामक अव्ययपुरुष को श्रुति ने 'परात्परपुरुष' नाम से कैसे क्यों व्यवहृत किया?, प्रश्न स्वाभाविक बन जाता है, जिसका वैज्ञानिकों ने अनेक दृष्टिकोणों से समाधान किया है। अध्यात्मसंस्था (मानवीय जीवात्म-संस्था) का साक्षी अव्ययपुरुष भी 'पर' है, एवं अधिदैवत संस्था (ईश्वरीयविश्वसंस्था) का साक्षी अव्ययपुरुष भी 'पर' है। यह परपुरुष क्योंकि जीव परपुरुष की अपेक्षा 'पर' (नि सीम-उत्कृष्ट-व्यापक) है। अतएव 'परादपि परः' (जीव्याव्ययादपि परः-ईश्वर परः) निर्वचन से विश्वाव्यय को 'परात्परपुरुष' कहना अन्वर्थ बन जाता है। अपिच-जिस प्रकार-परात्पर के बलविशिष्ट रसमूर्त्ति सविशेषपरात्पर, बलनिरपेक्ष शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर,-भेद से—'निर्विशेष-परात्पर' ये दो विवर्त्त मान लिए जाते हैं, तथैव मायामवच्छिन्नपुरुष, मायाकलावच्छिन्नपुरुष, भेद से अव्ययपुरुष के भी 'निष्कलाव्ययपुरुष-सकलाव्ययपुरुष' में दो विवर्त्त बन जाते हैं। दोनों ही यद्यपि 'पर' हैं। तथापि सकलाव्ययरूप पर' पुरुषापेक्षया हम निष्कलाव्ययपुरुष रूप पर को 'पर' कह सकते हैं। इस दृष्टि से भी 'परादपि' (सकलाव्ययपुरुषादपि) परः '(निष्कलाव्ययपुरुषः)' रूप से निष्कलाव्ययपुरुष को 'परात्पर' कहना अन्वर्थ बन जाता है। अथवा यो-मायातीत बलसापेक्ष परात्पर जैसे निष्कल-अद्वय है। तथैव केवल मायी अव्ययपुरुष भी (निष्कलाव्ययपुरुष भी) निष्कल-अद्वयधर्म से परात्परसमतुलित ही है। अतएव अव्ययपुरुष के ही निष्कल-मायोपाधिक-निष्कल, तथा मायाकलोपाधिक सकल, दोनों विवर्त्तभावों की अपेक्षा केवल मायोपाधिक निष्कलाव्ययपुरुष को मायातीत निष्कल परात्पर से अभिन्न, किंवा समतुलित रहने के कारण वस्तुगत्या भी 'परात्पर' नाम से व्यवहृत कर देना अन्वर्थ बन जाता है।

आदिमाया को 'महामाया' नाम से व्यवहृत किया जायगा। इस आदिभूत निष्कल महामायापरिग्रह से, मायाधर्म्म से सम्बन्धित मायी परात्पर ही मायापुर से वेष्टित बनता हुआ 'निष्कल अव्ययपुरुष' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका 'माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। 'मायीमहेश्वरनिष्कलाव्ययपुरुष' ही पहला आत्मविवर्त्त है, जिसे–'न वैविध्यं गच्छति–न स्त्री पुमान् नपुंसकम्' इत्यादि निर्वचनानुसार 'अव्यय' कहना अन्वर्थ बनता है। कलाभाव ही विविधभाव है। अभी कला-परिग्रह का उदय नहीं है, जो कि कला-भाव विविध भावों का मूलाधार बना करता है। अतएव इस कला-शून्य केवल निष्कल माया-परिग्रहविशिष्ट पुरुष को 'निष्कल अव्यय' कह देना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है, जिसका निम्न लिखित गोपथश्रुति से यों उपवर्णन हुआ है—

* सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

—गोपथब्राह्मण पू० १।२६।

मायातीत सर्वातीत निर्धर्म्मक परात्पर परमेश्वर निरञ्जन है। उसी अत्यनभिव्यक्त निरञ्जन परात्पर का यत्किञ्चित् प्रदेश महामायाबलात्कार से सीमित–मित–'मायी' बना है, जिसकी निष्कलता यथावधि सर्वात्मना अक्षुण्ण है। निश्चित है कि, इस निष्कल केवल मायी महेश्वर अव्ययात्मा की 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' इत्यादि प्रकारानुसार यदि ज्ञानात्मिका उपासना की जाती है, तो वह उपासक इस निष्कल द्वारा उस मायातीत निरञ्जन के साथ समत्वभावापन्न बनता हुआ स्वयमपि मायातीत बन जाता है। निष्कलाव्ययपुरुष की इसी ज्ञानोपासना का स्पष्टोपवर्णन करते हुए ऋषि ने कहा है—

न भूमिरापो न वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्॥
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्॥

—कैवल्योपनिषत् २।४।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते "निष्कलं" ध्यायमानः॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।१।८।

विशुद्धमायात्मक (ज्ञानात्मक) इस निष्कल–महामायी–महेश्वराव्ययपुरुष से ही केन्द्रानुगता सिसृक्षा से सम्भूता बलचिति, तथा मुमुक्षानुगता रसचिति से आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण–वाक्–इन पाँच

* स्त्री–पुं नपुंसकादि मैथुनरूपों में जो मायवृत्त से मूलाधार बनता हुआ सर्वलिङ्गात्मक बलिष्ठ है, खण्ड खण्ड-भावापन्ना अभिव्यक्तिरूपा व्यक्तिलक्षणा विभक्तियों में जो 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' के अनुसार अविभक्त है, वाक्परिमाणात्मक वाक्छन्दों–सीमाभावों में जो 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' के अनुसार समान है, वही निष्कल तत्त्व अव्यय है, जो व्याकरणशास्त्र में भी इसी नाम से इसी रूप से उपवर्णित हुआ है।

यस्मान्न जात' परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापति प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स 'षोडशी' ॥

—यजु संहिता ८।३६।

अव्ययनिबन्धना पञ्च योगमाया, अक्षरनिबन्धना पञ्च योगमाया, क्षरनिबन्धना पञ्च योगमाया, दूसरे शब्दों में पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर, सोलहवाँ परात्पर-समतुलित, अतएव 'परात्पर' नाम से ही प्रसिद्ध निष्कल महामायी अव्ययपुरुष, इन सोलह भावों की समष्टि ही अर्द्धमात्रिक-अकार उकार-मकारमात्रिक-प्रणवमूर्त्ति षोडशीप्रजापति है। मायोपाधिक निष्कल महेश्वर, कलोपाधिक सकल 'योगेश्वर' दोनों की समष्टिरूप एक पुरुषसंस्था है, जैसेकि मायातीत निष्कल शुद्धरसमूर्त्ति निष्कैवल्य निर्विशेष, तथा मायातीत अद्वय सबलविशिष्ट रसैकघन सविशेष परात्पर, दोनों की समष्टि एक संस्था है। यही पुरुषसंस्था, किंवा त्रिपुरुषपुरुषसंस्था 'अमृतसंस्था'–'अभयसंस्था' 'अयव्ययसंस्था आदि नामों से उपवर्णित है।

पुरुषानुगतकलाभावपरिलेख—

१–निष्कलभाव —सर्वमाया—महामाया]—निष्कलाऽव्यय —अर्द्ध मात्रा (४)

२–आनन्दकला—शान्तिमाया—योगमाया
३–विज्ञानकला—धृतिमाया—योगमाया (२)
४–मन कला—सृष्टिमाया—योगमाया (३)
५–प्राणकला—रूपमाया—योगमाया (४)
६–वाक्कला—नाममाया—योगमाया (५)
—पञ्चकलाऽव्यय—अकार (३)

७–ब्रह्मकला—प्रतिष्ठामाया—योगमाया (१)
८–विष्णुकला—अशनायामाया-योगमाया (२)
९–इन्द्रकला—विसृजनमाया-योगमाया (३)
१०–अग्निकला—भोक्तृमाया—योगमाया (४)
११–सोमकला—सौम्यमाया—योगमाया (५)
—पञ्चकलाऽक्षर —उकार (२)

१२–प्राणकला—[illegible]माया—योगमाया (१)
१३–आप कला—सुवेदमाया—योगमाया (२)
१४–वाक्कला—देवमाया—योगमाया (३)
१५–अन्नादकला—भूतमाया—योगमाया (४)
१६–अन्नकला—पशुमाया—योगमाया (५)
—पञ्चकल क्षर —मकार (१)

—षोडशीप्रजापति
'मायीसकलप्रजापति'
महेश्वरो योगेश्वर—
'अमृतात्मा'
(१)

'कलाभाव' का अर्थ है कलात्मिका, किंवा कलापरिग्रहात्मिका खण्ड–खण्ड–मायात्मिका महामायाविनाभूता विष्णवद्वरसमन्विता 'योगमाया'। आगमीया योगमाया ही निगम में 'कला' नाम से व्यवहृत हुई है, जिसका मुख्य कर्म्म है अद्वय–अतएव संख्यातीत तत्त्व को अपने 'कलन' भाव ('कल' संख्याने) से संख्या–भावानुगत बना देना। एक को अनेक भावरूप में परिणत कर देना–जिस भावप्रवर्त्तिका कला के आधार पर ही मा–प्रमा–प्रतिमा–अशीति आदि असंख्य छन्द प्रतिष्ठित है, जिनका 'वाक्परिमाणं छन्दः' लक्षण माना गया है। निष्कलमायापन्न महामाया से माहामाया के गर्भ में प्रतिष्ठिता यह कलात्मिका खण्ड–खण्डभावापन्ना छन्दोरूपा माया क्योंकि नित्य 'युक्त' रहती है, अतएव 'महामायया युक्ता माया' निर्वचन से यह कलात्मिका छन्दोमाया 'योगमाया' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसके अक्षरनिबन्धन 'ब्रह्ममाया–विष्णुमाया–इन्द्रमाया–अग्निमाया–सोममाया' ये पाँच मुख्य विवर्त्त माने गए हैं। पुराण ने इन्द्राग्निसोमत्रयी की समष्टिरूप त्रिनेत्र शिवस्वरूप के अनुबन्ध से तीनों मायाओं की समष्टि (इन्द्राग्नि सोममायासमष्टि) को 'शिवमाया' नाम से व्यवहृत किया है, जिसके आधार पर नैगमिक 'पञ्चदेवतानुगत पञ्चमायावाद' आगमीय त्रिदेवतावादानुगत त्रिमायावाद प्रतिष्ठित हुआ है। पञ्चाक्षरनिबन्धना इन पञ्च कलामायाओं से आगे चलकर पञ्चक्षरनिबन्धना 'प्राणमाया आपोमाया–वाङ्माया–अन्नादमाया–अन्नमाया' इन पाँच योगमायाओं (कलाभावों का) आविर्भाव हो जाता है। तदित्थं महामायी निष्कल परात्परनामक अव्ययपुरुषकलात्मिका इन अव्ययनिबन्धना–अक्षरनिबन्धना–क्षरनिबन्धना पन्द्रह कलात्मिका योगमायाओं से 'पञ्चदशकल' — बन जाता है। पञ्चदशकलात्मिका इन पञ्चदश योगमायाओं से समावृत बनता हुआ 'योगेश्वरात्मा' (योगमायीश्वरात्मा) वह माहामायीश्वर निष्कलाव्ययात्मा अपने निगूढ भाव से इन्द्रियातीत बनता हुआ सर्वसाधारण के लिए अज्ञात बन रहा है ×।

योगमाया ही योगेश्वर की योगेश्वरता है, जिसे अग्रणी बनाकर अव्ययेश्वर धर्मग्लानि–उपशम के लिए अवतार धारण किया करते हैं *। इन सोलह कलाओं से 'सकल' बनता हुआ यह कलापरिग्रहयुक्त योगेश्वराव्ययपुरुष निगम में 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' (को० ब्रा० ८।११) रूपसे सम्पूर्ण विश्व का आरम्भक बना हुआ है। निम्नलिखित मन्त्रश्रुति इसी कलापरिग्रहात्मक षोडशीपुरुष का यशोगान कर रही है—

— गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठां (निष्कलाव्ययप्रतिष्ठां), देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
(परेऽव्यये—निष्कलाव्यये)।

× नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ (गीता० ७।२५)।

* भगवानपि ता रात्रीः शरदुत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायासमाश्रितः ॥
—रासपञ्चाध्यायी-श्रीमद्भागवत।

है, जिसके लिए–'महदुब्रह्म कमक्षरं–महद्ब्रह्म कमक्षरम्' कहा गया है। यही तो चिदात्माव्ययपुरुष गर्भीभूत बनता हुआ 'सम्भव सर्वभूतानां ततो भवति भारत!' को चरितार्थ करता है। इस प्रकार गुणपरिग्रह के सम्बन्ध से पराव्ययपुरुष सर्वगुणसम्पन्न (त्रिगुणमायापन्न) बनता हुआ 'सगुणप्रजापति'–'सगुणेश्वर' अभिधा में परिणत हो जाता है।

(१०६)–यज्ञभावप्रवर्त्तक 'विकार' परिग्रह, तथा विकारपरिग्रहात्मक यज्ञपुरुष–(८)–

'महद्ब्रह्म कमक्षरम्' वचन का 'ब्रह्म' शब्द 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' के अनुसार 'क्षर' भाव का स्वरूपसमाहक बना हुआ है। अनेक ब्रह्मों (क्षरों) से ही महदक्षर का गुणभाव मैथुनीसृष्टिलक्षण विकार सृष्टि का निमित्त बना करता है। अपञ्चीकृत गुणभूत जहाँ 'गुण' परिग्रह कहलाया है वहाँ पञ्चीकृत वही गुणपरिग्रह 'विकारपरिग्रह' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मनःप्राणवाङ्मय अपराव्ययपुरुष ही अपराप्रकृतिरूप क्षर के माध्यम से विकारभाव परिग्रहद्वारा (पञ्चीकृतगुणत्रय द्वारा) 'यज्ञपुरुष' रूप में परिणत हो जाता है। विकारविशिष्ट यह यज्ञपुरुष ही मैथुनीसृष्टि का उपादान बनता है।

त्रयीवेद 'सत्य' है, चतुर्थ वेद से समन्वित यही त्रयीवेद 'यज्ञ' है। त्रयीवेदमूर्त्ति सत्यप्रजापति (सगुणेश्वर) ही अथर्ववेदमूर्त्ति यज्ञप्रजापति (सर्विकारेश्वर) रूप में वितत हो रहा है, जैसा कि 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः' (शत० १।१।४।३)–'ते देवा अब्रुवन्–यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै' (शत ६।५।१।१८) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। महामायी महेश्वर, योगमायी योगेश्वर का समन्वितरूप अव्ययप्रधान, अतएव 'अमृतम्' नामक पुरुष था। एवं–सत्य–यज्ञप्रजापति का समन्वितरूप अक्षरप्रधान, अतएव 'ब्रह्म' नामक मूलप्रकृति है। 'ब्रह्म' शब्द 'बृंहणभाव' का सूचक माना गया है। 'यतो वृंहणं भवति तद्ब्रह्म' 'बिभर्त्ति सर्वं तद्ब्रह्म' इत्यादि निर्वचनों के माध्यम से 'भरमन्' शब्द ही 'ब्रह्मन्' रूप में परिणत हो रहा है। 'बृह' धातु से 'मन' प्रत्ययद्वारा 'ब्रह्मन्' शब्द निष्पन्न हुआ है। जो तत्त्व 'उपादानकारण' बनता हुआ भी स्वस्वरूप से अविकृत रहता है, उस अविकृतपरिणामात्मक नित्यकारण को ही 'ब्रह्म' कहा जाता है। यही इसका बृंहणभाव है। जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वस्वरूप से अविकृत–अक्षुण्ण बनी रहती हुई 'जाल' का उपादानकारण बनी रहती है तथैव गुणविकारयुक्त सत्ययज्ञात्मक अक्षर स्वस्वरूप से (अक्षररूप से) अविकृत बना रहता हुआ क्षररूप से विश्व का उपादान बना रहता है। 'तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति' इत्यादिवचन ब्रह्म के इसी अविकृतपरिणामवाद का, नित्यमहिमा–भाव का यशोगान कर रहे हैं *। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (व्याससूत्र) का ब्रह्म शब्द

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेन॥
—बृहदारण्यक ४।४।२३।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।७

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

(१०५)-सत्यभावप्रवर्तक 'गुण'परिग्रह, तथा गुणपरिग्रहात्मक सत्यपुरुष-(३)—

मायाफलात्मक द्वन्द्वपरिग्रहानन्तर क्रमप्राप्त गुण-विकारद्वन्द्वपरिग्रह की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, जिसमें गुणपरिग्रह को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाया जा रहा है। षोडशीप्रजापति का मध्यस्थ पञ्चकल अक्षरात्मा ही गुणपरिग्रह से समन्वित होकर 'सगुणेश्वर' कहलाया है। मायी अव्यय, तथा सकलाव्यय दोनों-'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः' के अनुसार जहाँ निर्गुण है, वहाँ-गुणपरिग्रहसम्बन्ध से अक्षरात्मा 'सगुण' बन रहा है। यही सगुणेश्वर अपने बलनिबन्धन मर्त्यभाव से पञ्चकल क्षर का निमित्त बनता हुआ एकधिया 'सविकार' बन जाता है। 'अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'-'अमृतं चैव मृत्युश्च०' इत्यादि श्रुतिस्मृतिसिद्धान्तानुसार अक्षरप्रजापति का अर्द्धभाग अक्षीयमाण है, अमृतभावापन्न है। यही 'न क्षीयते' निर्वचन से 'अक्षर' कहलाया है। एवं अर्द्ध क्षीयमाण भाग मर्त्यभावापन्न है। यही 'क्षीयते' निर्वचन से 'क्षर' है। इस प्रकार एक ही अक्षर 'अक्षर-क्षर' भेद से दो भागों में परिणत हो रहा है, जिस द्वैधभाव का मूल कारण है गुण तथा विकार नामक परिग्रहद्वन्द्व। गुणात्मक वही अक्षर अमृतप्रधान बनता हुआ अक्षर है, यही विश्वसर्ग का निमित्त कारण बनता है। विकारात्मक वही क्षर मर्त्यप्रधान बनता हुआ क्षर है, यही विश्वसर्ग का उपादानकारण बनता है। अमृतावस्था से वही अक्षर अक्षररूप से-कारण बनता हुआ मर्त्य कार्य्य की प्रागवस्था से सम्बन्धित 'प्र' भाव है। मर्त्यावस्था से वही अक्षर क्षररूप से—कार्य्य बनता हुआ मर्त्यविश्व की प्रपञ्चावस्था से सम्बन्धित 'कृति' भाव है। 'प्र' और 'कृति' की समष्टि ही 'प्रकृति' है, *यही प्र-कृतिरूप अक्षर-क्षरसमष्टि है, कारणकार्य्यसमष्टि है। कारणात्मक 'प्र' भाव गुणात्मक है,* कार्य्यात्मक (कार्य्योपादानात्मक) 'कृति' भाव विकारात्मक है। इस प्रकार एक ही अक्षर उसी प्रकार अपनी अमृतनिबन्धना प्रागवस्था, मर्त्यनिबन्धना उत्तरावस्था से द्विधा विभक्त होकर गुण तथा विकारसर्गों का अधिष्ठाता बना हुआ है, जैसा कि—'विकारांश्च गुणांश्चैवान् विद्धि प्रकृतिसम्भवान्' इत्यादि से स्पष्ट है।

स्थिति का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि, अव्ययपुरुष पुरुष है। एवं यह-'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि-अनादी-उभावपि' के अनुसार 'प्रकृति' से नित्य समन्वित है। अव्ययपुरुष की यह प्रकृति आत्मस्वरूपनिरूपक शास्त्रानुसार (गीतानुसार) 'पराप्रकृति'-'अपराप्रकृति' रूप से दो प्रकार की मानी गई है। *दोनों की समष्टि को निगमपरिभाषा में अन्तरङ्गप्रकृतिलक्षणा 'आत्मप्रकृति' कहा गया है। तत्रस्थ पुरुष* ही 'प्रकृतिस्थपुरुष' उद्घोषित हुआ है। अधिष्ठात्री अव्ययरसनिबन्धना (आनन्दविज्ञानमनोमयरसाव्ययनिबन्धना), अतएव रसप्रधाना यही प्रकृति 'पर' अव्यय से समनुशिता रहती हुई जहाँ-'पराप्रकृति' (अव्ययप्रकृति-आत्मप्रकृति) कहलाई है, वहाँ विधात्री अव्ययनिबन्धना (मनःप्राणवाङ्मयबलाव्ययनिबन्धना), अतएव बलप्रधाना वही प्रकृति अपरभावात्मक विश्व की उपयोगिनी बनती हुई-'अपराप्रकृति' (विश्वप्रकृति-शरीरप्रकृति) कहलाई है। दूसरे शब्दों में आनन्दविज्ञानमनोघन मुक्तिसाक्षी रसाव्यय की अमृता रसप्रकृति 'पराप्रकृति' है। मनःप्राणवाग्घन सृष्टिसाक्षी बलाव्यय की मर्त्या बलप्रकृति 'अपराप्रकृति है। पराप्रकृतिविशिष्ट पराव्यय ही सगुण प्रजापति है, अपराप्रकृतिविशिष्ट अपराव्यय ही सविकार प्रजापति है।

आनन्दविज्ञानमनोघनपराव्यय ही पराप्रकृतिरूप अक्षर के माध्यम से गुणत्रयपरिग्रह के द्वारा (सत्त्वरजस्तमोभाव द्वारा) 'सत्यपुरुष' रूप में परिणत हो जाता है। गुणत्रयविशिष्ट महान् ही अक्षरलक्षणा पराप्रकृति

है, जिसके लिए-'महद्ब्रह्मैकमक्षरं-महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' कहा गया है। यहीं तो चिदात्मान्ययपुरुष गर्भीभूत बनता हुआ 'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत !' को चरितार्थ करता है। इस प्रकार गुणपरिग्रह के सम्बन्ध से परात्पयपुरुष सर्वगुणसम्पन्न (त्रिगुणभावापन्न) बनता हुआ 'सगुणप्रजापति'-'सगुणेश्वर' अभिधा में परिणत हो जाता है।

(१०६)-यज्ञभावप्रवर्त्तक 'विकार' परिग्रह, तथा विकारपरिग्रहात्मक यज्ञपुरुष-(४)-

'महद् ब्रह्मैकमक्षरम्' वचन का 'ब्रह्म' शब्द 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' के अनुसार 'क्षर' भाव का स्वरूपसंग्राहक बना हुआ है। अनेक ब्रह्मों (क्षरों) से ही महदक्षर का गुणभाव मैथुनीसृष्टिलक्षणा विकारसृष्टि का निमित्त बना करता है। अपञ्चीकृत गुणभूत जहाँ 'गुण' परिग्रह कहलाया है वहाँ पञ्चीकृत वही गुणपरिग्रह 'विकारपरिग्रह' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मन-प्राण-वाग्घन अपरात्पयपुरुष ही अपरप्रकृतिरूप क्षर के माध्यम से विकारभाव परिग्रहद्वारा (पञ्चीकृतगुणत्रय द्वारा) 'यज्ञपुरुष' रूप में परिणत हो जाता है। विकारविशिष्ट यह यज्ञपुरुष ही मैथुनीसृष्टि का उपादान बनता है।

त्रयीवेद 'सत्य' है, चतुर्थ वेद से समन्वित यही त्रयीवेद 'यज्ञ' है। त्रयीवेदमूर्त्ति सत्यप्रजापति (सगुणेश्वर) ही अथर्ववेदमूर्त्ति यज्ञप्रजापति (सविकारेश्वर) रूप में वितत हो रहा है, जैसा कि 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः' (शत० १।१।४।३)-'ते देवा अन्नं यम्-यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै' (शत० ६।५।१।१८) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। महामायी महेश्वर, योगमायी योगेश्वर का समन्वितरूप अव्ययप्रधान, अतएव 'अमृतम्' नामक पुरुष था। पर्व-सत्य-यज्ञप्रजापति का समन्वितरूप अक्षरप्रधान, अतएव 'ब्रह्म' नामक मूलप्रकृति है। 'ब्रह्म' शब्द 'बृंहणभाव' का सूचक माना गया है। 'यतो बृंहणं भवति तद्ब्रह्म' 'बिभर्त्ति सर्वं तद्ब्रह्म' इत्यादि निर्वचनार्थों के माध्यम से 'भर्मन्' शब्द ही 'ब्रह्मन्' रूप में परिणत हो रहा है। 'बृह्' धातु से 'मन्' प्रत्ययद्वारा 'ब्रह्मन्' शब्द निष्पन्न हुआ है। जो तत्त्व 'उपादानकारण' बनता हुआ भी स्वस्वरूप से अविकृत रहता है, उस अविकृतपरिणामात्मक नित्यकारण को ही 'ब्रह्म' कहा जाता है। यही इसका बृंहणभाव है। जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वस्वरूप से अविकृत-अक्षुण्ण बनी रहती हुई 'जाल' का उपादानकारण बनी रहती है, तथैव गुणविकारयुक्त सत्ययज्ञात्मक अक्षर स्वस्वरूप से (अक्षररूप से) अविकृत बना रहता हुआ क्षररूप से विश्व का उपादान बना रहता है। 'तथाऽक्षराद्-विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति' इत्यादिवचन ब्रह्म के इसी अविकृतपरिणामवाद का, नित्यमहिमा-भाव का यशोगान कर रहे हैं *। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (व्याससूत्र) का ब्रह्म शब्द

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेन ॥
—बृहदारण्यक ४।४।२३।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।७

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

नन्मस्थितिभम्प्रहेतुभूत प्रकृतिरूप सत्त्व-यज्ञात्मक-गुणपरिग्रहरूप इसी अव्ययब्रह्म का स्वरूपसमाहक बन रहा है। निष्कर्ष यही है कि समस्त यागेश्वराक्षय ही विकार परिग्रह से यज्ञरूप में परिणत होता हुआ विश्व का उपादान बना हुआ है, एवं यही विकारपरिग्रहात्मक चतुर्थ आत्मपरिग्रह का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०७)–सर्वभूतान्तरात्मभावप्रवर्तक–'अञ्जन' परिग्रह, तथा अञ्जनपरिग्रहात्मक 'विराट्पुरुष' (५)

आवरण ही अञ्जन है, आवरण ही आवरण है। तात्पर्य, स्वच्छ आवरण को 'अञ्जनावरण' कहा गया है, एवं मलिनावरण को 'आवरणावरण' माना गया है। श्वेतकाच दीपक का अञ्जनात्मक आवरण माना जायगा, कृष्णकाच, किंवा काष्ठपट्ट–किंवा यद्यादि आवरण दीपक के आवरणात्मक आवरण कहलायेंगे। श्वेतकाच के आवरण से दीपप्रभा एकान्ततः अवरुद्ध नहीं होती। किन्तु कृष्णकाच–काष्ठपट्ट–यद्यादि मलिनावरण (अभिप्रायमुक्त मलीमस घन आवरण) मात्रों से दीपप्रकाश सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। अञ्जन–आवरणरूप इन दोनों आवरणों में यही पार्थक्य है। इन दोनों में अञ्जनात्मक स्वच्छ आवरण ही अव्ययब्रह्म को परद्वारा 'सर्वभूतान्तरात्मा' रूप में परिणत कर दिया करता है। दूसरे शब्दों में गुणपरिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर वितत विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक आवरण परिग्रह से 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक 'साक्षीदेवसत्य' रूप में परिणत होता है।

दूसरी दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। गुणपरिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक शुद्ध आवरणपरिग्रह से 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक 'विराट्प्रजापति' रूप में परिणत होता है, जिसके 'सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्' ये तीन 'ऐन्द्र–वायव्य–आग्नेय' विवर्त माने गए हैं। यही वह सुपर्णेश्वर है, जिसका 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। यही सौम्यपार्थिवत्रैलोक्य का सर्वस्व देवसत्यात्मरूप (अग्नि–वायु–इन्द्रदेवतत्त्वरूप) पार्थिवेश्वर है, जो पञ्चपुरडीय प्राजापत्यसंस्था की अन्तिम शाखारूप पार्थिवसौम्यत्रिलोकीरूप शाखा पर सुपर्णरूप से प्रतिष्ठित है। मायी–सकल–सगुण–सविकारविशिष्ट साञ्जनेश्वरविराट्पुरुष का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०८)–भूतात्मभावप्रवर्त्तक–'आवरण, परिग्रह, तथा आवरणपरिग्रहात्मक 'वैश्वानरपुरुष' (६)

विराट्प्रजापति के ही द्वितीय आवरणपरिग्रह के भेद से 'ईश्वर–जीव' ये दो विवर्त हो जाते हैं। सात्त्विक अञ्जनपरिग्रह से 'ईश्वरविराट्' का उदय होता है, एवं 'पाप्मा' नामक सुप्रसिद्ध तामस–मलिन अञ्जनपरिग्रह से 'जीववैश्वानर' का उदय होता है। ईश्वरीय सात्त्विक अञ्जन 'विभूति' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके "लोक–वेद–देव–भूत–पशु" ये पाँच मुख्य विभाग माने गए हैं। जीवानुगत मलीमस–तामस अञ्जन 'पाप्मा' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके—"पर्य्याय–ऊर्म्मि–आशय–अवस्था–क्लेश–कर्म्म–विपाक—" ये सात मुख्य विभाग माने गए हैं। विभूतिपरिग्रहात्मक ईश्वरविराट् जहाँ नित्यमुक्त है, वहाँ पाप्मापरिग्रहात्मक जीव- . . . बन्धपर्य्यायों से युक्त रहता हुआ बद्ध है, वा मुक्तपर्य्यायों से युक्त रहता हुआ मुक्त 'पर्य्याय' परिग्रह है, जो शास्त्र में 'बद्धपर्य्याय–मुक्तपर्य्याय' नामों से ही प्रसिद्ध हुए हैं।

ईश्वर में जहां 'क्षुधा-पिपासा-शोक-मोह-जरा-व्याधि— इन ऊर्म्मियों (उच्चावच लहरों) का अभाव है, अतएव वह जहां एकरस है, शान्तघनमूर्त्ति है। वहां जीव इन छओं ऊर्म्मियों से युक्त रहता हुआ भिन्निरस है, अशान्तमूर्त्ति है। ईश्वर में जहां 'भावना-वासनात्मक' दोनों ज्ञान-कर्म्मात्मक संस्काररूप आशयों का अभाव है, वहां जीव दोनों आशयों से समन्वित है। ईश्वर जहां नित्यप्रबुद्ध-नित्यैकरस रहता हुआ 'जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-मोह-मूर्च्छा-मृत्यु' इन छओं अवस्थाओं से सर्वथा असंस्पृष्ट है, वहां जीव इन छओं से क्रमशः समन्वित रहता है। ईश्वर नित्यकर्म्मठ बना रहता हुआ भी, कर्म्ममय विश्व के अणु-अणु में व्याप्त रहता हुआ भी बुद्धियोग-प्रभाव से कर्म्मलेप से असंस्पृष्ट रहता हुआ जहां 'कर्म्म' से पृथक् है, वहां जीवात्मा (१) 'यज्ञ-तपो-दानलक्षण विद्यासापेक्षप्रवृत्तिकर्म्म', (२) 'इष्ट-आपूर्त-दत्त-लक्षण विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म', (३) 'सुरापान-अगम्यागमन-वृथाहिंसा-स्तेय-ब्रह्महत्या-छलात्मक धनोपार्जन, इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध 'विकर्म्म' रूप असत्कर्म्म' (४) जलताडन-कराघात-पादभ्रमण-हस्ताङ्गुल्यादिपरिभ्रमण-तृणच्छेदन-वृथाहास्य' आदि शास्त्राप्रतिषिद्धाविहित 'अकर्म्म' रूप निरर्थक कर्म्म', (५) 'सर्वमूर्द्धन्य-बुद्धियोगलक्षण-अतएव मुक्तिसाधन 'निष्कामकर्म्म' (६) एवं नियत्यात्मक प्राकृतिक यथापरिस्थिति-यथाकाल-सहजरूप से घटित-विघटित सहजकर्म्म' इन ६ कर्म्मों से प्रारब्ध कर्म्मानुसार समन्वित रहता है। ईश्वर जहां 'जाति-आयु-भोग' इन तीन कर्म्मविपाकों से असंस्पृष्ट रहता है, वहां जीवात्मा प्रारब्धकर्म्मानुगत परिपाकस्वरूप योनि-आयु-भोगपरिग्रह से नित्य युक्त रहता है। जीवात्मा को प्रारब्धकर्म्मपरिपाक के अनुपात-तारतम्य से ही यथा-योनि-आयु-भोगपरिग्रह प्राप्त होते हैं, जिन्हें आत्मबुद्ध्यनुगत पुरुषार्थद्वारा ही परिवर्तित किया जा सकता है। इसी आधार पर यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि—

> आयु-कर्म्म च-वित्त च-विद्या-निधनमेव च।
> पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिन ॥

तदित्थं-जीवात्मस्वरूपसम्पादक सप्तविध तयोपसर्जित पाप्माओं के सम्बन्ध से ईश्वरीय विराट् ही अंशात्मना जीववैश्वानरस्वरूप में परिणत हो जाता है, जैसा कि-'अंशो नानात्वात्' (व्याससूत्र) 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन' (गीता) इत्यादि आप्तवचनों से प्रमाणित है। यहीं एक इस दृष्टिकोण को भी लक्ष्य बना लेना चाहिए कि, पूर्व में जिस आवरणपरिग्रह के स्वच्छआवरण-मलिनावरण भेद से केवल दो भेद बतलाये हुए इन दोनों को क्रमशः ईश्वर-जीवस्वरूपानुगत बतलाया गया था, अब इस प्रक्रान्त विशेष दृष्टिकोण से आवरण के गुणत्रयभेद से हम तीन विवर्त्त मानेंगे, जिनका क्रमश 'सत्त्वमूर्त्ति अव्यय, रजोमूर्त्ति अक्षर, तमोमूर्त्ति क्षर' इन तीन षोडशीपुरुषेश्वर के तीनों आत्मविवर्त्तों से क्रमिक सम्बन्ध बतलाया गया है। इस दृष्टि से 'सत्त्वावरण-रज आवरण-तम आवरण' भेद से एक ही आवरण के दो के स्थान में तीन आवरण हो जाते हैं।

(१०६)-विभूति, पाप्मा, और आवरण—

ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश का अवरोधक न बने, उसे 'विभूति' कहा जायगा। ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश का जो अवरोधक न बने, किन्तु प्रकाश को मलिन कर दे, 'पाप्मा'-माना जायगा। एवं ऐसा

जन्मस्थितिमङ्गहेतुभूत प्रकृतिरूप सत्य-यज्ञात्मक-गुणविकारमय इसी अव्ययब्रह्म का स्वरूपसम्पादक बन रहा है। निष्कर्ष यही है कि सकल योगेश्वराव्यय ही विकार परिग्रह से यज्ञरूप में परिणत होता हुआ विश्व का उपादान बना हुआ है, एवं यही विकारपरिग्रहात्मक चतुर्थ आत्मपरिग्रह का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०७)—सर्वभूतान्तरात्मभावप्रवर्तक—'अञ्जन' परिग्रह, तथा अञ्जनपरिग्रहात्मक 'विराट्पुरुष' (५)

आवरण ही अञ्जन है, आवरण ही आवरण है। तात्पर्य, स्वच्छ आवरण को 'अञ्जनावरण' कहा गया है, एवं मलिनावरण को 'आवरणावरण' माना गया है। श्वेतकाच दीपक का अञ्जनात्मक आवरण माना जायगा, कृष्णकाच, किंवा काष्ठपट्ट—किंवा घटादि आवरण दीपक के आवरणात्मक आवरण कहे जायँगे। श्वेतकाच के आवरण से दीपप्रभा एकान्ततः अवरुद्ध नहीं होती। किन्तु कृष्णकाच—काष्ठपट्ट—घटादि मलिनावरण (अभिप्रायायुक्त मलीमस घन आवरण) भावों से दीपप्रकाश सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। अञ्जन—आवरणरूप इन दोनों आवरणों में यही पार्थक्य है। इन दोनों में अञ्जनात्मक स्वच्छ आवरण ही अव्ययब्रह्म को दसद्वारा 'सर्वभूतान्तरात्मा' रूप में परिणत कर दिया करता है। दूसरे शब्दों में गुण परिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर वितत विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक आवरण परिग्रह से 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक 'साक्षीवैश्वसत्य' रूप में परिणत होता है।

दूसरी दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। गुणपरिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक शुद्ध आवरणपरिग्रह से 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक 'विराट्प्रजापति' रूप में परिणत होता है, जिसके 'सर्वज्ञ—हिरण्यगर्भ—विराट्' ये तीन 'ऐन्द्र—वायव्य—आग्नेय' विवर्त्त माने गए हैं। यही वह सुपर्णेश्वर है, जिसका 'अनरनन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। यही सौम्यपार्थिवत्रैलोक्य का सर्वस्व वैश्वसत्यात्मरूप (अग्नि—वायु—इन्द्रदेवतारूप) पार्थिवेश्वर है, जो पञ्चपुरडीरा प्राजापत्यस्वरूप की अन्तिम शाखारूप पार्थिवसौम्यत्रिलोकीरूप शाखा पर सुपर्णरूप से प्रतिष्ठित है। मायी—सकल—सगुण—सविकारविशिष्ट साञ्जनेश्वरविराट्पुरुष का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०८)—भूतात्मभावप्रवर्त्तक—'आवरण, परिग्रह, तथा आवरणपरिग्रहात्मक 'वैश्वानरपुरुष' (६)

विराट्प्रजापति के ही द्वितीय आवरणपरिग्रह के भेद से 'ईश्वर जीव' ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। सात्विक अञ्जनपरिग्रह से 'ईश्वरविराट्' का उदय होता है, एवं 'पाप्मा' नामक सुप्रसिद्ध तामस-मलिन अञ्जनपरिग्रह से 'जीववैश्वानर' का उदय होता है। ईश्वरीय सात्विक अञ्जन 'विभूति' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके "लोक—वेद—देव—भूत—पशु" ये पांच मुख्य विभाग माने गए हैं। जीवानुगत मलीमस—तामस अञ्जन 'पाप्मा' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके—"पर्य्याय—ऊर्म्मि—आराम—अवस्था—क्लेश—कर्म्म—विपाक—" ये सात मुख्य विभाग माने गए हैं। विभूतिपरिग्रहात्मक ईश्वरविराट् जहाँ नित्यमुक्त है, वहाँ पाप्मापरिग्रहात्मक जीव-वैश्वानर विद्या-कर्म्मानुसार बन्धपर्य्यायों से युक्त रहता हुआ बद्ध है तो मुक्तपर्य्यायों से युक्त रहता हुआ मुक्त है। ये ही इसके 'पर्य्याय' परिग्रह हैं, जो शास्त्र में 'बद्धपर्य्याय—मुक्तपर्य्याय', नामों से ही प्रसिद्ध हुए हैं।

वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, यज्ञप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विभूति–आवरण से समन्वित–सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्मूर्ति–सर्वभूतान्तरात्मा नामक ईश्वरप्रजापति के आधार पर ही पाप्मावरण समन्वित प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानरमूर्ति–'भूतात्मा' नामक जीवप्रजापति का स्वरूपाविर्भाव हुआ है, जिसे हम 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' नाम से 'मायी–सकल–सगुण–सविकार–साञ्जनविशिष्ट सावरणात्मा' कह सकते हैं, यही जीवात्मा की सर्वरूपतालक्षणा सर्वात्मकता है, जिसके आधार पर–'पूर्णात पूर्णमुदच्यते' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। तात्पर्यप्राय इस षट्–परिग्रहात्मक षट्–आत्मविवर्त्त को लक्ष्य बनाइए, एवं तदनन्तर प्रकृत का अनुसरण कीजिए।

षट्परिग्रहोपेतप्रजापतिविवर्त्तपरिलेख'—

१–विश्व–विराट्–यज्ञ–सत्य–षोडशीप्रजापतिशरीरावच्छिन्न——–{ आत्मन्वी– }–''मायी महेश्वर''

२–विश्व–विराट–यज्ञ–सत्यप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरगर्भित '–{ आत्मन्वी– }–'सकल' षोडशीप्रजापतिः'

३–विश्व–विराट–यज्ञप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीगर्भितः–{ आत्मन्वी– }–'सगुण' सत्यप्रजापति'

४–विश्व–विराट्–प्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्यगर्भित –{ आत्मन्वी– }–'सविकारो यज्ञप्रजापति'

५–विश्वप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञगर्भित'—{ आत्मन्वी– }–'साञ्जनो विराट्प्रजापति'

६–महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञविराट्गर्भितस्तत्कृतात्मा——————{ ——— }–'सावरणो विश्वप्रजापति'

अज्ञान, जो प्रकाश को सर्वथा ही अवरुद्ध कर दे–'आवरण' कहलाएगा । इस प्रकार एक ही अज्ञान के 'विभूति–पाप्मा–आवरण' ये तीन विवर्त बन जायेंगे। तीनों आवरणात्मक अज्ञानों को क्रमशः 'अज्ञान-पाप्मा-आवरण' इन नामों से व्यवहृत किया जायगा, तीनों को क्रमशः 'सत्त्वावरण–रज आवरण तम आवरण' माना जायगा, एवं तीनों को क्रमशः समन्वित माना जायगा 'सत्त्वान्वय-रजोऽक्षर–तम क्षर' नामक तीन आत्मपर्वों से समन्वित, अनुगृहीत, तथा अनुप्रहीत।

उदाहरणमाध्यम से आवरणत्रयी का समन्वय कीजिए। 'हरीकेन लालटेन' नाम से लोकव्यवहार में प्रसिद्ध दीपक को उदाहरण बनाइए। दीपप्रभा काचगोलक (गोला) से आवृत है, यह गोला (श्वेत काच) इस दीपप्रकाश का आवरण है। किन्तु इस आवरण से दीपप्रकाश अवरुद्ध नहीं होने पाता। इसी को हम 'विभूति' रूप अज्ञानावरण कहेंगे, सत्त्वावरण मानेंगे। दीपतैलग्राहिणी वर्त्ती की विषमता से, किंवा तैल की स्वल्पमात्रा से, अथवा तो भञ्झावातादिप्रवेश से दीपवर्त्तिका धूम का सर्जन करने लगती है। इससे लालटेन का गोला मलिन हो जाता है। स्वच्छ प्रकाश इस काचमल से मलिन हो जाता है। यही इसका 'पाप्मा' रूप आवरण माना जायगा, जिससे प्रकाश आत्यन्तिक रूप से अवरुद्ध तो नहीं हुआ, किन्तु मलिन हो गया। कालान्तर में यह काचराग अधिकाधिक घनता में परिणत होता हुआ सर्वथा प्रकाश का अवरोधक भी बन सकता है। यही इसका 'आवरण' रूप आवरण (आत्यन्तिक मलिनता) माना जायगा, जिससे रहता हुआ भी प्रकाश सर्वथा अवरुद्ध होता हुआ बहिर्मण्डल में ज्योतिःप्रसार में असमर्थ बन जाता है। इस प्रकार श्वेतकाच दीपप्रभा के लिए विभूतिरूप अज्ञानावरण, कृष्णाभास दीपक के लिए पाप्मारूप अज्ञानावरण, एवं कज्जलावेष्टित काच दीपक के लिए आवरणरूप आवरण प्रमाणित हो जाता है। ठीक यही स्थिति यहाँ समन्वित समझिए। सत्त्वाज्ञानरूप विभूति आवरण से वही चिदात्मप्रकाश 'ईश्वर' है, रजोरूप पाप्मावरण से वही 'जीव' है, एवं तमोरूप आवरणात्मक आवरण से वही 'शरीर' (किंवा जडपदार्थात्मक पाञ्चभौतिक विश्व) है।

विभूति–पाप्मा–आवरण–परिलेख—

१—विभूतिः (अज्ञानम्)—सत्त्वभावः—स्वच्छावरणम्—अव्ययानुगत—'ईश्वर' } —अज्ञानम्

२—पाप्मा (अज्ञानम्)—रजोभावः—मलिनावरणम्—अक्षरानुगत—जीवः } —आवरणम्

३—आवरणम् (आवरणम्)—तमोभावः—घनावरणम्—क्षरानुगत—जगत् शरीरं वा } —आवरणम्

वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, यज्ञप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विभूति–आवरण से समन्वित–सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्मूर्त्ति–सर्वभूतान्तरात्मा नामक ईश्वरप्रजापति के आधार पर ही पाप्मावरण समन्वित प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानरमूर्त्ति–'भूतात्मा' नामक जीवप्रजापति का स्वरूपाविर्भाव हुआ है, जिसे हम 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' नाम से 'मायी–सकल–सगुण–सविकार–साञ्जनविशिष्ट सावरणात्मा' कह सकते हैं, यही जीवात्मा की सवरूपसालक्षण्या सर्वात्मकता है, जिसके आधार पर–'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। तालिकाद्वारा इस षट्–परिग्रहात्मक षट्–आत्मविवर्त्त को लक्ष्य बनाइए, एवं तदनन्तर प्रकृत का अनुसरण कीजिए !

षट्परिग्रहोपेतप्रजापतिविवर्त्तपरिलेख:—

१–विश्व–विराट्–यज्ञ-सत्य-षोडशीप्रजापतिशरीरावच्छिन्न ———{ आत्मन्वी- }-"मायी महेश्वर"

२–विश्व–विराट–यज्ञ-सत्यप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरगर्भित'—{ आत्मन्वी– }-'सकल' षोडशीप्रजापति'

३–विश्व–विराट–यज्ञप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीगर्भित'{ आत्मन्वी– }-'सगुण' सत्यप्रजापति'

४–विश्व–विराट्–प्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्यगर्भित'{ आत्मन्वी- }-'सविकारो यज्ञप्रजापति'

५–विश्वप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञगर्भित'—{ आत्मन्वी- }-'साञ्जनो विराट्प्रजापति'

६–महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञविराट्गर्भितस्तत्पृक्तात्मा——————{ ——— }-'सावरणो विश्वप्रजापति'

———***———

अञ्जन, जो प्रकाश को सर्वथा ही अवरुद्ध कर दे-'आवरण' कहलाएगा । इस प्रकार एक ही अञ्जन के 'विभूति-पाप्मा-आवरण' ये तीन विवर्त बन जायँगे । तीनों आवरणात्मक अञ्जनों का क्रमशः 'अञ्जन-पाप्मा-आवरण' इन नामों से व्यवहृत किया जायगा, तीनों को क्रमशः 'सत्त्वावरण-रज आवरण तम आवरण' माना जायगा, एवं तीनों को क्रमशः समन्वित माना जायगा 'सत्त्वाश्रय-रजोऽवर-तम घर' नामक तीन आत्मपर्वों से समन्वित, अनुप्राणित, तथा अनुगृहीत ।

उदाहरणमाध्यम से आवरणत्रयी का समन्वय कीजिए । 'हरीकेन लालटेन' नाम से लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध दीपक को उदाहरण बनाइए । दीपप्रभा काचगोलक (गोला) से आवृत है, यह गोला (श्वेत काच) इस दीपप्रकाश का आवरण है । किन्तु इस आवरण से दीपप्रकाश अवरुद्ध नहीं होने पाता । इसी को हम 'विभूति' रूप अञ्जनावरण कहेंगे, सत्त्वावरण मानेंगे । दीपतैलग्राहिणी वर्त्ती की विषमता से, किंवा तैल की स्वल्पमात्रा से, अथवा तो झञ्झावातादिप्रवेश से दीपवर्त्तिका धूम का सर्जन करने लगती है । इससे लालटेन का गोला मलिन हो जाता है । स्वच्छ प्रकाश इस काचमल से मलिन हो जाता है । यही इसका 'पाप्मा' रूप आवरण माना जायगा, जिससे प्रकाश आत्यन्तिक रूप से अवरुद्ध तो नहीं हुआ, किन्तु मलिन हो गया । कालान्तर में यह आवरण अधिकाधिक घनता में परिणत होता हुआ सर्वथा प्रकाश का अवरोधक भी बन सकता है । यही इसका 'आवरण' रूप आवरण (आत्यन्तिक मलिनता) माना जायगा, जिससे रहता हुआ भी प्रकाश सर्वथा अवरुद्ध होता हुआ बहिर्मण्डल में ज्योतिःप्रसार में असमर्थ बन जाता है । इस प्रकार श्वेतकाच दीपप्रभा के लिए विभूतिरूप अञ्जनावरण, कृष्णकाच दीपक के लिए पाप्मारूप अञ्जनावरण, एवं कज्जलावेष्टित काच दीपक के लिए आवरणरूप आवरण प्रमाणित हो जाता है । ठीक यही स्थिति यहाँ समन्वित समझिए । सत्त्वाञ्जनरूप विभूति आवरण से वही चिदात्मप्रकाश 'ईश्वर' है, रजोरूप पाप्मावरण से वही 'जीव' है, एवं तमोरूप आवरणात्मक आवरण से वही 'शरीर' (किंवा जडपदार्थात्मक पाञ्चभौतिक विश्व) है ।

विभूति-पाप्मा-आवरण-परिलेख—

१—विभूति (अञ्जनम्)—सत्त्वभाव—स्वच्छावरणम्—अभयानुगतः—'ईश्वरः'
२—पाप्मा (अञ्जनम्)—रजोभावः—मलिनावरणम्—भयानुगत —जीव
३—आवरणम् (आवरणम्)—तमोभावः—घनावरणम्—शरीरानुगत—जगत् शरीरं वा

(१, २)—अञ्जनम्
(३)—आवरणम्
—आवरणम्

—✱—

महेश्वरविश्वेश्वरोपेश्वरेश्वरप्रजापतिपरिलेखः—

परात्पर —विशुद्ध आत्मा मायातीतः

अमृतम् १ अव्ययप्रधानम्	ब्रह्म २ अक्षरप्रधानम्	शुक्रम् ३ आत्मक्षरप्रधानम्

मायी महेश्वरः	सकल षोडशी	सगुणः सत्यः	सविकारो यज्ञः	साज्ञानाविराट्	सावरणो विश्वम्
मायापरिग्रहः १	कलापरिग्रहः २	गुणपरिग्रहः ३	विकारपरिग्रहः ४	अज्ञानपरिग्रहः ५	आवरणपरिग्रहः ६
आत्मन्वी	आत्मन्वी	आत्मन्वी	आत्मन्वी	आत्मन्वी	विश्वम्

महेश्वरप्रजापतिः	विश्वेश्वरप्रजापतिः	उपेश्वरप्रजापतिः	ईश्वरप्रजापतिः
महेश्वरः	विश्वेश्वरः	उपेश्वरः	ईश्वरः
१	२	३	४
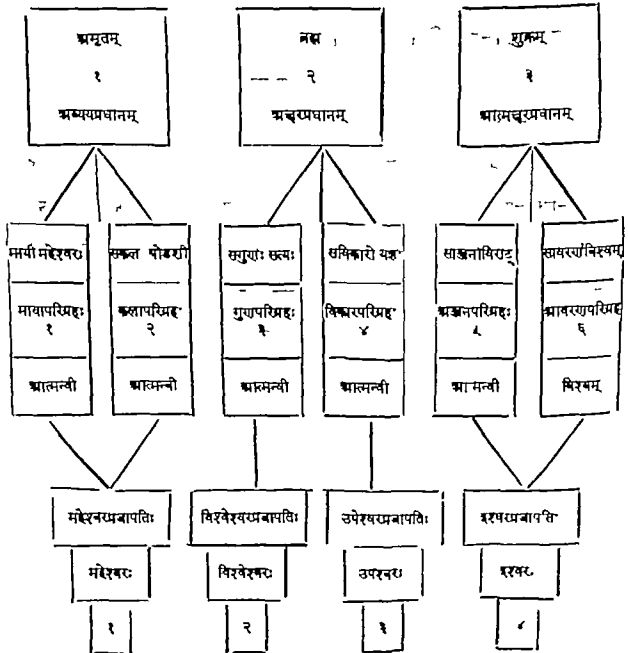
षड्विधोपासकपरिलेखः

१—परात्परोपासकाः	मायोपासकाः—महेश्वरानुयायिनः	परमास्तिका गीताचार्य्याः
२—अव्ययात्मोपासकाः	कलोपासकाः—षोडशीपुरुषानुयायिनः	वेदान्तिनः
३—अक्षरानुगृहीतात्मक्षरोपासकाः	गुणोपासकाः—सत्यप्रजापत्यनुयायिनः	प्राधानिकाः
४—आत्मक्षरानुगृहीतविकारक्षरोपासकाः	विकारोपासकाः—यज्ञप्रजापत्यनुयायिनः	वैशेषिकाः
५—विकारक्षरानुगृहीतवैकारिकोपासकाः	अञ्जनोपासकाः—विराट्प्रजापत्यनुयायिनः	साम्प्रदायिकाः
६—वैकारिकक्षरानुगृहीतविश्वोपासकाः	आवरणोपासकाः—विश्वप्रजापत्यनुयायिनः	लोकायतिकाः

अमृत–ब्रह्म–शुक्रत्रयी–परिलेखः—

१—परात्परगर्भित—मायापरिग्रहविशिष्ट—मायी निष्कलो महेश्वरः	—अमृतम्
२—परात्पर–महेश्वरगर्भितः—कलापरिग्रहविशिष्टः—सकलः षोडशी	
३—परात्पर–महेश्वर–षोडशीगर्भितः—गुणपरिग्रहविशिष्टः—सगुणः सत्यः	—ब्रह्म
४—परात्पर–महेश्वर–षोडशी–सत्यगर्भितः—विकारपरिग्रहविशिष्टः—सविकारो यज्ञः	
५—परात्पर–महेश्वर–षोडशी–सत्य–यज्ञगर्भित—अञ्जनपरिग्रहविशिष्टः—साञ्जनो विराट्	—शुक्रम्
६—परात्पर–महेश्वर–षोडशी–सत्य–यज्ञ–विराट्गर्भितं—आवरणपरिग्रहविशिष्टं—सावरणं विश्वम्	

(११०)—परोरजमूर्त्ति वेदमय ब्रह्मा—

माया–कलादि षट्परिग्रहानुगता प्रासङ्गिकी चर्चा उपरत हुई। अब पुनः प्रकृत प्रक्रान्त विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ८२ वें परिच्छेद से यह प्रतिज्ञा हुई थी कि जिस काममय सकलेश्वर की पाञ्चचिति का स्वरूपविश्लेषण करते हुए (२५ पृष्ठ) सृष्टिमूलतत्त्व की पूर्व में मीमांसा हुई थी उसी का सिंहावलोकनदृष्ट्या विभिन्न दृष्टिकोण से पुनः एक बार समन्वय कर दिया जाय। प्रतिज्ञानुसार उन विभिन्न दृष्टियों से षट्परिग्रहस्वरूपनिरूपणपूर्वक सकलेश्वर का यशोगान हुआ। यही काममय मायी महेश्वर मायानिबन्धन केन्द्रभाव से मनोमय बनता हुआ 'मनु' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे सहजभाव से स्वतः एव आविर्भूत होने के कारण तत्त्वज्ञों ने 'स्वयम्भू' अभिधा में समलंकृत किया, यो अभिधा आगे चलकर उपेश्वरमूला सृष्टि में परमेष्ठिप्रभवपरोरजा वेदमय ब्रह्मा के साथ भी समन्वित हो गई है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

योऽसावतीन्द्रियग्राह्य सूक्ष्मोऽव्यक्त सनातन ॥
सर्वभूतमयोऽचिन्त्य स एव स्वयमुद्बभौ ॥३॥

—मनुः १।५–६–७– ※

(१)–इस वर्त्तमान सर्गदशा में विश्वसत्ताकाल में भातिरूप से अङ्गुलीनिर्देशद्वारा प्रतीयमान यह चर–अचरप्रपञ्च (अपनी अव्यक्तावस्था में) अनुपाख्यतम (विश्वाभावरूप तम) से ही आक्रान्त था, प्रत्यक्ष ज्ञान से सर्वथा अतीत था। सर्वविध परिचायक लिङ्गभावों से बहिर्भूत था, तर्कबुद्धि से असंस्पृष्ट था, वाङ्मनसपथातीत बनता हुआ अविज्ञेय था, सुप्तवत् था, ऐसी थी यह सृष्टिपूर्वदशा, सृष्टि की पूर्वावस्था। (२)–अनन्तर (मायाबलोदय से) स्वयं अव्यक्तावस्थापन्न स्वयम्भू भगवान् इस व्यक्तावस्थापन्न विश्व को अभिव्यक्त करते हुए प्रकट हुए, जो स्वयम्भू पञ्चमहाभूतों के आदिभूतात्मा (आकाशभूतात्मा) हैं, वर्त्तुलाकार हैं, अव्यक्त तमोभाव के निवारक हैं ॥ (३)–इन्द्रियातीत–सुसूक्ष्म–अव्यक्त जो सनातन तत्त्व है, (सर्वभूताधिष्ठाता होने से) जो सर्वभूतमय है (अपनी अव्यक्तावस्था के कारण) जो अचिन्त्य है, वही (मायोदय से) स्वयमेव आविर्भूत होते हुए 'स्वयम्भू' अभिधा से प्रसिद्ध होगए ॥ उक्त श्लोकत्रयी का यही अक्षरार्थ है। जिसका निम्न लिखित शब्दों में रहस्यार्थानुगमन किया जा सकता है।

(११२)— अतीत' पन्थानम्—

परात्पर ब्रह्म असीम है, अतएव उस में हृन्यक्ष (केन्द्रभाव) का अभाव है। किंवा परात्पर का अणु–अणु ही केन्द्रभाव है, अतएव सर्गोपयिक नियत केन्द्रबिन्दु का उस में अभाव है। असीमभाव, ससीमभाव, दोनों के साथ ही यद्यपि केन्द्रभाव का सम्बन्ध है, तथापि दोनों की इस केन्द्रता में ऋत–सत्य भेद से महान् विभेद है। असीमभाव पुरात्मक (सीमात्मक) पिण्डलक्षण सत्यभाव से असंस्पृष्ट रहता हुआ 'ऋत' तत्त्व है। अपने इस असीम ऋतभाव के कारण ऋतलक्षण असीमतत्त्व का प्रतिबिन्दु–बिन्दु केन्द्र है। उधर ससीमभाव पुरात्मक पिण्डलक्षण सत्यभाव से समन्वित रहता हुआ 'सत्यतत्त्व' है। अतएव इसमें

※ निम्नलिखित श्रौत सिद्धान्त ही इस स्मार्त्त सिद्धान्त का मूलाधार है, जिसका 'सर्वहुतयज्ञ' रूप से श्रुति में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। देखिए (शत १३।७।१।१)

(१)—"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत । तदैक्षत–न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनीति । तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्यैत् । स वा एष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति ।"

(२ —तपसा देवा देवतामग्र आयन् , तपसर्षयः स्वरन्वविन्दन् । तपसा सपत्नान् प्रणुदामारातीः –येनेदं विश्वं परिभूत यदस्ति । प्रथमजं देवं हविषा विधेम स्वयम्भु ब्रह्म परमं तपो यत् । स एव पुत्र–स पिता स माता तपो ह यक्षं प्रथमं सम्बभूव ॥" इति (तै ब्रा ३।१२।३।१)

(३)—आपो ह यद् बृहतीर्गर्भमायन् दक्षं दधाना जनयन्तीः स्वयम्भुम् ।
तत इमेऽध्यसृज्यन्त सर्गाः—अद्भ्यो वा इदं समभूत् ।
तस्मादिदं सर्वं ब्रह्म स्वयम्भु—इति । (तै आ॰ १।२३।८) ।

[१११]–सर्वभूतमय स्वयम्भू मनु—

इस अव्यक्त 'स्वयम्भू' ब्रह्म के सम्बन्ध में यह भाव व्यक्त किया जा सकता है कि, अपने उत्थिताकांक्षा-मूलक निष्कामभावात्मक सहजकामभाव की सहज प्रेरणा से, स्वाभाविकी शक्ति से * अयनलविशिष्टरसैकघन मायातीत ब्रह्म, अतएव 'शाश्वतब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध परात्पर ब्रह्म के किसी अमुक अचिन्त्य–अप्रतर्क्य–निमित प्रदेश में अव्यक्तावस्थापन्न (सुप्तावस्थापन्न) मायाबल + व्यक्तावस्था (आरम्भावस्था) में परिणत हो गया। व्यक्त मायाबल से मित (सीमित–परिच्छिन्न) परात्पर ब्रह्म का यह मायामय प्रदेश ही 'मायापुर' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका इस 'इन्द्राक्षर' से सम्बन्ध माना गया है +। इसी मायापुर के सम्बन्ध से तत्परात्परप्रदेशावच्छिन्न रसबलमूर्ति 'परात्पर' 'परात्परपुरुष' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे सहजभावात्मक स्वयंभाव से प्रादुर्भूत होने के कारण हम अवश्य ही 'स्वयमुद्भवो' रूपेण 'स्वयम्भू' अभिधा से समलंकृत कर सकते है। तमोभूत–अप्रज्ञात–अलक्षण–अप्रतर्क्य–अनिर्देश्य–सर्वत:–प्रसुप्तमिव अव्यक्त सर्ग को प्राथमिक व्यक्तरूप प्रदान करने वाला लक्षणविरहित–तर्कासंस्पृष्ट अत एव नीनिर्देशक्रियातिक्रान्त–विश्वाभावलक्षण 'अनुपाख्य' (क) तम को विश्वरूप प्रकाश (विश्वभाति–प्रतीति) रूप में परिणत करने वाला स्वयम्भूपुरुष ही विश्वसर्ग का प्रथम अभिव्यञ्जक बना करता है, जैसाकि निम्नलिखित आर्षस्मृतिवचनों से प्रमाणित है—

> आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
> अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वत: ॥१॥
>
> तत: स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
> महाभूतादि वृत्तौजा: प्रादुरासीत्तमोनुद: ॥२॥

---

*—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । (उपनिषत्)

— अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (गीता)

\+ इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते । (ऋक्संहिता)

(क)–भारतीय आध्यात्मिक विज्ञानदृष्ट्या तमोभाव 'अनुपाख्य–अनिरुक्त–निरुक्त, भेद से तीन भागों में विभक्त है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताभाष्यान्तर्गत 'कृष्णतत्त्वरहस्य' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित है। काला रंग निरुक्ततम, किंवा निरुक्ततम है। रात्रि का तम, एवं नेत्रपक्ष्मावरोध पर प्रतीयमान तम (अँधेरा) अनिरुक्ततम के उदाहरण माने जा सकते हैं। एवं विश्वाभावलक्षण विश्वातीत तम हमारी प्रज्ञा-बुद्धि से एकान्तत: अतिक्रान्त रहता हुआ 'अनुपाख्यतम' कहलाया है।

नामों से व्यवहार प्रसिद्ध है। जिस प्रकार मानवसंस्था में पाञ्चभौतिक शरीररूप महिमा हृदयरूप आत्मा, ये दो विभाग हैं, एवमेव उस ससीम मायी महेश्वर में भी दोनों विभाग महिमारूप शरीर, आत्मरूप हृदय, इस रूप से प्रतिष्ठित हैं। यह संस्मरणीय है कि, मानव का शरीररूप महिमाभाग जैसे विनश्वर है, सर्वथा विनाशीय है, परात्परपुरुष का मायामय महिमाभाग वैसा विनश्वर नहीं है। जैसी महिमा में मानव-लोकमानव-प्रतिष्ठित है, वैसी महिमा में वह प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव छान्दोग्यश्रुति को आगे चलकर -'अपि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित' यह भी कह देना पड़ा है। इस नित्यमहिमा* लक्षण परात्परपुरुषरूप महामायीमहेश्वरको, अमायी परात्परपरमेश्वर के प्रथमावतारूप महेश्वर को, स्वबलमूर्त्ति मायी स्वयम्भूपुरुष को लक्ष्य बनाकर ही हमें मानवस्वरूपाधारभूत 'मनु' तत्त्व का समन्वय करना है।

(११६)-मनस्तन्त्रके चार विवर्त्त—

हृदयावच्छिन्न मायायुक्त रसबल, किंवा 'हृत्पुरुष' ही विज्ञानभाषा में 'श्वोवस्यस् ब्रह्म' + कहलाया है, जो यत्रतत्र 'श्वोवसीयस्' नाम से भी उपवर्णित हुआ है। संकल्प-विकल्प-(ग्रहण-परित्याग) भावात्मक नियत विषयानुगमन के कारण 'नियतविषयग्राहित्त्वमिन्द्रियत्त्वम्' इस इन्द्रियस्वरूपलक्षण के आधार पर संकल्पविकल्पाधिष्ठाता मन 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके लिए-'पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि' (अथर्वसंहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति प्रसिद्ध है। प्रत्येक इन्द्रिय में अनुकूलवेदना (अनुकूलता), प्रतिकूलवेदना (प्रतिकूलता) भेद से विभिन्न दो व्यवहार स्पष्ट रूप से उपलब्ध हो रहे हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का रूपदर्शन-घ्राणग्रहण-रसास्वादन-आदि आदि स्व-स्व-व्यापार सर्वथा नियत है। किन्तु वेदनात्मक (अनुभवात्मक) अनुकूल-प्रतिकूलोभयविध व्यापार सम्पूर्ण विभिन्न इन्द्रियों में समान है। समानव्यापार प्रवर्त्तक सर्वेन्द्रियाधारभूत यही तत्त्व दूसरा 'सर्वेन्द्रिय' नामक मन 'अनिन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। सुषुप्तिदशा में सर्वेन्द्रियमन इन्द्रियप्राणों के साथ समन्वित होता हुआ बुद्धिद्वारा मन पुरीततिनाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है, तो उस अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। इन्द्रियव्यापारों के अवरुद्ध हो जाने पर भी 'अहं' अभिमानात्मक आत्मा (सत्त्वमूर्त्ति महानात्मा) का व्यापार सुषुप्तिदशा में निर्बाध बना रहता है, जिसके प्रमाण श्वास-प्रश्वाससञ्चार, रक्तादिधातुसञ्चार, आदि आभ्यन्तरबाह्य-व्यापार बने हुए हैं। सुषुप्तिदशा में भी ये शरीरव्यापार जिस सत्त्वगुणक ज्ञानीय कामना के द्वारा प्रक्रान्त बने रहते हैं, यही तीसरा 'सत्त्वमन' है, जिसे 'महन्मन' भी कहा गया है, जिसके सम्बन्ध से अलौकिक मानव 'महानात्मा'-'महात्मा' आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है। तदित्थं-परात्परपुरुषात्मक 'श्वोवसीयस्मन-महन्मन-अनिन्द्रियमन-इन्द्रियमन' भेद से मनस्तन्त्र के चार विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं। यही भारतीय मनोविज्ञान-

---

* एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
—देखिए पृ० सं० २७१।

+ असतोऽधि मनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं, यदिदं किञ्च। तदेतत्-'श्वोवस्यसं' नाम ब्रह्म। (तै० ब्रा०-श्वोवसीयस्) जै० ब्रा० उप० १०३)।

नियत केन्द्रभाव अभिव्यक्त रहता है। तात्पर्य्य यही है कि, व्यापक असीमभाव की प्रति बिन्दु बिन्दु स्वतन्त्र केन्द्र है। सर्वकेन्द्रत्त्व ही व्यापक मायातीत परात्परब्रह्म का अकेन्द्रत्व, किंवा अहृदयत्व है, यही इसका अमनोमयत्त्व तथा अकामयत्व, अतएव अशीतः पन्थानत्त्व है।

(११३)–पुरुष एवेद सर्वम्—

'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' (यजुः सं ३४।६) इत्यादि मन्त्र-वर्णनानुसार कामनामय मन नियतहृदय में ही प्रतिष्ठित माना गया है। परात्पर असीम् है, अतएव उस में नियत हृदय का अभाव है। हृदयाभाव से उसमें मनोऽभिव्यक्ति का अभाव है। एवं तदभाव में उसमें मानसिक कामभाव का अभाव है। इस कामभावाभाव से उसमें सृष्टिप्रवृत्ति का आत्यन्तिक अभाव है और यही वह विवर्त्तवाद सर्वात्मना विश्रान्त है, जिसे वेदान्तनिष्ठा ने 'मायामयसर्ग' नाम से घोषित किया है। यही कारण है कि, अहृदय-अमन-अकाम-परात्परब्रह्म को विवर्त्तभावापन्न सृष्टिकर्तृत्व से सर्वात्मना असंस्पृष्ट मान लिया गया है। सृष्टिकर्ता बनता है परात्परब्रह्म का ही वह सीमित प्रदेश, जो मायाबलोदय से सीमित बनता हुआ 'मायापुर' सम्बन्ध से 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध है *। यह महामायी हृदयबलावच्छिन्न (नियतकेन्द्रावच्छिन्न), अतएव मनोमय, अतएव च कामनामय पुरुष ही सृष्टि का अधिष्ठाता बनता है, जैसा कि—'पुरुष एवेद सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (यजु सं ३१।२।) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है।

(११४)–प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान—

'माया-हृदय-महिमा-अभ्व-माया-धारा-आप' आदि पूर्वोपात्त सोलह प्रकार के सुप्रसिद्ध बलकोशों में से सर्वाविर्भूत-सर्वप्रथम-सर्वबलकोशाधारभूत मायाबल ही है। इससे दूसरा स्थान 'हृदयबल' का है। परात्पर के अमुक निमित्त प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ। उदित मायाबल से परात्पर का वह अमुक निमित्त प्रदेश उसी प्रकार सीमित बन गया, जैसे कि पाषाणदुर्गसीमा से तदवच्छिन्न भूप्रदेश सीमित बन जाया करता है। सीमाभावप्रवर्त्तक मायाबल के उदित होते ही इस बलरसमूर्ति मायी परात्परपुरुष में दूसर हृदयबल, एवं तत्सैव महिमाबल दोनों बलों का प्रादुर्भाव हो पड़ा। स्वयं केन्द्रबिन्दु तो 'हृदय' कहलाया, एवं हृदयबिन्दु से आरम्भ कर मायापुररेखात्मिका प्रधि (परिधि) पर्य्यन्त प्रदेश 'महिमा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'यदि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' (छां उप ७।२४।२।१।) के अनुसार इस मायामहिमा के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयावच्छिन्न पुरुष ही प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान बना, जैसा कि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है।

(११५)–रसबलमूर्त्ति स्वयम्भूपुरुष—

महिमामण्डल, हृदयभाव, इन दो भावों से महामायी परात्परपुरुष में बीजरूप से 'आत्मन्वी' भाव उद्बुद्ध हो गया। आत्मा, और शरीर, इन दोनों की समन्वित अवस्था ही विज्ञानभाषा में 'आत्मन्वी' नाम से व्यवहृत हुई है। सर्वहृदयात्मक केवल हृदय (अनियमित हृदय) मात्र के कारण निःसीम अमायी परात्पर ब्रह्म जहाँ केवल 'आत्मा' था, वहाँ नियतहृदयभावरूप आत्मा, परिधिभावात्मक महिमाभावरूप शरीर, इन दो भावों से सीमित परात्पर पुरुष 'आत्मन्वी' बन जाता है, जिसको लोकव्यवहार में 'शरीरी'–'देही' आदि

---

* पुरि शेते-इति 'पुरिशयं' सन्तं 'पुरुष' इत्याचक्षते। (गोपथ• पू• १।१।३९।)

नामों से व्यवहार प्रसिद्ध है। जिस प्रकार मानवसंस्था में पाञ्चभौतिक शरीररूप महिमा हृदयरूप आत्मा, ये दो विभाग हैं, एवमेव उस ससीम मायी महेश्वर में भी दोनों विभाग महिमारूप शरीर, आत्मरूप हृदय, इस रूप से प्रतिष्ठित है। यह संस्मरणीय है कि, मानव का शरीररूप महिमाभाग जैसे विनश्वर है, सर्वथा विजातीय है, परात्परपुरुष का मायामय महिमाभाग वैसा विनश्वर नहीं है। जैसी महिमा में मानव-लोकमानव-प्रतिष्ठित है, वैसी महिमा में यह प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव छान्दोग्यश्रुति को आगे चलकर -'अपि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' यह भी कह देना पड़ा है। इस नित्यमहिमा* लक्षण परात्परपुरुषरूप महामायी महेश्वर को, अमायी परात्परपरमेश्वर के प्रथमावतारूप महेश्वर को, रस्बलमूर्त्ति मायी स्वयम्भूपुरुष को लक्ष्य बनाकर ही हमें मानवस्वरूपाधारभूत 'मनु' तत्त्व का समन्वय करना है।

(११६)-मनस्तन्त्र के चार विवर्त्त—

हृदयावच्छिन्न मायायुक्त रसबल, किंवा 'हृदयपुरुष' ही विज्ञानभाषा में 'श्वोवस्यस् ब्रह्म' — कहलाया है, जो यत्रतत्र 'श्वोवसीयस्' नाम से भी उपवर्णित हुआ है। संकल्प-विकल्प-(ग्रहण परित्याग) भावात्मक नियत विषयानुगमन के कारण 'नियतविषयग्राहित्वमिन्द्रियत्वम्' इस इन्द्रियस्वरूपलक्षण के आधार पर संकल्पविकल्पाधिष्ठाता मन 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके लिए-'पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि' (अथर्वसंहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति प्रसिद्ध है। प्रत्येक इन्द्रिय में अनुकूलवेदना (अनुकूलता), प्रतिकूलवेदना (प्रतिकूलता) भेद से विभिन्न दो व्यवहार स्पष्ट रूप से उपलब्ध हो रहे हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का रूपदर्शन-घ्राणग्रहण-रसास्वादन-आदि आदि स्व-स्व-व्यापार सर्वथा नियत है। किन्तु वेदनात्मक (अनुभवात्मक) अनुकूल-प्रतिकूलोभयविध व्यापार सम्पूर्ण विभिन्न इन्द्रियों में समान है। समानव्यापार प्रवर्त्तक सर्वेन्द्रियाधारभूत यही तत्त्व दूसरा 'सर्वेन्द्रिय' नामक मन 'अनिन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। सुषुप्तिदशा में सर्वेन्द्रियमन इन्द्रियप्राणों के साथ समन्वित होता हुआ बुद्धिद्वारा जब पुरीतत्नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है, तो उस अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। इन्द्रिय-व्यापारों के अवरुद्ध हो जाने पर भी 'अहं' अभिमानात्मक आत्मा (सत्त्वमूर्त्ति महानात्मा) का व्यापार सुषुप्तिदशा में निर्बाध बना रहता है, जिसके प्रमाण श्वास-प्रश्वाससञ्चार, रक्तादिधातुसञ्चार, आदि आभ्यन्तरबाह्य-व्यापार बने हुए हैं। सुषुप्तिदशा में भी ये शरीरव्यापार जिस सत्त्वगुणक ज्ञानीय कामना के द्वारा प्रक्रान्त बने रहते हैं, वही तीसरा 'सत्त्वमन' है, जिसे 'महन्मन' भी कहा गया है, जिसके सम्बन्ध से अलौकिक मानव 'महानात्मा'-'महात्मा' आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है। तदित्थं-परात्परपुरुषात्मक 'श्वोवसीयस्मन-महन्मन-अनिन्द्रियमन-इन्द्रियमन' भेद से मनस्तन्त्र के चार विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं। यही भारतीय मनोविज्ञान-

---

* एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
—देखिए पृ० सं० २७१।

— असतोऽधि मनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं, यदिदं किञ्च। तदेतत्-'श्वोवस्यसं' नाम ब्रह्म।
(तै० ब्रा०-श्वोवसीयस्) जै० ब्रा० उप० १०३) ।

नियत केन्द्रभाव अभिव्यक्त रहता है। तात्पर्य यही है कि, व्यापक असीमभाव की प्रति बिन्दु बिन्दु स्वतन्त्र केन्द्र है। सर्वकेन्द्रत्व ही व्यापक मायातीत परात्परब्रह्म का अकेन्द्रत्व, किंवा अहृदयत्व है, यही इसका अमनोमयत्व तथा अकामयत्व, अतएव अतीतः पन्थानत्त्व है।

(११३)—पुरुष एवेद सर्वम्—

'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (यजुः सं॰ ३४।६) इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार कामनामय मन नियतहृदय में ही प्रतिष्ठित माना गया है। परात्पर असीम है, अतएव उस में नियत हृदय का अभाव है। हृदयाभाव से उसमें मनोऽभिव्यक्ति का अभाव है। एवं तदभाव में उसमें मानसिक कामभाव का अभाव है। इस काममायाभाव से उसमें सृष्टिप्रवृत्ति का आत्यन्तिक अभाव है और वहीं वह विवर्त्तवाद सर्वात्मना विश्रान्त है, जिसे वेदान्तनिष्ठा ने 'मायामयसर्ग' नाम से घोषित किया है। यही कारण है कि, अहृदय–अमन–अकाम–परात्परब्रह्म को विवर्त्तभावापन्न सृष्टिकर्तृत्व से सर्वात्मना असंपृक्त मान लिया गया है। सृष्टिकर्त्ता बनता है परात्परब्रह्म का ही वह सीमित प्रदेश, जो मायाबलोदय से सीमित बनता हुआ 'मायापुर' सम्बन्ध से 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध है *। यह महामायी हृदयबलावच्छिन्न (नियतकेन्द्रावच्छिन्न), अतएव मनोमय, अतएव च कामनामय पुरुष ही सृष्टि का अधिष्ठाता बनता है, जैसा कि—'पुरुष एवेदं सर्वम् यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (यजु सं॰ ११।२।) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है।

(११४)—प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान—

'माया–हृदय–महिमा–अभ्व–आया–धारा–आप' आदि पूर्वोपात्त सोलह प्रकार के सुप्रसिद्ध बलकोशों में से आविर्भूत–सर्वमुख्य–सर्वबलकोशाधारभूत मायाबल ही है। इससे दूसरा स्थान 'हृदयबल' का है। परात्पर के अमुक नियमित प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ। उदित मायाबल से परात्पर का वह अमुक नियमित प्रदेश उसी प्रकार सीमित बन गया, जैसे कि पाषाणदुर्गसीमा से तदवच्छिन्न भूप्रदेश सीमित बन जाया करता है। सीमाभावप्रवर्त्तक मायाबल के उदित होते ही इस बलरसमूर्त्ति मायी 'परात्परपुरुष' में दूसरे हृदयबल, तथैव महिमाबल दोनों बलों का प्रादुर्भाव हो पड़ा। स्वयं केन्द्रबिन्दु तो 'हृदय' कहलाया, एवं हृदयबिन्दु से आरम्भ कर मायापुररेखात्मिका प्रधि (परिधि) पर्य्यन्त प्रदेश 'महिमा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'यदि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' (छां॰ उप॰ ७।२४।२।१।) के अनुसार इस मायामहिमा के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयावच्छिन्न पुरुष ही प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान बना, जैसा कि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है।

(११५)—रसबलमूर्त्ति स्वयम्भूपुरुष—

महिमामयबल, हृदयभाव, इन दो भावों से महामायी परात्परपुरुष में बीजरूप से 'आत्मन्वी' भाव उद्बुद्ध हो गया। आत्मा, और शरीर, इन दोनों की समन्वित अवस्था ही विज्ञानभाषा में 'आत्मन्वी' नाम से व्यवहृत हुई है। सर्वहृदयात्मक केवल हृदय (अनियमित हृदय) भाव के कारण निःसीम अमायी परात्पर ब्रह्म जहाँ केवल 'आत्मा' था, वहाँ नियतहृदयभावरूप आत्मा, परिधिभावात्मक महिमाभावरूप शरीर, इन दो भावों से सीमित परात्पर पुरुष 'आत्मन्वी' बन जाता है, जिसका लोकव्यवहार में 'शरीरी'–'देही' आदि

---

* पुरि शेते–इति 'पुरिशयं' सन्तं 'पुरुष' इत्याचक्षते। (गोपथ पू॰ १।३९।)

हुआ है। मनुतत्त्व की पूर्व प्रतिज्ञाता सम्बद्ध सामान्य परिभाषा से समन्वित–'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्' इत्यादि मन्त्र का यही भावदिग्दर्शन है।

(११९)–सत्यस्य सत्यात्मक सत्यात्मलोक—

सर्वजगन्मूलाधिष्ठाता–कामनामय–रसबलमूर्ति–हृदयस्थ–पुरुषमन ही प्रतिज्ञात सुप्रसिद्ध 'मनु' तत्त्व है। रसबलात्मक हृदयमन ही विश्वात्मा है, यही पुरुष है। 'महाभूतादि वृत्तौजा:' इस मनुवचन के अनुसार यह मनोमय पुरुष आगे चलकर स्वरानुगत भौतिक सर्गनिबन्धन पञ्चमहाभूतों का आदिभूत 'आकाशात्मा' है। हृदयभाव के कारण, साथ ही महिमारूप शरीरभाव के कारण 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' * इस परिभाषा के अनुसार यह पुरुष सत्यमूर्ति है, जैसे विश्वरूपापेक्षया 'सत्यस्य सत्यम्' कहा है —। अतएव आकाशात्मा स्वयम्भूपुरुष से अनुप्राणित लोक 'सत्यलोक' माना गया है। पुरुषात्मतत्त्व के इसी स्वरूप को लक्ष्य बनाते हुए उपनिषच्छ्रुति ने कहा है—

> "मनोमयोऽयं पुरुषो भा: सत्य:। तस्मिन्नन्तर्हृदये स। एष सर्वस्येशान:। सर्वस्याधिपति:। सर्वमिदं प्रशास्ति, यदिदं किञ्च"।
>
> —बृहदारण्यकोपनिषत् ५।६।७।

(१२०)–सर्वशास्ता मनु—

पुरुषात्मक आत्ममन (अव्ययमन) को श्रुति ने–'सर्वमिदं प्रशास्ति' रूप से सम्पूर्ण विश्व का प्रशास्ता (अनुशासक) माना है। यही पुरुषमन क्योंकि–'मनु' है। अतएव श्रुत्यर्थानुसारिणी मनुस्मृति का–'प्रशासितारं सर्वेषाम्' यह उद्घोष मनु को सर्वशास्ता प्रमाणित करता हुआ श्रौतभाव से सर्वात्मना समतुलित है। 'अणोरणीयान्- महतो महीयान्' रूप से आत्मा अणोरणीयान् है, तो तद्रूप मनु भी तद्रूप ही है। अणोरणीयान्–सर्वशास्ता–आत्ममनोलक्षण–मनु के इसी श्रौत रहस्य को स्पष्ट करते हुए राजर्षि मनु कहते हैं—

---

* पारिभाषिक 'ऋत–सत्य–ऋतसत्य' इन तीन प्राकृतिक तत्त्वों के निम्नलिखित तीन लक्षण हुए हैं:—

(१)–"अहृदयं–अशरीरं–ऋतम्" (यथा प्राणा:–वायु:)।
(२)–"सहृदयं–सशरीरं–सत्यम्" (सर्वे पिण्डभावा: सकेन्द्रा:)।
(३)–"अहृदयं–सशरीरं–ऋतसत्यम्" (मेघा:–धूमभावा:–कन्दुरादय:)।

> — सत्यस्य सत्यं (वा अयमात्मा)
> सत्यव्रतं–सत्यपरं–त्रिसत्यं–सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
> सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना:॥
>
> —श्रीमद्भागवत

दिया की संक्षिप्त रूपरेखा है। प्रतीच्य मनोविज्ञान (साइकालॉजी–Psychology) जहाँ केवल भौतिक–सर्वथा स्थूल–बाह्य–पार्थिव 'इन्द्रियमन' मन पर विश्रान्त है, यहाँ भारतीय मनोविज्ञान श्वोवसीयस् नामक उस पुरुषमन पर विश्रान्त है, जिसे 'आत्ममन' नाम से घोषित किया गया है।

(११७)–ऐन्द्रियकज्ञाननिकषा—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्' (ईशोपनिषत् १) के अनुसार आत्ममन जड़चेतन–सर्वत्र समरूप से अवस्थित रहता हुआ भी अभिव्यक्त है केवल मानवस्वरूप में ही। अतएव एक मात्र मानव ही सम्पूर्ण सर्गों में पुरुष से समन्वित रहता हुआ पूर्ण कहलाया है, जैसा कि—'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। इसी सर्वव्यापक आत्ममन के आधार पर–'आत्मैवेदं सर्वम्'–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'–'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च'–'सर्वं ह्येव प्रजापतिः' इत्यादि सर्ग–प्रतिसर्गरहस्यनिरूपणात्मक सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। इस आत्ममन से अनुप्राणित मानवीय सिद्धान्त ही 'आर्षसिद्धान्त' माना गया है। इस सिद्धान्त से सिद्धान्तित वाङ्मयशास्त्र ही 'अपौरुषेय वेदशास्त्र' कहलाया है, जो अपने निर्भ्रान्त सत्यज्ञानप्रभाव से स्वतःप्रमाणशास्त्र है। महन्मनोऽनुगत सत्यज्ञान की, बुद्ध्यनुगत धिषणाज्ञान की, अतीन्द्रियमनोऽनुगत प्रज्ञानज्ञान की, एवं इन्द्रियानुगत ऐन्द्रियकज्ञान की एकमात्र निकषा यही स्वतःप्रमाणशास्त्र है, जिसके लिए–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' (गीता १६।२४) सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

(११८)–श्वः श्वः वसीयान् आत्ममन—

पूर्वोपवर्णित आत्ममन 'पुरुषमन' है, जो उत्तरोत्तर भूमाभाव (वृद्धिभाव–उत्कर्ष–विकास) का ही अनुगामी बना रहता है। एकोऽहं बहुस्याम्' इत्यादि क्रम से यह पुरुषमन सदा श्वः श्वः (उत्तरोत्तर–दिन दिन) वसीयान् है, विकास–वृद्धि–उत्कर्षपथानुगामी है, अतएव इसे 'श्वोवसीयस्' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। *यही श्वोवसीयसमन उस हृदयभाव से समन्वित काममय पुरुष है, जिसे हमने माया-वच्छिन्न परात्परपुरुष कहा है।* यही काममय पुरुषमन असङ्गरसानुप्राणिता मुमुक्षा (मुक्तिकामना), तथा बलाबलानुप्राणिता सिसृक्षा (सृष्टिकामना) से उभयात्मक बनता हुआ–'उभयात्मकं मन' को सार्थक कर रहा है। सम्भूति ही सृष्टि है, ग्रन्थिबन्धनविमोकलक्षण विनाश ही मुक्ति है। प्रत्येक सृष्टिधारा में, सृष्टिधारा के अणु अणु में रसानुगत बन्धनविमोक, बलानुगत ग्रन्थिबन्धनलक्षण विनाश–सम्भूति दोनों व्यापार समानक्षेत्रानुगामी बनते हुए 'सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह' को अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं। सृष्टिधारा में समष्ट्या–व्यष्ट्या–उभयथा निर्माण और ध्वंस दोनों समकालिक किंवा एककालिक हैं। कारण यही है कि, सृष्टिनिर्माता इस मनोमय परात्परपुरुषप्रजापति की मनोमयी कामना रसापेक्षया ध्वंसानुगामिनी, बलापेक्षया निर्माणानुगामिनी, रूप से उभयात्मिका बनी हुई है। उभयात्मिका यह 'कामना' ही सृष्टि का प्राथमिक 'रेत' (उपादानात्मक मूलबीज) है जो इस पुरुषमन से विनिर्गत हुआ है। सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम मनोरेतोलक्षण इस कामबीज का ही उदय होता है, जिस कामबीज से आगे चल कर रस–बल के आधार पर असत्–बलों के ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से सर्वोपभिन्न सम्बन्ध समन्वित हो जाता है। एवं जिस सम्बन्ध (रस्सल) के सम्बन्ध से (रसाधारेण होने वाले बलों के विविध सम्बन्धों से) सम्पूर्ण विश्व का निर्माण

हो जाती हैं। इन मध्यान्तरों के सम्बन्ध से ही आर्य्यसर्वस्व (पुराणशास्त्र) की पारिभाषिकी सृष्टिविज्ञानभाषा में यह मनु 'मन्वन्तर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। लोकव्यवहार में जिसे मुहूर्त कहा जाता है, वही पुराणभाषा में 'मन्वन्तर' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'मुहूर्त्तो घटिकाद्वयम्' के अनुसार घटिकाद्वयी (२ घड़ी) का एक मुहूर्त होता है। चतुर्विंशति–होरात्मक एक अहोरात्र में षष्टिमित (६०) घटिका होती हैं। फलत मुहूर्त उक्त अनुपात से ३० हो जाते हैं। चतुर्दश मुहूर्त्तों का भोग रात्रि में, चतुर्दश का भोग रात्रि में। १ का भोग प्रात सन्ध्या में, १ का भोग सायसन्ध्या में, सम्भूय ३० मुहूर्त्तों का भोग एक अहोरात्र में हो जाता है। ठीक यही गणनाव्यवस्था महासर्गकालनिबन्धन–उस अहोरात्र से समन्वित है, जिसे 'ब्राह्माहोरात्र' माना गया है। मुहूर्त-स्थानीय १४ मन्वन्तरों का उपभोग ब्राह्मरात्रि में, १४ मन्वन्तरों का उपभोग ब्राह्म अह में, १ का उपभोग ब्राह्मप्रात सन्ध्या में, १ का उपभोग ब्राह्मसायसन्ध्या में, सम्भूय ३० मन्वन्तरों का उपभोग एक ब्राह्माहोरात्र में हो जाता है। तात्पर्य्य इस गणनासमतुलन का यही है कि, मनु ही मन्वन्तररूप से सृष्टिधाराओं के काल नियमन के व्यवस्थापक बनते हैं। मन्वन्तररूप मनु ही सृष्टि के आयुर्भोगकाल हैं। तथैव प्राणियों की आयु के भी अधिष्ठाता मनु ही माने गये हैं।

[१२३] ज्योतिर्गोरायुष्टोमत्रयीस्वरूपपरिचय—

यहाँ बात योंही समझने जैसी है। स्वायम्भुव आकाशात्मा मनु ही पारमेष्ठ्यसमुद्रगर्भित हिरण्मय मण्डलगर्भीभूत सूर्य्यनारायण के केन्द्र की प्रतिष्ठा बनते हुए 'हिरण्यगर्भमनु' नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इसी सौरमण्डलकेन्द्रवर्त्ती मनु को लक्ष्य बनाकर इसे 'रुक्माभ' (सुवर्णकान्तिसदृश) कहा गया है। 'नूनं जना सूर्य्येण प्रसूता'—'प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'—'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' इत्यादि श्रौतवचनानुसार हिरण्मय–रुक्माभ सौरप्रजापति (हिरण्यगर्भप्रजापति*) ही चर–अचर समस्त भुवनों का आत्मा सर्वाधार माना गया है। यह सर्वाधार सौरप्रजापति जिस छन्द पर अध्यारूढ़ है, वह 'बृहतीछन्द' + नाम से प्रसिद्ध है, जो नवाक्षर माना गया है। नवाक्षर बृहती के चार पादों के सम्भूय ३६ अक्षर हो जाते हैं। 'सहस्रधा महिमान सहस्रम्' के अनुसार सौरसहस्ररश्मियों का बृहतीछन्द के ३६ अक्षरों के साथ (प्रत्येक अक्षर के साथ एक एक सहस्र गोरूपरश्मियों का) सम्बन्ध हो जाता है। फलत बृहतीछन्द के ३६ सहस्र (३६ छत्तीस हजार) सूत्र हो जाते हैं। प्रत्येक सूत्र अपनी मनोमयी ज्ञानशक्ति, प्राणमयी क्रियाशक्ति, वाङ्मयी अर्थशक्ति से समन्वित होता हुआ मनप्राणवाङ्मय आत्मा की प्रतिष्ठा बना हुआ है। 'ज्योति–गौ–आयु सूर्य्य के तीन 'मनोता' माने गए हैं। सौर केन्द्रीय मनोभाव इन तीन द्वारों में ओतप्रोत होकर ही त्रैलोक्यप्रतिष्ठा बनते हैं। अतएव

---

* हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
—यजु संहिता।

+ —सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति। नैवोदेता, नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता।
—छान्दोग्योपनिषत्।

प्रशासितारं सर्वेषां–मणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभ स्वप्नधीगम्य त विद्यात् पुरुष परम् ॥
—मनु १२।१।२२।

(१२१)–'मनुः' शब्द की शाब्दिक स्वरूपनिष्पत्ति—

ज्ञानमयकोश ही 'मन' है। यद्यपि संकल्पविकल्पात्मक इन्द्रियमन, इन्द्रियप्रवर्त्तक सर्वेन्द्रियमन, एवं सुषुप्त्यधिष्ठाता सत्त्वमूर्त्ति महन्मन, ये तीनों मनस्तन्त्र भी चिदंशसम्बन्ध से प्रज्ञात्मक बनते हुए ज्ञानमय ही माने जायेंगे। अतएव इन्हें 'मन' (ज्ञानशक्तिमय तत्त्व) कहना अन्वर्थ बनेगा। तथापि मननात्मक सुस्थिर ज्ञानकोश तो एकमात्र श्वोवसीयस नामक वह आत्ममन ही माना जायगा, जिस कोश की ज्ञानमात्रा का लेकर इतर मनस्तन्त्र ज्ञानमय बने रहते हैं—'तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वाण्युपजीवन्ति' प्रसिद्ध ही है। मननात्मक सुस्थिर ज्ञानकोशलक्षण श्वोवसीयस मन को हम 'ज्ञानोक्थ' (बिम्ब–ज्ञानकन्दल–ज्ञानदीप) कहेंगे। इस उक्थात्मक आत्ममन से विनिःसृत होकर चतुर्दिक्–किंवा सर्वदिक् व्याप्त रहने वाले मननात्मक सुस्थिर ज्ञानमय अर्क (रश्मि) मण्डल को हम 'मनु' कहेंगे। यही मन, और मनु में सुसूक्ष्म स्वरूपभेद माना जायगा। बिम्बात्मक वही तत्त्व (ज्ञानकन्दल) 'मन' है, रश्म्यात्मक वही तत्त्व (ज्ञानमण्डल) 'मनु' है। हृदयावच्छिन्न वही मन 'मन' है, परिध्यवच्छिन्न वही मन 'मनु' है। आत्मरूप वही मन 'मन' है महिमारूप वही मन 'मनु' है। उदाहरण के लिए सूर्यबिम्ब यदि मन स्थानीय है, तो सौरज्योतिर्म्मण्डल 'मनु' स्थानीय है। चन्द्रपिण्ड मन है, तो चन्द्रिकामण्डल मनु है। दीपार्चि (दीप की लौ) यदि मन है, तो दीपप्रभामण्डल मनु है। विज्ञानभाषानुसार 'पदम्' यदि मन है, तो 'पुनःपदम्' मनु है। ऋक् यदि मन है तो साम मनु है। याज्ञिक शस्त्रकर्म्म (ऋगनुगत शंसनकर्म्म) यदि मन है, तो याज्ञिक स्तोत्रकर्म्म मनु है। होता यदि मन है, तो उद्गाता मनु है। और यही मन तथा मनु में स्वरूपविभेद है। ज्ञानमण्डलसम्बन्ध से, किंवा प्रभामण्डलसम्बन्ध से ही मनु को 'रुक्माभ' कहा गया है। उक्थ मन ही क्योंकि अर्करूप से मनु है। अतएव धातु–प्रकृति प्रत्ययवादी वैय्याकरणों ने ज्ञानार्थक 'मन' धातु ('मन' ज्ञाने दिवादि) से उणादि प्रत्ययद्वारा ही मनु शब्द की शाब्दिक स्वरूपनिष्पत्ति मानी है।

(१२२)–आयु के अधिष्ठाता मनु—

हृदयस्थ उक्थ मन की मननात्मिका रश्मियों का मननशील यह महिम्मण्डल ही (अध्यात्मसर्ग की अपेक्षा से *) मनु है, जिस महिम्मण्डल के आधार पर ही सौर–चान्द्र–पार्थिवकेन्द्रत्रयी से अनुप्राणित सम्वत्सरचक्रत्रयी से समन्वित सृष्टिधारा की व्यवस्था व्यवस्थित हुई है। मनुर्म्मण्डल का भोगकाल ही सृष्टिसर्ग का आयुःप्रमाण है। इस सृष्टिकालानुबन्धी मनु की अहोरात्र–विज्ञानानुसार अवान्तर त्रियत् (३) अवस्थाएँ

---

* अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवत–तीनों स्थानों में विभिन्न दृष्टिकोणों से इस मनु का समन्वय हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'भारतीय आर्य्यसर्वस्व का स्वरूपपरिचय' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में ही देखना चाहिए।

(१२७)—मनसा धियः, और मनु

'(१)–सम्पूर्ण प्राणदेवता हमें पवित्र करें, "मन से संयुक्त बुद्धियाँ हमें पवित्र करें," सम्पूर्ण भूत हमें पवित्र करें, (सम्पूर्ण भूतों के परिज्ञाता–अतएव) 'जातवेद' नाम से प्रसिद्ध अग्निदेव हमें पवित्र करें," ।
"(२)–प्राणदेवता हमें पवित्र करें, "बुद्धि से संयुक्त मनुगण हमें पवित्र करें", सम्पूर्ण भूत हमें पवित्र करें, पवमान देवता हमें पवित्र करें, " इत्यन्तरार्थक पूर्वोक्त यजु तथा अथर्वमन्त्रों में और सब भाव तो प्राय समतुलित हैं, केवल दो भावों में थोड़ा अन्तर है । यजु श्रुति 'मनसा धियः' रूप से मन के साथ बुद्धि का सम्बन्ध मान रही है, एवं अथर्वश्रुति 'मनवो धिया' रूप से बुद्धि के साथ 'मनु' का सम्बन्ध बतला रही है। समानभावप्रतिपादिका इस मन्त्रत्रयी में पठित 'मनसा' और 'मनवः' दोनों तत्त्वत अपनी अभिन्नार्थकता ही प्रमाणित कर रहे हैं ।केन्द्रस्थ ज्ञानभाव ही मन है । यह केन्द्रानुगत बना रहता हुआ एक है, उक्थरूप है। अनेक अर्कों का आधारभूत उक्थ एक ही तो हुआ करता है । केन्द्रस्थ मन के ऊपर भावना–वासनासंस्कारपुञ्ज प्रतिष्ठित रहता है। बुद्धि की विभिन्न रश्मियों से, दूसर शब्दों में उक्थरूप बुद्धि की अर्करूप रश्मियों से (जिन रश्मिभावों का पारिभाषिक नाम 'धी' है, जिससे अनुप्राणित बुद्धिधर्म–'धिषणा' कहलाया है) समन्वित होकर ही प्रज्ञानमनोलक्ष्य विभिन्न भावना–वासना संस्कारों के भोग में समर्थ बनता है । बुद्धिरश्मिरूप 'धियः' ही उक्थमन को संस्कारभोग में सफल बनाती है । इसी अभिप्राय से 'मनसा धियः' कहा गया है।

(१२८)—मनवो धिया, और मनु

महिमामण्डलस्थ अर्करूप (रश्मिरूप) मानसज्ञानभाव (ज्ञानवृत्तियाँ–प्रज्ञानवृत्तियाँ) ही पूर्व में 'मनु' नाम से व्यवहृत हुई हैं। यही उक्थ मन अर्कभाव में परिणत होकर 'मनव' बन जाता है, जिसका आधार केन्द्रस्थ उक्थ मन समन्वित केन्द्रस्था उक्थरूपा बुद्धि बनी रहती है । इस महदक्षरस्थिति में बुद्धि उक्थरूप से एकत्वभावापन्ना है, मन मनुरूप अर्कभाव से बहुत्वभावापन्न है । इस स्थिति का 'मनवो धिया' रूप से विश्लेषण हुआ है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि, यजु श्रुति उक्थरूप मनु, अर्करूप बुद्धि, दोनों के क्रमिक एकत्व–अनेकत्व को लक्ष्य बनाती हुई जिस तत्त्वसमष्टि के लिए 'मनसा धियः' कह रही है। अर्करूप मन (मनु), उक्थरूप बुद्धि दोनों के क्रमिक अनेकत्व–एकत्व को लक्ष्य बनाती हुई अथर्वश्रुति उसी तत्त्वसमष्टि का 'मनवो धिया' इस रूप से विश्लेषण कर रही है । अथवा केवल मनस्तन्त्र के सम्बन्ध से ही दोनों श्रुतियों के विभिन्नार्थक दोनों वचनों का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि—

उक्थाक्स्थापन्न हृदयस्थ मन अपने बुद्ध्यनुगत सहज व्यवसायधर्म से एकरूप माना गया है, इसे ही दर्शनपरिभाषा में 'निश्चयात्मक मन' कहा गया है । ऐसे व्यवसायधर्मानुगत–निश्चयात्मक–स्थिर–उक्थलक्षण–हृत–एकाकी 'मन' के अभिप्राय से यजु श्रुति ने 'मनसा' कहा है । एकवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुआ है । इस मनोरूप हृत ज्ञानकलात्मक उक्थ से विनिर्गत अर्करूपा ज्ञानरश्मियाँ क्योंकि भावविषयभेद से बहुगामिनी होती हैं, अनेक होती हैं । अतएव महिमामण्डलस्थ अर्करूप 'मनु' लक्षण मन के लिए अथर्वसंहिता में 'मनवः' रूप बहुवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुआ है।

'मनांस्योतानि यत्र' निर्वचन से इन्हें 'मनोता' कहना अन्वर्थ बनता है। इन तीन सौर मनोताओं के आधार पर ही सुप्रसिद्ध 'ज्योतिष्टोम–गोष्टोम–आयुष्टोम' नामक सौरयज्ञत्रयी प्रतिष्ठित है।

(१२४) प्राकृतिककोश के ३६००० सूत्र—

प्रत्येक सृष्टि में 'आत्मा–प्राण–पशु' ये तीन भाग समाविष्ट रहते हैं। इनमें पशुभाग 'भूत' है, इसका 'गो' मनोता के साथ सम्बन्ध है। प्राणभाग 'देवता' है, इसका 'ज्योति' मनोता के साथ सम्बन्ध है। आत्मभाग 'प्रजापति' है, इसका 'आयु' मनोताके साथ सम्बन्ध है। सौर मनःप्राणवाङ्मय आयुर्मनोतामय सौर आत्मा ही त्रैलोक्य प्रजा की आयु का आधार बनता है। बृहतीसम्बन्ध से ये मन प्राणवाङ्मय आयु सूत्र ३६०० संख्याओं में विभक्त हैं। प्रति अहोरात्र में मनःप्राणवाङ्मय एक एक आयु सूत्र का हृदयकेन्द्र से सौर केन्द्र पर्य्यन्तपर्य्यन्त ब्रह्मरन्ध्रनामक 'नान्दनद्वार' नामक पथ से वितत महापथ के द्वारा सुषुम्णापथ से उपभोग होता रहता है। प्राकृतिककोश में ऐसे बृहतीसहस्र (३६ ० सूत्र हैं। यही मानव का आयुःप्रमाण है, जिन षट्त्रिंशद्बृहतीसहस्रात्मक आयु सूत्रों के ३६ ०० अहोरात्र हो जाते हैं। यही 'शतायुर्वै पुरुष' का मौलिक रहस्य है, जिसका शतपथभाष्य में विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। (देखिए शतपथविज्ञानभाष्य अग्निरहस्यात्मक १ काण्ड, ४ प्रपाठक, १ ब्राह्मण)।

(१२५) आयुर्लक्षण मनु—

वाक् का मूलरूप प्राण है, प्राण का मूलरूप मन है, मन ही मनु है। यही मनुरूप मनु पूर्वकथनानुसार सौरहिरण्यगर्भप्रजापतिरूप में परिणत होता हुआ क्योंकि बृहती–सहस्र द्वारा आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधिभौतिक–पर्वों की आयु का निर्म्मापक बना हुआ है। इसी आधार पर भगवान् कौषीतकि ने 'आयुर्वै मनुः' (कौ ब्राह्मणोपनिषत् २६।१७) इत्यादि रूप से आयुस्तत्त्व को भी 'मनु' अभिधा से समलंकृत मान लिया है।

(१२६) मन और मनु की अभिन्नता—

उक्थ, तथा अर्क (पिण्ड तथा महिमा, अर्चि तथा प्रकाश), इस सामान्य भेद के अतिरिक्त मन और मनु, दोनों तत्त्वतः अभिन्न तत्त्व हैं। इस अभिन्नता के सम्बन्ध में निम्न लिखित मन्त्रों की ओर ही मनुने भी मानवों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है—

> (१)—पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु 'मनसा धियः'।
> पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि माम् ॥
>
> —यजुःसंहिता १९।३९।

> (२)—पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु 'मनवो धिया'।
> पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥
>
> —अथर्वसंहिता ६।१९।१।

स्थानीय 'पुरुष' नामक प्राणी में ही होती है। अतएव सम्पूर्ण चर-अचर प्रजावर्ग में केवल यह 'पुरुष' ही 'मानव' अभिधा का लक्ष्य बनता है।

मनुरूप आत्मा की अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति रूप से स्वयम्भूमनु का विश्वसर्ग 'पुरुषसर्ग–प्रकृतिसर्ग' इन दो मार्गों में विभक्त हो जाता है। इन्हीं को क्रमश 'आत्मसर्ग–अनात्मसर्ग' भी कहा जा सकता है। पुरुषप्राणी आत्मसर्ग है, यही आत्मा स्वमनुरूप से अभिव्यक्त है। अतएव यही मननशाला मानवाभिधा से समन्वित है। पुरुषातिरिक्त सम्पूर्ण चर–अचरसर्ग (जिसमें देवता–असुर–गन्धर्व–पशु–पक्षी–कृमि–कीट आदि आदि यच्चयावत् सर्ग संगृहीत हैं) प्राकृतसर्ग है, किंवा आत्मानभिव्यक्तिरूप अनात्मसर्ग है। अतएव इन्हें मनु के अपत्य होते हुए भी 'मानव' नहीं कहा जाता। मनुसम्बन्धित प्राकृत मन्वन्तरानुप्राणित कालचक्र से सञ्चालित मानवेतर चर–अचर प्रजा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दिग्–देश–कालानुप्राणित सम्पूर्ण चर–अचर प्रजा प्रकृतितन्त्र से सञ्चालित रहती हुई परतन्त्र है। उधर 'मानव' अभिधा से समन्वित पुरुष अपने सहज आत्ममनु स्वरूप से अभिव्यक्त रहता हुआ दिग्देशकालसीमा से से अतिक्रान्त बनता हुआ परिपूर्ण है, शाश्वत है, अमृतपुत्र है 'ऋतस्य प्रथमजा' है। यही मानव की वह सर्वश्रेष्ठता है, जिसका हमने पुराणपुरुष के–'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' इत्यादि शब्दों में यत्रतत्र सर्वत्र उद्घोष किया है।

तथाकथित स्वयम्भू मनु से होने वाले पञ्चाग्निविद्यामूलक 'अपसृष्टि' प्रसङ्ग को अनुपद के लिए छोड़ते हुए हम मनु के विशेषभावों से, विशेष इतिहासों से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिज्ञात 'अग्नि–प्रजापति इन्द्र–प्राण–शाश्वतब्रह्म' इत्यादि विशेष नामों के तात्त्विकस्वरूप की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

(१३१)–अग्निमूर्तिमनु (एतमेके वदन्त्यग्निम्)—

यह आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि, जिस मायातीत परात्परब्रह्म का मायामय मनोमय परात्पर पुरुषब्रह्म प्रथमावतार है, वह मायातीत परात्पर सर्वबलविशिष्टरसैकघन बनता हुआ रसब्रलोमयमूर्ति है, रसबलात्मक है। फलत' तत्प्रथमावतारस्थानीय मनोमय महामायी परात्परपुरुष की भी रसबलवत्ता सिद्ध हो जाती है। रस 'स्थिति' तत्त्व है, बल 'गति' तत्त्व है, जिन इन रसबलनिबन्धन स्थिति–गतिभावों का आगे के परिच्छेदों तथा प्रकरणों में विभिन्नरूप से, अनेकधा विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय किया जाने वाला है। स्थितिभावापन्न असङ्ग रस 'अनेजत्' (अकम्पनरूप), गतिभावापन्न ससङ्ग बल 'एजत्' (कम्पनरूप) है। अनेजल्लक्षण रसात्मक स्थितिभाव ही 'महाभूतादि सूत्त्तौजा' के अनुसार 'आकाश' है, यही संकेतपरिभाषानुसार 'जू'* है। एजल्लक्षण बलात्मक गतिभाव ही 'वायु' (प्राणवायु–सुसूक्ष्म अवामच्छद वायुतत्त्व) है, यही संकेत परिभाषानुसार 'यत्' कहलाया है। मायासीमित पुर से सम्बन्ध रखने वाले हृदयभाव (केन्द्रभाव) के कारण रसबलात्मक पुरुष के रस तथा बल, दोनों असङ्ग–ससङ्गतत्त्व इस प्रकार (सृष्ट्युन्मुख दशा में) 'भू' रूप आकाश,

* 'जूराकाशे–सरस्वत्यां–पिशाच्यां–यवने–स्त्रियाम्' इत्यादि कोशवचनानुसार 'जू' शब्द सरस्वती, पिशाची, यवन, स्त्री, इत्यादि भावों का संग्राहक माना गया है।

(१२९) मनन, और मन—

अपि च ज्ञानकोशात्मक मन की मननशीला इन्द्र रश्मियाँ (हृदयोक्थ से विनिर्गत ज्ञानरश्मियाँ) हीं क्योंकि 'मनु' है, अतएव अन्यत्र 'मनु' शब्द का 'मनन' अर्थ भी स्वीकृत कर लिया गया है। तत्सम्बन्ध से ही मननशील मनीषी विद्वान् मानव को भी 'मनु' अभिधा से सम्बोधित करना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। 'मनवस्तीर्णबर्हिषम्' (यजु सं० १५।६६) इत्यादि मन्त्रभाग के 'मनव' का अर्थ है 'मननशील विद्वान्' जैसा कि तन्मन्त्रानुगत महीधर भाष्य के "मनव—मननप्रधाना विद्वांस –यमग्निं तीर्णबर्हिषमाहुर्वदन्ति" इत्यादि वचन से भी स्पष्ट है। "ये विद्वांसस्ते मनव" (शतपथ ब्रा ८।६।३।१८।) इत्यादि रूप श्रौतवचन स्पष्ट ही 'मनु' का मननार्थ भी प्रमाणित कर रहा है। उक्थात्मक हृदयस्थ मन, अर्कात्मक महिममण्डलस्थ मनु, दोनों की इस अभिन्नता को लक्ष्य बना कर ही एक स्थान पर श्रुति ने कहा है कि – "जो मनीषी विद्वान इस प्रकार मनुष्यों के मनुष्यत्व से परिचय प्राप्त कर लेता है, वह मन की प्रतिष्ठा में हीं प्रतिष्ठित हो जाता है। —ऐसे मननशील मनस्वी मनीषी मानव का मनुतत्त्व कभी परित्याग नहीं करता। सदा इस पर मनुरूप से मन का विभूत्यात्मक अनुग्रह होता रहता है"। मननशक्ति के सम्बन्ध से ही आर्षछन्द मननात् 'मन्त्र' कहलाए हैं। इसी आधार पर आगमशास्त्र ने मननात्मक मन्त्र को 'मनु' नाम से व्यवहृत किया है ×।

(१३०) मनु और सर्वश्रेष्ठ मानव—

'परात्परब्रह्म' नामक शाश्वतब्रह्म से अभिन्न, मायाऽवसीमित, मनोमय, अतएव निष्काममायात्मक काममय, इन्द्र परात्परपुरुष ही अपने निर्भ्रान्त मननधर्म्म से 'स्वयम्भूमनु' है। पाञ्चभौतिक महाविश्व का प्रादुर्भाव मनुमूर्त्ति इसी स्वयम्भूमनु से हुआ है। अतएव इस व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर सम्पूर्ण विश्व को, विश्वगर्भित चर–अचर–प्राणिमात्र को इस स्वयम्भूमनु को 'अपत्य' रूपा सन्तान होने से 'मनोरपत्यं मानवः' निर्वचन के आधार पर 'मानव' कहा जा सकता है, एवं इसी कथन को 'मानव' शब्द का तात्त्विक सामान्य इतिहास माना जा सकता है। इस सामान्य इतिहास की उपेक्षा कर अमुक विशेष प्रजा के लिए ही 'मानव' शब्द क्यों कैसे समन्वित हो गया ?, प्रश्न का तात्त्विक समाधान करने के लिए सामवेदीय गोपथब्राह्मण की अवतारणा हुई है, जिसके रहस्यार्थ के आधार पर ही सामोपनिषत् (छान्दोग्योपनिषत्) की सुप्रसिद्ध–'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादिलक्षणा पञ्चाग्निविद्या प्रतिष्ठित हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, चर–अचर–पदार्थमात्र आदिमनु स्वयम्भू (आत्ममन) की कामना से अनुप्राणित रहते हुए 'मनोरपत्यम्' भाव से समन्वित होते हुए 'मानव' अभिधा से व्यवहृत होने चाहिए थे। किन्तु आत्ममनोलक्षण मनु की आत्मरूपेण पूर्णाभिव्यक्ति क्योंकि अग्न्याहुति के पञ्चमस्थान–

— "य एव मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद, मनस्येव भवति। नैनं मनुर्जहाति"।
—तै० ब्रा० २।३।८।२।
—मननशक्तिर्मनुरिति तत्र भाष्ये सर्वश्रीसायणाचार्य्यः—

× "जप्त्वैतन्नाम ये वा तव 'मनु' विमल भावयन्त्येतदम्ब !" (कर्पूरस्तोत्र)।

स्थानीय 'पुरुष' नामक प्राणी में ही होती है। अतएव सम्पूर्ण चर–अचर प्रजावर्ग में केवल यह 'पुरुष' ही 'मानव' अभिधा का लक्ष्य बनता है।

मनुरूप आत्मा की अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति रूप से स्वयम्भूमनु का विश्वसर्ग 'पुरुषसर्ग–प्रकृतिसर्ग' इन दो मार्गों में विभक्त हो जाता है। इन्हीं को क्रमशः 'आत्मसर्ग–अनात्मसर्ग' भी कहा जा सकता है। पुरुषप्राणी आत्मसर्ग है, यहीं आत्मा स्वमनुरूप से अभिव्यक्त है। अतएव यही मननशाला मानवाभिधा से समन्वित है। पुरुषातिरिक्त सम्पूर्ण चर–अचरसर्ग (जिसमें देवता–असुर–गन्धर्व–पशु–पक्षी–कृमि–कीट ध्यादि आदि यथयावत् सर्ग संगृहीत हैं) प्राकृतसर्ग है, किंवा आत्मानभिव्यक्तिरूप अनात्मसर्ग है। अतएव इन्हें मनु के अपत्य होते हुए भी 'मानव' नहीं कहा जाता। मनुसम्बन्धित प्राकृत मन्वन्तरानुप्राणित कालचक्र से सञ्चालित मानवेतर चर–अचर प्रजा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दिग्–देश–कालानुप्राणित सम्पूर्ण चर–अचर प्रजा प्रकृतितन्त्र से सञ्चालित रहती हुई परतन्त्र है। उधर 'मानव' अभिधा से समन्वित पुरुष अपने सहज आत्ममनु स्वरूप से अभिव्यक्त रहता हुआ दिग्देशकालसीमा से से अतिक्रान्त बनता हुआ परिपूर्ण है, शाश्वत है, अमृतपुत्र है 'ऋतस्य प्रथमजा' है। यही मानव की वह सर्वश्रेष्ठता है, जिसका हमने पुराणपुरुष के–'न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्' इत्यादि शब्दों में यत्रतत्र सर्वत्र उद्घोष किया है।

यथाकथित स्वयम्भू मनु से होने वाले पञ्चाग्निविद्यामूलक 'अप्सृष्टि' प्रसङ्ग को अनुपद के लिए छोड़ते हुए हम मनु के विशेषभावों से, विशेष इतिहासों से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिज्ञात 'अग्नि–प्रजापति इन्द्र–प्राण–शाश्वतब्रह्म' इत्यादि विशेष नामों के तात्त्विकस्वरूप की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

(१३१)–अग्निमूर्त्तिमनु (एतमेके वदन्त्यग्निम्)—

यह आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि, जिस मायातीत परात्परब्रह्म का मायामय मनोमय परात्पर पुरुषब्रह्म प्रथमावतार है, वह मायातीत परात्पर सर्वबलविशिष्टरसैकघन बनता हुआ रसबलोभयमूर्त्ति है, रसबलात्मक है। फलतः तत्प्रथमावतारस्थानीय मनोमय महामायी परात्परपुरुष की भी रसबलयता सिद्ध हो जाती है। रस 'स्थिति' तत्त्व है, बल 'गति' तत्त्व है, जिन इन रसबलनिबन्धन स्थिति–गतिभावों का आगे के परिच्छेदों तथा प्रकरणों में विभिन्नरूप से, अनेकधा विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय किया जाने वाला है। स्थितिभावापन्न असङ्ग रस 'अनेजत्' (अकम्पनरूप), गतिभावापन्न ससङ्ग बल 'एजत्' (कम्पनरूप) है। अनेजल्लक्षण रसात्मक स्थितिभाव ही 'महाभूतादि बृसौजा' के अनुसार 'आकाश' है, यही संकेतपरिभाषानुसार 'ज्'* है। एजल्लक्षण बलात्मक गतिभाव ही 'वायु' (प्राणवायु–सुसूक्ष्म अवामच्छद वायुतत्त्व) है, यही संकेत परिभाषानुसार 'यत्' कहलाया है। मायासीमित पुर से सम्बन्ध रखने वाले हृदयभाव (केन्द्रभाव) के कारण रसबलात्मक पुरुष के रस तथा बल, दोनों असङ्ग–ससङ्गतत्त्व इस प्रकार (सृष्ट्यनुमुख दशा में) 'ज्' रूप आकाश,

---

* 'जूराकाशे–सरस्वत्यां–पिशाच्यां–यवने–स्त्रियाम्' इत्यादि कोशवचनानुसार 'जू' शब्द सरस्वती, पिशाची, यवन, स्त्री, इत्यादि भावों का संग्राहक माना गया है।

तथा 'यत्' रूप वायु भाव में परिणत हो जाते हैं। अतएव इस मनोमय हृदय पुरुष को सृष्ट्युन्मुख दशा में हम अवश्य ही 'यत्-जू-आत्मक' कह सकते हैं, जिसका तात्पर्य है 'आकाशवाय्वात्मक', एवं जिसका फलितार्थ है—'स्थितिगतिविभावात्मक, अतएव उभयात्मक मन'। स्थितिभावरूप आकाश 'जू' है, गतिभावरूप वायु 'यत्' है। 'यत्-जू' इन दोनों गति-स्थितिभावों की समष्टि ही 'यजू' है। यही 'यजू' तत्व परोक्षभाषा में 'यजु' कहलाया है। यही तत्वात्मक नित्य अपौरुषेय 'यजुर्वेद' है, जो ऋक्सामरूप वयोनाध लक्षण छन्दोवेद से नित्य छन्दित रहता है+। मनःप्राणवाङ्मय हृदय परात्परपुरुषात्मा इस प्रकार ऋक्सामयजु रूप से वेदमूर्त्ति बन कर ही सृष्टिसर्ग का उपक्रम बना करता है। इन तीनों तत्वात्मक अपौरुषेय नित्य वेदों में से *स्थितिगतिभावात्मक आकाशवायुरूप यजुर्लक्षण यजुर्वेद हृदय पुरुषात्मा के काममय मनस्तन्त्र से समतुलित* है। विष्कम्भात्मक वयोनाधरूप ऋग्वेद आवरणात्मक वाक्तन्त्र से समतुलित है, परिणाहात्मक वयोनाधरूप सामवेद विक्षेपात्मक प्राणतन्त्र से समतुलित है। विष्कम्भ (व्यास-डायमिटर Diameter) लक्षण मूर्त्ति को छन्दोरूप ऋग्वेद माना गया है, परिणाहात्मक मण्डल को छन्दोरूप सामवेद माना गया है, एवं विष्कम्भ-परिणाहरूप दोनों ऋक्सामछन्दों से छन्दित आकाशात्मक स्थितितत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित वाय्वात्मक गतितत्त्व को यजुर्वेद माना गया है✲। तदित्थं मनः-प्राण-वाग्-रूप ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तिघन काममिक्षेप-आवरणभावत्रयीप्रवर्त्तक परात्परपुरुषात्मा क्रमशः यजुः-साम-ऋक्-वेदों से समतुलित हो रहा है। इसी आधार पर यजु को मन, ऋक् को वाक्, साम को प्राण कहा गया है, जैसाकि निम्नलिखित कतिपय प्रमाणों से प्रमाणित है—

(१)—अथ यन्मनः—यजुस्तत् (तै० उप० १।२४।१।)।

(२)—मनो यजुर्वेदः (शत० ब्रा० १४।४।३।१२।)।

(३)—वागेवर्चश्च (प्राणश्च) सामानि च। मन एव यजूंषि (शत० ४।६।७।५।)।

यजुःसामऋक्मूर्त्तिर्म्मनःप्राणवाङ्मयप्रजापतिपरिलेख—

१—ज्ञानशक्तिघनं——मनः——काममयम्——स्थितिगतिभावात्मकेन यजुषा समतुलितम्।

२—क्रियाशक्तिघनः—प्राणः——विक्षेपमयः——परिणाहात्मकेन साम्नेन समतुलितः।

३—अर्थशक्तिघना——वाक्——आवरणमयी——विष्कम्भात्मिकया ऋचा समतुलिता।

——✲✲✲✲——

+ "तदुभे ऋक्सामे यजुरपीतः" (शत० १।१।१।६।)

✲ ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
——तै० ब्रा० ३।१२।९।१

(१३२) सर्वमिदं वयुनम्—

तात्पर्य्य यही है कि, आत्ममन से समतुलित हृय–स्थितिगतिभावतत्त्व 'यजु' है, यजुम्मूर्ति मनोमय इस स्वयम्भू पुरुषात्मा के आत्मप्राण से समतुलित विष्कम्भभाव 'ऋक्' है, एवं आत्मवाक् से समतुलित मण्डलभाव, किंवा मण्डलात्मिका परिधि 'साम' है। स्वयं यजु 'वय' (वस्तुतत्त्व–सत्तासिद्ध तत्त्व) है, छन्दोमय ऋक्साम 'वयोनाध' (वस्तुतत्त्व को सीमित रखने वाला मायाबलमे समतुलित मातिसिद्ध तत्त्व) है। वय, तथा वयोनाध की समष्टिरूपा वेदत्रयी के लिए ही पारिभाषिक 'वयुन' शब्द विहित हुआ है, जिसके लिए 'सर्वमिदं वयुनम्' सिद्धान्त स्थापित है। इस प्रकार वय–वयोनाध भेद से परिणाह (मण्डल)–विष्कम्भ (मण्डलव्यास)–हृदय (केन्द्र) रूप से स्वायम्भुवी मनुसंस्था के मन-प्राणवाग्भावों के साथ यजु–साम–ऋक् नामक तीनों तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेदों का समसमन्वय हो रहा है। तीनों में ऋक्साम से छन्दित स्थितिगतिरूप आकाशवाय्वात्मक यज्जुर्मूर्ति यजु ही मनोलक्षण मनु से समतुलित रहता हुआ प्रस्तुत मनुप्रकरण का मुख्य लक्ष्य माना जायगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

* अय वाव यजु–योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेद सर्वं जनयति। एत यन्तमिदमनुप्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजु। अयमेवाकाशो 'जूः', यदिदमन्तरिक्षम्। एत ह्याकाशमनुजवते (जवते तस्मात्–जूरेवाकाश)। तदेतत्–यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च,–यच्च जूश्च। तस्मात् 'यजु'। तदेतद्यजु–ऋक्–सामयोः प्रतिष्ठित, ऋक्सामे वहत।

——शतपथ ब्रा० १०।३।५। १, २,।

यजुम्मूर्ति पुरुषमन का 'जूः' रूप स्थितिगतिमायात्मक आकाश ही स्वायम्भुवी वह 'सत्यावाक्' है, जिसे आर्षविज्ञानिकों ने 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' इत्यादि रूप से 'अनादिनिधना' नाम से व्यवहृत किया है। यही तत्त्वात्मिका वह नित्या वेदवाक् है, जिसके स्वरूपविश्लेषण–स्वरूपव्याख्यान के लिए ही शब्दात्मक अपौरुषेय वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है –। 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' (शत० १।१।३।२) इत्यादि वचनानुसार इस स्वायम्भुवी प्राजापत्या वेदवाक्

*–इस ब्राह्मण श्रुति का रहस्यार्थ पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। देखिए पृ० सं० २५४।

– वेदशास्त्र में 'वेद' तत्त्व की वैज्ञानिक परिभाषा अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। वैज्ञानिक तत्त्ववाद की परम्परा के विलुप्तप्राय हो जाने से वेद का तात्त्विक स्वरूप आज सर्वात्मना विस्मृत हो गया है। "वेदशास्त्र वेदतत्त्व के निरूपक ग्रन्थ हैं" यह सिद्धान्त नितान्त रहस्यपूर्ण है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' नामक खण्डत्रयात्मक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपनिबद्ध हुआ है। इन तीनों खण्डों में से ५०० पाँचसौ पृष्ठात्मक वेदब्रह्मस्वरूपमीमांसात्मक प्रथमखण्ड प्रकाशित हो गया है। शेष दोनों खण्ड प्रकाशन–सापेक्ष है। वेद के रहस्यपूर्ण तात्त्विक स्वरूप की विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को खण्डत्रयी का ही अवलोकन करना चाहिए।

के 'अमृतावाक्-मर्त्यावाक्' (रसप्रधाना वाक्-बलप्रधाना वाक्) भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं, जो दोनों विवर्त्त क्रमशः 'सरस्वतीवाक्-आम्भृणीवाक्-' नामों से प्रसिद्ध हैं । ये ही दोनों वाग्विवर्त्त क्रमशः शब्दसृष्टि-अर्थसृष्टि के उपक्रम बनते हैं । अमृता सरस्वतीवाक् — शब्दब्रह्म की अधिष्ठात्री बनती है, मर्त्या आम्भृणी-वाक् अर्थब्रह्म की मूलप्रतिष्ठा बनती है । दोनों वाग्धारा समतुलित हैं, सदैव आविर्भूत हैं। इसी आधार पर शब्दार्थ का औत्पत्तिक नित्य सम्बन्ध माना गया है, जैसा कि- 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इत्यादि पूर्वमीमांसा सूत्र से स्पष्ट है । इसी अभिन्नता के आधार पर सर्वमयी × इस वागदेवी के शब्दार्थविवर्त्तों की अभिन्नता घोषित हुई है ● ।

(१३३)—वाग्देवी के दो विवर्त्त—

रसप्रधाना, अतएव 'सरसवती' रूपेण 'सरस्वती' नाम से प्रसिद्धा अमृतावाक् ही 'अमृताकाश' है, यही अनादिनिधना अमृता नित्या स्वायम्भुवी वाक् है, जो सृष्टि का अधिष्ठान (आधार) बना करती है । बलप्रधाना आम्भृणी वाक् ही मर्त्यावाक् है, जिसे 'मर्त्याकाश' माना जायगा । यही मर्त्याकाश भूतभौतिक सृष्टि का आरम्भण (उपादान) बनता है, जिसका-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः,' (तै उप २१) इत्यादि श्रुति में उल्लेख हुआ है । श्रुति का 'आत्मन' पद जहाँ अमृताकाशलक्षण सरस्वतीवाक् का संग्राहक है, वहाँ 'आकाशः सम्भूतः' वाला 'आकाश' शब्द मर्त्याकाश लक्षणा आम्भृणीवाक् का संग्राहक बना हुआ है। दूसरे शब्दों में जिसे श्रुति ने 'आत्मा' कहा है, वह अमृताकाशलक्षणा अमृतावाक् है, जिसका वास्तविक स्वरूपव्याख्यान है-'मनःप्राणगर्भिता वाक्' । एवं आत्मा से जिस आकाश की उत्पत्ति बतलाई गई है, वह मर्त्याकाशलक्षणा मर्त्यावाक् है ।

(१३४)—वाग्देवी, और वेदाग्नि—

'भूताग्नि-चित्याग्नि-वैश्वानराग्नि-यज्ञाग्नि-वेदाग्नि-चितेनिधेयाग्नि' इत्यादिरूप से अग्नितत्त्व के अनेक संस्थाविभाग माने गए हैं । इन सम्पूर्ण सर्वविध अग्निविवर्त्तों का मूलाधार 'वेदाग्नि' ही माना गया है । अमृताकाशात्मिका अमृतावाक् (यजुर्वाक्) के आधार पर प्रतिष्ठित 'मर्त्याकाशात्मिका मर्त्यावाक् (अथर्ववाक्) वह वेदाग्निविवर्त्त है, जिसे उपादान बना कर मनोमय यजुर्मूर्त्ति स्वयम्भू मनु भूतसर्गप्रवृत्ति

— सिद्धान्तमौपनिषद शुद्धान्त परमेष्ठिन ।
शोणाधरमह किञ्चित्-वीणाधरमुपास्महे ॥

× वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्या ।
वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता सा नो हव जुषतामिन्द्रपत्नी ।
—अथो वागेवदं सर्वम् ।

● द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म पर च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः पर ब्रह्माधिगच्छति ॥

मे समर्थ बना करते हैं। मनुर्म्मयी यजुर्वाक् ही तल्लक्षण मूलाग्नि का मौलिक इतिहास है। किंवा सृष्टिप्रक्रिया में संघर्षप्रक्रिया के द्वारा आत्मसमर्पण करने वाला भाव ही 'अग्नि' शब्द का तात्विक इतिहास है। अथवा तो सृष्टिकर्म में सर्वप्रथम अग्रगामी बनने वाला अग्रभाव ही वह 'अग्नि' तत्त्व है, जिस अग्निभाव को परोक्षप्रियदेवता (विद्वान्) अपनी परोक्षभाषा में 'अग्नि' नाम से व्यवहृत करते हैं — । यही अग्रमूर्त्ति वेदाग्नि 'वागग्नि' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके स्वरूपबोध के लिए आध्यात्मिक वागिन्द्रियों को उदाहरण माना जा सकता है। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐत० उप०२।४) के अनुसार अग्नि ही वागिन्द्रियरूप में परिणत होता है। शारीरिक वैश्वानराग्नि ही (जिसे कि-'कायाग्नि' भी कहा जाता है) मनःप्रेरणा से वायु के द्वारा आघातमावापन्न बन कर क–च–ट–त–पादिलक्षणा वागिन्द्रियानुप्राणिता वैखरीवाक्रूप में परिणत होती है, जैसा कि शिक्षा–सिद्धान्तों × में विस्तार से प्रतिपादित है। अध्यात्म में जैसे अग्नि वाक् का मूल है, अधिदैवत में 'वाक्' अग्नितत्त्व की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। वीचीतरङ्गन्यायेन वाक्समुद्र ही 'संयोगविभागशब्देभ्य शब्दोत्पत्ति' (वै० सूत्र) इत्यादि काणादसिद्धान्तानुसार 'वायु स्वात-शब्दस्तत्' (प्रातिशाख्यसूत्र) के माध्यम से मर्त्या वैखरीवाक्रूपा शब्दसृष्टि का आरम्भण बना करता है। सर्वाध्यात्मूला वह अमृतिया नित्या वाक् ही मनामयी मनुर्म्मयी मत्वर्वाक् है, जिसका प्रथम सर्ग 'सुब्रह्म' नामक आपोमय अथर्वब्रह्म माना गया है, जिसका कि-'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत' (शत० ६।१।१।९।) इत्यादि श्रुति से उपवर्णन हुआ है।

(१३५)—अग्निजिह्व मनु—(१)

निष्कर्षतः मनोमयी अमृतभावापन्ना नित्यावाक् ही यजुर्मयी स्वायम्भुवी वाक् है। यही वागग्नि है, जिसे महिमामण्डलमुक्त अर्करूप मनु के सम्बन्ध से 'मनुर्वाक्' कहा जा सकता है। मुखभूताग्नि की अपेक्षा से ही यजुर्मूर्त्ति मनोमय मनु को 'अग्नि' इस विशेष अभिधा से व्यवहृत किया जा सकता है। जिस प्रकार मुखविवर स्थिता जिह्वा अन्न के आदान के लिए सर्वप्रथम क्रियाशीला (अग्रगामिनी) बनती है, तथैव स्वयम्भूमनु का यह वागग्निभाग ही सृष्टिकर्म के लिए सर्वप्रथम प्रवृत्त होता है। इस अग्रप्रवृत्ति के कारण ही संघर्षप्रक्रिया-नुगत इस अग्रशील मनुराग्नि को 'अग्नि' कहा जाता है। इस अग्नितत्त्वरूप मानव को ही 'अग्रजन्मा' कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है प्रत्यक्षभाषा में 'अग्निजन्मा' (अग्निमुख)। जिह्वाग्रमनुलिप्त इस अग्रप्रवृत्ति

— स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत—तस्मादग्नि । अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम् ।
—शतपथ ब्रा० ६।१।१।११।

× आत्मा–बुद्ध्या–समेत्यर्थान्–मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
प्रातःसवनयोगं त छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥२॥
—पाणिनीयशिक्षा ३,४,

के 'अमृतावाक्-मर्त्यावाक्' (रसप्रधाना वाक्-बलप्रधाना वाक्) भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं, जो दोनों विवर्त्त क्रमश 'सरस्वतीवाक्-आम्भृणीवाक्-' नामों से प्रसिद्ध हैं । ये ही दोनों वाग्विवर्त्त क्रमश शब्दसृष्टि-अर्थसृष्टि के उपक्रम बनते हैं । अमृता सरस्वतीवाक् - शब्दब्रह्म की अधिष्ठात्री बनती है, मर्त्या आम्भृणी-वाक् अर्थब्रह्म की मूलप्रतिष्ठा बनती है । दोनों वाग्धारा समतुलित हैं, सदैव आविभू त हैं। इसी आधार पर शब्दार्थ का औत्पत्तिक नित्य सम्बन्ध माना गया है, जैसा कि- 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इत्यादि पूर्वमीमांसा सूत्र से स्पष्ट है । इसी अभिन्नता के आधार पर सर्वमयी × इस वाग्देवी के शब्दार्थविवर्तों की अभिन्नता घोषित हुई है * ।

(१३३)—वाग्देवी के दो विवर्त्त—

रसप्रधाना, अतएव 'सरसवती' रूपेण 'सरस्वती' नाम से प्रसिद्धा अमृतावाक् ही 'अमृताकाश' है, यही अनादिनिधना अमृता नित्या स्वायम्भुवी वाक् है, जो सृष्टि का अधिष्ठान (आधार) बना करती है । बलप्रधाना आम्भृणी वाक् ही मर्त्यावाक् है, जिसे 'मर्त्याकाश' माना जायगा । यही मर्त्याकाश भूतभौतिक सृष्टि का आरम्भण (उपादान) बनता है, जिसका-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः, आकाशाद्वायु,' (तै उप० २१) इत्यादि श्रुति में उल्लेख हुआ है । श्रुति का 'आत्मन' पद जहां अमृताकाशलक्षण सरस्वतीवाक् का संग्राहक है, वहाँ 'आकाश सम्भूत' वाला 'आकाश' शब्द मर्त्याकाश लक्षण आम्भृणीवाक् का संग्राहक बना हुआ है । दूसरे शब्दों में जिसे श्रुति ने 'आत्मा' कहा है, वह अमृताकाशलक्षणा अमृतावाक् है, जिसका वास्तविक स्वरूपव्याख्यान है-'मनःप्राणगर्भिता वाक्' । एवं आत्मा से जिस आकाश की उत्पत्ति बतलाई गई है, वह मर्त्याकाशलक्षणा मर्त्यावाक् है ।

(१३४)—वाग्देवी, और वेदाग्नि—

'भूताग्नि-चित्याग्नि-वैश्वानराग्नि-यज्ञाग्नि-वेदाग्नि-चितेनिधेयाग्नि' इत्यादिरूप से अग्नितत्त्व के अनेक संस्थाविभाग माने गए हैं । इन सम्पूर्ण सर्वविध अग्निविवर्तों का मूलाधार 'वेदाग्नि' ही माना गया है । अमृताकाशात्मिका अमृतावाक् (यजुर्वाक्) के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्याकाशात्मिका मर्त्यावाक् (अथर्ववाक्) यह वेदाग्निविवर्त्त है, जिसे उपादान बना कर मनोमय यजुर्मूर्त्ति स्वयम्भू मनु भूतसर्गप्रवृत्ति

— सिद्धान्तमौपनिषदं शुद्धान्तं परमेष्ठिन ।
शोणाधरमहः किञ्चित्-वीणाधरमुपास्महे ॥

× वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाच गन्धर्वाः पशवो मनुष्या ।
वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ।
—अथो वागेवेदं सर्वम् ।

* द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

त्मात्मक सूर्यमाध्यम से) प्रजासर्ग के उपक्रम बनते हुए स्वयम्भू मनु ही प्रजासन्तानवितान के मूलकारण प्रमाणित होते हुए अपनी 'प्रजापति' अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं। इसी आधार पर-'प्रजापतिर्वै मनुः। स हीदं सर्वममनुत' (शत० ६।६।१।१९) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं। अग्निरहस्यप्रतिपादक चयन ब्राह्मण में इस मानवीय प्राजापत्यसृष्टिविज्ञान का विस्तार से निरूपण हुआ है, जिसे तज्जिज्ञासु पाठकों को तद्विज्ञानभाष्य में ही देखना चाहिए। 'मनुमन्ये प्रजापतिम्' का तात्पर्य है 'याज्ञिका—यज्ञरहस्यविदो विद्वांसो वा मनुं प्रजापतिशब्देन निरूपयन्ति'। यही इस मनु की 'प्रजापति' अभिधा का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

(१३७)–इन्द्रमूर्ति मनु (इन्द्रमेके)–(३)—

कितने एक वैज्ञानिक मनु को 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं। संक्षेप से इस 'इन्द्र' अभिधा के भी तात्त्विक इतिहास को लक्ष्य बना लीजिए। अपने सहज हृद्यभाव के कारण मनोमय मनु को 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत करना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है, जिस अन्वर्थता के स्वरूपपरिचय के लिए 'इन्द्र' शब्द का इतिहास जान लेना आवश्यक होगा। आर्षसाहित्य (वेदसाहित्य) में इन्द्रतत्त्व अग्नि–वाय्वादि अन्यान्य तत्त्वों की अपेक्षा अपना स्थान विशेषरूप से ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ रख रहा है+। इन्द्रदेव की सर्वज्येष्ठता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रधान हेतु है इन्द्र का सहज 'बलभाव'। 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्', इत्यादि निघण्टु (निघण्टु–निरुक्त) सिद्धान्तानुसार (यास्कनिरुक्त दैवतकाण्ड ७।१०।२) —

(१३८) ओजसां पतिरिन्द्र —

बलात्मक यच्चावत् व्यापारों—कर्मों—के (क्रियामात्र के) सञ्चालक–प्रवर्त्तक–तत्त्व 'इन्द्र' ही माने गए हैं। सम्पूर्ण विश्व रसात्मक बलमूर्ति–मनोमय परात्परपुरुष की कामना से ही आविर्भूत है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। पुरुष का रसभाग स्थितिलक्षण है, अनन्त है, अविकम्पित है। बलभाग गतिलक्षण है, एकल् है, विकम्पित है, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है। असङ्ग रसतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित (निरपेक्ष स्थितितत्त्वाधारेण प्रतिष्ठित) ससङ्ग बलतत्त्वों की चिति (सञ्चिति–चयन–ग्रन्थिबन्धनसम्बन्धात्मक अन्तर्यामसम्बन्ध) से ही विश्व का स्वरूपनिर्माण हुआ है, यह भी उक्तप्राय है। अतएव यह कहा और माना जा सकता है कि, सम्पूर्ण विश्व में प्राधान्य गतिभावापन्न 'बलतत्त्व' का ही है। इस बलात्मिका गति का, किंवा गत्यात्मक बल का ही नाम 'इन्द्र' है, जिसका मायापुर में हृदयरूप से विकास माना गया है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो गत्यात्मक इन्द्र ही इस मायापुर के स्वरूपनिर्माणात्मक व्यक्तीभाव (अभिव्यक्ति) का कारण बनता है। इसी आधार पर "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋक्सं० ६।४७।१८) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रत्येक वस्तु का मायाकार ही उस वस्तु की सीमा माना गया है। यह सीमाभाव ही रेखात्मक पुर है, जिसके केन्द्र में पुरुष प्रतिष्ठित रहता है–'प्रजापतिश्चरति गर्भे' (यजुःसं ३१।१९)।

\+ इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानाम् (तै० ब्रा० २।३।१।२।)

'इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो, बलिष्ठः, सहिष्ठः, सत्तमः' पारयिष्णुतमः' (ऐत०ब्रा० ७।१६)

के आधार पर ही मनु के लिए 'अग्निजिह्वा मनवः' (ऋक्सं० १।८९।७।) यह कहा गया है*। यद्यपि मनु के 'एतमेके वदन्त्यग्निम्' इस अग्निप्रधान वचन का यही तात्त्विक संक्षिप्त इतिहास है, जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि —यजुर्भावरूप मौलिक उस वेदाग्नि (यागग्नि) के सम्बन्ध से ही मनोमय आत्ममनु को 'अग्नि' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है, जो यागग्नि अपूर्व के द्वारा सम्पूर्ण भूतसर्ग का मूलाधार बना करता है।

(१३६)—प्रजापतिमूर्त्ति मनु (मनुमन्ये प्रजापतिम्) (२)—

यजुर्मूर्त्ति, किंवा त्रयीमूर्त्ति आत्ममनोमय इसी हृद्य मनु की कामना से यागग्नि के द्वारा सर्वप्रथम जिस अपतत्त्व का प्रादुर्भाव होता है+, वही 'सृष्टिशुक्र' कहलाया है। इसी शुक्राहुति से प्रजासन्तानवितान हुआ करता है, जैसाकि—'यज्ञाद्वै प्रजा प्रजायन्ते' (शत० ४।४।२।८।)—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" (गीता ३।१०) इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचनों से प्रमाणित है। भृग्वङ्गिरोलक्षण आपोमय × श्रद्धामय-रूप शुक्र की स्थितिगतिरूप द्विमात्रलक्षण यागग्नि में आहुति होना ही 'अग्नौ सोमाहुति'लक्षण यज्ञ है। यही सर्वप्रथम दशकल विराट्पुरुषोत्पत्ति का कारण बनता है। + इस प्रकार यज्ञ द्वारा विराट्माध्यम से (हिरण्य-

---

* पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभं यावानो विदथेषु जग्मयः ।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥
—ऋक्सं० १।८९।७।

— अप एव ससर्जादौ' (मनुस्मृति १।८।)

×[१]—आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ।
—गोपथब्रा०

[२]—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्—तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।

[३]—स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
—देखिए—ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड

+[१]—सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

[२]—द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ (मनु १।३२।)।

[३]—अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश । (मनु १।३४)।

गर्भात्मक सूर्य्यमाध्यम से) प्रजासर्ग के उपक्रम करते हुए स्वयम्भू मनु ही प्रजासन्तानवितान के मूलकारण प्रमाणित होते हुए अपनी 'प्रजापति' अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं। इसी आधार पर–'प्रजापतिर्वै मनुः। स हीदं सर्वममनुत' (शत० ६।६।१।१९) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं। अग्निरहस्यप्रतिपादक चयन ब्राह्मण में इस मानवीय प्राजापत्यसृष्टिविज्ञान का विस्तार से निरूपण हुआ है, जिसे तद्विज्ञासु पाठकों को तद्विज्ञानभाष्य में ही देखना चाहिए। 'मनुमन्ये प्रजापतिम्' का तात्पर्य्य है 'याज्ञिका:–यज्ञरहस्यविदो विद्वांसो वा मनुं प्रजापतिशब्देन निरूपयन्ति'। यही इस मनु की 'प्रजापति' अभिधा का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

(१३७)–इन्द्रमूर्ति मनु (इन्द्रमेके)–(३)—

कितने एक वैज्ञानिक मनु को 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं। संक्षेप से इस 'इन्द्र' अभिधा के भी तात्विक इतिहास को लक्ष्य बना लीजिए। अपने सहज दृग्भाव के कारण मनोमय मनु को 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत करना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है, जिस अन्वर्थता के स्वरूपपरिचय के लिए 'इन्द्र' शब्द का इतिहास जान लेना आवश्यक होगा। आर्षसाहित्य (वेदसाहित्य) में इन्द्रतत्त्व अग्नि–वाय्वादि अन्यान्य तत्त्वों की अपेक्षा अपना स्थान विशेषरूप से ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ रख रहा है +। इन्द्रदेव की सर्वश्रेष्ठता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रधान हेतु है इन्द्र का सहज 'बलभाव'। 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव सत्', इत्यादि निर्ग्रन्थ (निघण्टु–निरुक्त) सिद्धान्तानुसार (यास्कनिरुक्त दैवतकाण्ड ७।१०।२) —

(१३८) ओजसा पतिरिन्द्र —

बलात्मक यच्चावन्मात्र व्यापारों–कर्म्मों–के (क्रियामात्र के) सञ्चालक–प्रवर्त्तक–तत्त्व 'इन्द्र' ही माने गए हैं। सम्पूर्ण विश्व रसात्मक बलमूर्त्ति–मनोमय परात्परपुरुष की कामना से ही आविर्भूत है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। पुरुष का रसभाग स्थितिलक्षण है, अनेजत् है, अविकम्पित है। बलभाग गतिलक्षण है, एजत् है, विकम्पित है, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है। असङ्ग रसतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित (निरपेक्ष स्थितितत्त्वाधारेण प्रतिष्ठित) ससङ्ग बलतत्त्वों की चिति (सञ्चिति–चयन–ग्रन्थिबन्धनसम्बन्धात्मक अन्तर्य्यामसम्बन्ध) से ही विश्व का स्वरूपनिर्माण हुआ है, यह भी उक्तप्राय है। अतएव यह कहा जा सकता है कि, सम्पूर्ण विश्व में प्राधान्य गतिभावापन्न 'बलतत्त्व' का ही है। इस बलात्मिका गति का, किंवा गत्यात्मक बल का ही नाम 'इन्द्र' है, जिसका मायापुर में दृग्रूप से विकास माना गया है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो गत्यात्मक इन्द्र ही इस मायापुर के स्वरूपनिर्म्माणात्मक व्यक्तीभाव (अभिव्यक्ति) का कारण बनता है। इसी आधार पर ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋक्सं० ६।४७।१८।) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रत्येक वस्तु का बाह्याकार ही उस वस्तु की सीमा माना गया है। यह सीमाभाव ही बलात्मक पुर है, जिसके केन्द्रमें पुरुष प्रतिष्ठित रहता है–'प्रजापतिश्चरति गर्भे' (यजु सं ३१।१९।)।

+ इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानाम् (ते० ब्रा० २।३।१।३।)
'इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो, बलिष्ठ, सहिष्ठ, सत्तमः' पारयिष्णुतम ' (ऐत०ब्रा० ७।१६)

यह भास्कररूपा सीमा ही मायापुर है, यही वस्तु का स्वरूपात्मक 'रूप' है, जिसका अधिष्ठाता हृदय इन्द्र ही माना गया है जैसा कि 'इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्'—'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि मन्त्रश्रुतियों से प्रमाणित है। रूपाधिष्ठाता गतिलक्षण इसी बलात्मक इन्द्र को लक्ष्य बना कर इन्द्रतत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकोंने इन्द्र को 'बलपति' (तै० ब्रा० २।५।७।४।)—'वीर्य्यवान्' (ताण्ड्यब्राह्मण ६।७।५।८)—'ओजसांपति' (तै० ब्रा० ३।११।४।२।) इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है।

(१३९) इन्द्र के रुद्र, एवं शिव विवर्त—

पूर्वोपवर्णित बलात्मक (रसबलात्मक) पुरुष का गतिभावात्मक बलतत्त्व ही 'इन्द्र' है, यही वक्तव्य निष्कर्ष है। गतिलक्षण इस हृदय इन्द्रतत्त्व का ही आगे चलकर—'ह-द-य' रूप से त्रेधा विकास हुआ है। केन्द्र से परिधि की ओर उन्मुख रहने वाली गति 'पराग्गति' है, इसे ही लोकव्यवहार में 'गति' कहा गया है। परिधि की ओर उन्मुख रहने वाली गतिलक्षणा इस गति से हृदयस्थ 'वय' (वस्तुमात्रा) का विनिर्गमन होता रहता है। अतएव इस गतिलक्षणा गति को 'विसर्ग' नाम से भी व्यवहृत किया गया है जिसकी एक लोकाभिधा—'प्रदान' भी मानी गई है। वस्तुमात्र का स्वरूप इस प्रदानात्मक विसर्ग से विस्रस्त होता रहता है, खण्डित होता रहता है, अतएव विसर्गात्मिका इस विस्रंसनरूपा गति को संकेतभाषा में 'द' कार अक्षर व्यवहृत किया जाता है। खण्डनार्थक 'दो' धातु ('दो'अवखण्डने) के दकार का ही 'हृदय' शब्द के मध्यस्थ 'दकार' से सम्बन्ध है। यही पहिला इन्द्रतत्त्व है, जो अपने विशुद्ध खण्डनभाव से अनुग्रहस्वरूप-विस्रंसनद्वारा वस्तुस्वरूप का उच्छेदक बनता हुआ संहाराधिष्ठाता 'रुद्र' नाम से उपवर्णित हुआ है, एवं जो रुद्रतत्त्व अग्नीषोमात्मक यज्ञ के सम्बन्ध से वस्तुस्वरूपसंरक्षक बनता हुआ 'शिव' नाम से प्रसिद्ध है•।

(१४०) विश्वम्भर विष्णु—

अब विसर्गरूपा उक्त गतिको सर्वथा परावर्तित कर दीजिए। परिधि से केन्द्रकी ओर उन्मुख रहने वाली गति 'अर्वाग्गति' कहलाई है, जिसे लोकव्यवहार में 'आगति' कहा गया है। हृदयकी ओर उन्मुख रहने वाली आगतिलक्षणा इस अर्वाग्गतिरूपा गति से ही परिधि से बहिःस्थित पदार्थमात्राओं (विषयमात्रा-भूतमात्राओं) का क्योंकि आगमन होता रहता है, अतएव आगतिरूपा इस गति को 'आदान' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। इस आदानलक्षण आहरणधर्म्म से (आगतिरूपा गति से) ही वस्तु की स्वरूपरक्षा सम्भव बनी रहती है। गतिरूपा गति से विस्रस्त मात्राओंको क्षतिपूर्ति इस आगति-रूपा गति से ही होती रहती है। स्ववस्तुस्वरूपसंरक्षण के लिए अन्य वस्तुमात्राओं का आहरण—अपहरण

• वैदिक मूलदेवतावाद जहां 'ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र—अग्नि सोम' इन पांच भागों में विभक्त है, वहां पौराणिक देवतावाद 'ब्रह्मा—विष्णु—शिव इन तीन भागों में विभक्त है। वेद ने इन्द्र—अग्नि—सोम—तीनों का पृथक्रूप से स्वरूपविश्लेषण किया है। पुराणमें तीनों की समष्टिरूप 'शिव' को लक्ष्य बनाते हुए त्रिदेवतावाद ही सामान्य मान लिया है। दोनों दृष्टियों में केवल निरूपणीया शैली में भेद है। तत्त्वतः दोनों ही पक्ष निर्विरोध सुसमन्वित हैं।

करना ही इस गतिका मुख्य काम है। अतएव संकेतभाषा में इसे हरणार्थक 'हृञ्' धातुके सम्बन्धसे 'हृ' अक्षर से सम्बोधित किया गया है। यही आगत्यात्मक गतितत्त्व 'विष्णु' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका आदानद्वारा वस्तुपालन, किंवा विश्वपालन ही मुख्य धर्म माना गया है। दूसरे शब्दोंमें अपनी स्वाभाविक आहरणशक्ति से बाह्यवस्तुमात्रा के आदानद्वारा वस्तुका स्वरूपसंरक्षण क्योंकि इसी विष्णुतत्त्वका स्वरूपधर्म है। अतएव यह विष्णुतत्त्व पुराणों में 'पालक' रूपेण उपस्तुतोपवर्णित है।

(१८१) विजित इन्द्र और विजेता विष्णु—

केन्द्रप्रतियोगिनी परिधि–अनुयोगिनी गतिलक्षणा (पराग्गतिलक्षणा–विसर्गरूपा–प्रदानमात्रात्मिका) 'ऐन्द्रगति' का, एवं परिधिप्रतियोगिनी केन्द्रानुयोगिनी आगतिलक्षणा (अर्वाग्गतिलक्षणा–आदानमात्रात्मिका) 'वैष्णवगति' का, दोनोंका 'प्रहिता संयोग–प्रयुता सयोग' रूपसे प्रतिरूपमात्रात्मक सघर्ष अनवरत प्रक्रान्त रहता है। मानव की बाल्यावस्था में विष्णुगति (आगति) प्रधान रहती है, इन्द्रगति गौण रहती है। अतएव आदान होता है अधिक मात्रामें, विसर्ग होता है न्यून मात्रामें। अतएव यह प्रथमावस्था क्रमशः पुष्टिभाव-प्रवर्त्तिका बनती जाती है। वृद्धावस्थामें स्थिति का सर्वथा विपर्य्यय हो जाता है। गतिरूपा इन्द्रगति इस अवस्था में प्रधान हो जाती है विष्णुगति गौण बन जाती है। अतएव विसर्ग होता है अधिक मात्रा में, एवं आदान होता है न्यूनमात्रा में। अतएव यह उत्तरावस्था क्रमशः ह्रासभावप्रवर्त्तिका बनती जाती है। इस प्रकार पूर्व–उत्तर अवस्थारूप बाल–वृद्धावस्थाओंमें क्रमशः इन्द्र–विष्णु–दोनों एक दूसरे से पराभूत होते रहते हैं, एवं विजेता बनते रहते हैं। बाल्यावस्थामें विष्णु विजेता हैं, इन्द्र पराजित हैं। वृद्धावस्था में इन्द्र विजेता हैं, विष्णु पराजित हैं, जिसका अवस्थापर्वानुपात से १ से ३३,६७ से ९९, ये विभाग माने जा सकते हैं। ३४ से ६६ पर्य्यन्त (यदि युक्ताहारविहारपरायण मानव स्वस्थ–शतायु है, तो) व्याप्त मध्यावस्था में इन्द्राविष्णू दोनों समतुलित रहते हैं। आदान, विसर्ग, दोनों समानभावापन्न बने रहते हैं। इसी आदानविसर्गसमतुलनरूप मध्यावस्था को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है—

> उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
> इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥
>
> —ऋक्सं० ६।६९।८।

"विश्व की अन्यान्य यच्चावत् शक्तियाँ आदानविसर्गरूपा विष्णु–इन्द्र–रूपा इन दोनों महाशक्तियों से यद्यपि प्रतिद्वन्द्विता में प्रवृत्त रहती हैं। तथापि वे सम्पूर्णशक्तियाँ इन दोनों की प्रतिस्पर्द्धा में अन्ततोगत्वा पराजित हो जाती हैं। ये दोनों किसी भी अन्य शक्ति से पराजित नहीं होते।। यही नहीं, अपितु (पूर्वोक्त मध्यमावस्था में ३४ से ६६ के मध्य में) इन दोनों में से भी कोई एक दूसरे से पराजित-नहीं होते। इस प्रकार परस्पर समानस्पर्द्धा रखने वाले इन्द्र और विष्णु अपनी इस स्पर्द्धा से जब 'अप्' तत्त्व (पारमेष्ठ्य भार्गवाङ्गिरोमय शुक्र) को लक्ष्य बनाते हैं, दूसरे शब्दों में अप्तत्त्व पर जब इस संघर्ष का आक्रमण होता है, तो वेद–लोक–वाक्–नाम की तीन साहस्रियों का प्रादुर्भाव होता है, (जिन साहस्रीत्रयी का विशद वैज्ञानिक विवेचन अन्यत्र द्रष्टव्य है)।"

(१४२)—सत्यस्य प्रतिष्ठा—

विरुद्धदिग्द्वयगति, किंवा विरुद्धसर्वदिग्गति (पराग्गतिरूपा गति, एवं अर्वाग्गतिरूपा आगति), दोनों के एकत्र समन्वय से जिस एक विलक्षण उभयात्मक गतिसमष्ट्यात्मक गतिभाव का उदय होता है वही गतिसमष्टि विज्ञानभाषा में 'स्थिति' नाम से व्यवहृत हुई है। पूर्व में हमनें अमृतावागरूप अमृताकाश के आधार पर मर्त्यावागरूप मर्त्याकाश (भूताकाश) का आविर्भाव बतलाया है। रसनिबन्धना शुद्धा निरपेक्षा 'स्थिति' ही 'अमृताकाश' है। एवं बलनिबन्धना सापेक्षा गतिसमष्टिरूपा वस्तुतः गतिलक्षणा स्थिति ही 'मर्त्याकाश' है। इन दोनों निरपेक्ष-सापेक्ष स्थितिभावों का विवेक करते हुए ही स्थिति-गतिभावों का समन्वय करना चाहिए। बलानुगता सापेक्षस्थिति वह स्थिति है, जिसका स्वरूप अनेक, न्यूनतम दो विरुद्धगतियों के एकत्र समन्वय से सम्पन्न हुआ करता है। रसभाव से सम्बन्ध रखने वाली स्थिति (अमृताकाशलक्षणा स्थिति) इस सापेक्ष स्थिति से सर्वथा पृथक् वस्तुतत्त्व है। रसात्मिका स्थिति जहाँ वास्तविक स्थिति है, निरपेक्षा स्थिति है, वहाँ बलात्मिका स्थिति गतिस्तम्भनमात्र है, सापेक्षस्थितिमात्र है, गतिसमुच्चयलक्षणा स्थितिमात्र है। गति-समष्टिलक्षणा इस सापेक्षस्थिति के आधार पर ही आदान-विसर्गलक्षण इन्द्र-विष्णुगतियों का सघर्ष नियमित मर्य्यादित बना रहता है। यह सापेक्षस्थिति ही दोनों गतियों की 'प्रतिष्ठा' बनती है। दोनों विरुद्धगतियों के नियमन करने के कारण ही इस सापेक्षस्थितिलक्षणा गति को संकेतभाषा में 'यम्' नाम से व्यवहृत किया जाता है। यही तीसरा 'प्रतिष्ठाब्रह्म'—है, जिसे—'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ५।१।२।५) इत्यादिरूप से 'ब्रह्मा' कहा गया है।

(१४३)—हृदि अयं हृ-द-यम्—

इस प्रकार गतिलक्षण इन्द्र, आगतिलक्षण विष्णु, नियमनलक्षण ब्रह्मा, तीनों अवस्थाभेदों से अनुप्राणित गति-आगति-स्थिति-इन तीन भावों का उदय एक ही गतितत्त्व के 'पराग्गति-अर्वाग्गति-गति समष्टि' इस रूप से हो रहा है। तीनों तत्त्व क्रमशः इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा हैं। तीनों की समष्टि ही अक्षरमूर्ति ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा एकमूर्त्ति है, जिसका—'एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः' इत्यादिरूप से यशोवर्णन हुआ है। अपने आहरणात्मक 'हृ' धर्म्म से आगतिरूप विष्णु 'हृ' है। अपने खण्डनात्मक 'द' धर्म्म से गतिरूप इन्द्र 'द' है। एवं अपने नियमनात्मक 'यम्' धर्म्म से समन्वयात्मक स्थितिरूप ब्रह्मा 'यम्' है। तीनों की समुच्चितावस्था ही 'हृदयम्' है, यही वह अन्तर्य्यामी अक्षरमूर्त्ति प्रजापति है जिसे 'हृदि अयं हृदयम्' रूप से हृदय में प्रतिष्ठित माना गया है। 'हृदय में हृदय प्रतिष्ठित है' इसका तात्पर्य्य यही है कि केन्द्र में 'हृ-द-यम्' रूपा शक्तित्रयी प्रतिष्ठित है।

(१४४)—मन का इन्द्रत्व—

हृदयस्थ हृदय मन गतिलक्षण इन्द्र की 'हृ-द-यम्' रूप तीनों शक्तियों से अभिन्न है। अतएव हृदयस्थ मन को अवश्य ही ऐन्द्र कहा जा सकता है। जिस प्रकार मन हृदय में (केन्द्र में) प्रतिष्ठित है एवमेव शक्तित्रयलक्षण गतित्रयात्मक इन्द्र भी हृ-द-यम्-रूप से इसी हृदय में प्रतिष्ठित है। इसी अभिप्राय के कारण मन को इन्द्र, तथा इन्द्र को मन कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है, जैसाकि—'हृदयमेवेन्द्र' (शत० १२।९।१।१५।)—'यन्मनः-स इन्द्रः' (गो० ब्रा० उ० ४।११।)—'मन एवेन्द्रः' (शत०

१२।६।१।१३।)—इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। मन की मननशक्ति ही तो मनु है। जबकि मनस्तत्त्व 'इ–द–यम्' मूर्त्ति इन्द्रतत्त्व से अभिन्न है, तो मनोरूप मनु को भी इन्द्रतत्त्व से अभिन्न ही माना जायगा। इसी दृष्टिकोण के माध्यम से हम मनुस्तत्त्व को 'इन्द्र' अभिधा से भी व्यवहृत कर सकते हैं।

(१४५)–'शुन' इन्द्र की व्यापकता—

दूसरी दृष्टि से–'इन्द्रमेके' का समन्वय कीजिए। पूर्व में यह स्पष्ट किया गया है कि, मनोमहिमालक्षण मनुस्तत्त्व यजुमूर्त्तिभाव से वागग्निमाध्यम से 'अग्निचित्' बनता हुआ 'अग्नि' नाम से भी व्यवहृत हो रहा है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, यजुः का भूभाग आकाशात्मिका 'वाक्' है, यत्भाग वाय्वात्मक 'प्राण' है। वाङ्मय यह आकाशतत्त्व रस–बलानुबन्ध से अमृत–मर्त्य–भेदेन दो भागों में विभक्त है। इन दोनों वागाकाशों में अमृताकाश (रसानुगता 'सरस्वती' नाम की अमृतावाक्) ही 'इन्द्र' है, एवं मर्त्याकाश (बलानुगता 'आम्भृणी' नाम की मर्त्यावाक्) ही 'इन्द्रपत्नी' है। अमृताकाशलक्षण अमृतवाङ्मूर्त्ति इन्द्र ही पारिभाषिक 'शुन' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है। इस 'शुन' रूप वागिन्द्र की परिपूर्णता से ही आकाश 'शुने–इन्द्राय–हितम्' निर्वचनानुसार 'शून्य' कहलाया है, जिस शून्य शब्द का तत्त्वार्थ है शुननामक इन्द्र तत्त्व से परिपूर्ण प्रदेश। 'शून्य' शब्द का रिक्तार्थ (खाली स्थान) करना तत्त्वविरुद्ध ही माना जायगा। विज्ञानजगत् में रिक्तता का अभाव है। 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' (ऋक्सं० ६।६९।६) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है कि ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ 'इन्द्र' तत्त्व व्याप्त न हो। यह इन्द्र तत्त्व वही 'शुन' नामक इन्द्रतत्त्व है, जो अपनी गति तथा श्वोवसीयस् नामक द्रुत अन्वयगमन की उत्तरोत्तरानुप्राणिता वृद्धि से समन्वित रहने के कारण ही 'शुन' नाम से व्यवहृत हुआ है। सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) आकाशात्मा अमृतवाङ्मय वही यह 'शुन' इन्द्र है, जिस का–'शुनं' हुवेम मघवानमिन्द्रम्' (ऋक्सं ३।३०।२२) इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है।

(१४६)—इन्द्र और सुन्दर—

'शुन' इन्द्र वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसकी स्वरूपसत्ता से विश्व, तथा विश्वप्रजा की जीवनसत्ता सुरक्षित है। विश्वजीवनसंरक्षक शुन इन्द्र जहाँ जीवनसत्ता सुरक्षित रखता है, वहाँ शुन इन्द्र से अभिन्न मर्त्याकाशमयी 'इन्द्राणि' नाम की इन्द्रपत्नी जीवन में ओज–साहस–बलपूर्णा स्फूर्त्ति प्रदान किया करती है, जिसके अनुग्रह से प्राणी कर्मकौशल का संघर्षपूर्वक अनुगमन करने में समर्थ बना करता है। इस जीवनसत्त्व-संरक्षण से ही इन्द्र को 'आत्मा' मान लिया जाता है (देखिए शत० २।१।१।७।)। वर्त्तमान जडविज्ञान (भूतविज्ञान) ने ईथर Ether तथा एनर्जी Enerjy नामक दो तत्त्वों का जीवनसत्ता से सम्बन्ध माना है। सम्भव है ये दोनों तत्त्व भारतीय वैदिकविज्ञान के इन्द्र, तथा इन्द्राणि के ही विकृत रूप हों। यह भी बहुत सम्भव है कि, निरुक्तक्रमानुसार भाषानुगत कालव्यवधानक्रम से जैसे 'सुन्दर' शब्द 'सुद्दर'–'सुथर'– बनता हुआ 'सुथरा' (साफ–सुथरा) रूप में परिणत हो गया है, तथैव इन्द्रशब्द भी 'इन्दर'–'इद्दर'–'इथर' रूपों के द्वारा कालान्तर में 'ईथर' रूपमें परिणत हो गया हो। एवमेव यह भी सम्भव है कि, इसी प्राकृतिक निर्वचनशैली के द्वारा ही 'इन्द्राणि' शब्द ही 'एनर्जी' रूपमें परिणत हो गया हो। यद्वा तद्वास्तु। प्रासङ्गिक वक्तव्य यही है कि, यजु का वाग्भाग ही 'शुन' नामक इन्द्र है। इसी आधार पर निम्नलिखित श्रौतवचन-प्रतिष्ठित है—

(१)–'अथ य इन्द्रः—सा वाक्' (जै० उप० १।३३।२।)।
(२)–'स यस्स आकाश —इन्द्र एव स '(जै० उप० १।२।७।)।
(३)–'तस्मादाहु —इन्द्रो वागिति' (शत० ११।१।६।१८।)।

(१४७)–केन्द्रस्थ, मनु और इन्द्र—

वागाकाश ही इन्द्र है। यही मनु है। तदभिन्नतत्त्व ही मनु है, तदभिन्नतत्त्व ही मन है। इस प्रकार मन–मनु–हृदय–वाक्–आदि तत्त्वों के समसमन्वय से भी मनु को 'इन्द्र' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। मनःप्राणवाङ्मय परात्परपुरुषात्मा के साथ जैसा समसमन्वय इन्द्रतत्त्व के साथ हो रहा है, वैसा अन्य अक्षर के साथ नहीं है। इस का एकमात्र कारण है इन्द्र का मध्यतः ऐन्धन। केन्द्रानुगत विकासभाव ही, इन्द्र का इन्द्रत्त्व है। यही कारण कि, 'स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय' इस आत्मलक्षण से समतुलित इन्द्र के लिए भी 'इन्द्रो मे आत्मा' यह कह दिया जाता है। अतएव च—'हृदयमेवेन्द्र' (शत० १२।६। १।१५।)–'यन्मन–स इन्द्र,' (गो० उ० ४।११)–'प्राण एवेन्द्र' (शत० १२।८।१।१४।)–'वागिन्द्र' (शत० ८।७।२।६।)–इत्यादिरूप से आत्मवत् इन्द्र को भी मनःप्राणवाङ्मय मान लिया गया है। केन्द्रस्थ मन ही मनु है। इस केन्द्रस्थ मनोरूप मनु का विकास जिस विश्व के केन्द्र में होता है, वह स्वभाव और इन्द्र प्रजापति हो है। इस विश्वकेन्द्रानुगत मनुस्थिति के सम्बन्ध से और इन्द्र मनु से सर्वात्मना समतुलित है। इन्हीं सब रहस्यों को लक्ष्य बनाकर विद्वानों ने मनोमय हुए मनु को 'इन्द्रमेके' रूप से 'इन्द्र' नाम से घोषित किया है।

(१४८)–प्राणमूर्त्तिमनु (परे प्राणम्)—(४)—

अपने भावात्मक सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्राणरूप से मनु को अवश्य ही 'प्राण'–अभिधासे भी सम्बोधित किया जा सकता है, जिस के सम्बन्ध में भी चिरन्तन इतिहास का परिज्ञान प्राप्त कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। जब कुछ न था, तो क्या था ?, इस सृष्टिमूलविषयक प्रश्न का समाधान करते हुए वैज्ञानिकों ने कहा–'जब यह सब कुछ विश्व–भूत–भौतिक प्रपञ्च न था, तो उस समय केवल 'असत्' तत्त्व ही था।' 'कथमसतः सज्जायेत' असत् से सद्रूप विश्व का प्रादुर्भाव कैसे सम्भव है ?, इस विप्रतिपत्ति ने उस असत् का 'सद्' रूप की मान्यता प्रदान की, एवं इसी आधार पर उस 'असत्' की व्याख्या हुई–'सदेवेदमग्र आसीत्' असत्–आसीत्'। वह असत् वास्तव में 'सत्' ही था। जैसा नामरूपात्मक सद्भाव विश्वस्वरूप में आज हमें उपलब्ध है, वह वैसा 'सत्' न था, इसलिए तो वह 'असत्' था। साथही था, यह सत्प्रलक्षण, अतएव वह 'असत्' सत् ही था। जिसे लोक में हम असत् (अभावात्मक) कहते हैं एवं सत् (नामरूपात्मक) कहते हैं, वह विश्वमूलतत्त्व इन लौकिक सदसद्भावों से सर्वथा विलक्षण था। अतएव वह लोकदृष्ट्या न सत् था, न असत् था। इसी आधार पर–'नासदासीत्–नो सदासीत् तदानीम्' (ऋक्संहिता) सिद्धान्त स्थापित हुआ। अनुपाख्यदृष्ट्या वह 'असत्' था, तत्त्वदृष्ट्या वह सत् था लोकानुबन्धी सदसत्–दृष्ट्या वह न सत् था, न असत् था, इस प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से तत्त्ववेत्ताओं ने उस विश्वमूलभूत 'असत्' तत्त्व की स्वरूपमीमांसा की, जिसका तात्त्विक समन्वय हुआ भगवान् याज्ञवल्क्य के निम्नलिखित शब्दों में कि—।

(१४९)-ऋषिप्राण की मूलोपनिषत्—

यह विश्वमूल 'असत्' तत्त्व 'ऋषि' नामक तत्व-विशेष ही था। यह 'ऋषि' क्या था? (ऋषितत्त्व का क्या स्वरूप था?) प्रश्न का उत्तर प्राप्त हुआ-'प्राण' ही ऋषि था। 'प्राण' का नाम 'ऋषि' क्यों हुआ?, प्रश्न का समाधान प्राप्त हुआ-'उन प्राणों नें अपने तपोयुक्त श्रम से इस विश्वनिर्माण की कामना से अपने आप को गतिशील बनाया। इस 'अरिषत्' लक्षण गतिभाव के सम्बन्ध से ही यह असत्प्राण 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुआ *। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द से अतीत, अतएव अधामच्छद-असङ्ग-मौलिक तत्त्व ही यह 'ऋषि' प्राण है, जिसे नैसर्गिक गतिभाव के कारण 'ऋषि' नाम से व्यवहृत किया है। 'चरैवेति-चरैवेति' ही इस ऋषिप्राण की मूलोपनिषत् है। यह ऋषिप्राण अपने बलनिबन्धन विभूतिभावों से 'एकर्षि, द्व्यर्षि, त्र्यर्षि, सप्तर्षि, दशर्षि, आदि आदि भेदों से अनेक जात्युपजातियों में विभक्त है। जिस इन सब अनन्तप्राणों का स्वरूपपरिचय संक्षेप से प्राणोपनिषद्विज्ञानभाष्य (प्रश्नोपनिषत्विज्ञानभाष्य) से गतार्थ है। 'को हि प्राणानामानन्त्यं वेद' इत्यादि रूप से प्राणर्षि के स्वरूपव्याख्याता मानवमहर्षि ने बड़े ही गौरव से प्राणमहिमा के अनन्त विस्तार का यशोगान किया है +। मनोमय इस यजुर्वेद का 'जू' नामक आकाश में प्रतिष्ठित 'यत्' नामक प्राणवायु ही यह मूल ऋषिप्राण है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण सर्गप्रवृत्ति हुई है। 'जू' वाक् है, 'यत्' प्राण है। इस यत् जू रूप यजु से (वाक्प्राण से) समन्वित इस मन ही आत्मा है, यही सृष्टिसाक्षी मन-प्राणवाङ्मय आत्मा का स्वरूपपरिचय है।

(१५०)-सृष्टि-गति-क्रिया, और प्राणतत्त्व—

यजुः के जू रूप वाग्भाग से मनोमय मनुप्रजापति वाङ्मय है, यजु के 'यत्' रूप प्राणभाग से मनु प्राणमय है, एवं अपने प्रातिस्विक हृदयस्थ उक्थरूप मनु के सम्बन्ध से मनु मनोमय है। मनोमयरूप से मनु-प्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं, प्राणमयरूप से मनु सृष्टिनिर्माणसहयोगी तप (आभ्यन्तरव्यापार-कृति-यत्न-चेष्टा) का अनुगमन करते हैं, एवं वाङ्मयरूप से मनु सृष्टि के उपादानसहयोगी श्रम (उपादान भाव-बाह्यव्यापार-कर्म) का अनुष्ठान करते हैं। वाक्-प्राण-मन, इन तीनों सर्गनिमित्तों में मध्यस्थ प्राण ही सृष्टि का प्रवर्त्तक माना गया है। क्योंकि सृष्टि व्यापारसापेक्षा है व्यापार क्रिया है, क्रिया गति है, गति ही प्राण है। वाक्तत्त्व अर्थरूपत्वेन निष्क्रिय है, मन ज्ञानरूपत्वेन निष्क्रिय है। सक्रिय है मध्यस्थ एकमात्र

* असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः-किं तदसदासीदिति ? । ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः-के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरा अस्मात् सर्वस्मात् इदमिच्छन्तः, श्रमेण तपसा अरिषन्। तस्माद्-ऋषयः।

—शत० ६।१।१।१।

\+ विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवः, ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥
—ऋक्सं० १०।६२।५।

क्रियालक्षण गतिस्वरूप प्राणतत्त्व। अतएव सृष्टिकर्तृत्व का प्रधान उत्तरदायित्व मध्यस्थ गतिशील प्राण से ही सम्बद्ध माना गया है।

(१५१)—सृष्टिमूलाधार आधिदैविक सप्तर्षिप्राण—

सृष्टि का मूलभूत मौलिकतत्त्व 'ऋषि' नामक वह मौलिक प्राण है, जिसके बलानुगत सम्बन्धतारतम्य से आगे जाकर पितर–असुर–गन्धर्व–देव–आदि अनेक यौगिक विभेद हो जाते हैं ✻। उन सब असंख्य-अनन्त यौगिक पितर-असुरादि प्राणों के मूलभूत मौलिक ऋषिप्राण की स्वयं की भी अनेक जाति-उपजातियाँ व्यवस्थित हुई हैं। उन अनेकधा विभक्त ऋषिप्राण–जात्युपजातियों में से मनोमय मनु की सृष्टिधारा के साथ प्रधान सम्बन्ध रखने वाली प्राणजाति 'सप्तर्षि' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसका अध्यात्मसंस्था में चतुर्धा विभक्त 'गुहाप्राण' रूप से अनुमान किया जा सकता है। कर्णच्छिद्रमुक्त दो कर्णप्राण, चक्षुर्गोलकमुक्त दो चक्षुःप्राण, नासाविवरमुक्त दो नासाप्राण, मुखविवरमुक्त एक मुखप्राण, इस प्रकार शिरोमन्त्रात्मिका सहस्रकमलदल-समन्विता मस्तकरूपा शिरोगुहा में 'सप्तर्षि' नामक ऋषिप्राण प्रतिष्ठित है, यही आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण मण्डल है। मस्तक एक वैसा चमस (कटोरा) है, जिसका बुध्न (पैंदा) तो ऊपर है, एवं बिल (कटोरे का मध्यस्थ विपुलोदर भाग–जिसमें कि वस्तु भरी रहती है) अर्वाक् है। शिरः–कपाल इस कटोरे का पैंदा है, वह उर्ध्वभाग में अवस्थित है। कपालरूप पैंदे का बिलरूप पोलभाग कपाल के अधः अवस्थित है। मस्तक क्या है, मानो औंधा कटोरा है। इसी अर्वाग्बिल–ऊर्ध्वबुध्नरूप चमस में 'सहस्रदल' कमलरूप मस्तिष्क-लक्षण (मेधालक्षण) पुरोडाशद्रव्य परिपूर्ण है। यह पुरोडाश ही तो सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का 'श्रीः' रूप वह यशोरस है, जिस ज्ञानमय रसकोश से सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का सञ्चालन होता रहता है। सप्तपुरुष-पुरुषात्मक इस यशोरूप 'श्रीः' रस से ही मस्तक भाग 'श्रीः' कहलाया है, यही 'शिरः' शब्द का मौलिक निर्वचन है। इस श्री रूप यशोरस के आश्रित होने से ही मूर्तात्मक काय 'शरीर' कहलाया है। निम्नलिखित वचन इसी 'श्री' रस का यशोकर्थन कर रहा है—

> अथ या एतेषां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदोहन्। तदस्य शिरोऽभवत्। यत्–श्रिय समुदोहत्–तस्मात्–शिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त। तस्माद्वा–एतत्–शिरः। अथ यत् प्राणा अश्रयन्त, तस्मादु प्राणाः श्रियः। अथ यद् सर्वस्मिन्–अश्रयन्त, तस्मादु शरीरम्।
>
> —शत० ब्रा० ६।१।१।४।

(१५२)—आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण—

उक्त नैगमिक सिद्धान्त के आधार पर ही आगमशास्त्र में पशुमस्तक 'श्रीः' नाम से व्यवहृत हुआ है। चराचरप्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहारों का सञ्चालन इसी ज्ञानात्मक रसरूप 'श्रीः' भाग से हो रहा है। श्रीरस

✻ ऋषिभ्य पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥
—मनु ३।२ १

ही (ज्ञानीय प्रेरणा ही) कामना के द्वारा प्रत्येक कर्म्म का आरम्भबिन्दु बना करता है। इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर अपनी प्रत्येक जीवनधारा, प्रत्येक कर्म्म में शाश्वत–सनातन–प्राकृतिक भावों का ही अनुगमन करने वाली आस्थाश्रद्धापरायणा आस्तिक भारतीय आर्यप्रजा का प्रत्येक कार्य्य 'श्री' संस्मरणपूर्वक ही उपक्रान्त बनता है। अतएव इसकी पत्रादिलेखनरूपा लिपियाँ भी 'श्री' से ही उपक्रान्त बनतीं हैं। यशोरूप 'श्री' रस की उपासना करने वाली आर्यप्रजा जिस प्रकार शून्यमस्तक को अमर्य्यादित भीमाधानुबन्ध से अशुभ मानती है, तथैव लेखनकर्म्म को भी 'श्री' के बिना अमाङ्गलिक ही मानती है, जो वर्त्तमान राष्ट्रीयप्रजा का एकमात्र मङ्गलविधान बना हुआ है *।

'श्री' नामक यशोरस से परिपूर्ण (ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण) अर्वाग्बिल, तथा ऊर्ध्वबुध्न ऐसे शिरश्चमस के तट पर तथाकथित सात *ऋषिप्राण* प्रतिष्ठित हैं। *सातों में ६ ऋषिप्राण* सयुक् (जोड़ले), सातवाँ एकाकी है। दो कर्णप्राण, दो चक्षुःप्राण, दो नासाप्राण, इस प्रकार ६ प्राण सयुक् हैं। सातवाँ मुखप्राण एकाकी है। इसी आध्यात्मिक महर्षिप्राण का स्वरूप–विश्लेषण करते हुए ऋषितत्त्ववेत्ता ऋषि कहते हैं —

(१)–साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजाः ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥
—ऋक् सं० १।१।६४।१५।

(२)–अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥
—शत० १४।५।२।५।

(१५३) शिरोवेष्टन की आर्षता, एवं 'श्रीः' स्वरूपसंरक्षण—

आध्यात्मिक शिरामण्डल में आध्यात्मिक यशोरूप जैसी अमूल्य निधि प्रतिष्ठित है। यह सासल दिव्यविभूति है, जिसे सदा पराक्–सुगुप्त ही रखनी चाहिए। यही इसका महामाङ्गलिक स्वस्त्ययनभाव है। इसी पराक्सुगुप्ति का वैज्ञानिक प्रतीक शिरोवेष्टन (उष्णीष–पगड़ी–साफा–टोपी–आदि) माना गया है। शिरोभाग से नीचे भव्य–आकर्षक–वेशभूषा से सुसज्जित रहता हुआ भी मानव अपने यशोभाग को (शिरोभाग को) प्रत्यक्ष रखता हुआ (उघाड़े मस्तक रखता हुआ) न केवल भारतीय आर्षदृष्टि से ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व के सभ्य–अर्द्धसभ्य–असभ्य–मानवमात्र की दृष्टि से निसर्गतः अमाङ्गलिक ही माना गया है। सुदूर पूर्व अफ्रीका की सर्वथा नग्न जातियाँ भी पक्षिपक्षादिविभूषित शिरोभूषण से समन्वित सुनीं जातीं हैं।

---

* वर्त्तमान राष्ट्रीय प्रगतिवादियों के प्रगतिशील राष्ट्रिय समाज में, एवं तदनुधर्मा सुधारक समाज में शिरोरूप से, तथा लिपिरूप से उभय था 'श्री' भाव का अभाव ही इष्ट–उपभुक्त है। 'श्री' इनकी दृष्टि में केवल कल्पित रूढ़िवाद है। 'श्रीः' की इस प्रकार उपेक्षा करने वाला राष्ट्रीयवर्ग, एवं सुधारकवर्ग यदि श्री से सर्वात्मना वञ्चित हुआ राष्ट्र और समाज को भी श्रीहीन बना देता है, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है।

क्रियालक्षण गतिस्थिरूप प्राणतत्त्व। अतएव सृष्टिकर्तृत्व का प्रधान उत्तरदायित्व मध्यस्थ गतिशील प्राण से ही सम्बद्ध माना गया है।

(१५१)—सृष्टिमूलाधार आधिदैविक सप्तर्षिप्राण—

सृष्टि का मूलभूत मौलिकतत्त्व 'ऋषि' नामक वह मौलिक प्राण है, जिसके बलानुगत सम्बन्धतारतम्य से आगे जाकर पितर–असुर–गन्धर्व–देव–आदि अनेक यौगिक विभेद हो जाते हैं +। उन सब असंख्य-अनन्त यौगिक पितर-असुरादि प्राणों के मूलभूत मौलिक ऋषिप्राण की स्वयं की भी अनेक जाति-उपजातियाँ व्यवस्थित हुई हैं। उन अनेकधा विभक्त ऋषिप्राण–जात्युपजातियों में से मनोमय मनु की सृष्टिधारा के साथ प्रधान सम्बन्ध रखने वाली प्राणजाति 'सप्तर्षि' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसका अध्यात्मसंस्था में चतुर्धा विभक्त 'गुहाप्राण' रूप से अनुमान किया जा सकता है। कर्णच्छिद्रमुक्त दो कर्णप्राण, चक्षुर्गोलकमुक्त दो चक्षु प्राण, नासाविवरमुक्त दो नासाप्राण, मुखविवरमुक्त एक मुखप्राण, इस प्रकार शिरोयन्त्रात्मिका सहस्रकमलदल-समन्विता मस्तकरूपा शिरोगुहा में 'सप्तर्षि' नामक ऋषिप्राण प्रतिष्ठित है, यही आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण मण्डल है। मस्तक एक वैसा चमस (कटोरा) है, जिसका बुघ्न (पैंदा) तो ऊपर है, एवं बिल (कटोरे का मध्यस्थ विपुलोदर भाग–जिसमें कि वस्तु भरी रहती है) अर्वाक् है। शिरः–कपाल इस कटोरे का पैंदा है, वह उर्ध्वभाग में अवस्थित है। कपालरूप पैंदे का बिलरूप पोलभाग कपाल के अध: अवस्थित है। मस्तक क्या है, मानो औंधा कटोरा है। इसी अर्वाग्बिल–ऊर्ध्वबुघ्नरूप चमस में 'सहस्रदल' कमलरूप मस्तिष्क-लक्षण (मेधालक्षण) पुरोडाशद्रव्य परिपूर्ण है। यह पुरोडाश ही तो सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का 'श्रीः' रूप यश यशोरस है, जिस ज्ञानमय रसकोश से सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का सञ्चालन होता रहता है। सप्तपुरुष-पुरुषात्मक इस यशोरूप 'श्री' रस से ही मस्तक भाग 'श्रीः' कहलाया है, यही 'शिरः' शब्द का मौलिक निर्वचन है। इस श्री रूप यशोरस के आश्रित होने से ही भूतात्मक काय 'शरीर' कहलाया है। निम्नलिखित वचन इसी 'श्री' रस का यशोवर्णन कर रहा है—

> अथ या एतेषां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्। तदस्य शिरोऽभवत्। यत्–श्रिय समुदौहत्–तस्मात्–शिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त। तस्माद्वा–एतत्–शिरः। अथ यत् प्राणा अश्रयन्त, तस्मादु प्राणाः श्रियः। अथ यत् सर्वस्मिन्–अश्रयन्त, तस्मादु शरीरम्।
>
> —शत० ब्रा० ६।१।१।४।

(१५२)—आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण—

उक्त नैगमिक सिद्धान्त के आधार पर ही आगमशास्त्र में पशुमस्तक 'श्रीः' नाम से व्यवहृत हुआ है। चराचरप्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहारों का सञ्चालन इसी ज्ञानात्मक रसरूप 'श्री' भाग से हो रहा है। श्रीरस

+ ऋषिभ्य पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्च जगत्सर्वं चर स्थाण्वनुपूर्वशः॥
—मनु ३।२ १

ही (ज्ञानीय प्रेरणा ही) कामना के द्वारा प्रत्येक कर्म्म का आरम्भबिन्दु बना करता है । इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर अपनी प्रत्येक जीवनधारा, प्रत्येक कर्म्म में शाश्वत–सनातन–प्राकृतिक भावों का ही अनुगमन करने वाली आस्थाश्रद्धापरायणा आस्तिक भारतीय आर्यप्रजा का प्रत्येक कार्य्य 'श्री' संस्मरणपूर्वक ही उपक्रान्त बनता है । अतएव इसकी पत्रादिलेखनरूपा लिपियाँ भी 'श्री' से ही उपक्रान्त बनतीं हैं । यशोरूप 'श्री' रस की उपासना करने वाली आर्यप्रजा जिस प्रकार शून्यमस्तक को अमर्य्यादित श्रीभावानुबन्ध से अशुभ मानती है, तथैव लेखनकर्म्म को भी 'श्री' के बिना अमाङ्गलिक ही मानती है, जो वर्त्तमान राष्ट्रीयप्रजा का एकमात्र मङ्गलविधान बना हुआ है * ।

'श्रीः' नामक यशोरस से परिपूर्ण (ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण) अर्वाग्बिल, तथा ऊर्ध्वबुध्न ऐसे शिरश्चमस के तट पर यथाकथित सात ऋषिप्राण प्रतिष्ठित हैं । सातों में ६ ऋषिप्राण सयुक् (जोड़ले), सातवाँ एकाकी है । दो कर्णप्राण, दो चक्षुःप्राण, दो नासाप्राण, इस प्रकार ६ प्राण सयुक् हैं । सातवाँ मुखप्राण एकाकी है । इसी आध्यात्मिक महर्षिप्राण का स्वरूप–विश्लेषण करते हुए श्रुतितत्त्ववेत्ता ऋषि कहते हैं —

> (१)–साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः ।
> तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥
> —ऋक् सं० १।१।६४।१५।

> (२)–अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
> तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥
> —शत० १४।५।२।५।

(१५३) शिरोवेष्टन की आर्षता, एवं 'श्री' स्वरूपसंरक्षण—

आध्यात्मिक शिरामण्डल में आध्यात्मिक यशोरूप जैसी अमूल्य निधि प्रतिष्ठित है । यह साक्षात् विभूतिविभूति है, जिसे सदा परोक्ष-सुगुप्त ही रखनी चाहिए । यही इसका महामाङ्गलिक स्वस्त्ययनभाव है । इसी परोक्षसुगुप्ति का नैदानिक प्रतीक शिरोवेष्टन (उष्णीष–पगड़ी–साफा–टोपी–आदि) माना गया है । शिरोभाग से नीचे भव्य–आकर्षक–वेशभूषा से सुसज्जित रहता हुआ भी मानव अपने यशोभाग को (शिरोभाग को) प्रत्यक्ष रखता हुआ (उघाड़े मस्तक रखता हुआ) न केवल भारतीय आर्षदृष्टि से ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व के सभ्य–अर्द्धसभ्य–असभ्य–मानवमात्र की दृष्टि से निसर्गतः अमाङ्गलिक ही माना गया है । सुदूर पूर्व अफ्रीका की सर्वथा नग्न जातियाँ भी पक्षिपक्षादिविभूषित शिरोभूषण से समन्वित सुनी जातीं हैं ।

---

* वर्त्तमान राष्ट्रीय प्रगतिवादियों के प्रगतिशील राष्ट्रिय समाज में, एवं तदनुवर्त्ती सुधारक समाज में शिरोरूप से, तथा लिपिरूप से उभय या 'श्री' भाव का अभाव ही इष्ट–उपभुक्त है । 'श्री' इनकी दृष्टि में केवल कल्पित रूढ़िवाद है । 'श्री' की इस प्रकार उपेक्षा करने वाला राष्ट्रीयवर्ग, एवं सुधारकवर्ग यदि श्री से सर्वात्मना वञ्चित हुआ राष्ट्र और समाज को भी श्रीहीन बना देता है, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है ।

कहीं टोप, कहीं वस्त्रावगुण्ठन, कहीं उष्णीष, सर्वत्र शिरोभूषण उपलब्ध हुए हैं। 'लोहितोष्णीष-ऋत्विज प्रचरन्ति' (लाल पगड़ी वाले यज्ञ-सञ्चालक ऋत्विक्लोग यज्ञकर्म में संलग्न हैं) इत्यादि निगमवचन इसी माङ्गलिक शिरोवेष्टन का समर्थन कर रहा है। मस्तक उघाड़ कर सम्मुख आया हुआ मानव 'शकुनवसन्तराज' (एतन्नामक ग्रन्थ) के अनुसार महा अमाङ्गलिक माना गया है। हिन्दू मानव उघाड़े मस्तक पर माङ्गलिक तिलक लगाना भी अशुभ मानता है। बात है प्रतीति में लोकशिष्टानुगतामात्र किन्तु तत्त्व है इसका सर्वथा रहस्यपूर्ण। पूर्वकथनानुसार प्रायः सभी तो देशों में शिरोवेष्टन की पद्धति इष्ट-भुतोपभुत है। वर्त्तमान में भी केवल 'वङ्ग' प्रान्त (बङ्गाल) को छोड़ कर सभी देशों की सभी जातियों में शिरोवेष्टनपद्धति प्रक्रान्त है। ग्रामसभ्यता में तो बड़ी ही कड़ाई से, इस नियम का पालन किया जाता है। एक ग्रामीण दरिद्रतावश भले ही, अन्य शरीरावयवों से नग्नवत् बना रहे, किंतु उसके मस्तक पर जीर्ण-शीर्ण उष्णीष अवश्य रहेगी। कृषिकर्म के लिए समुद्यत कृषक को यदि सम्मुख उन्मुक्तशिर नर, अथवा तो नारी मिल जाते हैं, तो तत्काल यह अपने हल के साथ पराङ्मुख बन जाता है। उन्मुक्त शिर का यह परिपक्व खेत में प्रविष्ट तक नहीं होने देता। हमें आश्चर्य होता है कि, अन्यान्य सनातन-नैगमिक-संस्कृतियों में सर्वाग्रणी बना रहने वाला वङ्गप्रान्त सहसा अपनी इस निगममूला संस्कृति की उपेक्षा करते हुए 'कुमुचित नङ्गाली' * इस लोक प्रामाणिकता का निमित्त किस आग्रह से बन गया! शिरोभागावस्थिता विश्वस्वरूपा 'श्री' ही तो यह आध्यात्मिक मौलिक सम्पत्ति है, जिस सवितामे रश्मिक ज्ञानसम्पत् को मूल बना कर ही मानव आधिभौतिकी अन्नसम्पत्-संग्रहद्वारा विभूतिशाली बनने में समर्थ होता है। अपनी मूलाधारभूता इस आध्यात्मिकी श्री को नग्न रखने वाला, अन्नसम्पत्-संग्रह-सरक्षण में यदि असमर्थ बना रहता हुआ दीन-हीन-दरिद्री-बुभुक्षित हो जाता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। शिरोवेष्टन, एवं शिरोऽवगुण्ठन शून्य आज का नर, तथा नारी, दोनों ही इस दिशा में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

(१५४) श्वेत, और रङ्गरञ्जित शिरोवेष्टन का तारतम्य—

एक माङ्गलिक तथ्य का विश्लेषण और। 'लोहितोष्णीषाः' वाक्य रङ्गरञ्जित (रङ्गीन) शिरोवेष्टन की माङ्गलिकता की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। अपने प्रत्येक कर्म्म में प्राकृतिक माङ्गलिक विधान को महत्त्व प्रदान करने वाले राजपूतन (राजपूताना) प्रान्त की 'रङ्गीन पगड़ी' का मांगलिक महत्त्व जगत्प्रसिद्ध है, और यह चिह्न, तथा रङ्गरञ्जित नारी का दुकूलवस्त्र (रङ्गीन पीतवस्त्र-साड़ी-पीला-ओढना चूनड़ी) यहाँ के महान् सांस्कृतिक गौरव के प्रतीक हैं। यहाँ श्वेत शिरोवस्त्र कीर्ति का नैदानिक प्रतीक बनता हुआ शिरस्त्रप्रमाण में व्यवहार्य माना गया है। यौवराज्य-पदासीन युवा पुत्रपौत्रादि के लिए शिरस्त्राण इसके वृद्ध पिता, ज्येष्ठभ्राता, आदि ही माने गए हैं। अतएव पितापितामहादि की सत्ता से वञ्चित वृद्धपुरुष ही श्वेत शिरोवेष्टन के अधिकारी हैं। तथा पुत्र-पौत्रादि का शिरोवेष्टन तो रङ्गरञ्जित

* भूखा बङ्गाली।

ही होता है। यदि युवापुत्रादि श्वेत शिरोवेष्टन धारण करते हैं, तो ये भारतीय स्वस्त्ययन-कर्म्म-से नितान्त विरुद्ध गमन करते हुए श्री-सम्पत् के विघातक ही बनते हैं, जिसका प्रत्यक्ष प्रतीक हमारा आज का श्वेतशिरोवेष्टन (धोली टोपी) युक्त, अथवा तो शून्यशिरस्क राष्ट्रीयवर्ग प्रमाणित हो रहा है। श्रीशून्य मस्तक, श्रीशून्या लिपि, श्रीशून्य कार्य्यकलाप, श्रीशून्य श्वेत शिरोवेष्टन, आदि रूप से आज तो मूढ़ अमाङ्गलिक श्रीविहीन भाव ही हमारी सभ्यता के प्रतीक बन रहे हैं, जिन इन अमाङ्गलिक प्रतीकों के दुष्परिणामों के उद्वेगकर इतिवृत्तों से आज के श्री-सम्पत्विहीन राष्ट्र के सभी यथाविध नर-नारी प्रत्यक्ष निदर्शन प्रमाणित हो रहे हैं।

(१५५) गुहाशया निहिता: सप्त सप्त—

आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण का प्रसङ्ग प्रक्रान्त था। जिस प्रकार यशोरसात्मक श्रीसम्पद्युक्त शिरोयन्त्र (शिरोगुहा) में यथाप्रथितरूप से सप्तर्षिप्राण प्रतिष्ठित है, तथैव इसी अध्यात्मसंस्था (शरीरसंस्था) में उरोगुहारूप उरोयन्त्र, उदरगुहारूप उदरयन्त्र, बस्तिगुहारूप बस्तियन्त्र, इन नीचे के तीनों यन्त्रों में भी इसी क्रम से सप्तर्षिप्राण प्रतिष्ठित माना गया है हस्तद्वय, स्तनद्वय, फुप्फुसद्वय, हृदय, यह दूसरा सप्तर्षिप्राणसप्तक है, जिसके प्रतिष्ठा उरोयन्त्र (छाती) है। यकृत्-प्लीहाद्वन्द्व (जिगर और तिल्ली), क्लोमद्वय, वृक्कद्वय, नाभि, यह तीसरा सप्तर्षिप्राणसप्तक है, जिसकी प्रतिष्ठा उदरयन्त्र (पेट) है। श्रोणिद्वय, मूत्ररेतसीद्वयी, आपद्वय-मूलद्वार, यह चौथा सप्तर्षिप्राणसप्तक है, जिसकी प्रतिष्ठा बस्तियन्त्र है। इस प्रकार—'शिर-उर-उदर-बस्ति'-भेद से अध्यात्मसंस्था में समानक्रमपूर्वक सप्तर्षिप्राण सप्तक चार गुहा यन्त्रों में प्रतिष्ठित होता हुआ निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है—

> सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिष: समिधः सप्त होमा:।
> सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् २।१।८

१—प्राकृतिक प्राणदेवतानुबन्धिनी माङ्गलिक स्थितियों के आधार पर आर्षवैज्ञानिकोंने शयन-भोजन वस्त्र-गमन-हसन-भाषण-सेवन-पठन-पाठन आदि आदि यच्चयावत् दैनिक व्यवहारों में कुछ एक ऐसे प्राकृतिक माङ्गलिक विधि-विधान विहित किए हैं, जिनके नियमतः अनुगमन से-आचरण से मानव की जीवनधारा सहजरूप से स्वस्ति-शान्ति-निरुपद्रवरूप से प्रवाहित होती रहती है। एवंविध सहज माङ्गलिक कर्म्मों का विभाग ही आर्षपद्धति में 'स्वस्त्ययनकर्म्म' (शान्तिस्वस्त्ययन) नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिनका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय खण्ड के 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक 'ग' विभागात्मक तृतीय खण्ड के 'स्वस्त्ययनकर्म्मपरिगणना' नामक अवान्तर प्रकरण में विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है।

गुहाशयप्राणसप्तकचतुष्टयीपरिलेख—

ब्रह्मरन्ध्र—मनः सर्वम् [१]

१–कर्णौ (२)–सोमाः–पारमेष्ठ्य (३३) २–चक्षुषी (२)–आदित्याः–दिव्य (२१) ३–नासिके (२)–वायु–आन्तरिक्ष्य (१५) ४–वाक् (१)–अग्नि–पार्थिवः (६)	१ शिरोयन्त्रम् (शिरोगुहा) विज्ञानात्मा (आपः ३३) (दिवः –त्रयस्त्रिंशः)

कण्ठः–मनः–प्राणः [२]

१–हस्तौ (२)–सोमाः–पारमेष्ठ्याः (३३) २–स्तनौ (२)–आदित्याः–दिव्याः (२१) ३–फुफ्फुसे (२)–वायुः–आन्तरिक्ष्याः १५) ४–हृदयम् (१)–अग्निः–पार्थिवः (६)	२ उरोयन्त्रम् (उरोगुहा) प्राणात्मा (द्यौः २१) (द्यौः एकविंशः)

हृदयम्–मनः–व्यानः [३]

१–यकृत्–प्लीहे (२) सोमाः–पारमेष्ठ्याः (३३) २–क्लोमानौ (२)–आदित्याः–दिव्याः (२१) ३–वृक्के (२)–वायु–आन्तरिक्ष्य (१५) ४–नाभि (१)–अग्नि–पार्थिवः (६)	३ उदरयन्त्रम् (उदरगुहा) व्यानात्मा (अन्तरिक्षम् (१५) (अन्तरिक्षम्–पञ्चदशः)

नाभि राजपत्तनम् [४]

१–श्रोणी (२)–सोम–पारमेष्ठ्याः (३३) २–मूत्र–पुरीषे (२)–आदित्याः–दिव्याः (२१) ३–आयके (२)–वायु–आन्तरिक्ष्याः (१५) ४–मूलाधारम् (१)–अग्निः–पार्थिवः (६)	४ बस्तियन्त्रम् (बस्तिगुहा) अपानात्मा (पृथिवी ६) (पृथिवी ६ त्रिवृता)

मूलस्तम्भम्— सर्वम् [५]

(१५६) विरूपास इदृषय—

प्रकृतमनुसराम । इत्थमनु अपने से अभिन्न मनोमय आत्मरूप से मनोमय बनता हुआ स्थिति-गतिभावात्मक यजु के सुरूप वाग्भाग से वाङ्मय, एवं यत्‌रूप प्राणभाग से प्राणमय बनता हुआ मन-प्राणवाङ्मय बनकर काम—तप —श्रमरूप से सृष्टिसाक्षी आत्मा बन रहा है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इस मन प्राणवाङ्मय मनुस्तत्त्व का गतिशील तपोमय प्राणभाग ही यह 'असत्' तत्त्व है, जिसे 'ऋषिन्' निर्वचन से पूर्व में 'ऋषि' कहा गया है। यह असल्लक्षण तद्रूप ऋषिप्राण वसिष्ठ—अगस्त्य—मत्स्य—कश्यप—अत्रि मरीचि-भृगु-पुलस्त्य-पुलह आदि आदि भेद से अनेक नात्युपबालिविषत्तभावों में विभक्त है। 'प्राणा वा ऋषय' रूप से वशिष्ठादि नाम ऋषिप्राणों से सम्बन्धित हैं। जिस प्राण का जिस मानवश्रेष्ठ ने सर्वप्रथम स्वरूपबोध प्राप्त किया, वह मानवश्रेष्ठ भी यशोनाम—पद्धति से तत्प्राणऋषि के नाम से ही लोक में प्रसिद्ध हो गया। ऋषिप्राण यजुर्मूर्ति है। यजु ही तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेद है। क्योंकि वेदात्मक ऋषिप्राण 'विरूपास इदृषय' सिद्धान्तानुसार अनन्त—असंख्य हैं। इसी आधार पर भगवान् तित्तिरि ने इन्द्रभरद्वाजाख्यान के प्रसङ्ग में 'अनन्ता वै वेदा' सिद्धान्त स्थापित किया है। अनन्त ब्रह्म के निःश्वासात्मक प्राणलक्षण वेद वास्तव में अनन्त ही हैं।, जिनका इन्द्रद्वारा चार सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने वाले भरद्वाज ऋषि-प्राण के द्रष्टा, अतएव 'भरद्वाज' नाम से ही प्रसिद्ध महर्षि मुष्टिमात्र ही बोध प्राप्त कर पाये थे (देखिये—तै ब्रा० ३।१०।११।४)।

(१५७) ऋषि, और ऋषिद्रष्टा मानवमहर्षि—

भारतीय आर्षवैज्ञानिकों ने अपने निर्भ्रान्त तपःपूत आर्षज्ञान (सहजज्ञान) के द्वारा प्रकृति के इन गुह्यतम ऋषितत्त्वों का साक्षात्कार किया। जिस आर्ष महामानव ने सर्वप्रथम जिस ऋषिप्राण का प्राकृतिक परीक्षण के माध्यम से साक्षात्कार किया, तत्कालीन आर्षप्रजा ने इस अद्भुत अन्वेषण के प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करने के लिए उन आर्ष महामानवों को उन ऋषिप्राण—उपाधियों से ही सम्मानित किया, जो उनके 'यशोनाम' कहलाए। तद्वंशधरों में भी जिन जिन मानवश्रेष्ठों ने इस पारम्परिक पैतृक ऋषिप्राणाविष्कार का अनुशीलन-प्रचार प्रक्रान्त रक्खा, वे भी इसी यशोनाम से प्रसिद्ध हुए, जिनके आधार पर—'साक्षात्कृतधर्म्माण—ऋषयो बभूवु' इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। निष्कर्षतः—प्राकृत मौलिक तत्त्व ही 'प्राण' है, यही 'असत्' नामक 'ऋषि' है, यही वेदतत्त्व है, एवं इसी से सम्पूर्ण तन्मात्रभावों की, तन्मात्राद्वारा तद्भूतभावों की उत्पत्ति हुई है, यही मनुर्म्मय वेदप्राण का मनुर्मायत्त्व है, जिसके सर्वारम्भक वेदत्त्व का राजर्षि मनु ने निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

> १— चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
> भूतं भव्यं भविष्य च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥
>
> २— शब्दः-स्पर्शश्च रूपं च—रसो—गन्धश्च पञ्चमः ।
> वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्म्मतः ॥

३– बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥

—मनु १२।९७,९८,९९। ।

(१५८) सप्तर्षिप्राण, और सुपर्णचिति—

सप्तर्षिप्राणात्मक जिस ऋषिप्राण का अनुरूप से अवतक यशोगान हुआ है, दो शब्दों में उसके सप्तपुरुषपुरुषात्मक आधिभौतिक स्वरूप का भी यशोगान कर लीजिए। विश्वनिर्म्माणप्रक्रियानुगामी ऋषिप्राण (सप्तर्षिप्राण) 'चत्वारः–द्वौ–एकः' (४२१) इस क्रम से सुसंघटित होकर ही सप्तचितिरूप आधिभौतिक अवयव शरीर (भौतिकपिण्ड) का स्वरूपारम्भक बनता है। दूसरे शब्दों में 'चार–दो–एक' इस रूप से अपनी तीन स्वतन्त्र चितियों में समन्वित होकर ही सप्तर्षिप्राण सृष्टिनिर्म्माणप्रक्रिया में प्रवृत्त होता है। चार ऋषिप्राणों की समन्वितावस्थारूपा चिति मुख्य मानी गई है। इस मुख्यता के अनुबन्ध से ही इस चतुः–प्राणात्मिका मुख्य चिति को 'आत्मा' कहा गया है। प्राणद्वयात्मिका दूसरी चिति को 'पक्ष' माना गया है, एवं एकप्राणात्मिका चिति को 'पुच्छ' कहा गया है। यही वह सुप्रसिद्धा 'सुपर्णचिति' है, जिसका शतपथविज्ञानभाष्य के चयनयज्ञप्रकरण में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इस सप्तचिति के सम्बन्ध से ही यह प्राणपुरुष 'सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापति' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है।

(१५९) सप्तपुरुषपुरुषात्मा की वेदपुरुषता—

सुचतुर शिल्पी संकल्पित शिल्प के निर्म्माण से पहिले उसका रेखारूप (खाँचा) बनाता है, तदनुरूप ही शिल्पाकार (ढलाई) का उस रेखारूप (खाँचे) में सन्निवेश करता है। मनुप्रजापति के द्वारा अपने प्राणभाग (सप्तर्षिप्राण) से सर्वप्रथम सुपर्णचितिरूप सप्तप्राणों का खाँचा बनाया जाता है। तदनुरूप ही सम्पूर्ण सृष्टियों का (भूतमात्रासन्निवेश द्वारा) भौतिक स्वरूप प्रदान किया जाता है। चितिविज्ञान भारतीय विज्ञानकाण्ड का एक रहस्यपूर्ण तात्त्विक विषय है जो एकान्तनिष्ठ चिरकालिक स्वाध्यायव्रत के द्वारा ही विशेष गम्य बनता है। सम्पूर्ण भूतभौतिक पदार्थों में मध्यभाग, पार्श्वभाग, मूलभाग, शिरोभाग रूप से आप भागचतुष्टयी का समन्वय कर सकते हैं। मानवशरीर को ही उदाहरण बनाइए। शिरोभाग स्पष्ट है ही। कण्ठ से मूलाधार पर्य्यन्त व्याप्त कबन्ध (धड़) भाग मध्यभाग है, यही वह मुख्य भाग है जिसके आधार पर मस्तक–हाथ–पैर–आदि गौणभाग प्रतिष्ठित हैं। दक्षिण हस्त–दक्षिण पाद, एक पक्ष है। वाम हस्त–वाम पाद एक पक्ष है। यही पार्श्वभाग है। मेरुदण्ड के अधो भाग में अवस्थित 'त्रिकास्थि' नाम से प्रसिद्ध मूल–प्रतिष्ठा–भाग ही मूलभाग है। मध्यभाग चार प्राणों की समष्टिरूप 'चत्वार आत्मा' है। पार्श्वभाग 'द्वौ पक्षौ' है। मूलभाग 'पुच्छं प्रतिष्ठा' है। इस पुच्छप्रतिष्ठा के शिथिल हो जाने से वार्द्धक्य में शिरोभाग अवनत बन जाया करती है। एक पिप्पलपत्र (पीपल के पत्ते) को लक्ष्य बनाइए। मध्य पत्र आत्मा है, दोनों पार्श्व पक्ष हैं, मूलभाग पुच्छप्रतिष्ठा है, जिससे पत्ता तना हुआ रहता है। इसके निर्बल होते ही पत्ता अवनत हो जाता है, झुक जाता है, कालान्तर में मुर्झा जाता है। कण्ठ से आरम्भ कर–शेष समाप्त भौतिक शरीर में सप्तचितिरूप से प्रतिष्ठित यह सप्तर्षि अपने भौतिकरूप से 'मर्त्यचिति' माना गया है। इन सातों पुरुषों का जो अमृतभाग है, वही ऊर्ध्वस्थितशिरोभागानुगत अमृतचिति है,–जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप निरूपण हुआ है।

त इद्धा सप्त नाना पुरुषानसृजन्त । त एतान् सप्त पुरुषानेक पुरुषमकुर्वन्—यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ् नाभेस्तौ द्वौ । पक्ष पुरुष , पक्ष पुरुष । प्रतिष्ठैक आसीत् । अथ या एतेषा पुरुषाणां श्री , यो रस आसीत्—तमूर्ध्वं समुदौहन् । तदस्य शिरोऽभवत् । स एव पुरुष प्रजापतिरभवत् । स य स पुरुष —प्रजापतिरभवत् , अयमेव स , योऽयमग्निश्चीयते (कायरूपेण—शरीररूपेण—मूर्त्तपिण्डरूपेण—मृतपिण्ड-रूपेण) । स वै सप्तपुरुषो भवति । सप्तपुरुषो ह्यय, पुरुष —यच्चत्त्वार आत्मा, त्रय पक्षपुच्छानि" ।

—शतपथब्राह्मण ६ काण्ड, अग्निरहस्यविद्या, १ ब्राह्मण ।
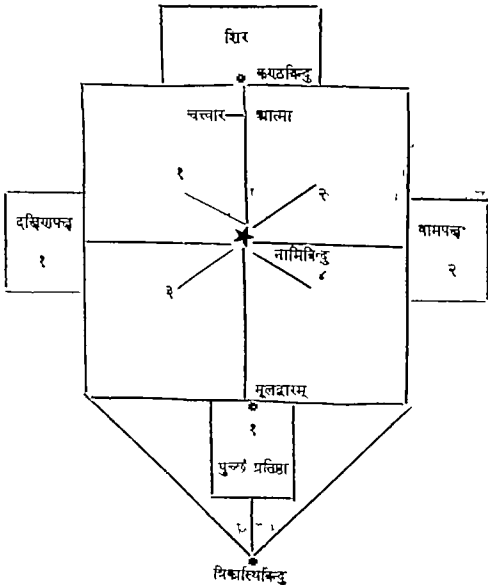
(१६०) प्राणमूर्त्ति मनु--

अलमतिविस्तरेण । प्राणमूर्त्ति-सत्तचितिक- मनोवाङ्मय मनु से सर्वप्रथम स्वप्राणतत्त्व का ही चिति-भाव के लिए पूर्वानुसार सप्तधा विकास होता है । यही ऋषिप्राणात्मक मनुप्रजापति की प्रथमा भावसृष्टि (मानसीसृष्टि) कहलाई है, जिसका चितिभाव से पूर्ण विकास हुआ है तीसरी सौरहिरण्मयमयवस्त्ररूपा हिरण्यगर्भसृष्टिधारा में । अतएव यह सप्तर्षिसर्ग हिरण्यगर्भमनु (सौरप्रजापति) की सन्तति माना गया है, जैसाकि पाठक आगे आने वाले 'मनुकृतसृष्टि' निरूपण में देखेंगे । मनोमय मनु को इस सप्तप्राणात्मक *सप्तर्षिप्राण के अनुबन्ध से अवश्य ही 'प्राण' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है । प्राणतत्त्व के सप्तर्षि* प्राणात्मक इस चिरन्तन इतिहास के आधार पर 'परे प्राणम्' इस मनुवचन का सुसमन्वय हो रहा है ।

(१६१)—शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिर्मनु (अपरे ब्रह्मशाश्वतम्)—(५)—

अब क्रमप्राप्त मनु की पञ्चमी अभिधा का भी दो शब्दों में समन्वय कर दिया जाता है । मनुतत्त्व की शाश्वत—ब्रह्मरूपता में इसलिए विशेष वक्तव्य नहीं है कि विषयारम्भ में ही इस नाम के मौलिक इतिहास का दिग्दर्शन करा दिया गया है । सर्वबलविशिष्टरसैकघन मायातीत अव्यय परात्पर ब्रह्म ही वस्तुतः 'शाश्वतब्रह्म' कहलाया है । यह सर्वात्मना अवधेय है कि, आत्मा के अभेदभाव के कारण यद्यपि आत्मा—परमात्मा—परमेश्वर—ईश्वर—अव्यय—ब्रह्म—अमृत—आदि शब्द अभिन्नार्थक ही बन रहे हैं । किन्तु सुसूक्ष्म तत्त्वविज्ञान के आधार पर विषयसमन्वय के लिए प्रवृत्त होने पर हमें प्रत्येक शब्द की भिन्नभिन्नार्थकता का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा । *तभी तत्तत् श्रौतस्मार्तवचनों का यथावत् समन्वय सम्भव बन सकेगा ।* उदाहरण के लिए शाश्वतधर्म्म—अव्यय—अमृत—ब्रह्म—ऐकान्तिकसुख—आदि शब्द सामान्यदृष्टया जहाँ अभिन्नात्मक तत्त्व के संग्राहक बने हुए हैं वहाँ विज्ञानदृष्टया ये पाँचों शब्द विभिन्न तत्त्वों के साथ ही सम्बद्ध माने जायँगे । मायातीत परात्परब्रह्म के 'शुद्धरसात्मक, बलविशिष्टरसात्मक' ये दो विवर्त्त माने गए हैं, जो क्रमशः निर्विशेषपरात्पर, सविशेषपरात्पर नामों से भी प्रसिद्ध हैं । निर्विशेष शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर का साङ्केतिक नाम 'ऐकान्तिकसुख' (शुद्ध आनन्द,-केवल रस—केवल आनन्द) माना जायगा, एवं सविशेष *बलविशिष्टरसैकमूर्त्ति* परात्पर का साङ्केतिक नाम 'शाश्वत-धर्म्म' (*किंवा शाश्वतब्रह्म*) *माना जायगा* । 'अव्यय' नाम मायामय परात्परपुरुष का साङ्केतिक नाम माना जायगा । पराप्रकृतिरूप अक्षर का साङ्केतिक नाम 'अमृत' माना जायगा । एवं अपराप्रकृतिरूप क्षर का बृंहणभाव के कारण साङ्केतिक नाम *'ब्रह्म' माना* जायगा । अध्यात्मसंस्था में इन पाँचों आत्मविवर्त्तों का समन्वय किया जायगा । साथ ही आधिदैविक पञ्चमूर्त्ति 'अहं' को इन आध्यात्मिक पाँचों अहंभावों की मूलप्रतिष्ठा कहा जायगा । बिना इस साङ्केतिक नाम समन्वय के निम्नलिखित स्मार्त्ती उपनिषत् का अन्य प्रकरणसङ्गतों से भी समन्वय सम्भव न बन सकेगा—

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
> शाश्वतस्य च धर्म्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
> —गीता १४।२७

१–क्षरस्य————क्षरात्मनः————प्रतिष्ठा– —ईश्वरीयक्षरात्मा

२–अमृतस्य————क्षरात्मन ————प्रतिष्ठा——ईश्वरीयाक्षरात्मा

३-अव्ययस्य————अव्ययात्मन— —प्रतिष्ठा——ईश्वरीयाव्ययात्मा

४–शाश्वतधर्म्मस्य——सविशेषपरात्परात्मन —प्रतिष्ठा———ईश्वरीयसविशेषपरात्परात्मा

५–सुखस्यैकान्तिकस्य—निर्विशेषपरात्परात्मन —प्रतिष्ठा———ईश्वरीयनिर्विशेषपरात्परात्मा

इति नु अध्यात्मम् इति नु अधिदैवतम्

(१६२)–शाश्वतब्रह्म का मौलिक स्वरूप—

रसमूर्त्ति एकान्तिकसुखरूप निर्विशेषपरात्पर, रसबलमूर्त्ति शाश्वत धर्मरूप सविशेषपरात्पर, दोनों की समष्टिरूप मायातीत परात्पर को हम 'शाश्वतब्रह्म' (परात्परब्रह्म) कहेंगे। दूसरे शब्दों में सर्वबल विशिष्टरसैकघन परात्पर ही शाश्वतब्रह्म अभिधा से सम्बोन्धित होगा। पुरभाव-सम्पादिका मायासीमा के द्वारा सर्वप्रथम इस शाश्वतब्रह्म का प्रथमावतार मनामय निष्कल–वह अव्ययपुरुष' ही माना जायगा, जिसे सङ्केतभाषा में 'पर' कहा गया है।* जीवसंस्था (मानवसंस्था) का 'पर' अव्यय ईश्वरीयसंस्था के 'पर' के आधार प्रतिष्ठित है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। यह ईश्वरीय पर इस जीव पर की अपेक्षा से 'परादपि पर' रूप से 'परात्परपुरुष' इस साङ्केतिक नाम से भी व्यवहृत हुआ है, जैसा कि–'परात्परं–पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादि उपनिषद्वचन से प्रमाणित है। जीवपरपुरुष (जीवाव्यय) की प्रतिष्ठारूप ईश्वरीय मनामय परपुरुष 'परादपि पर' रूप से जहाँ 'परात्परपुरुष' है, वहाँ मायातीत परात्परपुरुष पुरुष की *प्रथमावतार दशा में केवल मायापुर से वेष्टित यह निष्कलभाव से मायातीत परात्पर से समतुलित बनता* हुआ भी 'परात्पर' है। अतएव मायातीत शाश्वतब्रह्मरूप परात्परवत् इस मायामय परात्परपुरुष को भी पञ्चचितिदशा से पूर्वपूर्व निष्कलदशा में इसे भी 'शाश्वतब्रह्म (परात्परब्रह्म) कहने देने में विशेष आपत्ति नहीं की जा सकती। अतएव च यहाँ आकर इस अभिन्नता की दृष्टि से हम ईश्वरीय–मनामय–निष्कल अव्ययपुरुष को भी 'परात्परब्रह्म'–किंवा 'शाश्वतब्रह्म' कह सकते हैं। यही मनोमय अव्ययपुरुष अपने स्थितिगतिभावरूप यजुर्भाव से 'मनु' रूप है। अतएव इस दृष्टिकोण से अव्ययात्मक मनु को भी अवश्य ही अव्ययवत् 'शाश्वतब्रह्म' अभिधा से व्यवहृत कर देना सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो जाता है, जिस इस तात्त्विक दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर ही राजर्षि मनु ने कहा है—'अपरं ब्रह्मशाश्वतम्'। इस प्रकार वेदाग्नि-सम्बन्ध से 'अग्नि,' प्रजासर्गप्रवर्त्तकत्वेन 'प्रजापति',—मध्यप्राणत्वेन 'इन्द्र',—गतिभावत्वेन 'प्राण',—आत्माभिन्नत्वेन *'शाश्वतब्रह्म' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध 'मनु' ही मननशील–मानव का मूलाधार बना* करता है। यही मानवाधारभूत मनु की तात्त्विक व्याख्या का पूर्वप्रदर्शित चिरन्तन इतिहास है। जिसके

---

* अव्यय-अक्षर-क्षर–तीनों तत्त्व क्रमशः सङ्केतभाषा में 'पर'–'परावर'–'अवर' इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जैसा कि गीताविज्ञानभाष्यादि में यत्र–तत्र अनेकधा स्पष्ट हुआ है।

आधार पर 'मानव' का चिरन्तन मौलिक इतिहास प्रतिष्ठित है। अत्र संक्षेप से इस मूलमनुपुरुष से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टि की ओर, एवं इसके आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधिभौतिक–इन सुप्रसिद्ध तीन विवर्तों की ओर ही मनुप्रेमी मानवों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

(१६३) सन्दर्भसगति—

प्रतिज्ञात 'मनु' शब्द के चिरन्तन इतिहास के सम्बन्ध में मानव के मूल पुरुषरूप 'मनु' तत्त्व का तात्त्विक स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया, जिसका सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से यही निष्कर्ष है कि, सर्वव्यापक–रसबलमूर्ति–ज्ञानकर्ममय–अव्ययेश्वर का मनोमय हृदयस्थ भाव ही 'मनु' है, जो मनुतत्त्व मधुरश्मि के सम्बन्ध से 'अग्नि' प्रजासर्गप्रवृत्ति के कारण प्रजापति', मध्यप्रतिष्ठाभावात्मिका बलकृति सम्बन्ध से 'इन्द्र', रसचितिभाव से 'प्राण', एवं अव्ययात्मसम्बन्ध से 'शाश्वतब्रह्म' इत्यादि विभिन्न नामों से व्यवहृत हुआ है। तथालक्षण यह मनुतत्त्व स्वत प्रादुर्भूत होने के कारण 'स्वयम्भूमनु' नाम से प्रसिद्ध है। यही स्वयम्भू मनु मानववंश का मूलपुरुष है, जिस मूलपुरुष से अनुप्राणित सर्ग की रुपरेखा का समन्वय एवंरूपेण समाप्त माना जा सकता है।

(१६४) मनुमूलक 'मानव' शब्द की व्यापकता—

जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में कहा गया है कि, 'मनु से उत्पन्न प्रजा को ही 'मानव' कहा जायगा'। जिन स्थावर–जङ्गम (अचर–चर) जड़–चेतन–भूत–भौतिक पदार्थों की मनु से (हिरण्यगर्भात्मक और मनु से) उत्पत्ति हुई है, वे सभी पदार्थ 'मनुप्रजा' सीमा में समाविष्ट हैं। एवं मनु से समुत्पन्न होने के कारण पदार्थमात्र को 'मानव' कहा जा सकता है, कहना चाहिये। तत्त्वदृष्टि (हृदयमनुदृष्टि)। से भी पदार्थमात्र का मानवत्त्व अनुप्रमाणित है। हृदय में प्रतिष्ठित मनःप्राणवाङ्मय हृदय मनोमय आत्मा ही 'मनु' है। पदार्थमात्र वास्तविक दृष्टया इस हृदय मनु से युक्त है। अपने अपने हृदय मनु की मनोमयी ज्ञानशक्तिसमन्विता कामना, प्राणमय क्रियाशक्तिसमन्वित तप, एवं वाङ्मय अर्थशक्तियुक्त श्रम, इस व्यापारत्रयी से ही तत्तत् पदार्थों का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। अतएव सभी पदार्थ समष्टया–व्यष्टया–उभयथा इस स्व–स्व–हृदय मनु से (जो कि प्रातिस्विक हृदय मनु उस विश्वव्यापक विश्वकेन्द्रस्थ महामायावच्छिन्न महामनु–स्वयम्भूमनु के ही प्रवर्ग्यरूप हैं) ही समुत्पन्न हैं। अतएव च सभी पदार्थों के लिए मानव' अभिधा तत्त्वसम्मता प्रमाणित हो जाती है। एवं प्रकार जबकि पदार्थमात्र ही 'मानव' अभिधा से समन्वित है, तो ऐसी स्थिति में 'मनुष्य'–'पुरुष' 'नर' (आदमी) इत्यादि नामों से प्रसिद्ध मानवीसृष्टि के एक विशेष भग में ही 'मानव' शब्द कैसे निरूढ (नियत) बन गया, इस प्रश्न का एक सहज संक्षिप्त समाधान पूर्व में किया जा चुका है (देखिए पृ सं १४१) किन्तु तत्समाधानमात्र से ही हेतुवादी तार्किक का क्योंकि सन्तोष सम्भव नहीं बनता, अतएव तत्समाधान के तात्त्विक स्वरूपसमन्वय के लिए मनु से सम्बन्ध रखने वाली 'सृष्टि' के तात्त्विक स्वरूप का एक विभिन्न दृष्टिकोण से समन्वय कर देना अनिवार्य्य बन जाता है।

(१६५) 'सृष्टि' शब्द का सामान्य अर्थ—

विसर्गार्थक 'सृज' धातु ('सृज–विसर्गे–दि० आ० प०) से 'क्तिन्' प्रत्यय के द्वारा 'सृष्टि' शब्द की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है, और इस धातु–प्रकृति–प्रत्ययमूला स्वरूपनिष्पत्ति को हम 'सृष्टि' शब्द की भावुक

व्याख्या करेंगे, जो अमुक सीमा पर्य्यन्त आदरणीय कही और मानी जा सकती है। स्रष्टा प्रजापति अपने एक अंश से (मनोमय अव्ययांश से) सृष्टि के अधिष्ठानकारण (आधार—आलम्बन*) बनते हैं, अपने एक अमुक अंश से (प्राणमय अक्षरांश से) सृष्टि के निमित्तकारण+ बनते हैं, एवं अपने एक अमुक अंश से (वाङ्मय क्षरांश से) सृष्टि के आरम्भणकारण (उपादान कारण) बनते हैं+। क्षरदृष्टि से यही 'सृष्टि' है अक्षरदृष्टि से यही 'सृष्टिकर्त्ता' है, एवं अव्ययदृष्टि से यही 'सृष्ट्याधार' है, न सृष्टि है, न सृष्टिकर्त्ता है। अपितु है एकमात्र साक्षी तटस्थ प्रेक्षकात्मक परात्पर। प्रजापति का वाङ्मय क्षरभाग विस्रंसनधर्म्मा है, क्षरणधर्म्मा है। जिस प्रकार सरित्-रस (रस) लक्षण सलिल (पानी) पर 'काई' आ जाती है, दुग्ध पर 'शर' (सर—मलाई—बालाई) आ जाती है, लोह से 'किट्ट' (जंग) का विनिर्गमन होता रहता है, एवमेव मनोमयी कामना से प्रेरित प्राणमय तप से वाङ्मय श्रम के द्वारा पानी—दूध—लोह—आदि स्थानीय क्षरवाक् से विकार रूप काई—शर—किट्ट—स्थानीय प्रवर्ग्यभाग का प्रतिक्षण क्षरण हुआ करता है। यही क्षरण-प्रक्रिया सृष्टिविज्ञान भाषा में 'विस्रंसन' कहलाई है। जो वाङ्मय क्षरमूलक—विशुद्धरूप (कारणरूप) से सुरक्षित रहता है, वह तो स्वयं आत्मब्रह्म का अपना भोग्य (स्वरूपसंरक्षक) बनता हुआ 'ब्रह्मौदन' कहलाया है। एवं जो भाग विस्रंसनप्रक्रिया के द्वारा विकारभाव में परिणत होता हुआ उपादानकारण बन जाता है, वह मूल आत्म-ब्रह्म की भोग्य सीमा से परित्यक्त बनता हुआ 'प्रवर्ग्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। श्रयर्यपरिभाषा में यही प्रवर्ग्य 'उच्छिष्ट' कहलाया है, जिसके तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण से सम्बन्ध रखने वाली 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' मूला यह 'प्रवर्ग्यविद्या' ही द्रष्टव्या है, जिसके आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों के 'महावीरयाग—धर्म्मयाग—छिन्नशीर्ष-याग' आदि प्राकृतिक प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित हैं।

(१६६) ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य—

'ब्रह्मौदन' भाग स्वरूपसंरक्षक है 'प्रवर्ग्य' भाग सृष्टि का उपादान है। जिस आतप (ऊष्मा—प्रकाश) का सौरमण्डल के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, वही आतप—ऊष्मा सौरसत्ता की स्वरूपधर्म्मलक्षणा बनती हुई स्वरूपसंरक्षिका है, यही सूर्य का 'ब्रह्मौदन' भाग है, जो सदा सूर्य के साथ ही समन्वित रहता है। जो आतप-ऊष्मा-विस्रंसन द्वारा सौरमण्डल से पृथक् होकर वायु में प्रवेश कर जाती है, जिसके प्रवेश से वायु तप्त-सन्तप्त बन जाता है, यही प्रवर्ग्यलक्षण सूर्य का उच्छिष्ट भाग है जिसके द्वारा पार्थिव जड़—चेतन का स्वरूप

---

* एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
—कठोपनिषत् १।२।१७।

— यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथा अक्षराद्विविधाः सौम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

× य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।१।१।

संरक्षण सम्भव बनता है। प्रजापति से सृष्टिनिर्म्माण के लिए प्रवर्ग्यभागरूप 'उच्छिष्ट' का ही 'दान' प्राप्त होता है। एवं इस प्रजापतिवर्जित-त्यक्त-परित्यक्त-विसृष्ट-उच्छिष्ट भाग से ही प्रजा का स्वरूपनिर्म्माण होता है, जैसा कि-'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रित' (अथर्वसंहिता ११।७।२७) इत्यादि मन्त्र श्रुति से प्रमाणित है।

मैथुनीसृष्टि का प्रधानरूप से क्योंकि आत्मप्रजापति के प्रवर्ग्य उच्छिष्ट भाग से ही सम्बन्ध है। अतएव विसर्गार्थक 'सृज' धातु से सम्बन्ध रखने वाले विसर्गात्मक प्रवर्ग्य भाग से समस्त पदार्थरचना को (प्रजापति से विसर्जित-प्रयुक्त-भाग से समुत्पन्न भूत-भौतिक प्रपञ्च को) हो 'सृष्टि' नाम से सम्बोधित करना अन्वर्थ बनता है। यही संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का सामान्य तत्त्वानुगत सामान्य पारिभाषिक भावों का समन्वय है, जिसे आधार बना कर ही हमें आगे चल कर सृष्टि के तत्त्वानुगत पारिभाषिक भावों का समन्वय करना है। प्रवर्ग्यक्रिया से सम्बन्ध रखने वाले इस सामान्य दृष्टिकोण की विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य प्रथमखण्डान्तर्गत 'प्रवर्ग्यविद्यास्वरूपपरिचय' नामक अवान्तरप्रकरण ही देखना चाहिए।

(१६७) सृष्टि शब्द का विशेष अर्थ—

दो, अथवा तो अनेक सजातीय-विजातीय-तत्त्वों के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध का सामान्य पारिभाषिक नाम ही 'सृष्टि' है, जो 'सम्बन्ध सामान्य' की दृष्टि से सम्बन्धत्वेन सृष्टि के यच्चयावत् विवर्त्तों के साथ समन्वित हो रहा है। जिस तत्त्वभाव को 'सृष्टि' नहीं कहना चाहिए था, इस सामान्य सम्बन्ध की अपेक्षा से उसे भी 'सृष्टि' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। इधर मनुप्रजापति मनः-प्राण-वाङ्मय है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। इस मनुप्रजापति को आधार बनाकर ही सृष्टि के विशेष अर्थ का समन्वय अपेक्षित है। 'स वा एष आत्मा वाङ्मय -प्राणमय -मनोमयः' * इत्यादि शातपथी श्रुति के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय एक ही आत्मा के 'परात्मा-परमात्मा-अवरात्मा' ये तीन विवर्त्त सम्पन्न हो जाते हैं। मनः-प्राणवाक्-के स्वाभाविक 'त्रिवृद्भाव' के कारण इन मन -प्राण-वाक्-तीनों कलाओं के प्रत्येक के तीन तीन विवर्त्त हो जाते हैं। तीनों विवर्त्तों की स्थिति-संस्थान में अन्तर केवल यही है कि, प्रथम संस्था में मन का प्राधान्य है। *द्वितीय संस्था में प्राण का, एवं तृतीय संस्था में वाक् का प्राधान्य है। प्राणवाग्गर्भित मनोमय परात्मा* **मनःप्रधान है**, मनोवाग्गर्भित प्राणमय परमात्मा प्राणप्रधान है, एवं मनःप्राणगर्भित वाङ्मय अवरात्मा वाक्प्रधान है। मनःप्रधान त्रिमूर्ति-परात्मा ज्ञानमय है, प्राणप्रधान त्रिमूर्त्ति परमात्मा क्रियामय है, एवं वाक्प्रधान त्रिमूर्त्ति अवरात्मा अर्थमय है। ज्ञानमय त्रिमूर्त्ति मनःप्रधान परात्मा ज्ञानप्राधान्य से 'चिदात्मा' है, क्रियामय त्रिमूर्त्ति प्राणप्रधान परमात्मा क्रियाप्राधान्य से 'कर्म्मात्मा' है, एवं अर्थमय त्रिमूर्त्ति वाक्प्रधान अवरात्मा अर्थप्राधान्य से 'भूतात्मा' है। चिदात्मलक्षण त्रिमूर्त्ति मनोमय परात्मा ('पर' आत्मा) 'अध्यात्मा' है कर्म्मात्मलक्षणत्रिमूर्त्ति प्राणमय परमात्मा ('परम' आत्मा') 'अक्षरात्मा' है, एवं भूतात्मलक्षण त्रिमूर्त्ति

---

* स वा एष सृष्टिप्राची आत्मा अर्थक्रियामयः-तस्मात् वाङ्मयः। क्रियाशक्तिमयः-तस्मात्-प्राणमयः। ज्ञानशक्तिमयः-तस्मात् मनोमयः। अतएव चात्मा मनःप्राणवाङ्मयः सृष्टिप्राची मनुमूर्त्तिः प्रजापतिः, इत्यवधेयम्।

वाङ्मय अवरात्मा ('अवर' आत्मा) 'क्षरात्मा' है। इय मनु भी इन तीनों आत्मविवर्तों के साथ समन्वित होता हुआ त्रिमूर्ति बन रहा है। परात्मस्वरूप मनोमय मनु अव्ययमनु है, इसका पारिभाषिक नाम परात्पर पुरुषाव्यय नाम से समतुलित 'शाश्वतब्रह्म' है। परमात्मस्वरूप प्राणमय मनु 'अक्षरमनु' है, इसका पारिभाषिक नाम प्राणमूर्त्ति अक्षरनाम से समतुलित 'प्राण' है। अवरात्मस्वरूप वाङ्मयमनु 'क्षरमनु' है, इसका पारिभाषिक नाम वाङ्मूर्त्ति क्षरनाम से समतुलित 'वागग्नि' है। वागग्निलक्षण अवरात्मा (क्षरात्मा) प्राणलक्षण परमात्मा (अक्षरात्मा), मनोलक्षण परात्मा (अव्ययात्मा) से अभिन्न एवंविध इस मनुप्रजापति से, तद्रूपा आत्मकलाओं से सर्वथा स्वतन्त्र तीन सृष्टिधाराओं का विनिर्गम होता है।

मन प्राणवाङ्मयस्त्रिमूर्त्तिर्म्मनुःस्वरूपपरिलेखः—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

रूप अवस्थाभेदों से क्रमशः 'अग्नि–वायु–आदित्य' इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। अवस्था त्रयमावापन्न अग्नि के त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश, भेद से तीन स्तोम हो जाते हैं, जिनमें क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य, अग्नि के तीनों विवर्त्त प्रतिष्ठित माने गए हैं। स्तोमभेद से एक ही वागग्निरूप मनु, किंवा मनुरूप वागग्नि २१ पर्य्यन्त वितत (व्याप्त) हो जाता है। इस २१ एकविंश स्तोमतन्तु सम्बन्ध से वागग्निरूप वैकारिक मनु के भी २१ तन्तुवितानात्मक विवर्त्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त अण्डजादि चारों प्रजासर्गों के साथ इस २१ एकविंशतन्तुसमन्वित चतुर्विध मनु का सम्बन्ध हो रहा है। फलतः चारों के २१–२१–२१–२१, इस अनुपात से सम्भूय ८४ विवर्त्त हो जाते हैं। इस प्रकार अण्डजादि चार मनुविवर्त्तों के २१ भाविभक्त चतुर्धा विहितभावों से ८४ विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं। महानात्ममूलक योनिभावानुगत ऋणघनात्मक चतुरशीतिकल पितरप्राणों के सम्बन्ध से, एवं वागग्निबन्धन एकविंश स्तोमानुगत चतुर्धा विभक्त चतुरशीतिकल तन्तुओं के सम्बन्ध से, उभयथा इन दोनों विशेष कारणों से प्रजासर्ग चतुरशीतिकल (८४ कल) प्रमाणित हो जाता है।

(१७२) चतुर्विधमनुस्वरूपपरिचय—

अण्डज–पिण्डजादि–भेदनिबन्धन वागग्निलक्षण वैकारिक मनु से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रजासर्ग सौरहिरण्मयमण्डलात्मक प्राणलक्षण अक्षर मनु से अनुप्राणित है। सौरमनुप्राण सौरगौसाहस्री से सहस्र महिमाभावों से समन्वित माना गया है। इस सहस्ररश्मिभावापन्न सौर हैरण्यगर्भमनुर्म्मण्डल में मुक्त–प्रतिष्ठित अण्डजपिण्डजादि भेदभिन्न पार्थिवत्रैलोक्यत्रिलोकी में वितत वागग्निरूप एकविंशतिधारूप से चतुर्धा विभक्त–चतुरशीतिकल वैकारिक पार्थिव मनु की प्रत्येक कला के साथ आधारभूत सौरगौसाहस्री का सम्बन्ध हो जाता है। फलतः ८४ के स्थान में ८४ सहस्र कलाविभाग हो जाते हैं। आगे चलकर 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' इस रश्मिवितानात्मक साहस्रीवितान–सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कलासाहस्री के साथ सहस्र–सहस्र भावों के अवान्तर वितान का सम्बन्ध हो जाता है। एक साहस्री की शतसाहस्री बन जाती है। फलतः–८४ साहस्री के महिमात्मक साहस्रीभाव चतुरशीतिलक्ष बन जाते हैं। और यों महानात्मनिबन्धन योनिभाव चतुरशीतिकल पितृप्राणसम्बन्ध से, तथा चतुरशीतिकल मनुःप्राणसम्बन्ध से चतुरशीतिलक्षकल बन जाता माना है, जैसा कि संग्रहात्मक परिलेखों से स्पष्ट है—

आत्मलक्षणमनुःपरिलेख–

१—अव्ययमनुः (स्वाम्भुवमनुः—स्वायम्भुवः)—मायसर्गाधिष्ठाता—शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः
२—अक्षरमनुः (हैरण्यगर्भमनुः—सौरः)—गुणसर्गाधिष्ठाता—प्राणमूर्त्तिः
३—क्षरमनुः (इयगममनुः—पार्थिवः)—विकारसर्गाधिष्ठाता—वागग्निमूर्त्तिः

———×———

सर्गलक्षणमनुःपरिलेख–

१—पुरुषसर्गः ——आत्मसर्गः—स्वायम्भुव -पूर्वसर्गः—व्यापकः—सर्गः
२—परप्रकृतिसर्गः—चेतनसर्गः—सौरः —प्राकृतसर्गः–रूपात्मकः—सर्गः
३—अपराप्रकृतिसर्गः-अचेतनसर्गः—पार्थिवः —वैकारिकसर्गः-एकात्मकः–सर्गः

स्तोमानुगतत्रिदेवस्वरूपपरिलेख-

१—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न —अग्निर्घनावस्थापन्न—अग्नि (९) २—पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न —अग्निर्तरलावस्थापन्न—वायु (१५) ३—एकविंशस्तोमावच्छिन्न —अग्निर्विरलावस्थापन्न—आदित्य (२१)	वागग्निरेकविंशतिकल— तद्रूपो वैकारिकमनु एकविंशतिकल

अण्डज पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्जमनुःस्वरूपपरिलेख -

१—अण्डजमनु—वैकारिकमनुभावेन समन्वित—एकविंशतिकल (२१) २—पिण्डजमनु —वैकारिकमनुभावेन समन्वित —एकविंशतिकल (२१) ३—स्वेदजमनु—वैकारिकमनुभावेन समन्वित —एकविंशतिकल (२१) ४—उद्भिज्जमनु—वैकारिकमनुभावेन समन्वित—एकविंशतिकल २१)	चतुरशीतिकल वागग्निमनुर्वैकारिक (८४) चतुरशीतिकलमित

एकविंशतिसहस्रभावापन्नमनु स्वरूपपरिलेख-

१—सौरहैरण्यगर्भमनुसाहस्रीसम्बन्धेन	अण्डजमनुरेकविंशतिकल —	सहस्रभावापन्न	—२१ ००
२———— ,,	—पिण्डजमनु——	,,	—२१ ०
३———— ,,	—स्वेदजमनु——	,	—२१
४———— ,,	—उद्भिज्जमनु——	,,	—२१ ०

८४ मनुभावा
चतुरशीतिसहस्रमिता

चतुरशीतिलक्ष (८४००००) मितमनुर्भावपरिलेख-

१—अण्डजमनुभावा २१०	साहस्री—महिमसम्बन्धेन सहस्रधा	विभक्ता	—२१०
२—पिण्डजमनुभावाः २१ ——	,,		——२१
३—स्वेदजमनुभावा २१० ——	,		——२१
४—उद्भिज्जमनुभावा २१ ० ——	,,		——२१ ०

सर्वे ८४० ० चतुरशीतिलक्षमिता -
वागग्निमया—वैकारिकमनुभावा

मूल-तूल-वितान-महिम-मनुषतुष्टयीपरिलेख'-

(१)-एकविंशतिकलमित	—वागग्निमूलमनु—	२१	—(आत्मा)	—"चत्वारो मनव-स्तथा"
(२)-चतुरशीतिकलमित	—वागग्नितूलमनु—	८४	—(पदम्)	
(३)-चतुरशीतिसहस्रकलमित	—वागग्निर्वितानमनु—	८४०००	—(पुनःपदम्)	
(४)-चतुरशीतिलक्षकलमित	—वागग्निर्महिममनु—	८४०००००	—(महिमा)	

(१७३) त्रिभूति-योग-बन्धात्मक सम्बन्ध—

तात्पर्य्य, 'मैथुनीसृष्टि' लक्षणा विकारसृष्टि के मूलप्रभव वागग्निमय वैकारिक-पार्थिव इरारसमन्वत्वेन हिरण्मय* नाम से ही प्रसिद्ध वरात्मकमन्वित मनु चतुर्धा विभक्त होकर ही अश्वत्थादि चार स्वतन्त्र विकार-सर्गों के मूलप्रवर्त्तक बन रहे हैं। सौरमण्डलमुक्त सप्तर्षिप्राण, एवं तत्सम्तुलित चतुर्धा विभक्त मनु, दोनों भावसर्गों (अव्ययात्मानुगत मानसर्गों) के आधार पर ही भूतभौतिकलक्षण-गुणाणुरेणुमूलसमन्विता मैथुनीसृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। निष्कर्ष—'भाव, गुण विकार,' इस तीन सर्गों का क्रमशः, 'अव्ययपुरुष, पराप्रकृतिलक्षण अक्षर, अपराप्रकृतिलक्षण क्षर' इन तीन आत्मभावों से क्रमिक सम्बन्ध है, जिनमें मनोमय भावसर्ग का अव्ययपुरुष से, प्राणमय गुणसर्ग का अक्षर से, वाङ्मय विकारसर्ग का क्षर से समन्वय हो रहा है। इन तीनों सर्गों को 'मनु' के सम्बन्ध से अवश्य ही 'मानवसर्ग' अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है, जिनका क्रमानुगत 'त्रिभूति-योग-बन्ध' नामक तीन रससम्बन्धों से क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

(१७४) बलों के अष्टादश (१८) विवर्त—

रसबलात्मक आत्मा का रसभाग निसर्गतः असङ्गभावापन्न है। असङ्गरस के आधार पर 'वीची-तरङ्गन्याय' से तरङ्गायित आन्दोलित उच्चावचभावेन आलोडित-विलोडित बलों का ही परस्पर सम्बन्ध धारारूप से प्रक्रान्त रहता है। यह बलसम्बन्ध 'त्रयी-अष्टादश-असंख्य' भेद से तीन श्रेणिविभागों में विभक्त माना गया है। बलों के असंख्य सम्बन्धों के कारण ही विश्वपदार्थ के नाम-रूप-कर्म-भावों में असंख्यसंख्यात परस्परविरुद्ध-अविरुद्ध-वैचित्र्यों का (भिन्नता-अभिन्नता का) उदय उपलब्ध होता है। इन असंख्य बलसम्बन्धों का एक अमुक तात्त्विक कारणविशेष के आधार पर वैज्ञानिकों नें अष्टादश

---

* सौरहिरण्मयात्मा 'विज्ञानात्मा' कहलाया है। पार्थिव इरामय आत्मा प्रज्ञानात्मा कहलाया है। विज्ञानात्मा वास्तव में हिरण्मय होने से जहाँ 'हिरण्मयपुरुष' कहलाया है, वहाँ पार्थिवप्रज्ञानात्मा इरामय होने से परोक्षभावमाध्यम से 'हिरण्मयपुरुष' मान लिया गया है, जैसाकि—'यद्धि-इरामकरत्स्मात्-हिरण्मय' इत्यादि ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है। अतएव सौरहिरण्यगर्भमनुवत् पार्थिव इरामयमनु को भी 'हिरण्मय-मनु' कहा जा सकता है।

(१८) संस्थाओं में पर्य्यवसान मान लिया है+। इन अष्टादश बलसम्बन्धों के भेद से ही रसात्मक अव्यय एक आत्मा के सोपाधिक १८ विवर्त्त हो जाते हैं+।

"१–सन्धि, २–बृहदोत्तर, ३–अन्तरान्तरीभाव, ५–अभ्युद, ६–अमितधृत्तिता, ७–उदार, ८–आमन्त्र, ९–अन्तर्याम, १०–पर्याप्तधृत्तित्त्व, ११–अन्यासक्तिधृत्तित्त्व, १२–स्वरूप, १३–चिति, १४–संशर, १५–सम्भूति १६–विभूति, १७–अनुभूति, १८–सामान्यधृत्तित्त्व," इन नामों से यत्र–तत्र निगमागमशास्त्र में उपवर्णित १८ बलसम्बन्धों का आगे जाकर वैज्ञानिकों नें तीन सूक्ष्म सम्बन्धों में ही अन्तर्भाव मान लिया है, जिन्हें पूर्व में–'विभूति–योग–बन्ध' इन नामों से व्यवहृत किया गया है। इस प्रकार असंख्य–अष्टादश–त्रय–भेद से बल सम्बन्धों के तीन श्रेणी विभाग बन जाते हैं।

बलों का पारस्परिक वह सम्बन्ध, जिसे न तो सम्बन्ध ही कहा जा सकता, एवं न असम्बन्ध ही कहा जा सकता, ऐसा 'सम्बन्ध–असम्बन्धात्मक' सम्बन्ध ही 'विभूतिसम्बन्ध' माना गया है। मावसर्गप्रवर्त्तक अव्ययात्मा किंवा मनोमय अव्ययात्मरूप धारयत्स्वरूपमूर्ति स्वयम्भूमनु इसी सम्बन्धासम्बन्धात्मक विभूतिसम्बन्ध से विश्व में व्याप्त हो रहा है। दर्पण में प्रतिबिम्बित मुखाकृति, किंवा शरीराकृति का दर्पण-पटल के साथ जो सम्बन्ध है, वही विभूतिसम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है। जलपरिपूर्णपात्र के साथ सम्बद्ध सूर्य्य-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध भी विभूत्यात्मक ही माना जायगा। यह सम्बन्ध शुद्ध बहिर्य्यामात्मक बहिर्य्यासम्बन्ध है, जिसका संसृष्टिलक्षण सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है। बलों का एवा विभूतिसम्बन्धात्मक बहिर्य्यासम्बन्ध (असम्बन्धात्मक–सम्बन्ध) कभी मूर्त्तभाव का जनक नहीं बन सकता। अतएव विभूतिसम्बन्धात्मक अव्ययकर्म को सभी वैज्ञानिकों नें 'मानससर्ग' नाम से ही घोषित किया है। मानससर्गप्रवर्त्तक, विभूतिसम्बन्धयुक्त, ज्ञानशक्तिमात्रघन, मनोमय अव्ययात्मा संसृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का केवल साक्षी ही बना रहता है, जैसा कि–'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रौतवचन से प्रमाणित है *। अतएव इसे 'सृष्टिसाक्षी' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है।

+ पाञ्चभौतिक विश्व का स्वरूप अठारह बलसम्बन्धों से समन्वित बलतत्त्व के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म' (कठोपनिषत्) के अनुसार 'अवर' नामक बलनिबन्धन भौतिक कर्म्म अष्टादशावयव ही मान लिया गया है। इसी संख्या रहस्य के आधार पर संकेतरूप से तत्त्ववाद की ओर आपप्रजा का ध्यान आकर्षित करने के लिए आर्षवैज्ञानिकों नें विश्वविद्याप्रतिपादक पुराण शास्त्र, इतिहासशास्त्र (महाभारत), स्मृतिशास्त्र–गीताशास्त्र, आदि आर्षग्रन्थों के १८ पुराण, १८ पर्व, १८ स्मृतियाँ, १८ अध्याय, इत्यादि रूप से अष्टादशसंख्या को लक्ष्य बनाया है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड के 'संख्यारहस्य' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

+ सोपाधिक इन १८ अठारह खण्डात्माओं का सुविशद वैज्ञानिक विश्लेषण खण्डचतुष्टयात्मक 'आत्मविज्ञान' नामक ग्रन्थ के 'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड में द्रष्टव्य है।

* अनादित्वात्–निर्गुणत्वात्–परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति, न लिप्यते॥

—गीता १३।३१

मूल–तूल–वितान–महिम–मनुचतुष्टयीपरिलेख–

(१)—एकविंशतिकलमितः——	वागम्निमूलमनु—	२१	—(आत्मा)	—"चत्वारो मनव–स्तथा"
(२)—चतुरशीतिकलमितः——	वागम्नितूलमनुः—	८४	—(पद्म)	
(३)—चतुरशीतिसहस्रकलमितः——	वागम्निर्वितानमनु —	८४०००	—(पुनःपद्म)	
(४)—चतुरशीतिलक्षकलमित——	वागम्निर्महिममनु —	८४०००००	—(महिमा)	

(१७३) विभूति–योग–बन्धात्मक सम्बन्ध—

तात्पर्य्य, 'मैथुनीसृष्टि' लक्षणा विकारसृष्टि के मूलप्रभव वागम्निमय वैकारिक–पार्थिव हृदयरसमकत्वेन हिरण्मय* नाम से ही प्रसिद्ध चयात्मकसमन्वित मनु चतुर्द्धा विभक्त होकर ही अण्डजादि चार स्वतन्त्र विकार सर्गों के मूलप्रवर्त्तक बन रहे हैं। खेरमयबलयुक्त सर्पिप्राण, एवं अपसमतुलित चतुर्द्धा विभक्त मनु, दोनों भावसर्गों (अव्ययात्मानुगत मानससर्गों) के आधार पर ही भूतभौतिकलक्षण–गुणाणुरेणुभूतसमन्विता मैथुनीसृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। निष्कर्षतः—'भाव, गुण विकार,' इन तीन सर्गों का क्रमशः, 'अव्ययपुरुष, परामकृतिलक्षण अक्षर, अपरामकृतिलक्षण क्षर' इन तीन आत्मभावों से क्रमिक सम्बन्ध है, जिनमें मनोमय भावसर्ग का अव्ययपुरुष से, प्राणमय गुणसर्ग का अक्षर से, वाङ्मय विकारसर्ग का क्षर से सम्बन्ध हो रहा है। इन तीनों सर्गों को 'मनु' के सम्बन्ध से अवश्य ही 'मानवसर्ग' अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है, जिनका क्रमानुगत 'विभूति–योग–बन्ध' नामक तीन बलसम्बन्धों से क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

(१७४) बलों के अष्टादश (१८) विवर्त—

रसभावात्मक आत्मा का रसभाग निर्धर्मक असङ्गभावापन्न है। असङ्गरस के आधार पर 'वीची-तरङ्गन्याय' से सरङ्गायित आन्दोलित उच्चावचभावेन आलोकित–विलोकित बलों का ही परस्पर सम्बन्ध धारारूप से प्रक्रान्त रहता है। यह बलसम्बन्ध 'त्रयी–अष्टादश–असंख्य' भेद से तीन श्रेणिविभागों में विभक्त माना गया है। बलों के असंख्य सम्बन्धों के कारण ही विश्वपदार्थ के नाम–रूप–कर्म–भावों में असंख्यसंख्यात परस्परविरुद्ध–अविरुद्ध–वैचित्र्यों का (विभिन्नता–अभिन्नता का) उदय उपलब्ध होता है। इन असंख्य बलसम्बन्धों का एक अमुक तात्त्विक कारणविशेष के आधार पर वैज्ञानिकों ने अष्टादश

---

* खेरहिरण्मयात्मा 'विज्ञानात्मा' कहलाया है। पार्थिव हृदयमय आत्मा प्रज्ञानात्मा कहलाया है। विज्ञानात्मा वास्तव में हिरण्मय होने से जहाँ 'हिरण्मयपुरुष' कहलाया है, वहाँ पार्थिवप्रज्ञानात्मा हृदयमय होने से परोक्षभावमाध्यम से 'हिरण्मयपुरुष' मान लिया गया है, जैसाकि—'यद्धि–हृदामकत्वस्मात्–हिरण्मयः' इत्यादि ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है। अतएव खेरहिरण्यगर्भमनुवत् पार्थिव हृदयमयमनु को भी 'हिरण्मय मनु' कहा जा सकता है।

(१८) संख्याओं में पर्य्यवसान मान लिया है÷। इन अष्टादश बलसम्बन्धों के [illegible]
एक आत्मा के सोपाधिक १८ विवर्त्त हो जाते हैं+।

"१–सन्धि, २–ब्रह्मोत्तर, ३–अन्तरान्तरीभाव, ५–अभ्यूह, ६–[illegible]
८–आसङ्ग, ९–अन्तर्य्याम, १०–पर्यवगृध्नित्व, ११–अन्यावधिग्रस्तित्व, [illegible]
१४–संसार, १५–सम्भूति १६–विभूति, १७–अनुभूति, १८–सामानाधिकरण्य," इन [illegible]
निगमागमशास्त्र में उपवर्णित १८ बलसम्बन्धों का आगे चाकर वैज्ञानिकों नें तीन मुख्य सम्बन्ध [illegible]
र्भाव मान लिया है, जिन्हें पूर्व में–'विभूति–योग–बन्ध' इन नामों से व्यवहृत किया गया है। [illegible]
असंख्य–अध्यदश–त्रय–भेद से बल सम्बन्धों के तीन श्रेणी विभाग बन जाते हैं।

बलों का पारस्परिक वह सम्बन्ध, जिसे न तो सम्बन्ध ही कहा जा सकता, एवं न [illegible]
जा सकता, ऐसा 'सम्बन्ध–असम्बन्धात्मक' सम्बन्ध ही 'विभूतिसम्बन्ध' माना गया है। [illegible]
अव्ययात्मा किंवा मनोमय अव्ययात्मरूप शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति स्वयम्भूमनु इसी सम्बन्धासम्बन्धात्मक [illegible]
से विश्व में व्याप्त हो रहा है। दर्पण में प्रतिबिम्बित मुखाकृति, किंवा शरीराकृति का [illegible]
जो सम्बन्ध है, वही विभूतिसम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है। जलपरिपूर्णपात्र के [illegible]
प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध भी विभूत्यात्मक ही माना जायगा। यह सम्बन्ध शुद्ध बहिर्व्याप्त्यात्मक [illegible]
जिसका संश्लिष्टलक्षणा सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है। बलों का ऐसा विभूतिसम्बन्धात्मक [illegible]
(असम्बन्धात्मक–सम्बन्ध) कभी मूर्त्तभाव का जनक नहीं बन सकता। अतएव विभूतिसम्बन्धात्मक [illegible]
सर्ग को सर्वज्ञ वैज्ञानिकों नें 'मानससर्ग' नाम से ही घोषित किया है। मानससर्गप्रवर्त्तक, [illegible]
ज्ञानशक्तिमात्रघन, मनोमय अव्ययात्मा संश्लिष्टलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का केवल साक्षी ही बना रहता है, [illegible]
'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रौतवचन से प्रमाणित है *। अतएव इस [illegible]
नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है।

÷ पाञ्चभौतिक विश्व का स्वरूप अठारह बलसम्बन्धों से समन्वित [illegible]
प्रतिष्ठित है। अतएव 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म' (कठोपनिषत्) के अनुसार 'अवर' नामक [illegible]
भौतिक कर्म्म अष्टादशावयव ही मान लिया गया है। इसी संख्या रहस्य के आधार पर [illegible]
तत्त्ववाद की ओर साधकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए आर्षवैज्ञानिकों ने [illegible]
शास्त्र, इतिहासशास्त्र (महाभारत), स्मृतिशास्त्र–गीताशास्त्र, आदि [illegible]
१८ पर्व, १८ स्मृतियाँ, १८ अध्याय, इत्यादि रूप से अष्टादशसंख्या को लक्ष्य बनाया है, [illegible]
वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड के 'संख्यारहस्य' नामक [illegible]
प्रकरण में देखना चाहिए।

+ सोपाधिक इन १८ अठारह खण्डात्माओं का सुविशद वैज्ञानिक विश्लेषण [illegible]
'आत्मविज्ञान' नामक ग्रन्थ के 'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड में द्रष्टव्य है।

* अनादित्वात्–निर्गुणत्वात्–परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥
—गीता १३।३१

(१७५)—श्लथबन्धमीमांसा—

बलों का पारस्परिक वह सम्बन्ध, जिसे 'सम्बन्ध' सा कहा जा सकता है, किन्तु जिस सम्बन्ध में ग्रन्थिबन्धनात्मक स्वभाव नहीं है, ऐसा शिथिलबन्धात्मक सम्बन्ध ही 'योगसम्बन्ध' माना जायगा। गुणसर्गप्रवर्त्तक अक्षरात्मा, किंवा प्राणमयावरात्मरूप प्राणमूर्त्ति सौर हिरण्यगर्भ मनु इसी शिथिलबन्धात्मक योगसम्बन्ध से सृष्टि में व्याप्त हो रहा है। दर्पण में सञ्चित कृष्ण-पीत-रक्तादि रूपप्रतिमाओं का दर्पणपत्र के साथ जो सम्बन्ध है, वही योगसम्बन्ध का उदाहरण माना जायगा, जिसे थोड़े बलप्रयोग से वस्त्रादिमाध्यम से निःशेष किया जा सकता है। ऐसा श्लथसम्बन्ध भी संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का आरम्भक (उपादान) नहीं बन सकता। अतएव योगसम्बन्धात्मक अक्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें 'गुणसर्ग' कहा है, जिसका अर्थ है अभावात्मक तन्मात्रसर्ग, जो मूर्त्तसर्ग का केवल निमित्त ही बना करता है। गुणसर्गप्रवर्त्तक-योगसम्बन्धसमन्वित-शिथिलशक्तिघन-प्राणमय अक्षरात्मा ससृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का केवल निमित्त ही बना रहता है, जैसा कि—'आदिः स संयोगनिमित्तहेतु' * इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अतएव इसे 'सृष्टिनिमित्त' का अन्वर्थ कहता है।

(१७६)—पेशस्कारसम्बन्ध, और मनुत्रयी—

विजातीय बलों का वह सम्बन्ध, जिसे एकीभावात्मक (समन्वयात्मक) सम्बन्ध ('सम्' समन्वयात्मक एकीभावानुगत बन्धनात्मक) कहा गया है, ऐसे ग्रन्थिबन्धनात्मक इस अन्तर्य्यामसम्बन्ध को ही 'बन्ध' नामक सम्बन्ध माना जायगा, जिसमें समन्वित विजातीय बलों का पूर्वस्वरूप उपमर्दित हो जाता है। एवं एक नवीन मूर्त्तस्वरूप उद्बुद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अम्भ' नामक पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व (जो वर्त्तमान भूतविज्ञानवादियों का आक्सिजन तत्त्व है), एवं 'पवमान' नामक सौर आग्नेयतत्त्व (जो सम्भवतः हाइड्रोजन तत्त्व है), दोनों के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक (वर्त्तमान विज्ञानभाषा के रासायनिक मिश्रण रूप सम्बन्धात्मक) बन्धसम्बन्ध से पेय पार्थिव 'जल' की सृष्टि हुई है, जिसमें अम्भ-पवमान, दोनों का पूर्वस्वरूप उपमर्दित है, 'जल' रूप अपूर्व भाव का उदय है। सोरा-कोयला, दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से शक्तितत्त्वविशेष ('बारूद' नामक अपूर्वतत्त्व) का उदय हो जाता है। शुक्र-शोणित के अन्तर्यामात्मक सम्बन्ध से 'शिशु' रूप अपूर्व भाव समुत्पन्न हो जाता है। दर्पण-(श्वेतकाच) के साथ प्रकाशरश्मिबिन्दु (फोकस) के माध्यम से सम्बन्धित चित्र (फोटो) का दर्पणपत्र के साथ जो सम्बन्ध है, उसे बन्धसम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है। ऐसा ग्रन्थिबन्धनात्मक बन्धसम्बन्ध ही संसृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का आरम्भण (उपादानकारण) बना करता है। इस सम्बन्ध में सम्बन्धियों की क्रमा वास्तव में [illegible] पूर्वस्थितियों की उपमर्द न हो जाता है। अतएव इसे 'विकृतिसम्बन्ध' भी मान लिया गया है। [illegible] सम्बन्धात्मक क्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें 'विकारसर्ग' नाम से संग्रहीत किया है, जिसका अर्थ है

---

* आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥
—श्वे० उप० ६।५।

धामच्छद (जगह रोकने वाला) मूर्त–भूतभौतिक सर्ग । विकारसर्गप्रवर्त्तक–बन्धसम्बन्धसमन्वित–अर्थशक्तिघन वाङ्मय–क्षरात्मा ही अश्वत्थलक्षणा मूलसृष्टि का उपादानात्मक 'आरम्भण' नामक कारण बना करता है, जैसा कि– "तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय अन्यत्–नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते" (बृ० उप० ४।४।४) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। अतएव इस क्षरात्मा, किंवा वागग्निमूर्त्ति–(सोमगर्भित अग्निमूर्त्ति, अतएव अग्नीषोमात्मक) मनु को 'सृष्टि–आरम्भण' (सृष्ट्युपादान कारण) कहना अन्वर्थ बनता है। निष्कर्ष–विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धत्रयी से क्रमशः समन्वित अव्ययात्मानुगत शाश्वतब्रह्मलक्षण स्वयम्भूमनु 'सृष्टिसाक्षी' बनता हुआ 'विश्वाधार' है, यही भावसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। अक्षरात्मानुगत प्राण लक्षण हिरण्यगर्भ सौरमनु 'सृष्टिकर्त्ता' बनता हुआ 'विश्वनिमित्त' है, यही गुणसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। एवं अक्षरात्मानुगत वागग्निलक्षण इरामय पार्थिवमनु 'सृष्टि-उपादान' बनता हुआ 'विश्वोपादान' है, यही विकार-सर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। इस प्रकार अपने आधार–निमित्त–उपादानभावात्मक विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धभावों में परिणत होता हुआ मनःप्राणवाङ्मय–शाश्वतब्रह्म–प्राण–अग्निमूर्त्ति स्वायम्भुव–सौर–पार्थिव मनु ही सर्वथा प्रमाणित हो रहा है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

(१७५)—श्लथबन्धमीमांसा—

सर्गों का पारस्परिक वह सम्बन्ध, जिसे 'सम्बन्ध' तो कहा जा सकता है, किन्तु जिस सम्बन्ध में ग्रन्थि बन्धनात्मक स्वभाव नहीं है, ऐसा शिथिलबन्धात्मक सम्बन्ध ही 'योगसम्बन्ध' माना जायगा। गुणसर्ग प्रवर्त्तक अक्षरात्मा, किंवा प्राणमयाक्षरात्मरूप प्राणमूर्त्ति सौर हिरण्यगर्भ मनु इसी शिथिलबन्धात्मक योग-सम्बन्ध से सृष्टि में व्याप्त हो रहा है। दर्पण में सन्निहित कृष्ण-पीत-रक्तादि रूपप्रतिमाओं का दर्पणपृष्ठ के साथ जो सम्बन्ध है, वही योगसम्बन्ध का उदाहरण माना जायगा, जिसे थोड़े जलप्रयोग से जलादिमाध्यम से निःशेष किया जा सकता है। ऐसा श्लथसम्बन्ध भी संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का आरम्भक (उपादान) नहीं बन सकता। अतएव योगसम्बन्धात्मक अक्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें 'गुणसर्ग' कहा है, जिसका अर्थ है प्रधानभूत तन्मात्रसर्ग, जो मूर्त्तसर्ग का केवल निमित्त ही बना करता है। गुणसर्गप्रवर्त्तक-योगसम्बन्धसमन्वित-क्रिया-शक्तिघन-प्राणमय अक्षरात्मा संसृष्टिलक्षणा मूल सृष्टि का केवल निमित्त ही बना रहता है, जैसा कि— 'आदि स संयोगनिमित्तहेतु'* इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अतएव इसे 'सृष्टिनिमित्त' नाम अन्वर्थ बनता है।

(१७६)—पेशस्कारसम्बन्ध, और मनुत्रयी—

विजातीय सर्गों का वह सम्बन्ध, जिसे एकीभावात्मक (समन्वयात्मक) सम्बन्ध ('सम्' बन्धनात्मक-एकीभावानुगत बन्धनात्मक) कहा गया है, ऐसे ग्रन्थिबन्धनात्मक इस अन्तर्य्यामसम्बन्ध को ही 'बन्ध' नामक सम्बन्ध माना जायगा, जिसमें समन्वित विजातीय सर्गों का पूर्वस्वरूप उपमर्दित हो जाता है। एवं अपूर्व नवीन मूर्त्तस्वरूप उद्बुद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अम्भ' नामक पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व (जो सम्भवतः वर्त्तमान भूतविज्ञानवादियों का आक्सिजन तत्त्व हो), एवं 'पवमान' नामक सौर आग्नेयतत्त्व (जो सम्भवतः हाइड्रोजन तत्त्व हो), दोनों के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक (वर्त्तमान विज्ञानकाण्ड के रासायनिक मिश्रण रूप सम्बन्धात्मक) बन्धसम्बन्ध से पेय पार्थिव 'जल' की सृष्टि हुई है, जिसमें अम्भ-पवमान, दोनों का पूर्वस्वरूप उपमर्दित है, 'जल' रूप अपूर्व भाव का उदय है। सोरा-कोयला, दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से दाह्यतत्त्वविशेष ('बारूद' नामक अपूर्वतत्त्व) का उदय हो जाता है। शुक्र-शोणित के बन्धनात्मक सम्बन्ध से 'शिशु' रूप अपूर्व भाव समुत्पन्न हो जाता है। दर्पण-(श्वेतकाच) के साथ प्रतीक-प्रतिबिम्बु (फोकस) के माध्यम से सम्बन्धित चित्र (फोटो) का दर्पणपृष्ठ के साथ जो दृढ़सम्बन्ध है, उसे भी बन्धसम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है। ऐसा ग्रन्थिबन्धनात्मक बन्धसम्बन्ध ही संसृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का आरम्भक (उपादानकारण) बना करता है। इस सम्बन्ध में सम्बन्धियों की स्वरूपात्मिका पूर्वप्रवृत्तियों की उपमर्द न हो जाता है। अतएव इसे 'विकृतिसम्बन्ध' भी मान लिया गया है। एवं बन्धसम्बन्धात्मक क्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें 'विकारसर्ग' नाम से संग्रहीत किया है, जिसका अर्थ है ...

---

* आदि: स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥
—श्वे० उप० ६।५।

धामच्छद (जगँह रोकने वाला) मूर्त्त–भूतभौतिक सर्ग। विकारसर्गप्रवर्त्तक–बन्धसम्बन्धसमन्वित–अर्थशक्तिघन वाङ्मय–क्षरात्मा ही अश्वत्थलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का उपादानात्मक 'आरम्भण' नामक कारण बना करता है, जैसा कि– "तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय अन्यत्–नवतर कल्याणतरं रूपं तनुते" (बृ० उप० ४।४।४) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। अतएव इस क्षरात्मा, किंवा वागग्निमूर्त्ति–(सोमगर्भित अग्निमूर्त्ति, अतएव अग्नीषोमात्मक) मनु को 'सृष्टि–आरम्भण' (सृष्ट्युपादान कारण) कहना अन्वर्थ बनता है। निष्कर्षतः–विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धत्रयी से क्रमशः समन्वित अव्ययात्मानुगत शाश्वतब्रह्मलक्षण स्वयम्भूमनु 'सृष्टिसाक्षी' बनता हुआ 'विश्वाधार' है, यही भावसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। अक्षरात्मानुगत प्राण लक्षण हिरण्यगर्भ सौरमनु 'सृष्टिकर्त्ता' बनता हुआ 'विश्वनिमित्त' है, यही गुणसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। एवं अक्षरात्मानुगत वागग्निलक्षण इरामय पार्थिवमनु 'सृष्टि-उपादान' बनता हुआ 'विश्वोपादान' है, यही विकार-सर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। इस प्रकार अपने आधार–निमित्त–उपादानभावात्मक विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धभावों में परिणत होता हुआ मनःप्राणवाङ्मय–शाश्वतब्रह्म–माया–अग्निमूर्त्ति स्वायम्भुव–सौर–पार्थिव मनु ही सर्वस्वा प्रमाणित हो रहा है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

मूलात्ममनुःस्वरूपपरिलेखः—

परात्परो—मायातीत

स्वयम्भूमूर्त्ति—निष्कल—परात्परपुरुषोऽव्ययात्मा

मनःप्राणवाङ्मयः प्रजापतिः

मूलात्मा

अव्ययात्मा
मनोमयः

अक्षरात्मा
प्राणमयः

क्षरात्मा
वाङ्मयः

मनः
ज्ञानम्
चिदात्मा
साक्षिभावी

प्राणः
क्रिया
कर्मात्मा
सृष्टिनिमित्त

वाक्
अर्थः
भूतात्मा
सृष्टि-उपादान

शास्त्रज्ञमूर्त्तिः
स्वयम्भूः
स्वायम्भुवमनुः
भावसर्गाधिष्ठाता
विभूतिसम्बन्धेन

प्राणमूर्त्तिः
हिरण्यगर्भः
सौरमनुः
गुणसर्गाधिष्ठाता
योगसम्बन्धेन

वागग्निमूर्त्ति
इरागभः
पार्थिवमनु
विकारसर्गाधिष्ठाता
बन्धसम्बन्धेन

एतमेके वदन्त्यग्निं—मनुमन्ये प्रजापतिम्
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम्

सोऽयं मनुः सर्वाधिष्ठाता—सर्वनिमित्त—
सर्वरूप

परात्परो मायातीतः

(१७७) मनुसृष्टि के सामान्य अनुबन्ध—

त्रिविध मानवसर्ग (भाव–गुण–विकारसर्ग) से सम्बन्ध रखने वाले प्रक्रान्त विश्वस्वरूपमीमांसा–प्रकरण में सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक मन्वथर्शोधानुसारिणी नैगमिक परिभाषाओं का प्रासङ्गिक विश्लेषण पाठकों के सम्मुख समुपस्थित किया गया। अब संक्षेप से सृष्टि के सामान्य सर्गों से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक उन अनुबन्ध–भावों का दिग्दर्शन उपक्रान्त हो रहा है, जिनके कारण परस्परात्यन्त भी विरुद्ध विश्वसर्गों का सर्गत्वेन समसमन्वय हो रहा है। प्रत्येक नवीन कार्य्य में, किंवा नूतन सर्ग में 'कामना–तप–श्रम' इन तीन सामान्य भावों का सम्बन्ध रहता है, जो क्रमशः पूर्वप्रतिपादित 'विभूति–योग–बन्ध' सम्बन्धों से समतुलित है। विभूतिसम्बन्धात्मिका कामना, योगसम्बन्धात्मक तप, एवं बन्ध सम्बन्धात्मक श्रम, तीनों भाव प्रत्येक सर्ग में अनिवार्य्यरूपेण क्योंकि समन्वित रहते हैं, अतएव इन तीनों को हम अवश्य ही 'सृष्टिसामान्यानुबन्ध' कह सकते हैं। बिना कामना के किसी भी क्रिया की प्रवृत्ति शक्य नहीं है। अतएव इस कामनानुबन्ध को सर्वप्रथम, तथा मुख्य अनुबन्ध माना जायगा, जिसका कि–'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादिरूप से पूर्व में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण किया जा चुका है*।

"हम अमुक कार्य्य करना चाहते हैं" इस कामना का उक्थभावापन्न कामसमुद्र+ मन से सम्बन्ध है। मन ही कामना का उक्थ (मूलप्रभव) माना गया है। कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में ही दूसरे योग सम्बन्धात्मक 'तप' नामक अनुबन्ध का उदय हो पड़ता है, जो उक्थमन से प्राणद्वारा विनिर्गत बनता हुआ 'अर्क' नाम से प्रसिद्ध है। इच्छोदय के अनन्तर इच्छा को कार्य्यरूप (मूर्त रूप) में परिणत कर देनेवाला जो आभ्यन्तर सूक्ष्म व्यापार है, वही विज्ञानभाषा में 'तप' कहलाया है, जो शारीरिक आग्नेय आङ्गिरस प्राण, तथा सौम्य भार्गवप्राण से अनुप्राणित रहता हुआ–'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' इस श्रौत परिभाषा को चरितार्थ बना रहा है। 'प्राणदान' रूप प्राणविसर्ग ही तप का स्वरूपलक्षण है। अपनी इच्छा के द्वारा मानव किसी बाह्यपरिग्रह–सम्पत्–भूत भाग का ही तो आदान करना चाहता है। 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' सिद्धान्तानुसार मानव स्वतोभावेन प्रकृत्या भी परिपूर्ण है, एवं पूर्णपुरुषात्मक मनोमय स्वायम्भुमनु के भावसर्ग से समतुलित रहता हुआ भी परिपूर्ण है। अतएव तदवधिपर्य्यन्त मानव में अन्य बाह्य भौतिक सम्पत्तिपरिग्रह संस्कार का अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठापन सम्भव नहीं है, यत्तावधिपर्य्यन्त यह अपने परिपूर्ण प्राकृत आध्यात्मिक भार्गवाङ्गिरसप्राण को संघर्षद्वारा भविष्य में समागत होने वाली संस्काररूपा बाह्यसम्पत्परिग्रह के प्रतिष्ठापन के लिए रिक्त नहीं बना लेता। इस रिक्तता–सम्पादन के लिए होने वाला प्राणसंघर्षात्मक

---

* अकामस्य क्रिया काचित्–दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
—मनु २।४।

\+ काम समुद्रमाविशेत्याह। समुद्र इव हि काम।
नव हि कामस्यान्तोऽस्ति, न समुद्रस्य।
—तै० ब्रा० २।२ ५।५।६।

आभ्यन्तर व्यापार ही 'तप' है, जिसका मौलिक अर्थ है- स्वप्राणदान'। इसी आधार पर श्रुति का- 'प्राणेनैके अमृतत्त्वमानशु:' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने तप का लक्षण किया है—

"एतद्वै तप इत्याहु:—यत् स्वं ददाति" (तै॰ ब्राह्मण)।

(१७८) तप और क्रतुमीमांसा—

त्यागपूर्वक ही आदान सम्भव है, संघर्ष ही त्याग का मूलप्रभव माना गया है, त्याग ही संग्रह की प्रतिष्ठा बना करता है। यह सर्वात्मना सुनिश्चित है कि, जो मानव प्राणसंघर्षद्वारा प्राणत्यागपूर्वक परिपूर्ण प्राकृतिक-संघर्षपूर्वक भावसम्पत् का अर्जन करता है, उस मानव की सम्पत् में ही स्थायित्व धर्म्म समाविष्ट रहा करता है। ठीक इसके विपरीत जो लालस मानवाभास अपने आपको सर्वात्मना संघर्ष से बचाने के लिए प्रयत्नशील बना रहता हुआ धूर्तता-छल-व्याजभावों के माध्यम से अनायासेन सम्पत्ति की लालसा लिप्सा-एषणा-में प्रवृत्त रहता है, सर्वप्रथम तो वह वास्तविक सम्पत्-संग्रह में सफलता प्राप्त कर ही नहीं सकता। यदि घुणाक्षरन्यायेन इसकी यह लिप्सा कथंचित् सफल हो भी जाती है, तो भी ऐसी संघर्षशून्या सम्पत् के उपभोग में यह मानव रसानुभूतिलक्षणा तृप्ति-शान्ति तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-समृद्धिभावों का संस्पर्श भी प्राप्त नहीं कर सकता। प्राणदानरूपा तपस्या के द्वारा प्राप्त सम्पत् में ही स्थिरता है, तृप्त्यनुभूति है। अतएव लोक में —'यह हमारे पसीने की गाढ़ा (स्थिर) कमाई है' यह आभाणक प्रसिद्ध है। वक्तव्य यही है कि, इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाल में ही शारीरिक प्राण में एक प्रकार का संघर्ष हो पड़ता है, भीतर 'हलचल' सी मच जाती है। यही अन्तर्व्यापार है, जिसे विज्ञानभाषा में 'तप', याज्ञिकपरिभाषा में 'क्रतु', व्यवहारभाषा (संस्कृतभाषा) में 'कृति-यत्न-चेष्टा', एवं यावनीभाषा में 'कोशिश' आदि विविध अभिधाओं से व्यवहृत हुआ है।

(१७९) श्रम, और कृत-मीमांसा—

तपोलक्षण मानसव्यापार के अनन्तर ही वाङ्मय शरीरव्यापार हो पड़ता है। यही स्थूल व्यापार है, भूतव्यापार है, जिसे 'वाग्व्यापार' भी कहा जा सकता है। विज्ञानभाषा में यही 'श्रम' नाम से प्रसिद्ध है, यज्ञभाषा में यही 'दक्ष' नाम से प्रसिद्ध है, संस्कृतभाषा में यही 'कर्म्म-अध्यवसाय-' आदि नामों से प्रसिद्ध है। मानसिक श्रम ही इच्छा है, प्राणात्मक श्रम ही तप है, एवं वाङ्मय शारीरिक श्रम ही श्रम है, यही निष्कर्ष है। मानव ने इच्छा की कि, अपने नैसर्गिक ब्राह्मणवर्ण के अनुरूप उत्तरराशि में ईशचिन्तनपूर्वक निगमस्वाध्यायनिष्ठा आरम्भ की जाय, इस इच्छा से इस नैगमिक मानव के प्राण उद्दीप्त हो पड़े, नित्यकर्म्म से निवृत्त हो 'तस्यां जागर्त्ति संयमी' को अन्वर्थ बनाता हुआ यह स्वाध्यायचेष्टा में प्रवृत्त हो पड़ा, तात्पर्य्य शरीर में प्राणसञ्चार हो पड़ा। अनन्तर स्वाध्यायनिष्ठा में प्रवृत्त हो गया, तात्पर्य्य शरीरयष्टि-तदनुगभी इन्द्रियवर्ग-मन-बुद्धि-वाग्व्यवहाररूप स्वाध्याय कर्म्म में समाविष्ट हो पड़े। मूलमें रहा ही इच्छा कहलाई, प्राणमें रहा हो तप कहलाया, एवं शरीरव्यापार ही श्रम कहलाया। इस प्रकार इच्छा-क्रतु-कर्म्म नामक-काम तप-श्रम, इन तीन व्यापारों के समसमन्वय से ही मानव के इस कर्म्मविभूतिलक्षण 'कृत' का स्वरूप-निर्माण सम्भव बन सका, जैसा कि वैज्ञानिकोंने कहा है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्य 'क्रतु' र्भवेत् ।
क्रतुजन्य भवेद् कर्म्म, यदेतद् "कृत" मुच्यते ।

(१८०) ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वम्—

दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्यात्मसंस्था में कारणशरीर–सूक्ष्मशरीर–स्थूलशरीर, ये तीन विवर्त्त माने गए हैं। इस दृष्टिकोण के साथ भी उक्त अनुबन्धत्रयी स्वात्मना समन्वित हो रही है। मनोमयी काम भावात्मिका आत्मकला कारणशरीर है, जिसका मनोमय अव्ययात्मा (परात्मा) से सम्बन्ध है। प्राणमयी तपोभावात्मिका आत्मकला सूक्ष्मशरीर है, जिसका प्राणमय अक्षरात्मा (परमात्मा) से सम्बन्ध है। एवं वाङ्मयी श्रमभावात्मिका आत्मकला स्थूलशरीर है, जिसका वाङ्मय क्षरात्मा (अवरात्मा) से सम्बन्ध है। सुसूक्ष्म मन, सूक्ष्म प्राण, आत्मा की ये दोनों आभ्यन्तर कलाएँ अपने स्वाभाविक अव्यय-अक्षर-धर्म्मों से निर्विकार हैं–अविकृतावस्था हैं। अतएव इन दो कलाओं की समदृष्टि को तो 'आत्मा' मान लिया जाता है, एवं तीसरी स्थूलभावापन्ना वाक्कला को क्षरधर्म्मानुगत विकारभाव के अनुबन्ध से 'विश्व' मान लिया गया है। इस प्रकार त्रिकल–त्रिभावापन्न एक ही आत्मा–वही आत्मा–मन प्राणरूप से आत्मा, तथा वागरूप से 'विश्व', इन दो भावों में परिणत होता हुआ 'आत्मन्वी'–प्रजापति' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है, जिस प्रसिद्धि के आधार बने हुए हैं–'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'–'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि नैगमिक सिद्धान्त।

(१८१) यत्सप्तान्नानि—

मन-प्राणमय आभ्यन्तर आत्मा से बलचिति के द्वारा सर्वप्रथम 'वाक्' रूप क्षरभाव का ही विकास होता है। यह वाक् ही पहिला 'आकाशभूत' है। बलचितिलक्षणा बलग्रन्थि की क्रमिक वृद्धि–विकास से यह वागाकाश ही क्रमशः वायु–अग्नि–आप–पृथिवी (मृत्)–इन चार सर्गों का जनक बनता है। इस प्रकार आत्मा (मन-प्राण) से समुद्भूत क्षरवाक् हो आकाशादि पञ्चभूतों में परिणत होती हुई विश्वस्वरूपसमर्पिका बन रही है। अतएव–'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'–'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि रूप से पाञ्च भौतिक विश्व को वाङ्मय कहना अन्वर्थ बन रहा है। तैत्तिरीय उपनिषत् ने भी इसी क्रम से आत्मकर्म्म का स्वरूप–विश्लेषण किया है, जैसा कि–"तस्माद्वा एतस्मादात्मन–आकाशः सम्भूत', आकाशाद्वायु', वायोरग्नि', अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी। (तै० उप० २।१।) । निष्कर्ष यही है कि, मन-प्राणवाक् इन तीन आत्मकलाओं की तीसरी वाक्कला के पाञ्चविध्य से क्रमशः १–मन २–प्राण, ३–वाक् (आकाश), ४–वायु ५–अग्नि ६–आप, ७–मृत्" ये सात कलाएँ हो जाती हैं, जिनके आधार पर 'यत्सप्तान्नानि तपसाऽजनयत् पिता' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार अध्यात्मसंस्थानुगत सप्तविध अन्न–विवर्त्तों की व्यवस्था हुई है।

(१८२)—अन्नानुगत स्वातन्त्र्य–पारतन्त्र्य—

मानसकला का अन्न 'ज्ञान' [१] है प्राणकला का अन्न 'कर्म्म' [२] है, वागरूपा आकाशकला का अन्न 'शब्द' [३] है वायुकला का अन्न 'श्वासप्रश्वास' [४] है, अग्निकला का अन्न पञ्चज्योति' [५] (प्रकाश) है। आपःकला का अन्न 'भर' [६] नामक पय जल है, एवं मृत्'कला का अन्न 'यव–गोधूमादि ओषधिलक्षण,

तथा आम्रादि वनस्पतिलक्षण 'अन्न' है, जिसका स्थूलरूप से गलाघःकरणानुकूल व्यापार द्वारा निगरण किया जाता है। जिस परमात्मशक्ति–जगन्माता जगदम्बा–महामाया–के द्वारा प्राकृतिक विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए इन सप्तविध अन्नों का प्रादुर्भाव हुआ है, एवं जिस महामाया के निःसीम अनुग्रह से पाँच अन्न मानव को बिना कुछ प्रयास किए प्रकृत्या सहजरूप से उपलब्ध हैं, उस महामाया के द्वारा षष्ठ–सप्तम अन्नों की भी व्यवस्था उसी प्राकृतरूप से सम्भव थी। निश्चित था कि, मानव को यत्रतत्र सर्वत्र सुविधा-कामना-के अनुसार बने-बनाए लेह्य-भोज्य-पदार्थ उपलब्ध हो जाते, एवं श्वासप्रश्वासादि की भाँति जल भी बिना प्रयास के ही गलाधःकरणानुकूलव्यापारमाध्यमद्वारा पिपासाशान्ति का कारण बनता रहता। इस प्रकार मानव अपनी सप्तविध अन्नव्यवस्था के सम्बन्ध में सर्वात्मना सुनिश्चिन्त बन जाता। परिणाम, किंवा दुष्परिणाम होता उस दशा में मानव का यही कि, अन्नव्यवस्था की ओर से निश्चिन्त बना हुआ मानव सर्वात्मना अकर्म्मण्य बना रह जाता। येन-केन प्रकारेण मानव कर्म्मठ बना रहे, जिससे इसकी जीवनीय शक्तियाँ सुविकसित बनी रहें, जीवनविकासमूलक सहज संघर्ष से यह सर्वात्मना विमुख न बन जाय, एकमात्र इसी लक्ष्य से परमात्मशक्ति के द्वारा सात अन्नों में से छठे सातवें जलान्न–मृदन्न, इन अन्न के दो भागों के सम्बन्ध में पारतन्त्र्य विहित हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत निबन्ध के उत्तर खण्ड की प्रतीक्षा कर रहा है।

(१८३) अनुकूलतावादी सर्वशून्यमानव—

मनोभाव मानव की अध्यात्मसंस्था का 'कारणशरीर' है, यही दार्शनिक जगत् की "प्रज्ञामात्रा" का अधिष्ठान है। प्राणभाव 'सूक्ष्मशरीर" है, यही 'प्राणमात्रा" का आधार है। एवं पञ्चभूतात्मक वाग्भाव 'स्थूलशरीर" है, यही 'भूतमात्रा" का आलम्बन है। कर्म्ममात्र की, सम्पूर्ण कर्म्मों की स्वरूप-सिद्धि के लिए इन तीनों मात्राओं का यथानुरूप व्यवस्थापूर्वक समन्वय अपेक्षित है। कारणशरीर लक्षण मनोभावात्मक प्रज्ञाभाव का व्यापार ही इच्छा है, सूक्ष्मशरीरलक्षण प्राणभावात्मक प्राणभाव का व्यापार ही तप है, एवं स्थूलशरीरलक्षण वाग्भावात्मक भूतभाव का व्यापार ही श्रम है। इच्छा–तप–श्रम तीनों का अनुरूप समन्वय ही कार्य्यसिद्धि का निश्चित राजपथ है, जिसे सर्वात्मना विस्मृत कर अनुकूलतावादी–संघर्षशून्य–प्राणव्यापारलक्षण तपोयोगवञ्चित स्थूलशरीरमात्रपरायण वर्त्तमानयुग के मानव ने सब कुछ विस्मृत कर दिया है।

(१८४) प्रणववाचकतामीमांसा—

एक प्रासङ्गिक निरलेपणा और। पूर्व में हमनें 'कामना-इच्छा' दोनों शब्दों को पर्य्यायदृष्टि से उद्धृत किया है। परन्तु यथार्थ में ऐसा है नहीं। दोनों शब्द ईश्वरीय कर्म्म, जैवकर्म्म, भेद से सर्वथा भिन्नार्थ हैं। ईश्वर की इच्छा 'कामना' ही कहलाई है, एवं जीव की कामना 'इच्छा' ही कहलाई है। इस विभेद का मौलिक रहस्य यद्यपि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। तथापि सन्दर्भसङ्गतिरक्षया यहाँ भी सिंहाव-लोकन समुचित होगा। परमव्रतियों में मनोमय अव्ययात्मा अपने असङ्गभाव से निर्लिप्त है, सर्वात्माप है, उसी प्रकार वैसेहि शब्दब्रह्म विधा में 'अ' कार व्यापक है। आप यद अनुभव करेंगे कि, अकार के उच्चारण में कण्ठ तात्वादिस्थान मिलने नहीं पाते। अपितु अकार असङ्गरूप से ही उच्चरित है। तात्पर्य,

परब्रह्मविवर्त्त में जैसा स्वरूप 'मनोमय-अव्ययात्मा' का है, शब्दब्रह्मविवर्त्त में ठीक वैसा ही स्वरूप 'अ'कार का है। अतएव वैज्ञानिकोंने संकेतविद्या के आधार पर 'अ' कार को 'मन' का वाचक मान लिया है। प्राणमय अक्षरात्मा सृष्टि का निमित्तकारण घोषित किया गया है। असङ्ग अव्ययात्मा, ससङ्ग क्षरात्मा, इन दोनों के मध्य में सुप्रतिष्ठित अक्षरात्मा असङ्ग-ससङ्ग दोनों धर्म्मों से समन्वित रहता है। अव्ययापेक्षया यह अक्षर स्थूलवत् है-ससङ्गवत् है, तो क्षरापेक्षया यही सूक्ष्मवत् है-असङ्गवत् है। अतएव न यह विशुद्ध असङ्ग ही है, न विशुद्ध ससङ्ग ही है। अपितु उभयधर्म्माक्रान्त है। ठीक ऐसा ही स्वरूप शब्दब्रह्मविवर्त्त में 'उ' कार का है। 'उ' कारोच्चारणकाल में ओष्ठपुट संकुचित हो जाते हैं। यही इसका ससङ्ग-स्थूलभाव है। ओष्ठपुट सर्वात्मना संसृष्ट नहीं बन पाते। यही इस उकार का असङ्ग-सूक्ष्मभाव है। इसी दृष्टि से प्राणमय अक्षर, एवं उकार, दोनों, को समतुलित माना जा सकता है। इस आधारपर 'उ' कार को प्राणमय अक्षर का वाचक मान लिया गया है। वाङ्मय क्षरात्मा को ही सृष्टि का उपादान कारण माना गया है। स्वान्त में प्रतिष्ठित विश्वसर्जक यह सर्वथा ससङ्ग-स्थूल-संसृष्ट संसृष्ट है। शब्ददृष्टि में यही स्वरूप 'म'कार का है। मकारोच्चारणकाल में दोनों ओष्ठपुट उसी प्रकार संसृष्ट हो जाते हैं (मिल जाते हैं), जैसे क्षरों का चितिभाव सर्वात्मना संसृष्ट-संसृष्ट हो जाया करता है। इसी समतुलनात्मक सादृश्य के आधार पर 'म' कार को वाङ्मय क्षर का वाचक मान लिया गया है।

यद्यपि मकारवत् 'प-फ-ब-भ' इन चारों वर्णों के उच्चारण में भी ओष्ठपुटद्वय संसृष्ट हो जाते हैं। तथापि इन चारों वर्णों में नासिक्यभाव नहीं है, अतएव इन्हें पूर्ण संसृष्ट, पूर्ण ससङ्ग नहीं माना जा सकता, जैसाकि 'पथ्यास्वस्तिविज्ञान' नामक 'वैदिकवर्णमातृकाविज्ञान' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से प्रतिपादित है। इधर 'म'कार में नासिक्यभाव का भी समावेश हो रहा है। अतएव 'कादयो मावसाना स्पर्शाः' इत्यादि सिद्धान्तानुसार ककार से आरम्भ कर मकारपर्य्यन्त व्याप्त स्पृष्टवर्णों में मकार अन्तिम एवं पूर्ण ससङ्ग-संसृष्टभावात्मक प्रमाणित हो रहा है। अतएव वैज्ञानिकोंने अन्य किसी स्पृष्टवर्ण को क्षर का वाचक न मान कर मकार को ही क्षरत्वेन स्वीकार माना है।

अकार-उकार-मकार, इन तीन शब्दब्रह्ममात्राओं से क्रमेण समतुलित अव्यय-अक्षर-क्षर, तीनों आत्मकलायें स्वतन्त्र तीन लयक (लयकात्मा) हैं। ये तीनों लयकात्मा, उस तुरीय अर्द्ध मात्रिक, सत्त्वत, अमात्रिक परात्परब्रह्म के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं, जिसे शब्दब्रह्मवेत्ता 'असत्त्वक स्फोट' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। यही सुप्रसिद्ध प्रणवविद्या की अनुच्चार्य्या नित्या यह अर्द्ध मात्रा है, जिसकी सत्सम्प्रदाय में रहस्यपूर्णा उपासनापद्धति आम्नायसिद्धा बन रही है *। अर्द्ध मात्रिक रूप अमात्रिक असत्त्वक स्फोट असत्त्वक परात्पर से, अकार मनोमय अव्ययात्मा से, उकार प्राणमय अक्षरात्मा से, एवं मकार वाङ्मय क्षरात्मा से समतुलित है। 'अर्द्ध मात्रा'-अ'-उ'-म्'' यही प्रणवोङ्कार का स्वरूपलक्षण है, जो उक्त समतुलन के आधार पर 'परात्पर'-अव्यय'-अक्षर क्षर' रूप आत्मभाव का वाचक माना गया है। "तस्य वाचकः प्रणवः",-

---

* अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्य्या विशेषतः ।
त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवी जननी परा ॥ (रहस्यशास्त्र-सप्तशती)

तथा आम्रादि वनस्पतिलक्षण 'अन्न'' है, जिसका स्थूलरूप से गलाधःकरणानुकूल व्यापार द्वारा निगरण किया जाता है। जिस परमात्मशक्ति–जगन्माता जगदम्बा–महामाया–के द्वारा प्राकृतिक विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए इन सप्तविध अन्नों का प्रादुर्भाव हुआ है, एवं जिस महामाया के निःसीम अनुग्रह से पाँच अन्न मानव को बिना कुछ प्रयास किए प्रकृत्या सहजरूप से उपलब्ध हैं, उस महामाया के द्वारा षष्ठ–सप्तम अन्नों की भी व्यवस्था उसी प्राकृतरूप से सम्भव थी। निश्चित था कि, मानव को यत्रतत्र सर्वत्र सुविधा-कामना-के अनुसार बने-बनाए लेह्य-चोष्य–पदार्थ उपलब्ध हो जाते, एवं श्वासप्रश्वासादि की भाँति जल भी बिना प्रयास के ही गलाधःकरणानुकूलव्यापारमाध्यमद्वारा पिपासाशान्ति का कारण बनता रहता। इस प्रकार मानव अपनी सप्तविध अन्नव्यवस्था के सम्बन्ध में सर्वात्मना सुनिश्चिन्त बन जाता। परिणाम, किंवा दुष्परिणाम होता उस दशा में मानव का यही कि, अन्नव्यवस्था की ओर से निश्चिन्त बना हुआ मानव सर्वात्मना अकर्मण्य बना रह जाता। येन-केन प्रकारेण मानव कर्म्मनिष्ठ बना रहे, जिससे इसकी जीवनीय शक्तियाँ सुविकसित बनी रहें, जीवनविकासमूलक सहज संघर्ष से यह सर्वात्मना विमुख न बन जाय, एकमात्र इसी लक्ष्य से परमात्मशक्ति के द्वारा सात अन्नों में से छठे सातवें जलान्न–भूदन्न, इन अन्न के दो अन्नों के सम्बन्ध में पारतन्त्र्य विहित हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत निबन्ध के उत्तर खण्ड की प्रतीक्षा कर रहा है।

(१८३) अनुकूलतावादी सर्वशून्यमानव—

मनोभाव मानव की अध्यात्मसंस्था का 'कारणशरीर' है, यही दार्शनिक जगत् की 'प्रज्ञामात्रा'' का अधिष्ठान है। प्राणभाव 'सूक्ष्मशरीर'' है, यही 'प्राणमात्रा'' का आधार है। एवं पञ्चभूतात्मक वाग्भाव 'स्थूलशरीर'' है, यही 'भूतमात्रा'' का आलम्बन है। कर्म्ममात्र की, सम्पूर्ण कर्म्मों की स्वरूप-सिद्धि के लिए इन तीनों मात्राओं का यथानुरूप व्यवस्थापूर्वक समन्वय अपेक्षित है। कारणशरीर अथवा मनोभावात्मक प्रज्ञाभाव का व्यापार ही इच्छा है, सूक्ष्मशरीरलक्षण प्राणभावात्मक प्राणभाव का व्यापार ही तप है, एवं स्थूलशरीरलक्षण वाग्भावात्मक भूतभाव का व्यापार ही श्रम है। इच्छा–तप–श्रम तीनों का अनुरूप समन्वय ही कार्य्यसिद्धि का निश्चित राजपथ है, जिसे सर्वात्मना विस्मृत कर अनुकूलतावादी–संघर्षशून्य–प्राणव्यापारलक्षण तपोयोगवञ्चित स्थूलशरीरमात्रपरायण वर्त्तमानयुग के मानव ने सब कुछ विस्मृत कर दिया है।

(१८४) प्रणववाचकतामीमांसा—

एक मार्म्मिक विश्लेषण और। पूर्व में हमनें 'कामना-इच्छा' दोनों शब्दों को पर्य्यायदृष्टि से उद्धृत किया है। परन्तु यथार्थ में ऐसा है नहीं। दोनों शब्द ईश्वरीय कर्म्म, जैवकर्म्म, भेद से सर्वथा विभक्त हैं। ईश्वर की इच्छा 'कामना' ही कहलाई है, एवं जीव की कामना 'इच्छा' ही कहलाई है। इस विभेद का मौलिक रहस्य यद्यपि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। तथापि सन्दर्भसङ्गतिवशात् यहाँ भी सिंहाव-लोकन समुचित होगा। परमव्रजविवर्त में मनोमय अव्ययात्मा अपने अलङ्कभाव से निर्लिप्त है, साक्षीमात्र है, उसी प्रकार जैसेकि शब्दब्रह्म विवर्त में 'अ'कार असङ्ग है। आप यह अनुभव करेंगे कि, अकार के उच्चारण में कण्ठ ताल्वादिस्थान मिलने नहीं पाते। अपितु अकार अलङ्करूप से ही उच्चरित है। तात्पर्य,

तत्र सुप्त होता हुआ पाशबन्धन मे आबद्ध बन जाता है। सांसारिक वैभव कदापि दुःख–अशान्ति–उद्वेग–के कारण नहीं हैं। यही नहीं, अपितु विश्वम्भर के उत्पत्तिस्थितिकायात्मक विश्वस्वरूप के संरक्षण से सम्बद्ध लोकस्वरूपसंरक्षणात्मक लोकसंग्रह के महान् उत्तरदायित्व की दृष्टि से यच्चयावत् लोकवैभव–सम्पूर्ण भूतभौतिक परिग्रह मानव के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है। संशोधन अपेक्षित है केवल कामनामात्र में। सहजकामनात्मक 'काम' पूर्वक संगृहीत लोकवैभव जहाँ ईश्वरवत् मानव की परिपूर्णता के संरक्षक विकासक बनते हुए आनन्दभाव के ही अनुगामी बने रहते हैं, वहाँ कृत्रिमकामनात्मिका 'इच्छा' पूर्वक संगृहीत वे ही लोकवैभव मानव की परिपूर्णता के विघातक बनते हुए आत्मनन्दस्वरूप के सहज विकास के प्रतिबन्धक ही बन जाते हैं। भूतभौतिक भोग्य परिग्रह ही 'अन्न' है। यही वैदिक परिभाषा में 'इट्' कहलाया है। अपना सहज आत्मस्वातन्त्र्य विस्मृत कर इस 'इट' (अन्नात्मक भौतिक विषय किंवा भौतिक विषयात्मक अन्न) में सुप्त हो जाने वाला मानवीय प्रज्ञानमन ही 'इट्-अन्नं-तत्र शेते' निर्वचन से 'इच्छा' कहलाया है। और यही कामना, तथा इच्छा के स्वरूपों में महान् विभेद है। प्रसङ्ग क्योंकि ईश्वरानुगता मनुसृष्टि का प्रक्रान्त है। अतएव ईश्वरीय मनुसृष्टिमीमांसा में 'कामना' को आधार मान कर ही भूतभौतिकसृष्टि की मीमांसा प्रक्रान्त रखना अनुरूप माना जायगा। काम–तपः–श्रमात्मक ईश्वरीय सामान्य सृष्टि–अनुबन्धों स्वरूपदिग्दर्शन कराया गया। अब मानवीय (मनुसम्बन्धी) भूतभौतिक सर्ग की रूपरेखा का अनुगमन प्रक्रान्त बन रहा है।

विश्वातीत-विश्वसाक्षी-विश्वकर्त्ता-विश्व-स्वरूपपरिलेखः—

१–अव्ययात्माभिन्नः—शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः—मनुर्मनोमयः—{ कामनायुक्तः (कामः)

२–अक्षरात्माभिन्नः—प्राणमूर्त्तिः—मनुः प्राणमयः—{ तपोयुक्तः (तपः)

३–क्षरात्माभिन्नः—वागग्निमूर्त्तिः—मनुः वाङ्मयः—{ श्रमयुक्तः (श्रमः)

—सृष्टिसामान्यानुबन्धत्रयी

'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्'-'तस्योपनिषदोमिति'' इत्यादिवचन शब्दब्रह्म-परब्रह्म की इसी अभिन्नता को प्रमाणित कर रहे हैं ।

(१८५)-आप्तकामस्वरूपपरिचय—

तथोपवर्णित प्रणवस्वरूप से यह स्पष्ट है कि, मनोमय अव्ययात्मा का सांकेतिक नाम 'अ' कार है। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (व्याससूत्र) ''रसो ह्येव सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'' इत्यादि सिद्धान्तानुसार आनन्द ही इस अव्ययात्मा का स्वरूपलक्षणात्मक प्रातिस्विक स्वरूप है। भौतिक आवरण आनन्दस्रोत का प्रतिबन्धक माना गया है उस दशा में, जब कि इस आवरणरूप भौतिक संस्कार के साथ आत्मा मनोद्वार से आसक्त-व्यासक्त बन जाया करता है। यद्यपि ईश्वरात्मा अपनी सहज इच्छा से घर द्वार सबकुछ बनता है, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से सब में प्रविष्ट रहता है। तथापि वह तत्र-'न सज्जते, न व्यथते'। क्यों?, इसलिए कि इसकी यह इच्छा-आकांक्षा उत्थितमावापन्ना है, सहज है, प्रकृतिसिद्ध है । सहजेच्छारूपा उत्थिताकांक्षा से आगत-समागत भूतसंस्कार कदापि आनन्दस्रोत के प्रतिबन्धक नहीं बन सकते। अव्ययेश्वरप्रजापति अपनी इस सहज इच्छा के द्वारा ही अपने स्वाभाविक उस 'आनन्द' से सदा समन्वित रहते हैं, जो आनन्दभाव संकेतपरिभाषा में 'कम्' नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर लोकभाषा में 'कम्' को सुख का पर्याय मान लिया गया है। अव्ययात्मा सदा सम्पूर्ण अवस्थाओं में आसमन्तात् (सब ओर से) 'कम्' (आनन्द) में ओतप्रोत रहता है । इसी आधार पर वैज्ञानिकोंने सृष्टिमूलभूता अव्ययात्मनिबन्धना मनोमयी ईश्वरेच्छा को 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि रूप में 'काम' (कामना) नाम से व्यवहृत किया है ।-'कम्' आनन्दभाव है। इस 'कम्' के मध्य। में भी 'अ' कार (अव्ययात्मा) प्रतिष्ठित है। अन्त में भी 'अ' कार समन्वित है। फलतः 'क-अ-म्-अ' यह स्थिति हो जाती है, जिससे 'काम' रूप निष्पन्न हुआ है । कामलक्षणा अव्ययेश्वरेच्छा विश्व के अणु अणु में व्याप्त रहती हुई भी अबन्धना है। ऐसी कामरूपा कामना केवल आत्मकामना है, आप्तकामना है , परिपूर्णकामना है ।

(१८६)-विषयेच्छास्वरूपपरिचय—

जीवात्मा (केवल मानवात्मा) ईश्वरात्मा का परिपूर्ण उदाहृत स्वरूप है। किन्तु उत्थाप्याकांक्षा-लक्षणा कामना से भूतभौतिक परिग्रह इसके स्वाभाविक आत्मविकास को योगमाया के माध्यम से आवृत-समावृत कर लेते हैं *। आसक्तिबन्धनप्रधाना इस कामना से भोग्य पदार्थों में (जिन्हें हम 'अन्न' कह सकते हैं) जीवात्मा (मानवीय मन) आसक्त-व्यासक्त होता हुआ उसी प्रकार अपना सहज ईश्वरीय विकास आवृत करता हुआ सुषुप्तवत् बन जाता है, जैसे कि एक कीट (चींटा-कीड़ा) गुड़शर्करादि में तल्लीन होकर उनमें संसृष्ट होता हुआ (ग्रन्थिबन्धनपूर्वक चिपकता हुआ) अपना सहज गतिभाव खो बैठता है। एकमात्र 'प्रज्ञापराध' नामक अपने ही दोष से मानव ईश्वरीय कामना को अभावात्मक (विषयात्मक) बनाता हुआ

---

* नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

—गीता

तत्र सुप्त होता हुआ पाशबन्धन में आबद्ध बन जाता है। सांसारिक वैभव कदापि दुःख–अशान्ति–उद्वेग–के कारण नहीं हैं। यही नहीं, अपितु विश्वम्भर के सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वस्वरूप के संरक्षण से सम्बद्ध लोकस्वरूपसंरक्षणात्मक लोकसंग्रह के महान् उत्तरदायित्व की दृष्टि से यच्चयावत् लोकवैभव–सम्पूर्ण भूत-भौतिक परिग्रह मानव के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है। संशोधन अपेक्षित है केवल कामनामात्र में। सहजकामनात्मक 'काम' पूर्वक संगृहीत लोकवैभव जहाँ ईश्वरवत् मानव की परिपूर्णता के संरक्षक विकासक बनते हुए आनन्दभाव के ही अनुगामी बने रहते हैं, वहाँ कृत्रिमकामनात्मिका 'इच्छा' पूर्वक संगृहीत वे ही लोकवैभव मानव की परिपूर्णता के विघातक बनते हुए आत्मनन्दस्वरूप के सहज विकास के प्रतिबन्धक ही बन जाते हैं। भूतभौतिक भोग्य परिग्रह ही 'अन्न' है। यही वैदिक परिभाषा में 'इट्' कहलाया है। अपना सहज आत्मस्वातन्त्र्य विस्मृत कर इस 'इट' (अन्नात्मक भौतिक विषय किंवा भौतिक विषयात्मक अन्न) में सुप्त हो जाने वाला मानवीय प्रज्ञानमन ही 'इट्-अन्नं–तत्र शेते' निर्वचन से 'इच्छा' कहलाया है। और यही कामना, तथा इच्छा के स्वरूपों में महान् विभेद है। प्रसङ्ग क्योंकि ईश्वरानुगता मनुसृष्टि का प्रक्रान्त है। अतएव ईश्वरीय मनुसृष्टिमीमांसा में 'कामना' को आधार मान कर ही भूतभौतिकसृष्टि की मीमांसा प्रक्रान्त रखना अनुरूप माना जायगा। काम–तपः–श्रमात्मक ईश्वरीय सामान्य सृष्टि–अनुबन्धों स्वरूपदिग्दर्शन कराया गया। अब मानवीय (मनुसम्बन्धी) भूतभौतिक सर्ग की रूपरेखा का अनुगमन प्रक्रान्त बन रहा है।

विश्वातीत-विश्वसाक्षी-विश्वकर्त्ता-विश्व-स्वरूपपरिलेखः—

१–विश्वातीत	(अनिरुक्तात्मा)——परात्परः——अर्द्धमात्रा	(नेतिनेतीत्युपनिषत्)	}	— भौतिकोऽयं व्यापारः आत्मनः ("सर्वोपनिषद्भूमिः")
२–विश्वसाक्षी	(प्रतिविम्बात्मा)——अव्ययात्मा–अकारः	(असङ्गः)		
३–विश्वकर्त्ता	(प्रतिष्ठात्मा)——अक्षरात्मा–उकार	(ससङ्गासङ्ग)		
४–विश्वम्	(सङ्गात्मा)——क्षरात्मा–मकार	(ससङ्ग)		

त्रिदण्डस्वरूपपरिलेख —

परात्परः—अर्द्धमात्रा–अलक्षः

१–अव्ययात्माभिन्नः—शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः—मनुर्मनोमयः—{ कामनायुक्त (काम)	}	–सृष्टिसामान्या-नुबन्धत्रयी
२–अक्षरात्माभिन्नः—प्राणमूर्त्तिः—मनुः प्राणमयः–{ तपोयुक्त (तप)		
३–क्षरात्माभिन्नः—वागग्निमूर्त्तिः— मनुः वाङ्मयः—{ श्रमयुक्त (श्रमः)		

(१८७) स्वायम्भुवमनु-हिरण्यगर्भमनु-गर्भित इरामय पार्थिव मनु—

अव्ययात्मानुगृहीत–अनुप्राणित, अतएव शान्तब्रह्ममूर्त्ति, मनोमय स्वयम्भूमनु नामक मनुप्रजापति के मनोभाग से सर्वप्रथम 'कामना' का उदय हुआ–'सोऽकामयत' । अक्षरात्मानुगृहीत–अनुप्राणित, अतएव प्राणेन्द्रमूर्त्ति प्राणमय हिरण्यगर्भमनु नामक मनुप्रजापति के प्राणभाग से कामना के अनन्तर 'तप' का उदय हुआ–'स तपोऽतप्यत' । क्षरात्मानुगृहीत–अनुप्राणित, अतएव वागग्निमूर्त्ति, वाङ्मय 'इरामयमनु' नामक मनुप्रजापति से तप के अनन्तर 'श्रम' का उदय हुआ–'सोऽश्राम्यत्' । कामयमान, तदनुरूप ही तप्यमान, एवं तदनुरूप ही श्रान्त मनुप्रजापति के कामतप श्रमरूप सृष्टि के इन तीन सामान्य अनुबन्धों से कैसे भूतभौतिकसर्ग प्रवृत्त हुआ ?, प्रश्न के समाधान की रूपरेखा की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

कामना स्वयम्भूमनु की, तप (अन्तर्व्यापार) हिरण्यगर्भमनु का, एवं श्रम (बाह्यव्यापार) इरामयमनु का, इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, जबतक एक ही सृष्टिकर्त्ता के काम–तप–श्रमभावों का एकत्र समन्वय नहीं हो जाता, तबतक सर्गप्रवृत्ति असम्भव है । इच्छा किसी और की, परिश्रम (तप) किसी अन्य का, एवं श्रम किसी तीसरे का ही, इन अन्यान्यपेक्षानुबन्धी अनुबन्धों से सर्गप्रवृत्ति कैसे सम्भव बनी ? । प्रश्न का समाधान 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के रहस्यार्थ पर ही अवलम्बित है । अव्ययात्मस्वरूप स्वायम्भुव मनु से अक्षर का विकास हुआ, तद्विकासानन्तर अव्ययात्ममनु तद्गर्भ में समाविष्ट हो गया । अतएव अक्षरात्मस्वरूप हिरण्यगर्भ सौरमन का अर्थ हुआ–'स्वयम्भूमनुगर्भित हिरण्यगर्भमनु' । इससे क्षरात्मस्वरूप इरामय पार्थिव मनु का आविर्भाव हुआ तदाविर्भावानन्तर अव्ययात्ममनुगर्भीभूत अक्षरात्ममनु तद्गर्भ में प्रविष्ट होगया । अतएव क्षरात्मस्वरूप इरामय पार्थिव मनु का अर्थ हुआ–'स्वयम्भु–हिरण्यगर्भमनुगर्भित इरामयमनु' । जिस प्रकार काम–तप–श्रमलक्षण अनुबन्ध क्रम मात्र से सामान्यरूप से भिन्नभिन्न प्रमाणित हैं,

तथैव प्रत्येक सर्ग में-'तत्सृष्ट्वा' यह नियम भी सामान्यरूप से समाविष्ट माना गया है। पूर्व पूर्व की सृष्टि से समुद्भूत उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व-पूर्व सृष्टि गर्भीभूत बनी रहती है। अतएव उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व-पूर्व की सर्गमात्राएँ सर्वात्मना समाविष्ट रहतीं हैं। इसी आधार पर-'ब्रह्म वेदं सर्वम्-सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि सर्ग-प्रतिसर्ग-सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

स्वयम्भु-हिरण्यगर्भ-इरामयमनुस्वरूपपरिलेखः—

(१)—अव्ययात्मानुगृहीत-स्वयम्भूमनु ——स्वायम्भुव ————————{ श्रममय
(२)—अव्ययात्मानुगृहीत-स्वयम्भूमनुगर्भित —अक्षरात्मानुगृहीत—हिरण्यगर्भमनु—सौरः{ तपोमय
(३)—अव्यय-अक्षरानुगृहीत -स्वयम्भुहिरण्यगर्भित -क्षरात्मानुगृहीत इरामयमनु—पार्थिवः{ श्रममय

(१८८) मानवीयभूतभौतिकसर्ग की रूपरेखा—

अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक, मन-प्राण-वाङ्मय, शाश्वतब्रह्म-प्राणेन्द्र-वागग्निमूर्त्ति,-काम तप-श्रमानुबन्धसयुक्त, स्वायम्भुव-सौर-पार्थिव-मनुप्रजापतिसमष्टिरूप त्रिमूर्ति मनु ही भूतभौतिक सर्ग का सर्वेसर्वा माना गया है, जिसे प्रथमदृष्टया 'स्वयम्भूब्रह्म' कह सकते हैं, द्वितीयदृष्टया 'हिरण्यगर्भप्रजापति' कह सकते हैं, एवं तृतीयदृष्टया 'विराट्प्रजापति' कह सकते हैं। स्वयम्भूब्रह्म शाश्वतब्रह्म है, हिरण्यगर्भ प्रजापति प्राणेन्द्र है, विराट्प्रजापति 'वागग्नि' है। शाश्वतब्रह्मगर्भित-प्राणेन्द्रगर्भित-वागग्निरूप विराट्प्रजापति ही यहाँ समष्ट्यात्मक वह त्रिमूर्त्ति मनुप्रजापति भूतभौतिकसर्गप्रवृत्ति का उपक्रम बनता है, जिसके 'वागग्नि' रूप वैश्वानर को लक्ष्य बना कर ही हमें इस सर्ग की रूपरेखा का समन्वय करना है। अवधानपूर्वक इस मनमूर्त्ति को लक्ष्य बनाइए, क्योंकि इसी के आधार पर सम्पूर्ण चरसृष्टियों की मीमांसा प्रतिष्ठित है—

अवधेया मनुमूर्त्ति —सर्वमूर्तिर्म्मनुप्रजापतिस्वरूपपरिलेखः—

परात्परः——ब्रह्मरूप		
अव्ययात्मा——	अक्षरात्मा——	क्षरात्मा
मनोमयः——	प्राणमयः——	वाङ्मयः
शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः——	प्राणेन्द्रमूर्त्तिः——	वागग्निमूर्त्तिः
कामप्रवर्त्तकः——	तपःप्रवर्त्तकः——	श्रमप्रवर्त्तक
स्वायम्भुवः——	सौर ——	पार्थिव
स्वयम्भूब्रह्म——	हिरण्यगर्भप्रजापतिः——	विराट्प्रजापति
आदिमनुः——	मध्यमनु ——	अन्तमनु
कामतप —श्रममयः—सर्वमूर्त्तिः—मनुप्रजापतिरेव सर्वमसृजत—यदिदं किञ्च		

(१८९) कामयमान-तप्त-सन्तप्त-श्रान्त-मनुप्रजापति—

अमृताकाशात्मिका अमृतावाक् (अपौरुषेय यजुर्वाक् अमृत वागग्नि) के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्याकाशात्मिका 'मर्त्यावाक्' (हिरण्मयसौरपुरुषसम्बन्धेन तथा इरामय पार्थिवपुरुषसम्बन्धेन-पौरुषेययजुर्वाक् मर्त्यवागग्नि) ही वह वेदाग्निविवर्त्त है, जिसे उपादान बना कर ही मनुप्रजापति भूतसर्गप्रवृत्ति में समर्थ बनते हैं। मनोमय स्वयम्भूमनु, प्राणमय हिरण्यगर्भमनु, दोनों को तत्सम्बन्धान्याग से स्वमहिमगर्भ में समाविष्ट रखने वाला वाङ्मय इरामयमनुप्रजापति ही अपने मनःप्राणगर्भित वाग्भाग से दूसरे शब्दों में मनोमय अव्ययात्मा-प्राणमय अक्षरात्मा-दोनों को स्वमहिमगर्भ में प्रविष्ट रखने वाला वाङ्मय क्षरात्मा ही मनःप्राणगर्भित वाग्भाग से सृष्टि का उपादान कारण बनता है। एवंविध त्रिमूर्त्ति आत्मप्रजापति से अभिन्न त्रिमूर्त्ति मनुप्रजापति सृष्टि के काम-तप-श्रम-लक्षण तीनों सामान्य अनुबन्धों से समन्वित रहता हुआ अपने कामय मनोरूप स्वयम्भूभाग से सृष्टि का अधिष्ठान (आलम्बन-आधार) बन रहा है, तपोमय प्राणरूप हिरण्यगर्भभाग से सृष्टि का निमित्त बन रहा है, श्रममय वाग्रूप विराड्भाग से सृष्टि का उपादान बन रहा है। दूसरे शब्दों में यही मनु शाश्वतब्रह्मस्वरूप स्वायम्भुव मनोमयभाग से मनोमय अव्ययात्मा द्वारा अनुगृहीत होकर सृष्टि का कामयमान अधिष्ठान बना रहा है, यही मनु प्राणात्मरूप सौरप्राणमय भाग से प्राणमय अक्षरात्मा द्वारा अनुगृहीत होकर सृष्टि का तप्यमान निमित्त बन रहा है। एवं यही मनु वागग्निरूप पार्थिव वाग्भाग से वाङ्मय क्षरात्मा द्वारा अनुगृहीत होकर सृष्टि का श्रान्त उपादान बन रहा है। कामयमान-तप्यमान-श्रान्त, एवंविध मनुप्रजापति से इसके शाश्वतब्रह्मलक्षण मनोमय अव्ययात्मा के आधार पर अक्षरात्मा के व्यापार से वाग्रूप क्षर के द्वारा सर्वप्रथम जिस मौलिक तत्त्व का आविर्भाव हुआ, वही 'आपः' कहलाया, जो कि आपः तत्त्व अपनी सुसूक्ष्म वाष्पावस्था-मौलिक अवस्था-के कारण उपनिषदों में 'वायु' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। यही मनुप्रजापति की प्रथमा मूलसृष्टि है, जिसके साथ हमें-'आकाशाद्वायुः'-'वायोरग्निः' इन दोनों सर्गश्रुतियों का समन्वय करना है।

(१९०) मनु का प्रथम सर्ग—

वागग्निलक्षण-इरामयमनुमूर्त्ति जिस क्षर उपादान से सर्वप्रथम 'आपः' नामक 'वायु' तत्त्व उत्पन्न होता है, वह आकाशात्मक वागग्नि ऋक्-साम-नामक वयोनाधों (छन्दों-सीमाभावों) से युक्त-वेष्टित-बद्ध सीमित 'यजु' नामक क्षर ही है, जिसका पूर्व में 'वेदाग्नि' रूप से भी स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। जैसा कि तत्रैव स्पष्ट किया गया है, यजुर्लक्षण वेदाग्नि में 'यत्-जू' रूप से 'गति-स्थिति' इन दोनों परस्परात्यन्त-विरुद्ध भावों का एक बिन्दु पर समन्वय हो रहा है। गतिभाव 'वायु' (प्राणवायु) है यही 'प्राण' है, यही 'यत्' है। स्थितिभाव 'आकाश' है, यही 'जू' है। दोनों का समन्वितरूप ही 'यज्जूः लक्षण 'यजु' है। वाक् और प्राण, दोनों ही अमृत-मर्त्यभेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। इनमें अमृतवाक्-अमृतप्राण तो अक्षुण्ण अविकृत बने रहते हैं, एवं मर्त्यवाक्-मर्त्यप्राण का निरन्तर क्षय होता है। अमृतवाक् के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्यवाक् का (स्थितिभाव का) अमृतप्राण के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्यप्राण के संघर्षात्मक संयोग से-जो कि व्यापारात्मक योग एवं गतिशील प्राण का सहज स्वभाव है-जिस घनात्मक क्षरण (स्वरूपच्युति-प्रक्षरण) हो पड़ता है। जिस प्रकार शारीरिक प्राणसंघर्षरूप परिश्रम, तथा वाङ्मय भौतिक शरीरसंघर्षरूप श्रम से प्राणाग्नि-

समन्वित शारीरिकाग्नि अथवा विस्नस्त होकर स्वेदलक्षण (पानीरूप) आप के रूप में परिणत हो जाता है, ठीक इसी प्रकार 'यत्' नामक प्राण के संघर्षरूप परिश्रम से 'जू' नामक स्वायम्भुव शारीरिकाग्नि का वाग्भाग (मर्त्यवाग्भाग) विस्नस्त होकर 'आप' रूप में परिणत हो जाता है। 'यत्' नामक यह चितिलक्षण-सप्त वितिक-सप्तपुरुषपुरुषात्मक-सर्वाग्निमाग ही है, जिसका पूर्व में 'परे मायाम्' रूप से मनुर्नामनिर्वचन-परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

(१६१) सृष्टिमूलक केतु स्वरूपपरिचय—

महामाया की परिधि से सीमित मन प्राणवाङ्मय सर्वाग्निलक्षण (मायवृत्तियुक्त) सप्तपुरुषपुरुषप्रजापतिरूप स्वयम्भु-हिरण्यगर्भ-मनुगर्भित इत्यममनुप्रजापति ने 'एकोऽहं बहु स्याम्' लक्षणा सृष्टिकामना का सहरूप से अनुगमन किया। कामना से यजुःप्राणभाग में महान् संघर्षरूप तपोव्यापारलक्षण आभ्यन्तर व्यापार प्रक्रान्त हो पड़ा। इस तपोमूलक, किंवा तपोरूप संघर्ष से यजु का वागग्निरूप मर्त्याकाश (मर्त्यैर्षिविभाव) श्रम द्वारा द्रुत हो पड़ा। यह परिस्रुत-द्रुत-भाग्रस ही स्वयम्भूप्रजापति का (तद्गर्भीभूत वाग्रूप इत्यमय मनु प्रजापति का) 'स्वेद्' कहलाया, यही स्वायम्भुव 'स्वेद' आगे चलकर 'अथ-अर्वाग्' भाव के कारण, 'अथर्वा' कहलाया। वाग्रूप आकाश से उत्पन्न होने के कारण अथर्वलक्षण यही 'स्वेद' 'आकाशाद्वायु' इस सिद्धान्त का समर्थक बना। वाक्तत्त्व ही क्योंकि वेदाग्नि (प्राणाग्नि) है। यही द्रुत बन कर क्योंकि आप रूप सूक्ष्म जलीय तत्त्व रूप में परिणत हुआ है (जो कि सूक्ष्म वरुण तत्त्व 'वायु' ही कहलाया है), इस दृष्टिकोण से यही वायुमूर्ति आप, 'अग्नेराप' इस सिद्धान्त का भी समर्थक बना। इस प्रकार वागग्नि से समुत्पन्न अथर्वरूप सूक्ष्म पारमेष्ठ्य वायुलक्षण आप के लिए ही 'आकाशाद्वायु-अग्नेराप' दोनों सिद्धान्त समन्वित बन गए। आकाशाद्वायु का तात्पर्य हुआ-'वागग्नि से सूक्ष्म आप का प्रादुर्भाव', एवं अग्नेराप का तात्पर्य हुआ 'प्राणाग्नि' से सूक्ष्म पारमेष्ठ्य सलिल का आविर्भाव। दोनों तत्त्व अभिन्न हैं, तो इन के लिए श्रुति में पुनरुक्ति क्यों हुई ?, यह एक सहज प्रश्न है, जिसका समाधान 'केतुविज्ञान' परिज्ञान पर ही अवलम्बित है, जो विस्तारभिया यहाँ प्रतिपादित नहीं हो सकता।

अथर्वलक्षण आप किंवा वायु, दोनों यद्यपि अभिन्न है। तथापि पारमेष्ठ्य भृगु-अङ्गिरा के सम्बन्ध से दोनों में एक सुसूक्ष्म महान् विभेद भी है, जिसके आधार पर 'अग्नेराप'—'आकाशाद्वायु'-ये दो विभिन्न वाक्य विहित हुए हैं। गतिभावापन्न आप तेजोगुणक हैं एवं इनका 'यत्' रूप प्राण से सम्बन्ध है, इसी को 'अङ्गिरा' कहा गया है। स्थितिभावापन्न आप स्नेहगुणक हैं एवं इनका जू रूप वाग्भाग से सम्बन्ध है, इसको 'भृगु' कहा गया। 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरो' इत्यादि सिद्धान्तानुसार अङ्गिरा-भृगु दोनों ही आप हैं। अङ्गिरारूप आप 'आकाशाद्वायु' का समर्थक है एवं भृगुरूप आप 'अग्नेराप' का समर्थक है। 'आप' रूप सामान्य अविभिन्नता के अनुबन्ध ने इनमें दोनों श्रुतिवचनों को एकत्र समन्वित मान लिया है।

पौराणिक मानवीय सृष्टिविज्ञान में श्रीरहिरण्यगर्भप्रजापति का मूल माना गया है, जिसका—मूलप्रभव पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमूर्ति अग्नि-आपोमय (तेजःस्नेहमय) क्रतु ही बना करता है। क्रतुतत्त्व पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय (संकोच-विकासशील) यह ऋताग्नि-ऋतसाम (बिखरा हुआ अग्निपुञ्ज-एवं बिखरा हुआ

(१९२)–सृष्टिस्वरूपव्याख्यानुगता गोपथश्रुति—

नैगमिक सृष्टिविज्ञान की निरूपणीया शैली में, तथा आगमिक (पौराणिक) शैली में महान् अन्तर है, जनकि तत्त्वसमतुलनदृष्ट्या दोनों का समन्वय निर्विरोध समन्वित है। प्रकृत विश्वस्वरूपमीमांसा में हम नैगमिक शैली का ही अनुसरण कर रहे हैं, अत वेदमूलक पौराणिक सर्ग यहाँ अप्रासङ्ग बन गया है। वर्त्तमान विज्ञानवादियों की भूतसर्गस्वरूपमीमांसा अथवा अंशत पौराणिक सर्ग की प्रतिच्छायामात्र से ही समतुलित मानी जायगी। आगममूला नैगमिक शैली का तो वर्त्तमान विज्ञानजगत् ने नामस्मरण का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं किया है। हाँ तो बतला रहे थे कि, मनु–प्रजापति के वागग्निभाग से 'स्वेद' रूप भृग्वङ्गिरोमय 'आप' तत्त्व ही सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

"ओं–ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्–स्वयन्तु–एकमेव। तदैक्षत–महद्वै यत्त, तदेकमेवास्मि। हन्त 'अह मदेव मन्मात्र द्वितीय देव निर्म्ममे' इति। तत्–अभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः–यदार्द्र्यं–आजायत, तेनानन्दत्। तमब्रवीत्–'महद्वै यक्ष सुवेदमविदामहे' इति। तयदब्रवीत्– महद्वै यक्ष, 'सुवेदमविदामहे' इति, तस्मात् 'सुवेदो' ऽभवत्। त वा एत 'सुवेद' सन्त 'स्वेद' इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।१।

(१९३)–गोपथश्रुति का अक्षरार्थ—

गोपथश्रुति का अक्षरार्थ यही है कि–"इस प्रत्यक्ष दृष्ट–श्रुत–एवं अनुभूयमान भौतिक विसर्ग से पूर्व परात्पराव्ययाक्षरक्षरात्मक प्राणब्रह्ममूर्ति (ओङ्कारमूर्ति) मनुब्रह्म (प्रजापति) का ही, एकाकी मनु का ही साम्राज्य था, (जो वास्तव में सृष्टि से पूर्व) एकाकी ही था। इस (एकाकी ब्रह्म) ने (अपने काममय मनोराज्य में ऐसा ऊहापोह किया कि–'यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि, हम एकाकी ही बने हुए हैं'। (इस मानसंकल्प–काममायात्मक विचारपरम्परात्मक–ऊहापोह के परिणामस्वरूप ब्रह्म इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि) हन्त (अच्छा आ–चलो–इस एकाकीपन को हटाने के लिए) 'हम अपने जैसा ही अपने स्वरूप के अनुरूप ही एक दूसरे 'देव' का निर्म्माण करें'। (अपने इस कामनामय संकल्प को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए, मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए) ब्रह्म ने श्रम किया, तप किया, तन्मयतापूर्वक तप का अनुष्ठान किया। ब्रह्म के इस श्रम–तप–सन्तपन से (ब्रह्म के) ललाट प्रदेश पर जो स्नेह, जो आर्द्रता (गीलापन–स्वेदकण) उत्पन्न हुई, उससे ब्रह्म महिमानन्द (कार्य्यदक्षतारूप–श्रम–परिश्रम–सफलतालक्षण तृप्त्यानन्द) में निमग्न हो गए। ब्रह्म उस (ललाट पर उत्पन्न स्वेदकणरूप आपोरूप स्नेहतत्त्व को लक्ष्य बना कर) कहने लगे कि, सचमुच यह बड़ी आश्चर्य्यपूर्ण (महत्त्वपूर्ण) घटना घटित हो पड़ी कि। हमने आज इस (स्वेदरूप) से 'सुवेद' प्राप्त कर लिया। (ब्रह्म से ब्रह्म के ललाट प्रदेश पर समुत्पन्न) इस सुवेद को ही वैज्ञानिक लोग परोक्षभाषा में 'स्वेद' व्यवहृत करते हैं। (क्योंकि) देवता (प्राणतत्त्ववेत्ता महर्षि भूदेव) परोक्षप्रेमी, तथा प्रत्यक्ष के शत्रु हुआ करते हैं"।

(१९२)–सृष्टिस्वरूपव्याख्यानुगता गोपथश्रुति–

नैगमिक सृष्टिविज्ञान की निरूपणीया शैली में, तथा आगमिक (पौराणिक) शैली में महान् अन्तर है, जबकि तत्त्वसमतुलनदृष्ट्या दोनों का समन्वय निर्विरोध समन्वित है। प्रस्तुत विश्वस्वरूपमीमांसा में हम नैगमिक शैली का ही अनुसरण कर रहे हैं, अत हेतुमूलक पौराणिक सर्ग यहाँ अप्रमाण मन गया है। वर्त्तमान विज्ञानवादियों की भूतसर्गस्वरूपमीमांसा सवया अंशत पौराणिक सग की प्रतिच्छायामात्र से ही समतुलित मानी जायगी। आत्ममूला नैगमिक शैली का तो वर्त्तमान विज्ञानजगत् ने नामस्मरण का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं किया है। हाँ तो मतशा रहे ये कि, मनु–प्रजापति के वागग्निभाग से 'स्वेद' रूप भृग्वङ्गिरोमय 'अप्' तत्त्व ही सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

"ओं–ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्–स्वयन्तु–एकमेव। तदैक्षत–महद्वै यक्ष, तदेकमेवास्मि। हन्त 'अहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्म्ममे' इति। तत्–अभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः–यदार्द्र्यं–आजायत, तेनानन्दत्। तमब्रवीत्–'महद्वै यक्ष सुवेदमविदामहे' इति। तद्यदब्रवीत्– महद्वै यक्ष, 'सुवेदमविदामहे' इति, तस्मात् 'सुवेदो' ऽभवत्। तं वा एत 'सुवेद' सन्त 'स्वेद' इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।१।

(१९३)–गोपथश्रुति का अक्षरार्थ—

गोपथश्रुति का अक्षरार्थ यही है कि–"इस प्रत्यक्ष दृष्ट–श्रुत–एवं अनुभूतपाञ्चभौतिक विश्वसर्ग से पूर्व परात्परात्मयावरस्वरात्मक प्राणवमूर्त्ति (मोक्षमूर्त्ति) मनुब्रह्म (प्रजापति) का ही, एकाकी मनु का ही साम्राज्य था, (जो वास्तव में सृष्टि से पूर्व) एकाकी ही था। इस (एकाकी ब्रह्म) ने (अपने काममय मनोराज्य में ऐसा ऊहापोह किया कि–'यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि, हम एकाकी ही बने हुए हैं'। (इस मानससंकल्प–काममावात्मक विचारापरमर्शात्मक–ऊहापोह के परिणामस्वरूप ब्रह्म इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि) हन्त (अच्छा भा–चलो–इस एकाकीपन को हटाने के लिए) 'हम अपने जैसा ही अपने स्वरूप के अनुरूप ही एक दूसरे 'देव' का निर्माण करें'। (अपने इस कामनामय संकल्प को कार्यरूप में परिणत करने के लिए, मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए) ब्रह्म ने श्रम किया, तप किया, सन्तपनपूर्वक तप का अनुष्ठान किया। ब्रह्म के इस श्रम–तप–सन्तपन से (ब्रह्म के) ललाट प्रदेश पर जो स्नेह, जो आर्द्रता (गीलापन–स्वेदकण) उत्पन्न हुई, उससे ब्रह्म महिमानन्द (कार्य्यसफलतारूप–श्रम–परिश्रम–सफलतालक्षण तृप्त्यानन्द) में निमग्न हो गए। ब्रह्म उस (ललाट पर उत्पन्न स्वेदकणरूप आपोमय स्नेहद्रव्य को लक्ष्य बना कर) कहने लगे कि, सचमुच यह बड़ी आश्चर्य्यपूर्णा (महत्त्वपूर्णा) घटना घटित हो पड़ी कि हमने आज इस (स्वेदरूप) से 'सुवेद' प्राप्त कर लिया। (ब्रह्म से ब्रह्म के ललाट प्रदेश पर समुत्पन्न) इस सुवेद को ही वैज्ञानिक लोग परोक्षभाषा में 'स्वेद' व्यवहृत करते हैं। (क्योंकि) देवता (भावतत्त्ववेत्ता महर्षि भूदेव) परोक्षप्रेमी, तथा प्रत्यक्ष के शत्रु हुआ करते हैं"।

(१६४) माङ्गलिक संस्मरणमीमांसा—

यह तो हुआ श्रुति का अक्षरार्थसमन्वय। अब दो शब्दों में रहस्यार्थ का भी समन्वय कर लीजिए। गोपथब्राह्मण का आरम्भ उक्त वचन ही से हुआ है। शास्त्रग्रन्थों के आरम्भ में, तथा समाप्ति में उभयत्र माङ्गलिक संस्मरण का समावेश एक विशेष महत्त्व रखता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन त्रिखण्डात्मक उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका ग्रन्थ के प्रथमखण्डमें—"उपनिषदों के आद्यन्त में माङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?", इस परिच्छेद में प्रतिपादित हुआ है। गोपथवचन के आरम्भ में पठित 'ओम्' के द्वारा उस आर्षमाङ्गलिक विधान का ही संरक्षण हुआ है, जिसके द्वारा संकेतरूप से श्रुति श्रद्धास्पद परमश्रद्धालु आर्षमानव को यही माङ्गलिक शिक्षा प्रदान कर रही है कि "मानव को अपना प्रत्येक कर्म्म माङ्गलिक संस्मरणपूर्वक ही तो आरम्भ करना चाहिए, एवं तत्पूर्वक ही समाप्त करना चाहिए, क्योंकि माङ्गलिक संस्मरण मानव के ऐहिक-आमुष्मिक जीवन को स्वस्ति-शान्ति-सुख-समृद्धि-ऋद्धि वृद्धि-तुष्टि-पुष्टि पूर्वक प्रक्रान्त रखता हुआ एक प्रधान स्वस्त्ययनकर्म्म माना गया है, एवं जिस मङ्गलसंस्मरण के ओम्-अथ-श्री-श्रीगणेशाय नमः-श्रीपरमात्मने नमः-ओं नमः परमर्षिभ्यः, इत्यादि रूप से स्व-स्व-वैय्यक्तिक उपासनानिबन्धन अनेक विवर्त्त मान गये हैं।

(१६५) 'ओं ब्रह्म' का समन्वय—

पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वयम्भू-हिरण्यगर्भ-विराट्सम्राड्रूप त्रिमूर्ति मनुप्रजापति निष्कल-त्रिकल-षोडशकल त्रिमूर्ति आत्मप्रजापति से सर्वथा अभिन्न तत्त्व है। अर्द्धमात्ररूप अमात्रिक परात्पर, अव्ययरूप अव्यय, उभयरूप अक्षर, मध्यरूप क्षर की समष्टि बनता हुआ त्रिमूर्ति आत्मदेवता 'ओम्' स्वरूप है। अतएव तदभिन्न मनुब्रह्म को भी अवश्य ही 'ओम्' नाम अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है। प्रणवोङ्कार ही मनुप्रजापति का स्वस्वलक्षण बन रहा है। अतएव इस मानवी सृष्टि में 'ओं ब्रह्म ह वा इदमग्र०' इत्यादि प्रणवरूप से ही स्वायम्भुवी सृष्टि का उपक्रम हुआ है। अग्नि-इन्द्र-वरुण-धाता-सविता-अर्य्यमा-वायु-आदित्य आदि विभिन्न प्राणदेवता अपने अपने प्रातिस्विक धर्म्मों के आधार पर-मूलप्रवर्त्तक मूलोक्थ बनते हुए स्वतन्त्र 'ब्रह्म' हैं। गोपथश्रुति के द्वारा जिस भूतमयी आपोमयी सृष्टि का निरूपण होने वाला है, उस सृष्टि का मूलाधार ब्रह्म प्राणलक्षण ब्रह्म (एकाङ्ग) देवता नहीं है। अपितु परात्परादि-समष्टिरूप षोडशकललक्षण सर्वप्रजापति ही इस सृष्टि का प्रवर्त्तक 'ब्रह्म' पदार्थ है। आपोमयी सृष्टि के मूलभूत ब्रह्म के इसी सर्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए श्रुति ने ब्रह्म के साथ 'ओम्' का समन्वित करते हुए 'ओं ब्रह्म' का उपक्रमवचन माना है। मङ्गलसंस्मरण, तद्द्वारा लोकानुगत स्वस्त्ययनकर्म्मविधान सर्वोपरि ब्रह्म का स्वरूपविश्लेषण, इत्यादि प्रयोजनों के उद्देश्य से ही आरम्भवचन के आरम्भ में—'ओम्' व्याहृति उपात्ता है।

(१६६) 'इदमग्रआसीत्' का समन्वय—

'इदमग्र आसीत्' यह उत्तर वाक्य है, जो सृष्टि के पद पद रहस्यपूर्ण गुप्त प्रपञ्च भाग की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। सृष्टितत्त्व के मार्मिक रहस्यों का अन्वेषण उन आर्ष नैष्ठिक मानव मनीषा (महर्षियों) ने ही किया है, जो अपनी अध्यात्मशानिष्ठा के प्रभाव से 'इदम्' का प्रत्यक्ष कर का [illegible]

से अतिक्रान्त बनते हुए कारणस्वरूप के 'प्रत्यक्षद्रष्टा' घोषित हुए हैं। 'इदं' शब्द सर्वत्र पुरोऽवस्थित-प्रत्यक्षदृष्ट-अनुभूत-वर्त्तमान-विश्व का ही वाचक बोधक-ग्राहक माना गया है। स्पष्ट है कि, महर्षियोंने इस 'इदं,' रूप विश्वस्वरूप को लक्ष्य बनाकर ही इस कारणरूपा पूर्वावस्था के तात्त्विक स्वरूप की परोक्ष व्याख्या की है। तत्त्वद्रष्टा भी स्वरूपव्याख्याशैली का यही स्वरूप सहज प्रमाणित हो रहा है। कारण का स्वरूपज्ञान कार्य्य के स्वरूपज्ञान के द्वारा ही सम्भव है अर्वाचीन प्रजा के लिए। कार्य्यानुमान से ही कारणस्वरूप बोधगम्य बना करता है। क्योंकि-कारणगुणा कार्य्यगुणानारभन्ते न्यायानुसार कारण के गुणधर्म्म ही कार्य्य के गुणधर्म्मों के आरम्भक बना करते हैं। क्षित्यङ्कुरादि कार्य्यों के द्वारा तत्कारणभूत ईश्वर (प्रकृति) का अनुमान लगाने में कुशल नव्यतार्किकों की तर्कप्रणाली इस दिशा में प्रसिद्ध ही है। 'इदमग्रे' वाक्य इसी कार्य्यकारणमूलक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर रहा है।

(१९७) अव्यक्तब्रह्म का व्यक्तीभाव—

अपिच 'अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारणभावी ब्रह्मवादी' की विवर्त्तभावात्मिका दृष्टि में अध्यात्म-जगत् की ही अभिव्यक्ति का ही नाम अधिभूतजगत् है। "आधिभौतिक जगत् मिथ्या है, दुःखं दुःखं है, शून्यं शून्यं है अपरिपूर्ण है, निस्सार है" इत्यादिरूपा अमाङ्गलिक-असत्-कल्पनाओं का ब्रह्मवादी की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। वह तो इस वास्तविक तथ्य का अभिगन्ता-मन्ता-श्रोता-वक्ता है कि- "यह सम्पूर्ण विश्व सर्वथा परिपूर्ण है, आनन्दमय है, नित्य है, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म-नित्य 'विज्ञानमानन्दं' ब्रह्म-स्वरूप परिपूर्ण ब्रह्म का ही व्यक्तरूप है"। ब्रह्म ही सञ्चरदशा में नानात्वलक्षण विश्वरूप में अभिव्यक्त होता रहता है, एवं प्रतिसञ्चरदशा में यह नानाभावापन्न व्यक्त विश्व पुनः अपने अव्यक्त एक ब्रह्म रूपमें परिणत होता रहता है। 'इदमग्रे' वाक्य इस ब्रह्मव्याप्तिमूलक व्यक्ता व्यक्तभाव की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। यह कार्यरूप विश्व पूर्वमें-अग्रे-कारण दशा में ब्रह्म ही था," वाक्य स्पष्ट ही अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्तभाव को ही विश्वस्वरूप से घोषित कर रहा है।

(१९८)-'स्वयन्त्वेकमेव' का समन्वय—

ब्रह्म ही व्यक्तावस्था में 'विश्व' है, विश्व ही अव्यक्तावस्था में 'ब्रह्म' है। अन्तर इन दोनों स्थितियों में केवल यही है कि, अव्यक्तावस्था में नानात्वसम्पादक बल अव्यक्तावस्था में (सुप्तावस्था में) परिणत रहते हैं। अतएव 'अव्यक्त ब्रह्म' नानाविश्वमूलक अनेकत्व से पृथक् रहता हुआ 'एकाकी' बना रहता है। व्यक्तावस्था में नानाभावजनक बल व्यक्तावस्था में (जाग्रदवस्था में) परिणत रहते हैं। अतएव 'व्यक्त विश्व' नानाभावसमन्वित होता हुआ 'बहुधर्म्माक्रान्त' बना रहता है। सञ्चरपक्ष नानाभावानुगत है, यही विश्व है। प्रतिसञ्चरपक्ष एकत्वानुगत है, यही ब्रह्म है। ब्रह्म इस विश्व की प्रतिसञ्चरात्मिका प्रतिसर्गावस्था है, तो विश्व उस ब्रह्म की सञ्चरात्मिका सर्गावस्था है। इस उभयावस्थासमन्वयमूलक एकत्व को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है कि—"ओं ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्त्वेकमेव"।

(१९४) माङ्गलिक संस्मरणमीमांसा—

यह तो हुआ श्रुति का अक्षरार्थसमन्वय। अब दो शब्दों में रहस्यार्थ का भी समन्वय कर लीजिए। गोपथब्राह्मण का आरम्भ उक्त वचन ही से हुआ है। आर्षग्रन्थों के आरम्भ में, तथा समाप्ति में उभयत्र माङ्गलिक संस्मरण का समावेश एक विशेष महत्त्व रखता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन त्रिखण्डात्मक उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका ग्रन्थ के प्रथमखण्डमें—"उपनिषदों के आद्यन्त में माङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?", इस परिच्छेद में प्रतिपादित हुआ है। गोपथवचन के आरम्भ में पठित 'ओम्' के द्वारा उस आर्षमाङ्गलिक विधान का ही संरक्षण हुआ है, जिसके द्वारा संकेतरूप से श्रुति आस्थाश्रद्धा परायण आर्षमानव को यही माङ्गलिक शिक्षा प्रदान कर रही है कि "मानव को अपना प्रत्येक कर्म माङ्गलिक संस्मरणपूर्वक ही तो आरम्भ करना चाहिए, एवं तत्पूर्वक ही समाप्त करना चाहिए, क्योंकि माङ्गलिक संस्मरण मानव के ऐहिक–आमुष्मिक जीवन को स्वस्ति–शान्ति–सुख–समृद्धि–ऋद्धि वृद्धि–तुष्टि–पुष्टि पूर्वक प्रक्रान्त रखता हुआ एक प्रधान स्वस्त्ययनकर्म्म माना गया है"। एवं जिस मङ्गलसंस्मरण के ओम्–अथ–श्री श्रीगणेशाय नमः–श्रीपराम्बायै नमः–ओं नमः परमर्षिभ्यः इत्यादि रूप से स्व–स्व वैय्यक्तिक उपासनानिबन्धन अनेक विवर्त्त माने गये हैं।

(१९५) 'ओं ब्रह्म' का समन्वय—

पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि स्वयम्भू–हिरण्यगर्भ–विराट्सर्वरूप त्रिमूर्ति मनुप्रजापति निष्कल–विकल–पोडशकल त्रिमूर्ति आत्मप्रजापति से सर्वथा अभिन्न तत्त्व है। अर्द्धमात्ररूप अमात्रिक परात्पर, अव्ययरूप अव्यय उकाररूप अक्षर, मकाररूप क्षर की समष्टि बनता हुआ त्रिमूर्ति आत्मदेवता 'ओम्' स्वरूप है। अतएव तदभिन्न मनुब्रह्म को भी अवश्य ही 'ओम्' कार अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है। प्रणवोङ्कार ही मनुप्रजापति का स्वरूपलक्षण बन रहा है। अतएव इस मानवी सृष्टि में 'ओं ब्रह्म वा इदमग्रे०' इत्यादि प्रणवरूप से ही स्वायम्भुवी सृष्टि का उपक्रम हुआ है। अग्नि–इन्द्र–वरुण–धाता–सविता–अर्य्यमा–वायु–आदित्य आदि विभिन्न प्राणदेवता अपने अपने प्रातिस्विक कार्य्यों के आधार पर–मूलप्रवर्त्तक मूलोक्थ बनते हुए स्वतन्त्र 'ब्रह्म' हैं। गोपथश्रुति के द्वारा जिस भृग्वङ्गिरोमयी आपोमयी सृष्टि का निरूपण होने वाला है, उस सृष्टि का मूलाधार ब्रह्म प्राणलक्षण ब्रह्म (एकाङ्ग) देवता नहीं है। अपितु पञ्चपर्वादि समष्टिरूप ओङ्कारलक्षण स्वयम्भूप्रजापति ही इस सृष्टि का प्रवर्त्तक 'ब्रह्म' पदार्थ है। आपोमयी सृष्टि के मूलभूत ब्रह्म के इसी सर्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए श्रुति ने ब्रह्म के साथ 'ओम्' को समन्वित करते हुए 'ओं ब्रह्म' का उपक्रमवचन माना है। मङ्गलसंस्मरण, तद्द्वारा लोकानुगत स्वस्त्ययनकर्मशिक्षा सर्वोपरि ब्रह्म का स्वरूपनिरूपण, इत्यादि प्रयोजनों के उद्देश्य से ही आरम्भवचन के आरम्भ में—'ओम्' आहुति उपात्त है।

(१९६) 'इदमग्रआसीत्' का समन्वय—

'इदमग्र आसीत्' यह अगर वाक्य है, जो सृष्टि के एक एक रहस्यपूर्ण मुख्य पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। सृष्टितत्त्व के मौलिक रहस्य का समन्वय उन मान्य वैदिक मानवों (महर्षियों) ने ही किया है, जो अपनी अध्यात्मज्ञाननिष्ठा के प्रभाव से 'इदम्' का प्रत्यक्ष कर चुके

में रसनिकन्धन एकत्व भी समाविष्ट रहता है, जिस इस महदाश्चर्य्य का यों भी अभिनय किया जा सकेगा कि–मुमुक्षावस्थानुगता स्थिति–अवस्था में ब्रह्म का अनेकभावापन्न बने रहना, जैसे एक महान् आश्चर्य्य है, तथैव सिसृक्षाभावानुगता गति–अवस्था में ब्रह्म का एकभावापन्न बने रहना भी कम आश्चर्य्य नहीं है। और ऐसी आश्चर्य्यमयी स्थिति में एक वैज्ञानिक यह कल्पना कर बैठेगा कि,–एकाकी ब्रह्म ने जब सिसृक्षा के द्वारा विश्वरचना का संकल्प अभिव्यक्त किया होगा, तो उस सिसृक्षावस्था में सिसृक्षाभावानुगत नानात्व से सर्वथा विपरीत स्वानुगत अपने मुमुक्षाभावानुगत एकत्व का अनुभव कर, देखकर स्वयं ब्रह्म को भी एक बार तो महान् आश्चर्य्य हो गया होगा, एवं अपने इस महान् आश्चर्य्य को समन्वित करने के लिए अवश्य ही सिसृक्षानुगामी सर्गानुरक्त–सर्गाभिमुख–सृष्टिकामुक ब्रह्म ने तत्काल यही संकल्प कर डाला होगा कि— "मुझे अपने एकत्वरूप इस आश्चर्य्य के समन्वय के लिए अवश्य ही किसी मेरे मतसदृश ही दूसरे सहयोगी को अपने श्रम–तप–श्रम–सन्तपन से समुत्पन्न कर ही लेना चाहिए, जिससे मेरी यह आश्चर्य्यकारिणी एकता द्विस्वरूप में परिणत हो जाय, एवं तद्द्वारा मैं दाम्पत्यभाव पूर्वक सृष्टिनिर्माण (मैथुनीसृष्टिरूप विकारात्मक चर भौतिक सर्ग) में समर्थ बन सकूँ।" एकत्वरूप को अनेकत्वभाव में परिणत कर देनेवाली इस स्वाभाविक सिसृक्षा के स्वरूप विश्लेषण के लिए ही श्रुति को आगे चल कर इस सहज स्थिति का इन शब्दों में अभिनय करना पड़ा कि—"तदेतत्–महद्यक्षं (आश्चर्य्य)–तदेकमेवास्मि हन्त–अहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं निर्ममे' इति। 'मदेव–मन्मात्रम्' उस उत्पत्स्यमान द्वितीय सहयोगी का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण कर रहा है। 'मदेव' का अर्थ है–'मेरे जैसा', एवं 'मन्मात्रम्' का अर्थ है–'मेरे जितना'। 'मेरे जैसा' का तात्पर्य्य है–'मेरी–सत्यकामना के अनुरूप ही कामना में प्रवृत्त रहने वाला'। 'मेरे जितना' का तात्पर्य्य है–"इच्छानुरूप मेरे कार्य में मेरे आत्मसमर्पण की भाँति ही 'आत्मसमर्पण करनेवाला'"। समानसङ्कल्पत्व ही 'मदेव' है। समान बलवीर्य्यपराक्रमानुगत–शक्तिप्रयोग ही मन्मात्रम् है। और दाम्पत्यभावमूलक एवा सहयोग–समसमन्वय ही अपूर्व सृष्टि का सर्जक तथा स्वरूपसंरक्षक बना रहता है, जिसका निम्नलिखित आर्षवाणी से स्पष्टीकरण हुआ है—

> समानी व आकूति समाना हृदयानि वः।
> समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
> —ऋक्सं० १०।१९१।४।

(२०१)–सहयोग–सेवा–तटस्थता–शत्रुता–सम्बन्धचतुष्टयी—

"तुम्हारे संकल्प समान हों, हृदय समान हों, मन समान हों, जैसे कि तुम्हारा लक्ष्य समान है, अभिन्न है।" लक्ष्य की समानता में समवेत रहनेवाले सहयोगियों का प्रत्येकदशा में समानधर्मा–अभिन्न धर्म्मा बन रहना अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित माना गया है। तभी लक्ष्य साफल्य सम्भव बना करता है। 'सहयोग–सेवा–तटस्थता–शत्रुता–' इन चार भावों के पर्य्यवेक्षण-निरीक्षण के माध्यम से ही सहयोग का वास्तविक स्वरूपबोध सम्भव माना गया है। समानशीलव्यसनता में सहयोग हुआ करता है, जिसे 'मैत्रीसम्बन्ध' कहा गया है। व्यवहारदृष्टि से यही सम्बन्ध प्रधान है, एवं इसी से मानव की प्रातिस्विक (हृदयानुगता) मानवता

(१९९) स्वयन्तु–एक–एव–सहसा ब्रह्म—

अपिच—'स्वयन्त्वेकमेव' वचनांश ब्रह्मानुगत त्रिविध भेद का भी निवारक प्रमाणित हो रहा है। नानाभाव ही भेदभाव है। यह भेदभाव बलचिति के तारतम्य से, तन्मूलक आनन्त्य से यद्यपि अनेक मार्गों में विभक्त है। तथापि वैज्ञानिकों ने उन समस्त भेदमार्गों को भेदत्रयी में ही समन्वित मान लिया है, जो भेदत्रयी क्रमशः–'सजातीयभेद–विजातीयभेद–स्वगतभेद–' नामों से प्रसिद्ध है। एक आम्र का वृक्ष दूसरे आम्रवृक्ष से विभिन्न है। समानजातीय आम्रवृक्षों का यह पारस्परिक विभेद ही 'सजातीयभेद' है। आम्र–नारिकेल–जम्बू–पनस–न्यग्रोध–आदि वृक्ष परस्पर विभिन्न जातीय हैं। यह विजातीय पारस्परिक विभेद ही 'विजातीयभेद' है। स्वयं एक ही वृक्ष में–उदाहरण के लिए आम्रवृक्ष में ही आम्रफल–आम्रमञ्जरी–आम्रपल्लव–आम्रशाखा–महाशाखा–प्रत्यन्तशाखा–स्थूण–आदि परस्पर अपना विभिन्न स्वरूप रख रहे हैं। एक ही आम्रवृक्ष में समन्वित यही पारस्परिक अवयवभेद 'स्वगतभेद' माना गया है। एक महामायापुर में महामायी अव्ययब्रह्म जैसा कोई अन्य ब्रह्म नहीं है, अतएव इसे 'सजातीयभेदशून्य' माना जायगा। अव्ययब्रह्मातिरिक्त कोई दूसरा विभिन्न स्वरूप–गुण–धर्मा' ब्रह्म भी नहीं है, अतएव इसे 'विजातीयभेदशून्य' कहा जायगा। स्वयं अव्ययब्रह्म में असलक्षणानुगता अभिन्नसत्ता के कारण धर्मभेद का भी (अवयवभेद का भी) अभाव है, अतएव इसे 'स्वगतभेदशून्य' घोषित किया जायगा। त्रिविध भेदशून्य ब्रह्म वास्तव में 'एकाकी' ही माना जायगा। 'स्वयन्त्वेकमेव' वाक्य का 'स्वयम्' शब्द सजातीयभेद का, 'एकम्' शब्द विजातीयभेद का, तथा 'एव' शब्द स्वगतभेद का व्यावर्त्तक बन रहा है। जिस प्रकार–'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि अन्य श्रुति के 'एकम्–एव–अद्वितीयम्' तीनों शब्द क्रमशः सजातीय–विजातीय–स्वगत–भेदों के निवर्त्तक हैं, तथैव यहाँ 'स्वय–एकम्–एव' यह शब्दत्रयी त्रिभेदव्यावर्त्तिका बन रही है। इस प्रकार 'ओं ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्–स्वयन्त्वेकमेव' इस प्रारम्भिक छन्दोगश्रुति के तत्त्वपूर्ण–स्वरूपव्याख्यान की रूपरेखा का यों अंशतः स्पष्टीकरण हो जाता है।

(२००)–'अदेव मन्मात्रम्' स्वरूपमीमांसा—

यह स्मरण रखिए कि, गायत्रश्रुति के द्वारा ब्रह्ममूलक उस विश्वसर्ग का प्रतिपादन हो रहा है, जो विश्वसर्ग ब्रह्म की 'सिसृक्षा' नाम की सर्गेच्छा से ही अनुमाणित माना गया है। ब्रह्म रसबलात्ममूर्त्ति है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है, और यह भी निवेदन किया जा चुका है कि, रसभाग अमृत है, बलभाग मृत्यु है। मनोमय स्वयम्भुगर्भित ब्रह्म बलगर्भित रसभाग से मुमुक्षानुगामी बने रहते हैं, जिनके द्वारा बल ग्रन्थियों के क्रमिक विश्लेषण–विमोक–से व्यक्त विश्व अव्यक्त महाभाव में परिणत हो जाता है। यहाँ मनोमय स्वयम्भूब्रह्म प्राणमय हिरण्यगर्भब्रह्म के माध्यम से वाङ्मय विराड्ब्रह्मलक्षण के द्वारा रसगर्भित बलभागोपादान–बन्धन से समन्वित होकर सिसृक्षानुगामी बने रहते हैं, जिनके द्वारा बलग्रन्थियों की क्रमिक दृढमूलता से अव्यक्त–ब्रह्म व्यक्त विश्वरूप में परिणत हो जाता है। मुमुक्षा (बन्धनग्रन्थिविमोकेच्छा) रसाभिमुखा है, रसप्रधाना है एवं इसमें–'अनेक से एक बन जाऊँ' यह एकत्वभाव ही प्रधान रहता है। सिसृक्षा (ग्रन्थिबन्धनेच्छा) बलाभिमुखा है, बलप्रधाना है, एवं इसमें 'एक से अनेक बन जाऊँ' यह 'अनेकत्वभाव ही प्रधान रहता है। किन्तु साथ ही साथ एक महान् आश्चर्य यह भी प्रमाणित बना रहता है कि मुमुक्षावस्था में एकत्व–भावापन्न ब्रह्म में बलनिबन्धन अनेकत्व भी समन्वित रहता है, एवं सिसृक्षावस्था में अनेकत्वभावापन्न विश्व

में स्वनिष्कल एकत्व भी समाविष्ट रहता है, जिस इस महदाश्चर्य्य का यों भी अभिनय किया जा सकेगा कि—मुमुक्षावस्थानुगता स्थिति–अवस्था में ब्रह्म का अनेकभावापन्न बने रहना, जैसे एक महान् आश्चर्य्य है, तथैव सिसृक्षाभावानुगत गति–अवस्था में ब्रह्म का एकभावापन्न बने रहना भी कम आश्चर्य्य नहीं है। और ऐसी आश्चर्य्यमयी स्थिति में एक वैज्ञानिक यह कल्पना कर बैठेगा कि,–एकाकी ब्रह्म ने जब सिसृक्षा के द्वारा विश्वरचना का सङ्कल्प अभिव्यक्त किया होगा, तो उस सिसृक्षावस्था में सिसृक्षाभावानुगत नानात्व से सर्वथा विपरीत स्वानुगत अपने मुमुक्षाभावानुगत एकत्व का अनुभव कर, देखकर स्वयं ब्रह्म को भी एक बार तो महान् आश्चर्य्य हो गया होगा, एवं अपने इस महान् आश्चर्य्य को समन्वित करने के लिए अवश्य ही सिसृक्षानुगामी सर्गोन्मुख–सर्गाभिमुख–सृष्टिकामुक ब्रह्म ने तत्काल यही संकल्प कर डाला होगा कि,—"मुझे अपने एकत्वस्वरूप इस आश्चर्य्य के समन्वय के लिए अवश्य ही किसी ऐसे मत्सदृश ही दूसरे सहयोगी को अपने काम–तप–श्रम–सन्तपन से समुत्पन्न कर ही लेना चाहिए, जिससे मेरी यह आश्चर्य्यकारिणी एकता द्विस्वरूप में परिणत हो जाय, एवं तद्द्वारा मैं दाम्पत्यभाव पूर्वक सृष्टिनिर्म्माण (मैथुनीसृष्टिरूप विकारात्मक क्षर भौतिक सर्ग) में समर्थ बन सकूँ।" एकत्वरूप को अनेकत्वभाव में परिणत कर देनेवाली इस स्वाभाविक सिसृक्षा के स्वरूप विश्लेषण के लिए ही श्रुति को आगे चल कर इस सहज स्थिति का इन शब्दों में अभिनय करना पड़ा कि—"तदैतत्–महद्वै यक्षं (आश्चर्य्यं)–तदेकमेवास्मि हन्त–अहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं निर्म्ममे" इति। 'मदेव–मा मात्रम्' उस उत्पत्स्यमान द्वितीय सहयोगी का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण कर रहा है। 'मदेव' का अर्थ है–'मेरे जैसा', एवं 'मन्मात्रम्' का अर्थ है–'मेरे जितना'। 'मेरे जैसा' का तात्पर्य है–'मेरी–सत्यकामना के अनुरूप ही कामना में प्रवृत्त रहने वाला'। 'मेरे जितना' का तात्पर्य है–"इच्छानुरूप मेरे कार्य्य में मेरी आत्मसमर्पण की भाँति ही 'आत्मसमर्पण करनेवाला'"। समानसङ्कल्पत्व ही 'मदेव' है। समान बलवीर्य्यपराक्रमानुगत–शक्तिप्रयोग ही तन्मात्रम् है। और दाम्पत्यभावमूलक ऐसा सहयोग–समसमन्वय ही अपूर्व सृष्टि का सर्जक तथा स्वरूपसंरक्षक बना रहता है, जिसका निम्नलिखित आर्षवाणी से स्पष्टीकरण हुआ है—

> समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
> समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ॥
>
> —ऋक्सं० १०।१९१।४

(२०१)–सहयोग–सेवा–तटस्थता–शत्रुता–सम्बन्धचतुष्टयी—

"तुम्हारे संकल्प समान हों, हृदय समान हों, मन समान हों जैसे कि तुम्हारा लक्ष्य समान है, अभिन्न है।" लक्ष्य की समानता में समवेत रहनेवाले सहयोगियों का मत्यकक्षा में समानधर्म्मा–अभिन्न धर्म्मा बन रहना अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित माना गया है। तभी लक्ष्य साफल्य सम्भव बना करता है। 'सहयोग–सेवा–तटस्थता–शत्रुता–' इन चार भावों के पर्य्यवेक्षण–निरीक्षण के माध्यम से ही सहयोग का वास्तविक स्वरूपबोध सम्भव माना गया है। समानशीलव्यसनता में सहयोग हुआ करता है, जिसे 'मैत्रीसम्बन्ध' कहा गया है। भारतीदृष्टि से यही सम्बन्ध प्रधान है, एवं इसी से मानव की प्रातिस्विक (हृदयानुगता) मानवता

का सहज विकास सम्भव बना करता है। इस विलक्षण–अपूर्व सम्बन्ध की रक्षा का उत्तरदायित्व प्राकृतिक प्राणनिबन्धन सहज अनुरूपता (जो लोकव्यवहार में योग्यता कहलाई है)–शिक्षा–भोजन (आहारविहार)–भजन (उपासना)–शयन–गमन–भाषण–रुदन–हसन–व्यवहार (लोकव्यवसाय)–लक्ष्य (उद्देश्य)–श्रम (शारीरिकतप)–परिश्रम (प्राणतप)–आदि अनेक भावों के समसमन्वय पर ही अवलम्बित है। तथाकथित किसी भी वृत्ति–अर्चन–आचरण में यदि यत्किञ्चित् भी–रसात्मक भी–अन्तर आ जाता है, तो तत्काल मैत्री-सम्बन्धात्मक सहयोग मलीमस बन जाता है। यही मलीमस सहयोग कालान्तर में अनुकूल–प्रतिकूल–स्थिति–परिस्थितियों के तारतम्यसे–निग्रहानुग्रह से सेवा–तटस्थता–शत्रुता, इन तीनों में से किसी भी एकभाव का अनुगामी बन जाता है। यदि सहयोगप्रदाता का हृदय प्रकृत्या सात्त्विक है, साथ ही इसके स्वार्थ का संरक्षण निश्चित है, तो उस दशा में यह अवरसहयोगी सहयोगी न रह कर 'सेवक' बन जाता है, आज्ञावशवर्त्ती प्रमाणित हो जाता है। 'गुरु–शिष्यभाव –स्वामी–सेवकभाव'–आदि इसी सेवावृत्ति के उदाहरण हैं। यदि सहयोगप्रदाता का स्वार्थसाधन भी सम्भव नहीं बनता, साथ ही सहयोगप्रदानजनित संघर्ष से यह उद्वेग भी रखता है, तो उस अवस्था में यह सहयोग का परित्याग कर 'तटस्थता' का अनुगमन कर लेता है। यदि सहयोगप्रदाता का आभ्यन्तरजगत् (अन्तर्जगत्–प्रज्ञात्मक मनोभाव) तमोगुणबहुला तमोमूला किसी लिप्सा लालसा–लोकैषणा–वित्तैषणा से समन्वित है, और वह इस सहयोग में यदि अपनी लिप्सा–एषणा की सफलता का अनुभव नहीं करता, तो इसमें 'शत्रुता' का उदय हो पड़ता है।

(१०२)–समानमस्तु वो मन'—

देखा गया है, सुना गया है, एवं अनुभव किया गया है ऐसा सम्यग् रूपेण कि, आरम्भ में किसी लिप्सा-एषणा को मूलाधार बनाकर सहयोगप्रदान की कामना से आरम्भ में सहयोगप्रदान के लिए आकुलाव्याकुल बनते हुए सहयोगी जहाँ सर्वस्वार्पण के लिए व्यग्र प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ अपनी इस लिप्सा–एषणा की असफलता की कथा तो विदूर, प्रत्युत परिणाम में इसका सर्वस्वोन्मूलन देखकर सहसा लक्ष्य–उद्देश्यविघातक प्रबल हिंसा–शत्रु ही बन जाया करते हैं, फिर वह लक्ष्य भले ही वैय्यक्तिक आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखता हो, किंवा तो परिवार–समाज–राष्ट्र–अभ्युदय से अनुप्राणित हो। अतएव लोकव्यवहारसंरक्षण के लिए नैष्ठिक मानव का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने लक्ष्य की सफलता के लिए सहयोगी को किंवा सहयोगियों को लक्ष्य बनाता हुआ आरम्भ में ही गोपथश्रुति के 'मदेव मन्मात्रम्'–'समानमस्तु वो मन' इत्यादि आदेशों के अनुरूप ही अपनी कार्य्यपद्धति निश्चित करे। एवंविधा 'अवस्थानुरूपा व्यवस्था' प्रत्येक दिशा–दशा–क्षेत्र–काल–स्थिति–परिस्थिति में निश्चयेन मङ्गलमयी ही प्रमाणित हुआ करती है। यदि किसी आपातरमणीया भावुकतामूला भ्रान्ति के कारण, यथाप्रदर्शनानुगत प्रतारणापथ के कारण मानव को यदा कदा दुर्भाग्यवश तथाकथित लिप्सा–एषणापरायण कल्पित सहयोगी प्राप्त हो जाय, तो उनके आभ्यन्तर भयावह स्वरूप का बोध प्राप्त होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वैसे समस्त सहयोगियों का अवि-कल्प निश्चित् आत्यन्तिकरूपेण ऐकान्तिक परित्याग ही कर देना चाहिए। इस रहस्यपूर्ण तथ्य का अनुगमन न करने वाला भावुक मानव न केवल पदे पदे अपमानित ही होगा, अपितु दिनदिन इसके शत्रुपथ की वृद्धि होती जाती है। यही 'मदेव मन्मात्रम्' निबन्धन का प्रासङ्गिक व्यवहारानुगत स्वरूपविश्लेषण है। प्रासङ्गिकमेतत्, प्रकृतमनुसराम।

(२०३)—सहधर्म्मं चरताम्—

ब्रह्मने 'मदेवमन्मात्रम्' भावना से वैसे सहयोगी की कामना की, जो इसके सृष्टिकार्य्य में समानरूप से सहयोग प्रदान करे, जिस प्राकृतिक समान सहयोग के आधार पर पति–पत्नी–लक्षण आर्षदाम्पत्यभाव प्रतिष्ठित माना गया है। यही नहीं, ऐसा सहयोग एकमात्र दाम्पत्यभावात्मक ही माना जायगा, माना गया है। 'सहधर्म्मं चरताम्' के अनुसार धर्म्मपत्नी ही एवंरूपा पूर्वलक्षणा सहयोगिनी मानी गई है। और सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव उस अव्यक्त ब्रह्मने भी अपनी 'मदेव मन्मात्रम्' कामना को अनुरूपतापूर्वक सफल बनाने के लिए सहयोगी का अन्वेषण करते करते अन्ततोगत्वा समानशीलव्यसनपरायणा–मदेव मन्मात्रा–पत्नी को ही अभिव्यक्त किया होगा, जिस 'ब्रह्मपत्नी' (व्यक्तप्रकृति) का स्वरूप अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

(२०४) द्वितीय देव का निर्म्माण—

"हम अपने सदृश अपने परिमाण से समतुलित (हमारे जैसे हमारे जितने ही) द्वितीय देव का निर्म्माण करें" ब्रह्म की यही वह कामना है, जिसका अध्यात्मानुगत शाश्वत ब्रह्मलक्षण मनोमय स्वयम्भूमनु से सम्बन्ध बतलाया गया है। सङ्कल्पात्मिका इस मनु की मानस कामना का ही (सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्धों में से प्रथम 'श्रम' नामक अनुबन्धन का ही) इस वचन से स्पष्टीकरण, किंवा संग्रह हुआ है। लक्ष्यहीन कामना, कामना विरुद्ध अस्तव्यस्त–अमर्य्यादित तप प्राण व्यापाररूपा चेष्टा–यत्न), एवं लक्ष्य–तप से उन्मुक्त ही अमर्य्यादित श्रम (वाग्व्यापाररूप शारीरिक कर्म्म) इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध, अतएव अप्राकृतरूप से उत्पन्न काम, तदनुगत तप, तदनुगत कर्म्म प्रथम तो लक्ष्यसिद्धि में सफल ही नहीं होते। यदि घुणाक्षरन्यायेन अंशतः सफलता प्राप्त होती भी है, तो एसे सिद्ध लक्ष्यों में स्थायित्व नहीं रहता। ईश्वरीय काम–तप–श्रम जहाँ सर्वात्मना लक्ष्यानुगत, अतएव सर्वात्मना स्थायी, अतएव च सर्वात्मना सनातन हैं सफल हैं, वहाँ मानवीय काम तप श्रम मानव के एषणा–लिप्सात्मक अपने प्रज्ञापराधरूप दोष से अमर्य्यादित–कुत्सित प्रमाणित होते हुए, विभिन्न दिशाओं के अनुगामी बन कर 'मनस्यन्यत्–वचस्यन्यत्–कर्म्मण्यन्यत्–दुरात्मनाम्' को चरितार्थ करते हुए सर्वात्मना लक्ष्यच्युत, अतएव सर्वात्मना अस्थिर, अतएव च सर्वात्मना क्षणिकभावापन्न बने रहते हैं, निष्फल बने रहते हैं। सङ्कल्पात्मक काम (कामना) है कुछ और, क्रियात्मक तप है विभिन्न ही, एवं कर्म्मात्मक वाक् व्यापाररूप श्रम किसी अन्य दिशा का ही अनुगामी बन रहा है। सोचते कुछ और हैं, चेष्टा कुछ और है, शारीरिक व्यापार किसी अन्य क्षेत्र का ही अनुगमन कर रहा है। मन में कुछ और भावित हो रहा है, चेष्टा कुछ और ही हो रही है, श्रम कुछ अन्य ही किया जा रहा है। सङ्कल्प कुछ है, कहते कुछ हैं, करते कुछ और ही हैं। इस प्रकार मन–प्राण–वाङ्मय आत्मचेतनारूप हृदयस्थ मनुप्रजापति के काम–तप–श्रम अनुबन्धों को विभिन्नदिशानुगामी बनाता हुआ स्खलितप्रज्ञ–चलितप्रज्ञ बना हुआ मानव आध्यात्मिक इन मनुकलाओं की सहजसिद्ध–स्वाभाविक समता को, नैसर्गिक अनुभावात्मक समत्वलक्षण बुद्धियोग को आवृत करता हुआ, अभिभूत करता हुआ, विस्मृत करता हुआ अपने आध्यात्मिक बल को निर्बल–निस्तेज–अशक्त ही बना लेता है। फलतः एवं प्रज्ञापराधित चेता मानवों के सङ्कल्प–चेष्टा–श्रम प्रायः निरर्थक ही प्रमाणित होते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत जिन आर्षमानवों के, निगमागमपरायण नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के काम–तप–श्रम–'मनस्येकं–वचस्येकं–कर्म्मण्येकं महात्मनाम्' के अनुसार एक दूसरे को लक्ष्य बनाते हुए पारस्परिक अनुभाव–अनुकूलतालक्षण–समत्वलक्षण,

का सहज विकास सम्भव बना करता है। इस विलक्षण-अपूर्व सम्बन्ध की रक्षा का उत्तरदायित्व प्राकृतिक प्राणनिबन्धन सहज अनुरूपता (जो लोकव्यवहार में योग्यता कहलाई है)-शिक्षा-मोचन (आहारविहार)-मथन (उपासना)-शयन-गमन-भाषण-रुदन-हसन-व्यवहार (लोकव्यवसाय)-लक्ष्य (उद्देश्य)-श्रम (शारीरिकतप)-परिश्रम (प्राणतप)-आदि अनेक भावों के समसमन्वय पर ही अवलम्बित है। तथाकथित किसी भी वृत्ति-वचन-आचरण में यदि यत्किञ्चित् भी-रेखात्मक भी-अन्तर आ जाता है, तो तत्काल मैत्री-सम्बन्धात्मक सहयोग मलीमस बन जाता है। यही मलीमस सहयोग कालान्तर में अनुकूल-प्रतिकूल-स्थिति-परिस्थितियों के तारतम्यसे-निग्रहानुग्रह से सेवा-तटस्थता-शत्रुता, इन तीनों में से किसी भी एकभाव का अनुगामी बन जाता है। यदि सहयोगप्रदाता का हृदय प्रकृत्या सात्त्विक है, साथ ही इसके स्वार्थ का संरक्षण निश्चित है, तो उस दशा में यह अवरसहयोगी सहयोगी न रह कर 'सेवक' बन जाता है, आज्ञावशवर्त्ती प्रमाणित हो जाता है। 'गुरु-शिष्यभाव'-स्वामी-सेवकभाव'-आदि इसी सेवावृत्ति के उदाहरण हैं। यदि सहयोगप्रदाता का स्वार्थसाधन भी सम्भव नहीं बनता, साथ ही सहयोगप्रदानजनित संघर्ष से यह उद्वेग भी रखता है, तो उस अवस्था में यह सहयोग का परित्याग कर 'तटस्थता' का अनुगमन कर लेता है। यदि सहयोगप्रदाता का आभ्यन्तरजगत् (अन्तर्जगत्-प्रज्ञात्मक मनोभाव) तमोगुणबहुला तमोमूला किसी लिप्सा लालसा-लोकैषणा-वित्तैषणा से समन्वित है, और वह इस सहयोग में यदि अपनी लिप्सा-एषणा की सफलता का अनुभव नहीं करता, तो इसमें 'शत्रुता' का उदय हो पड़ता है।

(१०२)-समानमस्तु वो मन'—

देखा गया है, सुना गया है, एवं अनुभव किया गया है ऐसा सम्यग् रूपेण कि, आरम्भ में किसी लिप्सा-एषणा को मूलाधार बनाकर सहयोगप्रदान की कामना से आरम्भ में सहयोगप्रदान के लिए आकुलाव्याकुल बनते हुए सहयोगी जहाँ सर्वस्वार्पण के लिए व्यग्र प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ अपनी इस लिप्सा-एषणा की सफलता की कथा तो दूर, प्रस्तुत परिणाम में इसका सर्वस्वोन्मूलन देखकर सहसा लक्ष्य-उद्देश्यविघातक प्रबल द्वेषी-शत्रु ही बन जाया करते हैं, फिर वह लक्ष्य भले ही वैयक्तिक आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखता हो, किंवा तो परिवार-समाज-राष्ट्र-अभ्युदय से अनुप्राणित हो। अतएव लोकव्यवहारसंरक्षण के लिए नैष्ठिक मानव का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने लक्ष्य की सफलता के लिए सहयोगी को किंवा सहयोगियों को लक्ष्य बनाता हुआ आरम्भ में ही गोपथश्रुति के 'मदेव मन्मात्रम्'-'समानमस्तु वो मन:' इत्यादि आदेशों के अनुरूप ही अपनी कार्य्यपद्धति निश्चित करे। एवंविधा 'अवस्थानुरूपा व्यवस्था' प्रत्येक दिशा-दशा-देश-काल-स्थिति-परिस्थिति में निश्चयेन मङ्गलमयी ही प्रमाणित हुआ करती है। यदि किसी आपातरमणीया व्यामुग्धतामूला भ्रान्ति के कारण, यथाप्रदर्शनानुगत प्रधारणापथ के कारण मानव को यदा कदा दुर्भाग्यवश तथाकथित लिप्सा-एषणापरायण कल्पित सहयोगी प्राप्त हो जाय, तो उनके आभ्यन्तर यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वैसे समस्त सहयोगियों का आदि-कायु-किंवा आत्यन्तिकरूपेण ऐकान्तिक परित्याग ही कर देना चाहिए। इस रहस्यपूर्ण तथ्य का अनुगमन न करने वाला भावुक मानव न केवल पदे पदे अपमानित ही होगा, अपितु दिनदिन इसके शत्रुपक्ष की वृद्धि होती जाती है। यही 'मदेव मन्मात्रम्' निबन्धन का प्रासङ्गिक व्यपदापनुगत स्पष्टीकरण है। प्रासङ्गिकमेतत्, प्रकृतमनुसराम:।

(२०३)—सहधर्म्मं चरताम्—

ब्रह्मने 'मदेवम मात्रम्' भावना से वैसे सहयोगी की कामना की, जो इसके सृष्टिकार्य्य में समानरूप से सहयोग प्रदान करे, जिस प्राकृतिक समान सहयोग के आधार पर पति–पत्नी–लक्षण आर्षदाम्पत्यभाव प्रतिष्ठित माना गया है। यही नहीं, ऐसा सहयोग एकमात्र दाम्पत्यभावात्मक ही माना जायगा, माना गया है। 'सहधर्म्मं चरताम्' के अनुसार धर्म्मपत्नी ही एवंरूपा पूर्वलक्षणा सहयोगिनी मानी गई है। और सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव उस अव्यक्त ब्रह्मने भी अपनी 'मदेव मन्मात्रम्' कामना को अनुरूपतापूर्वक सफल बनाने के लिए सहयोगी का अन्वेषण करते करते अन्ततोगत्वा समानशीलव्यसनपरायणा–मदेव मन्मात्रा–पत्नी को ही अभिव्यक्त किया होगा, जिस 'ब्रह्मपत्नी' (व्यक्तप्रकृति) का स्वरूप अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

(२०४) द्वितीय देव का निर्म्माण—

"हम अपने सदृश अपने परिमाण से समतुलित (हमारे जैसे हमारे जितने हीं) द्वितीय देव का निर्म्माण करें" ब्रह्म की यही वह कामना है, जिसका अध्यात्मानुगत शाश्वत ब्रह्मलक्षण मनोमय स्वयम्भूमनु से सम्बन्ध बतलाया गया है। संकल्पात्मिका इस मनु की मानस कामना का ही (सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्धों में से प्रथम 'काम' नामक अनुबन्धन का ही) इस वचन से स्पष्टीकरण, किंवा संग्रह हुआ है। लक्ष्यहीन कामना, कामना विरुद्ध अस्तव्यस्त–अमर्य्यादित तप प्राण व्यापाररूपा चेष्टा–यत्न), एवं लक्ष्य–तप से उन्मुख ही अमर्य्यादित श्रम (वाग्व्यापाररूप शारीरिक कर्म्म) इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध, अतएव अप्राकृतरूप से उत्पन्न काम, तदनुगत तप, तदनुगत कर्म्म प्रथम तो लक्ष्यसिद्धि में सफल ही नहीं होते। यदि घुणाक्षरन्यायेन अंशतः सफलता प्राप्त होती भी है, तो ऐसे सिद्ध लक्ष्यों में स्थायित्व नहीं रहता। ईश्वरीय काम–तप–श्रम जहाँ सर्वात्मना लक्ष्यानुगत, अतएव सर्वात्मना स्थायी, अतएव च सर्वात्मना सनातन हैं, सफल हैं, वहाँ मानवीय काम तप श्रम मानव के एषणा-लिप्सात्मक अपने प्रज्ञापराधरूप दोष से अमर्य्यादित–कुटिल प्रमाणित होते हुए, विभिन्न दिशाओं के अनुगामी बन कर 'मनस्यन्यत्–वचस्यन्यत्-कर्म्मण्यन्यत्-दुरात्मनाम्' को चरितार्थ करते हुए सर्वात्मना लक्ष्यच्युत, अतएव सर्वात्मना अस्थिर, अतएव च सर्वात्मना क्षणिकभावापन्न बने रहते हैं, निष्फल बने रहते हैं। सङ्कल्पात्मक काम (कामना) है कुछ और, क्रियात्मक तप है विभिन्न ही, एवं कर्म्मात्मक बाह्य व्यापाररूप श्रम किसी अन्य दिशा का ही अनुगामी बन रहा है। सोचते कुछ और हैं, चेष्टा कुछ और है, शारीरिक व्यापार किसी अन्य क्षेत्र का ही अनुगमन कर रहा है। मन में कुछ और घटित हो रहा है, चेष्टा कुछ और ही हो रही है, काम कुछ अन्य ही किया जा रहा है। संकल्प कुछ है, कहते कुछ हैं, करते कुछ और ही हैं। इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय आत्मदैवतरूप हृदयस्थ मनुप्रजापति के काम–तप–श्रम अनुबन्धों को भिन्नभिन्नदिशानुगामी बनाता हुआ स्खलितप्रज्ञ–चलितप्रज्ञ बना हुआ मानव आध्यात्मिक इन अनुबन्धों की सहजसिद्ध–स्वाभाविक समता को, नैसर्गिक अनुभावात्मक समत्वलक्षण बुद्धियोग को आवृत करता हुआ, अभिभूत करता हुआ, विस्मृत करता हुआ अपने आध्यात्मिक बल को निर्बल–निस्तेज–अशक्त ही बना लेता है। फलतः ऐसे अव्यवस्थित-चेता मानवों के सङ्कल्प–चेष्टा–श्रम प्रायः निरर्थक ही प्रमाणित होते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत जिन आर्षमानवों के, निगमागमपरायण नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के काम–तप–श्रम–'मनस्येकं-वचस्येकं-कर्म्मण्येकं महात्मनाम्' के अनुसार एक दूसरे को लक्ष्य बनाते हुए पारस्परिक अनुभाव–अनुकूलतालक्षण–समत्वलक्षण,

का सहज विकास सम्भव बना करता है। इस विलक्षण-अपूर्व सम्बन्ध की रक्षा का उत्तरदायित्व प्राकृतिक प्राणनिबन्धन सहज अनुरूपता (जो लोकव्यवहार में योग्यता कहलाती है)-शिक्षा-भोजन (आहारविहार)-भजन (उपासना)-शयन-गमन-भाषण-रुदन-हसन-व्यवहार (लोकव्यवसाय)-लक्ष्य (उद्देश्य)-श्रम (शारीरिकतप)-परिश्रम (प्राणतप)-आदि अनेक भावों के समसमन्वय पर ही अवलम्बित है। तथाकथित किसी भी वृत्ति-वर्त्तन-आचरण में यदि यत्किञ्चित् भी-स्वल्पात्मक भी-अन्तर आ जाता है, तो तत्काल मैत्री-सम्बन्धात्मक सहयोग मलीमस बन जाता है। यही मलीमस सहयोग कालान्तर में अनुकूल-प्रतिकूल-स्थिति-परिस्थितियों के तारतम्यसे-निग्रहानुग्रह से सेवा-तटस्थता-शत्रुता, इन तीनों में से किसी भी एकभाव का अनुगामी बन जाता है। यदि सहयोगप्रदाता का हृदय प्रकृत्या सात्विक है, साथ ही इसके स्वार्थ का संरक्षण निश्चित है, तो उस दशा में यह अवरसहयोगी सहयोगी न रह कर 'सेवक' बन जाता है, आशावशवर्त्ती प्रमाणित हो जाता है। 'गुरु-शिष्यभाव'-स्वामी-सेवकभाव'-आदि इसी सेवावृत्ति के उदाहरण हैं। यदि सहयोगप्रदाता का स्वार्थसाधन भी सम्भव नहीं बनता, साथ ही सहयोगप्रदानजनित संघर्ष से यह उद्वेग भी रखता है, तो उस अवस्था में यह सहयोग का परित्याग कर 'तटस्थता' का अनुगमन कर लेता है। यदि सहयोगप्रदाता का आभ्यन्तरजगत् (अन्तर्जगत्-प्रज्ञात्मक मनोभाव) तमोगुणबहुला तमोमूला किसी लिप्सा लालसा-लोकैषणा-वित्तैषणा से समन्वित है, और वह इस सहयोग में यदि अपनी लिप्सा-एषणा की सफलता का अनुभव नहीं करता, तो इसमें 'शत्रुता' का उदय हो पड़ता है।

(२०२)-समानमस्तु वो मन'—

देखा गया है, सुना गया है, एवं अनुभव किया गया है ऐसा सम्यग् रूपेण कि, आरम्भ में किसी लिप्सा-एषणा को मूलाधार बनाकर सहयोगप्रदान की कामना से आरम्भ में सहयोगप्रदान के लिए आकुलाव्याकुल बनते हुए सहयोगी जहाँ सर्वस्वार्पण के लिए व्यग्र प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ अपनी इस लिप्सा-एषणा की सफलता की कथा तो दूर, प्रत्युत परिणाम में इसका सर्वस्वोन्मूलन देखकर सहसा लक्ष्य-उद्देश्यविघातक प्रबल द्वेषी-शत्रु ही बन जाया करते हैं, फिर वह लक्ष्य भले ही वैय्यक्तिक आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखता हो, किंवा तो परिवार-समाज-राष्ट्र-अभ्युदय से अनुप्राणित हो। अतएव लोकव्यवहारसंरक्षण के लिए नैष्ठिक मानव का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने लक्ष्य की सफलता के लिए सहयोगी को किंवा सहयोगियों को सहयोगी बनाता हुआ आरम्भ में ही गोपथश्रुति के 'मदेव मन्मात्रम्'-'समानमस्तु वो मन' इत्यादि आदेशों के अनुरूप ही अपनी कार्यपद्धति निश्चित करे। एवंविधा 'अवस्थानुरूपा व्यवस्था' प्रत्येक दिशा-दशा-देश-काल-स्थिति-परिस्थिति में निश्चयेन मङ्गलमयी ही प्रमाणित हुआ करती है। यदि किसी आपातरमणीया भावुकतामूला भ्रान्ति के कारण, भावप्रदर्शनानुगत प्रतारणाभय के कारण मानव को कदा कदा दुर्भाग्यवश तथाकथित लिप्सा-एषणापरायण कतिपय सहयोगी प्राप्त हो जाय, तो उनके आभ्यन्तर भयावह स्वरूप का बोध प्राप्त होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वैसे समस्त सहयोगियों का अवि-कल्प किंवा आत्यन्तिकरूपेण ऐकान्तिक परित्याग ही कर देना चाहिए। इस रहस्यपूर्ण तथ्य का अनुगमन न करने वाला भावुक मानव न केवल पदे पदे अपमानित ही होता, अपितु दिनदिन इसके शत्रुपक्ष की वृद्धि होती जाती है। यही 'मदेव मन्मात्रम्' निबन्धन का प्रासङ्गिक व्यवहारानुगत स्वरूपविश्लेषण है। प्राप्तमिदमेकम्, महत्वमनुसरणम्।

(२०३)—सहधर्म्म चरताम्—

मदने 'मदेवमन्मात्रम्' भावना से वैसे सहयोगी की कामना की, जो इसके सृष्टिकर्म्म में समानरूप से सहयोग प्रदान करे, जिस प्राकृतिक समान सहयोग के आधार पर पति-पत्नी-लक्षण आर्षदाम्पत्यभाव प्रतिष्ठित माना गया है। यही नहीं, ऐसा सहयोग एकमात्र दाम्पत्यभावात्मक ही माना जायगा, माना गया है। 'सहधर्म्म चरताम्' के अनुसार धर्मपत्नी ही एतद्रूपा पूर्वलक्षणा सहयोगिनी मानी गई है। और सम्भवतः इसी, निश्चयेनैव उस अव्यक्त मनने भी अपनी 'मदेव मन्मात्रम्' कामना को अनुरूपतापूर्वक सफल बनाने के लिए सहयोगी का अन्वेषण करते करते अन्ततोगत्वा समानशक्तिव्यञ्जनपरायणा-मदेव मन्मात्रा-पत्नी का ही अभिव्यञ्जन किया होगा, जिस 'महापत्नी' (व्यक्तप्रकृति) का स्वरूप अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

(२०४) द्वितीय देव का निर्म्माण—

"हम अपने सदृश अपने परिमाण से समतुलित (हमारे जैसे हमारे जितने ही) द्वितीय देव का निर्म्माण करें" यह भी यही वह कामना है, जिसका अव्ययात्मानुगत शाश्वत ब्रह्मलक्षण मनोमय स्वयम्भूमनु से सम्बन्ध बतलाया गया है। संकल्पात्मिका इस मनु की मानस कामना का ही (सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्धों में से प्रथम 'काम' नामक अनुबन्धन का ही) इस वचन से स्पष्टीकरण, किया गया हुआ है। लक्ष्यहीन कामना, कामना विरुद्ध अस्तव्यस्त-अमर्य्यादित तप (प्राण व्यापाररूपा चेष्टा-यत्न), एवं लक्ष्य-तप से उन्मुक्त ही अमर्य्यादित श्रम (वाग्व्यापाररूप शारीरिक कर्म्म) इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध, अतएव अप्राकृतरूप से उत्पन्न काम, तदनुगत तप, तदनुगत कर्म्म प्रथम तो लक्ष्यसिद्धि में सफल ही नहीं होते। यदि घुणाक्षरन्यायेन अंशतः सफलता प्राप्त होती भी है, तो ऐसे सिद्ध लक्ष्यों में स्थायित्व नहीं रहता। ईश्वरीय काम-तप-श्रम जहाँ सर्वात्मना लक्ष्यानुगत, अतएव सर्वात्मना स्थायी, अतएव च सर्वात्मना सनातन हैं, सफल हैं, वहाँ मानवीय काम तप श्रम मानव के एषणा-लिप्सात्मक अपने प्रज्ञापराधरूप दोष से अमर्य्यादित-कुटिल प्रमाणित होते हुए, विभिन्न दिशाओं के अनुगामी बन कर 'मनस्यन्यत्-वचस्यन्यत्-कर्म्मण्यन्यत्-दुरात्मनाम्' को चरितार्थ करते हुए सर्वात्मना लक्ष्यच्युत, अतएव सर्वात्मना अस्थिर, अतएव च सर्वात्मना क्षणिकभावापन्न बने रहते हैं, निष्फल बने रहते हैं। संकल्पात्मक काम (कामना) है कुछ और, क्रियात्मक तप है भिन्न ही, एवं कर्म्मात्मक वाक् व्यापाररूप श्रम किसी अन्य दिशा का ही अनुगामी बन रहा है। सोचते कुछ और है, चेष्टा कुछ और है, शारीरिक व्यापार किसी अन्य क्षेत्र का ही अनुगमन कर रहा है। मन में कुछ और घटित हो रहा है, चेष्टा कुछ और ही हो रही है, श्रम कुछ अन्य ही किया जा रहा है। संकल्प कुछ है, कहते कुछ हैं, करते कुछ और ही हैं। इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय आत्मदेवतारूप हृदयस्थ मनुप्रजापति के काम-तप-श्रम अनुबन्धों को विभिन्नदिशानुगामी बनाता हुआ स्खलितप्रज्ञ-चलितप्रज्ञ बना हुआ मानव आध्यात्मिक इन मनुकलाओं की सहजसिद्ध-स्वाभाविक समता को, नैसर्गिक अनुभावात्मक समत्वलक्षण बुद्धियोग को आवृत करता हुआ, अभिभूत करता हुआ, विस्मृत करता हुआ अपने आध्यात्मिक बल को निर्बल-निस्तेज-अशक्त ही बना लेता है। फलतः ऐसे प्रज्ञावस्थित-चंचल मानवों के संकल्प-चेष्टा-श्रम प्रायः निरर्थक ही प्रमाणित होते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत जिन आर्षमानवों के, निगमागमपरायण नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के काम-तप-श्रम-'मनस्येकं-वचस्येकं-कर्म्मण्येकं महात्मनाम्' के अनुसार एक दूसरे को लक्ष्य बनाते हुए पारस्परिक अनुभाव-अनुकूलतालक्षण-समत्वलक्षण,

का सहज विकास सम्भव बना करता है। इस विलक्षण-अपूर्व सम्बन्ध की रक्षा का उत्तरदायित्त्व प्राकृतिक प्राणनिबन्धन सहज अनुरूपता (जो लोकव्यवहार में योग्यता कहलाई है)-शिक्षा-भोजन (आहारविहार)-भजन (उपासना)-शयन-गमन-भाषण-रुदन-हसन-व्यवहार (लोकव्यवसाय)-लक्ष्य (उद्देश्य)-श्रम (शारीरिकतप)-परिश्रम (प्राणतप)-आदि अनेक भावों के समसमन्वय पर ही अवलम्बित है। तथाकथित किसी भी दृष्टि-वर्त्तन-आचरण में यदि यत्किञ्चित् भी-रेखात्मक भी-अन्तर आ जाता है, तो तत्काल मैत्री-सम्बन्धात्मक सहयोग मलीमस बन जाता है। यही मलीमस सहयोग कालान्तर में अनुकूल-प्रतिकूल-स्थिति-परिस्थितियों के तारतम्यसे-निग्रहानुग्रह से सेवा-तटस्थता-शत्रुता, इन तीनों में से किसी भी एकभाव का अनुगामी बन जाता है। यदि सहयोगप्रदाता का हृदय प्रकृत्या सात्त्विक है, साथ ही इसके स्वार्थ का संरक्षण निश्चित है, तो उस दशा में यह अवरसहयोगी सहयोगी न रह कर 'सेवक' बन जाता है, आज्ञावशवर्त्ती प्रमाणित हो जाता है। 'गुरु-शिष्यभाव'-स्वामी-सेवकभाव'-आदि इसी सेवावृत्ति के उदाहरण हैं। यदि सहयोगप्रदाता का स्वार्थसाधन भी सम्भव नहीं बनता, साथ ही सहयोगप्रदानजनित संघर्ष से यह उद्वेग भी रखता है, तो उस अवस्था में यह सहयोग का परित्याग कर 'तटस्थता' का अनुगमन कर लेता है। यदि सहयोगप्रदाता का आभ्यन्तरजगत् (अन्तर्जगत्-प्रज्ञात्मक मनोभाव) तमोगुणबहुला तमोमूला किसी लिप्सा लालसा-लोकैषणा-वित्तैषणा से समन्वित है, और यह इस सहयोग में यदि अपनी लिप्सा-एषणा की सफलता का अनुभव नहीं करता, तो इसमें 'शत्रुता' का उदय हो पड़ता है।

(२०२)-समानमस्तु वो मनः—

देखा गया है, सुना गया है, एवं अनुभव किया गया है ऐसा सम्यग् रूपेण कि, आरम्भ में किसी लिप्सा-एषणा को मूलाधार बनाकर सहयोगप्रदान की कामना से आरम्भ में सहयोगप्रदान के लिए आकुलव्याकुल बनते हुए सहयोगी जहाँ सर्वस्वार्पण के लिए व्यग्र प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ अपनी इस लिप्सा-एषणा की सफलता की कथा तो विदूर, प्रत्युत परिणाम में इसका सर्वस्वोन्मूलन देखकर सहसा लक्ष्य-उद्देश्यविघातक प्रबल द्वेष्टा-शत्रु ही बन जाया करते हैं, फिर वह लक्ष्य भले ही वैय्यक्तिक आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखता हो, किंवा तो परिवार-समाज-राष्ट्र-अभ्युदय से अनुप्राणित हो। अतएव लोकव्यवहारसंरक्षण के लिए नैष्ठिक मानव का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने लक्ष्य की सफलता के लिए सहयोगी को किंवा सहयोगियों को लक्ष्य बनाता हुआ आरम्भ में ही गोपथश्रुति के 'मवेव मन्मात्रम्'-'समानमस्तु वो मनः' इत्यादि आदेशों के अनुरूप ही अपनी कार्य्यपद्धति निश्चित करे। एवंविधा 'अवस्थानुरूपा व्यवस्था' प्रत्येक दिशा-दशा-क्षेत्र-काल-स्थिति-परिस्थिति में निश्चयेन मङ्गलमयी ही प्रमाणित हुआ करती है। यदि किसी आपातरमणीया भावुकतामूला भ्रान्ति के कारण, भावप्रदर्शनानुगत प्रतारणापथ के कारण मानव को यदा कदा दुर्भाग्यवश तथाकथित लिप्सा-एषणापरायण कल्पित सहयोगी प्राप्त हो जाय, तो उनके आभ्यन्तर भयावह स्वरूप का बोध प्राप्त होने के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही वैसे समस्त सहयोगियों का अहि-कञ्चुकिवत् आत्यन्तिकरूपेण ऐकान्तिक परित्याग ही कर देना चाहिए। इस रहस्यपूर्ण तथ्य का अनुगमन न करने वाला भावुक मानव न केवल पदे पदे अपमानित ही होगा, अपितु दिनदिन इसके शत्रुपक्ष की वृद्धि होती जाती है। यही 'मवेव मन्मात्रम्' निबन्धन का प्रासङ्गिक व्यवहारानुगत स्वरूपविश्लेषण है। प्रासङ्गिकमेतत्, प्रकृतमनुसराम' ।

(२०३)-सहधर्म्मं चरताम्—

ब्रह्मने 'मदेयमन्मात्रम्' भावना से वैसे सहयोगी की कामना की, जो इसके सृष्टिकार्य्य में समानरूप से सहयोग प्रदान कर, जिस प्राकृतिक समान सहयोग के आधार पर पति-पत्नी-लक्षण आर्यदाम्पत्यभाव प्रतिष्ठित माना गया है। यही नहीं, ऐसा सहयोग एकमात्र दाम्पत्यभावात्मक ही माना जायगा, माना गया है। 'सहधर्म्मं चरताम्' के अनुसार धर्म्मपत्नी ही एवंरूपा पूर्वलक्षणा सहयोगिनी मानी गई है। और सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव उस अव्यक्त ब्रह्मने भी अपनी 'मदेव मन्मात्रम्' कामना को अनुरूपतापूर्वक सफल बनाने के लिए सहयोगी का अन्वेषण करते करते अन्ततोगत्वा समानशीलव्यसनपरायणा-मदेव मन्मात्रा-पत्नी को ही अभिव्यक्त किया होगा, जिस 'महापत्नी' (व्यक्तप्रकृति) का स्वरूप अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

(२०४) द्वितीय देव का निर्म्माण—

"हम अपने सदृश अपने परिमाण से समतुलित (हमारे जैसे हमारे जितने ही) द्वितीय देव का निर्म्माण करें" ब्रह्म की यही यह कामना है, जिसका अव्ययात्मानुगत शाश्वत ब्रह्मलक्षण मनोमय स्वयम्भूमनु से सम्बन्ध बतलाया गया है। संकल्पात्मिका इस मनु की मानस कामना का ही (सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्धों में से प्रथम 'काम' नामक अनुबन्धन का ही) इस वचन से स्पष्टीकरण, किंवा संग्रह हुआ है। लक्ष्यहीन कामना, कामना विरुद्ध अस्तव्यस्त-अमर्य्यादित तप प्राण व्यापाररूपा चेष्टा-यत्न), एवं लक्ष्य-तप से उन्मुक्त ही अमर्य्यादित श्रम (वाग्व्यापाररूप शारीरिक कर्म्म) इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध, अतएव अप्राकृतरूप से उत्पन्न काम, तदनुगत तप, तदनुगत कर्म्म प्रथम तो लक्ष्यसिद्धि में सफल ही नहीं होते। यदि घुणाक्षरन्यायेन अंशतः सफलता प्राप्त होती भी है, तो ऐसे सिद्ध लक्ष्यों में स्थायित्व नहीं रहता। ईश्वरीय काम-तपः-श्रम जहाँ सर्वात्मना लक्ष्यानुगत, अतएव सर्वात्मना स्थायी, अतएव च सर्वात्मना सनातन हैं, सफल हैं, वहाँ मानवीय काम तपःश्रम मानव के एषणा-लिप्सात्मक अपने प्रज्ञापराधरूप दोष से अमर्य्यादित-कुटिल प्रमाणित होते हुए, विभिन्न दिशाओं के अनुगामी बन कर 'मनस्यन्यत्-वचस्यन्यत्-कर्म्मण्यन्यत्-दुरात्मनाम्' को चरितार्थ करते हुए सर्वात्मना लक्ष्यच्युत, अतएव सर्वात्मना अस्थिर, अतएव च सर्वात्मना क्षणिकभावापन्न बने रहते हुए निष्फल बने रहते हैं। सङ्कल्पात्मक काम (कामना) है कुछ ओर, क्रियात्मक तप है विभिन्न ही एवं कर्म्मात्मक वाक् व्यापाररूप श्रम किसी अन्य दिशा का ही अनुगामी बन रहा है। सोचते कुछ ओर हैं, चेष्टा कुछ ओर है, शारीरिक व्यापार किसी अन्य क्षेत्र का ही अनुगमन कर रहा है। मन में कुछ ओर घटित हो रहा है, चेष्टा कुछ ओर ही हो रही है, काम कुछ अन्य ही किया जा रहा है। संकल्प कुछ है कहते कुछ है, करते कुछ ओर ही हैं। इस प्रकार मन प्राणवाङ्मय आत्मदेवतारूप हृदयस्थ मनुप्रजापति के काम-तप-श्रम अनुबन्धों को विभिन्नदिशानुगामी बनाता हुआ स्वलक्षितप्रज्ञ-पलक्षितप्रज्ञ बना हुआ मानव आध्यात्मिक इन मनुबन्धों की सहजसिद्ध-स्वाभाविक समता को, नैसर्गिक अनुभावात्मक समत्वलक्षण बुद्धियोग को आवृत करता हुआ, अभिभूत करता हुआ विस्मृत करता हुआ अपने आध्यात्मिक बल को निर्बल-निस्तेज-अशक्त ही बना लेता है। फलतः ऐसे अव्यवस्थित-चेता मानवों के सङ्कल्प-चेष्टा-श्रम प्रायः निरर्थक ही प्रमाणित होते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत जिन आर्यमानवों के, निगमागमपरायण नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के काम-तप-श्रम-'मनस्येकं-वचस्येकं-कर्म्मण्येकं महात्मनाम्' के अनुसार एक दूसरे को लक्ष्य बनाते हुए पारस्परिक अनुभाव-अनुबन्धतालक्षण-समत्वलक्षण,

बुद्धियोगमाध्यम से मर्य्यादित रहते हैं, सत्यसंकल्पधर्म्मा ईश्वरवत् उनका मनःप्राणवाङ्मय द्वय मनु अपने स्वाभाविक समत्व में सुप्रतिष्ठित रहता हुआ सबल–सशक्त बना रहता है। फलतः ऐसे व्यवस्थितचेता मानवश्रेष्ठों के सत्य संकल्प–चेष्टा–श्रम निश्चयेन सफल ही बने रहते हैं। काम–तप–श्रमभावों की इसी ईश्वरीय–प्राकृतिक समता को लक्ष्य बनाते हुए ही श्रुति ने आगे जाकर कहा है कि–"सत्यसंकल्पानन्तर ब्रह्म ने संकल्प के अनुरूप सफल्प को लक्ष्य बना कर ही तप किया, श्रम किया, एवं सचमुच में काम–तप–श्रम, इन तीनों का एकत्र समन्वय कर डाला, जो समसमन्वय 'सन्तपन' कहलाया"।

(२०५)–सदभ्यश्राम्यत्–अभ्यतपत्—

'सदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्' का तात्पर्य्य यही है कि, संकल्पात्मिका मानसव्यापार लक्षणा कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में ही मनुप्रजापति के (मनोमय स्वयम्भू मनु के) अंचरगात्मानुगत प्राणमय हिरण्यगर्भ मनु में सघर्ष उत्पन्न हो गया, इस प्राणसंघर्ष के अव्यवहितोत्तरकाल में ही मनुप्रजापति के (प्राणमय हिरण्यगर्भ मनु के) चरात्मानुगत वाङ्मय विराट्मनु में संघर्ष उत्पन्न हो गया। यह यजुर्वागरूप वागग्निमनुनिबन्धन संक्षोभ ही श्रम नाम से प्रसिद्ध हुआ, प्राणरूप हिरण्यगर्भमनुनिबन्धन क्षोभ ही तप कहलाया। एवं मनोरूप स्वयम्भूमनुनिबन्धन क्षोभ ही काम नाम से प्रसिद्ध हुआ। तीनों में चरात्मनिबन्धन वागग्निलक्षण यजुर्वागग्निस्वरूप विराट्मनु का संक्षोभलक्षण श्रम ही संकल्पित–तपोऽनुगत 'द्वितीय देव' अभिव्यक्ति का मूल उपादान प्रमाणित हुआ। प्राणव्यापारलक्षण तप के अनन्तर ही यद्यपि वाग्व्यापारलक्षण श्रम का उदय होता है। अतएव सहजसृष्टिधारा का क्रम यही है कि—'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'।

(२०६)–सदभ्यतपत्–अश्राम्यत्—

तथापि एक रहस्यात्मक कारणविशेष से कुछ एक विशेष स्थलों में प्रथम स्थान श्रम को, द्वितीय स्थान तप को प्रदान कर दिया गया है। वह कारण यही है कि, चरनिबन्धना रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–लक्षणा तन्मात्राओं से असंसृष्ट, अतएव अधामच्छद, अचरनिबन्धन सुसूक्ष्मप्राणतत्त्व वाङ्मयभूत चर के आधार पर प्रतिष्ठित होकर स्वव्यापारानुष्ठानप्रकार में समर्थ बना करता है। बिना चरवाङ्मयभूत को आधार बनाए अचरप्राणमयतत्त्व तपोलक्षणस्वव्यापार में असमर्थ है। प्राणी (भूत) ही प्राणव्यापार कर सकता है। केवल प्राण तो अप्रमाण है। इसीलिए तो इस स्वरूप भी विशुद्ध प्राण को 'असत्' कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिष्ठाभूमि की दृष्टि से ही वाङ्मय श्रम को यत्रतत्र प्रथम स्थान प्रदान कर दिया गया है। एकमात्र इसी हेतु से–'अभ्यश्राम्यत्–अभ्यतपत्' रूप से श्रम का पहिले, तप का तदनन्तर उल्लेख कर दिया गया है, जो केवल दृष्टिसापेक्ष ही माना जायगा। सृष्टिसापेक्षता में तो 'अभ्यतपत्–अभ्यश्राम्यत्', यही सहज क्रम प्रतिष्ठित रहेगा।

(२०७)–'श्रान्तस्य तप्तस्य' स्वरूपमीमांसा—

"ब्रह्मप्रजापति (मनुःप्राणगर्भितवाङ्मय स्वयम्भू–हिरण्यगर्भगर्भित विराट्मयमनुप्रजापति) अपने तथाविध संकल्प के अनुरूप किए जाने वाले (निर्णीत हो पड़ने वाले) तप और श्रम, तथा तपःश्रम के

समन्वितरूपलक्षण सन्तपन से 'तप्त-भ्रान्त-सन्तप्त' बन गर्ए'' इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाली—"तस्य भ्रान्तस्य तप्तस्य सन्ततस्य" श्रुति का भाव यही है कि, मनुप्रजापति का यजुरग्निरूप वागभाग इस संघर्ष से विध्वंस की चरमसीमा पर पहुँच गया। कैसा संघर्ष ! सर्वव्यापक संघर्ष, आसमन्तात् सर्वदिगनुबन्धी व्यापक संघर्ष। यदवच्छेदेन (यत्सीमा में) ब्रह्म व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव ब्रह्माग्नि-श्वासरूप वागग्नि व्याप्त था। तदवच्छेदेनैव यह संघर्ष भी व्याप्त हो गया। अलातचक्रात्मक गतिशील महान्‌मण्डल में व्याप्त (अण्डात्मक त्रिकेन्द्रमायात्मक दीर्घवृत्तरूप सीमामण्डल में व्याप्त*) वागग्नि का अणु अणु (ऋतरूपात्मक वागग्नि के गुणाणुभूत) क्षुब्ध हो पड़े। और इस महान् संघर्ष का परिणाम हुआ कालान्तर में—'पानी' किंवा—'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव सासृज्यत'—(शत॰ ६।१।१।९)। सिद्ध विषय है कि, जब भी अग्निपरमाणु अपने विध्वंस की चरमावस्था में पहुँच जाते हैं, तो इनकी विकासावस्था संकोचावस्था में परिणत हो जाती है। अग्निविकास की संकोचावस्था का नाम ही 'जल' है, जिसे विज्ञानभाषा में 'सोम' कहा गया है। ग्रीष्मऋतु आग्नेयऋतु मानी गई है, जिसे हम उष्णकाल (उन्हाला-अग्निकाल) कहा करते हैं। आषाढ़ के मध्य में, जब कि अग्निविकास चरमसीमा पर पहुँच जाता है, अग्नि जब अतिशयरूपेण 'उरू' (समृद्ध) बन जाता है, तो व्याकरणनियमानुसार इसे 'वर्ष' आदेश हो जाता है, अग्नि ही जलरूप में परिणत हो जाता है। अतिशय श्रम से संघर्ष की चरमावस्था में पहुँचता हुआ शरीराग्नि प्रत्यक्ष में जलरूप में (स्वेद नामक पसीने के रूप में) परिणत प्रतीत हो रहा है। अतिशय क्रोध से सम्बद्ध संघर्ष से भी यही स्थिति हो जाती है। शोकाग्निसंघर्ष से (अश्रुरसाग्निसंघर्ष से), तथा स्नेहाग्निसंघर्ष से (मार्गवाग्निसंघर्ष से) अश्रुपात हो पड़ना भी प्रत्यक्ष ही है। इसी आधार पर श्रुति का—'अग्नेराप' सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

(२०८) आर्द्र-शुष्कस्वरूपपरिचय—

स्थिति का यों समन्वय कीजिए। परात्पर ब्रह्म 'रस'' तथा 'बल'' भेद से मावद्वयापन्न था। ब्रह्म की इन दोनों कलाओं का क्रमशः 'स्थिति''-'गति'' -इन दो भावों में व्यक्तीभाव हुआ। आगे चलकर मैथुनीसृष्टि के उपक्रम में इन दोनों की 'स्नेह'' 'तेज'' इन दो भावों में अभिव्यक्ति होती है। रस, स्थिति, स्नेह, तीनों अनुयोगी हैं, एवं बल, गति, तेज, तीनों अनुयोगी हैं। रस-स्थिति-स्नेह के

---

* यद्यपि ब्रह्मसीमामण्डल परिपूर्णभावदृष्ट्या वर्त्तुलवृत्ताकार ही है। किन्तु सृष्टिदशा में इसे अपने मन-प्राणवाक् के त्रिवृद्भाव के कारण त्रिकेन्द्र बन जाना पड़ता है। त्रिकेन्द्रात्मक वृत्त ही अण्डाकार 'दीर्घवृत्त' माना गया है। तीन वर्त्तुल (गोल) वृत्तों को सीमित करता हुआ वृत्त दीर्घवृत्त बन जाता है जो अण्डाकार से समतुलित है। अतएव सृष्टिदशा में ब्रह्मवृत्त को 'ब्रह्माण्ड' नाम से व्यवहृत करना ।। अन्वर्थ बनता है।

— सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

—मनु

बल–गति–तेज, ये तीनों प्रतियोगी हैं। ये ही द्वन्द्वात्मिका द्विनियतिविलक्षणा (दुनिया–द्विनियति) सृष्टि के मूलस्तम्भ हैं। रस–स्थिति–समन्वित स्नेहतत्त्व 'भृगु' है, एवं बल गति–समन्वित तेज–तत्त्व 'अङ्गिरा' है। ध्रुव (घनावयव–निबिडावयव) भत्र (तरलावयव), घरुण (विरलावयव–वाष्पावयव), इन तीन नैसर्गिक अवस्थाओं के कारण दोनों तत्त्व तीन तीन अवस्थाओं में परिणत हो रहे हैं। घनावस्थापन्न वही भृगु 'आपः'' है, तरलावस्थापन्न वही भृगु 'वायु'' (साम्सवाशिव नामक शान्तवायु) है। एवं विरलावस्थापन्न वही भृगु 'सोम'' है ×। तथैव घनावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'अग्नि'' है, तरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'यम'' (घर नामक उग्र वायु) है, एवं विरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'आदित्य'' * है,। अग्नि यम–आदित्य की समष्टिरूप अङ्गिरा ही 'तेज' है एवं आप–वायु–सोम की समष्टि रूप भृगु ही 'स्नेह' है। तेज 'शुष्क' तत्त्व है, रूक्ष तत्त्व है, उत्तरोत्तर विकासशाली–विकासानुगामी (फैलनेवाला) है। स्नेह 'आर्द्र' तत्त्व है, स्निग्धतत्त्व है, उत्तरोत्तर संकोचशाली–संकोचानुगामी (सिकुड़ने वाला) है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व में इन शुष्क–आर्द्र, दो तत्त्वों का ही साम्राज्य है, जैसा कि "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–शुष्कं चैव–आर्द्रं चैव। यच्छुष्कं–तदाग्नेयम्। यदार्द्रं तत् सौम्यम्" (शत ब्रा १।६।३।२३) इत्यादि शातपथी श्रुति से प्रमाणित है।

(२०९) अग्नीषोमात्मकं जगत्–

इसी आधार पर वैज्ञानिकोंने व्यावहारिक जगत् के लिए इस तथ्य का अनिवार्यरूपेण अनुगमनीय घोषित किया है कि, "मानव को सदा सर्वदा प्रत्येक दशा में समन्वयपूर्वक भृग्वङ्गिरातत्त्वों के–स्नेह तेजोभावों के–समसमन्वय के आधार पर ही अपने व्यवहारक्षेत्र का सञ्चालन करना चाहिए"। विशुद्ध रूक्ष (रूक्ष–आग्नेय–क्रोधाविष्ट) मानव भी, कार्यसफलता से वञ्चित रह जाता है। एवं विशुद्ध आर्द्र (स्निग्ध–सौम्य–अनुरागपरायण) मानव भी असफल ही बना रह जाता है। परिस्थित्य नुसार रूक्षता–आर्द्रता दोनों का समसमन्वय रखने वाला नैष्ठिक मानव ही सफल मानव है, जिस सफलता के लिए आर्षमानव (महर्षि) की ओर से हमें यह आदेश प्राप्त हुआ है कि–"भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" (तै० ब्रा० ३।२।७।६।)। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' (बृहज्जाबालोपनिषत् २।४।) इत्यादि औपनिषद वचन भी अग्न्युपलक्षित शुष्क–अङ्गिरा (तेजोभाव), एवं सोमोपलक्षित आर्द्र भृगु (स्नेहभाव) की व्यापकता का ही समर्थन कर रहा है।

× "आपो–वायुः–सोम–इत्येते भृगवः" (का० ब्रा० पृ २३७)।

* आदित्य वस्तुतः आङ्गिरस विरल प्राण का ही नाम है, जिसके 'इन्द्र'–धाता'–भग'–पूषा'–मित्र'–वरुण'–अर्यमा'–अंशु'–विवस्वान्'–त्वष्टा'–सविता'–विष्णु'' ये बारह अवान्तर विभेद माने गए हैं। सूर्यमण्डल में क्योंकि इन बारहों आदित्यप्राणों का समन्वय हो रहा है। एकमात्र इसी दृष्टि से सूर्य को 'आदित्य नाम से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः सूर्य और आदित्य का पर्याय–सम्बन्ध नहीं है।

(२१०) भृग्वङ्गिरोमय विश्व -

भृगु और अङ्गिरा, क्या दोनों दो स्वतन्त्र तत्त्व हैं ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसका हाँ, ना दोनों उत्तरों से समन्वय माना जागया । हाँ, इसलिए कि अहोरात्रवत् (आग्नेय अह:, सौम्या रात्रिवत्) दोनों की विभिन्नता प्रत्यक्ष में प्रमाणित है । ना, इसलिए कि, एक ही तत्त्व की अवस्थाद्वयी क्रमशः 'भृगु-अङ्गिरा' कहलाई है । इस अभिन्नता-दृष्टि से अङ्गिरा ही भृगु है, एवं भृगु ही अङ्गिरा है । यही ब्रह्म है, यही सुब्रह्म है जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । हृदयस्थल से विनिर्गत होकर (निकलकर) वृत्तरूप परिधि की ओर अग्नि-यम-आदित्यरूप अङ्गिरा उत्तरोत्तर विशकलित-विकसित-होते हुए ऊर्ध्वगमन कर रहे हैं+ । अग्नि-यम-आदित्य, इन तीनों का पारस्परिक हृद्य (हृदयानुगत) संघर्ष ही इनका अङ्गिरात्व, किंवा अग्नित्व है । परिधि (सीमा) पर्य्यन्त तीनों का क्रमिक विकास अक्षुण्ण बना रहता है । परिधि-सीमा में बहिर्भूत होते ही तीनों का हृद्य-भावात्मक संघर्ष उच्छिन्न हो जाता है, विकास उपशान्त हो जाता है । परिणामस्वरूप तीनों विकास की इस चरमसीमा पर पहुँचते ही सङ्कोचावस्था में परिणत होते हुए परिधि से पुनराकर्षित बन कर हृदयाभिमुख (केन्द्राभिमुख) हो जाते हैं । केन्द्राभिमुख बने हुए इस अङ्गिरा का नाम ही 'भृगु' है । वस्तुपिण्डमुक्त हृदयबिन्दुपर्य्यन्त इस भृगु का स्वरूप सुरक्षित रहता है । क्योंकि हृदवधिपर्य्यन्त भृगु के आप-वायु-सोम-इन तीनों स्वरूपों के अवस्थान (स्थिति) के लिए पर्य्याप्त अवकाश (स्थान) सुरक्षित बना रहता है । किन्तु ठीक केन्द्र-बिन्दु पर पहुँचते ही तीनों अवकाशस्थानरूप प्रतिष्ठा (आश्रय) से वञ्चित हो जाते हैं । यही इस भृगुत्रयी की सङ्कोचावस्था की चरमावस्था है । स्थानाभाव से केन्द्रागता भृगुत्रयी का सघर्ष हो पड़ता है । इस संघर्षरूप क्षोभ से स्नेहगुणक भार्गवभाव उच्छिन्न हो जाता है तत्स्थान में तेजोगुणक आङ्गिरसभाव आविर्भूत हो पड़ता है । इस प्रकार अङ्गिराभाव में परिणत भृगुत्रयी अविलम्ब हृदय से परिधि की ओर अनुगत हो जाती है । तदित्थं-केन्द्रप्रतियोगी-परिध्यनुयोगी विकासशील यही तत्त्व अङ्गिरा बना हुआ है, एवं परिधिप्रतियोगी-केन्द्रानुयोगी संकोचशील यही तत्त्व भृगु बना हुआ है । अतएव 'अग्नेरापः' मत-'अद्भ्योऽग्निः' भी कहा और माना जा सकता है, जिस मान्यता के आधार पर ही वेदशास्त्र की सुप्रसिद्धा 'आदम्बिनी' नाम की सृष्टिविद्या से सम्बन्धित निम्नलिखित मन्त्र श्रुति का समन्वय सम्पन्न बन रहा है, जो पृथिवी तथा द्यौ में समानरूपरूप से आप, तथा अग्नि का सम्बन्ध घोषित कर रही है—

> * समानमेतदुदकं मुच्चैत्यव चाहभिः ।
> भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥
>
> —ऋक्सं० १।१६४।५१

> +इत एत उदारुहन्—दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
> प्र भूर्जयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययुः ॥
>
> सामसंहिता पू० १।२।

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य के ५पञ्चम षष्ठात्मक पञ्चमखण्ड में प्रकाशित हो चुका है ।

बल–गति–तेज, ये तीनों प्रतियोगी हैं। ये ही द्वन्द्वात्मिका द्विनियतिलक्षणा (दुनिया–द्विनियति) सृष्टि के मूलस्तम्भ हैं। रस–स्थिति–समन्वित स्नेहतत्त्व 'भृगु' है, एवं बल गति–समन्वित तेज–तत्त्व 'अङ्गिरा' है। घन (घनावयव–निबिडावयव) भत्र' (तरलावयव), घवण (विरलावयव–वाष्पावयव), इन तीन नैसर्गिक अवस्थाओं के कारण दोनों तत्त्व तीन तीन अवस्थाओं में परिणत हो रहे हैं। घनावस्थापन्न वही भृगु 'आपः'' है, तरलावस्थापन्न वही भृगु 'वायु'' (शान्तस्दाशिव नामक शान्तवायु) है। एवं विरलावस्थापन्न वही भृगु 'सोम'' है×। तथैव घनावस्थापन्न वही अङ्गिरा' अग्नि'' है, तरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'यम'' (रुद्र नामक उग्र वायु) है, एवं विरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'आदित्य'' ● है,। अग्नि यम–आदित्य की समष्टिरूप अङ्गिरा ही 'तेज' है, एवं आप–वायु–सोम की समष्टि रूप भृगु ही 'स्नेह' है। तेज 'शुष्क' तत्त्व है, रूक्ष तत्त्व है, उत्तरोत्तर विकासशाली–विकासानुगामी (फैलनेवाला) है। स्नेह 'आर्द्र' तत्त्व है, स्निग्धतत्त्व है, उत्तरोत्तर संकोचशाली–संकोचानुगामी (सिकुड़ने वाला) है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व में इन शुष्क–आर्द्र, दो तत्त्वों का ही साम्राज्य है, जैसा कि "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–शुष्कं चैव–आर्द्रं चैव। यच्छुष्कं–तदाग्नेयम्। यदार्द्रं तत् सौम्यम्" (शत॰ ब्रा॰ १।६।३।२३) इत्यादि शातपथी श्रुति से प्रमाणित है।

(२०६) अग्नीषोमात्मकं जगत्–

इसी आधार पर वैज्ञानिकोंने व्यावहारिक जगत् के लिए इस तथ्य को अनिवार्यरूपेण अनुगमनीय घोषित किया है कि, "मानव को सदा सर्वदा प्रत्येक दशा में समन्वयपूर्वक भृग्वङ्गिरातत्त्वों के–स्नेह तेजोभावों के–समसमन्वय के आधार पर ही अपने व्यवहारकर्म का सञ्चालन करना चाहिए"। विशुद्ध रूक्ष (रूक्षा–आग्नेय–क्रोधाविष्ट) मानव भी, अस्नेहरूक्षता से, भक्षित रह जाता है। एवं विशुद्ध आर्द्र (स्निग्ध–सौम्य–अनुरागपरायण) मानव भी असफल ही बना रह जाता है। परिस्थित्यनुसार रूक्षता–आर्द्रता दोनों का समसमन्वय रखने वाला नैष्ठिक मानव ही सफल मानव है, जिस सफलता के लिए आर्षमानव (महर्षि) की ओर से हमें यह आदेश प्राप्त हुआ है कि–"भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" (तै॰ ब्रा॰ ३।२।७।६।)। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' (बृहज्जाबालोपनिषत् २।४।) इत्यादि औपनिषद वचन भी अग्न्युपलक्षित शुष्क–अङ्गिरा (तेजोभाव), एवं सोमोपलक्षित आर्द्र भृगु (स्नेहभाव) की व्यापकता का ही समर्थन कर रहा है।

×"आपो–वायुः–सोमः–इत्येते भृगवः" (गो॰ ब्रा॰ पू॰ २।८।)।

● आदित्य वस्तुतः आङ्गिरस विरल प्राण का ही नाम है, जिसके 'इन्द्र'–धाता'–भग'–पूषा'–मित्र'–वरुण'–अर्यमा'–अंशु'–विवस्वान्'–त्वष्टा''–सविता''–विष्णु''' ये बारह अवान्तर विभेद माने गए हैं। सूर्यमण्डल में क्योंकि इन बारहों आदित्यप्राणों का समन्वय हो रहा है। एकमात्र इसी दृष्टि से सूर्य को 'आदित्य' नाम से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः सूर्य और आदित्य का पर्याय–सम्बन्ध नहीं है।

'सुवेद' है। वेद यदि स्थितिगतिभावापन्न है, तो सुवेद तेज स्नेहगुणक है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि ब्रह्म की 'सदेव सन्मात्र' कामना से जो आपोमय द्वितीय वेदात्मक द्वितीय देव आविर्भूत हुआ, वही 'अथर्ववेद' नामक यह आपोमयतत्त्व है, जिसे सूर्य्य की अपेक्षा से तो प्रथमज, एवं स्वयम्भू की अपेक्षा से द्वितीयज माना गया है, एवं जो सूर्य्यमण्डल से भी परमस्थान में प्रतिष्ठित रहने के कारण 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं जो परमेष्ठी मैथुनीसृष्टि (वैकारिकसर्ग) का उपक्रमबिन्दु माना गया है।

(२१३)–अथर्वेया सृष्टिस्वरूपस्थिति—

'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्तानुसार त्रयीवेदमूर्त्ति, किंवा अग्निमूर्त्ति ब्रह्म अपने अग्निवेदभाव से आपः तत्त्व को समुत्पन्न कर इसके गर्भ में समाविष्ट हो गया, जो कि गर्भप्रवेश–धर्म क्रमतप श्रमानुबन्धत्रयी की भाँति ही सृष्टिमात्र का सामान्य ही अनुबन्ध माना गया है। स्वात्मसमुत्पन्न आपोमय सुवेद के गर्भ में विभूतिसम्बन्ध से ब्रह्म के प्रविष्ट हो जाने का परिणाम यह होता है कि, आरम्भ में केवल स्नेहगुणक रहने वाला आपः इस अग्निवेदप्रवेश से तेजोयुक्त भी बन जाता है। इस प्रकार अथर्वलक्षण आपःतत्त्व स्वस्वरूप से स्नेहगुणक, एवं स्वायम्भुवाग्नि के प्रवेश से तेजोगुणक बनता हुआ उभयात्मक ही मान लिया गया है। आपोमय अथर्व का तेजोभाव ही अङ्गिरा है, स्नेहभाव ही भृगु है, जिन दोनों मार्गव–आङ्गिरसतत्त्वों का स्वरूपनिदर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। अवधानपूर्वक संकलनविधा सृष्टिस्वरूप की इस वस्तुस्थिति को पुनः एक बार लक्ष्य बना लीजिए।

(२१४)–भृगुत्रयी एवं अङ्गिरात्रयी—

त्रयीवेद के यजुरग्नि के सम्बन्ध से स्नेहगुणक आपः में तेजोभाव का भी उदय हो गया। स्नेहमय आपः 'भृगु' कहलाया, एवं तेजोमय आप 'अङ्गिरा' कहलाया। 'आप'–वायु'–सोम''–ये तीन अवस्था भृगु की हुई, 'अग्नि'–यम'–आदित्य'' अङ्गिरा की हुई। भृग्वङ्गिरा–षट्क कलत्रय प्रविष्ट त्रयीवेद से समन्वित रहा, जिसके 'ऋक्'–साम'–यत्'–जू'' ये चार विवर्त्त हैं। चतुष्पर्वा त्रयीवेदात्मक गर्भीभूत अग्निवेद ही 'पुरुषब्रह्म' कहलाया, एवं षट्पर्वा अथर्व वेदात्मक आपोवेद ही 'पत्नीब्रह्म' कहलाया। चतुष्कल ब्रह्मपति, षट्कलोपेता सुब्रह्मण्या पत्नी, दोनों की दशकलाओं के दाम्पत्यभाव से ही 'विराजमसृजत् प्रभुः'। दशावयव विराडग्निमूर्त्ति सूर्य्यनारायण ही इस दाम्पत्य से समुद्भूत प्रथमसर्ग है, जिसका निम्न लिखित यजुः श्रुति से स्वरूपविश्लेषण हुआ है—

> हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
> स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
>
> —यजुःसंहिता

(२११)-दिवं भूमिं च निर्म्ममे—

आङ्गिरस अग्नि, भार्गव सोम, दोनों एक ही तत्व के हृदय-परिधिरूप दो भावों के अनुयोगी-प्रतियोगी दो रूप हैं, इसी आधार पर 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' (ऋक्सं०) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। वही तत्व हृदयदशा में आङ्गिरस पुरुषतत्त्व है, परिधिदशा में भार्गवी स्त्रीतत्त्व है। यही अग्निरूपेण पति है, भृगुरूपेण पत्नी है, जिन दोनों से द्यावापृथिव्य महाब्रह्माण्ड का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। पृथिवी भार्गवी बनती हुई माता है, द्यौः आङ्गिरस बनता हुआ पिता है, दोनों अर्द्धवृषात्मक एक युग्मभावापन्न एकमूर्ति हैं, जिनका 'द्यौष्पितः पृथिवि मातः' रूप से यशोगान हुआ है। अभिन्नतत्त्वमूलक इसी प्राकृतिक भाव दाम्पत्यतत्त्व के आधार पर राजर्षि मनु को "ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिञ्च निर्म्ममे' (मनु० १।१३) सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं।

(२१२)-सुब्रह्मस्वरूपमीमांसा—

स्थिति-गतिभावात्मक यजुर्वेद (यत्-जू,-प्राण-वाक्,-वायु-आकाश,-रूप पुरुषवेद) ऋक्सामलक्षण वयोनाध (छन्द-सीमा) से समन्वित है, यह कहा जा चुका है। यही वह त्रयीवेद है, जिसे यजुरग्नि के सम्बन्ध से 'अग्निवेद' कहा गया है, जो यह स्वायम्भुव अग्निवेद विज्ञानजगत् में 'ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेयवेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं जिसके तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण के लिए ही अपौरुषेयतत्त्वात्मक वेद की प्रतिकृतिरूप मन्त्रब्राह्मणात्मलक्षणा नित्यावाक्-लक्षण शब्दब्रह्ममय वेदशास्त्र का महर्षियों के अन्तःकरण में आविर्भाव हुआ है। त्रयीवेद ही स्वयम्भूब्रह्म है, जिसने पूर्वकथनानुसार-'सदेव सन्मात्र द्वितीय देव' की उत्पत्तिकामना से प्रेरित होकर तप एवं श्रम का अनुगमन करते हुए दोनों के समन्वयरूप स्वेदन-धर्म्म को लक्ष्य बनाया है। स्वयम्भू-ब्रह्म के तपोमय श्रमात्मक स्वेदन-से, संदोमलक्षण संघर्ष से तप्त-श्रान्त-स्वेदस अग्निवेद, किंवा वेदाग्नि (वागग्नि) द्रुत हो जाता है। अग्निवेद का यही द्रुत भाग वह 'आप्‌तत्त्व' है, जो अथर्व-विद्याचार्य्यों के द्वारा 'भृग्वेद' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अथ अर्वाक् उत्पद्यते' ही इस भृग्वेदरूप आपोवेद की 'अथर्व' अभिधा का स्वरूपनिर्वचन है। स्वयम्भूलक्षण स्वायम्भुव ऋक्-सामयजुःसमष्टिरूप 'त्रयीवेद' प्रथमवेद है, यह अग्निवेद है, अतएव इसे 'उग्रवेद' कहा जायगा। यही उक्त क्रमानुसार आप्‌रूप में परिणत होकर अपनी उग्रता से उपशान्त हो जाता है, सुशान्त हो जाता है। जिस प्रकार प्रचण्ड ग्रीष्म में सौरताप अपने विशुद्ध रौद्र अग्नितप के कारण सर्वथा रूक्ष बना रहता हुआ सर्वथा कटु-असह्य प्रतीत होता है, एवमेव विशुद्ध अग्निलक्षण स्वायम्भुव त्रयीवेद भी कटु-उग्र-माना जा सकता है। यही कटु-असह्य सूर्य्यताप जिस प्रकार शीतर्त्तु में शीत-शान्त-स्नेहगुणक-सोमसम्बन्ध से अपनी उग्रता से अभिभूत होता हुआ सुशान्त भाव में परिणत होकर सह्य (सुहावना) बन जाता है, एवमेव स्वायम्भुव अग्निवेद को भी आप् से समन्वित हो जाने पर (आपोमय बन जाने पर) सुशान्त माना जा सकता है। अतएव अग्निवेद के प्रथमावतारस्थानीय द्वितीय देवात्मक इस अथर्वलक्षण आपोवेद को इसके स्वाभाविक-सह्य-स्नेह-सुशान्तगुण धर्म्म के अनुबन्ध से इसे 'सुवेद' (सह्य-सुशान्त-वेद) कहा जा सकता है। यह 'सुवेद' नामक आपो वेद क्योंकि स्वायम्भुव वेद से अर्वाक् (स्वायम्भुव-महिमामण्डल के गर्भ्भ में स्वयम्भू के पश्चात्) समुद्भूत-आविर्भूत है, अतएव अथ अर्वाक् निर्वचनानुसार तत्त्वज्ञों ने इसे 'अथर्ववेद' नाम से व्यवहृत किया है। स्वायम्भुव वेद 'ब्रह्म' है, तो तदुत्पन्न यह आपोवेद 'सुब्रह्म' है। ब्रह्मवेद यदि 'वेद' है, तो सुब्रह्मवेद-

'सुवेद' है। वेद यदि स्थितिगतिभावापन्न है, तो सुवेद तेजःस्नेहगुणक है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि ब्रह्म की 'सदेव सन्मात्र' कामना से जो आपोमय द्वितीय यदात्मक द्वितीय देव आविर्भूत हुआ, वही 'अथर्ववेद' नामक यह आपोमयतत्त्व है, जिसे सूर्य्य की अपेक्षा से तो प्रथमज, एवं स्वयम्भू की अपेक्षा से द्वितीयज माना गया है, एवं जो सूर्य्यमण्डल से भी परमस्थान में प्रतिष्ठित रहने के कारण 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं जो परमेष्ठी मैथुनीसृष्टि (वैकारिकसर्ग) का उपक्रमबिन्दु माना गया है।

(२१३)-त्रयवेया सृष्टिस्वरूपस्थिति—

'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्तानुसार त्रयीवेदमूर्त्ति, किंवा अग्निमूर्त्ति ब्रह्म अपने अग्निवेदभाव से आप तत्त्व को समुत्पन्न कर इसके गर्भ में समाविष्ट हो गया, जो कि गर्भप्रवेश-धर्म कामतप श्रमानुबन्धत्रयी की भाँति ही सृष्टिमात्र का सामान्य ही अनुबन्ध माना गया है। स्वात्मसमुत्पन्न आपोमय सुवेद के गर्भ में विभूतिसम्बन्ध से ब्रह्म के प्रविष्ट हो जाने का परिणाम यह होता है कि, आरम्भ में केवल स्नेहगुणक रहने वाला आपः इस अग्निवेदप्रवेश से तेजोयुक्त भी बन जाता है। इस प्रकार अथर्वलक्षण आपःतत्त्व स्वस्वरूप से स्नेहगुणक, एवं स्वायम्भुवाग्नि के प्रवेश से तेजोगुणक बनता हुआ उभयात्मक ही मान लिया गया है। आपोमय अथर्व का तेजोभाव ही अङ्गिरा है, स्नेहभाव ही भृगु है, जिन दोनों भार्गव-आङ्गिरसतत्त्वों का स्वरूपनिदर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। अवधानपूर्वक सङ्कलनधिया सृष्टिस्वरूप की इस वस्तुस्थिति को पुनः एक बार लक्ष्य बना लीजिए।

(२१४)-भृगुत्रयी एवं अङ्गिरात्रयी—

त्रयीवेद के यजुरग्नि के सम्बन्ध से स्नेहगुणक आपः में तेजोभाव का भी उदय हो गया। स्नेहमय आप 'भृगु' कहलाया, एवं तेजोमय आप 'अङ्गिरा' कहलाया। 'आप'-'वायु'-'सोम'-ये तीन अवस्था भृगु की हुई, 'अग्नि'-'यम'-'आदित्य' अङ्गिरा की हुई। यत्पवित्र-ऋक् केन्द्रस्थ प्रविष्ट त्रयीवेद से समन्वित रहा, जिसके 'ऋक्'-'साम'-'यत्'-'जू' ये चार विवर्त हैं। चतुष्पर्वा त्रयीवेदात्मक गर्भभूत अग्निवेद ही 'पुरुषब्रह्म' कहलाया, एवं स्पृष्टा अथर्ववेदात्मक आपोवेद ही 'पत्नीब्रह्म' कहलाया। चतुष्कल ब्रह्मपति, षट्कलोपेता सुब्रह्मण्या पत्नी, दोनों की दशकलाओं के दाम्पत्यभाव से ही 'विराजमसृजत् प्रभुः'। दशावयव विराडग्निमूर्त्ति सूर्य्यनारायण ही इस दाम्पत्य से समुद्भूत प्रथमसर्ग है, जिसका निम्न लिखित यजुर्मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

> हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
> स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
>
> —यजुःसंहिता

दशावयवविराट्मूर्त्ति-प्रथमदाम्पत्यभावपरिलेखः—

१—ऋक् (१)	ऋक्साम (१)	वेद (अग्निर्ब्रह्म-पतिः)	दाम्पत्यभाव प्रथम तत:—सूर्य्योद्भव
२—साम (२)			
३—यत् (३)	यजुः (२)		
४—जू (४)			
१—आप (५)	भृगव (३)	सुवेद (आपः सुब्रह्म-पत्नी)	
२—वायुः (६)			
३—सोम (७)			
४—अग्नि (८)	अङ्गिरसः (४)		
५—यम (९)			
६—आदित्य (१०)			

त्रयीवेदगर्भित भृग्वङ्गिरोमय-आपोलक्षण परमेष्ठी ब्रह्मरूप उस महदेव म मात्र द्वितीय देव का स्वरूपबोध ही 'दाम्पत्यसर्ग' का मौलिक बोध है, जिसका पौराणिक सर्ग में केतुसर्गरूप से उपबृंहण हुआ है। सौरब्रह्माण्ड से सम्बन्धित सूर्याग्नि के महाभयानक घोरघोरतम विस्फोटनों से रोदसी ब्रह्माण्ड का सन्त्राण एकमात्र शान्तिमूर्त्ति शिवस्वरूप आपोमय परमेष्ठी महान् देव (महादेव) के अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। पारमेष्ठ्य भार्गव सोम की अजस्राहुति से ही सौर प्रचण्डाग्नि सुशान्त बना रहता है। यदि एक क्षण के लिए भी यह आहुतिक्रम अवरुद्ध हो जाय, तो तत्क्षण सूर्य्य अपनी सहज प्रचण्डता से रोदसी त्रैलोक्य को भस्मावशेषावस्था में परिणत कर दे। आपोमय महान् परमेष्ठी ही इस विश्व के शिवत्व के संरक्षक हैं। इसी सहज सृष्टिधाराक्रम का श्रुति ने निम्नलिखित रूप से संक्षेप से संग्रह कर दिया है जिसका उपस्थापन व निम्नलिखित मन्त्रवचनों मे विस्पष्टीकरण हुआ है।

(१)— आपोभृग्वङ्गिरोरूप,मापोभृग्वङ्गिरोमयम् ।
सर्वमापोमय भूत, सर्व भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगा ॥

—गोपथ ब्रा० पू० १।३९।

(२)—आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त—कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं सम्बभूव।

प्रजाता ह तर्हि सम्वत्सर आस, तदिदं यावत् सम्वत्सरस्य वेला, तावत्पर्य-प्लवत्। तत सम्वत्सरे पुरुष (सूर्य्यः–हिरण्यगर्भः) समभवत्। स प्रजापति।

—शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

(३)—तयदब्रवीत्–ब्रह्म (स्वयम्भू)—'आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि, यदिदं किञ्च' इति। तस्मादापोऽभवत्। तदपामप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथ० पू० १।२।

(४)—सोऽयं पुरुष प्रजापतिः (स्वयम्भू) अकामयत–भूयान्त्स्यां, प्रजायेय–इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव–प्रथममसृजत्–त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै-प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहु –'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म। तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सासृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्–यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्–तस्मादापः। यदवृणोत्–तस्माद्वा (वारि)। सोऽकामयत–आभ्यो अद्भ्योऽधि प्रजायेय इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत् आण्डं (ब्रह्माण्डं) समवर्तत।

शतपथ ब्रा० ६।१।१।८,६,

—*—

उक्तश्रुतिवचनानुप्राणितस्मृतिवचसङ्ग्रह–मानवीय :—

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्–व्ययम्॥

—मनु १।१६ (मूलसूत्रमिदम् *)।

(१) आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वत॥

*–स वै सप्तपुरुषो भवति (शत० ६।१।१।६)।

दशावयवविराड्मूर्त्ति–प्रथमदाम्पत्यभावपरिलेखः—

१–ऋक् (१) २–साम (२)	ऋक्साम (१)	वेद (अग्निर्ब्रह्म–पतिः)	दाम्पत्यभाव प्रथम तत —सूर्य्योद्‌गम
३–यत् (३) ४–जू (४)	यजु (२)		
१–आप (५) २–वायु (६) ३–सोम (७)	भृगव (३)	सुवेदः (आप सुब्रह्म–पत्नी)	
४–अग्निः (८) ५–यमः (६) ६–आदित्यः (१)	अङ्गिरसः (४)		

त्रयीवेदगर्भित भृग्वङ्गिरोमय–आपोलक्षण परमेष्ठी ब्रह्मरूप उस मदेय मन्मात्र द्वितीय देव का स्वरूपबोध ही 'दाम्पत्यसर्ग' का मौलिक बोध है, जिसका पौराणिक सर्ग में वेदसर्गक्रम से उपक्रम हुआ है। सौरब्रह्माण्ड से सम्बन्धित रुद्राग्नि के महाभयानक घोरघोरतम विस्फोटनों से रोदसी ब्रह्माण्ड का सन्त्राण एकमात्र शान्ति-मूर्ति शिवस्वरूप आपोमय परमेष्ठी महान् देव (महादेव) के अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। पारमेष्ठ्य मार्गव सोम की अवस्राहुति से ही सौर प्रचण्डाग्नि सुशान्त बना रहता है। यदि एक क्षण के लिए भी यह आहुतिक्रम अवरुद्ध हो जाय, तो तत्क्षण सूर्य्य अपनी सहज प्रचण्डता से रोदसी त्रैलोक्य को भस्मावशेषा-वस्था में परिणत कर दे। आपोमय महान् परमेष्ठी ही इस विश्व के शिवत्व के संरक्षक हैं। इसी सहज सृष्टिधाराक्रम का श्रुति ने निम्नलिखित रूप से संक्षेप से संग्रह कर दिया है जिसका तत्सुस्पष्ट निम्नलिखित मनुवचनों से विस्पष्टीकरण हुआ है।

(१)— आपोभृग्वङ्गिरोरूप,मापोभृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमय भूत, सर्व भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः॥

—गोपथ ब्रा० पू० १।३९।

(२)—आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त–कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयाण्ड सम्बभूव।

प्रजाता ह तर्हि सम्वत्सर आस, तदिद यावत् सम्वत्सरस्य वेला, तावत्पर्य-प्लवत्। तत सम्वत्सरे पुरुष (सूर्य्य:-हिरण्यगर्भ) समभवत्। स प्रजापति।

—शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

(३)—तद्यदब्रवीत्-ब्रह्म (स्वयम्भू)—'आभिर्वा अहमिद सर्व माप्स्यामि, यदिद किञ्च' इति। तस्मादापोऽभवत्। तदपामप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथ० पू० १।२।

(४)—सोऽय पुरुष प्रजापतिः (स्वयम्भू) अकामयत-भूयान्त्स्या, प्रजायेय-इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव-प्रथममसृजत् त्रयी-मेव विद्याम्। सैवास्मै-प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहु-'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म। तस्यां प्रतिष्ठाया प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सासृज्यत। सेद सर्वमाप्नोत्-यदिद किञ्च। यदाप्नोत्-तस्मादाप। यदवृणोत्-तस्माद्वा (वारि)। सोऽकामयत-आभ्यो अद्भ्योऽधि प्रजायेय इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्ड (ब्रह्माण्ड) समवर्त्तत।

शतपथ ब्रा० ६।१।१।८,६,

—*—

उक्तश्रुतिवचनानुप्राणितस्मृतिवचसग्रहः-मानवीय '—

तेषामिद तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्या सम्भवत्यव्ययाद्-व्ययम्॥

मनु १।१६। (मूलसूत्रमिदम् *)।

(१) आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

---

*—स वै सप्तपुरुषो भवति (शत० ६।१।१।६)।

दशावयवविराड्मूर्त्ति–प्रथमदाम्पत्यभावपरिलेखः—

१–ऋक् (१) २–साम (२)	ऋक्साम (१)	वेद (अग्निर्ब्रह्म-पतिः)	दाम्पत्यभावः प्रथमः सत्यः—सूर्योद्भवः
३–यत् (३) ४–जू (४)	य जु (२)		
१–आपः (५) २–वायु (६) ३–सोम (७)	भृगव (३)	सुवेद (आप सुब्रह्म-पत्नी)	
४–अग्नि (८) ५–यमः (९) ६–आदित्यः (१)	अङ्गिरसः (४)		

त्रयीवेदगर्भित भृग्वङ्गिरोमय–आपोलक्षण परमेष्ठी ब्रह्मरूप उस मर्त्य में मात्र द्वितीय देव का स्वरूपबोध ही 'दाम्पत्यसर्ग' का मौलिक बोध है, जिसका पौराणिक सर्गों में वेदसर्गरूप से उपबृंहण हुआ है। सौरब्रह्माण्ड से सम्बन्धित रुद्राग्नि के महाभयानक घोरघोरतम विस्फोटनों से रोदसी ब्रह्माण्ड का संत्राण एकमात्र शान्तिमूर्ति शिवस्वरूप आपोमय परमेष्ठी महान् देव (महादेव) के अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। पारमेष्ठ्य भार्गव सोम की अवस्थाहुति से ही सौर प्रचण्डाग्नि सुशान्त बना रहता है। यदि एक क्षण के लिए भी यह आहुतिक्रम अवरुद्ध हो जाय, तो तत्क्षण सूर्य अपनी सहज प्रचण्डता से रोदसी त्रैलोक्य को भस्मावशेषावस्था में परिणत कर दे। आपोमय महान परमेष्ठी ही इस विश्व के शिवत्व के संरक्षक हैं। इसी सहज सद्विचारक्रम को श्रुति ने निम्नलिखित रूप से संक्षेप से संग्रह कर दिया है, जिसका उपबृंहण निम्नलिखित मनुवचनों से विस्पष्टीकरण हुआ है।

(१)— आपोभृग्वङ्गिरोरूप,मापोभृग्वङ्गिरोमयम् ।
सर्वमापोमय भूत, सर्व भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगा ॥

—गोपथ ब्रा० पू० १।३९

(२)—आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त—कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयाण्डं सम्बभूव।

(२१५)-सुवेद, और स्वेदस्वरूपपरिचय—

प्रकृतमनुसराम । प्रासङ्गिक श्रौत-स्मार्तवचनसमन्वयानन्तर पुनः गोपथश्रुत्यर्थसमन्वय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ब्रह्म के तप और श्रम, तथा उभयसमन्वयात्मक सन्तपन से क्या समुत्पन्न हुआ ?, प्रश्न का समाधान करते हुए आगे चल कर श्रुति कहती है कि—"तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः-यत्-आर्द्रयं-आजायत" इत्यादि। "श्रान्त-तप्त-सन्तप्त ब्रह्म के ललाट प्रदेश पर जो स्नेह, जो आर्द्रता (गीलापना) उत्पन्न हुई, प्रजापति उससे आत्मानन्दविभोर हो पड़े, और इस आनन्दविभोरता में उनके मुख से ये उद्गार अभिव्यक्त हो पड़े कि-हमनें जो अपने श्रम-तप-सन्तपन से सुवेद प्राप्त कर लिया, वह महान् यश है"। ब्रह्म के मुख से-'सुवेदरूप महान यश हमनें प्राप्त कर लिया' इस वाक्य के विनिर्गमनके साथ ही ब्रह्म से समुत्पन्न वह आपोमय विलोम देव 'सुवेद' भावमें परिणत हो गया। है यह तत्व वास्तव में 'सुवेद', किन्तु परोक्षप्रिय विद्वान अपनी परोक्षात्मनिष्ठा सहज परोक्षप्रियता के कारण कहा करते हैं इस 'सुवेद' को—'स्वेद', जिसका लोकार्थ माना गया है पसीना ।

(२१६)—चतुर्द्धा विभक्त अग्निस्वरूपपरिचय—

"ललाटप्रदेश पर स्नेह-आर्द्रय उत्पन्न हुआ, और इससे ब्रह्मस्वयम्भू आनन्दित हो पड़े," इस वाक्य के समन्वय के लिए अपनी अध्यात्मसंस्था पर दृष्टि डालिए। अध्यात्म में-'आलोमभ्य-आनखाग्रेभ्य' (केशलोम, एवं नखों के अग्रभागों को छोड़कर-जो कि रसमात्रा से बहिष्कृत हैं) सम्पूर्णशरीर में प्रज्ञप्रतिष्ठा-मूलक-मङ्गलग्रहानुप्राणित-एक अग्निसमन्वित वैश्वानराग्नि व्याप्त है, जिस का ऊष्मा, तथा अनाहत नाद से उभयथा प्रत्यक्ष होता रहता है। यहाँ से भी शरीर का स्पर्श किया जाता है ऊष्मा (गर्मी) प्रतीत होती है, यही वैश्वानर की प्रत्यक्षदृष्टि (स्पर्श-अनुभूति) है। कर्ण, एवं नासारन्ध्रों को अंगुलिद्वारा अवरुद्ध करने से जो धक्-धक्-शब्द सुनाई पड़ता है, वही वैश्वानर की श्रुति (शाब्दिक अनुभूति) है। यह वैश्वानरलक्षण शारीराग्नि ताप, एवं शब्दानुगत बनता हुआ भूताग्नि है, सोमज अग्नि है, जो हिरण्मय ब्रह्माण्डाधिष्ठाता सूर्य का पार्थिव प्रवर्ग्यरूप माना गया है। यही भूताग्नि चतुर्विध अन्नपरिपाक का मलाधिष्ठाता बन कर उक्थरूप से दक्षिणपार्श्व में प्रतिष्ठित रहता है*, इसे ही हम विज्ञानभाषा में 'चरा ग्न' कहा करते हैं, जिसका-'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' इत्यादि ब्राह्मणब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है+। यही चरलक्षण भूताग्नि 'चागग्नि' कहलाया है (क)। पार्थिव स्तौम्यत्रैलोक्य धरमधान है, जिसके त्रिवृत(९)-

---

* अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ (गीता १५।१४) ।

\+ देखिए-शतपथविज्ञानभाष्य १ पर्यात्मक प्रथमखण्ड का 'ब्राह्मणब्राह्मण' नामक परिच्छेद ।
—शत० १।२।३।१—

(क)—स्मरण रहे, स्वायम्भुव यजुरग्निरूप वेदाग्निलक्षण चागग्नि इस पार्थिव चागग्नि से सर्वथा विभिन्न तत्व है ।

(२) ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥

(३) योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥

(४) सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

(५) तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

(६) आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः [सूर्य्य] ॥

(७) यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति गीयते ॥ —

(८) + तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् (अ) ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥

(९) ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिं च निर्ममे । (क)
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥

—मनु १।५ से १३ श्लोक पर्य्यन्त

—तस्मादाहु –'ब्रह्म' अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा (शत० ६।१।१।८)।

+—तत् आण्ड समवर्त्तत (शत० ६।१।१।१०)।

[अ] तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत् सम्वत्सरस्य वेला—तावत् पर्य्यप्लवत ।
(शत० ११।१।६।१)

[क] स पृथिवी–अन्तरिक्ष –द्यौरभवत् (११।१।६।४,५,)।

जिसका मूलस्थान अध्यात्म में हृदय बतलाया गया है, व्याप्तिस्थान हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त व्याप्त प्रदेश बतलाया गया है। सूर्य-परमेष्ठी-दोनों को स्वमहिममण्डल में गर्भीभूत रखने वाला अव्यक्त स्वयम्भू ही चौथा वह ब्रह्माग्नि है, जिसे हमनें वागग्नि-यजुरग्नि-वेदाग्नि कहा है, एवं जिसे शाश्वतता के अनुबन्ध से 'अव्ययाग्नि' (आत्माग्नि) माना गया है, एवं अध्यात्मसंस्था में जो शिरोगुहानुगत सहस्रदलकमलरूप ज्ञानकोश की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इसी को हम श्वोवसीयस् नामक अव्ययमन के सम्बन्ध से 'मनोऽग्नि' भी कह सकते हैं। वेदसम्बन्धेन यह जहाँ वागग्नि है, वहाँ आत्मसम्बन्धेन यही मनोऽग्नि है। इस प्रकार परमेष्ठि-सूर्य को गर्भ में रखने वाले स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि (यजुर्लक्षण वागग्नि) के ही स्वायम्भुवाग्नि[1], सौराग्नि[2], चान्द्राग्नि[3], पार्थिवाग्नि[4] भेद से चार विवर्त हो जाते हैं। चारों क्रमशः-वेदाग्नि[1]-सावित्राग्नि[2]-सुब्रह्मण्याग्नि[3]-वैश्वानराग्नि[4] नामों से प्रसिद्ध हैं। अध्यात्मसंस्था में इन चारों का क्रमशः शिरोगुहा-उरोगुहा-उदरगुहा-बस्तिगुहा से सम्बन्ध माना गया है। अध्यात्म में चारों क्रमशः ललाटप्रदेशोपलक्षित शिरोभाग-उर:-हृदय-जठर-स्थानों में प्रतिष्ठित हैं। इस प्राकृतिक क्रम को लक्ष्य में रखकर ही हमें गोपथ के ललाट प्रदेश का समन्वय करना है।

(२१९)-प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति—

उक्थ-मनोमय अव्ययात्मा, प्राणमय अक्षरात्मा, वाङ्मय क्षरात्मा,-के इन तीन विवर्तों के अनुबन्ध से अध्यात्मसंस्था में मनोऽग्नि, प्राणाग्नि, वागग्नि, इन त्रिविध अग्निभावों का समन्वय संसिद्ध हो जाता है। मनोऽग्नि वह ज्ञानाग्नि है, जिसे हमने वह शिरोगुहानुगामी बतलाया है, जिसमें—ज्ञानघना शिवसत्ता मानी गई है, एवं जिसकी द्विजातिप्रजा अहरहः सन्ध्याकाल में उपासना किया करती हुई—'ललाटप्रदेशे शिवं ध्यायेत्' को अन्वर्थ प्रमाणित करती रहती है। मनोऽग्नि वह 'ज्ञानाग्नि' है, जिसके पूर्णविकाशानन्तर

---

* पद्भ्यां भूमिं प्रतिष्ठितः। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् (अध्यात्मसंस्था.स्.)

पञ्चदश(१५)—एकविंश—(२१) भेदसे तीन अवान्तर पार्थिव स्तौम्यलोक माने गए हैं। इन के 'शक्तोनपात'—अविष्ठाता (अधिष्ठाता—नामक) नर क्रमशः अग्नि—वायु—आदित्य, ये तीन पार्थिव आग्नेय देवता ही मान गए हैं। इन तीनों पार्थिव—स्तौम्य—आग्नेय नर देवताओं के 'तानूनप्त्र' से ही त्रिमूर्ति वैश्वानराग्नि का उदय हुआ है, जो—'आ यो द्यां भाति—आ पृथिवीम्,—'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण' इत्यादि रूप से भूकेन्द्र से आरम्भ कर पार्थिव एकविंश अहर्गण पर प्रतिष्ठित सूर्य्यपर्यन्त व्याप्त है। पार्थिव स्तौम्यत्रिलोकी के ९—१५—२१ स्तोमात्मक पृथिवी—अन्तरिक्ष द्यौ —ये तीन 'विश्व', तीनों विश्वों के नायक अग्नि वायु—आदित्य ये तीन 'नर', इन तीनों विश्वनरों के समन्वय से समुत्पन्न पार्थिव योगज चर अग्नि ही 'वैश्वानराग्नि' कहलाया है* ।

(२१७)—सावित्राग्नि, और सुब्रह्मण्याग्निस्वरूपपरिचय—

दूसरा है—'प्राणाग्नि', जो सावित्राग्नि, सुब्रह्मण्याग्नि के भेद से दो भागों में विभक्त होकर शरीर में प्रतिष्ठित है। सौरप्राणाग्नि 'सावित्राग्नि' है, चान्द्रप्राणाग्नि 'सुब्रह्मण्याग्नि' है। दोनों का समसमन्वय हो रहा है। चान्द्रप्राणाग्निगर्भित सौरप्राणाग्नि, एवं सौरप्राणाग्निगर्भित चान्द्रप्राणाग्नि, इन दोनों का प्रतिष्ठास्थान हृदय है व्याप्तिस्थान हृदय से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्त व्याप्त 'महाप्राण' नामक प्रदेश है। चान्द्रतत्त्वगर्भित सौरप्राणाग्नि रूक्ष है, शुष्क है। सौरप्राणगर्भित चान्द्रप्राणाग्नि स्निग्ध है, आर्द्र है। उग्राग्नि, शान्ताग्नि, इन दोनों प्राणाग्नियों का क्रमशः सूर्य्य से उत्पन्न बुद्धि के साथ, एवं चन्द्रमा से उत्पन्न प्रज्ञानमन के साथ सम्बन्ध माना गया है। दोनों की समष्टि ही विज्ञानभाषा में प्राणाग्नि—अन्नादाग्नि नाम से प्रसिद्ध है।

(२१८)—गुहानुगता अग्निचतुष्टयी—

बात यों थोड़ी और भी स्पष्ट कर लेनी चाहिए। सूर्य्य—चन्द्रमा भूपिण्ड—तीनों की समष्टि रोदसी त्रैलोक्य माना गया है जो क्रमशः द्यौ (सूर्य्य)—अन्तरिक्ष (चन्द्रमा)—पृथिवी (भू) है। इन तीनों में रोदसीत्रैलोक्य के अन्तिम पर्वस्थानीय 'भूपिण्ड' का एक स्वतन्त्र विवर्त माना गया है, एवं—रोदसी के सूर्य्य—चन्द्रात्मक दोनों का 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से एक स्वतन्त्र विवर्त माना गया है। इन दोनों विवर्त्तों में से भूपिण्डानुगत पार्थिव विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाला त्रिःस्तोमानुगत पार्थिव भूताग्नि ही चयाग्नि माना गया है, जिसे हमने पूर्व में 'वैश्वानराग्नि' कहा है। इसका प्रतिष्ठास्थान दक्षिण पार्श्व है, व्याप्ति स्थान सर्वाङ्गशरीर है। सूर्य्यचन्द्रात्मक उभयविधाग्नि प्राणाग्नि है, इसी को हम 'अन्नादाग्नि' कहेंगे,

---

* स य: स वैश्वानरः—इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वं,अग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्वं, वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वं, आदित्यो नरः (शत० ९।३।१।३)—इयं वै पृथिवी—वैश्वानरः (शत० १३।३।८।३।)॥ अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः—पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते। तस्यैष घोषो भवति—यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति॥
—शत० १४।८।१०।१।

(२२१)—अस्त्वण्डस्वरूपमीमांसा—

यहाँ भी बात कुछ समझने जैसी है। 'वागग्नि' नामक स्वायम्भुव यजुरग्नि से 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्' इत्यादि के अनुसार 'आप' की उत्पत्ति बतलाई गई है, एवं यहाँ भा—'अग्नेरापः' सिद्धान्त समन्वित हो रहा है, जिसका वास्तविक तात्पर्य है—'आकाशाद्वायुः'। वागग्नि मत्याकाश है, इसी की तरलावस्था वायु है, जो पारमेष्ठ्यतत्त्व माना गया है, एवं जिसे पूर्व में भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' कहा गया है, एवं जिस 'वायु' रूप आप को आपोमय उस परमेष्ठी का स्वरूपसमर्पक माना गया है, जो परमेष्ठी सूर्य्यपिण्ड से भी परमस्थान में प्रतिष्ठित होने के कारण 'परमेष्ठी' नाम से व्यवहृत हुआ है। कहा गया है कि, 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से अपने वागाकाशरूप वागग्निभाग से इस भृग्वङ्गिरोमय–पद्मनालत्वचा मदेव म मात्र द्वितीय देव (परमेष्ठी) को—आपोब्रह्मनामक सुवेद को—उत्पन्न कर त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म इसके गर्भ में प्रतिष्ठित हो जाता है, फलतः यह प्रथमदाम्पत्यरूप दशकल बन जाता है (देखिए पृ० सं०—२१)। यहाँ एक सृष्टिधाराक्रम समाप्त है। यहाँ से आगे इस दशावयव (ऋक्[१]–यजुः[२]–जूः[३]–साम[४]–आप[५]–वायु[६]–सोम[७]–अग्नि[८]–यम[९]–आदित्य[१०]) भेद से विराट्मूर्त्ति ब्रह्मसुब्रह्मरूप दाम्पत्यभाव से सर्वप्रथम जो उत्पन्न होता है, वही तत्त्व 'अग्रि' कहलाया है। सौरब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम इसी उष्णतत्त्व का सर्जन होता है। अतएव 'सर्वस्याग्रमसृज्यत' रूप से इसे 'अग्रि' कहा जाता है, जिसका परोक्ष नाम है—'अग्नि'। यह अग्नि उस मूल स्वायम्भुव वागग्नि का पुत्र माना जायगा। माता इसकी पारमेष्ठ्य आप, पिता इसके स्वायम्भुव यजुरग्नि। दोनों के दाम्पत्यभाव से सर्वप्रथम इसी दशावयवविराट् पुत्र का जन्म हुआ, जो कालान्तर में केन्द्रीभूत बनकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ 'सूर्य्यनारायण' कहलाया। ब्रह्मगर्भित (वेदाग्निगर्भित) सुब्रह्म (परमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय आप) के दाम्पत्य से समुत्पन्न यह अग्रिरूप अग्नि ही यह सावित्राग्नि है, जो आरम्भ में भृतावस्था में परिणत रहता हुआ प्रचण्डवेग से अलातचक्रवत् उस परिधि में भ्रमण कर रहा था, जहाँ आज सम्वत्सरसीमा प्रतिष्ठित है। आरम्भ में भृतावस्थापन्न—आपोमय पारमेष्ठ्यसमुद्र में प्रचण्डवेग से दोधूयमान—परिभ्रममाण यही भृताग्निपुञ्ज 'धूमकेतु' माना गया है, जो आगे चलकर केन्द्रानुगत पिण्डीभाव के कारण सूर्यगोलकरूप में परिणत होता हुआ आज भी अलातचक्रवत् उसी वेग से परिभ्रमण कर रहा है। इसी प्रथमसृष्टि को लक्ष्य बनाकर ब्राह्मणश्रुति ने कहा है—

> (तत आण्ड समवर्त्तत—देखिए पृ० सं० ३५१] तदभ्यमृशत्—'अस्तु' इति, अस्तु, भूयोऽस्तु, इत्येव तदब्रवीत् । ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या * ।

---

* यहाँ स्मरण रखने की बात है कि, इसी ब्राह्मण की पूर्व की कण्डिका में भी—"स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत–त्रयीमेव विद्याम्। सेवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत्। तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत, सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्" इत्यादि रूप से त्रयी का आविर्भाव बतलाया गया है। यह त्रयी स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसित नामक अध्ययनाग्निरूप वेद है। और दशमी कण्डिका से सम्बन्ध रखने वाला अग्निवेद 'गायत्रीमात्रिकवेद' नामक और ब्रह्मवेद है, जो याज्ञवल्क्य के द्वारा उपवर्णित है। यह अपौरुषेय था, एवं यह दाम्पत्यपुरुष से उद्भूत होने के कारण पौरुषेय है। दोनों वेदाग्नि सर्वथा विभिन्न तत्त्व हैं।

मानव कर्म्म करता हुआ भी कर्म्मबन्धन से सर्वात्मना विमुक्त बन जाता है +। इसका प्रधान आयतन्त्र ललाटप्रदेशोपलक्षित शिरोगुहास्थान है। प्राणाग्नि 'क्रियाग्नि' है, जो—'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नोपनिषत् ४।३।) के अनुसार अध्यात्मसंस्था में अहोरात्र सदा जाग्रत रहता है। जिसकी प्रतिष्ठा हृदय माना गया है। यागाग्नि अर्थाग्नि, किंवा मूलाग्नि है, जिसका आशय सर्वाङ्गशरीर माना गया है। मध्यस्थ प्राणाग्नि के सौर–चान्द्र भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। इस प्रकार तीन के चार अग्निविवर्त्त बन जाते हैं, और यों–'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' इत्यादि आप्त्याभुति का अनुगमभाव इस दृष्टि से भी चरितार्थ हो जाता है।

(२२०)—अश्वाग्निस्वरूपपरिचय—

'अग्नेरापः' सिद्धान्त का पूर्व में समन्वय किया जा चुका है। अग्नि का चरम (अन्तिम) चिति कृशनपरिणाम आपः ही माना गया है। क्योंकि अध्यात्म में अग्नि चार प्रकार का है, अतएव यह आप भी चार ही प्रकार का उत्पन्न होता है, जिसका हम अमुक भौतिक दृष्टिकोणमाध्यम से प्रत्यक्ष कर सकते हैं, करते रहते हैं। अग्नि से विसृष्ट पानी का साङ्केतिक पारिभाषिक नाम है—'अभ्रु', जिसका ब्राह्मणग्रन्थों की सुप्रसिद्ध 'अश्वमेधविद्या' में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। जिस प्रकार 'अग्नि' तत्त्व परोक्षभाषा में 'अग्नि' कहलाया है, एवमेव 'अभ्रु', तत्त्व परोक्षभाषा में 'अश्व' कहलाया है *। अग्निरूप अग्नि से उत्पन्न 'अभ्रु' नामक पानी से ही 'अश्व' तत्त्व का स्वरूपनिर्माण हुआ है। 'अभ्रु'रूप पानी का नाम है 'मरीचि', जो सौररश्मियुक्त सावित्राग्नि के संघर्ष से समुत्पन्न हुआ है, अतएव जो 'मरीचि' पानी अग्निप्रकृतिक (ऊष्मप्रकृतिक) माना गया है। सौररश्मिमण्डलयुक्त अग्निप्रकृतिक यही मरीचि पानी पार्थिव दर्भोत्पत्ति का मूल उपादान माना गया है। अतएव सूर्य्यप्रतिकृतिरूप हिरण्य (सुवर्ण) वत् मरीचि पानी से समुत्पन्न दर्भ (कुशा) भी पवित्र माना गया है, जिसके लिए–'पवित्रे करोति। त इमे दर्भाः' (शत०१२।३।१) इत्यादि निगम प्रसिद्ध है। यही मरीचि पानी 'वेन' कहलाया है, जिसका–'अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा०'(यजुःसं ७।१६।) इत्यादि मन्त्र से उपवर्णन हुआ है। वेनात्मक मरीचि पानी ही यमुनाजल का स्वरूपनिर्म्मापक माना गया है। यही मरीचि नामक सौर वेन पानी सौर मारीच कश्यपप्रजापति का स्वरूपनिर्म्मापक घोषित हुआ है। यही मरीचि पानी 'सौर अश्व' की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इत्यादिरूप से उपनिषदों में इसी सौराग्निरूप अश्व का रहस्यात्मक स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

\+ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥
—गीता ४।३७॥

* स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत, तस्मादग्रिः। अग्रिर्ह वै तमग्निमित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः। अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्–सोऽश्रुरभवत्। अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः।
—शतपथब्रा० ६।१।१।११।

सुप्रसिद्ध यह कश्यपावतार है, जिसका सूर्य्यमूलक पौराणिकसृष्टिसर्ग में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। 'कश्यपात् सकल जगत्'—सर्वा प्रजा काश्यप्य' 'एतद्वै सर्वं कृत्वा प्रजापति-प्रजामसृजत। यदसृजत-अकरोत्। कश्यपो वै कूर्म्म' इत्यादि श्रौतवचन इस कूर्म्मविद्या का ही रहस्य विश्लेषण कर रहे हैं। सृष्टिधारा का क्रमिक निरूपण करनेवाली शातपथी श्रुति श्रभु की उत्पत्ति के अनन्तर समुद्भूत इस कूर्म्मोत्पत्ति को लक्ष्य बनाती हुई आगे जाकर कहती है—"स प्रजापतिरकामयत—आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजा प्रजनयेयमिति। ता सक्लिश्याप्सु प्राविष्यत्। तस्यै य पराङ् रसोऽत्यक्षरत्—स कूर्म्मोऽभवत्"।

क्या कूर्म्मप्रजापति पर विश्वस्वरूप का अवसान हो गया ?, नहीं। अभी विश्वसर्ग का 'पृथिवी' नामक एक और पर्व शेष है। उपनिषत्—प्रतिपादित सृष्टिधाराक्रम के—'अद्भ्य पृथिवी' वचन का समन्वय अभी शेष है। उसी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हुई शातपथी श्रुति आगे चलकर कहती है कि, उस सौर हिरण्मय कश्यपप्रजापति ने यह कामना की कि, 'मैं इन मरीचिरूप पानियों से पुनः सर्ग उत्पन्न करूँ'। इसी कामना से तप—श्रम के द्वारा प्रजापति ने अष्टाचयम, अतएव—'गायत्री' नाम से प्रसिद्धवह भूपिण्ड उत्पन्न किया जिसका संक्षिप्त स्वरूपपरिचय अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। अभी प्रक्रान्त गोपथवचन का शेषांश ही समन्वित कर लेना चाहिए।

(२२४)—चतुर्विध 'अभु' का स्वरूपपरिचय—

सौर सावित्राग्नि से उत्पन्न आप ही 'अभु' कहलाया, यही परोक्षभाषा में 'अश्व' माना गया। क्योंकि प्राणात्मक इस आपोमय अश्व की अश्वपशु में प्रधानता रहती है, अतएव अश्व को तेजोलक्षण आपोमय पशु माना गया है। महिषपशु भी यद्यपि आप्यप्राणप्रधान ही है। तथापि महिषपशु का क्योंकि पार्थिव 'मर' नामक कास्यालीकृत (कदार्मीचयुक्त) मलीमस वारुण आप्यप्राण से निर्म्माण हुआ है, अतएव इसे आपोमय अश्वपशु का विरोधी पशु माना गया है। सौर इन्द्रप्राणात्मक तेजोमय आपः से समुत्पन्न अश्वपशु दिव्यपशु है, एवं वारुण मराप्राणमय मलीमस आप से उत्पन्न महिषपशु आसुर पशु है। इसी आधार पर संस्कृतसाहित्य का सहजवैरनिबन्धन 'अश्वमाहिष्य' न्याय प्रसिद्ध है। अग्नि से संचरित आप का ही साङ्केतिक नाम 'अभु' है, यही अश्वस्वरूप की प्रतिष्ठा है, जिसके आधार पर अश्वमेधयज्ञ व्यवस्थित हुआ है, यही मर्मार्थ है। इस दृष्टि से हम चतुर्विध अग्नियों से उत्पन्न चतुर्विध पानियों को 'अभुः' इस साङ्केतिक नाम से भी व्यवहृत कर सकते हैं।

अध्यात्मसंस्था के माध्यम से ही इस चतुर्विध अप्तत्त्व का अग्निचतुष्टयी के साथ समसमन्वय कीजिए। 'परिश्रमाम्—श्रोषाम्—शोकाम्—प्रेमाम्—' भेद से अध्यात्मसंस्था में हमें चार प्रकार के पानी उपलब्ध हो रहे हैं। तन्मयतापूर्वक—निष्ठापूर्वक—ध्यानप्रायासपर्वद्वारा परिश्रम करने से सर्वप्रथम ललाटप्रदेश पर ही पसीना चमकने लगता है, अनन्तर परिश्रम के आत्यन्तिक वेग से सर्वाङ्गशरीर में स्वेदकण समुद्भूत हो जाते हैं। जिसे लोक में 'स्वेद' (पसीना) कहा गया है, वही यह 'परिश्रमाप्' नामक प्रथम आप है, जिसका मूलप्रभवस्थान, किंवा मूलोद्भवस्थान शिरोगुहास्थित स्वायम्भुव मनोऽग्नि ही माना गया है। यही स्वेद कर्म्मसंसिद्धि का द्वार बना करता है। कर्म्मसिद्धिजनक पसीना ही तुष्टि—पुष्टिलक्षणा शान्ति का मूलबीज माना

तस्मादाहुः–ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्–इति। अपि हि तस्मात् पुरुषात् (ब्रह्मनि श्वसित–वेदाग्निगर्भित–आपोब्रह्मलक्षणदाम्पत्यमूर्त्तिपुरुषात्) ब्रह्मैव (गायत्रीमात्रिकवेदाग्निरेव) पूर्वमसृज्यत। तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत। अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्,–सोऽग्निरसृज्यत। स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत–तस्मादग्रि। अग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवा। अथ यदश्रु समक्षरितमासीत्,–सोऽश्रु रभवत्। अश्रु ह वै तमस्व इत्याचक्षते-परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः।

(२२२)–ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रयीमेव विद्याम्—

स्वायम्भुव अपौरुषेय ब्रह्मनिःश्वसित वेदमूर्त्ति प्रजापति के वेदाग्निभाग से पत्नीरूप आपः का प्रादुर्भाव, उभयदाम्पत्य से आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में पुनः संघर्षद्वारा अग्निरूप गायत्रीमात्रिक वेद की उत्पत्ति, इस सौर सावित्राग्नि के संघर्ष से पुनः अग्निप्रकृतिक 'मरीचि' नामक आपः का प्रादुर्भाव–बस इस सृष्टिधाराक्रम का उपनिषत् ने–'आकाशाद्वायु'' 'वायोरग्निः'' "अग्नेरापः" इस क्रम से वर्णन किया है, एवं ब्राह्मणश्रुति ने इसी स्थिति का 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्–वागेव सासृज्यत''(आकाशाद्वायु)–'सोऽग्निरसृज्यत'' (वायोरग्निः)–अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्''(अग्नेरापः)' इत्यादिरूप से विश्लेषण किया है। अग्नेरापः, और अथ यदश्रु० इत्यादि दोनों वचन अभिन्नार्थक हैं। वायोरग्निः, और सोऽग्निरसृज्यत दोनों वचन समानार्थक हैं। आकाशाद्वायु–और–सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्–दोनों वाक्य अभिन्नार्थप्रतिपादक हैं। एवं–" स पुरुषःप्रजापतिः श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्यां–सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्'' इत्यादि ब्राह्मणवचन, एवं–'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि उपनिषद्वचन, दोनों अभिन्नभावसमर्थक बने हुए हैं।

मनुरूपुनस्तमूलसर्गपरिलेख —

मनःप्राणवाङ्मयस्त्रिमूर्त्तिः–स्वयम्भूपुरुषपुरुषात्मकप्रजापतिर्मनुरेव आत्मा

आत्मनः—आकाश (ब्रह्मनिश्वसितवेदः–ऋक्सामयजुःयजुरग्नि)

आकाशात्—वायुः (आपस्त्रियोमय्यः–आपः–सरमा)

वायोः—अग्निः (गायत्रीमात्रिकवेदः–सौराग्निः)

अग्नेः—आपः (सौररश्मिमुक्ता आपः मरीचयः)

(२२३)–प्रजापति की कूर्म्मसृष्टि—

गायत्रीमात्रिकवेदाग्निरूप सौर सावित्राग्नि के संघर्ष से उत्पन्न फेन नामक 'अभ्र'रूप मरीचि–पानी से ही आगे चलकर सौरसंस्था द्यावापृथिवी की जननी बनती हुई कूर्म्मपशु की आकृति में परिणत होती है, और यही

विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि की सहजनिष्ठा के सहज अनुग्रह से वञ्चित बने रह जाते हैं। ऐसे लौकिक मानवों को ही भावुकमानव माना गया है। ऐसे ही भावुकमानव क्षणे क्षणे हँसते और रोते रहते हैं। यही इनका परमपुरुषार्थ बना रहता है सर्वथा अबोध बालवृन्दवत्, तथा सौम्यनारीवृन्दवत। इस प्रकार हमें अध्यात्मसंस्था में चारों वर्णीय तत्त्व उपलब्ध हो रहे हैं—

चतुर्विध-'अश्रु' स्वरूपपरिलेख—

१—परिभ्रमसंघर्षद्वारा समुत्पन्ना—	आप	परिभ्रमाश्रु	(स्वेदभावा)	नैष्ठिकमानवानुगता
२—वैश्वानरसंघर्षद्वारा समुत्पन्ना—	आप	क्रोधाश्रुः	(क्लेदभावा)	भावुकमानवानुगता
३—सावित्राग्निसंघर्षद्वारा समुत्पन्ना—आपः		शोकाश्रु	(क्लेशभावा)	
४—चान्द्राग्निसंघर्षद्वारा समुत्पन्ना—आप		प्रेमाश्रु	(मोहभावा)	

—०—

उक्त अध्यात्मसंस्था–गाथा को लक्ष्य में रखते हुए ही अब अधिदैवतलक्षणा प्राकृतिक विश्वसंस्था के साथ अश्रुचतुष्टयी का समन्वय कीजिए। वेदाग्नि से उत्पन्न आप को ही 'परिभ्रमाश्रु' कहा जायगा, जो 'पारमेष्ठ्य आपः' कहलाया है, एवं जिस का प्रातिस्विक नाम वह 'अम्भ' माना गया है, जो गाङ्गेय तोय की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव जो परमपावन अहरहरनुध्यानानुगत भागीरथी–तोय 'ब्रह्मद्रवी' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिसकी उत्पत्ति मूलप्रभव–उद्गमस्थान–स्वयम्भूब्रह्मरूप प्रजापति के शिरोभागोपलक्षित ललाटप्रदेशस्थ वेदाग्नि से हुई है। सौरसावित्राग्नि से उत्पन्न आप को 'शोकाश्रु' ही कहा जायगा, जो 'सौरआपः' कहलाया है, एवं जिसका प्रातिस्विक नाम 'मरीचि' माना गया है, जो यामुनेय तोय की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। चान्द्र सौम्याग्नि से उत्पन्न आप को ही 'प्रेमाश्रु' कहा जायगा, जो 'चान्द्रआप' कहलाया है। एवं जिसका प्रातिस्विक नाम 'श्रद्धा' माना गया है, जो प्रत्यक्ष स्फुरित भौतिक पानी को श्रद्धापूत बना दिया करता है। पार्थिवभूताग्निरूप वैश्वानराग्नि से उत्पन्न आप को ही 'क्रोधाश्रु' कहा जायगा, जो 'पार्थिव आपः' कहलाया है, एवं जिसका प्रातिस्विक नाम–'मर' माना गया है, जो वापी–कूप तड़ाग–सर–समुद्र–नद–नदी–झर्ना–आदि स्थानस्थित पानी माना गया है। इस प्रकार स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौरसावित्राग्नि, चान्द्रसुब्रह्मण्याग्नि, पार्थिववैश्वानराग्नि, इन चार अग्नियों से समुत्पन्न पारमेष्ठ्य अम्भ, सौर मरीचि, चान्द्र श्रद्धा, पार्थिव मर ये चार प्रकार के आपः ही सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वेश्वरप्रजापति के क्रमशः परिभ्रमाश्रु–शोकाश्रु–प्रेमाश्रु–क्रोधाश्रु माने जायँगे। निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति इसी अम्भश्चतुष्टयीरूप अप्चतुष्टयी का स्पष्टीकरण कर रही है—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत–'लोकान्नु सृजा' इति। स इमांल्लोकानसृजत–अम्भ, मरीची, मर, आप। अदोऽम्भ परेण दिवं द्यौ प्रतिष्ठा। अन्तरिक्ष मरीचयः। पृथिवी मर। या अधस्तात्–ता आप–श्रद्धा"।

—ऐतरयोपनिषत् २।

गया है। परिभ्रमशील मानव परिभ्रमाश्रु बहा कर सदा सन्तुष्ट-सन्तृप्त बने रहते हैं। यही इनकी आनन्दानुभूति है।

जब मानव क्रोधाविष्ट बन जाता है, तब भी शरीर से पसीना बह निकलता है। इसी को हम 'क्रोधाश्रु' कहेंगे। इस क्रोधाश्रुविनिर्गमन से सन्तुष्टि-तृप्ति-शान्ति की कोई अनुभूति नहीं होती। अपितु ठीक इसके विपरीत इस से अध्यात्मसंस्था क्षुब्ध-अशान्त-उद्विग्न-असन्तुष्ट बन जाती है। सर्वाङ्गशरीर विकम्पित-संत्रस्त-क्लान्त बन जाता है। ऐसे इस रुद्राग्निमूर्ति क्रोधाश्रु का मूलप्रभव-मूलोत्थस्थान सर्वाङ्गशरीरव्याप्त ताप-भु विलक्षण-पूर्वप्रतिपादित पार्थिव वह वैश्वानराग्नि ही माना गया है, जिसे पूर्व में वागग्नि-अयाग्नि-भूताग्नि-चराग्नि-आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। भूतासक्त-अर्थैषणासक्तव्यासक्त मानव ही इस क्रोधाश्रु का मुख्य लक्ष्य बना करता है, जो कालान्तर में मानव के वैश्वानराग्नि के आत्यन्तिकरूप से विनिर्गत हो जाने के कारण मानव की भूतप्रधाना शरीरयष्टि को कृश-अशक्त-निर्बल कर देता है।

निरतिशय शोकसंविग्नमानस-मानव की आँखों से जो अश्रुप्रवाह प्रवाहित हो पड़ता है, वही-'शोकाश्रु' कहलाया है। चान्द्रप्राणाग्निगर्भित सौरसावित्रप्राणाग्नि ही इन शोकाश्रुओं का मूलप्रभव-मूलोत्थस्थान बना करता है। सौरसावित्राग्निप्राण ही रुद्र है। रुद्र अग्निरूप यही रुद्राग्नि शोकात्मक सम्पर्क से द्रुत होकर अश्रुरूप में परिणत हो पड़ता है, जिसका विनिगमन ही स्वास्थ्यकर माना गया है। क्रोधाश्रुप्रभवरूप वैश्वानर अग्नि का संरक्षण जहाँ स्वास्थ्यकर है, वहाँ इस शोकाश्रुप्रभव रुद्राग्निरूप सावित्राग्नि का अश्रु द्वारा विनिर्गमन स्वास्थ्यकर है। दोनों में यह महान् अन्तर है। क्रोध का निगरण ही कर जाना चाहिए, तभी स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है। शोक को अश्रुद्वारा बहिर्भूत हो कर देना चाहिए। शोकाश्रु के स्तम्भन से चित्तव्यामोहनलक्षणा स्तब्धता-जड़ता का उदय हो जाता है। यह ठीक है कि, वैश्वानरविनिर्गमनवत् इस सावित्राग्निजनित शोकाश्रु के अत्यधिक मात्रा में विनिर्गत हो जाने से भी जीवनीय रस पर अनुचित प्रभाव पड़ता है। फलतः शरीर निर्बल बन जाता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, गात्र शिथिल बन जाते हैं। तथापि इनका विनिगमन ही भावी स्थिरता की दृष्टि से मानसिक ही माना गया है।

निःसीम प्रेमसंविग्नमानस-मानव के नेत्रपक्ष्मों से विनिर्गत अश्रु ही 'प्रेमाश्रु' कहलाए हैं। सौरसावित्रप्राणाग्निगर्भित चान्द्रसुब्रह्मण्य सौम्यप्राणाग्नि ही इन अश्रुओं का मूलप्रभव-मूलोत्थस्थान माना गया है। परिभ्रमाश्रुवत् ये प्रेमाश्रु भी सौम्यभावानुबन्ध से शान्तिकर-तुष्टिकर ही माने गए हैं। निरतिशय भावावेश से चलित प्रशान्तमनोरस ही इस प्रेमाश्रु के जनक हैं, जिसके श्रद्धा-वात्सल्य-काम-स्नेह-रति-नामक पाँच विवर्त प्रसिद्ध हैं। चान्द्रमन की इन पाँच रसप्रसवप्रवृत्तियों के अनुबन्ध से प्रेमाश्रु के पाँच ही जातिविभाग प्राकृतिक बन जाते हैं। इन पाँचों का '१-४ के अनुपात से द्विधा वर्गीकरण किया जायगा प्रस्तुत भावुकतानिबन्ध के माध्यम से। नितान्त नैष्ठिक आर्षमानव वात्सल्य-स्नेह-काम-रति-इन चारों मानस भावों में कभी आसक्त नहीं होते। यद्यपि ये चारों वृत्तियाँ इनमें भी हैं। किन्तु सर्वथा सद्रूप से, शान्तरूप से। हाँ, केवल श्रद्धात्मक मानसभाव ही इन आर्षनैष्ठिक मानवों को यदाकदा आत्मविभोर बनाता हुआ प्रेमाश्रु जनक बन जाता है। उधर यथाजात-लौकिक-कामभोगपरायण-वित्तपुत्रलोकैषणासक्त-भावुकमानव सर्वात्मना मनोव्यापारवर्ती बनते हुए मानव वात्सल्य-स्नेह-काम-रति-क्षेत्रों के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए

भू के आभ्यन्तर स्तरों में प्रवाहित आपोधारायें, तदुपरि ओषधि–वनस्पति वर्ग, यही माता धरित्री का प्राकृतिक स्वरूप है, जिसको आर्षवैज्ञानिक अष्टावयवसम्पत् के सम्बन्ध से 'गायत्री' रूप से उपासना किया करते हैं। इसी सूर्य्यमूला, किंवा सौराग्निगर्भित–आपोमूला भूसृष्टि को लक्ष्य बनाकर उपनिषच्छ्रुति ने–'मदुभ्य पृथिवी' कहा है, वो औपनिषद कथन निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति के द्वारा यों उपबृंहित हुआ है—

"सोऽकामयत-'आभ्य -अद्भ्य -अधि–इमा [पृथिवीं] प्रजनयेयम्' इति। तां-सङ्क्लिश्य-अप्सु प्राविध्यत्। तस्यै य पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्। अथ यत् ऊर्ध्वमुदोक्ष्यत-इद तत्–यत् -इदमूर्ध्व मद्भ्याऽधिजायते [पुष्करपर्णात्मिका आप -शैवालरूपा -घनभावा -शरात्मका;— घनात्मिका –आपः–इति यावत्]। सेय सर्वाप एवानुव्यैत्। तदिदमेकमेव रूप समद्रवयत-"आप'" एव+। सोऽकामयत–भूय एव स्यात्–प्रजायेत–इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपान 'फेन" मसृजत। सोऽवेत्–अप एतद्रूप भूयो वै भवति। श्रामाण्येवेति। स श्रान्तस्तेपानो 'मृद"–शुष्कापमूप–'सिकता"–'शर्कराम्"–'अश्मान"–'अय'–'हिरण्यम्"–[ओषधि'–वनस्पतिवर्गश्च] असृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नवसृष्टय [तूलसृष्टय –८, मूलसृष्टि,–१] इयमसृज्यत, तस्मादाहु –'त्रिवृदग्नि'रिति। इय ह्यग्नि। अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते। अभूद्वा इय प्रतिष्ठेति, तद्भूमिरभवत्। तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्। सेय सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना उदगायत्। यदगायत्, तस्मादग्निर्गायत्र [अष्टावयव] इति। अथोऽआहु –अग्निरेवास्यै [अवमाध्यमेन] पृष्ठे सर्व कृत्स्नो मन्यमानोऽगायत्। तस्मादग्निर्गायत्र'–इति। तस्माद् हैतत्–य सर्वो कृत्स्नो मन्यते–गायति [उपवर्णयति पृथिविस्वरूप], गीते वा रमते।"

—शतपथब्रा० ६।१।१।१२,१३,१४,१५, कण्डिका।

(२३०)—महोपमहद्भावमीमांसा—

क्या पृथिवी (भूपिण्ड) पर विश्वनिर्म्माणप्रक्रिया समाप्त है?, नहीं अभी ब्रह्माण्ड का अन्तिम अतएव–'निधन' नाम से प्रसिद्ध 'चन्द्रमा' पर्व शेष है, जिसका निर्म्माण अभी तक असंसृष्ट ही रहा है।

— तद्यत्–अपां शर आसीत्–तत् समहन्यत, तत् पृथिव्यभवत् (शत०ब्रा० १०।६।५।२।)— आपो वै पुष्करपर्णम्। (शत० ६।४।२।२।)

+ न तर्हि पृथिव्यास–न द्यौरास। कम्बालीकृता ह वै तर्हि पृथिव्यास, नौषधय आसु, न वनस्पतय'।

—शत० ब्रा० २।२।४।३।

—[कम्बालीकृता–घनापोभावरूपा–शरभावानुगता–आपोमयी पृथिवी–पृथिव्या –प्रारम्भावस्था इति निष्कर्षः]।

माव प्रवर्ग्यरूप से समन्वित हो गए। आग्नेय आङ्गिरसभाव दाहक अग्नि कहलाया, जो 'सावित्राग्नि' नाम से प्रसिद्ध हुआ, एवं जो प्रग्नब्रह्म ब्रह्मवीर्यप्रधान ब्राह्मणवर्ण की मूलप्रतिष्ठा बना। सौम्य भार्गवभाव ही दाह्य सोम कहलाया, जो संस्कृत-'भ्रभृ' कहलाया जिसे हमनें पूर्व में 'मरीचि' नामक और आप कहा है, एवं जिसे यमुनाजल की मूलप्रकृति घोषित किया है। दाह्यसोमसम्बन्ध से ही दाहक सौरसावित्राग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित होता हुआ प्रकाश का सर्जक बन रहा है। सौराग्नि तो अपने प्रातिस्विकरूप से सर्वथा कृष्णवर्ण ही है, जो कृष्णमृग की मूलप्रकृति माना गया है, अतएव जो कृष्ण-मृगचर्म आर्यमानव की दिव्यदृष्टि में 'त्रयीविद्या की प्रतिकृति' (शिल्प) बना हुआ है (दक्षिण-शतपथब्राह्मण-हविर्ब्राह्मण १।१।४।१।) इसी आधार पर मानवधर्मशास्त्र का 'यस्मिन् देशे मृग कृष्णस्तत्र धर्म्मं निबोधत' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी आधार पर कृष्णमृग के स्वच्छन्द विचरण से अनुप्राणित भूप्रदेश ही आर्य-धर्म्मभूमि घोषित हुई है। 'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' (यजुःसं २४।३१।)इत्यादिरूपेण स्वस्वरूप से नितान्त कृष्णवर्ण भी सूर्याग्नि सोमाहुतिप्रभाव से ही ज्योतिष्मान् बना हुआ है, जैसा कि-'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ' (ऋक् सं १।९।१।२२) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है।

(२२९)—अष्टाङ्ग भूपिण्ड—

सौर सावित्राग्निरूप अग्नितत्त्व, सौररश्मिमण्डलमुक्त सौम्य 'भ्रभृ' नामक जलतत्त्व, दोनों को अपने मण्डल में मुक्त रखते हुए सूर्यनारायण अलातचक्रवत् प्रबलवेग से घूमने लगे, घूम रहे हैं, प्रलयपर्य्यन्त घूमते रहेंगे। इन सूर्यनारायण के परिभ्रमणरूप संघर्ष से-आपस्घर्षणात्मक दबाव से-अग्निगर्भित और जलतत्त्व प्रवर्ग्यरूप से सौरमण्डल से पृथक्कृत बन गया। यही पार्थिव अर्णवसमुद्र कहलाया। इसमें आन्तरिक्ष्य वायु के समावेश से अबुद-खर्बुद-न्युबुद-परमपराद बुदबुद समुत्पन्न हो पड़े। इन बुदबुदों के पारस्परिक संघर्ष से कालान्तर में अर्णवसमुद्र फेनमय (भागयुक्त) बन गया। पुनः वही ताप-वायु-पानी के पारस्परिक संघर्षात्मक ताप, इससे फेन की कालान्तर में 'मृत्' रूप में परिणति, जो 'खार भाग' कहलाता है। मृत् की कालान्तर में 'सिकता' रूप में परिणति, जो स्निग्ध-मसृणमृत्तिका (ग्रन्थिबन्धनयुक्त परमाणु संघरूपा चिकनी मिट्टी) कहलाई है। इसकी कालान्तर में 'शर्करा' रूप में परिणति, जो रूक्षकणलक्षणा बालुका (बालू रेत) कहलाई है। इसकी कालान्तर में 'अश्मा' (पाषाण) रूप में परिणति, कालान्तर में इसकी 'अय' (अपरिपक्व धातुमात्र, जिसे आजकल कच्चा लोहा माना जाता है) रूप में परिणति। इस अय की कालान्तर में 'हिरण्य' (लोह-ताम्र-रजत-सुवर्ण-कांस्य-पित्तल-आदि धातुमात्र) रूप में परिणति। सहित्य-अग्नि-आपः-वायु-इन तीनों के समन्वितारतम्य से सौरप्रवत्व ही प्रवर्ग्यरूप से क्रमशः "आपः—फेन—मृत्—सिकता—शर्करा—अश्मा—अय—हिरण्य—" इन आठ पर्वों में विभक्त होता हुआ हिरण्यगर्भ पर विश्रान्त हो गया, यही अष्टाक्य भूपिण्ड कहलाया, जो सूर्य का उपग्रह माना गया है। जिसके केन्द्र में प्रचण्ड अग्नि *, अग्निवेगनिरोध के लिए सुविशाल पाषाणस्तरपरम्परा, समिद्ध-प्रज्वलित अग्नि से पाषाणस्तरविस्फोटन के निरोध के लिए पाषाणस्तरों पर इतस्ततः-सर्वदिशाओं में प्रचण्डवेग से

* यथाग्निगर्भा पृथिवी, यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी, वायुर्दिशां यथा गर्भ।
—शत० ब्रा० १४।९।४।२०।

अथर्व) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अथर्वब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्मात्—'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धाराश्च, यदासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायाश्च, यदासु पुरुषो जायते। तस्मात्—'आपो अभवन्। तदपां—अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)—पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

वर्त्तमानचौथा अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अन्तमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा अद्भुत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर उत्सृष्टा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस त्रयवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरो-मयभाव 'अण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'अवेद-म मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव—'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भू को स्वगर्भ में सुरक्षित रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिण्डमान—सलिलसञ्चय—सपराशीस—प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'', जिसका—'तदभ्यसृजत्—'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं—स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्यण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण और 'हिरण्मयाण्ड'' नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'' नामक तृतीय सौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'' नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'' लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी'—सूर्य्य'—भूपिण्ड'—महिमपृथिवी'—चन्द्रमा'—इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड'—हिरण्मयाण्ड'—पोषाण्ड'—यशोऽण्ड'—रेतोऽण्ड', इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशत्यत्र—स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान वर्णविज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तल-वृत्ताकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल आत्मा के मनःप्राणवाक्-भावों के त्रिवृत्करण से सम्बन्धित काम-तप-श्रम-नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजाः' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त-निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'-'पत्'-'पुनःपदम्' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोवाङ्मयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अण्ड'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अण्डसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अण्डभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वह लक्षणात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः-पूर्णमिदम्'-'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'-'वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि-अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वह लक्षणाकाराकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सत्यपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सत्त्वनिर्माणसम्बन्ध से सर्वसत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं-'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम् ॥
>
> —पञ्चदशी

(२६१)—जाया—धारा—आप'—पत्नत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो-'इदमस्ति-अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का विश्वपदार्थों का-'अस्ति' रूप से अभिनय निर्देश-करते रहते हैं वह भूतसृष्टि-सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक-भूतसृष्टि-निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक-मैथुनसर्ग-से ही सम्बन्ध है जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' तत्त्व के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित 'अस्ति'-'विपरिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' तत्त्व ही है, जिसके सम्बन्ध से योषावत्त्व 'जायाया जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा-जाया-आप' तीनों ही भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (सुवेद-सुब्रह्म

अथर्व) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अथर्वब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्माद्–'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्–'आपो' अभवन्। तदपां–अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)–पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

पशुसृष्ट्यौपा अन्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आप' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अपमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा स्मृत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'मनेव–मन्मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव–'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भु को स्वगर्भ में गुप्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय विन्दमान–सलिललक्षण–खपरार्धिम–प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'', जिसका–'तदभ्यमृशत्–'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तादित्थं–स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही 'अस्त्यण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण सौर 'हिरण्मयाण्ड'' नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'' नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'' नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'' लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी[1]–सूर्य्य[2]–भूपिण्ड[3]–महिमपृथिवी[4]–चन्द्रमा[5]–इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड[1]–हिरण्मयाण्ड[2]–पोषाण्ड[3]–यशोऽण्ड[4]–रेतोऽण्ड[5], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विराट्सम्राट्–स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान जड़विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल-वृत्ताकार) ही है। किन्तु उपयुक्तदिशा में मूल आत्मा के मनप्राणवाक्-भावों के त्रिवृत्करण से सम्बन्धित श्रमः-तप-श्रम-नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त-निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'-'पद'-'पुनःपदम्' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है,जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोवाङ्मयी प्रतिष्ठा मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अश्व'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अश्वसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अपरभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वस्तुतः सत्यात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः-पूर्णमिदम्'-'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'-'वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि-अजस्य रूप किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वस्तुतः सत्याग्रपराकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है, जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सर्वप्रियात्मसम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वर्ग-'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत० ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम् ॥
>
> —पञ्चदशी

(२६१)—जाया-धारा-आपः-बलत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो-'इदमस्ति-अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वभावों का विश्वपदार्थों का-'अस्ति' रूप से अभिनय-निर्देश-करते रहते हैं वह भूतदृष्टि-दृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था, और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक-भूतदृष्टि-निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक-मैथुनसर्ग-से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' बल के द्वारा-'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित 'अस्ति'-'विप रिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' बल ही है, जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व 'जायायां जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा-जाया-आपः' तीनों ही भाग्यशिरोमणि पारमेष्ठ्य आपः (भृगु-सुरस

अथर्व) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अथर्वब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, इन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधारा प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्–आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं–आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्माद्–'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्–'आपो' अभवन्। तदपां–अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)–पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

वर्त्तुलत्रयीवेद अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आप' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अवमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा स्मृत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'मदेव–मन्मात्र' मयमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव–'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भु को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिण्डमान–सलिललक्षण–स्वर्णशक्ति–प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों नें इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का पारिभाषिक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'[1], जिसका–'तदभ्यमृशत्–'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं–स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्यण्ड नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण सौर 'हिरण्मयाण्ड'[2] नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'[3] नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'[4] नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'[5] लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी[1]–सूर्य्य[2]–भूपिण्ड[3]–महिमपृथिवी[4]–चन्द्रमा[5]–इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड[1]–हिरण्मयाण्ड[2]–पोषाण्ड[3]–यशोऽण्ड[4]–रेतोऽण्ड[5], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशन्त्यत्र–स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान जड़विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा' प्रादुरासीत्तमोनुद' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल–गृत्ताकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल-आत्मा के मनःप्राणवाक्–भावों के त्रिवृत्करण से सम्बन्धित क्रमशः–तपः–श्रम–नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त–निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'–'पद'–'पुनःपदम्' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोवाग्रयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने जाता है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अण्ड'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अण्डसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अण्डभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वह वृत्तात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'–'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'–'वियस्तस्तम्भ षळिमा रजांसि–अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वह लक्षसाम्राज्यकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है, जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सर्वप्रतिष्ठासम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं–'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्यरूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम् ॥
> —पञ्चदशी

(२३१)–जाया–धारा–आप–पत्नीत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो–'इदमस्ति–अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का–'अस्ति' रूप से अभिनय-निर्देश करते रहते हैं वह भूतवृद्धि–सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंसृष्ट ही था और आज भी असंसृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक–भूतवृद्धि–निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक–मैथुनसर्ग–से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' बल के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित 'अस्ति'–'विप-रिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' बल ही है जिसके सम्बन्ध से योषाधर्म 'जायाया जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा–आया–आप' तीनों ही मध्यस्थितोऽम पारमेष्ठ्य आपः (भृवेद–भृग्वङ्गि

अथर्व) के सद्ब्रह्म हैं, जिन का अथर्वब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्— आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं—आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्माद्—'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्त्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्त्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्—'आपो' अभवन्। तदपां—अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)—पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

यह सप्तचोत्रा अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आप' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'आपमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा श्रुत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'मर्त्येव–मन्मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रियायानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव—'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। ततः आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भु को स्वगर्भ में गुप्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'महासागर' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय स्पन्दमान–सलिललक्षण–सपर्णाग्नि–प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम महाण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'[१], जिसका–'तदभ्यमृशत्–'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं–स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्यण्ड' नामक प्रथम महाण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण सौर 'हिरण्मयाण्ड'[२] नामक द्वितीयमहाण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'[३] नामक तृतीय भौममहाण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'[४] नामक चतुर्थ पार्थिव महाण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'[५] लक्षण पञ्चम चान्द्र महाण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी[१]–सूर्य्य[२]–भूपिण्ड[३]–महिमपृथिवी[४]–चन्द्रमा[५]–इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड[१]–हिरण्मयाण्ड[२]–पोषाण्ड[३]–यशोऽण्ड[४]–रेतोऽण्ड[५], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चमहाण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों महाण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशत्यत्र–स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान जड़विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा' प्रादुरासीत्तमोनुदः' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल–वृत्ताकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल-आत्मा के मनःप्राणवाक्–मात्रा के त्रिवृत्करण से समन्वित श्रम–तपः–श्रम–नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त–निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'–'पदं'–'पुनःपदम्' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठामार्गों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोतात्रयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अपद'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अपदसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अपदभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वस्तुतत्त्वात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'–'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'–'विश्वस्तस्तम्भ पविमा रजांसि–अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वस्तुतत्त्वाकाराकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति तत्पुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है जो अपने अस्यनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठ बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सप्तर्षिप्राणसम्बन्ध से सर्वभावों का, सम्पूर्ण अस्तिमार्गों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं–'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत० ६।१।१।१) रूप से 'असद्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम्॥
>
> —पञ्चदशी

(२३१)–जाया–धारा–आप'–चतस्त्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो–'इदमस्ति–अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का–'अस्ति' रूप से अभिनय-निर्देश–करते रहते हैं, वह मूलदृष्टि–सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था, और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक–मूलदृष्टि–निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध उत्पत्तिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक–मैथुनसर्ग–से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' तत्त्व के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित 'अस्ति'–'विपरिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' तत्त्व ही है, जिसके सम्बन्ध से भोग्यतत्त्व 'जायाया जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा–जाया–आप' तीनों ही भार्गवाङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (भृग्वेद–सुब्रह्म

अथर्व) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अथर्वब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्–आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्माद्–'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्–'आपो' अभवन्। तदपां–अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)—पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

वर्त्तुलत्वलक्षण अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'आपमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा स्पष्ट है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर उत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू स्वगर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'सवेद–मन्मात्र' मयमात्रचार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव–'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भू को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिन्दमान–सलिललक्षण–स्वयम्भूरश्मि–प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों नें इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड[1]', जिसका–'तदभ्यमृशत्–'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं–स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही 'अस्त्यण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण सौर 'हिरण्मयाण्ड[2]' नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड[3]' नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड[4]' नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड[5]' लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी[1]–सूर्य्य[2]–भूपिण्ड[3]–महिमपृथिवी[4]–चन्द्रमा[5]–इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड[1]–हिरण्मयाण्ड[2]–पोषाण्ड[3]–यशोऽण्ड[4]–रेतोऽण्ड[5], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विराट्सम्राट्–स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान अर्वविज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुद' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल–गृहाकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल-आत्मा के मनःप्राणवाक्–भावों के त्रिवृत्करण से सम्मन्वित काम-–तपः–श्रम–नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रविभाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त–निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'–पदं'–पुनःपदम्'* इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोवाग्त्रयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अश्व'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अश्वसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अपक्रमाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वत् सत्यात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'–'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'–'वियस्तस्तम्भ षड्मिमा रजांसि–अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। यत् सत्यात्मप्रकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है जो अपने अमनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सत्त्वप्रिप्राणसम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं–'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत० ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
> वचसामात्मसंवेद्य तज्ज्ञान 'ब्रह्म' संज्ञितम् ॥
>
> —पञ्चदशी

(२६१)—जाया–धारा–आप'–पत्नीत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो–'इयमस्ति–अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का–'अस्ति' रूप से अभिनय निर्देश करते रहते हैं वह मूलप्रकृति–सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था, और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक–मूलसृष्टि–निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध तत्सृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक–मैथुनसर्ग–से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' बल के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुभावित 'अस्ति'–'विप रिणामते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' बल ही है, जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व 'जायायां जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा–जाया–आप' तीनों ही भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (भृवेद–सुब्रह्म

अथव) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अथवब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधारा प्रास्यन्दन्त । ताभिरनन्दत् । तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं—आप्स्यामि यदिदं किञ्च । तस्मात्—'धारा' अभवन् । तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते । तस्माज्जाया अभवन् । तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते । तस्मात्—'आपो अभवन् । तदपां—अप्त्वम् । आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते ।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)—पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

वर्द्धुलवृत्तोला अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अश्वमेध परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा श्रुत है । इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया । इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया । यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'सवेद-मम्मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार । अतएव—'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप· प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भु को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिन्दमान-सलिललक्षण-समणाशक्ति-प्राथमिक मण्डल) । यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है । अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्वण्ड'[1], जिसका—'तदम्यसृजत्-'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है । तदित्थं—स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्वण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण और 'हिरण्मयाण्ड'[2] नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'[3] नामक तृतीय सौम्यब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'[4] नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'[5] लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ । इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी[1]-सूर्य्य[2]-भूपिण्ड[3]-महिमपृथिवी[4]-चन्द्रमा[5]-इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्वण्ड[1]-हिरण्मयाण्ड[2]-पोषाण्ड[3]-यशोऽण्ड[4]-रेतोऽण्ड[5], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विरात्मन्न-स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है । यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्तमान जड़विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है । जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल-वृत्ताकार) ही है । किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल आत्मा के मनःप्राणवाक्-भावों के त्रिवृत्करण से सम्बन्धित श्रमः-तपः-श्रम-नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है । इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त-निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'-'पदं'-'पुनःपदम्' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है,जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोतात्रयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अश्व' । अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अश्वसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है । 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अश्वभाव में परिणत नहीं होता । अतएव जो 'विरजा'-'परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है । वह सत्यात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है । 'पूर्णमदः-पूर्णमिदम्'-'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन'-'वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि-अजस्य रूप किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं । यह सत्यस्याकारकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है, जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है । पूर्वोपवर्णित तत्त्वप्रतिष्ठाप्राणसम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं-'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत० ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
> वचसामात्मसंवेद्य तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम् ॥
>
> —पञ्चदशी

(२३१)-जाया-धारा-आप-पत्लत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो-'इदमस्ति-अयं सूर्य्य, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का-'अस्ति' रूप से अभिनय निर्देश-करते रहते हैं वह मूलदृष्टि-सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था, और आज भी असंस्पृष्ट ही है । हमारा सोपाधिक-मूलदृष्टि-निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोइ सम्बन्ध नहीं रख रहा । सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का मैथुनिक-मैथुनसर्ग-से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं । यहीं से 'जाया' भाव के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है । अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित 'अस्ति'-'विप रिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है । 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम यह सुप्रसिद्ध 'जाया' भाव ही है, जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व 'जायायां जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है । 'धारा-जाया-आप' तीनों ही भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (सुवेद-सुनाम

अथर्व) के सङ्कवर्म्म हैं, जिन का अथवब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्-आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं-आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्माद्-'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्-'आपो अभवन्। तदपां-अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)—पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

वर्त्तुलतत्तोया अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अश्वमेध परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा आवृत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयमम्व 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'मवेद-मन्मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव-'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भू को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिन्दमान-सलिललक्षण-सवणशक्ति-प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'', जिसका-'तदभ्यमृशत्-'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं-स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्यण्ड नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण और 'हिरण्मयाण्ड'' नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'' नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'' नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'' लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी'-सूर्य्य'-भूपिण्ड'-महिमपृथिवी'-चन्द्रमा'-इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड'-हिरण्मयाण्ड'-पोषाण्ड'-यशोऽण्ड'-रेतोऽण्ड', इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशत्यत्र-स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान नक्षविज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा' प्रादुरासीत्तमोनुदः' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल—वृत्ताकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल आत्मा के मनप्राणवाक्-भावों के त्रिवृत्करण से समन्वित कामः—तपः—श्रम—नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त-निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'-पद'-पुनःपदम्' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है,जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोताप्रयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अश्व'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अश्वसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य्य—भूपिण्ड—चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अवरभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'लघ्वात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः'—'पूर्णमिदम्'—'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन'—'वियस्तस्तम्भ षड्मा रजांसि—अजस्य रूप किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वह 'लघ्वाकाराकारित, अतएव निष्क एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सत्यपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सत्यनिष्ठासम्बन्ध से सर्वसत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं—'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत० ६।१।१।१) रूप से 'असद्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' सञ्ज्ञितम् ॥
>
> —पञ्चदशी

(२३१)—जाया—धारा—आप:—पत्नत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो—'इदमस्ति—अयं सूर्य्य, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वभावों का, विश्वपदार्थों का—'अस्ति' रूप से अभिनयनिर्देश—करते रहते हैं वह भूतदृष्टि-सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक-भूतदृष्टि-निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक-मैथुनसर्ग-से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' बल के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित 'अस्ति'—'विपरिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम यह सुप्रसिद्ध 'जाया' बल ही है, जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व 'जायाया जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा—जाया—आप' तीनों ही भार्गवशिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (भृग्वङ्गिरा—भृगुमय

(२३३)—दर्शपूर्णमासानुगत अण्डवृत्त—

अग्निचयनरहस्यस्वरूपविश्लेषिका शातपथी श्रुति के विश्वस्वरूपमीमांसानुगत अण्डसृष्टिप्रकरण में यद्यपि साक्षात्‌रूप से सौर 'हिरण्मयाण्ड' नामक दूसरे अण्ड का उल्लेख नहीं है। यहाँ केवल अस्त्वण्ड–पोषाण्ड–यशोऽण्ड–रेतोऽण्ड, इन चार अण्डों का ही क्रमिक स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तथापि इस अण्डसृष्टिप्रकरण में क्योंकि 'अस्त्वण्ड' रूप पारमेष्ठ्य अण्ड के अनन्तर ही-'ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या। मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से गायत्रीमात्रिकवेदलक्षण सौरपुरुषाग्नि का क्रमिक निरूपण हुआ है, जो कि निश्चयेन क्रमसिद्ध हिरण्मयाण्ड ही है। अतएव हमनें समन्वयदृष्ट्या अस्त्वण्ड के अनन्तर, तथा पोषाण्ड के पूर्व अनुक्त भी सौर जगत् का 'हिरण्मयाण्ड' नाम से समावेश मान लिया है। अवश्य ही यहाँ हिरण्मयाण्ड अनुक्त है, किन्तु अन्यत्र इसका इसी क्रम से समावेश हुआ है। केवल प्रमाणमकाङ्क्षियों को शतपथ के एकादशकाण्ड में प्रतिपादित 'दर्शपूर्णमासनिदान' ब्राह्मण का ही अवलोकन करना चाहिए, जहाँ विस्पष्ट शब्दों में आपोमय परमेष्ठी के अनन्तर ही आपोमय समुद्र के गर्भ में सम्वत्सराधिष्ठाता 'हिरण्मयाण्ड' सर्ग का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। निदर्शन निम्नलिखित ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा—

> आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (सरित्–इरा–इति सलिलम्- द्रवभावापन्ना – आप –एव सरिरा –सलिला - तदेव सलिलम्)। ता अकामयन्त, कथ नु प्रजायेमहीति, ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु–'हिरण्मयाण्ड'–सम्बभूव। अजातो ह तर्हि सम्वत्सर आस। तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत्सम्वत्सरस्य वेला (इदानीम्), तावत् पर्य्यप्लवत। ततः सम्वत्सरे * (दिव्यवर्षसहस्रावधि–अनन्तर) पुरुष (सूर्य्य-पिण्डात्मक) समभवत्। स प्रजापति (सौरहिरण्यगर्भप्रजापति) अजायत।
>
> —शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

---

* अण्डात्मक पिण्डों के निर्म्माण में कितना समय लगा ?, इस प्रश्न का समाधान कालानुगत एकमात्र वह 'सम्वत्सर' शब्द ही है, जिसका शास्त्रकारोंनें सर्गस्वरूपभेदतारतम्य से विभिन्न माना है। एक बिन्दु से प्रारम्भ कर पुनः उसी बिन्दु पर परिभ्रममाण चक्र का आ जाना ही सम्वत्सरकाल का पारिभाषिक समन्वय है। अपने अक्षपरिभ्रमण के अनुपात से भूपिण्डानुगत दैनंदिनगतिलक्षण परिभ्रमण चतुर्विंशतिहोराकाल (२४ घण्टों) में हो जाता है। अतः भूपिण्डदृष्ट्या एक अहोरात्र भी एक सम्वत्सर मान लिया जायगा। अमुक महर्षि ने ३६ ०० वर्ष तप किया, इसका अर्थ होगा ३६००० दिन, अर्थात् सौ वर्ष, अर्थात् यावज्जीवन। ब्राह्मणग्रन्थों के सुप्रसिद्ध 'दीर्घसत्र' नामक सहस्रसम्वत्सर (एक हजार वर्षात्मक यज्ञ) के सम्बन्ध में भगवान् जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में इसी पार्थिवस्वाक्षपरिभ्रमणनिबन्धन एक अहोरात्रात्मक वर्ष के अनुपात से वहाँ 'वर्ष' से 'अहः' का संग्रह करते हुए–'अहर्वा संख्यानात्' सिद्धान्त ही स्थापित किया है, जिसका निष्कर्षार्थ होता है केवल एक हजार दिन। चान्द्रकक्षा हमारे (पार्थिव) ३० दिन वाले (?) समय से अनुप्राणित है। अतः वह पितरों का एक अहोरात्र हमारा एक मास माना गया है, जो तदनुपात से वर्ष भी है। सौर-

(शेष पृष्ठ २७ पर देखिए)

पञ्चायतनसर्गस्वरूपपरिलेखः—

(२३३)–दर्शपूर्णमासानुगत अण्डवृत्त—

अग्निचयनरहस्यस्वरूपविश्लेषिका शतपथी श्रुति के विश्वस्वरूपमीमांसानुगत अण्डसृष्टिप्रकरण में यद्यपि साक्षात्‌रूप से सौर 'हिरण्मयाण्ड' नामक दूसरे अण्ड का उल्लेख नहीं है। यहाँ केवल अस्त्वण्ड–पोषाण्ड–यशोऽण्ड–रेतोऽण्ड, इन चार अण्डों का ही क्रमिक स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तथापि इस अण्डसृष्टिप्रकरण में क्योंकि 'अस्त्वण्ड' रूप पारमेष्ठ्य अण्ड के अनन्तर ही-'ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-त्रय्येव विद्या। मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से गायत्रीमात्रिकवेदलक्षण सौरपुरुषाग्नि का क्रमिक निरूपण हुआ है, जो कि निश्चयेन क्रमसिद्ध हिरण्मयाण्ड ही है। अतएव हमनें समन्वयदृष्ट्या अस्त्वण्ड के अनन्तर, तथा पोषाण्ड के पूर्व अनुक्त भी सौर जगत् का 'हिरण्मयाण्ड' नाम से समावेश मान लिया है। अवश्य ही यहाँ हिरण्मयाण्ड अनुक्त है, किन्तु अन्यत्र इसका इसी क्रम से समावेश हुआ है। केवल प्रमाणमात्रजिज्ञासुओं को शतपथ के एकादशकाण्ड में प्रतिपादित 'दर्शपौर्णमासविज्ञान' ब्राह्मण का ही अवलोकन करना चाहिए, जहाँ विस्पष्ट शब्दों में आपोमय परमेष्ठी के अनन्तर ही आपोमय समुद्र के गर्भ में सम्वत्सराधिष्ठाता 'हिरण्मयाण्ड' सर्ग का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। निदर्शन निम्नलिखित ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा—

> आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास (सरित्–इरा–इति सलिलम्–प्रथमावापभा–आप–एव सरिरा–सलिला–वदेव सलिलम्)। ता अकामयन्त, कथ नु प्रजायेमहीति, ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु–'हिरण्मयाण्ड'–सम्बभूव। अजातो ह तर्हि सम्वत्सर आस। तदिदं हिरण्मयाण्ड यावत्सम्वत्सरस्य वेला (इदानीम्), तावत् पर्य्यप्लवत। ततः सम्वत्सरे * (दिव्यवर्षसहस्रावधि–अनन्तर) पुरुष (सूर्य्यपिण्डात्मक) समभवत्। स प्रजापति (सौरहिरण्यगर्भप्रजापति) अजायत।
>
> —शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

---

* अण्डात्मक पिण्डों के निर्म्माण में कितना समय लगा ?, इस प्रश्न का समाधान श्रुत्यनुगत एकमात्र यह 'सम्वत्सर' शब्द ही है, जिसका शास्त्रधरोंने सर्गस्वरूपभेदतारतम्य से विचाली माना है। एक बिन्दु से आरम्भ कर पुनः उसी बिन्दु पर परिभ्रममाण चक्र का आ जाना ही सम्वत्सरभाव का पारिभाषिक समन्वय है। अपने अक्षपरिभ्रमण के अनुपात से भूपिण्डानुगत दैनदिनगतिलक्षण परिभ्रमण चतुर्विंशतिहोरात्मकाल (२४ घण्टों) में हो जाता है। अतः भूपिण्डदृष्ट्या एक अहोरात्र भी एक सम्वत्सर मान लिया जायगा। अमुक महर्षि ने ३६ ०० वर्ष तप किया, इसका अर्थ होगा ३६००० दिन, अर्थात् सौ वर्ष, अर्थात् यावज्जीवन। ब्राह्मणग्रन्थों के सुप्रसिद्ध 'दीर्घसत्र' नामक सहस्रसम्वत्सर (एक हजार वर्षात्मक यज्ञ) के सम्बन्ध में भगवान् जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में इसी पार्थिवस्वाक्षपरिभ्रमणानिबन्धन एक अहोरात्रात्मक वर्ष के अनुपात से वहाँ 'वर्ष' से 'अहः' का संग्रह करते हुए–'अहानि वा सम्ख्यानाम्' सिद्धान्त ही स्थापित किया है, जिसका निष्कर्ष होता है केवल एक हजार दिन। चान्द्रकक्षा हमारे (पार्थिव) २७ दिन तथा कुछ समय से अनुप्राणित है। अतः यह पितरों का एक अहोरात्र हमारा एक मास माना गया है, जो चक्रानुपात से सत्य भी है। और

(शेष पृष्ठ ३० पर देखिए)

(२३४)–भावविकारानुगत ग्रयडधृत्त—

षड्भावविकारों में से अस्ति[1]–जायते[2]–वर्द्धते[3]–विपरिणमते[4]–अपक्षीयते[5], इन पाँचों का क्रमिक सम्बन्ध पाँचों अयडविवर्तों के साथ बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में भी एक विशेषता का समन्वय कर लेना प्रासङ्गिक बन जाता है। प्राकृतिक महासर्गात्मक विश्वप्रवर्गों में प्रथम 'अस्ति' है, अनन्तर 'जायते' है। सत्तापूर्विका भाति ही अस्ति, और जायते का तात्पर्य्य है। सत्तापूर्वक ज्ञान, ज्ञानपूर्विका सत्ता, ये सुप्रसिद्ध दो दार्शनिक दृष्टिकोण हैं। प्रश्न है कि, वस्तुएं की स्वरूपसत्ता है, इसलिए हम उन्हें जानते हैं!, अथवा तो हम वस्तुस्वरूप जानते हैं, इसलिए वे हैं!। अन्तर्जगत्–बहिर्जगत् भेद से दोनों प्रश्न समाहित हैं। ईश्वरीय जगत्–रूप आधिदैविक जगत् की दृष्टि से सत्तापूर्विका ही भाति है, सत्तापूर्वक ही ज्ञान है। अतएव तद्रूप बहिर्जगत् की दृष्टि से हमें–'वह है, इसलिए हम उसे जानते हैं', इस 'सत्तापूर्वक ज्ञान' को ही प्रधानता देनी पड़ेगी। जैवजगत्रूप–आध्यात्मिक जगत् की दृष्टि से भातिपूर्विका ही सत्ता है, ज्ञानपूर्वक ही सत्ता है। अतएव तद्रूप अन्तर्जगत् की दृष्टि से हमें 'हम जानते हैं, इसलिए वह है' इस 'ज्ञानपूर्विका-सत्ता' को ही प्रधानता देनी पड़ेगी, जिसके आधार पर वैदिकदर्शनशास्त्रियों का सुप्रसिद्ध–'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्'+ नामक सिद्धान्त प्रतिष्ठित है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, हमें जो कुछ भी (परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-चर–अचर–आदि) प्रतीत हो रहे हैं उन सब का निर्म्माण हमारे प्रज्ञानज्ञान से ही हुआ है। हमारे ही ज्ञान ने सम्पूर्ण भातियों–प्रतीतियों का स्वरूपनिर्म्माण किया है, जैसा कि 'अहं मनुरभवम्–अहं सूर्य्य इवाजनि०' इत्यादि दृष्टान्तों से प्रमाणित है। 'है' इसलिए 'उत्पन्न' होता है, जो उत्पन्न वस्तुजात भाति–प्रतीति का कारण बनता है, इस ईश्वरीय दृष्टिकोण के अनुसार भावविकारों का–'अस्ति–जायते–वर्द्धते०' इत्यादि क्रम माना जायगा। 'जानते हैं' इसलिए है, उत्पन्न हो गया–इसलिए है, इस जैव दृष्टिकोण के माध्यम से भावविकारों का–'जायते–अस्ति–वर्द्धते०' इत्यादि क्रम माना जायगा, जो कि क्रम नैगमिक। विज्ञानभ्यासशून्य से सर्वथा शून्य-शून्य दर्शनाभासलक्षण आचारमीमांसाबहिष्कृत, अतएव सर्वात्मना अनुपादेय-उपेक्षणीय वर्त्तमान दार्शनिक सम्प्रदाय में माना जा रहा है।

(पृष्ठ २६९ का शेष)

सम्वत्सरवेला का योग १६५ अहोरात्र, तथा कुछ समय से अनुप्राणित है। अतएव यह देवताओं का एक अहोरात्र, हमारा एक वर्ष माना गया है, जो सौरानुपात से वर्ष भी है। ऐसे देवताओं के एक अहोरात्र के ३० तीस विभागों की समष्टि एक देवमास (अर्थात् हमारे सौर ३ वर्षों का देवताओं का एक मास), ऐसे द्वादश देवमासों की समष्टि देवताओं का एक वर्ष, ऐसे १ वर्षों की समष्टि पारमेष्ठ्य पितरों का एक अहः, और यही पारमेष्ठ्य अहःक्रम सम्वत्सरसौरपिण्डनिर्म्माण की अवधि है, जो मानक्रमानुपात से वर्षों-वर्षों पर ठहरती है। यही व्यवस्था पृथिवी–चन्द्रमा आदि के स्वरूपनिर्म्माण के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। भाव विज्ञान तृतीय खण्ड में, तथा प्रथम खण्ड में सर्वविध अहोरात्रों की स्वरूपविधा प्रतिपादित है। विशेष जिज्ञासुओं को सन्निबन्ध ही देखने चाहिए।

+ इस वैदिक दृष्टिकोण का निरूपण खण्डत्रयात्मक 'हमारे संशय, और उनका निराकरण' नामक 'संशयतदुच्छेदवाद' ग्रन्थ में 'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में द्रष्टव्य है।

(२३५)-भावविकारों के साथ अण्डस्वरूपसमतुलन—

क्या मूल है भावविकारों का अण्डसर्गों के साथ समन्वय बतलाने में ?, प्रश्न की मीमांसा का उत्तर दायित्व हम पाठकों की प्रज्ञा पर ही छोड़ते हैं । अब वे स्वयं श्रौत सर्गमीमांसा का क्रमिक अवलोकन करेंगे, तो एवंविध सामान्य प्रश्नमात्र स्वतः ही समाहित हो जायँगे । अभी अपना कुतूहल उपशान्त करने के लिए इतना जान लेना ही पर्य्याप्त होगा कि, श्रुति का 'अस्त्विति' भाव ही 'अस्ति' इस प्रथम भावविकार का मूल है । 'सर्वस्याग्रमसृज्यत' वचन ही 'जायते' इस द्वितीय भावविकार का मूल है, जिसका 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इत्यादि हिरण्यगर्भप्रजापतिप्रतिपादक मन्त्र से भी समर्थन हुआ है । मन्त्रोपात्त 'जात' 'जायते' का स्पष्ट ही संग्रह कर रहा है । 'इयं वै पृथिवी पूषा-पुष्टिर्वै पूषा-तमश्यमपुरात्-पुष्यतु-इति'' इत्यादि वचन तीसरे पोषणात्मक 'वर्द्धते' भावविकार का मूल प्रमाणित हो रहा है । पार्थिव महिम मण्डलरूप सम्वत्सरचक्र अपने सहज परिभ्रमण से प्रतिक्षण विपरिणामी है । अतएव 'तद् भूमिं व्यवर्त्त यत्' इत्यादि पार्थिव परिभ्रमणप्रतिपादक श्रौतवचनानुसार चौथे 'विपरिणमते' भावविकार का संग्रह हो रहा है । 'अपक्षयभाजो वै पितरः—चन्द्रमा पितरः-मन इव हि पितरः' इत्यादि श्रौतवचन पाँचवें 'अपक्षीयते' नामक भावविकार के संग्राहक बने हुए हैं । और इस प्रकार पाँचों भावविकार पाँचों अण्डों से समतुलित हो रहे हैं, जिन पाँचों अण्डों की मूलप्रतिष्ठा प्रसनि श्वसित अपौरुषेयवेदमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म माने गए हैं ।

पारमेष्ठ्य अस्त्वण्ड, सौर हिरण्मयाण्ड, भाम पोषाण्ड, इन अण्डों के स्वरूप का पूर्व की गोपथ-श्रुति के द्वारा, तथा चयनरहस्यान्तर्गत षष्ठ काण्ड के प्रथम ब्राह्मण के द्वारा संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया । अब शेष रह गए भूमहिमारूप यशोऽण्ड, तथा चन्द्रमारूप रेतोऽण्ड, ये दो अण्डसर्ग । इनका स्वरूप कर्य निष्पन्न हुआ ?, दो शब्दों में शतपथीश्रुति के आधार पर इन दोनों का भी संक्षिप्त स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना चाहिए । स्वयम्भू के वागग्नि से आपोमय भृग्वङ्गिरोलक्षण परमेष्ठीरूप अस्त्वण्ड का आविर्भाव हुआ । इसके आप भाग के अग्नि, तथा मरीचि नामक आप के समन्वय से सौरसंस्थारूप हिरण्मयाण्ड का अर्जन हुआ । इसके आन्तरिक्ष्य अग्नि से संतरित आप की घनता के द्वारा वायुसहयोग से महावयव भूपिण्डात्मक पोषाण्ड का स्वरूपनिर्म्माण हुआ, जिसके गर्भ में—'यथाग्निगर्भा पृथिवी' इस यजुः-श्रुति के अनुसार गर्भ में अग्नितत्त्व प्रतिष्ठित है, एवं अग्निगर्भा यह भूपिण्ड 'अर्णवसमुद्र' नामक 'भर नामक आप' के गर्भ में समाविष्ट रहता हुआ कालान्तर में भूपिण्ड का इसके महिमामण्डल के माध्यम से इस 'सागराम्बरा' उपाधि से समलंकृत करने वाला है । पायाण्डलक्षण भूपिण्ड के इसी अग्न्यापोमय स्वरूप को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही हमें पार्थिव यशोऽण्ड, एवं चान्द्ररेतोऽण्ड, दोनों का स्वरूपसमन्वय करना है ।

महावयवभूपिण्ड का उत्पन्न कर अपने इस पोषाण्ड के आधार पर तद्गर्भीभूत हृदयस्थ पार्थिव प्रजापति ने आगे जाकर यह कामना की कि, 'मेरे गर्भ में पिण्डस्वरूपसम्पादक चित्य-चर-अग्नि का आधार भूत जो चितेनिधेय-अक्षररूप-प्राणाग्नि है उससे 'वायु' उत्पन्न हो, इस वायु से अन्तर्यामात्मना प्राणात्मक आदित्य का आविर्भाव हो, एवं इस प्रकार प्राणाग्नि-प्राणवायु-प्राणादित्यरूप देवसमष्टि से मैं पार्थिव महिमा-मण्डलरूप में परिणत होता हुआ 'यशोऽण्ड' रूप में परिणत हो जाऊँ'' । तदैवाभूत । तदैव समजायत प्रजापतिः । ततो यशोऽण्डसर्गः समजायत ।

(२३५)—भूपिण्ड, और पृथिवी—

भूपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित प्राणाग्नि का इन्द्र-यम-लक्षण इन्द्रप्रविष्ट ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-मूर्ति अन्तर्य्यामी के प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा के आधार पर आगति-गतिरूप-इन्द्राविष्णु की प्रतिस्पर्द्धा से तथाकथित पार्थिव आप के आधार पर ऊर्ध्व वितान होता है, जिस वितान को शाब्दिक भाषा में 'प्रथन' कर्म कहा गया है, जिसका लौकिक अर्थ है—'फैलाव-विस्तार'। इस प्रथनभाव के कारण ही यह विवर्त भौमाग्निमण्डल 'यदप्रथयत-तस्मात् पृथिवी' इत्यादि नैगमिक निर्वचन के अनुसार 'पृथिवी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जिस प्रकार किसी महामानव की महिमा ही उसका 'यश' कहलाता है, तथैव यह महिमामण्डल भौमप्रजापति का क्योंकि यश—स्थानीय ही है। अतएव इसे वैज्ञानिकों ने 'यशोऽण्ड' नाम से व्यवहृत किया है। 'इन्द्रश्च विष्णु यदप-स्पृधेथा त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्' के अनुसार यह पार्थिववितानलक्षण प्रथनभाव स्तोमभेद से तीन संस्थाओं में विभक्त हो जाता है। त्रिवृत-पञ्चदश,-एकविंश, इन तीन स्तोमों से अनुप्राणित पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ—नामक तीन पार्थिव लोकों में अग्नि के क्रमशः अग्नि (घनाग्नि)-वायु-(तर० ग्नि) आदित्य (विरलाग्नि), ये तीन स्वरूप व्याप्त हो जाते हैं, यही भौम अग्नि का त्रिधा वितान है, जिसका स्वरूपविश्लेषण पूर्व में 'वैश्वानर' स्वरूप के प्रसङ्ग में भी किया जा चुका है, एवं पूर्व परिच्छेदों में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूपक सर्वत्र जीवात्मा के स्वरूपप्रसङ्ग में भी विश्लेषण किया जा चुका है। भूकेन्द्र से २१वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त ६-१५-२१ स्तोमात्मक पृ० अ० द्यौ—इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टिरूपा महिमालक्षणा यह पृथिवी ही भूपिण्ड का वह यशोऽण्ड है, जिसके अन्त में आदित्य प्रतिष्ठित है, अतएव 'आदित्यो वै यशः' रूप से अन्त के आदित्यसम्बन्ध से भी इस मण्डलभाग को 'यशोऽण्ड' कहना अन्वर्थ बन जाता है।

(२३६)—युग्म-अयुग्म-स्तोमस्वरूपपरिचय—

'कि तत् सहस्रमिति? इमे लोका इमे वेदा, अथो वागिति ब्रूयात्' इत्यादि पूरकभूतक वाक्-तत्त्व के साथ ही उस सुप्रसिद्धा 'वाक्षट्कारस्वरूपा' 'वषट्कारविद्या' का सम्बन्ध है, जिसके आधार पर अयुग्म-स्तोम-युग्मस्तोम, रूप से पार्थिव महिमामण्डल का त्रिधा वितान हुआ करता है। त्रिवृत्[१]-पञ्चदश[२]-एकविंश[३]- त्रिणव[४]-त्रयस्त्रिंश -चतुर्विंश[५] (९-१५-२१-२७-३३-२४) ये अयुग्मस्तोम हैं, इन्हीं वाङ्मय षट्स्तोमों से वाङ्मय विवर्त्त 'वषट्कार' (वाक् का षट्कार) कहलाया है। गायत्रीछन्द से छन्दित गायत्र चतुर्विंश स्तोम, त्रिष्टुप्छन्द से छन्दित त्रैष्टुभ चतुश्चत्वारिंशस्तोम, एवं जगतीछन्द से छन्दित जागत अष्टाचत्वारिंश-स्तोम, (२४-४४-४८ स्तोम) इन तीन स्तोमों की समष्टि ही युग्मस्तोम कहलाए हैं, जो छन्दःसम्बन्ध से 'छन्दोमास्तोम' नाम से व्यवहृत हुए हैं, एवं जिनके आधार पर प्रतिष्ठित वैध छन्दोमायज्ञ से शतायुर्मानव की आयु में ४८ वर्ष की वृद्धि हो जाया करती है। तात्पर्य, पार्थिवतत्त्वों के वितान की अन्तिम सीमा ४८वाँ अहर्गण माना गया है, जो अन्तिम पृष्ठ 'नाकपृष्ठ'-'पारावतपृष्ठ' आदि पारिभाषिक नामों से व्यवहृत हुआ है। २१ पर्य्यन्त अग्नि, २७ पर्य्यन्त पार्थिव भास्वर सोम, ३३ पर्य्यन्त दिक्सोम, इस प्रकार ३३ पर्य्यन्त व्याप्त अयुग्मस्तोमों में पार्थिव अग्नीषोम वितत रहते हैं, जो एक स्वतन्त्र पार्थिवमण्डल है। ३४वाँ स्तोम अग्नीषोममयप्रजात्मक प्राजापत्यस्तोम है, जिसे 'सर्वस्तोम' भी कहा गया है। इसी के लिए—'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः' यह निगमवचन प्रतिष्ठित है। और यही अग्नि, सोम, नामक इन अक्षरों का अयुग्मस्तोमानुगत—

चान्द्रपट्टारसाद्गण–स्वतन्त्र पार्थिव विवर्त्त है, जिसमें महाविश्वानुगता त्रैलोक्यत्रिलोकी का उपभोग सुसमन्वित हो रहा है, जो पार्थिव स्वरूप से सम्बन्धित एक बड़ा ही रहस्यपूर्ण विषय है। दुर्भाग्य है यह इस राष्ट्र का कि, अपनी मौलिक निगमरहस्यपरम्परा को विस्तृत कर आज इसने अपना सर्वस्व विस्मृत कर दिया है, जिसके फलस्वरूप वर्त्तमान उन नवविज्ञानवादियों की आपातरमणीया सर्वथा भ्रान्तदृष्टि में निगमयुग का वह जगद्गुरु भी भारतवर्ष आज आलोच्य प्रमाणित हो रहा है।

(२३७) आदर्शोदरसन्निभा भगवती, और आलोचक—

कुछ समय पूर्व अमुक स्थान से अमुक भारतीयों के ही प्रयास से 'विश्वभारती' नामक एक खण्ड–चतुष्टयात्मक महान् ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। कहना न होगा कि, भारतीय मौलिक संस्कृति के गन्धव–स्खलन–रूप आचारमीमांसाशून्य (नैगमिक व्याख्याशून्य) केवल वर्त्तमान दार्शनिक दृष्टिकोण से अनुप्राणित कुछ एक परिमित लेखों को छोड़ कर उस विश्वभारती में वर्त्तमान क्षणिक विज्ञानवादियों के उच्छिष्ट का ही समावेश था, जिन में स्थान स्थान पर उनकी काल्पनिक मान्यता के आधार पर पूर्वजों को पाषाणयुग लौहयुग–आदि काल्पनिक युगों से समतुलित करते हुए तत्सम्पादकों तल्लेखकोंने पश्चिम के विज्ञान का ही यशोगान किया है। यशोगान का हम समादर करते हैं। किन्तु इसके साथ उन्होंने जो अपनी कहानियों में (पृथिवी की कहानी, सूर्य्य की कहानी, आदि में) भारतीय निगमागममान्यताओं की उपहास-मिश्र आलोचना की है, उसे देखते हुए अच्छा था वे उस निबन्ध का 'विश्वभारती' नामकरण न कर–'प्रतीच्योच्छिष्टपुराणगाथा' ही नाम स्थापित कर 'भारती' नाम के तो गौरव को अक्षुण्ण बनाए रखने का महत्पुण्यार्जन कर लेते। जाने दो तावत्। अपनी कहानियों में उन्निबन्धों के मान्य लेखकोंने पौराणिक मान्यताओं का नग्न उपहास किया है। उदाहरण के लिए —"पृथिवी कच्छप की पीठ पर है, चन्द्रमा सूर्य्य से ऊपर है, आदि पौराणिक मान्यताओं से प्रभावित मानव जब वर्त्तमान प्रत्यक्ष विज्ञानों के आधार पर वास्तविक स्थिति पर पहुँचता है, तो उसे आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है, और अपनी मान्यताओं के प्रति स्वयं ही उसकी अश्रद्धा हो जाती है" इत्यादि भावाभिव्यक्ति ही पर्य्याप्त मान ली जायेगी।

कहते हैं, जब बनारस के हिन्दू कालेज में किसी भारतीय के द्वारा यह प्रस्ताव उपस्थित हुआ कि "यहां पौराणिक भूगोल का भी शिक्षापद्धति में समावेश होना चाहिए", तो किसी तत्रत्य पाश्चात्य विद्वान् ने उपहासपूर्वक मन्दहास करते हुए ये उद्गार प्रकट करने का अनुग्रह किया था कि "जो पुराण पृथिवी पर सात समुद्र मानता है, जिस पुराण के पार्थिव द्वीपोपद्वीपों का परिमाण असंख्य क्रोशात्मक है, जो पुराण समुद्रों को दूध–दही–शहद–आदि से परिपूर्ण मानने की कल्पना में विभोर है, जो कभी सर्प के फण पर, तो कभी कच्छप की पीठ पर पृथिवी को प्रतिष्ठित मानता है, जो पुराण चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर मानता है, जिसकी दृष्टि में पृथिवी आदर्शोदरसन्निभा है*, जो पृथिवी के पुष्करद्वीप में सूर्य्य मानता है, इत्यादि इत्यादिरूपेण जो पुराण सर्वात्मना कल्पनाप्रधान प्रमाणित होता हुआ प्रत्यक्षसिद्ध विज्ञान के सर्वथा

---

* 'आदर्शोदरसन्निभा भगवती' [पृथिवी]

विरुद्ध हैं, उस पौराणिक भूगोल को शिक्षापद्धति में समाविष्ट करके क्या आज के इस सभ्यता के युग में मानव के परिष्कृत मस्तिष्क को विकृत करना है" । प्रस्ताव उपस्थित करने वाले किसी उस अज्ञात पुरुषात्मक भारतीय के द्वारा प्रतीच्यविद्वान् के इस काल्पनिक आक्रमण का उस समय कोई अवरोध नहीं हो सका । निगम-शास्त्रविद् ऋषिरहस्यविज्ञानशून्य, केवल व्याकरण–न्यायन्याय–साहित्यादि परिशीलन में ही अपनी जीवनलीला समाप्त कर देने वाले तद्भारतीय के कोश में आक्षेपनिरोध के लिए शेष रह भी क्या गया था ?, सिवाय इसके कि वे मौनरूप से वहाँ से पलायित ही हो जाते ।

एकमात्र निगमनिष्ठा के माध्यम से हमें इन अप्रासङ्गिक उद्गारों का अनुगामी बनना पड़ा । पौराणिक सर्गक्रम, उनकी 'भुवनकोशविद्या' (भूगोलविद्या), ज्योतिश्चक्रविद्या' (खगोल), वृगार्गलविद्या, आदि आदि का उन निगमविद्याओं के साथ समसमन्वय है, जिस पर कदापि सन्देह नहीं किया जा सकता । हम जानते नहीं, एतावता ही निगमविद्यामूलिका पौराणिकविद्या उपहास, किंवा आलोचना का क्षेत्र बन जाय, तब तो हमें भी अपने नैगमिक दृष्टिकोण के आधार पर यह कह देने की धृष्टता कर ही लेनी चाहिए, निःसंकोच रूपेण कर ही लेनी चाहिए कि, जिसे वर्त्तमान विज्ञानवादी 'पृथिवी''पृथिवी'नाम से घोषित करता है, वह वस्तुतः है–'भूपिण्ड' । उनकी कल्पित कहानियाँ पृथिवी की कहानियाँ नहीं हैं, अपितु भूपिण्ड की कहानियाँ हैं । पृथिवी का वास्तविक स्वरूप क्या है ?, उसकी पावनगाथा क्या है ?, यह तात्त्विक दृष्टिकोण उन प्रत्यक्षवादियों की भूतदृष्टि के लिए तद्वधिपर्य्यन्त सर्वथा असमाधेय प्रश्न ही बना रहेगा, यद्वधिपर्य्यन्त वे निगमानुमोदित सुसूक्ष्म प्राणतत्त्व की प्रतिच्छाया से उपकृत नहीं हो जायँगे । तब उन्हें अवश्य ही उन यच्चयावत् पौराणिकसर्गों के प्रति अभिनतशिरस्क बन ही जाना पड़ेगा, जिन्हें वे अभी अपनी भूतावेशदृष्टि के निग्रह से काल्पनिक मानने, मनवाने की अक्षम्या भ्रान्ति कर रहे हैं । निगमपुरुष से यही कामना है कि, 'मानव' मात्र के अभ्युदय की माङ्गलिक कामना का विधान करने वाले उस वेदपुरुष के अनुग्रह से शीघ्र से शीघ्र वर्त्तमान मानव निगमनिष्ठा का अनुगामी बने, एवं सदाचारेण वह इस रहस्य को हृदयङ्गम करता हुआ प्रत्यग्रायमूला अपनी भ्रान्तियों का उन्मूलन करता हुआ पृथिवी की कहानी का वास्तविक मर्म्मज्ञ, उपासक बने, जिसकी उपासना में ही मानव का अभ्युदय–निःश्रेयस् सुरक्षित है । वह कूर्म्मप्रजापति अवश्य ही वास्तविक जिज्ञासु मानव की यथाविधा सात्त्विक कामना पूर्ण कर सकता है, जिसके कठोर करमालण पृष्ठ पर पार्थिव विवर्त प्रतिष्ठित हैं ।

'य. पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्' (शत॰ ९।१।२।१२)–'एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत'–इत्यादि श्रौतवचनानुसार सौर ज्योतिर्म्मय वह द्यावापृथिव्य परमकर्म्मा 'कश्यप' नाम से प्रसिद्ध–अर्णवसमुद्रस्य अग्निपयोमय तत्त्व ही तो वह कूर्म्म है, जिसके आधार पर सूर्य्य का प्रवर्ग्यभूत भूपिण्ड प्रतिष्ठित है । भूपिण्ड का महिमालक्षण रूप ही पृथिवी है, जिसमें त्रैलोक्य–त्रिलोकी का उपभोग बतलाया गया है । इस पृथिवी के महामहिमारूप विशाल स्वरूप का कुछ अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि, इसके आदित्य-प्राणात्मक एकविंश (इक्कीसवें) अहर्गण पर सूर्य्य प्रतिष्ठित है, जैसा कि—'एकविंशो वा इव आदित्य.' इत्यादि वचन से प्रमाणित है । यह एकविंशस्तोम ही प्राणात्मिका पृथिवी का पुराणभाषानुगत पुष्कर नामक आपोमय द्वीप का उपक्रमस्थान है, जिसे पुष्करत्वात् परोक्षभाषा में 'पुष्करद्वीप' कहा गया है । अवश्य ही प्राणपृथिवी के इस पुष्करद्वीप में ही सूर्य्य प्रतिष्ठित है । प्राणपृथिवी के त्रिणव (२७) स्तोम पर वह भास्कर सोम प्रतिष्ठित है, जिसका अत्रिप्राणात्मक पिण्डरूप ही चन्द्रमा कहलाया है जिसका रेतोऽवक से सम्बन्ध

है। एकविंशस्य सूर्य्य से परे २७वें स्तोम में क्योंकि पार्थिव सोम का साम्राज्य है, यही–भूउपग्रहात्मक चन्द्रपिण्ड का उपादान बनता है। इसी सजातीयानुबन्ध से पुराणने चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर प्रतिष्ठित मान लिया है। महापृथिवी के आग्नेयविवर्त्त की दृष्टि से ही 'आदर्शोदरसन्निभा भगवती' यह पौराणिक सिद्धान्त समन्वित है। दधि–मधु–घृत–क्षीरादि सुसूक्ष्म रसमात्राओं से समन्वित परिपूर्ण आन्तरिक्ष्य अर्णवसमुद्र के वायुभेदनिबन्धन सप्त अवान्तर स्तर ही सप्त समुद्र हैं, जो भूपिण्ड को ही पृथिवी मान बैठने वाले प्रत्यक्षवादियों की अल्पविज्ञान-दृष्टि से सदा परोक्ष–अज्ञात ही बने रहेंगे। इन सब पौराणिक रहस्यों का स्वरूपदिग्दर्शन एक स्वतन्त्र निबन्ध-सापेक्ष है। अतः इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत करते हुए पुन हम प्रकृत का अनुसरण कर रहे हैं।

(२३८)–यावद्ब्रह्मविष्ठित, तावती वाक्—

जैसाकि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है, ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम, इन पञ्चाक्षरों की समष्टि से भूतपिण्ड का स्वरूप प्रतिष्ठित रहा करता है। पाँचों में से अग्नि–साम से सम्वन्वित अयुग्म-स्तोमानुगत पृथिवीविवर्त्त एक स्वतन्त्र विभाग है। एवं ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–इन तीन अक्षरों से अनुप्राणित पार्थिव महिमविवर्त्त का एक स्वतन्त्र विभाग है, जिसके आधार पर 'विष्टप्सर्गव्यवस्था' व्यवस्थित हुई है। २४ पर्य्यन्त इन्द्राक्षर का प्राधान्य, ४४ पर्य्यन्त विष्णवक्षर का प्राधान्य, एवं ४८ पर्य्यन्त ब्रह्माक्षर का प्राधान्य है, जिसके लिए–'यावद्ब्रह्मविष्ठितं–तावती वाक्' प्रसिद्ध है। ये ही सुप्रसिद्ध 'इन्द्रविष्टप्–विष्णुविष्टप्–ब्रह्मविष्टप्' नामक तीन स्वतन्त्र विष्टप् हैं, जो क्रमशः त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप महाविश्व के रोदसी–क्रन्दसी–संयती नामक त्रिलोकियों से समतुलित हैं। केवल महापार्थिव विश्व में ही–'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' सिद्धान्तानुसार २४–४४–४८ भेद से रोदसी–क्रन्दसी–संयती लोकों का उपभोग हो रहा है। वैसे तो पृथिवी, गायत्री, जगती, मही, सागराम्बरा, मेदिनी, धरा, धरित्री, धरिणी उर्वी, आदि सभी पृथिवी के ही पर्य्याय माने जा सकते हैं। किन्तु सुसूक्ष्मदृष्टया ये शब्द महापृथिवी के तत्तद्विशेषस्तोम्यप्रार्थों के विभेद से विभिन्न पार्थिवसंस्थानों के ही वाचक माने जायेंगे। यहीं पोषाण्डरूप भूपिण्ड के आधार पर प्राण्याक्षरपञ्चक के वितान के कारण वितत महिमलक्षण पयोऽण्डरूप चतुर्थ सर्ग का संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है जिसके साथ ही पञ्चम रेतोऽण्डरूप चन्द्रसर्ग भी गतार्थ बन जाता है। शतपथब्राह्मण षष्ठकाण्ड–१ प्रपाठक–१ अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण ही इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है, जिसकी व्याख्या विस्तारभिया अत्र अशक्य मान ली गई है। यही है विश्व के स्वरूप की वह तत्त्वपूर्णा मीमांसा, जिसके भूपिण्डरूप तृतीय पर्व, पृथि वीरूप चतुर्थपर्व, चन्द्रमारूप पञ्चमपर्व से सम्बद्ध पोषाण्ड–पयोऽण्ड–रेतोऽण्ड–भावों का यही संक्षिप्त स्वरूपप्रदर्शन है, जो परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—

त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षणा-पृथिवी-स्वरूपपरिलेखः—

९	१ अष्टाचत्वारिंशस्तोम	(४८)	ब्रह्माक्षरप्रधानः		—हृदयस्तोमत्रयी१ (संयतीपृथिवी)
८	२ चतुश्चत्वारिंशस्तोम	(४४)	विष्णवक्षरप्रधानः		
७	३ चतुर्विंशस्तोमः	(२४)	इन्द्राक्षरप्रधानः		
६	१ चतुर्स्त्रिंशस्तोमः	(३४)	दिक्सोमाक्षरप्रधानौ		—सामस्तोमत्रयी२ (क्रन्दसीपृथिवी)
५	२ त्रयस्त्रिंशस्तोमः	(३३)			
४	३ त्रिणवस्तोमः	(२७)	भास्वरसोमाक्षरप्रधानः		
३	४ एकविंशस्तोमः	(२१)	अग्न्यक्षरप्रधानाः		अग्निस्तोमत्रयी३ (रोदसीपृथिवी)
२	५ पञ्चदशस्तोमः	(१५)			
१	६ त्रिवृत्स्तोमः	(९)			

स्तोमानुगत-महापृथिवी-स्वरूपपरिलेखः—

१	(१)	४८ स्तोमः द्यौः	(ब्रह्मलोकः)	संयती—त्रैलोक्याधिष्ठाता ब्रह्मा (ब्राह्मी पृथिवी) —मनोमयी पृथिवी— अत्र स्वयम्भूमनुः प्रतिष्ठितः
	(२)	४४ स्तोमः अन्तरिक्षम्	(विष्णुलोकः)	
	(३)	२४ स्तोमः पृथिवी	(इन्द्रलोकः)	
२	(१)	३४ स्तोमः द्यौः	(प्रजापतिलोकः)	क्रन्दसी—त्रैलोक्याधिष्ठाता विष्णुः (वैष्णवी पृथिवी)—प्राणमयी पृथिवी— अत्र हिरण्यगर्भमनुः प्रतिष्ठितः
	(२)	३३ स्तोमः अन्तरिक्षम्	(दिक्लोकः)	
	(३)	२७ स्तोमः पृथिवी	(चन्द्रलोकः)	
३	(१)	२१ स्तोमः द्यौः	(आदित्यलोकः)	रोदसी—त्रैलोक्याधिष्ठाता इन्द्रः (ऐन्द्रीपृथिवी) —वाङ्मयी पृथिवी— अत्र विराड्मनुः प्रतिष्ठितः
	(२)	१५ स्तोमः अन्तरिक्षम्	(वायुलोकः)	
	(३)	९ स्तोमः पृथिवी	(अग्निलोकः)	

त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षणा-पृथिवी-स्वरूपपरिलेखः—

९	१ अष्टाचत्वारिंशस्तोम – (४८)	ब्रह्मावयवप्रधानः		—हृदयस्तोमत्रयी१ (संयतीपृथिवी)
८	२ चतुश्चत्वारिंशस्तोम – (४४)	विष्ण्ववयवप्रधानः		
७	३ चतुर्विंशस्तोमः (२४)	इन्द्रावयवप्रधानः		
६	१ चतुस्त्रिंशस्तोमः (३४)	दिक्सोमावयवप्रधानौ		—सामस्तोमत्रयी२ (क्रन्दसीपृथिवी)
५	२ त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)			
४	३ त्रिणवस्तोमः (२७)	भास्वरसोमावयवप्रधानः		
३	४ एकविंशस्तोमः (२१)	अग्न्यवयवप्रधाना		अग्निस्तोमत्रयी३ (रोदसीपृथिवी)
२	५ पञ्चदशस्तोमः (१५)			
१	६ त्रिवृत्स्तोमः (९)			

—०—

स्तोमानुगत-महापृथिवी-स्वरूपपरिलेखः—

१	(१)	४८ स्तोमः द्यौः (ब्रह्मलोकः)	संयती—त्रैलोक्याधिष्ठाता ब्रह्मा (ब्राह्मी पृथिवी) —मनोमयी पृथिवी— अत्र स्वयम्भूमनुः प्रतिष्ठितः
	(२)	४४ स्तोमः अन्तरिक्षम् (विष्णुलोकः)	
	(३)	२४ स्तोमः पृथिवी (इन्द्रलोकः)	
२	(१)	३४ स्तोमः द्यौः (प्रजापतिलोकः)	क्रन्दसी—त्रैलोक्याधिष्ठाता विष्णुः (वैष्णवी पृथिवी)—प्राणमयी पृथिवी— अत्र हिरण्यगर्भमनुः प्रतिष्ठितः
	(२)	३३ स्तोमः अन्तरिक्षम् [दिक्सोमाः)	
	(३)	२७ स्तोमः पृथिवी (चन्द्रलोकः)	
३	(१)	२१ स्तोमः द्यौः (आदित्यलोकः)	रोदसी—त्रैलोक्याधिष्ठाता इन्द्रः (ऐन्द्रीपृथिवी) —वाङ्मयी पृथिवी— अत्र विराड्मनुः प्रतिष्ठितः
	(२)	१५ स्तोमः अन्तरिक्षम् (वायुलोकः)	
	(३)	९ स्तोमः पृथिवी (अग्निलोकः)	

प्रकारान्तरेण—भूः-भुवः-स्वः-व्याहृतिलक्षणा-महापृथिवीस्वरूपपरिलेखः——
१–स्वः (४८ स्तोम -प्राजाः)–द्यौ
२–भुवः (४४ स्तोम -वैष्णव)–अन्तरिक्षम्
३–भूः (२४ स्तोम -एन्द्र)–पृथिवी
प्रथमत्रिलोकी——
१ स्वः (द्यौ)
१–स्वः (२४ स्तोम प्राजापत्य)–द्यौ
२–भुवः (३३ २७ स्तोमौ सौम्यौ)–अन्तरिक्षम्
३–भूः (२१ स्तोम -आदित्य)–पृथिवी
द्वितीयत्रिलोकी——
२ भुवः (अन्तरिक्षम्)
१–स्वः (२१ स्तोम -आदित्य)–द्यौ
२–भुवः (१५ स्तोम -वायव्य)–अन्तरिक्षम्
३–भूः (९ स्तोम -आग्नेय)–पृथिवी
तृतीयत्रिलोकी
संयतीत्रैलोक्यम् १
क्रन्दसीत्रैलोक्यम् २
भूः (पृथिवी ३)
रोदसी त्रैलोक्यम् १
भूः——
भास्वराण्ड——
म——
हिरण्मयाण्ड——
हि——
रसोऽण्ड——
मा——
यशाऽपञ्चलक्षणा सर्वरसा महापृथिवी
भूपिण्ड——
पोपाण्डरूप

प्रकरान्तरेण—विश्वस्वरूपमीमांसानुगतमहाविश्वस्वरूपपरिलेख —

तेजोऽवन्नमायानां त्रिवृद्भावेन निष्पन्ना सर्वलोकात्मिका त्रैलोक्यत्रिलोकी—

सर्वलोकपर्व-सङ्ग्राहकश्रौतवचनानि—

(१)—पञ्चाण्डसर्गप्रतिष्ठा प्रभव-परायणमूल पञ्चाण्डाधिष्ठातृ-ब्रह्मत्रयीमूर्त्ति –
स्वयम्भूः' ।

(१)—सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत–'भूयान्त्स्यां, प्रजायेय', इति । सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत । स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत,–त्रयीमेव विद्याम् (ब्रह्मनि श्वसितरूपामपौरुषेयाम्) । सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत् । तस्मादाहुः–'ब्रह्म' (स्वयम्भू) अस्य सर्वस्य (अण्डात्मकविश्वस्य) प्रतिष्ठा' इति । प्रतिष्ठा ह्येषा, यद्ब्रह्म (स्वयम्भूः) । (शत० ६।१।१।८) ।

—१—

(२)—अण्डचतुष्टयजनकः जनर्ल्लोकात्मकः-आपोमय -'अस्त्वण्ड'' रूप परमेष्ठी'
(स्वयम्भ्वुपग्रहरूपः)

(२)—तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोत्–यदिदं किञ्च । यदाप्नोत्–तस्मादापः । यदवृणोत्, तस्माद्वाः [वारि] । सोऽकामयत–'आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेय' इति । सोऽनया त्रय्या विद्यया सह अपः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत । तमभ्यमृशत्–'अस्तु'' इति । भूयोऽस्तु, इत्येव तदब्रवीत् । (शत० ६।१।१।९, १०) ।

—२—

(३)—अण्डत्रयीजनकः-स्वर्लोकात्मकः—अग्निमयः-'हिरण्मयाण्ड-रूपः''सूर्य्य'
(परमेष्ठ्युपग्रहरूपः)

(३)—ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या [गायत्रीछन्दमात्रिकसौरवेदविद्या×] । तस्मादाहुः–ब्रह्म (गायत्रीमात्रिकवेदात्मकसौरप्रजापतिः) अस्य सर्व्वस्य (रोदसी-

× यदेतन्मण्डलं तपति–तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः । अथ यदर्चिर्दीप्यते–तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः–सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति (गायत्रीमात्रिकरूपा) । (शत० १०।५।२।१,२)

अण्डस्य) प्रथमजम्, इति — । तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत । मुख ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म । (शत० ६।१।१।१०) आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास । ता अकामयन्त–'कथ नु प्रजायेमहि' इति । ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त । तासु तपस्तप्यमानासु 'हिरण्मयाण्ड'' सम्बभू । । (शत० ११।६।१।१।)

——३——

(४)—अण्डद्वयीजनक —भूलोकात्मकः सर्वभूतमय —'पोगाण्डरूप' 'भूपिण्ड'

(सूर्य्योपग्रहरूप)

(४)—असुद्वा इय प्रतिष्ठेति, तद् भूमिरभवत् । सोऽकामयत प्रजापतिः (पार्थिवः)–'भूय एव स्यात्, प्रजायेय' इति । सोऽग्निना मिथुनं समभवत् । तत आण्ड समवर्त्तत । तमभ्यमृशत्–'पुष्यतु'' इति । भूयोऽस्तु, इत्येव तदब्रवीत् । (श० ६।१।२।१)

——४——

(५)–'यशोऽण्डरूपा'' आग्नेयी–'पृथिवी''

(५)—सोऽकामयत–'भूय एव स्यात्, प्रजायेय' इति । स (अग्निमूर्त्तिर्सौम-प्रजापतिः केन्द्रस्थ)–वायुना मिथुन समभवत् । तत आण्ड समवर्त्तत । तदभ्यमृशत्–'यशो'' विभृहि– इति । ततोऽसावादित्योऽसृज्यत । एष वै यशः । (सैषा अग्नि–वायु–आदित्यरूपा–यशोऽण्डलक्षणा पृथिवी वषट्कारात्मिका) (शत० ६।१।२।३।) ।

——५——

(६)–'रेतोऽण्डरूप''–सौम्यश्चन्द्रमा'–(भूमेरुपग्रहरूप)

(६)–सोऽकामयत–'भूय एव स्यात् प्रजायेय' इति । स आदित्येन मिथुन समभवत् । तत आण्ड समवर्त्तत । तदभ्यमृशत्–'रेतो'' विभृहि– इति । ततश्चन्द्रमा असृज्यत । एष वै रेतः * । (शत० ६।१।२।४) ।

——६——

— हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुःसं० २५।१०) ।

* विचक्षणात् [चन्द्रमसः] ऋतवो रेत आभृतम् ।

—कौ० ब्रा० उप० १।२।

(२३९)—न विश्वमूर्तेरवधार्य्यते वपुः—

पूर्वोक्त "ओमित्र वा इदमग्र आसीत्-स्वयम्भु-एकमेव" (गो० पू० ११) इत्यादि गोपथ-ब्राह्मण-वचन के रहस्यार्थसमन्वय के लिए (देखिए पृ० सं० ३३७) हमें शास्त्रमयी भक्ति के प्रासङ्गिक समन्वय के माध्यम से आपोमयी सृष्टि से अनुप्राणित पञ्चावयसृष्टि का सङ्क्षिप्त इतिवृत्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना पड़ा, जिस सृष्टि का मूल बना स्वयम्भूमनु। अव्ययात्मनिबन्धन काममय-मनोमय मनु से कैसे विश्वोत्पत्ति हुई?, कामना का क्या स्वरूप है?, अव्ययाक्षरात्मक्षरादि आत्मविवर्तों का मौलिक रूप क्या है?, किन किन साधन-परिग्रहों से कामना के द्वारा मनुप्रजापति विश्वसर्ग में समर्थ बनते हैं?, स्तम्भ के आरम्भ से (पृ० सं० ३३६ से) अबतक 'विश्वस्वरूपमीमांसा' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों के समाधान-समन्वय की चेष्टा हुई है। मानव जिस विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित है, उस विश्व के स्वरूपबोध के बिना क्योंकि मानव की प्रातिस्विक मौलिक प्राकृतिक समस्याओं का समन्वय असम्भव है। अतएव प्रस्तुत भावुकतानिबन्ध में हमें विश्व की स्वरूपमीमांसा का अनुगमन करना पड़ा, एवं इसी प्रसङ्ग से मानव की मूलप्रतिष्ठालक्षणा 'मनु' के मौलिकस्वरूप का इतिवृत्त भी पाठकों के सुम्मुख उपस्थित हुआ। अब इस सम्बन्ध में (विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में) सनातनधर्मनिष्ठ आस्थाश्रद्धापरायण भारतीय हिन्दू मानव की 'चतुर्धामयात्रा' के पावन संस्मरण के आधार पर हम 'विश्वधामचतुष्टयी' रूप से इस विश्वस्वरूपमीमांसा का समन्वय करते हुए इस विश्वमूर्ति के प्रति अपनी यही श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं कि-'न विश्वमूर्तेरवधार्य्यते वपुः'।

(२४०)—धामचतुष्टयी-स्वरूपपरिचय—

सनातनप्रजा में 'चारो धामों की यात्रा' सुप्रसिद्ध है। आस्तिक भावुक मानव इन धामों की यात्रा से जहाँ मनस्तुष्टि का अनुभव करता है, वहाँ आस्तिक नैष्ठिक मानव इन मान्यतानुबन्धी धामों के माध्यम से आस्था-विश्वासानुप्राणित 'विश्वधामचतुष्टयी' के प्रति अपना आत्मार्पणभाव अभिव्यक्त करता हुआ बुद्धितुष्टि-आत्मशान्ति का अनुगामी बन रहा है। पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप को लक्ष्य बनाइए, एवं 'धाम' रूप से इनकी स्वरूपरूपा यात्रा कर मानवजीवन को निष्ठासमन्वित कीजिए, जिन-विश्वधामचतुष्टयीरूप चारों धामों को हम 'अनन्तधाम', परमधाम, मध्यमधाम, अवमधाम, इन अभिधाओं से समन्वित करेंगे। स्वयम्भूब्रह्म को 'अनन्तधाम' माना जायगा, जिसे 'विरजा-परोरजा-ब्रह्मलोक' कहा गया है। परमेष्ठी को 'परमधाम' कहा जायगा, सूर्य्य को 'मध्यमधाम' माना जायगा, एवं सचन्द्र पार्थिव विवर्त को 'अवमधाम' घोषित किया जायगा। इन धामों की प्रामाणिकता के लिए निम्नलिखित निगमवचनों की ओर धामयात्राश्रद्धालु-मानवों का ध्यान आकर्षित किया जायगा—

> (१)—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
> स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥
>
> (२)—किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
> यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥

(३)—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
स बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
(४)—किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥
(५)-या ते धामा नि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥
(६)—विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥
(७)—वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्म्मा॥
—ऋक्संहिता १० मं०। ८१ सूक्त—१ से ७ मन्त्रपर्य्यन्त।
(८)—यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥
(९)—परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥
(१०)—तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥
(११)—न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥
—ऋक्संहिता १० मण्डल। ८२ सूक्त। ३, ५, ६, ७ मन्त्र।
१२—अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥
१३—तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥
—ऋक्सं० १ मण्डल १६४ अस्यवामीयसूक्त—६,१०, मन्त्र।
१४—तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु॥
—ऋक्सं० २ मण्डल २७ सूक्त ८ मन्त्र।

(२३९)—न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः—

पूर्वोद्धृत "ओमिन्द्र वा इदमग्र आसीत्-स्वयम्भु-एकमेव" (गो० पू० ११) इत्यादि गोपथ ब्राह्मण-वचन के रहस्यार्थसमन्वय के लिए (देखिए पृ० सं० ११७) हमें शातपथी श्रुति के प्रासङ्गिक समन्वय के माध्यम से आपोमयी सृष्टि से अनुप्राणित पञ्चाण्डसृष्टि का संक्षिप्त इतिवृत्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना पड़ा, जिस सृष्टि का मूल बना स्वयम्भूमनु । अध्ययात्मनिबन्धन काममय-मनोमय मनु से कैसे विश्वोत्पत्ति हुई ?, कामना का क्या स्वरूप है ?, अभ्ययाचरत्मचरादि आत्मविवर्तों का मौलिक रूप क्या है ?, किन किन साधन-परिग्रहों से कामना के द्वारा मनुप्रजापति विश्वसर्ग में समर्थ बनते हैं ?, स्तम्भ के आरम्भ से (पृ० सं० ११६ से) प्रक्रान्त 'विश्वस्वरूपमीमांसा' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों के समाधान-समन्वय की चेष्टा हुई है । मानव जिस विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित है, उस विश्व के स्वरूपबोध के बिना क्योंकि मानव की प्रातिस्विक मौलिक प्राकृतिक समस्याओं का समन्वय असम्भव है । अतएव प्रस्तुत भावुकतानिबन्ध में हमें विश्व की स्वरूपमीमांसा का अनुगमन करना पड़ा, एवं इसी प्रसङ्ग से मानव की मूलप्रतिष्ठालक्षणा 'मनु' के मौलिकस्वरूप का इतिवृत्त भी पाठकों के सुम्मुख उपस्थित हुआ । अब इस सम्बन्ध में (विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में) सनातनधर्मनिष्ठ आस्थाश्रद्धापरायण भारतीय हिन्दू मानव की 'चतुर्धामयात्रा' के पावन संस्मरण के आधार पर हम 'विश्वधामचतुष्टयी' रूप से इस विश्वस्वरूपमीमांसा का समन्वय करते हुए इस विश्वमूर्त्ति के प्रति अपनी यही श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं कि-'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः' ।

(२४०)—धामचतुष्टयी-स्वरूपपरिचय—

सनातनप्रजा में 'चारो धामों की यात्रा' सुप्रसिद्ध है । आस्तिक भावुक मानव इन धामों की यात्रा से जहाँ मनस्तुष्टि का अनुभव करता है, वहाँ आस्तिक नैष्ठिक मानव इन मान्यतानुबन्धी धामों के माध्यम से आस्था-विश्वासानुप्राणित 'विश्वधामचतुष्टयी' के प्रति अपना आत्मार्पणभाव अभिव्यक्त करता हुआ बुद्धितृप्ति आत्मशान्ति का अनुगामी बन रहा है । पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप को लक्ष्य बनाइए, एवं 'धाम' रूप से इनको तत्स्वरूपा माना कर मानवजीवन को निश्चयमन्वित कीजिए, जिन-विश्वधामचतुष्टयीरूप चारों धामों को हम 'अनन्तधाम'[१], परमधाम[२], मध्यमधाम[३], अवमधाम[४], इन अभिधानों से समन्वित करेंगे । स्वयम्भूब्रह्म को 'अनन्तधाम' माना जायगा, जिसे 'विरज-परोरजा-ब्रह्मलोक' कहा गया है । परमेष्ठी को 'परमधाम' कहा जायगा, सूर्य्य को 'मध्यमधाम' माना जायगा, एवं सचन्द्र पार्थिव त्रिवृत्' को 'अवमधाम' घोषित किया जायगा । इन धामों की प्रामाणिकता के लिए निम्नलिखित निगमवचनों की ओर धामयात्राश्रद्धालु-मानवों का ध्यान आकर्षित किया जायगा—

> (१)—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः ।
> स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरॉं आ विवेश ॥
>
> (२,-किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।
> यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥

विश्वस्वरूपप्रतिपादक उक्त ऋक्मन्त्रों के रहस्यार्थविश्लेषण के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत निबन्ध का आकार भी बहुविस्तृत बनता जा रहा है। अतएव प्रकृत में मन्त्र के अक्षरार्थमात्र पर ही हमें सन्तोष कर लेना पड़ेगा। मन्त्र मननीय हुआ करते हैं। न तो अक्षरार्थ से ही ऋषिवाणी का तत्त्व हृदयङ्गम बना करता, नाहीं भाष्य–व्याख्या–सहस्रों से इस आत्मानुगता वाणी का वास्तविक तथ्य आत्मानुगामी बना करता। इसके लिए तो सत्य–अहिंसा–श्रद्धा–अनसूया–आदि भावों के माध्यम से अनन्यनिष्ठापूर्वक विहित दीर्घकालिक स्वाध्याय, तदनुगत ऐकान्तिक मनन ही एकमात्र आर्षपथ माना गया है। वैसे इतर सभी उपाय-साधन केवल तात्कालिक 'क्षणद्‌शान्ति' के अतिरिक्त और कोई स्थिर संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकते।

(२४१) 'य इमा विश्वा भुवनानि०' मन्त्रार्थसमन्वय—(१)

(१) (अपने आपकी सृष्टिकर्म्म-सम्पादन के लिए आहुति देने से) होता (नाम से प्रसिद्ध) ऋषि (प्राणमूर्त्ति) जो हमारा (सम्पूर्ण चर अचर का) पिता (सर्वप्रभव प्रजापति इन सम्पूर्ण भुवनों को अपने आप में आहुत कर रहा है, वह प्राणमूर्त्ति पिता प्रजापति (मेरा यह सर्ग समृद्ध बने, इस सहज कामनारूप) आशी से विश्ववैभव की कामना के लिए स्वयं प्रथमस्थानीय बनता हुआ अपने अवर सर्गों के गर्भ में प्रविष्ट हो गया।

सर्वश्री सायणाचार्य्य ने मन्त्र का जो भाष्य किया है, उसकी आलोचना इसलिए उपेक्षणीय है कि, उस आलोचना से नैष्ठिक मानव की कोई प्रयोजनसिद्धि नहीं है। "यो विश्वकर्म्मा–एतन्नामकः ऋषि–होमं कुर्वन्–सूक्ष्माकारविना स्वर्गमिच्छमानः" इत्यादिरूप से मन्त्रव्याख्यान करते हुए सायण अपनी यह मान्यता व्यक्त कर रहे हैं कि, विश्वकर्म्मा नामक किसी महर्षि ने [मानवने] सर्वमेदस् नामक सर्वहुतयज्ञ से स्वर्गगति प्राप्ति कर ली'। अप्रकरणम्! अप्रकरणम्!! पारस्परिक परिभाषाविलुप्ति से वेदार्थसमन्वय के सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति से एकान्ततः विरुद्ध सर्वथा काल्पनिक–निर्मूल इस प्रकार का व्याख्यान-भाष्य न होता, तो अधिक श्रेयस्कर था। 'प्राणा वा ऋषयः। ते सर्वस्मादिदमिच्छन्त' श्रमेण तपसा अरिषं–स्तस्मादृषयः' (शत ६।१।१।१) 'पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्य०' (ईशोपनिषत्)–इत्यादि वचनानुसार मौलिक सन्मूर्त्ति अतएव 'असत्' नामक स्वायम्भुव उस स्वर्तप्राण का ही नाम 'ऋषि' है, जो अपने सत्यपुरुष पुरुषात्मक प्राजापत्यरूप से सर्वसर्गप्रभव बनता हुआ 'विश्वकर्म्मा-स्वयम्भू' आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। जिसके आदान–प्रदानात्मक सर्वाहुतिलक्षण सर्वहुतयज्ञ का–'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' (यजुःसं ३१।७) इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियों से स्पष्टीकरण हुआ है, प्रकृत प्रथम मन्त्र ऋषिप्राणमूर्त्ति–सर्वहुतयज्ञाधिष्ठाता त्रयीवेदलक्षण सत्यपुरुषपुरुषात्मक इसी स्वयम्भू के सर्ग की रहस्यता व्यक्त कर रहा है, जिसके इस आम्नायसिद्ध क्रम के विस्मृत हो जाने से ही व्याख्याताओंनें भावुकता के आवेश में आकर 'मामयं महरिष्यति' को ही अपवर्ग बना डाला है। सम्पूर्ण भूतों को अपने आप में आहुत कर लेना, अपने आप को 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से सम्पूर्ण भूतों में आहुत कर देना, सृष्टि का त्रिवृत्करणात्मक, तथा पञ्चीकरणात्मक यह क्रम ही तो उस 'सर्वहुत' नामक यज्ञक्रतु का स्वरूपसम्पादक बना करता है जिसके आधारपर 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'–'सर्व खल्विदं ब्रह्म' प्रजापतिस्त्वेवेदं

सर्वं यदिदं किञ्च, सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः, इत्यादि सञ्चर (सर्ग)-प्रतिसञ्चर (प्रतिसर्ग) भावद्वयी के समर्थक वचन प्रतिष्ठित हैं। निम्नलिखित ब्राह्मणवचन के द्वारा सर्वाहुतिलक्षण विश्व स्वायम्भुव यज्ञ का स्वरूप-व्याख्यान हुआ है, प्रस्तुत-'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः' इत्यादि प्रथम मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत—न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्त—'अहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि' इति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि [हुत्वा] सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्य–स्वाराज्यं–आधिपत्यं–पर्यैत्। परमो वा एष यज्ञक्रतूनां, यत्सर्वमेध [सर्वहुतः]।"

—शत० १३,७,१,१,२।

(२४२) किंस्विदासीदधिष्ठानम्० मन्त्रार्थसमन्वय—(२)

(२) (सर्वहुतयज्ञप्रवर्त्तक–यज्ञाधिष्ठाता ऋषिप्राणमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक विश्वकर्म्मा प्रजापति ने भुवन उत्पन्न किए, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार इन अक्षर भुवनों में यह प्रथमजन्मा स्वयम्भू ब्रह्म प्रविष्ट हो गए, इस प्रकार से सर्वात्मना 'विश्वकर्म्मा'–'विश्वेश्वर' उपाधि से अन्वर्थ प्रमाणित हो गए। इनके सम्बन्ध में इस प्रकार की सहज प्रश्नपरम्परा उपस्थित होती है कि)—'इस पाञ्चभौतिक महाविश्व का अधिष्ठान (आधार) तो क्या था? (क्या स्वरूप था उस आलम्बन कारण का?), आरम्भण (उपादानकारण) क्या और कैसा था?, इस प्रकार कैसे उससे सर्ग हुआ (अर्थात् निमित्तकारण क्या था?) किस आलम्बन उपादान–निमित्तकारणत्रयी की समष्टि से विश्वकर्म्मा प्रजापति ने 'भूमि' को उत्पन्न करते हुए अपनी महिमा से इस विश्वव्यापी द्यौर्मण्डल का भी वितान कर दिया।

प्रश्नोपस्थिति का मूल यह बना कि, लोकवर्गों के लौकिक उपादानों में हम आलम्बन–उपादान–निमित्त आदि कारणों का पार्थक्य उपलब्ध कर रहे हैं। आधार कुछ और होता है, उपादानकारण अन्य ही होता है, निमित्त कोई दूसरा ही बना करता है। घटनिर्माणप्रक्रिया में पार्थिवधरातल से अनुप्राणित कुलालचक्र आधार है, मृत्तिका उपादान है, कुम्भकार निमित्त है। जबकि विश्वकर्म्मा स्वयम्भू एक ही रूप हैं, तो उनके साथ विभिन्न नामगुणकर्म्मसमन्वित विभिन्न तीन कारणों का सम्बन्ध कैसे समन्वित हो गया?, एक विश्वकर्म्मात्मा विभिन्न तीन कारणात्मा कैसे बन गए?, यही प्रश्न है, जिसका पूर्व परिच्छेदों में अधिष्ठानरूप अव्ययात्मा, आरम्भणरूप अक्षरात्मा, निमित्तरूप क्षरात्मा–रूप से 'षोडशीपुरुषप्रजापति' माध्यम से अनेकधा स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य रह जाता है मन्त्र का 'यतो भूमिं जनयन्०' इत्यादि उत्तर भाग। यहाँ न तो 'भूमिम्' से भूपिण्ड अभिप्रेत है, न 'द्यौ' से सुप्रसिद्ध द्युलोक ही अभिप्रेत है। लाक्षणिक 'पदम्' 'पुनःपदम्' इन दो तत्त्वों के लिए ही यहाँ मन्त्र में 'भूमिम्'–'द्याम्' शब्द उपात्त हुए हैं। विश्व, और विश्वमहिमा (जो विश्वमहिमा 'वैश्वरूप्य'–'साहस्री'–'वषट्कार' आदि नामों से प्रमाणित हुई है),

विश्वस्वरूपप्रतिपादक उक्त ऋक्मन्त्रों के रहस्यार्थविश्लेषण के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत निबन्ध का आकार भी बहुविस्तृत बनता जा रहा है। अतएव प्रकृत में मन्त्र के अक्षरार्थमात्र पर ही हमें सन्तोष कर लेना पड़ेगा। मन्त्र मननीय हुआ करते हैं। न तो अक्षरार्थ से ही ऋषिवाणी का तत्त्व हृदयङ्गम बना करता, नाहीं भाष्य–व्याख्या–शब्दों से इस आत्मानुगता वाणी का वास्तविक तथ्य आत्मानुगामी बना करता। इसके लिए तो सत्य–अभिनिवेश–श्रद्धा–अनसूया–आदि भावों के माध्यम से अनन्यनिष्ठापूर्वक विहित दीर्घकालिक स्वाध्याय, तदनुगत ऐकान्तिक मनन ही एकमात्र मार्गपथ माना गया है। वैसे इतर सभी उपाय-साधन केवल तात्कालिक 'कण्डूशान्ति' के अतिरिक्त और कोई स्थिर संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकते।

(२४१) 'य इमा विश्वा भुवनानि०' मन्त्रार्थसमन्वय—(१)

(१) (अपने आपकी सृष्टिकर्म्म-सम्पादन के लिए आहुति देने से) होता (नाम से प्रसिद्ध) ऋषि (प्राणमूर्त्ति) जो हमारा (सम्पूर्ण चर अचर का) पिता (सर्वप्रथम प्रजापति इन सम्पूर्ण भुवनों को अपने आप में आहुत कर रहा है, वही प्राणमूर्त्ति पिता प्रजापति (मेरा यह सर्ग समृद्ध बने, इस सहज कामनारूप) आशी से विश्ववैभव की कामना के लिए स्वयं प्रथमस्थानीय बनता हुआ अपने अवर सर्गों के गर्भ में प्रविष्ट हो गया।

सर्वभी सायणाचार्य्य ने मन्त्र का जो भाष्य किया है, उसकी आलोचना इसलिए उपेक्षणीय है कि, उस आलोचना से नैष्ठिक मानव की कोई प्रयोजनसिद्धि नहीं है। "यो विश्वकर्म्मा–एतन्नामकः ऋषि–होमं कुर्वन्–सूक्तमाश्रयादिना स्वर्गमिच्छमानः" इत्यादिरूप से मन्त्रव्याख्यान करते हुए सायण अपनी यह मान्यता व्यक्त कर रहे हैं कि, विश्वकर्म्मा नामक किसी महर्षि ने [मानवने] सर्वमिदम् नामक सर्वहुतयज्ञ से स्वर्गगति प्राप्ति कर ली'। अनर्थमयम् ! अनर्थमयम् !! पारम्परिक परिभाषाविलुप्ति से वेदार्थसमन्वय के सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति से एकान्ततः विरुद्ध सर्वथा काल्पनिक–निर्मूल इस प्रकार का व्याख्यान-भाष्य न होता, तो अधिक श्रेयस्कर था। 'प्राणा वा ऋषयः'। ते सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषं–स्तस्मादृषयः' (शत० ६।१।१।१) 'पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्य०' (ईशोपनिषत्)–इत्यादि वचनानुसार मौलिक सम्पूर्त्ति अतएव 'असत्' नामक स्वायम्भुव उस सर्वर्षिप्राण का ही नाम 'ऋषि' है, जो अपने सप्तपुरुष-पुरुषात्मक भावापन्नरूप से सर्वसर्गप्रभव बनता हुआ 'विश्वकर्म्मा–स्वयम्भू' आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। जिसके आदान–प्रदानात्मक सर्वाहुतिलक्षण सर्वहुतयज्ञ का–'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' (यजुःसं ३१।७।) इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियों से स्पष्टीकरण हुआ है, प्रकृत प्रथम मन्त्र ऋषिप्राणमूर्त्ति–सर्वहुतयज्ञाधिष्ठाता षडीविदलक्षण सप्तपुरुषपुरुषात्मक इसी स्वयम्भू के सर्ग की स्वरूपव्याख्या व्यक्त कर रहा है, जिसके इस आम्नायसिद्ध क्रम के विस्मृत हो जाने से ही व्याख्याताओंने भावुकता के आवेश में आकर 'मानवं महर्षिमयति' को ही अन्वर्थ बना डाला है। सम्पूर्ण भूतों को अपने आप में आहुत कर लेना, अपने आप को 'तदेवानुप्राविशत्' न्याय से सम्पूर्ण भूतों में आहुत कर देना, सृष्टि का विशकलनात्मक, तथा सम्मीलनात्मक उभय क्रम ही तो उस 'सर्वहुत' नामक यज्ञ का स्वरूपसम्पादक बना करता है जिसके आधारपर 'भद्रं पेय सयम्'–'सब सच्चिदं भास' प्रजापतिस्तत्वेदं

पञ्चविध वैश्वरूप्यस्वरूपपरिलेखः—

(ख)—मन्त्रोत्तरभागनिष्कर्षः (यतो भूमिं जनयन्० इत्यादि)—

मनोमयो विश्वकर्म्मा अधिष्ठानात्मा	प्राणमयो विश्वकर्म्मा निमित्तात्मा	वाङ्मयो विश्वकर्म्मा उपा०
हृदयात्मस्वरूपप्रवर्त्तकः	पुनःपदस्वरूपप्रवर्त्तकः	पदस्वरूपप्रवर्त्तकः
आत्माधिष्ठाता	पुनःपदाधिष्ठाता	पदाधिष्ठाता
१—विश्वकर्म्मा—	(१)—परमाकाशः	स्वयम्भूः
२—प्रजापतिः—	(२)—महासमुद्रः—	परमेष्ठी
३—हिरण्यगर्भः—	(३)—सम्वत्सरः—	सूर्य्यः
४—सर्वभूतान्तरात्मा—	(४)—आन्दम्—	पृथिवी
५—भूतात्मा—	(५)—नक्षत्रम्—	चन्द्रमाः
आत्मा	पुनःपदम्	पदम्
हृदयम्	द्यौः—	भूमिः
आत्मसर्गः पञ्चविधः	महिमसर्गः पञ्चविधः	विसर्गः पञ्चविधः
सोऽयं विश्वात्मसर्गः	सोऽयं द्युसर्गः—	सोऽयं 'भूमि'सर्गः

आत्मा च एकः सन्नेतत् त्रयम्। अयं सदृक्षमयमात्मा

(२४३) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुख – (३) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१) जो रहस्यार्थ 'सर्वतः पाणिपादं तत्–सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति का है, वही रहस्यार्थ तृतीयमन्त्र का है। दीर्घवृत्तात्मिका पञ्चविधा आयतनसृष्टि का मूलाधार–मूलप्रभव विश्वकर्म्मा स्वयम्भू स्वयं 'वर्त्तुलवृत्तोऽसौ' है (गोलाकार है), जिसका स्वरूप पूर्व परिच्छेदों में यत्रतत्र स्पष्ट किया जा चुका है। वर्त्तुलात्मा स्वयम्भू विश्वकर्म्मा के प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि अन्नगर्भ–हिरण्मयात्मक–प्राणात्मक–मध्योऽयस्क–

दोनों के पारिभाषिक नाम हैं क्रमशः 'भूमि' और 'द्यौ'। प्रत्येक अण्डसृष्टि इन दो भावों में परिणत रहती है, जिसका मूल बना रहता है पिण्डलक्षण भूकेन्द्रस्थ अन्तर्य्यामी अनिरुक्त प्रजापति, जो 'आत्मा' नाम से प्रसिद्ध है। एवं जो अपने मनःप्रधान अव्ययभाग से सृष्टि का अन्तर्यामी 'आत्मा' बनता है, अपने वाक्प्रधान क्षरभाग से सृष्टि का मूर्त्तभावापन्न 'पदम्' (पिण्ड-भूमि) बनता है, एवं अपने प्राणमय अक्षरभाग से सृष्टि का अमूर्त्तभावापन्न प्राणमय 'पुनःपदम्' (महिमा-द्यौ) बनता है। इसप्रकार एक ही विश्वकर्म्मा स्वयम्भूप्रजापति अपने मनः-प्राण-वाङ्मय अव्यय-अक्षर-क्षरभावों से कामतपःश्रमात्मक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों के माध्यम से क्रमशः अधिष्ठान-निमित्त-आरम्भणरूपेण कारणत्रयीरूप में परिणत होता हुआ अपने इन्हीं तीनों रूपों से क्रमशः-'आत्मा-पदम्-पुनःपदम्-रूप से हृदय-पिण्ड-पिण्डमहिमा-इन सर्गस्वरूपों के सर्वस्व बने रहते हैं, जिनका 'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्, त्रयं सदेकमयमात्मा' इत्यादि अन्य वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा, महाविश्व के ये पाँचों पर्व 'आत्मा-पदम्-पुनःपदम्' रूप से त्रिविवर्तभावापन्न हैं। चन्द्रकेन्द्र, चन्द्रपिण्ड, चन्द्रिकामण्डलात्मक चन्द्रमहिमा, चन्द्रमा में तीनों उपयुक्त हैं। चन्द्रपिण्ड 'भूमि' है, चन्द्रमहिमा 'द्यौः' है, चन्द्रकेन्द्र आत्मा है। यही क्रम शेष चारों में समन्वित है। प्रत्येक मूर्त्तपदार्थ में यही त्रयीव्यवस्था समन्वित है। और इन्हीं सर्वमूर्त्तपदार्थगत पिण्ड, तथा पिण्डमहिमाभावों के लक्ष्य से ही प्रकृतमन्त्र में 'भूमिं जनयन्-द्यामौर्णोत्' यह कहा गया है। आत्मरूपा पाँचों महापर्व क्रमशः विश्वकर्म्मा, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, सर्वभूतान्तरात्मा, भूतात्मा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। मूर्त्तपिण्डलक्षण 'भूमि' रूपा (पद रूपा) ये पाँचों क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवं अमूर्त्तलक्षण 'द्यौ' रूपा (पुनःपद रूपा-वैश्वरूप्यनामक महिममण्डलरूपा) ये ही पाँचों क्रमशः-परमाकाश-महासमुद्र-सम्वत्सर-आपम्-नक्षत्रम्, इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

काम-तपः-श्रमलक्षणा विश्वकर्म्मा-स्वरूपपरिलेखः—

(क)—मन्त्रपूर्वभागनिष्कर्षः—(किंस्विदासीदधिष्ठानम्०—इत्यादि)।

१—परात्परात्परभिन्नः—षोडशकलोऽव्ययात्मा—मनःप्रधानः काममयः—	अधिष्ठानम्	विश्वकर्म्मा
२—तद्भिन्नः————पञ्चकलोऽक्षरात्मा—प्राणप्रधानः तपोमयः—	कर्मप्रक्रिया (निमित्त)	
३—तद्भिन्नः————पञ्चकलः क्षरात्मा—वाक्प्रधानः श्रममयः—	आरम्भणम्	

———

"वह विश्वकर्म्मा अपने चक्षुरूप से (हृदयस्थानीय सूर्य्यरूप से) सर्वतः समानशक्तिरूप से व्याप्त है, मुखरूप से (तदुपलक्षित शिरःस्थानीय स्वयम्भूरूप से) सर्वत्र व्याप्त है, बाहुरूप से (ऋतमावात्मक परमेष्ठी, तथा चन्द्ररूप से) सर्वत्र व्याप्त है, एवं पादरूप से (भूपिण्डरूप से) सर्वत्र व्याप्त है । (ऋत-सोमात्मक परमेष्ठी तथा चन्द्रमा इन दोनों) बाहुओं से, तथा भूताग्नि एवं प्राणाग्नि (भूपिण्डात्मक भूताग्नि, भूमिहमारूप प्राणाग्नि–जो क्रमशः चित्याग्नि–चितेनिधेयाग्नि नामों से प्रसिद्ध है) रूप पार्थिव पादों से (अग्नीषोमरूप बाहु–पादों से) ही यह विश्वकर्म्मा अग्नीषोमात्मक विश्व की प्रेरणा का कारण बन रहा है । द्यावापृथिवीरूप (पिण्ड एवं महिमारूप) ऐसे महाविश्व को उत्पन्न करता हुआ सहस्रशीर्षा–सहस्राक्ष–सहस्रपात् लक्षण विश्वकर्म्माप्रजापति 'एक' रूप से सवत्र विराजमान है । अपनी इसी एकरूपता से अनेकभावापन्न विश्व को उत्पन्न कर यह–'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस सिद्धान्त को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है ।

(२४४)–'किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस०' (४)–मन्त्रार्थसमन्वय—

(४)—'*किंस्विद्वनं*'–*इत्यादि का रहस्यार्थ पूर्व में विस्तार से प्रतिपादित है, जिस उत्तरगर्भित प्रश्नात्मक* इस मन्त्रार्थ की प्रासङ्गिक सन्दर्भसमन्वयस्मृति यही है कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्पररूप 'ब्रह्मवन' के महामायावच्छिन्न सहस्रवल्शमूर्त्ति अश्वत्थ नामक षोडशीपुरुषरूप 'ब्रह्मवृक्ष' के क्षरभाग के तक्षण से ही द्यावापृथिवीरूप पिण्डमहिमात्मक इस महाविश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है, जिसका रहस्यात्मक स्वरूपबोध मानव की मननशीला प्रशान्तमयोमयी बुद्धपनुगृहीता नैष्ठिकी अन्तःप्रज्ञा पर ही अवलम्बित है। (देखिए १४१पृष्ठ)।

(२४५)–'या ते धामानि परमाणि०' (५)–मन्त्रार्थसमन्वय—

(५)—हे विश्वकर्म्मन् ! आपके जो परम–अवम–मध्यम धाम हैं, उन तीनों धामों की (सहज) शिक्षा से अपने सखाओं को आप अनुगृहीत करें (कर रहे हैं), जो कि सखा आपके 'हविः (भोग्य , स्थानीय बने हुए हैं । हे स्वधावन् ! आप स्वयं ही इस स्वधारूप हवि से अपने शरीर को महिमारूप से विस्तृत करते हुए (फैलाते हुए) यजन में (आदानप्रदानात्मक सर्वहुत्यजन में) प्रवृत्त रहें (प्रवृत्त हैं) ।

मनःप्राणवाङ्मय षोडशीप्रजापतिलक्षण स्वयम्भू प्रजापति ही विश्वकर्म्मा सर्व्वकर्म्मा प्रजापति है, जिसके अव्यय–अक्षर–क्षर नामक संस्थानों का, एवं इन तीनों संस्थानों के मूलभूत अमायिक अद्व मायिक परात्परसंस्थान का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है । 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्यादि निगमानुसार इस सर्वप्रजापति के इस प्रकार मायातीत अनन्तपरात्पर—महामायावच्छिन्न अव्यय—योगमायावच्छिन्न अक्षर–भूतमायावच्छिन्न क्षर, भेद से चार संस्थान हो जाते हैं । ये ही विश्वकर्म्मा प्रजापति के प्रातिस्विक अनन्तधाम–परमधाम—मध्यमधाम–अवमधाम (परात्परधाम-अव्ययधाम-अक्षरधाम – क्षरधाम) रूप चार धाम हैं, जिनमें परात्पररूप अनन्तधाम तो इनका आमोदन ही बना रहता है । शेष तीनों परम–मध्यम अवमधाम प्रवर्ग्यरूप से–'अपरान् आविवेश' रूप से अन्य परमेष्ठीसर्गादि के साथ भी सुसमन्वित रहते हैं दो प्रकार से ।

रिपीएड—ये पाँचों ही आयतसर्ग अपने मौलिक स्वरूप से 'वच लघुचीवा' ही हैं। सर्वदशानुगत सुप्रसिद्ध दर्शपौर्णमासात्मक परिभ्रमण से ही ये वृत्त अण्डरूपात्मक दीर्घवृत्ताकार में परिणत होते हैं। समष्टि चन्द्रमा-भूपिण्ड के चारों ओर भूपिण्डमहिमा के गर्भ में, समष्टि भूपिण्ड सूर्यपिण्ड के चारों ओर सूर्यमहिमा के गर्भ में, समष्टि सूर्यपिण्ड परमेष्ठिपिण्ड के चारों ओर परमेष्ठिमहिमा के गर्भ में परिक्रमा लगा रहा है। एवं समष्टि चन्द्र-भू-सूर्य को स्वमहिमगर्भ में युक्त रखता हुआ समष्टि परमेष्ठिपिण्ड स्वयम्भूपिण्ड के चारों ओर स्वयम्भूमहिमा के गर्भ में परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्रमा-भू-सूर्य-परमेष्ठी—कुलालचक्रवत् परिभ्रममाक्‍ परिक्रममाण इन चारों पिण्डों (चारों भूमियों) में केवल चन्द्रपिण्ड का स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है। शेष तीनों अपने अक्ष पर घूमते हुए रथचक्रवत् महद्वृत्तों के आधार पर परिक्रमा लगा रहे हैं। यही परिभ्रमण प्रक्रिया प्राकृतिक नित्य वह 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ है, जिसके द्वारा दिति-अदितिभावों का आविर्भाव होता है। इस परिभ्रमणजनित त्रिकेन्द्रभाव से ही इनकी प्राकृतिक वच लघुत्ता दीर्घवृत्ताकार में परिणत प्रतीत हो रही है। अतएव इन्हें 'अण्ड' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः अपने प्रातिस्विक मौलिकरूप से पिण्डमात्र एककेन्द्रानुगत बनते हुए 'वच लघुचीवा' ही हैं, जिस वच लघुत्ता के आधार पर—'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि वचनों का समन्वय सम्भव बना करता है। इसी समानैककेन्द्रानुबन्धित्वनिबन्धन वच लघुत्ता को लक्ष्य बनाकर हमें तृतीयमन्त्र के अक्षरार्थ का समन्वय करना है।

वृत्त यदि वर्तुल (गोलाकार) है तो उसमें एक 'केन्द्र' है, जिससे यह वृत्त 'समानकेन्द्र' कहलाता है। एककेन्द्रावच्छिन्न वर्तुलवृत्त के हृदय (केन्द्र) से विनिर्गत होकर वृत्त की परिधिपर्यन्त व्याप्त रहने वाली सम्पूर्ण केन्द्रशक्तियाँ समसमानधर्मा ही रहा करती हैं। चारों ओर परिपूर्णरूप से—समानरूप से—एकरूप से ही केन्द्रशक्ति विकास होती है। मन्त्रोपात्त 'विश्व'-शब्द इसी परिपूर्णतालक्षणा-सर्वता का-संग्राहक-बना हुआ है। जिस परमात्मलक्षण स्वयम्भू विश्वकर्म्मा के महिमामण्डल में परमेष्ठ्यादि शेष चारों समष्टिपिण्ड बुद्बुदवत् गर्भीभूत हैं, वह महममहिम अनन्ताकाशमूर्त्ति स्वयम्भू ही विश्वकर्म्मा विश्वमूर्त्ति प्रजापति है, जिसे आर्ष्यसर्वस्वशास्त्र (पुराण) ने 'सप्तवितस्तिकाय' * कहा है। इस विश्वमूर्त्ति का शिरोपलक्षित मुखप्रदेश स्वयं 'स्वयम्भू' है। हृदयोपलक्षित चक्षुःप्रदेश विश्वकेन्द्रस्थ 'सूर्य्य' है। पादप्रदेश 'भूपिण्ड' है। तीनों क्रमशः वेदाग्नि—सावित्राग्नि—भूताग्निप्रधान बनते हुए सत्यप्रधान हैं। सूर्य्य से उपरि प्रतिष्ठित आपोमय परमेष्ठी, तथा सूर्य्य से अधः प्रतिष्ठित सोममय चन्द्रमा, दोनों ऋतप्रधान हैं। सत्यतत्त्व अविचाली माना गया है, ऋततत्त्व विचाली माना गया है। शरीर जैसे तो सर्वात्मना ही विचाली है। किन्तु दोनों हस्त विशेषरूप से विचाली प्रसिद्ध हैं। 'हाथ हिलाना' सहज विचाली भाव है। स्वयम्भू-सूर्य्य-भूपिण्ड, तीनों अग्निप्रधान होने से अविचाली बन रहे हैं, एवं ऋतपरमेष्ठी—ऋतचन्द्रमा, दोनों बाहुसमतुलित विचाली भाव हैं। इस प्रकार विश्वमूर्त्ति में इन पाँच पर्वों के मुख—(शिर)—चक्षु—(हृदय)—पाद—हस्तद्वय, ये चार विवर्त्त कल्पित हो जाते हैं। पूर्वोक्त समानकेन्द्रनिबन्धन वर्तुलभाव के कारण पाँचों ही पर्व वर्त्तुलिक बन रहे हैं। 'विश्वतश्चक्षु' इत्यादि मन्त्र इसी भाव को अभिव्यक्त करता हुआ कह रहा है कि—

* क्वाहं तमो महदहं ख-चराग्निवार्भू—संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या—वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥
—श्रीमद्भागवत १० स्क०।१४ अ० ११ श्लोक।

"वह विश्वकर्म्मा अपने चक्षुरूप से (हृदयस्थानीय सूर्य्यरूप से) सर्वत समानशक्तिरूप से व्याप्त है, मुखरूप से (तदुपलक्षित शिर स्थानीय स्वयम्भूरूप से) सर्वत व्याप्त है, बाहुरूप से (ऋतमयात्मक परमेष्ठी, तथा चन्द्ररूप से) सर्वत व्याप्त है, एवं पादरूप से (भूपिण्डरूप से) सर्वत व्याप्त है । (ऋत-सोमात्मक परमेष्ठी तथा चन्द्रमा इन दोनों) बाहुओं से, तथा भूताग्नि एवं प्राणाग्नि (भूपिण्डात्मक भूताग्नि, भूमिदमात्मक प्राणाग्नि-जो क्रमशः, चित्याग्नि-चितेनिधेयाग्नि नामों से प्रसिद्ध हैं) रूप पार्थिव पादों से (अग्नीषोमरूप बाहु-पादों से) ही यह विश्वकर्म्मा अग्नीषोमात्मक विश्व की प्रेरणा का कारण बन रहा है । द्यावापृथिवीरूप (पिण्ड एवं महिमारूप) ऐसे महाविश्व को उत्पन्न करता हुआ सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपात् लक्षण विश्वकर्म्माप्रजापति 'एक' रूप से सर्वत्र विराजमान है । अपनी इसी एकरूपता से अनेकभावापन्न विश्व को उत्पन्न कर यह-'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस सिद्धान्त को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है ।

(२४४)-'किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस०' (४)-मन्त्रार्थसमन्वय—

(४)—'किंस्विद्वनं'-इत्यादि का रहस्यार्थ पूर्व में विस्तार से प्रतिपादित है, जिस उत्तरगर्भित प्रश्नात्मक इस मन्त्रार्थ की प्रासङ्गिक सन्दर्भसमन्वयस्मृति यही है कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्पररूप 'ब्रह्मवन' के महामायावच्छिन्न सहस्रवल्शमूर्त्ति अश्वत्थ नामक षोडशीपुरुषरूप 'ब्रह्मवृक्ष' के चरमभाग के तक्षण से ही द्यावापृथिवीरूप विश्वमहिमात्मक इस महाविश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है, जिसका रहस्यात्मक स्वरूपबोध मानव की मननशीला प्रज्ञानमयोमयी बुद्ध्यनुगृहीता नैष्ठिकी अन्तःप्रज्ञा पर ही अविलम्बित है । (देखिए १४१६ख)।

(२४५)-'या ते धामानि परमाणि०' (५)-मन्त्रार्थसमन्वय—

(५)—हे विश्वकर्म्मन् ! आपके जो परम-अवम-मध्यम धाम हैं, उन तीनों धामों की (सहज) शिक्षा से अपने सखाओं को आप अनुगृहीत करें (कर रहे हैं), जो कि सखा आपके 'हविः' (सोम्य, स्थानीय बने हुए हैं । हे स्वधावन् ! आप स्वयं ही इस स्वधारूप हवि से अपने शरीर को महिमारूप से वितत करते हुए (फैलाते हुए) यज्ञ में (आदानप्रदानात्मक सर्वहुतयज्ञसत्र में) प्रवृत्त रहें (प्रवृत्त हैं)।

[1] मनःप्राणवाङ्मय षोडशीप्रजापतिलक्षण स्वयम्भू प्रजापति ही विश्वकर्म्मा सर्वकर्म्मा प्रजापति हैं, जिसके अव्यय-अक्षर-क्षर नामक संस्थानों का, एवं इन तीनों संस्थानों के मूलभूत अमात्रिक अद्र मात्रिक परात्परसंस्थान का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है । 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्यादि निगमानुसार इस सर्वप्रजापति के इस प्रकार मायातीतअनन्तपरात्पर—महामायावच्छिन्नअव्यय—योगमायावच्छिन्न अक्षर-गुणमायावच्छिन्न क्षर, भेद से चार संस्थान हो जाते हैं । ये ही विश्वकर्म्मा प्रजापति के प्रातिस्विक अनन्तधाम-परमधाम—मध्यमधाम-अवमधाम (परात्परधाम-अव्ययधाम-अक्षरधाम - क्षरधाम) रूप चार धाम हैं, जिनमें परात्पररूप अनन्तधाम तो इनका अव्यक्त ही बना रहता है । शेष तीनों परम-मध्यम अवमधाम प्रकर्यरूप से-'अपरान् आविवेश' रूप से अन्य परमेष्ठीसर्गादि के साथ भी सुसमन्वित रहते हैं दो प्रकार से ।

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से जो कुछ वस्तुतत्त्व-पदार्थस्वरूपजात है, सब का तत्प्रत्येक सर्ग में अवतरण प्राकृतिक है, यही प्रथम प्रकार है, जिससे प्रत्येक सर्ग धामत्रयात्मक बना हुआ है, जिस धामत्रयी के माध्यम से ही परमेष्ठ्यादि प्रत्येक अण्डकर्मों के साथ परमधामरूप अव्ययात्मा नामक 'आत्मा', मध्यमधामरूप अक्षरात्मा नामक 'पुनर्पदम्' (महिमामण्डल), एवं अवमधामरूप क्षरात्मा नामक 'पदम्' (भूमिपिण्डलक्षण मूर्त्तपिण्ड), इन तीनों का सम्बन्ध रहता है, जैसा कि प्रथममन्त्रव्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है । इस प्रथम प्रकारात्मक धामत्रय-समन्वय को हम 'व्यष्ट्यात्मक धामप्रकार' कहेंगे ।

दूसरा प्रकार समष्ट्यात्मक है । स्वयं स्वयम्भू, तद्गर्भीभूत परमेष्ठी, दोनों की अमृतप्रधाना समष्टि अव्ययप्रधान परमधाम मानी जायगी । विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य + अमृतमृत्युमयमूर्त्ति अक्षरप्रधान मध्यमधाम माना जायगा । एवं पृथिवीचन्द्ररूपा॰ मर्त्यप्रधाना समष्टि क्षरप्रधान अवमधाम माना जायगा, यही द्वितीय प्रकार होगा । स्वयं स्वयम्भू प्रजापति को परमप्रजापति माना जायगा, एवं तत्प्रतिकृतिभूत परमेष्ठी आदि चारों को 'प्रतिमाप्रजापति' कहा जायगा + । ये चारों प्रतिमामात्र स्वयम्भू के स्वरूप से सर्वात्मना समतुलित होते हुए क्योंकि इसके साथ आदानप्रदानात्मक समानधर्म्म-शील-व्यसन से नित्य समन्वित हैं । अतएव इन्हें 'सखा' अभिधा से व्यवहृत किया जायगा । स्वयम्भूप्रजापति के वैश्वरूप्य महिममण्डल में समुत्पन्न होने के कारण सूर्य्यादि चारों प्रतिमाप्रजापति जहाँ स्वयम्भू के अपत्य हैं, वहाँ स्वयम्भू के शील-व्यसन-स्वरूप-संस्थान से आत्मा-पद-पुनःपद-भावमाध्यम से सर्वात्मना समतुलित रहते हुए इन्हें स्वयम्भू के 'सखा' भी माना जा सकता है । इसी समानशीलव्यसनभावानुप्राणित पारस्परिक स्वरूपसमतुलन की दृष्टि से 'शिक्षा सखिभ्य' कहा गया है ।

परमप्रजापति के साथ इन प्रतिमाप्रजापतियों का परस्पर आदान-प्रदानात्मक 'अन्नान्नाद' सम्बन्ध है । स्वयम्भू में ये सब आहुत हैं, इन में स्वयम्भू आहुत हैं । सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्च स्वयम्भू में हुत हो रहा है, सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्चों में स्वयम्भू हुत हो रहे हैं, जैसा कि-'सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि हुत्वा' इत्यादि रूप से पूर्व के प्रथममन्त्रव्याख्यान में स्पष्ट किया जा चुका है । वह इनका स्वधा (अन्नात्मक हविर्द्रव्य) बन रहा है, तो ये उसके स्वधा बन रहे हैं । 'प्रहितां संयोग-प्रयुतां संयोगः' लक्षण पारस्परिक स्वधारूप-अन्नादरूप इसी नैसर्गिक सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए ऋषि ने

— निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च, हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ।

॰ यदत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम् ।

+ "स ऐक्षत प्रजापति (स्वयम्भू)—इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि । आत्मनो ह्येत प्रतिमामसृजत । ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-(१)-अग्निः (तद्गर्भितो भूपिण्डश्च), (२) इन्द्रः (तद्गर्भितः सूर्य्यश्च, (३) सोमः-(तद्गर्भित-श्चन्द्रश्च), (४) परमेष्ठी प्राजापत्य (स्वायम्भुवः)" । (शत० ११।६।१।१२,१३।) ।

'हविषि स्वधाव' इत्यादि कहा है, जिस अमात्यादि सम्बन्ध का निम्नलिखित एक अन्य मन्त्रश्रुति से बड़ा ही रोचक स्वरूपविश्लेषण हुआ है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥
—सामसं०पू०६।३।

(२४६) 'विश्वकर्म्मन् हविषा वावृधान' (६) मन्त्रार्थसमन्वय—

(६)—हे विश्वकर्म्मन्! (प्रतिमाप्रजापतिरूप परमेष्ठी–सूर्य्यादि हवि:प्रदाताओं के द्वारा प्रदत्त स्वधारूप) हवि से अपने महिमस्वरूप से प्रवृद्ध बनते हुए ही आप स्वयं ही द्यावापृथिवीरूप (महिमा तथा पितररूप) स्वर्गों का यजन करें (कर रहे हैं)। अर्थात् परस्परदान–प्रदानलक्षण आहुतियज्ञ से आप स्वयं भी महिमाशाली हैं, एवं आपके प्रतिमा स्थानीय परमेष्ठी सूर्य्यादि भी द्यौः–भूमिरूप से महिममय बन रहे हैं। जो प्रजा (मानव) आप के इस परस्परदान–प्रदानलक्षण यज्ञ के स्वरूप से अपरिचित रहती हुई 'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋक्सं०१०म ११७सू०६मं०)के अनुसार केवल वैय्यक्तिक स्वार्थसाधन में लिप्त है, वह सदा मोहपाश में आबद्ध रहती है। कभी उसे आत्मस्वरूपबोध नहीं होता। हम अपने हृदयस्थ मनःप्रतिष्ठित विज्ञानबुद्धिरूप इन्द्र से ही यह कामना करते हैं कि, वही हमारे स्वत्व जीवन का सूरि-प्रेरक बनें। उसी की प्रेरणा–नोदना से हम अपने मूलप्रभवप्रजापति के साथ सख्य सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ बनते हुए परस्परदान-प्रदानलक्षण स्वधायज्ञ के माध्यम से आत्मपरिपूर्णता प्राप्त करें।

(२४७) 'वाचस्पतिं' विश्वकर्म्माणमूतये' (७) मन्त्रार्थसमन्वय—

(७)-हम यजुर्म्मात्मय, अतएव 'वाचस्पति' नाम से प्रसिद्ध उस विश्वकर्म्मा को, जो अपने अव्ययरूप से मनोजुव (मनोजव–मनोमय) है, आहुत कर रहे हैं। विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए, विश्वप्रजा के अभ्युदय निःश्रेयस् के लिए साधुकर्म्मा (साधुकर्म्मा) विश्वकर्म्मा प्रजापति हमारी इस तत्स्वरूपवर्णनात्मिका प्रार्थना को लक्ष्य बनावें, जिस वाङ्मय आहुतिकर्म्म (स्वरूपवर्णनात्मक स्तुतिकर्म्म) के माध्यम से हम (सूक्तद्रष्टा महर्षि) सदा उनका यजन करते रहते हैं।

(२४८) 'यो नः पिता जनिता०' (८) मन्त्रार्थसमन्वय—

(८)—जो विश्वकर्म्मा प्रजापति हमारा 'पिता' है, 'जनिता' है, जो 'विधाता' है, सम्पूर्ण धामों का परिज्ञाता है, जो देवताओं का एकमात्र अभिन्न आधार है, ऐसे इस विश्वकर्म्मा स्वयम्भू प्रजापति को–एकेश्वर को–ही अन्यान्य भुवनभरनोत्थानपूर्वक अपना लक्ष्य (समाधानलक्ष्य) बनाया करते हैं।

अधिष्ठानात्मक आलम्बनकारण ही सर्ग का मूलसंरक्षक माना गया है। मौलिक सत्ताप्रतिष्ठा ही मूल सर्ग की प्रधान संरक्षिका है। संरक्षक ही परिभाषा में 'पिता' है। अपने मनोमय अव्ययात्मस्वरूप से मूलाधिष्ठान–आलम्बन–बनता हुआ विश्वकर्म्मा 'पिता' प्रमाणित हो रहा है। 'तथा अक्षराद्विविधाः सौम्य। भावा प्रजायन्ते' इत्याद्यनुसार अपने मायामय अक्षरात्मस्वरूप से यही विश्वकर्म्मा सर्ग का जनक बनता

हुआ 'जनिता' उपाधि से विभूषित हो रहा है। मृत्तिका से उत्पन्न घट का विधर्त्ता-स्थान मृत्तिका ही माना गया है, जैसा कि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि उपनिषद्वचन से प्रमाणित है। उपादानकारण ही अपने कार्य का विधर्त्ता (धारक-उक्थब्रह्मसामलक्षण आत्मा) बनता है। अतएव अपने वाङ्मय क्षरात्मस्वरूप से यही विश्वकर्म्मा सर्ग का उपादान बनता हुआ 'विधाता' प्रमाणित हो रहा है। इस प्रकार अपने अव्यय-अक्षर-क्षररूपों से सर्ग का अधिष्ठान-निमित्त, एवं आरम्भण बनता हुआ यही विश्वकर्म्मा क्रमशः * 'पिता-जनिता-विधाता' नामों से प्रसिद्ध हो रहा है।

भूः-भुवः-स्वः-भावों से समतुलित, रोदसी-क्रन्दसी-संयती नामों से उपवर्णित पृथिवी-सूर्य-स्वयम्भू अभिधा से उपभुक्त अवम-मध्यम-परमधामरूप इन अवान्तर धामों की समष्टि स्वयम्भू के परमाकाश-लक्षण वैश्वरूप्य मण्डल में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे कि एक मानव के ज्ञानमण्डल में उसका भावना-वासना-त्मक अन्तर्जगत प्रतिष्ठित रहता है। ज्ञानजनित भावनासंस्कार, कर्म्मजनित वासनासंस्कार ही मानव का अन्तर्जगत् है जो मानव के ज्ञानात्मक महिमामण्डल में उसीप्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे कि स्तोत्रलोकीय मण्डलात्मक सम्वत्सर महिमामण्डलमें सम्मिश्रितप्रगर्भिता महापृथिवी प्रतिष्ठित है। अपने अन्तर्जगत् का यह अन्तर्य्यामी द्रष्टा वेत्ता माना गया है। विश्व में एकमात्र स्वायम्भुव वैश्वरूप्य (महिमामण्डल) ही, ऐसा बृहन्मण्डल है, जिसमें इममहिमसम्पूर्ण धाम अन्तर्जगत्रूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव इसे सर्ववित्-सर्वज्ञ माना गया है +। विश्वकर्म्मा की इसी सर्वव्याप्ति का-'यो धामानि वेद भुवनानि विश्वा' इत्यादि वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'-'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'-'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास'-'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'-'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' इत्यादि वचनों के अनुसार वह मन-प्राणवाङ्मय-ज्ञानक्रियार्थमूर्त्ति-आत्मक्षर:अमृतलक्षण-अव्ययाक्षरात्मक्षरात्मकविश्वरूप 'एक' स्वयम्भू ब्रह्म-प्रजापति-विश्वकर्म्मा ही परमेष्ठी (वरुण)-सूर्य-(इन्द्र)-चन्द्रमा-(सोम)-पृथिवी-(अग्नि)-आदि आदि देव-भूतसर्गों का अधिष्ठान-निमित्त-आरम्भण बना हुआ है। अवस्थितारतम्य से वह एक ही इन नाना विभूतिभावों में परिणत हो रहा है। अतएव इन सब का उस एक 'स्वयम्भूब्रह्म प्रजापति विश्वकर्म्मा' नाम से संग्रह किया

---

* मनोमय अव्ययात्मा ज्ञानप्रधान है, यही अधिष्ठानात्मक 'पिता' है। अतएव लोकव्यवहार में ज्ञानप्रदाता आचार्य्य को 'पिता' माना जा सकता है। प्राणमय अक्षरात्मा क्रियाप्रधान है, यही निमित्तात्मक 'जनिता' है, अतएव प्रजननक्रियाप्रवर्त्तक जनक को लौकिक 'जनिता' कहा जा सकता है। वाङ्मय क्षरात्मा अर्थप्रधान है। यही आरम्भणात्मक 'विधाता' है। अतएव प्रजननफलभूत गर्भलक्षण अर्थ (भूतपिण्ड) की अधिष्ठात्री माता को लौकिक 'विधाता' कहा जा सकता है। 'यो नः पिता जनिता, यो विधाता' का यही व्यावहारिक समन्वय है।

'— योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्। (ऋक्सं०)।

+ यः सर्वज्ञः सर्ववित्-यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते ॥ (मुण्डकोपनिषत् १।१।९)।

जा सकता है, किया गया है। प्रजापति की इसी सर्वदेवव्याप्ति का–'यो देवानां नामधा एक एव' वचन से स्पष्टीकरण हुआ है, जिसके रहस्यज्ञान से सर्वात्मना असंसृष्ट असम्बन्ध इस सम्बन्ध में अग्नि–मित्र–वरुण–सोम–इन्द्र–परमेष्ठी–आदि तत्त्वों का भी परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध मानने–मनवाने की भ्रान्ति कर रहे हैं।

अवश्य ही ये सब उस एक ही के नानारूप हैं। अतएव इन सब के लिए अग्निब्रह्म–मित्रब्रह्म–वरुणब्रह्म आदि ब्रह्मनाम व्यवहृत हो सकता है, ब्राह्मणोपनिषदों में हुआ है। एतावता अग्नि को मित्रका, मित्र को इन्द्र का पर्य्याय मानकर इन देवतत्त्वों को सर्वत्र 'ब्रह्म' नाम से समन्वित करने का चेष्टाकरण सर्वथा निगमविरुद्ध, अतएव सर्वात्मना उपेक्षणीय ही है। 'गुणाना च परार्थत्वात्–असम्बन्धः समत्वात्' के मर्म्मज्ञ यह जानते ही हैं कि, आंख–कान–नाक–मुख–उदर–आदि सभी 'अहं' रूप आत्मा की दृष्टि से जहाँ अभिन्न हैं, वहाँ अपने वैय्यक्तिकरूप से सब विभिन्न अवयव हैं। चक्षु–श्रोत्र–कर्णादि अवश्य ही 'अहं' हैं, किन्तु चक्षु तो श्रोत्र कर्णादि नहीं हैं, कर्ण तो चक्षुःश्रोत्रादि नहीं हैं। अवश्य ही इन्द्र–मित्र–वरुणादि ब्रह्म हैं। किन्तु इन्द्र तो मित्र–वरुणादि नहीं हैं, मित्र तो इन्द्र–वरुणादि, एवं वरुण तो इन्द्र–मित्रादि नहीं हैं। इन सर्वथा विभिन्न देवतत्त्वों के स्वरूपज्ञान की उपेक्षा कर सर्वत्र 'ईश्वराय-ईश्वराय' की घोषणा करने वाले वेदभक्तों से आर्षसंस्कृति का जैसा अनिष्ट हुआ है, परसंस्कृतिप्रधान यवन–म्लेच्छादि आक्रमन्ताओं से भी उतना अनिष्ट नहीं हुआ।

स्वयम्भू–परमेष्ठी–आदि पञ्चपर्वा विश्व ही क्या विश्वकर्म्माप्रजापति की व्याप्ति–इयत्ता है ?, क्या इन पर्वों पर ही विश्वस्वरूपमीमांसा विश्रान्त है ?, इसी प्रश्न का 'सम्प्रश्न' रूप से • समाधान करती हुई मन्त्र श्रुति अन्त में कहती है कि–'तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या' (अन्यानि भुवनानि तं विश्वकर्म्मप्रजापतिमेव सम्प्रश्नरूपेण यन्ति–अनुगता भवन्ति)। "प्रश्न का एकीभावात्मक 'सम्प्रश्न' आप ही समाधान है", यही वचनशेष का अक्षरार्थ है। पञ्चपर्वा विश्व तो उस अक्षय्यमूर्त्ति सहस्रवल्शेश्वर प्रजापति का–'पञ्चपुरुषीरा प्राजापत्या वल्शा' रूप एक शाखारूप मात्र है। महामायावच्छिन्न एक मायीमहेश्वरात्मक विश्वकर्म्मा के गर्भ में ऐसे ६६६ मुक्त और प्रतिष्ठित हैं, जिनसे सम्बन्ध रखनेवाली वैज्ञानिक प्रश्नपरम्परा इस एक वल्शेश्वर से समन्वित प्रश्नपरम्परा से समतुलित रहती हुई 'सम्प्रश्नात्मिका' बन रही है। एवं इस एक प्रश्न के समाधान से ही उन सब सम्प्रश्नात्मक प्रश्नों का भी समाधान गतार्थ बन जाता है। यही वचनतात्पर्य्य है।

(२४६)–'परो दिवा पर एना पृथिव्या' (६) मन्त्रार्थसमन्वय—

(६)–जो विश्वकर्म्मा–प्रजापति इस द्युलोक से भी परे है, पृथिवी से भी परे है, देवों और असुरों से भी परे है, उस विश्वकर्म्मा प्रजापति के आपोभाग (रूप सुवेद नामक स्वेदवेद) ने किसे सर्वप्रथम अपने गर्भ में धारण किया ?, जिस (गर्भीभूत तत्त्व) को सम्पूर्ण देवदेवता × अपना लक्ष्य बनाए रहते हैं।

• एक लक्ष्य से समतुलित अन्य प्रश्न की पारिभाषिक संज्ञा ही 'सम्प्रश्न' माना गया है।

× प्राणतत्त्व का पारिभाषिक सामान्य नाम है 'देवता'। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ऋषि–पितर–असुर–गन्धर्व–देव–पशु–आदि यथावत् प्राणतत्त्व 'देवता' नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर–'ऋषिदेवत्य–पितृदेवत्य–असुरदेवत्य–देवदेवत्य–पशुदेवत्य-आदि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि ३३ संख्या में विभक्त अग्निप्राणात्मक तत्त्व ही 'देव' नामक देवता हैं, अतएव इस आग्नेय प्राण को हम 'देवदेवता' कहेंगे। जहाँ भी श्रुति में केवल 'देव' शब्द पठित होगा, सर्वत्र आग्नेय 'देवदेवताओं' का ही ग्रहण होगा।

योगमायावच्छिन्न सप्तभुवनात्मक–पञ्चपर्वा विश्व में यद्यपि स्वयम्भूविश्वकर्म्मा प्रजापति भी ऋतीत्रैलोक्य में द्युलोकरूप से समाविष्ट हैं। अतएव इस भुवनदृष्टिकोण से परमेष्ठी–सूर्य्यादिवत् यद्यपि स्वयम्भू विश्वकर्म्मा भी द्यावापृथिवीनिबन्धना भुवनमर्य्यादा–सीमा–में ही अन्तर्भुक्त है, इसीलिए इसे पूर्व में द्युरूप 'परमधाम' कहना मानना अन्वर्थ भी बनता है। तथापि सहस्रवल्शेश्वर–महामायायाच्छिन्न मायी महत्त्वयात्मक परात्परपुरुष (षोडशीपुरुष) निबन्धन 'आभूप्रजापति' (आसमन्तात् भाति–भवति–व्याप्ता–भवति) रूप महामायी स्वयम्भूप्रजापति को सप्तभुवनात्मक–त्रिधामलक्षण द्यावापृथिवी की सीमित परिधि से बहिर्भूत ही माना जायगा। सहस्रवल्शाओं के अनुपात से सहस्रमार्गा में ही विभक्त त्रिधामात्मक द्यावापृथिव्य सप्तभुवनों की अपेक्षा से सहस्रवल्शेश्वर 'आभू' नामक महामायी स्वयम्भूप्रजापति विश्वकर्म्मा (मायी महेश्वर) को 'पर' ही माना जायगा, एवं इसी दृष्टिकोणमाध्यम से यह कहा और माना जा सकेगा कि, 'विश्वकर्म्मा आभू स्वयम्भू द्यु से भी परे हैं, एवं पृथिवी से भी परे हैं'। 'परो दिवा पर एना पृथिव्या' का यही तत्त्वार्थ है।

प्रत्येक वल्शेश्वर में आपोमय परमेष्ठीमण्डल, एवं अग्निमय सौरमण्डल, ये दो ही मुख्य संस्थान हैं। भूपिण्ड सूर्य्यसजातीय (आग्नेय) है, चन्द्रपिण्ड परमेष्ठिसजातीय (आपोमय) है। अतएव ये दोनों पिण्ड आपोमय परमेष्ठी, एवं अग्निमय सूर्य्य से संगृहीत हैं। फलतः वल्शात्मक पञ्चपर्वा विश्व में परमेष्ठी एवं सूर्य्य, इन दो संस्थाओं का ही प्राधान्य प्रमाणित हो जाता है। अपूतत्त्व ही वरुण है, यह वारुण आप्यप्राण ही 'असुर' है। एवं सौर आग्नेय प्राण ही 'देव' नामक देवता है, जैसा कि टिप्पणी में स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार परमेष्ठी–सूर्य्यवत् वल्शात्मक पञ्चपर्वा विश्व में आपोमय पारमेष्ठ्य असुरप्राण, तथा अग्निमय सौर देवप्राण, इन दो प्राजापत्य (स्वायम्भुव) प्राणों का ही प्राधान्य प्रमाणित हो जाता है। इसी आधार पर प्राकृतिक प्राणसपर्य्यात्मक आख्यानोपख्यानों में–'देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे' (शतपथ) इत्यादि रूप से सौर देव, तथा पारमेष्ठ्य असुरों की प्रतिद्वन्द्विता का ही उल्लेख रहता है। स्वायम्भुवप्राण 'ऋषिप्राण' कहलाया है। वल्शात्मक पञ्चपर्वा योगमायावच्छिन्न स्वयम्भू तो अवश्य ही परमेष्ठी–सूर्य्यवत् इनके असुर–देवप्राणों का प्रपञ्चक–प्रतिष्ठापक बनता हुआ तत्सृष्ट्वा न्याय से इन असुर–देवप्राणों की सीमा में ही अन्तर्भुक्त है। किन्तु सहस्रवल्शाधिष्ठाता महामायी आभू स्वयम्भू विश्वकर्म्मा इन दोनों प्राणों से भी परमेष्ठी–सूर्य्यवत् पर ही माना जायगा। इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—"परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति"।

'कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः०' इत्यादि मन्त्रोत्तरभाग हिरण्यगर्भात्मक सौरमण्डल का ही स्वरूपनिरूपण कर रहा है, जिसके द्वारा त्रिधामात्मक सप्तभुवनलक्षण पञ्चपर्वा विश्व के स्वरूप का आविर्भाव (अभिव्यक्ति) होता है। पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने 'शिरोमूलासृष्टि, हृदयमूलासृष्टि', पादमूलासृष्टि, ये तीन विभिन्न प्रकार माने हैं। इसका तात्पर्य्य है 'स्वयम्भूमूलासृष्टि–सूर्य्यमूलासृष्टि, भूमूलासृष्टि'। क्योंकि 'स्वयम्भू–सूर्य्य–भूपिण्ड' ये तीन ही पर्व सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वेश्वर (वल्शेश्वर) के क्रमशः 'सहस्रशीर्षा' उपलक्षित 'शिर', 'सहस्राक्षः' उपलक्षित 'हृदय', एवं 'सहस्रपात्' उपलक्षित 'पाद' हैं। इन तीनों विभिन्न दृष्टिकोणों के मूल विभिन्न तीन भाव हैं, जो क्रमशः "सृष्टिमूलासृष्टि–स्थितिमूलासृष्टि, हृतिमूलासृष्टि' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। प्राकृतिक उत्पत्तिक्रम ही 'सृष्टि' नामक प्रथम भाव है। प्रकृत्या स्वयम्भू से

ही सृष्टि का आरम्भ होता है। इस दृष्टि से सृष्टिको 'शिरोमूला-स्वयम्भूमूलासृष्टि' कहा जायगा। उत्पत्त्यनन्तर मध्यस्थ सूर्य्य के आदानप्रदानात्मक यज्ञ के द्वारा ही उत्पन्न विश्व स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित-स्थित रहता है। सूर्य्यसत्ताबल ही विश्वसत्ताबल माना गया है, जो स्वस्त्ययनात्मक पुण्याहवाचन कर्म्म में 'पुण्याह' नाम से प्रसिद्ध है, जिस का भारतीय माङ्गलिक ब्राह्मण 'पुण्याहं-पुण्याहम्' रूपसे यशोगान किया करते हैं। सूर्य्य का अभाव ही सृष्टिस्थिति का अभाव है। अतएव इस स्थितिमूलक दृष्टिकोण की अपेक्षा से विश्वसर्ग को सूर्य्यमूलक मान लिया गया है। इसी दृष्टि से सृष्टि को 'हृदयमूला'-सूर्य्यमूला' सृष्टि माना जायगा। सृष्टिसर्ग का द्रष्टा-व्याख्याता-श्रोता है पार्थिव ऋषि विद्वान्-लौकिक मानव। ऋषिमानव है इस रहस्य का द्रष्टा, विद्वान् द्विजातिमानव है इस ऋषिदृष्ट श्रौतरहस्य का स्मृतिरूप से व्याख्याता, एवं अस्मदादि लौकिक मानव हैं इस व्याख्या के श्रोता-अनुगन्ता यद्दमेघी। इस तीनों मानवों का आधार है भौमजगत् (पार्थिवजगत्)। इन की दृष्टि में प्रथमस्थान 'भू' है, द्वितीय स्थान सूर्य्य है, अन्तिमस्थान स्वयम्भू है। इस दृष्टिप्राधान्य से विश्वसर्ग का व्याख्याक्रम बन जाता है भू-सूर्य्य-स्वयम्भू। यही तीसरा दृष्टिकोण है। इसी दृष्टि से सृष्टिको 'पादमूला-पृथिवीमूला' सृष्टि घोषित किया जायगा। सृष्टिरहस्यप्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में तीनों ही प्रकार यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित हैं, जिनका उक्त विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय न करने के कारण ही व्याख्याता-श्रोताओं में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का उद्गम हो पड़ा है।

तात्पर्य्य पूर्व सन्दर्भ का यही है कि, सृष्टिस्वरूप के उपवर्णन में वैज्ञानिक महर्षियोंनें 'सृष्टि-स्थिति-दृष्टि-इन तीन दृष्टिकोणों से तीन प्रकारों का माध्यम स्वीकार किया है। सृष्टि बनी कैसे, किस से?, इस प्रश्न की मीमांसा में उन्होंनें स्वयम्भू को मूल मानकर विश्वस्वरूपमीमांसा की है, जिस का सृष्टिमूलक प्राकृतिक क्रम रहा है-'स्वयम्भू[१]-परमेष्ठी[२]-सूर्य्य[३]-भू[४]-चन्द्रमा[५]' यह। सृष्टि का 'स्वरूप कैसे किससे सुरक्षित है?, इस प्रश्न की मीमांसा में विश्वमध्यस्थ सूर्य्य को मूल मान कर विश्वस्वरूपमीमांसा हुई है। जिसका स्थितिमूलक क्रम रहा है-'सूर्य्य[१], चन्द्रमा[२], भू[३], परमेष्ठी[४], स्वयम्भू[५]' यह। सृष्टि का स्थूलरूप क्या है?, कौनसा सृष्टिरूप सर्वप्रथम मानव की दृष्टि का विषय बनता है?, इस प्रश्न की मीमांसा में विश्व के अन्त में प्रतिष्ठित भूपिण्ड को मूल मानकर विश्वस्वरूपमीमांसा हुई है। जिस का दृष्टिमूलक क्रम रहा है-भू[१]-चन्द्रमा[२]-सूर्य्य[३]-परमेष्ठी[४]-स्वयम्भू[५]' यह। इन तीनों क्रमों के माध्यम से ही विभिन्नरूप से तीन प्रकार से विश्वस्वरूपमीमांसा हुई है, जो प्रजास्वरूपमीमांसा से अंशतः समतुलित है*।

---

* गर्भस्थ शिशु के किस अङ्ग का सर्वप्रथम स्वरूपनिर्म्माण होता है?, प्रश्न के समाधान में विभिन्न भिषग्वरों के विभिन्न तीन मत हैं। प्रथम मस्तक का निर्म्माण होता है, यह एक मत है। प्रथम पैर बनने लगते हैं, यह एक मत है। प्रथम हृदय का निर्म्माण होता है, यह एक मत हैं। भगवान् चरक इस सम्बन्ध में अपना यह निर्णय अभिव्यक्त कर रहे हैं कि,-'सर्वे-सहैव'। अर्थात् शिर-हृदय-पादादि सब अङ्गों का निर्म्माण एक साथ ही होता है। स्पष्ट है कि मतत्रयनिरूपणा यह निर्म्माणभावना नैगमिक दृष्टिकोणत्रय को ही मूल बना कर प्रवृत्त हुई है। देखिए-चरकसंहिता शा० स्था०।
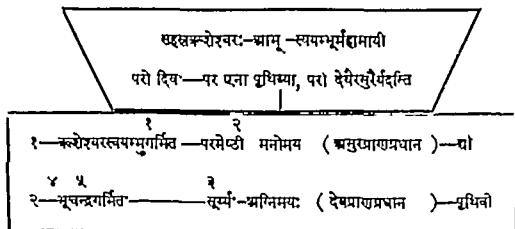
द्यावापृथिवी–स्वरूपपरिलेख :—

सहस्रकन्धोश्वरः–ग्राम् –स्वयम्भूर्महामायी
परो दिव—पर एना पृथिव्या, परो देवैरसुरैर्यदस्ति

१—कन्धोश्वरस्स्वयम्भुगर्भित [१] —परमेष्ठी [२] मनोमय (असुरप्राणप्रधान)—द्यौ
२—भूचन्द्रगर्भित [४] [५] ————सूर्य्य [३]–अग्निमयः (देवप्राणप्रधान)—पृथिवी

१–स्वयम्भुमूलासृष्टिः—शिरोमूला (सृष्टिमूलासृष्टि)–स्वयम्भू [१], परमेष्ठी [२], सूर्य्य [३], भूः [४], चन्द्र [५]

२–सूर्य्यमूलासृष्टि ——हृदयमूला (स्थितिमूलासृष्टिः)–सूर्य्य [१], चन्द्रमा [२], भू [३], परमेष्ठी [४], स्वयम्भू [५]

३–पृथिवीमूलासृष्टि —पादमूला (दृष्टिमूलासृष्टि)–भूः [१], चन्द्रमा [२], सूर्य्य [३], परमेष्ठी [४], स्वयम्भू [५]

उक्त तीनों दृष्टिकोणों में से प्रकृतमन्त्रोत्तरार्द्ध मध्यस्थ सूर्य्यमूलक–स्थितिभावप्रधान–दृष्टिकोण को ही प्रधानता देता हुआ कह रहा है कि–'कंस्विद्गर्भं प्रथम दध्र आप०'। आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में समुत्पन्न आङ्गिरस भृग्वग्नि के गर्भीभूत हो जाने से अग्नीषोमात्मक जो प्रचण्ड अग्निगोलक त्रैलोक्य-तम का निवारण करता हुआ अभिव्यक्त हो पड़ता है, वही अप्गर्भस्थ हिरण्मयाण्डमूर्त्ति सौरब्रह्माण्ड है, जिसमें–'चित्रं देवानामुदगात्' (यजुःसंहिता) इत्यादिरूप से देवदेवतात्मक सम्पूर्ण प्राणदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। 'कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समपश्यन्त विश्वे' इस उत्तर मन्त्रभाग का यही रहस्यार्थ है।

(२५०) 'तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र०' (१०) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१)—(९ नवम मन्त्र में प्रतिपादित सूर्य्यमूला–स्थितिभावप्रधाना विश्वस्वरूपमीमांसा का ही विस्तार से स्वरूपपरिलेखन करती हुई दशम मन्त्रश्रुति कहती है कि)–"उस (आपोमय परमेष्ठीसमुद्र) में भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति (स्नेहतेजोमय) आप तत्त्व ने सर्वप्रथम (सूर्य्यपिण्डनामक हिरण्मयाण्डलक्षण) गर्भ को धारण किया, जिस गर्भीभूत हिरण्मयाण्डमण्डल में सम्पूर्ण प्राणदेवता समाविष्ट हो गए। अज (अव्ययपुरुष) की नाभि (केन्द्र) रूप इस सूर्य में ही सम्पूर्ण विश्व समर्पित है, जिस सूर्य में कि सम्पूर्ण भुवन प्रतिष्ठित हैं"।

'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' (गीता ४।६।)—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठोप २।१८)–'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' (ऋक्सं) इत्यादि आर्षवचनानुसार मनोमय आत्मा अव्ययपुरुष ही 'अज' कहलाया है। सृष्टिक्रमानुसार यद्यपि स्वायम्भुवी संयतीत्रिलोकी में मनोमय अव्ययात्मा का, सौरी क्रन्दसीत्रिलोकी में प्राणमय अक्षरात्मा का, एवं पार्थिवी रोदसीत्रिलोकी में वाङ्मय सृष्टि,

चन्द्रात्मा का प्राधान्य बतलाया गया है। इस दृष्टिकोण से यद्यपि विश्वमध्यस्थ–अव्ययगर्भस्थ सौर हिरण्यगर्भ प्रजापति का अक्षरमयत्व ही प्रमाणित हो रहा है। तथापि एक विशेष औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मध्यस्थ सौरप्रजापति को 'ब्रह्म' नामक 'पर' अव्यय से, साथ ही 'ब्रह्म' नामक अवर क्षर से भी समन्वित मानते हुए इसे अध्ययात्मक्षरमूर्त्ति, विश्वकर्म्मा–षोडशीप्रजापति की उपाधि से भी समलङ्कृत माना जा सकता है। अपने प्रातिस्विक स्वरूप से महामायी अव्ययपुरुष निष्कल है, निरञ्जन है, निर्गुण है*। प्रश्न उपस्थित होता है कि, किसने कलचिति के द्वारा इस निष्कल ब्रह्म को पञ्चकलरूप में परिणत करते हुए 'षोडशीसकलपुरुष' रूप में परिणत कर दिया ? इस प्रश्न का एकमात्र समाधान महामायी अव्ययपुरुष के रसबलोभयमूर्त्ति हृदयस्थ ह–द–य–लक्षण–उक्थ रसानुबन्धी बल ही है, जिसे 'प्रकृति' कहा गया है, दर्शनभाषा में जो 'चेतना' नाम से प्रसिद्ध है, उपनिषदों में जो 'अक्षर' (अक्षरमूर्त्ति हृदयस्थ अन्तर्य्यामी) नाम से उपवर्णित हुआ है। इस प्रकृतिरूप अक्षर के व्यापार से ही अव्ययपुरुष कलचिति के द्वारा आनन्दविज्ञानादि पञ्चकलभावों में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में प्रकृति (अक्षर) ही इस ब्रह्मपुरुष को (अव्यय को) कलचिति के द्वारा 'चिदात्मा' रूप में परिणत कर इसे सम्भूति का अनुगामी बनाकर इसे विश्वेश्वर–विश्वकर्म्मा–विश्वात्मा–विश्वचर–उपाधियों से अलङ्कृत कर देती है। यही प्रकृतिरूप अक्षर अपने मर्त्यभाग से कलचिति के द्वारा पञ्चक्षरचिति का प्रवर्त्तक बनता है। इस प्रकार मध्यस्थ (हृदयस्थ) अक्षर ही परस्थ, अतएव 'पर' नामक अधिष्ठान–आलम्बनकारणात्मक ब्रह्म अव्यय के कलात्मक स्वरूपनिर्म्माण का, एवं अवरस्थ, अतएव 'अवर' नाम से प्रसिद्ध आरम्भण–उपादानात्मक–अतएव–'ब्रह्म' नाम के क्षर के स्वरूपनिर्म्माण का निमित्त बनता है। यही कारण है कि, उपनिषत् ने मध्यस्थ मध्यमधामात्मक अक्षर को ही परधामात्मक पराव्यय का, अवरधामा त्मक अवराक्षर का संग्राहक मानते हुए दोनों को भी अक्षर नाम से ही व्यवहृत करते हुए इसे ही सर्वमूर्त्ति घोषित कर दिया है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से प्रमाणित है—

[१]—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि—'ओम्' इत्येतत् ।

[२]—एतद्ध्येवाक्षरं 'ब्रह्म' एतद्ध्येवाक्षरं 'परम्' ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

—कठोपनिषत् १।२।१५,१६,।

मध्यस्थता ही अक्षर की द्वन्मूलता है, द्वन्मूलता ही अक्षर की सर्वरूपसंग्राहकता है, यही श्रुतिवचनों का निष्कर्षार्थ है। इसी विशेष दृष्टिकोण से मध्यस्थ अक्षरमूर्त्ति–अक्षरप्रधान सौरहिरण्यगर्भप्रजापति को 'ब्रह्म' नामक उस अध्यात्मपुरुष (षोडशी) से अभिन्न मान लिया जाता है, जो विश्वकर्म्मा बन रहा है। मानव

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥

—गीता१३।३१

की अध्यात्मसंस्था का सर्वस्व यही सौरप्रजापति बन रहा है, जैसा कि—'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' इत्यादि अन्य वचनों से प्रमाणित है। सौरप्रजापति ही विश्वसर्ग का सर्वेसर्वा बना हुआ है। यही सर्ग-स्थिति-लय-अधिष्ठाता बना हुआ है। सूर्य्यसत्ता ही विश्वसत्ता है, सूर्य्य का अभाव ही विश्व का अभाव है। आर्षनैगमिक सनातनवर्णाश्रमधर्म्म-सर्वविधप्रजातन्त्र-मोक्षस्वर्ग-आदि आदि यच्चयावत् विधि-विधानों की मूलप्रतिष्ठा यही सौरप्रजापति है। इसी अजरूप (षोडशीपुरुषाख्यरूप) सौरप्रजापति के आधार पर उसीप्रकार विश्व की जीवनसत्ता सुरक्षित है, जैसा कि—इन्द्रशक्ति के आधार पर ही मानव की जीवनसत्ता सुरक्षित रहती है। इन्द्रशक्ति की उत्क्रान्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही जैसे मानव का भौतिक स्वरूप निःशेष बन जाता है, तथैव इन्द्रशक्तिरूप सौरप्रजापति के अव्यक्तरूप में परिणत होते ही विश्व का भौतिक व्यक्त स्वरूप स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाता है। अतएव इसे हम अवश्य ही 'अजक' (षोडशीपुरुषात्मक विश्वकर्म्मा) मान सकते हैं, इस नाभि (केन्द्र) रूप सौरप्रजापति में ही सम्पूर्ण भुवनों को अर्पित-समर्पित मान सकते हैं। 'अजस्य नाभावध्येकमर्पितं, यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः,' इत्यादि मन्त्र इसी स्थितिमूलक दृष्टिकोण को प्रधानता देता हुआ सृष्टि का सूर्य्यमूलत्व, किंवा हृदयमूलत्व घोषित कर रहा है।

(२५१) 'न तं विदाथ य इमा जजान०' (११) मन्त्रार्थसमन्वय—

(११)—"जिस (विश्वकर्म्मा प्रजापति) ने इन सम्पूर्ण भुवनों को उत्पन्न किया है, उसे आप-हम (वास्तविकरूप से-इदमित्थमेवरूप से) नहीं जानते। (विश्वस्वरूपमीमांसक व्याख्याकार) आप लोगों के मस्तिष्क में (विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में) कुछ और ही प्रकार के (कल्पित) सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। (जिन्हें निर्णयात्मक नहीं कहा जा सकता)। नीहार से आवृत केवल वाक्कल्पनापरायण, उदरमात्रपरायण उक्थशास (उक्थरूप सृष्टि के मूलकारण का शासन-व्याख्यान करने वाले) ऐसे मानव इतस्ततः विचरण कर रहे हैं।"

प्रकृत मन्त्र विश्वस्वरूपमीमांसा की रहस्यपूर्ण दुरधिगम्यता-दुर्बोध्यता-दुर्विज्ञेयता की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित करता हुआ हमें यह उद्बोधनसूत्र प्रदान कर रहा है कि, अपनी चलित-स्खलित-आपातरमणीया भावुकतापूर्णा-प्रज्ञा के बल पर हम सहसा जिस प्रकार विश्वस्वरूपमीमांसानुगत पृथिवी-चन्द्रमा नक्षत्र-सूर्य्य-धूमकेतु-पार्थिव-चान्द्र-सौर-आदि विभिन्न शक्तियाँ, आदि आदि के मौलिक कारणों के अन्वेषण में, इनके व्याख्यान-स्वरूप प्रकार-प्रदर्शन आदि में प्रवृत्त होते हुए-'पृथिवी का ऐसा स्वरूप है-वैसा स्वरूप है-चन्द्रमा यों घूमता है-नक्षत्रों का एवंविधरूप है-' इत्यादिरूपेण घोषणा के द्वारा अपनी अभिज्ञता-पाण्डित्य प्रदर्शित करते रहते हैं, ऐसा यह चलित-स्खलितप्रज्ञ प्रकार, ऐसी यह अवरगघोषणा कदापि विश्वस्वरूपमीमांसा का यथावत् समन्वय नहीं कर सकती। इसके लिए तो सामान्यप्रज्ञा-अस्मदादि सामान्य मानवों के लिए एकमात्र आप्तवचनप्रामाण्य ही शरणीकरणीय है। आर्षदृष्टिसमन्वित आर्षभूमिमानव ही इस

* अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
—गीता ४।६।

दुरधिगम्य विश्वस्वरूपमीमांसा का वास्तविक स्वरूपव्याख्यान कर सकते हैं। मानवीय प्रज्ञा का अनुमान, अनुमानानुगता मनुदृष्टि, मनुदृष्टिप्रधाना आनुमानिकी सर्गप्रभवकारणमीमांसाएँ कदापि इस दिशा में सफल नहीं बन सकतीं। जिस विश्वकारणस्वरूप 'उक्थ' के सम्बन्ध में तत्त्वद्रष्टा महर्षियोंने भी-"योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सोऽङ्ग ! वेद, यदि वा न वेद" इत्यादिरूप से दुर्विज्ञेयता अभिव्यक्त करते हुये इसे सुसूक्ष्मा विज्ञानदृष्टि का लक्ष्य घोषित किया है, उस 'उक्थ' का एकमेलया केवल अपनी मनुदृष्टि के माध्यम से, प्रत्यक्षकारणों के बल पर, भौतिक प्रत्यक्ष परीक्षणों के आधार पर यथेच्छ कल्पनाओं का सर्जन कर लेना, एवं उनकी यथेच्छरूप से कल्पानप्रधाना व्याख्याएँ करने लग जाना, यह सभी कुछ आपातरमणीय है, अमान्य है। 'मनसा पृच्छतेदु-यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्-मनसा वि ब्रवीमि वो मह्यध्य-तिष्ठद्भुवनानि धारयन्' इत्यादिरूपा अन्तर्दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली मननप्रधाना सुसूक्ष्मा अन्तर्व्याख्या ही इस विश्वस्वरूपमीमांसा का समाधान कर सकती है। सर्वसामान्य मानव इस क्षेत्र में सर्वथा अनधिकृत ही माने जायँगे। उनका अभ्युदय-निःश्रेयस् तो एकमात्र 'यच्छन्द आह-तदस्माकं प्रमाणम्' के अनुगमन पर ही अवलम्बित है। जो भावुक मानव इस तथ्य को न जान कर कल्पना के द्वारा विश्व की यथेच्छ मीमांसा करते हुए यथेच्छ उक्थों का व्याख्यानोपव्याख्यान करने की भ्रान्ति करते रहते हैं, उनके सम्बन्ध में हमें यही कहना पड़ेगा कि, जिस प्रकार घने कोहरे (नीहार) से ढँका हुआ मनुष्य केवल कल्पना के आधार पर-"मैं यह देख रहा हूँ-यह देख लिया-यह देख लूंगा, उसका यह स्वरूप है-यह स्वरूप है-" इत्यादि कल्पना करता हुआ, केवल अपने मन में ही अपने आप को सन्तुष्ट मानता हुआ इतस्ततः लक्ष्यहीनरूप से विचरण करता रहता है, ठीक इसीप्रकार कल्पनाप्रधाना प्रत्यक्षमूला भूतदृष्टिरूप नीहार से सर्वात्मना आवृत समावृत अभिभूत व्याख्याता लोग कल्पना के द्वारा यथेच्छ कारणपरम्पराओं की घोषणा करते हुए, केवल अपने मनोराज्य में ही सृष्टितत्त्वमर्मज्ञ-कुशलव्याख्याता (अनुरूप) मानने मनवाने की भयावह भ्रान्ति करते हुए 'इतस्ततो वभ्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' को अन्वर्थ बनाते रहते हैं।

जिस उद्देश्य से श्रुति को मानव के सम्मुख-आस्तिक भावुक मानव के सम्मुख-यह उद्बोधनसूत्र उपस्थित करने की आवश्यकता हुई?, एक अनिवार्य प्रश्न उपस्थित हो जाता है -'न तं विदाथ य इमा जजान०' इत्यादि मन्त्रश्रुति के सम्बन्ध में। विश्वस्वरूपमीमांसात्मक महान् तात्त्विक सन्दर्भ के अन्त में सहसा उपस्थित हो जाने वाला ऐसा उद्बोधनात्मक प्रसङ्ग अप्रासङ्गिक सा प्रतीत होने लगता है। वर्तमान युग के भूतदृष्टिपरायण प्रत्यक्षवादी विश्वस्वरूपव्याख्याताओंने जिस नीहारप्रावृता स्थिति के माध्यम से विश्व की स्वरूपमीमांसा की है, जिस प्रकार इन्होंने भूस्तर-चन्द्रमा-नक्षत्रकक्षा-सूर्यगोलक-ग्रहसंस्थान-केतुस्वरूप-आदि की विवेचना की है, वैसा ही कुछ उस आदियुगात्मक वेदयुग में प्रचलित होता, तब तो फिर भी यथाकथंचित् हम इस उद्बोधनसूत्र को प्रासङ्गिक मान सकते थे। किन्तु उस युग में ऐसी अनर्गल आपात-रमणीय कल्पनाप्रधान कहानियों का कोई अस्तित्व ही नहीं था। हाँ, उस युग के प्रत्यक्षवादी सर्वसामान्य यथाजात मानव-"तदेतद्-अचिर्यांस आप्याहु-त्रयी वा एषा विद्या तपति" (शत० १०।५।२।२।) इत्यादिरूप से सूर्य्य-चन्द्रादि के प्रति अपना मौलिक श्रद्धान अवश्य प्रकट कर दिया करते थे, जिस के लिए एवंविध उद्बोधनसूत्र अनपेक्षित ही कहा जायगा। अतएव यह प्रश्न दृढमूल बन जाता है कि, सृष्टिस्वरूपविज्ञानप्रसङ्ग में यह अप्रासङ्गिक चर्चा क्यों?।

प्रश्न के समाधानके लिए हमें उस 'दशवाद' को लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिसका आदियुगात्मक वेदयुग से भी पूर्व के परम वैज्ञानिक 'साध्ययुग' से सम्बन्ध है, एवं जिसका ऋक्संहिता के ही सुप्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त' में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तत्त्वविज्ञानकर्म्मान्वेषण में सतत प्रवृत्त ज्ञान-विज्ञानिष्ठ 'साध्य', अद्भुत अस्त्रशस्त्रविधानिष्णात 'महाराजिक', कृषिगोरक्षवाणिज्यकुशल 'आभास्वर', एवं शिल्प कलानिष्णात 'तुषित', इन चार वर्गों में विभक्त तत्कालीन मानवसमाज में साध्यवर्ग ही प्रमुख माना जाता था, जिसने अपने सुसूक्ष्मेक्षण के द्वारा प्राकृतिक तत्त्वविमर्शन में अद्भुत क्षमता प्राप्त करते हुए भौतिक विज्ञानदिशा में महती सफलता अर्जित करली थी। 'प्रकृति ही सब कुछ है, एवं इसके रहस्यज्ञान से मानव सब कुछ कर सकता है, नवीन विश्वनिर्माण भी कर सकता है यदि कामना करे तो" इस प्रकार प्राकृतिक तत्त्वों के रसायनिक सम्मिश्रणात्मक यज्ञों का अन्य विजातीय यज्ञों (विजातीय यौगिक तत्त्वों) के समन्वय के आधार पर नाकमहिमा (स्वर्गमहिमा) का भी उपहास करने वाले साध्योंने * सृष्टिमूल के सम्बन्ध में केवल प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर जो सिद्धान्त स्थापित किए थे वे, ही सुप्रसिद्ध १० सिद्धान्त 'दशवाद' नाम से प्रसिद्ध हुए, जिन का एकमात्र लक्ष्य था 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त'। 'प्रकृतिमूलक यज्ञ (प्राकृतिक तत्त्वसम्मिश्रणात्मक यागात्मक योग) से यज्ञ का सम्बन्ध' ही इनकी दृष्टि में सर्वस्व था। प्रकृति-सत्तात्मक पुरुषसत्ता-ब्रह्मसत्ता से साध्य सर्वात्मना उसीप्रकार पराङ्मुख थे, जैसे कि वर्त्तमान जड़वादी केवल प्रकृतिवादी (वस्तुतः विकारवादी) जनता हुआ ब्रह्मसत्ताबोध से सर्वात्मना असंस्पृष्ट है। साध्यों के सृष्टि मूलात्मक उक्थ (कारण) ही 'अम्भोवाद[1]', व्योमवाद[2], आवरणवाद[3], सद्वाद,[4] असद्वाद[5], अहोरात्र-वाद[6], रजोवाद[7], मृत्युवाद[8], अमृतवाद[9], अमृतमृत्युवाद[10] ' इन 'वाद' नामों से प्रसिद्ध हुए, जो तत्त्वदृष्ट्या अपना एक विशेष महत्त्व रखते हैं +। ये दसों ही उक्थवाद उस युग में प्रचरण तर्क-युक्ति-प्रत्यक्षदृष्टि-परम्परा के माध्यम से प्रचार-प्रसार के अनुगामी बनते हुए तद्युगानुगत भावुक महाराजिक-आभा स्वरादि मानवप्रजा के स्वरूपविमोहन के कारण बने हुए थे। आगे चलकर स्वयम्भूब्रह्मसत्ता के प्रथम द्रष्टा, अतएव तद्युगीया व्यवस्था के अनुसार 'स्वयम्भूब्रह्मा' नाम से ही प्रसिद्ध ऋषिमानव के द्वारा उस ब्रह्मवाद की स्थापना हुई, जिसके आधार पर सर्वथा विभक्त दसों वाद एक अभिन्नसत्ता पर समन्वित किए गए। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' के स्थान में 'यज्ञेन प्रजापतिमयजन्त' घोषणा व्यवस्थित हुई। प्रकृति के साथ साथ पुरुषब्रह्मसत्ता का अनुगमन आरम्भ हुआ। और यों विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में 'नीहारेण प्रावृता जल्प्या असुतृप-उक्थशासः'-साध्यों के प्रकृतिवाद का उन्मूलन कर ब्रह्मा ने ब्रह्मसत्तात्मक कारणवाद प्रतिष्ठित किया, जिस एककारणतावाद की निम्नलिखितरूप से घोषणा हुई—

* यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
यजुःसंहिता ३१।१६।

+ विस्तारभिया यहाँ इनका स्वरूपनिरूपण करने में हम असमर्थ हैं। इन दसों वादों की संक्षिप्त स्वरूपदिशा का वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका नामक द्वितीय खण्ड के-ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा 'ग' विभागात्मक तृतीय विभाग में कर दिया गया है।

(१) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
(२)—न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥
(३)—तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥
—ऋक् सं० १०।१२९।१,२,३, ।

प्राक्मेरुमरुखलानुगता वेदधर्म्मव्यवस्था को प्रादुर्भूत करने वाले ब्रह्मसत्तावास्यापक स्वयम्भू ब्रह्मा (स्वयम्भू मनु) भारतीय मानवसमाज की वर्णाश्रमव्यवस्था के आदिप्रवर्त्तक बने । इसी मानवमनु के सम्बन्ध से भारतीयप्रजा 'मनुष्या'–'मानवा'–मनुजाः' कहलाई, और इस दृष्टिकोण से सांस्कृतिक–अपत्य परम्परानिबन्धनमाव के द्वारा 'मनोरपत्य मानव' लक्षण उस भावुकतापूर्ण लक्षण का भी समन्वय सम्भव बन सका, जिसका विश्वस्वरूपमीमांसा–निबन्ध के आरम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है, (देखिए पृष्ठ सं० मनुशब्द का भावुकतापूर्ण निर्वचन १६७) । ब्रह्मसत्तानुगामिनी मानवप्रजा की वर्णव्यवस्था साध्ययुगानुगता वर्णव्यवस्था से ही अनुप्राणित रही । क्योंकि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था भी अन्यान्य मौलिक व्यवस्थाओं की भाँति प्राकृतिकी–नित्या–जन्मसिद्धा ही है, जिसका गुणकर्म्मात्मक संस्कारविशेषों से विकासमात्र हुआ करता है, जैसा कि–'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च' (वशिष्ठ) इत्यादि आर्षवचन से प्रमाणित है । आदियुगानुगत साध्य ही इस ब्रह्मयुग में ज्ञानबलानुगामी 'ब्राह्मण' कहलाए, महाराजिक ही पौरुष बलानुगामी 'क्षत्रिय' कहलाए, आभास्वर ही वित्तबलानुगामी–भूतबलानुगामी 'वैश्य' कहलाए, एवं तुषित ही शिल्पकलोपजीवी 'शूद्र' कहलाए । यहाँ आकर वेदशास्त्रप्रामाण्यमूला शब्दप्रामाण्यभक्ति दृढमूल बनी, जिसे केन्द्रित किया वेदयुगात्मक देवयुग के उन देवमानवों ने, जो 'शापसोनपाः' नाम से प्रसिद्ध थे * ।

ब्रह्मसत्ता प्रतिष्ठित हुई, विश्वमूल का निर्णयात्मक दृष्टिकोण सुव्यवस्थित बना । सभी कुछ सुसमन्वित हुआ । किन्तु आदियुगानुगता साध्यभावना भी प्राकृतिक वारुण–आसुरप्राण के पारस्परिक अनुग्रह से प्रक्रान्त रही, जिसके आधार पर आर्षवैज्ञानिकों ने देवासुर–संग्राम की शाश्वतता घोषित की है । देवगुरु बृहस्पति, असुरगुरु शुक्र, इन दो आचार्यों के द्वारा भारतवर्ष में देवविद्या, एवं असुरविद्या का प्रचार–प्रसार प्रक्रान्त बना, जो अद्यावधि भी येनकेन रूपेण सत्कार्य्यवादसिद्धान्त क्रमेण प्रक्रान्त चला आ रहा है, एवं 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से यावच्चन्द्रदिवाकरौ प्रक्रान्त ही रहेगा । शुक्रविद्यामूला असुरविद्या जहाँ

* देवविभाग के आठ वर्ग हैं, जिनमें एक विभाग मानवेतिहास से सम्बन्ध रखने वाले 'भौमदेवता' ओं का है जो 'मानवदेवता' थे, जिनका अस्तित्व आज विलुप्त है । शतपथविज्ञानभाष्य के १–२–वर्षात्मक १–९–खण्डों में इन आठों वर्गों का विशद विवेचन कर दिया गया है ।

सत्यत्वमूलक–मूलप्रधान–अनृताद्यात्मक–भावकोचे जक–अन्तर्जगद्ग्लानिविपातक–भौतिक आविष्कारों का उत्सार प्रदान करती रहती है, वहाँ परस्परविविधामूला देवविद्यात्मिका निगमागमविद्या परोक्षमूलक–प्राणप्रधान–वचन भावात्मक–निष्ठासमर्पक–अन्तर्बहिर्मयजगत्–शान्ति–समृद्धिप्रवर्त्तक–आध्यात्मिक–आधिभौतिक–संघर्षात्मक–सद्भावों को प्रोत्साहित करती रहती है। असुरमूला सृष्टिविद्या, किंवा विश्वस्वरूपमीमांसा गन्धर्वनगर लीलावत् आपातरमणीया बनती हुई जहाँ नीहारेण प्रावृता रहती हुई पदे पदे संशय की जन्मदात्री है, वहाँ देवमूला विश्वस्वरूपमीमांसा प्रमाणानुगता लोकतत्त्वलीलावत् सर्वदा रमणीया प्रमाणित बनती हुई–निर्म्मला रहती हुई सर्वदैव–'इदमित्थमेव नान्यथा' का उद्घोष करती रहती है। भावुकमानव जहाँ परप्रत्ययनेयता से प्रावाहिक आसुरविद्याओं से विमोहित होता हुआ गतानुगतिक बना रहता है, वहाँ नैष्ठिक मानवमेव देवविद्या के द्वारा मोहातिक्रान्त बनता हुआ शाश्वतीभ्यः समाभ्य उसी सनातन–निगमागमनिष्ठा का अनन्योपासक बना रहता है। इसी नैष्ठिक मानव की इस शाश्वतीनिष्ठा को दृढमूल बनाने के लिए ही, इस साध्ययुग से आरम्भ कर प्रलय–पर्य्यन्त प्रवाहित नीहारप्रावृत स्खलनपरम्पराओं से उद्बुद्ध बनाए रखने के लिए ही मन्त्रमहर्षिने विश्वस्वरूपमीमांसात्मक तात्त्विक प्रकरण का उपसंहार–सर्वथा प्रसङ्गरूप से हो 'न तं विदाथ य इमा जजान' इत्यादि मन्त्र से किया है, जिसके उत्तरार्द्ध का प्रतीक 'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना०' इत्यादि औपनिषद मन्त्र माना जा सकता है। 'नीहारेण प्रावृता' का प्रतीक 'अविद्याया-मन्तरे वर्त्तमाना', है। 'जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति' का प्रतीक 'स्वयं धीरा पण्डितं मन्यमाना' है, एवं 'चरन्ति' का प्रतीक 'दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' है। 'क्षरं त्वविद्या०, (श्वे उ ५।१।) के अनुसार तमोगुणप्रधान भूतभौतिक मर्त्य पार्थिव क्षरात्मक विनाशी प्रपञ्च ही 'अविद्या' है, जिसका सहचारी बनता है असुतृपभावात्मक विषयासक्त–एषणापरायण मन, जिसके सम्बन्ध से बुद्धि का सहज सौर अमृतभावात्मक ज्योतिर्म्मय अमृतात्मनिबन्धन * विद्याभाग अभिभूत–आवृत हो जाता है, एवं अज्ञानमूला अविद्या–अधर्म्ममूलक अभिनिवेश–आसक्तिमूलक रागद्वेष–अनैश्वर्य्यमूला अस्मिता, ये चार अविद्याभाव उदित हो जाते हैं। इन चारों से, अथवा तो चारों में से १ २ ३–४–किसी से समन्वित लोकैषणात्मक मानव वास्तव में अविद्याग्रस्त है। भौतिक स्थूल क्षरात्मक जगत् को ही परमपुरुषार्थ मानते रहना, इसी के पीछे अनुधावन करते रहना ही अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानता है। इस अविद्यारूप क्षर प्रपञ्च में आसक्त–व्यासक्त विद्यात्मक अक्षरभाव के विरोधी–शाश्वत अमृतसत्ता के लोकलेश से भी अपरिचित विविध वादानुगामी भूतविज्ञानवादी साध्य, तदनुगामी असुरमानव, तत्सम्प्रदाय को अद्यावधि भी सुरक्षित बनाए रखने वाले चूँकि भूतविज्ञानवादी ही अविद्याग्रहग्रस्त बने रहते हुए 'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना' का अक्षरशः चरितार्थ करते रहते हैं। अपने क्षयमक भूतविज्ञानवाद को ही मानव का एकमात्र पुरुषार्थ घोषित करने वाले ये भूतविज्ञानवादी अपने आपको बड़ा ही कुशल–मेधावी–विद्वान्–सृष्टिरहस्यव्याख्याता धीर विद्वान् मानते रहते हैं, बड़े गर्व से अपनी मान्यताओं का उद्घोष करते रहते हैं। सदा ही अपनी चरानुभूतियों–भूतान्वेषणों–आविष्कारों के यशोगान में सटोप प्रवृत्त रहते हुए अपनी 'जल्प्या' उपाधि को समलंकृत करते हुए अपने मनोराज्य में मानस प्राणों से तृप्तितृप्ति का अनुभव करते हुए, अतएव 'असुतृप' उपाधि को अन्वर्थ बनाते हुए उपनिषत् के–'स्वयं धीरा पण्डितंमन्यमाना' रूप से सुप्रसिद्ध के

---

* क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।

—श्वे० उप० ५।१।

मौलिक कारणों की व्याख्या करते हुए पशुवत् विचरते रहते हैं। इन्हें यह स्वप्न में भी चिन्ता नहीं है कि, जिस अविद्यात्मक ज्वर को ही इन्होंने सर्वस्व मान रक्खा है, यह अविद्यात्मक ज्वर तो केवल भौतिक शरीर पर ही विश्रान्त है। वस्तुतः सृष्टि का मूल तो वह है, जो ज्वरवादी जानता भी नहीं। जिस मूल से यह विश्व कैसे उत्पन्न हुआ है, उस मौलिक कारण का तो इन ज्वरवादियों को आभास भी नहीं है। इन्हीं सब भावों का संग्रहरूप से स्वरूपविश्लेषण करते हुए ऋषि ने 'न त विदाथ य इमा जजान' इत्यादि उद्बोधनात्मिका प्रासङ्गिकी घोषणा की है।

(२५२)–'अचिकित्वान्–चिकितुषश्चिदत्र०' (१२) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१२)–"स्वयं यथार्थनिर्णय करने में असमर्थ, यथार्थनिर्णय में (अपनी सुसूक्ष्मा विज्ञानदृष्टि–आर्षदृष्टि–ऋषिदृष्टि के प्रभाव से) सर्वात्मना समर्थ उन कवियों को मैं अपनी जानकारी के लिए ही यह पूँछ रहा हूँ, क्योंकि मैं स्वयं इस रहस्य का जानकार नहीं हूँ। प्रश्न मेरा यही है कि, जिसने इन सुप्रसिद्ध ६ रजों को (अपने आकर्षणसूत्र से) अपने आप में व्यवस्थित बना रक्खा है, उस (रज से अतीत) अज एक तत्त्व का क्या स्वरूप है ?" किंवा–"जिस उस अज एक आत्मरूप में (स्वरूप में) जो कोई एक वैसा तत्त्व है, जिसने इन ६ ओं रजों का स्तम्भन कर इन्हें व्यवस्थित बना रक्खा है, उसका क्या स्वरूप है ?, यह मेरे जैसा अल्पज्ञ उन सुविज्ञों से जिज्ञासा कर रहा है, जो सुविज्ञ इस रहस्य को जान चुके हैं।"

आदियुगात्मक देवयुग के सुप्रसिद्ध परपारदर्शी महामहिम अनेक सात्त्विक रहस्यों के मन्त्रद्रष्टा, विशेषतः सौम्यमहानात्मनिबन्धना 'पितृविद्या' के द्रष्टा–व्याख्याता * महामहर्षि दीर्घतमा के द्वारा दृष्ट सुप्रसिद्ध 'अस्यवामीयसूक्त' का यह षष्ठ मन्त्र है। ऐसे महर्षि के ये उद्‌गार हैं कि, "मैं स्वयं क्योंकि नहीं जानता, किन्तु जानने की इच्छा रखता हूँ। अतएव जो इस विषय के जानकार हैं, उन से यह प्रश्न कर रहा हूँ।" इस दिशा में महर्षियों की आप्तता के प्रति अनन्य आस्था रखने वाले नैष्ठिक मानवों के हृदय में सहसा यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, "क्या वास्तव में महर्षि दीर्घतमा इस रहस्य को न जानकर ऐसा प्रश्न कर रहे हैं ?' सर्वश्रीसायणाचार्य्य ने तो इसी भाव का समर्थन करते हुए प्रस्तुत मन्त्र के आध्यात्मिक समन्वय की चेष्टा की है, जो 'वृद्धास्ते न विचारणीयचरिता–तिष्ठन्तु हुं वर्त्तताम्' न्याय से आलोच्य नहीं हैं। जबकि इसी सूक्त में इसी महामहर्षि के द्वारा–'दिवो मातृ सीम् पितृ मृ०' इत्यादि मन्त्र में विस्पष्ट रूप से इस प्रश्न का समाधान उपलब्ध हो रहा है, तो यह कदापि नहीं माना जा सकता कि, दीर्घतमा अज्ञता के कारण 'अचिकित्वान्' इत्यादि प्रश्न कर रहे हैं। फिर इस भाव का वास्तविक तात्पर्य्य क्या ?, क्यों विदितवेदितव्य महर्षि ने 'हम स्वयं नहीं जानते, इसलिए जाननेवालों से प्रश्न कर रहे हैं' इत्यादिरूप प्ररोचना शैली का अनुगमन किया ?। हमारे जैसा यथाजात लौकिक मानव रहस्यार्थगम्भीरा ऋषि की इस मन्त्रवाणी से सम्बन्धित इस दिशा का क्या समाधान कर सकता है। हाँ, इस सम्बन्ध में हम तो केवल यही निवेदन कर अपना उत्तरदायित्व उपरत कर देते हैं कि, जिस प्रकार सर्वलोकस्रष्टा विश्वकर्म्मा प्रजापति हमारे लिए

---

* महर्षि के अमुक पितृविद्यात्मक मन्त्रों के आधार से ही प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत् का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। देखिए, भाद्रविज्ञानग्रन्थान्तर्गत–सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् नामक तृतीय खण्ड का 'प्र० वि वि०' नामक परिच्छेद।

अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-अविज्ञेय है, तथय इन अचिन्त्य तत्वों के द्रष्टा महर्षियों की रहस्यार्थगभीर मन्त्रवाक् भी हमारे जैसे लोकप्रवृत्तियुक्त यथार्थों के लिए अविज्ञेय ही है। है सभी कुछ रहस्यपूर्ण शाश्वत सनातन तत्त्व १८ समन्वय के अतिरिक्त 'नान्य पन्था विद्यते अयनाय'।

रहस्यार्थगभीर ऋषिवाणी सर्वत्र परोक्षभाव को ही अपना लक्ष्य बनाए रहती है। कहीं प्रश्न के गर्भ में उत्तर समाविष्ट है, कहीं उत्तर के गर्भ में प्रश्न समाविष्ट है, कहीं परोक्ष नामनिर्वचनों में तत्त्वप्राण का स्वरूप निहित है, कहीं 'अविज्ञेयता' के माध्यम से वाङ्मनसपथातीत अविज्ञेयतत्त्वों को विज्ञेय प्रमाणित कर देने वाली शैली का अनुगमन हुआ है, तो कहीं प्रत्यक्ष विज्ञेय तत्त्वों को अविज्ञेयतामाध्यम से व्यक्त किया गया है। 'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस०', 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः', 'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद',-'नेतिनेतीत्युपनिषत्', 'अविज्ञातं विजानतां-विज्ञातमविजानताम्', 'विज्ञातारमरे था केन विजानीयात्'- 'कस्मै देवाय हविषा विधेम', 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः-अपि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'-'न त विदाथ य इमा जजान', 'पाकः पृच्छामि मनसा अविजानन्'-इत्यादि वचन ऋषिवाणी की इसी परोक्षप्रियशैली का समर्थन कर रहे हैं। 'अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्' इत्यादि प्रकृत मन्त्र भी इसी परोक्षशैली के आधार पर मायातीततत्त्व की ओर रहस्यरूप से मानवीय मनोबुद्धि का ध्यान आकर्षित कर रहा है।

स्थूलारुन्धतीन्यायेन इस सम्बन्ध में ऐसा कुछ आभास होता है कि, मायातीत परात्परब्रह्म के मायामय षोडशीपुरुष से स्वयम्भू के द्वारा समुत्पन्न यह पञ्चपर्वा विश्व अपने ६ रवों के रूप से अव्ययात्मप्रधान इस स्वायम्भुव षोडशीपुरुषलक्षण सत्यात्मा के सूत्रात्मरूप पर प्रतिष्ठित है। मायातीत परात्परतत् यह महामायावच्छिन्न-सर्वज्ञत्वेश्वर-स्वायम्भुव-सत्यषोडशीप्रजापति भी निष्कलाव्ययरूप विशुद्ध 'अज' रूप से मायातीत बनता हुआ वाङ्मनसपथातीत होकर अविज्ञेय, एवं अनिर्वचनीय ही है, जिस अविज्ञेय-अनिर्वचनीय अज अव्यय की सत्ता 'आलम्बन' रूप से (अधिष्ठानरूप से) प्रत्येक सर्ग में समष्ट्या-व्यष्ट्या-उभयथा रहती है। प्रत्येक सर्गव्याख्या में सर्गस्वरूपव्याख्याता उस अविज्ञेय अचिन्त्य का तद्रूप से ही स्मरण कर लेना अनिवार्य मानते हुए इस अनिवार्यता के माध्यम से अपनी पूर्णविज्ञता ही घोषित कर रहे हैं, जैसाकि-'विज्ञातमविजानताम्०' इत्यादि अन्य वचनों से स्पष्ट है। सर्वमूलमूत, अधिष्ठानकारणात्मक निष्कल अज अव्यय क्योंकि मायातीत, अतएव अविज्ञेय परात्परब्रह्म से समतुलित बनता हुआ अविज्ञेय है,[१] अविचिकित्स्य है। यही क्योंकि सम्पूर्ण सर्गों का उपक्रमस्थानात्मक अधिष्ठानकारण बनता है। अतएव दीर्घतमा महर्षि ने 'अचिकित्वान्०' इत्यादि रूप से लोकात्मक सर्गों का स्वरूपविश्लेषण करते हुए उसका अविज्ञेयतारूप से ही संस्मरण करा दिया है। न तो यहाँ प्ररोचना ही है, न महर्षि अज्ञ बन कर ही,'कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्' यह कह रहे हैं। सबकुछ जानबूझ कर ही अविज्ञेय-अचिन्त्य-अजतत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने के लिए ही महर्षि ने रहस्यरूप से इस परोक्षशैली का आश्रय लिया है, जो ऋषिपरम्परा की एक आश्चर्यकारिणी रहस्यार्थ प्रतिपादिका महत्त्वपूर्ण शैली है।

'इमे वै लोका रजांसि' (यजु सं ११।६। शत ६।७।४।५) इत्यादि मन्त्रब्राह्मणवचनानुसार लोक ही 'रज' नाम से प्रसिद्ध है। 'सप्त व्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिः' इत्यादि तन्त्र्यर्थस्मरणानुसार भूः-

भुवः–स्वः–महः–जनत्–तप–सत्यम्, इस रूप से लोक सात माने गए हैं। यदि लोक ही का नाम रज है, तो 'षड्मा रजांसि' के स्थान में 'सप्त इमानि रजांसि' होना चाहिए था। किस दृष्टि से महर्षि ने ६ ही रज माने ?, प्रश्न का समाधान 'रज' के पारिभाषिक अर्थ पर अवलम्बित है। 'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमान' (यजु सं० ३४।३१)–'रजसो विमाने' (य०७।१६)–इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियों में जिस अभिप्राय से रज शब्द पठित है, प्रकृतमन्त्र में भी रज शब्द उसी अभिप्राय से पठित है। यह क्रियाशील सृष्ट्युन्मुख भार्गवाङ्गिरस आपोमय पारमेष्ठ्य धामच्छद अत्रिप्राण ही 'रज' कहलाया है, जिसके सम्बन्ध से ऋतुमती की लोकभाषा (संस्कृतभाषा) में 'रजस्वला' कहलाई है, एवं 'छन्दोभ्यस्ता' नाम की श्रुतिभाषा में 'आत्रेयी' कहलाई है (देखिए, शत० १।४।५।१३)। पारदर्शकताप्रतिबन्धक–अतएव मूर्त्त (स्थूल) सर्ग का मूल उपादान–रजोगुणान्वित–भार्गवसौम्य, आङ्गिरस आग्नेय, दोनों पारमेष्ठ्य आप्यप्राणों से समन्वित, 'न त्रि इति अत्रि' इत्यादि * निर्वचनप्रधान प्राणविशेष ही 'अत्रि' कहलाया है, जिसके पार्थिवरूप से भास्वरसोमपिण्डात्मक 'चन्द्रमा' का स्वरूपनिर्माण हुआ है –।

भूरादि सत्यलोकान्त सातों लोकों में सत्यात्मक स्वयम्भूलोक तथाकथित अत्रिप्राण की सीमा से बहिर्भूत है। अतएव यह मूर्त्त पाञ्चभौतिक सर्ग से असंस्पृष्ट है। मूर्त्तसर्गात्मक रजःसर्ग का आरम्भ होता है भृग्वङ्गिरोऽत्रिमय (अतएव रजोमय) आपोमय परमेष्ठी से। अतएव इसे ही उपनिषदों नें 'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्०' इत्यादि रूप से 'शुक्र' (विश्वोपादानभूत द्रव्य) नाम से व्यवहृत किया है। 'तदेतद्–शुक्रमतिवर्त्तन्ति धीरा' (उप०) इत्यादि के अनुसार पारमेष्ठ्य इस शुक्र का अतिवर्त्तन, एवं स्वायम्भुव आकाशरूप सत्यात्मा का अनुगमन ही अपरामुक्ति मानी गई है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, यद्यपि लोक सात ही हैं। किन्तु सातवाँ सत्य स्वयम्भू क्योंकि रजोरूप मूर्त्त भाव से अतिक्रान्त है। अतएव उसे 'विरज ब्रह्मलोक' मान लिया गया है, जो कि रज से अतीत होने के कारण ही 'परोरजा' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव इसे लोकगणना से महर्षि दीर्घतमा ने पृथक् करते हुए 'षड्मा रजांसि' ही सिद्धान्त स्थापित कर दिया है। पूर्वप्रतिपादिता पञ्चविधा अपरसृष्टि का मूलप्रभव परमेष्ठीरूप अप्तत्व ही बनता है। यह ही दीर्घवृत्तात्मक त्रिचाली सर्ग का आधार बनता है। जो दृढ़ौना है, वह स्वरूपतः स्थिर है। उसमें कम्पन नहीं है। अतएव सत्यस्वयम्भू स्थिर है, शेष अप्तत्वात्मक ६ ओं लोक गतिमान् हैं। सहजभाषा में यों समन्वय कर लीजिए कि, चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर अपने 'दक्षवृत्त' पर परिक्रमा लगा रहा है, सचन्द्र भूपिण्ड अपने 'अक्षवृत्त' पर परिभ्रमण करता हुआ (इसके द्वारा अहोरात्रनिबन्धना दैनंदिनगति का स्वरूपप्रवर्त्तक

---

* अपनी घन–तरल–विरल–अवस्थाओं से भृगुतत्त्व–आप, वायु, सोमः, इन तीन रूपों में, अङ्गिरातत्त्व अग्निः, यमः, आदित्यः, इन तीन रूपों में विभक्त है। इस प्रकार दोनों ही पारमेष्ठ्यतत्त्व त्रि–त्रिः–रूपों में परिणत रहते हैं। इन दोनों ही प्राणों के साथ मूर्त्तभावप्रवर्त्तक–स्थानावरोधी (जगह रोकने वाला), अतएव 'धामच्छद' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य जिस प्राण का सम्बन्ध रहता है, वह एक ही रूप में में परिणत रहता है। अतएव 'न त्रिः' इस निर्वचनानुसार इसे 'अत्रिः' कहा गया है।

– देखिए–अत्रिख्याति का पौराणिक प्रकरण।

जनता हुआ इस स्वाक्षपरिभ्रमण के साथ साथ) साम्वत्सरिक 'क्रान्तिवृत्त' पर* सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्र-भू-सहित सूर्य्य-पिण्ड 'अयनवृत्त' पर परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। एवं चन्द्र-भू-सूर्य्य-सहित परमेष्ठी 'विरवृत्त' पर स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। परमेष्ठी, चन्द्रमा, इन दोनों मार्गव सौम्यपिण्डों का स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है। सूर्य्य, भूपिण्ड, इन दोनों आग्नि रस आग्नेय पिण्डों का स्वाक्षपरिभ्रमणपूर्वक वृत्तपरिभ्रमण है। इसप्रकार चारों पिण्ड परिभ्रममाण हैं अलातचक्रवत्। स्वयं स्वयम्भू स्थिर है। अतएव इसे लोकातीत मान लिया जाता है। लोकातीत, वागग्निलक्षण-आत्मशात्मा, अविचाली,वृत्तीना सत्य स्वयम्भू परोरजा ने ही इन ६ ओं रजों का अपनी सूत्रशक्ति के द्वारा उसी प्रकार नियमित व्यवस्थित रूप से स्तम्भन कर रक्खा है, जैसे कि नागदन्त (खूँटी) से बंधा हुआ सूत्र (डोर) अग्रभागस्थित वस्तुआदिको आबद्ध रखता हुआ इसे मर्य्यादित बनाए रहता है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए श्रुति ने कहा है—'वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि'। अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा, तीनों स्वायम्भुव मनोता माने गए हैं (देखिए पृ० सं १७८)। हृ-द-यम्-लक्षण हृदयाक्षरत्रयी (ब्रह्मेन्द्रविष्णुमयी) ही स्वयम्भू का अन्तर्य्यामीरूप है, जिसे 'शास्ता'-'नियतिदण्ड'-'ब्रह्मदण्ड'-आदि नामों से भी व्यवहृत किया गया है। पिण्डपुष्ठात्मक अग्नि-सोम नामक दोनों अक्षर ही 'सूत्रात्मा' है। एवं ऋग्-यजु-सामलक्षणा ब्रह्मनिःश्वसितरूपा अपौरुषेया वेदत्रयी ही स्वायम्भुव वेदात्मा है। इन तीन मनोताओं से स्वयम्भू सत्यात्मा निःसत्य बना हुआ है। अन्य सोपाधिक विश्वसत्यों का सत्य यही सत्य है। अतएव इसे 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। निम्नलिखित निगमागमवचन इसी सत्यात्मा का स्वरूपविश्लेषण कर रहे हैं—

(१)— भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्य्यः ॥
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ (तै० उप० २।८)

(२)— सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्यसत्यं ऋतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना ॥

—श्रीमद्भागवत

स्वायम्भुव सूत्रात्मा के आकर्षण से ही ६ ओं रज आकर्षित होते हुए मर्य्यादित बने हुए हैं, यही तात्पर्य्य है, जिसका 'वियस्तस्तम्भ' से निरूपण हुआ है। आत्मप्रधात्मा-अन्तर्य्यामी-सूत्रात्मा-वेदात्मा-सत्यस्यसत्य-मूर्त्ति-परोरजा-विरज-सत्तम जिस स्वयम्भू प्रजापति ने इन भूरादि परमेष्ठ्यन्त ६ ओं रजों का अपने सूत्ररूप

---

* सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् । देवत्रा रथ्योर्हिता । (सामसं० पू० ३।२।)।
यस्य इन्द्रमवर्द्धयत् , यद् भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि । (ऋक्सं० ८।१४।५)।

में स्तम्भन कर रक्खा है, वह सत्यस्वयम्भू उस षोडशीप्रजापति नामक महामायी सहस्रवल्शेश्वर–अश्वत्थ नामक अज अव्यय के महामायावच्छिन्न व्यापक (विश्वव्यापक) रूप में अङ्गसम्बन्ध से समाविष्ट 'एक' ही रूप है। यहाँ समन्वय यही अपेक्षित है कि, महामायी सहस्रवल्शेश्वर षोडशीप्रजापति 'अज' नामक अव्ययात्मा है, जिसके लिए–'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन' इत्यादि प्रसिद्ध है। जैसा रूप (स्वरूप) इस सहस्रवल्शेश्वर महामायी अज का है, ठीक वैसा ही रूप, यही सस्थानक्रम विश्वकम्मा-एकपञ्चपुण्डीर-प्राजापत्यवल्शात्मक ईश्वर योगमायी स्वयम्भू प्रजापति का है, जिसने ६ रजों का स्तभन कर रक्खा है। परमेष्ठी-सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा, ये चारों पुण्डीर तो अण्डसृष्टि से समन्वित होते हुए दीर्घवृत्तात्मक त्रिकेन्द्रभाव में परिणत होते हुए उस तुरीया, अतएव एककेन्द्रात्मक, अतएव सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख महामायी सहस्र-वल्शेश्वर के रूप (स्वरूप) से सर्वात्मना समतुलित नहीं है। इन चारों को स्वमहिमामण्डल में भक्त रखने वाला स्वयम्भू ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है, जो उस तुरीया की भाँति अण्डसृष्टि से असंसृष्ट रहता हुआ तुरीया है, अतएव तद्वत् यह भी सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष सहस्रपात् है। इस प्रकार उस महामायी सहस्रवल्शेश्वर अज के रूप में इन पाँचो पुण्डीरों में से एकमात्र 'स्वयम्भू' नामक तुरीया पुण्डीर ही ऐसा पुण्डीर है, जो उससे सर्वात्मना समतुलित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है–'अजस्य रूप किमिपि स्विदेकम्–(सहस्रवल्शेश्वरलक्षणे अजस्वरूपे किमप्येकम्–यदस्ति–पुण्डीरस्वयम्भू-स एव वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि)। यही प्रकृतमन्त्र का सङ्क्षिप्त अक्षरार्थसमन्वय है।

(२५३) 'तिस्रो मातृन्त्रीन् पितृन् बिभ्रत्०' (१३) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१३) " तीन माताओं को, एवं तीन पिताओं को (इस प्रकार इन ६ दम्पतियों को) धारण करता हुआ (वह) एक (इन सब के) ऊर्ध्वभाग (ऊपर) में स्थित रहता हुआ (यत्किञ्चित् भी तो) ग्लानि का (थकानका) अनुभव नहीं करता। उस द्यु के (सर्वोच्च) पृष्ठ पर वे (सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक) विश्वपर्व विश्वावीता वाक् से मन्त्रणा करते रहते हैं (समन्वित होते रहते हैं)।"

अबतक विश्वस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में जो बारह मन्त्र व्याख्यात हुए हैं, उन में कई एक ऐसे भावों का उल्लेख हुआ है जिनके आधार पर विश्वपर्वों की संख्या के सम्बन्ध में परस्पर समन्वय कर लेना सर्वसाधारण के लिए कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए 'या ते धामानि०' इत्यादि मन्त्रद्वारा विश्व के 'परमधाम–मध्यमधाम–अवमधाम' ये तीन धाम बतलाए गए हैं। तीनों का क्रमशः स्वयम्भूगर्भित परमेष्ठी-सूर्य्य–चन्द्रगर्भितपृथिवी–इन तीनों के साथ सम्बन्ध बतलाते हुए तीनों को संयती–क्रन्दसी–रोदसी–नाम के तीन लोक बतलाया गया है। इस दृष्टि से विश्वपर्व तीन भागों में विभक्त प्रमाणित हो रहे हैं। कभी स्वयम्भू परमेष्ठी–सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा, भेद से विश्वपर्व पञ्चधा विभक्त प्रमाणित किए जा रहे हैं। अन्यत्र स्वयम्भू को तो अपकर्म्म से पृथक् माना जा रहा है, एवं 'परमेष्ठी[१]–सूर्य्य[२]–भूपिण्ड[३] महिमापृथिवी[४]–चन्द्रमा[५], इस प्रकार चार के ही पाँच पर्व मानकर इनके साथ क्रमशः अस्त्वण्ड, हिरण्मयाण्ड, पोषाण्ड, यशोऽण्ड, रेतोऽण्ड क्रम से पाँच अण्डों का सम्बन्ध बतलाया जा रहा है। कभी भूः-भव –स्वः-मह –जनत्–तपः-सत्यम्–सात लोक बतलाते हुए विश्व को सप्तपर्वा घोषित किया जा रहा है। तो कभी इनमें से ६ को लोक माना जा रहा है, सातवें सत्य को लोकाधिष्ठाता प्रमाणित किया जा रहा है। स्थूलदृष्टया परस्पर असमन्वित

से प्रतीत ये सभी विभिन्न दृष्टिकोण सुसूक्ष्म 'त्रैलोक्यत्रिलोकीविज्ञान' के परिज्ञान से सर्वात्मना सुसमन्वित हो जाते हैं। अतएव १३–१४, इन दो मन्त्रों से यही समन्वयविज्ञान स्पष्ट हुआ है।

सौमत्रिलोकी[1], उरुवृत्रिलोकी[2], कश्यपत्रिलोकी[3], यज्ञत्रिलोकी[4], वामनत्रिलोकी[5], अध्यात्म त्रिलोकी[6], स्वौम्यत्रिलोकी[7], त्रैलोक्यत्रिलोकी[8], भेद से अष्टधा विभक्त वेदवाक्त् त्रिलोकी भी आठ वर्गों में विभक्त मानी गई है, जिसका अन्य निबन्धों में यथावसर विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। प्रकृत के दोनों मन्त्रों (१३–१४) से आठवीं 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिसके सुसमन्वय के अनन्तर सिरयपर्वानुबन्धी सम्पूर्ण विभिन्न दृष्टिकोण सुसमन्वित हो जाते हैं। 'द्यौष्पितः०' * इत्यादि मन्त्र श्रुति के अनुसार 'द्यौ' का पारिभाषिक नाम 'पिता' है, एवं पृथिवी का पारिभाषिक नाम 'माता' है। द्यौः और पृथिवी, इन दोनों का मध्य का भाग 'अन्त ईक्षते' निर्वचनानुसार 'अन्तरीक्ष' कहलाया है, जो परोक्षभाषा में अन्तरिक्ष कहलाता है। इसप्रकार दो के तीन लोक हो जाते हैं, जिनका समष्टयात्मक पारिभाषिक नाम है– 'द्यावापृथिवी', जैसा कि 'इमे वै द्यावापृथिवी परीशासौ' (शत० १४।२।१।११) ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। 'द्यौ' 'आ' पृथिवी'' का ही सन्ध्यात्मकरूप द्यावापृथिवी है। मध्यस्थ 'आ' आर अन्तरिक्ष का ही संग्राहक बन रहा है। अन्यत्र इन्हीं तीनों के सांकेतिक नाम क्रमशः 'स्वः भुव भूः' भी माने गए हैं। यही 'त्रिलोकी' शब्द का सामान्य स्वरूपपरिचय है। इसी को मूल मानकर हमें मन्त्रार्थ का समन्वय करना चाहिए।

'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' (शत० ब्रा०) के अनुसार उक्त तीनों लोक आत्मानुबन्धी मन-प्राणवाग्भावों के नैसर्गिक त्रिवृद्भाव के कारण त्रिवृद्भावापन्न बन रहे हैं, जिसका अर्थ यही है कि भूरूप पृथिवीलोक, भुवःरूप अन्तरिक्षलोक, स्वःरूप द्युलोक, तीनों प्रत्येक क्रमशः भूः–भुवः–स्वः, इस रूप से तीन तीन अवान्तर लोकों में परिणत हो जाते हैं। फलतः इस त्रिवृद्भाव के कारण तीन के ९ लोक हो जाते हैं। यही 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' की सामान्य रूपरेखा है। इस दृष्टि से ९ लोकों में तीन द्यौः हैं, तीन पृथिवी हैं, तीन अन्तरिक्ष हैं। द्यौः, और पृथिवी पूर्वकथनानुसार क्रमशः पिता-माता हैं। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है–'तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रत्०' इत्यादि। 'भूः' रूप प्रथम लोकानुबन्धी भूः–भुवः–स्वःरूप त्रिवृद्भाव प्रथम त्रैलोक्य है जो 'रोदसीत्रैलोक्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'भुवः' रूप द्वितीय लोकानुबन्धी भूः–भुवः – स्वःरूप त्रिवृद्भाव द्वितीय त्रैलोक्य है, जो 'क्रन्दसीत्रैलोक्य' कहलाया है। एवं 'स्वः' रूप तृतीय लोकानुबन्धी भूः–भुवः–स्वः रूप त्रिवृद्भाव तृतीय त्रैलोक्य है, जो 'संयतीत्रैलोक्य' नाम से प्रसिद्ध है। तीनों के क्रमशः भवाधार–विष्णुधार–इन्द्राधार, ये तीन हृदयाधार मूलाधिष्ठान बने हुए हैं।

---

* द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त ॥
—ऋक्संहिता ६।५१।५।

नवलोकात्मकत्रैलोक्यस्वरूपपरिलेखः—

लोक	त्रैलोक्य	त्रिलोकी	
१– (३) स्व: द्यौ	द्यावापृथिवी—स्वर्लोकः	ब्रह्माक्षरत्रिलोकी (स्वायम्भुवी)	त्रैधा त्रैलोक्यत्रिलोकी (नवलोकात्मिका)
२– (२) भुव:—अन्तरिक्षम्	(संयतीत्रैलोक्यम्)		
३– (१) भू:—पृथिवी			
४– (३) स्व:—द्यौ	द्यावापृथिवी—भुवर्लोकः	विष्णवक्षरत्रिलोकी (पारमेष्ठिनी)	
५– (२) भुव:—अन्तरिक्षम्	(क्रन्दसीत्रैलोक्यम्)		
६– (१) भू:—पृथिवी			
७– (३) स्व:—द्यौः	द्यावापृथिवी—भूर्लोकः	इन्द्राक्षरत्रिलोकी (सौरी)	
८– (२) भुव:—अन्तरिक्षम्	(रोदसीत्रैलोक्यम्		
९– (१) भू:—पृथिवी			

तीन माता—रूप तीन पृथिवीलोक, तीन पिता—रूप तीन द्युलोक, अतएव तीनों द्यु—पृथिवियों के तीन ही अन्तरिक्ष, सम्भूय ९ लोक हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, 'सप्त व्याहृतीनां—प्रजापतिऋषिः' इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तसम्मत ७ लोकों का क्या अर्थ ?। प्रश्न का समाधान 'अन्तर्भाव' से समन्वित है। रोदसी नामक प्रथम त्रैलोक्य का स्वर्लोक क्रन्दसी नामक द्वितीय त्रैलोक्य का भूर्लोक बन रहा है। एवं क्रन्दसी त्रैलोक्य का स्वर्लोक संयती नामक तृतीय त्रैलोक्य का भूर्लोक बन रहा है। इस प्रकार ९ में से दो लोक संयती, एवं क्रन्दसी त्रैलोक्यों में अन्तर्भूत हो रहे हैं। फलतः गणनास्थिति में ९ के स्थान में ७ ही लोक शेष रह जाते हैं, जैसाकि पूर्व की सप्तव्याहृतिमूलक तालिकाओं में स्पष्ट किया जा चुका है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि लोक सात हैं, तो फिर 'षडिमा रजांसि' का क्या अर्थ ?। उत्तर पूर्वनिरूपण से गतार्थ है। सातवाँ पुण्डीरस्वयम्भू पुण्डीरात्मक विश्वापेक्षया जहाँ लोकसीमा में अन्तर्भुक्त रहता हुआ 'लोक' (व्यक्त) है, वहाँ सहस्रपुण्डीरात्मक व्यापक अव्यक्त रोदसी विश्वकर्मा स्वयम्भू का 'अवस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' के अनुसार) प्रतीक बना हुआ, तदभिप्रायेणया तद्रूप ही बनता हुआ लोकातीत है, अतएव लोकसीमा से बहिर्भूत बनता हुआ अनादि ६ओं लोकों का मूलाधार बन रहा है।

इसके अतिरिक्त ६ लोक जहाँ गतिभाव के कारण 'रजः' (क्रियात्मक गतिशीलतत्त्व) हैं, वहाँ सातवाँ क्रम स्वयम्भू लोक अपने पूर्णात्मक 'तृतीया' रूप से सत्त्वगुणक बनता हुआ स्थिर है। इस दृष्टि से भी इस सप्तलोकगणना से पृथक् मान लिया जाता है। इस प्रकार लोकानुबन्धिनी सभी समस्याओं का त्रैलोक्य-त्रिलोकीविज्ञान के समन्वय के द्वारा सर्वात्मना यथावत् समन्वय हो जाता है।

यह प्राकृतिक नियम है कि, किसी भी भार का वहन करने से भारवाही म्लान हो जाता है, क्लान्त बन जाता है, थक जाता है। कारण यही है कि, 'भार' धर्म्मात्मक मूर्त्त पदार्थ धामच्छद होता है। अतएव यह अपने केन्द्र की ओर अपने पिण्डात्मक मूर्त्त पदार्थ को आकर्षित किए रहता है। उदाहरण के लिए एक पाषाणखण्ड को ही लक्ष्य बनाइए। पाषाण का केन्द्र पाषाणभार को चारों ओर से अपनी ओर आकर्षित रखता है। जब एक व्यक्ति इसे उठाता है, तो यह तो इसे अपने केन्द्राकर्षण से आकर्षित करता है, दूसरी ओर पाषाणकेन्द्र इस पाषाण को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। दोनों आकर्षणों का समन्वय ही व्यक्ति को 'भार' प्रतीत कराता है। कालान्तर में इस विजातीय पाषाणकेन्द्राकर्षण से अपने केन्द्राकर्षण का अधिक समय पर्य्यन्त समसमन्वय सुरक्षित रखने में असमर्थ होता हुआ पाषाणभार से क्लान्त बनकर इसे अन्ततोगत्वा छोड़ देता है। हाँ, यदि व्यक्ति का केन्द्रापकर्षणात्मक आकर्षणबल पाषाणकेन्द्राकर्षण बल से अधिक बलवान् होता है, तो उस दशा में यह व्यक्ति इस पाषाणभार से नहीं थकता। साधारण व्यक्ति एक दो मन के पाषाणभार से जहाँ क्लान्त हो जाता है, वहाँ मल्ल ५-७ मन के पाषाण को कन्दुक (गेंद) का उठाता हुआ अणुमात्र भी क्लान्ति का अनुभव नहीं करता। क्या इस भारसमतुलन के लिए भारवाहक का भारात्मक पदार्थ की अपेक्षा अधिक स्थूल होना आवश्यक है ?, नेति होवाच। मूर्त्त पिण्ड की स्थूलता-कृशता से केन्द्राकर्षणात्मक भार के तारतम्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। कृशशरीरी भी दृढगात्र व्यक्ति अधिक भार उठा सकता है, एवं स्थूलशरीरी भी शिथिलगात्र व्यक्ति थोड़े से भार से क्लान्त हो जाता है। वस्तुतः इस भार का समतुलन हो रहा है 'केन्द्रबिन्दु' पर। यदि केन्द्रबिन्दु के साथ अपने केन्द्रबिन्दु का समसमन्वय कर दिया जाता है, तो इस केन्द्रसमसमन्वय से एक छोटा भी पदार्थ अपने से बड़े भी आकार-प्रकार के पदार्थ का निर्भाररूप से वहन कर लेता है। यही सुप्रसिद्धा 'केन्द्रापकर्षिणीविद्या' है, जिसका अपने अन्तर्जगत् के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध स्थापित कर लेने के अनन्तर हृदयबलसिद्ध वह साधक अतुलित भार को निर्भाररूप से कन्दुकवत् उठा सकता है, जिसके प्रचण्ड उदाहरण निगमागमविद्यास्वरूप भगवान् वासुदेव कृष्ण माने जा सकते हैं, जिनका गोवर्द्धनधारण आस्तिकजगत् की मान्यता से अनुप्राणित बन रहा है *।

---

* प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ (यजुःसंहिता ३१।१९)

उक्त मन्त्रद्वारा इसी प्राजापत्या केन्द्रापकर्षिणीविद्या की रूपरेखा का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड अग्नीषोमात्मकों से अनुप्राणित अन्नाद-अन्नरूप परस्पर अग्नीषोमों से तद्रूप है। इस अग्नीषोमात्मक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में हृ-द-यम्-रूप मनोब्रह्मविष्णु (स्थिति-गति-आगति) लक्षण, अन्तर्य्यामी नामक जो इन्द्रशक्ति प्रतिष्ठित रहती है, गर्भस्थिता (केन्द्रस्थिता) वही शक्ति 'प्रजापति' कहलाई है, जिसकी

[शेष पृष्ठ ४११ पर देखिए]

चन्द्रकेन्द्रशक्ति भूकेन्द्र से, भूकेन्द्रशक्ति सूर्य्यकेन्द्र से, सूर्य्यकेन्द्रशक्ति परमेष्ठिकेन्द्रशक्ति से, एवं इन सब की केन्द्रशक्तियाँ स्वायम्भुवी प्राजापत्या महीयसी सर्वकेन्द्रशक्ति से समतुलित है। उसका केन्द्राकर्षण प्राजापत्यात्मा है, भृशौबाभावापन्न है। अतएव समस्त विश्वात्मक–मूर्त्त–अमूर्त्तात्मक–यद्रूपात्मक भार का वहन करते हुए भी वह यत्किञ्चित् भी म्लान–क्लान्त–भ्रान्त–परिभ्रान्त–क्षुब्ध नहीं होता, नहीं हो सकता।

(पृष्ठ ४१० का शेष)
अथवा अग्नीषोमात्मक पिण्ड, एवं साक्लाहस्रीरूप छन्दोमास्तोमात्मक वस्तुपिण्ड का वह महिमामण्डल ही है, जिसके केन्द्र में वस्तुपिण्ड सुरक्षित रहता है। महिमा के केन्द्र में वस्तुपिण्ड, एवं वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्राजापत्या वह शक्ति, जो अपने अविनाशी अनुच्छित्तिधर्म्म से–अक्षरधम्मा है, नित्य है, अजायमान है, एवं जिस अजायमान अक्षरशक्ति से नित्य अविनाभूत क्षरशक्ति के द्वारा ही मूर्त्त वस्तुपिण्ड उत्पन्न हुआ है, प्रतिष्ठित है। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते' का यही अक्षरार्थ है। कैसे इस हृदयस्थिता प्राजापत्या केन्द्रशक्ति का परिचय प्राप्त किया जाय ?, मन्त्र का उत्तर भाग इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। जो वस्तुपिण्ड भृशौबा (वर्त्तुलाकार–गोलाकार) होता है, त्रिकोणमिति–सिद्धान्तानुगता 'त्रिज्या' से उस वस्तुपिण्ड के केन्द्र का तो सुविधा से समन्वय हो जाता है। किन्तु त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त (अण्डवृत्त), अष्टकोण, षट्कोण, चतुष्कोण, त्रिकोण, किंवा यत्किञ्चित् लम्बित पिण्डों के केन्द्र का परिचय कठिन बन जाता है, जिस कठिनता से त्राण पाने का एक अन्यतम सरल उपाय है 'भारसमतुलन'। एक लकड़ी (छड़ी-बैंत) को आप अपनी मध्याङ्गुली पर रखिए। आप देखेंगे लकड़ी पार्थिवकेन्द्राकर्षण से अङ्गुली पर स्थिर न रह कर कभी इधर तो कभी उधर लुढ़कती रहती है। आप शनैः शनैः सावधानी से इसके समतुलन का प्रयत्न प्रक्रान्त रखिए। जिस भी बिन्दु के साथ आप की अङ्गुली के लकड़ीप्रदेशयुक्त केन्द्र का, लकड़ी के केन्द्र का, एवं भूकेन्द्र का, तीनों केन्द्रों का समसमतुलन हो जायगा, उसी क्षण लकड़ी 'स्थिररूप' से अङ्गुली पर ठहर जायगी। अवश्य इस केन्द्र के आधार पर ही सम्पूर्ण वस्तुपिण्डमात्राओं का भार स्थित रहता है— 'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'। हाँ, है यह काम थोड़ा बुद्धयनुगत स्थिरता-धीरता से सम्बन्धित। शीघ्रता-चञ्चलप्रज्ञता में आप केन्द्रसमतुलन, किंवा केन्द्रस्वरूपदर्शन नहीं कर सकते। इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है कि–'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा'। इसी केन्द्रसमतुलनात्मक केन्द्राकर्षण से भ्रमुलित भारात्मक भी भूपिण्ड सूर्य्यकेन्द्र से आकर्षित है, तो साथ ही भूकेन्द्र से सूर्य्य भी आकर्षित है। इस समसमन्वयात्मक समाकर्षण से ही न तो सूर्य्य ही भूपिण्ड को आत्मसात् कर सकता, नाहीं भूपिण्ड ही सूर्य्य को आत्मसात् कर सकता। अपितु दोनों के आकर्षण–प्रत्याकर्षण से अन्वितवृत्तात्मक उस सम्वत्सरचक्र का व्यवस्थित स्वरूप बना हुआ है जिस पर भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमणपूर्वक सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। यही वह आकर्षणशक्ति है, जिसका–'आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत्०' इत्यादि रूप से सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् सत्रभी भास्कराचार्य्य ने– समे समन्तात् पततु त्विय खे' रूप से उस आशङ्का का समाधान किया है, जो 'यह भूपिण्ड निराधार है तो गिर क्यों नहीं पड़ता ?' इस रूप से सर्वसामान्य में हुआ करती है। दुर्भाग्य है भारतराष्ट्र का, जिसने निगमतत्त्वों को विस्मृत कर अपनी इन रहस्यपूर्ण विद्याओं को विस्मृति के गर्भ में विलीन कर वर्त्तमान नवशिक्षित सन्ततियों को अपने पूर्वजों के उपहास में प्रवृत्त कर दिया, एवं सर्वथा अर्वाचीन न्यूटन आदि को ही आकर्षणसिद्धान्त के 'प्रथम आविष्कारक' सम्मान से सम्मानित मान लिया। कालाय तस्मै नमः।

'ऊर्ध्व' शब्द भी पारिभाषिक है। सर्वसाधारण में 'ऊर्ध्व' का अर्थ है 'ऊँचा', 'अध' का अर्थ है-'नीचा'। अर्थ ठीक भी है, नहीं भी है। 'ऊर्ध्व' सुनते ही सामान्यजन शून्य आकाश की ओर अंगुली-निर्देश कर देते हैं, एवं अधः से भूपिण्ड की ओर निर्देश कर देते हैं। इस दृष्टि से इन अर्थों का कोई महत्व नहीं है। विज्ञानजगत् में पूर्वादि दिशाओं की भाँति, सापेक्ष एक-दो-तीन-आदि यच्चयावत् संख्याओं की भाँति, रत्ती-छटांक-आधापाव-पाव-सेर-मन-आदि मानमानों की भाँति ऐसा ऊँचा-नीचा भाव भी मातिसिद्ध पदार्थ ही है। लोकव्यवहारमात्र के लिए इनकी मानसिक कल्पनामात्र है। वस्तुत 'सत्ता' दृष्ट्या ये सब शून्यं शून्यं ही हैं। वस्तुत विज्ञानदृष्ट्या-'ऊर्ध्व' का अर्थ है 'केन्द्र', एवं 'अध' का अर्थ है 'परिधि'। परिधिरूप अग्निमण्डल (वस्तुपिण्ड के परिणाह-घेर-रूप मण्डल) की प्रतिबिन्दु से तत्केन्द्र ऊर्ध्व है, एवं इस ऊर्ध्वकेन्द्र की अपेक्षा से परिधिमण्डल की प्रतिबिन्दु अध है। 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन' इत्यादि औपनिषद वचन का 'ऊर्ध्व' शब्द भी केन्द्र का, तथा 'अवाक्' शब्द परिधि का ही वाचक बन रहा है। सम्पूर्ण भुवन (रबात्मक ६ओं लोक) स्वायम्भुव केन्द्र में ही (केन्द्राकर्षण में ही) संस्थित हैं। इसी ऊर्ध्वात्मक केन्द्राकर्षणसमन्तुलन से तीनों माताओं तथा तीनों पिताओं को धारण करता हुआ भी यह केन्द्रबलरूप स्वयम्भू सत्यात्मा म्लान नहीं होता। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है—"तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति"।

'अवग्लापयन्ति मातॄ-पितॄन्' से कुछ और भी समझना है। यह स्वयं तो थकना जानता ही नहीं, क्योंकि यह तो 'तस्थौ' है, स्थितिभावात्मक है। गति ही क्रिया है। क्रिया ही विसर्गरूप से वस्तुमात्रा के ह्रास का कारण बनती हुई वस्तु को थकाती है, म्लान बनाती है जिस क्षतिपूर्ति के लिए केन्द्रशक्ति को 'आदान' का अनुगमन करना पड़ता है। जब कि सत्य-स्वयम्भू स्थितिभावापन्न है, तो उसमें विसर्गात्मक क्षय का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। तभी तो इसे-'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि रूप से 'अज' कहना अन्वर्थ बनता है। शेष ६ओं परमेष्ठ्यादि चन्द्रमान्त रबोलोक क्योंकि क्रियाशील हैं। अतएव इनके सम्बन्ध में 'म्लान' भाव का प्रश्न उपस्थित होता है। 'नेमवग्लापयन्ति' वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। ६ओं रबोलोक भी अपना अपना स्वतन्त्र केन्द्र रख रहे हैं। यदि ये स्वतन्त्ररूप से ही परिभ्रममाण होते, तो अवश्य ही न केवल ये थक ही जाते, अपितु विसर्जनमात्राक्षय के नैरन्तर्य से कालान्तर में इनकी स्वरूपसत्ता ही उच्छिन्न हो जाती। किन्तु देख रहे हैं कि, सब निरन्तर प्रवासों में अपनी मात्राओं का उत्सर्ग करते हुए भी ज्यों के त्यों अक्षुण्ण बने हुए हैं। कारण स्पष्ट है। जिस स्वयम्भूप्रजापति की केन्द्रशक्ति के आधार पर इनका आविर्भाव हुआ है, उसी केन्द्रशक्ति के अनुगत बने रहने से इनके विस्रस्त भाग की क्षतिपूर्ति भी होती रहती है। इसी केन्द्रानुगति से इनका स्वरूप अक्षुण्ण बना हुआ है। इनमें से कोई भी न तो थकता ही, न म्लान ही होता, न स्वरूप से ही उच्छिन्न होता। थकते वे हैं, नष्ट वे होते हैं, जो उस मातापरस्य केन्द्ररस का परित्याग कर अमर्य्यादित-स्खलितकेन्द्र-उन्मर्य्याद-उच्छृङ्खल बन जाया करते हैं। यही 'नेमवग्लापयन्ति' का रहस्यार्थ है। केवल इस वाक्य से ही स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण नहीं हो रहा है। अतएव महर्षि को उत्तरभागद्वारा इसी तत्व का विभिन्न दृष्टिकोण से समन्वय करना पड़ा। 'ईम्-न अवग्लापयन्ति' ही पदच्छेद है, जिसका समन्वयार्थ है (उस स्वयम्भूकेन्द्र से मर्य्यादित-व्यवस्थित-समतुलित रहते हुए ये ६ओं रब) उस स्वयम्भू को भी ये म्लानि नहीं पहुँचा रहे,

(एवं स्वयं भी म्लान नहीं हो रहे) । दोनों हीं इस केन्द्रसमतुलन से निर्भार बने हुए हैं । कहना न होगा कि, नगमिक परिभाषाओं के विस्मृतप्राय हो जाने से ही भाष्यकारों को इस सम्बन्ध में सर्वथा वैसी आपातरमणीय कल्पनाओं का ही आश्रय लेना पड़ा है, जो प्रौढिवादमात्र ही कहा जा सकता है ॰ ।

"प्रजासर्ग में सतत प्रवृत्त रहते हुए भी, इस निर्म्माणकर्म्म में अपनी मात्राओं से निरन्तर विस्रस्त रहते हुए भी परमेष्ठ्यादि चन्द्रमान्त ये लोक क्या कारण है कि, न तो बढ़ते ही, एवं न स्वस्वरूप से क्षीण ही होते । अपितु 'एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीयान्' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार ये सदा स्वस्वरूप से अक्षुण्ण ही बने रहते हैं !,' इस प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं कि—"ये ६ ओं हीं माता-पिता (लोक) द्यु के पृष्ठ पर मन्त्रणा करते रहते हैं"। कौनसा द्यु लोक !, जो वास्तव में द्यु लोक है । भूरूप रोदसीत्रैलोक्य, भुवःरूप क्रन्दसीत्रैलोक्य, एवं स्वःरूप संयतीत्रैलोक्य ही क्रमश महाव्याहृतिरूप पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–नामक तीन लोक हैं, जिनके त्रिवृद्भाव से ही आगे चलकर तीन तीन लोकविवर्त्त बन जाते हैं । इस दृष्टि से वस्तुत 'द्यु लोक' तीसरे संयतीत्रैलोक्य का स्वयम्भूरूप द्यु लोक ही है । यही 'द्यु पृष्ठ' है, जिसका पारिभाषिक नाम है—'पारावतपृष्ठ' । ६ ओं लोक इसी स्वायम्भुव द्यु पृष्ठ पर परस्पर मन्त्रणा करते रहते हैं । कौन, किस से, कैसे मन्त्रणा कर रहे हैं !, इस प्रश्नत्रयी का एकमात्र समाधान है स्वायम्भुवी यह वाक्, जिसे हमनें पूर्व में 'यजुर्वाक्' कहा है, जिसके सम्बन्ध में–'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात, वागेव साऽसृज्यत' इत्यादि सिद्धान्त प्रसिद्ध है, जो यजुर्वाक् (आकाश) ही भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी की स्वरूपसम्पिका बनती है । यही स्वायम्भुवी वाक् अपने 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूप से सम्पूर्ण विश्व की अधिष्ठात्री बनती है, जिसके पारमेष्ठ्य भार्गव, आङ्गिरसरूप क्रमश 'आम्भृणीवाक्, सरस्वतीवाक्' नामों से प्रसिद्ध हैं । तेजोगुणमयी आङ्गिरसी सरस्वतीवाक् को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली स्नेहगुणमयी भार्गवी आम्भृणीवाक् अर्थसर्ग की मूलाधिष्ठात्री बनती है । एवं स्नेहगुणान्विता भार्गवीवाक् को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली तेजोगुणमयी सरस्वतीवाक् शब्दसर्ग की मूलाधिष्ठात्री बनती है । पौराणिक आम्नाय में ये ही दोनों वाग्देवियाँ महालक्ष्मी, महासरस्वती नामों से उपवर्णित हुई हैं । पारमेष्ठ्य सरस्वान समुद्र में समुद्भूता आम्भृणीवाक् ही (पारमेष्ठ्य विष्णु से समन्विता) महालक्ष्मी है, एवं इसी समुद्र में समुद्भूता सरस्वतीवाक् ही (परमेष्ठिगर्भित सार

॰ सर्वश्री सायणाचार्य्य ने इसके सम्बन्ध में जो उद्गार प्रकट किए हैं, उन्हें लक्ष्य बनाने मात्र से ही इन परिभाषाचोपबृंहित अर्थों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है । देखिए–"एकः प्रधानभूत'— असहायो-वा पुत्रस्थानीय आदित्यः-सम्वत्सराख्य कालो वा तिस्रो मातॄ सस्यश्रुष्ट्याद्युत्पादयित्री - रित्यादित्रिलोकत्रय नित्यर्थः तथा त्रीन् पितॄन् जगतां पालयितॄन् लोकत्रयाभिमानिनो अग्निवायुसूर्य्याख्यान्–बिभ्रत्सन् ऊर्ध्वस्तस्थौ उन्नत अत्यन्तदीर्घस्तिष्ठति । भूत भविष्यदाद्यात्मना । सूर्य्यपक्षे सर्वेभ्य उन्नत –न हि काल आदित्यो वा अन्येन पराभूयते॰"—इत्यादि ।

इन्द्र से समन्विता) महासरस्वती है * । शेष रह जाती है प्रज्ञातीता महाकाली, वह यही सुप्रसिद्धा स्वायम्भुवी यजुर्वाक् है, जिसे दशमहाविद्या–रहस्यवेत्ताओंनें 'आद्या' नाम से व्यवहृत किया है, जिसके स्तवन से आम्नायनिष्ठ मानव अपने मानवजीवन को कृतकृत्य बनाया करते हैं + । आदिस्वरूपा, अतएव 'आद्या' नाम से प्रसिद्धा,–'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्' से समतुलिता, अतएव 'श्यामा' नाम से तन्त्रशास्त्र में उपवर्णिता महामाया वेदरूपा यजुर्वाक् ही मूलवाक् है, जो विश्व को अपने गर्भ में सुरक्षित रखती हुई स्वयं विश्वातीता बनी हुई है + ।

– मनःप्राणगर्भिता यह स्वायम्भुवी 'वाक्' रूपा वाक् ही 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन–आकाशः –(वाक्) सम्भूतः' इत्याद्यनुसार विश्वस्वरूप में परिणत हुई है, जिसके आधार पर 'अथो वागेवेदं सर्वम्' (ऐतरेय आरण्यक) इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' से इसी स्वायम्भुवी वेदवाक् का यशोगान हुआ है, जो मूलोत्थरूप से द्यु के पुच्छस्थानीय स्वयम्भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहती हुई विश्व को स्वमहिमामण्डल में अन्तर्मुक्त रखती हुई अविश्वमिन्वा (विश्वव्यापका–विश्वातीता) है, एवं अपने अर्करूपात्मक आम्भृणी–सरस्वतीरूपों से विश्वस्वरूप में परिणत हो रही है । वाग्देवी के इन्हीं विविध विवर्तों का यत्रतत्र विभिन्न दृष्टिकोणों से स्वरूपनिरूपण हुआ है । देखिए—

(१)—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः । सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥ —तै० ब्रा० २।८।८।४	स्वायम्भुवी वेदवाक् (महाकाली)

---

* सिद्धान्तमौपनिषदं शुद्धान्तं परमेष्ठिनः ।
शोणाधरमहः किञ्चिद् वीणाधरमुपास्महे ॥
—लघुपाराशरी का मङ्गलाचरण

— (१) यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥

(२)—परा परमाणां परमा त्वमेव परमेश्वरी ।

(३)—केषाञ्चित् पुरुजित्पदाम्बुजरजो राज्येव राज्यप्रदा—(महासरस्वती) (सौरी ऐन्द्री)
केषाञ्चित् कमलापतेश्चरणयोश्चिन्तैव चिन्तामणिः ।—महालक्ष्मी (पारमेष्ठिनी)

अस्माकं तु कपालकेलिकलिका कल्पान्तसवर्द्धिनी काम कामगवी नवीनजलदश्यामाभिरामा गतिः	महाकाली (स्वायम्भुवी)

+ शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय वार्त्ता च सर्वजगतां परमार्तिहन्त्री ॥

(२)—वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।४ } पारमेष्ठिनीआम्भृणी-वाक् (महालक्ष्मी)

(३)—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐतरेयआरण्यक ३।१। } सौरी सरस्वती वाक् (महासरस्वती)

स्वयम्भूकेन्द्र में (जो कि द्युलोक का पूर्वकथित पारिभाषिक 'ऊर्ध्व' नामक पृष्ठ है) उक्थरूप से प्रतिष्ठित विश्वाधीशा विश्वसर्जिका, अतएव 'अविश्वमिन्वा' (जिसे विश्व सीमित न बना सके) नाम से प्रसिद्धा स्वायम्भुवी वेदवाक् के वितान से ही चन्द्रमान्त विश्वसर्ग का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । अपने अन्तरान्तरी-भावात्मक परिभ्रमणों से परमेष्ठ्यादि चन्द्रमादि सम्पूर्ण विश्वपर्व उस द्युपृष्ठस्था वाक् से समन्वित होते हुए उस वाग्रस का आदान करते रहते हैं, जिस आदानविसर्गात्मिका नैसर्गिकी परिभ्रमणविद्या का 'दर्शपूर्णमास' यज्ञरहस्य में प्रतिपादन हुआ है । परिभ्रममाण ये विश्वपर्व जब उस वाक्पृष्ठ के समसम्मुख बन जाते हैं, तो यही इनका उस वाक् के साथ मन्त्रणाकाल है, यही इनका पौर्णमास है । जब परिभ्रमण करते करते ये विश्वपर्व वाक्पृष्ठ से विपरीत दिशा में आ जाते हैं, तो यही इनका दर्शकाल है । इस प्रकार स्वायम्भुवी वाक् के साथ मन्त्रणात्मक सहयोग से ही इनके विसस्तभागों की सम्पूर्ति होती रहती है, जिसका महर्षिने—'मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्' इस उत्तरभाग से स्पष्टीकरण किया है । इसी रहस्य का अन्यत्र इस रूप से स्वरूप विश्लेषण हुआ है कि——

(२५४)—'तिस्रो भूमीर्धारयन्०' (१४) मन्त्रार्थसमन्वय —

(१४)—"तीन भूमियों को धारण करता हुआ, और तीन (ही) द्युलोकों को धारण करता हुआ (वह प्रजापति स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित—निरञ्जन से व्याप्त हो रहा है), जिसके इन तीन द्यावापृथिव्यरूपों के मध्य में तीन ही व्रत (अन्तरिक्ष) प्रतिष्ठित हैं । ऋत के सम्बन्ध से आदित्य महामहिमशाली बने हुए हैं । हे अर्य्यमन् ! (तपोलोकात्मक प्राण ।), हे वरुण ! (जनल्लोकात्मक प्राण !), हे मित्र ! (महर्लोकात्मक प्राण ।), इस प्रकार यह विश्वकर्म्मा स्वयम्भू (विश्व में अत्यन्तही) शोभनीय बने हुए हैं" ।

'अन्न वै व्रतम्' (ताण्ड्यमहाब्राह्मण २४।४।५) इत्याद्यनुसार सामात्मक ऋताग्न ही व्रत है । अन्तरिक्ष ऋतप्रधान लोक है । अतएव इसे 'व्रत' कहना अन्वर्थ बनता है । इसी आधार पर—'अन्तरिक्षं—वै महाव्रतम्' (शत० १।१।२।२१) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इसी आधार पर—'उर्वन्तरिक्ष-मन्वेमि' इत्यादिरूप से व्रत का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध माना गया है । मातृरूप तीन पृथिवीलोक, पितृरूप

तीन द्यु लोक, इन ९ लोकों का जहाँ १३ वें मन्त्र में संग्रह हुआ है, वहाँ 'त्रीणि रजा विदथे अन्तरेषाम्' रूप से द्यावापृथिव्य (द्यु और पृथिवी के मध्य में प्रतिष्ठित) तीन अन्तरिक्षों का भी संग्रह हो रहा है। इस 'सर्वहुत'–'सर्वमेदस्' यज्ञात्मक इस विश्वयज्ञमण्डल में (विदथे–विश्वयज्ञ) तीन भूमि–तीन द्यु–जननामक तीन ही अन्तरिक्ष, लोक हैं। इन तीनों त्रिकों को धारण करता हुआ सम्पूर्ण विश्व का अनुरूप–प्रतिरूप शिल्पात्मक सौन्दर्य (चारु) बना हुआ है, जिस इस विश्वसौन्दर्य्य के साधक बने हुए हैं तपोलोकात्मक अर्य्यमा, जनल्लोकात्मक वरुण, महर्लोकात्मक मित्र, नाम के प्राण। दातृत्वशक्तिप्रवर्त्तक प्राण ही 'अर्य्यमा' है, जिसके द्वारा स्वायम्भुवतत्त्व विश्वस्वरूपनिर्म्माण में प्रवर्ग्यरूप से उपयुक्त होते रहते हैं *। 'बृहस्पति पूर्वेषां सुचमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथम' (शत० ६।१।४।१८) इत्यादि निगमानुसार बृहस्पति पूर्वदेवों के अन्त में प्रतिष्ठित हैं, एवं इन्द्र उत्तरदेवों के आदि में प्रतिष्ठित हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि, सप्तलोकात्मक–त्रिधामात्मक–पञ्चपर्वा–विश्व के सूर्य्य को केन्द्र मान कर 'पूर्व–उत्तर' ये दो विभाग मान लिए जाते हैं। सूर्य्य से ऊपर के परमेष्ठी–स्वयम्भूपिण्ड पूर्वदेव हैं, सूर्य्य से नीचे के भूपिण्ड–चन्द्रमा, दोनों उत्तरदेव हैं, दोनों का विभाजक विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य है, जिसका मन्त्र ने– 'ऋतेनादित्या महि वो महित्वम्' इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण किया है। पूर्वदेवों की अन्तिम सीमा में जो ग्रह प्रतिष्ठित है, वही 'बृहस्पति' कहलाया है, जिसे 'वाक्पति' भी माना गया है। यही सुप्रसिद्ध 'वाजपेयक्रतु' का मूलाधिष्ठाता बना हुआ है। यह स्मरण रखने की बात है कि, निगमशास्त्र में पारमेष्ठ्योपग्रहभूत बृहस्पति-ग्रह, सूर्य्योपग्रहभूत बृहस्पतिग्रह, एवं–'लुब्धकनक्षत्र' नाम से प्रसिद्ध नाक्षत्रिक बृहस्पति, रूप से तीन बृहस्पतियों का स्वरूप निरूपित हुआ है। सुप्रसिद्ध पौराणिक ताराहरणोपाख्यान का 'लुब्धकनक्षत्र' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति के साथ सम्बन्ध है। सौर बृहस्पतिग्रह सौर महिममण्डल में मुक्त रहता हुआ सौर देवप्राण का अधिष्ठाता बना रहा है, जिस का–'बृहस्पतिः पुर एता' (यजुःसं० १७।४०) इत्यादिरूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। यही पौराणिक देवगुरु बृहस्पति है, जिसका ज्योतिर्विद् 'गुरुदशा' से सम्बन्ध माना करते हैं। एक बृहस्पतिग्रह वह है, जो सूर्य्य से ऊपर अवस्थित है जो परमेष्ठी का उपग्रह बनता हुआ उसके चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। पारमेष्ठ्य सौम्य ब्रह्मवर्चप्रधान अमरस ही–(जो 'ऊर्क्' इस पारिभाषिक नाम से प्रसिद्ध है) 'वाज' नाम से प्रसिद्ध है। इस 'वाज' नामक पारमेष्ठ्य अन्नब्रह्म के प्राणात्मक रस का जन्मजात ब्राह्मणमानव जिस वैधप्रक्रियासे अपने आत्मगर्त में आधान करता है, वही प्रक्रिया 'वाजपेय' नाम से प्रसिद्ध हुई है। 'राजा–वाजो–महो–हवि' इत्यादिरूप से पारमेष्ठ्य सौम्यप्राणात्मक मर्य्याद रस ही इन चार जातियों में विभक्त हो रहा है। यही पारमेष्ठ्य सोम पार्थिव कक्षा में मुक्त हो कर 'हविःसोम' कहलाया है, जिससे 'हविर्याग' होता है। यही पारमेष्ठ्य सोम चन्द्रानुगता अन्तरिक्षकक्षा में मुक्त हो कर 'महःसोम' कहलाया है, जिससे 'महायाग' होता है। यही पारमेष्ठ्य सोम सौरकक्षा (इन्द्रकक्षा) में मुक्त होकर 'राजसोम' कहलाया है, जिससे 'राजसूय' होता है। एवं यही पारमेष्ठ्य सोम स्वकक्षा में ही मुक्त होता हुआ 'वाजसोम' कहलाया है, जिस से 'वाजपेय' यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। वाजपेय सोम पारमेष्ठ्य बृहस्पतिप्राण से समन्वित है। अतएव इसे 'बृहस्पतिसव' भी कहा गया है, जिसका अधिकार एकमात्र

* यशो वा अर्य्यमा (तै० ब्रा० २।३।५।४)–अर्य्यमेति तमाहुर्यो ददाति (तै० ब्रा० १।१।२।४)।

ब्राह्मण को ही है। राजसूय का अधिकार एकमात्र मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा को ही है। शेष महयाग, तथा दर्विर्याग में द्विजातिमात्र (ब्रा० क्ष० वै० मात्र) अधिकृत हैं। 'राजा वै राजसूयेन-इष्ट्वा भवति, सम्राड्वाजपेयेन' इत्यादि के अनुसार राजा जहाँ राजसूय से 'राजा' पदाधिकारी बनता है, वहाँ ब्राह्मण वाजपेय से सम्राट्पदाधिकारी बन जाता है। तात्पर्य्य प्रकृत में यही है कि, पारमेष्ठ्य वागात्मक प्राण ही बृहस्पति है, जो सौर इन्द्रप्राण से ऊपर, एवं पूर्व लोकों (स्वयम्भू-परमेष्ठी लोकों) से अन्त में प्रतिष्ठित हैं। अपने पारमेष्ठय लोकसम्बन्ध से ये 'बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति' वाले बृहस्पति जनस्लोक के उपग्रह हैं, जो जनस्लोक सप्तत्रैलोक्य के अन्तरिक्षलोकात्मक (स्वयम्भू और परमेष्ठी के मध्यमें स्थित तपलोक) तपोलोक से अधोऽवस्थित है। इस तपोलोकात्मक दातृशक्तियुत प्राण ही का नाम 'अर्य्यमा' है, जिस के आधार पर सुप्रसिद्ध पौराणिक 'दिवगङ्गा' प्रतिष्ठित है, जिसे अर्वाचीन वैज्ञानिक 'दूध की नदी' (मिल्क वे) कहा करते हैं। भारतीय लोकव्यवहार में यही 'आकाशगङ्गा' नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें असंख्यात: नक्षत्र-पुञ्जप्रतिष्ठित हैं। तपोलोकात्मक अर्य्यमाप्राण का भोग (जो कि इस विष्णुगङ्गानामक सुरवर्त्म से ऊर्ध्व स्थित है, अतएव जो अर्य्यमा जनस्लोकात्मक परमेष्ठी के उपग्रह बृहस्पति से भी ऊर्ध्व माना गया है) स्व-प्रथम इस आकाशगङ्गात्मक सुरमार्गमण्डल में ही होता है। अतएव इसे निगमपरिभाषा में 'अर्य्यम्ण: पन्था' कहा गया है, जैसाकि-'एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्, तदेष उपरिष्टात्-अर्य्यम्ण:-पन्था' (शत० ५।५।१।१२।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। 'तपसा तप्यध्वम्' ही प्रदानशक्ति का मूलाधार है। 'एतद्वै तप इत्याहुर्यन् स्वं ददाति' ही तपःप्राण का लक्षण है, एवं यही तपोलोकात्मक, दातृत्त्वशक्तिप्रधान इस अर्य्यमाप्राण का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है। इसीसे स्वायम्भुव सत्य प्रवर्ग्यरूप से विश्वस्वरूपनिर्म्माण में उप-युक्त होते हैं। अतएव इस तपोलोकप्रतिष्ठ तपोमूर्त्ति प्रदानशक्तिघन अर्य्यमाप्राण को हम अवश्य ही विश्व-सौन्दर्य का प्रवर्त्तक मान सकते हैं*।

सुप्रसिद्ध महयाग के सुप्रसिद्ध चत्वारिंशत् (४०) ग्रहों में एक ग्रह 'मैत्रावरुण' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका 'क्रतूदक्षौ' रूप से शतपथ '४।१। तृतीय' ब्राह्मण में विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। जिस प्रकार आध्यात्मिक 'प्रजा-प्रजनन' कर्म्म में 'नाभानेदिष्ठ, वालखिल्या, वृषाकपि, एवयामरुत्' ये चार सहचारीप्राण प्रमुख बने रहते हैं, तथैव आधिदैविक विश्वनिर्म्माण में 'आदित्य, अर्य्यमा, वरुण, मित्र,' ये चार प्राण प्रमुख बने रहते हैं। मन्त्र के उत्तर भाग ने-'ऋतेनादित्या महि वो महित्त्वं तदर्य्यमन् वरुण मित्र चारु' इत्यादि रूप से इन चार प्राणों का ही स्वरूप स्पष्ट किया है, जिनमें से 'अर्य्यमा' नामक तपोलोक के प्राण की रूपरेखा का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है। अब मित्रावरुण का भी संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है। 'ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः (शत० ४।१।४।२) के अनुसार 'ब्रह्म' (ज्ञानशक्तिमय प्राण) का ही नाम मित्र है, एवं 'क्षत्र' (क्रियाशक्तिमय प्राण) का ही नाम वरुण है। अध्यात्मदृष्ट्या उदाहरणरूप से इन दोनों का यों समन्वय किया जा सकता है कि,-ज्ञानमय मन का-'मैं अमुक कर्म्म करूँ' यह मानसिक संकल्पात्मक प्राण (प्रज्ञाप्राणात्मक ज्ञानीय प्राण) ही 'क्रतु' है, यही मित्र है। एवं इस मानस संकल्प की जिस क्रिया (बाह्यकर्म्म) रूप प्राण से स्वरूपनिष्पत्ति होती है, वही क्रियाशील प्राण 'दक्ष' है, यही

* जिस मानव में जन्मना यह अर्य्यमाप्राण विकसित रहता है, वह सहजरूप से दानशक्ति से समन्वित रहता है। जिसका यह प्राण अभिभूत रहता है, वह जन्मजात कृपण होता है।

वरुण है + । निष्कर्षतः ज्ञानशक्तियुक्त प्राण ही मित्र है, क्रियाशक्तिमयप्राण ही वरुण है, जो दोनों प्राण क्रमशः पारमेष्ठ्य आपोमय भृगु-अङ्गिराप्राणों से अनुप्राणित हैं । स्नेहगुणप्रधान भृगु से अनुप्राणित सौम्य पारमेष्ठ्यप्राण से समन्वित महर्लोकीय प्राण ही 'मित्र' है, एवं तेजोगुणप्रधान अङ्गिरा से अनुप्राणित आग्नेय पारमेष्ठ्यप्राण से समन्वित जनल्लोकीय प्राण ही 'वरुण' है । ये दोनों प्राण ही तपोलोकीय अर्य्यमाप्राण से समन्वित होकर विश्वात्मिका द्यावापृथिवी के स्वरूपनिर्म्माता बनते हैं । अतएव मित्रावरुण का द्यावापृथिवी से घनिष्ठ सम्बन्ध मान लिया गया है, जैसा कि—'द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम' (ताण्ड्य ब्रा० १४।२।४)—'अयं वै-पृथिवीलोको मित्रः, असौ-द्युलोको वरुणः' (शत० १२।६।२।१२) इत्यादि ब्राह्मणनिगमों से स्पष्ट है । तपोरूप अर्य्यमा, तद्युक्त ज्ञानक्रियारूप भार्गवाङ्गिरस मित्रावरुण, तीनों के समन्वित रूप ही क्योंकि द्यावापृथिव्य विश्व का स्वरूपसौन्दर्य सुरक्षित रखते हैं, इसी आधार पर 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है । चौथा प्राण है आदित्य, जिसके सवितात्मक स्वरूप से ही सृष्टिकर्म्म प्रसूत होता है । 'सविता वै देवानां प्रसविता' इत्यादि लक्षण में रसात्मक आदित्यप्राण, तथा ज्ञानक्रियामय अर्य्यमप्राण, इन चारों के समन्वित रूप से ही विश्वसौन्दर्य स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है । और यही मन्त्रोत्तरभाग का दिशापरिचय है ।

वाज-राज-ग्रह-हविः सोमचतुष्टयीस्वरूपपरिलेखः—

१—पारमेष्ठ्यसोमः——वाजः——ततो वाजपेयस्वरूपनिष्पत्तिः (बृहस्पतिसवः-परमेष्ठिसवो वा)

२—सौरसोमः——राजा——ततो राजसूयस्वरूपनिष्पत्तिः (इन्द्रसवः——सूर्य्यसवो वा)

३—चान्द्रसोमः——ग्रहः——ततो ग्रहयागस्वरूपनिष्पत्तिः (सोमसवः——चन्द्रसवो वा)

४—पार्थिवसोमः——हविः——ततो हविर्यागस्वरूपनिष्पत्तिः (अग्निसवः—पृथिवीसवो वा)

+ क्रतूदक्षौ ह वाऽअस्य मित्रावरुणौ, एतन्नु अध्यात्मम् । स यदेव मनसा कामयते-'इदं मे स्यात्-इदं कुर्वीय' इति, स एव क्रतुः । अथ यदस्मै तत् समृध्यते, स दक्षः । मित्र एव क्रतु, वरुणो दक्षः । ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः । अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः ।

—शतपथ० ४।१।४।१।

पूर्वेषामुत्तम'-उत्तरेषां प्रथमः-स्वरूपपरिलेखः—

पूर्वदेवा —
- १ स्वयम्भूः—सर्वाप्यस्य सर्वात्मा
- २ आपोमयः परमेष्ठी
- ३ वाक्पतिर्बृहस्पति ——{ बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तम

उत्तरदेवा —
- १ तेजोमयः-इन्द्रः (सूर्यः)—{ इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः
- २ स्नेहमयः—सोमः (चन्द्रः)
- १ भूतमयोऽग्नि (पृथिवी)

——✦✦——

सर्वसंग्रह -एकशाखारूपः-एक-शाखाविश्वस्वरूपपरिलेखः—

——✦✦——

(२५५)—सन्दर्भसङ्गति—

नैगमिक विश्वस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में चतुर्दशसंख्यात्मक मन्त्रसन्दर्भ के माध्यम से जिस विश्व की स्वरूपमीमांसा हुई है, वह तो वस्तुतः महाविश्व का एक सहस्रवाँ पर्व है, जो निगमपरिभाषा में 'पञ्चपुण्डीरा-माजापत्यवल्शा' (सहस्रवल्शेश्वर की पञ्चपर्वरूपा एक शाखा) नाम से प्रसिद्ध है । ऐसी हजार शाखाओं

की, किंवा पञ्चपर्वा ऐसे हजार विश्वों की समष्टि ही एक महामायावच्छिन्न महाविश्व की स्वरूपमीमांसा है। अनन्तपरात्पर में महामायावलोंके आनन्त्य से विदित नहीं, कितने ऐसे असंख्य महामायाबल हैं। एक एक महामायाबल से एक एक महाविश्व का स्वरूपनिर्म्माण, एक एक महाविश्व में योगमायासम्बन्ध से सहस्र-सहस्र पञ्चपर्वा विश्वों का स्वरूपनिर्म्माण। कैसा है यह आनन्त्य, कैसी है तदनुगता अनन्तब्रह्म की यह अनन्तमहिमा, एवं कैसी है उन महामहिम महर्षियों की यह अनन्तदृष्टि, जिसने इस आनन्त्य का साक्षात्कार कर-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-'सर्वखल्विदं ब्रह्म'-'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'-'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'-'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि अनन्तभाव अभिव्यक्त किए नैष्ठिक मानव के अभ्युदयनिःश्रेयस् के लिए। नमः परम-ऋषिभ्यः! नमः परम-ऋषिभ्यः!! नमः परम-ऋषिभ्यः!!!

'मनु' ही ऋषिदृष्ट तथाकथित विश्वस्वरूप के मूलप्रवर्त्तक हैं। यह मनुसर्ग 'भाव-गुण-विकार' भेद से तीन भागों में विभक्त है, जो क्रमशः मानसीसृष्टि, प्रकृतिसृष्टि, मैथुनीसृष्टि नामों से प्रसिद्ध है। इन्हीं के क्रमशः अव्ययसर्ग, अक्षरसर्ग, क्षरसर्ग, इस रूप से, पुरुषसर्ग, प्रकृतिसर्ग, विकृतिसर्ग, इस रूप से, आत्मसर्ग, देवसर्ग, भूतसर्ग इस रूप से, शास्वतब्रह्ममूर्त्तिस्वयम्भूमनुसर्ग, इन्द्रप्राणमूर्त्ति हिरण्यगर्भमनुसर्ग, अग्निमूर्त्तिविराड्मनुसर्ग, इस रूप से अनेकधा स्पष्टीकरण हुए हैं। अक्षर रसतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले दिग्देशकालावच्छिन्न रसबल तत्त्वों के विभूति-योग-बन्ध, नामक तीन विविध सम्बन्धों के कारण ही मनुसर्ग तीन भागों में विभक्त हुआ है। इन तीनों सृष्टियों के सामान्य अनुबन्ध काम-तप-श्रम नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, जिन इन सामान्य अनुबन्धों के व्यापार से ही त्रिविध मनुसर्ग प्रवृत्त हुआ है।

भाव, एवं गुणसर्गसमन्वित विकारसर्गात्मक—स्वयम्भूहिरण्यगर्भगर्भित एवं विराट्मनुरूप अग्निमूर्त्ति वेदत्रयावच्छिन्न सत्यपुरुषपुरुषात्मक मनुप्रजापति की भूतसर्गकामना से (क्योंकि कामना कालानुबन्ध से नैसर्गिकी है, अतएव जिस सहज कामना के सम्बन्ध में—क्यों!, कैसे!, कब!, इत्यादि प्रश्न उपस्थित ही नहीं होते), कामानुगत इस तप से, तपोऽनुगत इस श्रम से इस वागग्नि के द्वारा सर्वप्रथम 'आप' नामक भूत ही उत्पन्न हुआ है, जो 'महाभूत' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिसके सम्बन्ध से ही स्वयम्भूमनु नामक आदि मनु (प्रथम अव्यक्त मनु) 'महाभूतादि श्वतौजा' कहलाए हैं। इसी महत्ता के कारण यह आप तत्त्व 'महद्यश'-'महद्यश'-'महद्ब्रह्म'-'महत्प्रभु'-'महाविभु' आदि नामों से यत्रतत्र उपवर्णित हुआ है, जो अध्यात्मसंस्था में चतुरशीतिलक्ष पितृप्राणमूर्त्ति 'महानात्मा' का स्वरूप बना हुआ है। इसी महाभूतात्मक 'आपोमय' का पूर्व में गोपथश्रुति के माध्यम से 'स्वेदवेद' रूप से विस्तार से स्वरूपनिरूपण हुआ है। यही ईशोपनिषत् का सुप्रसिद्ध वह 'शुक्र' तत्त्व है, जिसका—'स पर्यगाच्छुक्रमकाय०' इत्यादिरूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। यही भौतिक विश्व का उपादानात्मक 'शुक्र' पदार्थ है, जिसकी स्वेदहिरण्याग्नि में आहुति होने से ही उस सम्वत्सरयज्ञप्रजापति का जन्म हुआ है, जो यज्ञप्रजापति शुक्रशोणितनिबन्धना प्रजा का उपादान बना करता है *। यही वह आप तत्त्व है, जिसका छान्दोग्योपनिषत् की सुप्रसिद्ध पञ्चाग्निविद्या में-'इति तु पञ्चम्या-

* सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता ३।१०।

माहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी 'आप' तत्त्व की सर्वव्याप्ति के आधार पर–'यदाप्नोत् तस्मादापः, अवृणोत् तस्माद्वाः' इत्यादि रूप से इसे सर्वरूप घोषित किया गया है –।

वागग्नि (स्वायम्भुव वेदाग्नि) से सर्वप्रथम समुद्भूत यह 'आप' नामक महाभूतसर्ग भृग्वङ्गिरोमय बनता हुआ स्नेहतेजोमूर्त्ति है। स्नेहात्मक भृगुसम्बन्ध से सौम्यमूर्त्ति बनता हुआ यह आपः शीत (ठंढा) तत्त्व है, एवं तेजोरूप अङ्गिरासम्बन्ध से आग्नेय बनता हुआ यह आप उष्ण (गरम) तत्त्व है। इसी आधार पर प्रान्तीयभाषा में आपः के वैकारिकरूप पार्थिव 'मर' नामक पेय पानी को 'ठंडी आग' कहा जाता है। वस्तुतः रुद्राग्निसमावेश से ही पानी तरल बना हुआ है, जैसाकि 'अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात्' (वैशेषिकसूत्र—कणाददर्शन) से भी प्रतिध्वनित है। स्नेहतेजोगुणक–भृग्वङ्गिरोमय–शुक्रमूर्त्ति यही आप 'सुब्रह्म' कहलाया है, जिसके गर्भ में 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से प्रविष्ट रहने वाला वेदत्रयावच्छिन्न विराडग्निमूर्त्ति मनु प्रतिष्ठित है। वेदाग्निमूर्त्ति वेदत्रयीलक्षण मनु जहाँ 'ब्रह्म' है, वहाँ सुवेदमूर्त्ति सौम्यवेदलक्षण आप 'सुब्रह्म' है। इस ब्रह्म और सुब्रह्म के रासायनिक सम्मिश्रणात्मक 'याग' नामक सम्बन्ध से (अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से) ही आगे जाकर क्रमशः अम्भ–मरीचि–मर–श्रद्धा–नामक चार मार्गों में परिणत होता हुआ आपतत्त्व क्रमशः पारमेष्ठ्य–सौर–पार्थिव–चान्द्रमहिमामण्डलों का स्वरूपनिर्म्माता बनता है, जो कि चारों आपतत्त्व अध्यात्मसंस्था में क्रमशः परिभ्माभु, कोपाभु, शोकाभु, प्रेमाभु, नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन सब विषयों के संक्षिप्त स्वरूपोपवर्णन का ही अब तक के सन्दर्भों का स्वरूपपरिचय है, जिसे लक्ष्य बना कर ही हमें विश्वस्वरूपमीमांसा का समन्वय करना चाहिए। जैसा कि—गोपथश्रुति के रहस्यार्थ का उपसंहार करते हुए पूर्व में कहा गया था कि, ऋषिशैली सर्वत्र परोक्षभाव को माध्यम बना कर ही तत्त्वव्याख्या करती है। इसी परोक्षभाव के कारण निगमरहस्य पारम्परिक आम्नाय से अनुगत है, जिसके विलुप्तप्राय हो जाने से ही आज निगमरहस्य हमारे लिए एक समस्या बन गया है। क्यों महर्षियों नें तत्त्ववादव्याख्यान में परोक्षशैली का आश्रय लिया ?, इस प्रासङ्गिक किन्तु पूर्वप्रतिज्ञात प्रश्न का समाधान कर प्रकान्त 'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीय स्तम्भ उपरत हो रहा है।

(२५६) प्रासङ्गिक–प्रतिज्ञात–प्रत्यक्ष–परोक्षभावमीमांसोपक्रम—

'प्रतिगतमक्षि–इन्द्रियं–यत्र' इत्यादि निर्वचनानुसार इन्द्रियग्राह्य भाव के लिए जहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ इन्द्रियातीत भाव 'अक्ष्णो परम्' निर्वचनानुसार 'परोक्ष' अभिधा से व्यवहृत हुआ है। प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकं, अप्रत्यक्षमतीन्द्रियम्' (अमरकोश–१।१।७३।) इत्यादि कोशसिद्धान्तानुसार–'अक्षं–प्रतिगतम्–इन्द्रियगतम्' ही 'प्रत्यक्ष' शब्द का निर्वचन है, एवं 'अक्षं–अप्रतिगतम्' ही परोक्षभावसूचक

— अप्सु ते सुब्रह्म,भद्र ते–सोम्य अप्सु प्रतिष्ठिता ।
आपोमया सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥

—महाभारत

'अप्रत्यक्ष' शब्द का निर्वचन है। जिसका अनुभव, किंवा अनुभूति इन्द्रियों से होती है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, एवं जिसकी अनुभूति इन्द्रियों से नहीं होती है, वैसा इन्द्रियातिक्रान्त विषय ही अप्रत्यक्ष, किंवा परोक्ष कहलाया है। अनुभवविशेष ही 'प्रत्यक्ष' है, एवं अनुभवविशेष ही परोक्ष है। इन्द्रियमन-समन्वित सर्वेन्द्रियमनोऽनुगत इन्द्रियों से अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य, विषयावच्छिन्नचैतन्य, इन तीन चैतन्य (ज्ञान) धाराओं के एक बिन्दु (केन्द्र) में समसमन्वय होने से जो अनुभवविशेष होता है, वही इन्द्रियजन्यज्ञानात्मक अनुभव 'प्रत्यक्ष' कहलाया है, जिसका–'घटमहं जानामि, घटमहं पश्यामि' इत्यादि वाक्यों के द्वारा अभिनय हुआ करता है। सामने एक वस्तु है, उसका आप प्रत्यक्ष कर रहे हैं। इस इन्द्रियात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान में तीन ज्ञानधाराएँ काम कर रहीं हैं। आपका हृदयस्थ ज्ञानमय उक्थात्मक मन एक ज्ञानधारा है, जिसमें से रश्मिरूप से ज्ञान का एक मण्डल बनता है, जिस ज्ञानीय रश्मिमण्डल में इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं। रश्मिज्ञानात्मक इन्द्रियवर्ग ही दूसरी ज्ञानधारा है। सम्मुख अवस्थित पदार्थ (चाहे वह जड़ हो, अथवा चेतन–निरिन्द्रिय हो, अथवा सेन्द्रिय) भी ज्ञानधारायुक्त है। इस ज्ञानमण्डल के साथ इन्द्रिय ज्ञानमण्डल का प्रथम सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय ज्ञानधारा के द्वारा विषयज्ञानधारा हृदयस्थ उक्थज्ञान में प्रविष्ट होती है। तभी इस प्रत्यक्षज्ञान का उदय होता है। मनोमय उक्थज्ञान ही दर्शनभाषा में 'अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य' कहलाया है, रश्मिरूप इन्द्रियज्ञानमण्डल ही 'अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य' कहलाया है, एवं विषयानुगत ज्ञान ही 'विषयावच्छिन्नचैतन्य' कहलाया है। इसी आधार पर दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष का यह लक्षण माना है—"अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यसमभिव्याप्त-अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यपरिगृहीत-विषयावच्छिन्न चैतन्यमेव प्रत्यक्षम्"। निष्कर्षतः मूर्त्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध रखने वाला वाह्यभासिक इन्द्रियजन्य–ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाया है। किंवा मनोऽनुगत इन्द्रियभावों से सम्बन्ध रखने वाला (त्रिज्ञानधारासमन्वयात्मक) मूर्त्त–आधिभौतिक अनुभवविशेष ही 'प्रत्यक्ष' है।

(२५७)–आत्मबुद्धिमनोविमूढ भावुक मानव—

सम्पूर्ण इन्द्रियों के अधिष्ठाता 'प्रज्ञान' नामक सर्वेन्द्रियमन का * सञ्चालन जिस से होता है, वही सुप्रसिद्ध यह 'बुद्धि' तत्त्व है, जिसके 'स्वतन्त्र–परतन्त्र' भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। स्वतन्त्र बुद्धि 'विद्याबुद्धि' कहलाई है। परतन्त्रबुद्धि 'अविद्याबुद्धि' कहलाई है। केन्द्रस्थ आत्मा ही अध्यात्मसंस्था का 'स्व' भाग है, एवं मनोऽनुगत पाञ्चभौतिक आत्मा का 'पर' भाग है। इस 'स्व' रूप आत्मा से अनन्यता रखने वाली आत्मानुगता बुद्धि ही स्वानुगता 'स्व' (आत्म) तन्त्र में प्रतिष्ठित 'विद्याबुद्धि' है। एवं भावविषयात्मक 'पर' तन्त्र में प्रतिष्ठिता मनोवशवर्त्तिनी बुद्धि ही 'परानुगता 'पर' (भूत) तन्त्र में प्रतिष्ठिता 'अविद्याबुद्धि' है'। हृदयस्थ 'स्व' नामक आत्मा एकाकी है। अतएव तदनुगता विद्याबुद्धि एकभावापन्ना है। अतएव इसका स्वरूपधर्म्म एकत्वनिबन्धन व्यवसायधर्म्म से समन्वित रहता है। अतएव इस स्वानुगता (आत्मानुगता), अतएव 'स्वतन्त्रा' नाम से प्रसिद्धा एकभावापन्ना (निर्भ्रान्ति–निश्चित–एक निर्णयात्मिका) विद्याबुद्धि को 'व्यवसायबुद्धि' कहा गया है, जैसा कि–'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' (गीता२।४१।) इत्यादि से

---

* रजोऽक्षीयस्, सत्त्व, सर्वेन्द्रिय, इन्द्रियमन, रूप से चार मनोविवर्त्तों का पूर्व परिच्छेदों में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है। देखिये पृ० सं० १८४, एवं २८१।

स्पष्ट है। यदि यही बुद्धि मनोऽनुगता बनकर मनोवशवर्त्तिनी बन जाती है, तो परतन्त्र है। इस अवस्था में 'नवो नवो भवति जायमान' के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मृत्युभावात्मक नानाभावप्रधान मूर्त्त-धरात्मक-भौतिकजगत् में आसक्त-व्यासक्त इन्द्रियवशवर्ती चान्द्रमन के नानात्व से बुद्धि का स्वानुगत एकत्व निबन्धन (आत्मनिबन्धन) व्यवसायधर्म्म अभिभूत हो जाता है, एवं यह पराक्रान्त बनती हुई नानाभावात्मिका हो जाती है। यही अव्यवसायात्मिका बहुशाखाप्रशाखोपेता अविद्याबुद्धि है, यही अव्यवसायात्मिका भ्रान्ता बुद्धि है, जिसका-'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इत्यादि रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। ऐसी मनोवशवर्त्तिनी अविद्याबुद्धि स्वयं अपने हित-अहितनिर्णय में सर्वथा असमर्थ बनी रहती हुई सदा पराभिता-गतानुगतिक-परानुकरणपरा-परतन्त्रा है, जिससे सदा ही मानवीय मन विमुग्ध बना रहता है। ऐसे मानव का न अपना कोई स्थिर आदर्श होता, न लक्ष्य। अपितु-'मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धिः' आभाणक को अक्षरशः चरितार्थ करने वाला यह बुद्धिविमूढ गतानुगतिक मानव सदा परभावानुगत ही बना रहता है। दूसरों का अन्धानुकरण ही इस ग्राम-बुद्धि-मनोविमूढ भावुक मानव का लक्ष्य बना रहता है।

(२५८)-प्रत्यक्ष, और परोक्षशब्दार्थसमन्वय—

उक्त दोनों बुद्धिविवर्तों के द्वारा प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, आत्मानुगता विद्याबुद्धि से सम्बद्ध निर्भ्रान्त अनुभवविशेष ही 'परोक्ष' कहलाया है, जो इन्द्रियों से अतिक्रान्त अनुभव माना गया है। सहज भाषा में तथ्य का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि— 'मन के वश में रहने वाली बुद्धि के सह-योग से मनोद्वारा इन्द्रियों से जो अनुभव होता है, वही प्रत्यक्ष है"—एवं "मन को वश म रखने वाली बुद्धि से बिना इन्द्रियों के ही जो अनुभव होता है, वही परोक्ष है। अथवा-"आत्मा-नुगता स्वतन्त्रा विद्यारूपा व्यवसायबुद्धि से समन्वित निर्भ्रान्त निश्चित-एकभावात्मक-आध्यात्मिक अनुभव ही परोक्ष है," एवं "मनोऽनुगता परतन्त्रा अविद्यारूपा अव्यवसायबुद्धि से समन्वित भ्रान्त-संशयास्पद्-नानाभावात्मक-आधिभौतिक अनुभव ही प्रत्यक्ष है"। किंवा—"विषयों के साथ व्यवसायबुद्धि से उत्पन्न होने वाला निर्भ्रान्त निश्चित अनुभव ही 'परोक्ष' है"-एवं "विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला भ्रान्त-अनिश्चित अनुभव ही 'प्रत्यक्ष' है।

(२५९-'प्रत्यक्ष' के ६ विवर्त-

प्रत्यक्ष का मूलाधार जहाँ सेन्द्रिय चञ्चलप्रज्ञ भावुक मन है, वहाँ परोक्ष का मूलाधार इन्द्रियानपेक्ष नैष्ठिक विज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि) है। निष्कर्षतः- व्यवसायबुद्ध्यनुगत अनुभवविशेष 'परोक्ष' है, एवं अव्यव-सायशील मनोऽनुगत ऐन्द्रियक अनुभवविशेष ही 'प्रत्यक्ष' है। परोक्षानुभव आत्मानुगत है, प्रत्यक्षानुभव विश्वानुगत, किंवा लोकानुगत है। आत्मानुगत परोक्षभाव इन्द्रियनिरपेक्ष बनता हुआ स्वतन्त्र है, लोकानुगत प्रत्यक्षभाव इन्द्रियसापेक्ष बनता हुआ परतन्त्र है। व्यवसायबुद्धि के स्वाभाविक एकत्व से अनुप्राणित परोक्षानुभव जहाँ एकत्वसम्पत्तिलक्षण निश्चित भाव स ('इदमित्थमेव नान्यथा' रूपसे) समन्वित है, वहाँ अस्थिर मन के नैसर्गिक नानात्व से अनुप्राणित प्रत्यक्षानुभव इन्द्रियानुगति के सम्बन्ध से समन्वित है जिसके लोकनिष्ठ दार्श-निकोंने ६ विवर्त माने हैं।

यह षड्विध प्रत्यक्षानुभव घ्राणज-रासन-श्रावण-चाक्षुष-स्पार्शन-मानस, नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। नासिका से सम्बन्ध रखने वाला गन्धग्रहणानुगत घ्राणज अनुभव, जिह्वा से सम्बन्ध रखने वाला रसग्रहणानुगत रासन अनुभव, श्रोत्र से सम्बन्ध रखने वाला शब्दग्रहणानुगत श्रावण अनुभव, चक्षु से सम्बन्ध रखने वाला रूपग्रहणानुगत चाक्षुष अनुभव, त्वचा से सम्बन्ध रखने वाला स्पर्शग्रहणानुगत स्पार्शन अनुभव, एवं इन्द्रियमन से सम्बन्ध रखने वाला संकल्पविकल्पात्मक (ग्रहण-परित्यागात्मक) मानस अनुभव, ये ६ ओं ही अनुभवविशेष 'इन्द्रियानुभव' कहलाए हैं। एवं इन्द्रियानुभूति के सम्बन्ध से ही इस षड्विध ऐन्द्रियक अनुभव को 'प्रत्यक्ष' उपाधि से समलंकृत किया गया है। सूँघना, स्वाद लेना, सुनना, देखना, स्पर्शानुभव करना, ऊहापोह करना, ये ६ओं व्यापार 'ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष' की सीमा में ही समाविष्ट हैं। कहना न होगा कि, इस षड्विध प्रत्यक्षानुभव के साथ तत्त्ववेत्ता विज्ञानदृष्टिपरायण विद्वानों का नैसर्गिक अरुच्याधिक्य (विरोध) है। वे इस 'प्रत्यक्ष' पर अणुमात्र भी आस्था नहीं रखते, नहीं रखनी चाहिए। ऐसा क्यों ?, क्यों नहीं इस लोकानुगत प्रत्यक्षानुभव को समादरणीय माना गया ?, 'प्रत्यक्षद्विप' रूप से विद्वानोंने क्यों इसके साथ विरोध किया ?, क्यों प्रत्यक्षवादी को-'प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकः' रूप से नास्तिक घोषित किया ?, इत्यादि मानुकमानुकों प्रश्नपरम्परा के समाधान के लिए उन प्रत्यक्षप्रेमियों का निम्नलिखित एक प्रासङ्गिक वैदिक आख्यान की ओर ही ध्यान आकर्षित किया जा रहा है—

(२६०) प्रत्यक्षस्वरूपविश्लेषक रहस्यपूर्ण श्रौत आख्यान—

अथातो मनसश्चैव वाचश्च—'अहम्भद्र'—ऽउदितम्। मनश्च ह वै वाक् च अहम्भद्र ऽऊदाते। तद्ध मन उवाच—"अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि। न वै मया त्वं किञ्चन—अनभिगतं वदसि। सा यन्मम त्वं कृतानुकरा—अनुवर्त्मा—असि (अतः) अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि" इति। अथ ह वागुवाच—"अहमेव त्वच्छ्रेयसी-अस्मि। यद्वै त्वं वेत्थ, अहं तद्विज्ञपयामि, अहं सञ्ज्ञपयामि" इति। ते प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः। स प्रजापतिर्मनसऽ-एवानूवाच—"मन एव त्वच्छ्रेयः, मनसो वै त्वं कृतानुकरा-अनुवर्त्मा-असि। श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवति" इति। सा ह वाक् परोक्ता विसिस्मिये। तस्यै (तस्या) गर्भः पपात। सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच—"अहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं, यां मा परोवाच"। तस्माद्यत् किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, उपांश्वेव तत् क्रियते। अहव्यवाड्ढि वाक् प्रजापतयेऽआसीत् (अस्ति च)।

—शतपथब्राह्मण १।४।५।८ से १२ कण्डिकापर्यन्त

(२६१)—अक्षरार्थसमन्वय—

अक्षरार्थ इस आख्यान का यही है कि—"(किसी समय) मन और वाक् (वाणी) में परस्पर एक दूसरे से श्रेष्ठ मानने की प्रतिस्पर्द्धा जाग्रत हो पड़ी। मन और वाणी इस प्रतिस्पर्द्धा में (आज भी)

संलग्न देखे जाते हैं। (वाक् की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हुए इस मन ने) निश्चयभाव से हठसा-साहसपूर्वक (तद) कहा कि, (हे वाक्) मैं हीं तुझ से श्रेष्ठ हूँ। (मेरी श्रेष्ठता का प्रमाण यही है कि) तू मुझ से अज्ञात-असङ्कल्पित कुछ भी नहीं बोलती (बोल सकती)। क्यों कि तू कृतानुकरा है (मेरे कृत-संकल्प का अनुकरण करने वाली), अनुवर्त्मा है (मेरे संकल्प के पीछे पीछे अनुधावन करने वाली गतानुगतिका है), अतएव सिद्ध है कि, मैं (मन) ही तुझ (वाक्) से श्रेष्ठ हूँ। (मन के इस तर्क को सुनकर-इसका खण्डन करती हुई मन की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करती हुई) वाक् कहने लगी कि (हे मन!) मैं हीं तुझ से श्रेष्ठ हूँ। (मेरी श्रेष्ठता का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) तू (मन) जो कुछ (अपने संकल्पविकल्पात्मक मनोराज्य में) जानता है— (अनुभव करता है, चिन्तन करता है, ऊहापोह करता है), मैं ही उसे व्यक्त करती हूँ (जानती हूँ, वाग्जगत् का विषय बनाती हूँ, प्रकट करती हूँ। अतएव सिद्ध है कि, मैं हीं तुझ मन से श्रेष्ठ हूँ)। (मन और वाक् की इस पारस्परिक अहंमन्यता-श्रेष्ठाभिमानधर्म्मता-का जब इन दोनों से परस्पर निर्णय न हो सका तो) इस प्रश्न को लेकर (निर्णय के लिए) दोनों प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए। (प्रजापति ने इन दोनों के ही तर्क सुने, एवं इन तर्कों के आधार पर अपना निर्णय प्रकट करते हुए) प्रजापति ने मन की ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए वाक् से कहा कि, हे वाक्! मन ही तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योंकि तू मन की कृतानुकरा (मन के किए हुए का अनुकरण करने वाली) है, अनुवर्त्मा (मन के संकल्पित मार्ग पर चलने वाली) है, (और यह प्राकृतिक नियम है कि, दो व्यक्तियों में) जो निम्न श्रेणी का व्यक्ति होता है, वह अपने से उच्च श्रेणी के व्यक्ति का ही कृतानुकर, एवं अनुवर्त्मा बना रहता है *। (इसलिए मन ही तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ है)। (प्रजापति के इस मनोऽनुकूल, एवं स्वप्रतिकूल निर्णय से) यह वाक् प्रजापति से इस प्रकार एक अनात्मीय अहितचिन्तक शत्रु की भांति अपने सम्बन्ध में विपरीत निर्णय सुनकर सहसा स्तब्ध आश्चर्य्ययुक्त बन गई। वाक् का सम्पूर्ण गर्व (अभिमान) पददलित-विघटलित (चूर-चूर) हो गया। (क्योंकि, वाक् को ऐसी आशा थी कि, प्रजापति मन की अपेक्षा इसे ही श्रेष्ठ प्रमाणित करेंगे। हो गया इससे सर्वथा विपरीत। प्रजापति के इस स्व-आशा-विश्वास के विरुद्ध-प्रतिकूल निर्णय से गर्वखर्विता बनती हुई वाक् सहसा आवेशपूर्वक क्रुद्धा बनती हुई) प्रजापति से कहने लगी कि, हे प्रजापते! आज से (सृष्टि के आरम्भ से ही) मैं तुम्हारे लिए अहव्यवाट् (हव्य वहन न करने वाली) ही बनी रहूँगी (बनी हुई हूँ), जो कि तुमने (इस प्रतिद्वन्द्विता में) मेरा इस प्रकार (मन के समर्थन में) मानमर्दन कर डाला। यही कारण है कि, यज्ञकर्म्म में जो कुछ भी प्राजापत्य (प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाला) कर्म्म किया जाता है, वह उपांशु (चुपचाप ही, बिना मन्त्रवाणी-प्रयोग के ही) किया जाता है। । क्योंकि आरम्भ में प्रजापति के लिए वाक् अहव्यवाट् ही बन चुकी थी।"

(२६२)-रहस्यदिशोपक्रम—

ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'सामिधेनी' प्रकरण में उक्त आख्यान का समावेश एक विशेष कर्म्म की उपपत्ति (मौलिक कारण) के स्वरूपविश्लेषण के सम्बन्ध में हुआ है। सामिधेनी-प्रकरणान्तर्गत यद्यपि

---

* यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥ (गीता३।२१।)

भावार्थों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य नें प्राजापत्यकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली उपांशुभावना के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया है कि, इन्द्र–अग्नि, सोम, वायु, आदि प्राणदेवताओं के लिए जो आहुतिप्रदानादिलक्षण यज्ञादि कर्म्म किए जाते हैं, उनमें सर्वत्र मन्त्रप्रयोग विहित है। मन्त्रप्रयोगात्मक मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही इन्द्रादि देवदेवताओं के लिए आहुतिप्रदानादि यज्ञकर्म्म सम्पन्न होते हैं। किन्तु प्राजापत्यकर्म्म उपांशु–बिना मन्त्रोच्चारण के–ही होता है। सर्वाधारभूत प्रजापति के लिए मन्त्रवाक् का प्रयोग क्यों नहीं होता ?, इसी मार्मिक प्रश्न का समाधान करने के लिए उक्त मार्मिक आख्यान उद्धृत हुआ है, जिसके रहस्यार्थ का शतपथभाष्य के तत्प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। प्रकृत में प्रसङ्गसमन्वय के लिए दो शब्दों में आख्यानानुगता रहस्यदिशा का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है।

(२६३)–गर्भ–पिण्ड–महिमा–रूपस्थात्रयी—

'प्रजापतिश्चरति गर्भे०' (यजुः सं० ३१।१६) इत्यादि यजुःश्रुति के अनुसार प्रजापतिदेवता प्रत्येक पदार्थ के (वह पदार्थ सेन्द्रिय हो, अथवा निरिन्द्रिय, अर्थात् चेतन हो, किंवा जड़ हो) गर्भ (केन्द्र) में गर्भरूप से (ह–द–य रूप आगति–गति–स्थिति–त्रयीरूप से) प्रतिष्ठित रहता है, जिससे अनुप्राणित केन्द्रापकर्षणबल का पूर्व परिच्छेद में विश्वस्वरूपमीमांसामूलक ऋक्मन्त्रव्याख्यान में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। मनप्राणवाङ्मय केन्द्रस्थ उक्थभाव (हृदयस्थ मूलभाव) ही अन्तर्य्यामी नामक प्रजापति है, जो प्रत्येक पदार्थ की केन्द्रशक्ति बनता हुआ पदार्थ का नियमितरूप से सञ्चालन करता रहता है। यह हृत्प्रजापति अपने नैसर्गिक त्रिहृद्भाव के कारण त्रिसंस्थ बन कर अपने महिमामण्डल में भूमारूप से व्याप्त रहता है। प्रजापति की ये तीनों संस्थाएँ क्रमशः गर्भसंस्था, पिण्डसंस्था, महिमासंस्था, नामों मे सुप्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिए, आप किसी भी मूर्त्त वस्तुपिण्ड को अपना लक्ष्य बना लीजिए। उस मूर्त्त वस्तुपिण्ड में आप इन तीनों संस्थाओं का साक्षात्कार कर लेंगे। पुरोऽवस्थित जिस वस्तुपिण्ड का आप चक्षुरिन्द्रिय से साक्षात्कार (प्रत्यक्षात्मक इन्द्रियानुभव) कर रहे हैं, जिसे आप आँखों से देख रहे हैं, वही महिमसंस्था है, जिसको वैज्ञानिकोंनें 'वषट्कार' से सम्बन्ध माना है। प्राजापत्य सर्गमात्र का यह एक महामहत्त्व (आश्चर्य्य) है कि, दृश्य, तथा स्पृश्य, दोनों का आधार यद्यपि एक ही पदार्थ है। किन्तु दृश्य पदार्थ कुछ और है, एवं स्पृश्य पदार्थ कुछ और ही है। जो तत्त्व हमारा 'दृश्य' बनता है, वह अन्य है एवं जो 'स्पृश्य' बनता है, वह पृथक् है। दूसरे शब्दों में जिसे आप देख सकते हैं, देख रहे हैं, देखते हैं, उसे छू नहीं सकते। एवं जिसका स्पर्श कर रहे हैं, उसे देख नहीं सकते। दृश्य बनता है मण्डल, एवं स्पृश्य बनता है पिण्ड। पिण्ड का आप स्पर्श कर सकते हैं, किन्तु इसे देख नहीं सकते। मण्डल को आप देख सकते हैं, किन्तु स्पर्श इसका नहीं कर सकते। क्योंकि यह अपने प्राणरूप से यथामण्डल रहता है। स्थितिस्पष्टीकरण के लिए यों समन्वय कीजिए कि, बिना प्रकाशसाधन को मध्यस्थ बनाए आप वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर सकते, अर्थात् देख नहीं सकते। हाँ, प्रकाश के बिना आप वस्तुपिण्ड का स्पर्शानुभव अवश्य कर सकते हैं। सूर्य्य–चन्द्रमा–अग्नि–विद्युत्–तारक–दीप–आदि किसी न किसी प्रकाश के सहयोग से ही स्पर्शानुभव के द्वारा अनुमेय वस्तुपिण्ड का आप को साक्षात्कार हुआ करता है।

(२६४)–स्पृश्यपिण्ड, और दृश्यमण्डलस्वरूपमीमांसा—

क्या वस्तुपिण्ड के साथ आप की दृगिन्द्रिय का सम्बन्ध होता है ?, नहीं। अपितु यथाश्रयित सूर्य्यादि की प्रकाशरश्मियों के तात्त्विकभाव का सर्वप्रथम वस्तुपिण्ड (स्पृश्य) के साथ सम्बन्ध होता है। वहां जाकर

प्रकाशरश्मियाँ गायत्रभाव में परिणत हो जाती हैं, जिसका अर्थ है 'रश्मिप्रतिफलन'। सूर्यात्मक वस्तुपिण्ड के साथ साक्षात् रूप से सम्बद्ध प्रकाशरश्मियाँ सावित्रभावान्विता हैं, एवं वस्तुपिण्ड के साथ सम्बद्ध होकर तदाकाराकारित बन कर प्रतिफलनरूप से अपना स्वतन्त्र बहिर्म्मण्डल बना लेने वाली प्रकाशरश्मियाँ गायत्रभावान्विता हैं। यही गायत्रमण्डल वस्तु का बहिर्म्मण्डल कहलाया है, जो हमारी दृष्टि का विषय बनता है। यही वह दृश्यमण्डल है, जिसका सूर्यपिण्ड के आधार पर प्रकाशप्रतिफलन के माध्यम से बहिर्वितान हुआ है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित आकृति 'रश्मिप्रसार' सिद्धान्तानुसार सामीप्य–विदूर–दोनों भावों से यथानुरूप संयुक्त बन जाती है, एवमेव दृश्यमण्डल से सम्बद्ध सूर्यपिण्ड का सामीप्य एवं विदूरभाव भी चक्षुर्म्मण्डल में यथानुरूप संयुक्त बनता रहता है। तात्पर्य्य, वस्तु के आकार की भाँति उसकी दूरी का, सामीप्य का चित्र भी आप के चक्षुर्म्मण्डल में समाविष्ट हो जाता है। यही कारण है कि, दृश्यमण्डलाकाराकारित वस्तु को यद्यपि देख रहे हैं आप चक्षुर्म्मण्डल की सीमा में ही, तथापि प्रतीत आप को ऐसा होता रहता है, मानों दृश्यवस्तु आप से विदूर अमुक स्थान पर प्रतिष्ठित हो। विश्वास कीजिए, जिस नियत स्थान पर वस्तु है, उसे आप कदापि कथमपि नहीं देख सकते। हाँ, आप उसका स्पर्श अवश्य कर सकते हैं। जिसे आप देख रहे हैं, वह तो प्रकाशरश्मियों के सम्पर्क से आप की अपनी चक्षुरिन्द्रियमुक्ता प्रज्ञाप्राणात्मिका ज्ञानीयरश्मियों के समन्वय से समुत्पन्न दृश्यमण्डल ही है, जिसके निर्म्माता स्वयं आप (ज्ञानात्मक प्रत्यय) हैं, अतएव जो आपकी ही अपनी वस्तु है, एवं जिसके आधार पर उपनिषदों में–'स्वयं–निर्म्माय' इत्यादि रूप से 'प्रत्यग्चैतन्य-सत्योपनिषत्' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। एवं जो औपनिषद सिद्धान्त 'अहं मनुरभवं–अहं सूर्य्य इवाजनि' इत्यादिरूप से मन्त्रसंहिताओं में विस्तार से निरूपित हुआ है, तथा जिसका निष्कर्षार्थ है—"हम जो कुछ देख–सुन–अनुभव कर रहे हैं, यह सब कुछ हमारे ज्ञान–प्रत्यय से ही विनिर्म्मित है।"

(२६५)–उद्गीथप्रजापतिस्वरूपपरिचय–

दृश्यमण्डल का आधार बनता है सूर्यपिण्ड। एवं दोनों का मूलाधार–सर्वाधार बनता है 'ब्रध्नपृष्ठ' जिसके लिए 'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" (यजुः सं० ११।२६) यह प्रसिद्ध है। ब्रध्नपृष्ठ ही गर्भसंस्था है सूर्यपिण्ड ही पिण्डसंस्था है, दृश्यमण्डल ही महिमासंस्था है। प्रथमसंस्था 'आत्मा' है, द्वितीयसंस्था 'पदम्' है, तृतीयसंस्था 'पुनःपदम्' है। हृदयरूप आत्मा, सूर्यपिण्डरूप पद, एवं दृश्यमण्डलरूप पुनःपद, इन तीनों गर्भ–पिण्ड महिमा–संस्थाओं की समष्टि ही पदार्थ की कृत्स्नरूपता है। हृदयावच्छिन्न यही आत्मप्रजापति अपने अनिरुक्त अनिर्वचनीय–उपांशुरूप से 'अनिरुक्तप्रजापति' कहलाया है, जिसे अनिरुक्तभावप्रधाना 'क' कार व्याहृति से व्यवहृत किया गया है। 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' (केनोपनिषत्) 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (यजुःसंहिता) इत्यादि*श्रुतियों में पठित 'केन' 'कस्मै' पदों का अर्थ है 'अनिरुक्तप्रजापतिना, अनिरुक्तप्रजापतये'। सूर्यपिण्डावच्छिन्न यही प्रजापति अपने स्वाभाविक 'उत्–(ऊर्ध्व)–गी (गानरूप–

---

* प्रतीच्य अन्वेषणपद्धति के गतानुगतिक भारतीय 'वैदिक रिसर्चस्कॉलर' महानुभावों से सुना गया है कि, जब देवपूजन बंद हो गया, देवताओं के बोधनान्तर जब ऐश्वर का ज्ञान हो गया, तो देवताओं की उपेक्षा कर दी गई। केवल ईश्वर ही उपास्य बन गया। यही उपेक्षाभाव 'कस्मै देवाय' इत्यादि से प्रतिध्वनित है। धन्य हैं ये स्कॉलर महाभाग !, और धन्य है इनका यह मौलिक अन्वेषण !

प्राण) यम् (ऊर्ध्वगमनद्वारा ब्रह्मविद्याप्राप्ति) धर्म के कारण 'उद्गीथप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। पिण्ड से संलग्न महिमामण्डल के त्रयस्त्रिंशत्तदनुरूप अहर्गणों (११वाङ्मय अहर्गणों) का विभाजक क्योंकि यही उद्गीथप्रजापति बनता है, अतएव इसके महिमामण्डलस्थ केन्द्रात्मक सप्तदश अहर्गणात्मक स्वरूप को 'सप्तदशप्रजापति' नाम से व्यवहृत किया गया है। यह पिण्ड और महिमा, दोनों का संचालक बनता है। अतएव इसे पिण्डानुगत (सूर्यपिण्डानुगत) भी मान लिया गया है, एवं मण्डलानुगत (हृदयमण्डलानुगत) भी मान लिया है। यही इसका उद्-गी-थ-रूप 'उद्गीथत्व' है, जिसके आधार पर सहस्रकर्मा साम्राज्य प्रतिष्ठित है।

(२६६)—सर्वप्रजापतिस्वरूपपरिचय—

महिमामण्डल के इस ओर के (सूर्यपिण्ड की ओर के) षोडश (१६) आग्नेय वाङ्मय अहर्गण इस सप्तदश अहर्गणात्मक उद्गीथप्रजापति की सत्ता से आक्रान्त रहते हैं, जिनका यह सप्तदशप्रजापति साक्षी बना रहता है। उस ओर के सौम्य वाङ्मय षोडश अहर्गणों में व्याप्त सोम की आहुति इस ओर के आग्नेय वाङ्मय षोडश अहर्गणों में व्याप्त अग्नि में उभयमध्यस्थ इसी सप्तदशप्रजापति की साक्षी में होती है, जिस आहुति से महिमामण्डलानुगत सुप्रसिद्ध 'ज्योतिष्टोमयज्ञ' का स्वरूप सम्पन्न होता है। इस सम्बन्ध से ही इसे 'यज्ञप्रजापति' भी कहा गया है, जिस इस यज्ञप्रजापति के अहर्गणात्मक सप्तदश (१७) पर्वों की इस प्राकृतिकसम्पत् का अपने वैधयज्ञ में समावेश करने के लिए याज्ञिक महर्षि स्वयज्ञकर्म में 'संख्याविद्या' के आधार पर सत्रह अक्षरों का प्रयोग किया करते हैं *।

सम्पूर्ण महिमामण्डल को स्वसीमा में अन्तर्मुक्त रखने वाला हृदयमण्डलाध्यक्ष वही प्रजापति 'सर्वप्रजापति' कहलाया है। हृदयमण्डलात्मक महिमामण्डल के क्योंकि वाङ्मय ३३ अहर्गण हैं, एवं प्रजापति क्योंकि इन सब का अध्यक्ष है, अतएव इसे चतुस्त्रिंश (३४ वाँ) मान लिया गया है, जैसाकि

---

* चतुर्भिश्च[४] चतुर्भिश्च[४], द्वाभ्यां[२], पञ्चभिरेव[५] च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां[२], तस्मै यज्ञात्मने नमः॥
[सप्तदशप्रजापतये नमः]

* 'ओ'-श्रा'-व'-य[४]" (ओश्रावय) इति। "अ स्तु', औ', षट्[४]" [अस्तुश्रौषट्] इति। 'य'-ज[२]" [यज]-इति। 'ये'-य'-जा'-म'-हे[५]' [ये यजामहे] इति। 'वौ'-षट्[२]" [वौषट्]। इति, सप्तदशप्रजापतिः सम्पद्यते अक्षरसख्यासम्पत्-माध्यमेन। तथा चाहुर्महर्षयः-"ओश्रावयेति वै देवा विराजमभ्याजुहुवु। अस्तुश्रौषडिति वत्समुपावासृजन्। यजेत्युदजयन्। ये यजामहेति-उपासीदन्। वषट्कारेणैव विराजमदुहत। इय वै विराट्। अस्यैवाऽएष दोहः। एवं ह वाऽस्माऽइयं विराट् सर्वान् कामान् दुहे, य एवमेत विराजो दोह वेद"।

—शत० १।५।२।२०।

'चतुस्त्रिंश प्रजापति' (ताण्ड्यब्रा॰ २२।७।५) इत्यादि ब्राह्मणनिगम से प्रमाणित है। इस प्रकार केन्द्र, केन्द्रानुगत वस्तुपिण्ड, तदनुगत इरमण्डलार्द्ध पिण्ड, एवं केन्द्र-पिण्ड-मण्डल-रूप से एक ही हृदयप्रजापति के अनिरुक्त-उद्गीथ-सर्व-रूप से तीन विवर्त हो जाते हैं। हृदयप्रजापति अनिरुक्त है, 'क' कार से सम्बोधित है। पृष्ठप्रजापति निरुक्तानिरुक्त है। एवं महिमप्रजापति निरुक्त है, 'स' कार से सम्बोधित है।

उपांशु-सप्तदश-चतुस्त्रिंश-प्रजापतिस्वरूपपरिलेखः—

१ अनिरुक्त	हृदयः	मूलप्रजापतिः	उपांशुप्रजापतिः	प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च
२ निरुक्तानिरुक्त	उद्गीथः	यज्ञप्रजापतिः	सप्तदशप्रजापतिः	
३ निरुक्त	सर्वः	महिमप्रजापतिः	चतुस्त्रिंशप्रजापतिः	

(२६७)—पशुपति-पाश-पशु-स्वरूपपरिचय—

यथानिरूपित त्रिविध प्राजापत्य संस्थाएँ ही क्रमशः गर्भ-पिण्ड-महिमा नाम की संस्थाएँ हैं। इन तीनों संस्थाओं में यद्यपि त्रिवृद्भाव के कारण आत्मरूप प्रजापति की तीनों—मनःप्राणवाक्-कलाओं का उपभोग हो रहा है। तथापि गौणमुख्यभाव के कारण अनिरुक्त हृदयप्रजापति प्राणवाग्गर्भित मनःप्रधान बनता हुआ 'मनोमय' कहलाया है। उद्गीथप्रजापति मनोवाग्गर्भित प्राणप्रधान बनता हुआ 'प्राणमय' कहलाया है। एवं सर्वप्रजापति मनःप्राणगर्भित वाक्प्रधान बनता हुआ 'वाङ्मय' कहलाया है। वाङ्मयरूप से वही प्रजापति 'विश्व' है, प्राणमयरूप से वही विश्वकर्त्ता है, मनोमयरूप से वही विश्वाधार है। वाङ्मय विश्व (मूर्त्तमात्रात्मक भौतिक विश्व) ही 'मरीचि' (सोम्य अन्न) लक्षण 'पशु' है, जिसका 'यत्पश्यत्-तस्मात् पशुः' (शत॰ ६।२।१।२) निर्वचन के अनुसार पञ्चविध प्रत्यक्षानुभव से सम्बन्ध है। अतएव पशुभाव प्रधान मानव इस प्रत्यक्षानुभव को ही प्रधान प्रमाण घोषित किया करता है। प्राणमयरूप से विश्वकर्त्ता बना हुआ प्रजापति विश्वकर्म्मा है। यही प्राणमय अर्कलक्षण 'पाश' है, जिस प्राणबन्धनात्मक पाश से वाग्रूप विश्वपशु आबद्ध है। मनोमयरूप से विश्वाधार बना हुआ प्रजापति सर्वाधिष्ठाता-सर्वालम्बन है। यही मनोमय उक्थलक्षण 'पशुपति' है। 'पशुपति-पाश-पशु' भेद से त्रिधा विभक्त-उक्थ-अर्क-अशीति रूप से यज्ञपरिभाषा में उपवर्णित-मनः-प्राण-वाग्रूप से आत्मपरिभाषा में प्रसिद्ध त्रिसंस्थ-त्रिवृद्भावापन्न प्रजापति का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसे आधार-स्तम्भ-बना कर ही हमें पूर्वोद्धृत श्रौत आख्यान के रहस्यार्थ का समन्वय करना है।

गर्भाव्यक्त–सूक्ष्मपिण्डाव्यक्त–दृश्यमण्डलाव्यक्त–विवर्तत्रयीस्वरूपपरिलेखः—

१–मनः (१) २–प्राण (१) ३–वाक् (१)	प्राणवाग्गर्भित मन (१)–मनःप्रजापति (अनिरुक्तः–हृदयावच्छिन्नः)	गर्भाव्यक्त —पशुपतिः (आत्मभाव)
१–प्राण (२) २–मन (२) ३–वाक् (२)	मनोवाग्गर्भित प्राणः (२) प्राणप्रजापति (निरुक्तानिरुक्तः पिण्डानुगतः)	सूक्ष्मपिण्डाव्यक्त —पाशः (सत्त्वभावः)
१–वाक् (३) २–प्राणः (३) ३–मन (३)	मनःप्राणगर्भिता वाक् (३) वाक्प्रजापति (निरुक्तः–महिमानुगतः)	दृश्यमण्डलाव्यक्त —पशु (शरीरभाव)

(२६८)–आत्म–सत्त्व–शरीर–संस्थात्रयी—

उक्त तीनों प्राजापत्य–संस्थाओं को हम क्रमशः आत्मसंस्था, सत्त्वसंस्था, शरीरसंस्था, इन नामों से व्यवहृत करेंगे, जिनका पूर्व परिच्छेदों में यत्रतत्र विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। दर्शनपरिभाषानुसार आत्मा 'आत्मा' कहलाया है, यही 'कारणशरीर' नाम से उपवर्णित हुआ है। सत्त्व 'मन' कहलाया है, यही 'सूक्ष्मशरीर' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं शरीर 'स्थूलशरीर' कहलाया है। पूर्वपरिच्छेदों में मनस्तन्त्र की तात्त्विक स्वरूपमीमांसा करते हुए इसके श्वोवसीयस्–सत्त्व–सर्वेन्द्रिय–इन्द्रियभेद–से चार विवर्त प्रतिपादित हुए हैं, जिनमें से यदि 'सत्त्व' रूप महन्मन का श्वोवसीयस् नामक अव्ययात्ममन में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो तीन ही मनस्तन्त्र शेष रह जाते हैं। मनःप्राणवाङ्मार्गों के त्रिवृद्भाव के कारण पूर्व प्रतिपादित तीनों ही प्राजापत्यसंस्थाओं में मनस्तन्त्र समन्वित है। गर्भाव्यक्त प्राजापत्य मन श्वोवसीयस् नामक मुख्य मन है, जो वज्रवेष्टनादि यच्चयावत् पदार्थों में अव्यक्तरूप से गर्भीभूत है। एवं जिसका व्यक्तरूप एकमात्र परिपूर्ण मानव में ही प्रतिष्ठित माना गया है। दूसरा सूक्ष्मपिण्डाव्यक्त मन 'सर्वेन्द्रिय' नामक वह मन है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों का सञ्चालन होता है। तीसरा दृश्यमण्डलाव्यक्त मन 'इन्द्रियमन' है, जो वाक्सोमा में अन्तर्मुक्त रहता हुआ वाग्रूप ही है। पूर्व के व्याख्यान में जिस वाक् तथा मन की 'अहम्मद' रूपा अहमहमिका (प्रतिस्पर्द्धा) बतलाई गई है, वह वाक् तो स्थूलशरीरानुगता मनःप्राणगर्भिता 'वाक्' है। एवं मन दूसरी प्राजापत्यसंस्थारूपा सूक्ष्मशरीरानुगता संस्था से सम्बद्ध सर्वेन्द्रिय नामक इन्द्रियाव्यक्त मन है। जिस प्रजापति के सम्मुख ये दोनों निर्णय कराने जाते हैं, वह कारण

शरीरानुगता तीसरी प्राजापत्यसंस्था है, जिसे प्राणवाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्त हृदयप्रजापतिसंस्था कहा गया है। निष्कर्ष कहने का यही है कि, दूसरी संस्था के सर्वेन्द्रिय नामक सूक्ष्मशरीरनिबन्धन मन, एवं तीसरी संस्था की स्थूलशरीरनिबन्धना वाक्, इन दोनों में तो प्रतिस्पर्द्धा होती है। एवं प्रथमसंस्थाध्यक्ष आत्मप्रजापतिरूप अनिरुक्तप्रजापति इस स्पर्द्धा के निर्णायक बनते हैं। यह है आख्यान के 'प्रजापति-मन वाक्' नामक तीन मुख्य पात्रों का स्वरूपविश्लेषण। अब आख्यान के समन्वय को लक्ष्य बनाइए।

निर्णायक-स्पर्द्धालु-स्पर्द्धाशील-विवर्त्तपरिलेखः—

१-प्रथमसंस्थाध्यक्षः	अनिरुक्तप्रजापतिः	(आत्मा)	कारणशरीरलक्षणः	निर्णायकः
२-द्वितीयसंस्थाध्यक्षः	सर्वेन्द्रियमनः	(सत्त्वम्)	सूक्ष्मशरीरलक्षणम्	स्पर्द्धालु
३-तृतीयसंस्थाध्यक्षा	वाक्	(शरीरम्)	स्थूलशरीरलक्षणा	स्पर्द्धाशीला

---

(२६९)-वाक् की अपेक्षा मन की श्रेष्ठता—

सर्वेन्द्रिय-अनिन्द्रिय-अतीन्द्रिय-आदि विविध नामों से उपवर्णित चान्द्र प्रज्ञान मन की कामना से ही वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-रसना-इन्द्रियमन-आदि इन्द्रियप्राणों का सञ्चालन-नियमन होता रहता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिपति यही प्रज्ञानमन माना गया है। देखना-सुनना-सूँघना-स्वाद लेना-स्पर्शानुभव करना-सङ्कल्प-विकल्प करना-आदि आदि यच्चयावत् ऐन्द्रिक प्राणव्यापार मनःसंयोग पर ही निर्भर है *। बिना मनःसहयोग के कोई भी इन्द्रिय अपना कर्म्म नहीं कर सकती +। इन सब कारणों से मन यह कह सकता है कि, "मैं न केवल तुम्हारा वागिन्द्रिय से ही श्रेष्ठ हूँ, अपितु सम्पूर्ण इन्द्रियों से श्रेष्ठ हूँ"। मानस कामना को मूल बनाए बिना इन्द्रियव्यापार असम्भव है, इसी भाव का प्रतिस्पर्द्धारूप से अभिनय हुआ है। जैसा मन से मनन होता है, वाक् को वैसा ही बोलना पड़ता है +। सिद्ध है कि, वाणी स्वतन्त्ररूप से गतिशील

---

* मनो वै प्राणानामधिपतिः। मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः।

—शत० ब्रा० १४।४।३।८।

— अन्यत्रमना अभूवं, नादर्शम्। अन्यत्रमना अभूवं, नाश्रौषम्। इति मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति।

शत० १४।४।३।८।

+ यन्मनसा संकल्पयति, तद्वाचमपिपद्यते।

—शत० ३।४।२।६

न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम्।

—शत० ६।३।१।१४।

मनने में असमर्थ है। अपितु मन जैसी कामना करता है, वाक् को उसी का अनुगमन करना पड़ता है। इत्यानुरूप अनुवर्तमानानुगता ऐसी वाक् अवश्य ही मन की अपेक्षा अवरकक्षा में ही प्रतिष्ठित मानी जायगी, जिस स्थिति का–'न वै मया त्वं विज्ञान–मनभिगतं वदसि, (अत) अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि' इत्यादि रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है।

(२७०)–मन की अपेक्षा वाक् का श्रेष्ठत्त्व—

मन ने अपनी कामना के आधार पर वाक् की अपेक्षा इस प्रकार जब अपना अहंभाव (श्रेष्ठता) अभिव्यक्त कर दिया, तो वाक् को मन का यह श्रेष्ठत्त्व सह्य न हो सका। यह ठीक है कि, कामनामय मानस संकल्प के बिना वाणी स्वव्यापार–अनुष्ठान में सर्वथा असमर्थ बनी रहती है। तथापि कामनामय मानस संकल्पों को व्यक्तरूप प्रदान करने की क्षमता, दूसरे शब्दों में सर्वथा परोक्ष बने हुए मानस संकल्पों को प्रत्यक्षरूप प्रदान करने की क्षमता तो एकमात्र 'वागिन्द्रिय' पर ही अवलम्बित है। यदि वाणी कुछ बोले नहीं, कहे नहीं, तो उस प्राणी के मनोभाव अव्यक्तव्यावस्था से ज्यों के त्यों धरे रहें। 'वाचा हीदं सर्व–मनुते' के अनुसार मन के मनन–धर्म की मान्यता एकमात्र वाग्व्यापार पर ही अवलम्बित है। मानव भावों को वाक् के द्वारा ही क्योंकि व्यक्तरूपता प्राप्त होती है, अतएव इस दृष्टिकोण से अवश्य ही वाक् को मन के समतुलन में श्रेष्ठ कहा जा सकता है, जिस श्रेष्ठता का 'यद्वै त्वं वेत्थ, अहं तद्विज्ञपयामि, अहं संज्ञपयामि' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है।

(२७१)–मन और वाक् का परोक्षत्त्व–प्रत्यक्षत्त्व—

मन, और वाक्, दोनों में मन 'परोक्ष' भाव है, वाक् प्रत्यक्ष तत्त्व है। मनोवाक् की प्रतिस्पर्धा वस्तुतः परोक्ष-प्रत्यक्ष भावों की स्पर्धा है। दोनों में किसे श्रेष्ठ माना जाय, जब कि दृष्टिकोणभेद से दोनों ही श्रेष्ठ प्रतीत हो रहे हैं!, दोनों ही पक्षों के समर्थक वचन हमें उपलब्ध हो रहे हैं। अतएव 'दोनों में कौन श्रेष्ठ'! प्रश्न के विभिन्न दोनों ही प्रकार के समाधान उपलब्ध हो रहे हैं। आभ्यन्तर-सुसूक्ष्म, अतएव परोक्ष तत्त्वों की मीमांसा करने वाले सूक्ष्मदर्शी आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वान् का उत्तर होगा 'मन' की श्रेष्ठता के पक्ष में। एवं बाह्य-स्थूल, अतएव प्रत्यक्ष भावों की मीमांसा करने वाले स्थूलद्रष्टा लौकिक का उत्तर होगा 'वाक्' की श्रेष्ठता के पक्ष में। दोनों में से स्थूलारुन्धतीन्याय से दो शब्दों में पहिले प्रत्यक्षलक्षणा वाक् के श्रेष्ठत्त्व की ही–मीमांसा कर लीजिए।

(२७२)–वाग्व्यवहार का महामहिमत्त्वस्थापन—

भूतवादी–क्षणिकविज्ञानवादी–स्थूलजगन्निष्ठ–व्यवहारनिष्ठ–स्थूलद्रष्टा प्रत्यक्षपरायण लौकिक मानव कहेगा—'वाक् ही श्रेष्ठ तत्त्व इसलिए है कि लोकक्षेत्र में वाक् को मध्यस्थ बनाए बिना किसी भी लोकक्षेत्र में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती'। लोकभावानुसार–बिना बोले कोई काम नहीं हो सकता, नहीं बन सकता। इस प्रकार की लोकसूक्ति लोक में प्रसिद्ध है कि,–" बोलने वाले के तो छिलके भी बाजार में बिक जाते हैं। एवं न बोलने वाले के चने भी परे रहते हैं"। निगमशास्त्र ने भी लौकिक मानवानुबन्धिनी इस वाक्प्रधाना–प्रत्यक्षमूला–लोकमान्यता का निम्नलिखित शब्दों में अभिनय किया है। श्रुति कहती है—

वागेव ऋच/श्च, सामानि च । मन एव यजूंषि । सा यत्रैव वागासीत्-सर्वमेव तत्राक्रियत, सर्वं प्राज्ञायत । अथ यत्र मन आसीत्-नैव तत्र किंचनाक्रियत, न प्राज्ञायत । नो हि मनसा ध्यायतः कश्चन आजानाति ।

—शत० ब्रा० ४।६।७।५ त्रयोविद्यापरिशिष्टब्राह्मण

"वाक् ही ऋक् और साम है, मन ही यजु है * । (ऋक्-साम ही बहिर्मण्डल के स्वरूप निर्माता हैं, अतएव वाङ्मण्डलात्मक बहिर्मण्डल को अवश्य ही ऋक्-साम-प्रधान माना जा सकता है । एवं केन्द्रा-वच्छिन्न गत्यागतिभावात्मक मन ही स्तृश्यभाव का स्वरूपसमर्पक बनता है, अतएव मनोमय आभ्यन्तर वस्तुपिण्ड को अवश्य ही यजुःप्रधान कहा जा सकता है, यही तात्पर्य्य है) । जहाँ जिस मानव के समीप 'वाक्' (वाणी रूप साधन विद्यमान था) थी,वहाँ उस (वाक्सम्पत्तियुक्त मानव ने, बोलने में चतुर-कुशल मानव) ने सब कुछ कर लिया, सब कुछ जान लिया (अर्थात् बोलने वाला लोक में कर्म्मठ भी बन गया, विज्ञ भी घोषित हो गया । ठीक इसके विपरीत) । जहाँ जिस मानव के समीप केवल मन था (जो मानव केवल मानसिक चिन्तन अनुशीलन में प्रवृत्त था), वहाँ उस (वाणीविलासावच्छिन्न मानव) ने न कुछ किया ही, न कुछ जाना ही (अर्थात् लोक में ऐसा केवल मननशील मानव न तो कर्म्मठ कहलाया, एवं न विज्ञ माना गया) । क्योंकि केवल(मन ही) मन से अनुध्यान-संकल्प-विकल्प करने वाले मानव के आभ्यन्तर सुसूक्ष्म मनोभावों को कोई नहीं जान पाता । परिणामस्वरूप केवल मनोराज्य में विचरण करने वाले मानव के संकल्प कभी बाह्य रूपात्मक मूर्त्तरूप में परिणत नहीं होते, जब तक कि वह बाह्यजगन्मूला वाक् का मन के साथ समन्वय नहीं करा देता"।

उक्त अक्षरार्थसमन्विता श्रुति का वाक्प्रधान + मूर्त्त भौतिक व्यक्तजगत् की दृष्टि से अक्षरशः समन्वय हो रहा है । 'स भूरिति व्याहरत्, पृथिव्यभवत्' प्रजापति ने अपने मुख से 'भू' इस एका-क्षरात्मक शब्द का उच्चारण किया, एवं उससे पृथिवी का स्वरूपनिर्म्माण हो गया, इत्यादि श्रुति भी यही प्रमाणित कर रही है कि, अव्यक्त-अमूर्त-अनिरुक्त-आध्यात्मिक-परोक्ष-मनोभावों को व्यक्त मूर्त्त निरुक्त आधिभौतिक प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान करने के लिए अवश्य ही उस 'व्यक्त' तत्त्व का आश्रय लेना अनिवार्य्य बन जाता है, जो व्यक्त वाक्तत्त्व मनोमय आत्मप्रजापति (हृदयस्थ अनिरुक्त प्रजापति)

---

* हृदयस्थानावच्छिन्न वस्तुपिण्ड ही हृदयावच्छिन्न मन का आयतनक्षेत्र है । इस हृन्मूर्त्ति, किंवा हृत्प्रतिष्ठ मनोरूप यजुः के आधार पर ही यत्रूप गतिभाव, जूरूप स्थितिभाव, इन दोनों विसर्गादानलक्षण भावों के माध्यम से वस्तुपिण्डस्वरूपप्रतिष्ठा सुरक्षित रहती है । विज्ञानदृष्ट्या वस्तुपिण्डात्मक यजुम्मूर्त्ति कभी प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता । प्रत्यक्ष का विषय बनता है हृदयाधार पर प्रतिष्ठित ऋक्साममय वाग्रूप बहिर्म्मण्डल, जिसे 'वाक्साहस्री' 'वाक्षट्कारस्य 'वषट्कार' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है । वस्तुपिण्ड केवल स्तृश्य है, दृश्य (प्रत्यक्ष) नहीं, जो मनोमय यजुर्वेदात्मक है । महिमामण्डल दृश्य है, जो ऋक्सामलक्षण वाङ्मय है । इसी आधार पर 'वागेव ऋचश्च सामानि च । मनो यजूंषि' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है ।

+ वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता ।

के भूतप्रवर्त्तक विकाराधिष्ठाता वाग्भाग से युक्त रहता हुआ भूतभौतिक सर्ग का मूलप्रभव–मूलोपादान मूलाधिष्ठाता बना रहता है। परप्रत्यया सर्वनाशकारिणी भावुकता के आवेश से भूताविष्टवत् आविष्ट वर्त्तमान शताब्दी की भारतीय भावुक प्रजा ने श्रुतिसिद्ध वाङ्महत्त्व को विस्मृत कर सर्वथा कल्पित वेदान्तभावप्रमुग्ध मनोराज्य में विचरण करते हुए किस प्रकार व्यक्त–भौतिक–सम्पत्ति को, अपने लोक–साम्राज्य–राज्य–भौज्य–स्वराज्य–वैराज्य–वैभव को जलाञ्जलि समर्पित करने में ही अपना पुरुषार्थ समाप्त मान लिया है ?, यह स्थिति नैष्ठिक भारतीय मानवों की दृष्टि से परोक्ष नहीं रह गई है। यह सर्वात्मना अनुभव किया जा रहा है कि, मनोमय आध्यात्मिक तत्त्व के वास्तविक परोक्ष स्वरूप से सर्वथा अपरिचित रहने वाली अन्य जातियों ने सर्वात्मना अलभ्य अस्तव्यस्त, किन्तु उच्च-उच्चतर–उच्चतम–घोषणायुक्ता वाणी के माध्यम से वैसा उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है, जो कुछ समय पूर्व नग्न–बुभुक्षितावस्था से इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बनी हुई थीं। उच्च घोष करने वाला अज्ञ भी किस प्रकार अपनी मूर्खतापूर्णा वाणी के प्रभाव से ऐश्वर्य संसिद्ध कर लेता है ? और सब कुछ जानता हुआ भी विद्वान् अपने अव्यक्तदुर्ध्य–अलाभयिक–मौनावलम्ब से किस प्रकार निःसीमस्नेह निर्भ्रान्तविवेकता + का सम्मान्य अतिथि बना रहता है ?, इत्यादि व्यञ्जनाओं की व्याख्या वर्त्तमान युग में इसलिए अनावश्यक है कि, कुछ एक शताब्दियों से नैष्ठिक जातियों के सतत आक्रमण से आक्रान्त भावुक भारतीय मानव परप्रत्ययनेयतामूलक दोष का अनुगामी बनता हुआ कल्पित वेदान्तनिष्ठा को लक्ष्य बनाता हुआ अपने वैय्यक्तिक–कौटुम्बिक–सामाजिक–राष्ट्रीय–धार्मिक–आदि–आदि यच्चयावत् क्षेत्रों में तथा-कथिता निर्भ्रान्तस्थितियों का ही सत्पात्र प्रमाणित हो रहा है। स्पष्ट है कि लौकिक व्यावहारिक व्यक्त क्षेत्र में मनोऽनुगत आत्मतत्त्व की अपेक्षा वागनुगत भूतवर्ग अधिक ओजस्वी बना रहता है। अतएव ऐहलौकिक दोनों के समतुलन में वाग्बल को ही प्रधानता दी गई है, जैसा कि 'वाचं सरस्वतोऽजीया, वाचं भाव विश्वानावृभूव' इत्यादि अन्य निगमवचनों से भी प्रमाणित है।

लौकिक–व्यावहारिक क्षेत्र के परिवार–जाति–समाज–राष्ट्र–आदि अनेक विवर्त्त प्रसिद्ध हैं, जिनका महान् 'राजनैतिकक्षेत्र' में अन्तर्भाव हो जाता है। परिवारादि सभी क्षेत्र इतरेतरसम्बन्धात्मक परम्परासम्बन्ध से राजनैतिक क्षेत्र बने हुए हैं, जिन में 'वाग्बल' की ही प्रधानता मान्य मानी गई है। मनोमय आत्मा से समन्वित 'सत्व' के आग्रह, किंवा दुराग्रह की, तथा भूतानुगत वाङ्मय बल' के उद्घोष की, दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में भूतानुगत वागुद्घोष ही जयलाभ किया करता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वर्त्तमान भारतराष्ट्र में प्रत्यक्षदृष्ट सुप्रसिद्ध दो राजनैतिक–वर्गों की प्रतिद्वन्द्विता का सु ? परिणाम बन चुका है। सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव इसी लोकदृष्टि को लक्ष्य बना कर श्रुति ने मन और वाक्, दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में–"मन ह वागुवाच–अहमेव त्वच्छ्रेयसी–अस्मि। यद्वै त्वं (मन) वेत्थ, अहं–तद्विज्ञपयामि, संज्ञपयामि" इत्यादिरूप से वाक् का ही 'श्रेष्ठत्व' (मन की अपेक्षा श्रेष्ठ–उच्च) पद पर समासीन घोषित किया है।

(२७३)–मानससंकल्प का महामहिमत्वख्यापन —

अब क्रमप्राप्त मन के उस श्रेष्ठत्व का समन्वय कीजिए, जिसका आध्यात्मिक परोक्षभाग से सम्बन्ध है, एवं जिस पक्ष का स्वयं प्रजापति ने समर्थन किया है। यह ठीक है कि लौकिक–व्यावहारिक दृष्टिकोण से

+ दरिद्रता ।

मन की अपेक्षा वाक् ही श्रेष्ठ है। तथापि वस्तुत तत्त्वदृष्ट्या मन का ही आभिजात्य स्वीकार करना पड़ता है। कारण स्पष्ट है। मानसबल अव्यक्त बनता हुआ जहाँ अपरिमित है, वहाँ वाग्बल व्यक्त बनता हुआ सीमित–परिमित है*। प्रत्यक्ष से अनुप्राणित परिमित भूतबल की अपेक्षा परोक्ष से अनुप्राणित अपरिमित मनोबल अवश्य ही श्रेष्ठ माना जायगा। कृतानुकरत्व तो प्रत्येकदशा में वाक् का ही माना जायगा, भले ही यह वाक् का अपना बाह्य लोकक्षेत्र ही क्यों न हो। बिना मानस संकल्प–प्रेरणा के वाग्व्यापार असम्भव है। इसी आधार पर 'वाग्वै मनसो ह्रसीयसी' (वाक् निश्चयेन मन की अपेक्षा निम्नभावानुगता है) यह कहा गया है। 'वृषा हि मनः' (शत॰ १।४।४।३।) के अनुसार मन जहाँ वृषा (पुरुष) स्थानीय बनता हुआ भोक्ता, अतएव श्रेष्ठ है, वहाँ 'योषा हि वाक्' (शत॰ १।१।४।४)। के अनुसार योषा (स्त्री) स्थानीया बनती हुई वाक् भोग्या, अतएव निम्ना है। 'वागिति स्त्री' (जै॰ उप॰ ४।२२।११) 'वागग्नि'–आग्नेयी–योषित्–स्त्री (शत॰ १।४।५।१३) इत्यादिरूप से भी स्त्री–स्थानीया वाक् का पुरुषस्थानीय मनोऽपेक्षया अप्रशस्त्व ही प्रमाणित हो रहा है। स्पष्ट है कि, जिन में मनोबल अमुकामुक कारणों से अभिभूत रहता है, ऐसे मनोबलशून्य मानव ही उच्चैःस्वरेण उद्घोष का अनुगमन किया करते हैं। मनोबल–समन्वित मनस्वी का नादभावसमन्वित एकबार का मन्दघोष भी जहाँ श्रोता को आकर्षित कर लेता है, वहाँ मनोबलशून्य असम्यक्-वाक्प्रभोक्ता मानव का अनेक बार का उद्घोष भी निरर्थक सिद्ध होता देखा गया है।

आध्यात्मिकी प्राकृतिकस्थिति की दृष्टि से भी वागपेक्षया मन का ही बर्हमहत्त्व प्रमाणित हो रहा है। शरीराकाश के गर्भ में अवस्थित हृदयाकाश में 'दभ्र' नामक 'दहराकाश' की सत्ता मानी गई है, जो स्थान 'विरजब्रह्मलोक' माना गया है। यहीं ज्योतिषांज्योतिर्घन श्वोवसीयस् मनोमूर्त्ति प्राजापत्य अव्ययमन, किंवा मनोमय अव्ययात्मा (षोडशीपुरुष) प्रतिष्ठित है। इस षोडशीपुरुषलक्षण मनोमय अव्ययात्मारूप 'पुरुष' के आधार पर स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव भूतात्मा, नामक पाँच प्राकृतात्मा समन्वित हैं, जिन्हें 'सप्तात्मा' नाम से यत्रतत्र व्यवहृत किया गया है। इन पाँचों सप्तात्माओं में से स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, इन दो सप्तात्माओं का तो सर्वा–धिष्ठान–सर्वाधाररूप पुरुषात्मा (मायावाग्गर्भित श्वोवसीयस्मनोमूर्त्ति अव्ययप्रधान षोडशीप्रजापति) में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। तीसरा सप्तात्मा सौर विज्ञानात्मा है, जो 'बुद्धि' नाम से प्रसिद्ध है। इस बुद्धिरूप सौर विज्ञानात्मा के, तथा अव्ययप्रधान पुरुषात्मा के मध्य में प्रतिष्ठित अव्यक्तात्मा–महानात्मा, दोनों सप्तात्मा क्योंकि पुरुषात्मस्वरूपसीमा में अन्तर्भूत हैं। अतएव 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता

---

* मनश्च ह वै वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः। यतरो वै युजोर्ह्रसीयान् भवति, उपवह वै तस्मै कुर्वन्ति। वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः, परिमिततरेव हि वाक्। तदाप्य एवैतदुपवहं करोति।

—आधारब्राह्मण शत॰ १।४।४।७

३।४२) के अनुसार गीताचार्य्य ने बुद्धिरूप विज्ञानात्मा से परे पुरुषात्मा की ही सत्ता मान ली है*, जब कि उपनिषत् ने बुद्धि से परे, एवं पुरुष से इत: प्रतिष्ठित रहने वाले अव्यक्त, और महान् की भी स्वतन्त्ररूप से गणना की है+ ।

(२७४)—तस्यैव मात्रामुपादाय उपजीवन्ति–इन्द्रियाणि—

उक्त पाँचों सप्तात्माओं में चान्द्र प्रज्ञानात्मा ही सर्वेन्द्रिय–अतीन्द्रिय–अनिन्द्रिय–इत्यादि विविध अभिधाओं से प्रसिद्ध वह चान्द्र मन है, जिस का यजुःसंहिता के सुप्रसिद्ध 'मन:सूक्त' में उपवर्णन हुआ है, एवं जो प्रज्ञानमन श्वोवसीयस्नामक अव्यय मन की भाँति हृत्प्रदेश में ही प्रतिष्ठित माना गया है। हृत्प्रतिष्ठ–'प्रज्ञान' नामक इस इन्द्रियाधिष्ठाता × चान्द्रमन के साथ ही याज्ञवल्क्य ने वाक् की प्रतिस्पर्धा बतलाई है। पार्थिव अग्नित्रयी (अग्नि–वायु–आदित्यलक्षणा अग्नित्रयी) से कृतरूप वैश्वानर–तैजसप्राज्ञ मूर्ति पार्थिव 'भूतात्मा' नामक पाँचवाँ–अन्तिम सप्तात्मा ही देहाभिमानी देही' वह जीवात्मा है +, जो

---

* इन्द्रियाणि पराण्याहु –इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः–यो बुद्धे परतस्तु स: ॥
एवं बुद्धे परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रु महाबाहो ! कामरूप दुरासदम् ॥
—गीता० ३।४२।४३।

— इन्द्रियाणि पराण्याहुः–इन्द्रियेभ्यः पर मन: ।
मनसस्तु परा बुद्धि:–बुद्धेरात्मा महान् पर: ॥
महत परमव्यक्त –अव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न पर किञ्चित्–सा काष्ठा सा परा गति: ॥
—कठोपनिषत् ३।१।७,८,।

× यत् 'प्रज्ञान' मुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ॥
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥१॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ॥
हृत्प्रतिष्ठ यदजिर जविष्ठं तन्मे मन: शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२॥
—यजुर्संहिता ३४।३,६, मन्त्र ।

+ 'जीव' संज्ञोऽन्तरात्मान्य: सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दु:खं च जन्मसु ॥
—मनु १२।१३।

त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश-नामक पाँच पार्थिव अयुग्मस्तोमलोकों में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वरसोम-दिक्सोम-नामक पञ्चप्राणों से कृतरूप वाक्-प्राण-चक्षु-मन-श्रोत्र-नामक पञ्चेन्द्रियवर्ग के द्वारा कर्ममार्ग में संलग्न बना रहता है । प्रज्ञानमन की प्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्रालक्षणा त्रिक्रियी को प्रवर्ग्यरूप से अपना आधार बना कर ही-'तस्यैव मात्रामुपादाय जीवन्ति' न्याय से इन्द्रिय-वर्ग स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है ।

(२७५)-सर्वाणीन्द्रियाण्यतीन्द्रियाणि—

'सर्वाणीन्द्रियाणि-अतीन्द्रियाणि' इत्यादि कौषीतकिसिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण प्राणेन्द्रियों का विनिगमनद्वार बहिर्मुख है । स्वयम्भूमनुप्रजापति की सहजप्रेरणा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख ही बना रक्खा है । यही कारण है कि, जो इन्द्रियाँ अपनी बहिर्मुखता के कारण बाह्यविषय-ग्रहण-अनुभव में समर्थ बनीं रहतीं हैं, वे ही इन्द्रियाँ आभ्यन्तर विषयों के ग्रहणानुभव में नितान्त असमर्थ हैं । 'पराञ्चि खानि *' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार 'ख' नामक इन्द्रियों की उन्मुखता (रुख) स्वयम्भूमनु ने क्योंकि बहिरुन्मुखता ही बनाई है । अतएव सभी इन्द्रियाँ हृदयस्थान से, किंवा हृदयस्थानस्थित आत्मक्षेत्र से बाहिर की ओर ही अपना व्यापार सञ्चालित करने में समर्थ बनतीं हैं । इन्द्रियवर्ग का सञ्चालन एकमात्र हृदयस्थ प्रज्ञानमन के द्वारा ही होता है । बिना इस प्रज्ञानमन-सहयोग के कोई भी इन्द्रिय स्वविषय का ग्रहणानुभव नहीं कर सकती । यही इन्द्रियापेक्षया मन का प्रथम अहंमहत्त्व है । 'अन्यत्र मे मनोऽभूत्, नाहमश्रौषम्' (कौ॰ उपनिषत्) इत्यादि के अनुसार मन के सहयोग के बिना न वाणी का व्यापार होता, न गन्धग्रहण होता, न रूपदर्शन होता, न शब्दश्रवण होता । हृदयस्थ आत्मा के सन्निकट (इन्द्रियों की अपेक्षा) 'इन्द्रियेभ्यः परं मनः' के अनुसार प्रज्ञानमन का ही स्थान है । और यही मन का द्वितीय अहंमहत्त्व है । इन्द्रियाँ जहाँ केवल पराङ्मुख हैं, बहिर्मुख हैं, वहाँ प्रज्ञानमन इन्द्रियापेक्षया बहिर्मुख बनता हुआ बुद्धिसहयोग से मननशील बनता हुआ अन्तर्मुख भी बना हुआ है । यही मन का इन्द्रियवर्गापेक्षया तृतीय अहंमहत्त्व है ।

ज्ञानजनित भावनासंस्कार, कर्मजनित वासनासंस्कार से संस्कृत प्रज्ञानमन की संस्कारोदयानुगता कामना के आधार पर मानसी प्रज्ञा-प्राण-भूत-नाम की मात्राओं को लेकर ही इन्द्रियवर्ग स्वविषयग्रहणानुभव में समर्थ बनता है । यह निश्चित है कि, जिस बाह्य भौतिक विषय का उदय संस्काररूप से प्रज्ञानमन में नहीं रहता इन्द्रिय कदापि न तो उस बाह्य विषय का अन्तर्याम सम्बन्ध से ग्रहण ही कर सकती, न अनुभव ही । यही कारण है कि, उदय के बलाबलतारतम्य से ही ऐन्द्रियक विषयों के ग्रहणानुभव में तारतम्य होता रहता है । स्वस्थ नीरोगदशा में मानसिक उदय के जागरूक बने रहने से जो रसनेन्द्रिय मधुर स्वाद के ग्रहणानुभव में समर्थ रहती है, वही रोगद्वारा मन के लघुदय के अभिभूत हो जाने से मधुर रसानुभव में असमर्थ बन जाती है । इन्हीं सब कारणों के आधार पर यह कहा और माना जा सकता है कि, मानसप्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्राएँ ही

* पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति, नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
—कठोपनिषत् २।१।१।

सुप्रसिद्ध महर्षि भृगु इन्हीं वरुण के औरस पुत्र थे। असुरकुल में उत्पन्न होने पर भी इनमें पूर्वजमकृत-सूर्यसंस्कारातिशय से दैव वीर्य्य का प्राधान्य था। अतएव पामीर नामक प्राग्मेरु स्थानस्थित हिरण्यशृङ्गपर्वत-निवासी, प्राग्ज्योतिष नामक नगर के, तथा 'कान्तिमती' नामक लोकसभा के अध्यक्ष भौम ब्रह्माने भृगु को अपना दत्तक पुत्र (मानसपुत्र) बना लिया था। ब्रह्मा जिसमें जन्मतः ब्रह्मवीर्य्य की अतिशय प्रधानता देखते थे उसे ही अपना दत्तक पुत्र बना कर उसे वेदधर्म में दीक्षित कर लेते थे। वे ही ब्रह्मपुत्र पुराणपरिभाषा में 'मानसपुत्र' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। असुरों की देखा देखी देवमण्डली में भी वारुणी का प्रलोभन व्याप्त हुआ। अन्त में वरुणपुत्र भृगु के द्वारा इसका निरोध हुआ *।

प्रकृत में उक्त ऐतिहासिक सन्दर्भ से यही बतलाना है कि, आसुरवेद के मूलप्रवर्त्तक असुरेन्द्र वरुण ही थे। इन्हीं की सम्प्रदाय में पुलस्त्य-पुलह-किलात-आकुली आदि असुरप्राणों की परीक्षा हुई। एवं तत्तदासुरप्राण परीक्षक असुर ऋषि तत्तन्नामों से ही प्रसिद्ध हुए। पुलस्त्यप्राण के परीक्षक पुलस्त्य कहलाए, पुलहप्राण के परीक्षक पुलह कहलाए। इन दोनों असुर कुलपतियों की ब्रह्मपर्षदें उस सुप्रसिद्ध 'पोलेण्ड' स्थान में थीं, जो रूस-तथा जर्म्मन् के संधान में स्थित है। देवेन्द्रानुगत दिव्यवेद में इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अत आसुरपर्षत् का विवेचन यहीं समाप्त कर दिव्यपर्षदों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

*—(दिव्यब्रह्मपर्षत्)—

(२)—कश्यपपर्षत्—(स्वर्गपरिषत्)—

यों तो दिव्य परिषदें अनेक थीं। परन्तु उनमें से १ परिषदें ही मुख्य मानीं जातीं थीं। इनमें १ पर्षत् भौम स्वर्ग में थी, १ पर्षत् भौम अन्तरिक्ष में थी, शेष पर्षदें भौमपृथिवी (भारतवर्ष) लोक में थीं। स्वर्गीय पर्षत् के कुलपति कश्यपमहर्षि थे, जिन्हें 'प्रजापति' भी कहा जाता था। इस पर्षत् में प्रधानरूप से कश्यपप्राण की ही परीक्षा होती थी। आदिनब्रह्मा की आवासभूमि हिरण्यशृङ्ग पर्वत बतलाया गया है। इसी के समीप 'तिब्बत' प्रदेश है। तिब्बत से उत्तर कश्यपपर्षत् की प्रतिष्ठा थी। स्वर्गस्था होने से इसे विशेष सम्मान प्राप्त था।

(३)—अत्रिपर्षत्—

सांख्य अत्रि, भौम अत्रि, भेद से अत्रिवंश दो शाखाओं में विभक्त हुआ। इनमें भौम अत्रि के औरस पुत्र चन्द्रमा थे। ब्रह्मा के द्वारा यही अत्रिपुत्र चन्द्रमा सोमवल्ली को असुरों के आक्रमण से बचाने के लिए मौनेय गन्धर्वसेना के साथ उत्तरदिशा के दिक्पाल बनाए गए, एवं ओषधि (सोम) के लोकपाल बनाए गए। अपनी गान्धर्वमर्य्यादा का दुरुपयोग करते हुए राज्यमदोन्मत्त चन्द्रमा के द्वारा ही वह अप्रिय घटना घटित हुई, जो आगे जाकर देवकुलविनाश का कारण सिद्ध हुई। तारापहरणजनित पाप से चन्द्रमा रक्षाकर्म्म में शिथिल हो गए। फलस्वरूप दिव्ययज्ञकर्म्म के सहकारानु असुरों ने यज्ञस्वरूप-उत्थापिका सोमवल्ली का मूलोत्पाटन कर डाला। देवबल उच्छिन्न हो गया, असुरों का साम्राज्य दृढ़मूल बन गया। इस आसुरी सत्ता के

---

* सुरा वै मलमन्नाना पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यौ-वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥(मनुः)।

एकमात्र निमित्त चन्द्रमा ही बने थे, अतएव देव-वेद धर्म्मविरोधी सम्प्रदायविशेषों में निदानविद्यासम्बन्धी संकेत के अनुसार चान्द्रतिथिको ही प्रधानता दी जाती है। तारागर्भ से चन्द्रमा के बुध पुत्र उत्पन्न हुए। बुध के साथ मनुभगिनी इला का परिणय हुआ। यही दम्पती-युग्म सोमवंश (चन्द्रवंश) का मूल प्रवर्तक बना। इसी आधार पर सोमवंशी क्षत्रिय 'ऐलः प्रकृतिरुच्यते' के अनुसार ऐल (इलावंशज) कहलाए।

दूसरे सांख्य अत्रि के वंशज वेदधर्म्म से बहिष्कृत होते हुए महादुराचारी बन गए। इनके असदाचरणों से दु:खी होकर सांख्य अत्रि ने देवनिकायपर्वत (सुलेमान पर्वत) को अपना आवास स्थान बना लिया। इनके पुत्रों के वंशज ही आगे जाकर 'यवनवंश' के प्रवर्तक बनें। प्रसङ्गोपात्त यह भी जान लेना चाहिए कि, आज जिसे (ग्रीस को) यूनान कहा जाता है, वास्तव में वह तत्त्वतः यूनान नहीं है। वास्तविक यूनान (यवनदेश) अर्बस्तान से सम्बन्ध रखता है, वहाँ यवनों के मूलपुरुष सांख्य अत्रि के पुत्र निवास करते थे। अर्बस्तान (जो कि पुराण में 'बनायु' नाम से प्रसिद्ध है) ८ खण्डों में विभक्त माना गया है। इनमें एक खण्डविशेष ही यूनान कहलाया है। अत्रिपुत्र सांख्यायन के वंशज, आसुरधर्म्मानुयायी, अतएव 'असुर' नाम से प्रसिद्ध 'हेलि' नामक असुर यहीं निवास करते थे। इनके निवास से ही वह बनायुखण्ड (अर्बखण्ड) यवन (यूनान) देश कहलाया। कालान्तर में आर्यों की आदि जाति ने यवनों को युद्ध में परास्त किया। पराजित यवनों नें अरबखण्ड को छोड़ कर जिस पाश्चात्य प्रदेश (ग्रीक) को अपनी आश्रयभूमि बनाया, वही यूनान नाम से व्यवहृत हुआ। कालातिक्रमण से अर्बखण्डात्मक यूनान आज विस्मृत हो गया है, कल्पित यूनान यूनान माना जाने लगा है। वास्तविक यूनान ही पाश्चात्यभाषा में आज 'पोलेस्टाइन' नाम से प्रसिद्ध है। एवं यह वर्त्तमान युनानियों (ग्रीक निवासियों) का तीर्थस्थान माना जाता है। कालनेमि मय, आदि सुप्रसिद्ध यवनासुर यहीं निवास करते थे। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्वित् वराहमिहिर ने यहीं आकर मयासुर से आसुर ज्यौतिष की शिक्षा ग्रहण की थी। यवनवंश के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, वर्तमान परिभाषा में यवन शब्द से जिस जातिविशेष का ग्रहण किया जाता है, उसका उस प्राक्तन यवनवंश से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जिसे आज 'ईरान' कहा जाता है, वही हमारा सुप्रसिद्ध 'आर्य्यायण' है। एवं जिसे आज 'हिन्दुस्तान' कहा जाता है, वही 'आर्य्यावर्त्त' है। एवं आर्य्यायण, तथा आर्य्यावर्त्त की समष्टि 'भारतवर्ष' है। आर्य्यावर्त पूर्व भारत है, आर्य्यायण पश्चिम भारत है। भारतीय भुवनकोश से अणुमात्र भी परिचय न रखने वाले जो राजनैतिक भौगोलिक सिन्धु-नद को भारतवर्ष की पश्चिम सीमा बतलाते हुए भारतांशभूत आर्य्यायण को पृथक् मान रहे हैं, वह निर्बान्त भ्रान्ति ही मानी जायगी, अथवा तो नैतिक-कौशल माना जायगा। भारतीय पर्व्वात्मक भुवनकोश के अनुसार भारतवर्ष ९० अंश पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखता है। पीतसमुद्र (चीन का यलोसी) भारतवर्ष की पूर्वसीमा है, एवं महीसागर नाम से प्रसिद्ध पश्चिम समुद्र (मेडिट्रेनियेनसी) पश्चिम सीमा है। यही ९० अंशात्मक भारतवर्ष है, जो आज हमारी उदासीनता से अपना आधा भाग खो चुका है *।

---

* प्रस्तुत ग्रन्थप्रकाशनात्मक वर्तमान दुर्भाग्यपूर्ण युग में तो उस खण्डात्मक भारत के भी हमारी भाग्य-फल से अनेक खण्डित खण्ड हो चुके हैं।

अथर्वा ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्तक, छन्दोव्यस्ता की तुलना में 'जन्दावस्ता' का नवनिर्म्माण करने वाले जरथुस्त्र ही इस भक्त–मक्त के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र–ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विधवाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्थानी कहलाये, वे ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसङ्गत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसान्ध्य का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरित्रनायक भौम अत्रि की वह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्षत् थी, जहाँ पारदशकत्वाप्रतिबन्धक, धामच्छद, प्रकाशोत्पादक, ग्रहणप्रवर्त्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदविज्ञमहर्षि 'वाप्य' की ब्रह्मपर्षत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्षत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)—शिविपर्षत्–

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्षत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिबि' थे।

(५)—अङ्गिरापर्षत्–

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्तदेश में अङ्गिरापर्षत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानतः अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्षत् को प्राप्त हुआ था।

(६)—याज्ञवल्क्यपर्षत्–

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यप्रदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भग्न धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। *इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्षत् प्रतिष्ठित थी। 'सीरध्वज'* नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्षत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)—उद्दालकपर्षत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोसलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्षत् थी।

(८)—प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कन्नौज में प्रवाहण के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जनर' की पर्षत् थी।

(९)—अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'कैकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)—प्रतर्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के ब्रह्मा थे।

उक्त पर्षदों में ब्रह्मर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७—पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी-स्वरूप का छाँदोग्यमाषा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि काप्य, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म पर्षदों के ब्रह्माओं में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक-शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। एतरय-माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर-अपर' भेद से दो विवर्त्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मसत्य' नाम से प्रसिद्ध विश्वकूट (वन) लक्षण अक्षरतत्त्व 'अपरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों से पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अपरब्रह्मविद्या है, विश्वातीत-विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अपरब्रह्मविद्या कर्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान-प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान-प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासुभाव

अथर्वा ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्त्तक, छन्दोम्यस्ता की तुलना में 'जन्दावस्ता' का नवनिर्माण करने वाले जरथुस्त्र ही इस अन्न–मद्य के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र–ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विधवाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्थानी कहलाये, वे ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसन्धि का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरितनायक भौम अत्रि की यह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्षत् थी, जहाँ पारदशक्त्याप्रतिबन्धक, घामच्छद, प्रजोत्पादक, ग्रहणप्रवर्त्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदवित्महर्षि 'काप्य' की प्रथमपर्षत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्षत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)–शिविपर्षत्–

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्षत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिबि' थे।

(५)–अङ्गिरापर्षत्–

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्तदेश में अङ्गिरापर्षत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानत अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्षत् को प्राप्त हुआ था।

(६)–याज्ञवल्क्यपर्षत्–

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भग्न धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्षत् प्रतिष्ठित थी। 'सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्षत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)–उद्दालकपर्षत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उपकोटि के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोसलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्षत् थी।

(८)—प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कन्नौज में प्रवाहण के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जैवर' की पर्षत् थी।

(९)—अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'कैकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)—प्रतर्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के प्रष्टा थे।

उक्त पर्षदों में महर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७—पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी-स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग मीमांसा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि काप्य, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम स प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म पर्षदों के ब्रह्मार्षों में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक-शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। एतरेय-माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर-अपर' भेद से दो विवर्त्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मस्त्य' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (सप) लक्षण परतत्त्व 'अपरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों से पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अपरब्रह्मविद्या है, विश्वप्रविष्ट-विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अपरब्रह्मविद्या कर्म्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान-प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान-प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासाभाव

अथर्वा ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्त्तक, छन्दोभ्यस्ता की तुलना में 'जन्दावस्ता' का नवनिर्म्माण करने वाले जरथुस्र ही इस असुर–मत के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र–ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विधवाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विषाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्थानी कहलाये, वे ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसन्धि का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरित्रनायक भौम अत्रि की यह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्वत् थी, जहाँ पारदर्शकत्वप्रतिबन्धक, धामच्छद, प्रकाशोत्पादक, ग्रहणप्रवर्त्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदवित्महर्षि 'वाप्य' की ब्रह्मपर्वत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्वत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)—शिविपर्वत्—

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्वत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिवि' थे।

(५)—अङ्गिरापर्वत्—

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्त्तदेश में अङ्गिरापर्वत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानतः अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्वत् को प्राप्त हुआ था।

(६)—याज्ञवल्क्यपर्वत्—

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भङ्ग धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्वत् प्रतिष्ठित थी। सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्वत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)—उद्दालकपर्वत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उपकारि के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोसलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्वत् थी।

(८)—प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कन्नौज में प्रवाहण के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जैवर' की पर्षत् थी।

(९)—अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'कैकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)—प्रतर्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के प्रधान थे।

उक्त पर्षदों में महर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्गों से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७—पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी-स्वरूप का संक्षेपतमाषा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि काण्व, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र महापर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी महा पर्षदों के महात्माओं में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक-शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। एतरेय-माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर-अपर' भेद से दो विवर्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मसत्य' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (सत) लक्षण तत्त्व 'अपरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों से पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अपरब्रह्मविद्या है, विश्वप्रविष्ट-विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अपरब्रह्मविद्या कर्म्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान-प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान-प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासाभाव

अथर्वा ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्त्तक, छन्दोम्यस्ता की तुलना में 'जन्दावस्ता' का नवनिर्म्माण करने वाले जरथुस्त्र ही इस अन्न–मज्ञ के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र–ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विधवाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्यानी कहलाये, वे ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसन्धि का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरितनायक भौम अत्रि की वह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्षत् थी, जहाँ पारदशकत्वाप्रतिबन्धक, श्यामत्वप्रद, प्रवोत्पादक, महणप्रवर्त्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदवित्महर्षि 'काप्य' की ब्रह्मपर्षत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्षत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)—शिविपर्षत्—

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्षत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिवि' थे।

(५)—अङ्गिरापर्षत्—

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्त्तदेश में अङ्गिरापर्षत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानता अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्षत् को प्राप्त हुआ था।

(६)—याज्ञवल्क्यपर्षत्—

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भग्न धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्षत् प्रतिष्ठित थी। 'सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्षत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)—उद्दालकपर्षत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोशलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्षत् थी।

(८)—प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कन्नौज में प्रवाहण के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जैवर' की पर्षत् थी।

(९)—अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'कैकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)—प्रतर्दनपर्षत्—

काशीस्थ राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के ब्रह्मा थे।

उक्त पर्षदों में महर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७—पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी-स्वरूप का बड़े समारोह में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि काण्व, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म पर्षदों के ब्रह्माओं में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक-शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। एतरेय-माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर-अपर' भेद से दो विवर्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मसत्य' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (संघ) लक्षण अपरब्रह्म 'अपरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों से पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अपरब्रह्मविद्या है, विश्वप्रविष्ट-विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अपरब्रह्मविद्या कर्म्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान-प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान-प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासान्वित

अप्राश्न ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्त्तक, छन्दोम्यस्ता की तुलना में 'जन्दावस्ता' का नवनिर्म्माण करने वाले जरथुस्त्र ही इस महा—भद्र के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र—ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विषमाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्थानी कहलाये, ये ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसन्धि का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरितनायक भौम अत्रि की वह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्षत् थी, जहाँ पारदर्शकत्वप्रतिबन्धक, धामच्छद, प्रकोत्पादक, ग्रहणप्रवर्त्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदवित्महर्षि 'काप्य' की ब्रह्मपर्षत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्षत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)—शिविपर्षत्—

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्षत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिवि' थे।

(५)—अङ्गिरापर्षत्—

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्त्तदेश में अङ्गिरापर्षत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानतः अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्त्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्षत् को प्राप्त हुआ था।

(६)—याज्ञवल्क्यपर्षत्—

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भग्न धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्षत् प्रतिष्ठित थी। 'सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्षत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)—उद्दालकपर्षत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उपकाटि के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोसलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्षत् थी।

(८)—प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कन्नौज में प्रवाहण के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जनक' की पर्षत् थी।

(९)—अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'कैकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)—प्रतर्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के ब्रह्मा थे।

उक्त पर्षदों में ब्रह्मर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७—पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी-स्वरूप का सङ्केतभाषा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि कण्व, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म पर्षदों के ब्रह्माओं में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक-शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। ऐतरेय-माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर-अपर' भेद से दो विवर्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मसत्य' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (उप) लक्षण ऋतसत्य 'अपरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों से पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अपरब्रह्मविद्या है, विश्वमयि-विश्वातीतविद्या परब्रह्मविद्या है। अपरब्रह्मविद्या कर्म्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान-प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान-प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासाभाव

से आए हुए भारद्वाजादि ६ ऋषि विद्वानों ने इसी परब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट की थी। वे कर्म्मप्रधान अपरब्रह्म का यथार्थस्वरूप अवगत करने के अनन्तर ही परब्रह्मलक्षण औपनिषद ज्ञान की ओर आकर्षित हुए थे। न केवल आकर्षित ही हुए थे, अपितु अपनी जिज्ञासा को कर्म्यरूप में परिणत करने के लिए सन्नद्ध हो गए थे। न केवल सन्नद्ध ही हुए थे, अपितु उसे खोजने के लिए उसी जिज्ञासा को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए अपने अपने आश्रमों से निकल पड़े थे। न केवल निकल ही पड़े थे, अपितु अपनी इस लम्बी लगन के प्रभाव से उन्होंने पिप्पलाद जैसा तत्त्वज्ञ आचार्य्य भी प्राप्त कर लिया था, जहाँ इनकी जिज्ञासा का यथावत् समाधान हुआ। परब्रह्म की ओर झुकना, दूसरे शब्दों में तद्विषयिणी जिज्ञासा करना प्रथमाधिकार है। जिसमें जिज्ञासा नहीं, वह औपनिषद ज्ञान का तो क्या, सामान्यज्ञान का भी अधिकारी नहीं माना जा सकता। जिज्ञासावृत्ति पहिली, तथा मुख्य अधिकारमर्य्यादा है, जिसका 'ब्रह्मपरा' शब्द से विश्लेषण हुआ है। जिज्ञासा करके ही यदि हम शान्त हो गए, तो जिज्ञासाधिकार सर्वथा व्यर्थ है। जिज्ञासा हुई, उस पर अनन्य भाव से आरूढ हो गए। जब तक जिज्ञासा का समाधान नहीं हो जाता, तब तक अध्यात्मसंस्था अशान्त है, कुछ नहीं सुहाता। यह जिज्ञासानन्यता ही दूसरी अधिकारमर्य्यादा है, जिसका 'ब्रह्मनिष्ठा' शब्द से विश्लेषण हुआ है। जिज्ञासा हुई, तन्निष्ठ भी बनें, परन्तु प्रयास न किया, खोज न की, तब भी काम नहीं चल सकता। अपनी तन्निष्ठता की पूर्त्ति के लिए हमें विविज्ञास्य की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो जाना पड़ेगा, उसकी खोज में लग जाना पड़ेगा। एवं यही तीसरी अधिकारमर्य्यादा कहलाएगी, जिसका 'परं ब्रह्मान्वेषमाणा' शब्द से विश्लेषण हुआ है।

आत्मसमर्पण ही उक्त त्रिपर्वा अधिकारमर्य्यादा का मौलिक रहस्य है। आत्मा का सर्वतोभावेन त्याग करने वाला ही इस ज्ञान का अधिकारी माना जा सकता है। आत्मा की 'मन-प्राण-वाक्' भेद से तीन कलाएँ सुप्रसिद्ध हैं। जिज्ञासालक्षणा प्रथमाधिकारमर्य्यादा का मन से सम्बन्ध है, जिज्ञासानिष्ठालक्षणा द्वितीयाधिकार-मर्य्यादा का प्राण से सम्बन्ध है, एवं अन्वेषणलक्षणा तृतीयाधिकारमर्य्यादा का वाक् से सम्बन्ध है। इच्छा प्रथम व्यापार है, तदनुकूल अन्तःप्रयत्न करना तपोलक्षण कर्म्म द्वितीय व्यापार है, एवं शरीरव्यापारलक्षण श्रम तृतीय व्यापार है। प्राप्तव्य परब्रह्म सत्य है, तदंशभूत प्राप्तकर्त्ता जीवात्मा भी सत्य है। एवं यह सत्य उस सत्यस्य सत्यं ज्ञान को तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि, यह अपने आत्मसत्य को 'यावदनु मनः-तदनु प्राण-तदनुगता वाक्' लक्षणा सत्यव्यापारत्रयी का अनुगमन करे। 'ब्रह्मपरा' मानस व्यापार है, 'ब्रह्मनिष्ठाः' प्राण व्यापार है, 'परंब्रह्मान्वेषमाणाः' वाग्व्यापार है। तृतीय व्यापार के अनन्तर 'जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ*' के अनुसार अवश्य ही तत्त्वदर्शी उपदेष्टा का आश्रय प्राप्त हो जाता है। इसी फलभाव को व्यक्त करने के लिए-'भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्ना' यह कहा गया है। यही वास्तविक अधिकारमर्य्यादा है, जिसका निम्न लिखित श्रुतिद्वारा सङ्केतविधि से स्पष्टीकरण हुआ है—

---

* मैं बौरी ढूँढन गई रही किनारे पैठ।
जिन ढूँढा तिन पाइया गहर पानी पैठ॥

"सुकेशा च भारद्वाज , शैव्यश्च सत्यकाम , सौर्य्यायणी च गार्ग्य , कौशल्यश्चाश्वलायन , भार्गवो वैदर्भि , कबन्धी कात्यायन , ते हैते ब्रह्मपरा (संकल्पपरा), ब्रह्मनिष्ठा (अध्यूढा), परंब्रह्मान्वेषमाणा (कृतप्रयत्ना)–'एष ह वै तत् सर्वं वक्ष्यति' इति (निश्चित्य) ते ह समित्पाणयो भगवन्त पिप्पलादमुपसन्ना " (प्रश्नोपनिषत् १।१।)।

यदि तत्त्वज्ञानजिज्ञासा है, तत्त्वज्ञाननिष्ठा है, साथ ही तत्त्वज्ञानापदशान्वेषणकर्म्मप्रवृत्ति है, तो ऐसा व्यक्ति अवश्यमेव औपनिषद ज्ञान का अधिकारी माना जायगा, एवं ऐसी सच्ची लगन वाले को अवश्यमेव गुरु मिल जायगा। गुरु के सम्बन्ध में श्रुति ने परोक्षभाषा में थोड़ा संकेत किया है। पहिले यह निश्चय कर लेना भी आवश्यक है कि, कौन गुरु हमारी जिज्ञासा का यथावत् समाधान कर सकता है ?। हठात् चाहे जिसे गुरु बना लेना आगे जाकर परिताप का कारण होता है। अयोग्य गुरु भी गुरु है, अतएव उसके प्रति प्रयत्न–पूर्वक श्रद्धा रखना आवश्यक कर्म्म है, जो कि कर्म्म कष्टसाध्य है। इस विप्रतिपत्ति से बचने के लिए, अश्रद्धा–जनित प्रत्यवाय से बचने के लिए पहिले से ही अपने अन्तरात्मा में अन्वेषण के द्वारा यह निश्चय कर लेना चाहिए कि, अमुक गुरु ही हमारी जिज्ञासा शान्त कर सकता है। इसप्रकार शिष्य यदि ब्रह्म–पर, ब्रह्म–निष्ठ, ब्रह्मान्वेषमाण होना चाहिए, तो गुरु–'एष वै तत् सर्वं वक्ष्यति' लक्षण होना चाहिए। उक्त लक्षण शिष्य जहाँ अध्ययन का अधिकारी है, वहाँ उक्त लक्षण गुरु अध्यापन का अधिकारी माना गया है। इसप्रकार श्रुति ने दोनों की अधिकारमर्य्यादाओं का विश्लेषण कर दिया है।

प्राणविद्या ही वेदविद्या है, वेदविद्या ही ब्रह्मविद्या है, यह कहा जा चुका है। वेदतत्त्वात्मक यह प्राणाग्नि आध्यात्मिक संस्था में प्रादेशमित प्रदेश में अपनी व्याप्ति रखता है। 'स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' के अनुसार १ ॥ अङ्गुलात्मक परिमाण ही 'प्रादेश' है। प्रत्येक शारीरप्राण–'प्रादेशमितो वै प्राणः' (कौ०ब्रा २।२।) के अनुसार प्रादेशपरिमाण से समतुलित है। प्रादेशमित यह प्राणाग्नि–'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नो ४।३।) के अनुसार इस आध्यात्मिक पुर (पाञ्चभौतिकशरीर) में सदा जागता रहता है। प्राणाग्नि–अग्नि है, अग्नि गायत्रीछन्द से छन्दित है, गायत्रीछन्द अष्टाक्षर है। इस अष्टाक्षर गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से गायत्राग्निप्राण की आठ संस्था हो जाती है। दूसरे शब्दों में ब्रह्मरन्ध्र से आरम्भ कर पाद पर्य्यन्त व्याप्त प्राणाग्नि के आठ स्वतन्त्र संस्थान हैं। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ पर्य्यन्त प्रथम प्रादेश है, कण्ठ से हृदयपर्य्यन्त द्वितीय प्रादेश है, हृदय से नाभिपर्य्यन्त तृतीय प्रादेश है, नाभि से ब्रह्मग्रन्थिपर्य्यन्त चतुर्थ प्रादेश है, ब्रह्मग्रन्थि से पाद पर्य्यन्त ४ प्रादेश हैं। सम्भूय आठ प्रादेश हो जाते हैं। प्रत्येक प्रादेश में प्रादेश–मित, अघरात्मक एक एक गायत्राग्निप्राण प्रतिष्ठित है। प्रत्येक की व्याप्ति १ ॥ अङ्गुलमित है। इसप्रकार गायत्री के सम्बन्ध से अष्टप्रादेशात्मक पाञ्चभौतिक शरीर का मान ८४ अङ्गुलात्मक हो जाता है। प्रत्येक प्राणी अपने हाथों की अङ्गुली के नाप से चतुरशीति(८४)अङ्गुलिमित है। इन आठों प्राणों में नाभि से हृदयपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला, व्यानसहयोगी गायत्रप्राण सब में प्रधान है। व्यानप्राणात्मकता ही इसकी प्रधानता का मूलकारण है। हृदयावच्छिन्न व्यानप्राणात्मक गायत्रप्राण, किंवा गायत्रप्राणावच्छिन्न हृदयस्थ व्यानप्राण ही जीवनसूत्र की मूलप्रतिष्ठा है, जैसा कि–'मध्ये वामनमासीनम्–'इतरेण तु जीवन्ति' इत्यादि उपनिषद्वचनों से प्रमाणित है।

से आए हुए भारद्वाजादि छ ओं विद्वानों नें इसी परब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट की थी। ये कर्म्मप्रधान अवरब्रह्म का यथार्थस्वरूप अवगत करने के अनन्तर ही परब्रह्मलक्षण औपनिषद ज्ञान की ओर आकर्षित हुए थे। न केवल आकर्षित ही हुए थे, अपितु अपनी जिज्ञासा को काम्यरूप में परिणत करने के लिए सन्नद्ध हो गए थे। न केवल सन्नद्ध ही हुए थे, अपितु उसे खोजने के लिए उसी जिज्ञासा को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए अपने अपने आश्रमों से निकल पड़े थे। न केवल निकल ही पड़े थे, अपितु अपनी इस सच्ची लगन के प्रभाव से उन्होंनें पिप्पलाद जैसा तत्त्वज्ञ आचार्य्य भी प्राप्त कर लिया था, जहाँ इनकी जिज्ञासा का यथावत् समाधान हुआ। परब्रह्म की ओर झुकना, दूसरे शब्दों में तद्विषयिणी जिज्ञासा करना प्रथमाधिकार है। जिसमें जिज्ञासा नहीं, वह औपनिषद ज्ञान का तो क्या, सामान्यज्ञान का भी अधिकारी नहीं माना जा सकता। जिज्ञासावृत्ति पहिली, तथा मुख्य अधिकारमर्य्यादा है, जिसका 'ब्रह्मपरा' शब्द से विश्लेषण हुआ है। जिज्ञासा करके ही यदि हम शान्त हो गए, तो जिज्ञासाधिकार सर्वथा व्यर्थ है। जिज्ञासा हुई, उस पर अनन्य भाव से आरूढ़ हो गए। जब तक जिज्ञासा का समाधान नहीं हो जाता, तब तक अध्यात्मसंस्था अशान्त है, कुछ नहीं सुहाता। यह जिज्ञासानन्यता ही दूसरी अधिकारमर्य्यादा है, जिसका 'ब्रह्मनिष्ठा' शब्द से विश्लेषण हुआ है। जिज्ञासा हुई, तन्निष्ठ भी बनें, परन्तु प्रयास न किया, खोज न की, तब भी काम नहीं चल सकता। अपनी तन्निष्ठता की पूर्त्ति के लिए हमें विजिज्ञास्य की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो जाना पड़ेगा, उसकी खोज में लग जाना पड़ेगा। एव यही तीसरी अधिकारमर्य्यादा कहलाएगी, जिसका 'परं ब्रह्मान्वेषमाणा' शब्द से विशेषण हुआ है।

आत्मसमर्पण ही उक्त त्रिपर्वा अधिकारमर्य्यादा का मौलिक रहस्य है। आत्मा का सर्वतोभावेन त्याग करने वाला ही इस ज्ञान का अधिकारी माना जा सकता है। आत्मा की 'मन-प्राण-वाक्' भेद से तीन कलाएँ सुप्रसिद्ध हैं। जिज्ञासालक्षणा प्रथमाधिकारमर्य्यादा का मन से सम्बन्ध है, जिज्ञासानिष्ठालक्षणा द्वितीमाधिकार-मर्य्यादा का प्राण से सम्बन्ध है, एव अन्वेषणलक्षणा तृतीमाधिकारमर्य्यादा का वाक् से सम्बन्ध है। इच्छा प्रथम व्यापार है, तदनुकूल अन्तःप्रयत्न करना तपोलक्षण कर्म्म द्वितीय व्यापार है, एवं शरीरव्यापारलक्षण श्रम तृतीय व्यापार है। प्राप्तव्य परब्रह्म सत्य है, तदंशभूत प्राप्तकर्त्ता जीवात्मा भी सत्य है। एवं यह सत्य उस सत्यस्य सत्यं ज्ञानं को तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि, यह अपने आत्मसत्य को 'यावदमु मनः-तदनु प्राणः-तदनुगता वाक्' लक्षणा सत्यव्यापारत्रयी का अनुगमन करे। 'ब्रह्मपरा' मानस व्यापार है, 'ब्रह्मनिष्ठाः' प्राण व्यापार है, 'परंब्रह्मान्वेषमाणाः' वाग्व्यापार है। तृतीय व्यापार के अनन्तर 'जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ*' के अनुसार अवश्य ही तत्त्वदर्शी उपदेष्टा का आश्रय प्राप्त हो जाता है। इसी फलभाव का व्यक्त करने के लिए-'भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' यह कहा गया है। यही वास्तविक अधिकारमर्य्यादा है, जिसका निम्न लिखित श्रुतिद्वारा सङ्केतविधि से स्पष्टीकरण हुआ है—

---

* मैं बौरी ढूँढन गई रही किनारे बैठ।
जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ॥

अपिच समित्पाणि बन कर उपनीत होना उस अधिकारमर्य्यादा का भी पोषक बन रहा है, जिसका संस्कार–संस्कृत द्विजातिवर्ग के साथ अनन्य सम्बन्ध बतलाया गया है। पलाश ब्रह्मवीर्य्यप्रधान है, खदिर काष्ठ क्षत्रवीर्य्यप्रधान है, एवं उदुम्बर (गूलर) काष्ठ विड्वीर्य्यप्रधान है। जिस प्रकार सावित्री दीक्षाकाल (यज्ञोपवीत संस्कारकाल) में ब्राह्मण सजातीय पलाशदण्ड का, क्षत्रिय खदिरदण्ड का, एवं वैश्य उदुम्बरदण्ड का ग्रहण करता है, एवमेव उपनीत दशा में भी तीनों वर्ण क्रमशः पलाश-खदिर–उदुम्बर की प्रादेशमित समिधा को लेकर ही गुरु के समीप उपस्थित होते हैं। गुरु इस समित्–स्वरूप से ही यह जान लेते हैं कि, शिष्य अमुक वर्ण का अधिकारी है।

समित्-स्वरूप के अतिरिक्त योग्य गुरु भावी शिष्य के बाह्य स्वरूप के आधार पर भी इस बात का निश्चय कर लेते हैं कि, यह अधिकारी है, यह अधिकारी नहीं है। वर्णानुगत, वर्णस्वरूपपरिचायक समित्–काष्ठ के रहते भी मनोविज्ञानसम्मत पुरुषपरीक्षा– में ऋषि को वर्णविपर्य्यय का यदि थोड़ा भी सन्देह हो जाता है, तो तत्काल 'किं गोत्रोऽसि' ? प्रश्न हो पड़ता है। चतुष्पाद ब्रह्म के तात्त्विक रहस्यवेत्ता जबालापुत्र सत्यकाम की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाली किसी दोषवृत्ति से इनका स्वाभाविक ब्रह्मवीर्य्य दोषाक्रान्त था। जब ये समित्पाणि बन कर महर्षि गौतम के समीप पहुँचे, तो गौतम को पुरुषपरीक्षा के आधार पर इनके आधिकारिक वर्ण पर सन्देह हो गया। तत्काल प्रश्न कर बैठे—'किं गोत्रोऽसि'। अन्त में परिस्थितिवश उत्पन्न वीर्य्य-दोषनिवृत्ति के लिए गुरु का जो आदेश मिला, वह भी वर्त्तमानयुग के अधिकारलिप्सु महानुभावों के लिए मननीय है। आदेश ही क्या, वहाँ का पूरा कथानक ही भारतीय महर्षि, तथा भारतीय साहित्य की विज्ञानसम्मत उदारता का परिचय दे रहा है। घटना यों घटित हुई—

१—'सत्यकाम ने अपनी जबाला माता को सम्बोधन करते हुए यह प्रश्न किया कि, मैं विद्याध्ययन करने के लिए गुरु–दीक्षा लेना चाहता हूँ। (दीक्षाधिकार के लिए द्विजाति मर्य्यादा आवश्यक है), इसलिए मैं यह जानना चाहता हूँ कि, मेरा गोत्र (कुल) क्या है ?

२—भारत की उस पवित्रहृदया जबाला ने उत्तर दिया—पुत्र ! तेरा क्या गोत्र है, यह मैं नहीं जानती। युवावस्था में इतस्ततः अनुधावन करते हुए मैंने तुझे प्राप्त किया है। मैं नहीं जानती (तू किसका पुत्र है, एवं) तेरा क्या गोत्र है। इस सम्बन्ध में मैं यही कह सकती हूँ कि, मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है (अर्थात् तेरा पितृवंश

—"सोऽयं प्रजानामुपद्रष्टा प्रविष्टः, ताविमौ प्राणोदानौ। तस्मादाहुः–मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति–इति। मनसा संकल्पयति, तत् प्राणमपिपद्यते, प्राणो वात, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मन। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तं —

मनसा सङ्कल्पयति तद्वातमपिगच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मन ॥ (शत० ३।४।२।६,७,)।

इसी हृद्य प्राण के आधार पर सर्वेन्द्रिय-अनिन्द्रिय-लक्षण प्रज्ञानघन मन प्रतिष्ठित है। मन के आधार पर विज्ञानघना बुद्धि प्रतिष्ठित है। सूर्य्योपादानमूलभूता, अतएव अग्निसमतुलिता इसी बुद्धि में, किंवा विज्ञानज्ञानाग्नि में विद्यात्मक सोम की आहुति होती है। दूसरे शब्दों में हृद्य प्राणावच्छिन्न-प्रादेशमित-विज्ञान सम्परिष्वक्त-प्रज्ञान मन पर ही विद्यात्मक संस्कार प्रतिष्ठित होता है। इस विद्याहुति से आध्यात्मिक प्राण प्रज्वलित हो पड़ता है। साधारण-यथाजात-लौकिक मनुष्यों का शारीराग्नि जहाँ केवल लौकिक-भूतात्मक-अन्नाहुति से सबल बना रहता है, वहाँ विद्वानों का प्राणाग्नि दिव्यान्नलक्षण वेदतत्त्व, तथा यज्ञाशिष्ट से प्रज्वलित रहता है। भूताग्नि का प्रज्वलन भूतान्नाहुति से सम्बद्ध है प्राणाग्नि का प्रज्वलन दिव्यान्नाहुति से सम्बद्ध है। भूताग्निका प्रज्वलन कर्म्म 'इन्धन' है, प्राणाग्निका प्रज्वलन कर्म्म समिन्धन है। भूताग्नि में सामान्य काष्ठ डाल कर इसे प्रज्वलित करना इन्धन कर्म्म है। एवं इसी भूताग्नि में आधाररूप से प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में तदनुरूप मन्त्रद्वारा प्राणपरिमित (प्रादेशमित) समिधाहुति डालना समिन्धन कर्म्म है। इन्धन भूत का होता है, समिन्धन प्राण का होता है। इन्धन सामान्य परिमाणशून्य काष्ठ से होता है, समिन्धन मन्त्रपूत-दिव्यप्राणयुक्त प्रादेशमित काष्ठ से होता है। सामान्य काष्ठ 'इध्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, अलौकिक प्राणभावापन्न काष्ठ 'सामिधेनी' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी सामिधेनी-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है-

> "इन्धे ह वा एतदध्वर्यु -इध्मेनाग्निं, तस्मादिध्मो नाम। समिन्धे सामिधेनीभि-र्होता, तस्मात् सामिधेन्यो नाम" (शत०१।४।२।१)।
>
> "यो ह वा ऽ ग्निं सामिधेनीभि समिद्धं, अतितरां-ह वै स इतरस्मादग्नेस्तपति, अनवधृष्यो हि भवति, अनवमृश्य" (शत०१।४।३।१)।*।

प्रादेशमित सामिधेनी (एतन्नामक काष्ठ) उस प्रादेशमित हृद्य प्राण की प्रतिकृति है, प्रतिमान है। शिष्य अपने प्रादेशमित इस प्राणाग्नि को गुरु के प्रादेशमित हृद्य आत्मा से निकली हुई विद्यासंस्काराहुतिलक्षणा सामिधेनी से प्रज्वलित करने के लिए ही गुरु की सेवा में उपस्थित होता है। दूसरे शब्दों में विद्या के द्वारा यह अपने प्रादेशमित प्राणाग्नि को ही विद्यासंस्कार से समिद्ध करना चाहता है। "मैं विद्यात्मिका सोमाहुति से अपने प्रादेशमित प्राणाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए उपनीत हुआ हूँ" अपनी इसी जिज्ञासा को परोक्षविधि से प्रकट करने के लिए शिष्य प्रादेशमित समिधा हाथ में ले कर ही गुरु के समीप पहुँचता है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार जिस किसी को गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करना होता था, अथवा सामान्यतः अपनी सन्देहनिवृत्ति अभीष्ट होती थी, वह अपने मुख से आरम्भ में अपना शिष्यत्व प्रकट नहीं करता था। अपितु अपनी इस शिष्यवृत्ति के प्रकाशन के लिए वह समित्पाणि बन कर ही उपस्थित होता था। भावी गुरु का अभ्युत्थानादिलक्षण सत्कार भावी शिष्य का अमङ्गल कर सकता है, इसलिए, साथ ही प्राणसमिन्धनाभिव्यक्ति के लिए समित्पाणि बन कर उपनीत होना ही विज्ञानसम्मत मार्ग है।

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत 'ब्रह्म ब्राह्मणभाष्य' में देखना चाहिए।

यथानुगता अधिकारमर्य्यादा को लक्ष्य में रख कर ही 'ते ह समित्पाणय'—'किं गोत्रोऽसि' इत्यादि वचन उद्धृत हुए हैं, यही वक्तव्यांश है। प्रश्न होता है कि, क्या अधिकारमर्य्यादा का यहीं विश्राम है?, नहीं। अभी ब्रह्मपरादि लक्षण द्विजाति अधिकारी के लिए कुछ एक अधिकारमर्य्यादाएँ और अपेक्षित हैं। ब्रह्मपराः–ब्रह्मनिष्ठाः–परब्रह्मान्वेषमाणाः–ये तीनों अधिकारमर्य्यादाएँ कार्य्यस्थानीया हैं। एवं बतलाई जाने वाली तीन अधिकारमर्य्यादाएँ करणस्थानीया हैं। जब सुकेशादि विद्वान् समित्पाणि बन कर पिप्पलाद की सेवा में पहुँचते हैं, तो पिप्पलाद उन्हें उत्तर देते हैं—

"तान् ह स ऋषिरुवाच—

भूय एव तपसा, ब्रह्मचर्य्येण, श्रद्धया–सम्वत्सर सम्वत्स्यथ।
यथाकाम प्रश्नान् पृच्छथ। यदि विज्ञास्याम, सर्वं वो
वक्ष्याम" (प्रश्नो० १।२)।

ब्रह्मविद्यात्मक संस्कार की प्रतिष्ठा के लिए जहाँ ब्रह्मपर–ब्रह्मनिष्ठ–ब्रह्मान्वेषणवृत्त्यनुगमन–अपेक्षित है, वहाँ इन तीनों धर्म्मों की प्रवृत्ति, तथा रक्षा के लिए तप, ब्रह्मचर्य्य, श्रद्धा, इन तीन आत्मधर्म्मों का अनुगमन करना भी आवश्यक हो जाता है। बिना इस त्रयी के वह त्रयी कथमपि स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं रह सकती। अतएव इसे हमनें करणस्थानीया कहा है, एवं उसे कर्मस्थानीया माना है। आत्मा मन–प्राण–वाङ्मय है, यह बतलाया गया है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' के अनुसार निर्बल आत्मा में न तो ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव है, न तदनुकूल अन्तर्व्यापार सम्भव है, एवं न तदनुकूल बहिर्व्यापार सम्भव। आत्मा को, किंवा आत्मकलाओं को बलवान् बनाने वाले ब्रह्मचर्य्यादि तीन साधन मुख्य मानें गए हैं।

ब्रह्मचर्य्य वाग्भाग में बलाधान करता है, तप प्राणभाग में बलाधान करता है, एवं श्रद्धा मानसतन्त्र का बलवान् बनाती है। ठीक इसके विपरीत व्यभिचारप्रवृत्ति वाग्भाग को, आलस्य–अकर्म्मण्यता प्राणभाग को, तथा अश्रद्धामूलक असत्यभाग मनोभाग को निर्बल बनाता है। ऐसा निर्बल आत्मा दोषयुक्त है, अतिशय से रहित है, हीनाङ्ग है, अतएव अर्संस्कृत रहता हुआ विद्यासंस्कारग्रहण के लिए अयोग्य है। ब्रह्मचर्य्य दोषमार्जनलक्षण शोधक संस्कार है, तपःकर्म्म अतिशयाधानलक्षण विशेषक संस्कार है, एवं श्रद्धा (सत्यधारणा) हीनाङ्गपूर्त्तिलक्षण पूरक संस्कार है। श्रद्धासंस्कार से संस्कृत मन ब्रह्मजिज्ञासा का प्रवर्त्तक बनता हुआ जिज्ञासु को 'ब्रह्मपर' बनाता है, तपःकर्म्मसंस्कार से संस्कृत प्राण ब्रह्मनिष्ठा का प्रवर्त्तक बनता हुआ जिज्ञासु को ब्रह्मध्यानस्थ' बनाता है, एवं ब्रह्मचर्य्यसंस्कार से संस्कृता वाक् तदन्वेषणप्रवृत्ति का कारण बनती हुई जिज्ञासु को ब्रह्मान्वेषमाण बनाती है।

अविदित है)। तू जिस गुरु के समीप जाय, वहाँ यही कह देना कि, भगवन ! मेरा नाम सत्यकाम है, मेरी माता का नाम जबाला है *।

३-४—सत्यकाम समित्पाणि बन कर (पलाशसमित् लेकर) महर्षि गौतम के आश्रम में आते हैं। वहाँ आकर अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं। गौतम देखते हैं कि, इसके हाथ में पालाशी समित् है। प्रतीत होता है, 'यह ब्रह्मवीर्य्य से ही समुद्भूत है'। परन्तु बाह्यस्वरूप सूचित करता है कि, अवश्य ही इसके ब्रह्मवीर्य्य में कुछ न कुछ दोष है। फलतः समित् ग्रहण करना (शिष्य बनाना) अनुचित है। यह निश्चय कर गौतम प्रश्न करते हैं-हे प्रिय ! तुम्हारा क्या गोत्र है ?। सत्यकाम उत्तर देता है—भगवन् ! मैं नहीं जानता। माता से पूँछा था, परन्तु उसने कहा, मैंने युवावस्था में तुझे किसी से प्राप्त किया है। विदित नहीं तू किस गोत्र का है। इसलिए भगवन् ! मैं नहीं जानता कि, मैं किस गोत्र का हूँ। मैं इस सम्बन्ध में अपनी माता के आदेशानुसार यही कह सकता हूँ कि, मेरा अपना नाम तो सत्यकाम है, एवं जबाला का मैं पुत्र हूँ"।

५—सत्यकाम की सत्यनिष्ठा से, निष्कपट इस विशुद्ध उक्ति से ऋषि गद्गद हो जाते हैं। और कहने लगते हैं—सत्यकाम ! अपने गोत्र के सम्बन्ध में तूने जो स्पष्टीकरण किया है, वह एकमात्र ब्रह्मवीर्य्य का ही फल है। अवश्य ही तू जन्मत ब्राह्मण है। क्योंकि अब्राह्मण व्यक्ति अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसा स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। मैं समित् लेकर तुझे शिष्य बनाता हूँ।

६—गौतम ने शिष्य तो बना लिया। परन्तु अभी इसका ब्रह्मवीर्य्य असंस्कृत था, एवं संस्कृत द्विजाति ही ब्रह्मविद्या में अधिकृत है। अतएव उपदेश से पहले गौतम ने वीर्य्यशुद्धि आवश्यक समझी। फलस्वरूप आदेश हुआ कि—सत्यकाम ! इन दुबली पतली ४०० गायों को अपने साथ लेकर चले जाओ। जब तक इनकी सङ्ख्या एक सहस्र (१०००) न हो जाय, तब तक वापस न लौटना" — (छां० उ० ४।४।)।

गोपशु का सूर्य्य से सम्बन्ध है। उधर ब्रह्मात्मिका वेदविद्या का भी पूर्व में सूर्य्य से सम्बन्ध बतलाया गया है। जिस सौरतत्त्व से आत्मविकास होता है, वही सौरतत्त्व गोपशु में प्रतिष्ठित है। गौ का पादरज, गोमय, गोमूत्र दर्शन स्पर्श, सेवा हमारा क्या अभ्युदय नहीं कर सकती। कम से कम वेदस्वाध्यायप्रेमियों के लिए तो गोसेवा एक आवश्यक कर्म्म माना जायगा। जिन्हें वेदतत्त्व हृदयङ्गम करने में कठिनता प्रतीत हो, वे गोसेवा भी इस सम्बन्ध में एक प्रकार का चिकित्साकर्म्म मानने का अनुग्रह करें।

*—क्या ऐसा स्पष्ट कथन अन्य साहित्य में उपलब्ध हो सकता है ?, पाठक सुप्रतिष्ठितमन बन कर विचार करें, और रोमहर्ष का अनुगमन करें।

—गोसेवा से वीर्य्यगत दोष दूर जाते है, आत्मा पवित्र, तथा मेध्य बन जाता है, यही अन्यत्र निरुक्ति है।

	१-मनोविवर्त्तमाया	२-प्राणविवर्त्तमाया	३-वाग्विवर्त्तमाया
(१)—	१-ज्ञानशक्तिः	२-क्रियाशक्तिः	३-अर्थशक्तिः
(२)—	१-कारणशरीरम्	२-सूक्ष्मशरीरम	३-स्थूलशरीरम्
(३)—	१-आत्मा	२-सत्त्वम्	३-शरीरम्
(४)—	१-प्रज्ञामात्रा	२-प्राणमात्रा	३-भूतमात्रा
(५ —	१-बीजचितिः	२-देवचितिः	३-भूतचितिः
(६)—	१-पशुपतिः	२-पाशः	३-पशुः
(७)—	१-शासक	२-शासनदण्ड	३-शासितप्रजा
(८)—	१-उक्थम्	२-अर्कः	३-अशीतयः
(९)—	१-सत्यम्	२-ओजः	३-सप्तधातवः
(१०)—	१-आत्मा	२-प्राणाः	३-पशवः
(११)—	१-मोक्ष	—भोगसाधनम्	३-भोग्यपदार्थाः
(१२)—	१-मनोमयकोशः	२-प्राणमयकोशः	३-अन्नमयकोशः
(१३)—	१-असङ्गभाव	२-ससङ्गासङ्गभावः	३-ससङ्गभावः
(१४)—	१-अकारः	२-उकारः	३-मकार
(१५)—	१-आनन्दः	२-रतिः	३-प्रजातिः
(१६)—	१-लोकैषणा	२-पुत्रैषणा	३-वित्तैषणा
(१७)—	१-आनन्दविज्ञानमनोमयम्	२-मनःप्राणवाङ्मयः	३-वागापोऽग्निमयी
(१८)—	१-अमृतसत्यात्मा	२-ब्रह्मसत्यात्मा	३-देवसत्यगर्भितभूतात्मा
(१९)—	१-स्वज्योतिः	२-परज्योतिः	३-रूपज्योतिः
(२०)—	१-स्वंब्रह्म	२-ऽब्रह्म	३-ब्रह्म
(२१)—	१-आयपनम्	२-अन्नाद्	३-अन्नम्
(२२)—	१-ब्रह्मा	२-विष्णुः	३-शिवः
(२३)—	१-स्वर्लोकः	२-भुवर्लोकः	३-भूर्लोकः
(२४) —	१-द्विसोर्पाहितप्रतिष्ठा	२-द्विषः	३-उपहिता

स वा एष आत्मा—वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयः। त्रयं सदेकमयमात्मा।

आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्

मनस्तन्त्र ज्ञानशक्ति का आधार है, प्राणतन्त्र क्रियाशक्ति का उक्थ है, वाक्तन्त्र अर्थशक्ति का प्रभव है। ज्ञानशक्त्याधार मन कारणशरीरलक्षण 'आत्मा' है, क्रियाशक्त्युक्थप्राण सूक्ष्मशरीरलक्षण 'सत्त्व' है, अर्थशक्तिप्रभवभूता वाक् स्थूलशरीरलक्षण 'शरीर' है। दार्शनिक परिभाषानुसार मन 'प्रज्ञामात्रा' है, प्राण 'प्राणमात्रा' है, वाक् 'भूतमात्रा' है। वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार मन 'बीजचिति' है, प्राण 'देवचिति' है, वाक् 'भूतचिति' है। तन्त्रपरिभाषा के अनुसार मन 'पशुपति' है, प्राण 'पाश' है, वाक् 'पशु' है। नैतिक परिभाषानुसार मन 'शासक' है, प्राण 'शासनदण्ड' (शासनसूत्र) है, वाक् अनुशासिता 'प्रजा' है। निगूढविज्ञानसिद्धान्त के अनुसार मन 'उक्थ' है, प्राण 'अर्क' (रश्मि) है, वाक् 'अशीति' है। आयुर्वेदसिद्धान्त के अनुसार मन 'सत्त्व' है, प्राण 'ओज' है, वाक् 'सप्तधातुसमष्टि' है। आत्मविज्ञानानुसार मन 'आत्मा' है, प्राण 'प्राण' है, वाक् 'पशु' है। लौकिक परिभाषानुसार मन 'भोक्ता' है, प्राण 'भोगसाधन' है, वाक् 'भोग्य' है। कोशविज्ञानानुसार मन 'मनोमयकोश' है, प्राण 'प्राणमयकोश' है, वाक् 'अन्नमयकोश' है। स्वरूपविज्ञानानुसार मन अज्ञ है, प्राण 'ससंज्ञासंज्ञ' है, वाक् 'ससंज्ञा' है। प्रणवविज्ञान के अनुसार मन 'अकार' है, प्राण 'उकार' है, वाक् 'मकार' है। कामविज्ञान के अनुसार मन 'आनन्द' है, प्राण 'रति' है, वाक् 'प्रजाति' है। एषणाविज्ञान के अनुसार मन 'लोकैषणात्मक' है, प्राण 'पुत्रैषणात्मक' है, वाक् 'वित्तैषणात्मिका' है। अश्वत्थविज्ञानानुसार मन 'आनन्द-विज्ञान-मनोमय-अमृततन्त्र' है, प्राण 'मनः-प्राण-वाङ्मय ब्रह्मतन्त्र' है, वाक् 'वाक्-आप-अग्निमय शुक्रतन्त्र' है। सत्यविज्ञानानुसार मन 'अमृतसत्यात्मा' है, प्राण 'ब्रह्मसत्यात्मा' है, वाक् 'देवसत्यगर्भित भूतात्मा' है। ज्योतिर्विज्ञानानुसार मन 'स्वर्ज्योति' है, प्राण 'परज्योति' है, वाक् 'रूपज्योति' है। शंग्रसविज्ञानानुसार मन 'संग्रह' है, प्राण 'रंग्रह' है, वाक् 'कंग्रस' है। अन्नादान्नविज्ञानानुसार मन 'आवपन' है, प्राण 'अन्नाद' है, वाक् 'अन्न' है। त्रिदेवविज्ञानानुसार मन 'ब्रह्मा' है, प्राण 'विष्णु' है, वाक् 'शिव' (भूतपति) है। व्याहृतिविज्ञानानुसार मन 'स्वर्लोक' है, प्राण 'भुवर्लोक' है, वाक् 'भूर्लोक' है। आधारविज्ञान के अनुसार मन 'हितोपहितप्रतिष्ठा' है, प्राण 'हित' है, वाक् 'उपहिता' है। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा के इन कुछ एक व्याप्ति-उदाहरणों के आधार पर सम्भव है पाठक आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति की ओर आकर्षित हो सकेंगे।

'बुद्धिनाशात्-प्रणश्यति' रूप मृत्युफल कालान्तर में प्रतिथि बन जाता है। इस मृत्युपाश-विमुक्ति का मुख्य साधन शुक्ररक्षात्मक ब्रह्मचर्य्य ही माना जायगा, जैसा कि-'ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत' इत्यादि सूक्ति से प्रमाणित है।

"रसो ह्येष स, रसं ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" के अनुसार आनन्दघन आत्मा सर्वालम्बन है, यही शाश्वतानन्दोपलब्धि की प्रतिष्ठा है। इस पर विज्ञान प्रतिष्ठित है, विज्ञान पर कारणशरीरलक्षण मन का वेष्टन है, मन पर प्राणात्मक सूक्ष्मशरीर का वेष्टन है, प्राण पर वाङ्मय स्थूलशरीर का वेष्टन है। सर्वप्रथम वाक्स्तर, तदन्त प्राणस्तर, तदन्तः मनःस्तर, तदन्त विज्ञानस्तर, सर्वान्तरतम आनन्द। यह व्यवस्थित क्रम है। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा' के अनुसार विज्ञान ही आनन्दघन आत्मसाक्षात्कार का मुख्य द्वार माना गया है। यदि वाङ्मय शुक्र स्व-स्वरूप से सुरक्षित है, तो ओज बलवान् है। ओज स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित है तो मन बलवान् है। मन स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता हुआ यदि स्वस्थ है, तो-'स्वस्थे चित्ते बुद्धय संस्फुरन्ति' के अनुसार विज्ञानात्मिका बुद्धि का विकास है। इस विज्ञानबल से ही अधिकारप्राप्ति सम्भव है, जिसके मन-प्राण-वाङ्मय श्रद्धा-तप-ब्रह्मचर्य्य, ये तीन कर्म्म प्रतिष्ठा बन रहे हैं। मनोमयी श्रद्धा, प्राणमय तप, वाङ्मय ब्रह्मचर्य्य, तीनों विज्ञानबलवर्द्धक हैं। प्रबुद्ध विज्ञान ही ब्रह्मपर-ब्रह्मनिष्ठ-परब्रह्मान्वेषमाण व्यक्तियों की अधिकारमर्य्यादा यथावत् सुरक्षित रखने में समर्थ हैं। सम्वत्सरयज्ञ से उत्पन्न द्विजाति औपनिषद ज्ञान के लिए उपनीत बनता हुआ कम से कम सम्वत्सरपर्य्यन्त उक्त तीनों नियमों का अनुगमन करेगा। तभी इसका समित्पाणित्व चरितार्थ होगा, जिसका-'सम्वत्सरं सम्वत्स्यथ' से स्पष्टीकरण हुआ है। पिप्पलादसम्मता इसी अधिकारमर्य्यादा का निम्न लिखित अभियुक्त वचन से भी स्पष्टीकरण हुआ है—

"ब्रह्मचर्य्य-तप-सत्य-वेदानां-चानुपालनम्।
श्रद्धा-चोपनिपच्चैव ब्रह्मोपायनहेतव ॥

आगे जाकर भगवान् पिप्पलाद ने ब्रह्मचर्य्य-तप-सत्य की ओर विशेष ध्यान दिलाते हुए अनृत-जिह्मता-माया-को इस अधिकारमर्य्यादा का एकान्ततः परिपन्थी माना है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको-येषां तपो, ब्रह्मचर्य्यं, येषु सत्य प्रतिष्ठितम्।
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको, न येषु जिह्म-मनृत-माया च ॥
(प्रश्नोप०१।१५,१६,)

"हमें अपने श्रद्धा-आस्था-शून्य अतएव सर्वथा शुष्क-रूक्ष-केवल बुद्धिवाद के बल पर, तात्कालिक उपलालन-द्वारा, तात्कालिक विनयप्रदर्शन-द्वारा, विविध प्रलोभनों के द्वारा, वाक्छल के द्वारा, किंवा अन्यान्य अनृत-जिह्म-मायादि-असमपक्षात्मक धर्म्मशून्य लोकनीतिपथों के द्वारा उपदेष्टा से येनकेनाप्युपायेन ज्ञानलाभ कर लेना चाहिए" इसप्रकार का धर्म्मविरुद्ध-आस्थाश्रद्धाशून्य-अनृत-जिह्मता-माया-मय प्रकार कदापि वेदतत्त्वज्ञान में सफलता प्रदान नहीं करा सकता, नहीं करा सकता, यही उक्त पिप्पलादवचन का स्वारस्य है।

——

मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मतत्त्व का अमव्यापारप्रवर्तक वाग्भाग अन्नमयकोश बतलाया गया है। वाक् आकाश है। मनःप्राणात्मक आत्मतत्त्व से सर्वप्रथम इसी वाग्रूप आकाशतत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है, जो कि वागाकाश स्तम्भस्थितारतम्य से क्रमशः वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन चार भूतों का प्रभव बन रहा है, जैसा कि-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायु' (तै उ २।१।) इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति से प्रमाणित है। आकाशात्मिका वाक् ही सर्वभूतजननी है, इसी वागाकाश में सब भूत अर्पित हैं, सम्पूर्ण भूत वाङ्मय हैं इत्यादि सिद्धान्तों को-'अथो वागेवेद सर्वम्' (ऐ आ०३।१।६।)- वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता' (तै०ब्रा०२।८।८।४।) इत्यादि श्रुतियों का समर्थन प्राप्त है। हमारा स्थूलशरीर पाञ्च-भौतिक है, इसी आधार पर तालिका में वाक् को स्थूलशरीर का सग्राहक माना गया है।

शरीरगत वैश्वानराग्नि में सायं प्रातः हम जिस पार्थिव अन्नद्रव्य की आहुति देते हैं, उस सोम्य अन्न में पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, तीनो लोकों का रसभाग समन्वित है। अन्नगत घनभाग पार्थिव दधिरस है, अन्न-गत मिठास दिव्य मधुरस है, अन्नगत स्नेहनद्रव्य आन्तरीक्ष्य घृतरस है, जैसा कि-'दधि हैवास्य लोकस्य रूपं, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य' (शत०७।५।१।३।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। पार्थिव द्रव्य स्थूलभाग है, तदन्तर्गत आप्यलक्षण प्राणभाग सूक्ष्म है, एवं सर्वान्तरतम मधुभागयुक्त दिव्य चान्द्ररस सुसूक्ष्म है। भुक्तान्न के स्थूलभाग से-'रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र' इन सात स्थूल धातुओं की पुष्टि होती है। भुक्तान्न के सूक्ष्म आप्यभाग से प्राणमय ओज की स्वरूपरक्षा होती है। एवं भुक्तान्न के सुसूक्ष्म मधुभागावच्छिन्न दिव्य चान्द्ररस से मन की तुष्टि होती है। इसप्रकार त्रिधर्मावच्छिन्न अन्न आत्मा के तीनों पर्वों का स्वरूपरक्षक बन रहा है। इसी आधार पर इस आत्मपुरुष को आयुर्वशास्त्र ने-'अन्नरसमय पुरुष' कहा है, जैसा कि पूर्वप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है।

सप्तधातुवर्ग वाङ्मय है, वाक्प्रधान है। 'शुक्र' धातु पृथिवी का अन्तिम रस है। इसका निर्गमन 'ऊर्ध्व-अधः-तिर्य्यक्' भेद से तीन प्रकार से सम्भव है। जो ज्ञानोपासक अपने इस शुक्र-सोम की ब्रह्मरन्ध्रो-पलक्षित शिरोगुहा में प्रतिष्ठित ज्ञानाग्नि में आहुति देते रहते हैं, वे-'ऊर्ध्वरेता' कहलाए हैं। ऐसे ज्ञानोपासक कुछ एक अपवादस्थलों को छोड़ कर शरीर से हटा रहते हैं। क्योंकि इनका शुक्र ज्ञानपोषण में उपयुक्त होता रहता है। अतएव ज्ञानोपासक ब्राह्मण के लिए आचार्य्यों नें शरीरायास निषिद्ध माना है। योषि-दग्नि में वृषासोम की आहुति देते हुए पुरन्ध्रिता धर्म्म के अनुयायी परमेष्ठी-'अधोरेता' कहलाए हैं। ऊर्ध्व अधः-दोनों मार्गों का निरोध कर (शरीर-पुष्ट्यर्थ) केवल शरीराग्नि में शुक्राहुति देने वाले मनुष्य 'तिर्य्यग्-रेता' कहलाए हैं।

'तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्' के अनुसार ज्ञान ही 'ब्रह्म' है। इस ब्रह्म की चर्य्या (आचरण अनुगमन) ही 'ब्रह्मचर्य्य' है। यह चर्य्या शुक्ररक्षा पर ही अवलम्बित है। अतएव लक्षणया ब्रह्मचर्य्य को शुक्ररक्षापरक भी मान लिया गया है। शुक्ररक्षा से ओज(प्राण)का विकास होता है। जिसका शुक्र अतिशयमात्रा में क्षीण हो जाता है, उसका ओज निर्बल हो जाता है, स्फूर्ति विलीन हो जाती है। ओजक्षय से तत्प्रतिष्ठित मन निर्बल बन जाता है। क्योंकि शुक्रगत सोम ही तो ओजावस्था में आता हुआ अपने विशुद्ध सोमभाग से मन स्वरूप-सम्पादक बनता है। मन की निर्बलता से तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि का व्यवसायधर्म्म उच्छिन्न हो जाता है।

'बुद्धिनाशात्-प्रणश्यति' रूप मृत्युरूप कालान्तर में अतिथि बन जाता है। इस मृत्युपाश-विमुक्ति का मुख्य साधन शुक्ररक्षात्मक ब्रह्मचर्य्य ही माना जायगा, जैसा कि-'ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत' इत्यादि सूक्ति से प्रमाणित है।

"रसो ह्येष सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" के अनुसार आनन्दघन आत्मा सर्वालम्बन है, यही शाश्वतानन्दोपलब्धि की प्रतिष्ठा है। इस पर विज्ञान प्रतिष्ठित है, विज्ञान पर कारणशरीरलक्षण मन का वेष्टन है, मन पर प्राणात्मक सूक्ष्मशरीर का वेष्टन है, प्राण पर वाङ्मय स्थूलशरीर का वेष्टन है। सर्व-प्रथम वाक्स्तर, तदन्त प्राणस्तर, तदन्तः मनःस्तर, तदन्तः विज्ञानस्तर, सर्वान्तरतम आनन्द। यह व्यवस्थित क्रम है। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा' के अनुसार विज्ञान ही आनन्दघन आत्मसाक्षात्कार का मुख्य द्वार माना गया है। यदि वाङ्मय शुक्र स्व-स्वरूप से सुरक्षित है, तो ओज बलवान् है। ओज स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित है तो मन बलवान् है। मन स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता हुआ यदि स्वस्थ है, तो-'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति' के अनुसार विज्ञानात्मिका बुद्धि का विकास है। इस विज्ञानबल से ही अधिकारप्राप्ति सम्भव है, जिसके मन-प्राण-वाङ्मय श्रद्धा-तप-ब्रह्मचर्य्य, ये तीन कर्म्म प्रतिष्ठा बन रहे हैं। मनोमयी श्रद्धा, प्राणमय तप, वाङ्मय ब्रह्मचर्य्य, तीनों विज्ञानबलवर्द्धक हैं। प्रबुद्ध विज्ञान ही ब्रह्मपर-ब्रह्मनिष्ठ-परब्रह्मान्वेष-माण व्यक्तियों की अधिकारमर्य्यादा यथावत् सुरक्षित रखने में समर्थ हैं। सम्वत्सरयज्ञ से उत्पन्न द्विजाति औपनिषद ज्ञान के लिए उपनीत बनता हुआ कम से कम सम्वत्सरपर्य्यन्त उक्त तीनों नियमों का अनुगमन करेगा। तभी इसका समित्पाणित्व चरितार्थ होगा, जिसका-'सम्वत्सरं सम्वत्स्यथ' से स्पष्टीकरण हुआ है। पिप्पलादसम्मता इसी अधिकारमर्य्यादा का निम्न लिखित अभियुक्त वचन से भी स्पष्टीकरण हुआ है—

"ब्रह्मचर्य्य-तपः-सत्यं-वेदानां-चानुपालनम्।
श्रद्धा-चोपनियच्चैव ब्रह्मोपायनहेतव ॥

आगे जाकर भगवान् पिप्पलाद ने ब्रह्मचर्य्य-तप-सत्य की ओर विशेष ध्यान दिलाते हुए अनृत-जिह्मता-माया-को इस अधिकारमर्य्यादा का एकान्ततः परिपन्थी माना है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको-येषां तपो, ब्रह्मचर्य्यं, येषु सत्य प्रतिष्ठितम्।
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको, न येषु जिह्म-मनृत-माया च ॥
(प्रश्नोप०१।१५,१६,)

"हमें अपने श्रद्धा-आस्था-शून्य अतएव सर्वथा शुष्क-रूक्ष-केवल बुद्धिवाद के बल पर, तात्कालिक उपलालन-द्वारा, तात्कालिक विनयप्रदर्शन-द्वारा, विविध प्रलोभनों के द्वारा, वाक्छल के द्वारा, किंवा अन्यान्य अनृत-जिह्म-मायादि-छलप्रपञ्चात्मक धर्मशून्य लोकनीतियों के द्वारा उपदेष्टा से येनकेनाप्युपायेन ज्ञानलाभ कर लेना चाहिए" इसप्रकार का धर्मविरुद्ध-आम्याभ्यासशून्य-अनृत-जिह्मता-माया-मय प्रकार कदापि वेदतत्त्वज्ञान में सफलता प्रदान नहीं कर सकता; नहीं कर सकता, यही उक्त पिप्पलादवचन का स्वारस्य है।

—❀—

८–याज्ञवल्क्यसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अपने युग के समय वैज्ञानिक, अशास्त्रीय रूढ़िवाद के अन्यतम शत्रु भगवान् याज्ञवल्क्य ने इस सम्बन्ध में अपना जो महत्त्वपूर्ण निर्णय प्रकट किया है, दो शब्दों में उसका भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए। याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रदर्शित अधिकारमर्य्यादा के अनुगामी द्विजाति ही अध्ययनाध्यापन के अधिकारी हैं। एवं जिस अधिकारबीज को गर्भ में रख कर ये अधिकारी अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्त होते हैं, वे ही उस बीज की पुष्पित–पल्लवितरूपा समृद्धि के मोक्ता बनते हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

स्वाध्याय–प्रवचन का स्वाभाविक अनुराग[१], अनन्यमनस्कता[२], अपराधीनता[३], अर्थसाधनप्रवृति[४], सुखस्वाप[५], आत्मचिकित्सानुगमन[६], इन्द्रियसंयम[७], एकारामता[८], प्रवृद्धप्रज्ञा[९], यशोऽनुगमन[१०], लोकपक्ति[११], ये ११ साधन ही अधिकारमर्य्यादा के मूलस्तम्भ माने गए हैं। इनका क्रमशः स्वरूप–दिग्दर्शन करा देना ही प्रकृत परिच्छेदार्थ है।

(१)–स्वाध्यायप्रवचन का स्वाभाविक अनुराग (प्रियें स्वाध्यायप्रवचने भवतः)—

मानसक्षेत्र की अपेक्षा से पदार्थों को–'श्रेय, प्रेय, श्रेयप्रेय, श्रेयप्रेयोऽभाव, भेद से चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। 'हितकर' पदार्थ 'श्रेय' हैं। 'रुचिकर' पदार्थ 'प्रेय' हैं। 'हितकर'–'रुचिकर' पदार्थ 'श्रेय–प्रेय' हैं। एवं 'अहितकर–अरुचिकर पदार्थ' श्रेयप्रेयोऽभावलक्षण हैं। कायक्लेशात्मक अध्यात्मचिन्तन, सत्त्वोपासन, एवं मशादि प्राकृतिक कर्म्म हितकर हैं, अतएव श्रेय हैं। इनके अनुगमन में कठिनता है। 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' (गी०१८।३७) के अनुसार श्रेयः कर्म्मों के आरम्भ में कठिनता है, किन्तु परिणाम में निःश्रेयस्भाव है। रास्नादि क्वाथ, गुग्गुल, एक वातरोगी के लिए हितकर बनते हुए श्रेय अवश्य हैं, परन्तु रुचिकर न होने से 'प्रेय' नहीं हैं। आध्यात्मिक यात्रिक संस्था के रक्षाकर्म्म में माध्य प्रकृत्यनुगत अन्नपान–शयनादि ऐन्द्रिक भोगों के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में बुद्धिपूर्विका–ईश्वर–प्रेरणाप्रतिफलरूपा उत्थिताकांक्षा के अनुगामी स्वाभाविक भोगों के अतिरिक्त–मानसेच्छानुगत–उत्थाप्याकाङ्क्षामूलक–संस्काररोपप्रवर्तक–बन्धनात्मक–समस्त ऐन्द्रियक भोग केवल रुचिकर बनते हुए विशुद्ध प्रेयःकर्म्म माने गए हैं। इन प्रेयपदार्थों के रजस्तमो भेद से आगे आकर अवान्तर दो विभाग हो जाते हैं। प्रकृतिविरुद्ध, किन्तु इन्द्रियसुखलिप्सात्मक भोजन–दर्शन–भक्षणादि कुछ एक प्रेयोविषय तो ऐसे हैं, जिनके आरम्भ में तो सुखानुभव होता है, परन्तु परिणाम में वे महाभयङ्कर सिद्ध होते हैं। ऐसे प्रेय पदार्थ रजोगुणात्मक कहलाए हैं। रजोगुणप्रधान प्रेयः पदार्थों के सेवनकाल में बुद्धि का एकान्ततः अभिभव नहीं है। एक वातरोगी यह समझ रहा है कि, अम्लसेवन पीड़ा बढ़ा देगा महाकष्ट होगा। फिर भी 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु २।२१५) के अनुसार वह लोमसंवरण करने में असमर्थ हो जाता है। परन्तु एक स्थिति ऐसी भी मानी गई है, जिसमें बुद्धि के सदसद्विवेक का एकान्ततः अभिभव है। न दुःखानुभव है, न सुखानुभव है। प्रमत्त मनुष्य की भाँति प्रवृत्तिमात्र है। ऐसा व्यक्ति विधि–निषेध–विवेक से वञ्चित रहता हुआ उन विषयों की ओर अन्धभाव से अनुगमन करता रहता है, जिनके आरम्भ, तथा अवसान में मोहलक्षण गुण का प्रमुख रहता है। उपक्रम में भी आत्मविस्मृति, उपसंहार में भी आत्मविस्मृति, ऐसे मोहात्मक अन्तरनिक–सुखाभासलक्षण सुखों के प्रवर्धक मद्यपान–

अभक्ष्यभक्षण-अगम्यागमनादि कर्म्म तमोगुणात्मक माने गए हैं। निद्राधिक्य से, आलस्य से, प्रमाद से एक प्रकार की शान्ति की झलक दिखलाई पड़ती है। परन्तु ऐसा सुख भी तमोगुणात्मक-मोहलक्षण-प्रेयाभाव ही माना गया है। सुख ही श्रेय है, सुख ही प्रेय है। परन्तु सत्वगुणक सुख श्रेय है, रजोगुणक, तथा तमोगुणक सुख प्रेय है। उभयविध प्रेय त्याज्य है, श्रेय ग्राह्य है, जिसकी प्रतिष्ठा बुद्धियोग माना गया है। निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्तवचन इन्हीं दोनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहे हैं

श्रेय-प्रेयस्वरूपमीमांसा—

"अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय स्ते उभे नानार्थे पुरुष सिनीत ।
तयो श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत" ।

श्रेयोऽनुगमनादेश—

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमतेस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते"

श्रेयोऽनुगामिनः प्रशसा—

"स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षी ।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्या"
(कठोपनिषत् १।२।१,२,३)

सत्त्वानुगतश्रेय स्वरूपमीमांसा—

"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥"

रजोऽनुगतप्रेय स्वरूपमीमांसा—

"विषयेन्द्रियसयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुख राजस स्मृतम् ॥"

तमोऽनुगतप्रेय स्वरूपमीमांसा—

"यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मन ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्" ॥(गी०१८।३७,३८,३९)

कुछ एक ऐसे पदार्थ, तथा कर्म्म भी हैं, जिन्हें हितदृष्टि से श्रेय भी कहा जासकता है, रुचिदृष्टि से प्रेय भी माना जासकता है। ऐसा उभयनिष्ठ विभाग ही 'श्रेय-प्रेयोभाव' नामक तीसरा श्रेणि विभाग है। शारीरस्वरक्षा के लिए अपेक्षित सुस्वादु दैनिक भोजनकर्म्म, अपेक्षित निद्राकर्म्म, भ्रमण, व्यायाम, बुद्धि-संस्कृत मानस विनोद, आदि हितकर भी हैं, रुचिकर भी हैं। च्यवनप्राशावलेह, सौवर्चलपाकवटी, हिंग्वष्टकचूर्ण, गन्धकरसायनवटी, आदि औषधियाँ रास्नादि क्वाथादि की भाँति केवल हितकर (श्रेय) ही नहीं हैं, अपितु रुचिकर

दोनें के साथ साथ रुचिकर भी हैं। सर्वनाशक हालाहलादि कतिपय पदार्थ न हितकर हैं, न रुचिकर हैं। यही चौथा भेषिग–विभाग है। वस्तुतस्तु जिन तीन विभागों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे ही प्रज्ञापराध से उभयसम्पत्ति से वञ्चित होते हुए इस चतुर्थ विभाग के जनक बन रहे हैं। मात्रायुक्त महाविष भी स्वतन्त्ररूप से हितकर बन जाता है। अन्य औषधियों के सम्पर्क से अपनी कटुता छोड़ता हुआ यही विष हितकर होने के साथ साथ रुचिकर भी बन जाता है। उधर हितकर पदार्थ प्रज्ञापराध से अहितकर बन जाता है, रुचिकर पदार्थ भी अजीर्णदशा में अरुचिप्रवर्त्तक बन जाता है। सर्वथा भेषिग–विभाग चार संख्याओं में ही विभान्त है।

प्रकान्त विद्याविभाग का, किंवा स्वाध्यायकर्म्म का श्रेय, तथा श्रेयःप्रेय, इन दो विभागों के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। स्वाध्यायारम्भ काल में, दूसरे शब्दों में प्राथमिक शिक्षण काल में अध्येता के लिए अध्ययन केवल श्रेयोभावयुक्त बना रहता है। बुद्धि का अविकास ही प्रेयोभावाभाव (अरुचि) का कारण है। योग्य शिक्षक के अनुग्रह से ज्यों ज्यों बुद्धि विकसित होने लगती है, त्यों त्यों हितभाव के साथ साथ रुचिभाव भी बढ़ने लगता है। यही रुचिभाव आगे जाकर विद्यापूर्णता का कारण बन जाता है। स्वयं पढ़ने की रुचि, पठित विषय को प्रकट करने की रुचि, दोनों सफलता के मौलिक रहस्य हैं। शिक्षक की योग्यताविशेष से ही यह स्वाध्याय-प्रवचनानुबन्धी प्रियभाव (प्रेयोभाव–रुचि) शिष्य में उत्पन्न होता है। यही विद्याक्षेत्र का अधिकारी बनता है। यदि किसी में पूर्वजन्मसंस्कारवश बचपन से स्वतः एव स्वाध्याय-प्रवचन की रुचि का बीज प्रतिष्ठित है, तो उत्तमाधिकारी है, एवं वह स्वाध्यायकाल में ही इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर लेता है। यदि किसी में प्रयास से भी रुचि उत्पन्न न हुई, तो वह इस क्षेत्र का अनधिकारी ही माना जायगा। "स्वाध्याय-(अध्ययन)–प्रवचन (अध्यापन) का अनुराग ही स्वाध्यायप्रवचन का प्रियत्व है, यही याज्ञवल्क्यमतानुसार प्रथम अधिकारमर्य्यादा है" यही सन्दर्भनिष्कर्ष है।

२—रुच्यनुगत। अनन्यमनस्कता-(युक्तमना भवति)–

हमारी विद्या की ओर रुचि है, अतएव हम अधिकारी हैं, यहां तक तो ठीक है। परन्तु इस रुचि की दो अवस्था हैं। रुचि का मन से सम्बन्ध है। मन 'युक्त–अयुक्त' भेद से दो वृत्तियों में विभक्त है। किसी भी विषय, किंवा कर्म्म के साथ मन का चिरकालपर्य्यन्त सम्बन्ध हो जाना मन की युक्तता है, एवं क्षणिक सम्बन्ध होना अयुक्तता है। इन दो विरुद्ध धर्म्मों का कारण है बुद्धिसहयोग का तारतम्य। अपने स्वाभाविक सौम्य विद्युत् के कारण मन स्वभावतः चञ्चल है, चाञ्चल्य मन का स्वाभाविक धर्म्म है। इसी वृत्ति के कारण यह किसी विषय के साथ अधिक काल पर्य्यन्त सम्बन्ध बनाये रखने में असमर्थ है। नवीनतामें रुचि रहती है, कालान्तर में रुचि हट जाती है। जिस विज्ञान (बुद्धि) के प्रवर्ग्यांश से मन स्वव्यापार करने में समर्थ होता है, वह स्थिर है। विज्ञानगत इन्द्र 'ओकःसारी' है, जैसा कि–ओकःसारी वा इन्द्र। यत्र वा एष इन्द्रः पूर्व गच्छति, ऐव तत्रापर गच्छति इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

मन ऐन्द्रियक संस्कारवश से बलवान् बनता हुआ विज्ञानस्थिरता को अपने वश में कर लेता है। अतएव विज्ञानस्थिरता इसका उपकार करने में असमर्थ हो जाती है। ऐसे ही व्यक्ति अन्यमनस्क, अयुक्तमना, विज्ञानवञ्चित कहलाए हैं। विद्याक्षेत्र में मानस रुचि का चिरकालिकत्व अपेक्षित है। यह चिरकालिकत्व 'यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा' (कठोपनिषत्) इस कठश्रुति के अनुसार तभी सम्भव

है, सब कि मन बुद्धि का अनुगामी बना रहे। बुद्धिगत स्थिरधर्म्म, मनोगत सोमात्मक स्नेहधर्म्म, दोनों के समन्वय से ही मन का व्यापार, मानस रुचि विद्याक्षेत्र में स्थिरधर्म्म की प्रवर्तिका बनती है। यही 'रुच्यनुगता अनन्यमनस्कता' है, यही मन की युक्तता है, यही दूसरी अधिकारमर्य्यादा है, जिसका बीज बुद्धिप्राधान्य माना गया है।

३—अपराधीनता–(अपराधीनः)–

जीवात्मतन्त्र स्व, पर, भेद से दो तन्त्रों में विभक्त है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टिलक्षण कर्म्मात्मा ही जीवात्मा है। इसके इस ओर प्रज्ञानमनोयुक्त इन्द्रियवर्ग है, उस ओर चिज्ज्योति से अनुगृहीता बुद्धि है। बुद्ध्यनुगत जीवात्मा स्वमूलभूत चिदात्मतन्त्र से अनुगृहीत रहता हुआ स्व–तन्त्र (आत्मतन्त्र) में प्रतिष्ठित है। प्रज्ञानमनोऽनुगत जीवात्मा विषयसंस्कारभूत जडतन्त्र से अनुगृहीत रहता हुआ पर–तन्त्र (विषयतन्त्र) में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'परतन्त्र' है। पारतन्त्र्य आत्मज्ञान का महाप्रतिबन्धक है, स्वातन्त्र्य महा उपकारक है। यही स्वातन्त्र्य बुद्धिविकास का कारण है। *बुद्धिविकास ही मनःक्षेत्र की युक्तता का मूल है। युक्तमना* अधिकारी ही अपने विद्यानुराग को सुरक्षित रख सकता है। इन्द्रियानुबन्धी अर्थक्षेत्र की परतन्त्रता ही पराधीनता है। पेट भर भोजन नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है, उसके लिए आत्मसमर्पण करना पड़ता है, इसी अर्थचिन्ता में अहोरात्र व्यतीत हो जाता है, यही परतन्त्रता का दूसरा दृष्टिकोण है। सब कुछ बाह्य साधन रहने पर भी आसक्ति के अनुग्रह से प्राप्त परवशता भी आत्मस्वातन्त्र्य की बाधिका बनती हुई स्वाध्यायकर्म्म में प्रतिबन्धक है। बाह्य साधन न होने पर अगत्या प्राप्त अर्थचिन्ता भी आत्मस्वातन्त्र्य की प्रतिबन्धिका है। दोनों ही पराधीनताएँ बुद्धिविकास के लिए घातक यन्त्र हैं। प्राप्त वैभव में आसक्ति न हो, साथ ही आवश्यकतानुसार अर्थक्षेत्र की सुविधा भी बनी रहे, यही अपराधीनता है, यही तीसरी अधिकारमर्य्यादा है।

(४)—अर्थसाधनप्रवृत्ति–(अहरहरर्थान् साधयते)–

दो प्रकार से इस अधिकारमर्य्यादा का समन्वय किया जा सकता है। रुचि भी है, अनन्यता भी है, अनन्यतारक्षक साधन भी प्रस्तुत हैं (अपराधीनता है)। परन्तु अर्थसाधनप्रवृत्ति नहीं है। गुरु ने आज जो उपदेश दिया, उसे कल पर छोड़ दिया, कल के उपदेश को परसों पर छोड़ दिया। प्रमादवश कल कल पर छोड़ते-गए। न कभी इस कल का अन्त होगा, न अधीत विषयों में सफलता मिलेगी। वही विद्याक्षेत्र में पूर्णता प्राप्त कर सकता है, जो 'न श्वः श्वः प्रतीक्षेत' के अनुसार कल-कल की प्रतीक्षा न करता हुआ प्रतिदिन अधीत (श्रुत) विषय का मनन-निदिध्यासन किया करता है। 'स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्' यह आदेश भी इसी अधिकारमर्य्यादा का समर्थन कर रहा है। जैसे भोजन करना हम नहीं भूलते, वैसे स्वाध्यायकर्म्म का भी अनध्याय नहीं होना चाहिए, जिसका 'अहरहः स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' से स्पष्टीकरण हुआ है।

'हमनें इतना जान लिया, अब बस है'–इसप्रकार विद्याक्षेत्र में 'अलं' बुद्धि रखने वाला भी अधिकारी नहीं माना जा सकता। ज्ञान अनन्त है, इसकी पिपासा भी अनन्त होनी चाहिए। 'न हम कभी बूढ़े होंगे, न हम कभी मरेंगे' इस भावना को आगे करते हुए यावज्जीवन हमें अपने इष्टसाधन में प्रवृत्त रहना चाहिए। सन्तोष करना अनन्त की उपासना से विरोध करना है। जो वस्तुतत्त्व *प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त* करो, जो प्राप्त कर चुके हो, उसका विकास करो। विकास करना एक दृष्टिकोण है, जिसका पूर्व में स्पष्टीकरण

हुआ है। प्राप्त करना दूसरा दृष्टिकोण है। इसी के लिए श्रुति ने कहा है—'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्, न क्वचिदप्यक्षबुद्धिमादध्यात्'।

(५)—सुखस्वाप (सुखं स्वपिति)—

स्वस्थ शरीर, उत्साहपूर्ण मन, विकसिता बुद्धि, निरालसभावानुगता अर्थसाधनप्रवृत्ति, इन सबका मूलाधार सुखस्वाप माना गया है। 'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति' के अनुसार स्वाध्यायलक्षण तप से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आदि शक्तियों का पर्य्याप्त मात्रा में ह्रास होता है। इस अल्पकालीन दैनिक ह्रास (क्षिणी) की क्षतिपूर्ति के लिए इन शक्तियों का दैनिक आदान भी अपेक्षित है। अहःकाल में जहाँ हम शक्तिदान करते हैं, वहाँ रात्रि में विश्रामद्वारा पुनः शक्तिसञ्चय में समर्थ हो जाते हैं। विश्राम का मुख्य क्षेत्र निद्रा है। जिसे सुखपूर्वक (भरपेट) निद्रा आती है, वही शक्तिलाभ कर सकता है। दिन के परिश्रम से क्लान्त शानतन्तु (स्नायुतन्तु) सुखस्वाप से पुनः स्वस्थ बनते हुए दूसरे दिन के कर्म्म के लिए योग्य बन जाते हैं। एवं यही पाँचवीं अधिकारमर्य्यादा है।

(६)—आत्मचिकित्सानुगमन—(आत्मनः परमचिकित्सको भवति)—

सुखपूर्वक निद्रा तभी आ सकती है, जब हमारी अध्यात्मसंस्था अपने तीनों पर्वों से स्वस्थ बनी रहती है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशात्मक पाञ्चभौतिक, भूतमात्रात्मक स्थूलशरीर, ५-प्रज्ञामात्रा, ५-प्राणमात्रा, ५-भूतमात्रा, १-मन, २-बुद्धि, ३-चित्त, ४-अहङ्कार-लक्षण अन्तःकरणचतुष्टयी, इन १९ कलाओं से एकोनविंशतिकल, वैकृतात्मक सूक्ष्मशरीर, भावना, वासना, अविद्या, काम, कर्म्म, शुक्रसमष्टिरूप, आत्मप्रज्ञात्मक कारणशरीर, पञ्चकल आत्मक्षर, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल अव्यय, निष्कल परात्पर की समष्टिरूप शरीरत्रयी-नियन्ता शरीरी, इन चार संस्थाओं की समष्टि ही प्रकृत में 'आत्मा' शब्द से गृहीत है।

वात-पित्त-कफ, ये तीन स्थूलशरीर के धातु हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्य, ये ६ सूक्ष्मशरीर के धातु हैं। भावना—वासना—शुक्र, ये तीन कारणशरीर के धातु हैं। एवं आनन्दविज्ञानादि आत्मा (शरीरी) के धातु हैं। इन धातुओं की न्यूनता, अधिकता, विषमता, अभाव, समता, ये पाँच अवस्थाएँ सम्भव हैं। भोग्य पदार्थों के सेवन में गड़बड़ करने से ही चार अवस्थाओं का उदय होता है। पांच में से चार अवस्था घातक हैं, अन्तिम अवस्था ही स्वस्थता है। हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, योग, इन पाँच वृत्तियों से उक्त पाँच अवस्था उत्पन्न होती हैं। कल्पना कर लीजिए, हमें आत्मसमतालक्षण समत्वयोग के लिए एक सेर अन्न खाना है। परन्तु ऐसा न कर प्रज्ञापराध से हमनें कम खाया, यही हीनयोग है। मात्रा से अधिक खा लिया, यही अतियोग है। खाया तो मात्रा से, परन्तु प्रकृत्यनुकूल न खा कर प्रकृतिविरुद्ध अन्न खा लिया, यही मिथ्यायोग है। कुछ नहीं खाया, यही 'अयोग' है। एवं प्रकृत्यनुसार जिस नियत समय में जितना अपेक्षित है, उस समय में उतना ही खाया, यही समत्वप्रवर्त्तक, स्वास्थ्यमूलक योग है। हीनादि अयोगात्मक चारों योग स्वस्थता निवर्त्तक, तथा रोगप्रवर्त्तक हैं। योगात्मक पाँचवां योग रोगनिवर्त्तक, तथा स्वस्थताप्रवर्त्तक है। कौन पथ्य धातुवैषम्य का कारण है ?, कौन विषमता के प्रवर्धक हैं ?, इसप्रकार आहार-विहारादि का सम्यग्ज्ञान रखते हुए समत्वलक्षण योग का अनुगमन करना ही आत्मचिकित्सा है। आत्मचिकित्सा के अभाव में प्रज्ञापराधा—

सुमह से अध्यात्मसंस्था अस्वस्थ रहती है। निद्रा नहीं आती, मन अशान्त रहता है, बुद्धि अन्यवसायधर्म्म से आक्रान्त रहती है। ऐसी अध्यात्मसंस्था विद्याक्षेत्र में अनधिकृत है। इसी आधार पर आत्मचिकित्सा भी अधिकारमर्य्यादा मान ली गई है।

(७)–इन्द्रियसयम—

प्रश्न यह है कि, स्वस्थताप्रवर्त्तक आत्मचिकित्साकर्म्म में सफलता प्राप्त कैसे हो ?, दूसरे शब्दों में मन की स्वाभाविक चञ्चलता से सम्बन्ध रखने वाले प्रज्ञापराध का नियन्त्रण कैसे किया जाय ?। इन्द्रियसंयम ही इसका मुख्य उपाय माना गया है। हमें विशुद्ध रुचिकर भावों से बचना चाहिए, अपनी वाक्–प्राण–चक्षुः–आदि इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। शुभ–अशुभोदर्क को लक्ष्य में रखते हुए ही ऐन्द्रियक भोग्य विषयों की ओर प्रवृत्त रहना चाहिए। सहनशक्ति का अनुगमन करना चाहिए। थोड़े साहस से काम लेने पर ही हम अपनी इन्द्रियों की विषयलोलुपता पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे संसर्ग से बचना चाहिए, जो इन्द्रियभावों का उत्तेजक हो। और हमारे अपने अनुभव से तो जनसंसर्ग से बचते रहना ही इन्द्रियसयम का मूलरहस्य है। एकान्तप्रियता हमें अनेक दुर्गुणों से बचा लेती है। इसीलिए अध्यात्मज्ञान के सम्बन्ध में हमें 'अरतिर्जनसंसदि' (गी० १३।१०।) यह आदेश मिला है। अपनी आवश्यकताओं को कम करना, जनसंसर्ग से बचना, शास्त्रोपदिष्ट स्वस्त्ययनकर्म्मों को अपनाना, तत्त्वदर्शी विद्वानों का सहयोग प्राप्त करते रहना, इत्यादि कुछ एक ऐसे उपाय हैं, जिनसे हम इन्द्रियसंयम-कर्म्म में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। यही इन्द्रियसंयमलक्षणा अधिकारमर्य्यादा का एक विशेष दृष्टिकोण है।

अब दूसरे दृष्टिकोण से इसका समन्वय कीजिए, जिसका स्वाध्यायकाल से सम्बन्ध है। गुरु से विद्योपदेश ग्रहण करते समय हमें इन्द्रियों पर, किंवा इन्द्रवृत्तियों पर पूर्णसंयम रखना पड़ेगा। एवं इस संयमकर्म्म के मुख्य अधिष्ठान चक्षु, श्रोत्र, मन, ये तीन इन्द्रियभाव बनेंगे। गुरु की ओर ही दृष्टि, उसी ओर श्रोत्रेन्द्रिय, उसी ओर मन, यही इन्द्रियसंयम स्वाध्याय की सफलता का मूलाधार है। इन तीनों में भी मन का सयम मुख्यरूप से अपेक्षित है। एकाग्रमन से श्रुत–दृष्ट विषय ही दृढ़संस्काररूप में परिणत होता है। एक गुरु के समीप अनेक शिष्य विद्याध्ययन कर रहे हैं। आँखों, कानों की दृष्टि से सभी समानाधिकारी हैं। परन्तु–'केचिदर्थेषु रमन्ते, अपरे न'। कारण यही है कि, मनोयोग की दृष्टि से सब असमान हैं। चक्षु–श्रोत्र-मन, के तारतम्य से इस अधिकारमर्य्यादा को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

कितनें ही शिष्य न देखते, न सुनते, मनन की तो कथा ही दूर है। यही सर्वथा अनधिकारी वर्ग है। पुस्तक खुली पड़ी है। मन कहीं ओर है, देख दूसरी ओर रहे हैं, श्रोत्र अन्य ध्वनिश्रवण में संलग्न हैं। इन पुरुषार्थियों को छोड़ते हुए हमें उन अधिकारियों का विचार करना है, जो प्रथम–मध्यम–उत्तम कोटित्रयी में विभक्त हैं। कितनें एक विद्यार्थी सुनते भी हैं, देखते भी हैं, मनोयोग भी रखते हैं, परन्तु स्वाध्याय–समाप्त्यनन्तर पुस्तक को पूजनगृह में प्रतिष्ठित कर देते हैं। कितनें एक घर आकर मनन तो करते हैं, परन्तु अनन्यता नहीं रखते। मनोविनोद में ही अधिक समय बिताते रहते हैं। परन्तु उत्तमाधिकारी शिष्य स्वाध्यायकाल में भी आत्मसमर्पणयोग का आश्रय लिए रहते हैं, एवं अनन्तर भी उसी कर्म्म में

हुआ है। प्राप्त करना दूसरा दृष्टिकोण है। इसी के लिए श्रुति ने कहा है—'अजितु जेतुमनुचिन्तयेत्, न कथञ्चिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्'।

(५)—सुखस्वाप (सुख स्वपिति)—

सशक्त शरीर, उत्साहपूर्ण मन, विकसिता बुद्धि, निरालसमायानुगता अर्थसाधनप्रवृत्ति, इन सबका मूलाधार सुखस्वाप माना गया है। 'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति' के अनुसार स्वाध्यायलक्षण तप से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आदि शक्तियों का पर्य्याप्त मात्रा में ह्रास होता है। इस अल्पकालीन दैनिक ह्रास (विसर्ग) की क्षतिपूर्ति के लिए इन शक्तियों का दैनिक आदान भी अपेक्षित है। अहःकाल में जहाँ हम शक्ति दान करते हैं, वहाँ रात्रि में विश्रामद्वारा पुनः शक्तिसञ्चय में समर्थ हो जाते हैं। विश्राम का मुख्य क्षेत्र निद्रा है। जिसे सुखपूर्वक (मरपेट) निद्रा आती है, वही शक्तिलाभ कर सकता है। दिन के परिश्रम से क्लान्त ज्ञानतन्तु (स्नायुतन्तु) सुखस्वाप से पुनः सशक्त बनते हुए दूसरे दिन के कर्म्म के लिए योग्य बन जाते हैं। एवं यही पाँचवीं अधिकारमर्य्यादा है।

(६)—आत्मचिकित्सानुगमन—(आत्मन परमचिकित्सको भवति)—

सुखपूर्वक निद्रा तभी आ सकती है, जब हमारी अध्यात्मसंस्था अपने तीनों पर्वों से स्वस्थ बनी रहती है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशात्मक पाञ्चभौतिक, भूतग्रामात्मक स्थूलशरीर, ५-प्रज्ञामात्रा, ५-प्राणमात्रा, ५-भूतमात्रा, १-मन, २-बुद्धि, ३-चित्त, ४-अहङ्कार-लक्षणा अन्तःकरणचतुष्टयी, इन १६ कलाओं से एकोनविंशतिमुख, देवग्रामात्मक सूक्ष्मशरीर, भावना, वासना, अविद्या, काम, कर्म्म, शुक्रसमष्टिरूप, आत्म-ग्रामात्मक कारणशरीर, पञ्चकल आत्मक्षर, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल अव्यय, निष्कल परात्पर की समष्टिरूप शरीरत्रयी-नियन्ता शरीरी, इन चार संस्थाओं की समष्टि ही प्रकृत में 'आत्मा' शब्द से गृहीत है।

वात-पित्त-कफ, ये तीन स्थूलशरीर के धातु हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्य, ये ६ सूक्ष्मशरीर के धातु हैं। भावना-वासना-शुक्र, ये तीन कारणशरीर के धातु हैं। एवं आनन्दविज्ञानादि आत्मा (शरीरी) के धातु हैं। इन धातुओं की न्यूनता, अधिकता, विषमता, अपाम, समता, ये पाँच अवस्थाएँ सम्भव हैं। योग्य पदार्थों के सेवन में गड़बड़ करने से ही चार अवस्थाओं का उदय होता है। पाँच में से चार अवस्था घातक हैं, अन्तिम अवस्था ही स्वस्थता है। हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, योग, इन पाँच वृत्तियों से उक्त पाँच अवस्था उत्पन्न होती हैं। कल्पना कर लीजिए, हमें आत्मसमतालक्षण समत्वयोग के लिए एक सेर अन्न खाना है। परन्तु ऐसा न कर प्रज्ञापराध से हमने कम खाया, यही हीनयोग है। मात्रा से अधिक खा लिया, यही अतियोग है। खाया तो मात्रा से, परन्तु प्रकृत्यनुकूल न खा कर प्रकृतिविरुद्ध अन्न खा लिया, यही मिथ्या-योग है। कुछ नहीं खाया, यही 'अयोग' है। एवं प्रकृत्यनुसार जिस नियत समय में जितना अपेक्षित है, उस समय में उतना ही खाया, यही समत्वप्रवर्त्तक, स्वास्थ्यमूलक योग है। हीनादि अयोगात्मक चारों योग स्वस्थता निवर्त्तक, तथा रोगप्रवर्त्तक हैं। योगात्मक पाँचवाँ योग रोगनिवर्त्तक, तथा स्वस्थताप्रवर्त्तक है। कौन वस्तु धातुवैषम्य का कारण है?, कौन विषमता के प्रवर्त्तक हैं?, इसप्रकार आहार-विहारादि का सम्यग्ज्ञान रखते हुए समत्वलक्षण योग का अनुगमन करना ही आत्मचिकित्सा है। आत्मचिकित्सा के अभाव में प्रज्ञापराधा-

जिसमें यश:करण का जितना अधिक विकास होता है, वह अपने कर्म्म से लोक में उतना ही अधिक यशस्वी होता है। देखा जाता है कि, बड़े बड़े काम करने वाले भी यश सम्पत्ति से वञ्चित रह जाते हैं। कारण यही है कि, उनका आध्यात्मिक यश:प्राण मूर्च्छित है। अतएव इन्हें लोकसम्पत्ति नहीं मिलती। परिणाम में कालान्तर में ये हतोत्साह बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि, यशोविकास भी स्वाध्यायकर्म में उपोद्बलक बन रहा है। इसी दृष्टि से ऋषि ने इसे भी अधिकारमर्य्यादा में अन्तर्भूत मान लिया है।

(११)–लोकपक्ति–

उक्त १० सों साधन तभी सर्वात्मना सफल हो सकते हैं, जब इसे लोकसहानुभूति सहयोग प्राप्त होता रहे। विद्याभ्यासी को समाजद्वारा सहयोग मिलना परम आवश्यक है। अन्यथा सांसारिक चिन्तायें इसे इस कर्म्म से च्युत कर देतीं हैं। "हम अमुक के लिए पच-मरने के लिए तय्यार हैं, इसमें हम अपना सौभाग्य समझते हैं" इसप्रकार की भावना ही लोकपक्ति है। तदनुगत अध्येता ही स्वाध्यायकर्म्म में सफल हो सकता है। भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि, आज यह लोकपक्ति–सम्पत् को सर्वथा भुला चुका है। यही कारण है कि, अन्य साधनों के रहते भी अध्येता अध्ययनकर्म्म में सफलता प्राप्त नहीं कर रहे।

शिष्य स्वाध्यायकर्म्म का अनुगामी है, गुरु प्रवचनकर्म्म का अनुगामी है। जो ११ गुण शिष्य के लिए अपेक्षित हैं, वे ही ११ गुण प्रवचनकर्त्ता गुरु के लिए अपेक्षित हैं। इन अधिकारमर्य्यादाओं का अनुगमन करने वाला शिष्यवर्ग, तथा आचार्य्यवर्ग, फलस्वरूप इन्हीं ग्यारह विभूतियों के सत्पात्र बन जाते है। उनका स्वाध्याय–प्रवचन स्वाभाविक कर्म्म बन जाता है। उनका मन स्थितप्रज्ञ बन जाता है। वे आत्मस्वातन्त्र्य के अनुगामी बन जाते हैं। वे अभीप्सित अर्थसाधन में समर्थ हो जाते हैं। उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। वे पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। उनका जीवन संयत बन जाता है। उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका बन जाती है। वे मनस्वी बन जाते हैं। लोक में उनका यश व्याप्त हो जाता है। एवं–'सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति' के अनुसार सब उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहते हैं। इसी अधिकार, एवं तदनुगत फलस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अधिकारमर्य्यादा– (उद्देश्यरूपा)		फलमर्य्यादा– (विधेयरूपा)
१—प्रिये स्वाध्यायप्रवचने स्याताम्	—	१—"प्रिय स्वाध्यायप्रवचने भवतः"
२—युक्तमना भवेत्	—	२—"युक्तमना भवति"।
३—अपराधीनः (भवेत्)	—	३—"अपराधीन (भवति)"।
४—अहरहरर्थान् साधयेत्	—	४—"अहरहरर्थान् साधयते"।
५—सुखं स्वप्यात्	—	५—"सुखं स्वपिति"।
६—परमचिकित्सक आत्मनो भवेत्	—	६—"परमचिकित्सक आत्मनो भवति"।
७—इन्द्रियसंयम (युक्तो भवेत्)	—	७—"इन्द्रियसंयम (युक्तो भवति)"।

तल्लीन रहते हैं, डूबे रहते हैं। पानी से भरा सरोवर है। अनधिकारी किनारे से लौट आते हैं। प्रथमाधिकारी जानुपर्य्यन्त प्रवेश कर पाते हैं, मध्यमाधिकारी कक्षपर्य्यन्त प्रवेश कर लेते हैं। परन्तु उत्तमाधिकारी पूर्णरूप से अन्तस्तल पर पहुँच कर बाहर निकलते हैं। पूर्णेन्द्रियसंयमी ऐसे उत्तमाधिकारी ही वास्तविक अधिकारी हैं। इन्हीं तीनों अधिकारियों की स्थिति का सरोवरदृष्टान्त से स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

अनधिकारी—

"यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्" ॥

त्रिविधाधिकारिण —

"अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास, उपकक्षास, उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे" ॥
(ऋक्सं० १०।७१।६,७ मं०)

(८)—एकारामता—

उद्देश्यविहीन जीवन जहाँ इन्द्रियारामता का प्रवर्तक है, वहाँ उद्देश्ययुक्त जीवन एकारामता का प्रवर्तक माना गया है। लक्ष्यविहीन अकर्मण्य मनुष्य ही प्रज्ञापराध के लक्ष्यपात्र बनते हुए ऐन्द्रियक भोगपाशों से बद्ध होते हैं। अनुभव से प्रमाणित है कि, अकर्मण्यदशा में ही हमारा मन इतस्ततः अनुधावन करता है। यदि हम इसके सामने कोई लक्ष्य रख देते हैं, तो इसकी अन्य वृत्तियों का लक्ष्य पर केन्द्रीकरण हो जाता है। इस लक्ष्य के सम्बन्ध में यह लक्ष्य रखना आवश्यक होगा कि, कहीं स्वयं लक्ष्य तो अलक्ष्य नहीं बन रहा है। एक समय में अनेक लक्ष्य बनाना लक्ष्य को अलक्ष्य बनाना है। ऐसा अलक्ष्यात्मक लक्ष्य एकारामता का प्रतिद्वन्द्वी बनता हुआ अन्ततोगत्वा इन्द्रियारामतामूलक चाञ्चल्य का ही प्रवर्त्तक बन जाता है। हमारा लक्ष्य स्थिर हो, और वह एक हो, यही एकारामता है। एकारामता ही इन्द्रिय संयम का मूल है।

(९)—प्रबुद्धप्रज्ञा—

एकारामता से प्रज्ञानमन अपने प्रज्ञाभाग से स्थिर बन जाता है। इन्द्रियारामता, तथा अनेकलक्ष्यानुगमनता जहाँ प्रज्ञा को सप्तक्ष—सपक्षरूप में परिणत करती हुई इसके स्वाभाविक विकास का द्वार अवरुद्ध कर देती है, वहाँ आत्मानुगता, किंवा बुद्धिसंस्कृता एकारामता, तथा अनन्यलक्ष्यता प्रज्ञा को एकत्र आकर्षित करती हुई प्रज्ञावृद्धि का कारण बन जाती है। यही नवीं अधिकारमर्य्यादा है। तीव्रप्रज्ञता ही इसका बीज है।

(१०)—यशोऽनुगमन—

'श्री-श्रद्धा—यश' ये तीन चन्द्रमा के मनोता हैं। चन्द्रमा मन का उपादान है। अतएव अध्यात्म संस्था में ये तीनों मानसधर्म बन रहे हैं। इसी मानस यशःप्राण से अध्येता का मन यशस्वी बनता है।

जिसमें यश करण का जितना अधिक विकास होता है, वह अपने कर्म्म से लोक में उतना ही अधिक यशस्वी होता है। देखा जाता है कि, बड़े बड़े काम करने वाले भी यश सम्पत्ति से वञ्चित रह जाते हैं। कारण यही है कि, उनका आध्यात्मिक यशःप्राण मूर्च्छित है। अतएव इन्हें लोकसम्पत्ति नहीं मिलती। परिणाम में कालान्तर में ये हतोत्साह बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि, यशोविकास भी स्वाध्यायकर्म में उपोद्बलक बन रहा है। इसी दृष्टि से श्रुति ने इसे भी अधिकारमर्य्यादा में अन्तर्भूत मान लिया है।

(११)—लोकपक्ति—

उक्त १० सों साधन तभी सर्वात्मना सफल हो सकते हैं, जब इसे लोकव्यवहारानुभूति सहयोग प्राप्त होता रहे। विद्याभ्यासी को समाजद्वारा सहयोग मिलना परम आवश्यक है। अन्यथा सांसारिक चिन्ताएँ इसे इस कर्म्म से च्युत कर देतीं हैं। "हम अमुक के लिए पच-मरने के लिए तय्यार हैं, इसमें हम अपना सौभाग्य समझते हैं" इसप्रकार की भावना ही लोकपक्ति है। तदनुगत अध्येता ही स्वाध्यायकर्म्म में सफल हो सकता है। भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि, आज वह लोकपक्ति-सम्पत् को सर्वथा भुला चुका है। यही कारण है कि, अन्य साधनों के रहते भी अध्येता अध्ययनकर्म्म में सफलता प्राप्त नहीं कर रहे।

शिष्य स्वाध्यायकर्म्म का अनुगामी है, गुरु प्रवचनकर्म्म का अनुगामी है। जो ११ गुण शिष्य के लिए अपेक्षित हैं, वे ही ११ गुण प्रवचनकर्त्ता गुरु के लिए अपेक्षित हैं। इन अधिकारमर्य्यादाओं का अनुगमन करने वाला शिष्यवर्ग, तथा आचार्य्यवर्ग, फलस्वरूप इन्हीं ग्यारह विभूतियों के सत्पात्र बन जाते हैं। उनका स्वाध्याय-प्रवचन स्वाभाविक कर्म्म बन जाता है। उनका मन स्थितप्रज्ञ बन जाता है। वे आत्मस्वातन्त्र्य के अनुगामी बन जाते हैं। वे अभीप्सित अर्थसाधन में समर्थ हो जाते हैं। उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। वे पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। उनका जीवन संयत बन जाता है। उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका बन जाती है। वे मनस्वी बन जाते हैं। लोक में उनका यश व्याप्त हो जाता है। एवं-'सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति' के अनुसार सब उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहते हैं। इसी अधिकार, एवं तदनुगत फलस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अधिकारमर्य्यादा— (उद्देश्यरूपा)		फलमर्य्यादा— (विधेयरूपा)
१—प्रिये स्वाध्यायप्रवचने स्याताम्	—	१—"प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवत"
२—युक्तमना भवेत्	—	२—"युक्तमना भवति"।
३—अपराधीनः (भवेत्)	—	३—"अपराधीनः (भवति)"।
४—अहरहरर्थान् साधयेत्	—	४—"अहरहरर्थान् साधयते"।
५—सुखं स्वप्यात्	—	५—"सुखं स्वपिति"।
६—परमचिकित्सक आत्मनो भवेत्	—	६—"परमचिकित्सक आत्मनो भवति"।
७—इन्द्रियसंयम (युक्तो भवेत्)	—	७—"इन्द्रियसंयम (युक्तो भवति)"।

८—एकाग्रता (प्राप्नुयात्)	—	८—"एकाग्रता (प्राप्नोति)"।
९—प्रज्ञावृद्धि (कुर्य्यात्)	—	९—"प्रज्ञावृद्धि (र्भवति," ।
१०—यशो(ऽनुगतः स्यात्)	—	१०—"यशोऽ(नुगामी भवति)" ।
११—लोकपक्ति (रस्मिन्छेत्)	—	११—"लोकपक्ति (मुक्तो भवति)" ।

"ये ह वै केच श्रमा इमे द्यावापृथिवीऽअन्तरेण, स्वाध्यायो हैव तेषा परमता, काष्ठा- य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते । तस्मात्-स्वाध्यायोऽध्येतव्य "

(शत० ११। का ४ प्र० । १ ब्रा०)।

९—परिशिष्ट—अधिकारमर्य्यादा,—

(१) ब्रह्मविद्या का अधिकार किसे है ?, इस प्रश्न की मीमांसा मुण्डकोपनिषत् में भी हुई है। वहाँ वेदशास्त्रसम्मत कर्म्मानुगमन, ब्रह्मनिष्ठानुगमन, आत्मयज्ञानुगमन, श्रद्धानुगमन, शिरोव्रतोऽनुगमन, इन पाँच साधनों को अधिकारसमर्पक बतलाया गया है। जो शास्त्रसिद्ध कर्म्म के अनुगामी बने रहते हैं, जिनकी कुल-परम्परा में शास्त्रीय कर्म्मों का आचरणात्मक समादर है, जो स्वयं भी क्रियात्मक धर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त हैं, वे ही इस औपनिषद ज्ञानलक्षण ब्रह्मविद्योपदेश के अधिकारी हैं। जो सर्वत्र अभेददर्शन करते हुए 'एकर्षि' नाम से प्रसिद्ध आत्मा का यजन करते रहते हैं, आत्मधर्म्म के उपासक बने रहते हैं, वे ही इसके अधिकारी हैं। जो इस विद्या के प्रति श्रद्धा रखते हैं, वे ही इसके अधिकारी है। सर्वोपरि जिन्होंने शिरोव्रत का अनुगमन कर लिया है, वे ही इसके अधिकारी हैं।

ज्ञानाग्नि, प्राणाग्नि, भूताग्नि, भेद से आध्यात्मिक संस्था में तीन अग्निसंस्थान माने गए हैं। शिरोगुहा ज्ञानाग्निसंस्थान है उरोगुहा प्राणाग्निसंस्थान है, एवं उदरगुहा भूताग्निसंस्थान है। शिरोगुहा-स्थित प्रज्ञान-संयुक्त विज्ञान (बुद्धि) ही ज्ञानाग्नि है। जो अपने शुक्रात्मक सोम की इस ज्ञानाग्नि में आहुति देते रहते हैं, वे ऊर्ध्वरेता कहलाए हैं, जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। इस शिरोमार्गावच्छिन्न ज्ञानाग्नि में शुक्राहुति देने वालों का ही ज्ञानाग्नि प्रबुद्ध रहता है। ऐसे ज्ञाननिष्ठ ही 'शिरोव्रती' कहलाए हैं। इसप्रकार ज्ञानयज्ञानुगत शिरोव्रती ही प्रधानतः ज्ञानप्रधाना इस ब्रह्मविद्या के प्रधान अधिकारी माने जा सकते हैं। ज्ञान की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति ही इस अधिकारमर्य्यादा का प्रत्यक्ष निदर्शन है। जो आत्यन्तिकरूप से विषय-परायण हैं, उनका ज्ञानाग्नि मूर्च्छित रहता है। ऐसे ही लोकव्रती (लोकपरायण) 'अचीर्णव्रती' हैं। ऐसे व्यक्ति इस क्षेत्र में सर्वथा अनधिकृत हैं। निम्न लिखित मुण्डकश्रुति इसी अधिकार-मर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रही है—

"क्रियावन्त श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा, स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥
तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच–नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मुण्डकोप० ३।२।१०,११,) ।

(२)—सबसे प्रधान मर्य्यादा 'अनुसूया' भाव है। जो व्यक्ति शास्त्रीय वचनों पर श्रद्धा करता है, शास्त्रादेशों के प्रति अनुराग रखता है, जिसे यह विश्वास है कि, इसके अनुगमन से अवश्य ही मेरा

अभ्युदय-निःश्रेयस् है, ऐसा श्रद्धालु, विश्वासी व्यक्ति ही इस शास्त्र का अधिकारी बन सकता है। स्वयं वेद भगवान् का इस सम्बन्ध में यह आवेशपूर्ण आदेश है कि, तुम उसी के प्रति विद्योपदेश करो, जो शास्त्र के प्रति श्रद्धा रखता है, मृदुभाव से अनुकूल तर्क से अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है। ठीक इसके विपरीत यदि तुमनें अनधिकारी-अश्रद्धालु को उपदेश का क्षेत्र बना लिया, तो विश्वास करो-तुम्हारा अपना विद्यासंस्कार निर्बल हो जायगा। अनधिकारी का अश्रद्धा दोष तुम्हारे आत्मा पर भी आक्रमण कर बैठेगा। इसी अधिकारमर्य्यादा का समर्थन करते हुए ऋषि कहते हैं—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया, वीर्य्यवती तथा स्याम्" ॥

"(किसी समय) विद्या (विद्याभिमानिनी वाग्देवी) वेदवित् ब्राह्मण के समीप आई, और कहने लगी, हे ब्राह्मण! तुम मेरे स्वरूप की रक्षा करो। सुरक्षित होती हुई मैं तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध कर सकूँगी। परनिन्दक, कुटिल, असंयतेन्द्रिय, अश्रद्धालु, मायावी, लोकैषणासक्त, ऐसे अनधिकारियों के लिए मेरा कदापि प्रवचन न करो। इस नियम के परिपालन से मैं तुम्हारे लिए वीर्य्यवती बनी रहूँगी'।

अधिकारीवर्ग को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि, जिस गुरु से वे विद्योपदेशग्रहण करते हैं, उसके प्रति, उसके वचनों के प्रति पूर्ण श्रद्धा बनाए रक्खे। तभी इसमें विद्याविकास सम्भव होगा। जो गुरु अपने उपदेशामृत से शिष्य की अविद्या दूर करता हुआ इसे अमृतसम्पत्ति प्रदान करता है, इसें 'द्विज' सम्पत् प्रदान करने वाला ऐसा गुरु मातृ-पितृ-स्थानीय है। उस से द्रोह करना अपने आप से द्रोह करना है। गुरु के प्रति अनन्यश्रद्धा ही अधिकार-मर्य्यादा का मूलाधार है। उपदेश्य गुरु के प्रति जो भूल से भी द्रोह करने लगते हैं, न उन पर गुरुकृपा रहती, एवं न गुरूपदेश ही उनके लिए सफल बनता। उनका सम्पूर्ण श्रुत उपदेश सर्वथा व्यर्थ चला जाता है। इसलिए—

"य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ॥
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह ॥१॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्म्मणा वा ॥
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥"

साथ ही उपदेशक गुरु को भी विद्योपदेश से पहिले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि, अमुक व्यक्ति इस योग्य है, अथवा नहीं?। धर्म्मशास्त्रोक्त यम-नियमानुगमन के द्वारा जिसका अन्तःकरण निर्म्मल है, आशु ग्रहणलक्षण मेधागुण से जो युक्त है, जो जिज्ञासाभाव से यथाविधि शिष्य बन रहा है, साथ ही जिसके प्रति यह विश्वास है कि, यह कभी द्रोह नहीं करेगा, उसी के प्रति विद्योपदेश करना चाहिए—

८—एकात्मता (प्राप्नुयात्)	—	८—"एकात्मता (प्राप्नोति)"।
९—प्रज्ञावृद्धिः (कार्य्या)	—	९—"प्रज्ञावृद्धि (र्भवति)"।
१०—यशो(ऽनुगतः स्यात्)	—	१०—"यशोऽ(नुगामी भवति)"।
११—लोकपक्ति (रभिच्छेत्)	—	११—"लोकपक्ति (मुक्तो भवति)"।

"ये ह वै केच श्रमा इमे द्यावापृथिवीऽअन्तरेण, स्वाध्यायो हैव तेषा परमता, काष्ठा– य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते। तस्मात्–स्वाध्यायोऽध्येतव्य"

(शत० ११। का० ४ प्र०। १ ब्रा०)।

९–परिशिष्ट–अधिकारमर्य्यादा,–

(१) ब्रह्मविद्या का अधिकार किसे है?, इस प्रश्न की मीमांसा मुण्डकोपनिषत् में भी हुई है। यहाँ वेदशास्त्रसम्मत कर्म्मानुगमन, ब्रह्मनिष्ठानुगमन, आत्मयज्ञानुगमन, श्रद्धानुगमन, शिरोव्रतोऽनुगमन, इन पाँच साधनों को अधिकारसमर्पक बतलाया गया है। जो शास्त्रसिद्ध कर्म्म के अनुगामी बने रहते हैं, जिनकी कुल-परम्परा में शास्त्रीय कर्म्मों का आचरणात्मक समादर है, जो स्वयं भी क्रियात्मक धर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त हैं, वे ही इस औपनिषद ज्ञानलक्षण ब्रह्मविद्योपदेश के अधिकारी हैं। जो सर्वत्र अभेददर्शन करते हुए 'एकर्षि' नाम से प्रसिद्ध आत्मा का यजन करते रहते हैं, आत्मधर्म्म के उपासक बने रहते हैं, वे ही इसके अधिकारी हैं। जो इस विद्या के प्रति श्रद्धा रखते हैं, वे ही इसके अधिकारी हैं। सर्वोपरि जिन्होंने शिरोव्रत का अनुगमन कर लिया है, वे ही इसके अधिकारी हैं।

ज्ञानाग्नि, प्राणाग्नि, भूताग्नि, भेद से आध्यात्मिक संस्था में तीन अग्निसंस्थान माने गए हैं। शिरोगुहा ज्ञानाग्निसंस्थान है उरोगुहा प्राणाग्निसंस्थान है, एवं उदरगुहा भूताग्निसंस्थान है। शिरोगुहा-स्थित प्रज्ञान-संयुक्त विज्ञान (बुद्धि) ही ज्ञानाग्नि है। जो अपने शुक्रात्मक सोम की इस ज्ञानाग्नि में आहुति देते रहते हैं, वे ऊर्ध्वरेता कहलाए हैं जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। इस शिरोभागस्थित ज्ञानाग्नि में शुक्राहुति देने वालों का ही ज्ञानाग्नि प्रबुद्ध रहता है। ऐसे ज्ञाननिष्ठ ही 'शिरोव्रती' कहलाए हैं। इसप्रकार ज्ञानयज्ञानुगत शिरोव्रती ही प्रधानतः ज्ञानप्रधाना इस ब्रह्मविद्या के प्रधान अधिकारी माने जा सकते हैं। ज्ञान की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति ही इस अधिकारमर्य्यादा का प्रत्यक्ष निदर्शन है। जो आत्यन्तिकरूप से विषय-परायण हैं, उनका ज्ञानाग्नि मूर्च्छित रहता है। ऐसे ही लोकव्रती (लोकपरायण) 'अवकीर्णव्रती' हैं। ऐसे व्यक्ति इस क्षेत्र में सर्वथा अनधिकृत हैं। निम्न लिखित मुण्डकश्रुति इसी अधिकार-मर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रही है—

"क्रियावन्त श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा, स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्त ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रत विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥
तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच–नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मुण्डकोप० ३।२।१०,११,)।

(२)–सबसे प्रधान मर्य्यादा 'अनुसूया भाव है। जो व्यक्ति शास्त्रीय वचनों पर श्रद्धा करता है, शास्त्रादेशों के प्रति अनुराग रखता है, जिसे यह विश्वास है कि, इसके अनुगमन से अवश्य ही मेरा

"उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्—यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्,
मेधाविने-तपस्विने वा" (या०नि०२।३।६)।

अधिकारप्रश्न को लेकर आज अनेक प्रकार के ऊहापोह उपस्थित किए जारहे हैं। परिस्थिति वस्तुतः यह है कि, किसी को तत्त्वपरिज्ञान की जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासा के अतिरिक्त आज कई एक आगन्तुक दोषों से हमारा सत्त्वभाग सर्वथा मलिन हो चुका है। फलतः स्वाभाविक अधिकारमर्य्यादा एकान्ततः अभिभूत है। अधिकार माँगने से नहीं मिलता, अपितु वह अपनी योग्यता पर अवलम्बित है। जबतक विद्याग्रहणयोग्यतानुरूपा अधिकार-मर्य्यादा उद्बुद्ध नहीं हो जाती, तब तक 'हम अधिकारी हैं, हम अधिकारी हैं' इस निरर्थक उद्घोष से कोई लाभ नहीं हो सकता। ज्ञानलवदुर्विदग्ध वर्त्तमानयुग के मादृश अधिकारी कभी सफल नहीं हो सकते। हम स्वयं विद्वान् बन कर, पहिले से अपना मन्तव्य स्थिर बना कर आगे बढ़ते हैं। ऐसी दशा में तत्त्वज्ञान न हो तो, कोई आश्चर्य्य नहीं है। 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इस औपनिषद आदेश के अनुसार हमें बच्चे बन कर ज्ञानक्षेत्र में प्रवृत्त होना चाहिए। शास्त्रप्रदिष्ट उन उपायों का अनुगमन करना चाहिए, जो आत्मगत दोषों को हटा कर उसे विद्यासंस्कारग्रहण के योग्य बनाते हैं। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' को लक्ष्य बनाकर तत्त्वदर्शी गुरु के प्रति आत्मसमर्पण किए बिना केवल अनुवाद-भाष्यादि के बल पर, किंवा धर्म्म, तन्मूला आस्था श्रद्धा, तद्युक्त शास्त्रीय विधि–विधान से सर्वथा असंस्पृष्ट रूक्ष विशुद्ध बुद्धिवाद के बल पर तत्त्वज्ञानप्राप्ति नितान्त असम्भव है, जैसाकि-निम्नलिखित छान्दोग्यवचन से प्रमाणित है–

"तमाचार्य्योऽभ्युवाद–सत्यकाम! इति, भगव! इति प्रतिशुश्राव।
ब्रह्मविदेव वै सोम्य! भासि, को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्ये-
भ्य इति प्रतिजज्ञे। भगवाँस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्। श्रुतं ह्येव
मगवद्दृशेभ्य –'आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति,
इति तस्मै हैतदेवोवाच। अत्र ह न किञ्चन वीयाय–इति"
(छा० ४।९।१,२,३,)।

हमारी अधिकारमर्य्यादा, तथा शास्त्रीय अधिकारमर्य्यादा, दोनों के समतुलन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, हम वेदशास्त्र के लिए सर्वथा अनधिकारी हैं। विद्याविकास के लिए जो चिरकालिक धैर्य्य अपेक्षित है वह सर्वथा विलीन है। आज हम चाहते यह हैं कि, अहोरात्र अन्यान्य सांसारिक-अर्थ-प्रधानक्षेत्रों की उपासना करते रहें अपनी काल्पनिक लोकैषणाओं के द्वारा कल्पित व्यक्तित्व के विमोहन में व्यासक्त होकर आत्म–ब्रह्म–विद्या–वेद–धर्म्म –विरोधी भी लोकमानसों का समालिङ्गन करते हुए कल्पित मानवता का अभिनय करते रहें, और साथ ही हमारी विद्याक्षेत्र में भी पूर्ण प्रगति होती रहे। सर्वथा असम्भव। ऐसे अनधिकारियों के अनुग्रह से ही तो वेदशास्त्र आज अन्धमूल बने हुए हैं। प्रश्न के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही इच्छा यह प्रकट की जाती है कि, अभी इसका तत्त्वज्ञान करा दिया जाय। यदि प्रश्नकर्त्ता से यह कह दिया जाता है कि, अभी आप इसका उत्तर हृदयङ्गम नहीं कर सकेंगे, तो प्रश्नकर्त्ता तत्काल यह निर्णय कर डालता है

"यमेव विद्या शुचिमप्रमत्त मेधाविनं ब्रह्मचर्य्योपपन्नम् ।
यस्तेन द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूयानिधिपाय ब्रह्मन्" ॥*॥

(२)—वेदव्याख्याता यास्काचार्य्य ने भी इस अधिकारमर्य्यादा का संक्षेप से स्पष्टीकरण किया है। निरुक्त का प्रधान लक्ष्य निर्वचन है, निर्वचन ही शब्दों के तत्त्वार्थ का बोधक माना गया है। अतएव निरुक्ति से पहिले शब्द-ज्ञान आवश्यक है। उपदेश का आधार शब्दशास्त्र है। अतएव शब्दज्ञानसाधक व्याकरण का विशेष बोध नहीं, तो सामान्यबोध अवश्यमेव अपेक्षित है। वेदशास्त्राधिकार-प्राप्ति के लिए व्याकरणज्ञान नितान्त अपेक्षित है। व्याकरणशून्य के लिए वेदशास्त्र एक असमाधेय प्रश्न है। चाहे व्याकरणशास्त्र का पारगामी विद्वान् ही क्यों न हो, यदि उसमें प्रपन्नता नहीं है, शिष्यानुगता जिज्ञासा नहीं है, तो ऐसे अनुपसन्न वैय्याकरण को भी वेदशास्त्र का अनधिकारी ही माना जायगा। प्रत्येक दशा में शिष्य बनना अनिवार्य्य है। यदि कोई शुष्कवैय्याकरण है, जिसे कि, 'वैय्याकरणखसूचि' कहा गया है, तो वह भी 'अनिदंवित्' बनता हुआ अनधिकारी ही माना जायगा। वेदशास्त्र सर्वज्ञाननिधि है। इसमें प्रवेशाधिकार पाने के लिए केवल व्याकरणज्ञान ही पर्य्याप्त नहीं है। दर्शनादि अन्य शास्त्रज्ञान के बिना विशुद्ध वैय्याकरण अनिदंवित् बनता हुआ अनधिकारी है। अवश्य ही इस अधिकारप्राप्ति के लिए अन्य शास्त्रों का सामान्य बोध भी परम आवश्यक है। इसके अतिरिक्त स्वाभाविक प्रतिभा भी अपेक्षित है। प्रज्ञानुगामिनी प्रतिभा ही वेदशास्त्र के तात्त्विक बोध में समर्थ है। बिना प्रतिभा के वेद के निगूढ विषय समझ में नहीं आते। और उस दशा में प्रतिभाशून्य अधिकारी अपने अज्ञान का दोष उपदेष्टा के प्रति समर्पित करने लगता है। परिणाम में विद्याप्रतिबन्धक असूया-दोष उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार निरुक्तमतानुसार व्याकरणज्ञानयुक्त, अन्यशास्त्रबोधयुक्त प्रतिभा-सम्पन्न, शिष्यबुद्धियुक्त व्यक्ति ही वेदशास्त्राध्ययन का अधिकार प्राप्त कर सकता है। निम्न लिखित सूत्र-चतुष्टयी इसी अधिकारमर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रही है—

"१—नावैय्याकरणाय, २—नानुपसन्नाय, ३—अनिदंविदे वा,
४—नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया" (या० नि० २।३।५,६,७,८,)।

---

* विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ॥
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्य्यवत्तमा ॥१॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ॥
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥२॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ॥
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥३॥
—मनु २।११४,१५,१६,।

"उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्–यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्,
मेधाविने–तपस्विने वा" (या०नि०२।३।६)।

अधिकारप्रश्न को लेकर आज अनेक प्रकार के ऊहापोह उपस्थित किए जारहे हैं। परिस्थिति वस्तुतः यह है कि, किसी को तत्त्वपरिज्ञान की जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासा के अतिरिक्त आज कई एक आगन्तुक दोषों ने हमारा सत्त्वभाग सर्वथा मलिन हो चुका है। फलतः स्वाभाविक अधिकारमर्य्यादा एकान्ततः अभिभूत है। अधिकार माँगने से नहीं मिलता, अपितु वह अपनी योग्यता पर अवलम्बित है। जबतक विद्यामहत्त्वयोग्यतानुरूपा अधिकार-मर्य्यादा उद्बुद्ध नहीं हो जाती, तब तक 'हम अधिकारी हैं, हम अधिकारी हैं' इस निरर्थक उद्घोष से कोई लाभ नहीं हो सकता। ज्ञानलवदुर्विदग्ध वर्त्तमानयुग के मादृश अधिकारी कभी सफल नहीं हो सकते। हम स्वयं विद्वान् बन कर, पहिले से अपना मन्तव्य स्थिर बना कर आगे बढ़ते हैं। ऐसी दशा में तत्त्वज्ञान न हो तो, कोई आश्चर्य्य नहीं है। 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इस औपनिषद आदेश के अनुसार हमें बच्चे बन कर ज्ञानक्षेत्र में प्रवृत्त होना चाहिए। शास्त्रप्रदिष्ट उन उपायों का अनुगमन करना चाहिए, जो आत्मगत दोषों को हटा कर उसे विद्यासंस्कारग्रहण के योग्य बनाते हैं। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' को लक्ष्य बनाकर तत्त्वदर्शी गुरु के प्रति आत्मसमर्पण किए बिना केवल अनुवाद-भाष्यादि के बल पर, किंवा धर्म्म, तन्मूला आस्था श्रद्धा, तद्युक्त शास्त्रीय विधि–विधान से सर्वथा असंस्पृष्ट रूक्ष विशुद्ध बुद्धिवाद के बल पर तत्त्वज्ञानप्राप्ति नितान्त असम्भव है, जैसाकि–निम्नलिखित छान्दोग्यवचन से प्रमाणित है–

"तमाचार्य्योऽभ्युवाद–सत्यकाम! इति, भगव! इति प्रतिशुश्राव।
ब्रह्मविदेव वै सोम्य! भासि, को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्ये-
भ्य इति प्रतिजज्ञे। भगवाँस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्। श्रुत ह्येव
भगवद्दृशेभ्यः–'आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति,
इति तस्मै हैतदेवोवाच। अत्र ह न किञ्चन वीयाय–इति"

(छा०उ ४।६।', २ ३,)।

हमारी अधिकारमर्य्यादा, तथा शास्त्रीय अधिकारमर्य्यादा, दोनों के समतुलन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, हम वेदशास्त्र के लिए सर्वथा अनधिकारी हैं। विद्याविकास के लिए जो चिरकालिक धैर्य्य अपेक्षित है वह सर्वथा विलीन है। आज हम चाहते यह हैं कि, अहोरात्र अन्यान्य सांसारिक–अर्थ-प्रधानक्षेत्रों की उपासना करते रहें अपनी काल्पनिक लोकैषणाओं के द्वारा कल्पित व्यक्तित्व के विमोहन में आसक्त होकर ग्राम–मठ–विद्या–वेद्–धर्म्म–विरोधी भी लोकमानवों का समालिङ्गन करते हुए कल्पित मानवता का अभिनय करते रहें, और साथ ही हमारी विद्याक्षेत्र में भी पूर्ण प्रगति होती रहे। सर्वथा असम्भव। ऐसे अनधिकारियों के अनुग्रह से ही तो सच्छास्त्र आज अन्तर्मुख बने हुए हैं। प्रश्न के अव्यवहितोत्तरकाल में ही इच्छा यह प्रकट की जाती है कि, अभी इसका तत्त्वज्ञान करा दिया जाय। यदि प्रश्नकर्त्ता से यह कह दिया जाता है कि, अभी आप इसका उत्तर हृदयङ्गम नहीं कर सकेंगे, तो प्रश्नकर्त्ता तत्काल यह निर्णय कर डालता है

कि, इन्हें कुछ नहीं आता । उधर औपनिषद ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली अधिकारमर्य्यादाओं के इतिवृत्त की ओर जब हमारा ध्यान जाता है, तो वर्त्तमानयुग की प्रवृत्ति पर स्तब्ध हो जाना पड़ता है ।

सुकेशा भारद्वाजादि विद्वान् पिप्पलाद के सम्मुख जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं, उत्तर मिलता है- एकवर्ष पर्य्यन्त योग्यता सम्पादक नियमों का अनुगमन कीजिए । अनन्तर प्रश्न का समाधान किया जायगा । सत्यकाम को आदेश मिलता है ४०० गाएँ ले जाओ, जब ये १ ० बन जायँ, तब वापस लौटना, अनन्तर उपदेश के अधिकारी बनोगे । इन्द्र–विरोचन प्रजापति की सेवामें आत्मस्वरूप की जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं । उत्तर मिलता है–"एवमेवैष मघवन्निति होवाच । एत त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि । स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास । तस्मै होवाच"(छां उ ८।९।३।) । ये ही कुछ एक एसी जटिल समस्याएँ हैं, जिन्हें लक्ष्य में रखते हुए वर्त्तमान युग के ज्येष्ठ–श्रेष्ठ–सर्वज्ञ–बुद्धिवादी अधिकारियों के सम्मुख अधिकारमर्य्यादा का स्वरूप रखते हुए हम हृत्कम्प का अनुभव कर रहे हैं ।

९–स्वाध्यायव्रतमीमांसा—

"आदर्शवाद जिस युग में यथार्थवाद था, उस युग के लिए प्रतिपादित उक्त अधिकारमर्य्यादाओं के अनुगमन के बिना किसी भी युग में वेदशास्त्र का पूर्णरूप से तत्त्वबोध सम्भव नहीं है" इस सिद्धान्त को सुरक्षित रखते हुए भी हम उस युग से सम्बन्ध रखने वाले यथार्थवाद, किंवा परिस्थितिवाद की ओर से भी सर्वथा आँखमिचौनी नहीं खेल सकते, जिस युग में कई एक कारणविशेषों से यथार्थवाद का आदर्शवाद से अनेक अंशों में पार्थक्य हो गया है । वर्त्तमान युग की विषम परिस्थितियों में प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादा प्राप्त कर ली जाय, फलस्वरूप वेदशास्त्र का तत्त्वज्ञान उपलब्ध हो जाय, यह केवल काल्पनिक जगत् के काल्पनिक विचार हैं । *यत्र कुत्रचित् परिगणित अपवाद स्थलों को छोड़ कर आज परिस्थितियों के आक्रमण से यह* अधिकारमर्य्यादा हमारे लिए प्रणम्य बन रही है । ऐसी दशा में क्या यह किया जाय कि, वेदशास्त्र को वस्त्र में बन्द कर पूजागृह में प्रतिष्ठित कर दिया जाय ?, नेति होवाच !

> न हि कल्याणकृत् कश्चिद् गतिं तात ! गच्छति ।
> स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

सिद्धान्त के आधार पर हम प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादाओं में से वर्त्तमान की कुछ एक मर्य्यादाओं का वर्त्तमान परिस्थिति में भी अनुगमन कर सकते हैं, एवं इन्हीं अंशात्मिका अधिकारमर्य्यादाओं के आधार पर हम अंशतः अपने स्वाध्यायकर्म्म में सफलता भी प्राप्त कर सकते हैं । अधिकारमर्य्यादा के सम्बन्ध में जो नियमोपनियम बतलाए गए हैं, उन सबका एकमात्र लक्ष्य यही है कि हमारा मन दोषों से विमुक्त होता हुआ विद्यासंस्कार–ग्रहण–योग्य बन जाय, हमारा ज्ञानाग्नि सिकसेत हो जाय । परमकारुणिक महर्षियों ने कुछ एक ऐसे उपाय भी बतला दिए हैं, जिनके अनुगमन से कालान्तर में लक्ष्यसिद्धि हो जाती है एवं हम अधिकारी की कोटि में आ जाते हैं । हमें हमारी चर्य्याओं में कुछ एक ऐसे अतिशयों का समावेश कर डालना चाहिए, जिनसे अध्यात्मसंस्था का उत्तरोत्तर विकास निश्चित है । उन अतिशयाधायक नियम विशेषों को ही 'स्वाध्यायव्रत' कहा गया है ।

यद्यपि निर्दिष्ट *स्वाध्यायव्रत स्वाध्याय–कर्म्म में प्रवृत्त होने के अनन्तर स्वाध्यायकर्म्म की रक्षा के* लिए उपयुक्त माने गए हैं । तथापि इन्हें अधिकारसमर्पक भी माना जा सकता है । अवश्य ही इनके

पूर्णानुगमन से, एवं स्वरूपानुगमन से स्वाध्याय की ओर हमारी प्रवृत्ति भी होने लगती है, एवं यह प्रवृत्ति सुरक्षित भी रह सकती है। जो इस अनन्त तपःकर्म्मलक्षण स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहते हैं, जिन्हें ब्रह्मविद्या-सेतु पर पहुँचने की आकांक्षा है, उन्हें निम्न लिखित (कतिपय) स्वाध्यायव्रतों का अनुगमन करना चाहिए—

स्वाध्यायव्रतनिदर्शनानि—

१—सूर्योदय से पहिले उत्थापन
२—ईशसंस्मरणपूर्वक नित्यकर्म्मानुगमन
३—देव-द्विज-गुरु-ज्येष्ठ-वृद्धों का उपसेवन
४—अहरहः स्वाध्यायकर्म्मानुगमन
५—यथाशक्य सत्यभाषणानुगमन
६—सत्त्वगुणोपेतआहारविहारोपसेवन
७—कुसङ्ग का एकान्ततः विसर्जन
८—जनकलकलसंसर्ग का विसर्जन
९—गोवंशपूजन
१०—उद्दण्डतापरिवर्ज्जन
११—हित-मित-प्रियभाषणानुगमन
१२—असत्प्रियाख्यानवर्जन
१३—वृथाचेष्टाविसर्जन
१४—कुतूहलप्रवृत्तिवर्जन
१५—स्वस्त्ययनकर्म्मानुगमन *

"वर्द्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्" (मनु ४।१४।)

एक अनुभूत प्रयोग है—'स्वाध्यायकर्म्म का नैरन्तर्य्य'। हमें यह नियम बना लेना चाहिए कि, हम प्रतिदिन कुछ न कुछ अवश्य पढ़ेंगे। भोजनकर्म्मवत् इस कर्म्म को अनिवार्य्य बना लेना चाहिए। अवश्य ही थोड़े दिनों मानसजगत् अपने ऊपर अनुचित भार का अनुभव करेगा। परन्तु थोड़ी सावधानी से, बुद्धिपूर्वक बलप्रयोग से यदि हमनें इस अभ्यास को सुरक्षित रक्खा, तो अवश्यमेव स्वाध्यायानुष्ठान में सफलता मिलेगी। शास्त्राभ्यास ज्यों ज्यों वृद्धिगत होगा, त्यों त्यों बुद्धिगत विज्ञान विकसित होगा। स्वयं भगवान् मनु ने इस शास्त्राभ्यासनैरन्तर्य्य को सफलता का मूलसूत्र माना है—

१—बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥

२—यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ (मनु ४।१९,२)।

इसी सम्बन्ध मे एक बात और। स्वाध्यायकर्म्म के सम्बन्ध में कल्पसूत्र, स्मृत्यादि में अष्टमी, प्रतिपत् आदि जो अनध्यायकाल बतलाए गए हैं, उनके प्रति अपनी श्रद्धा को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण करने का साहस किया जायगा कि, जिस युग में वेदस्वाध्याय एकान्ततः विलुप्त हो चुका हो, वैदिक साहित्य स्मृतिगर्भ में विलीन हो रहा हो, आज के उस आपद्युग में हमें—'अनध्याय-

* जिन कर्म्मों के अनुगमन से आत्मा के अस्वस्तिभाव की निवृत्ति, तथा स्वस्तिभाव की प्रवृत्ति होती है, उन शान्ति-समृद्धि-तुष्टि-पुष्टि-प्रवर्त्तक कर्म्मों को ही 'स्वस्त्ययनकर्म्म' कहा गया है। इनका वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत कर्म्मयोगपरीक्षा-द्वितीयखण्डात्मक 'ग' विभाग के 'हमारे स्वस्त्ययनकर्म्म' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

कि, इन्हें कुछ नहीं भाता । उधर औपनिषद ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली अधिकारमर्य्यादाओं के इतिवृत्त की ओर जब हमारा ध्यान जाता है, तो वर्त्तमानयुग की प्रवृत्ति पर स्तब्ध हो जाना पड़ता है ।

सुकेशा भारद्वाजादि विद्वान् पिप्पलाद के सम्मुख जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं, उत्तर मिलता है–एकवर्ष पर्य्यन्त योग्यता सम्पादक नियमों का अनुगमन कीजिए । अनन्तर प्रश्न का समाधान किया जायगा । सत्यकाम को आदेश मिलता है ४०० गाएँ ले जाओ, जब ये १ ०० बन जायँ, तब वापस लौटना, अनन्तर उपदेश के अधिकारी बनोगे । इन्द्र–विरोचन प्रजापति की सेवामें आत्मस्वरूप की जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं । उत्तर मिलता है–"एवमेवैष मघवन्निति होवाच । एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि । स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास । तस्मै होवाच"(छां उ ८।६।३।)। ये ही कुछ एक ऐसी जटिल समस्याएँ हैं, जिन्हें लक्ष्य में रखते हुए वर्त्तमान युग के ज्येष्ठ–श्रेष्ठ–सर्वज्ञ–बुद्धि-वादी अधिकारियों के सम्मुख अधिकारमर्य्यादा का स्वरूप रखते हुए हम हृत्कम्प का अनुभव कर रहे हैं ।

६–स्वाध्यायव्रतमीमांसा—

"आदर्शवाद जिस युग में यथार्थवाद था, उस युग के लिए प्रतिपादित उक्त अधिकारमर्य्यादाओं के अनुगमन के बिना किसी भी युग में वेदशास्त्र का पूर्णरूप से तत्त्वबोध सम्भव नहीं है " इस सिद्धान्त को सुरक्षित रखते हुए भी हम उस युग से सम्बन्ध रखने वाले यथार्थवाद, किंवा परिस्थितिवाद की ओर से भी सर्वथा आँखमिचौनी नहीं खेल सकते, जिस युग में कई एक कारणविशेषों से यथार्थवाद का आदर्शवाद से अनेक अंशों में पार्थक्य हो गया है । वर्त्तमान युग की विषम परिस्थितियों में प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादा प्राप्त कर ली जाय, फलस्वरूप वेदशास्त्र का तत्त्वज्ञान उपलब्ध हो जाय, यह केवल काल्पनिक जगत् के काल्पनिक विचार हैं । यत्र कुत्रचित् परिगणित अपवाद स्थलों को छोड़ कर आज परिस्थितियों के आक्रमण से यह अधिकारमर्य्यादा हमारे लिए प्रणम्य बन रही है । ऐसी दशा में क्या यह किया जाय कि, वेदशास्त्र को बस्ते में बन्द कर पूजाघर में प्रतिष्ठित कर दिया जाय ?, नेति होवाच !

> न हि कल्याणकृत् कश्चिद् गतिं तात ! गच्छति ।
> स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

सिद्धान्त के आधार पर हम प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादाओं में से वर्त्तमान की कुछ एक मर्य्यादाओं का वर्त्तमान परिस्थिति में भी अनुगमन कर सकते हैं, एवं इन्हीं अंशात्मिका अधिकारमर्य्यादाओं के आधार पर हम अंशतः अपने स्वाध्यायकर्म्म में सफलता भी प्राप्त कर सकते हैं । अधिकारमर्य्यादा के सम्बन्ध में जो नियमोपनियम बतलाए गए हैं, उन सबका एकमात्र लक्ष्य यही है कि हमारा मन दोषों से विमुक्त होता हुआ विचारसंस्कार–ग्रहण–योग्य बन जाय, हमारा ज्ञानाग्नि विकसित हो जाय । परमकारुणिक महर्षियों ने कुछ एक ऐसे उपाय भी बतला दिए हैं, जिनके अनुगमन से कालान्तर में लक्ष्यसिद्धि हो जाती है एवं हम अधिकारी की कोटि में आ जाते हैं । हमें हमारी चर्य्याओं में कुछ एक ऐसे अतिशयों का समावेश कर डालना चाहिए, जिनसे अध्यात्मसंस्था का उत्तरोत्तर विकास निश्चित है । उन अतिशयाधायक नियम विशेषों को ही 'स्वाध्यायव्रत' कहा गया है ।

यद्यपि निर्दिष्ट स्वाध्यायव्रत स्वाध्याय–कर्म्म में प्रवृत्त होने के अनन्तर स्वाध्यायकर्म्म की रक्षा के लिए उपयुक्त माने गए हैं । तथापि इन्हें अधिकारसमर्पक भी माना जा सकता है । अवश्य ही इनके

४—"यन्ति वाऽआप, एति आदित्य, एति चन्द्रमा, यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा ऽएता देवता नेयुः, न कुर्युः, एवं हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति, यदह स्वाध्याय नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य"। (शत० ११।५।७।१०।)।

———❀———
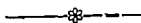
\# प्रकरणोपसंहार—

'औपनिषद ज्ञान का अधिकारी कौन है'? इस प्रश्न के सम्बन्ध में अब तक जिन अलौकिक, लौकिक अधिकारों का दिग्दर्शन कराया गया है, उन सबका वस्तुतः आत्मनिष्ठा से ही सम्बन्ध माना जायगा। जैसाकि कहा जा चुका है, अधिकार न तो प्राप्त करने की ही वस्तु है, न माँगने से ही अधिकार मिलता है। हृदयाकाशस्थ दभ्राकाश (दहराकाश) में उक्थरूप से प्रतिष्ठित चिज्ज्योतिर्घन ब्रह्म ही औपनिषद पुरुष है। यही वस्तुतः औपनिषद ज्ञान है, जिसके सम्पर्कमात्र से अशेष भेद प्रत्यस्त हैं, जो विशुद्ध सत्ताघन है, अतएव वाङ्मनस पथातीत बनता हुआ अगोचर है —। औपाधिक भेदनिवृत्ति हो जाने पर यह स्वतः प्रकट है। 'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' के अनुसार शास्त्रसिद्ध सोपाधिक कर्म्मानुगमन से जब बुद्धियोगसम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, तो बिना किसी प्रयास के नाप्राप्त (नित्यप्राप्त) इस औपनिषद ज्ञान का अधिकार प्रकट हो जाता है। प्रतिपादित तप, मेधा, प्रवचन, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य्य, श्रवण, मनन, आदि अधिकार बुद्धियोग से सम्बन्ध रखते हैं, न कि औपनिषदज्ञान से। निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति को सम्मुख रखते हुए प्रकरण विश्राम ग्रहण कर रहा है—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः, न मेधया, न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥"
(कठोपनिषत् १।२।२२)।

'औपनिषद–ज्ञानाधिकारिस्वरूपदिग्दर्शन' नामक
चतुर्थ स्तम्भ उपरत
४

———❀———

[पृष्ठ ३६२ की टिप्पणी का शेषांश]

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः॥
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥२॥
—(मनु २ अ०।१६६–६७ श्लो०)।

—प्रत्यस्ताशेषभेदं यत्, सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

प्रिया हि छात्रा, विशेषतो गुरव'' इस सुन्दर सूक्ति की एकान्तत उपेक्षा कर देनी चाहिए। यह हमारा सौभाग्य है कि, स्वयं श्रुति ने अनध्यायमर्य्यादा को दत्तकपुत्र-मर्य्यादावत् अपवादकोटि में ही सुरक्षित रक्खा है। सृष्टिकालोपलक्षित वेदस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा के पुण्याह में कोई तिथि, कोई समय वर्ज्य नहीं है। सोते, खाते, पीते, उठते, बैठते, सब अवस्थाओं में सर्वत्र सदा हमारे आध्यात्मिक जगत् में स्वाध्यायकर्म्म का धारावाहिक स्रोत प्रवाहित रहना ही चाहिए। शाश्वतब्रह्म के शाश्वतयश (ब्रह्मयज्ञ) लक्षण स्वाध्यायकर्म्म का कभी अनध्याय नहीं है।

क्या कभी पानी अपना बहाव बंद करते हैं ?, क्या आदित्य अपनी दैनंदिनगति से कभी विश्राम लेते हैं ?, क्या चन्द्रमा को कभी किसी ने अनध्याय करते देखा है ?, क्या नक्षत्र कभी छुट्टी लेकर स्वक्षेत्र से पलायित होते हैं ?। यदि दुर्भाग्य से ये प्राकृतिक देवता अनध्याय करने लगें, तो सृष्टिमर्य्यादा की कैसी दुर्दशा हो, कल्पना कीजिए। ब्राह्मण भी भूदेव हैं, प्राकृतिक देवताओं के अनुसार इन्हें भी सदा स्वाध्याय-यज्ञलक्षण सत्र में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। मृत्यु, जरा, रोग, ये तीन प्रतिबन्धक ही इन्हें इस सत्र से विमुख बना सकते हैं। आत्मा 'स्व' लक्षण है। तदनुगत अध्ययन ही 'स्वाध्याय' है। शाश्वतधर्म्म स्व (आत्मा) का अध्ययनलक्षण स्वाध्यायकर्म्म भी इसी शाश्वतधर्म्म से युक्त है। यही स्वाध्यायकर्म्म की अनवच्छिन्नता का मूलरहस्य है, जिसका—''अभिव्याहरेत्-ब्रह्मस्याव्यवच्छेदाय'' (शत० ११।४।१।१) से समर्थन हो रहा है। देखिए—स्वयं वेदभगवान् अपनी ओर से क्या आदेश दे रहे हैं—

१—''अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूः, मन उपभृत्, चक्षुर्ध्रुवा, मेधा स्रुवः, सत्यमवभृथः, स्वर्गो लोक उदयनम्। यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददँल्लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति, भूयांसं चाक्षय्यं, य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः'' (शत० ११।५।६।३)।

२—''तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य चत्वारो वषट्कारा—यद्वातो वाति, यद्विद्योतते विद्युत्, यत्स्तनयति, यदवस्फूर्जति। तस्मादेवंवित् वाते वाति, विद्योतमाने स्तनयति, अवस्फूर्जति—'अधीयीतैव' ×××। स चेदपि प्रबलमिव न शक्नुयात्, अप्येकं देवपदं—अधीयीतैव। तथा भूतेभ्यो न हीयते''
(शत० ११।५।६।८।)।

३—''यदि ह वा अप्यभ्यक्तः, अलङ्कृतः, सुहितः, सुखे शयने शयानः, स्वाध्यायमधीते—आ हैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते, य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।'' (शत० ११।५।७।४।) *।

---

*—वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः॥
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१॥

[शेष पृष्ठ २६३ पर]

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-

'ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

पञ्चम-स्तम्भ

५

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'औपनिषद्-ज्ञानाधिकारिस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

चतुर्थ-स्तम्भ-उपरत

४

—×—

श्रीः

ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन

पञ्चम स्तम्भ

——❀——

१–उपनिषत्, और उपनिषच्छास्त्र—

प्रकृत प्रकरण के यथावत् समन्वय के लिए हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि इस प्रकरण के अवलोकन से पहिले वे एकवार भूमिका-प्रथमखण्डान्तर्गत–'उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है ?' नामक प्रकरण पर एक दृष्टि डाल लें। प्रकृत प्रकरण में जो कुछ वक्तव्य है, उसका रूपान्तर से वहीं दिग्दर्शन कराया जा चुका है। प्रकरणसङ्गति के लिए सिंहावलोकनन्याय से दो शब्दों में उस मन्तव्य की पुनरावृत्ति कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। विधि, आरण्यक उपनिषत्, वेद के ब्राह्मणभाग के इन तीन शास्त्रखण्डों से सर्वसाधारण भलीभाँति परिचित हैं। प्राचीन व्याख्याताओं की दृष्टि से 'स्वर्गादिफलावाप्तिसाधक–काम्य–कर्म्मयोगत्व' 'विधि' शब्द का अवच्छेदक है। 'ईश्वरानुग्रहप्राप्तिकामलक्षण–भक्तियोगत्व' 'आरण्यक' शब्द का अवच्छेदक है, एवं 'सर्वकर्म्मविमोक्षलक्षण विशुद्ध ज्ञानयोगत्व' 'उपनिषत्'–शब्दका अवच्छेदक है। विधिभाग विशुद्ध कर्म्मयोग का, आरण्यकभाग विशुद्ध भक्तियोग का, तथा उपनिषत्-भाग विशुद्ध ज्ञानयोग का प्रतिपादन कर रहा है। व्याख्याताओं की इस विभक्त-दृष्टि से निष्कर्ष यह निकलता है कि, 'उपनिषत्' शब्द एकमात्र 'ईश–केन–कठ' आदि नामों से प्रसिद्ध, पत्रात्मक उपनिषद्ग्रन्थों में ही निरूढ है। अतएव 'सर्वे वेदान्ता' सूक्ति वृद्धव्यवहार में उपनिषद्ग्रन्थों की ही संग्राहिका बन रही है।

वस्तुस्थिति यह सिद्ध कर रही है कि, ज्ञानयोगत्व उपनिषत्–शब्द का अवच्छेदक नहीं है। अपितु–'व्यवस्थितविज्ञानसिद्धान्तत्व' ही उपनिषत्–शब्द का अवच्छेदक है, जैसाकि भूमिका–प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। वह मौलिक सिद्धान्त तत्त्वविज्ञान अपने गर्भ में 'उपपत्ति–निश्चय–स्थिति' लक्षण 'उप–नि–षत्' भावों को अपने गर्भ में रखता हुआ ही 'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। व्याख्याताओं ने योगत्रयी के जो लक्षण माने हैं, जिनका कि–'उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?' इस प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है, वे सर्वथा अवैज्ञानिक, अतएव प्रणम्य हैं। यही योगत्रयी वस्तुतः माद्य, तथा उपादेय है, जो क्रमशः कामनिवृत्ति, अनुग्रहकामनिवृत्ति, कर्म्मप्रवृत्ति, से सम्बन्ध रखती हुई संशोधिता योगत्रयी है, जिसका उक्त प्रकरण में ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है। धर्म्मबुद्धियोगात्मक कामनिवृत्तिपरक व्यक्त कर्म्मप्रवृत्तिपरक कर्म्म ही 'कर्म्मयोग' है। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक–अनुग्रहकामनिवृत्तिपरक उपासनातत्त्व ही 'भक्तियोग' है, कामनिवृत्तिपरक–अव्यक्तकर्म्मप्रवृत्तिपरक ज्ञान ही 'ज्ञानयोग' है। एवं–रागद्वेषविरहित–ज्ञानकर्म्मोभयात्मक–वैराग्यबुद्धियोग ही चौथा सिद्धान्त–स्थानीय 'बुद्धियोग' है। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत प्रकरण का विश्लेषण करना है।

अब शेष बचते हैं—पुरुषार्थकर्म्मानुगत अनारम्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थ-कर्म्मानुगत सामान्याधीत विधिवचन। पुरुषार्थकर्म्मों के भी सामान्य-विशेष भेद से दो भेद हि विभाग हैं। दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, वरुणप्रघासेष्टि, पुत्रेष्टि, तानूनप्त्रेष्टि, सौत्रामणी, आदि पुरुषार्थकर्म्म सामान्य हैं। अश्वयाग, राजसूय, वाजपेय, चयन, प्रवर्ग्य, आदि पुरुषार्थकर्म्म उग्रकोटि के माने गए हैं। महाविज्ञानानुगत इन उभयविध पुरुषार्थकर्म्मों की उपनिषदों का प्राय तत्कर्म्मेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक-वरादनारम्याधीत विधिवचनों के साथ ही प्रतिपादन हो गया है। हाँ कुछ एक अनारम्याधीतविधियाँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रतिपादन विधिग्रन्थों में नहीं भी हुआ है। पुरुषार्थकर्म्मानुगत विधिभाग में भी विधि (कर्म्म) की ही प्रधानता है। अतएव क्रत्वर्थवत् इन उपनिषदों का भी उपनिषत् शब्द से व्यवहार नहीं होने पाया है, जैसा कि सोदाहरण शब्दार्थप्रकरण में प्रतिपादित है।

महाविज्ञानानुबन्धी कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों का प्रतिपादन करने वाले अनारम्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थकर्म्मप्रतिपादक सामान्याधीत विधिवचन, दो विभाग शेष रह जाते हैं। कारुणिक महर्षियों ने इन दोनों की उपनिषदों का पृथक्‌रूप से निरूपण कर दिया है। यही विभाग उपनिषत्-प्रतिपादन की प्रधानता से उसी छत्रादन्याय से 'उपनिषत्' शब्द से प्रसिद्ध हुआ है। एकधनावरोध, दैवस्मर, यज्ञशिरिप्रसन्धान, आदि अनारम्याधीत विधियों की उपनिषदें उपनिषद्ग्रन्थों में ही प्रतिपादित हैं—(देखिए-कौ० उ० २।३।४।)-(छां० उ० ४।१७।)। स्पष्टीकरण यह है कि-समस्त क्रत्वर्थकर्म्म, एवं कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों को छोड़ कर समस्त पुरुषार्थकर्म्म उपनिषदों के सहित विधिभाग में प्रतिपादित हैं, एवं इनमें इतिकर्त्तव्यतालक्षणा कर्म्मभाग प्रधान है, उपपत्तिलक्षणा उपनिषदें गौण हैं। अतएव विधिभागान्तर्भूत उभयविध उपनिषदों को 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत नहीं किया गया। कुछ एक पुरुषार्थकर्म्म (एकधनावरोधादि) ऐसे हैं, जिनकी इतिकर्त्तव्यता तो विधिभाग में विशेषरूप से प्रतिपादित हुई है, एवं उपपत्तिलक्षणा उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। एवमेव सामान्य विधियों की इतिकर्त्तव्यता तो प्रधानरूप से विधिभाग में, तदनुगत स्मृतिभाग में हुई है एवं उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। यही स्वतन्त्रोपनिषत्समष्टि 'उपनिषत्' प्राधान्य से 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुई है। 'यदि वेद के विधिभाग में उपनिषत्-शब्दावच्छेदक विद्यमान है, तो वह उपनिषत्-शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं हुआ ?" इस प्रश्न का यही युक्तियुक्त, तथा विज्ञानसम्मत समाधान है।

विधिभाग के अनन्तर भक्तियोगप्रधान 'आरण्यकभाग' हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसे उपनिषत् नाम से क्यों नहीं व्यवहृत किया गया, जबकि अवच्छेदकभावयुक्त उपनिषत् का विधिभागवत् इसमें भी समावेश है ?' प्रश्न के सम्बन्ध में इसलिए समाधान करना अप्रयोजक है कि, 'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि रूप व्यवहार स्वयं आरण्यकभाग का उपनिषत् के साथ सम्बन्ध मानता हुआ आरण्यक के उपनिषत्-त्व का समर्थन कर रहा है। अपिच आरण्यकप्रतिपादित भक्तियोग (तत्त्वोपासना) की उपनिषदों का तद्योगप्रतिपादन के साथ ही विधिभागवत् स्पष्टीकरण हो गया है। अतएव उसे भी विधिभागवत् स्वतन्त्ररूप से 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत करने का अवसर अप्राप्त रह गया।

प्रकृत परिच्छेद से बतलाना हमें यही है कि, उपनिषत्-शब्द रहस्यविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। वेद का उपनिषद् भाग क्योंकि प्रधानरूप से इसी रहस्यज्ञान का विश्लेषण करता है, कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-बुद्धियोग-

कर्म्म, भक्ति, ज्ञान, बुद्धि, नामक चारों ही योग पुरुषस्वरूप के विकासक बनते हुए 'पुरुषार्थ' माने जा सकते हैं। ये योग पुरुषार्थ क्यों माने गए ?, क्यों इनका अनुगमन किया जाय ?, किस कौशल से इनका अनुगमन किया जाय ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान तब तक असम्भव है, जब तक कि, इनकी मौलिक उपपत्तियाँ हृदयङ्गम न कर ली जायँ। अवश्य ही स्वरविद्यात्मक विज्ञान, तथा प्रतिस्वरविद्यात्मक ज्ञान, इन दोनों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्म (विज्ञान) तथा, ज्ञान के मौलिक रहस्य ही योगचतुष्टयी–प्रवृत्ति के मुख्य आधार हैं। 'रहस्यप्रतिपादनत्व' ही उपनिषत् शब्द का प्रधान अवच्छेदक है। एवं ऐसा 'उपनिषत्' शब्द न केवल उपनिषच्छास्त्र से ही सम्बद्ध है, अपितु कर्म्मयोगप्रतिपादक विधिभाग, भक्तियोगप्रतिपादक आरण्यकभाग, बुद्धियोगप्रतिपादक उपनिषद्-भाग, तीनों वेदभागों के साथ उपनिषत् शब्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपनिषच्छास्त्र में प्रतिपादित उपनिषदें (तात्त्विकरहस्य) सर्वत्र व्याप्त हैं। यहाँ तक कि, स्वयं मूलसंहितायें भी इस मर्य्यादा से वञ्चित नहीं हैं, जैसाकि पाठक आगे जाकर देखेंगे।

प्रश्न इस सम्बन्ध में यह शेष रह जाता है कि, यदि 'उपनिषत्' शब्द का(उक्त अवच्छेदक मर्य्यादा से) विधि, आरण्यक भागों से भी सम्बन्ध है, तो उन्हें भी 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं किया गया ?, क्या कारण है कि, उपनिषत् शब्द से केवल ईशाद्युपनिषद्भाग ही प्रसिद्ध हुआ ? । प्रश्न का समाधान उपनिषच्छब्दार्थ से गतार्थ है। यहाँ स्मरणमात्र करा दिया जाता है। कर्म्मयोगप्रतिपादक विधिभाग जिन कर्म्मों की इतिकर्तव्यता बतलाता है, वह कर्म्मकलाप क्रत्वर्थ, पुरुषार्थ, भेद से दो भागों में विभक्त है। अनेक क्रत्वर्थकर्म्मों के समन्वय से एक पुरुषार्थकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। क्रत्वर्थकर्म्मों का आरम्याधीत विधिवचनों से सम्बन्ध है, एवं पुरुषार्थकर्म्मों का अनारम्याधीत विधिवचनों से सम्बन्ध है। आरम्याधीत विधिवचनों में 'क्रित्वर्थ' इष्ट है, अनारम्याधीत विधिवचनों में 'स्वर्गादिफल' इष्ट है। आरम्याधीत विधिपरक क्रत्वर्थकर्म्म यज्ञार्थकर्म्म हैं, इनसे यज्ञकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अनारम्याधीत विधिपरक कर्म्म यज्ञकर्म्म हैं, इनसे यज्ञकर्त्ता पुरुष का स्वार्थसाधन होता है, अतएव इन्हें 'पुरुषार्थ' कहा गया है।

क्रत्वर्थ–पुरुषार्थ भेदभिन्न यज्ञकर्म्म विशेष बनते हुए विशेष (द्विजाति) अधिकारियों के लिए ही विहित हैं। इनसे अतिरिक्त एक तीसरा सामान्य विधिभाग है जिसका मनुष्यमात्र को समानाधिकार है। "सदा कर्म्म करते रहो, सत्य भाषण करो, धर्म्मपथ का अनुगमन करो, किसी की हिंसा न करो" इत्यादि विधिवचन 'सामान्याधीत–विधिवचन' हैं। इसप्रकार विशेष–सामान्याधिकारी भेद से कर्म्मयोग 'क्रत्वर्थ–पुरुषार्थ–लोकार्थ' भेद से तीन भागों में विभक्त हो रहा है। तीनों क्रमशः–'आरम्याधीत–अनारम्याधीत–सामान्याधीत' इन विधिवचनों से सम्बद्ध हैं। इस त्रिविध कर्म्मभेद से कर्म्मोपपत्तिलक्षण–विज्ञानसिद्धान्तरूपा 'उपनिषत्' के भी तीन भेद हो जाते हैं।

क्रत्वर्थकर्म्मों की उपनिषदों (विज्ञानसिद्धान्तों) का प्रतिपादन तो सर्वात्मना विधिभाग में ही हो गया है। साधारण विज्ञानात्मिका ये उपनिषदें क्रत्वर्थकर्म्मेतिकर्त्तव्यता–प्रतिपादन के साथ साथ ही प्रतिपादित हैं। क्योंकि क्रत्वर्थ प्रतिपादक–विधिभाग में कर्म्मेतिकर्त्तव्यता का प्राधान्य है, यही विधि का मुख्य लक्ष्य है, उपपत्तिविज्ञानलक्षणा उपनिषदें गौण हैं, अतएव क्रत्वर्थकर्म्मप्रतिपादक आरम्याधीत विधिभाग से सम्बद्ध उपनिषदों को 'उपनिषत्' रूप से व्यवहार करने का अवसर नहीं आता। अपितु इनका 'विधि' शब्द से ही ('तद्वादन्याय' से) ग्रहण कर लिया जाता है।

अत्र शेष बचते हैं—पुरुषार्थकर्म्मानुगत अनारभ्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थ-कर्म्मानुगत सामान्याधीत विधिवचन। पुरुषार्थकर्म्मों के भी सामान्य-विशेष भेद से दो भेद से विभाग हैं। दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, वरुणप्रघासेष्टि, पुत्रेष्टि, वानूनप्त्रेष्टि, सौत्रामणी, आदि पुरुषार्थकर्म्म सामान्य हैं। अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय, चयन, प्रवर्ग्य, आदि पुरुषार्थकर्म्म उत्कोटि के माने गए हैं। महाविज्ञानानुगत इन उभयविध पुरुषार्थकर्म्मों की उपनिषदों का प्रायः तत्कर्मेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक-तत्तदनारभ्याधीत विधिवचनों के साथ ही प्रतिपादन हो गया है। हाँ कुछ एक अनारभ्याधीतविधियाँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रतिपादन विधिग्रन्थों में नहीं भी हुआ है। पुरुषार्थकर्म्मानुगत विधिभाग में भी विधि (कर्म्म) की ही प्रधानता है। अतएव कर्त्तव्यवत् इन उपनिषदों का भी उपनिषत् शब्द से व्यवहार नहीं होने पाया है, जैसा कि सोदाहरण शब्दार्थप्रकरण में प्रतिपादित है।

महाविज्ञानानुबन्धी कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों का प्रतिपादन करने वाले अनारभ्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थकर्म्मप्रतिपादक सामान्याधीत विधिवचन, दो विभाग शेष रह जाते हैं। कारुणिक महर्षियों नें इन दोनों की उपनिषदों का पृथक्रूप से निरूपण कर दिया है। यही विभाग उपनिषत्-प्रतिपादन की प्रधानता से उसी तद्वादन्याय से 'उपनिषत्' शब्द से प्रसिद्ध हुआ है। एकधनावरोध, वैवस्मर, यज्ञविरिष्टसन्धान, आदि अनारभ्याधीत विधियों की उपनिषदें उपनिषद्ग्रन्थों में हीं प्रतिपादित हैं—(देखिए-कौ० उ० २।३।४।)-(छां उ० ४।१७।)। स्पष्टीकरण यह है कि-समस्त कर्त्तव्यकर्म्म, एवं कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों को छोड़ कर समस्त पुरुषार्थकर्म्म उपनिषदों के सहित विधिभाग में प्रतिपादित हैं, एवं इनमें इतिकर्त्तव्यतालक्षणा कर्म्मभाग प्रधान है, उपपत्तिलक्षणा उपनिषदें गौण हैं। अतएव विधिभागान्तर्भूत उभयविध उपनिषदों को 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत नहीं किया गया। कुछ एक पुरुषार्थकर्म्म (एकधनावरोधादि) ऐसे हैं, जिनकी इतिकर्त्तव्यता तो विधिभाग में विशेषरूप से प्रतिपादित हुई है, एवं उपपत्तिलक्षणा उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। एवमेव सामान्य विधियों की इतिकर्त्तव्यता तो प्रधानरूप से विधिभाग में, तदनुगत स्मृतिभाग में हुई है, एवं उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। यही स्वतन्त्रोपनिषत्समष्टि 'उपनिषत्' प्राधान्य से 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुई है। 'यदि वेद के विधिभाग में उपनिषत्-शब्दावच्छेदक विद्यमान है, तो वह उपनिषत्-शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं हुआ?' इस प्रश्न का यही युक्तियुक्त, तथा विज्ञानसम्मत समाधान है।

विधिभाग के अनन्तर भक्तियोगप्रधान 'आरण्यकभाग' हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसे उपनिषत् नाम से क्यों नहीं व्यवहृत किया गया, जबकि अवच्छेदकभावयुक्त उपनिषत् का विधिभागवत् इसमें भी समावेश है?' प्रश्न के सम्बन्ध में इसलिए समाधान करना अप्रयोजक है कि, 'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि रूढ़ व्यवहार स्वयं आरण्यकभाग का उपनिषत् के साथ सम्बन्ध मानता हुआ आरण्यक के उपनिषत्-त्व का समर्थन कर रहा है। अपिच आरण्यकप्रतिपादित भक्तियोग (तत्त्वोपासना) की उपनिषदों का तद्योगप्रतिपादन के साथ ही विधिभागवत् स्पष्टीकरण हो गया है। अतएव उसे भी विधिभागवत् स्वतन्त्ररूप से 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत करने का अवसर अप्राप्त रह गया।

प्रकृत परिच्छेद से बतलाना हमें यही है कि, उपनिषत्-शब्द रहस्यविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। वेद का उपनिषद् भाग क्योंकि प्रधानरूप से इसी रहस्यज्ञान का विश्लेषण करता है, कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-बुद्धियोग-

चतुष्टयी की उपनिषदें बतलाता है अतएव यह ईशाद्युपनिषद्विभाग में ही निरूढ बन गया है। 'उपनिषत्- और उपनिषच्छास्त्र' का यही स्वाभाविक सम्बन्ध है। अब हमें कुछ एक ऐसे वचन और उद्धृत कर देने हैं, जिनके आधार पर पाठक यह निर्णय कर सकें कि, 'उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक ज्ञानयोगरत्व है, अथवा विज्ञानसिद्धान्तत्व ?। यद्यपि उपनिषच्छब्दार्थप्रकरण में दो एक उदाहरण उद्धृत हुए हैं, तथापि वे सर्वात्मना सन्तोषकर नहीं है। अत यहाँ और उदाहरण उद्धृत करना प्रासङ्गिक मान लिया गया है।

२–उपनिषत्–शब्द का अवच्छेदक—

'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इत्यादि वचनों के अनुसार आर्षसाहित्य में प्रयुक्त शब्द ही अपने अवच्छेदकभावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं। उदाहरण के लिए 'इति-हास–पुराण', शब्दों को ही लक्ष्य बनाइये। 'इति-ह–आस' (ऐसा–निश्चयेन था–) रूप से स्वय 'इतिहास' शब्द अपने अवच्छेदक का स्पष्टीकरण कर रहा है। 'पुरा–नव–भवति' निर्वचन पुराणशब्द का अवच्छेदक व्यक्त कर रहा है। एवमेव 'उपनिषत्' शब्द का अवच्छेदक भी हमें उपनिषत् शब्द से ही पूँछना चाहिए। 'उप-नि–षत्' ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक है। 'उप' का अर्थ है—'समीप'। 'नि' का अर्थ है—'निश्चयेन'। 'षत' का अर्थ है 'बैठना'। जिस तत्त्वज्ञान के परिज्ञान से हम तत्ज्ञानप्रतिष्ठ विषय के समीप निश्चयेन पहुँच जाते हैं, वह तत्त्वज्ञान ही 'उप-नि–षत्' का साधक बनता हुआ 'उपनिषत्' है। साधकत्वेन तत्त्वज्ञान यदि उपनिषत् है तो साध्यत्वेन भी वह उपनिषत् ही बन रहा है।

उपपत्तिज्ञान 'उप' है, निश्चयबोध 'नि' है, तत्रस्थिति 'षत्' है। उपपत्तिज्ञान ही निश्चयबोधपूर्वक तद्विषयस्थिति का कारण बनता है। अतएव इसे इस साध्यदृष्टि से भी 'उपनिषत्' (उप–उपपत्ति, नि–निश्चय, षत्–स्थिति) कहना अन्वर्थ बन रहा है। जो जिसकी मूलप्रतिष्ठा है, मूलाधार है, जिस मूलाधार के आधार पर तद्मेय स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, वह मूलाधार 'उपपत्ति–निश्चय–स्थिति' रूप से उपनिषत् है, एवं ऐसी मूलाधारात्मिका उपनिषत् का परिज्ञान भी उप–नि–षत्–(समीपे–अन्तस्तले–निश्चयेन–स्थापयत्या -मानम्) रूप से उपनिषत् है। यही उपनिषत् शब्द का तात्त्विक अवच्छेदक है। निम्नलिखित वचन इसी अवच्छेदक को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुए हैं—

१—"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"(शत० ब्रा० १०।४।५।१।)।

२—"अथादेशाः–उपनिषदाम्" (शत० ब्रा० १०।४।५।१)

३—"यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" (छान्दो० उप० १।१।१०।)।

४—"अथ खल्विय सर्वस्यै वाच उपनिषत्" (ऐ० ब्रा० ३।२।५)।

५—"तस्योपपनिषदहमिति" (बृ० आ उ० ४।५।४)।

६—"तस्योपनिषदहरिति" (बृ० आ० उ० ५।५।३।)।

७—"तस्योपनिषन्न याचेत्–इति" (कौ० उ० २।१।)।

८—"अन्नवानन्नादो भवति, य एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेद" (छान्दो० उ० १।३।४।)।

९—"एतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत्" (छान्दो० उ० ८।८।५।)।

१०—"तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाच" (छान्दो० उ० ८।८।४।)।

११—"तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति" (बृ० आ० उ० २।१।२०।)।

१२—"उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमान" (बृ० आ० ४।२।१।)।

१३—"अथात संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्याम" (तै० उ० १।३।१।)।

१४—"ओं सत्यमित्युपनिषत्" (कैवल्योप० २)।

उद्धृत वचनों में प्रयुक्त 'उपनिषत्' शब्द 'ईशाद्युपनिषदों' का वाचक नहीं है, यह स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त स्वयं व्याख्याताओं ने भी 'अरण्यमियात् पुनरेयादित्युपनिषत्' इत्यादि रूप से उपनिषत् शब्द के यौगिकार्थ का अनेक स्थलों में समर्थन किया है। निम्न लिखित वचन भी उपनिषत् का अवच्छेदक पृथक् ही मान रहा है।

प्रथमं स्यात् महानाम्नी द्वितीयञ्च महाव्रतम्।

तृतीयं स्यादुपनिषद् गोदानञ्च तत परम्" (आश्वलायनगृह्यकारिका)

इस प्रकार अवच्छेदक की मर्य्यादा से उपनिषत्तत्त्व का 'विधि–आरण्यक–उपनिषत्' तीनों काण्डों के साथ सम्बन्ध हो रहा है। जिस प्रकार अवच्छेदक मर्य्यादा से उपनिषत्-तत्त्व का तीनों काण्डों से सम्बन्ध है, एवमेव इसी अवच्छेदकमर्य्यादा से विधि, तथा आरण्यकभाग का भी तीनों काण्डों से घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। यही कारण है कि, एक काण्ड के परिज्ञान के लिए शेष दोनों काण्डों का स्वरूप–परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है।

३–काण्डत्रयी का त्रिपुटी–सम्बन्ध—

धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग, ज्ञानबुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, एवं वैराग्यबुद्धियोगलक्षण बुद्धियोग, चारों में बुद्धियोग एक स्वतन्त्र योग है, जिसका प्रधानरूप से उपनिषद्–भाग में विश्लेषण हुआ है। यही उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है। इस बुद्धियोगसम्पत्ति के अनुग्रह से ही शेष तीनों योग सोपनिषत्क बनते हुए बलवत्तर बन रहे हैं। इस विलक्षण बुद्धियोग को थोड़ी देर के लिए पृथक् रखते हुए हमें काण्डत्रयी से सम्बद्ध योगत्रयी का विचार करना चाहिए। बुद्धियोग क्योंकि तीनों का आलम्बन है, अतएव इसकी स्वतन्त्र गणना नहीं होती। योगत्वेन योगत्रयी ही शेष रह जाती है, जिसका काण्डत्रयी से क्रमिक सम्बन्ध है। बुद्धियोग ही कर्म्मयोग का कौशल है, यही भक्तियोग का कौशल है, एवं यही ज्ञानयोग का कौशल है। वैज्ञानिकों ने इन योगों के जो वैज्ञानिक लक्षण किए हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, प्रत्येक योग में गौणरूप से इतर दोनों का समन्वय हो रहा है। कर्म्मयोग में कर्म्म का प्राधान्य है, ज्ञानयोग में अध्यात्मज्ञान का प्राधान्य है। मध्यस्थ भक्तियोग का 'देहलीदीपकन्याय'

चतुष्टयी की उपनिषदें कहलाता है अतएव यह ईशाद्युपनिषद्विभाग में ही निरूढ बन गया है। 'उपनिषत्–और उपनिषच्छ्रद्धा भ' का यही स्वाभाविक सम्बन्ध है। अब हमें कुछ एक ऐसे वचन और उद्धृत कर देने है, जिनके आधार पर पाठक यह निर्णय कर सकें कि, 'उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक ज्ञानयोगत्व है, अथवा विज्ञानसिद्धान्तत्व ?। यद्यपि उपनिषच्छब्दार्थप्रकरण में दो एक उदाहरण उद्धृत हुए हैं, तथापि वे सर्वात्मना सन्तोषकर नहीं है। अत यहाँ और उदाहरण उद्धृत करना प्रासङ्गिक मान लिया गया है।

२–उपनिषत्–शब्द का अवच्छेदक—

'शब्दे ब्रह्मणि निष्णात परं ब्रह्माधिगच्छति' इत्यादि वचनों के अनुसार आर्षसाहित्य में प्रयुक्त शब्द ही अपने अवच्छेदकभावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं। उदाहरण के लिए 'इतिहास–पुराण', शब्दों को ही लक्ष्य बनाइये। 'इति-ह-आस' (ऐसा–निश्चयेन था–) रूप से स्वय 'इतिहास' शब्द अपने अवच्छेदक का स्पष्टीकरण कर रहा है। 'पुरा–नवं-भवति' निर्वचन पुराणशब्द का अवच्छेदक व्यक्त कर रहा है। एवमेव 'उपनिषत्' शब्द का अवच्छेदक भी हमें उपनिषत् शब्द से ही पूँछना चाहिए। 'उप–नि–षत्' ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक है। 'उप' का अर्थ है—'समीप'। 'नि' का अर्थ है—'निश्चयेन'। 'षत' का अर्थ है 'बैठना'। जिस तत्त्वज्ञान के परिज्ञान से हम तत्त्वज्ञानप्रतिष्ठ विषय के समीप निश्चयेन पहुँच जाते हैं, वह तत्त्वज्ञान ही 'उप–नि–षत्' का साधक बनता हुआ 'उपनिषत्' है। साधकत्वेन तत्त्वज्ञान यदि उपनिषत् है, तो साध्यत्वेन भी यह उपनिषत् ही बन रहा है।

उपपत्तिज्ञान 'उप' है, निश्चयबोध 'नि' है, तत्रस्थिति 'षत्' है। उपपत्तिज्ञान ही निश्चयबोधपूर्वक तद्विषयस्थिति का कारण बनता है। अतएव इसे इस साध्यदृष्टि से भी 'उपनिषत्' (उप–उपपत्ति, नि–निश्चय षत्–स्थिति) कहना अन्वर्थ बन रहा है। जो जिसकी मूलप्रतिष्ठा है, मूलाधार है, जिस मूलाधार के आधार पर तदाधेय स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, वह मूलाधार 'उपपत्ति-निश्चय–स्थिति' रूप से उपनिषत् है, एवं ऐसी मूलाधारात्मिका उपनिषत् का परिज्ञान भी उप–नि–षत्–(समीपे–अन्तस्तले–निश्चयेन–स्थाप्यत्वा -मानम्) रूप से उपनिषत् है। यही उपनिषत् शब्द का तात्त्विक अवच्छेदक है। निम्नलिखित वचन इसी अवच्छेदक को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुए हैं—

१—"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"(शत० ब्रा० १०।४।५।६।)।

२—"अथादेशा –उपनिषदाम्" (शत० ब्रा० १०।४।५।१)

३—"यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तर भवति"
(छान्दो० उप० १।१।१०।)।

४—"अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत्" (ऐ० आ० ३।२।५)।

५—"तस्योपनिषदहमिति" (बृ० आ० उ० ५।५।३।)।

६—"तस्योपनिषदहरिति" (बृ० आ० उ० ५।५।३।)।

७—"तस्योपनिषन्न याचेत्–इति" (कौ० उ० २।१।)।

४—"ईश्वरोऽयमस्तीति विश्वासभाजां दृढप्रत्ययेन सूर्य्ये, गुरौ, अवतारपुरुषे, धातुप्रतिमायां वा ईश्वरोचितकर्म्मकरण–उपासनम्"।

५—"कस्मिंश्चित् प्रत्येतव्येऽर्थे विज्ञानसमर्थानामधिकारिणां सौकर्य्येण प्रत्ययोत्पत्यर्थं–आधिभौतिके कस्मिंश्चित् सन्निहितेऽर्थे–आहार्य्यारोपमूलक, प्रतिरूपमूलक, प्रतीकमूलकं, वा प्रत्ययालम्बन (ऐन्द्रियकप्रत्यक्षज्ञानालम्बनं) तत्प्रत्यय–(परोक्षाधिदैविकप्रत्यय)–प्रवाहोत्पादनम्–उपासनम्"।

६—"उपासन नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्" (शां० भा० ४।१।७।)।

७—"अन्यसिद्ध्यर्थमन्यत्र स्थिति'–'उपासना'।

८—"श्रद्धानसूत्रेण मनो–बुद्ध्यर्पणम्–'उपासना'।

९—"श्रद्धासूत्रद्वारा परमात्मनि स्व मनो–बुद्ध्यात्माशमर्पयन्त परमात्मभक्ता भवन्ति। भक्तिर्नाम मार्गोऽत्र। भक्तिकरण कर्म्माप्युपचारात्–भक्ति। सैषा भक्ति'–'उपासना'।

१०—"तद्वृत्त्यनुकूलवृत्तिं धारयमाणस्य तदिच्छानुसारेण चरणमुपासनम्"।

११—"श्रद्धानसूत्रार्पितमनोवृत्त्यनुकूलदृष्टिसूत्रार्पिताया श्रद्धेयपरिस्थित्यनुरोधवद–पेक्षाबुद्धिसहकृताया भावनाबुद्धेस्तदनुरोधापेक्षितवृत्तिस्थिरत्वम् उपासनम्"। (इत्यादीनि लक्षणानि)।

१—प्रत्यक्षज्ञान को मध्यस्थ बना कर इसके द्वारा परोक्षविषय का प्राप्त करना ही उपासना का प्रथम लक्षण है। स्वर्गादि फल परोक्ष हैं। आहवनीय–गार्हपत्य–दक्षिणाग्नि–पुरोडाश–जुहू–उपभृत् ध्रुवा–दर्भ–वेदि, मन्त्र–आदि यज्ञकर्मस्वरूपसम्पादक सामग्री–सम्भार प्रत्यक्षज्ञानसिद्ध विषय हैं। एकमात्र श्रद्धासूत्र के आधार पर यज्ञकर्त्ता यजमान इन प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थों की मध्यस्थता के आधार पर उस परोक्ष स्वर्गफला वाप्ति की उपासना कर रहा है।

२—हमारे (यजमान के) बौद्धिक धरातल में 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधिश्रद्धान से परोक्ष स्वर्गफल प्रतिष्ठित है। इस बुद्धिसंनिकृष्ट वाक्यात्मक फल के आधार पर हम यज्ञकर्मद्वारा उस विप्रकृष्ट (दिव्यलोकस्थ) फलात्मक नाचिकेत–स्वर्गप्रत्यय के अधिकारी बन जाते हैं। यही उपासना का प्रथम लक्षण से मिलता जुलता दूसरा लक्षण है।

३—जिस इन्द्रियातीत परोक्षभाव को हम जानना चाहते हैं निदानलक्षण संकेत के आधार पर उसका एक काल्पनिकरूप बना लिया जाता है। उस कल्पित रूप में 'स एवायम्' इसप्रकार का जो सत्यत्व धारण है, वही श्रद्धा है। इस श्रद्धा से आकर्षित होकर उस कल्पितरूप की जो परिचर्य्या की जाती है, वही उपासना है। ब्रह्म स्वस्वरूप से निर्गुण है, निराकार है, परोक्ष है, इन्द्रियातीत है।

से दोनों के साथ सम्बन्ध है। साथ ही मध्यस्थ होने से भक्तियोग इस ओर की कर्म्मसम्पत्ति, उस ओर की ज्ञानसम्पत्ति, दोनों से युक्त है। इसप्रकार प्रत्येक योग योगत्रयात्मक बन रहा है। सामान्य दृष्टि से भी कर्म्मयोग में ज्ञान भी अपेक्षित है, उपासना भी अपेक्षित है। भक्तियोग में उपासना के साथ साथ ज्ञान-कर्म्म भी अपेक्षित हैं। एवमेव ज्ञानयोग में ज्ञान के साथ साथ कर्म्म, तथा उपासना भी अनिवार्य्य हैं। पहिले कर्म्मप्रधान कर्म्मयोग की मीमांसा कीजिए, जिसका प्रधानत विधिभाग से सम्बन्ध है।

जितने भी कर्म्म हैं, सब की प्रतिष्ठा भिन्न भिन्न उपनिषत् है। जिस कर्म्म की उपनिषद् भलीभांति जान ली जाती है, वही कर्म्म सुसम्पन्न बनता है। उपनिषल्लक्षण तत्त्वज्ञान के आधार पर ही कर्म्म प्रतिष्ठित है। कर्म्मप्रधान विधिग्रन्थों में प्रजापति, आत्मा, उक्थ, पृष्ठ, आदि तत्त्वों का यत्र तत्र सुविशद निरूपण हुआ है। इन सब का तत्त्वज्ञान ब्रह्मविज्ञानप्रधाना उपनिषत् से ही सम्बद्ध है। कर्म्मात्मक यज्ञ यौगिक तत्त्व है, ज्ञानात्मक ब्रह्मतत्त्व मौलिक तत्त्व है। मौलिक ब्रह्मतत्त्व ही यौगिक यज्ञकर्म्म की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मस्वरूप को यथावत् अवगत किए बिना अप्रतिष्ठ कर्म्म का स्वरूप सर्वथा अविदित ही रहता है। मानना पड़ेगा कि, जब तक औपनिषद लक्षण ज्ञान को आधार नहीं बना लिया जाता, तब तक कर्म्म में बलाधान सम्भव नहीं है। एवं इसी दृष्टि से उपनिषत्-सम्बन्धी ज्ञानयोग का कर्म्मयोग में अन्तर्भाव हो रहा है। इसके अतिरिक्त यह भी मानी हुई बात है कि, बिना तद्विषयक-इतिकर्त्तव्यतालक्षण ज्ञान के कर्म्मप्रवृत्ति अमर्य्यादित है, स्खलित है। अज्ञानसहकृत कर्म्म में पदे पदे पतन का भय है। ज्ञानसहकृत कर्म्म ही कर्म्म-सौष्ठव का प्रवर्त्तक है। इसप्रकार इस सामान्य दृष्टि से भी ज्ञान का कर्म्म में संग्रह हो रहा है। निम्न लिखित वचन इसी ज्ञानसम्बन्ध की अनिवार्य्यता सिद्ध कर रहा है—

> **ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।**
> **अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥**

यही स्थिति उपासना के सम्बन्ध में समझिए। आरण्यकभागानुगता उपासना के अनेक लक्षण हुए हैं। उनमें से किसी न किसी लक्षण का कर्म्म में अवश्यमेव अन्तर्भाव रहता है। इसी आधार पर **'होता अध्वर्युमुपास्ते'** इत्यादि वचन प्रतिष्ठित हैं। दृष्टि है—भूताग्नि पर, मन है दिव्याग्नि पर। यह भी एक प्रकार की उपासना ही है। पाठकों की सुविधा के लिए उपासना के कुछ एक तात्त्विक लक्षण उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताभाष्यान्तर्गत 'भक्तियोगपरीक्षा' प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

१—"प्रत्यक्षप्रत्ययेन परोक्षार्थ प्रत्ययप्रवाह-उपासनम्"।

२—"बुद्धिसन्निकृष्टार्थद्वारा विदूरार्थप्रत्ययधारणम्-उपासनम्"।

३—"विश्रिम्भितस्य मानस्य यत्किञ्चिद्रूपं प्रतिपद्य-तत्र-सत्यत्वनास्था-धारणं श्रद्धानम्। श्रद्धानपारवश्यात्-तदनुकूला ऽऽज्ञानिकी परिचर्य्या ध्यानरूपा-बुद्धियोग-तदुपासनम्"।

४—"ईश्वरोऽयमस्तीति विश्वासभाजा दृढप्रत्ययेन सूर्य्ये, गुरौ, अवतारपुरुषे, धातुप्रतिमायां वा ईश्वरोचितकर्म्मकरण–उपासनम्" ।

५—"कस्मिंश्चित् प्रत्येतव्येऽर्थे विज्ञानसमर्थानामधिकारिणां सौकर्य्येण प्रत्ययोत्पत्त्यर्थ–आधिभौतिके कस्मिंश्चित् सनिहितेऽर्थे–आहार्य्यारोपमूलक, प्रतिरूपमूलक, प्रतीकमूलक, वा प्रत्ययालम्बन (ऐन्द्रियकप्रत्यक्षज्ञानालम्बनं) तत्प्रत्यय-(परोक्षाधिदैविकप्रत्यय)–प्रवाहोत्पादनम्–उपासनम्" ।

६—"उपासन नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्" (शा० भा० ४।१।७)।

७—"अन्यसिद्ध्यर्थमन्यत्र स्थिति –'उपासना' ।

८—"श्रद्धानक्षत्रेण मनो–बुद्ध्यर्पणम्–'उपासना' ।

९—"श्रद्धासूत्रद्वारा परत्रात्मनि स्व मनो–बुद्ध्यात्मांशमर्पयन्त परमात्मभक्ता भवन्ति । भक्तिर्नाम मार्गोऽश । भक्तिकरण कर्म्माण्युपचारात्–भक्ति । सैषा भक्ति –'उपासना' ।

१०—"तद्वृत्त्यनुकूलवृत्तिं धारयमाणस्य तदिच्छानुसारेण चरणमुपासनम्" ।

११—"श्रद्धानक्षत्रार्पितमनोवृत्त्यनुकूलदृष्टिसूत्रार्पितायाः श्रद्धेयपरिस्थित्यनुरोधवढ–पेक्षाबुद्धिसहकृतायाः भावनाबुद्धेस्तदनुरोधापेक्षितवृत्तिस्थिरत्वम् उपासनम्" । (इत्यादीनि लक्षणानि)।

१—प्रत्यक्षज्ञान को मध्यस्थ बना कर इसके द्वारा परोक्षविषय का प्राप्त करना ही उपासना का प्रथम लक्षण है। स्वर्गादि फल परोक्ष हैं । आहवनीय–गार्हपत्य–दक्षिणाग्नि–पुरोडाश–जुहू–उपभृत् ध्रुवा–दर्भ–वेदि, मन्त्र–आदि यज्ञकर्मस्वरूपसम्पादक सामग्री–सम्भार प्रत्यक्षज्ञानसिद्ध विषय हैं । एकमात्र श्रद्धासूत्र के आधार पर यज्ञकर्त्ता यजमान इन प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थों की मध्यस्थता के आधार पर उस परोक्ष स्वर्गफला प्राप्ति की उपासना कर रहा है।

२—हमारे (यजमान के) बौद्धिक धरातल मे 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधिश्रद्धान से परोक्ष स्वर्गफल प्रतिष्ठित है । इस बुद्धिसंनिकृष्ट वासनात्मक फल के आधार पर हम यज्ञकर्म्मद्वारा उस विदूरस्थ (दिव्यलोकस्थ) फलात्मक नाचिकेत–स्वर्गप्रत्यय के अधिकारी बन जाते हैं । यही उपासना का प्रथम लक्षण से मिलता जुलता दूसरा लक्षण है ।

३—जिस इन्द्रियातीत परोक्षभाव को हम जानना चाहते हैं निगमनलक्षण संकेत के आधार पर उसका एक काल्पनिकरूप बना लिया जाता है। उस कल्पित रूप में 'स एवायम्' इसप्रकार का जो सत्यत्व धारण है, वही श्रद्धा है। इस श्रद्धा से आकर्षित होकर उस कल्पितरूप की जो परिचर्य्या की जाती है, वही उपासना है। ब्रह्म स्वस्वरूप से निर्गुण है, निराकार है, परोक्ष है, इन्द्रियातीत है।

"अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ "

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार उसकी कल्पित प्रतिमा बना ली जाती है । साथ ही इसे साक्षात् वही समझते हुए उसकी परिचर्य्या की जाती है । ठीक यही स्थिति यज्ञकर्म्म में समझिए । यज्ञकर्म्मसम्पादक आहवनीय–गार्हपत्य–दक्षिणाग्निकुण्ड क्रमशः स्वर्ग–अन्तरिक्ष–पृथिवीलोक से समतुलित हैं । तत्रस्थ अग्नित्रयी आदित्य–वायु–अग्नि से समतुलित हैं । तदनुरूप ही इनकी परिचर्य्या की जाती है । एवं इस दृष्टि से भी कर्म्म में उपासना का समन्वय हो रहा है ।

४—ईश्वर पर विश्वास रखने वाले श्रद्धालु ईश्वरांशभूत सूर्य्य, गुरु, अवतार, पाषाणप्रतिमा, आदि में वैसी ही भावना रखते हुए इनकी आराधना करते हैं । तथैव स्वर्गादि पर विश्वास करने वाले याज्ञिक तत्प्राप्त्युपायभूत कुण्डाग्नि–पुरोडाश–सोम–आज्यादि की श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं । वे गार्हपत्य को साक्षात् पृथिवी समझते हैं, आहवनीय को सूर्य्य मानते हैं, सोमरस को तृतीय द्युलोक की वस्तु मानते हैं ।

५–जिस तत्त्व को हम जानना चाहते हैं, किंवा प्राप्त करना चाहते हैं, मान लीजिए वह विज्ञातव्य–प्राप्तव्य तत्त्व आधिदैविक–सूक्ष्म–जगत् की वस्तु होने से परोक्ष है । उसके परिज्ञान, तथा उपलब्धि के लिए वैज्ञानिक अधिकारियों के बोधसौकर्य्य को लक्ष्य में रखते हुए आधिभौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बना कर इसमें उस परोक्ष तत्त्व का आहार्य्यारोपविधि से, किंवा प्रतिरूपविधि से, किंवा प्रतीकविधि से आरोप कर इसके द्वारा उस परोक्ष तत्त्व के साथ जो अपने ज्ञानरूप से सम्बन्ध करा देना है, वही उपासना है । तात्पर्य्य यही है कि, आधिभौतिक पदार्थ में प्रत्ययालम्बनता तीन प्रकार से सम्भव है । आधिदैविक तत्त्व की प्राप्ति के सम्बन्ध में मध्यस्थ आधिभौतिक पदार्थों में दृष्टि-स्थिर करने के ये ही तीन आलम्बन हैं ।

'अन्य को अन्य समझना' ही आरोपविधि है । यह आरोप प्रातिभासिक, व्यावहारिक, भेद से दो श्रेणियों में विभक्त है । रज्जु में सर्प का, स्थाणु में पुरुष का, शुक्ति में रजत का, मृगमरीचिका में जल का, शश में शृङ्ग का, वन्ध्या में पुत्रप्रसूति का आरोप करना प्रातिभासिक आरोप है । अतएव ये आरोप मिथ्या-कोटि में अन्तर्भूत हैं । व्यावहारिक आरोप परमार्थदृष्टि से असत् रहता हुआ भी व्यवहारजगत् की दृष्टि से परमोपयोगी है । प्रातिभासिक आरोप जहाँ दार्शनिक परिभाषा में 'अध्यास' कहलाता है, वहाँ व्यावहारिक आरोप को प्रातिभासिक आरोप से पृथक् बतलाने के लिए 'आहार्य्यारोप' नाम से व्यवहृत किया गया है । जिस सत्य-परमार्थ बोध के लिए यह आरोप किया जाता है, बोधानन्तर वह आरोप स्वतः निवृत्त हो जाता है । जिस भौतिक वस्तु में आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का, तथा जिस परोक्षतत्त्व की प्राप्ति के लिए आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का समतुलन करके ही आरोप किया जाता है । दोनों के अभिन्न धर्म्मों का ग्रहण कर लिया जाता है, भिन्न धर्म्मों का परित्याग कर दिया जाता है । समस्त सांसारिक व्यवहार इसी आहार्य्यारोप पर प्रतिष्ठित है । यही इसकी उपादेयता है । एक भ्राता दूसरे भ्राता में कर्म्मगणसाम्य–दृष्टिसाम्य से दक्षिण भुजा का आरोप करता है । पट्टिका पर लिखित वर्णमातृका में नित्य वाक्तत्त्व का आरोप होता है । इसीप्रकार यज्ञिय कर्म्मकाण्ड में आज्य में वज्र का, विराट्छन्द में यज्ञ का, मृगचर्म्म में वेदत्रयी का आरोप है ।

आहार्य्यारोपविधि के अनन्तर प्रतिरूपविधि हमारे सामने आती है। शालग्रामशिला आभूप्रजापति (स्वयम्भू) का प्रतिरूप (प्रतिकृति-प्रतिमा-नकल) है। अश्वत्थवृक्ष षोडशीप्रजापति का प्रतिरूप है। कच्छपप्राणी कूर्म्मप्रजापति का प्रतिरूप है। यज्ञकर्म्मप्रधान वेद के विधि भाग में चिति-यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए प्रतिकृतिलक्षणा-प्रत्ययालम्बनात्मिका इसी प्रतिरूपोपासना का आश्रय लिया गया है। रुक्म-कूर्म्म पञ्चपशुशीर्ष-आदि चित्य पदार्थों के द्वारा प्रतिरूपविधि से सूर्य्य-कश्यप-पञ्चपशु आदि ही अभिप्रेत हैं, जैसाकि चयनविज्ञानात्मक क्षत्-प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। तीसरी प्रतीकरूपा उपासना है, इसे ही 'अङ्गवती' उपासना भी माना गया है। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-आदि पर्व उस विराट्पुरुष के प्रतीक हैं, अवयव हैं। अङ्ग शिरग्रहण से जैसे मनुष्य पर ध्यान चला जाता है, चरणसेवा से जैसे गुरुसेवा गतार्थ है, वस्त्रैकदेश के दग्ध हो जाने पर जैसे 'पटो दग्धः' व्यवहार लोकसम्मत है, एवमेव पुष्करपर्ण (कमलपत्र) ग्रहण से पृथिवी का ग्रहण मानते हुए ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रतीकरूपोपासना का भी यत्र तत्र समावेश हुआ है।

६-अपने मानसज्ञान को बुद्धिपूर्वक उपास्य देवता के प्रति अनन्यरूप से, अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित करना ही उपासना है। यज्ञकर्म्मारम्भ से यज्ञसमाप्ति पर्य्यन्त ऋत्विजों से युक्त यजमान अपने मानस जगत् को अनन्यरूप से यज्ञकर्म्म में प्रतिष्ठित रखता हुआ इस लक्षण का भी अनुगामी बना हुआ है।

७-परोक्ष प्राणदेवता का अध्यात्म संस्था में आधान करने के लिए क्षत्-मार्गदेवताप्रधान तद्भूत पर मन का संयम किया जाता है। यही उपासना है। परोक्ष स्वर्गफलातिशय को अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित करने के लिए यजमान आधिभौतिक-प्रत्यक्ष यज्ञ पर अपनी निष्ठा रखता हुआ इस लक्षण का भी अनुगामी बन रहा है।

८-मानस-श्रद्धासूत्र के द्वारा उपास्य में मनोबुद्धि-समर्पित कर देना ही उपासना है। यज्ञकर्त्ता यजमान इसी श्रद्धा के आधार पर अपने मन, तथा बुद्धि को अनुष्ठेय कर्म्म में संलग्न रखता हुआ इस लक्षण का भी अनुगामी बन रहा है।

६-श्रद्धासूत्र के प्रभाव से उपासक अपने आत्मा को व्यापक परमात्मा के साथ युक्त करता हुआ उसका भाग बन जाता है। भक्ति ही भाग है, भाग ही अंश है। इस अंशास्वरूपात्मिका भक्ति-सम्पत् प्राप्ति के लिए जो कर्म्मविशेष किया जाता है, वह भी लक्षणया 'भक्ति' कहलाने लगा है। यही भक्ति (भक्त्युपाय) उपासना है। श्रद्धासूत्र के द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान अपने भौतिक मानुषात्मा को विराट्विकेतस्वर्ग [यद्वि] सम्वत्सरयज्ञात्मक देवात्मा के साथ युक्त करता हुआ उसका भाग बन जाता है। इसी भागात्मिका (अंशा-त्मिका) भक्ति के आकर्षण से (देवात्माकर्षण से) यजमान का मानुषात्मा आयुर्भोगानन्तर स्थूलशरीर छोड़ता हुआ स्वर्गफलभोक्ता बनता है। इस भक्तिलक्षणा अतिशयसम्पत् के लिए अनुष्ठेय यज्ञकर्म्म भी उपचारविधि से भक्ति ही है।

१०-उपासक पुरुष उपास्य देवता के स्वरूप रुचि के अनुसार चलता हुआ, उसकी इच्छा के अनुसार अनुगमन करता हुआ ही स्वोपासना में समर्थ होता है। यज्ञकर्त्ता यजमान भी प्राप्तव्य प्राणदेवता की रुचि के अनुसार ही अनुगमन करता है। 'न वै देवा सर्वया सम्वदन्ते' (शत० ३।१।१।१०) के अनुसार

"अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥"

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार उसकी कल्पित प्रतिमा बना ली जाती है । साथ ही इसे साक्षात् वही समझते हुए उसकी परिचर्य्या की जाती है । ठीक यही स्थिति यज्ञकर्म्म में समझिए । यज्ञकर्म्मसम्पादक आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्निकुण्ड क्रमशः स्वर्ग-अन्तरिक्ष-पृथिवीलोक से समतुलित हैं । तत्रस्थ अग्नित्रयी आदित्य-वायु-अग्नि से समतुलित हैं । तदनुरूप ही इनकी परिचर्य्या की जाती है । एवं इस दृष्टि से भी कर्म्म में उपासना का समन्वय हो रहा है ।

४—ईश्वर पर विश्वास रखने वाले श्रद्धालु ईश्वरांशभूत सूर्य्य, गुरु, अवतार, पाषाणप्रतिमा, आदि में वैसी ही भावना रखते हुए इनकी आराधना करते हैं । तथैव स्वर्गफल पर विश्वास करने वाले याज्ञिक तत्प्राप्त्युपायभूत कुण्डाग्नि-पुरोडाश-सोम-आज्यादि की श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं । वे गार्हपत्य को साक्षात् पृथिवी समझते हैं, आहवनीय को सूर्य्य मानते हैं, सोमरस को तृतीय द्युलोक की वस्तु मानते हैं ।

५-जिस तत्त्व को हम जानना चाहते हैं, किंवा प्राप्त करना चाहते हैं, मान लीजिए वह विजिज्ञास्य-प्राप्तव्य तत्त्व आधिदैविक-सूक्ष्म-जगत् की वस्तु होने से परोक्ष है । उसके परिज्ञान, तथा उपलब्धि के लिए वैज्ञानिक अधिकारियों के बोधसौकर्य्य को लक्ष्य में रखते हुए आधिभौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बना कर इसमें उस परोक्ष तत्त्व का आहार्य्यारोपविधि से, किंवा प्रतिरूपविधि से, किंवा प्रतीकविधि से आरोप कर इसके द्वारा उस परोक्ष तत्त्व के साथ जो अपने ज्ञानक्षेत्र से सम्बन्ध करा देना है, वही उपासना है । तात्पर्य्य यही है कि, आधिभौतिक पदार्थ में प्रत्ययालम्बनता तीन प्रकार से सम्भव है । आधिदैविक तत्त्व की प्राप्ति के सम्बन्ध में मध्यस्थ आधिभौतिक पदार्थों में दृष्टि-स्थिर करने के ये ही तीन आलम्बन हैं ।

'अन्य को अन्य समझना' ही आरोपविधि है । यह आरोप प्रातिभासिक, व्यावहारिक, भेद से दो श्रेणियों में विभक्त है । रज्जु में सर्प का, स्थाणु में पुरुष का, शुक्ति में रजत का, मृगमरीचिका में जल का, शश में शृङ्ग का, वन्ध्या में पुत्रप्रसूति का आरोप करना प्रातिभासिक आरोप है । अतएव ये आरोप मिथ्या-कोटि में अन्तर्भूत हैं । व्यावहारिक आरोप परमार्थदृष्टि से असत् रहता हुआ भी व्यवहारजगत् की दृष्टि से परमोपयोगी है । प्रातिभासिक आरोप जहाँ दार्शनिक परिभाषा में 'अध्यास' कहलाता है, वहाँ व्यावहारिक आरोप को प्रातिभासिक आरोप से पृथक् बतलाने के लिए 'आहार्य्यारोप' नाम से व्यवहृत किया गया है । जिस सत्य-परमार्थ बोध के लिए यह आरोप किया जाता है, बोधानन्तर वह आरोप स्वतः निवृत्त हो जाता है । जिस भौतिक वस्तु में आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का, तथा जिस परोक्षतत्त्व की प्राप्ति के लिए आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का समतुलन करके ही आरोप किया जाता है । दोनों के अभिन्न धर्म्मों का ग्रहण कर लिया जाता है, भिन्न धर्म्मों का परित्याग कर दिया जाता है । समस्त सांसारिक व्यवहार इसी आहार्य्यारोप पर प्रतिष्ठित है । यही इसकी उपादेयता है । एक भ्राता दूसरे भ्राता में कर्म्मसादृश्य-दृष्टिसाम्य से दक्षिण भुजा का आरोप करता है । पट्टिका पर लिखित वर्णमातृका में नित्य मातृतत्त्व का आरोप होता है । इसीप्रकार वैदिक कर्म्मकाण्ड में आज्य में वज्र का, विराट्छन्द में यज्ञ का, मृगचर्म्म में वेदत्रयी का आरोप है ।

हैं। तीनों परस्पर अभिन्न हैं। दूसरे शब्दों में तीनों का परस्पर अभेद-सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर प्राचीन वैज्ञानिकों नें तीनों काण्डों के लिए 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" में 'मन्त्र' शब्द जहां अनेकशाखाधिगत मन्त्रसंहिता का संग्राहक है, वहां 'ब्राह्मण' शब्द 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों का संग्राहक बन रहा है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि ब्राह्मण शब्द तीनों का संग्राहक है, तो केवल विधिभाग को ही 'शतपथब्राह्मण-ऐतरेयब्राह्मण' इत्यादि रूप से 'ब्राह्मण' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ?। जो 'विधि' शब्द विधिभाग के लिए नियत है, उस विधि शब्द से तो यह विधिभाग व्यवहृत होता नहीं, अपितु जो 'ब्राह्मण' शब्द तीनों के लिए समान है, उस ब्राह्मण शब्द से ही यह विधिभाग व्यवहृत होता है, जब कि आरण्यक, तथा उपनिषत्, दोनों भी इस नाम के समानाधिकारी बनते हुए इस नाम से वञ्चित-से देखे जाते हैं। प्रश्न का समाधान मन्त्रभाग से सम्बन्ध रखता है। वेद का मन्त्रभाग 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, शेष काण्डत्रयी के लिए 'ब्राह्मण' शब्द नियत है। ज्ञातव्य भाग ब्रह्मवेद है, कर्त्तव्य भाग ब्राह्मणवेद है। यद्यपि कर्त्तव्यात्मिका काण्डत्रयी में ब्रह्मविज्ञानसम्बन्धी ज्ञातव्य विषयों का भी पर्य्याप्त स्पष्टीकरण हुआ है, तथापि इनका प्रधान लक्ष्य कर्म्मशिक्षा ही माना गया है। कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी मानव का अधिकार-भेदभिन्न कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य का 'कर्म्म' से सम्बन्ध है। ज्ञातव्य का ज्ञान से सम्बन्ध है। कर्म्म ही ज्ञान की व्याख्या है। ब्रह्म (ब्रह्म) की व्याख्या का 'ब्राह्मण' कहलाना स्वतःप्राप्त है। 'ब्राह्मण' शब्द कर्त्तव्यलक्षण कर्म्म का सूचक है। योगत्रयी के प्रतिपादक तीनों काण्ड इसी कर्म्म मर्यादा से 'ब्राह्मण' उपाधि के अधिकारी बन रहे हैं। अतएव ब्राह्मण शब्द से (कर्त्तव्यकर्म्म रूपा) तीनों का संग्रह हो जाना भी स्वतः प्राप्त है।

यद्यपि तीनों ही योग कर्त्तव्यशिक्षण के सम्बन्ध से सामान्यतः 'ब्राह्मण' नाम के अधिकारी हैं, तथापि विधिभाग में क्योंकि कर्म्म शिक्षा का प्राधान्य है, उधर ब्राह्मण शब्द का विशेषतः कर्म्म से सम्बन्ध है, अतएव विधिभाग ही में आगे जाकर ब्राह्मण शब्द प्रधान गया है। एकमात्र इसी आधार पर हमनें प्रकृत प्रकरण के नामकरण में विधिभाग के लिए 'ब्राह्मण' शब्द को प्रधानता दी है।

'ब्रह्म-ब्राह्मण' की उक्त स्वरूपमीमांसा से हमें इस निश्चय पर भी पहुँचना पड़ता है कि कर्त्तव्यभागत्रयी का ज्ञातव्यभाग से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों स्वस्वरूपबोध के लिए एक दूसरे के आश्रित हैं एवमेव मन्त्रभागात्मक ब्रह्मभाग भी तीनों को लक्ष्य बना कर ही अपने सम्यग्बोध का परिचायक बन रहा है। अतएव यह कहा जासकता है कि, वेदशास्त्र एक है, मन्त्र-ब्राह्मण, ये उसके दो तन्त्र हैं। मन्त्रभाग अनेक अवान्तर तन्त्रों (शाखाओं) में विभक्त है, ब्राह्मणतन्त्र अवान्तर तीन-तन्त्रों में विभक्त है। यही वेदशास्त्र का 'पटधर्म्म' है। पटधर्म्म से तात्पर्य हमारे कहने का यह है कि, जिस प्रकार पट (वस्त्र) के एक तन्तु के हाथ में लेने से सम्पूर्ण पट दृष्टि के सामने उपस्थित हो जाता है, एवमेव ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक वेद के किसी भी एक तन्त्र को लक्ष्य बनाने से शेष सम्पूर्ण तन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। अतएव व्यापक दृष्टि रक्खे बिना वेदशास्त्र का सम्यग्बोध असम्भव है। यही वेदस्वाध्याय की एक ऐसी जटिल समस्या है, जो अपने उपक्रमकाल में ही अध्येताओं को विचलित कर देती है। एवं उस समय तो हमारी यह समस्या और भी अधिक विषम बन जाती है, जबकि हम-ब्रह्म-ब्राह्मण को, ब्रह्म के ऋक्-यजु

द्विजातिवीर्य्यप्रवर्त्तक यज्ञिय देवता शूद्रादि से सम्बन्ध नहीं रखते। अतएव तत्सम्पादक दीक्षित यजमान भी यज्ञसमाप्तिपर्य्यन्त शूद्र से भाषण नहीं करता। होता अध्वर्यु के प्रैष (अनुज्ञा) के अनुसार चलता हुआ इस लक्षण का अनुगमन करता हुआ उपासक बन रहा है, जैसाकि-'अध्वर्युमुपास्ते' रूप से स्पष्ट किया जा चुका है। ११-ग्यारहवाँ लक्षण भी इन्हीं उक्त लक्षणार्थों से गतार्थ है।

इसप्रकार विधिभागोक्त यज्ञकर्म्म में प्रतिपादित सभी उपासना-लक्षणों का समन्वय हो रहा है। उपनिषत् तत्त्व से जैसे विधिभाग नित्य अन्वित है एवमेव उपासनातत्त्व से भी विधिभाग नित्य सम्बद्ध है। बिना उपनिषत्-उपासना-तत्त्व परिज्ञान के विधिभागोक्त कर्म्म का रहस्य जान लेना असम्भव है। कर्म्म-प्रधान विधिभाग, उपासनाप्रधान आरण्यकभाग, तथा ज्ञानप्रधान-उपनिषद्भाग के बिना अकृत्स्न है, असर्व है, अतएव अपूर्ण है।

यही अवस्था उपासनाप्रतिपादक आरण्यकभाग की है। उपासनातत्त्व तो यहाँ प्रधान है ही। इसके अतिरिक्त बाह्यकर्म्म, तथा ज्ञानाधारत्व भी यहाँ अनिवार्य्य है। ज्ञानप्रतिष्ठ कर्म्म ही इन्द्रियधारण लक्षणा तत्त्वोपासना का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। शेष उपनिषत् भाग की भी यही परिस्थिति है। उपनिषदों में तीनों योगों का प्रत्यक्षरूप से स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि-'उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?' प्रकरण में सोदाहरण बतलाया जा चुका है।

उक्त सन्दर्भ से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, विधि, आरण्यक, उपनिषत्, तीनों में परस्पर उपकार्य्योपकारक सम्बन्ध है। तीनों में तीनों विषयों का दृष्टिभेद से विश्लेषण हुआ है। स्वाध्यायप्रेमी हमारे इस कथन का सर्वात्मना समर्थन करेंगे कि, विधिभागोक्त कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध रखनें वाले कुछ एक तत्त्व ऐसे हैं, जिनका आरण्यक-उपनिषत भाग का आश्रय लिए बिना कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। एवमेव आरण्यक में प्रतिपादित विषय भी अपनी पूर्णता के लिए विधि-उपनिषत्-भागों की अपेक्षा रखते हैं। एवमेव उपनिषत्-भाग के कतिपय विषयों का स्पष्टीकरण विधि-आरण्यक भागानुगमन पर ही अवलम्बित है। उदाहरण के लिए विधिभाग के यज्ञविशिष्टसंधानकर्म्म को ही लीजिए। जबतक छान्दोग्योपनिषदुपवर्णित इस विषय के विज्ञान को आत्मसात् नहीं कर लिया जाता, तबतक विधिभाग का वह विषय अपूर्ण बना रहता है। एवमेव कठोपनिषत् के नचिकेता-यम संवाद का विधि-भागोक्त चयनयज्ञस्वरूप का परिचय प्राप्त किए बिना कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। विधिभाग कर्म्म के साथ साथ उपासना, एवं ज्ञान पर, आरण्यकभाग उपासना के साथ साथ कर्म्म तथा ज्ञान पर, एवमेव उपनिषत् भाग ज्ञान (विज्ञानयुक्तज्ञानात्मिका उपनिषत्) के साथ साथ कर्म्म तथा उपासना पर प्रकाश डालते हुए परस्परानुग्राह्यानुग्राहक बनते हुए अपनी अभिन्न मैत्री का समर्थन कर रहे हैं।

प्रधान प्रतिपाद्यों की दृष्टि से जहाँ 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों तीन शास्त्र हैं, वहाँ गौणविषयों की दृष्टि से तीनों की समष्टि एक शास्त्र है। यही क्यों, तीनों तीन शास्त्र नहीं, अपितु एक शास्त्र के तीन तन्त्र हैं। जिस प्रकार वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरिक-तीनों एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र हैं, दर्शनशास्त्र एक है। एवमेव ये तीनों काण्ड एक शास्त्र है। काण्ड का अर्थ है 'पर्व'। पर्व स्वतन्त्र नहीं होता। एक गन्ने में अनेक पर्व होते हैं, सब पर्व एक गन्ने की दृष्टि से अभिन्न हैं। एवमेव कर्त्तव्यात्मक वेदशास्त्र के ये तीन पर्व

है। तीनों परस्पर अभिन्न हैं। दूसरे शब्दों में तीनों का परस्पर अभेद-सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर प्राचीन वैज्ञानिकों नें तीनों काण्डों के लिए 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" में 'मन्त्र' शब्द जहाँ अनेकशाखात्मिका मन्त्रसंहिता का संग्राहक है, वहाँ 'ब्राह्मण' शब्द 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों का संग्राहक बन रहा है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि ब्राह्मण शब्द तीनों का संग्राहक है, तो केवल विधिभाग को ही 'शतपथब्राह्मण-ऐतरेयब्राह्मण' इत्यादि रूप से 'ब्राह्मण' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ?। जो 'विधि' शब्द विधिभाग के लिए नियत है, उस विधि शब्द से तो यह विधिभाग व्यवहृत होता नहीं, अपितु जो 'ब्राह्मण' शब्द तीनों के लिए समान है, उस ब्राह्मण शब्द से ही यह विधिभाग व्यवहृत होता है, जब कि आरण्यक, तथा उपनिषत्, दोनों भी इस नाम के समानाधिकारी बनते हुए इस नाम से वञ्चित-से देखे जाते हैं। प्रश्न का समाधान मन्त्रभाग से सम्बन्ध रखता है। वेद का मन्त्रभाग 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, शेष काण्डत्रयी के लिए 'ब्राह्मण' शब्द नियत है। ज्ञातव्य भाग ब्रह्मवेद है, कर्त्तव्य भाग ब्राह्मणवेद है। यद्यपि कर्त्तव्यात्मिका काण्डत्रयी में ब्रह्मविज्ञानसम्बन्धी ज्ञातव्य विषयों का भी पर्य्याप्त स्पष्टीकरण हुआ है, तथापि इनका प्रधान लक्ष्य कर्त्तव्यशिक्षा ही माना गया है। कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी मानव का अधिकार-भेदभिन्न कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य का 'कर्म्म' से सम्बन्ध है। ज्ञातव्य का ज्ञान से सम्बन्ध है। कर्म्म ही ज्ञान की व्याख्या है। ब्रह्म (ब्रह्म) की व्याख्या का 'ब्राह्मण' कहलाना स्वतःप्राप्त है। 'ब्राह्मण' शब्द कर्त्तव्यलक्षण कर्म्म का सूचक है। योगत्रयी के प्रतिपादक तीनों काण्ड इसी कर्म्ममर्यादा से 'ब्राह्मण' उपाधि के अधिकारी बन रहे हैं। अतएव ब्राह्मण शब्द से (कर्त्तव्यकर्म्मदृष्ट्या) तीनों का ग्रहण हो जाना भी स्वतः प्राप्त है।

यद्यपि तीनों ही योग कर्त्तव्यशिक्षण के सम्बन्ध से सामान्यतः 'ब्राह्मण' नाम के अधिकारी हैं, तथापि विधिभाग में क्योंकि कर्म्म शिक्षा का प्राधान्य है, उधर ब्राह्मण शब्द का विशेषतः कर्म्म से सम्बन्ध है, अतएव विधिभाग ही में आगे जाकर ब्राह्मण शब्द प्रधान गया है। एकमात्र इसी आधार पर हमनें प्रकृत प्रकरण के नामकरण में विधिभाग के लिए 'ब्राह्मण' शब्द को प्रधानता दी है।

'ब्रह्म-ब्राह्मण' की उक्त स्वरूपमीमांसा से हमें इस निश्चय पर भी पहुँचना पड़ता है कि कर्त्तव्यभाग-त्रयी का ज्ञातव्यभाग से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों स्वस्वरूपबोध के लिए एक दूसरे के आश्रित हैं, एवमेव मन्त्रभागात्मक ब्रह्मभाग भी तीनों को लक्ष्य बना कर ही अपने सम्यग्बोध का परिचायक बन रहा है। अतएव यह कहा जासकता है कि, वेदशास्त्र एक है, मन्त्र-ब्राह्मण, ये उसके दो तन्त्र हैं। मन्त्रभाग अनेक अवान्तर तन्त्रों (शाखाओं) में विभक्त है, ब्राह्मणतन्त्र अवान्तर तीन-तन्त्रों में विभक्त है। यही वेदशास्त्र का 'पटधर्म्म' है। पटधर्म्म से तात्पर्य हमारे कहने का यह है कि, जिस प्रकार पट (वस्त्र) के एक तन्तु के हाथ में लेने से सम्पूर्ण पट दृष्टि के सामने उपस्थित हो जाता है, एवमेव ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक वेद के किसी भी एक तन्त्र को लक्ष्य बनाने से शेष सम्पूर्ण तन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। अतएव व्यापक दृष्टि रक्खे बिना वेदशास्त्र का सम्यग्बोध असम्भव है। यही वेदस्वाध्याय की एक ऐसी जटिल समस्या है, जो अपने उपक्रमकाल में ही अध्येताओं को विचलित कर देती है। एवं उस समय तो हमारी यह समस्या और भी अधिक विषम बन जाती है, जबकि हम-ब्रह्म-ब्राह्मण को, ब्रह्म के ऋक् यजु

द्विनाशिवीर्य्यप्रवर्त्तक पशिय देवता शूद्रादि से सम्बन्ध नहीं रखते। अतएव तत्सम्ग्राहक दीक्षित यजमान भी यज्ञसमाप्तिपर्य्यन्त शूद्र से भाषण नहीं करता। होता अध्वर्यु के प्रैष (अनुज्ञा) के अनुसार चलता हुआ इस लक्षण का अनुगमन करता हुआ उपासक बन रहा है, जैसाकि-'अध्वर्युमुपास्ते' रूप से स्पष्ट किया जा चुका है। ११-ग्यारहवाँ लक्षण भी इन्हीं उक्त लक्षणार्थों स गतार्थ है।

इसप्रकार विधिभागोक्त यज्ञकर्म्म में प्रतिपादित सभी उपासना-लक्षणों का समन्वय हो रहा है। उपनिषत् तत्त्व से जैसे *विधिभाग नित्य अन्वित है* एवमेव *उपासनातत्त्व से भी विधिभाग नित्य सम्बद्ध है।* बिना उपनिषत्-उपासना-तत्त्व परिज्ञान के विधिभागोक्त कर्म्म का रहस्य जान लेना असम्भव है। कर्म्म-प्रधान *विधिभाग, उपासनाप्रधान आरण्यकभाग, तथा ज्ञानप्रधान-उपनिषद्भाग के बिना अकृत्स्न है,* असर्व है, अतएव अपूर्ण है।

यही अवस्था उपासनाप्रतिपादक आरण्यकभाग की है। उपासनातत्त्व तो यहाँ प्रधान है ही। इसके अतिरिक्त बाह्यकर्म्म, तथा ज्ञानाधारत्व भी यहाँ अनिवार्य्य है। ज्ञानप्रतिष्ठ कर्म्म ही इन्द्रियधारण लक्षणा तत्त्वोपासना का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। शेष उपनिषत् भाग की भी यही परिस्थिति है। उपनिषदों में तीनों योगों का प्रत्यक्षरूप से स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि-'उपनिषत् हमें क्या सिखाती है?' प्रकरण में सोदाहरण बतलाया जा चुका है।

उक्त सन्दर्भ से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, विधि, आरण्यक, उपनिषत्, तीनों में परस्पर उपकार्य्योपकारक सम्बन्ध है। तीनों में तीनों विषयों का दृष्टिभेद से विश्लेषण हुआ है। स्वाध्यायप्रेमी हमारे इस कथन का सर्वात्मना समर्थन करेंगे कि, विधिभागोक्त कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध रखनें वाले कुछ एक तत्त्व ऐसे हैं, जिनका आरण्यक-उपनिषत् भाग का आश्रय लिए बिना कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। एवमेव आरण्यक में प्रतिपादित विषय भी अपनी पूर्णता के लिए विधि-उपनिषद्-भागों की अपेक्षा रखते हैं। एवमेव उपनिषद्-भाग के कतिपय विषयों का स्पष्टीकरण विधि-आरण्यक भागानुगमन पर ही अवलम्बित है। उदाहरण के लिए विधिभाग के यज्ञाग्निसंधानकर्म्म को ही लीजिए। जबतक छान्दोग्योपनिषदुपवर्णित इस विषय के विज्ञान को आत्मसात् नहीं कर लिया जाता, तबतक विधिभाग का यह विषय अपूर्ण बना रहता है। एवमेव कठोपनिषत् के *नचिकेता-यम संवाद* का विधि-भागोक्त चयनयज्ञस्वरूप का परिचय प्राप्त *किए बिना* कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। विधिभाग कर्म्म के साथ साथ उपासना, एवं ज्ञान पर, आरण्यकभाग उपासना के साथ साथ कर्म्म तथा ज्ञान पर, एवमेव उपनिषत् भाग ज्ञान (विज्ञानयुक्तज्ञानात्मिका उपनिषत्) के साथ साथ कर्म्म तथा उपासना पर प्रकाश डालते हुए परस्परानुग्राह्यानुग्राहक बनते हुए अपनी अभिन्न मैत्री का समर्थन कर रहे हैं।

प्रधान प्रतिपाद्यों की दृष्टि से जहाँ 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों तीन शास्त्र हैं, वहाँ गौणविषयों की दृष्टि से तीनों की समष्टि एक शास्त्र है। यही क्यों, तीनों तीन शास्त्र नहीं, अपितु एक शास्त्र के तीन तन्त्र हैं। जिस प्रकार वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरिक-तीनों एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र हैं, दर्शनशास्त्र एक है। एवमेव ये तीनों काण्ड एक शास्त्र है। काण्ड का अर्थ है 'पर्व'। पर्व स्वतन्त्र नहीं होता। एक गन्ने में अनेक पर्व होते हैं, सब पर्व एक गन्ने की दृष्टि से अभिन्न हैं। एवमेव कर्त्तव्यात्मक वेदशास्त्र के ये तीन पर्व

भग्न–भग्न किया है। जैसा कि पूर्व परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया गया है, वैशेषिक–प्राधनिक–शारीरक, तीनों तन्त्र व्याख्याताओं की दृष्टि में स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले पृथक्–पृथक् तीन दर्शनशास्त्र हैं। तीनों की समष्टि उक्त लक्षण के अनुसार सर्वशास्त्र है। यही भेदमूला सर्वता दर्शनतन्त्रों के विरोध का मूलकारण है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से यह समझ लिया जाता है कि, तीन शास्त्र नहीं है, अपितु एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र हैं, तीन अवयव हैं, फलतः तीनों की समष्टिलक्षण दर्शनशास्त्र उक्त लक्षण के अनुसार 'कृत्स्नशास्त्र' है, तो तीनों का निर्विरोध समन्वय हो जाता है। अभेदमूला यही कृत्स्नता दर्शनतन्त्रों के अविरोध की मूलप्रतिष्ठा है।

ठीक यही परिस्थिति वेदशास्त्र के सम्बन्ध में घटित हुई है। सर्वतापक्ष में ऋक्–यजु–साम अथर्व भेदभिन्न "मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्" चारों पृथक्–पृथक् शास्त्र हैं। चारों की समष्टि सर्व लक्षणानुसार 'सर्वशास्त्र' है। ठीक इसके विपरीत तन्त्र पक्ष में चारों एक वेदशास्त्र के चार अवयव हैं। फलतः कृत्स्नलक्षणानुसार चारों की समष्टि 'कृत्स्नशास्त्र' है। बहुत सम्भव है, हमारी इस कृत्स्न–सर्वव्याख्या को एक काल्पनिक वस्तु मानते हुए पाठक वेदकृत्स्नता की उपेक्षा करने लगें। अब इस सम्बन्ध में हम एक ऐसी महत्त्वपूर्ण सम्मति उनके सम्मुख रख देना चाहिते हैं कि, जिससे वे इस कृत्स्नता के अनुगामी बन सकेंगे।

वेदशास्त्र की कृत्स्नता जिन चार तन्त्रों में विभक्त बतलाई गई है, उन विभागों को क्रमशः 'वेदकाण्ड विधिव्रतकाण्ड, तप काण्ड, रहस्यकाण्ड' इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। वेदकाण्ड मन्त्रसंहिता है, विधिव्रतकाण्ड ब्राह्मण है, तपःकाण्ड आरण्यक है, एवं रहस्यकाण्ड उपनिषत् है। चारों के परिज्ञान पर ही कृत्स्नवेद की कृत्स्नता अवलम्बित है। "पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽहति" (मनु ११।०५)–"नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्" (मनु ११।०२)–"कृत्स्नमेव क्रमेर्वाशमन्येनैव च कारयेत्" (मनु ८२ ७) इत्यादि स्थलों में सर्वत्र 'एकस्याशेषस्य कृत्स्नत्वम्' के अनुसार कृत्स्न शब्द का प्रयोग करने वाले भगवान् मनुने विस्पष्ट शब्दों में चतु–पर्वात्मक वेदशास्त्र की कृत्स्नता का ही समर्थन किया है। देखिए!

"तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥" (मनु २।१६५)।

काण्डचतुष्टयात्मक, अतएव कृत्स्न वेदशास्त्र का मुख्य तन्त्र मन्त्रभाग है जिसके लिए मनुने 'वेद' शब्द का प्रयोग किया है। वेदज्ञानसाधक नियमादिलक्षण तपोऽनुष्ठान, स्वाध्यायविहित व्रतानुगमन, तथा रहस्यज्ञानानुगमन से ही कृत्स्न वेदाधिगम सम्भव है। इस साधनत्रयी के साथ साथ मनु ने संकेतविधि से तपःकर्मोपलक्षित उपासनाकाण्डात्मक आरण्यक का व्रतोपलक्षित कर्मकाण्डात्मक ब्राह्मण का, रहस्योपलक्षित ज्ञानकाण्डात्मक उपनिषत्भाग का संग्रह करते हुए कृत्स्नवेद के चारों पर्वों की ओर भी ध्यान आकर्षित कराया है। इस कृत्स्नवेद की कृत्स्नता "विज्ञान स्तुति, इतिहास कर्म उपासना ज्ञान," इन ६ भागों में विभक्त है। विज्ञान–स्तुति–इतिहास, तीनों प्रधानतः मन्त्रसंहिताभाग के प्रतिपाद्य विषय हैं।

साम-अथर्व-तन्त्रों को, ब्राह्मण के विधि-आरण्यक-उपनिषत्-तन्त्रों को पृथक् पृथक् तन्त्रायी मानते हुए वेदशास्त्र का समन्वय करने के लिए आगे बढ़ते हैं। इसी एकमात्र दोष से आज भारतीय समाज वेदार्थ के समन्वय में अपने आपको असमर्थ सिद्ध कर रहा है। इस असमर्थता का विशेष श्रेय उन व्याख्याताओं को ही अर्पण किया जायगा, जिन्होंने इन वेदतन्त्रों को स्वतन्त्र शास्त्र मानते हुए इनका पार्थक्य कर डाला है।

दूसरा क्षेत्र वर्त्तमान वेदाभ्यासियों का है, जिनके प्राच्य-प्रतीच्य भेद से दो श्रेणिविभाग हैं। अतीत प्राच्य व्याख्याताओं नें पार्थक्य के साथ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को एक वेदशास्त्र मानते हुए जहाँ आंशिक रूप से वेदतत्त्व की रक्षा करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, वहाँ वर्त्तमानयुग के प्राच्य (भारतीय) वेदाभिमानियों नें तो ब्राह्मणभाग का वेदकोटि से बहिष्कार ही कर डाला है। जिन प्रतीच्य (विदेशी) विद्वानों नें दब मुँह इनका वेदत्व स्वीकार किया है, उनके इस सम्बन्ध में ये उद्गार हैं कि, "आरम्भ में भारतीय ब्राह्मण निरे कर्म्मठ थे, विधिभागपरायण थे। अनन्तर उन्हें उपासनाकाण्ड (आरण्यक) का बोध हुआ। बहुत आगे जाकर एकेश्वरवादमूलक उपनिषदों का आविर्भाव हुआ"। यही प्रवृत्ति वर्त्तमानयुग के उन भारतीय विद्वानों की है, जो 'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः' को सर्वात्मना चरितार्थ कर रहे हैं।

मन्त्रभाग अप्रस्तुत है। शेष विधि-आरण्यक-उपनिषत्, भागों के सम्बन्ध में सर्वान्त में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, जिस प्रकार 'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य' तीनों के समन्वय से उत्पन्न 'प्रत्यय' त्रिपुटीभाव से नित्य आक्रान्त है, एवमेव विधि-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों एक दूसरे के उपकारक-उपकार्य्य बनते हुए त्रिपुटीभाव से आक्रान्त हैं। एक के बिना दूसरे का उत्थान असम्भव है। 'कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्'-'जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण'-'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि शब्दव्यवहार भी तीनों के इसी अभिन्न सम्बन्ध का समर्थन कर रहे हैं। एवं-'ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है?" इस प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है, जिसके सम्बन्ध में अभी कुछ और जानना शेष रह जाता है।

———×———

४-कृत्स्नात्मक वेदशास्त्र, और तन्त्रों की अकृत्स्नता—

वेदशास्त्र की अखण्ड-महत्ता का मुख्य कारण जहाँ 'सर्व' शब्द बन रहा है, वहाँ इसकी पूर्णता का मूलाधार 'कृत्स्न' शब्द बना हुआ है। अनेक तन्त्रों को अपने गर्भ में रखने वाला वेदशास्त्र कृत्स्न है न कि सर्व। 'एकस्याशेषत्वं कार्त्स्न्यम्' के अनुसार एक वस्तु की सर्वाङ्गीणता का प्रतिपादन करने के लिए 'कृत्स्न' शब्द नियत है। एवं 'अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्' के अनुसार अनेक वस्तुओं की समष्टि का प्रतिपादन करने के लिए 'सर्व' शब्द नियत है। एक मनुष्यशरीर हस्त-पाद-उरः-वक्ष-मस्तक-आदि सम्पूर्ण अवयवों से युक्त रहता हुआ 'कृत्स्न' है। अनेक मनुष्यों की समष्टि 'सर्व' है। कृत्स्न शब्द ऐक्य से सम्बद्ध है, सर्व शब्द अनैक्य से सम्बद्ध है। एकसत्तात्मक एक पदार्थ की सर्वता नहीं है, अपितु कृत्स्नता है। भिन्न भिन्न सत्तात्मक अनेक पदार्थों की कृत्स्नता नहीं है, अपितु सर्वता है। व्याख्याताओं की जिस सर्वता-भ्रान्ति ने कृत्स्न-दर्शनशास्त्र का अङ्ग-भङ्ग किया है, उसी सर्वता-भ्रान्ति ने कृत्स्न वेदशास्त्र का

६—मन्त्रसंहिता की सर्वता—(१)

(१)—विज्ञानसमर्थकवचन—

१—"उचा समुद्रो अरुण सुपर्णः पूर्वस्य योनि पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहित पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ" ॥
(ऋक्सं० ५।४७।३)।

२—"सप्त ऋषय प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्ताप स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ"॥
(यजु ३४।५५)।

३—"इत एत उदारुहन् दिव पृष्ठान्यारुहन्।
प्रभूर्जयो यथापथो द्यामङ्गिरसो ययु" । (सामस २।१०।२)।

४—"अविर्वै नाम देवता—ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रज" ॥ (अथर्व १०।८।५३१)।

—×—

(२)—स्तुतिसमर्थकवचन—

१—"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्" (ऋक्सं० १।१।१)।

२—"नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नम।
बाहुभ्यामुत ते नम" (यजुःसं० १६।१)।

३—"नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टय।
अमैरमित्रमर्दय" (सामस० १।२।१)।

४—"नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते" ॥ (अथर्व० ११।४।२)।

—×—

(३)—इतिहाससमर्थकवचन—

१—"क्व त्यानि नौ सख्या बभूवु सचावहे यदवृकं पुराचित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधाव सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते" ॥
(ऋक् ७।८८।५)।

शेष तीनों क्रमशः विधि–आरण्यक–उपनिषत् भागों से सम्बन्ध रखते हैं। ६ ओं प्रतिपाद्य विषय परस्पर सम्बद्ध हैं, एवं इसी समन्वयदृष्टि से कृत्स्न वेदशास्त्र शास्त्रैक्य माना गया है। वेदशास्त्र की इस कृत्स्नता से बतलाना यही है कि, एक एक तन्त्र स्वस्वरूप से अपने अपने प्रधान प्रतिपाद्य की दृष्टि से अकृत्स्न है, अपूर्ण है। चारों तन्त्र समष्टिरूप से ही कृत्स्नता के प्रवर्तक हैं।

४—कृत्स्नात्मक वेदशास्त्र, और तन्त्रों की सर्वता—

प्रस्तुत परिच्छेद का नामकरण प्रत्यक्ष में वदतोव्याघात का जनक बनता हुआ भी तत्त्वतः व्यवस्थित है। "अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्" लक्षण केवल एक तन्त्र की सर्वता का समर्थक कैसे बन सकता है ? यही तो व्याघात है। परन्तु जब प्रतिपाद्य विषयों की दृष्टि से हम विचार करते हैं, तो यह व्याघातदोष दूर हो जाता है। 'अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्' ही सर्वता है। शास्त्रैक्य की दृष्टि से जहाँ चारों तन्त्र एक ही शास्त्र के चार पर्व बनते हुए समष्टिरूप से कृत्स्नता के समर्थक बन रहे हैं, वहाँ प्रतिपाद्य अनेक विषयों की दृष्टि से प्रत्येक पर्व सर्व बन रहा है। यह ठीक है कि, प्रत्येक पर्व में प्रधानतया स्व–स्व विषय–प्रतिपादन ही हुआ है, परन्तु गौणदृष्टि से प्रत्येक में विज्ञानादि छहों विषयों का भी समावेश हुआ है। विषय अनेक (६) हैं, सबका अपना अपना स्वरूप पृथक् पृथक् है। इन अनेकों का अशेषत्व प्रत्येक तन्त्र में सम्बद्ध है। अतएव चारों तन्त्रों की समष्टि जहाँ कृत्स्न है, वहाँ प्रत्येक तन्त्र कृत्स्नवेदशास्त्र की दृष्टि से अकृत्स्न है। एवं चारों तन्त्र कृत्स्न वेदशास्त्र की दृष्टि से जहाँ एक ओर अकृत्स्न बन रहे हैं, वहाँ प्रतिपाद्य अनेक विषयों के अशेषत्व से प्रत्येक तन्त्र 'सर्व' अवश्य बन रहा है।

शब्दविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली उक्त कृत्स्न–सर्व–मीमांसा इसलिए उपादेय मानी जायगी कि, इसके आधार पर हम वेदशास्त्र के तन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध का भलीभाँति समन्वय कर सकते हैं। कृत्स्नमर्य्यादा में वेदशास्त्र अवयवी है, मन्त्र–विधि–आरण्यक–उपनिषत्, चारों तन्त्र इसके अवयव हैं। शरीरावयवों में जैसे एक दूसरे के स्वकर्म में सहयोग रहता है, तथैव इन चारों के प्रतिपाद्य विषयों का एक दूसरे के स्वरूप–विश्लेषण में अन्यतम सहयोग है। सर्वमर्य्यादा में चारों तन्त्र सर्वविषय के प्रतिपादक बनते हुए स्वतन्त्र अवयवी भी बन रहे हैं। साथ ही प्रधानविषयातिरिक्त प्रतिपाद्य गौण विषयों के अन्यत्र प्रधान बने रहने से एक दूसरे का उत्तरदायित्व भी दूसरे पर अवलम्बित है। कृत्स्नता 'वेदशास्त्र एक है' इस एकत्व व्यवहार की प्रतिष्ठा है। सर्वता चारों के पृथक् पृथक् नाम व्यवहारों की प्रतिष्ठा है।

विज्ञान–स्तुति–इतिहास, ये तीन मन्त्रसंहिता के प्रधान विषय हैं। कर्म, उपासना, ज्ञान, ये तीन गौण विषय हैं। इन ६ ओं के संग्रह से मन्त्रसंहिता का सर्वत्व सिद्ध है। विधिभाग में कर्मेतिकर्त्तव्यता लक्षण कर्म प्रधान है, शेष पाँचों गौण हैं, फलतः इसका भी सर्वत्व प्रत्यक्ष है। आरण्यक भाग में तत्तदुपासनालक्षण उपासना प्रधान है, शेष गौण हैं, अतएव इसका भी सर्वत्व निर्बाध है। उपनिषद् भाग में आत्मतत्त्वात्मक ज्ञान का प्राधान्य है, शेष पाँचों गौण हैं, अतएव इसकी सर्वता भी सुरक्षित है। अब इस सम्बन्ध में हमारा केवल यह वक्तव्य रह जाता है कि, चारों तन्त्रों में गौण–प्रधानरूप से प्रतिपादित, सर्वतामर्यादा के ६ ओं विषयों के समर्थक कुछ एक वचन उद्धृत कर आज नवीन वेदाभ्यासियों को यह सूचित कर दिया जाय कि, अवान्तरपक्षात्मक वेदशास्त्र के साथ अनभिज्ञकल्पना कितनी आपातरमणीय है!

३—"इन्द्राय मद्वने सुत परिष्टोभन्तु नो गिर ।
अर्कमर्चन्तु कारव" (सामसं०पू० २।७।४।) ।

४—"देव सस्फान सहस्रापोपस्येशिपे ।
तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांस स्याम" ॥
(अथर्व० ६।७६।३।) ।

——×——

(६)–ज्ञानसमर्थकवचन—

१—"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदु ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत" ॥
(ऋक्सं० १।१६४।३६।) ।

२—"यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोह क. शोक एकत्वमनुपश्यत" ॥ (यजुःसं० ४०।७।) ।

३—"विधु दद्राण समने बहूनां युवान सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्य महित्वाद्यामार स ह्य समान ॥
(साम० उ० ६।१।७।) ।

४—"अकामो धीरो अमृत स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोन ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मान धीरमजर युवानम्" ॥
(अथर्व० १०।८।४४।)

——१——

७—ब्राह्मणवेद की सर्वता (२)—

(१)–विज्ञानसमर्थकवचन—

१—"प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्–दिवमित्यन्ये आहु, उपसमित्यन्ये । तामृश्यो भूत्वा रोहित भूतामभ्यैत् । तं देवा अपश्यन्–अकृत वै प्रजापति करोति–इति । ते तमैच्छन्–य एनमारिष्यति । एतमन्योऽन्यस्मिन्नाविन्दन् । तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसन्–ता एकधा समभरन् । ता सम्भृता एष देवोऽभवत् । अस्यैतद् भूतवन्नाम" ॥ (ऐ०ब्रा०१३अ०।६ खं० अग्नामरुत) ।

२—"यदेतन्मण्डलं तपति–तन्महदुक्थं, ता ऋच , स ऋचालोकः । अथ यदेत-

यह एक विज्ञानसम्मत सिद्धान्त है कि, ज्यामिति (ज्यामेट्री) के अनुसार प्रत्येक वृत्त व्यास से त्रिगुणित होता है । किसी भी वृत्त के व्यास को ए॰ और उद्धृत कर लीजिए, परिधि को एक ओर । यदि परिधिमण्डल की रेखा से व्यासरेखा का समतुलन किया जायगा, तो यह तृतीयांश निकलेगी । यदि व्यास रेखा से परिधिरेखा का समतुलन किया जायगा, तो परिधि व्यास की अपेक्षा त्रिगुणित होगी । इसके साथ ही एक रहस्य और है । परिधि व्यास से तिगुनी ही नहीं होती । अपितु तिगुनी से कुछ अधिक होती है ।

इस आधिक्य का कारण ? । विज्ञानशास्त्र उत्तर देता है कि, यदि वस्तुपिण्ड पर ही वस्तुस्वरूप का अवसान हो जाता, तब तो अवश्य ही परिधि व्यासापेक्षया ठीक त्रिगुणित ही होती । परन्तु (जैसाकि वितान-वेदप्रकरण में बतलाया जाने वाला है) वस्तुस्वरूप का विश्राम पिण्ड पर ही नहीं हो जाता । अपितु पिण्ड से बा हर बहिर्मण्डलरूप से इसी वस्तुलक्षण भूतपिण्ड का प्राणरूप से वितान होता है । आश्चर्य्य तो यह है कि जिस वस्तुपिण्ड के लिए-'अहं जानामि, पश्यामि' प्रयोग होते हैं, वस्तुतः वह वस्तुमण्डल है वस्तुपिण्ड सूक्ष्म है हम इसे छू भर सकते हैं, देख नहीं सकते । देखते हैं दृश्यमण्डलात्मक महिमाग्रा को । प्राणमण्डल ही हमारी दृष्टि का विषय बनता है । "सर्वं वै अनिरुक्तम्" इस निगम सिद्धान्त का यही मौलिक रहस्य है । विश्व का कोई भी पदार्थ हम नहीं देख सकते, किसी पदार्थ का स्वरूप से निर्वचन नहीं कर सकते । जो वस्तु इन्द्रियों के द्वारा संस्काररूप से हमारे प्रज्ञानधरातल में आ जाती है, उसी का वाणी से निर्वचन होता है । वस्तुपिण्ड में केवल त्वगिन्द्रिय को छोड़ कर अन्य इन्द्रियों की गति अवरुद्ध है । वस्तु-महिमा ही संस्काररूप से प्रज्ञान में प्रतिष्ठित होती है । इसे ही हम देखते हैं । जिसे देखते हैं उसी का निर्वचन करते हैं । पिण्डापेक्षया वस्तुमात्र अनिरुक्त है । कहना यही है कि, वस्तुपिण्ड से आगे भी वस्तु-भाव विद्यमान है । इयत्प्रजापति के इस बहिर्वितान के कारण ही विष्कम्भ के वितानरूप परिणाह के पूरे तीन विवर्त न होकर कुछ अधिक भाग रहता है । यह आधिक्य ही उत्तर-वितान का कारण बनता है ।

वेदज्ञ विद्वानों को विदित है कि, तीन ऋक्मन्त्रों का एक साममन्त्र होता है । इस 'वेदन' का तात्पर्य यही है कि जितने समय में एक ऋक्मन्त्र का उच्चारण होता है, उसी ऋक्मन्त्र को यदि तिगुना समय लगा कर बोला जाता है, तो वही ऋक्मन्त्र साममन्त्र कहलाने लगता है । इसी आधार पर साम का-'त्र्यृच साम' (तीन ऋचा का एक साम) यह लक्षण किया जाता है । ठीक यही बात तत्त्वात्मक ऋक्-साम के सम्बन्ध में समझिए । तत्त्वप्रकरण में व्यास ही ऋक् है, परिणाह ही साम है । जितने प्रदेश में वस्तुपिण्ड की व्यासरेखा प्रतिष्ठित रहती है, उसे से तिगुने प्रदेश में परिणाहरेखा प्रतिष्ठित होगी । यही त्रिगुणभाव साम का पुम्भाव है, एवं तृतीयांशभाव ऋक् का स्त्रीभाव है । एकमात्र इसी आयामभाव को प्रधान मान कर श्रुति का-"साम वा ऋचः पति" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । क्योंकि तत्त्वात्मक ऋक्-साम में 'त्र्यृचं साम' यह नियम है, अतएव शब्दात्मक ऋक्-साममन्त्रों की उच्चारण-व्यवस्था में भी-'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' इस नियम का अनुगमन किया जाता है । निष्कर्ष यही हुआ कि-परिणाहात्मक साम अपने विष्कम्भरूप ऋक् की अपेक्षा त्रिगुणित होता है, जिसका प्रकार परिलेख से स्पष्ट है ।

विष्कम्भ ही त्रिगुणित बन कर परिणाह बना है, यही रहस्य सूचित करने के लिए श्रुति ने साम शब्द का-'सा च, अमश्च समवदतां, तत् सामाभवत्' यह निर्वचन किया है । साम शब्द के 'सा-अम' दो

(३१४, तथा ३१५ के मध्य में)

(७)—विष्कम्भ (व्यास) मात्रानुगतत्रिगुणितपरिणाहमण्डलपरिलेख —

यह एक विज्ञानसम्मत सिद्धान्त है कि, ज्यामिति (ज्यामेट्री) के अनुसार प्रत्येक वृत्त व्यास से त्रिगुणित होता है। किसी भी वृत्त के व्यास को ए० भार उद्धृत कर लीजिए, परिधि को एक ओर। यदि परिधिमण्डल की रेखा से व्यासरेखा का समतुलन किया जायगा, तो यह तृतीयांश निकलेगी। यदि व्यास रेखा से परिधिरेखा का समतुलन किया जायगा, तो परिधि व्यास की अपेक्षा त्रिगुणित होगी। इसके साथ ही एक रहस्य और है। परिधि व्यास से तिगुनी ही नहीं होती। अपितु तिगुनी से कुछ अधिक होती है।

इस आधिक्य का कारण ?। विज्ञानशास्त्र उत्तर देता है कि, यदि वस्तुपिण्ड पर ही वस्तुस्वरूप का अवसान हो जाता, तब तो अवश्य ही परिधि व्यासापेक्षया ठीक त्रिगुणित ही होती। परन्तु (जैसाकि वितान-वेदप्रकरण में बतलाया जाने वाला है) वस्तुस्वरूप का विश्राम पिण्ड पर ही नहीं हो जाता। अपितु पिण्ड से बाहर बहिर्म्मण्डलरूप से इसी वस्तुलक्षण भूतपिण्ड का प्राणरूप से वितान होता है। आश्चर्य्य तो यह है कि जिस वस्तुपिण्ड के लिए–'अहं जानामि, पश्यामि' प्रयोग होते हैं, वस्तुतः वह वस्तुमण्डल है वस्तुपिण्ड सूक्ष्म है हम इसे छू भर सकते हैं, देख नहीं सकते। देखते हैं दृश्यमण्डलात्मक महिमाप्राण को। प्राणमण्डल ही हमारी दृष्टि का विषय बनता है। "सर्वं वै अनिरुक्तम्" इस निगम सिद्धान्त का बड़ी मौलिक रहस्य है। विश्व का कोई भी पदार्थ हम नहीं देख सकते, किसी पदार्थ का स्वरूप से निर्वचन नहीं कर सकते। जो वस्तु इन्द्रियों के द्वारा संस्काररूप से हमारे प्रज्ञानधरातल में आ जाती है, उसी का वाणी से निर्वचन होता है। वस्तुपिण्ड में केवल त्वगिन्द्रिय को छोड़ कर अन्य इन्द्रियों की गति अवरुद्ध है। वस्तु-महिमा ही संस्काररूप से प्रज्ञान में प्रतिष्ठित होती है। इसे ही हम देखते हैं। जिसे देखते हैं उसी का निर्वचन करते हैं। पिण्डापेक्षया वस्तुमात्र अनिरुक्त है। कहना यही है कि, वस्तुपिण्ड से आगे भी वस्तु-भाव विद्यमान है। इयप्रजापति के इस महिवितान के कारण ही विष्कम्भ के वितानरूप परिणाह के पूरे तीन विभाग न होकर कुछ अधिक भाग रहता है। यह आधिक्य ही उत्तर-वितान का कारण बनता है।

वेदज्ञ विद्वानों को विदित है कि, तीन ऋङ्मन्त्रों का एक साममन्त्र होता है। इस 'वेदन' का तात्पर्य्य यही है कि, जितने समय में एक ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता है, उसी ऋङ्मन्त्र को यदि तिगुना समय लगा कर बोला जाता है, तो वही ऋङ्मन्त्र साममन्त्र कहलाने लगता है। इसी आधार पर साम का–'तृचं साम' (तीन ऋचा का एक साम) यह लक्षण किया जाता है। ठीक यही बात तत्त्वात्मक ऋक्-साम के सम्बन्ध में समझिए। तत्त्वप्रकरण में व्यास ही ऋक् है, परिणाह ही साम है। जितने प्रदेश में वस्तुपिण्ड की व्यासरेखा प्रतिष्ठित रहती है, उस से तिगुने प्रदेश में परिणाहरेखा प्रतिष्ठित होगी। यही त्रिगुणभाव साम का पुरुषभाव है, एवं तृतीयांशभाव ऋक् का स्त्रीभाव है। एकमात्र इसी आयामभाव को प्रधान मान कर श्रुति का–"साम वा ऋचः पतिः" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। क्योंकि तत्त्वात्मक ऋक्-साम में 'तृचं साम' यह नियम है, अतएव शब्दात्मक ऋक्-साममन्त्रों की उच्चारण-व्यवस्था में भी–'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' इस नियम का अनुगमन किया जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि–परिणाहात्मक साम अपने विष्कम्भरूप ऋक् की अपेक्षा त्रिगुणित होता है, जिसका प्रकार परिलेख से स्पष्ट है।

विष्कम्भ ही त्रिगुणित बन कर परिणाह बना है, यही रहस्य सूचित करने के लिए ऋषि ने साम शब्द का–'सा च, अमश्च समभवतां, तत् साम्नः सामत्वम्' यह निर्वचन किया है। साम शब्द के 'सा-अम' दो

(३१४, तथा ३१५ के मध्य में)

(८)-छन्दोवेद प्रतिकृतिप्रदर्शनात्मक परिलेख —

विभाग है। 'सा' विष्कम्भलक्षण ऋक् का वाचक है। 'अम' परिणाहलक्षण साम का वाचक है। 'समित्ये-कीभावे' के अनुसार 'अम' समन्वयभाव का सूचक है। 'सा' लक्षण ऋक् ही 'अम'लक्षण साम के साथ एकी भाव को प्राप्त कर सामरूप में परिणत हो रही है। इस कथन का तात्पर्य यही है कि, 'सा' ही त्रिगुणित बन कर उस त्रिगुणितभाव में आत्मसमर्पण कर साम बन रही है। परिणाहात्मक साम का यही संक्षिप्त स्वरूप-प्रदर्शन है। ऋक् ही साम बना है, इसी आधार पर ऋक् को कहीं कहीं साम कह दिया गया है—(देखिए बृहदेवता)।

१९–हृदय-विष्कम्भ-परिणाह, और वेदत्रयी—

छन्दावेदलक्षणा मूर्त्ति (वस्तुपिण्ड) के 'हृदय–व्यास–परिधि' ये तीनों भाग ही क्रमशः 'यजुः–ऋक्–साम' तीन वेद हैं। तीनों ही सर्वोनाधात्मक हैं, आयतनरूप हैं, सीमालक्षण हैं, छन्दामय हैं। एवं छन्द को ही ऋक् कहा जाता है, अतएव इस वेदत्रयी को हम 'ऋग्वेदत्रयी' कह सकते हैं। यही छन्दोलक्षण ऋग्वेद में तीनों वेदों का उपभोग है। यही आगे की रसलक्षणा यजुर्वेदत्रयी, एवं वितानलक्षणा सामवेदत्रयी की प्रतिष्ठा बनती है। मूर्त्ति के आधार पर ही वस्तुवत्त्वलक्षण रसात्मक यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, एवं मूर्त्ति के आधार पर ही वस्तुमण्डललक्षण वितानात्मक सामवेद प्रतिष्ठित है। इसी सर्वप्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रकृत में इसे पहिला स्थान मिला है।

तदित्थ-हृदय-विष्कम्भ-परिणाह भेदेन छन्दोमये ऋग्वेदे वेदत्रयोपभोगः—

ऋक्–१–हृदयम्–< यजुः–यजूंषि–< पुरुषः (यजुषा समुद्रः)।	< छन्दोवेदत्रयी-'ऋग्वेद'
ऋक्–२–विष्कम्भ < ऋक्–ऋच < महदुक्थम् (ऋचा समुद्र)।	
ऋक्–३–परिणाहः< साम–सामानि < महाव्रतम (साम्ना समुद्र)।	

२०–'साम' अथवा वितानवेदोपक्रम—

जिस प्रकार वेदशास्त्र में स्वयं वेदपदार्थ एक दुरूह विषय है, तथैव वेदपदार्थ में सहस्रमहिमामय 'सामवेद' एक जटिल समस्या है। पिण्डानच्छिन्न ऋग्वेद भी सुबोध्य है तदवच्छिन्न यजुर्वेद भी उतना जटिल नहीं है। किन्तु महिमामय सामवेद अपने महिमाभाव से सचमुच एक क्लिष्ट पदार्थ बन रहा है। "वेदानां सामवेदोऽस्मि" इस भगवद्वाक्य से जहाँ इसे अन्य वेदों की अपेक्षा गौरव मिल रहा है, वहाँ ९ भागों में विभक्त अथर्व, २१ भागों में विभक्त ऋक् १०१ भागों में विभक्त यजु की अपेक्षा १ भागों में विभक्त रहने से भी यह प्रजापति की वास्तविक विभूति बन रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों में विषय दुरूहता की दृष्टि से जो स्थान सामवेदीय ताण्ड्यमहाब्राह्मण का है, वह विषयदुरूहता इतर ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं है। महाविज्ञान सापेक्ष इस मण्डलात्मक साम का साम के अनन्तर सहस्र मण्डलों का दिग्दर्शन कराना भी प्रकृत में असम्भव है। इसके लिए तो स्वतन्त्ररूप से गम्भीर अध्ययन ही अपेक्षित है। साथ ही हम स्वयं भी इस विषय में पूर्ण तो क्या, आंशिक परिचय भी नहीं रखते। अपनी स्थूलसमा बुद्धि से जैसा कुछ अस्तव्यस्त ज्ञान पाया है, सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से उसी का दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है।

विभाग है। 'सा' विष्कम्भलक्षण ऋक् का वाचक है। 'अम' परिणाहलक्षण साम का वाचक है। 'अमिस्येभीमावे' के अनुसार 'अम' समन्वयभाव का सूचक है। 'सा' लक्षण ऋक् ही 'अम'लक्षण साम के साथ एकीभाव को प्राप्त कर सामरूप में परिणत हो रही है। इस कथन का तात्पर्य यही है कि 'सा' ही त्रिगुणित बन कर उस त्रिगुणितभाव में आत्मसमर्पण कर साम बन रही है। परिणाहात्मक साम का यही संक्षिप्त स्वरूपप्रदर्शन है। ऋक् ही साम बना है, इसी आधार पर ऋक् को कहीं कहीं साम कह दिया गया है—(देखिए शहदे यता)।

१९–हृदय-विष्कम्भ-परिणाह, और वेदत्रयी—

छन्दोवेदलक्षणा मूर्ति (वस्तुपिण्ड) के 'हृदय–व्यास–परिधि' ये तीनों भाव ही क्रमशः 'यजुः–ऋक्–साम' तीन वेद हैं। तीनों ही वयोनाधात्मक हैं, आयतनरूप हैं, सीमालक्षण हैं, छन्दोमय हैं। एवं छन्द को ही ऋक् कहा जाता है, अतएव इस वेदत्रयी को हम 'ऋग्वेदत्रयी' कह सकते हैं। यही छन्दोलक्षण ऋग्वेद में तीनों वेदों का उपभोग है। यही आगे की रसलक्षणा यजुर्वेदत्रयी, एवं वितानलक्षणा सामवेदत्रयी की प्रतिष्ठा बनती है। मूर्ति के आधार पर ही वस्तुतत्त्वलक्षण रसात्मक यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, एवं मूर्ति के आधार पर ही वसुमण्डललक्षण वितानात्मक सामवेद प्रतिष्ठित है। इसी सर्वप्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रकृत में इसे पहिला स्थान मिला है।

तदित्थं-हृदय-विष्कम्भ-परिणाह भेदेन छन्दोमये ऋग्वेदे वेदत्रयोपभोग —

ऋक्–१–हृदयम्–{ यजुः–यजूंषि–{ पुरुष (यजुषा समुद्र)।	{ छन्दोवेदत्रयी-'ऋग्वेद'
ऋक्–२–विष्कम्भ { ऋक्–ऋच { महदुक्थम् (ऋचा समुद्र)।	
ऋक्–३–परिणाह–{ साम–सामानि { महाव्रतम् (साम्ना समुद्र)।	

२०–'साम' लक्षण वितानवेदोपक्रम—

जिस प्रकार वेदशास्त्र में स्वयं वेदपदार्थ एक दुरूह विषय है, तथैव वेदपदार्थ में सहस्रमहिमामय 'सामवेद' एक जटिल समस्या है। पिण्डावच्छिन्न ऋग्वेद भी सुबोध्य है तदवच्छिन्न यजुर्वेद भी उतना जटिल नहीं है। किन्तु महिमामय सामवेद अपने महिमाभाव से सचमुच एक विलक्षण पदार्थ बन रहा है। "वेदानां सामवेदोऽस्मि" इस भगवद्वाक्य से जहाँ इसे अन्य वेदों की अपेक्षा गौरव मिल रहा है वहाँ ९ भागों में विभक्त अथर्व, २१ भागों में विभक्त ऋक् १ १ भागों में विभक्त यजु की अपेक्षा १ भागों में विभक्त रहने से भी यह प्रजापति की वास्तविक विभूति बन रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों में विषय दुरूहता की दृष्टि से जो स्थान सामवेदीय तारडयमहाब्राह्मण का है, वह विषयदुरूहता इतर ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं है। महाविज्ञान सापेक्ष इस मण्डलात्मक साम का साम के अवान्तर सहस्र मण्डलों का दिग्दर्शन कराना भी प्रकृत में असम्भव है। इसके लिए तो स्वतन्त्ररूप से गम्भीर अध्ययन ही अपेक्षित है। साथ ही हम स्वयं भी इस विषय में पूर्ण तो क्या, आंशिक परिचय भी नहीं रखते। अपनी स्थूलतमा बुद्धि से जैसा कुछ अस्तव्यस्त ज्ञान पाया है, सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से उसी का दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है।

मूर्त्ति की परिभाषा करते हुए पूर्व में यह स्पष्ट किया गया है कि मूर्च्छित, सोमगर्भित, अग्निपिण्ड का ही नाम मूर्त्ति है, जिसके केन्द्र–व्यास–परिधि–नामक तीन छन्द होते हैं। इसी प्रकार 'मण्डल' की भी कोई परिभाषा होनी चाहिए। जिसे मूर्त्ति (पिण्ड) कहा जाता है, उसी के आगे जाकर 'मूर्त्ति'–'महिमा' भेद से दो रूप हो जाते हैं। स्पृश्यपिण्ड मूर्त्ति है, दृश्यपिण्ड महिमा है। दृश्यपिण्ड में मूर्च्छाभुक्ति का अभाव है, अतएव इसे मूर्त्ति न कह कर 'महिमा' कहा गया है। मूर्त्ति का भी एक चारों ओर का मण्डल होता है, महिमापिण्ड भी अवश्य ही बहिर्मण्डल से युक्त रहता है। मूर्त्ति का चारों ओर का घेरा मूर्त्तिमण्डल है, महिमा का चारों ओर का घेरा महिमामण्डल है। मूर्त्तिमण्डल भी परिणाह है, महिमामण्डल भी परिणाह है। इन दोनों के व्यावहारिक बोधसौकर्य्य के लिए मूर्त्तिमण्डल को परिणाह शब्द से व्यवहृत किया जाता है, महिमा–मण्डल 'मण्डल' नाम से ही व्यवहृत होता है। इन दोनों के लिए वैदिक संकेतभाषा में 'पद–पुनःपद' शब्द नियत हैं। पद अन्तःपृष्ठ है परिणाह है। पुनःपद बहिःपृष्ठ है, मण्डल है। अन्तःपृष्ठात्मक परिणाह छन्दोलक्षण साम है, बहिःपृष्ठात्मक मण्डल वितानलक्षण सामवेद है, जिसके अवान्तर सात विभाग हो जाते हैं।

२१–मूर्त्ति का मण्डलरूप में वितान—

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि, मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत कैसे हो गई ?, इसके एकप्रकार भेद कैसे हो गए ?, एवं यह मण्डल हमारे दृश्य जगत् की वस्तु कैसे बनता है ? । इन प्रश्नों के समाधान के लिए निम्नलिखित श्रुतिभूमि की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

१—"यजुषा ह वै देवा अग्ने यज्ञं तेनिरे, अथर्चा, अथ साम्ना। तदिदमप्येतर्हि यजुषैवाग्रे यज्ञं तन्वते, अथर्चा, अथ साम्ना। यजो ह वै नामैतद्— 'यजु' रिति"।

२—"यत्र वै देवा इमा विद्याः कामान् दुदुहे, तद् यजुर्विद्यैव भूयिष्ठान् कामान् दुदुहे। सा निर्धीतमेवास। सा नेतरे (ऋक्साम) विद्ये प्रत्यास, नान्तरि–क्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यास"।

३—"ते देवा अकामयन्त–कथ न्विय विद्येतरे विद्ये स्याद्, कथमन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रतिस्यात् इति। ते होचुः–'उपांश्वेव यजुर्भिश्चरमः। तत एषा विद्येतरे विद्ये प्रतिभविष्यति, ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रति–भविष्यति' इति"।

४—"तैरुपांश्वचरन्–आप्याययन्नेवैतानि तद्। तत एषा विद्येतरे विद्ये प्रत्या–सीत्। ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यासीत्। तस्माद्यजूंषि निरुक्तानि सन्ति–अनिरुक्तानि। तस्मादयमन्तरिक्षलोको निरुक्तः सन्ननिरुक्तः"।

(शत० ब्रा० ४।६।७।१३,१७,)।

१– देवताओं ने पहिले पहिले यजु से ही यज्ञ का वितान किया अनन्तर ऋक् से अनन्तर साम से (यज्ञवितान किया)। वैसा ही आज भी (इस मनुष्यकृत वैध यज्ञ में यज्ञसम्पादक ऋत्विक) पहिले पहिल यजु से ही यज्ञ का वितान करते हैं, अनन्तर ऋक् से अनन्तर साम से (यज्ञवितान करते हैं)। (ऋक्-साम का गमन कराने के कारण) *'यज'* (*नाम से प्रसिद्ध तत्त्व ही देवताओं की परोक्षभाषा में*) *'यजु'* *नाम से* प्रसिद्ध है।'' २–''यहां प्रतिष्ठाधरातल के आधार पर देवताओं के लिए (यजुः-ऋक्-साम नाम की तीन) विद्याओं ने कामनाओं (अभीप्सित फलों) का दोहन किया। उस दोहन प्रक्रिया में देवताओं के लिए यजुर्विद्या ने ही सबसे अधिक कामनाओं का दोहन किया। (परिणाम यह हुआ कि, अत्यधिक कामदोहन से) यह यजुर्विद्या निस्सार ही बन गई। फलतः यजुर्विद्या ऋक्–साम नाम की इतर दोनों विद्याओं की (भी) अनुगामिनी न बन सकी, अन्तरिक्षलोक, एवं इतर दोनों लोकों की (भी) अनुगामिनी न बन सकी'' । ३– ''देवताओं ने संकल्पात्मक विचार किया कि, किस उपाय से इस निर्वीतरसा यजुर्विद्या को इतर विद्याओं की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा किया जाय एवं कैसे इसे अन्तरिक्षलोकात्मक दोनों लोकों का अनुगामी बनाया जाय। अन्त में यह निर्णय किया कि–''अपने यजु का उपांशु (गुप्त) रूप से ही प्रचार (वितान) करें। इसी से यह यजुर्विद्या दोनों विद्याओं, एवं दोनों लोकों की प्रतिस्पर्द्धा में ठहर सकेगी''। ४–देवताओं ने यजुओं का आप्यायन करते हुए उपांशु ही इनका प्रचार किया। फलतः यह विद्या भी दोनों विद्याओं की, तथा दोनों लोकों की प्रतिस्पर्धा में ठहर गई। इसीलिए (उपांशुभाव से ही) ये यजु निरुक्त रहते हुए भी अनिरुक्त हैं। अतएव (यजुर्मय) अन्तरिक्षलोक निरुक्त होता हुआ भी अनिरुक्त है''।

उक्त अक्षरार्थ के तात्त्विक बोध के लिए पूर्वप्रतिपादित छन्दोवेद की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। हृदय की स्वरूपव्याख्या करते हुए यह बतलाया गया है कि, स्थितिलक्षण हृदयाकाश में प्रतिष्ठित ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्राक्षरमूर्ति, स्थिति–गत्यात्मक, प्रकृति नामक तत्त्व का ही नाम हृदय है। यह हृदय ही स्थितिभाव से यू, गतिभाव से यत् बनता हुआ यजु है, यही यजुर्विद्या है। विष्कम्भात्मिका ऋक्, तथा परिणाहात्मक साम ही इतर दोनों ऋक्–सामविद्या हैं। इन तीनों विद्याओं से ही उस त्रिदेवव्यापार से सृष्टि का निर्माण हुआ है। इस निर्म्माण प्रक्रिया में यजुर्म्मूर्त्ति हृदय की मात्रा ही अतिशयरूप से सृष्टिप्रक्रिया में खर्च होती है। स्वयं विष्कम्भ (ऋक्) भी हृदय (यजु) का ही विस्तार है, विष्कम्भविस्तारात्मक परिणाह (साम) भी परम्परया इसी यजु की महिमा है। पहिले पहिल हृदय से ही वस्तुनिर्म्माणप्रक्रिया का आरम्भ होता है जैसाकि, 'हृन्मूलासृष्टिविद्या' को प्रधानता देने वाले महर्षि हिरण्यगर्भ की 'हिरण्यगर्भविद्या*' में (अन्यत्र) विस्तार से निरूपित है। हृदयलक्षण यजु के व्यापार का दूसरा फल विष्कम्भलक्षण ऋक् है, तीसरा परिणाम परिणाहलक्षण साम है। प्रत्येक मूर्त्तिसृष्टि में हृदय–(यजु)–विष्कम्भ (ऋक्) परिणाह (साम), यही सहज क्रमधारा रहती है। इस सहज क्रमधारा से त्रयी देवत्रयी की कामना पूरी हो जाती है, मूर्त्ति का उदय हो जाता है। परन्तु हृदयमात्रा विलीन हो जाती है। विलीन हो जाने का तात्पर्य्य यही है कि मूर्त्ति का परिणाहरूप बाह्य आकार, तथा विष्कम्भरूप आयाम–विस्तार–उत्सेध–घनता–धर्मों की जैसी अभिव्यक्ति रहती है, हृदयरूप यजु इस अभिव्यक्ति से तब भी वञ्चित रह जाता है, जबकि दोनों विद्याएँ इसी का उपबृंहणमात्र है।

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

यह तो हुई मूर्त्तिलक्षण छन्दोवेद की गाथा। अब उस वितानवेद का विचार कीजिए, जिसमें अन्तरिक्ष, द्यु, नामक दो लोक और प्रतिष्ठित हैं, एवं जिसका भूलोक स्वयं मूर्त्तिपिण्ड है। वितानवेद में प्रत्यक्ष में यद्यपि ऋक्-साम का ही साम्राज्य उपलब्ध हो रहा है। परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि, मूल में प्रतिष्ठित हृदयरूप यजु ही अपने साहस्रीभाव से उपांशुरूप से महिमामण्डल की परिधि पर्य्यन्त व्याप्त रहता हुआ दोनों की प्रतिष्ठा बन रहा है, दोनों की प्रतिस्पर्द्धा में सक्षम हुआ है।

२२–प्रजापति की सहस्रायु—

'सहस्र' भाव क्या वस्तु है ?, इस अवान्तर प्रश्न के सम्बन्ध में प्रकृत में विशेष नहीं कहा जा सकता। 'प्राजापत्यवेदमहिमा' प्रकरण में 'सहस्रायुर्जज्ञे' इत्यादि अवान्तर प्रकरण में सहस्र शब्द की व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, मूल में प्रतिष्ठित हृद्य देवताओं के प्राणगर्भित वाङ्मय अग्निहोत्र से उत्पन्न 'गो' नामक सहस्र तत्त्व ही वेदसाहस्री का जनक बनता है। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में देवत्रयी से सम्बद्ध सहस्र गोवत्स बीजरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। इन्हीं का आगे जाकर सहस्र मण्डलरूप से वितान होता है। यही वितानमण्डल साममण्डल नाम से व्यवहृत हुआ है। एक सर्षप (सरसों)में भी यह साहस्रीमण्डल विद्यमान है महाविश्व भी इस मण्डल से युक्त है, जो कि साहस्रीमण्डल विज्ञानभाषा में 'वैश्वसृज्य" नाम से प्रसिद्ध है। 'अणोरणीयान्, महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' में प्रतिपादित अणो महतो० आत्मा त्रिवेदमूर्त्ति हृदयावच्छिन्न यजु ही है। यही उपक्रम में अणोरणीयान् है, उपसंहार में यही महतोमहीयान् है। इसप्रकार हृदयबिन्दु के व्यास द्वारा होने वाले सहस्र–गो–वितान से वही मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत हो जाती है। मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत कैसे हो गई ?, किंवा छन्दोवेद वितानवेद में कैसे परिणत हो गया ?, इत्यादि प्रश्नों का यही संक्षिप्त समाधान है, एवं समाधान का मूलमन्त्र है एकमात्र हृदयलक्षण यजुः "बहुधा विजायते, तस्मिन्ह तस्थौ भुवनानि विश्वा"।

दूसरी दृष्टि से मूर्त्ति, और मण्डल के सम्बन्ध की मीमांसा कीजिए। जिस प्रजापति के आधार पर वितानवेद का विकास होता है, उसे ही पूर्व परिच्छेदों में हमने 'सत्यप्रजापति' कहा है, एवं इसके वहाँ 'नभ्य–उद्गीथ–सर्व' भेद से तीन विवर्त्त बतलाए हैं। प्रकृत में नभ्यप्रजापति को हम 'अनिरुक्त' प्रजापति कहेंगे, उद्गीथ को 'निरुक्तानिरुक्त' प्रजापति कहेंगे, एवं सर्वप्रजापति को 'निरुक्तप्रजापति' कहेंगे। सत्यप्रजापति के इस त्रित्व से प्रत्येक पदार्थ में 'नाभिबिन्दु, मूर्त्तिपृष्ठ, बहिःपृष्ठ' ये तीन भाव हो जाते हैं। मूर्त्तिपृष्ठ (वस्तुपिण्ड) का केन्द्र नाभिबिन्दु बनता है, बहिःपृष्ठ का केन्द्र उद्गीथप्रजापति बनता है। नाभिबिन्दु उसी प्रजापति का प्रथमान्त (पहिला अवसान, पहिली व्याप्ति) है, मूर्त्तिपिण्ड इसी का द्वितीयान्त है, बहिःपृष्ठ इसी का तृतीयान्त है। इस बहिःपृष्ठ में '९–१५–२१–३३–४८' ये पाँच अवान्तर पृष्ठ प्रतिष्ठित रहते हैं, जिनका प्रथम प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इन तीनों पृष्ठों का मूलाधार क्योंकि हृदयबिन्दु है, अतएव इसे 'नभ्य' कहना अन्वर्थ बनता है। जैसाकि छन्दोवेदपरिच्छेद में बताया जा चुका है, शून्य बिन्दु ही केन्द्रबिन्दु है। इसमें आयाम–विस्तारादि बाह्य धर्म्म नहीं है। यह त्रिवेदमूर्त्तिमयी एक निराकारशक्ति है प्रवेश का यहाँ अत्यन्ताभाव है। दिग्–देश की गति यहाँ अवरुद्ध है। यही हृद्य–बिन्दु वस्तुभार की तुला (तराजू) है।–'तत्प्रतिष्ठायां तद्वस्तुप्रतिष्ठा, तदप्रतिष्ठायां तद्वस्तूच्छेदः'।

(३१८, तथा ३१९ के मध्य में)

(९)—अणु-स्कन्ध-प्रतिकृतिप्रदर्शनात्मक परिलेख —

यह तो हुई मूर्त्तिलक्षण छन्दोवेद की गाथा। अब उस वितानवेद का विचार कीजिए, जिसमें अन्तरिक्ष, द्यु, नामक दो लोक और प्रतिष्ठित हैं, एवं जिसका भूलोक स्वयं मूर्त्तिपिण्ड है। वितानवेद में प्रत्यक्ष में यद्यपि ऋक्-साम का ही साम्राज्य उपलब्ध हो रहा है। परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि, मूल में प्रतिष्ठित हृदयरूप यजु ही अपने साहस्रीभाव से उपांशुरूप से महिमामण्डल की परिधि पर्य्यन्त व्याप्त रहता हुआ दोनों की प्रतिष्ठा बन रहा है, दोनों की प्रतिस्पर्द्धा में लगा हुआ है।

२२–प्रजापति की सहस्रायु—

'सहस्र' भाव क्या वस्तु है ?, इस अवान्तर प्रश्न के सम्बन्ध में प्रकृत में विशेष नहीं कहा जा सकता। 'प्राजापत्यवेदमहिमा' प्रकरण में 'सहस्रायुर्जज्ञे' इत्यादि अवान्तर प्रकरण में सहस्र शब्द की व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, मूल में प्रतिष्ठित हृद्य देवताओं के प्राणगर्भित वाङ्मय अग्निहोत्र से उत्पन्न 'गौ' नामक सहस्र तत्त्व ही वेदसाहस्री का जनक बनता है। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में देवत्रयी से सम्बद्ध सहस्र गौतत्त्व बीजरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। इन्हीं का आगे जाकर सहस्र मण्डलरूप से वितान होता है। यही वितानमण्डल साममण्डल नाम से व्यवहृत हुआ है। एक सर्षप (सरसों)में भी यह साहस्रीमण्डल विद्यमान है महाविश्व भी इस मण्डल से युक्त है, जो कि साहस्रीमण्डल विज्ञानभाषा में 'वैश्वरूप्य'' नाम से प्रसिद्ध है। "अणोरणीयान्, महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्" में प्रतिपादित अणो महतो॰ आत्मा त्रिवेदमूर्त्ति हृदयावच्छिन्न यजु ही है। यही उपक्रम में अणोरणीयान् है, उपसंहार में यही महतोमहीयान् है। इसप्रकार हृदयबिन्दु के व्यास द्वारा होने वाले सहस्र–गौ–वितान से यही मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत हो जाती है। मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत कैसे हो गई ?, किंवा छन्दोवेद वितान वेद में कैसे परिणत हो गया ?, इत्यादि प्रश्नों का यही संक्षिप्त समाधान है, एवं समाधान का मूलमन्त्र है एकमात्र हृदयलक्षण यजुः 'बहुधा विजायते, तस्मिन्ह तस्थौ भुवनानि विश्वा''।

दूसरी दृष्टि से मूर्त्ति, और मण्डल के सम्बन्ध की मीमांसा कीजिए। जिस प्रजापति के आधार पर विज्ञानवेद का विकास होता है, उसे ही पूर्व परिच्छेदों में हमने 'सत्यप्रजापति' कहा है, एवं इसके वहाँ 'नभ्य–उद्गीथ–सर्व' भेद से तीन विवर्त्त बतलाए हैं। प्रकृत में नभ्यप्रजापति को हम 'अनिरुक्त' प्रजापति कहेंगे, उद्गीथ को 'निरुक्तानिरुक्त' प्रजापति कहेंगे, एवं सर्वप्रजापति को 'निरुक्तप्रजापति' कहेंगे। सत्यप्रजापति के इस त्रित्व से प्रत्येक पदार्थ में 'नाभिबिन्दु, मूर्त्तिपृष्ठ, बहिःपृष्ठ' ये तीन भाव हो जाते हैं। मूर्त्तिपृष्ठ (वस्तुपिण्ड) का केन्द्र नाभिबिन्दु बनता है, बहिःपृष्ठ का केन्द्र उद्गीथप्रजापति बनता है। नाभिबिन्दु उसी प्रजापति का प्रथमान्त (पहिला अवसान, पहिली व्याप्ति) है, मूर्त्तिपिण्ड इसी का द्वितीयान्त है, बहिःपृष्ठ इसी का तृतीयान्त है। इस बहिःपृष्ठ में '९–१५–२१–३३–४८' ये पाँच अवान्तर पृष्ठ प्रतिष्ठित रहते हैं, जिनका प्रथम प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इन तीनों पृष्ठों का मूलाधार क्योंकि हृदयबिन्दु है, अतएव इसे 'नभ्य' कहना अन्वर्थ बनता है। जैसाकि छन्दोवेदपरिच्छेद में बताया जा चुका है, शून्य बिन्दु ही केन्द्रबिन्दु है। इसमें आयाम–विस्तारादि बाह्य धर्म्म नहीं है। यह त्रिवेदमूर्त्तिमयी एक निराधारशक्ति है प्रदेश का यहाँ अत्यन्ताभाव है। दिक्–काल की गति यहाँ अवरुद्ध है। यही हृद–बिन्दु वस्तुभार की तुला (वयुन) है।–'तत्प्रतिष्ठायां तद्वस्तुप्रतिष्ठा, तदप्रतिष्ठायां तद्वस्तूच्छेदः'।

मवाधार स्वयं पराधारापेक्षया निराधार यह हृद्बिन्दु ही छन्दोवेद की प्रतिष्ठा बनती हुई अपने अनिरुक्त (उपांशु) रूप से वितानभाव में परिणत हुआ है।

२३–प्रजापति के अणु–स्कंधभाव—

अविग्रहात्मा (निराकार) ब्रह्म की चर्चा को सर्वथा अविज्ञेय मानते हुए जब हम विग्रहात्मा प्रजापति के दर्शन करने आगे बढ़ते हैं, तो यहाँ हमें 'आत्मा–प्राण–पशु' नामक तीन पर्वों की उपलब्धि होती है जिस प्राजापत्य पवका कि पूर्वपरिच्छेदों में "मनोमय आत्मा, प्राणमय प्राण, वाङ्मया पशव" इत्यादिरूप से विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। मनःप्राणवाङ्मय सविग्रहात्माप्रजापति ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूप हुआ प्रकृति का समन्वय प्राप्त कर तदभिन्न बनता हुआ ही सृष्टिनिर्माण में प्रवृत्त होता है। सृष्टिनिर्माता इस प्रजापति से 'अणु, स्कन्ध' भेद से दो प्रकार की सृष्टियाँ होतीं हैं। परमाणु को हम यहाँ अणु कहेंगे, एवं जिन अनन्त परमाणुओं के समन्वय से स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसे हम 'स्कन्ध' कहेंगे। दूसरे शब्दों में स्थूलपिण्ड उसी प्रजापति की स्कन्धसृष्टि कहलाएगी, एवं सुसूक्ष्म परमाणु उसी की अणुसृष्टि मानी जायगी। इन दोनों सृष्टियों का मूलाधार प्रजापति नभ्यबिन्दु (हृदय) लक्षण कहा जायगा। क्योंकि इसी से अणु का, एवं अणु द्वारा स्कन्ध का विकास होता है।

पदार्थ साधारण की चर्चा थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। सूर्य–पृथिवी पिण्ड को उदाहरण बनाइए। एवं इन्हीं में वितानवेद के स्वरूप का साक्षात्कार कीजिए। भूपिण्ड–पिण्ड है मूर्ति है। इसमें अवश्य ही एक विष्कम्भ होगा, विष्कम्भ का मूलाधार अवश्य ही (विष्कम्भमध्यस्थ) हृदय होगा। इस हृदय से दोनों ओर वितत व्यास का क्या स्वरूप है ?, यदि यह प्रश्न किया जायगा, तो उत्तर होगा–'अणुसंघात'। अनेक अणुओं के समन्वय का ही नाम एक व्यास है। ऐसे अनेक व्यासों के समन्वितरूप का ही नाम एक स्कन्ध है, यही एक वस्तुपिण्ड है। वस्तुपिण्ड को छोड़ते हुए विशुद्ध विष्कम्भ पर दृष्टि डालिए।

२४–सहस्र के सहस्रधा महिमान सहस्रवितान—

"सम्पूर्ण मूर्तिपिण्ड अनेक व्यासों की राशिमात्र है, प्रत्येक व्यास अनेक अणुओं का संघात है प्रत्येक अणु अपना अपना एक स्वतन्त्र केन्द्र रखता है। केन्द्रबिन्दु ही अणु की जननी है, अणु ही व्यास के जनक हैं, एवं व्यास ही स्कन्धात्मक मूर्तिपिण्ड के आविर्भावक हैं" यह सिद्धान्त विज्ञानसिद्धान्त से कुछ विरुद्ध सा प्रतीत हो रहा है। क्योंकि विज्ञानसम्मत पक्ष यही है कि, एक वस्तुपिण्ड में अणु चाहे कितने ही हों परन्तु केन्द्र और व्यास एक एक ही होता है। विज्ञान के इस सिद्धान्त का प्रतिवाद तो इसलिए नहीं किया जा सकता कि, वस्तुतः केन्द्र एक ही है तदनुबन्धी विष्कम्भ भी एक ही है। साथ ही समर्थन इसलिए नहीं किया जा सकता कि, महिमारूप से एक ही मूर्ति में केन्द्र भी असंख्य हैं, तदनुबन्धी व्यास भी असंख्य हैं, फलतः मूर्तियाँ भी असंख्य हैं, यही हृदयचतुर्मय नभ्यप्रजापति का सहस्रधा महिमानः सहस्र वितान है।

मान लीजिए सूर्यकेन्द्र से सहस्र रश्मियाँ निकल कर इतस्ततः मण्डल में व्याप्त हो रही हैं। मण्डल वायु से आभ्यन्तरात् पूर्ण है। वायुतत्त्व भार्गव (सौम्य)'बनता हुआ एक मीन पदार्थ है। मीन पदार्थ रश्मि–ग्राहक बनने के साथ ही उसका परावर्तक भी बन जाया करता है। दर्पण पर प्रतिबिम्बित एक रश्मिसे सूर्य–

(३१६, तथा ३२० के मध्य में)

(१०)—रश्म्यर्कसहस्रवितानपरिलेख'—
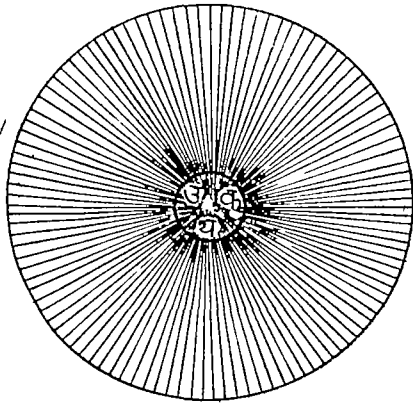
बिम्ब बना। बीच दर्पण ने रश्मिको वापस फेंका। यहाँ एक नया रश्मिमण्डल बन गया। इसीप्रकार प्रतिफलित रश्मियों को अन्य बीच पदार्थों का सहयोग प्रदान करते जाइए, एक से सहस्र, सहस्र से लाखों रश्मियों का वितान हो जायगा। ठीक इसी नियम के अनुसार बीच मायुमण्डल से (जिस वायु में–'समावन्थावन्तरिक्षम्'–(ऋक्संहिता–वाला दिक्स्थान व्याप्त है) उन रश्मियों का सम्बन्ध होता है। परिणामतः रश्मि से रश्मि, पुनः इस से अन्य रश्मि, इस क्रम से वे सहस्ररश्मियाँ अनन्त सहस्रों में विभक्त हो जाती हैं। यद्यपि सौरी–प्रकाशवाक् की व्याप्ति है, जो सौरपरिधि 'लोकालोक' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे वैज्ञानिक 'हिरण्मयमण्डल' कहा करते हैं, जिसके स्वरूपावच्छेदक रोदसीत्रिलोकीरूप द्यावापृथिवी हैं, वहाँ तक अपने अनन्त सहस्रभावों से रश्मिगत–सौर–ज्योति प्राण व्याप्त हो जाता है। यह महारश्मिमय महा ज्योतिर्मण्डल उस एक ही नभ्यबिन्दु का 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' वितान है। इस वितान का फल है–'अच्छिद्र पवित्र सौर तेज'। यद्यपि 'वालमात्रादु क्षिल्याः' निर्वचन रखने वाले 'वालखिल्या' नामक प्राणविशेष सौररश्मियों के व्यवच्छेदक बन रहे हैं। परन्तु वितानमहिमा के आगे यह व्यवधान अभिभूत हो रहा है। अतएव रश्मिप्रसरलक्षण यह सौरतेज अच्छिद्ररूप से (एकप्रकार से) सम्पूर्ण त्रैलोक्य में व्याप्त है। यदि रश्मियों का सहस्रधा–सहस्रवितान न होता, तो व्यवधानधर्म्मावच्छिन्न रश्मियों का यह प्रकाश कभी अच्छिद्र नहीं बनता। इसी महिमासाहस्री का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषिने कहा है—

> "सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्यावापृथिवी तावदित्तत्।
> सहस्रधा महिमान सहस्र यावद् ब्रह्म विष्ठित तावती वाक्"।

न केवल सूर्य्य में ही, अपितु वस्तुमात्र के केन्द्र से इसी प्रकार (हृदयमूल से) सहस्ररश्मियों का वितान होता है 'अहं सूर्य्य इवाजनि' (ऋक्संहिता) इत्यादि मन्त्र सहस्र की इसी व्याप्ति का स्पष्टीकरण कर रहा है। 'अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्' के अनुसार नीचे ऊपर–दाएँ–बाएँ–तिर्य्यक्, सब ओर रश्मिप्रसार स्वाभाविक है। यही रश्मिमण्डल उस मूर्त्ति की महिमा कहलाई है, जिसका विकास हुआ है, उन पार्श्ववर्त्ती अणुओं से, जो विष्कम्भ की सीमा बने रहते हैं। निम्न लिखितरूप से प्रत्येक वस्तु में आप सहस्र–रश्मि–वितान का समन्वय कर सकते हैं।

२५–हृदयबिन्दु का परित' वितान—

मूर्त्तिपिण्ड के बिच एक केन्द्र को मध्यबिन्दु माना जाता है, उससे सर्वथा अभिसम्पत् आगे एक बिन्दु और प्रतिष्ठित कर दीजिए। इसप्रकार एक बिन्दु के आगे एक बिन्दु का समावेश करते जाइए। ऐसी सहस्र बिन्दुओं का सन्निवेश करने के पश्चात् उस व्यास पर आइए, जो प्रथम बिन्दु का ग्राहक बना हुआ है। उत्तरोत्तर विकास होने वाली प्रत्येक बिन्दु के साथ एक स्वतन्त्र व्यास और बनाते जाइए। इसप्रकार सहस्र बिन्दुओं के सहस्र ही व्यास हो जायँगे। प्रत्येक व्यास के साथ एक एक परिणाह का सम्बन्ध करते जाइए, एक सहस्र ही परिणाह हो जायँगे। इसके साथ ही यह लक्ष्य में रखिए कि, मध्यबिन्दु में वे सहस्रमात्राएँ पूर्वकथनानुसार बीजरूप से प्रतिष्ठित हैं। बीजरूपा इदया मात्रारूपा वेदमाता ही उत्तरोत्तर विकसित होकर इतर इतरव्यास–परिधियों की जननी बनती है। यही इन्द्र प्रजापति का उत्तरोत्तर विकसन है। इसी विकसन से प्रजापति

(२२१, तथा २२२ के मध्य में)

(११)—ज्वालाबिन्दुविज्ञानपरिलेख —
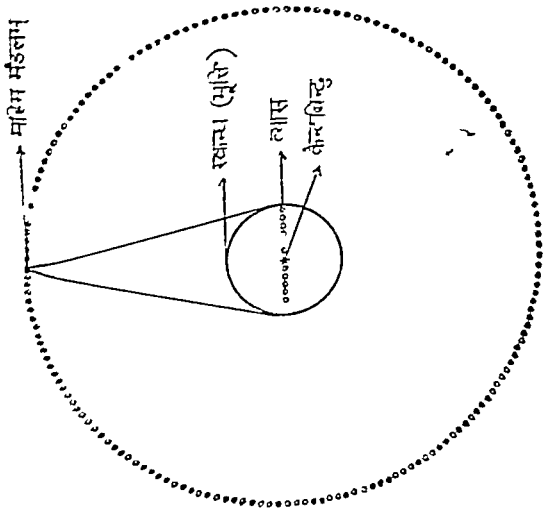
(३२१, तथा ३२२ के मध्य में)

(११)—व्यासाणुविन्दुवितानपरिलेख —
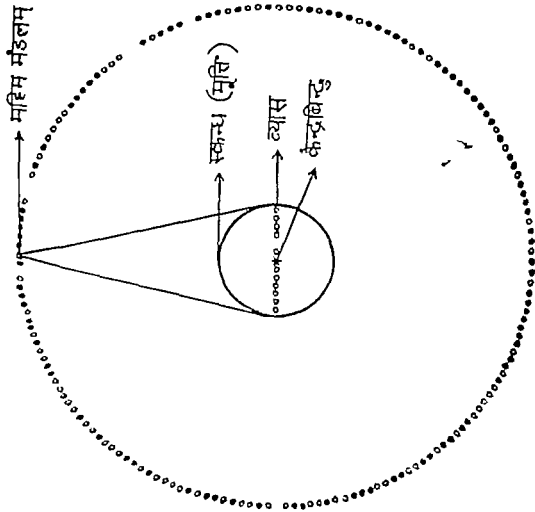
रिरिस्वान बनते रहते हैं। एवं प्रजापति का यह रिरिचानभाव अग्निशकाग्य चपलपद से पुनः सहित होता रहता है, जैसा कि 'प्राजापत्यवेदमहिमा' में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

अवश्य ही एक मूर्ति में एक ही हृदय होता है, एक ही व्यास होता है, एवं एक ही परिधि होती है। किन्तु हृदयभेद से जब मूर्तियें एक सहस्र हैं, तो इन तीनों के सहस्र विभागों में विज्ञानसिद्धान्त की कोई क्षति नहीं होती। सर्वसाधारण जिस वस्तुपिण्ड को एक मूर्ति मान रहा है, विज्ञानदृष्टि उसी मूर्ति के आधार पर महिमामयी सहस्र मूर्तियें मान रही है।

कहा जा चुका है कि, पूर्वबिन्दु के आगे एक बिन्दु का समावेश और होता है। कैसे ?, इसका उत्तर है व्यास के पार्श्ववर्त्ती दो बिन्दु। पार्श्वाणु (पार्श्वबिन्दु) स्वमहिमा से एक 'छिद्राणु' रूप में परिणत होकर आगे को नभ्यबिन्दु (केन्द्रबिन्दु) बन जाते हैं। इसी उत्तरबिन्दु को केन्द्र मान कर पुनः एक स्वतन्त्र व्यास बनता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना होगा कि, उत्तर व्यास मध्य व्यास की अपेक्षा छोटा होगा। इस दूसरे व्यास में भी वही छिद्राणुक्रम चलता है। पुनः हृदय का विधान होता है, एवं हृदयाधार पर पुनः विष्कम्भ का उदय हो जाता है। पूर्व पूर्व विष्कम्भ की दोनों पार्श्वबिन्दुओं की सम्मिलित अवस्थारूप एक एक छिद्राणु उत्तर-उत्तर का केन्द्र बनता जाता है, केन्द्र के साथ बिन्दुद्वय के उत्तरोत्तर क्रमिक ह्रास से तदनुबन्धी व्यास भी उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है। सर्वान्त में जब एक ही बिन्दु रह जाती है, तो छिद्राणु के निर्म्माण का अवसर नहीं मिलता। बस, यही अन्तिम सीमा समाप्त हो जाती है। तीन बिन्दुओं के अभाव में आगे दो बिन्दुओं का गमन अवरुद्ध है। अतएव आगे केन्द्रबिन्दु का आविर्भाव अवरुद्ध है। अतएव व्यास की स्वरूपनिष्पत्ति अवरुद्ध है। व्यास शून्य है। क्योंकि अन्तिम नभ्यबिन्दु के आगे व्यास का अभाव है, अतएव इस अन्तिम साममण्डल को 'उदयसाम' 'निधनसाम' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

२६-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-शब्दों की परिभाषा—

स्वज्योतिर्म्मय प्रत्येक पदार्थ की सामान्य संज्ञा 'सूर्य्य' है, परज्योतिर्मय प्रत्येक पदार्थ की संज्ञा 'चन्द्रमा' है, एवं रूपज्योतिर्म्मय प्रत्येक पदार्थ की संज्ञा 'पृथिवी' है। अपने प्रातिस्विक ज्योतिर्भागवश से परितः(चारों ओर से) ज्योतिर्म्मय बने रहने वाले अपने ज्योति प्रदान-धर्म्म से दूसरे पीण्ड पिण्डों को प्रकाशित करने वाले पदार्थ ही स्वज्योतिर्म्मय माने गए हैं। इन्हीं को 'सूर्य्य' नाम से व्यवहृत किया गया है। मण्डल में बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित स्वज्योतिर्गोलक इसी धर्म्म के कारण 'सूर्य्य' कहलाए हैं। इसी प्रकार स्वाती, लुब्धक, चित्रा,आर्द्रा आदि और और जितने भी स्वज्योतिर्म्मय नक्षत्र हैं, उन्हें भी सूर्य्य ही कहा जायगा। स्वयं आत्मा भी इसी परिभाषा के अनुसार सूर्य्य कहलाया है। स्वज्योतिर्म्मय किसी सूर्य्य के प्रकाश को लेकर एक भाग से प्रकाशित, एक भाग से अप्रकाशित रहने वाले ज्योतिर्म्मय पिण्ड ही परज्योतिर्मय कहलाए हैं। प्रत्यक्ष दृष्ट चन्द्रमा इसी धर्म्म से चन्द्रमा कहलाया है। इसके सदृश अनेक चन्द्रमा हैं। ये भी सूर्य्यवत् अन्य पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। जिन पदार्थों से ज्योति का आविर्भाव नहीं होता अतएव सूर्य्य चन्द्रादि की भाँति जो दूसरों को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं, जो केवल अपने रूपज्योति (स्वरूप ज्योति) के ही प्रदायक बने रहते हैं, वे सब पदार्थ 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत हुए हैं। पिण्ड की सामान्य संज्ञा 'भूः' है।

इस परिभाषा के अनुसार सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–आदि सभी पिण्ड भू हैं। सूर्य्य स्वर्ज्योतिर्म्मयी 'भूः' है, चन्द्रमा परज्योतिर्म्मयी 'भूः' है, एवं पृथिवी रूपज्योतिर्म्मयी 'भूः' है। भूरूप प्रत्येक पिण्ड अपने व्यासाणुवितान से महिमाभाव से युक्त रहता है।

२७–कूटस्थ व्यास के आधार पर भूतव्यासों का वितान—

मूलरूपा पिण्ड का केन्द्रानुबन्धी व्यास 'कूटस्थ' व्यास कहलाता है, एवं आगे के इतर व्यासों को 'भूतव्यास' कहा जा सकता है। केन्द्रस्थ अक्षर ही स्कन्धात्मक क्षरकूट का विवर्त्त बनता हुआ–'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' के अनुसार कूटस्थ कहलाया है। आगे के व्यासों में अणुभावों की प्रधानता है। अणु स्वयं क्षरात्मक हैं, क्षरप्रधान हैं। क्षर ही 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार भूत है। अतएव अणुप्रधान इतर व्यासों को 'भूतव्यास' कहा जा सकता है। जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है, हमें व्यासलक्षण भूतक का ही प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष का विषय बनने वाले अणुरूप व्यास महिमामण्डल से सम्बन्ध रखने वाले भूतव्यास ही माने जायँगे। हमारी भौतिक चक्षुरिन्द्रिय क्षरात्मक भूतव्यास का ही प्रत्यक्ष कर सकती है। कूटस्थ व्यास तो कूटस्थ अतीन्द्रिय अक्षरमूलक बनता हुआ इन्द्रियातीत ही रहता है। इसी आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है कि, "हम कूटस्थ व्यास वाले–भूपिण्ड (वसुमूर्त्ति) को नहीं देखते, नहीं देख सकते। अपितु भूतव्यासावच्छिन्ना भूमहिमामयी मण्डलात्मिका मूर्त्तियों का ही साक्षात्कार सम्भव है"।

भू से भूमहिमा कितनी बड़ी ?, कहाँ तक इसकी व्याप्ति ?, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भी कूटस्थ व्यास ही है। स्कन्धापरपर्य्यायक मूर्त्तिपिण्ड के जितने अणुओं से कूटस्थ व्यास का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, उस अणुसमष्टिरूप कूटस्थ व्यास के पार्श्ववर्त्ती अन्तिम दोनों अणुओं से दक्षिण की ओर * तिर्य्यक् रेखा ले जाइए। जहाँ जाकर ये दोनों अणुरेखायें मिल जाँय, वहाँ से एक वृत्त बना डालिए। यही वृत्त 'भूमहिमा' कहलाएगी। पिण्डव्यास के तारतम्य से इन पिण्डमहिमाओं का स्वरूप अपेक्षाकृत छोटा बड़ा होगा। निम्नलिखित परिलेख के माध्यम से प्रत्येक पिण्ड की महिमा का स्वरूप जाना जा सकता है।

२८–पार्थिव, एवं सौर सामग्रयी—

उदाहरण के लिए यहाँ सूर्य्य, पृथिवी नाम के भू पिण्डों की महत्त्व (महिमा) का विचार कीजिए। पृथवीपिण्ड की अपेक्षा सूर्य्यपिण्ड कहीं बड़ा है। इसकी महत्ता का केवल इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि, कोटि-कोटि–कोश पर्य्यन्त अपने मण्डल की व्याप्ति रखने वाला भूपिण्ड मण्डल सहित सौर मण्डल के गर्भ में समाविष्ट है। पृथिवीपिण्ड से सूर्य्य कितनी दूर ?, इस प्रश्न का उत्तर जहाँ वर्तमान विज्ञान '९ करोड़ मील दूर' इन शब्दों में देता है, वहाँ वैदिक विज्ञान अपनी भाषा में–"एकविंशो वा इत आदित्यः" यह उत्तर दे रहा है। 'पृथ्वी से २१ पर सूर्य्य है' इस उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, भूपिण्ड से

---

* वैदिक परिभाषानुसार 'दक्षिण' केन्द्र का वाचक है, दक्षिण परिधि का वाचक है। "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" इत्यादि में ऊर्ध्व शब्द भी केन्द्राभिप्राय का ही सूचक है, जैसा कि गीतामूलभाष्यान्तगत 'अश्वत्थविद्या' प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है।

सम्बन्ध रखने वाला, ४८ अहर्गणात्मक जो वषट्कारमण्डल है, उस महिमारूप वाङ्मय वषट्कारमण्डल के २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य है। वैदिक संख्याविज्ञान की प्रतिष्ठा सहस्र संख्या है, अतएव 'पूर्णं वै सहस्रम्' यह कहा गया है। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है (जैसा कतिपय आधुनिक कल्पना किया करते हैं) कि, ऋषि सहस्र-संख्या से अधिक संख्या ही न जानते थे। परमपराध्य की संख्या के आविष्कारक इन ऋषियों नें किसी कारणविशेष से ही सहस्र को पूर्ण संख्या माना है, जैसा कि अगले प्रकरणों में स्पष्ट होने वाला है। मूलस्थ बीजरूप सहस्रभाव के वितानमण्डल को ही वाङ्मण्डल कहा गया है। यही वषट्कार है। इस वषट्कार के 'अग्नि-आप -वाक्' नामक तीन शुक्रों से तीन विवर्त हो जाते हैं। अग्निशुक्र वषट्कार की एक सीमा है, आप-शुक्र वषट्कार की एक सीमा है, वाक्शुक्र वषट्कार की एक सीमा है। इन्द्र-ब्रह्मा-विष्णु इन्द्र, इन तीन अक्षरों का सत्याविभेद ही इस सीमात्रयी का जनक है। अग्निपृष्ठ पर्य्यन्त इन्द्राक्षर का, आप पृष्ठ पर्य्यन्त विष्ण्वक्षर का, वाक्पृष्ठ पर्य्यन्त ब्रह्माक्षर का साम्राज्य है, जैसाकि—"यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्" रूप से पूर्व की सहस्रव्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। अग्निपृष्ठ २१ वें अहर्गण पर समाप्त है, यहीं सूर्य्य प्रतिष्ठित है। आप-पृष्ठ ३३ पर समाप्त है, वाक्पृष्ठ ४८ पर समाप्त है। इन तीनों पृष्ठों की समाप्ति पृथिवी का 'रथन्तर साम है। 'आदित्यो वै देवरथ' के अनुसार सूर्य्य रथ है, पार्थिव साम ने इस सूर्य्यरूप रथ का भी तरण (पार) कर रक्खा है, अतएव इसे 'रथन्तर' कहा जाता है। अपिच यह पार्थिव साम मधुः रस से ओतप्रोत बनता हुआ रसतम है। इसलिए भी इसे रथन्तर कहना अन्वर्थ बनता है, जैसाकि—"**रसतमं ह वै रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्**" (शत०९।१।२।३६।) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

पार्थिव रथन्तरसाम के ही तीन रूप हो रहे हैं। पहिला आग्न्यात्मक रथन्तरपृष्ठ है, इसे 'रथन्तर' ही कहा जाता है। रथन्तर की पहिली व्युत्पत्ति का इस अग्निपृष्ठात्मक रथन्तर से सम्बन्ध है। क्योंकि २१ पर सूर्य्य है, और पार्थिव अग्निपृष्ठ २१ से ऊपर तक (लगभग २२पर्य्यन्त) जाता है, अतएव 'रथं-सूर्य्यं तरति' से इसे रथन्तर कहना अन्वर्थ बनता है। दूसरी व्युत्पत्ति का समष्टि से सम्बन्ध है। तीनों ही पृष्ठ 'रसतम हैं, अतएव पृष्ठत्रयी को रसतमापेक्षया रथन्तर कहा जा सकता है। दूसरा अबात्मक पार्थिव पृष्ठ 'वैरूपसाम' नाम से प्रसिद्ध है। तीसरा वागात्मक पार्थिव पृष्ठ '**शाक्वरसाम**' नाम से प्रसिद्ध है। शाक्वरसाम लोकत्रया-नुबन्धी दिङ्मण्डल है। वैरूपसाम पर्जन्यानुबन्धी आपोमण्डल है। रथन्तरसाम यज्ञानुबन्धी अग्निमण्डल है। शुक्रापेक्षया यहाँ तीनों क्रमशः वाङ्मय, आपोमय, अग्निमय हैं, वहाँ *मनोता की अपेक्षा तीनों क्रमशः द्युमय, गौमय, वाङ्मय कहलाएंगे। "वाक्- गौ-द्यौ -तीनों पृथ्वी के मनोता हैं। अग्निपृष्ठ वाक्-मनोता से, अप्पृष्ठ गौ-मनोता से, एवं वाक्पृष्ठ द्यौ-मनोता से परिगृहीत है। इसप्रकार शुक्रत्रयी के अनुग्रह से पार्थिव महिमामण्डल के तीन मुख्य सामपर्व हो जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

---

*इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथम खण्ड के "मन प्राणवाक्-के त्रिवृद्भाव की व्यापकता' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

१ ब्रह्मत्रयी	२ शुक्रत्रयी	३ स्तोमत्रयी	३ मनोतात्रयी	४ सामत्रयी	६ मण्डलत्रयी
३–ब्रह्मा—	वाक्	४८	द्यौ	शाक्वरं साम	विष्णुमण्डलम्
२–विष्णुः —	आपः	३३	गौ	वैरूप साम	ब्रह्ममण्डलम्
१–इन्द्र —	अग्नि	२१	वाक्	रथन्तरं साम	अग्निमण्डलम्

ठीक यही साम–संस्थानक्रम स्वज्योतिर्घन सूर्य्य में समझिए। अन्तर केवल बृहत्ता में है। अतएव सौरी पृष्ठत्रयी 'बृहत्साम' नाम से व्यवहृत हुई है। अपिच जैसे पृथिवी में रसलक्षण मधुरग्नि की व्याप्ति रहती है, तथैव सौरसंस्था में बृहतीछन्दोऽवच्छिन्न बृहत्–इन्द्रप्राण की व्याप्ति रहती है। रसाग्नि से पार्थिव साम रसलम बनता हुआ जहाँ रथन्तर है, वहाँ बृहत्प्राण से सौरसाम बृहत्साम नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवीवत् यहाँ भी २१–३३–४८ क्रम से अग्नि–आप–वाक् शुक्रों का भोग हो रहा है। सूर्य्य के मनोता ज्योतिः, गौ, आयुः, नाम से प्रसिद्ध हैं। ज्योतिर्मनोतानुगृहीत, अग्निशुक्रात्मक, एकविंशस्तोमावच्छिन्न सौरसाम 'बृहत्साम' नाम से प्रसिद्ध है। गौ–मनोतानुगृहीत आपः–शुक्रात्मक, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न सौरसाम 'वैराजसाम' नाम से प्रसिद्ध है। आयुः–मनोतानुगृहीत, वाक्–शुक्रात्मक, अष्टाचत्वारिंशत् स्तोमावच्छिन्न सौरसाम 'रैवतसाम' नाम से प्रसिद्ध है। बृहत्साम–'आदित्यमण्डल' है, वैराजसाम 'ऋतुमण्डल' है, रैवतसाम 'पशुमण्डल' है। मण्डलत्रयात्मक–सामत्रयसमष्टिरूप से एक बृहत्साम है, जिसके अवान्तर तीन पर्व हैं। पृथिवी का २१ स्तोमात्मक रथन्तरसाम ही जब सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक अपनी व्याप्ति रखता है, तो पृथिवी पिण्ड की अपेक्षा कई गुणा अधिक–सूर्य्य का २१ स्तोमात्मक बृहत्साम कहाँ तक अपनी व्याप्ति रखता होगा ?, यह एक गम्भीर प्रश्न होने पर भी आपोमय परमेष्ठी के रहस्यवेत्ताओं के लिए सर्वथा निर्णीत विषय है।

१ अक्षरत्रयी	२ शुक्रत्रयी	३ स्तोमत्रयी	४ मनोतात्रयी	५ सामत्रयी	६ मण्डलत्रयी
३–ब्रह्मा—	वाक्	४८	आयु	रैवत साम	पशुमण्डलम्
२–विष्णु:—	आप	३३	गौ	वैराज साम	ऋतुमण्डलम्
१–इन्द्र:—	अग्निः	२१	ज्योति	बृहत् साम	आदित्यमण्डलम्

(३२४, तथा ३२५ के मध्य में)

(१२)–पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत–सामत्रयी–परिलेख —

(समवत्सरं साम पार्थिव रथन्तरम्)

मोयलचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३२८, तथा ३२९ के मध्य मे)

(१३)—सौरसम्वत्सरचक्रानुगत—सामत्रयी—परिलेख —

(सम्वत्सर साम सौर हिरण्मयम्)

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(१४)–सौरनापित्र–नानाविज्ञानपरिलेख —
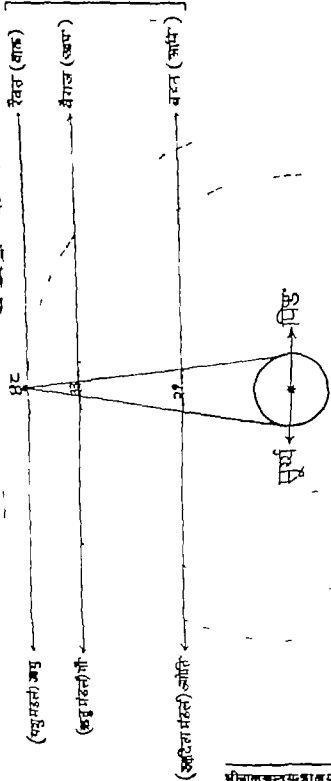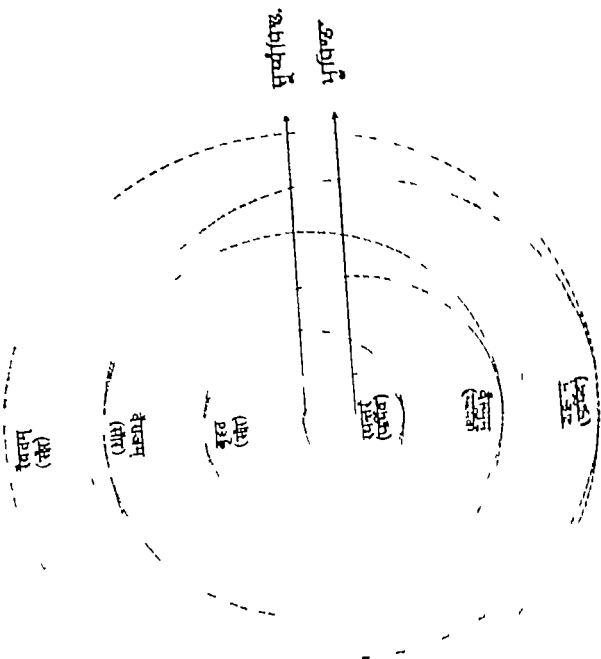
२९–सामा का अतिमानसम्बन्ध—

'त्रैलोक्यविज्ञान' के अनुसार स्त्रीस्थानीया पृथिवी, पुरुषस्थानीया द्यौ, दोनों का परस्पर विवाह होता है। इसी से उदृत्रिलोकी का आविर्भाव होता है, जैसाकि अन्यत्र (पुराणरहस्यादि निबन्धों में) प्रतिपादित है। द्यावापृथिवी के इस विनिमय-कर्म को ही सम्प्रदायतत्त्ववेत्ताओंने 'अतिमानसम्बन्ध' नाम से व्यवहृत किया है। इसी सम्बन्ध से द्यावापृथिवी (सूर्य-पृथिवी) के श्येत-नौधस-रसों का परस्पर आदान-प्रदान होता है। सामपृष्ठ ही श्येत-नौधस-रसों के आदान-प्रदान के द्वार हैं, अतएव इन्हें भी नामनिर्देश मान लिया गया है। पृथिवी के तीनों सामा का सूर्य के तीनों सामों के साथ होने वाले इस अतिमानसम्बन्ध को हम 'बृहद्रथन्तरसम्बन्ध' ही कहेंगे। पार्थिव रथन्तरसाम के साथ सौर बृहत्साम का अतिमान है। पार्थिव वैरूपसाम के साथ सौर वैराजसाम का अतिमान है। एवं पार्थिव शाक्वरसाम के साथ सौर रैवतसाम का अतिमान है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

निम्नलिखित श्रुतियाँ पार्थिव रथन्तर-वैरूप-शाक्वर, एवं सौर बृहत्-वैराज-रैवत, इन तीनों के अतिमानसम्बन्ध का ही स्पष्टीकरण कर रही हैं—

१–"बृहच्च वा इदमग्रे रथन्तरं चास्ताम्। वाक् च वै तन्मनश्चास्ताम्। वाग् वै रथन्तरं, मनो बृहत्। तद्-बृहत्पूर्वं ससृजानं रथन्तरमत्यमन्यत। तद्रथन्तरं गर्भमधत्त, तद्वैरूपमसृजत। ते द्वे भूत्वा रथन्तरं च, वैरूपं च बृहदत्यमन्येताम्। तद् बृहद्गर्भमधत्त, तद्वैराजमसृजत। ते द्वे भूत्वा बृहच्च, वैराजञ्च, रथन्तरं च, वैरूपं चात्यमन्येताम्। तद्रथन्तरं गर्भमधत्त, तच्छाक्वरमसृजत। तानि त्रीणि भूत्वा रथन्तरञ्च, वैरूपं च, शाक्वरं च-बृहच्च, वैराजं च, अत्यमन्यन्त। तद् बृहद्गर्भमधत्त, तद्रैवतमसृजत। तानि त्रीण्यन्यानि, त्रीण्यन्यानि तानि षट् पृष्ठान्यासन्"
(ऐ० ब्रा० १९।६। ८।)।

२–"यद्वै रथन्तरं, तद्वैरूपम्। यद् बृहत्, तद्वैराजम्। यद्रथन्तरं, तच्छाक्वरम्। यद् बृहत्, तत्-रैवतम्। उभे अनवसृष्टे भवत"। (ऐ० ब्रा० १७।७।१३।)।

३–"उभे बृहद्रथन्तरे भवत। इयं वाव रथन्तरं, असौ बृहत्। आभ्यामेवैनमन्तरेति-वाचश्च, मनसश्च। प्राणाच्च, अपानाच्च। दिवश्च, पृथिव्याश्च। सर्वस्माद्विषाद्, वेद्यात्" (ऐ० ब्रा० ११४।६।)।

३०–चाक्षुष साम, और प्रोतास्वबिन्दु—

उक्त 'सामातिमानविज्ञान' से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, नभक में ग्रह-नक्षत्र-सूर्य-चन्द्रादि जितने भी ज्योतिर्गोलक दिखलाई देते हैं, उन सबके ज्योतिर्मय साममण्डलों के साथ हमारे चाक्षुष-

(१५)–चाक्षुषसामातिमानरिलेख —
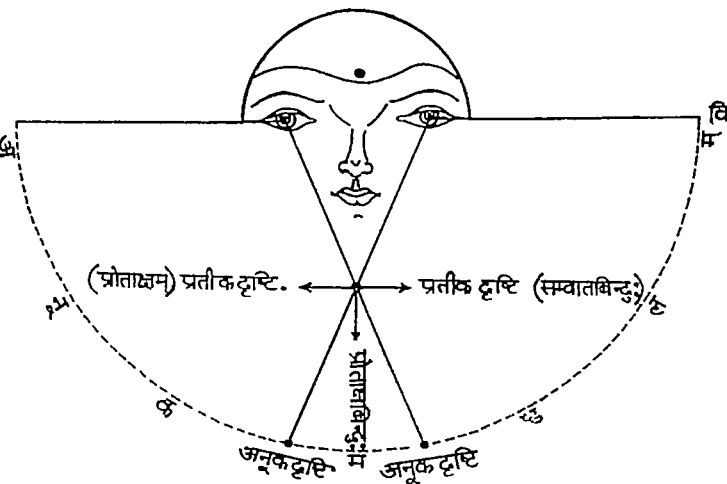
ज्योतिर्मय साममण्डल का (यावापृथिव्य साम्नों की भांति) प्रतिमान हो रहा है। इसी प्रतिमान से ये ज्योतिर्गोलक हमारी चक्षुरिन्द्रिय के विषय बन रहे हैं। सूर्य, और चक्षु की तुलना इसीलिए की गई है कि, इसका स्वरूप सौरसंस्था से मिलता जुलता है। जो रुक्म-पुष्करपर्ण-पुरुषत्रयी सूर्यसंस्था में है, वही त्रयी अध्यात्मसंस्था के चक्षुर्मण्डल में हैं *। इसीलिए चाक्षुष पुरुष की, एवं आदित्यपुरुष की उपनिषदों में तुलना हुई है A। प्रकृत में यही बतलाना है कि, हमारी नत्रज्योति का उपादान स्वज्योतिर्मय सूर्य है, अतएव चक्षुरिन्द्रिय भी स्वज्योति का अधिष्ठाता बन रहा है। दोनों आँखों से रश्मियों का विनिगमन होता है। यदि हम पूर्व दिशा की ओर मुख करके खड़े हो जाते हैं, तो दहिनी आँख से निकलने वाली चक्षुरश्मि ईशानकोण की ओर (तिर्य्यक्) जाती है, वामरश्मि का रुख अग्निकोण की ओर रहता है। इन तिर्य्यक् रश्मियों का आगे जाकर मिलन होता है। जिस बिन्दु पर इनकी इस दूरी का पात होता है, दूरी हट जाती है, वही बिन्दु 'सम्पातबिन्दु' नाम मे प्रसिद्ध है। इस सम्पातबिन्दु को ही विज्ञानभाषा में 'प्रोतावबिन्दु' कहा गया है। फलपाइन्ट-फोकस-आदि नामों से वर्त्तमान विज्ञान-भाषा में प्रसिद्ध इस प्रोताबबिन्दु पर जो वस्तु रहती है, उसकी 'पश्यन्ति सप्तम सर्वे शनि-जीव-कुजाः-पुन" (लघुपाराशरी) इस ज्योति सिद्धान्त के अनुसार (ठीक सामने पड़ने से) इतर प्रान्त-भागों की अपेक्षा स्पष्ट प्रतीति होती है। सम्पातबिन्दु से आगे पुन: चक्षुरश्मियों का तिर्य्यग वितान हो जाता है। एवं किसी नियत सीमा पर वितानमण्डल समाप्त हो जाता है। यही मण्डल चाक्षुषसाम है। यही वस्तुप्रत्यक्ष का कारण बनता है। जिस वस्तु का साममण्डल इस चाक्षुष साममण्डल में प्रविष्ट होता है, हम उसी का प्रत्यक्ष किया करते हैं। हम देखते हैं कि, चक्षु से १० वितस्ति दूर रक्खा हुआ एक स्थूल पदार्थ (घट-पटादि) तो हमारी दृष्टि में आ जाता है, परन्तु घट और चक्षु के बीच के प्रदेश में पड़े हुए एक केश को हमारी आँखें नहीं देख पातीं। कारण इसका यही है कि, घट का साममण्डल तो चाक्षुष साममण्डल में प्रविष्ट हो जाता है, किन्तु केश का अल्पसीमायुक्त अल्पसाममण्डल चाक्षुषसाममण्डल के साथ प्रतिमान करने में असमर्थ रहता है। वस्तुप्रत्यक्ष के लिए यह प्रत्येक दशा में आवश्यक है कि, अपने स्थान पर स्थित चाक्षुषमण्डल की सीमा के भीतर अन्य वस्तुओं के साममण्डलों का प्रवेश हो। प्रतीकबिन्दु (सम्पातबिन्दु) पर वस्तुमण्डल आ गया तब तो कहना ही क्या है। यदि अनूकमण्डल के ही भीतर आकर रह गया प्रतीक तक न पहुँच सका, तब भी सामान्य प्रत्यक्ष हो जायगा। परन्तु अनूक से बाहिर ही जिसका साममण्डल रह गया, उसका प्रत्यक्ष असम्भव है।

---

*—"अथाध्यात्मं—यदेतन्मण्डलं तपति, यश्चैष रुक्म, इदं तच्छुक्लमक्षन्। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, यच्चैतत् पुष्करपर्णं, इदं तत् कृष्णमक्षन्। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुष, यश्चैष हिरण्मय पुरुष, अयमेव स—योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः" (शत० १०।५।२।७)।

A—'आदित्यः चक्षुः, चक्षुष आदित्य"। "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्"। इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' के 'आचार्य्यपरीक्षा' नामक खण्ड के 'चाक्षुषकृष्णरहस्य' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

(३२८, तथा ३२६ के मध्य में)

(१६)-छन्दोवेदात्मक-विष्कम्भवितानपरिलेख —

महिम्नामहीयान

कूटस्थव्याप्तोऽक्षरमय

अणोरणीयान्
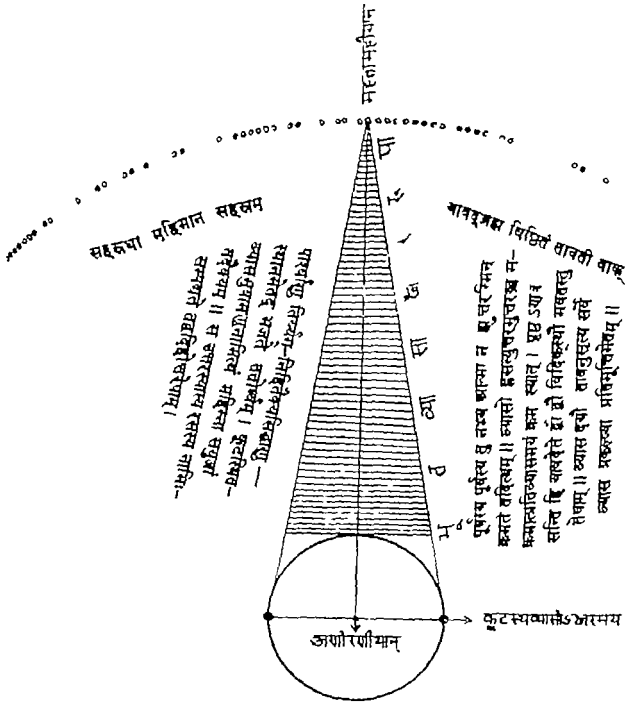
कर हम हृदयबिन्दुवितान का विचार करेंगे, वहीं से भूतव्यासवितान का स्वरूप गृहीत हो जायगा। दूसरे शब्दों में मूर्तिगत प्रत्येक कूटस्थ व्यास के आधार पर मूर्ति के चारों ओर समभावापन्न नवीन नवीन भूतव्याससंस्था उपलब्ध होगी। परिणाम इस का यह होगा कि, मूर्ति के उन अनन्त कूटस्थ व्यासों के आधार पर मूर्ति के चारों ओर अनन्त (सहस्र) भूतव्याससंस्थाएँ बन जायँगी प्रत्येक भूतव्याससंस्था का मध्याधार तत् सम्बद्ध कूटस्थ व्यास बनेगा। प्रत्येक कूटस्थ व्यास तत्सम्बद्ध कूटस्थ हृदबिन्दु के आधार पर प्रतिष्ठित होगा। प्रत्येक भूतव्याससंस्था का प्रत्येक व्यास पूर्व पूर्व व्यासाणुद्वय से सम्पन्न सिद्धाणुद्वय से समन्वित सिद्धाणुरूप हृदयबिन्दु को अपनी प्रतिष्ठा बनाएगा। और इसप्रकार पूर्व में बतलाए हुए विष्कम्भ-वितान का निम्न लिखित स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित होगा।

३२–प्रत्यक्षविज्ञान—

वस्तु–दर्शन के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, हमारी चक्षुरिन्द्रिय वस्तु पर जाती है ?, अथवा विषय हमारे चक्षु पर आता है ?। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर यही उत्तर मिलता है कि, न तो चक्षु ही विषय पर जाता, एवं न विषय ही चक्षु पर आता। दार्शनिक दृष्टि इस सम्बन्ध में यह उत्तर देती है कि, श्रोत्र–घ्राण–रसना, आदि इतर इन्द्रियाँ तो 'अप्राप्यकारी' हैं एवं चक्षुरिन्द्रिय 'प्राप्यकारी' है। 'संयोग–विभाग–शब्द' तीनों में से किसी एक व्यापार से आकाश में व्याप्त, 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्ध वाक्–समुद्र में व्यापारानुरूप उसी प्रकार वीचियाँ (लहरें–तरङ्गें) उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे एक जलपूर्णपात्र का जल कणपातलक्षण आघातबल से वीचिरूप में परिणत हो जाता है। वाक्–वीचियाँ अपने आगे के वाक्–भाग को वीचिरूप में परिणत करती हुई आगे वितत होती हैं। यदि यह वीचिक्रम धारावाहिक रूप से उत्तरोत्तर संक्रमण करता हुआ हमारी श्रोत्रेन्द्रिय पर्य्यन्त आने में समर्थ हो जाता है, तो उस वीचि का कर्णशष्कुली पर आघात होता है। यहाँ पर सर्वेन्द्रिय प्रज्ञानमन प्रतिष्ठित है। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा प्रज्ञान मन पर उस वीचि का आघात होता है। तत्काल शब्द उत्पन्न हो जाता है। 'शप–आक्रोशे–आपातं–दधाति' ही 'शब्द' शब्द का निर्वचन है। इसप्रकार वीचितरङ्गन्याय से वाग्–वीचियाँ श्रोत्रेन्द्रियस्थान पर ही शब्दाविर्भाव का कारण बनती हैं। अतएव श्रोत्रेन्द्रिय को 'अप्राप्यकारी' (विषय पर–शब्द पर–न जाकर स्वयं अपने स्थान में ही प्रतिष्ठित रहते हुए शब्दविषयग्रहण करने वाला) कहना अन्वर्थ बनता है। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय भी विषय को अपनी सीमा में लेकर ही रसग्रहण में समर्थ होती है। यही अवस्था घ्राणादि इतर इन्द्रियों की है। दार्शनिकों का कहना है कि, चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती है। अतएव इसे प्राप्यकारी मानना चाहिए। परन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि—'सर्वाणीन्द्रियाणि–इन्द्रियत्वेन समानधर्म्मोपेतानि' इस न्याय से चक्षु भी अप्राप्यकारी ही है। चक्षु के तेजोमय जिस साममण्डल का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वह चक्षुरिन्द्रिय का अपना साम्राज्य है, अपना मण्डल है, स्व–विध है। विषय को स्वयं इस मण्डल में आना पड़ता है। चाक्षुष तेजोमण्डल चक्षुर्बिन्दु को छोड़ कर विदूरस्थ विषय पर अनुधावन नहीं कर सकता। यदि चक्षुरिन्द्रिय का चक्षु गोल को छोड़ कर बाहिर निकलना दार्शनिक किसी प्रकार सिद्ध कर देते, तो अवश्य ही इस सम्बन्ध में उनका अप्राप्यकारित्व सिद्धान्त सुरक्षित रह सकता था। मानना पड़ेगा कि, चक्षुरिन्द्रिय सदा स्वस्थान में ही प्रतिष्ठित रहती है। अतएव कहना पड़ेगा कि चाक्षुषमण्डल चक्षुर्बिन्दुव्यास से नद्ध होता हुआ नियत स्थान पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इसी आधार पर दार्शनिकों को मान लेना पड़ेगा कि, न तो चक्षु ही विषय पर जाता, न

(१२८, तथा १२९ के मध्य में)

(१६)-छन्दोवेदात्मक-विष्कम्भवितानपरिलेख —

श्री बालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(१२८, तथा १२९ क मध्य में)

(१७)–व्यासाणुसाहस्रीवितानपरिलेख —

(भूवन्यासाना परितो वितानम्)
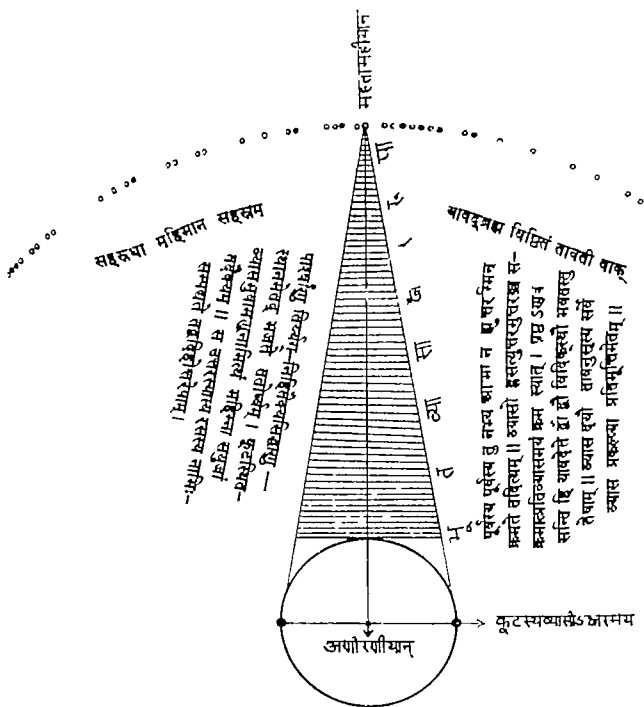
(३२८, तथा ३२९ के मध्य में)

(१८)—व्यासानुगतपरिणाहसाक्षीवितानपरिलेख —

(भूतव्यासानुगत–परिणाहभावाना परितो वितानम्)
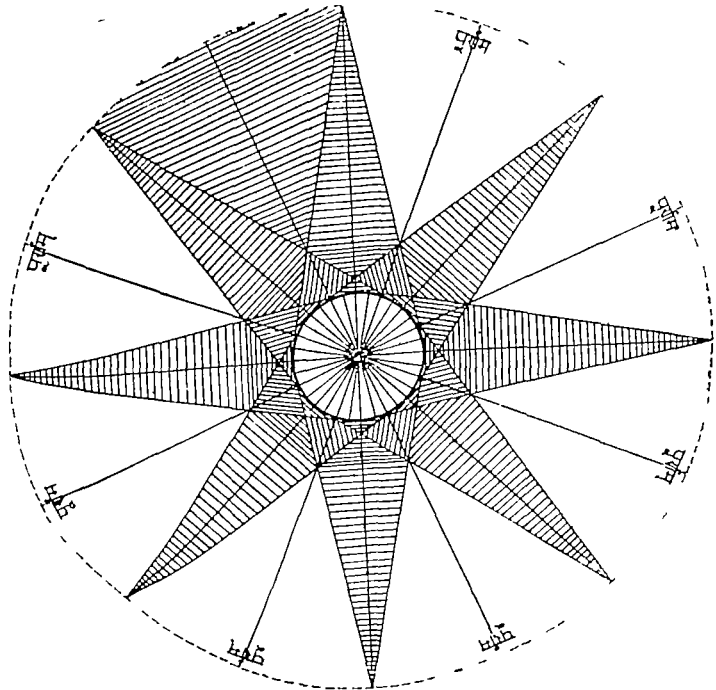
(२९८, तथा २९९ के मध्य में)

(१८)-व्यासानुगतपरिणाहमात्रीवितानपरिलेख —

(भूव्यासानुगत-परिणाहभावाना परितो वितानम्)
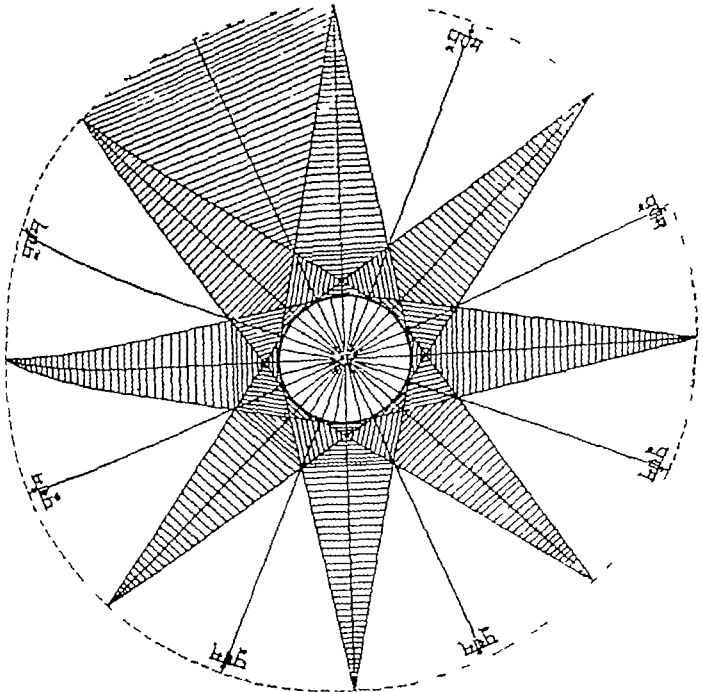
चाक्षुष सामर्थ्यवश ही विषय पर जा सकता। फलतः इतरेन्द्रियवत् चक्षु का भी अप्राप्यकारित्व ही सिद्ध हो जाता है।

तो क्या विषय चक्षु पर आता है?, उत्तर मिलेगा, नहीं। जो हेतु चक्षु के विषय पर न जाने का है, वही हेतु विषय के चक्षु पर न आने में समझिए। प्रत्येक भौतिक पदार्थ स्वस्थान में प्रतिष्ठित है। वह चल कर चक्षु में आ गया, अथवा चक्षु पर आ गया, यह मान लेना तो बुद्धि का उपहास होगा। यदि इस उपहास का अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए हम अभिनन्दन कर भी लें, तब भी बात ठीक नहीं बैठती। हम मान लेते हैं कि, भौतिक विषय के थोड़े परमाणु ही हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर आ जाते हैं। यदि सचमुच ऐसा है, तब तो वस्तुपिण्ड की थोड़े ही समय में उत्क्रान्ति हो जानी चाहिए। क्योंकि दृष्टिद्वारा उसके परमाणु विलीन हो रहे हैं। यदि एक ही वस्तु को एक सहस्र, अथवा परमाणुसंख्यानुरूप एक सहस्र से अधिक, अथवा कम व्यक्ति एक ही समय में देखने लगेंगे, तो परमाणूत्क्रान्ति से वस्तु तत्काल उत्क्रान्त हो जायगी। परन्तु ऐसा नहीं होता। असंख्यात मनुष्यों की दृष्टि के विषय बनते हुए भी भौतिक पदार्थों के परमाणुसंघठन में कोई ह्रास नहीं होता। अतएव मानना पड़ेगा कि, विषय चक्षु पर नहीं आता।

इस के अतिरिक्त यदि विषय का चक्षु पर आगमन मान लिया जायगा, तो एक संकट और उपस्थित हो जायगा। चक्षुरिन्द्रिय के स्वरूप पर होने वाले आघातरूप संकट की बात छोड़िए। प्रधान संकट तो यह होगा कि समीपस्थ, विदूरस्थ विषय सब को समानाकार ही प्रतीत होने लगेंगे (होने चाहिएँ)। जब वस्तु ही आँख पर आ रही है, तो समीपस्थ वस्तु विदूरस्थ की अपेक्षा क्यों बड़ी प्रतीत हो, एवं विदूरस्थ वस्तु समीपस्थ की अपेक्षा क्यों छोटी प्रतीत हो। हम देखते हैं कि पुरोऽवस्थित वस्तुपिण्ड से हम ज्यों ज्यों दूर हटते जाते हैं, त्यों त्यों उसकी आकृति छोटी दिखलाई देने लगती है। एवं ज्यों ज्यों हम इस के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों वस्तुस्वरूप बड़ा प्रतीत होने लगता है। विषयागमनद्वारा इस प्रत्यक्षदृष्टि का भी समाधान नहीं किया जा सकता। इसलिए भी यह निश्चयरूप से कहना पड़ेगा कि, विषय भी (चक्षुर्गत्) चक्षु पर नहीं आता।

चक्षु विषय पर जाता नहीं, विषय चक्षु पर आ ता नहीं, फिर भी विषयदर्शन हो रहा है, यह कैसा आश्चर्य है। यदि विषय चक्षु पर नहीं आता, तो आँखें किसे देखतीं हैं?, यदि आँख विषय पर नहीं जाती, तो किस के लिए 'अहं पश्यामि' अभिनय होता है?। वैज्ञानिक उत्तर देते हैं—"सर्वं वै अनिरुक्तम्"। विश्व के यच्च–यावत् पदार्थ अनिरुक्त हैं, अनिर्वचनीय हैं, दृश्यजगत् से बाहिर की वस्तु हैं। हम जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं, वह हमारी सृष्टि है, हमारे हृदयप्रजापति का अन्तर्जगत् है। जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के अन्तर्मिचारों का अन्तर्जगत् का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है, तो यही मनुष्य महामहिममय इस विश्वको, विश्व के पदार्थों को, ईश्वरीय जगत् को कैसे देख सकता है?। जीव कभी ईश्वरजगत् के दर्शन नहीं कर सकता।

३३–अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत्—

विश्वविषय' को 'अन्तर्जगत्' बहिर्जगत्' भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। स्वज्ञानसीमा के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला जगत् अन्तर्जगत् कहलाएगा, एवं स्वज्ञानसीमा से बहिर्भूत जगत् बहिर्जगत् माना जायगा। यज्ञपुरुषीयप्राजापत्यस्वरूपात्मक पाञ्चभौतिक महाविश्व 'इमानि भुवनानि' सर्वभुवनानि

विश्वा' के अनुसार स्वज्ञ ईश्वर के ज्ञानमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतएव ईश्वरीय ज्ञानापेक्षया इस महाविश्व को हम ईश्वर का अन्तर्जगत् कहेंगे। यही अन्तर्जगत् जीव की ज्ञानसीमा से बहिर्भूत है, अतएव जीवज्ञानापेक्षया इसी ईश्वरीय अन्तर्जगत् को बहिर्जगत् कहा जायगा। हम (जीव) सूर्य्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, पृथिवी, जल, पाषाण, आदि आदि जितनें भी पदार्थ देख रहे हैं, देखते हैं, देखेंगे, वे सब ईश्वरीय अन्तर्जगत् के सूर्य्य-चन्द्रमादि से सर्वथा पृथक् पदार्थ हैं। हम अपने बनाए हुए ही पदार्थों को देखते हैं। हमें उसी सूर्य्य का प्रत्यक्ष हो रहा है, जिसका निर्म्माण भी चक्षुरिन्द्रिय के सहयोग से हमारे ज्ञान के द्वारा (प्रज्ञान-द्वारा) ही हुआ है, एवं जो प्रतिष्ठित भी हमारे ज्ञानमण्डल की सीमा के गर्भ में ही है। कैसे ?, इसका एकमात्र उत्तर यही प्रक्रान्त वितानवेद है।

सूर्य्यपिण्ड वस्तुपिण्ड है। इसमें उसी हृदयबिन्दु के आधार पर एक महिमण्डल और बनता है। हृदय-व्यास-परिणाहों के उत्तरोत्तर वितान से सूर्य्यरश्मियों का एक महिमामय मण्डल बन रहा है। सूर्य्य की एक रश्मि को ले लीजिए, और विचार कीजिए कि, इस रश्मि का क्या स्वरूप है ?। अन्वेषण करने पर आप इस तथ्य पर पहुँचेंगे कि, जो सूर्य्यमूर्त्ति स्वस्थान में महामहा थी, वही उत्तरोत्तर बड़ी-छोटी के तारतम्यिक क्रम से रश्मिरूप में परिणत हो रही है। सूर्य्य में सहस्ररश्मियां मान लीजिए। प्रत्येक रश्मि सहस्र केन्द्र बिन्दुओं की चिति है। प्रत्येक हृद्यबिन्दु दीर्घ-ह्रस्व व्यास से युक्त है, एवं प्रत्येक व्यास बड़े-छोटे परिणाह से घिरा हुआ है। मूर्त्ति का यही तो प्रातिस्विक स्वरूप है, जिसका छन्दोवेदनिरुक्ति में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। क्योंकि केन्द्रबिन्दु एक सहस्र हैं अतएव व्यास, परिणाह भी एक सहस्र हैं। फलतः केन्द्र बिन्दुवितानलक्षण प्रत्येक रश्मि में सहस्र-बड़ी छोटी सूर्य्यमूर्त्तियों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन सहस्र मूर्त्तियों की मूलाधार वस्तुपिण्डात्मिका वही महासूर्य्यमूर्त्ति है। यह इसका पद-रूप है, ये पुनःपद हैं, महिमाभाव हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

३४-सूर्य्यरश्मि, और सहस्रसूर्य्य —

उक्त परिलेख से पाठकों को विदित होगा कि, जिसे हम 'सूर्य्यरश्मि' कहते हैं, वह वस्तुतः सूर्य्य की एक सहस्र मूर्त्तियों का वितानमात्र है। इस वितान का मुख्य स्तम्भ भूतव्यास ही बनता है। विष्कम्भ ही व्यास है, यही परिणाहात्मक साममण्डल से युक्त होकर मूर्त्तिभाव में परिणत होता है। सूर्य्यसंस्था उदाहरणमात्र है। वस्तुपिण्डमात्र में वस्तुपिण्डलक्षण छन्दोवेद के कूटस्थ व्यास को आधार मान कर वितत होने वाले एक एक भूतव्यास से निष्पन्न एक एक मूर्त्ति के पारस्परिक वितान से प्रतिव्यासपृष्ठीय केन्द्र-रश्मि में एक एक सहस्र मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं। इन 'सहस्रधा-महिमानः सहस्रम्' मूर्त्तियों का जो एक बृहन्मण्डल बनता है, वही तत्तत्पदार्थ का महिमामण्डल है। वस्तुपिण्ड चक्षुर्वत् स्थिर है, भूतपिण्ड भी स्वस्थान पर स्थिर है। दोनों के साममण्डल भी स्थिर हैं। यदि दोनों के साममण्डल परस्पर प्रतिमानभाव से युक्त हो जाते हैं तो तत्प्रदेश विषयसाम के प्रदेशविशेष में रहने वाली आकारविशेषयुक्ता मूर्त्ति का चाक्षुषसाम के द्वारा चक्षुर्गत प्रज्ञान मन में प्रतिबिम्ब उतर जाता है। यही प्रतिबिम्बित वस्तुमूर्त्ति हमारे प्रत्यक्ष का कारण बनती है। इसी के लिए 'अहं पश्यामि' यह अभिनय होता है। पहिले एक स्थान पर हमनें यह कहा था कि, वस्तुपिण्ड का हम स्पर्श कर सकते हैं, देख नहीं सकते। देखते हैं महिमामण्डलान्तर्वर्ती मूर्त्तिभाव को। परन्तु आज हमें यह कहना पड़ेगा कि, जिस प्रकार वस्तुपिण्ड प्रत्यक्षातीत है, वैसी ही वस्तुमहिमा भी प्रत्यक्ष से बाहिर की ही वस्तु

(३२०, तथा ३२१ के मध्य में)

(१६)-सूर्य्यानुगत—उक्थामद (मूर्त्ति) वितानपरिलेख —

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)
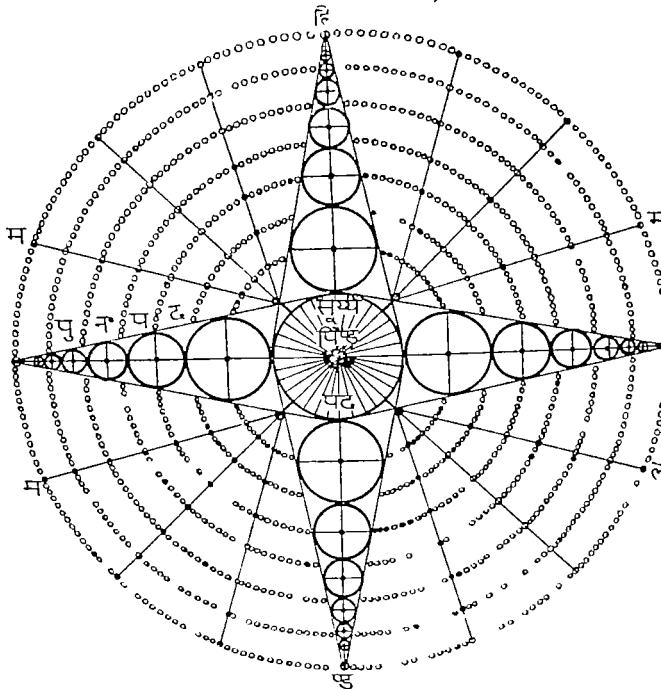
है। हाँ बाह्य सीमा को प्रत्यक्ष का आलम्बन अवश्य माना जा सकता है। इसी परिस्थिति का यों अभिनय किया जा सकता है कि, बहिर्जगत्, किंवा बहिर्जगत् के पदार्थ हमारे अन्तर्जगत् के निर्माण के आलम्बन बनते हैं। बहिर्जगत् के पदार्थों के महिमामण्डल के जिस प्रदेश की मूर्त्ति पूर्वोक्त ज्यातुरशाम के श्रोतोबिन्दु (सम्पातबिन्दु) पर संक्रमण करता है, उसी संस्काररूपा मूर्त्ति को प्रज्ञानज्ञान अपना अन्तर्जगत् की वस्तु बना लेता है। ज्यों–ज्यों हम वस्तु पिण्ड के समीप जाते हैं, त्यों–त्यों महिमामयी मूर्त्तियाँ हमें वृहदाकार से युक्त मिलती हैं। ज्यों–ज्यों वस्तुपिण्ड से दूर होते जाते हैं, त्यों त्यों अल्पाल्प मूर्त्तियों का सहयोग प्राप्त होता है। एकमात्र इसी हेतु से वस्त्वाकारप्रतीति में बड़ा–छोटी का भेद रहता है। श्रोतोबिन्दु से मिलने वाली महिमामयी मूर्त्ति के आधार पर जो ज्ञानीय मूर्त्ति बनती है, वह हमारे अन्तर्जगत् की प्रातिस्विक वस्तु बन जाती है। यही हमारे आत्मा की 'अशीति' है, यही ब्रह्मौदन है। यह स्मरण रखने की बात है कि, हम किसी के भी ब्रह्मौदन का भोग किसी भी अवस्था में नहीं कर सकते। *'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार केवल प्रवर्ग्यांश ही (परित्यक्त भाग ही) अन्य आत्मसंस्था का भोग्य बनता है। मण्डलावच्छिन्न मूर्त्तियाँ नभ्यप्रजापति के ब्रह्मौदन हैं। इन्हें दूसरा नभ्यप्रजापति कैसे अपना भोग्य बना सकता है?। इन ब्रह्मौदनरूपा सहस्रमूर्त्तियों के आधार पर उत्पन्न प्रतिबिम्बलक्षण सर्वथा अपूर्व मूर्त्तियाँ ही इसका प्रवर्ग्य हैं। यही दूसरों से भुक्त होकर उसका ब्रह्मौदन है। यही ब्रह्मौदन अन्तर्जगत् है। जिस बहिर्जगल्लक्षण ब्रह्मौदन के आधार पर हमारे अन्तर्जगल्लक्षण जिस ब्रह्मौदन का अपूर्व प्रादुर्भाव होता है, वह बहिर्जगत् से पुनः कोई सम्बन्ध न रखता हुआ अपनी स्वतन्त्र सत्ता बना लेता है। एक वस्तु का हमनें प्रत्यक्ष किया। प्रतिबिम्ब नियम से उसका ज्ञानीय आकार बन गया। अब वह वस्तु (जिसके आधार पर ज्ञानीय जगत् बना है) भले ही नष्ट–भ्रष्ट–जीर्ण–शीर्ण हो जाय, परन्तु हमारी ज्ञानीय वस्तु (ज्ञानाकाराकारित वस्तु) की इससे कोई क्षति नहीं होती। वस्तुप्रदेश से सैकड़ों कोस दूर चले आने पर भी हमारी वह ज्ञानीय वस्तु ज्ञानक्षेत्र में प्रत्यक्षवत् स्फुट बनी रहती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि, हम जो कुछ देखते हैं, वह (बहिर्जगत् की मण्डलमयी मूर्त्तियों के आधार पर) हमारी बनाई हुई है, हमारी ज्ञानसीमा में प्रविष्ट है, हमारा ब्रह्मौदन है, हमारा प्रातिस्विक वित्त है। इसे दूसरा कोई नहीं देख सकता। प्रत्यक्षवत् गन्ध–रस–आदि इतर विषयमात्र के सम्बन्ध में भी यही नियम समझना चाहिए। पुष्प से गन्ध निकल कर हमारे नासाछिद्र में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। अपितु गन्धमण्डल के आधार पर घ्राणेन्द्रियस्थान में तत्काल नवीन गन्ध का आविर्भाव होता है। इस आविर्भाव में इन्द्रिययोग्यता तारतम्य से तारतम्य हो जाता है। जिसकी इन्द्रिय गन्धमण्डल के सम्पर्क में नहीं आती वह भी गन्धाविर्भाव से वञ्चित रह जाता है, एवं जिसमें पहिले से गन्धोदय का अभाव है, वह मण्डलानुवर्त्ती बनता हुआ भी गन्धाविर्भाव से वञ्चित रह जाता है।

६५–तात्कालिक विषयप्रत्यक्ष—

निष्कर्ष यही हुआ कि, ऐन्द्रियक जितने भी विषय हैं, त्वगिन्द्रिय को छोड़ कर सब तात्कालिक हैं हमारे निर्माणविशेष हैं। सब को हम अपने मण्डल में (अपने बनाए हुए) ही देखते हैं। सामान्यवर्ग इन

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथमखण्ड के त्यक्त मन्त्रभाष्य के 'प्रवर्ग्यविद्या' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

सम्बन्ध में यह प्रश्न कर सकता है कि, यदि सूर्य्य–चन्द्रादि हमारे बनाए हुए हैं, एवं इनको हम अपने चाक्षुष–मण्डल में ही प्रत्यक्ष करते हैं तो उस दूरी का क्या तात्पर्य्य है जो सूर्य्य चन्द्र के साथ बद्ध है। हम सूर्य्य को हमसे बड़ी दूर खगोल में प्रतिष्ठित देखते हैं। एवमेव जो पदार्थ जहाँ जिस समीप अथवा विदूर प्रदेश में प्रतिष्ठित है, उसकी *उसी प्रदेश में प्रतीति होती है। यदि हम ही इनके निर्म्माता हैं यदि हमारे चाक्षुष मण्डल* पर ही इनका हमारे ही ज्ञान से आविर्भाव हुआ है, तो सामीप्य–विदूरता नहीं रहना चाहिए। परन्तु रहता है। इसी आधार पर अमुक वस्तु यहाँ, अमुक वहाँ, इत्यादि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं।

सामान्य ... की उक्त प्रश्नावली ठीक है। परन्तु विज्ञानदृष्टि इस का 'चित्र' द्वारा समाधान कर रही है। एक दर्पण के सामने हम खड़े हो जाते हैं। हमारा चित्र बहिर्व्याप्तिलक्षण विभूतिसम्बन्ध से दर्पणस्तर पर प्रतिबिम्बित हो जाता है। दर्पणस्तर घन है। उनमें न पीछे हटने के लिए स्थान है, न आगे बढ़ने के लिए कोई प्रदेश। परन्तु हम देखते हैं कि, ज्यों ज्यों हम दर्पण के समीप जाते हैं त्यों त्यों ऐसा प्रतीत होता है, मानों दर्पणस्था हमारी आकृति उत्तरोत्तर आगे आ रही हो। एवमेव दर्पण से विदूर हटने पर दर्पणस्था आकृति दर्पण के भीतर उत्तरोत्तर विदूर हटती जाती है। वस्तुतः ऐसा है नहीं, परन्तु प्रतीत हो रहा है, यही तो आश्चर्य्य है। भारतीय वैज्ञानिकों ने इस आश्चर्य्य के मूलतत्त्व को भी खोज निकाला है। वही मूलतत्त्व भारतीय विज्ञानशास्त्र में 'अभ्व' * नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

३६–चित्र की चित्रता—

आश्चर्य्यवत् प्रतीत होने वाला यह आकृतिभाव, समानदर्पणधरातल पर प्रतीत होने वाले आश्चर्य्यमय नासिका–मुख–शिरः–कटि–पाद–अङ्गुलि–आदि की पृथक्–पृथक्–आयाम–उच्छ्राय–विस्तार रूप से प्रतीति, सब इसी अभ्व की महिमा है। यही दर्पणस्थ चित्र का चित्रत्व है। आश्चर्य्यमय भाव के लिए संस्कृतसाहित्य में 'चित्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस अर्थ में पाश्चात्यभाषा 'फोटो' शब्द का प्रयोग करती है, उसी अर्थ में 'चित्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तस्वीर में हम देखते हैं कि, चित्रित व्यक्ति, एवं पुरोऽवस्थित प्रदेशादि यथानुरूप व्यवस्थित रहते हैं। यदि करस्पर्श करते हैं, तो तस्वीर का कोई प्रदेश ऊँचा–नीचा–समीप–विदूर नहीं है। परन्तु प्रतीत होने वाले प्रतिबिम्ब प्रदेशादि उच्चावच–भावों से युक्त हैं। विदित होता है, उद्यानपथ बड़ा लम्बा जा रहा है। उद्यान का अमुक वृक्ष चित्र के समीप है, अमुक विदूर। चित्र स्वयं अवयवों के सामीप्यादि भावों से युक्त है। बात यह है कि, जिस प्रोतबिन्दु (फोकस) पर चित्रग्राहक यन्त्र (केमरा) के तेजोमण्डलद्वारा हमारे प्रतिबिम्ब का आधान होता है, इसके साथ साथ ही सामीप्यादि भाव भी आहित हो जाते हैं। ठीक यही परिस्थिति चाक्षुषमण्डल की समझिए। जिस प्रकार चाक्षुषप्रज्ञान उस मूर्ति के आधार पर सूर्य्य बना डालता है, एवमेव दूरी का भी प्रवर्त्तक बना रहता है। सीधी भाषा में यों कहा जा सकता है कि, सूर्य्य के साथ साथ दूरी की तस्वीर भी आँखों में उतर आती है। इसप्रकार हम अपने ही चाक्षुषमण्डल में पदार्थों के साथ साथ पदार्थों के सामीप्य–विदूरत्वादि भावों की भी प्रतीति करने लगते हैं। भूपिण्ड की अपेक्षा

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीय खण्डान्तर्गत 'ब्रह्मकर्म्म परीक्षा' के–'अभ्व, यक्ष–अभ्ययाद' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

कई गुणा बृहत् सूर्य्य ही खगोल में प्रतिष्ठित हैं। यदि हम इतना बड़ा सूर्य्य देख सकते, तो अवश्य ही यह कह सकते कि, हम दूर खगोल में सूर्य्य देख रहे हैं। पृथिवी से भी बड़ी दूर तक व्याप्त सौररश्मिरूपा मण्डलात्मिका मूर्त्तियों में से तदाकाराकारिता मूर्त्ति का पृथिवी के साथ सम्बन्ध हो रहा है, तदाकाराकारिता मूर्त्ति के आधार पर तदाकाराकारित ही शतीय सूर्य्य का निर्म्माण होता है।

३७-परोक्षप्रिय देवता—

यदि समानाकार से युक्त सौ दर्वाजे एक के आगे एक, इस क्रम से बनाएँ जायँगे, एवं सब से अन्त के दर्वाजे पर खड़े हो कर इन सौ दर्वाजों पर हम दृष्टि डालेंगे, तो ऐसा प्रतीत होगा, मानो एक दर्वाजा दूसरे के भीतर है। यहाँ तक कि उस छोरका दर्वाजा सब से छोटा दिखलाई देगा। दर्वाजे सब समानाकार हैं। फिर यह प्रतीतिवैषम्य क्यों ? । उत्तर यही साममण्डल है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है, और निश्चयेन कहा जा सकता है कि, विश्व के किसी पदार्थ का हम साक्षात्कार नहीं कर सकते। हमारे लिए बहिर्जगत् के सब पदार्थ परोक्ष हैं, अनिरुक्त हैं। 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः' यह वचन भी इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है। स्वस्वरूप से परोक्ष रहते हुए भी देवता संघातरूप * ये पदार्थ ही आलम्बनरूप से प्रत्यक्ष का कारण बनते हैं, यही सूचित करने के लिए 'इव' पदका सन्निवेश कर दिया गया है। इन सब परिस्थितियों के आधार पर उस मूल प्रश्न के सम्बन्ध में हमें इस निर्णय पर पहुँचना पड़ा कि, न तो चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती, एवं न विषय चक्षु पर आता। अपितु चाक्षुष, तथा वैषयिक साममण्डलों का परस्पर अभिमान होता है। इसी से तत्काल प्रज्ञानद्वारा वस्तुस्वरूप का उदय होता है। उसी के लिए 'अहं-पश्यामि' यह अभिनय होता है। वर्त्तमानविज्ञान भी इस सम्बन्ध में यह तो मान ही रहा है कि, पार्थिव-पदार्थों के साथ प्रकाश-किरणों का सम्बन्ध होता है। प्रकाशकिरण वस्त्वाकार में परिणत हो कर प्रतिफलित होती हैं। प्रतिफलित, वस्त्वाकाराकारित धार रश्मि ही चक्षुस्थान पर आके वस्तुप्रतीति का कारण बनती है। हमारे प्राच्यविज्ञानने यहाँ इस भौतिक विज्ञानदृष्टि की अपेक्षा बड़ी अधिक तथ्य का अनुगमन किया है, वहाँ—'चक्षो सूर्य्यः'- 'आदित्यो वै दयचक्षुः'-'सूर्य्यंचक्षुर्भूत्वा'-'कश्यप परयको भवति' इत्यादि-रूप से इस भौतिक दृष्टि का भी समर्थन किया ही है।

३८-पराङ्च-पर उर्ध्व-रहस्य—

अब इसी वितानवेद के सम्बन्ध में 'पराङ्च'-'पर उर्ध्व' इन दो साङ्केतिक शब्दों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ऋक् को 'पराङ्च' कहा जाता है, साम को 'पर उर्ध्व' माना गया है। मूर्त्ति ऋक् है, मण्डल साम है। कूटस्थ व्यासावच्छिन्न महामूर्त्तिपिण्ड से सम्बद्ध भूतव्यासावच्छिन्न मण्डलात्मिका ह्रस्व-ह्रस्व मूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर छोटी होती जाती हैं। क्योंकि व्यासस्थ पार्श्वबिन्दुओं का उत्तरोत्तर ह्रसन है। इसीलिए मण्डल की अन्तिम परिधि में मूर्त्ति का आकार बिन्दुमात्र रह जाता है, जैसाकि 'सूर्य्यमूर्त्ति-वितानपरिलेख' में स्पष्ट किया जा चुका है। महिमामण्डल से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक मूर्त्ति के समप्रदेश

* "जायमानो वै जायते, सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः"। "देवम्यश्च जगत् सर्वं चर स्थाणवनुपूर्वशः"।

से एक एक स्वतन्त्र मण्डल बनाते जाइए । सहस्र मूर्तियों के ऐसे सहस्र मण्डल बन जायँगे । इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखिए कि, मूर्तियाँ तो प्रत्येक रश्मिवितान में एक एक सहस्र हैं । फलतः इन की तो सहस्र-साहस्रियाँ हो जाती हैं । परन्तु चारों ओर की मूर्तियों के समानप्रदेश से सम्बन्ध रखने वाले ये स्वतन्त्र मण्डल एक सहस्र ही बनेंगे । साथ ही आप देखेंगे कि, विष्कम्भावच्छिन्न ये मूर्तियाँ जहाँ उत्तरोत्तर छोटी बनती हुए 'पराङ्च' हैं वहाँ ये स्वतन्त्रमण्डल उत्तरोत्तर बड़े बनते हुए 'पर उर्ध्व' हैं । ये ही मण्डल वितानवेद हैं, यही सामवेद है । तेज का स्वभाव है कि, वह मूल से तूल की ओर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसित होता है । दीपार्चि (दीपशिखा-दीप लौ) ऋक् है । यह केन्द्र से उत्तरोत्तर छोटी है । परन्तु प्रकाशमण्डल उत्तरोत्तर बृहत् है । इसी आधार पर तेजोमय इस साम का—"सर्व तेज सामरूप्यं ह शश्वत्" यह लक्षण किया जाता है । ऋङ्मूर्ति ह्रस्वपरा होगी, साममण्डल दीर्घतर होंगे । प्रत्यक्ष होता है महिमामयी मूर्ति का । ये उत्तरोत्तर ह्रस्व हैं, छोटी हैं । अतएव वस्तु उत्तरोत्तर छोटी दिखलाई देती है । साथ ही जिस प्रदेश पर खड़े होकर हम मूर्ति का जितना बड़ा आकार देख रहे हैं उस प्रदेश से बनने वाले मण्डल पर जितने व्यक्ति खड़े हो कर वस्तु पर दृष्टि डालेंगे वे सब उसे समानाकार ही देखेंगे । मूर्तिसाम्य का प्रयोजक 'पर-उर्ध्व' साम बना है, मूर्तिवृद्धि का आलम्बन 'पराङ्च' ऋक् बनती है, यही तात्पर्य है ।

१९—अभिप्लव,एवं पृष्ठ-स्तोमविज्ञान—

वितानलक्षण सामवेद का स्वरूप प्रक्रान्त है । यह कहा जा चुका है कि, वितानात्मक पर उर्ध्व मण्डल का ही नाम साम है । छन्दोवेदलक्षणा ऋग्वेदत्रयी के अनुसार वितानलक्षणा सामवेदत्रयी भी विशुद्ध आयतन रूप है, क्योंकि वयोनाधलक्षणा है । आयतनत्रयी में प्रतिष्ठिता, वयोलक्षणा रसात्मिका यजुर्वेदत्रयी इन दोनों त्रयीभावों से सर्वथा पृथक् किन्तु दोनों में व्याप्त तीसरी वेदत्रयी है, जिसका अनपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है । इन पंक्तियों से पहिले पहिले इस वितानसामनिरुक्ति-प्रकरण में जो कुछ कहा गया है वह रसात्मिका यजुर्वेदत्रयी, एवं वितानात्मिका वेदत्रयी, दोनों से सम्बन्ध रखता है । व्यास, मध्यरेखा, मूर्ति, इन तीन पूर्वोक्त भावों का रसवेदत्रयी से सम्बन्ध है । मण्डलों का वितानवेदत्रयी से सम्बन्ध है । अब यहाँ से मण्डलात्मिका वितानत्रयी की निरुक्ति आरम्भ होती है । विष्कम्भ, मध्यरेखा, मूर्ति, रसत्रयी से सम्बद्ध इन तीनों भावों को छोड़ते हुए मूर्तिमण्डलात्मक, सहस्रमण्डलात्मक सामवेद में साम कौन है ?, ऋक् कौन है ?, यजु कौन है ? यह विचार करना है । दूसरे शब्दों में केवल मण्डल में रहने वाली सामत्रयी का क्या स्वरूप है ?, अब यह स्वतन्त्ररूप से मीमांस्य है ।

सामस्वरूपमीमांसा से पहिले तत्सम्बद्ध 'पृष्ठविज्ञान' की मीमांसा कर लेना आवश्यक होगा । क्योंकि मण्डल ही साम है, एवं मण्डल ही 'पृष्ठ' है । इस पृष्ठ-स्वरूप परिज्ञान के लिए 'स्तोमविज्ञान' स्वतः मीमांस्य बन जाता है । अतः सर्वप्रथम इसी का दिग्दर्शन करा देना उचित होगा । स्तोमशब्द 'राशि' (ढेर) का वाचक है । प्रत्येक पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाला यह स्तोम 'अभिप्लवस्तोम'-'पृष्ठ्यस्तोम' भेद से दो मार्गों में विभक्त माना गया है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड से चारों ओर मण्डलाकाररूप में परिणत होकर उत्तरोत्तर बड़ा आयाम प्रतिष्ठित रहने वाले परिणाहों की राशि 'पृष्ठ्यस्तोम' कहलाएगी । एवं प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर निम्न (उदक) साम नामक, अन्तिम परिधि का अन्तिम पृष्ठ (मण्डल) पर्य्यन्त व्याप्त रहने

(३३४, तथा ३३५ के मध्य में)

(२०)—परिणाहात्मकसाममण्डलवितानपरिलेख —

श्रीमलचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

से एक एक स्वतन्त्र मण्डल बनाते जाइए । सहस्र मूर्तियों के ऐसे सहस्र मण्डल बन जायेंगे । इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखिए कि, मूर्तियाँ तो प्रत्येक रश्मिवितान में एक एक सहस्र हैं । फलतः इन की तो सहस्र–साहस्रियाँ हो जाती हैं । परन्तु चारों ओर की मूर्तियों के समानप्रदेश से सम्बन्ध रखने वाले ये स्वतन्त्र मण्डल एक सहस्र ही बनेंगे । साथ ही आप देखेंगे कि, विष्कम्भावच्छिन्न ये मूर्तियाँ जहाँ उत्तरोत्तर छोटी बनती हुई 'परह्रस्व' हैं वहाँ ये स्वतन्त्रमण्डल उत्तरोत्तर बड़े बनते हुए 'पर उर्व्यः' हैं । ये ही मण्डल वितानवेद हैं, यही सामवेद है । तेज का स्वभाव है कि, वह मूल से ऊपर की ओर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसित होता है । दीपार्चि (दीपशिखा–दीप लौ) ऋक् है । यह केन्द्र से उत्तरोत्तर छोटी है । परन्तु प्रकाशमण्डल उत्तरोत्तर बृहत् है । इसी आधार पर तेजोमय इस साम का—"सर्व तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" यह लक्षण किया जाता है । ऋङ्मूर्ति ह्रस्वपरा होगी, साममण्डल दीर्घपर होंगे । प्रत्यक्ष होता है महिमामयी मूर्ति का । ये उत्तरोत्तर ह्रस्व हैं, छोटीं हैं । अतएव वस्तु उत्तरोत्तर छोटी दिखलाई देती है । साथ ही जिस प्रदेश पर खड़े होकर हम मूर्ति का जितना बड़ा आकार देख रहे हैं, उस प्रदेश से बनने वाले मण्डल पर जितने व्यक्ति खड़े हो कर वस्तु पर दृष्टि डालेंगे वे सब उसे समानाकार ही देखेंगे । मूर्तिसाम्य का प्रयोजक 'पर–उर्व्यः' साम बना है, मूर्तिदृष्टि का आलम्बन 'परोह्रस्व' ऋक् बनती है, यही तात्पर्य है ।

३६–अभिप्लव,एवं पृष्ठ्य-स्तोमविज्ञान—

वितानलक्षण सामवेद का स्वरूप प्रक्रान्त है । यह कहा जा चुका है कि, वितानात्मक पर उर्व्य मण्डल का ही नाम साम है । छन्दोवेदलक्षणा ऋग्वेदत्रयी के अनुसार वितानलक्षणा सामवेदत्रयी भी विशुद्ध आयतनरूप है, कर्मोनापलक्षणा है । आयतनत्रयी में प्रतिष्ठिता, पयोलक्षणा रसात्मिका यजुर्वेदत्रयी इन दोनों त्रयीभावों से सर्वथा पृथक् , किन्तु दोनों में व्याप्त तीसरी वेदत्रयी है जिसका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है । इन पंक्तियों से पहिले पहिले इस वितानसामनिरुक्ति–प्रकरण में जो कुछ कहा गया है, वह रसात्मिका यजुर्वेदत्रयी, एवं वितानात्मिका वेदत्रयी, दोनों से सम्बन्ध रखता है । व्यास, मध्यरेखा, मूर्ति, इन तीन पूर्वोक्त भावों का रसवेदत्रयी से सम्बन्ध है । मण्डलों का वितानवेदत्रयी से सम्बन्ध है । अब यहाँ से मण्डलात्मिका वितानत्रयी की निरुक्ति आरम्भ होती है । विष्कम्भ, मध्यरेखा, मूर्ति, रसत्रयी से सम्बद्ध इन तीनों भावों का छोड़ते हुए मूर्तिग्रहात्मक, सहस्रमण्डलात्मक सामवेद में साम कौन है ?, ऋक् कौन है ?, यजुः कौन है ? यह विचार करना है । दूसरे शब्दों में केवल मण्डल में रहने वाली सामत्रयी का क्या स्वरूप है ?, अब यह स्वतन्त्ररूप से मीमांस्य है ।

सामस्वरूपमीमांसा से पहिले तत्सम्बद्ध 'पृष्ठ्यविज्ञान' की मीमांसा कर लेना आवश्यक होगा । क्योंकि मण्डल ही साम है, एवं मण्डल ही 'पृष्ठ' है । इस पृष्ठ–स्वरूप परिज्ञान के लिए स्तोमविज्ञान' स्वतः मीमांस्य बन जाता है । अतः सर्वप्रथम इसी का दिग्दर्शन करा देना उचित होगा । स्तोमशब्द 'राशि' (ढेर) का वाचक है । प्रत्येक पदार्थ में सम्बन्ध रखने वाला यह स्तोम 'अभिप्लवस्तोम'–'पृष्ठ्यस्तोम' भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड से चारों ओर मण्डलाकाररूप में परिणत होकर उत्तरोत्तर प्रत्यग्रभावापन्न प्रतिष्ठित रहने वाले परिणाहों की राशि 'पृष्ठ्यस्तोम' कहलाएगी । एवं प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर निम्न (उदञ्च) साम नामक अन्तिम परिधिरूप अन्तिम पृष्ठ (मण्डल) पर्यन्त व्याप्त रहने

(२०)—परिणाहात्मकसाममण्डलवितानपरिलेख —

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)
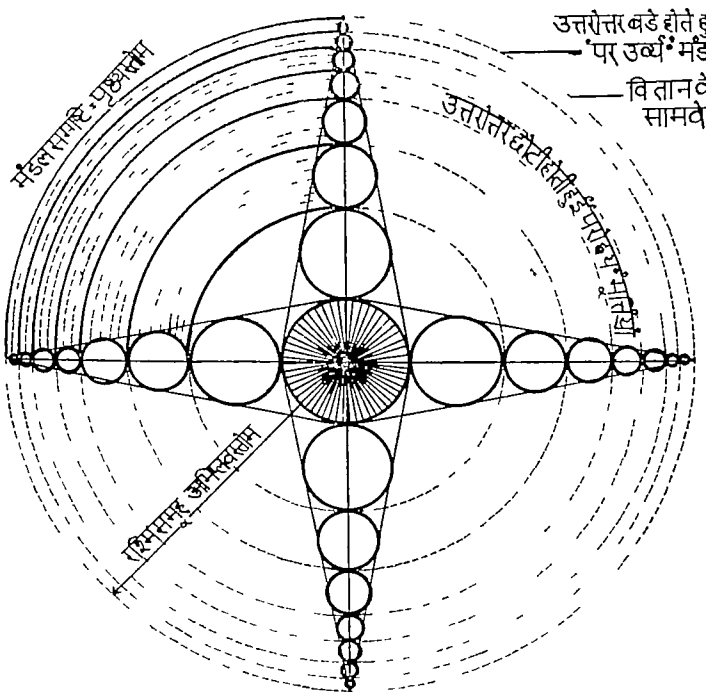
वाली रश्मिराशि 'अभिप्लवस्तोम' नाम से व्यवहृत होगी। मण्डलसमष्टि पृष्ठ्यस्तोम होगा, रश्मिसमूह को अभिप्लवस्तोम कहा जायगा।

रश्मिभाव केन्द्रबिन्दु का ही वैतानिकरूप बतलाया गया है। केन्द्रबिन्दुओं की सचितिरूप इस सूत्र (सीधी), रश्मि के आधार पर सहस्र व्यासों का उद्गम होता है। व्यास से समनुस्थित, रश्मिभाव से सम्बद्ध मूर्त्तियाँ इन्हीं व्यासों पर प्रतिष्ठित हैं। इन मूर्त्तियों के आधार पर ही मण्डलात्मक सहस्र पृष्ठों का उदय बतलाया गया है। इसप्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, इद्बिन्दुसञ्चितिरूप रश्मिलक्षण अभिप्लव ही परम्परया मण्डलात्मक सहस्र पृष्ठों का जनक है। अभिप्लव पिता है, पृष्ठ इसके पुत्र हैं *। सूर्य्यसंस्था से आने वाले प्राणदेवता पार्थिव पदार्थों में प्रविष्ट रहते हैं। यह सौरप्राण ही (बृहतीप्राण ही) 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार पार्थिव पदार्थों का आयुःसंरक्षक आत्मा बनता है। ये आत्मदेवता रश्मिवितानद्वारा ही उस सौर सम्वत्सर में चित होते हैं। पार्थिव पदार्थों के प्राणदेवता रश्मियों के द्वारा ही रिरिचान सौर सम्वत्सरप्रजापति का पुनः सन्धान करने में समर्थ होते है। जिस प्रकार नदी के इस ओर पर रहने वाला मनुष्य जलतरङ्गों के आधार पर तैरता हुआ नदी के उस पार पहुँच जाता है, एवमेव ये प्राणदेवता सहस्रभावापन्न रश्मिस्थानीय तरङ्गों के आधार पर पुनः उस स्वर्गलोक (सौरसंस्था) में पहुँच जाते हैं। इस सन्तरण-साधन से ही इन रश्मिस्तोमों को 'अभिप्लव' कहा गया है +।

जिस प्रकार सौर अग्नि 'आदित्य' नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव पार्थिव अग्नि 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध है। सौरप्राण का ही पार्थिव पदार्थों के साथ दो प्रकार से सम्बन्ध होता है। प्रवर्ग्य सम्बन्ध से पार्थिव पदार्थों की प्रातिस्विक वस्तु बन जाने वाला सौरप्राण अङ्गिरा है। बहिर्य्याम सम्बन्ध से पार्थिव पदार्थों को आयुः-प्रदान कर प्रतिफलनविधा से वापस लौट जाने वाला सौरप्राण आदित्य है। आदित्य, और अङ्गिरा, दोनों यहाँ से वहाँ जा रहे हैं। दोनों का लक्ष्यस्थान एक है, परन्तु गमनमार्ग भिन्न-भिन्न है। आदित्यप्राण अभिप्लव के द्वारा सौरसम्वत्सर में जाता है, अङ्गिराप्राण पृष्ठ्यस्तोम के द्वारा वहाँ पहुँचता है। अङ्गिराप्राण अपने अग्नि-वायु-आदित्यरूपों से क्रमशः त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश पृष्ठ्यस्तोमों का स्पर्श करता हुआ एकविंशात्मक सूर्य्यलोक में जा पहुँचता है। क्योंकि ये मण्डल अङ्गिरात्रयी के स्पृश्य-मण्डल हैं, अतएव इन्हें 'स्पृश्य' कहा जा सकता है। यही 'स्पृश्य' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'पृष्ठ्य' नाम से व्यवहृत हुआ है।

---

* "पिता वा अभिप्लवः, पुत्र पृष्ठ्याः" (गो० ब्रा० पू० ५।१७।)।

+ "स सहस्रायुर्जज्ञे। स यथा नद्यै पारं परापश्येत्, एवं स्वस्यायुषः पारं पराचख्यौ" (शत० १०।२।६।८।)।

"तदभिप्लवमुपयन्ति, सम्वत्सरमेव तद्यजमाना समारोहन्ति" (कौ०ब्रा०२०।१।)।

"स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त। यदभ्यप्लवन्त, तस्मादभिप्लवा"(शत०१२।२।२।१०।)।

"ते एतेनाभिप्लवेनाभिप्लुत्य मृत्युं पाप्मानमपहत्य ब्रह्मणः सलोकतां सायुज्यतामापु" (कौ० ब्रा० २१।१।)

आदित्य-गमनसाधक रश्मिसंचितिलक्षण अभिप्लवस्तोम, एवं अङ्गिरा-गमनसाधक, मण्डलसंचितिलक्षण पृष्ठ्यस्तोम, दोनों के इस सात्त्विक स्वरूप का निम्न लिखित दोनों वचनों में स्पष्टीकरण हो रहा है—

अभिप्लव— "आदित्या' स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त। यदभ्यप्लवन्त, तस्मादभिप्लव"
—गो० ब्रा० पू० ४।२३।

पृष्ठ्य—"आङ्गिरसा सर्वं पृष्ठं स्वर्गं लोकमभ्यस्पृशन्त। यदभ्यस्पृशन्त तस्मात् स्पृश्य'। त वा एत 'स्पृश्य' सन्त 'पृष्ठ्य' इत्याचक्षते परोक्षेण"।
—गो० ब्रा० पू० ४।२३।

अभिप्लव रश्मिरूप हैं, पृष्ठ्य मण्डलात्मक हैं। रश्मियाँ भी एक सहस्र हैं, मण्डल भी एक सहस्र हैं। इस दृष्टि से तो दोनों समतुलित हैं। परन्तु दोनों के अवान्तर संस्थानों के स्वरूप में आगे आकर भेद हो जाता है। अभिप्लवस्तोम ३६० संख्या को मूलाधार बनाते हुए अहोरात्रपर्वों के सम्पादक बनते हैं, पृष्ठ्यस्तोम '१-२' के क्रम से ६ भागों में विभक्त होते हुए लोकचतुष्टयी के प्रवर्त्तक बनते हैं, जिनका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है। यहाँ दो बातों पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। वस्तुकेन्द्रानुगामी सहस्र रश्मि मण्डल अभिप्लव है, इसका आयुःप्रवर्त्तक सौर आदित्यप्राण (बृहतीप्राण) से सम्बन्ध है, यह एक दृष्टि है। वस्तुमूर्त्यनुगामी सहस्र साममण्डल पृष्ठ्य है, इसका लोकप्रवर्त्तक (शरीरप्रवर्त्तक) पार्थिव अङ्गिराप्राण से सम्बन्ध है, यह एक दृष्टि है। इन दोनों दृष्टियों के आधार पर प्रत्येक वस्तुपिण्ड में निम्न लिखितरूप से दोनों स्तोमों का स्वरूप उपयुक्त देखा जा सकता है।

पहिले संक्षेप से आङ्गिरस सहस्र पृष्ठों का ही विचार कर लीजिए। इन सहस्र पृष्ठों के (जो कि मन-प्राणगर्भित वाङ्मय गोतत्त्वात्मक हैं) १-१ गौके संकलन से ३१ अहर्गण हो जाते हैं। ६६० संख्या पूरी हो जाती है। १ शेष रह जाते हैं। सृष्टिधारा का विकास इसी शेषांश से हुआ है, होता है। पूर्व की छन्दोवेद निरुक्ति में स्पष्ट किया गया था कि, व्यास की अपेक्षा त्रिगुणित रहने वाला परिणाह तिगुने से कुछ अधिक होता है। यही आधिक्य इस मण्डल में भी प्रतिष्ठित है, जिसकी उपपत्ति अभिरुक्ति में ही बतलायी गई है। इन्हीं सहस्र भावों का यदि छन्दो दृष्टि से वितान किया जाता है, तो ४८ अहर्गण होते हैं। इन ४८ के आधार पर '२४-४४-४८' इस क्रम से छन्दोमा नामक तीन युग्मस्तोमों का आविर्भाव होता है। एवं ३३ के आधार पर '६-१५-१७-२१-२७-३३' इस क्रम से ६ अयुग्मस्तोमों का आविर्भाव होता है। क्योंकि सहस्र पृष्ठों का एकाक्षरान इन ६ स्तोमों में हो जाता है, अतएव इन ६ ओं अयुग्म स्तोमों की समष्टि को-'पृष्ठ्यषडह' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। तीन छन्दोमास्तोमों की समष्टि का स्वतन्त्र विभाग रह जाता है। इनमें अष्टाचत्वारिंश (४८) स्थानीय तीसरा आगत स्तोम ही 'महाव्रतस्वातिरात्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस स्तोम से नीचे नीचे अह-रात्रि दोनों भावों का सम्बन्ध है। यहाँ विशुद्ध अह की प्रधानता है, जो कि महावाह-'अविवाक्यमहः' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव इसे अतिरात्र कहना अन्वर्थ बनता है। छन्दोमात्रयी वेदलोक की अधिष्ठात्री है, पृष्ठ्यषडह पृथिव्यन्तरिक्षमापः-इस चतुर्लोकी की अधिष्ठात्री है। निम्नलिखित वचन इन्हीं पृष्ठ्यस्तोमों का स्पष्टीकरण कर रहा है—

(३३६, तथा ३३७ के मध्य में)

(२१)–मण्डलात्मक-पृष्ठ्य–रश्म्यात्मक अभिप्लव–मण्डलस्वरूपपरिलेखः—

आदित्य-गमनसाधक रश्मिसंघित्तिलक्षण अभिप्लवस्तोम, एवं अङ्गिरा-गमनसाधक, मण्डलमर्यादितलक्षण पृष्ठ्यस्तोम, दोनों के इस तात्त्विक स्वरूप का निम्न लिखित दोनों वचनों में स्पष्टीकरण हो रहा है—

अभिप्लवः— "आदित्या स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त । यदभ्यप्लवन्त, तस्म दभिप्लव "
—गो० ब्रा० पू० ४।२३।

पृष्ठ्य—"आङ्गिरसा सर्वं पृष्ठं स्वर्गं लोकमभ्यस्पृशन्त । यदभ्यस्पृशन्त तस्माद् स्पृश्य ।
तं वा एत 'स्पृश्य' सन्त 'पृष्ठ्य' इत्याचक्षते परोक्षेण" ।
—गो० ब्रा० पू० ४।२३।

अभिप्लव रश्मिरूप है, पृष्ठ्य मण्डलात्मक है । रश्मियाँ भी एक सहस्र हैं, मण्डल भी एक सहस्र हैं। इस दृष्टि से तो दोनों समतुलित हैं । परन्तु दोनों के अवान्तर संस्थानों के स्वरूप में आगे जाकर भेद हो जाता है । अभिप्लवस्तोम ३६० संख्या को मूलाधार बनाते हुए अहोरात्रपर्वों के सम्पादक बनते हैं, पृष्ठ्यस्तोम '९-३' के क्रम से ६ भागों में विभक्त होते हुए लोकचतुष्टयी के प्रवर्त्तक बनते हैं, जिनका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है । यहाँ दो बातों पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है । वस्तुकेन्द्रानुगामी सहस्र रश्मिमण्डल अभिप्लव है, इसका आयुःप्रवर्त्तक सौर आदित्यप्राण (बृहतीप्राण) से सम्बन्ध है, यह एक दृष्टि है । वस्तुमूर्त्त्यनुगामी सहस्र सामबृहत पृष्ठ्य है, इसका लोकप्रवर्त्तक (शरीरप्रपञ्चक) पार्थिव आङ्गिरसप्राण से सम्बन्ध है, यह एक दृष्टि है । इन दोनों दृष्टियों के आधार पर प्रत्येक वस्तुपिण्ड में निम्न लिखितरूप से दोनों स्तोमों का स्वरूप उपयुक्त देखा जा सकता है ।

पहिले संक्षेप से आङ्गिरस सहस्र पृष्ठों का ही विचार कर लीजिए । इन सहस्र पृष्ठों के (जो कि मनःप्राणगर्भित वाङ्मय गौतत्त्वात्मक हैं) ९ -९ गौके संकलन से ११ अहर्गण हो जाते हैं । ६६० संख्या पूरी हो जाती है । १ शेष रह जाते हैं । सृष्टिधारा का विकास इसी शेषांश से हुआ है, होता है । पूर्व की छन्दोवेद निरुक्ति में स्पष्ट किया गया था कि, व्यास की अपेक्षा त्रिगुणित रहने वाला परिणाह किञ्चित से कुछ अधिक होता है । वही आधिक्य इस मण्डल में भी प्रतिष्ठित है, जिसकी उपपत्ति उक्तिनिरुक्ति में ही बतलाई गई है । इन्हीं सहस्र भावों का यदि छन्दो दृष्टि से विचार किया जाता है, तो ४८ अहर्गण होते हैं । इन ४८ के आधार पर '२४-४४-४८' इस क्रम से छन्दोमा नामक तीन युग्मस्तोमों का आविर्भाव होता है । एवं ११ के आधार पर '९-१५-१७-२१-२७-३३' इस क्रम से ६ अयुग्मस्तोमों का आविर्भाव होता है । क्योंकि सहस्र पृष्ठों का एकावस्थान इन ६ स्तोमों में हो जाता है अतएव इन ६ ओं अयुग्म स्तोमों की समष्टि को-'पृष्ठ्यषडह' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है । तीन छन्दोमास्तोमों की समष्टि का स्वतन्त्र विभाग रह जाता है । इनमें अष्टाचत्वारिंश (४८) स्थानीय तीसरा जागत स्तोम ही 'महाव्रतअतिरात्र' नाम से प्रसिद्ध है । इस स्तोम से नीचे नीचे अहः-रात्रि दोनों भावों का सम्बन्ध है । यहाँ विशुद्ध अह की प्रधानता है, जो कि महाव्रत-'अविवाक्यमहः' नाम से प्रसिद्ध है । अतएव इसे अतिरात्र कहना अन्वर्थ बनता है । छन्दोमात्रयी देवलोक की अधिष्ठात्री है, पृष्ठ्यषडह पृथिव्यन्तरिक्षमाप-इस चतुर्लोकी की अधिष्ठात्री है । निम्नलिखित वचन इन्हीं पृष्ठ्यस्तोमों का स्पष्टीकरण कर रहा है—

१–"पृष्ठ्य षडहश्छन्दोम–पवमान महाव्रतमतिरात्र"। उभये स्तोमा –युग्मन्तश्च, अयुजश्च। तन्मिथुनम्। मिथुनात् प्रजायते"

(ताण्ड्यम० ब्रा० २२।७।१,५।)

दूसरा आदित्यप्राणप्रधान सहस्ररश्मिरूप अभिप्लवस्तोम है। प्राजापत्यवेदमहिमा में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि, केन्द्रस्थ आदित्यप्राण 'बृहत्प्राण'–'बृहतीप्राण' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यह बृहत्प्राण आरम्भ में एकरूप रहता हुआ रश्मिवितान के कारण पहिले चार भागों में परिणत होता है, चार के दस विभाग होते हैं दस शतगुण बनता है, शतगुण सहस्र से गुणित है। इस पारम्परिक रश्मिवितान से एक के ३६००० (छतीसहजार) सिक्त हो जाते हैं। बृहतीप्राण के इस व्यूहन का स्वरूप पूर्व प्रकरणों में बताला ही जा चुका है इस सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वालों को ऋग्वेद के १-८८ सू०,-५-४७ सू०, इन प्रकरणों का अन्वेषण करना चाहिए। यहां व्यूहनप्रक्रिया के सम्बन्ध में केवल एक मन्त्र उद्धृत किया जा रहा है।

"चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयन्ते।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान्"

—ऋक् सं० ५।४७।४।

"चार इसे क्षेमार्थ धारण किए हुए हैं। चरण (गमन) के लिए दश–गर्भों को प्रेरित करते हैं। इस की त्रिधातुमर्ति गाएँ चारों ओर द्युलोक में व्याप्त हो रहीं हैं" इस अक्षरार्थ को व्यक्त करने वाला उक्त मन्त्र सूर्यदृष्टान्त के द्वारा प्रत्येक वस्तुपिण्ड के अभिप्लवात्मक रश्मि–व्यूहन का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड का स्वरूप चतुर्मुख माना गया है। वस्तुत वस्तुपिण्ड में चारों दिशाओं के आधार पर ६०–६ –६ –६० इस क्रम से चार भुजा बनतीं हैं। इन चार भुजाओं से ही वस्तुपरिणाह (वृत्त) के ३६० अंश (डिग्री) हो जाते हैं। मूलस्थ सौर प्राण– स्वरहर्वेया सूर्य्ये' के अनुसार स्वरात्मक है। स्वर नव त्रिवृदात्मक माना गया है, जैसाकि अन्यत्र विस्तार से प्रतिपादित है। नव त्रिवृदात्मक स्वर ही चतुर्मुख बन कर सौरसंस्था की मूलप्रतिष्ठा बनता है। एक दृष्टि से यही नवसंख्या जहाँ ६० के चतुर्गुणन से ३६ अंशों की स्वरूपसमर्पिका बनती है, वहाँ यही संख्या ९ के चतुर्गुणन से ३६ की स्वरूपसमर्पिका बन रही है। मूल में इसका रूप ३६ ही माना जायगा, एवं यही नवत्रिवृदात्मक प्राण का प्रथम व्यूहन माना जायगा, जो वस्तुप्रतिष्ठा का मूलस्तम्भ है। इसी मूलस्थितिलक्षण प्रथम व्यूह का 'चत्वार ईं बिभ्रति' से स्पष्टीकरण हुआ है।

अब इसी प्रथम व्यूह के तीन व्यूहन और होते हैं। एवं प्रत्येक में दश–दश संख्याओं का समावेश है। ९ के ३६ पहिला व्यूहन था। ३६ को यदि दस से गुणित किया जाता है, तो ३६० हो जाते हैं। ३६० को यदि दस से गुणित किया जाता है, तो ३६०० हो जाते हैं। ३६०० को दश गुणित करने से ३६००० हो जाते हैं। यहाँ विकासमात्रा का अवसान है, गर्भीभूत विराट्–भाव का अवसान है। इसप्रकार ३६–३६०–३६०० –३६ इस क्रम से चार व्यूहन हो जाते हैं। इस व्यूहन से आरम्भ में ९ त्रिवृदात्मक रहने वाला

वही प्राण वितानभाव से सर्वान्त में बृहतीसहस्र (३६०००) संख्या में परिणित हो जाता है। प्रत्येक म्यूहन में त्रिभुजभाव का (त्रिधातव) का सम्बन्ध है। इस वितान से मूल केन्द्र के आधार पर सहस्र किरणों की व्याप्ति हो जाती है। इसी सहस्र व्याप्ति को एक विशेष हेतु से बृहतीसहस्ररूप में परिणत होना पड़ रहा है। एवं वह विशेष कारण है–पृष्ठ्यस्तोमात्मक सहस्रसाममण्डल। इस व्याप्ति का विचार पीछे कीजिए। पहले परिलेख के द्वारा 'दशगर्भं चरसे धापयन्ते' से सम्बद्ध गमनभाव का स्पष्टीकरण कर लीजिए।

रश्मियाँ एक सहस्र, फिर बृहतीसहस्रभाव का उदय किस आधार पर हुआ?, इस प्रश्न का समाधान यद्यपि पूर्व से गतार्थ है। तथापि एक दूसरे दृष्टिकोण से समाधान और सुन लीजिए। जिन आमिस्तसिक रश्मियों की संख्या एक सहस्र बतलाई हैं, उन्हें थोड़ी देर के लिए ३६ मान लीजिए। इसलिए मान लीजिए कि, इन्हीं रश्मियों के वितान से अहोरात्र की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। मूल में ६, आगे जाकर ३६, संख्या में विभक्त होने वाला बृहतीछन्दोऽवच्छिन्न बृहत्प्राण ३६० ही सूत्रों में विभक्त होता है। इन विभागों की मध्य विभक्तियाँ ही 'अह्नां विभक्त्यो रात्रयः' परिभाषानुसार ३६० रात्रियाँ हैं। इसप्रकार इन रात्रियों का स्वरूप इन्हीं ३६ अहस्सूत्रों में अन्तर्मुक्त है। यही अहोरात्र की मौलिक व्याप्ति है। मूर्धिष्ठ से मण्डलपरिधि पर्य्यन्त खींची ३६० रेखाएँ ले जाइए। ये ही ३६ अहोरात्रसूत्र होंगे। इन्हीं को A 'नाड्य' कहा जायगा। इन सूत्रों को काटते हुए एक सहस्र पृष्ठ्यस्तोमात्मक साममण्डल बनाइए। आप देखेंगे कि, प्रत्येक सूत्र का प्रत्येक मण्डल के साथ सम सम्बन्ध हो रहा है। मण्डल क्योंकि एक सहस्र हैं, उधर सूत्र ३६ हैं। फलतः प्रत्येक मण्डल के साथ ३६ सूत्रों का सम्बन्ध हो जाता है। इसप्रकार एक षष्टित्रिशती सहस्र-षष्टित्रिशती रूप में परिणत हो रही है। यही ३६ की ३६०० व्याप्तियाँ हैं, सहस्र का बृहतीसहस्रत्व है। यही हमारे परिगणित आयुःसूत्र हैं, जैसाकि प्रामाण्यप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

A –"सर्वाणि ह त्वेव भूतानि, सर्वे देवा एषोऽग्निश्चित। तस्य नाड्या एव परिश्रित। ताः षष्टिश्च, त्रीणि च, शतानि भवन्ति। षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि–आदित्य नाड्याः समन्त परियन्ति। षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि–आदित्य नाड्यो अभिचरन्ति" (शत० १०।२।४।१४।)।

(३३८, तथा ३३९ के मध्य में)

(२२)-अभिप्लवस्तोमार्कवितानपरिलेख —
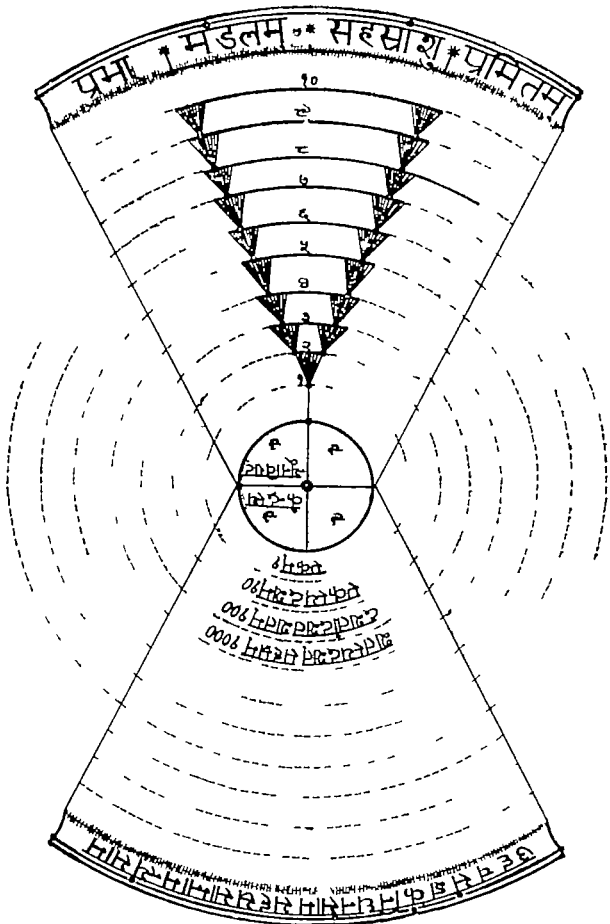
सामान्यदृष्टि भी यही सिद्ध कर रही है। मण्डलात्मक प्रत्येक वृत्त के ३६० अंश माने गए हैं। जब साममण्डल १००० हैं, तो इनके सब अंशों के सङ्कलन से ३६०००० ही संख्या ठहरती है।

जिन मण्डलों के आधार पर ३६० सूत्र बृहतीसहस्रत्व में परिणत हो रहे हैं, उन मण्डलों का नाम ही वितानवेदात्मक सामवेद है। सामवेद वस्तुतत्त्व नहीं है, केवल आयतनमात्र है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। इस स्थिति का लक्ष्य में रखते हुए सामत्रयी का विचार कीजिए। इन साममण्डलों को हम 'पूर्वमण्डल उत्तरमण्डल, मध्यपतित मूर्त्तिमण्डल' भेद से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। पूर्व पूर्व मण्डल उत्तर उत्तर मण्डल का उपक्रमस्थान है, प्रस्तावभूमि है। उधर वेदपरिभाषानुसार प्रस्ताव को ही 'ऋक्' कहा गया है। ऋगनुबन्धिनी प्रस्तावात्मिका इस सामान्यपरिभाषा के अनुसार अन्त के एक निधनसाममण्डल को छोड़ कर हम पूर्व-पूर्व के ९९९ मण्डलों को अवश्य ही ऋक् कह सकते हैं। पूर्व पूर्व-मण्डल से उत्तर उत्तर मण्डल समतुलित है। यद्यपि पूर्वप्रतिपादित 'पर उर्व्यः' के अनुसार सहस्रों सामपृष्ठ परस्पर विषम हैं। पूर्व-पूर्वमण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल बृहदाकार बनता हुआ विषम है, तथापि अंश-साम्य को लेकर हम अवश्य ही पूर्वापेक्षया उत्तरमण्डल को साम मान सकते हैं। सूत्रानुबन्धिनी षट्त्रिंशती (३६) जो मर्य्यादा पूर्व के छोटे साममण्डल में है, वही मर्य्यादा उत्तर साममण्डल में है। सहस्रों मण्डल ३६० अंशों से युक्त रहते हुए (आकार से विषमपृष्ठ बने हुए भी) अंशमर्य्यादा के समतुलन से सम ही बने हुए हैं। साम का 'ऋचा समं मेने' यह लक्षण माना गया है। क्योंकि ऋक्स्थानीय पूर्व पूर्व साममण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर साममण्डल अंशमर्य्यादा से समतुलित हैं ऋङ्मण्डलों के सम हैं, अतएव आरम्भ के एक मण्डल को छोड़कर अन्त के ९९९ मण्डलों को हम अवश्य ही 'साम' कह सकते हैं। ९९९ में ही क्यों, यदि मण्डलत्वेन उस ओर से विचार किया जायगा तो निधनसाम ऋक् बन जायगा, प्रस्तावात्मक इस ओर का प्रथम साम निधनात्मक साम मान लिया जायगा। इसप्रकार पूरे सहस्रमण्डल सामात्मक माने जा सकेंगे, पूरे सहस्रमण्डल ही ऋगात्मक माने जा सकेंगे। 'ऋचा समं मेने' से सम्बन्ध रखने वाले अंश-साम्य के अतिरिक्त दूसरे प्रकार से भी देखा जा सकता है। पूर्वसाममण्डल में वितान (फैलाव) की जितनी मात्रा है, उत्तर साममण्डल में भी मात्रा वही है। पूर्व में थोड़े प्रदेश में वही मात्रा है, उत्तर में अधिक प्रदेश में वही मात्रा है। इस मात्रासाम्य से उत्तरमण्डल साम मान लिए जायँगे। यदि रसवेद के पक्षपाती उत्तरोत्तर बिन्दुद्वय के अनुपात से मात्रा में अल्पता मानते हुए इस कथन का विरोध करेंगे, तो हम 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते' इस लक्षण का समन्वय तो निर्बाध कर ही सकते हैं। पूर्वमण्डल के आधार पर ही उत्तरमण्डल का गान (विस्तार) हुआ है। फलतः ऋक्रूप पूर्वमण्डल पर प्रतिष्ठित होकर ही उत्तरमण्डलात्मक साम का गान हुआ है।

४०—सामवेद में वेदत्रयी का उपभोग—

पूर्वोक्त परिलेखों में यत्र तत्र यह स्पष्ट हो चुका है कि, दोनों मण्डलों के मध्य में व्यासानुगत मूर्त्तियाँ समन्तात् प्रतिष्ठित हैं। वहीं यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, सहस्रधा महिमान सहस्र भाव में परिणत इन मूर्त्तियों के आधार पर ही साममण्डलों का वितान हुआ है। पहिली मूर्त्ति छन्दोवेदत्रयीरूपा महदुक्थलक्षणा महामूर्त्ति है। इसका भेरा एक साम है। इसके अनन्तर परितः मूर्त्तिस्वर है, पुनः साममण्डल

ह, पुनः मूर्तिस्तर है। इसप्रकार इस ओर मण्डल, उस ओर मण्डल, मध्य में मूर्तियाँ, यह भावयाहिक क्रम महद्भुक्पपृष्ठ से निधनसाम पर्य्यन्त व्याप्त है। मूर्तिगत वस्तुतत्त्व का जहाँ हम रसवेदत्रयी में अन्तर्भाव मानेंगे, वहाँ इस मूर्तिमण्डल को (मूर्ति के चारों ओर के घेरे को) मण्डलत्वेन अवश्य ही साम मान लिया जायगा। मूर्तिमण्डलात्मक मध्यपतित इस साम को हम यजुर्वेद कहेंगे। यजुर्वेद की 'ऋक् सामे यजुरपि तः' यह परिभाषा है। ऋक्साम दोनों यजु के अनुगत रहते हैं। ययोलक्षण यजु ऋक्–सामोदर में प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ ठीक यही परिस्थिति है। उत्तर मण्डलात्मक साम, पूर्वमण्डलात्मिका ऋक्, दोनों के मध्य में भुक्त मूर्तिमण्डल प्रतिष्ठित है। अतएव इसे ययोलक्षण मानते हुए अवश्य ही यजु कहा जा सकता है।

इसप्रकार मण्डलात्मक केवल सामवेद में पूर्वमण्डल, उत्तरमण्डल, मध्यस्थ मूर्तिमण्डल, भेद से 'ऋक्–साम–यजुः' तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है। यही प्रकृत प्रकरण की दूसरी वितानवेदत्रयी है, जो छन्दोवेदत्रयी पर प्रतिष्ठित है। छन्दोवेदत्रयी ऋक् है, वितानवेदत्रयी साम है। अब शेष रहती है रसवेद–त्रयी, जिसे हम यजुः कहा करते हैं। उसी का स्पष्टीकरण करता हुआ प्रकृत स्तम्भ उपरत हो रहा है।

१—पूर्व-पूर्व-मण्डलानि——— { ऋच	}	{ इत्थं वितानात्मके मण्डललक्षणे सामवेदे–
२—उत्तरोत्तर-मण्डलानि——— { सामानि		वेदत्रयोपभोग
३—मध्यस्थमूर्त्ति-मण्डलानि——— { यजूंषि		

४१–रसलक्षण यजुर्वेद का उपक्रम—

ययोनाधलक्षण ऋक्–साम, दोनों समानधर्म्मा हैं। अतएव त्रयीवेदगणना में 'ऋक्सामे' यह स्वतन्त्ररूप से उद्धृत रहता है, 'यजु' का स्वतन्त्र निर्देश रहता है। साथ ही ऋक् साम दोनों से ही यजुः का स्वरूप परिगृहीत है। बिना ऋङ्मय मूर्त्तिभाव के, साममय मण्डलभाव के न तो स्वयं वस्तुतत्त्व ही स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकता, एवं न हमें ही उस वस्तुतत्त्व की उपलब्धि हो सकती। एकमात्र इसी हेतु से पहिले ययोनाधलक्षणा ऋग्वेदत्रयी (छन्दोवेदत्रयी), एवं सामवेदत्रयी (वितानवेदत्रयी) का निरूपण आवश्यक समझा गया। अब क्रमप्राप्त उस यजुर्वेदत्रयी (रसवेदत्रयी) का ही संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिसकी ऋक्–साम के आधार पर हमें उपलब्धि होती है, जिस उपलब्धि से हम तृप्तिलक्षण रसोद्रेक का अनुभव करते हैं।

वितानवेदनिरुक्ति में एक स्थान पर यह कहा गया है कि, न तो चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती, न वस्तुपिण्ड चक्षु पर आता। एवं न वस्तुपिण्ड के साममण्डल की ही कोई वस्तु हमारा प्रमोदन बन सकती। अपितु हमारा प्रज्ञानघन चाक्षुससमावितान के आधार पर अपूर्व वस्तु का निर्माण करता है। कोई भी पदार्थ अपने प्रातिस्विक प्रमोदन का परस्पर आदान–प्रदान नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक महाविप्रतिपत्ति उपस्थित हो रही है। चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी रूपानुभव के सम्बन्ध में उक्त सिद्धान्त को थोड़ी देर के लिए स्वीकार करते हुए भी रसनेन्द्रिय के सम्बन्ध में हम उक्त सिद्धान्त का विरोध देख रहे हैं। पुरोऽवस्थित

(३८०, तथा ३८१ के मध्य में)

(२३)–परिणाहात्मकसहस्रसामवितानपरिलेख —

है, पुनः मूर्तिस्तर है। इसप्रकार इस ओर मण्डल, उस ओर मण्डल, मध्य में मूर्तियाँ, यह धारावाहिक क्रम महदुक्थपृष्ठ से निधनसाम पर्य्यन्त व्याप्त है। मूर्तिगत वस्तुतत्त्व को जहाँ हम रसवेदत्रयी में अन्तर्भाव मानेंगे, वहाँ इस मूर्तिमण्डल को (मूर्त्ति के चारों ओर के घेरे को) मण्डलत्वेन अवश्य ही साम मान लिया जायगा। मूर्तिमण्डलात्मक मध्यपतित इस साम को हम यजुर्वेद कहेंगे। यजुर्वेद की 'ऋक् साम-जुरप त' यह परिभाषा है। ऋक्साम दोनों यजु के अनुगत रहते हैं। वयोलक्षण यजु ऋक्-सामोदर में प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ ठीक यही परिस्थिति है। उत्तर मण्डलात्मक साम, पूर्वमण्डलात्मिका ऋक्, दोनों के मध्य में भुक्त मूर्तिमण्डल प्राणरूप है। अतएव इसे वयोलक्षण मानते हुए अवश्य ही यजु कहा जा सकता है।

इसप्रकार मण्डलात्मक केवल सामवेद में पूर्वमण्डल, उत्तरमण्डल, मध्यस्थ मूर्तिमण्डल, भेद से 'ऋक्-साम-यजुः' तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है। यही प्रकृत प्रकरण की दूसरी वितानवेदत्रयी है, जो छन्दोवेदत्रयी पर प्रतिष्ठित है। छन्दोवेदत्रयी ऋक् है, वितानवेदत्रयी साम है। अब शेष रहती है रसवेदत्रयी, जिसे हम यजुः कहा करते हैं। उसी का स्पष्टीकरण करता हुआ प्रकृत स्तम्भ उपरत हो रहा है।

१—पूर्व-पूर्व-मण्डलानि———{ ऋच		
२—उत्तरोत्तर-मण्डलानि———{ सामानि	}	{ तदित्थं वितानात्मके मण्डललक्षणे सामवेदे- वेदत्रयोपभोग.
३—मध्यस्थमूर्त्ति-मण्डलानि——{ यजूंषि		

४१—रसलक्षण यजुर्वेद का उपक्रम—

वयोनाधलक्षण ऋक्-साम, दोनों समानधर्म्मा हैं। अतएव त्रयीवेदगणना में 'ऋक्सामे' यह समस्तरूप से उद्धृत रहता है, 'यजु' का स्वतन्त्र निर्देश रहता है। साथ ही ऋक् साम दोनों से ही यजुः का स्वरूप परिपुष्ट है। बिना ऋङ्मय मूर्तिभाव के, साममय मण्डलभाव के न तो स्वयं वस्तुतत्त्व ही स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकता, एवं न हमें हीं उस वस्तुतत्त्व की उपलब्धि हो सकती। एकमात्र इसी हेतु से पहिले वयोनाधलक्षणा ऋग्वेदत्रयी (छन्दोवेदत्रयी), एवं सामवेदत्रयी (वितानवेदत्रयी) का निरूपण आवश्यक समझा गया। अब क्रमप्राप्त उस यजुर्वेदत्रयी (रसवेदत्री) का ही संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिसकी ऋक्-साम के आधार पर हमें उपलब्धि होती है, जिस उपलब्धि से हम तृप्तिलक्षण रसानन्द का अनुभव करते हैं।

वितानवेदनिरुक्ति में एक स्थान पर यह कहा गया है कि, न तो चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती, न वस्तुपिण्ड चक्षु पर आता। एवं न वस्तुपिण्ड के साममण्डल की ही कोई वस्तु हमारा प्रज्ञोदन बन सकती। अपितु हमारा प्रज्ञानज्ञान चाक्षुषसामाभिमान के आधार पर अपूर्व वस्तु का निर्म्माण करता है। कोई भी पदार्थ अपने प्रातिस्विक प्रज्ञोदन का परस्पर आदान-प्रदान नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक महाविप्रतिपत्ति उपस्थित हो रही है। चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी रूपानुभव के सम्बन्ध में उक्त सिद्धान्त को थोड़ी देर के लिए स्वीकार करते हुए भी रसनेन्द्रिय के सम्बन्ध में हम उक्त सिद्धान्त का विरोध देख रहे हैं। पुरोऽवस्थित

भाग्य सामग्री अशनायासूत्र से आकर्षित होकर हाथों के द्वारा मुखविवर में प्रविष्ट होती है, गले से नीचे जाती है, अशनाया शान्त हो जाती है, तृप्तिभाव उदित हो जाता है। भुक्त अन्न 'ऊर्क्' नामक रसावस्था में परिणत होता है, ऊर्क्-रस प्राणाग्नि-अवस्था में परिणत होता है। प्राणाग्नि विश्व नभस्य से पुनः अशनाया के द्वारा अन्नाकर्षण का अधिष्ठाता बनता है। अन्न पुनः ऊर्क्, ऊर्क् पुनः प्राणाग्नि बनता है। इसप्रकार 'अन्नोर्क्प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः" लक्षण के अनुसार वस्तुमात्र में अन्नादानप्रदानलक्षण अहरहर्यज्ञ (अन्नाद्ययज्ञ) निरन्तर होता रहता है। 'यत् सप्तान्नानि तपसाजनयत् पिता' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान[1], क्रिया[2], आकाश[3] (शब्द), वायु[4] (आत्मप्रभाव), अग्नि[5] (प्रकाश), जल[6], मिट्टी[7] (गोधूम यवादि एवं ओषधि-वनस्पतियाँ) ये सातों अन्न माहक की योग्यता के तारतम्य से वस्तुमात्र के अन्न बने हुए हैं। बिना परादान के कोई भी पदार्थ स्वस्वरूप का सुरक्षित नहीं रख सकता। यदि यह परस्परादान प्रदान न होता, तो सृष्टिस्वरूप का विकास ही असम्भव हो जाता। इसी अन्नादान से हमारे शरीर की आयतन वृद्धि होती है। ह्रास-वृद्धि-कृश-स्थूल आदि आदि अवस्थाविपर्यय ही इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि, अवश्य ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ अन्नादानप्रदानलक्षण यज्ञसम्बन्ध सुरक्षित है। ऐसी दशा में यह कहना कि, न हम अपना मझौदन दे सकते, न किसी का मझौदन ले सकते, कैसे समीचीन बन सकता है ?।

४२-प्रवर्ग्य का आदान प्रदान—

इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, मझौदन भाग का परस्पर आदान-प्रदान असम्भव है। परन्तु साथ ही यह भी असन्दिग्ध है कि, स्वाभाविक यज्ञकर्म की रक्षा के लिए वस्तुभावों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। यह आदान-प्रदान भाव यज्ञमात्र 'प्रवर्ग्यवस्तु' पर ही निर्भर है। प्रवर्ग्य भाग ही एक दूसरे की अन्नाहुति बनता है। इसी को अथर्व ने उच्छिष्ट कहा है, एवं इसी उच्छिष्ट से अथर्व ने विश्व की उत्पत्ति मानी है। यह उच्छिष्ट क्या है ?, इस प्रश्न का उत्तर न तो मूर्त्तिलक्षण छन्दोवेद (ऋग्वेद) दे सकता, न मण्डललक्षण वितानवेद (सामवेद) ही दे सकता। अपितु पुरुषलक्षण रसवेद (यजुर्वेद) ही इस प्रश्न का समाधान कर सकता है। मूर्त्ति एक आकारविशेष है, मण्डल भी एक आकारमात्र है। आकारमात्र स्व-स्वस्थान में चाक्षुषमण्डलवत् प्रतिष्ठित रहते हैं। न इन में गति है, न आगति। न इनका आदान सम्भव, न प्रदान ही सम्भव। किसी वस्तु को जब आप अपना अन्न बनाने आगे बढ़ेंगे, तो पहिले उसका रक्षादुर्ग तोड़ना पड़ेगा। छन्द पर आक्रमण करना पड़ेगा। तभी वह स्वच्छन्दरूप पदार्थ आपकी छन्द सीमा में आता हुआ परछन्दोऽनुवर्त्ती बन सकेगा। मण्डल स्वयं कोई वस्तु नहीं, मूर्त्ति भी कोई वस्तुतत्त्व नहीं। जिसका यह मण्डल है, जिसकी यह मूर्त्ति है, वही वस्तुतत्त्व स्वाभाविक स्वनभाव से गति-आगति भावों का अनुगामी बनता हुआ यज्ञकर्म का प्रवर्त्तक बनता है। इसका जो भाग मूर्त्ति-मण्डल सीमा से बाहिर निकल जाता है, वही प्रवर्ग्यांश है। इसी प्रवर्ग्यादानप्रदान से मैथुन्ययज्ञ सञ्चालित है। जब तक छन्द पर आक्रमण नहीं किया जाता, तब तक वह वस्तुतत्त्व मझौदन है, और तब तक इसका आदान असम्भव है। छन्दःसीमा की विच्युति से ही यह प्रवर्ग्यरूप में परिणत होता है। एवं प्रवर्ग्यावस्था में आकर ही यह हमारा अन्न बनता है।

प्रमाणवादप्रकरण में इसी अभिप्राय से वेद का 'ब्रह्मवेद' नाम से दिग्दर्शन कराया गया है। (देखिए पृ सं० ११८)। ऋक्-सामरूप वयोनाधों से सम्बद्ध यजुर्लक्षण वय का इसी प्रवार्ग ही मर्म है—

भोग्य सामग्री अशनायासूत्र से आकर्षित होकर हाथों के द्वारा मुखविवर में प्रविष्ट होती है, गले से नीचे जाती है, अशनाया शान्त हो जाती है, तृप्तिभाव उदित हो जाता है। भुक्त अन्न 'ऊर्क्' नामक रसात्मक में परिणत होता है, ऊर्क्–रस प्राणाग्नि–अवस्था में परिणत होता है। प्राणाग्नि विशसनधर्म से पुनः अशनाया के द्वारा अन्नाकर्षण का अधिष्ठाता बनता है। अन्न पुनः ऊर्क्, ऊर्क् पुनः प्राणाग्नि बनता है। इसप्रकार 'अन्नोर्के प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः'' लक्षण के अनुसार वस्तुमात्र में अन्नादानप्रदानलक्षण अहरहर्यज्ञ (मेध्ययज्ञ) निरन्तर होता रहता है। 'यत सप्तान्नानि तपसाजनयत् पिता' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान[1], क्रिया[2], आकाश[3] (शब्द), वायु[4] (श्वासप्रश्वास), अग्नि[5] (प्रकाश), जल[6], मिट्टी[7] (गोधूम यवादि एवं ओषधि–वनस्पतियाँ) ये सातों अन्न ग्राहक की योग्यता के तारतम्य से वस्तुमात्र के अन्न बन रहे हैं। बिना परादान के कोई भी पदार्थ स्वस्वरूप का सुरक्षित नहीं रख सकता। यदि यह परस्परादान प्रधान न होता, तो सृष्टिस्वरूप का विकास ही असम्भव हो जाता। इसी अन्नादान से हमारे शरीर की आयतन वृद्धि होती है। ह्रास–वृद्धि–कृश–स्थूल आदि आदि अवस्थाविपर्यय ही इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि, अवश्य ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ अन्नादानप्रदानलक्षण यज्ञसम्बन्ध सुरक्षित है। ऐसी दशा में यह कहना कि, न हम अपना ब्रह्मौदन दे सकते, न किसी का ब्रह्मौदन ले सकते, कैसे समीचीन बन सकता है ?।

८७–प्रवर्ग्य का आदान प्रदान—

इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, ब्रह्मौदन भाग का परस्पर आदान–प्रदान असम्भव है। परन्तु साथ ही यह भी असन्दिग्ध है कि, स्वाभाविक यज्ञकर्म्म की रक्षा के लिए वस्तुभावों का परस्पर आदान–प्रदान होता रहता है। यह आदान–प्रदान भाव एकमात्र 'प्रवर्ग्यवस्तु' पर ही निर्भर है। प्रवर्ग्य भाग ही एक दूसरे की अन्नाहुति बनता है। इसी को अथर्व ने उच्छिष्ट कहा है, एवं इसी उच्छिष्ट से अथर्व ने विश्व की उत्पत्ति मानी है। यह उच्छिष्ट क्या है ?, इस प्रश्न का उत्तर न तो मूर्त्तिलक्षण छन्दोवेद (ऋग्वेद) दे सकता, न मण्डललक्षण वितानवेद (सामवेद) ही दे सकता। अपितु पुरुषलक्षण रसवेद (यजुर्वेद) ही इस प्रश्न का समाधान कर सकता है। मूर्ति एक आकारविशेष है, मण्डल भी एक आकारमात्र है। आकारभाव स्व–स्वस्थान में चाक्षुषमण्डलवत् प्रतिष्ठित रहते हैं। न इन में गति है, न आगति। न इनका आदान सम्भव, न प्रदान ही सम्भव। किसी वस्तु को जब आप अपना अन्न बनाने आगे बढ़ेंगे, तो पहिले उसका रक्षादुर्ग तोड़ना पड़ेगा। छन्द पर आक्रमण करना पड़ेगा। तभी यह स्वच्छन्दस्क पदार्थ आपकी छन्द सीमा में आता हुआ परछन्दोऽनुवर्त्ती बन सकेगा। मण्डल स्वयं कोई वस्तु नहीं, मूर्त्ति भी कोई वस्तुतत्त्व नहीं। जिसका यह मण्डल है जिसकी यह मूर्त्ति है, वही वस्तुतत्त्व स्वाभाविक रसभाव से गति–आगति भावों का अनुगामी बनता हुआ यज्ञकर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है। इसका जो भाग मूर्त्ति–मण्डल सीमा से बाहिर निकल जाता है, वही प्रवर्ग्यांश है। इसी प्रवर्ग्यादानप्रदान से मैत्रस्मयज्ञ सञ्चालित है। जब तक छन्द पर आक्रमण नहीं किया जाता, तब तक वह वस्तुतत्त्व ब्रह्मौदन है और तब तक इसका आदान असम्भव है। छन्द सीमा की विच्युति से ही वह प्रवर्ग्यरूप में परिणत होता है। एवं प्रवर्ग्यावस्था में आकर ही वह हमारा अन्न बनता है।

प्रमाणखण्डप्रकरण में इसी अभिप्राय से वेद का 'घर्म्मवेद' नाम से दिग्दर्शन कराया गया है। प्रवर्ग्य ही घर्म्म है–(देखिए पृ० सं० ११५)। ऋक्–सामरूप वयोनाधों से सम्बद्ध यजुर्लक्षण वय को इसी

आधार पर अन्न माना गया है। क्योंकि वयोविध रसवेद ही प्रवर्ग्य भाव में परिणत होकर आहुतिद्रव्य बनता है। मूर्त्तिलक्षण ऋक् भी गतिशून्य है, मण्डललक्षण साम भी गतिशून्य है। गतिमत् है एकमात्र वस्तुतत्त्वलक्षण यजु। *यजु के गमन से ही स्थितिलक्षणा आयतनरूपा मूर्त्ति का वितान हुआ है।* गति-रस ही ऊर्ध्व-अध:-चारों ओर गमन करता है। इसका जैसा संस्थान होता है, मूर्त्ति-मण्डल का भी वैसा ही संस्थान हो जाता है। गतिधर्म्म ही इसके रसनभाव का मुख्य हेतु है। रसन ही गमन है, गमन ही रसन है। इसी गमनवृत्ति से इस स्थितिगर्भित गतिलक्षण यजु को रसवेद कहना अन्वर्थ बनता है। इसी का प्रवर्ग्यरूप से विसंसन होता है। अन्य पदार्थों के प्रवर्ग्यरूप विस्रस्त भागों से इसी विस्रस्त यजु का पुनरुत्थान होता रहता है।

४३–प्राणवायु, और यजुर्वेद—

प्राणवायु ही इस यजुर्वेद का मौलिक रूप है, जो कि प्राणवायु इस ओर से मूर्त्तिद्वारा, उस ओर से मण्डलद्वारा सीमित बना रहता है। *कराघात न मण्डलपर होता, न मूर्त्ति पर। अपितु मूर्त्ति में प्रतिष्ठित यजु पर होता है।* प्रत्यक्ष भी न मण्डल का होता, न मूर्त्ति का होता। अपितु मण्डलशाहित यजु का होता है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से यजु का मूर्त्ति-मण्डलों से पृथक्करण किया जा सकता है। अपनी छन्दस्तर चिति की महिमा से यह वयोविध यजु एकादशविध (११ प्रकार का) है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। यजु साक्षात् रसवेद है, इस सम्बन्ध में महर्षि जैमिनि (वेदर्षि) का निम्नलिखित वाक्य समक्ष हमारे सामने आता है—

"प्रजापतिर्वा इदं त्रयेण वेदेनाजयत्, यदस्येदं जितं तत्। स ऐक्षत-इत्थं वेद्धा अन्ये देवा अनेन वेदेन यक्ष्यन्ते, इमां वाव ते जितिं जेष्यन्ति, या ऽस्ममम। हन्त त्रयस्य वेदस्य रसमाददा इति। स भूरित्येवर्ग्वेदस्य रसमादत्त। सेयम्पृथिव्यभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत्, सोऽग्निरभवद्रसस्य रस। भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। तस्य यो रस प्राणेदत्, स वायुरभवद्रसस्य रसः। स्वरित्येव सामवेदस्य रसमादत्त। सोऽसौ द्यौरभवत्। तस्य यो रस प्राणेदत्, स आदित्यो-ऽभवद्रसस्य रस। तस्या उ प्राण एव रस" (जै० उ० ब्रा० १।१।)।

"प्रजापति ने अग्नि-वायु-आदित्य रूप से तीनों वेदों का रस ग्रहण कर लिया। प्राण ही वह रस था' इस तात्पर्य को अपने गर्भ में रखने वाली उक्त जैमिनिश्रुति स्पष्ट ही वेदत्रयी को रसात्मिका मान रही है। यहाँ अग्नि, और आदित्य को भी ऋक्-सामात्मक रसवेद बतलाया गया है। ऋक्-साम का यह रसत्व यजु से सम्बन्ध रखता हुआ यजुर्मय ही माना जायगा। जिस प्रकार अग्निप्रधान मूर्त्तिलक्षण ऋग्वेद में अग्नि-वायु-आदित्य भेद से तीनों वेदों का समन्वय है। आदित्यप्रधान सामवेद में अग्नि-वायु-आदित्य भेद से तीनों वेदों का उपभोग है। एवमेव वायु (प्राण) प्रधान इस यजुर्वेद में भी अग्नि-वायु-आदित्य भेद से तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। यह यजुर्वेदत्रयी रसप्रधाना है, रसन प्राण का धर्म है, प्राणात्मक

एकमात्र गतिलक्षण यजुर्वेद है। फलतः उक्त श्रुति की वेदत्रयी का यजुर्गर्भत्व ही सिद्ध हो जाता है। 'तस्या उ प्राण एव रस' इस उपसंहारवाक्य से स्वयं श्रुति ने भी अन्त में यही सिद्ध किया है।

आकाशात्मा वाक् ही ऋक् है, वाक् ही साम है। वाक् से ही रसरूप यजु का उपक्रम है, वाक् पर ही यजु का उपसंहार है। स्थितिलक्षण वाङ्मय आकाश ही वह महा आयतन है, जिसके गर्भ में–"यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्" (गीता ९।६।) के अनुसार वयोविध प्राणलक्षण यजुः प्रतिष्ठित है। मूर्तिलक्षणा ऋक् भी वाङ्मयी है, मण्डललक्षण साम भी वाङ्मय ही है। तभी तो साममण्डल को 'वषट्कारमण्डल' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। मूर्तिमय वागाकाश के पीड़न से ही प्राणात्मक रसलक्षण यजुर्वेद का विनिर्गम हुआ है। वाङ्मय ऋक्पिण्ड में परिपूर्ण प्राणात्मक यजु रस ही छन्द व्यापार से ऊर्ध्व क्षिप्त होकर वाङ्मय महिममण्डलायतन में व्याप्त होता है। यही प्राणाग्निविध यजु महिमा में जाकर अग्नि–वायु–आदित्यविध बनता हुआ त्रयीविद्यारूप में परिणत हो जाता है। यज्ञप्रक्रिया में जो सामगान होता है, उस से परम्परया इसी रस की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठा होती है। प्राणात्मक सामगान स्वरात्मक बनता हुआ अक्षरात्मक है। इस स्वरसंधानलक्षण रससंधान से व्याहृति की, व्याहृति के द्वारा वेदत्रयी की, वेदत्रयी के द्वारा देवत्रयी की, देवत्रयी के द्वारा लोकत्रयी की, लोकत्रयी के द्वारा त्रैलोक्य व्यापक वागक्षर की, वागक्षर के द्वारा वाक् की, वाक् (इन्द्रपत्नीनामक मर्त्याकाश) के द्वारा आकाश (इन्द्र नामक अमृताकाश) की तृप्ति होती है। इसप्रकार प्राकृतिक साममण्डलाधार पर वितत इस शब्दात्मक सामगान की यथानुरूपता से यज्ञकर्त्ता यजमान का यह आधिदैविक खगोल शान्ति–समृद्धि–पूर्णता–प्रजावृद्धि का कारण बन जाता है, जोकि खगोलीय आकाशमण्डल यजमान के शिरोमण्डलस्थानीय खस्वस्तिक से बद्ध रहता हुआ यजमान का प्रातिस्विक पुराणाकाश बना हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति का खस्वस्तिकानुबन्धी आकाश कश्यपसंस्था से सम्बन्ध रखने वाली हृद्बिन्दु के भेद से पृथक् पृथक् है। प्रतिव्यक्ति के लिए नियत सम्वत्सरात्मक आकाश ही सिकृतिलक्षण व्यक्ति (मनुष्य) की प्रकृति है। वहीं से धारावाहिकरूप से इसे शुभाशुभ भाव मिला करते है। यदि व्यक्ति की चर्य्या प्रकृत्यनुकूल है, तब तो इसका प्राकृत आकाश शान्त समृद्ध रहता हुआ इस की गार्हपत्य–संस्था को शान्त–समृद्ध रखता है। यदि व्यक्ति का वैकारिक मण्डल प्रकृतिसंस्था से विरुद्ध गमन करने लगता है, तो विकृति से सम्बद्ध प्राकृताकाश भी कुपित हो जाता है। फलतः इसे उस कोपका लक्ष्य बनना पड़ता है। यदि राष्ट्र में अधिक व्यक्ति प्रज्ञापराधवश प्रकृतिविरुद्ध (अशास्त्रीय) आचरण करने लगते हैं, तो सम्पूर्ण राष्ट्र को कोपभाजन बनना पड़ता है। भूकम्प, महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आदि ही कोप के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। ठीक इसके विपरीत जहाँ के राष्ट्रीय व्यक्ति प्राकृतिक यज्ञादि कर्म्मों के द्वारा प्रकृति को शान्त रखते हैं, प्राकृताकाश का आप्यायन करते रहते हैं, वे–"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां, योगक्षेमो नः कल्पताम्" लक्षण प्राकृतानुग्रह के सत्पात्र बने रहते हैं। और यह सत्पात्रता मिलती है उस सामगान से, जो प्राकृतिक साममण्डल के द्वारा पूर्वोक्त परम्परा के अनुसार आकाशाप्यायन का कारण बनता है। (देखिए, वै उप ब्रा ७।२।)। उक्त कथन से प्रकृत में यही कहना है कि, यजुर्वेद प्राणात्मक बनता हुआ रसवेद है। इस का आयतन वाङ्मयी मूर्ति, वाङ्मयमण्डल है। मूर्ति–मण्डलात्मक, वागाकाशरूप ऋक् सामायतन में व्याप्त प्राणात्मक यजु आगे जाकर देवत्रयी भेद से रसत्रयीरूप में विभक्त होता हुआ रसवेदत्रयीरूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है—

"असदेवेदमग्र आकाश आसीत, स उ एवाप्येतर्हि। स यस्स आकाशः, वागेव सा। तस्मादाकाशाद्वागवदति। तामतो प्रजापतिरभ्यपीडयत्। तस्या अभिपीडितायै रसः प्रास्रवत्। सा त्रयीविद्याभवत्"।

—(जै० ब्रा० ७।१।)

* रसात्मक यजु की व्याप्ति अग्निविधास से सम्बन्ध रखती है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन अगले प्रकरण में किया जाने वाला है। यहाँ अग्निविधासलक्षण इस रसवेद के केवल उन तीन विवर्तों का ही संक्षिप्त स्पष्टीकरण अपेक्षित है, जिन के समन्वय से केवल यजुर्वेद भी ऋक्-सामवत् त्रयीवत्रूप में परिणत हो रहा है।

४४–सूच्यग्र–सूचीमुख–ऋजुमायापन्न यजु—

वस्तुकेन्द्र में बीजरूप से प्रतिष्ठित यह तेजोरस ऊर्ध्वगमन करता है, यह कहा जा चुका है। ऊर्ध्वगमन करते हुए इस यजु रस की 'सूच्यग्र, सूचीमुख, ऋजुमुख', रूपसे तीन अवस्था हो जाती है। सूच्यग्र यही यजु ऋक है सूचीमुख यही यजु साम है, एवं ऋजुमुख यही यजु यजु है। इसप्रकार रसात्मक केवल यजुर्वेद में ही तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। वितानवेदनिरुक्ति में हृदय-व्यास-परिधि का ऊर्ध्ववितान बतलाया गया है। यह वितान वस्तुतः रसात्मक यजुर्वेद का वितान माना जायगा। वितानाख्य सामवेद का तो उन सहस्र साममण्डलों से सम्बन्ध है, जिनकी प्रतिष्ठा १६० अहोरात्रसूत्र बने हुए हैं। बहिर्मण्डलावच्छिन्न सहस्र विष्कम्भ उत्तरोत्तर छोटे होते जाते हैं। इस का कारण पूर्वनिरुक्ति में यह बतलाया गया है कि, पूर्वव्यास के पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय एक त्रिसाणुरूप में परिणत होकर उत्तर-व्यास की नम्यबिन्दु बनते हैं। उत्तरोत्तर दो दो बिन्दु कम हो जाती हैं, अतएव पूर्व पूर्व व्यास की अपेक्षा उत्तर-उत्तर का व्यास छोटा हो जाता है। बिन्दु-द्वय के अभाव में व्यासवितान का अवसान हो जाता है। केवल नम्यबिन्दुमात्र शेष रह जाती है। यही व्यास-परम्परासूत्र-की निधनबिन्दु है, यही याज्ञिकों का यज्ञमण्डलावसानलक्षण 'निधन' नामक उदच साम है, जिस की-"अहस्योदृर्च गच्छामि' इत्यादिरूप से याज्ञिक लोग आशंसा किया करते हैं। परिलेख में पाठक देखेंगे कि, त्रिभुजक्रम से आगे का व्यास छोटा होता जा रहा है, एवं पूर्वव्यास के पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय ही उत्तर व्यास का नम्य आत्मा (केन्द्रबिन्दु) बन रहा है।

कूटस्थ व्यासकेन्द्र, एवं भूतव्यासकेन्द्रों के पार्श्ववर्त्ती बिन्दु (अणु) द्वय से निष्पन्न त्रिसाणु जैसे उत्तर भूतव्यास की नम्यबिन्दु बनता है, वैसे ही व्यास पार्श्ववर्त्ती अन्तिम अणुद्वय से सम्पन्न एक एक त्रिसाणु उस उस व्यास का महिमामण्डल बना करता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ कूटस्थ व्यास-

* "तस्य वा एतस्य यजुष –'रस' एवोपनिषत्। तस्माद्यावन्मात्रेण यजुषा-अध्वर्यु र्ग्रहं गृह्णाति, स उभे स्तुतशस्त्रे अनुविभवति, उभे स्तुतशस्त्रेऽअनुव्यश्नुते। तस्माद्यावन्मात्र-इवास्य रसः, सर्वमस्य भवति, सर्वमनुव्येति"।

(शत० १०।३।५।१२।)।
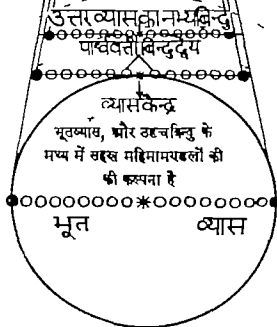
(३८८, तथा ३८९ के मध्य में)

(२५)–विष्कम्भ–मूर्त्ति–वितान–समष्टिपरिलेख —
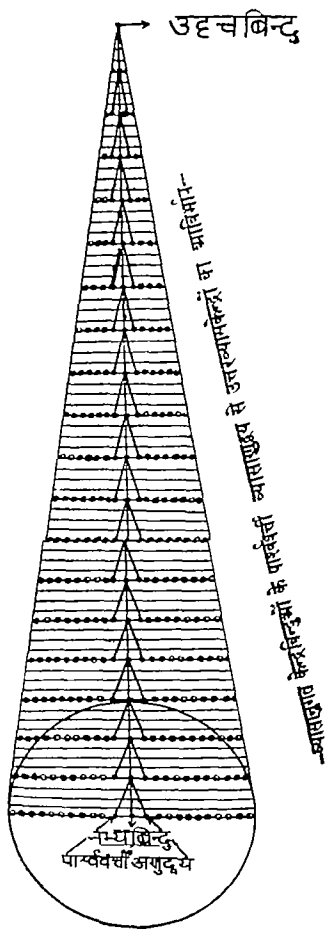
बिन्दुओं की अन्तिम बिन्दु से सम्बन्ध रखने वाले अन्तिम साममण्डल का स्वरूप उद्धृत हुआ है। ठीक यही क्रम आगे के भूतव्यासों में समझना चाहिए। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, विज्ञाणु का वितान दो प्रकार से होता है। व्यासाणुओं के अन्तिम दो व्यासाणुओं से जहाँ उसी व्यास से सम्बद्ध महिमामण्डल का आविर्भाव होता है, वहाँ व्यासकेन्द्रबिन्दु के पार्श्ववर्ती व्यासाणुओं से उत्तरव्यास–केन्द्रों का आविर्भाव होता है, जैसाकि निम्न लिखित दोनों परिलेखों से स्पष्ट है।

८५–वास–व्युत्क्रम–स्वरूप–भेदभिन्न अग्नि—

वेदपदार्थ की जटिलता के समाधान का ज्यों ज्यों प्रयत्न किया जाता है, त्यों त्यों विषय दुरूह बनता जाता है। यजुर्वेद का जो स्वरूप हम यहाँ बतलाने चले हैं, एवं पूर्व में–ऋक, सामवेदों का जो स्वरूप बतलाया गया है, वह तत्त्वत विस्पष्ट रहता हुआ भी कुछ एक समानताओं से विक्लिष्ट सा बन रहा है। इस सङ्करता–निवृत्ति के लिए दो शब्दों में इन तीनों वेदों के तीनों विवर्तों का स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है। वेदत्रयी के सम्बन्ध में सब से मुख्य लक्ष्य है–'अग्नि'। अग्निवेद का ही नाम त्रयीवेद है। छन्द, वितान, रस, तीनों एक ही अग्नि के महिमाभाव हैं। दूसरे शब्दों में वेदपदार्थ का–'मनोमय-प्राणगर्भिता वागेव वेद' यह लक्षण भी किया जा सकता है। 'अग्नेर्वागेवोपनिषत्' के अनुसार यह मन-प्राणगर्भिता वाक् अग्नि का ही मौलिक रूप है। अतएव वेद के सम्बन्ध में–'वागृधियुताश्च वेदा'–'अग्निवियुताश्च वेदा' दोनों बातें घटित हैं। दोनों का तात्पर्य समान है।

इस वाग्रूप वेदाग्नि के प्रत्येक पदार्थ में 'वास, व्युत्क्रम, स्वरूप' भेद से तीन प्रकार से दर्शन किए जा सकते हैं। अथवा इन तीनों का 'वास–स्वरूप' इन दो भेदों में ही पर्य्यवसान माना जा सकता है। अग्नि के रहने का स्थान 'अग्निवास' कहलाएगा, एवं स्वयं अग्नि 'अग्निस्वरूप' माना जायगा। अपने वास (निवास–स्थान) में रहने वाले इस अग्नि के 'चित्य-चित्येनिधेय' भेद से दो स्वरूप माने गए हैं। भूतप्रधान वही अग्नि क्षरमात्मक बनता हुआ मर्त्य है, विस्रंसनधर्म्मा है। एवं अग्नि के भूतात्मक इसी मर्त्य–क्षररूप को 'चित्याग्नि' कहा जाता है। प्राणप्रधान (शक्तिरूप–देवात्मक) यही अग्नि अक्षरभावात्मक बनता हुआ अमृत है, एकरस है। एवं अग्नि के प्राणात्मक इसी अमृत–अक्षररूप को 'चितेनिधेय' कहा जाता है।

वस्तुपिण्ड वैज्ञानिक भाषा में 'कृष्णाजिन' है, वस्तुमहिमा 'पुष्करपर्ण' नाम से प्रसिद्ध है। दोनों में अग्नि के दोनों रूप प्रतिष्ठित हैं। अन्तर केवल यही है कि, वस्तुपिण्डात्मक कृष्णाजिन में (मूर्तिपिण्ड में) निवास करने वाला अग्नि प्राणाग्नि को गर्भ में रखता हुआ भूतप्रधान है, एवं वस्तुमहिमामण्डलात्मक पुष्कर–पर्ण में निवास करने वाला अग्नि भूताग्नि को अपने गर्भ में रखता हुआ प्राणप्रधान है। इसप्रकार यद्यपि अग्नि अपने दोनों ही वासस्थानों में अपने दोनों सम्मिलितरूपों से प्रतिष्ठित है। तथापि 'तद्वादन्याय' के अनुसार पिण्डाग्नि भूताग्नि मान लिया जाता है, महिमाग्नि प्राणाग्नि मान लिया जाता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, वस्तुपिण्ड मर्त्य है विनाशशील है। एवं वस्तुमहिमा अमृत है, अविनाशी है। तत्त्व–वाद की इसी मौलिकता के आधार पर यह लौकिक किंवदन्ती प्रतिष्ठित है कि,–'शरीर नष्ट हो गया किन्तु यश (महिमा) आजतक बना हुआ है'। सामान्य भाषा में अग्नि के उक्त दोनों रूपों का 'शक्ति–

शक्तिमान्' द्वारा अभिनय कर सकते हैं। यद्यपि दोनों ही शब्द तत्त्वस्पष्टीकरण में असमर्थ हैं। तथापि उपलालन दृष्टि से यहाँ इन शब्दों का प्रयोग सम्भव बन रहा है। यह सभी को विदित है कि, प्रत्येक भौतिक पदार्थ में एक शक्तिविशेष प्रतिष्ठित रहती है। पदार्थ पाञ्चभौतिक बनता हुआ भूतप्रधान है। यही वैज्ञानिकों का 'मेटर' है। इन पदार्थों में रहने वाली वह शक्ति, जिसके रहने पर वस्तुगत क्षरपरमाणु परस्पर समन्वित रहते हैं, सघठित रहते हैं, 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्राणने क्षरपरमाणुओं का एकसूत्र में विधरण कर रक्खा है। अतएव वैदिकविज्ञान में प्राणतत्त्व 'विधर्त्ता' नाम से व्यवहृत हुआ है। लौकिक मनुष्य इसी को शक्ति (दम) कहते हैं। यही प्रतीच्य वैज्ञानिकों का 'फोर्स' है। प्राणलक्षणा शक्ति क्योंकि क्षरकूटरूप भूतपिण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित रहती हुई भूतपिण्ड को संघठनात्मक स्वरूप से सुरक्षित रखती है, अतएव इसे दार्शनिक भाषा में 'कूटस्थ' कहा गया है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द, इन पाँचों तन्मात्राओं का सम्बन्ध क्षरपरमाणुर्स्वरूप भूतपिण्ड के साथ है। 'अवैकारिक रूढ क्षरपञ्चक' का ही नाम पञ्चतन्मात्रा है, यही 'गुणभूत' हैं। यही विज्ञानभाषा का 'विश्वसृट्' है। 'वैकारिक विशुद्ध रूढ क्षर' ही 'अणुभूत' हैं, यही 'पञ्चजन' है। 'वैकारिक पञ्चीकृत रूढ क्षर' ही 'रेणुभूत' है, यही 'पुरञ्जन' है। 'वैकारिक सर्वरूप पञ्चधा-पञ्चीकृत रूढ क्षर' ही 'महाभूत' है, यही 'पुर' है। इसप्रकार गुणतिमका तन्मात्राएँ ही भूतपिण्ड स्वरूपोदय की उपादान बन रही हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१-अवैकारिकरूढक्षरा ————गुणभूतानि— विश्वसृज

२-वैकारिकविशुद्धरूढक्षरा ——अणुभूतानि—* पञ्चजनाः –

३-वैकारिकपञ्चीकृतरूपा रूढक्षरा रेणुभूतानि—* पुरञ्जनाः

४-वैकारिकसर्वरूपा रूढक्षरा ——महाभूतानि—* पुराणि (पदार्था)

गुणाणुरेणुभूतों से सम्पन्न पाँच महाभूतों में आकाश, और तेज (प्रकाश), जब कि ये दोनों भूत भूत रहते हुए भी धामच्छद (स्थानावरोधक) नहीं हैं, तो भूतातीत शक्तिलक्षणा अक्षरमूर्ति प्राण धामच्छद कैसे हो सकता है। इसी आधार पर इस प्राण का-'रूपरसगन्धस्पर्शशब्दशून्यत्वे सत्यधामच्छदत्वम्' यह लक्षण किया जाता है। प्राण प्रवेश नहीं रोकता, अतएव प्राणात्मक पार्थिव खेरसाममयडलों का परस्पर अतिमान हो जाता है, जैसाकि पूर्व के अतिमान-परिलेखों से स्पष्ट है। भूतपिण्ड ही धामच्छद माना गया है। जब तक भूतपिण्ड प्राणशक्ति से युक्त रहता है तब तक भूतपरमाणु संघठित रहते हैं। प्राणोत्क्रान्ति पर परमाणु विशकलित हो जाते हैं, संघठन टूट जाता है, वस्तुपिण्डस्वरूप पलायित हो जाता है। और उसी दशा के लिए सर्वसाधारण में-'अरे अब इस में दम (प्राण) नहीं रहा' यह कहावत प्रचलित है।

प्राण-भूत के उक्त स्वरूप निदर्शन से प्रकृत में यही कहना है कि, भूत उसी अग्नि का मर्त्य-चित्य-रूप है, प्राण उसी अग्नि का अमृत-चितेनिधेयरूप है, दोनों रूपों की समष्टि 'अग्नि नामक प्रजापति है, जो केन्द्र में अनिरुक्तरूप से, महिमा में सर्वरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ-'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्य-

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन ईशभाष्य प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

मामीमृर्द्धममृतम् इस लक्षण को चरितार्थ कर रहा है। इसप्रकार स्वयं अग्नि अग्नित्वेन भूत (मूर्त्ताग्नि), प्राण (अमूर्त्ताग्नि) भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। भागद्वयात्मक यही अग्नि पूर्व कथित 'रस' है।

यह रसाग्नि जिस 'वास' का अनुगामी बना रहता है, वह 'वास' ही इस अग्नितत्त्व (वस्तुतत्त्व) का छन्द माना गया है। इसी छन्दोरूप आयतन में यह उभयविध रसाग्नि प्रतिष्ठित रहता है। पाठकों को स्मरण होगा कि, प्राजापत्यवेदप्रकरण में 'छन्दांसि और त्रयीवेद' नामक परिच्छेद में 'तस्माद्यज्ञात्० इत्यादि यजुर्मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि, आपोमय अथर्ववेद की ओर सङ्केत करता हुआ यह 'छन्दांसि'–पद वयोनाध का ही सूचक है। अब यहाँ दूसरे दृष्टिकोण से छन्दांसि का विचार किया जाता है। 'ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इत्यादि वाक्य में पठित 'सामानि', 'छन्दांसि' दोनों पद वस्तुत साम के ही सूचक हैं। छन्द ही वयोनाध है, वयोनाध ही परिणाह है, परिणाह ही साम है।

अग्निवास ही छन्द है। क्योंकि पूर्वकथनानुसार अग्नि के 'चित्य'–'चितेनिधेय' दो रूप है। अतएव वासलक्षण–छन्द भी दो भागों में विभक्त हो जाता है। चित्याग्नि का छन्द (आयतन) 'छन्दांसि' है, एवं चितेनिधेयाग्नि का छन्द 'सामानि' है। चित्यछन्द 'छन्द साम' कहलाया है, चितेनिधेयछन्द 'वितानसाम' कहलाया है। 'ऋचा परिणाह–अर्चि' के अनुसार ऋङ्मूर्त्तियों का परिणाह ही अर्चि है, अर्चि ही साम है। परिणाहरूप इस अर्चि साम के ही 'छन्दार्चिक' एवं 'उत्तरार्चिक' भेद से दो विभाग माने गए हैं। छन्दार्चिक चित्याग्नि का छन्द है, उत्तरार्चिक चितेनिधेयाग्नि का छन्द है। पिण्डपरिणाह छन्दार्चिक है, मण्डलपरिणाह उत्तरार्चिक है। छन्दार्चिक 'छन्दांसि' है, उत्तरार्चिक 'सामानि' है। विष्कम्भ भी (छन्दोवेद प्रकरण में) छन्द माना गया है। इसके त्रिगुणन से पिण्डपरिणाह को छन्दः न कह कर 'छन्दांसि' कहा गया है। उधर मण्डलपरिणाह भी एक सहस्र हैं। अतएव उनके लिए भी 'साम' के स्थान में 'सामानि' कहना ही अन्वर्थ बनता है।

निष्कर्ष यही है कि, मौलिक अग्नितत्त्व 'वय' है, इसका 'वास' ही वयोनाध है। अग्निद्वैविध्य से वास भी दो हो जाते हैं। मण्डलात्मक वासस्थान में अग्नि का ही व्युत्क्रम हुआ है। अतएव इसे हम वितान भी कह सकते हैं। उधर पिण्डात्मक वासस्थान में अग्नि ही चित्यरूप से प्रतिष्ठित है, अतएव इसे हम 'छन्द' कह सकते हैं। यह छन्द यही 'छन्दांसि' है, यह वितान यही 'सामानि' है। अग्नि के ही 'अग्निस्वरूप 'अग्निवास', 'अग्निव्युत्क्रम', भेद से तीन विवर्त हो जाते हैं। ये ही तीनों विवर्त क्रमश 'यजुः, ऋक, साम' हैं। अग्निस्वरूपलक्षण यजु रस है, अग्निवासलक्षण ऋक् छन्द (छन्दांसि) है, एवं अग्निव्युत्क्रमलक्षण (प्राणाग्निवासलक्षण) साम वितान (सामानि) है, तीनों विवर्त एक ही प्रजापति के विवर्त्त हैं। इसप्रकार तीनों वेदों का अग्निविधानत्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है।

४६–व्युत्क्रमण–विक्रमण, एवं उत्क्रमण—

व्युत्क्रमण, विक्रमण, उत्क्रमण, तीनों व्यापारों का क्रमशः अग्नि, विष्णु, इन्द्र, इन देवताओं के साथ सम्बन्ध है। केन्द्र को आधार बना कर (पकड़े हुए) आगे बढ़ना विक्रमण है, केन्द्र को छोड़ कर आगे बढ़ना उत्क्रमण है, एवं जिस व्यापार में दोनों का समन्वय रहे, वही व्युत्क्रम है। यह सिद्धान्तपक्ष है कि इन्द्राविष्णु की प्रतिस्पर्द्धा से ही अग्निमयी वेदसाहस्री का प्रादुर्भाव हुआ है। अतएव अग्नि में इन्द्राविष्णु

के उत्क्रमण, विक्रमणधर्मों का समावेश आवश्यक बन जाता है। उभयधर्म्मावच्छिन्न अग्नि के व्युत्क्रम से ही महिमामण्डल पूर्ण बनता है। छन्दो-वितान-रसलक्षणा वेदत्रयी की ये ही कुछ एक सामान्य परिभाषाएँ हैं, जिन्हें लक्ष्य में रखने से वेदतत्त्वसम्बन्धिनी जटिलता का एकान्तत निरसन सम्भव है। पाठकों से सानुरोध निवेदन किया जायगा कि, वे अग्नि की इस पारिभाषिक व्याप्ति को लक्ष्य में रख कर ही त्रयीवेद की त्रयीमहिमा से सम्बन्ध रखने वाले त्रिवृद्भाव का समन्वय करें। फिर विरोध, किंवा दुरूहता का अणुमात्र भी अवसर नहीं है।

४५-अग्निपरिभाषा—

१—"वाक्-अग्नि", अग्निर्वाक्। तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषदित्याहुः। सैषा वाक् प्राणगर्भिता। प्राणश्च मनोमय। अतश्च मनोमयप्राणगर्भिता वाक्, एव वाक्। सोऽग्नि। स एव वेद। मनोमयप्राणगर्भिता वाक्-वेदः। वाग्विवृताश्चवेदाः, इत्याहुः। 'अग्निविवृताश्च वेदाः' इति निष्कर्षः।

२—१-इन्द्र—उत्क्रमते—केन्द्रविच्युतिः
२-विष्णु-विक्रमते—केन्द्रपरिग्रहः
३-अग्नि-व्युत्क्रमते—उभयो परिग्रह
} उत्क्रमण-विक्रमण-संयोगाद्वाग्नि-व्युत्क्रमते।

३—
- चित्याग्नि (भूताग्नि) रसः
- चितेनिधेयाग्नि (प्राणाग्नि) रस
} रसवेदः यजुः
- चित्याग्नेश्छन्द छन्द }—छन्दोवेद ऋक्
- चितेनिधेयाग्नेश्छन्द वितानम् } वितानवेद साम
} अग्निवेदत्रय

४—१-छन्द—ऋक्
२-वितानम्-साम
३-रस—यजु
} अग्निः (अग्निवेदस्त्रयीवेद)।
४-योनि—अथर्व }—सोमः (सोमवेदश्चतुर्थवेद)।
}—"सर्वे वेदा"

५–१-अग्नेर्वासश्छन्द——–ऋक् } त्रयोनाधी
२-अग्नेर्द्युतत्क्रमो वितानम्-साम }
३-अग्ने स्वरूपम्——–यजुः }—पयः
} "सर्वमिदं वयुनम्" ।

६–१-छन्दोवेदे परिणाहात्मकं यत् साम (पिण्डसाम-छन्दासि)–तत्–"छन्दार्चिक साम" ।
२–वितानवेदे परिणाहात्मकं यत् साम (मण्डलसाम-सामानि)–तत्–"उत्तरार्चिक साम" ।
*–"ऋचा परिणाहोऽर्चि । अर्चिर्दीप्यते, तानि सामानि, स साम्ना लोक" ।
१–छन्दार्चिकसामप्रकरणे —१—ऋक् (पिण्डव्याप्तिः) ।
२–उत्तरार्चिकसामप्रकरणे —२—ऋचः (मण्डलव्याप्ति) ।

७–१-मूर्ति (पदम्) पिण्ड–छन्दोवेद–छन्दोलक्षण (अत्रापि वेदत्रयोपभोग) ।
२–मण्डलम् (पुनःपदम्) तेज—सामवेद–वितानलक्षणः (अत्रापि वेदत्रयोपभोग) ।
३–पदद्वयांप्रतिष्ठित गति–यजुर्वेदः—रसलक्षण (अत्रापि वेदत्रयोपभोग) ।

८–१-मूर्ति —ऋग्वेद }
२–गति —यजुर्वेद } त्रयीविद्या–वेदविद्या
३–तेज —सामवेद }
४–प्रतिष्ठा—अथर्ववेद } अथर्वविद्या-भूतविद्या
} "सैषा अपराविद्याचतुष्टयी"

*–"अथर्ववेदः सौम्य, आप्य । आपो वै सर्वाणि भूतानि (शत० १०।५।४।१२।) ।
त्रय्यां वाव विद्यायाम् ऋग्-यजु–साममय्यां प्रजापति सर्वाणि–अथर्वमयानि भूता–
न्यपश्यत्" ।

४८–त्रयीभावों का समन्वय—

उक्त परिभाषाओं को लक्ष्य में रखते हुए पूर्व की छन्दोलक्षणा वेदत्रयी, एवं वितानलक्षणा वेदत्रयी का विचार कीजिए। दोनों का यथावत् समन्वय हो जायगा। हृदय, विष्कम्भ, परिणाह, ये तीनों भाव अग्निवास-लक्षण छन्दोमय ऋग्वेद के विवर्त हैं। ये ही क्रमशः ऋग्वेदीय 'यजुः-ऋक्-साम' हैं। महिमामण्डल के नाभ्य २१ सूर्त्रों से सम्पन्न सहस्र साममण्डलों की समष्टि ही वितानलक्षण मण्डलात्मक सामवेद है पूर्व मण्डलात्मक साम ऋक् है, उत्तरमण्डलात्मक साम साम है, मध्यस्थ 'उक्थामद' नामक मूर्तियों के परिणाह यजु हैं। महिमावितानलक्षणा इसी सामवेदत्रयी का निम्नलिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

> 'यजूदर सामशिरा असावृङ्मूर्तिरव्यय ।
> स ब्रह्मेति हि विज्ञेय, ऋषिर्ब्रह्ममयो महान्" (कौ० उप० १।७)।

बस्तिगुहा उदरगुहा, शिरोगुहा, भेद से त्रिधा विभक्त आध्यात्मिक संस्था के साथ तुलना करते हुए श्रुति ने बस्तिगुहा-स्थानीय पूर्वमण्डलात्मिका ऋक् को 'मूर्त्ति' कहा है। उदरगुहा-स्थानीय मध्यस्थ मूर्त्ति-मण्डलात्मक यजु को 'उदर' कहा है, एवं शिरोगुहास्थानीय उत्तरमण्डलात्मक साम को 'शिर' कहा है। इस प्रकार मण्डलत्रयी के भेद से अहर्गणात्मक सामवेद में भी छन्दोवेदमय ऋग्वेदवत् तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। मण्डलात्मक इस सामत्रयी के सम्बन्ध में दो चार प्रासङ्गिक परिभाषाओं पर और दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

४९–सामव्यूहनरहस्य—

'नासामा यज्ञोऽस्ति' के अनुसार बिना साम के त्रयीविद्या से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञ का २१ पर्यन्त वितान असम्भव है। सामवितान के आधार पर ही श्रुति की "यज्ञं कृत्वा सत्य (वेदं) तनवामहै" प्रतिज्ञा कार्यरूप में परिणत हो रही है। इसीलिए वैध-यज्ञ में भी यज्ञारम्भ में हिङ्काररूप से, यज्ञमध्य में उद्-गीथरूप से एवं यज्ञसमाप्ति पर निधन (स्वाहा) रूप से उद्गाता लोग सामगान किया करते हैं। अतएव साम को हम यज्ञस्वरूपसम्पादक कह सकते हैं। सामवितान का पूर्व में सहस्रमण्डलरूप से दिग्दर्शन कराया गया है। अब विशुद्ध याज्ञिक दृष्टि से भी वितानलक्षण सामव्यूहन का प्रकार देख लीजिए।

● मनःप्राणगर्भिता वाक्-गौः-सैषा गौसाहस्री।	सामवितानपरम्पराक्रमः
● गौसमष्टिः-अहर्गणाः।	
● अहर्गणसमष्टिः— स्तोत्राणि।	
● स्तोत्रसमष्टिः— स्तोत्रिया।	
● स्तोत्रियासमष्टिः— सामवेदो वितानात्मा	

मूर्त्तिमात्र के साथ 'स्पृश्य, दृश्य पारावत' इन तीन पृष्ठों का सम्बन्ध है । चौथा नभ्य (केन्द्र) पृष्ठ इन तीनों पृष्ठों का मूलाधार है । नभ्यपृष्ठ के आधार पर प्रतिष्ठित स्पृश्यपृष्ठ ही 'पद' लक्षण 'अन्तःपृष्ठ' है । अन्तःपृष्ठ (वस्तुपिण्ड) के आधार पर वितत होने वाला ४८ अहर्गणात्मक महिमामण्डल ही 'पुनःपद' लक्षण 'बहिःपृष्ठ' है । सामनिरुक्ति में चान्द्रमसामाविमान का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया था कि, वस्तुपिण्ड को हम छू सकते हैं, देख नहीं सकते । एवं महिमामण्डल को देख सकते हैं, छू नहीं सकते । अब इस सम्बन्ध में थोड़ा संशोधन करना पड़ेगा । पूरा महिमामण्डल कभी दृश्य नहीं बन सकता । इस महिमामण्डल में जहाँ तक रसाग्नि का व्युतक्रम है, वहीं तक वस्तुस्वरूप का प्रत्यक्ष सम्भव है । 'यत्किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकम् अग्निकर्म्मैव तत्'' (यास्कनिरुक्त) के अनुसार अग्नि ही दृष्टिकर्म्म का अतिष्ठाता (अधिष्ठाता) माना गया है । एवं ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले महिमामण्डल के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त ही अग्नि (अग्नि–वायु–आदित्यात्मिका अग्नित्रयी) की व्याप्ति मानी गई है । जहाँ तक अग्नि की व्याप्ति है, वहीं तक हम वस्तु देख सकते हैं । २१ से बाहिर की महिमामयी मूर्त्तियाँ स्पृश्यपिण्डवत् प्रत्यक्षमर्य्यादा से सर्वथा अतीत हैं । इसप्रकार अष्टाचत्वारिंशदहर्गणात्मक बाह्यपृष्ठ के दो विभाग हो जाते हैं । २१ पर्य्यन्त का महिमामण्डल दृश्यपृष्ठ है, ४८ तक का महिमामण्डल पारावतपृष्ठ है । पारावतपृष्ठ निधन साम है, यहाँ सीमा समाप्त है । दृश्यपृष्ठ उद्गीथसाम है, एवं स्पृश्यपिण्ड प्रस्ताव है । इसप्रकार पृष्ठत्रय के भेद से प्रत्येक पदार्थ में त्रिपृष्ठ साम का समन्वय किया जा सकता है ।

दूसरी दृष्टि से मूर्त्तिस्वरूप की मीमांसा कीजिए । प्रत्येक मूर्त्ति में पाँच पृष्ठों का समन्वय किया जा सकता है । "प्रजापति,[1] चित्याग्निपिण्ड,[2] चितेनिधेयाग्निमण्डल,[3] सौम्यमण्डल[4] प्राणमण्डल" भेद से मूर्त्तिविवर्त्त पञ्चधा विभक्त है । नभ्य आत्मा प्रजापति है, यही नभ्यपृष्ठ है । मर्त्याग्निपिण्ड चित्याग्निपिण्ड है, यही स्पृश्यपृष्ठ है । अमृताग्निमण्डल चितेनिधेयाग्निमण्डल है, यही दृश्यपृष्ठ है । आपोमण्डल सौम्य मण्डल है, यही 'अपांपृष्ठ' नामक पारावतपृष्ठ है । वाङ्मय मण्डल प्राणमण्डल है, यही 'नाकपृष्ठ' है । ये पाँचों पृष्ठ क्रमशः हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार, निधन, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं ।

नभ्यपृष्ठ सर्वपृष्ठात्मक बनता हुआ अपृष्ठात्मक एकाकीपृष्ठ है । स्पृश्यपृष्ठ–हस्तपृष्ठ, विष्कम्भपृष्ठ, परिणाहपृष्ठ, भेद से त्रिपृष्ठ है । दृश्यपृष्ठ–त्रिवृदग्निपृष्ठ पञ्चदशपृष्ठ, एकविंश आदित्यपृष्ठ भेद से त्रिपृष्ठ है ।

पारावतपृष्ठ—एकादश आग्नपृष्ठ, द्वाविंश वायुपृष्ठ, त्रयस्त्रिंश सौम्यपृष्ठ भेद से त्रिपृष्ठ है। एवं महापृष्ठ—चतुर्विंश गायत्रपृष्ठ, चतुश्चत्वारिंश त्रैष्टुभपृष्ठ, अष्टाचत्वारिंश जागतपृष्ठ भेद से त्रिपृष्ठ है। इसप्रकार हृल्लक्षण, स्यन्दरमूर्त्ति, नभ्यपृष्ठात्मक, सर्वपृष्ठात्मक, अपृष्ठात्मक सत्यप्रजापति के त्रिसत्यभाव के आधार पर वितत चार पृष्ठों में तीन-तीन अवान्तर पृष्ठ व्याप्त हो रहे हैं। चार महापृष्ठों के बारह अवान्तरपृष्ठ हो जाते हैं। यही द्वादशाक्षरा जगती है, जिस द्वादशाक्षर जगतीमण्डल को उस नभ्यप्रजापति का जगत् कहा जाता है। जगती के आयतन में प्रतिष्ठित देव–लोक–वेद–छन्द–पशु–स्तोम–आदि सब कुछ उसी नभ्य ईशप्रजापति की सत्ता से आक्रान्त है जैसाकि—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' इत्यादि से उपवर्णित है।

उक्त पृष्ठों के सम्बन्ध में एक रहस्य पूर्ण घटना है– 'अपतत्त्व की सर्वव्याप्ति"। "इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्" इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार अप् के आधार पर होने वाली इन्द्राविष्णू की प्रतिस्पर्द्धा से ही 'साहस्री' लक्षण महिमामण्डल का विकास हुआ है। कृष्णाग्नि–पुष्करपर्णों का सात्त्विक स्वरूप बतलाते हुए पूर्व प्रकरणों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, वस्तुपिण्ड कृष्णाग्नि है, महिमामण्डल पुष्करपर्ण है, एवं 'आपो वै पुष्करपर्णम्' के अनुसार अन्नमण्डल ही पुष्करपर्ण है। इसी से अन्तःपुरलक्षण पिण्ड का निर्म्माण हुआ है, एवं यही बहिष्पुरलक्षण महिमामण्डल का स्वरूप समर्पक बन रहा है। मूर्त्ति एवं मण्डल, दोनों का मूलाधारभूत यह अपतत्त्व वह रहस्यपूर्ण तत्त्व है, जिसके गर्भ में देवत्रयी, वेदत्रयी, लोकचतुष्टयी, यज्ञ, छन्द स्तोमादि सब कुछ प्रतिष्ठित हैं। पूर्वोक्त द्वादशाक्षरा जगती का मौलिक स्वरूप यही अपतत्त्व है, जिसे वैज्ञानिक लोग भृग्वङ्गिरोमय 'अथर्ववेद' कहा करते हैं, एवं सर्वोपसृष्टा का मूल होने से सर्वप्रतिष्ठा होने से जो अथर्वतत्त्व "सर्वं ह्येदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्" (तैत्तिरीयब्राह्मण) इत्यादि श्रुति के अनुसार 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है। त्रयीवेद एक ओर है, ब्रह्मवेद एक ओर है। ब्रह्मवेदमूर्त्ति, अथर्वलक्षण, भृग्वङ्गिरोमय इस पारमेष्ठ्य अपतत्त्व के 'भृगु–अङ्गिरा–अत्रि' नाम के तीन मनोता हैं। इनमें भृगुमनोता 'आप –वायु –सोम' भेद से तीन भागों में विभक्त है, अङ्गिरा मनोता अग्निः–वायुः–आदित्य' भेद से तीन भागों विभक्त है एवं अत्रिमनोता एकरूप बनता हुआ–'न त्रिः'–निर्वचन से 'अत्रि' नाम से प्रसिद्ध है। 'वागेवात्रिः' के अनुसार वाक्तत्त्व ही अत्रि है। इस वाग्रूप अत्रिमनोता के गर्भ में भृगुत्रयी प्रतिष्ठित है, एवं भृगुत्रयी के गर्भ में अङ्गिरात्रयी प्रतिष्ठित है। तीनों मनोताओं की अमृत–मर्त्य भेद से दो अवस्थाएँ हैं। मर्त्यलक्षणा मनोतात्रयी से मूर्त्ति का निर्म्माण हुआ है, अमृतलक्षणा मनोतात्रयी से मण्डल का विकास हुआ है। अपने इन्हीं तीन मनोताओं के आधार पर सर्वत्र व्याप्त रहने वाला सर्वस्व यह 'आप'—'यदाप्नोत्–यदवृणोत्' इत्यादि निर्वचनों के अनुसार 'आप' नाम से प्रसिद्ध है।

वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर अष्टाचत्वारिंशस्तोम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले अत्रिलक्षण वाङ्मय मनोता को ही महापृष्ठ कहा जायगा। वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर त्रयस्त्रिंशस्तोम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले भृगुमनोता को ही अपांपृष्ठ कहा जायगा। वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर एकविंशस्तोमपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले अङ्गिरामनोता को ही अग्निलक्षण इरापृष्ठ कहा जायगा। एवं वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर मूर्त्तिपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले मर्त्य भृगु–अङ्गिरा–अत्रिमनोता ही सुरपृष्ठ कहलाएगा। अत्रिमनोता नामक वाङ्मय महापृष्ठ के २४–४४–४८, भेद से तीन अवान्तर पृष्ठ होंगे। भृगुमनोता नामक अपांपृष्ठ के ११–२२–११ भेद से तीन अवान्तर पृष्ठ होंगे। अङ्गिरामनोता नामक अग्निपृष्ठ (इरापृष्ठ) के २१–१५–९ भेद से तीन

अवान्तर पृष्ठ होंगे । एवं मर्त्य भृग्वङ्गिरोऽत्रि–मनोता नामक स्तुरयपृष्ठ के द्रव्य–विष्कम्भ–परिणाह भेद से तीन पृष्ठ होंगे । इसप्रकार हमारे विज्ञ पाठक अपूतत्त्व की व्याप्ति का विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, अपूतत्त्व ही अपने तीन मनोताओं के आधार पर सर्वस्व बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो जाता है—

❀–नभ्यप्रजापति——नभ्यपृष्ठम्—हिङ्कार		
१–चित्याग्निर्पिण्ड——स्तुरयपृष्ठम्–प्रस्ताव		
२–चितेनिधेयाग्निमण्डलम्—दरयपृष्ठम्—उद्गीथः	—"पञ्चविध सामोपासीत"	
३–सौम्यमण्डलम्——अपापृष्ठम्—प्रतीहार		
४–प्राणमण्डलम्——महापृष्ठम्—निधनम्		

❀–नभ्य–आत्मा——सर्वपृष्ठात्मकोऽग्नि		
१–मर्त्यभृग्वङ्गिरोऽत्रिपिण्ड—त्रिपृष्ठात्मकः–स्तुरय		
२–अमृत–अङ्गिरोमण्डलम्—त्रिपृष्ठात्मकं–दरयम्	—"सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्"	
३–अमृत–भृगुमण्डलम्——त्रिपृष्ठात्मकं–पारायतम्		
४–अमृतात्रिमण्डलम्——त्रिपृष्ठात्मकं–महा		

३–अत्रि—वाक्		
२–भृगु—आप	—अमृतप्रधाना मनोतात्रयी–'आप' (मण्डलम्)	
१–अङ्गिरा अग्नि		सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम् सर्वमग्नीषोमयं जगत् ❀
१–अङ्गिरा–अग्नि		
२–भृगु—आप	—मृत्युप्रधाना मनोतात्रयी–'आप' (मूर्त्तिः)	
३–अत्रि—वाक्		

धामात्मक पृष्ठों के उक्त पञ्चक का 'सप्तर्षिभ्रं सामोपासीत' के साथ भी समन्वय किया जा सकता है। मूर्तिपिण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित महिमामण्डल के अर्धपृष्ठ में सौम्य–वायव्य–आप्य–भेद से तीन पृष्ठ बतलाए गए हैं। यदि अयुग्मस्तोमदृष्टि से त्रिपृष्ठात्मक इस अर्धपृष्ठ का अवलोकन किया जाता है, तो इसके त्रिवृत्–पञ्चदश–सप्तदश–एकविंश–त्रिणव–त्रयस्त्रिंश ([illegible]) भेद से ६ पृष्ठ हो जाते हैं। स्वयं मूर्त्तपिण्ड 'हिंकार' पृष्ठ है, त्रिवृत्पृष्ठ 'प्रस्ताव' है, पञ्चदशपृष्ठ 'आदि' है, सप्तदशपृष्ठ

उपनिषद्भूमिका—द्वितीयखण्ड

(३५४, तथा ३५५ के मध्य में)

(२६)—पारावतपृष्ठानुगत—पार्थिव—जागतमण्डलपरिलेख —

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३५४, तथा ३५५ के मध्य में)

(२७)-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपस्तोम्यत्रैलोक्यानुगत-महापृथिवीपरिलेख —

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३५४, तथा ३५५ के मध्य में)

(२८)–पञ्चविधसामानुगत–पार्थिवमण्डलपरिलेख —

श्रीवाणीचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

'उद्गीथ' है, एकविंशपृष्ठ 'प्रतीहार' है, त्रिणवपृष्ठ 'उपद्रव' है, एवं त्रयस्त्रिंशपृष्ठ 'निधन' है। वर्णात्मिका, तथा सत्यात्मिका वाक में भी इन सातों सामपर्वों का साक्षात्कार किया जा सकता है।

शब्दोत्पत्ति से पहिले होने वाला अग्नि का नोदनात्मक व्यापार, एवं वायुका प्रक्रमणव्यापार, दोनों की समष्टि 'हिङ्कार' है। स्थान-करणसयोग से मुख में उत्पन्न शब्द 'प्रस्ताव' है। मुखविवर से विनिर्गत, वाक्समुद्र में वीचि-उत्पन्न करने वाला शब्द 'आदि' है। अन्य व्यक्ति के श्रोत्र में (वीचिन्याय से) पहुँचनेवाला (शब्दवीचिद्वारा श्रोत्रस्थान में प्रादुर्भूत होने वाला तात्कालिक) शब्द 'उद्गीथ' है। शब्दश्रवण का क्रमश मन्द होते जाना 'प्रतीहार' है। श्रवणाश्रवणवृत्ति 'उपद्रव' है, एवं शब्दश्रवणव्यापार का उपराम ही 'निधन' है।

यद्यपि पदार्थमात्र सत्यात्मिका वाक् के उदाहरण माने जा सकते हैं। तथापि सूर्य्य के साथ सातों का समन्वय इसलिए विस्पष्ट माना गया है कि, सूर्य्य-संस्था वाक् की प्रत्यक्ष प्रतिमा मानी गई है। अरुणोदय हिङ्कार है, प्रथमोदय प्रस्ताव है, संगव आदि है, मध्याह्न उद्गीथ है, मध्याह्नोत्तरकाल प्रतीहार है, अपराह्णकाल उपद्रव है, अस्तंकाल निधन है। इसप्रकार सभी वाक्प्रपञ्चों में दृष्टिकोण के भेद से इन सप्तविध सामभक्तियों का समन्वय किया जा सकता है।

१—अपापृष्ठे सप्तविध सामोपासीत—

७—त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)—निधनम् (परमआवश्यक)
६—त्रिणवस्तोम (२७)—उपद्रवः (आपेक्षिक)
५—एकविंशस्तोम (२१)—प्रतीहारः (आवश्यक)
—सप्तदशस्तोम (१७)—उद्गीथ (आवश्यक)
—पञ्चदशस्तोमः (१५)—आदि (आपेक्षिक)
—त्रिवृत्स्तोम (९)—प्रस्ताव (आवश्यक)
१—स्पृश्यपिण्ड —हिङ्कार (परमावश्यक)

—'पदार्थेषु सप्तविधं सामो पासीत'

'उद्गीथ' है, एकविंशपृष्ठ 'प्रतीहार' है, त्रिणवपृष्ठ 'उपद्रव' है, एवं त्रयस्त्रिंशपृष्ठ 'निधन' है। वर्णा-त्मिका, तथा स्वरात्मिका वाक् में भी इन सातों सामपर्वों का साक्षात्कार किया जा सकता है।

शब्दोत्पत्ति से पहिले होने वाला अग्नि का नोदनात्मक व्यापार, एवं वायु का प्रक्रमणव्यापार, दोनों की समष्टि 'हिङ्कार' है। स्थान-करणसंयोग से मुख में उत्पन्न शब्द 'प्रस्ताव' है। मुखविवर से विनिर्गत, वायुसमुद्र में वीचि-उत्पन्न करने वाला शब्द 'आदि' है। अन्य व्यक्ति के श्रोत्र में (वीचिन्याय से) पहुँचने-वाला (शब्दवीचिद्वारा श्रोत्रस्थान में प्रादुर्भूत होने वाला तात्कालिक) शब्द 'उद्गीथ' है। शब्दश्रवण का क्रमशः मन्द होते जाना 'प्रतीहार' है। श्रवणाश्रवणवृत्ति 'उपद्रव' है, एवं शब्दश्रवणव्यापार का उपराम ही 'निधन' है।

यद्यपि पदार्थमात्र सत्यात्मिका वाक् के उदाहरण माने जा सकते हैं। तथापि सूर्य्य के साथ सातों का समन्वय इसलिए विस्पष्ट माना गया है कि, सूर्य्य-संस्था वाक् की प्रत्यक्ष प्रतिमा मानी गई है। अरुणो-दय हिङ्कार है, प्रथमोदय प्रस्ताव है, संगव आदि है, मध्याह्न उद्गीथ है, मध्याह्नोत्तरकाल प्रतीहार है, अपरा-ह्णकाल उपद्रव है, सायंकाल निधन है। इसप्रकार सभी वाक्प्रपञ्चों में दृष्टिकोण के भेद से इन सप्तविध साममक्तियों का समन्वय किया जा सकता है।

१—अपापृष्ठे सप्तविध सामोपासीत—

७—त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)—निधनम्	(परमआवश्यक)	—'पदार्थेषु सप्तविधं सामो पासीत'
६—त्रिणवस्तोम (२७)—उपद्रवः	(आपेक्षिक)	
५—एकविंशस्तोम (२१)—प्रतीहार	(आवश्यक)	
—सप्तदशस्तोम (१७)—उद्गीथ	(आवश्यक)	
—पञ्चदशस्तोमः (१५)—आदि	(आपेक्षिक)	
—त्रिवृत्स्तोम (९)—प्रस्ताव	(आवश्यक)	
१—स्पृश्यपिण्ड ० —हिङ्कार	(परमावश्यक)	

२—शब्दवाक्प्रपञ्चे सप्तविधं सामोपासीत—

(दायीं ओर ब्रैकेट में: शब्दात्मिकायां वाचि सप्तविधं सामोपासीत)

७—शब्दश्रवणव्यापारोपरतिः— निधनम्

६—श्रवणमश्रवण, नादमात्र, वर्णाभुत्यभाव: उपद्रव:

५—शब्दश्रवणमाद्यम् प्रतीहार:

४—श्रव्यश्रोत्रेन्द्रिये वीचिन्यायेन गत शब्द उद्गीथः

३—मुखाद्विनिर्गमनं बहिः—शब्दस्य आदि:

२—शब्दप्रादुर्भावो मुखे— प्रस्ताव:

१—शब्दोत्पत्तेः पूर्वव्यापार:—नाद: प्रक्रम-स्थान-भेदभिन्नः— हिङ्कार:

३—सत्त्ववाक्प्रपञ्चे सप्तविधं सामोपासीत—

(ब्रैकेट के दायीं ओर: —'सत्त्वात्मिकायां वाचि सप्तविधं सामोपासीत')

७—सायम्— निधनम्

६—अपराह्ण— उपद्रव:

५—सन्धिः— प्रतीहारः

४—मध्यन्दिनम्—उद्गीथ:

३—सङ्गवः (१)—आदिः

२—प्रथमोदय—प्रस्ताव:

१—अरुणोदयः—हिङ्कार:

५०—यजुर्वेदत्रयी का मौलिक रहस्य—

आगे जाकर 'विभूति' के सम्बन्ध से इन सात सामभक्तियों के अवान्तर सहस्र विभाग हो जाते हैं, जिन्हें विस्तारभय से छोड़ते हुए साम-प्रासङ्गिक चर्चा यहीं समाप्त कर पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। यह कहा जा चुका है कि, अग्निस्वरूप का ही नाम यजुस्तत्त्वात्मक छन्द है, एवं अग्नितत्त्व

ऋगलक्षण छन्दोवेद है, तथा अग्निम्युत्क्रमण सामलक्षण वितानवेद है। अग्निरस का साममण्डल के द्वारा ऊर्ध्व गमन हुआ है। आते हुए इस अग्निरस की तीन संस्था बन जाती है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

पिण्डस्थ अग्नि पुरुष है, यही रसात्मक यजुर्वेद है। विस्रस्त होकर ऊर्ध्व गमन करने वाला अग्नि महदुक्थ है, यही रसात्मक ऋग्वेद है। विस्रस्तभागपूर्वक आगच्छत् अग्नि महाव्रत है, यही रसात्मक सामवेद है। अग्नि स्वय रस है, रस ही यजु है। पुरुष, महदुक्थ, महाव्रत, तीनों रसाग्निरूप हैं, अतएव इन तीनों को हम 'यजु' ही कहेंगे। रसात्मिका इसी यजुर्वेदत्रयी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

(मूलसूत्र) *—"अग्निरेष पुरस्ताच्चीयते सम्वत्सर, उपरिष्टान्महदुक्थ शस्यते।

१—"प्रजापतिर्विस्रस्तस्याग्र रसोऽगच्छत्। स य स प्रजापतिर्व्यस्रसत-सम्वत्सरः स। अथ यान्यस्य तानि पर्वाणि व्यस्रसन्त—अहोरात्राणि तानि। तदेतदत्रैव यजुश्चत, अत्राप्तम्"।

२—"अथ योऽस्य सोऽग्र रसोऽगच्छत्, महदुक्थम्। त रम ऋक्-साम ऋयामनुयन्ति। यजुः पुरस्तादेति, अग्निर्नतेव तदेति"।

३—"तमध्वर्युर्ग्रहेण गृह्णाति। यद्गृह्णाति,तस्माद्ग्रहः। तस्मिन्नुद्गाता महाव्रतेन रसं दधाति। सर्वाणि हैतानि सामानि, यन्महाव्रतम्। तदस्मिन्त्सर्वे साममी रस दधाति। तस्मिन् होता महोक्थेन रस दधाति। सर्वा हैत ऋचो, यन्महदुक्थम्। तदस्मिन्त्सर्वाभिऋग्भी रस दधति"।

४—"ते यदा स्तुवते, यदानुशसति, अथास्मिन्नते वषटकृते जुहोति। तदन मेप रसोऽप्येति। न वै महाव्रतमिद स्तुत शेते, इति पश्यन्ति, नो महदुक्थमिति। अग्निमेव पश्यन्ति। आत्मा ह्यग्नि। तदेनमेतऽभे रसोभूत्वा अपीत ऋक् च, साम च। तदुभे ऋक्साम यजुरपीत"।

५—"स एष मिथुनोऽग्निः। प्रथमा च चिति, द्वितीया च तृतीया च, चतुर्थी च, अथ पञ्चम्यै चिते। यश्चितेऽग्निर्निधायत, तन्मिथुनम्। मिथुन उ एवायमात्मा" (शत० १०।१।१।१–७ कं०)।

"*—(विस्रस्त सम्वत्सर की क्षतिपूर्ति के लिए, रिरिचान प्रजापति के विरिष्टसन्धान के लिए) पहिले अग्नि का (पार्थिव प्रवर्ग्याग्नि का) सम्वत्सर में चयन होता है, अनन्तर महदुक्थ का शंसन होता है। (१)—

विस्रस्त प्रजापति का रस आगे (आगे) चला । जो वह प्रजापति विस्रस्त हुआ, वह यह सम्वत्सर है । जो कि इस प्रजापति के ये पर्व विस्रस्त हुए, वे (पर्व) अहोरात्र हैं । इन्हीं (दोनों विस्रस्त भागों में) यजु चित है, यजु इनमें व्याप्त है । (२)—प्रजापति का जो रस आगे निकला, वह महदुक्थ है । इस रस को ऋक् साम (के आधार से) होते हैं । यजु आगे आगे चलता है । यह (यजु) अभिनेता (सूत्रधार) की भाँति आगे आगे चलता है । (३)—(आगे आते हुए) इस (यजु) को अध्वर्यु ग्रह से ग्रहण करता है । ग्रहण करने से ही (यजुः) 'ग्रह' कहलाया है । इस (ग्रहरूप यजु में) उद्गाता महाव्रत से रस का आधान करता है । ये सम्पूर्ण साम (मण्डल) ही महाव्रत है । इन्हीं सामों से वह यजु में रस डालता है । इस (ग्रहरूप यजु) में होता महदुक्थ से रस डालता है (४)—[वे उद्गाता लोग जब स्तवन करते हैं) होता लोग जब शंसन करते हैं उसी समय 'वौषट्' बोलता हुआ अध्वर्यु आहुति देता है । इससे यह उस रस को आप्यायित कर देता है । न तो महाव्रत ही वस्तुतत्त्व है, न महदुक्थ ही वस्तुतत्त्व है । अपितु अग्नि ही वस्तुतत्त्वरूप से देखा जाता है । अग्नि ही आत्मा (वस्तुतत्त्व) है । इस आत्मरूप अग्नि को ये ऋक्—साम रसरूप बन कर आप्यायित करते हैं । ये दोनों ऋक् साम यजु के आप्यायन के कारण बन रहे हैं । (५ —यह आत्मरूप अग्नि मिथुन है । प्रथमा—द्वितीया—तृतीया—चतुर्थी, पञ्चमी, इन पाँच चितियों का नाम चित्याग्नि है । चित्य के आधार पर जिस अग्नि का आधान होता है, वही मिथुनभाव का स्वरूपसमर्पक है । यही अग्नि का मिथुनरूप (चित्य—चितनिधेय) है । मिथुन ही आत्मा (अग्नि) है' ।

५१—शस्त्र, स्तोत्र, एवं ग्रह-स्वरूपविज्ञान—

रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी) का स्पष्टीकरण करने वाली उक्त 'अग्निरहस्य' श्रुति की पूरी व्याख्या के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है । दिङ्मात्र से भी प्रकरण का कलेवर बढ़ रहा है । अतः प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल ६ शब्दों के पारिभाषिक अर्थों का ही दिग्दर्शन कर देना पर्याप्त होगा । 'शस्त्र'[१]—'स्तोत्र'[२]—ग्रह'[३]—'महदुक्थ'[४]—महाव्रत'[५]—पुरुष'[६] इन ६ शब्दों के पारिभाषिक अर्थपरिज्ञान से रसवेद का स्वरूप गतार्थ बन जाता है । कर्मकाण्डनिष्णात कर्मठ याज्ञिकों को यह विदित है कि, वैधयज्ञ में 'अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा' नाम के चार ऋत्विक् होते हैं । साथ ही अध्वर्यु यजुर्वेदी, होता ऋग्वेदी, उद्गाता सामवेदी, तथा ब्रह्मा त्रयीविद्या के साथ साथ अथर्ववेदी होता है । यजुर्वेदी अध्वर्यु यजुर्मन्त्रों से वषट्कारद्वारा आहुतिप्रदानलक्षणा 'याज्या' कर्म करता है । ऋग्वेदी होता ऋङ्मन्त्रों से 'अनुवाक्या' (पुरोऽनुवाक्या) कर्म करता है । सामवेदी उद्गाता साममन्त्रों से 'स्तोत्रिया' लक्षण सामगान करता है । एवं चतुर्वेदी ब्रह्मा चारों वेदमन्त्रों से यज्ञत्रुटि का पुनःसन्धान करता हुआ यज्ञ का निरीक्षण करता रहता है । पहिले होता अध्वर्यु के प्रैष (अनुज्ञा) से पुरोऽनुवाक्या करता है, अनन्तर अध्वर्यु याज्या करता है, अनन्तर उद्गाता सामगान करता है । उक्तसामगान से यज्ञस्वरूप सर्वात्मना सुसम्पन्न हो जाता है ।

'पुरोऽनुवाक्या, याज्या, स्तोत्रिया, इन्हीं तीनों कर्मों के लिए क्रमशः 'शस्त्र—ग्रह—स्तोत्र' शब्द नियत हैं । पुरोऽनुवाक्या 'शस्त्र' कर्म है, साधन ऋङ्मन्त्र हैं । याज्या 'ग्रह' कर्म है, साधन यजुर्मन्त्र हैं । स्तोत्रिया 'स्तोत्र' कर्म है, साधन साममन्त्र हैं । यह है वैधयज्ञकर्मत्रयी का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय । आध्यात्मिक, आधिदैविक और और जितने भी प्राकृतिक नित्य ईश्वरीययज्ञ हैं, सबमें इसी कर्मत्रयी का समन्वय है । दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, पदार्थमात्र यज्ञात्मक हैं, यज्ञरूप हैं । एवं यज्ञात्मक प्रत्येक पदार्थ में

शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह, तीनों कर्म्मों का समन्वय हो रहा है। पदार्थ में भक्त ऋक्तत्त्व से पदार्थानुबन्धी शस्त्रकर्म्म होता है, यजु से ग्रहकर्म्म होता है, साम से स्तोत्रकर्म्म होता रहता है। पदार्थस्वरूपसम्पादिका देवत्रयी के अग्निभाग से ऋक्द्वारा शस्त्रकर्म्म होता है, वायुभाग से ग्रहकर्म्म होता है, आदित्यभाग से स्तोत्रकर्म्म होता है। पदार्थ में प्रतिष्ठित ये ही तीनों प्राणदेवता अपनी अपनी यज्ञसंस्था के ऋग्वे।-यजुर्वेदी सामवेदी ऋत्विक् हैं। भृग्वङ्गिरोलक्षण आपतत्त्व ही अथर्व है। "चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः" के अनुसार पदार्थ में प्रतिष्ठित चान्द्रसोमभाग ही अथर्ववेदी ब्रह्मा है। इसके आपोमय मण्डल के गर्भ में ही अग्नित्रयी के द्वारा यज्ञ-कर्म्मत्रयी का वितान हो रहा है। यहां आपोमय अथर्वा यज्ञाधिष्ठाता बन रहा है। जैसा कुछ हम अपने यज्ञ में किया करते हैं ठीक वैसा ही वहां हो रहा है सर्वत्र हो रहा है। वहां ऐसा हो रहा है, इसीलिए तो हमें अपने वैधयज्ञ में ऐसा ही करना पड़ता है। हमारा यज्ञकाण्ड तो विशुद्ध प्रकृति की प्रतिकृति है। वेद-ऋत्विक्-कर्म-आदि सब प्राकृतिक वेद-ऋत्विक्-कर्म आदि से समतुलित हैं।

वेदत्रयी के आधार पर वितत होने वाले शस्त्र, ग्रह, स्तोत्रकर्म्मत्रयीरूप यज्ञसंस्कार का ही नाम 'दैवात्मा' है। यही दैवात्मा यज्ञकर्त्ता यजमान की स्वर्गप्राप्ति का कारण बनता है। दैवात्मा आत्मा है, आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है। उधर तात्त्विक वेदत्रयी का ऋक्-साम भाग 'वाङ्मय' है, वाग्रूप है, यजुर्भाग प्राण-गर्भित मनोमय है, मनोरूप है। ऋग्लक्षणा मूर्त्ति चित्यवाक्पिण्ड है, सामलक्षण मण्डल चितेनिधेय वाङ्मण्डल है, दोनों निरुक्त हैं। हृदयमाणावच्छिन्न यजुर्लक्षण रसभाग उपांशु है, अनिरुक्त है (देखिए शत० ४।६।७।१७।)। मण्डलात्मिका साममयी वाक् का मूलाधार पिण्डात्मिका ऋङ्मयी वाक् है। ऋङ्मयी पिण्डवाक् के आधार पर ही साममयी मण्डलवाक् का केन्द्र से चारों ओर सहस्ररूपेण वितान होता है। आगे आगे साममण्डल बनते जाते हैं, साममण्डल के अनुगत मूर्त्तियों का वितान होता जाता है। जहां मण्डलात्मक साम पिण्डात्मिका ऋक् के आधार पर प्रतिष्ठित है, वहां पिण्डात्मिका ऋङ्मूर्त्तियां (उक्थामह-लक्षण मण्डलभुक्त दृश्य मूर्त्तियां) मण्डलात्मक सामों के अनुगत हैं। दूसरे शब्दों में आगे आगे उत्तरोत्तर मण्डलों का वितान होता जाता है, इसके साथ साथ ऋङ्मूर्त्तिलक्षण पिण्डों का वितान होता जाता है। क्योंकि इस दृष्टिकोण से ऋङ्मयी वाक् साममयी वाक् के अनुगत है, अतएव इसे 'अनुवाक्' (पीछे पीछे चलने वाली मूर्त्तिमयी ऋक्-वाक्) कहा जाता है। इस अनुवाक् सम्बन्ध से ही होता के द्वारा होने वाले ऋङ्-मय शस्त्रकर्म्म को 'अनुवाक्या' कहा जाता है।

जैसी अनुवाक्या, वैसा स्तोत्र। जैसा अनुवाक्या-स्तोत्र, वैसा ग्रहकर्म्म। तात्पर्य यह हुआ कि, जिस प्रकार पानी का स्वरूप तदाधारभूत पात्रों के तत्तत् आकारों से समतुलित है, उसी प्रकार रसरूप यजुः का स्वरूप आयतनरूप ऋक्सामों से समतुलित है। पानी गोलपात्र में गोल है, चतुष्कोण में चतुष्कोण है। पानी का अपना कोई आकार नहीं है। आधारपात्रों का जैसा, जो आकार (वयोनाध-छन्द) है, पानी का भी वैसा वही आकार है। एवमेव रसलक्षण यजु का (प्राणगर्भित मन का) भी अपना आकार नहीं है। हम प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं कि, प्राणगर्भित हमारा मन बाह्य मूर्त्तियों के संस्कारों से छोटा-बड़ा बनता रहता है। हाथी के प्रतिबिम्ब से वही मन तदाकार है, सर्प प्रतिबिम्ब से वही मन तदाकार है। 'यद्य-च्छरीरमाद्त्ते तेन तेन स युज्यते'-'यो यच्छ्रद्धः, स एव सः'-'तं यथा यथोपासते, तथैव भवति' इत्यादि श्रुति-स्मृतियां इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रही हैं।

विसस्त्र प्रजापति का रस आगे (आगे) चला। जो यह प्रजापति विसस्त्र हुआ, वह यह सम्वत्सर है। जो कि इस प्रजापति के वे पर्व विसस्त्र हुए, वे (पर्व) महाव्रत हैं। इन्हीं (दोनों विसस्त्र भागों में) यजु चित है, यजु इनमें व्याप्त है। (२)—प्रजापति का जो रस आगे निकला, वह महदुक्थ है। इस रस को ऋक् साम (के आधार से) लेते हैं। यजु आगे आगे चलता है। वह (यजु) अभिनेता (सूत्रधार) की भाँति आगे आगे चलता है। (३)—(आगे आते हुए) इस (यजु) को अध्वर्यु ग्रह से ग्रहण करता है। ग्रहण करने से ही (यजुः) 'ग्रह' कहलाया है। इस (ग्रहरूप यजु में) उद्गाता महाव्रत से रस का आधान करता है। ये सम्पूर्ण साम (मखाख्य) ही महाव्रत है। इन्हीं सामों से यह यजु में रस डालता है। इस (ग्रहरूप यजु) में होता महोक्थ से रस डालता है (४)—[वे उद्गाता लोग जब स्तवन करते हैं) होता लोग जब शंसन करते हैं उसी समय 'वौषट्' बोलता हुआ अध्वर्यु आहुति देता है। इससे यह उस रस को आप्यायित कर देता है। न तो महाव्रत ही वस्तुतत्त्व है, न महदुक्थ ही वस्तुतत्त्व है। अपितु अग्नि ही वस्तुतत्त्वरूप से देखा जाता है। अग्नि ही आत्मा (वस्तुतत्त्व) है। इस आत्मरूप अग्नि को ये ऋक्–साम रसरूप बन कर आप्यायित करते हैं। ये दोनों ऋक् साम यजु के आप्यायन के कारण बन रहे हैं। (५)—यह आत्मरूप अग्नि मिथुन है। प्रथमा–द्वितीया–तृतीया–चतुर्थी, पञ्चमी, इन पाँच चितियों का नाम चित्याग्नि है। चित्य के आधार पर चित अग्नि का आधान होता है, वही मिथुनभाव का स्वरूपसमर्पक है। यही अग्नि का मिथुनरूप (चित्य–चितेनिधेय) है। मिथुन ही आत्मा (अग्नि) है' ।

५१–शस्त्र, स्तोत्र, एवं ग्रह-स्वरूपविज्ञान—

रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी) का स्पष्टीकरण करने वाली उक्त 'अग्निरहस्य' श्रुति की पूरी व्याख्या के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है। दिङ्मात्र से भी प्रकरण का कलेवर बढ़ रहा है। अतः प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल ६ शब्दों के पारिभाषिक अर्थों का ही दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त होगा। 'शस्त्र'[१]–स्तोत्र'[२]–ग्रह'[३]–'महदुक्थ'[४]–महाव्रत'[५]–पुरुष'[६] इन ६ शब्दों के पारिभाषिक अर्थपरिज्ञान से रसवेद का स्वरूप गतार्थ बन जाता है। कर्म्मकाण्डनिष्णात कर्मठ याज्ञिकों को यह विदित है कि, वैधयज्ञ में 'अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा' नाम के चार ऋत्विक् होते हैं। साथ ही अध्वर्यु यजुर्वेदी, होता ऋग्वेदी, उद्गाता सामवेदी, तथा ब्रह्मा त्रयीविद्या के साथ साथ अथर्ववेदी होता है। यजुर्वेदी अध्वर्यु यजुर्मन्त्रों से वषट्कारद्वारा आहुतिप्रदानलक्षण 'याज्या' कर्म्म करता है। ऋग्वेदी होता ऋङ्मन्त्रों से 'अनुवाक्या' (पुरोऽनुवाक्या) कर्म्म करता है। सामवेदी उद्गाता साममन्त्रों से 'स्तोत्रिया' लक्षण सामगान करता है। एवं चतुर्वेदी ब्रह्मा चारों वेदमन्त्रों से यज्ञत्रुटि का पुनःसन्धान करता हुआ यज्ञ का निरीक्षण करता रहता है। पहिले होता अध्वर्यु के प्रैष (अनुज्ञा) से पुरोऽनुवाक्या करता है, अनन्तर अध्वर्यु याज्या करता है, अनन्तर उद्गाता सामगान करता है। उक्थसाम गान से यज्ञस्वरूप सर्वात्मना सुसम्पन्न हो जाता है।

'पुरोऽनुवाक्या, याज्या, स्तोत्रिया', इन्हीं तीनों कर्म्मों के लिए क्रमशः 'शस्त्र–ग्रह–स्तोत्र' शब्द नियत हैं। पुरोऽनुवाक्या 'शस्त्र' कर्म्म है, साधन ऋङ्मन्त्र हैं। याज्या 'ग्रह' कर्म है, साधन यजुर्मन्त्र हैं। स्तोत्रिया 'स्तोत्र' कर्म्म है, साधन साममन्त्र हैं। यह है वैधयज्ञकर्म्मत्रयी का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय। आध्यात्मिक, आधिदैविक और और कितने भी प्राकृतिक नित्य ईश्वरीययज्ञ हैं, सबमें इसी कर्म्मत्रयी का समन्वय है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, पदार्थमात्र यज्ञात्मक हैं, यज्ञरूप हैं। एवं यज्ञात्मक प्रत्येक पदार्थ में

रहा यज्ञकर्म भूतप्रधानता से वस्तुमात्र में हो रहा है। प्रविज्ञात ६ शब्दों में से 'शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह' इन तीन शब्दों का यही पारिभाषिक अर्थ है। जिन में से प्रकृत में ग्रहशब्दवाच्य यजुः-रस ही प्रधान लक्ष्य है। वेदत्रयी के इसी मन-प्राणवाङ्मय आत्मभाव का विस्पष्ट शब्दों में स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

> "वागेव-ऋचश्च, सामानि च। मन एव यजूंषि। स यऽऋचा च, साम्ना च चरन्ति,वाक्-ते भवन्ति। अथ ये यजुषा चरन्ति, मनस्ते भवन्ति। तस्मात्-नानभिप्रेषितमध्वर्युणा किञ्चन क्रियते। यदवाध्वर्युराह-'अनुब्रूहि', 'यज' इति, अथैव न कुर्वन्ति-यऽऋचा कुर्वन्ति। यदवाध्वर्युराह-'सोमः पवतऽउपावर्त्तध्वम्' इति, अथैव ते कुर्वन्ति, ये साम्ना कुर्वन्ति। नो ह्यनभिगत मनसा वागवदति। तद्वाऽएतन्मनोऽध्वर्युः पुर-इवैव चरति। तस्मात्पुरश्चरण नाम"।
>
> ('शत० ४।६।७।१६,२०,)।'

५२-महदुक्थ-महाव्रत, एव पुरुष—

उक्त वेदत्रयी का व्यवहार यज्ञकाण्ड से प्रधान सम्बन्ध रखता है। विज्ञानकाण्ड में शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह शब्दों के स्थान में 'महदुक्थ-महाव्रत-पुरुष' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ऋक्शस्त्रात्मक मूर्त्तिपिण्ड 'महदुक्थ' है, सामस्तोत्रात्मिका मण्डलसाहस्री 'महाव्रत' है, एवं यजुम् ग्रहात्मक प्राणरस पुरुष है। मूर्त्तिपिण्ड स्वयं ऋक् है। ऋक् को विज्ञानभाषा में 'उक्थ' कहा गया है। क्योंकि इसी के आधार पर वस्तुप्राण का उत्थान होता है। मात्रवितानप्रथमस्थानीया मूर्त्ति उक्थ है, अतः इसे उक्थ ही कहना चाहिए था। परन्तु क्योंकि वितानमण्डल से सम्बन्ध रखने वाली 'सहस्रधा महिमान सहस्र' मूर्त्तियों का यह मूलपिण्ड आधार है, अतएव इसे 'महदुक्थ' कह दिया गया है। वितानवेदात्मक साममण्डल में भुक्त अवान्तर मूर्त्तियाँ भी अपनी अपनी साहस्री की अपेक्षा से उक्थ हैं। इन्हें-'उक्थासद' कहा जाता है। विकास साम का धर्म्म है, संकोच ऋक् का धर्म्म है। विकास हर्ष है, संकोच शोपन है। हर्ष प्रभाव है, शोपन पदाव है मूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर आकार में घटती जाती

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य प्रथम वर्ष-प्रथमाङ्क में (पृ० सं० ८ से २५) देखना चाहिए।

पिण्ड यदि गोल है, तो मण्डल भी गोल है, एवं पिण्ड-मण्डल में मुक्त प्राणरस भी तदाकार ही है। इसप्रकार मण्डल और प्राणरस, दोनों का आकार मूर्त्ति-पिण्ड के आकार से समतुलित रहता है। मूर्ति की जैसी काट-छाँट होगी, मण्डल, तथा रस स्वत एव उसी आकार में परिणत हो जायँगे। शिल्पी एक पाषाण खण्ड को शस्त्रविशेषों से (टाँकी, छेनी, आदि औजारों से) जैसा स्वरूप प्रदान कर देता है, पाषाणखण्ड उसी आकार (मूर्ति) में परिणत हो जाता है। एवं शिल्पी के इन शस्त्रकर्म्म से सम्पन्न मूर्ति का जैसा आकार एकबार बन जाता है, मण्डल, रस का भी वही आकार बन जाता है। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला हृदयप्रजापति (अन्तर्य्यामी) ही शिल्पी है। मूर्त्तिवीप्रलक्षण 'ऋक्' ही इस शिल्पी के शिल्प-साधक (मूर्त्तिनिर्म्माणसाधक) शस्त्र (औजार) हैं। इस शस्त्र से मूर्ति बना डालना ही प्रजापति का शस्त्र-कर्म्म है। यही इस का शंसन है। चतुरशीतिलक्ष मूर्त्तियाँ महद्योनि में प्रतिष्ठित इसी शिल्पी के ऋङ्मय शस्त्रकर्म्म हैं। क्योंकि ऋक्-रूप शस्त्र से मूर्त्ति का निम्मार्ण हुआ है, अतएव ऋक्कर्म्म को अवश्य ही 'शस्त्रकर्म्म' कहा जा सकता है। इसी तत्त्वमर्य्यादा के आधार पर ऋग्वेदी होता ऋत्विक् ऋक् की प्रतिकृतिभूत ऋङ्मन्त्र से शस्त्रकर्म्म करता है। पिण्डवाक्लक्षणा पुरोऽनुवाक्या ही इस का शस्त्रकर्म्म है। दैवात्मा की मूर्ति बनाना इसी ऋत्विक् का काम है। मूर्ति मण्डलसापेक्ष है। कहा जा चुका है कि, जैसी मूर्त्ति, वैसा मण्डल। जैसी ऋक्, वैसा साम। उद्गाता नाम का ऋत्विक् मूर्त्तिमयी वाक् का मण्डल रूप से वितान करता है, फैलाता है। यही इसका स्तोत्रकर्म्म है। उद्गाता के स्तोत्रकर्म्म (सामगान) से दैवात्ममूर्त्ति को मण्डलविभूति प्राप्त होती है। इसप्रकार आत्मा की 'मनः-प्राण-वाक्' कलाओं में से 'वाक्' कला का सम्पादन होता, एवं उद्गाता के द्वारा हो जाता है। एक (होता) ऋक् से शस्त्र करता हुआ पिण्डवाक् (शरीर) का निर्म्माण कर देता है, दूसरा (उद्गाता) साम से स्तोत्र करता हुआ मण्डलवाक् (महिमा) का विकास कर देता है। अब इन दोनों में रसाधान शेष रह जाता है।

शेष बची हुई दो कलाओं (मन-प्राण) का अध्वर्यु, तथा ब्रह्मा के द्वारा स्वरूप सम्पादन होता है। अध्वर्यु प्राणकला का स्वरूप सम्पादक बनता है, ब्रह्मा मनोभाग का स्वरूप संग्राहक बनता है। इधर मूर्त्ति केन्द्र है, उधर परिधि साम है, मध्यमें रसलक्षण प्राणगर्भित मन व्याप्त है। यही मह है। मूर्त्ति-मण्डल, दोनों आकारमात्र हैं। हम इन का ग्रहण नहीं किया करते। अपितु इन के आधार (आयतन) पर प्रतिष्ठित उस रस का ग्रहण करते हैं जो तृप्ति का कारण बनता है। रस से तृप्ति होती है। केवल आकार तृप्ति के कारण नहीं बना करते। क्योंकि ग्रहणमर्य्यादा का प्रधान स्थल रस है। अतएव प्राणगर्भित मन को, किंवा मनोगर्भित प्राणरस को अवश्य ही 'मह' कहा जा सकता है। प्राणलक्षण गतितत्त्व ही यजु है। यही मह है, यही रस है। अध्वर्यु अपने यजुर्मन्त्र से याज्या कर्म्म करता हुआ इसी रस का उस ऋक्-सामात्मक वाङ्मय दैवात्मा में आधान करता है। इस दृष्टि से अध्वर्यु को मनोव्यापार, तथा प्राणव्यापार, दोनों का संचालक माना जा सकता है। मनःप्राणमय यजुर्लक्षण 'मह' भाव ही मूर्त्तिकेन्द्र से आरम्भ कर मण्डलपरिधि पर्य्यन्त उत्तरोत्तर घनता है, अतएव इस महभाव को मह' न कह कर 'महपुरश्चरण' (उत्तरोत्तर विततं होने वाला मह-यजुर्भाव) कहा गया है। चौथा ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् इन तीनों ऋत्विजों के व्यापार का भी निरीक्षण करता है, साथ ही मनोयोग द्वारा विशुद्ध मनःसम्पत्ति का भी आधान करता जाता है। इसप्रकार चारों ऋत्विजों के व्यापार से यज्ञकर्त्ता यजमान का स्वर्गप्रापक मनः-प्राणवाङ्मय दैवात्मा सुसम्पन्न बन जाता है।

३—तदित्थ-रसत्रयव्याप्तिभेदाद्यजुर्वेदे रसाख्ये वेदत्रयोपभोग —

१—सूच्यग्रभावाः—विष्कम्भावच्छिन्नो रस —यजुर्वेदमया ऋग्वेद	—रसवेदत्रय
२—सूचीमुखभावा -पृष्ठावच्छिन्नो रस——यजुर्वेदमयः सामवेद	
३—ऋजुमुखभावा —हृदयावच्छिन्नो रस——यजुर्वेदमयो यजुर्वेद	

समष्टिपरिलेखः—(छन्दोवितानरसलक्षणा वेदत्रयी)।

१—छन्दोवेदत्रयी (ऋग्वेदत्रयी)—

मूर्त्तिवेद ऋक्	१	१—कूटस्थविष्कम्भ—ऋग्वेद (ऋक्)	—ऋक्प्रतिकृति (पृथक्द्रष्टव्या)
		२—पिण्डपरिणाह—सामवेद (ऋक्)	
		३—कूटस्थहृदयम्——यजुर्वेद (ऋक्)	

२—वितानवेदत्रयी (सामवेदत्रयी)

तेजोवेद साम	२	१—पूर्वपूर्वमण्डलम्——ऋग्वेद (साम)	—सामप्रतिकृति (पृथक्द्रष्टव्या)
		२—उत्तर-उत्तरमण्डलम्-सामवेद (साम	
		३—मण्डलद्वयभुक्त मूर्त्तय —यजुर्वेद (साम)	

३—रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी)

गतिवेद यजु	३	१—उत्तरोत्तरं ह्रसीमवन्तो विष्कम्भाः—ऋग्वेद (यजुः)	—यजु प्रतिकृति (पृथक्द्रष्टव्या)
		२—अपरोत्तरं वृद्धिमन्ति पृष्ठानि——सामवेद (यजुः)	
		३—ऋजुभावापन्ना रेखा——यजुर्वेद (यजु)	

है, मण्डल उत्तरोत्तर आकार में बढ़ते जाते हैं। वितानवेदनिरुक्ति में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पूर्वमण्डल उत्तरमण्डल का 'मद' है, उत्तरमण्डल साम हैं। उत्तरमण्डल की अपेक्षा पूर्वमण्डल का शोधन है पूर्वमण्डल की अपेक्षा मद है। दोनों भाव प्रत्येक मण्डल में, एवं प्रत्येक मूर्त्ति में विद्यमान हैं। इसी अभिप्राय से वितानमण्डलयुक्त मूर्त्तियों को 'उक्थामद' कहा गया है मण्डलावच्छिन्न मूर्त्तियां की समष्टि 'उक्थामद' कहलाएँगी, प्रत्येक मूर्त्ति 'उक्थ' कही जायगी, एवं मूलपिण्ड 'महदुक्थ' माना जायगा, यही निष्कर्ष है।

महिमामण्डल समष्टिरूप से 'महाव्रत' कहलाएगा। एवं व्यष्टिरूप से 'व्रत' कहलाएगा। मूर्त्ति-मण्डल युक्त प्राणाग्निरस ही 'पुरुष' कहलाएगा। इसी को यजुर्वेद कहा जायगा। यही प्रकृत निरुक्ति का रसभेद माना जायगा।

५३-पुरुषलक्षणा यजुर्वेदत्रयी—

महदुक्थलक्षणा ऋग्वेदत्रयी, महाव्रतलक्षणा सामवेदत्रयी, दोनों के क्रमिक निरूपण के अनन्तर पुरुषलक्षणा यजुर्वेदत्रयी का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुआ है। वितानवेदनिरुक्ति में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, उत्तरोत्तर (बिन्दुक्रम-ह्रास से) छोटे होने वाले व्यास ऋक् हैं। हृदयभावात्मक ये व्यास ही (तत्त्वात्मक प्राणबिन्दुसमष्टि ही) यजुर्वेदीय यजु है। एवं व्यासपार्श्वानुबन्धी प्राणबिन्द्वात्मक मण्डल ही यजुर्वेदीय साम है। इसी आधार पर यजु की सूक्ष्मादि तीन अवस्था बतलाई गई हैं। सूक्ष्म यजु के आधार पर व्यास का, सूचीमुख यजु से नेमिमण्डलों का, एवं अणुभावापन्न यजु से केन्द्र का विकास हुआ है, यह भी यहीं स्पष्ट किया जा चुका है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, सूक्ष्म व्यास, सूचीमुख मण्डल, एवं अणुभावापन्न केन्द्र, तीनों आयतनमात्र हैं, वस्तुतत्त्व नहीं हैं। परन्तु यह भी असंदिग्ध है कि ये तीनों वितान यजु-रस से ही परिपूर्ण हैं। यजु की व्याप्ति ही तीन प्रकार से हो रही है। इसीलिए इन आयतनत्रयी, एवं तत्प्रतिष्ठ यजुस्त्रयी में अभेद मान लिया गया है। इस अभेद का—'सूक्ष्म व्यास ऋक् है, सूचीमुख मण्डल साम है। एवं—'सूक्ष्मव्यासावच्छिन्न वही यजुरस (प्राणाग्नि) ऋक् है, सूचीमुख मण्डलावच्छिन्न वही यजुरस साम है, अणुभावापन्न हृदयावच्छिन्न वही यजुरस यजु है' इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है। कूटस्थव्यास के आधार पर भूतव्यासों के वितान से जो व्यासरूपाहसी प्रादुर्भूत हुई है, वही यजुर्वेदत्रयी की मुख्य प्रतिकृति है। मूर्त्तिपिण्ड को एक स्थान पर प्रतिष्ठित करते हुए उससे चारों ओर 'परोरजाः', सूक्ष्म विष्कम्भ, 'पर उर्म्यः' सूचीमुख वृत्त, एवं ऋजुरेखा बनाते जाइए, यजुर्वेदत्रयी का चित्र बन जायगा। उस चित्र में आगे जाकर वितानवेदत्रयी तथा छन्दोवेदत्रयी का समावेश कर देने से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मूर्त्तिपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयप्रजापति ही केवल संस्थानभेद से शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह-कर्म्म भेद से महदुक्थ-महाव्रत-पुरुष-रूप में परिणत होता हुआ छन्दोलक्षणा ऋक्, वितानलक्षणा साम, रसलक्षणा यजुः-रूप में विभक्त रहता हुआ भी तत्त्वतः अविभक्त है। यही छन्दो-वितान-रस-लक्षणा त्रिवृता वेदत्रयी का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसका केवल मन्त्रात्मक वेदग्रन्थों के आधार पर ही समन्वय नहीं किया जा सकता। विश्व में कौन सा ऐसा पदार्थ है, जो वेदशून्य है ?। किस पदार्थ में मूर्त्ति-मण्डल-रस' रूप से वेदत्रयी प्रतिष्ठित नहीं है ?। हम जो कुछ देख रहे हैं, वेदत्रयी की ही महिमा है। अर्वाचीन स्वयम्भूलक्षणा स्वायम्भुवी वेदत्रयी के गर्भ में ही गायत्रीमात्रिकलक्षणा सौरवेदत्रयी के द्वारा महामात्रिकलक्षणा भूतरूपा पार्थिववेदत्रयी का ही हमें साक्षात्कार हो रहा है। यही हमारा नित्य-कूटस्थ-अपौरुषेय वेदतत्त्व है। इसी के आधार पर शब्दात्मक वेदग्रन्थों का आविर्भाव हुआ है, जैसा कि पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

(३६४ के अन्त में)

(२६)-छन्दो-वितान-रस मात्रानुगत त्रयीवेदस्वरूपपरिलेख'—

(१)—सैषा छन्दोवेदत्रयी (ऋग्वेदत्रयी)—

१—कूटस्थविष्कम्भ —ऋग्वेद —ऋक्

२—पिण्डपरिणाह —सामवेद ऋक्

३—कूटस्थहृदयम्—यजुर्वेद - ऋक्

(२)-सैषा वितानवेदत्रयी (सामवेदत्रयी)-

१—पूर्वपूर्वमण्डलम्————ऋग्वेद—साम

२—उत्तर उत्तरमण्डलम्——सामवेद —साम

३ -मण्डलद्वयमध्ये सूत्र य —यजुर्वेद —साम

(३)—सैषा रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी -

१—उत्तरोत्तरं ह्रसीभवन्तो विष्कम्भा —ऋग्वेदः—यजु

२—उत्तरोत्तरं वृद्धिमन्ति प्रमाणी———सामवेद —यजु

३—अणुमात्रापन्ना रेखा————यजुर्वेदः—यजु

उक्थम्—१-छन्दोवेद —मूर्त्ति—महदुक्थम्—ऋग्वेद
साम——२-षिज्ञानवेद—मण्डलम्-महाव्रतम्—सामवेद   —"मूलवेदत्रयी"
ब्रह्म——३-रसवेद——प्राणाग्नि-पुरुष——यजुर्वेद

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्डान्तर्गत

"अपौरुषेय वेद का तात्त्विक इतिवृत्त" नामक

चतुर्थ स्तम्भ उपरत

—४—

(३६४ के अन्त में)

(२६)-छन्दो-वितान-रस-भावानुगत त्रयीवेदस्वरूपपरिलेख —

ऋक् प्रतिकृतिः

(१)-सैषा छन्दोवेदत्रयी (ऋग्वेदत्रयी)-
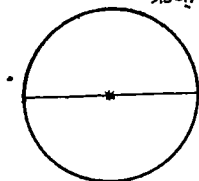
१–वृत्तस्थविष्कम्भ –ऋग्वेद –ऋक्
२–पिण्डपरिणाहः—सामवेदः ऋक्
३–वृत्तस्थहृदयम्—यजुर्वेदः –ऋक्

साम प्रतिकृति.

(२)-सैषा वितानवेदत्रयी (सामवेदत्रयी)-

१–पूर्वपूर्वमण्डलम्——— ऋग्वेद –साम
२–उत्तर उत्तरमण्डलम्——सामवेद –साम
३–मण्डलद्वयमध्या भूतय –यजुर्वेदः–साम

(३)-सैषा रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी -

१–उत्तरोत्तर ह्रसीमवन्तो विष्कम्भा –ऋग्वेदः–यजु
२–उत्तरोत्तरं वृद्धिमन्ति पृष्ठानी——सामवेद –यजु
३–असमाभापन्ना रेखा———यजुर्वेद –यजु

उपनिषद्भूमिका–द्वितीयखण्ड

(३९४ के ग्रन्थ में)

(३०)–वेदत्रयी–समष्टिपरिलेख —

श्री
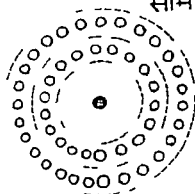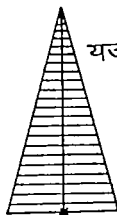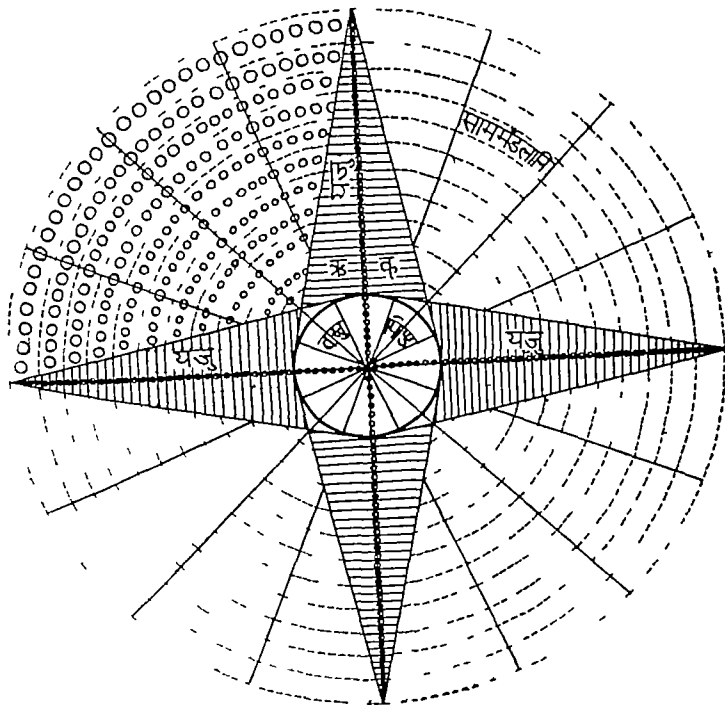
उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत-

"अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखा-विभाग" नामक

पञ्चम-स्तम्भ

५

भा

'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

"अपौरुषेयवेद का तात्त्विक इतिवृत्त" नामक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

४

किया। साथ साथ तत्कालीन मानवचरित्र का भी अपनी सत्यवाणी से निरूपण किया। यही ऋषिग्रन्थ शब्दात्मक शास्त्रवेद कहलाया। 'अनृतसंहिता वै मनुष्याः' सिद्धान्त पर कोई आपत्ति न करते हुए भी 'ऋषि' स्थान पर पहुँचे हुए (आप्त) पुरुषों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को अपवाद ही मानना पड़ेगा। जो महानुभाव शब्दवेद को अपौरुषेय मानते हैं, उन्हें भी अपने 'शास्त्रयोनित्वात्'-'आप्तोपदेश प्रमाणम्'-'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'-'यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्' इत्यादि आप्त सिद्धान्तों की रक्षा के लिए आप्त पुरुषों की वाणी निर्भ्रान्त माननी ही पड़ती है। वे भी यह स्वीकार करते हैं कि, जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है, वे विदितवेदितव्य बन जाते हैं। भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान, तीनों उनके लिए प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं। ऐसे त्रिकालज्ञ जो कुछ कहते हैं, वह हमारे लिए निःसंदिग्ध प्रमाण है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' यह वचन स्पष्ट ही ब्रह्मवेत्ता के वचन को 'ब्रह्मवाक्य' (ईश्वरवाक्य) बतला रहा है। त्रिकालज्ञ ऋषि ईश्वर के प्रतिनिधि हैं, प्रतिकृतिरूप हैं। ये जो कुछ कह रहे हैं, ईश्वर कथनवत् हमारे लिए मान्य है। एवं इसी दृष्टि से यदि आस्तिक प्रजा वेदशास्त्र को ईश्वरप्रणीत कहे, तो किसी को भी कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती।

यद्यपि यह ठीक है कि, मन्वादि धर्मशास्त्र वेदान्तादि दर्शनशास्त्र, ब्रह्मादि पुराणशास्त्र, गोभिलादि सूत्रग्रन्थ श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर प्रतिष्ठित होने से ही प्रमाणभूत हैं। अतएव इन्हें 'परतःप्रमाण' कहला अन्वर्थ बनता है। परन्तु कोई भी आस्तिक मन्वादि शास्त्रों को अनाप्तवाक्य कहने का साहस नहीं कर सकता। यदि इन की आप्तता में सन्देह किया जायगा, तो आर्यप्रजा के श्रौत-स्मार्त संस्कारों की प्रामाणिकता एकान्तत उच्छिन्न हो जायगी। श्रौत, तथा स्मार्त्त सूत्रग्रन्थों में श्रौत-स्मार्त जिन ४८ संस्कारों की इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) प्रतिपादित हुई है, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में उस इतिकर्त्तव्यता का अभाव है। जब स्वतःप्रमाणभूत वेदशास्त्र में संस्कारों की इतिकर्त्तव्यता नहीं, तो परतःप्रमाणरूप सूत्रग्रन्थों की संस्कारेतिकर्त्तव्यता का क्यों समादर किया जाए?। ऐसी ऐसी अनेक विमीषिकाएँ उपस्थित हो सकती हैं उस समय, जब कि हम वेदशास्त्रातिरिक्त शास्त्रों की आप्तता में, निःसंदिग्ध प्रामाणिकता में, सन्देह करने लगते हैं तो। वसिष्ठ, भरद्वाज, कश्यप, भृगु, अङ्गिरा, आदि वेदद्रष्टा महर्षियों की तुलना में राजर्षिमनु, भगवान्व्यास, कणाद, कपिल, गौतम, जैमिनि, पतञ्जलि, आदि आप्तपुरुषों का महत्त्व कभी कम नहीं किया जा सकता। इनके आदेश आर्यप्रजा को वेदवत् मान्य हैं। क्योंकि सभी अपने अपने विषय के द्रष्टा विद्वान हैं। सभी अपने अपने स्थान में ऋषि हैं। निवेदन करने का अभिप्राय यही है कि, जिस भय से सद्यागी, एवं असद्यागी वेद का पुरुष-रचना मानने में संकोच करते हैं, वेद की स्वतःप्रमाणता सुरक्षित रखने के लिए 'भ्रान्तपुरुषकल्पना' से बचाने के लिए वेद को ईश्वरकृत मानते हैं, उन्हें भी यह स्वीकृत है कि, आर्षदृष्टियुक्त आप्तपुरुष भ्रान्तसिद्धान्त के अपवादस्वरूप हैं। आप्तपुरुषों के वचन कभी भ्रान्त नहीं हो सकते। एकमात्र इस दृष्टिकोण के आधार पर भी वे पुरुषमूलक भ्रान्तिसम्बन्ध को 'पौरुषेयवेदशास्त्र' से विच्छिन्न कर सकते हैं।

विषय अप्रस्तुत है। विस्तार सापेक्ष है। अन्य किसी स्वतन्त्र निबन्ध में वैदिक इतिहास का विवेचन किया जायगा। यहाँ हमें "वेदों में अवश्य ही इतिहास है" इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए ही प्रकृत का अनुगमन करना है। मौलिक इतिहास, जातीयता के मूलसूत्र, सभ्यता, राज्यप्रणाली, आदर्श, साम्राज्यवैभव, आदि अतीत विभूतियों का यदि यथार्थ परिचय प्राप्त करना है, तो हमें वैदिक इतिहास की ही शरण में जाना

प्रकार भी ६ हो जाता है। भागों के वेदमन्त्र म ११११ ये हो जाते हैं। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस आर्ष सिद्धान्त के अनुसार शब्दात्मक वेदशास्त्र मन्त्र-ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त है। इनमें मन्त्रभाग 'ज्ञातव्यवाद' माना जा सकता है, एवं ब्राह्मणभाग को 'कर्त्तव्यवाद' कहा जा सकता है। ज्ञातव्यवेद केवल जानने की वस्तु है, कर्त्तव्य व्यवहार की वस्तु है। 'ज्ञातव्य' का मन्त्रवेद से सम्बन्ध है, 'कर्माणि कुर्वीत' का ब्राह्मणवेद से सम्बन्ध है। वर्त्तमान दृष्टिकोण के अनुसार भी कहा जा सकता है कि, सिद्धान्तप्रतिपादनात्मक (थ्योरिटिकल नॉलेज) मन्त्रभाग मन्त्रवाद है एवं व्यवहारात्मक (प्रैक्टिकल नॉलेज) वेदभाग ब्राह्मणवाद है। जिस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों की प्रायःविभक्ति का स्पष्टीकरण करने वाले मन्त्रवेद के प्रतिपाद्य विषय 'विज्ञान स्तुति-इतिहास' तीन भागों में विभक्त हुए हैं, एवं ब्राह्मणवाद के प्रतिपाद्य विषय 'कर्म-उपासना ज्ञान' तीनों भागों में विभक्त हुए हम सभी विस्पष्ट। का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। मन्त्रवेद सम्बन्धी के कुछ एक मन्त्र तो प्राकृतिक सृष्टिविज्ञान का विशुद्ध 'विज्ञान' रूप से निरूपण कर रहे हैं। कुछ एक मन्त्रों के द्वारा प्राणदेवताओं की स्तुति के द्वारा विज्ञान का प्रतिपादन हुआ है। एवं कुछ एक मन्त्र इतिहास के द्वारा विज्ञान का प्रतिपादन कर रहे हैं। मन्त्रवेद का प्रधान लक्ष्य है 'सृष्टिविज्ञानप्रतिपादन'। यही कारण है कि ऐतिह्य मन्त्रों में भी इतिहासपरिधि से विज्ञान का निरूपण हुआ है, एवं स्तुतिमन्त्रों में भी देवस्तुति के साथ साथ प्राणदेवताओं के वैज्ञानिक स्वरूप का ही विश्लेषण हुआ है।

२—वैदिक इतिहासदृष्टि—

अपनी शब्दवेदभक्ति का अणुमात्र भी कम न करते हुए हमें यह कहना ही पड़ता है कि, ब्राह्मणवेद की चौन कहे, स्वयं मन्त्रवेद भी ऐतिह्य सम्पत्ति से शून्य नहीं है। अपौरुषेय भावानुगता भ्रान्ति न अपनी स्वरूपरक्षा के लिए इस एक दूसरी भ्रान्ति को जन्म दे डाला है। अपौरुषेयता की रक्षा के लिए ही वेदभक्तों को आगे जाकर अपना यह मन्तव्य बनाना पड़ा कि, वेद क्योंकि अपौरुषेय हैं, ईश्वरप्रणीत है, ईश्वर के निःश्वास हैं, अतएव इनमें इतिहास (मानव चरित्र) नहीं हो सकता। "त्रिकालज्ञ ईश्वरप्रजापति अपने से पीछे होने वाला सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-अग्नि-इन्द्र-वरुण-आदि का तो प्रतिपादन कर सकता था, किन्तु मानवचरित्र इसे विदित नहीं था" इस हेतु का हम किस आधार पर समन्वय करें, यह आज तक समझ में न आ सका। सहयोगियों की अपौरुषेयभक्ति का अभ्युपगमवाद से अभिनन्दन करते हुए क्या उनसे यह नहीं कहा जा सकता कि—भगवन्! मानवचरित्र के समावेशमात्र से भय करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह उत्तरभावी सृष्टिपर्वों का निरूपण करता हुआ अपनी कृति का अनादित्व सिद्ध कर सकता है, तो उत्तरभावी मानवचरित्र के समावेश से भी इसकी कृति के अपौरुषेयत्व पर कोई आक्रमण नहीं हो सकता। इतिहास मान लेने पर भी विश्व का कोई भी विद्वान् वेद की स्वतःप्रमाणता में सन्देह नहीं कर सकता।

उधर हमारे दृष्टिकोण से तो शब्दात्मक वेदशास्त्र ऋषियों की पवित्र वाणी है, सहजज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सहजकृति है, जैसाकि तृतीयखण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। ऋषि मनुष्य थे, आकार-प्रकार में ठीक हमारे ही जैसे थे। उन्होंने अपने सहजज्ञान से ईश्वरीय तत्त्ववेद का साक्षात्कार किया, विविध वैज्ञानिक (याज्ञिक) प्रक्रियाओं का आविष्कार किया। इन आविष्कारों को सहजवाणी में गुम्फित

१–ऋग्वेदशाखा –२१	ब्राह्मणानि २१	आरण्यकानि २१	उपनिषद् २१	८४
२–यजुर्वेदशाखा –१०१	ब्राह्मणानि १०१	आरण्यकानि १०१	उपनिषद् १०१	४०४
३–सामवेदशाखा–१०००	ब्राह्मणानि १०००	आरण्यकानि १०००	उपनिषद् १०००	४०००
४–अथर्ववेदशाखा–९	ब्राह्मणानि ९	आरण्यकानि ९	उपनिषद् ९	३६
११३१	११३१	११३१	११३१	४५२४
मूलवेदशाखा — ११३१	तूलवेदविवर्त्तभाषा —		३३९३	

४–शाखाविभाग, और प्राचीन दृष्टि—

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद की उक्त शाखा-सङ्ख्याओं का क्या कारण ?, ऋग्वेद की २१ संहिताओं, २१ ब्राह्मणों, २१ आरण्यकों, २१ उपनिषदों में, एवमेव अन्यान्य संहिता–ब्राह्मणादि में प्रतिपादित विषयों की समानता है, अथवा विभिन्नता ?, इत्यादि प्रश्नों के उपस्थित होने पर प्राचीन व्याख्याता यह समाधान करते हैं कि, वेदाध्ययनसम्प्रदायप्रवर्त्तक आचार्य्यपरम्परा ही इस शाखाभेद का कारण है। अध्ययनसम्प्रदायभेद का, एवं सूत्रभेद का तात्पर्य्य समान है। "शाकल, शाङ्खायन, आश्वलायन, माण्डूक, बाष्कल, ऐतरेय, कौषीतकि, पैङ्ग्य, मुद्गल, गोकुल, वात्स्य, शैशिर, शिशिर," आदि स्वाध्यायप्रवर्त्तक आचार्य्यों की भेद परम्परा ही शाखाभेद का मूल है। प्राचीनों के इस उत्तर का प्रतिवाद करना तो इस लिए धृष्टता है कि वेदतत्त्वाध्ययन परम्परा से वञ्चित हम लोगों का मूलमन्त्र 'तातस्य कूप' बन रहा है। यदि हम थोड़ी देर के लिए भी वेद के तात्त्विक स्वरूप पर दृष्टि डालने का अनुग्रह करते, तो शाखा–विभाग जैसे मौलिक–तात्त्विक–वैज्ञानिक भेद का केवल अध्ययनभेद पर ही विश्राम मानने की भूल न करते। शाखाभेद का वह मौलिक कारण क्या है ? यह तो पाठक अनुपद में ही विस्तार से प्रतिपादित देखेंगे ही पहिले प्रसङ्गोपात्त चरण व्यूह–सम्मत मन्त्र संहिताओं के अवान्तर पर्वों की ही संख्या का विचार कर लीजिए।

५–वेदसङ्ख्यान—

पहिले क्रमप्राप्त ऋग्वेद को ही लीजिए। ऋग्वेद की जो शाखा व्यवहार में प्रचलित है शाखा-सङ्ख्यानमिश्र वन्धुओं ने जिस शाखा को मूलवेद, एवं इतर उपलब्ध–अनुपलब्ध ऋक्शाखाओं को वेदमर्यादा

६-मन्त्रब्राह्मणात्मक तात्त्विकवेद—

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्-समष्टिरूप ब्राह्मणवेद, एवं ऋग्-यजुः साम-अथर्व-समष्टिरूप मन्त्रवेद, दोनों ही 'वेद' शब्द से ग्राह्य हैं। क्यों कि प्राकृतिक नित्यवेद स्वयं मन्त्र-ब्राह्मणभेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। शास्त्रवेद क्यों दो भागों में विभक्त हुआ ?, इस प्रश्न का उत्तर यही तात्त्विकवेद है। तात्त्विकवेद के मन्त्र-ब्राह्मणविवर्तों के परिज्ञान के लिए हमें 'अदितिसंहिता' का आश्रय लेना पड़ेगा। पाठक देखेंगे कि, अदितिसंहितारूप तात्त्विक मन्त्रवेद अपने अपने तीन पर्वों से ब्राह्मणवेद को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित किए हुए हैं।

७-अदितिस्वरूपपरिचय-

भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाली अदिति का स्पष्टीकरण विस्तारसापेक्ष है। अतः इस सम्बन्ध में तो पाठकों से हम यही अनुरोध करेंगे कि, अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित अदितिस्वरूप का अवलोकन करने का कष्ट उठावें *। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही स्पष्टीकरण पर्याप्त होगा कि, चतुर्लोकात्मिका पृथिवी का वह अर्द्ध भाग, जो कि सूर्य्यसम्मुख से ज्योतिर्म्मय बना हुआ है, अदिति है। एवं वह विरुद्ध भाग, जहाँ सौरज्योति का अभाव है, दिति है। यही पार्थिव ज्योतिर्म्मण्डल अदिति है, एवं यही पार्थिव तमोमण्डल दिति है।

भूपिण्ड को केन्द्र में रखते हुए २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त एक मण्डल बना डालिए। यही मण्डल पार्थिव रथन्तर-साममण्डल कहलाया है, जैसाकि पूर्व के सामाधिकार-परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। भूकेन्द्र से निकलकर २१ स्तोमावच्छिन्न साममण्डल में व्याप्त रहने वाला प्राजापत्य-प्राणाग्नि पार्थिव अग्नि है। इस अग्निमण्डल का ही नाम अदिति है, इसी का नाम दिति है। जो अग्निमण्डल सौरप्रकाश से अविच्छिन्नरूप से युक्त होकर ज्योतिर्म्मय बन रहा है, वही अदितिमण्डल है। जो अग्निमण्डल सौरप्रकाश से विच्छिन्न होकर तमोमय बन रहा है, वही दितिमण्डल है। अदितिमण्डलस्थ यही प्राणाग्नि ज्योतिर्म्मय बनता हुआ ज्योतिःप्रधान प्राणदेवताओं का दूत है, एवं दितिमण्डलस्थ यही प्राणाग्नि तमोमय बनता हुआ तमःप्रधान असुरप्राण का दूत है। देवाग्नि 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है, एवं असुराग्नि 'सहरक्षा' नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए शत० १।५।१।२४)।

आसुरभाव से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव तमोमय प्राण उसी पार्थिव प्रजापति का 'अवाक्प्राण' है दिव्यभाव से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव ज्योतिर्म्मय प्राण उसी का 'ऊर्ध्वप्राण' है। अदितिमण्डलावच्छिन्न ऊर्ध्वप्राण से देवसृष्टि हुई है, दितिमण्डलावच्छिन्न अवाक्प्राण से आसुरी सृष्टि का विकास हुआ है (देखिए, शत० ११।१।६।८)। जिस अदितिभाग से देवसृष्टि का सम्बन्ध है, उसके स्तोमभेदभिन्न तीन लोक प्रसिद्ध हैं। स्वयं अदितिमण्डल एक पार्थिवमण्डल है। क्यों कि भूकेन्द्र से आरम्भ कर एकविंशस्थ सूर्य्य पर्य्यन्त (सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक, २२ वें अहर्गण पर्य्यन्त) पार्थिव प्राणाग्नि व्याप्त है। अपार-पारीण इसी प्राणाग्नि का

---

* अदिति, दिति के स्वरूप परिचय के लिए-शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य का अष्टविध रैवत-प्रकरण, एवं गीताभूमिकाकर्म्मयोगपरीक्षा-खण्डान्तर्गत 'अदितिमूला सर्वसृष्टि' नामक प्रकरण देखना चाहिए।

से संहिता समझने की भूल कर रही है, उस ऋग्वेद शाखा में १० मण्डल हैं, ८५ अनुवाक हैं, ८ अष्टक हैं, २००६ वर्ग हैं, १०१७ सूक्त हैं, १०५८० मन्त्र हैं, १५३८२६ शब्द हैं, ४३२००० अक्षर हैं।

यजुर्वेद शुक्ल–कृष्णभेद से दो भागों में विभक्त है। शुक्लयजुर्वेद की १५ शाखा हैं, कृष्णयजुर्वेद की ८६ शाखा हैं। सम्पूर्ण यजुर्वेद १०१ शाखाओं में विभक्त है। आख्यान प्रसिद्ध है कि, गुरुद्रोह यजुर्वेद का याज्ञवल्क्य ने तिरस्कार कर दिया, गुरु ने तित्तिर (तीतर) बन कर याज्ञवल्क्य से निकले हुए अपने वेद का संग्रह किया, वही कृष्णयजुर्वेद कहलाया, एवं स्वयं याज्ञवल्क्य ने आदित्य (सूर्य) द्वारा जो नवीन वेद प्राप्त किया, वह शुक्लयजुर्वेद कहलाया। अत्र प्रसिद्ध इस कथानक में अवतार न करते हुए यह कहना पड़ेगा कि, यजुर्वेद के १०१ विभाग मौलिक यजुर्वेद की शाखाओं पर ही प्रतिष्ठित हैं। इन १०१ शाखाओं के नाम भी जब उपलब्ध नहीं होते, तो इन शाखाओं की उत्पत्ति में कुछ भी कहना परिहासादि का ही कारण होगा। ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले–चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्यकठ, कपिष्ठल, चारायणीय, श्वेत, श्वेताश्वतर, औपमन्यव, पाताण्डिनेय, मैत्रायणीय, मानव, वाराह, दुन्दुभ, छागलेय, आपस्तम्ब, बौधायन, हिरण्यकेशी, शाट्यायन, इत्यादि कतिपय नामों का भी वस्तु–स्वरूप आज हमारे दुर्भाग्य से विलुप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त शुक्ल यजुर्वेद का "काण्व, माध्यन्दिन, जाबाल, बुधेय, शाकेय, तापनीय, कपोल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावटिक, पाराशरीय, वैनेय, बौधेय, औधेय, गालव" इन १५ शाखाओं में काण्व, तथा माध्यन्दिन नाम की दो शाखा सौभाग्य से बच रही हैं। शेष तेरहों या तो किसी भाग्यशाली विद्वान् के घर में जरूपत्रों से सुरक्षित हैं, अथवा स्मृतिगर्भ में विलीन हो चुकी हैं। शुक्लयजुर्वेद का प्राकृतिक 'वाज' (सूर्यान्न) से सम्बन्ध है, अतएव इन १५ ही शाखाओं का 'वाजसनेय' कहा जाता है। माध्यन्दिनी शाखा से सम्बद्ध व्यवहार में प्रचलित शुक्लयजुर्वेदसंहिता में ४० अध्याय हैं, १९०० मन्त्र हैं।

सामवेद की १००० शाखा प्रसिद्ध हैं। सुनते हैं, अनध्यायों में वेदस्वाध्याय करने वाले शाखाध्यायी इन्द्र के द्वारा मार डाले गए। फलतः सामवेद की अनेक शाखाएँ उच्छिन्न हो गई। 'राणायनीय, शाट्यमुग्र, कपोल, महाकपोल, लाङ्गलिक, शार्दूल, कौथुम, आसुरायण, वातायन, प्राञ्जलि, वैनभृत, प्राचीनयोग्य, नैगेय, इत्यादि जो कुछ एक सामशाखाओं के नाम सुने जाते हैं, वे भी अपनी नाममर्यादा पर ही विश्रान्त हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद की ९ शाखा भी आज केवल संख्यागणना की ही आधारभूमि बनी हुई हैं। ब्राह्मण, आरण्यक, सोपनिषत्क मन्त्रवेद के ४५२४ ग्रन्थों में से आज आर्षसाहित्य–भण्डार में कितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं?, यह जान कर खेद तो इसलिए नहीं होता कि, जो १०–५ ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, वे भी आडम्बरपूर्ण अनार्षग्रन्थों के आवरण से स्वाध्याय परम्परा से वञ्चित हो चुके हैं। अस्तु, इन सब नियति-चर्चाओं की मीमांसा करना अनधिकारचेष्टा है। प्रकृत में इस वेदसंस्थान से हमें यही बतलाना है कि, ब्राह्मणग्रन्थों में तात्त्विकवेद की जो संख्या बतलाई गई है, वह इस शास्त्रवेदसंख्या से विषम बनती हुई यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि, ये वेदग्रन्थ वेद के ग्रन्थ हैं तात्त्विकवेद का स्पष्टीकरण करने वाला शब्दप्रपञ्च है। तात्त्विकवेद आत्मा है, शास्त्रवेद शरीर है। आत्मस्थानीय तात्त्विकवेद कूटस्थ नित्य है, अपौरुषेय है। शरीरस्थानीय शास्त्रवेद अनित्य है, पौरुषेय है। तात्त्विकवेद ऋषिदृष्ट है, शास्त्रवेद ऋषिकृत है। तात्त्विकवेद की दृष्टि से महर्षि जहाँ 'मन्त्रद्रष्टा' हैं, वहाँ शास्त्रवेद दृष्टि से महर्षि मन्त्रकृत हैं—"नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः"।

६-मन्त्रब्राह्मणात्मक तात्त्विकवेद—

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्-समष्टिरूप ब्राह्मणवेद, एवं ऋग्-यजु साम-अथर्व-समष्टिरूप मन्त्रवेद, दोनों ही 'वेद' शब्द से ग्राह्य हैं। क्यों कि प्राकृतिक नित्यवेद स्वयं मन्त्र-ब्राह्मणभेद से दो मार्गों में विभक्त हो रहा है। शास्त्रवेद क्यों दो मार्गों में विभक्त हुआ ?, इस प्रश्न का उत्तर यही तात्त्विकवेद है। तात्त्विकवेद के मन्त्र-ब्राह्मणविवर्त्तों के परिज्ञान के लिए हमें 'अदितिसंहिता' का आश्रय लेना पड़ेगा। पाठक देखेंगे कि, अदितिसंहितारूप तात्त्विक मन्त्रवेद अपने अपने तीन पर्वों से ब्राह्मणवेद को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित किए हुए हैं।

७-अदितिस्वरूपपरिचय-

भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाली अदिति का स्पष्टीकरण विस्तारसापेक्ष है। अतः इस सम्बन्ध में तो पाठकों से हम यही अनुरोध करेंगे कि, अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित अदितिस्वरूप का अवलोकन करने का कष्ट उठावें *। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, चतुर्लोकात्मिका पृथिवी का वह अर्द्ध भाग, जो कि सूर्य्यसम्पर्क से ज्योतिर्मय बना हुआ है, अदिति है। एवं वह विरुद्ध भाग, जहाँ सौरज्योतिका अभाव है, दिति है। यही पार्थिव ज्योतिर्म्मण्डल अदिति है, एवं यही पार्थिव तमोमण्डल दिति है।

भूपिण्ड को केन्द्र में रखते हुए २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त एक मण्डल बना डालिए। यही मण्डल पार्थिव रथन्तर-साममण्डल कहलाया है, जैसा कि पूर्व के सामाभिमान-परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। भूकेन्द्र से निकलकर २१ स्तोमावच्छिन्न साममण्डल में व्याप्त रहने वाला प्राजापत्य-प्राणाग्नि पार्थिव अग्नि है। इस अग्निमण्डल का ही नाम अदिति है, इसी का नाम दिति है। जो अग्निमण्डल सौरप्रकाश से अविच्छिन्नरूप से युक्त होकर ज्योतिर्म्मय बन रहा है, वही अदितिमण्डल है। जो अग्निमण्डल सौरप्रकाश से विच्छिन्न होकर तमोमय बन रहा है, वही दितिमण्डल है। अदितिमण्डलस्थ यही प्राणाग्नि ज्योतिर्म्मय बनता हुआ ज्योतिःप्रधान प्राणदेवताओं का दूत है, एवं दितिमण्डलस्थ यही प्राणाग्नि तमोमय बनता हुआ तमःप्रधान असुरप्राण का दूत है। देवाग्नि 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है, एवं असुराग्नि 'सहरक्षा' नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए शत० १।४।१।२४)।

आसुरभाव से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव तमोमय प्राण उसी पार्थिव प्रजापति का 'अवाक्प्राण' है, दिव्यभाव से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव ज्योतिर्म्मय प्राण उसी का 'ऊर्ध्वप्राण' है। अदितिमण्डलावच्छिन्न ऊर्ध्वप्राण से देवसृष्टि हुई है, दितिमण्डलावच्छिन्न अवाक्प्राण से आसुरी सृष्टि का विकास हुआ है (देखिए, शत० ११।१।६।८)। जिस अदितिभाग से देवसृष्टि का सम्बन्ध है, उसके स्तोमभेदभिन्न तीन लोक प्रसिद्ध हैं। स्वयं अदितिमण्डल एक पार्थिवमण्डल है। क्यों कि भूकेन्द्र से आरम्भ कर एकविंशस्थ सूर्य्य पर्य्यन्त (सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक, २२ वें अहर्गण पर्य्यन्त) पार्थिव प्राणाग्नि व्याप्त है। अवार-पारीण इसी प्राणाग्नि का

* अदिति, दिति के स्वरूप परिचय के लिए-शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य का अष्टविध देवता-प्रकरण, एवं गीताभूमिकाकर्म्मयोगपरीक्षा-खण्डान्तर्गत 'अदितिमूला पर्यांसृष्टि' नामक प्रकरण देखना चाहिए।

(३७६, तथा ३७७ के मध्य में)

(३१)-सौर-अदितिमण्डलपरिलेख —

—नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने—
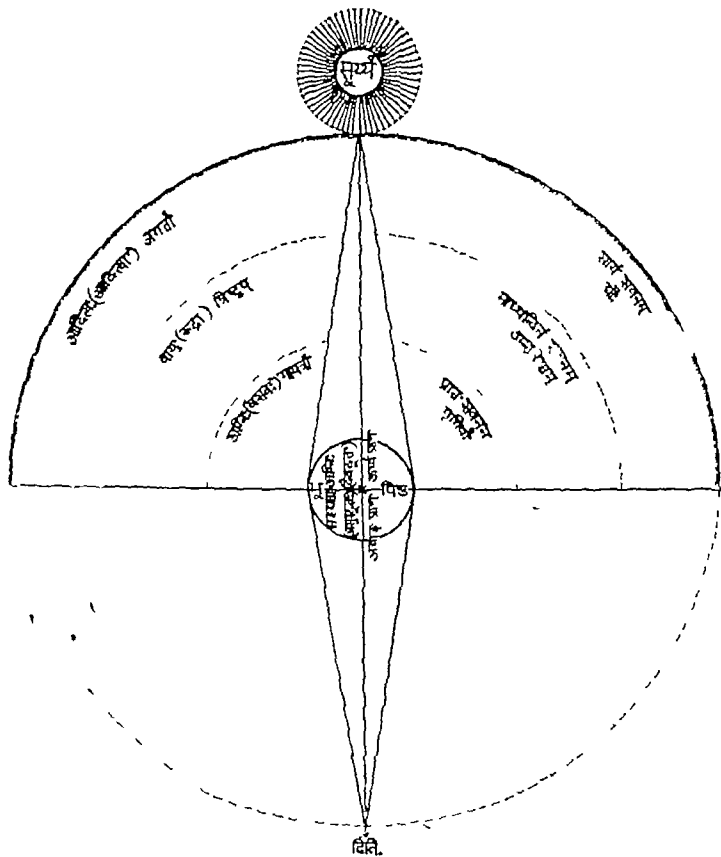
८-संहिता के विविधरूप—

'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आप' इत्यादि श्रुति के अनुसार उक्त तीन अग्नि-वायु-आदित्य-लोकों से अतिरिक्त एक चौथा आपोलोक (सोम) है। बात यथार्थ में यह है कि, त्रयस्त्रिंशत् (३३) अह-र्गणात्मक पार्थिव षट्कारमण्डल में अग्नि-सोम, दोनों का भोग हो रहा है। ३३ के आधे भाग में (१६ पर्यन्त) तो अग्नि का साम्राज्य है, एवं आधे में (३३ पर्यन्त) सोम का साम्राज्य है। ३३ का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण है। यही 'सप्तदश' नामक उद्गीथप्रजापति है। पूर्व की १६ अहर्गणसमष्टि 'उत्' है, उत्तर की १६ अहर्गण-समष्टि 'थम्' है, मध्यस्थ १७ वाँ अहर्गण 'गी' है, सम्पूर्ण समष्टि 'उद्गीथम्' है। भूकेन्द्रस्थ प्रजापति 'अनिरुक्त' है, षट्कारमण्डलकेन्द्रस्थ सप्तदश प्रजापति 'उद्गीथ' है, एवं चतुस्त्रिंशप्रजापति 'सर्व' है। इसी त्रित्व के कारण ओङ्कारमूर्ति प्रजापति के-'प्रणवोङ्कार, उद्गीथोङ्कार, सर्वोङ्कार', भेद से तीन विवर्त हो जाते हैं, जिनका ईशादिभाष्यों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

तीनों प्रजापतियों में से प्रकृत में सप्तदशस्थानीय उद्गीथप्रजापति ही लक्ष्य है। सप्तदश स्थान पार्थिव-यज्ञ का 'आहवनीयकुण्ड' है, तत्रस्थ दाहक प्राणाग्नि 'आहवनीयाग्नि' है, १७ से ऊपर व्याप्त दाह्य सोम 'आहुतिद्रव्य' है। इस सोम की उस प्राणाग्नि में आहुति होती है। दाह्य सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यह प्रज्वलित अग्नि २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त हो जाता है। इसप्रकार मूलस्थिति में १७ पर्य्यन्त रहने वाला अग्नि सोमाहुति के प्रभाव से २१ पर्य्यन्त चला जाता है। यही यज्ञाग्निमूर्ति विष्णु* के तीन विक्रम है। त्रिवृत् पहिला विक्रम है, पञ्चदश दूसरा विक्रम है, एकविंश तीसरा विक्रम है, जैसाकि शतपथभाष्यान्तर्गत 'वेदि-विज्ञानब्राह्मण' में विस्तार से प्रतिपादित है।

'पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि, सन्धान' इन चारों पर्वों की समष्टि ही वैदिकपरिभाषा में 'संहिता' नाम से व्यवहृत हुई है। ऐतरेय-आरण्यक में इन संहिताओं का विस्तार से निरूपण हुआ है। 'माण्डूकेय' महर्षि के अनुसार 'वायु' संहिता है। क्योंकि अग्निस्थानीय पृथिवीलोक पूर्वरूप है, आदित्यस्थानीय द्युलोक उत्तररूप है, वायुस्थानीय अन्तरिक्षलोक सन्धि है, स्वयं वायु "वायुर्वै गौतम ! तत्सूत्रम्। वायुना वै गौतम ! सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति" (शत० १४।६।७।६।) इत्यादि के अनुसार सन्धाता है। चारों पर्वों की सम्मिलित अवस्था ही संहिता है। वायु ही इन चारों पर्वों के सह-समन्वय का कारण है, अतएव वायु को ही 'संहिता' उपाधि प्रदान की जा सकती है A।

'माक्षव्य' महर्षि के अनुसार 'आकाश' संहिता है। माक्षव्य का अभिप्राय यही है कि, वायु व्याप्य है, आकाश व्यापक है। आकाश से वायु का ग्रहण सिद्ध है, परन्तु वायु से आकाश का ग्रहण सम्भव नहीं है। त्रैलोक्यात्मिका संहिता की मूलप्रतिष्ठा एकायतनरूप आकाश ही है। वैसे भी वायुस्थानीय अन्तरिक्ष सन्धि ही

---

*—"अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य प्राणान् धारयति" (महा० शा० ३४७ अ० १८ गद्य)

A—"अथातः संहिताया उपनिषत्। पृथिवी पूर्वरूपं, द्यौरुत्तररूपं, वायुः-संहितेति माण्डूकेयः" (ऐ० आ० ३।१।)।

अथवा केवल ऐन्द्रियक दृष्टि से भी दोनों पक्षों का समर्थन किया जा सकता है। स्थितिदृष्टि से शूरवीर का पक्ष ठीक है। क्योंकि स्थितिक्रमानुसार 'वाक्-प्राण-मन' यह संस्थान है। व्यापारदृष्टि से ज्येष्ठ-पुत्र का कथन निर्विरोध है। क्योंकि व्यापारकाल में मन पहिले है, वाणी का उच्चारण पीछे है। इसी आध्यात्मिक संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

> "अथाऽध्यात्मम्—वाक् पूर्वरूप, मन उत्तररूप, प्राण संहितेति शूर-वीरो माण्डूक्येय। अथ हास्य पुत्र आह—ज्येष्ठ-मन पूर्वरूप, वागुत्तररूपम्। मनसा वा अग्रे संकल्पयति, अथ वाचा व्याहरति। तस्मान्मन एव पूर्वरूप, वागुत्तररूप, प्राणस्त्वेव संहितेति। समान-मेनयोरत्र पितुश्च, पुत्रस्य च"।
>
> (ऐ०आ० ३।२।१।)।

'इति नु माण्डूकेयानाम्' इस ऐतरेय वचन के अनुसार उक्त आधिदैविक, आध्यात्मिक संहितायें माण्डूकमहर्षि की सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखतीं हैं। महर्षि 'शाकल्य' दूसरे ही दृष्टिकोण से इन संहिताओं का समन्वय कर रहे हैं। उनका कहना है कि, पृथिवी पूर्वरूप है, द्यौ उत्तररूप है, वृष्टि (पानी—आन्तरिक्ष्य जल) सन्धि है, पर्जन्य (जलप्रद सौम्य वायु) सन्धाता है। चारों की समष्टि आधिदैविक संहिता है। इन्द्र के वज्रप्रहार से जब जलावरोधक 'नमुचि'* नामक आसुर अरमाप्राण का संघात टूट जाता है, तो जलवर्षक पर्जन्यवायु (मान्सून) बलवान् बन जाता है। अहोरात्र वृष्टिमय बन जाते हैं। मूसलधार वृष्टि के समय ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो पृथिवी और द्यु (जमीन, आसमान) मिलकर एक हो गए हों। जल-थल का भी (अन्तरिक्ष और पृथिवी का भी) भेद जाता रहता है। इसप्रकार वृष्टिकाल इस पर्वचतुष्ट्यात्मिका आधिदैविकी संहिता का प्रत्यक्ष निदर्शन बन जाता है+।

पुरुष का निर्म्माण इसी आधिदैविकी संहिता से हुआ है। अतएव इस में भी संहिता के चारों पर्व ज्यों के त्यों प्रतिष्ठित हैं। पुरुषशरीर के त्रैलोक्यस्वरूप का अनेक प्रकार से समन्वय किया जा सकता है। पहिले 'अर्द्धभृगल' दृष्टि से ही विचार कीजिए। ईश्वरीय देवसत्यात्मक साक्षी सुपर्ण जहाँ पूर्ण खगोल को

---

* "अपां फेनेन नमुचे शिर इन्द्रोदवर्त्तय, विश्वा यदजयः स्पृधः"

(ऋक्सं० ८।१४।१३।)।

"पाप्मा वै नमुचि" (शत० १२।७।३।४।)— न मुञ्चति-आपः-इति नमुचि-अरमासोम)।

\+ "अथ शाकल्यस्य-पृथिवी पूर्वरूप, द्यौरुत्तररूप, वृष्टि सन्धि, पर्जन्य सन्धाता। यदुतापि यत्रैतद्बलवदनुगृह्णन्त्सदहत्-अहोरात्रे वर्षति। 'द्यावापृथिवीव्यौ समधाताम्' इत्युताप्याहु। इति न्वधिदैवतम्"। (ऐ० आ० ३।१।२।)।

'मूलरन्ध्र, मध्यरन्ध्र, ऊर्ध्वरन्ध्र' इन तीनों रन्ध्रों की प्रतिष्ठा क्रमशः शिश्न, हृदय, चक्षु, मान गए हैं। मूलरन्ध्र पृथिवी है, मध्यरन्ध्र अन्तरिक्ष है, ऊर्ध्वरन्ध्र द्युलोक है। जिस प्रकार पृथिवी में 'अग्निज्योति', अन्तरिक्ष में (वायु–सोमगर्भित) 'विद्युज्ज्योति', द्युलोक में 'आदित्यज्योति' प्रतिष्ठित है। एवमेव मूलरन्ध्र (मूलग्रन्थि) की प्रतिष्ठारूप शिश्न अग्निज्योतिप्रधान है, मध्यरन्ध्र की प्रतिष्ठारूप हृदय विद्युज्ज्योतिःप्रधान है, एवं ऊर्ध्वरन्ध्र (ब्रह्मरन्ध्र) की प्रतिष्ठारूप चक्षु आदित्यज्योतिप्रधान है। मूलरन्ध्रात्मक पृथिवीलोक पूर्वरूप है, ऊर्ध्वरन्ध्रात्मक द्युलोक उत्तररूप है, मध्यरन्ध्रात्मक अन्तरिक्षलोक सन्धि है, व्याप्त प्राणाग्नि सन्धाता है, चारों की समष्टि आध्यात्मिक संहिता है।

यहाँ जैसे द्युलोक में आदित्य प्रतिष्ठित है, तद्वत् यहाँ द्युलोकस्थानीय ऊर्ध्वरन्ध्रप्रदेश (शिरोमण्डल) में चक्षु प्रतिष्ठित हैं। वहाँ जैसे अन्तरिक्ष में वायुलक्षण विद्युत् प्रतिष्ठित है तद्वत् यहाँ अन्तरिक्षस्थानीय मध्यरन्ध्रप्रदेश में (हृदयाकाश में) हृदयरूप विद्युत् प्रतिष्ठित है। यहाँ जैसे पृथिवी में अग्नि–प्रतिष्ठित है, तद्वत् यहाँ मूलरन्ध्रप्रदेशस्थ उपस्थ में शाश्वद् रेत प्रतिष्ठित है। श्री सायणाचार्य्य ने पाद से आरम्भ कर अधरोष्ठ पर्य्यन्त पृथिवीलोक माना है, उत्तरोष्ठ से आरम्भकर केशान्तपर्य्यन्त द्युलोक माना है, मुख विवर को अन्तरिक्षलोक माना है। और अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि, जैसे ब्रह्माण्ड के पृथिवी–द्युरूप दो दल सर्वथा विभक्त प्रतीत हो रहे हैं, एवमेव अधरोष्ठ, उत्तरोष्ठ रूप से शरीर में भी दो दल विभक्त प्रतीत हो रहे हैं। कल्पना सुन्दर है, परन्तु–'एवमिदमात्मनि हृदयम्' इस वाक्य से विरुद्ध जाती हुई प्रतिपादमस्त है। 'चत्वार आत्मा' के अनुसार पञ्चपुच्छशिरो–व्यतिरिक्त मध्यस्थ शरीरयष्टि आत्मा है, इसी दृष्टि से 'आत्मा वै तनूः' (शत० ६।७।२।६।) यह कहा गया है। हृदय को अन्तरिक्ष मानने वाली श्रुति का समन्वय मुखविवर से कैसे हो गया !, इस प्रश्न की मीमांसा व्यर्थ है। वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, आध्यात्मिक संहिता का अनेक दृष्टियों से समन्वय किया जा सकता है। इसी संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"अथाध्यात्मम्–पुरुषो ह वा अयं सर्वे आन्द्धे विदले भवत इत्याहु"। तस्येदमेव पृथिव्या रूपं, इदं दिवः। तत्रायमन्तरेणाकाशः (हृदयाकाश), यथासौ द्यावापृथिव्यावन्तरेणाऽऽकाशः। तस्मिन्हास्मिन्नाकाशे प्राण आयत्त, यथाऽमुष्मिन्नाकाशे वायुरायत्त। यथाऽमूनि त्रीणि ज्योतींषि, एवमिमानि पुरुषे त्रीणि ज्योतींषि। यथासौ दिव्यादित्य, एवमिदं शिरसि चक्षुः। यथाऽसावन्तरिक्षे विद्युत्, एवमिदमात्मनि (मध्य–शरीरयष्टौ) हृदयम्। यथाऽयमग्निः पृथिव्याम्, एवमिदमुपस्थे रेत। एवमु ह स्म सर्वलोकमात्मानमनुविधायाऽऽह। इदमेव पृथिव्या रूपम्, इदं दिवः। स य एवमेतां संहितां वेद, सन्धीयते प्रजया पशुभिर्यशसा ब्रह्मवर्चसेन स्वर्गेण लोकेन। सर्वमायुरेति"।

(ऐ० आ० ३।१।२।)।

सामरहस्यवेत्ता भगवान् 'ताण्ड्य' ने 'साम्नाविमानसंहिता' का विश्लेषण किया है। पार्थिव साम रथन्तर है, सौरसाम बृहत् है। दोनों स्वतन्त्र दो संहिता हैं। दोनों के साम अविमानसम्बन्ध से परस्पर ओत

भोग है। वस्तुतः दोनों संहिता मिल कर यजमानसंहिता एक नामादि [illegible] कहलाती है, ऐतरेय पूर्वप्रकरण के यजमानसंहितापरिच्छेद में विस्तार से व्याख्यान आ चुका है। बृहद्रथन्तरसंहिता आदि दिव्य संहिता है, वाक्-प्राणात्मिका संहिता आध्यात्मिक संहिता है। इनमें आदि [illegible] की, एवं प्राण और बृहद्रथन्तर की संहिता है। वाक्-प्राण दोनों के सन्धान से ही आध्यात्मिक संहिता का स्वरूप निष्पन्न हुआ है।A

इसी आध्यात्मिक वाक्-प्राणसंहिता का महर्षि कौण्ठरव्य ने 'अवरपरसंहिता' नाम से कथन किया है। उनका कहना है कि, वाक् प्राण से संहित है, प्राण दिव्य पवमान से, पवमान विश्वेदेवों से, विश्वेदेव स्वर्ग से, स्वर्ग ब्रह्म से संहित है। अवरपर से अवरपरसंहिता के द्वारा पदसन्धि प्राप्त करते हुए अन्त में पर ब्रह्मसंहिता से आध्यात्मिक संस्था का मेल हो जाता है।B

महर्षि 'पञ्चालचण्ड' ने 'वाक्संहिता' का स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि, संहिता की मूलप्रतिष्ठा 'वाक्' तत्त्व ही है। मन प्राणवाङ्मय आत्मा ने सर्वप्रथमा वाक् के आधार पर ही संहिता भाग कर रक्खा है। मनःप्राण अव्यक्त हैं, अमूर्त हैं। अतएव इनका बिना से आधार भाग नहीं हो सकता। भूतमात्रा लक्षणा, मूर्त वाक् के द्वारा ही इनका भाग सम्भव है। अतएव सब प्रकार संहिताओं को हम 'वाक्संहिता' ही कहेंगे। स्वायम्भुवी सत्यावाक् के द्वारा ही ऋक्-यजुः-सामात्मक तीनों वेदों का परस्पर सन्धान हुआ है। वाङ्मय वषट्कारमण्डल ही वेदशास्त्रों की प्रतिष्ठा है। गायत्र्यादि सातों छन्दों (अक्षरात्मकों) का परस्पर में सौरी गौरीमिता वाक् के आधार पर ही संधान हुआ है। शब्दात्मिका वाक् से, एवं अर्थरूपा (वस्तुस्वरूपा) वाक् के आदान प्रदान से ही मित्रों का परस्पर संधान होता है। सर्वव्यापिनी, आपोमयी, मनःप्राणगर्भिता आम्भृणी पारमेष्ठिनी वाक् से ही आपोमय भूतों का परस्पर संधान हुआ है। कहाँ तक गिनायें-सर्वत्र इसी वाक्संहिता का साम्राज्य है। आध्यात्मिक-वाक्संहिता में वाक्-प्राण का माता-पुत्र सम्बन्ध है। मन पिता है, वाक् माता है, प्राण पुत्र है। मनोवाक् रूपा पत्नी में प्राणपुत्र प्रतिष्ठित है। मनोयुक्ता वाङ्मयी माता कभी अपने पुत्र प्राण को चाटती रहती है, कभी पुत्रप्राण माता वाक् को चाटता रहता है। माता पुत्र के सहज श्रद्धा-वात्सल्य प्रेम का यह एक अपूर्व निदर्शन है। स्वाध्यायकाल में, अथवा सामान्य वाग्व्यापार काल में (वैदिक तथा लौकिक वाक् प्रयोगकाल में) प्राण वाक् में घूमा रहता है, प्राणपुत्र माता वाक् को चाटता रहता है। एवं सुषुप्ति-अवस्था में, तथा मौन समय में वाक् प्राण में लीन रहती है, वाक्-माता प्राण पुत्र को चाटती रहती है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण पार्थिव-आन्तरीक्ष्य-दिव्य प्राणात्मक, प्राणत्रयी-मूर्ति

A—"बृहद्रथन्तरयो रूपेण संहिता सन्धीयते, इति तात्पर्यं। वाग्वै रथन्तरस्य रूपं, प्राणो बृहतः। उभाभ्यां-उ-खलु संहिता सन्धीयते-वाचा च, प्राणेन च-इति"। (ऐ० आ० ३।१।५।)।

B—"वाक् प्राणेन संहिता-इति कौण्ठरव्य, प्राणः पवमानेन, पवमानो विश्वैर्देवैः, विश्वे देवाः स्वर्गेण लोकेन, स्वर्गो लोको ब्रह्मणा। सैषा 'अवरपरसंहिता'"। (ऐ० आ० ३।१।६।)।

कर्म्मभोक्ता सुपर्ण (जीव–प्राणी) शुक्र–शोणितात्मक मातापिता के आपोमय समुद्र में प्रविष्ट होकर अवरूप से ही पुरुषाकार रूप में परिणत होता है, जैसाकि, 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि छान्दोग्य वचन से स्पष्ट है। आपोमय समुद्र में प्रविष्ट इस प्राणात्मक सुपर्ण को पूर्वकथनानुसार वाक्–मयी माता वात्सल्यपूर्वक मनोभाव से चाहती रहती है, यह भी उसे चाहता रहता है। यही वाक्संहिता का सङ्क्षिप्त इतिवृत्त है। पञ्चालचण्ड की इसी वाक्संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"वाक् संहिता–इति पञ्चालचण्ड । वाचा (स्वा० सत्यवाचा) वै वेदा सन्धी यन्ते, वाचा (सौरवाचा) छन्दांसि, वाचा (अनुष्टुप्–वाचा) मित्राणि सदधति, वाचा (पार० आम्भृण्या वाचा) सर्वाणि भूतानि । अथो वागेवेद सर्वम् । तद्यत्रैतदधीते (वैदिकीं वाचं प्रयुङ्क्ते), वा भाषते वा (लौकिकीं 'वाच' प्रयुङ्क्ते वा), वाचि तदा प्राणो भवति । वाक तदा प्राण रेढ्लि । अथ यत्र तूष्णीं वा भवति, स्वपिति वा, प्राणे तदा वाग् भवति । प्राणस्तदा वाच रेढ्लि । तावन्योऽन्य रीढ्ल । वाग्वै माता, प्राण' पुत्र । तदेतद् ऋषिणोक्तम्—(ऐ० आ० ३।१।६।)।

एक सुपर्ण स समुद्रमाविवेश स इद विश्व (शरीर) भुवन विचष्टे ।
त पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्त माता रेढ्लि स उ रेढ्लि मातरम् ॥
(ऋक्० स० १०।११४।४।)

६–व्यासदेव की वेदसंहिता, और पुराणसंहिता—

वेदसंहिता के प्रसङ्ग से विविध संहिताओं का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब प्रकृत विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। शब्दात्मिका वेदसंहिताओं का नाम 'संहिता' क्यों हुआ ?, इस प्रश्न का समाधान प्राचीन सम्प्रदाय यह करता है कि, भगवान् व्यास के समय में ऋग्–यजुः–साम–अथर्वमन्त्र तत्तद्–द्रष्टा ऋषिवंशों में प्रतिष्ठित थे। बदरिकाश्रम में बैठ कर भगवान् व्यास ने उन सब मन्त्रों का संग्रह किया, एवं उन्हें चार संहिताओं का रूप दिया। क्योंकि व्यास ने इनका एकत्र संकलन कर इन्हें सुव्यवस्थित रूप दिया, इसी संकलन से संघातभाव से इन्हें 'संहिता' नाम से व्यवहृत किया गया। इन वेदसंहिताओं को अपने प्रिय शिष्यों में क्रमशः प्रतिष्ठित किया।

पूर्व में यह बतलाया गया है कि, वेदशाखा–विभाग का कारण अध्ययन–सम्प्रदाय भेद माना जा रहा है। परन्तु कूर्म्मपुराण के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि, जिस प्रकार 'वेदसंहिता' का स्वरूप व्यास ने व्यवस्थित किया था, एवमेव शाखाविभाग भी इन्हीं की ओर से व्यवस्थित हुआ था। यही क्यों, यहाँ तो यह भी स्पष्ट किया गया है कि पहले केवल एक 'यजुर्वेद' ही था। उसीका यज्ञकर्म्म के भेद से ऋक्–यजु–साम–अथर्वरूप से हौत्र–आध्वर्य्यव–औद्गात्र–ब्रह्मत्व–कर्म्मसिद्धि के लिए चार वर्गों में विभाग किया गया। यजुर्वेद को सर्ववेदमय बतलाना उस रहस्यात्मक तत्त्ववेद से ही सम्बन्ध रखता है। 'ऋक्सामे यजुरपीतः'

योग है। फलतः दोनों संहिता मिल कर अग्नीषोमात्मिका एक वागाम्भृणी-संहिता बन जाती है, जिसका पूर्वप्रकरण के ... परिच्छेद में विस्तार से व्याख्यान हो चुका है। बृहद्रथन्तरसंहिता आधिदैविक संहिता है, वाक्-प्राणात्मिका संहिता आध्यात्मिक संहिता है। इसी 'संहिता' का ... की, एवं प्राण और ... की प्रवृत्ति है। वाक्-प्राण ... के संधान से ही आध्यात्मिक संहिता का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। A

इसी आध्यात्मिक वाक्-प्राणसंहिता को महर्षि कौषीतकि ने 'अमरपरसंहिता' कहा है। उनका कहना है कि, वाक् प्राण से संहित है, प्राण पवमान से, पवमानप्राण विश्वेदेवों से, विश्वेदेव स्वर्ग से, स्वर्ग ब्रह्म से संहित है। ... से ... संहिता के साथ ... हुए अन्त में ... संहिता से आध्यात्मिक संस्था का ... हो जाता है। B

महर्षि 'पञ्चालचण्ड' ने 'वाक्संहिता' का स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि, संहिता की मूलप्रतिष्ठा 'वाक्' तत्त्व ही है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा ने सर्वप्रथम वाक् के आधार पर ही शरीर भाग कर रक्खा है। मनःप्राण अव्यक्त है, अमूर्त है। अतएव इनका किसी से साक्षात् योग नहीं हो सकता। भूतमात्रा लक्षणा, मूर्त्त वाक् के द्वारा ही इनका योग सम्भव है। अतएव सब प्रकार संहिताओं को हम 'वाक्संहिता' ही कहेंगे। स्वायम्भुवी सत्यावाक् के द्वारा ही ऋक्-यजुः-सामात्मक तीनों वेदों का परस्पर सन्धान हुआ है। वाङ्मय षट्स्वरमण्डल ही वेदशाखाओं की प्रतिष्ठा है। गायत्र्यादि सातों छन्दों (अहर्गणछन्दों) का परस्पर में सौरी गौरीमिता वाक् के आधार पर ही संधान हुआ है। शब्दात्मिका वाक् से, एवं अर्थरूपा (वस्तुस्वरूपा) वाक् के आदान प्रदान से ही मित्रों का परस्पर सन्धान होता है। सर्वव्यापिनी, आपोमयी, मनःप्राणगर्भिता आम्भृणी पारमेष्ठिनी वाक् से ही आपोमय भूतों का परस्पर संधान हुआ है। कहाँ तक गिनायें-सर्वत्र इसी वाक्संहिता का साम्राज्य है। आध्यात्मिक-वाक्संहिता में वाक्-प्राण का माता-पुत्र सम्बन्ध है। मन पिता है, वाक् माता है, प्राण पुत्र है। मनोवाक् रूपा दम्पती में प्राणपुत्र प्रतिष्ठित है। मनस्युक्ता वाङ्मयी माता कभी अपने पुत्र प्राण को चाटती रहती है, कभी पुत्रप्राण माता वाक् को चाटता रहता है। माता पुत्र के सहज श्रद्धा-वात्सल्य प्रेम का यह एक अपूर्व निदर्शन है। स्वाध्यायकाल में, अथवा सामान्य वाग्व्यापार काल में (वैदिक तथा लौकिक वाक् प्रयोगकाल में) प्राण वाक् में डूबा रहता है, प्राणपुत्र माता वाक् को चाटता रहता है। एवं सुषुप्ति-अवस्था में, तथा मौन समय में वाक् प्राण में लीन रहती है, वाक्-माता प्राण-पुत्र को चाटती रहती है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण पार्थिव-आन्तरीक्ष्य-दिव्य प्राणात्मक, प्राणमयी-मूर्त्ति

A—"बृहद्रथन्तरयो रूपेण संहिता सन्धीयते, इति तात्स्य्य। वाग्वै रथन्तरस्य रूप,प्राणो-बृहत। उभाभ्यां-उ-खलु संहिता सन्धीयते-वाचा च, प्राणेन च-इति"।
(ऐ० आ० ३।१।६।)।

B—"वाक् प्राणेन संहिता-इति कौषीतक्यः, प्राणः पवमानेन, पवमानो विश्वैर्देवै, विश्वे देवा स्वर्गेण लोकेन, स्वर्गो लोको ब्रह्मणा। सैषा "अमरपरसंहिता"।
(ऐ० आ० ३।१।६।)।

कर्म्मभोक्ता सुपर्ण (जीव-प्राणी) शुक्र-शोणितात्मक मातापिता के आपोमय समुद्र में प्रविष्ट होकर अन्नरूप से ही पुरुषाकार रूप में परिणत होता है, जैसाकि, 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि छान्दोग्य वचन से स्पष्ट है। आपोमय समुद्र में प्रविष्ट इस प्राणात्मक सुपर्ण को पूर्वकथनानुसार वाङ्मयी माता वात्सल्यपूर्वक मनोभाव से चाटती रहती है, यह भी उसे चाटता रहता है। यही वाक्संहिता का संक्षिप्त इतिवृत्त है। पञ्चालचण्ड की इसी वाक्संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"वाक् संहिता—इति पञ्चालचण्ड। वाचा (सत्य० सत्यवाचा) वै वेदा सन्धीयन्ते, वाचा (सौरवाचा) छन्दांसि, वाचा (अनुष्टुप्-वाचा) मित्राणि सदधति, वाचा (पार० भार्गवया वाचा) सर्वाणि भूतानि। अथो वागेवेदं सर्वम्। तद्यत्रैतदधीते (वैदिकीं वाचं प्रयुङ्क्ते), वा भाषते वा (लौकिकीं 'वाच' प्रयुङ्क्ते वा), वाचि तदा प्राणो भवति। वाक् तदा प्राणं रेहि। अथ यत्र तूष्णीं वा भवति, स्वपिति वा, प्राणे तदा वाग् भवति। प्राणस्तदा वाचं रेहि। तावन्योऽन्यं रीहलः। वाग्वै माता, प्राण पुत्र। तदेतदृषिणोक्तम्—(ऐ० आ० ३।१।६।)।

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं (शरीरं) भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥
(ऋक्० सं० १०।११४।४।)

६—व्यासदेव की वेदसंहिता, और पुराणसंहिता—

वेदसंहिता के प्रसङ्ग से विविध संहिताओं का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब प्रकृत विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। शब्दात्मिका वेदसंहिताओं का नाम 'संहिता' क्यों हुआ ?, इस प्रश्न का समाधान प्राचीन सम्प्रदाय यह करता है कि, भगवान् व्यास के समय में ऋग्-यजुः-साम-अथर्वमन्त्र तत्तद्-द्रष्टा ऋषिवंशों में प्रतिष्ठित थे। बदरिकाश्रम में बैठ कर भगवान् व्यास ने उन सब मन्त्रों का संग्रह किया, एवं उन्हें चार संहिताओं का रूप दिया। क्योंकि व्यास ने इनका एकत्र संकलन कर इन्हें सुव्यवस्थित रूप दिया, इसी संकलन से संघातभाव से इन्हें 'संहिता' नाम से व्यवहृत किया गया। इन वेदसंहिताओं को अपने प्रिय शिष्यों में क्रमशः प्रतिष्ठित किया।

पूर्व में यह बतलाया गया है कि, वेदशाखा-विभाग का कारण अध्ययन-सम्प्रदाय भेद माना जा रहा है। परन्तु कूर्मपुराण के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि, जिस प्रकार 'वेदसंहिता' का स्वरूप व्यास ने व्यवस्थित किया था, एवमेव शाखाविभाग भी इन्हीं की ओर से व्यवस्थित हुआ था। यही क्यों वहां तो यह भी स्पष्ट किया गया है कि, पहले केवल एक 'यजुर्वेद' ही था। उसीका यज्ञकर्म के भेद से ऋक्-यजु-साम-अथर्वरूप से हौत्र-आध्वर्यव-औद्गात्र-ब्रह्मत्व-कर्मसिद्धि के लिए चार वेदों में विभाग किया गया। यजुर्वेद को सर्ववेदमय बतलाना उस रहस्यात्मक सत्यवेद से ही सम्बन्ध रखता है। 'ऋक्सामे यजुरपीत'

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यज्ञोनामसमुच्चय ऋक्-साम भी यजु के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं, एवं साम-त्मक भृग्वङ्गिरोमय अथर्ववेद भी यजुरग्नि को अपनी सीमा में भक्त होता हुआ तद्वदेव सही पठित है। सर्वतरूप से इसी तत्त्ववेद का रहस्य सूचित करने के लिए पुराणकार ने—"एक आसीद् यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत्" यह कह दिया है। ऋषियों में सुरक्षित वेदमन्त्रों को चार संहिताओं का रूप प्रदान करना, प्रत्येक की क्रमशः '२१-१०१-१०००-६' शाखाएँ व्यवस्थित करना व्यासदेव का ही कर्म है, यह निःसंदिग्ध है।

इधर—चतुर्वेद संहिताओं के अतिरिक्त सर्वप्रथम भगवान् बादरायण ने उस 'पुराणसंहिता' का भी आविर्भाव किया, जिसमें—सृष्टि[1], प्रतिसृष्टि[2], वंश[3], वंशानुचरित[4], आख्यान[5]✽, उपाख्यान[6], मन्वन्तर[7], गाथा[8], कल्पशुद्धि[9], मन्त्र[10], तन्त्र[11], यन्त्र[12], डामर[13], यामल[14], सिद्धान्त[15] वेदचरित्र[16], ज्योतिश्चक्र[17], भुवनकोश[18]," इन अठारह पर्वों का समावेश हुआ। इन अठारह पर्वों के समावेश से ही पुराण 'अष्टादशपर्वात्मक' कहलाया। जिस प्रकार वेदमन्त्र व्यास की अपनी कृति नहीं है, एवमेव पुराणोक्त वैज्ञानिक आख्यान भी व्यास की अपनी कृति नहीं है। ये पौराणिक वैज्ञानिक आख्यान वेदमन्त्रों से भी प्राचीन हैं। वैदिकमन्त्र-ब्राह्मणोक्त आख्यानों की मूलप्रतिष्ठा गाथात्मक ये ही पुराणाख्यान हैं, जैसाकि—'एतद्ध सौपर्णकमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। इसी दृष्टि से इन पुराणाख्यानों को हम वेद से भी प्राचीन मानने के लिए तय्यार हैं। यही पुराण-शास्त्र का पुराणत्व (प्राचीनत्व) है A। वेदसंहिता, तथा पुराणसंहिताओं के सम्बन्ध में भेद केवल यही है कि, वेदसंहिता की भाषा व्यास की नहीं है, किन्तु पुराणसंहिता की भाषा व्यास की है। आख्यानदृष्टि से पुराणशास्त्र वेद से भी प्राचीन है। किन्तु व्यासभाषामयी पुराणसंहिता अर्वाचीन है। जिस प्रकार चार वेद-संहिताओं के लिए 'पैल, वैशम्पायन, सुमन्तु, जैमिनि' नामक चार शिष्य बनाए थे, एवमेव अष्टादश-पर्वात्मिका पुराणसंहिता, एवं अष्टादशपर्वात्मक भारत के लिए सूत को प्रधान शिष्य बनाया गया था।

सनातनधर्मावलम्बी जगत् को, यह मान लेने में कोई भी क्षति नहीं है कि, सृष्टितत्त्वप्रतिपादक १—नारद[1], २—भागवत[2], ३—वायु[3], ४—विष्णु[4] ५—पद्म[5], ६—ब्रह्म[6], ये ६ पुराण, मतवादप्रतिपादक १—मार्कण्डेय[7], २—आग्नेय[8], ३—भविष्य[9], ४—ब्रह्मवैवर्त्त[10], ये ४ पुराण, अवतारवादप्रतिपादक १—लिङ्ग[11], २—वराह[12], ३—स्कन्द[13], ४—वामन[14], ५—कूर्म्म[15], ६—मत्स्य[16], ये ६ पुराण, जीवात्मप्रतिपादक गरुडपुराण[17], तथा आत्मतत्त्ववादप्रतिपादक ब्रह्माण्डपुराण[18], ये अठारह पुराण पुराण रहस्यवेत्ता 'सूत' की ही कृति हैं। विषय सब व्यास का है, इसलिए तो 'अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवती-सुत' निर्बाध है। एवं भाषा सूत की है, इसलिए सूत इनके कर्त्ता माने जा सकते हैं। अस्तु इन सब विषयों का

✽—आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः॥

A—पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

सोपपत्तिक निरूपण तो 'पुराणरहस्या' दि अन्य निबन्धों में ही देखना चाहिए। प्रकृत में इस पुराणप्रसङ्ग से यही बतलाना है कि, वेदसंहितावत् अष्टादशपर्वात्मिका व्यासरचित पुराणसंहिता भी इतर शाखावेदसंहिताओं की भाँति विलुप्त हो चुकी है। संहिता नामकरण का मुख्य आधार व्यास का मन्त्रसंकलन है, निम्नलिखित वचन यही प्रमाणित कर रहे हैं।

१—अष्टाविंशे पुनः प्राप्ते ह्यस्मिन् वै द्वापरे द्विजाः ।
पराशरसुतो व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽभवत् ॥

२—य एकः सर्ववेदानां पुराणानां प्रदर्शकः (न तु कर्त्ता–द्रष्टा वा)।
पाराशर्य्यो महायोगी कृष्णद्वैपायनो हरिः ॥

३—आराध्य देवमीशानं दृष्ट्वा साम्बं त्रिलोचनम् ।
तत् प्रसादादसौ व्यासो वेदानामभवत् प्रभुः ॥

४—अथ शिष्यान् प्रजग्राह चतुरो वेदपारगान् ।
जैमिनिञ्च, सुमन्तुञ्च, वैशम्पायनमेव च ॥

५—पैलं तेषां चतुर्थञ्च, पञ्चमं मां महामुनिः । (मां-सूतम्)।
ऋग्वेदश्रावकं पैलं प्रजग्राह महामुनिः ॥

६—यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च ।
जैमिनिं सामवेदस्य श्रावकं सोऽन्वपद्यत ॥

७—तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम् ।
इतिहासपुराणानि प्रवक्तुं मामयोजयत् ॥

८—"एक आसीद्यजुर्वेदस्तञ्चतुर्द्धा व्यकल्पयत्"
चातुर्होत्रमभूद्यस्मिंस्तेन यज्ञमथाकरोत् ।

---

*"अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म" (मुण्डकोपनिषत्) के अनुसार यज्ञकर्म्म के भी १८ पर्व हैं। 'स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः' (महाभारत) के अनुसार जीवात्मप्रपञ्च भी १८ भागों में ही विभक्त है। पुराण के विषय भी १८ ही हैं, स्वयं पुराण भी १८ ही हैं। महाभारत के भी १८ ही पर्व हैं, महाभारत की उपलब्ध निधि गीता के भी १८ ही अध्याय हैं। अवश्य ही ६ की भाँति १८ संख्या भी एक रहस्यपूर्ण संख्या है, जिसका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के 'बहिरङ्गपरीक्षात्मक' प्रथम खण्ड में दिग्दर्शन कराया गया है।

९—आध्वर्य्यं यजुर्भिस्तात्रगभिर्होत्र द्विजोत्तमा ।
औद्गात्र सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वञ्चाप्यथर्व्वभि ॥

१०—तत स ऋच उद्धृत्य ऋग्वेद कृतवान् प्रभु ।
यजूंषि च यजुर्वेद सामवेदञ्च सामभि ॥

११—एकविंशतिभेदेन ऋग्वेद कृतवान् पुरा ।
शाखानान्तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत् ॥

१२—सामवेद सहस्रेण शाखानाञ्च विभेदत ।
अथर्व्वाणमथो वेद विभेद नवकेन तु ॥

१३—भेदैरष्टादशैर्व्यास पुराण कृतवान् प्रभु. ।
योऽयमेकस्चतुष्पादो वेद पूर्व्वं पुरातनात् ॥

१४—इत्येतदक्षर वेद्यमोङ्कार वेदमव्ययम् ।
अवेदञ्च विजानाति पाराशर्य्यो महामुनि ॥

(कूर्म्मपुराण, ४९ अध्याय) ।

उक्त कूर्म्मसिद्धान्त सर्वथा व्यवस्थित है। इस सम्बन्ध में जिज्ञासा केवल शेष यही रह जाती है कि, शब्दवेदशास्त्र के शाखाविभाग विशुद्ध कल्पना है ?, अथवा इस कल्पना के मूल में कोई तत्त्व अन्तर्निहित है ?। वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, मन्त्रों के एकत्र संकलन से जहाँ इन वेदग्रन्थों को 'संहिता' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है, वहाँ प्राकृतिक तात्त्विक वेदसंहिता की दृष्टि से भाष्य-भावक-अभेद मर्य्यादा से (शब्दार्थ-तादात्म्यसे) इन वेदग्रन्थों का 'संहिता' नामकरण एक वस्तुतत्त्व भी बना हुआ है। जिस अदितिगर्भ में नित्य वेदसंहिता प्रतिष्ठित हैं अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित संहिताओं की जो ११११ शाखाएँ सुव्यवस्थित हैं, उन शाखानुगत वेदसंहिता के प्रतिपादक शब्दात्मक वेदशास्त्र में वही संहिताविभाग हुआ है, एवं वही शाखा-विभाग हुआ है। दोनों का समतुलन है। जैसी व्यवस्था वहाँ है, ठीक वैसी ही व्यवस्था यहाँ है। भले ही शाखाविभाग का कारण अध्ययन-सम्प्रदायभेद मान लिया जाय। अथवा जो यह मान लिया जाय कि, ये विभाग व्यासने किए हैं। परन्तु '२१-१ १-१ ०-९' संख्या एवं ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-इन चारों संहिताओं के ११११ भेद अदितिसंहिता-भेदों को ही अपना मूलस्तम्भ बनाए हुए हैं। सम्प्रदायभेद ११११ पर ही क्यों विश्रान्त हुआ ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर अदिति-संहिता ही है।

१०—अदितिसंहिता के चार पर्व—

'अदिति' का स्वरूप बतलाते हुए पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त अग्नी-षोमात्मक पार्थिव प्रजापति का साम्राज्य है। इन में '९-१५-२१' भेद से अग्नि के 'अग्नि-वायु-आदित्य' ये तीन रूप प्रतिष्ठित हैं। एवं '२७-३३' भेद से सोम के 'भास्वर सोम-

दिक्सोम' ये दो रूप प्रतिष्ठित हैं। अग्नित्रयी, सोमद्वयी की समष्टि ही पार्थिव प्रजापति है, जिस का सम्वत्सररूप से पूर्व प्रकरणों में यशोगान किया जा चुका है। २१ पर्य्यन्त अदितिसंहिता है, ११ पर्य्यन्त प्रजापतिसंहिता है, दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। अतएव श्रुति ने प्रजापतिसंहिता को 'अदितिसंहिता' नाम से व्यवहृत कर दिया है।

त्रिवृत्स्तोमस्थानीय अदिति का आग्नेय पार्थिवभाग पूर्वरूप है, एकविंशस्तोमस्थानीय अदिति का आदित्यात्मक द्यु भाग उत्तररूप है, पञ्चदशस्तोमस्थानीय अदिति का वायव्य आन्तरिक्ष्यभाग सन्धि है, प्रजा-प्रजननकर्म्म सन्धान है, चारों पर्वों की समष्टि प्रजापतिसंहिता, किंवा अदितिसंहिता है। पार्थिवभाग जाया है, यही पूर्वरूप है। द्यु भाग पति है, यही उत्तररूप है। अन्तरिक्षभाग पुत्र है, यही सन्धि है। प्रजननकर्म्म सन्धान है। इसी अदितिसंहिता का स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

> "अथातः प्रजापतिसंहिता। जाया पूर्वरूप, पतिरुत्तररूपं, पुत्रः सन्धि, प्रजनन सन्धानम्। सैषाऽदिति संहिता। अदितिर्हीदं सर्वं यदिदं किञ्च-पिता च, माता च, पुत्रश्च, प्रजननञ्च। तदप्येतदृषिणोक्त—'अदितिर्द्यौ०' इति"। (ऐ० आ० ३।१।६।)।

अब यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि पार्थिव अग्नि से ऋक्तत्त्व का, आन्तरिक्ष्य वायु से यजुः का, दिव्यादित्य से साम का, चतुर्थलोकस्थानीय आप से अथर्व का सम्बन्ध है। एक संहिता है, इस के 'ऋक्-यजु-साम-अथर्व' ये चार पर्व हैं। समुदायावयवन्याय से समष्टि में प्रतिष्ठित 'संहिता' शब्द प्रत्येक पर्व के साथ भी युक्त हो रहा है। इसप्रकार अदितिसंहितारूपा एक वेदसंहिता चार संहितारूपों में परिणत हो रही है। ऋग्वेद जायास्थानीय बनता हुआ पूर्वरूप है, यजुर्वेद पुत्रस्थानीय बनता हुआ सन्धि है, सामवेद पितास्थानीय बनता हुआ उत्तररूप है, एवं अथर्ववेद प्रजननस्थानीय बनता हुआ सन्धान है, समष्टि एक वेदसंहिता है।

११—अथर्व का प्रजाभाव—

'सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्' के अनुसार सोममूर्त्ति अथर्वब्रह्म ही अग्नित्रयमूर्त्ति वेदत्रय से युक्त होकर प्रजननकर्म्म की प्रतिष्ठा बनता है। प्रजनन सोमाहुति पर ही निर्भर है। एवं अथर्व सोमात्मक माना गया है। इसी अग्नि-सोम भेद से 'त्रयीवेद-अथर्ववेद' यह भेदव्यवहार प्रचलित हुआ है। अग्नित्रयी का एक स्वतन्त्र विभाग है, अतएव 'त्रयीवेद' स्वतन्त्र बन गया है। सोमद्वयी का भास्वरसोम घोराङ्गिरा है, दिक्सोम अथर्वाङ्गिरा है। इसप्रकार अग्निवेदकी भाँति यद्यपि सोमवेद के भी दो ही पर्व हो जाते हैं। परन्तु आपोलोक के अनन्तभाव के कारण दोनों एक 'अथर्व' नाम से ही व्यवहृत कर दिए गए हैं। श्रुति ने भी इसी अनन्तभाव के कारण सोमलोक के २७-१२ दो विभाग न कर 'चतुर्थदेवलोक*' नाम से एक आपोलोक ही मान लिया है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, तीनों लोक भद्रा (स्वरूप) हैं, परन्तु चौथा आपोलोक अप्रकट बनता

* "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" (कौ० ब्रा० १८। १)

हुआ बनता है +। अपने इसी अनद्धाभाव से चतुर्थभावापन्न एक लोकरूप में न था अथर्व व त्रयी की भांति त्रयी नाम से ही प्रसिद्ध हुआ, एवं न इस का व्यवहार ही प्रधान रहा। व्यवहाराप्रधानता का दूसरा कारण यह भी है कि, वेदत्रयी अग्नित्रयीरूपा बनती हुई 'अन्नादप्रधाना' है, एवं अथर्ववेद सोमात्मक बनता हुआ 'अन्नप्रधान' है। अन्नात्मक अथर्व प्रजननकार्य की सिद्धि के लिए अन्नादाग्निमयी वेदत्रयी के गर्भ में प्रविष्ट है। अग्नीषोमाहुति ही से वा २१ में स्वर्गपर्यन्त व्याप्त रहने वाला अग्नि २१ पर्यन्त व्याप्त हुआ है। हम देखते हैं कि, जब तक अन्न अन्नादसीमा से बाहिर रहता है, तभी तक वह अपनी स्वतन्त्रसत्ता सुरक्षित रखने में समर्थ होता है। जब अन्न शरीराग्नि में हुत हो जाता है, तो–'तदद्वयं समागच्छति, अत्तैवाख्यायते नाद्यम्' (शत० १०।६।२।१।) के अनुसार वह अपना स्वातन्त्र्य खो देता है। इस सामान्य नियम के अनुसार अन्नात्मक अथर्ववेद अन्नादात्मिका वेदत्रयी के गर्भ में हो प्रविष्ट है। यही कारण है कि, वेदगणना में त्रयीवेद शब्द ने ही प्रधानता ग्रहण कर रक्खी है। जो आधुनिक यह कहते हैं कि, अथर्ववेद बहुत पीछे बना है, इसलिए इस का व्यवहार कम हुआ, उन का यह कथन सर्वथा निस्तत्त्व है। अथर्वव्यवहार की शिथिलता का कारण अथर्व का अन्नभाव ही माना जायगा।

१२–मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय तात्त्विक वेद—

मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्ययपुरुषात्मक प्रजापति अपने तीनों रूपों से अप्समुद्र में (अथर्वमय पारमेष्ठ्य समुद्र में) प्रविष्ट होकर आपःसृष्टि के स्वरूप समर्पक बनते हैं, जैसाकि सृष्ट्यारम्भप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रजापति की मन–प्राण–वाक्–कलाओं से आपोमय अथर्व भी मन–प्राण–वाङ्मय बना हुआ है। इसी अथर्वप्रजापति के गर्भ में वेदत्रयीमूर्ति उस सुपर्ण का आविर्भाव होता है, जिस का (आध्यात्मिक दृष्टि से) पूर्व की व्याख्या में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। आपोमय शरीर में प्रविष्ट क्षुद्र सुपर्ण भोक्ता है, आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल में प्रविष्ट महासुपर्ण साक्षी है। दोनों अश्वत्थवृक्ष की पार्थिव शाखा पर प्रतिष्ठित हैं*। वह पार्थिव त्रिलोकी में व्याप्त है, यह शारीरत्रिलोकी में व्याप्त है। उस के सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट् तीन रूप हैं, इस के प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानर, तीन रूप हैं।

\+ "स वै त्रिर्यजुषा हरति। त्रयो वा इमे लोकाः। एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधाति। अद्धा वै तत्, यदिमे लोकाः। अद्धो तत्, यद्यजु। तस्मात् त्रिर्यजुषा हरति। तूष्णीं चतुर्थम्। स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थं, अस्ति वा न वा। अनद्धा वै तत्, यदिमाँल्लोकानति–चतुर्थमस्ति, वा न वा। अनद्धो तत्, यत् तूष्णीम्। तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम्"

(शत० १।२।४।२०,२१,)

* "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"

'अयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' के अनुसार अदितिमण्डलात्मिका महापृथिवी के ६–१५–२१ स्तोम-भागों में विभक्त पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों लोक (प्रत्येक) त्रिवृद्भाव से युक्त हैं। इस त्रिवृद्भाव का रहस्य यही है कि, तीनों में प्रतिष्ठित अग्नि–वायु–आदित्य नामक तीनों प्राणदेवताओं का साममण्डलों के द्वारा सामातिमान के साथ साथ अतिमान हो रहा है, जो कि देवातिमानप्रक्रिया यज्ञपरिभाषा में 'तानूनप्त्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस पारस्परिक सहयोग से तीनों लोकों में (प्रत्येक में) गौण–प्रधानरूप से तीनों देवताओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

तत्त्वतः त्रिवृत्स्थानीया पृथिवी आत्मा के वाग–भाव की, पञ्चदशस्थानीय अन्तरिक्ष प्राण–भाव की, एकविंशस्थानीय द्युलोक मनो–भाव की विकासभूमि है। इसप्रकार पारमेष्ठ्य मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति तीन लोकों में क्रमशः वाक्–प्राण–मनों–रूप से विभक्त हो रहा है। तीनों पर्व क्रमशः 'ज्ञान–क्रिया–अर्थ' प्रधान हैं। इस स्वाभाविक सत्याविभाग के अनुसार पार्थिव वाङ्मय अग्नि वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। आन्तरिक्ष्य प्राणमय वायु प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है। दिव्य मनोमय आदित्य मनःप्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है। अर्थप्रधान वाङ्मय पार्थिव अग्नि से ही ऋग्वेद का विकास हुआ है, क्रियाप्रधान प्राणमय वायु से ही यजुर्वेद का, ज्ञानप्रधान मनोमय आदित्य से ही सामवेद का विकास हुआ है। एवं मनः–प्राणवाङ्मय आपोमय पारमेष्ठ्य प्रजापति ही अथर्ववेद की विकासभूमि है।

मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से लोक त्रिवृत बनते हैं, लोकत्रयी के त्रिवृद्भाव से लोकी–(देवता) त्रिवृत बन जाते हैं। फलतः तीनों लोकों में गौणमुख्यरूप से आत्मा की तीनों कलाओं के साथ साथ तीनों प्राणदेवताओं का योग सिद्ध हो जाता है। मनःप्राणगर्भित वाक्प्रधान अग्नि अर्थप्रधान बनता हुआ मनः–प्राण सम्बन्ध से ज्ञानक्रियामय भी है। मनोवाग्गर्भित प्राणप्रधान वायु क्रियाप्रधान बनता हुआ मनोवाक् सम्बन्ध से ज्ञान–अर्थमय भी है। एवं वाक्–प्राणगर्भित मनःप्रधान आदित्य ज्ञानप्रधान बनता हुआ वाक्–प्राण सम्बन्ध से अर्थ–क्रियामय भी है। अर्थ–क्रिया–ज्ञान–भाव अग्नि–वायु–आदित्य के मुख्य रूप हैं। ज्ञान–क्रिया, ज्ञान–अर्थ, अर्थ–क्रिया, ये दो दो रूप तीनों के गौणरूप हैं।

निष्कर्ष यह हुआ कि, आपोमय परमेष्ठी प्रजापति तो स्वस्वरूप से मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थमय है। एवं अदितिमण्डलावच्छिन्न सुपर्ण–प्रजापति त्रिवृद्भाव के अनुग्रह से अपनी प्रत्येक कला से मन प्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थमय है। तीनों लोकों में अग्नि–वायु–आदित्य की व्याप्ति है। पार्थिव अग्नि 'पवमान' नाम से प्रसिद्ध है, आन्तरिक्ष्य अग्नि 'पावक' नाम से, दिव्य अग्नि 'शुचि' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव वायु 'मातरिश्वा' नाम से आन्तरिक्ष्य वायु 'हंस' नाम से, एवं दिव्य वायु 'सूत्र' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव आदित्य (इन्द्र) 'वासव' नाम से, आन्तरिक्ष्य इन्द्र मरुत्वान्' नाम से एवं दिव्य इन्द्र 'मघवा' नाम से प्रसिद्ध है। तीनों का तीनों के साथ तानूनप्त्रलक्षण अन्तर्याम सम्बन्ध है। अग्नि–वायु–आदित्य की समष्टि 'विराट्' है, वायु–अग्नि–आदित्य की समष्टि 'हिरण्यगर्भ' है, आदित्य–अग्नि–वायु की समष्टि 'सर्वज्ञ' है। तीनों की समष्टि साक्षी सुपर्ण–प्रजापति है। अर्थप्रधान विराडग्नि में भी क्रिया–ज्ञान का समावेश है, क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ वायु में भी अर्थ–ज्ञान का समावेश है, एवं ज्ञानप्रधान आदित्य

में भी अर्थ-क्रिया, दोनों का समावेश है। 'अर्थ-क्रिया-ज्ञान' तीनों अग्नि-वायु-आदित्य के मूलरूप हैं, एवं 'अर्थ-क्रिया-ज्ञान' तीनों प्रत्येक के तूलरूप हैं।

अर्थप्रधान मूल अग्नि (वागग्नि) प्रजापतिसंहिता का-'ऋक्संहिता' नामक प्रथम पर्व है, यही मूर्त्तिभाव की प्रतिष्ठा है। क्रियाप्रधान मूल वायु (प्राणवायु) प्रजापतिसंहिता का यजुःसंहिता' नामक द्वितीय पर्व है, यही गतिभाव की प्रतिष्ठा है। ज्ञानप्रधान मूल आदित्य (मनोमय आदित्य) प्रजापतिसंहिता का 'सामसंहिता' नामक तृतीय पर्व है, यही तेजोलक्षण विशकभाव की प्रतिष्ठा है। मन-प्राणवाङ्मय आपो-भाव मूल आप हैं यही प्रजापतिसंहिता का 'अथर्वसंहिता' नामक चौथा पर्व है। चारों संहिताओं की समष्टि ही मूलवेद है *।

अर्थ-क्रिया-ज्ञानमूर्ति तूल अग्नि (वायु-आदित्यगर्भित त्रिमूर्त्ति विराडग्नि) मूल ऋक्संहिता का तूल पर्व है, यही तूलरूप मूल ऋग्वेद का विवर्त्तभाव है। क्रिया-अर्थ-ज्ञानमूर्ति तूल वायु (अग्नि-आदित्य-गर्भित त्रिमूर्त्ति हिरण्यगर्भ वायु) मूल यजुःसंहिता का तूल पर्व है, यही तूलरूप मूल यजुर्वेद का विवर्त्तभाव है। ज्ञानक्रियार्थमूर्ति तूल आदित्य (अग्नि वायुगर्भित त्रिमूर्त्ति सर्वज्ञ आदित्य) मूल साम-संहिता का तूलपर्व है, यही तूलरूप सामवेद का विवर्त्तभाव है। ज्ञानक्रियार्थमूर्ति तूल आपः मूल अथर्वसंहिता का तूल पर्व है, यही तूलरूप अथर्ववेद का विवर्त्तभाव है। इसप्रकार चारों मूल संहिताओं के साथ तीन तीन तूल वेदविवर्त्तभावों का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

ऋगादिसंहिताओं के '२१-१०१-१०००-९' ये मूल रूप हैं, प्रत्येक के साथ तीन तीन तूल विवर्त्तों का सम्बन्ध है। फलतः तूलवेद के '११९१' पर्व हो जाते हैं। समष्टि-संख्या का विभाग ४५२४ पर है। तात्पर्य यही हुआ कि, अग्नि-वायु-आदित्य-आप, अथ-ऋक्-यजुः-साम-अथर्वलक्षण मूलवेद हैं। प्रत्येक-वेदसंहिता के साथ सम्बद्ध ज्ञान-क्रिया-अर्थभाव तूलवेद हैं। मूलवेद को जैसे 'संहिता' कहा जाता है, तूलवेद के 'अर्थ-क्रिया-ज्ञानपर्व' (शब्दवेदपरिभाषापेक्षया) क्रमशः 'ब्राह्मण'-'आरण्यक'-'उपनिषत्' नामों से प्रसिद्ध हैं।

विज्ञ पाठक यह जानते हैं कि, वेद का 'विधिरूप' ब्राह्मणभाग कर्म्मकाण्डात्मक है, आरण्यकरूप ब्राह्मणभाग उपासनाकाण्डात्मक है, उपनिषद्रूप ब्राह्मणभाग ज्ञानकाण्डात्मक है, संहितारूप मन्त्रभाग विज्ञान-सृष्टि-इतिहास-प्रतिपादक है। मन्त्रवेद मूलवेद है, ब्राह्मणवेद तूलवेद है। जो व्यवस्था इस शब्दवेद में है, वही उस तत्त्ववेद है। वहाँ क्योंकि ऐसी ही व्यवस्था है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ऋषियोंने शब्दवेद के उतने ही भेद से ही शाखाविभाग किए हैं। वहाँ चार मूल संहिताएँ हैं, यहाँ भी चार मूलसंहिताओं का आविर्भाव है। वहाँ प्रत्येक मूलसंहिता के २१-१ १-१ -९ पर्व हैं, यहाँ भी प्रत्येक संहिता की इतनी

---

* "ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्य ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्।"
(तै० ब्राह्मण)।

हीं शाखाएँ हुई हैं। यहाँ शाखावेदात्मक प्रत्येक संहितावेद 'ज्ञान-क्रिया-अर्थ' नामक तुलपर्वों से युक्त है, यहाँ भी प्रत्येक शाखावेद के साथ ज्ञान-क्रिया-अर्थात्मक उपनिषत्-आरण्यक-ब्राह्मणग्रन्थों का समावेश हुआ है। अर्थरूप कर्म्म का प्रतिनिधि ब्राह्मणग्रन्थ बना, क्रियारूपा उपासना का प्रतिनिधि आरण्यकग्रन्थ बना, ज्ञानरूपा परिभाषा का प्रतिनिधि उपनिषद्ग्रन्थ बना। मन्त्रब्राह्मणात्मक यह तत्त्ववेद अपौरुषेय कहलाया है। मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दवेद क्या कहलाया ?, इस प्रश्न का सामान्य समाधान अग्रिम परिच्छेद से, तथा विशेष समाधान अग्रिम (तृतीय) खण्ड से अनुप्राणित है। वक्तव्यांश यही है कि, शाखाविभाग का कारण केवल अध्ययनपरम्परा ही नहीं है। अपितु प्राकृतिक नित्य तात्त्विक मूल-तूल भेद के जितने पर्व हैं, शब्दभेद के उतने ही पक्ष व्यवस्थित हुए हैं। निम्नलिखित तालिकाओं से तत्त्ववेद का उक्त संस्थाविभाग स्पष्ट हो जाता है—

(क) ४—मन प्राणवाङ्मय—आप—त्रिणवत्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्ना (दिश्याः)—दिशः

१—मनोमयः " —आदित्य—एकविंशस्तोमावच्छिन्न (दिव्य)—द्यौ

२—प्राणमय —वायु—पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न (आन्तरीक्ष्य)—अन्तरिक्षम्

१—वाङ्मय अग्नि—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न (पार्थिव)—पृथिवी

(ख) ४—मूल-आप—अथर्वविकासभूमिः—अथर्ववेदो मूलवेद (अथर्वाणः)।

३—मूल-आदित्य—सामविकासभूमि—सामवेदो मूलवेद (सामानि)।

२—मूल-वायु—यजुर्विकासभूमि—यजुर्वेदो मूलवेदः (यजूंषि)।

१—मूल-अग्नि—ऋग्विकासभूमि—ऋग्वेदो मूलवेद (ऋचः)।

(ग) ४—अथर्ववेद—अथर्वसंहिता ९
३—सामवेद—सामसंहिताः १०००
२—यजुर्वेद—यजुःसंहिता १०१
१—ऋग्वेद—ऋक्संहिता २१
—सैषा मूलवेदात्मिका 'अदितिसंहिता'

(घ ४—पारमेष्ठ्य सोमः-तन्मयः—अथर्ववेद—अथर्वसंहिता)
३—दिव्यमादित्यः——तन्मयः—सामवेद——सामसंहिता | —एता 'मूलवेदचतुष्टयी'
२—आन्तरिक्ष्यवायु—तन्मयः—यजुर्वेद——यजुःसंहिता
१—पार्थिवाग्नि———तन्मय—ऋग्वेदः——ऋक्संहिता)

(ङ) ४—मनःप्राणवाङ्मय्यः—सोमकला—ज्ञानक्रियार्थरूपाः—आपो—वायु—सोममय्यः ।

३—मनःप्राणवाङ्मय्य—आदित्यकला ज्ञानक्रियार्थरूपाः—आदित्य-वायु—अग्निमय्यः ।

२—प्राणवाङ्मनोमय्य—वायुकला——क्रियाज्ञानार्थरूपा—वायु——अग्नि-आदित्यमय्यः ।

१—वाक्प्राणमनोमय्य—अग्निकला—अर्थक्रियाज्ञानरूपा-अग्नि—वायु—आदित्यमय्यः ।

च–				
आत्मवेद अथर्ववेद ❀	आदित्यवेद सामवेदः ❀	वायुवेदः यजुर्वेदः ❀	अग्निवेदः ऋग्वेदः ❀	मन्त्रवेद (मूलवेदः)
१–विधिवेदः २–आरण्यकवेद ३–उपनिषद्वेद	१–विधिवेद २–आरण्यकवेदः ३–उपनिषद्वेदः	१–विधिवेद २–आरण्यकवेद ३–उपनिषद्वेद	१–विधिवेदः २–आरण्यकवेद ३–उपनिषद्वेद	ब्राह्मणवेद (तूलवेद)

१ ऋग्वेदः — मन्त्रब्राह्मणात्मकः

१—मन्त्र ——— (मनःप्राणगर्भितः, वाक्प्रधानः, अर्थशक्तिमयः, मूलाग्निः) ऋक्संहिता २१ भेदभिन्ना

२—ब्राह्मणम्
- १-विधि (वाङ्मयः, अर्थशक्तिप्रधानः, तूलाग्निः अग्निविध) ब्राह्मणम् २१ भेदभिन्नम्
- २-आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः, तूलवायुः, अग्निविधः) आरण्यकम् २१ भेदभिन्नम्
- ३-उपनिषत् (मनोमय, ज्ञानशक्तिप्रधानः, तूलादित्यः, अग्निविधः) उपनिषत् २१ भेदभिन्ना

२ यजुर्वेदः — मन्त्रब्राह्मणात्मकः

१—मन्त्रः ——— (मनोवाग्गर्भितः, प्राणप्रधानः क्रियाशक्तिमय —मूलवायु)—यजुःसंहिता १०१ भेदभिन्ना

२—ब्राह्मणम्
- १-विधि (वाङ्मयः, अर्थशक्तिप्रधानः, तूलाग्निः, वायुविध)—ब्राह्मणम् १०१ भेदभिन्नम्
- २-आरण्यकम् (प्राणमय, क्रियाशक्तिप्रधानः तूलवायुः, वायुविधः)—आरण्यकम् १०१ भेदभिन्नम्
- ३-उपनिषत् (मनोमय, ज्ञानशक्तिप्रधानः, तूलादित्यः, वायुविध)—उपनिषत् १०१ भेदभिन्ना

३ सामवेदः — मन्त्रब्राह्मणात्मकः

१—मन्त्रः ——— (प्राणवाग्गर्भितः, मनःप्रधानः, ज्ञानशक्तिमयः—मूलआदित्य)—सामसंहिता १००० भेदभिन्ना

२—ब्राह्मणम्
- १-विधि (वाङ्मय, अर्थशक्तिप्रधानः, तूलाग्निः——आदित्यविध)—ब्राह्मणम् १००० भेदभिन्नम्
- २-आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः, तूलवायु ——आदित्यविधः)—आरण्यकम् १००० भेदभिन्नम्
- ३-उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधान, तूलादित्य ——आदित्यविधः)—उपनिषत् १००० भेदभिन्ना

४ अथर्ववेदः — मन्त्रब्राह्मणात्मकः

१—मन्त्र ——— (मनःप्राणवाङ्मय्यः, मूलभृग्वङ्गिरोरूपा —मूलापः)—अथर्वसंहिता ९ भेदभिन्ना

२—ब्राह्मणम्
- १-विधिः (वाङ्मय्यः, अर्थशक्तिप्रधानाः—तूलापः)—ब्राह्मणम् ९ भेदभिन्नम्
- २-आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः —तूलवायु)—आरण्यकम् ९ भेदभिन्नम्
- ३-उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधानः—तूलसोमः)—उपनिषत् ९ भेदभिन्ना

संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-भेदभिन्ना ४४२४ संख्यात्मिका सैषा वेदराशिः। सोऽयमपौरुषेयोवेदो मन्त्र-ब्राह्मणात्मकः। तद्नु तत्संख्यासमतुलितः पौरुषेयवेदः शब्दमयः।

१६–अग्नीषोमात्मक शिव-शक्तिभाव—

'अग्नि ऋक् है, वायु यजु है, आदित्य साम है, आप (सोम) अथर्व है' यहाँ पूर्व निरूपण में यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है, यहाँ यह भी सिद्ध विषय है, कि प्रत्येक पदार्थ में इन चारों मूलवेदों का उपभोग हो रहा है। पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि, सन्धान-लक्षणा चतुष्पदा संहिता की व्याप्ति-व्यष्टिरूप से सर्वत्र व्याप्ति हो रही है। इस मूलवेदसंहिता के प्रतिष्ठित ज्ञान-क्रिया-अर्थरूप से सूत्रात्मकणपद का भी सर्वत्र व्याप्ति स्वाभाविक है। प्रत्येक पदार्थ इस आत्मदृष्टि से मन-प्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थरूप है, यही प्रत्येक पदार्थ में भक्त रहने वाले विधि-आरण्यक-उपनिषत्लक्षण ब्राह्मणवेद का प्रत्यक्ष निदर्शन है। प्रत्येक पदार्थ अग्निस्थानीय पूर्वरूप, आदित्यस्थानीय उत्तररूप, वायुस्थानीय सन्धि, आप स्थानीय संधान रूप से ऋक्-साम-यजु-अथर्वमूर्ति बन रहा है। प्रत्येक पदार्थ में उपयुक्त ऋक्-साम-यजु-अथर्वलक्षण मन्त्रवेद का यही प्रत्यक्ष निदर्शन है। एवं इस दृष्टि से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक मूलतत्त्ववेदरूप सम्वत्सरप्रजापति के गर्भ में उत्पन्न होने वाले यच्चयावत् साम्वत्सरिक पदार्थ भी मन्त्र-ब्राह्मणात्मक मूलतत्त्व वेदरूप बन हुए हैं। इसप्रकार भगवान् मनु का 'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' यह कथन सर्वात्मना अन्वर्थ बन रहा है।

'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस सुप्रमाणित सिद्धान्त के अनुसार जगत्, एवं जगत्-गर्भ में प्रतिष्ठित पदार्थ अग्नीषोमात्मक हैं। अग्नि के अग्नि-वायु-आदित्य, ये तीन रूप हैं। सोम के भास्वरसोम-दिक्सोम ये दो रूप हैं। अग्निमयी वेदत्रयी है, सोममयी अथर्ववेद है। 'ताप, विद्युत्, प्रकाश' का प्रत्येक पदार्थ में समन्वय है। वर्तमान विज्ञान इन्हीं को 'हीट, इलेक्ट्री, लाइट' नामों से व्यवहृत किया करता है। ताप अग्नि से, विद्युत् वायु से, प्रकाश आदित्य (इन्द्र) से सम्बन्ध रखता है। वैदिकविज्ञानपरिभाषानुसार 'ताप-विद्युत्-प्रकाश' तीनों 'तेज' पदार्थ हैं। तेजःपदार्थ विकासधर्म्मा है, विशकलनधर्म्मा है। इस विकासधर्म्म की रक्षा संकोचधर्म्मा स्नेहतत्त्व से हो रही है। विकासधर्म्मरक्षक संकोचधर्म्मावच्छिन्न यही स्नेहतत्त्व 'सोम' नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार 'तेज-स्नेह' दृष्टि से भी सर्वत्र चतुर्वेदसंहिता के दर्शन किए जा सकते हैं। तेज 'प्राण' है, स्नेह 'रयि' है। प्रश्नोपनिषत् ने रयि-प्राण के मिथुनभाव को ही विश्व का मूल माना है। प्राण वृषा है, रयि योषा है। वृषा पुरुष है, योषा स्त्री है। दोनों का दाम्पत्यभाव ही सृष्टि का मूल है- "अर्द्धेन पुरुषोऽभवत्, अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभु' यह मनुवचन भी इसी अग्नीषोममयी सृष्टिक्रिया का स्पष्टीकरण कर रहा है। अग्नि-सोम के इस चक्र का सम्बन्ध अर्द्धनारीश्वर भगवान् शङ्कर की उपासना पर अवलम्बित है। प्रसङ्गोपात्त संक्षेप से इस पार्थिव-अग्नीषोमचक्र का स्वरूप जान लेना भी आवश्यक होगा।

एक सहस्र अवममात्राओं के घनीभाव से 'अग्नि' नामक विशेषभाव का उदय होता है, जैसाकि आगे के परिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। अप्तत्त्व ही का नाम 'ऋत' है, एवं अप्तत्त्व के घनीभाव से ही पिण्डभावस्वरूपसमर्पक अग्नि का जन्म हुआ है। पिण्डस्वरूपलक्षण इस अग्नि को 'सत्य' कहा जाता है। इस सत्याग्नि का उदय से आरम्भ कर महिमा-प्रतिपर्य्यन्त सहस्ररूप से वितान होता है, जो कि साहस्री 'वेदसाहस्री' नाम से प्रसिद्ध है। जब यह सत्याग्नि विकास की चरमसीमा पर पहुँच जाता

है, तो तत्काल ऋत आप (सोम) रूप में परिणत हो जाता है। इसप्रकार यही ऋत आप (सोम) हृदयबिन्दु में आकर सत्याग्नि बन जाता है, यही सत्याग्नि प्रधिस्थान पर आकर ऋतसोम बन जाता है।

अग्नि का अङ्गिरा से सम्बन्ध है, सोम का भृगु से सम्बन्ध है। अङ्गिरा अग्नि–वायु–आदित्य, भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता हुआ हृदय से परिधि की ओर उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है, जैसाकि 'यामङ्गिरसो ययु' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है*। भृगुतत्त्व आप–वायु–सोम, भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता हुआ प्रधि से हृदय की ओर उत्तरोत्तर संकुचित होता रहता है। तत्त्वत अङ्गिरात्रयीलक्षणा *अग्निसाहस्री हृदय से परिधि की ओर वितत होती है, एवं भृगुत्रयीलक्षणा सामसाहस्री परिधि से हृदय की ओर* अनुगत रहती है। सोमवंशी भृगु के आप–वायु–सोम, तीनों पर्व मण्डलप्रदेश को अपना व्याप्तिस्थान बनाते हुए परिधि से केन्द्र की ओर आते हैं। केन्द्राविच्छिन्न माण्डलिक प्रदेश में भृगु के इन तीनों पर्वों को रहने के लिए पर्याप्त अवकाश मिल जाता है, अतएव पारस्परिक संघर्ष को अवसर नहीं मिलता। जब तीनों भृगुपर्व केन्द्रबिन्दु पर आ जाते हैं, तो प्रदेशशून्य हृद्बिन्दुस्थान इन तीनों के संघर्ष का कारण बन जाता है। तीनों के सम्पर्षबल का ही नाम 'सहोबल' है। इससे अविलम्ब अङ्गिरात्रयी का प्रादुर्भाव हो पड़ता है। अप्–वायु–सोम का संघर्ष ही अङ्गिरात्रयी का जन्मदाता बन जाता है। जब भृगुत्रयी अङ्गिरात्रयीरूप में परिणत हो जाती है, तो इसका केन्द्र से परिधि की ओर गमन आरम्भ हो जाता है। अग्नि उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ परिधि की ओर जाता है। प्रथम विकास अग्नि है, द्वितीय विकास वायु है, तृतीय विकास आदित्य है। विकास की चरम सीमा परिधि पर समाप्त है। यहाँ विकासमात्राओं का अवसान है। बस इस स्थान पर पहुँचते ही विकासभाव शान्त हो जाता है, संकोचधर्म्म का प्रादुर्भाव हो जाता है। वही अङ्गिरात्रयी विकास की चरमसीमा (परिधि) पर पहुँच कर भृगुत्रयीरूप में परिणत हो जाती है। *तत्काल इसका पुन* केन्द्र की ओर संकोचरूप से आगमन आरम्भ हो जाता है। इसप्रकार 'हृदय–परिधि' इन दो सीमाओं के सम्बन्ध से अङ्गिरा (अग्नि), भृगु (सोम) का चक्रवत् परस्पर विनिमय होता रहता है। *ऋतसोम सत्याग्नि बनता रहता* है, सत्याग्नि ऋतसोम में परिणत होता रहता है। 'ऋत सत्येऽधायि, सत्यं–ऋतेऽधायि' वचन इसी चक्ररहस्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। अवस्थाभेद ही तत्त्वभेद का कारण है। वस्तुतः वही अग्नि है, वही सोम है। वही वृषा है, वही योषा है। वही हृदयप्रतियोगिक परिधि–अनुयोगिकरूप से अग्निलक्षण बनता हुआ पुरुष है। एवं परिधिप्रतियोगिक, हृदयानुयोगिकरूप से सोमलक्षण बनता हुआ स्त्री है। दोनों के इस पारस्परिक अन्तर्य्यामलक्षण चितिसम्बन्ध का ही नाम 'याग' (यज्ञ) है। जब तक अग्नि–सोम का समन्वय है, तब तक यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तब तक पदार्थसंस्था का स्वस्तिभाव है। स्वस्ति–भाव ही शिवभाव है, शिवभाव ही वस्तुस्वरूप की प्रतिष्ठा है। जिस दिन दोनों का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, शिवसंस्था रुद्ररूप में परिणत होती हुई नष्ट हो जाती है। अर्द्धनारीश्वर शिव ही शिवभाव के रक्षक हैं। क्योंकि इनमें अग्निलक्षण 'नर', सोमलक्षण 'नारी', दोनों का समन्वय है।

अग्नि स्वस्वरूप से उग्र बनता हुआ रुद्र है, जैसाकि–'अग्निर्वैरुद्र' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त से प्रमाणित है। सोमाहुतियोग से रुद्राग्नि की उग्रता शान्त हो जाती है, रुद्र शिवरूप में परिणत हो जाते हैं।

---

* इत एत उदारुहन्, दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्रभूर्जयो यथापथि यामङ्गिरसो ययुः॥

जहाँ अग्नि इन का सार शरीर है, वहाँ सोम अपार शरीर है। तत्वतः सोमानुगत अग्नि ही 'शिव' है। सोम ही अग्नि की शक्ति है। जब तक सोमान्न शारीराग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अग्नि शान्त रहता है। अतएव सोम को हम 'शिवशक्ति' (शिवात्मक रुद्राग्नि की शक्ति) कह सकते हैं।

शिवशक्तिलक्षण सोम, एवं शक्तिविशिष्ट शिव, दोनों का पार्थिव सम्वत्सरचक्रमें समन्वय देखिए। पार्थिव सम्वत्सरचक्र में दक्षिणादिक् अधोदिक् मानी गई है, उत्तरदिक् ऊर्ध्वादिक् मानी गई है। उत्तरदिशा सौम्या है, दक्षिणदिशा आग्नेयी है, याम्या है। रुद्राग्नि ही यमप्राण का प्रवर्तक है, अतएव 'दक्षिणापमो-ऽवसान पृथिव्या' के अनुसार विशुद्ध रुद्राग्नि को 'यम' (अन्तक) मान लिया जाता है। इसीलिए आग्नेयी दक्षिणदिक् याम्यादिक् कहलाती है। इस दिक् से रुद्राग्नि निरन्तर उत्तर की ओर गमन करता है, एवमेव उत्तरदिक् से सोम निरन्तर दक्षिण की ओर आया करता है*। दोनों के समन्वय से अग्नीषोमात्मक सम्वत्सर यज्ञ का प्रादुर्भाव होता है। यही यज्ञ विश्वसृष्टि के शिवभाव की मूलप्रतिष्ठा बनता है।

उक्त यज्ञस्थिति से प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, रुद्राग्नि को शिवरूप प्रदान करने वाला शिवशक्ति-लक्षण सोम उत्तर में प्रतिष्ठित होता हुआ दक्षिणस्थ अग्नि की अपेक्षा अपना ऊर्ध्वस्थान रखता है। शक्ति (सोम-स्त्री) का आसन ऊँचा (उत्तर) है, शिव (अग्नि-पुरुष) का आसन नीचा (दक्षिण) है। शिव अधस्तल में स्थित हैं, शक्ति इन पर खड़ी हुई है। इसी प्राकृतिक शिव-शक्ति-चरित्र की अभिव्यक्ति के लिए वैज्ञानिकों ने उपासनाकाण्ड में शिवप्रतिमा को धरातल पर रखते हुए वक्षस्थलपर शक्तिप्रतिमा खड़ी की है।

अग्नि-सोम, दोनों में आधार अग्नि है। अतएव सोमापेक्षया प्रधानता अग्नि की ही मानी गई है। अतएव 'अर्द्ध नारीश्वर' से 'अग्नि' का ही ग्रहण किया जाता है। अग्नि का अग्नात्मभाव भी इसी प्रधानता का सूचक है। इसप्रकार यद्यपि अर्द्ध नारीश्वर शब्द से अग्नि का ही ग्रहण करना न्यायसङ्गत है। तथापि व्यव-हार में शिवशक्तिसमन्वितरूप को 'सोमः' ही कहा जायगा। यही कारण है कि, अग्नि प्राणप्रधान बनता हुआ नीरूप है, अतएव स्वस्वरूप से अव्यवहार्य्य है। उधर सोम रयिप्रधान बनता हुआ भूतमय है, अतएव व्यवहार्य्य है। प्राणलक्षण अग्नि अमूर्त्त बनता हुआ अव्यक्त है, मूर्त्तलक्षण सोम मूर्त्त बनता हुआ व्यक्त है। जैसाकि 'मूर्त्तिरेव रयिः' (सोम) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्ट है। व्यक्त सोम ही अव्यक्त अग्नि के पिण्ड भाव का कारण बनता हुआ अग्नि के व्यक्तीभाव का कारण बन रहा है व्यक्त सोमसमन्वय से ही अव्यक्त अग्नि पिण्डरूप में परिणत हुआ है। तत्पत व्यक्त सोम ही अव्यक्त अग्नि का लिङ्ग (परिचायक) है। अतएव तद्रूप से ही शिवोपासना प्रक्रान्त है।

जिस शिवशक्ति को अबतक हमने 'सोम' नाम से व्यवहृत किया है, वस्तुतः उस का नाम है 'उमा'। केनोपनिषद् में जिस हैमवती 'उमा' के द्वारा इन्द्र को ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है, वह यही शिवशक्ति है। उकार प्राण का वाचक है, प्राण ही शिव है। 'मा' माप्सम्पत् का सूचक है। उकार की (प्राणात्मक शिव की) मा (माप्सलक्ष्मी-स्वरूपाधिष्ठात्री-शक्ति) ही 'उमा' है। ऐसी उमा से युक्त शिव ही-'उमयासहितः शिवः' इस निर्वचन से 'सोम' नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार केवल 'सोम' शब्द 'शिव-शक्ति' दोनों का संग्राहक बन रहा है।

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रकाशित 'शतपथ विज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

शिव भूतपति हैं, परन्तु इन का यह पतित्व जगन्माता के * पाणिग्रहण पर ही अवलम्बित है। जिस दिन पतिदेव पत्नी का सहयोग खो बैठते हैं, प्रचण्डरूप में परिणत हो जाते हैं। विशुद्ध अग्नि ही पत्नीविश्चित रुद्र है। शक्तियुत अग्नि जहाँ शान्त था, भीषणत्व से वर्जित था, वहाँ शक्तिशून्य अग्नि भीषणत्व से युक्त बनते हुए 'भैरव' हैं। ये ही जगन्माता के पुत्र हैं। शक्तिविरहित शिवभाव का उपमर्द्दन ही इन का मुख्य कर्म्म है। शक्ति (इकार) शून्य शिव–'शव' है। यही (श्वान ही) भैरव का वाहन है। अस्तु इस तान्त्रिक रहस्य का स्पष्टीकरण अप्राकृत है। प्रकृत में अग्नि–सोम के इस चङ्क्रमण से यही कहना है कि, अग्नी–षोम के समन्वितरूप का ही नाम जगत् है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ जब अग्नीषोमात्मक है, अग्नित्रयी का ही नाम जब वेदत्रयी है, सोमत्रयी ही जब अथर्ववेद है, तो प्रत्येक पदार्थ को हम अवश्य ही चतुर्वेदमूर्ति कह सकते हैं। अग्नी–षोम से यदि कोई अव्याप्त नहीं है, तो तद्रूपा वेदचतुष्टयी से भी—'नान्यातमिह किञ्चन'। अग्निषोम की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

(१)—अग्निरावर्तते रौद्री घोरा या तैजसी तनूः।
सोमशक्त्याऽमृतमय सोमशक्तिकरी तनूः ॥१॥
अमृतं यत् प्रतिष्ठा सा तेजोविद्याकला स्वयम्।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एष 'रस–तेजसी' ॥२॥

(२)—द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्य्यात्मा चानलात्मिका।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा चानलात्मिका ॥३॥
वैद्युदादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः।
तेजो–रस–विभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥४॥

(३)—अग्नेरमृतनिष्पत्ति+रमृतेनाग्निरेधते।
अतएव हविः क्लृप्त–"अग्नीषोमात्मकं जगत्" ॥५॥
ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम–अधःशक्तिमयोऽनलः।
ताभ्यां सम्पुटितं तस्माच्छश्वद् विश्वमिदं जगत् ॥६॥

(४)—अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा (शक्तिः) यावत् सौम्यं परामृतम्।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजत्यधः ॥७॥

---

*चिताभस्मालेपो, गरलमशनं, दिक्पटधरः, जटाधारी, कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः। कपाली, भूतेशो, भजति जगदीशैकपदवीं भगवानीत्यत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्।

+ अमृतेन–पारमेष्ठ्यसोमेन।

अतएव हि कालाग्निरधस्तच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पावनं भवेत् ॥८॥
आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः "शिवशक्तिपदास्पदः" ॥९॥

(५)—तादस्य शिव-शक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥१०॥

—बृहज्जाबालोपनिषत् २ ब्राह्मण

१४–वेदशाखाविभागोपपत्ति —

"अग्नीषोमसमष्टिरूप पदार्थों में समष्टि-व्यष्टिरूप से अग्नित्रयीलक्षणा वेदत्रयी, सोमत्रयीलक्षण अथर्व, शाखायुक्त ये चारों वेद प्रतिष्ठित हैं। साथ ही ज्ञान-क्रिया अर्थरूप ब्राह्मणवेद भी प्रतिष्ठित हैं" यह पूर्व परिच्छेद से गतार्थ है। वेदचतुष्टयी के अग्निरूप ऋक्, वायुरूप यजु, आदित्यरूप साम, सोमरूप अथर्व, चारों मूलपर्व क्रमशः २१-१ १-१ -९ भागों में परिणत रहते हैं। पहिले वेदत्रयी के पर्वों की ही उपपत्ति का समन्वय कीजिए।

पूर्वप्रतिपादित आदितिस्वरूपपरिचय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, भूकेन्द्र से आरम्भ कर १७वें अहर्गण पर्य्यन्त अग्नि का साम्राज्य है। सप्तदशस्तोमस्थ इस आहवनीय प्राणाग्नि में ११ वें अहर्गण पर्य्यन्त प्रतिष्ठित सोम की आहुति होती है। इस सोम की आहुति से यह अग्निपिण्ड २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त हो जाता है। इसप्रकार केन्द्र से रथन्तरसाम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले अग्नि के स्तोमसम्बन्ध से २१ पर्व हो जाते हैं। अग्नि से ही ऋग्वेद का विकास हुआ है, दूसरे शब्दों में अग्नि ही ऋग्वेद है। यही–'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्' है। प्रत्येक पदार्थ के महिमामण्डल में २१ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला ऋगग्नि २१ पर्वों में विभक्त है। यही ऋग्वेद की २१ शाखा हैं। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए २१ पर्वात्मिका ऋक्संहिता की प्रतिकृतिरूपा शब्दात्मिका ऋक्संहिता की २१ शाखाओं का आविर्भाव हुआ है।

वस्तुपिण्ड को केन्द्र बना कर चारों ओर एक सहस्र परिणाहमण्डलों का वितान होता है, जैसाकि पूर्व प्रकरण की 'सामवेदनिरुक्ति' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। कूटस्थ व्यास के आधार पर प्रतिष्ठित एकसहस्र भूव्यासों के आधार पर प्रत्येक वस्तु में एकसहस्र मण्डल हैं। मण्डल ही साम है, साम ही आदित्य है। अग्नि की विरलावस्था (प्राणावस्था) ही आदित्य है। इसी से सामवेद का विकास हुआ है। दूसरे शब्दों में आदित्य ही सामवेद है। यही सहस्रवर्त्मा सामवेद' है। प्रत्येक पदार्थ के महिमामण्डल में मुक्त सामादित्य के १ ० पर्व ही एकसहस्र सामशाखा हैं। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए सहस्रपर्वात्मिका सामसंहिता की प्रतिकृतिरूपा शब्दात्मिका सामसंहिता की एकसहस्र शाखाओं का आविर्भाव हुआ है।

अग्नि की सत्तावस्थारूप स्थिति-(आकाश)-गर्भित गति-(वायु)-तत्त्व ही (अनेकवेजत् तत्त्व ही) यजुर्वेद है। मण्डल ऋक् है, अर्चि साम है, अग्नि पुरुष है, यही पुरुषाग्नि यजु है। (देखिए-शत०

१०।५।२।१,२,)। तात्पर्य्य इस का यही है कि, ऋक्–साम दोनों आयतन हैं, छन्द हैं, वस्तुतत्त्वलक्षण अग्नि को अपनी सीमा में प्रतिष्ठित रखने वाले लेखात्मक पुर हैं। क्योंकि अग्नि इन पुरों से सीमित रहता है, अतएव इसे 'पुरुष' कहा जाता है। ऋक्सामपुर में प्रतिष्ठित स्थितिगर्भित गतिलक्षण वस्तुभूत अग्निरस ही पुरुषविध यजु है। ऋक्–सामावच्छिन्न यजु–रस की ही हमें उपलब्धि होती है, यही रसोपलब्धि (रसात्मक यजुर्वेदोपलब्धि) ही आत्मतृप्ति का कारण बनती है। इसी तृप्तिभाव की दृष्टि से रसात्मक इस यजुः को 'वम' (अन्न) कह दिया जाता है।

कहने को ऋक् (मूर्ति), साम (मण्डल) ही उपलब्धि की प्रतिष्ठा हैं, परन्तु वस्तुत उपलब्धि होती है—'यजु' की। आत्मानन्द का उद्रेक यजु की उपलब्धि पर ही निर्भर है। यजुरुपलब्धि से तृप्ति होती है, तृप्ति ही शान्तानन्दलक्षण आत्मानन्द है, आत्मानन्द ही इस यजु का वास्तविक विज्ञान (स्वरूपपरिचय) है। क्याकि ऋक्–साम–यजु–तीनों में यजु ही आत्मतृप्ति का कारण बनता है, अतएव इसे 'देवानामद्धाविद्या' कहा गया है। ऋक्–साम अद्धा (प्रकट) होते हुए भी अनद्धा हैं, यजु–अनद्धा (अनिरुक्त–उपांशु) रहता हुआ भी अद्धा (निरुक्त) है। भगवान याज्ञवल्क्य ने कहा है कि, जो विद्वान् यजुर्विद्या के तृप्तिलक्षण इस अद्धारूप को जानता है, वह सामान्य मनुष्य नहीं है, अपितु वह देवता है।

स्थिति आकाश है, यही यू है। गति वायु है, यही यत् है। यत्–और जू की समष्टि ही 'यज्जू' है। यज्जू ही परोक्षभाषा में 'यजु' है। प्रियव्रत रौहिणायन ने आकाशगर्भित वायुरूप यजु को ही आत्मानन्द की मुख्य विकासभूमि माना है। लोकव्यवहार में भी वायु को आनन्दविकास का हेतु माना गया है। निरावरणभावात्मक खेर्य्यमारुतविर्क प्रदेश ही उन्मुक्त वायव्य प्रदेश (खुली जगह, खुली हवा) माना गया है। और ऐसा वायव्य उन्मुक्त प्रदेश सावरण वायव्य प्रदेश क समतुलन में स्वास्थ्यकर–आनन्दप्रद–तुष्टिप्रद माना गया है। खुली हवा के संस्पर्श मात्र से मानव एक प्रकार की तुष्टि–तृप्ति का अनुभव करने लगता है। स्थूल भूतवायु क आधार से हमें प्राणात्मक तृप्तिकर यजुर्वायु उपलब्ध होता है। इसप्रकार तीनों वेदों में रसात्मक, गतिभावापन्न, वायुलक्षण यजुः ही मुख्य वस्तुतत्त्व बन रहा है।

इसी मुख्यभाव के कारण यजु का 'ज्येष्ठब्रह्म'–'अपूर्वमपरब्रह्म' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। यजु के इसी तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित श्रौतवचन हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—"अय वाव यजु, योऽय पवते। एष हि यन् (गच्छन्) एवेद सर्व जनयति, एतं यन्तमिदमनु प्रजायते, तस्माद्वायुरेव यजु। अयमेवाकाशो जू–यदिदमन्तरिक्षम्। एत ह्याकाशमनु जवते। तदेतत्–यजु–वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च। यच्च, जूश्च। तस्माद्यजु। एष एव यत्, एष जू इति। तदेतद्यजु–ऋक्–सामयोः प्रतिष्ठित, ऋक्सामे वहत" (शत० १०।३।५।१२,।)–(अधि–वतम्)।

२—"अथाध्यात्मम्–'प्राण एव यजु । प्राणो हि यन्नेवेद सर्वं जनयति, प्राण यन्तमनु प्रजायते, तस्मात् प्राण एव यजु । अयमेवाकाशो जू –योऽयमन्त रात्मन्नाकाश । एत ह्याकाशमनु जवते । तदेतयजु –प्राणश्च, आकाशश्च । यच, जूश्च । तस्मायजु । प्राण एव यत्, प्राणो ह्येति" (शत०१०।३।५।४,५,)।

३—"अन्नमेव यजु । अन्नेन हि जायते, अन्नेन जवते । तदेतयजुरन्ने प्रतिष्ठित, अन्न वहति । तस्मात्समानऽएव–प्राणेऽन्यदन्यदन्न धीयते"

(शत० १०।३।५।६)।

४—"तदेतज्ज्येष्ठ ब्रह्म। नह्येतस्मात् किंचन ज्यायोऽस्ति । ज्येष्ठो ह वै श्रेष्ठ स्वाना भवति, य एव वेद । तदेतत्–'अब्रह्मापूर्वमपरवत्' । स यो हैतदेव ब्रह्मापूर्वम–परवद्वेद, न हास्मात् कश्चन श्रेयान्त्समानेषु भवति । श्रेयांस–श्रेयासो हैवास्मादपरपुरुषा जायन्ते" (शत० १०।३।५।१०,११,)।

५—"तस्य वा एतस्य यजुष 'रस' एवोपनिषत् । तस्माद्यावन्मात्रेण यजुषा अध्वर्यु र्ग्रह गृह्णाति, स उभे स्तुतशस्त्रे–अनुविभवति, उभे स्तुतशस्त्रे (ऋक्-सामे) अनुव्यश्नुते । तस्माद्यावन्मात्र–इवान्नस्य रस , सर्वमन्नमवति, सर्वमन्न-मनुव्येति" (शत० १०।३।५।१२।)।

६—"तृप्तिरेवास्य गति । तस्माद्यदान्नस्य तृप्यति, अथ स गत–इव मन्यते । आनन्द एवास्य विज्ञानमात्मा । आनन्दात्मानो हैव सर्वे देवाः । सा हैषैव देवानामद्धाविद्या' । स ह स न मनुष्यः, य एवंवित् । देवानां हैव स एकः" (शत० १०।३।५।१३।)।

७—"एतद्ध स्म वै तद्विद्वान् प्रियव्रतो रौहिणायन आह वायु वान्तं–'आनन्दस्त आत्मा, इतो वा वाहि, इतो वेति । स ह स्म तथैव वाति । एतां ह वै तृप्ति, एतां गतिं, एतमानन्द, एतमात्मानमभिसम्भवति, य एवंवेद" ।

(शत० १०।५।३।१४।)।

८—"तदेतयजु –उपांशवनिरुक्तम् । प्राणो वै यजु , उपांश्वायतनो वै प्राण । तस्य ह यो निरुक्तमाविर्भावं वेद, आविर्भवति कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन । तिरऽउ हैवाचिर्द गच्छति, स ह यजुरेव भवति, यजुषैनमाचक्षते" ।

(शत० १०।३।५।१५,१६,)। इति ।

उक्त यजुःस्वरूप परिचय से निष्कर्ष यह निकलता है कि, अथर्वगर्भित वेदत्रयीमूर्ति पार्थिव सम्वत्सर-प्रजापति का प्रजापतित्व वायुविध यजु पुरुष पर ही अवलम्बित है। प्रजाजनकत्व ही प्रजापति शब्द का अवच्छेदक है, एवं-'एष हि यन्नेवदं सर्वं जनयति' इत्यादि श्रुति के अनुसार यजु ही जनकभाव से युक्त है। अन सदेवत्-लक्षण, वायुविध अग्निमूर्ति-ऋक्-सामावच्छिन्न सम्वत्सर ही यजु है, यही सम्वत्सर है, यही प्रजापति है। इस सम्वत्सराग्नि (वायु) रूप यजुः के ही १०१ पर्व माने गए हैं। यही व्यवस्था सौर सम्वत्सर में घटित है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, पार्थिव सम्वत्सर में अग्नि की प्रधानता है, एवं सौर सम्वत्सर में आदित्य की प्रधानता है। आदित्यात्मक दिव्य सम्वत्सर रश्मिभाव से एकशतविध है, अग्न्यात्मक पार्थिव सम्वत्सर चितिभाव से एकशतविध है। ५० प्राणभृत-इष्टकाचिति, ५० यजुष्मती इष्टकाचिति, सादन-सूददोहन, दोनों मिलकर १ चिति, इसप्रकार पार्थिव चित्याग्नि के १०१ पर्व हो जाते हैं। इसप्रकार सप्तपुरुष-पुरुषात्मक, अतएव 'सप्तविध' नाम से प्रसिद्ध प्रजापति के १०१ पर्व हो जाते हैं। इन्हीं संख्याओं के प्रक्रम से उत्तरावेदिलक्षणा महापृथिवी का वितान हुआ है, जैसाकि चयनब्राह्मणविज्ञान में विस्तार से निरूपित है। प्रकृत में केवल यही दिखलाना है कि, यज्ञाग्नि के १०१ पर्व होते हैं। निम्नलिखित वचन इन्हीं पर्वों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—"सम्वत्सरो वै प्रजापति। स एकशतमात्मानं व्यधत्त। स एकशतधात्मानं विधाय अग्निं सर्वान् कामानामात्मानमभि समदिनुत, स सर्वे कामा अभवत्। तस्मान्न कश्चन बहिर्धा कामोऽभवत्। तस्मादाहु —'सम्वत्सरः सर्वे कामा'"।
(शत० १०।२।४।१।)।

२—"स य स सम्वत्सर', असौ स आदित्य। स एष एकशतविध। तस्य रश्मय शत विधाः। एष एवैकशततम, य एष तपति, अस्मिन्त्सर्वस्मिन् प्रतिष्ठितः"।
(शत० १०।२।४।३-सौरसम्वत्सर)।

३—"सप्तविधो वाऽअग्रे प्रजापतिरसृज्यत। स एतमेकशतधात्मानं विहितमपश्यत्। प्राणभृत्सु पञ्चाशदिष्टका, पञ्चाशद्यजूंषि, तच्छतम्। सादनञ्च, सूददोहाश्चैकशततमे, तत् समानम्। सादयित्वा हि सूददोहसाधिवदति। स एतेनैकशतविधेनात्मनेमां चितिमजयत्, इमां व्यष्टिं व्याश्नुत। स य एवैकशतविध', स सप्तविध'। य सप्तविध, स एकशतविध'। इति नु विधानां (मीमांसा)"।
(शत० १०।२।४।८,६,)।

४—"सम्वत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविध। तस्याहोरात्राण्यर्धमासा, मासा, ऋतव। षष्टिर्मास्यस्याहोरात्राणि। मासि वै सम्वत्सरस्याहोरात्राण्याप्यन्ते। चतुर्विंशति-

रर्धमासा , त्रयोदशमासा , त्रय ऋतवः, ता' शतविधा । सम्वत्सर एवैकशत-तमी विधा" * (शत० १०।२।६।१। ')।

५—"सऽउ वा इष्टकैकशतविध । या पञ्चाशत् प्रथमा इष्टका , याश्चोत्तमा , ता शतविधा । अथ या एतदन्तरेणेष्टका उपधीयन्ते, सैवैकशततमी विधा" ।

(शत० १ ।२।६।११।)।

६—"स उ एव यजुस्तेजा , 'यजुरकशतविध,' । यानि पञ्चाशत् प्रथमानि यजूंषि, यानि चोत्तमानि, ता शत विधा । अथ यान्येतदन्तरेण यजूंषि क्रियन्ते, सैवैक-शततमी विधा । एवमु सप्तविध एकशतविधो भवति" ।

(शत० १०।२।६।१२।।

७—"एव वा सर्वे यज्ञा एकशतविधाः, आ—अग्निहोत्रात्—ऋग्भिः , यजुर्भिः, साम-भिः । स यः शतायुतायां यज्ञम , य एकशतविधे, यः सप्तविधे, यज्ञेन । यज्ञेन हैव तमेवंविदाप्नोति" (शत० १०।२।६।१३।)।

इसप्रकार हमारा यजुःपुरुष १ १ भागों में विभक्त हो रहा है, और यही 'एकशतमध्वर्युशाखाः' है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए १०१ पर्वात्मिका यजुःसंहिता की प्रतिकृतिरूपा शब्दात्मिका यजुःसंहिता की १०१ शाखाओं का आविर्भाव हुआ है।

अन्त में चौथा अथर्ववेद हमारे सामने आता है। अथर्ववेद सोमात्मक है। एवं यह सोमतत्त्व दशभागों में विभक्त है। दशधा विभक्त सोम घनभाव से नवधारूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि आगे के 'अग्रघन' परिच्छेद में स्पष्ट होने वाला है। सोम ही अथर्व है, यही 'नवधाऽऽथर्वणो वेदः' है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए ९ पर्वात्मिका अथर्वसंहिता की प्रतिकृतिरूप शब्दात्मिका अथर्वसंहिता की ९ शाखाओं का आविर्भाव हुआ है। इसप्रकार शब्दात्मक वेद की शाखाओं के मूल तत्त्वात्मक वेद के शाखाविभाग ही बन रहे हैं।

---

* १—अहोरात्राणि—६०
२—अर्द्धमासा—२४
३—मासा——१३
४—ऋतव——३
५—सम्वत्सर——१

१०१

१५–वेदचतुष्टयी के उपक्रम मन्त्र, और तात्त्विक वेदस्वरूप—

अग्नीषोमात्मिका तात्त्विक–वेदचतुष्टयी के क्योंकि ११३१ विभाग हैं, अतएव तत्प्रतिपादिका शब्द–वेदचतुष्टयी के भी इतनें ही शाखाविभाग वेदद्रष्टा महर्षियों की ओर से व्यवस्थित हुए हैं। तात्त्विकवेद में, एवं तत्प्रतिपादिक शब्दवेद में कैसी समानता है, यह शब्दवेद के उपक्रमों से भलीभांति सिद्ध हो जाता है। अग्नित्रयी (अग्नि–वायु–आदित्य) ही तात्त्विक–वेदत्रयी (ऋक्–यजु–साम) है। तीनों अग्निवेद क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, लोकों में प्रतिष्ठित हैं। ऋङ्मूर्त्ति पार्थिव अग्नि अस्मदादि पार्थिव प्राणियों के लिए समीप है, सामने रक्खा है। अतएव इसे हम 'पुरोधा' कह सकते हैं। अपिच यही पार्थिव अग्नि गायत्रीरूप में परिणत होकर तृतीय द्यु लोकस्थ सोम का अपहरण करता है। साथ ही गायत्रीरूपात्मक इस पार्थिव अग्निरोऽग्नि के सामातिमान से दिव्य और सावित्राग्नि का पार्थिव प्रजा के शारीर–पार्थिव अग्नि में मथिकृष्यन होता है, अतएव इसे 'होता' कहा जा सकता है। द्यु लोकस्थ दिव्याग्नि का आह्वान करने के कारण यह पार्थिव अग्नि होता है। पार्थिव ऋगग्नि पार्थिवप्रजा के पुरः (सम्मुख–समीप) हित (प्रतिष्ठित) है। शब्दात्मिका ऋग्वेद–संहिता इसी पार्थिव पुरोहित ऋगग्नि की प्रतिकृति है, अतएव इसका उपक्रम निम्नलिखित मन्त्र से हुआ है—

ऋग्वेदोपक्रम—"अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्"
(ऋक्सं० १।१।१)।

अग्नि की दूसरी अवस्था वायु है, यही वायव्याग्नि यजुःपुरुषाग्नि है। ऋगग्नि जहाँ अर्थशक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ पुरोहित है, रत्नधातम है, वहाँ यजुरग्नि अपने वायव्यधर्म से क्रियाशक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ व्रतपति बन रहा है। किसी भी कर्म्म (क्रिया) में अनन्यभाव से प्रतिष्ठित रहना 'व्रत' है। इस व्रत का अध्यक्ष एकमात्र प्राणवायुप्रधान शारीर यजुरग्नि ही है। शब्दात्मिका यजुर्वेदसंहिता इसी आन्तरीक्ष्य व्रतपति यजुरग्नि की प्रतिकृति है, अतएव इसका उपक्रम निम्नलिखित मन्त्र से हुआ है—

यजुर्वेदोपक्रमः—"अग्ने ! व्रतपते ! व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" (यजु सं० १।५)।

उपलब्ध होने वाली माध्यन्दिनीया यजुर्वेदसंहिता का उपक्रम यद्यपि 'इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थ देव०' (यजु सं १।१) इस मन्त्र से हुआ है। तथापि एक विशेष कारण से इसे उपक्रम न मानते हुए 'अग्ने व्रतपते०' इत्यादि पञ्चममन्त्र को ही हम इस संहिता का उपक्रम मन्त्र मानते हैं। 'इषे त्वा०' से आरम्भ कर 'ऊर्जे वहन्तीः०' (२।३४) इस मन्त्र पर्य्यन्त दो अध्यायों में दर्शपूर्णमासेष्टि का निरूपण हुआ है। दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए 'सान्नाय्य' (दधि) द्रव्य सम्पन्न किया जाता है। इष्टिदिन से प्रथम दिन सान्नाय्य सम्पादन के लिए गोदोहन कर्म्म होता है। "इषे त्वोर्जे त्वा०" (१।१)–"वसोः पवित्रमसि' (१।२)– 'वसो पवित्रमसि" (१।३) इन तीन मन्त्रों से गोदोहन कर दुग्ध से सान्नाय्यकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। जब तीनों मन्त्रों के विनियोग से पहिले दिन सान्नाय्यद्रव्य सम्पन्न हो जाता है, तो दूसरे दिन इष्टिकर्म्म के लिए 'अग्ने व्रतपते०' (१।५) इत्यादि मन्त्र बोलते हुए अग्नि (यजुरग्नि) की साक्षी में 'व्रतग्रहण' कर्म्म

किया जाता है। यही कर्मारम्भोपक्रम-मन्त्र है। इस दृष्टि से यजुःसंहिता का उपक्रम 'अग्ने व्रतपते०' इत्यादि मन्त्र ही बनता है। ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'शतपथब्राह्मण' इसी यजुःसंहिता का व्याख्याग्रन्थ है। क्योंकि संहिता का वैज्ञानिक उपक्रम 'अग्ने व्रतपते०' यह मन्त्र है। अतएव परमवैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के इस ब्राह्मण का उपक्रम भी-'व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाहवनीयञ्च गार्हपत्यञ्च प्राङ् तिष्ठन्०' (शत० १।१।१।१।) इत्यादि रूप से ही हुआ है। शतपथ ने 'अग्ने व्रतपते० का उपक्रम मानते हुए इसी का आरम्भ-मन्त्र माना है। इन्हीं सब प्रत्यक्ष निदर्शनों से हमने 'अग्ने व्रतपते०' को ही यजुःसंहिता का उपक्रम मन्त्र माना है।

अग्नि की तृतीयावस्था आदित्य है, यही आदित्य सामवेद है। आदित्यात्मक सामवेद ज्ञानशक्तिप्रधान बनता हुआ भोक्ता है। अपनी इसी 'आददान' वृत्ति से सामात्मक दिव्य प्राणाग्नि 'आदित्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अर्थ-क्रिया-ज्ञान' तीनों में अर्थ भोग्य (अन्न) बनता है, क्रिया भोगसाधन बनती है, ज्ञान भोक्ता बनता है। इसीलिए ज्ञानप्रधान इस आदित्यात्मक सामाग्नि को 'भोक्ता' कह सकते हैं। यह सामाग्नि तृतीय-लोक में (द्युलोक में) उच्चरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से अन्नादान के लिए पृथिवी में आता है। पार्थिव अग्निवत् यह हमारे पुरःस्थित नहीं है, अपितु विदूर है। जो दूर होता है, उसे ही बुलाया जाता है। अतएव इस सामाग्नि के लिए-'अग्न आयाहि वीतये' हे अग्ने! आप अन्नभोगार्थ (यहाँ-पृथिवी पर) पधारिए!, यह कहना अन्वर्थ बनता है। शब्दात्मिका सामसंहिता इसी तत्त्ववेद की प्रतिकृति है, अतएव निम्नलिखित मन्त्र से ही इस संहिता का उपक्रम हुआ है-

सामवेदोपक्रम-"अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि"।
(सामसं० १।१)।

अग्नि, वायु, आदित्य ही ऋक्-यजुः-साम हैं, तीनों एक ही अग्नि के तीन विवर्त हैं। वेदत्रयी के अग्निप्रधान तीनों उपक्रममन्त्र इसी अग्नित्रयी-रूपा वेदत्रयी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

*अग्नीषोमात्मक अथर्वतत्त्व 'ब्रह्मवेद' नामक चतुर्थ वेद है। "सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्" इस तैत्तिरीय सिद्धान्त के अनुसार प्रथम ब्रह्म ही अपने ब्रह्मधर्म से ब्रह्मादशरूपा वेदत्रयी की प्रतिष्ठा बन रहा है। 'यत्परस्तुषेयां, सैषा सहस्र' चित्त्वैरयेयाम्' इत्यादि श्रुति के अनुसार अप्तत्त्वलक्षण अथर्वब्रह्म के आधार पर ही त्रयीवेदवाक्सी का वितान हुआ है। 'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः' (गोपथ) इत्यादि अथर्वब्राह्मण के अनुसार भृग्वङ्गिरोमय ब्रह्ममूर्ति अथर्वब्रह्म के गर्भ में ही त्रयीवेद प्रतिष्ठित है। इन्हीं सब कारणों से इसे सर्ववेदमूर्त्ति कहा जा सकता है। इसी आधार पर अथर्वमन्त्र सर्वसाधक माने गए हैं।+

---

* "आप इत्येवं प्रथमभूतस्य तत्रैकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते"। (महा० शा० मो० ३४२ अ० ४।)।

+ न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः।
अथर्वमन्त्रसम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति ॥ (प० २।४।)।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, तीन लोक हैं। तीनों के क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, तीन अधिष्ठाता देवता हैं। तीनों अधिष्ठाता देवता क्रमशः ऋक्-यजु-साममय हैं। पार्थिव सम्वत्सरमण्डल इसप्रकार तीन पर्वों में विभक्त है। ये तीनों पर्व (त्रिपर्वात्मक सम्वत्सरप्रजापति) सप्त-ऋषि, सप्त-ग्रह, सप्त-मरुद्गण, सप्त-देवलोक, इत्यादि सप्त-विभूतियों से युक्त रहते हुए-'त्रिषप्ता' बन रहे हैं। अथवा A"आरोग, भ्राज, पटर, पतङ्ग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान्, विभास" ये सात दिशाएँ, "B मित्र, वरुण, धाता, अर्य्यमा, अंशु, भग, इन्द्र, विवस्वान्" ये सात आदित्य, सप्त होता, इस दृष्टि से भी ये सम्वत्सर पर्व 'त्रिषप्ताः' बन रहे हैं। अथवा क्षीरोदादि Cसप्तसमुद्र, भूरादि सप्तलोक, सप्तदिशा भेद से भी सम्वत्सर 'त्रिषप्ताः' बन रहा है। अथवा Dद्वादशमास, पाँच ऋतु, तीन लोक, आदित्य, भेद से सम्वत्सर के २१ पर्व हैं, एवं इस दृष्टि से भी सम्वत्सर 'त्रिषप्ता' बन रहा है। आध्यात्मिक दृष्टि से शरीरारम्भक पञ्च महाभूत, प्राणादि पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रियवर्ग, पञ्चकर्मेन्द्रियवर्ग, सर्वेन्द्रिय मनोरूप से भी सम्वत्सर 'त्रिषप्ता' बन रहा है।

उक्त त्रिषप्त विवर्तात्मक, वेदत्रयीरूप सम्वत्सरप्रजापति वाङ्मय है। त्रैलोक्य सृष्टि का निर्माण, एवं धारण इसी वाग्विवर्त पर अवलम्बित है। सम्पूर्णरूप इसी प्रजापति पर प्रतिष्ठित हैं। यह सर्वाधिष्ठाता वाङ्मूर्ति प्रजापति 'वाचस्पति' पर प्रतिष्ठित है, जिस वाचस्पति को हम 'अथर्वब्रह्म' कहेंगे। आम्भृणीवाक् का अधिपति यही आपोमय अथर्वब्रह्म है। यही अप्तत्व वेदत्रयीमूर्ति सम्वत्सरप्रजापति में बलाधान करता है। इसी की आहुति से ये अन्नादप्राण बलवान् बनते हैं, यही इनका शरीरनिर्माता है। शब्दात्मक अथर्वसंहिता वाचस्पति नामक, देवबलप्रवर्त्तक, शरीरभावसम्पादक, त्रिसप्तभावानुयोगिक, इसी अथर्वब्रह्म की प्रतिकृति है। इसी अथर्वरहस्य को सूचित करने के लिए इस संहिता का उपक्रम निम्नलिखित मन्त्र से हुआ है—

अथर्ववेदोपक्रम—"ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।"।

(अथर्व सं० १।१)।

A—"आरोगो, भ्राजः, पटरः, पतङ्गः, स्वर्णरो, ज्योतिषीमान्, विभासः"।
(तै० आ० १।७।१)

B—"सप्तदिशो नाना सूर्य्याः, सप्त होतारः, ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त"।
(ऋक् सं० ९।११४।३)।

C—"यः सप्त सिन्धूँरदधात् पृथिव्याम्। यः सप्तलोकानकृणोद्, दिशश्च"।
(तै० आ० १।३१।८)।

D—"द्वादश मासाः, पञ्चर्त्तवः, त्रय इमे लोकाः, असावादित्य एकविंशः"।
(तै० सं० ७।३।१०।५)

१९–विषयसन्दर्भसमन्वय—

प्रकरणारम्भ से अब तक वेदशाखाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उस के आधार पर शब्दवेद, एवं तत्त्ववेद का समतुलन करते हुए हमें निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है—

१—आधिदैविक (प्राकृतिक) अग्नित्रयी-विवर्त्त तात्त्विक वेदत्रयी है, एवं सोमद्वया-विवर्त्त अथर्ववेद है। वेदत्रयी अग्निमय बनती हुई अमात्रात्मिका है, अथर्व सोममय बनता हुआ अमात्मक है। अमात्रात्मिका अथर्वाहुति से ही त्रयी वेद का विकास हुआ है।

२—घनाग्निलक्षण अग्निमय ऋक्तत्त्व की सोमाहुति के प्रभाव से २१ स्तोमपर्वों में व्याप्ति है, ये ही तात्त्विक ऋक् की २१ शाखा हैं। तरलाग्निलक्षण वायुमय यजुः की चिति-सम्बन्ध से १०१ अवस्था हो जाती हैं, ये ही तात्त्विक यजु की १०१ शाखा हैं। विरलाग्निलक्षण आदित्यमय साम के मण्डल सम्बन्ध से १००० पर्व हैं ये ही तात्त्विक साम की १००० शाखा हैं। सोमात्मक अथर्व के प्राणसम्बन्ध से ९ पर्व हैं, ये ही तात्त्विक अथर्व की ९ शाखा हैं।

३—ऋक्[१]-यजु[२]-साम[३]-अथर्व[४], चारों क्रमशः क्रिया-ज्ञान-गर्भित अर्थप्रधान[१], अर्थ-ज्ञान गर्भित-क्रियाप्रधान[२], अर्थ-क्रिया-गर्भित ज्ञानप्रधान[३], ज्ञानक्रियार्थमय[४], बनते हुए ज्ञानक्रियार्थ तीनों भावों से युक्त हैं। ज्ञानभाव तात्त्विक उपनिषत् है, क्रियाभाव तात्त्विक आरण्यक है अर्थभाव तात्त्विक ब्राह्मण है। चारों तात्त्विक मूलवेदों के जितने पर्व हैं, तीनों तात्त्विक मूलवेदों के भी उतने ही पर्व हैं। सब पर्वों के संकलन से तत्त्वात्मक, मन्त्रब्राह्मणलक्षण, इस अपौरुषेय नित्य वेद के ४५२४ पर्व हो जाते हैं।

४—शब्दात्मक, पौरुषेय, मन्त्रब्राह्मणरूप अनित्यवेद निरूपक है। तत्त्वात्मक, अपौरुषेय, मन्त्र-ब्राह्मणरूप, आधिदैविक नित्यवेद निरूप्यवेद है। निरूप्यवेद के क्योंकि ४५२४ पर्व हैं, अतएव निरूपक शब्दवेद के भी इतने ही शाखाविभाग किए गए हैं। "गुरुशिष्याध्ययन-सम्प्रदायभेद से शब्दवेद के शाखाविभाग हो गए हैं" इस कथन का तात्त्विक वेदस्वरूप से परिचय रखनें वाले वैज्ञानिकों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है।

इसी सिंहावलोकन के सम्बन्ध में शब्दवेदभक्तों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, यदि शब्दवेद के शाखाविभागों का एकमात्र कारण सम्प्रदायभेद ही रहा होता, तो पदार्थस्वरूपनिरूपक 'सहस्र' शब्द की व्याख्या में प्रयुक्त श्रुति के—"किं तत् सहस्रमिति ?, इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्" इस कथन का कोई तात्पर्य न होता। *अमपूवत्व पर इन्द्र-विष्णु की स्पर्द्धा हुई, इस स्पर्द्धा से तीन साहस्रियाँ

*—१—उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनो ।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम् ॥

२—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥

उत्पन्न हुईं, वे ही तीन साहस्रियाँ क्रमशः लोक, वेद, वाक् (वषट्कार) नाम से व्यवहृत हुईं" यह श्रौत सिद्धान्त विस्पष्ट शब्दों में प्राणात्मिका, गौरूपा, एक सहस्ररश्मियों के आधार पर वेदसाहस्री का वितान बतलाता हुआ वेदशाखाविभाग की मौलिकता का ही समर्थन कर रहा है।

इसी सम्बन्ध में हम महाभारत के उस वचन की ओर भी अपने विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिसने ऋग्वेद के २१ सहस्र पर्व माने हैं। वचन का स्वरूप निम्नलिखित है—

> एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मा प्रचक्षते ।
> सहस्रशाखं यत् साम ये वै वेदविदो जना ॥ (म०शा०मो०३४२ अ०६७ श्लो०)

वचन का तात्पर्य यही है कि, आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु ऋङ्मय हैं, एवं इस ऋक् के २१ सहस्रपर्व हैं। ये ही विष्णु साममय हैं, एवं साम के एकसहस्र पर्व हैं। तात्त्विकवेद का परिज्ञाता इसका समाधान यह करेगा कि, विष्कम्भमयात्मिका ऋक् से चारों ओर सहस्र सहस्र प्राणों का वितान होता है, जैसाकि— सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। ऋगग्नि व्यासलक्षण है। इस ऋगग्नि के २१ उक्थपर्व हैं, प्रत्येक उक्थपर्व से एक एक सहस्र अर्कपर्वों का वितान हुआ है। इसप्रकार 'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्' का 'एकविंशतिसहस्रधा बाह्वृच्यम्' इस वाक्य पर भी पर्यवसान माना जा सकता है। परन्तु जो वेदभक्त शब्दात्मक वेद पर ही वेदसीमा समाप्त किए बैठे हैं वे न तो अपने 'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्' सिद्धान्त को ही सुरक्षित रख सकते, एवं न उनके कोश में 'एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मा प्रचक्षते' इस भारत वचन के समन्वय का ही कोई उपाय बच रहता *।

१७–शून्य, एवं पूर्णभाव—

अब यह सर्वात्मना सिद्ध हो चुका है कि, *शब्दात्मिका वेदशाखाओं का मूलकारण अग्नीषोमात्मक वेदतत्त्व* का शाखाविभाग ही है। अग्नि–सोमविकास तत्त्वात्मक वेदशाखाविभाग का कारण है, एवं निरूप्य वेदशाखा विभाग निरूपक शब्दवेदशाखाविभाग का कारण है। तत्त्वात्मक वेदशाखानुबन्धी जिस अग्नी–सोम विकास का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वह अभी अपूर्ण है। अथवा विभिन्न दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाला है। अतएव आवश्यक है कि, अग्नि–सोम विकास का तात्त्विक स्वरूप संक्षेप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाय, एवं इस लक्ष्यसिद्धि के लिए सर्वप्रथम 'शून्य–पूर्ण' भावों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाय।

"शून्यमन्यत्–स्थान,–पूर्णमन्यत्–स्थानम्" इस विज्ञान–सिद्धान्त के अनुसार अमृतमृत्युमय, रसबलात्मक, सत्यसत्यात्मक, अनिरुक्तनिरुक्तमूर्त्ति, क्रियाकर्मानुगत, सृष्टिसाक्षी प्रजापति का 'शून्य' एक पृथक्

---

* एकबार एक मान्य विद्वान् के सम्मुख हमने यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की थी। आपने इसका उत्तर दिया कि—'एकविंशतिसहितं साहस्रम्' इति विग्रहः करणीयः। 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' इति पूर्ववाक्यस्थ–'सहस्रवर्त्मा' इत्यनुवर्त्त्य 'एकविंशतिधा' इत्यत्र 'एकविंशतिं दधाति' इत्यर्थस्वीकारेण–'एकविंशत्यधिकसहस्रवर्त्मा' इत्येवार्थकरणेनैकवाक्यता'। उत्तर कहाँ तक तथ्यपूर्ण है ?, यह भार नीरक्षीरविवेकिया पर ही छोड़ा जाता है।

स्थान माना गया है, एवं पूर्ण एक पृथक् स्थान माना गया है। वैज्ञानिकों का कहना है कि, प्रजापति ने अपने शून्य-पूर्णभावों के समन्वय से ही प्रजासृष्टि की है। अतएव सृष्टि का प्रजात्मक प्रत्येक पदार्थ शून्य, पूर्ण, दोनों भावों से युक्त है।

प्रमाव्यय प्रजापति की ये शून्य-पूर्ण विभूतियाँ 'ऋत-सत्य' नामों से प्रसिद्ध हैं। 'ऋतं शून्यम्' है, 'सत्यं पूर्णम्' है। दोनों 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' (यजुःसंहिता) के अनुसार प्रजापति के तप से (मन प्राणवाङ्मय काम-तपः-श्रमसे) उत्पन्न हुए हैं। दूसरे शब्दों में पुरुषप्रजापति (अव्ययपुरुषपुरुषात्मक, अक्षरप्राणमूर्त्ति, स्वयम्भू प्रजापति) का ही आधा भाग सत्य बना है, एवं आधा-भाग ऋत बना है। शून्यात्मक ऋतभाव से, एवं पूर्णात्मक सत्यभाव से ही त्रैलोक्य, एवं तत्रस्थ प्रजाका विकास हुआ है। 'अहृदयमशरीरं ऋतम्'-'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' ही ऋत-सत्य के वैज्ञानिक लक्षण हैं, जैसाकि अन्यत्र गीताभूमिकादि में विस्तार से निरूपित है।

१८–अप्तत्त्व का पञ्चधा विकास—

शून्य-पूर्णात्मक ये ऋत-सत्यभाव ही आप के सुपरिचित अग्नि, और सोम (आप) हैं। अग्नि-सत्य है, यह अपने प्रभावभाव से पूर्ण है। अप्तत्त्व ऋत है, यह अपने अन्नभाव से शून्य है। शून्य-ऋत-अप्तत्त्व पूर्णता का प्रवर्त्तक है, पूर्ण-सत्य-अग्नितत्त्व शून्य का प्रवर्त्तक है। अप्तत्त्व ही अन्त्र में जाकर पिण्डभाव में परिणत होता हुआ सत्याग्नि बन जाता है, केन्द्रस्थ अग्नि ही विकास की चरमसीमा पर पहुँच कर ऋतापः बनजाता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आधार पर हम शून्य (आप) को पूर्ण (अग्नि) का, एवं पूर्ण को शून्य का प्रवर्त्तक मानते हैं। अतएव च-'यद्वै-न्यूनं, तत्पूर्णं, यत्पूर्णं तन्न्यूनम्' यह लोकसिद्ध प्रामाणिक अन्वर्य बनता है।

पूरी संख्या अधूरी है अधूरी संख्या पूरी है। भूमा का नाम पूर्णता है, अल्पता का नाम अपूर्णता है। १०–२०–४०–५०–१००–१००० –इत्यादि पूर्ण संख्याओं में विरामभाव का समावेश है, आगे विकास का अभाव है, समृद्धिलक्षणा पूर्णता का अवरोध है। यही अल्पता है, एवं यही इन पूर्ण संख्याओं की अपूर्णता है। ११–२१–५१–१०१–१००१–इत्यादि अपूर्ण संख्याओं में आगे विकास का समावेश है समृद्धिलक्षणा पूर्णता अनन्त है, यही इन की पूर्णता है। यही कारण है कि, दानधर्म्म में दानद्रव्य की संख्या सदा अपूर्ण ही रक्खी जाती है। केवल निधनकर्म्म (श्राद्धकर्म्म) में पूर्ण दक्षिणा का विधान हुआ है।

इस शून्य-पूर्णविवेचन से प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, पूर्णलक्षण सत्याग्नि के विकास की मूलप्रतिष्ठा शून्यलक्षण ऋत आपः ही बनते हैं। अप् गर्भ में प्रविष्ट सत्याग्नि ही विकसित होता है। उदाहरण के लिए शारीराग्नि-विकास को ही लीजिए। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इस छान्दोग्य सिद्धान्त के अनुसार प्यात्मक आप ही हमारे पाञ्चभौतिक शरीर के आरम्भक बनते हैं। अप्गर्भ में ही शारीर-अग्नि की चिति होती है इसी अग्निचिति से शरीरयष्टि का वितानलक्षण विकास होता है। दैनिक शारीराग्नि-यज्ञ में भी अन्न-लक्षणा अन्नाहुति ही अग्निविकास का कारण बन रही है। स्नान से शारीराग्नि प्रदीप्त हो जाता है, यह सार्वजनीन है। सृष्टिचक्र में इसी आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में अग्नितत्त्व बीजरूप से प्रकट होता हुआ क्रमशः सौर-संस्थारूप से विकसित होता है।

जिस प्रकार अपूतत्त्व के गर्भ में प्रतिष्ठित अग्नि विकसित होता है, एवमेव इस गर्भाग्नि के सम्बन्ध से परिभितम्प स्वयं अपूतत्त्व का भी विकास होता है। अपूतत्त्व स्वस्वरूपसे स्नेहगुणकबनता हुआ यद्यपि संकोच धर्म्मा है, तथापि गर्भस्थ, तेजोगुणक, अतएव विकासधर्म्मा अग्नि के सहयोग से इस आप' को भी विकासा-वस्था में आना पड़ता है। इसप्रकार गर्भस्थ अग्नि के सम्बन्ध से विकासभाव में आने वाले ये आपः ६ भागों में विभक्त हो जाते हैं। तत्वत अपूतत्त्व का ६ प्रकार से विकास होता है।

मान लीजिए, अभी अपूतत्त्व का विकास नहीं हुआ, अभी वह अपने स्वाभाविक भृगुलक्षण शून्यभाव में परिणत है। अग्नि इस के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। फलत' इस में विकासक्रिया का आरम्भ हुआ। इस विकासक्रिया से ही 'वायु', सोम', अग्नि', यम', आदित्य'' इन पाँच रूपों का विकास हुआ, जिन्हें हम अग्निगर्भ के सम्बन्ध से ऋत आप' के सत्यरूप कह सकते हैं। इसप्रकार एक ही आपः-'आप -वायुः-सोमः-अग्नि -यम'-आदित्य' इन ६ भावों में परिणत होकर 'आपो भृग्वङ्गिरोरूप-मापो भृग्वङ्गिरोमयम्' इस गोपथश्रुति को चरितार्थ कर रहा है। आपः-वायु-सोम-समष्टि भृगुलक्षण आप' हैं, ये द्युलोक से मेदिनी पृष्ठ की ओर बरसते हैं। अग्नि-यम-आदित्य-समष्टि अङ्गिरालक्षण आपः हैं, एवं ये मेदिनीपृष्ठ से द्युलोक की ओर बरसते हैं। जिसप्रकार पृथिवी पर वृष्टि होती है, एवमेव पृथिवी से द्युलोक में भी वृष्टि होती है। इस समानवर्षण के आधार बनते हैं गौरूप-भार्गव। द्युलोक से पर्जन्य-वायु के द्वारा भार्गव पानी बरसता है, पृथिवी से आग्नेय वायु के द्वारा आङ्गिरपानी बरसता है। इसी वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

> समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभि ।
> भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नय ॥
>
> —ऋक्संहिता

उक्त ६ अवस्थाओं के सम्बन्ध से ही इस आपोमय अथर्वब्रह्म को 'षड्ब्रह्म' कहा गया है (देखिए ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य)। यही षड्ब्रह्म ब्रिमक (भृत्-ऋतलक्षण षड्ब्रह्म) का स्वेद (पानी) होने से 'स्वेद' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा में 'सुवेद' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी को गोपथ ने 'सुब्रह्म' कहा है-गो० ब्रा० १।१।१। सुब्रह्म से ही 'सुब्रह्मण्या' वाक् का विकास हुआ है, जिसका यज्ञविशेषों में 'सुब्रह्मण्योम्' इत्यादि रूप से प्रयोग हुआ करता है। आपोमयी सुब्रह्मण्या वाक् की प्रतिष्ठारूप यह आपोमय सुब्रह्मतत्त्व अपने 'आपः' रूप से शून्यस्थान बन रहा है, शेष पाँच रूपों से पूर्णस्थान बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्—

१— (१)—आप——विकासात् पूर्वरूपम्— शून्यस्थानम् (ऋतम्)

२—१ (२)—वायु——प्रथमो विकास — पूर्ण स्थानम् (सत्यम्)

३—२ (३)—सोमः—द्वितीयो विकासः— पूर्णं स्थानम्। (सत्यम्)

४—३ (१)—अग्निः—तृतीयो विकासः— पूर्णं स्थानम्। (,,)

५—४ (२)—यमः—चतुर्थो विकासः— पूर्णं स्थानम्। (,,)

६—५ (३)—आदित्य-पञ्चमो विकास— पूर्णं स्थानम्। (,,)

१६—अपूतत्त्व का चतुर्द्धा विकास—

उक्त विकासक्रम का दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। जिस बिन्दु से विकास का आरम्भ होता है वह बिन्दु उत्तरभावी विकास का शून्यरूप है। इसी शून्यभाव के कारण इस पूर्णरूप को हम अवश्य सत्त्वग 'अरूपरूप' कहेंगे। इस अरूपात्मक शून्यरूप का नाम 'आपः' है। इस शून्यरूप से जो पहिला विकास हुआ है, वही 'वायु' है। वायु-सत्त्वग इस प्रथम विकास में विकास की एक मात्रा (१) का समावेश है। एकमात्रिक वायुविकास का द्वितीय विकास 'सोम' है। इस में विकास की दो (२) मात्रा हैं। 'आपः-वायुः-सोमः', इन तीन स्थानों में तो अप् का अप्त्य सुरक्षित रहता है। जब द्विमात्रिक सोम का तृतीय विकास होता है, तो यह आपः अङ्गिरा-रूप में परिणत हो जाता है, जो कि अङ्गिराभाव अपूतत्वापेक्षया सर्वथा अपूर्व धर्म्म है। अपूतत्त्व की आप, वायु, सोम, ये तीनों अवस्था स्नेहधर्म्म से युक्त थीं, अङ्गिरात्रयी तेजोधर्म्म से युक्त है। इसी धर्म्मवैषम्य से गतिवैषम्य उत्पन्न हो जाता है। भृगुत्रयी जहाँ आगतिधर्म्मरूपा है, वहाँ अङ्गिरात्रयी गतिधर्म्मावच्छिन्ना बन जाती है। साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि, तृतीय विकास में आपो सत्त्वग सोम अङ्गिरारूप में तो परिणत हो जाता है, परन्तु अन्तर्य्यामसम्बन्ध से सम्भवतः अपने 'अप्त्व' का परित्याग नहीं करता है। इसीलिए तो अप् का भृगुरूप अङ्गिरा के साथ भी सम्बन्ध माना गया है। तीनों भृगु एवं तीनों अङ्गिरा, सभी 'आपः' हैं। अपूतत्त्व के ही भृगु, अङ्गिरा भेद से दो श्रेणि-विभाग हैं।

भृगुत्रयी का जो तीसरा सोम भाग है, उसकी, एवं अङ्गिरात्रयी में जो पहिला अग्निभाग है, उसकी, इन दोनों की समान विकासमात्रा है। द्विमात्रिक ही सोम है, द्विमात्रिक ही अग्नि है। इस प्रकार 'सोम अग्नि' दोनों की * समानमात्रा से विकास की चार संख्या ही रह जाती हैं। यम तृतीय विकास है, आदित्य चतुर्थ विकास है। इस 'वायु', अग्निषोमौ', यम', आदित्य' भेद से अपूतत्व के पूर्वोक्त पञ्चधा विकास का चतुर्द्धा विकास पर ही विभाग हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

* इसी समानविकासमात्रा से अग्नि-सोम को 'सखा' माना गया है, जैसा कि—'सखाहमस्मि सख्य न्योका' इत्यादि रूप से पूर्व प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्—

१— ०—आप—अरूपंरूपं शून्यस्थानम् (विकासाभावः)।
२— १—वायु —विकासजन्य प्रथम रूपम् (विकासस्यैका मात्रा)।
३—
४— } २—अग्नीषोमौ—विकासस्य द्वितीयं रूपम् (विकासस्य द्वे द्वे मात्रे)।
५— ३—यम —विकासस्य तृतीयं रूपम् (विकासस्य तिस्रो मात्राः)।
६— ४—आदित्य—विकासस्य चतुर्थं रूपम् (विकासस्य चतस्रो मात्राः)।

अपूतत्त्व के इन्हीं चार विकासस्थानों को इस वेदप्रकरण में *क्रमशः—'एकं'[1]—दशकं[2]—शतकं[3]* —सहस्रम्[4]' इन नामों से व्यवहृत किया जायगा। विकासाभावरूप, अतएव अरूपात्मकरूप, अतएव च अस्थानात्मक स्थानलक्षण, अपूतत्त्व शून्यस्थान है, शून्यबिन्दु है। इसका एकमात्रिक प्रथम विकास ९ संख्याओं से युक्त है। इस प्रथमस्थानीय प्रथम विकास की मूलप्रतिष्ठा शून्यबिन्दु है, एवं चरम सीमा नवमी संख्या है। "०–१–२–३–४–५–६–७–८–९" यही इस *प्रथम विकास का* व्याप्तिस्थान है। (१)। प्रथम विकास की सूचिका १ संख्या है। इसको आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए द्वितीय विकास होता है, *यही दशमस्थान है। द्विमात्रिक यह द्वितीय विकास ९९ संख्याओं से युक्त है।* द्वितीय स्थानीय इस द्वितीय विकास की चरम सीमा नवनवति (निन्यानवे) संख्या है। "१ –११–२१–३१ –४१–५१–६१–७१–८१–९१" यही इस द्वितीय विकास का व्याप्ति स्थान है। (२)।

द्वितीय विकास की सूचिका १० संख्या है। इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूल प्रतिष्ठा बनाते हुए तृतीय विकास होता है, यही शतकस्थान है। त्रिमात्रिक यह तृतीय विकास ९९९ संख्याओं से युक्त है। तृतीयस्थानीय इस तृतीय विकास की चरमसीमा नौसो निनान्वे संख्या है। "१ –१ १–१०२–१०४–१ ५–१ ६–१०७–१ ८–१ ९" यही इस तृतीय विकास का व्याप्तिस्थान है। तृतीय विकास की सूचिका १ ० संख्या है। इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए चतुर्थ विकास होता है, यही सहस्रस्थान है। चतुर्मात्रिक यह चतुर्थ विकास ९९९९ संख्याओं से युक्त है। चतुर्थस्थानीय इस चतुर्थ विकास की चरम सीमा नौहजार नौसो निनानवे संख्या है। "१०००–१० १–१ २–१ ०३–१००४–१ ५–१००६–१० ७–१ ८–१०० " यही इस चतुर्थ विकास का व्याप्तिस्थान है। निष्कर्ष यही हुआ कि, शून्यस्थानीय यह आप '१–१ –१००–१००९' भेद से चतुःस्थान बनता हुआ '९–९९–९९९–९९९९' इन चरम विकासभावों में परिणत होकर—चार संस्थाओं में विभक्त हो रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

चतु:संस्थानपरिलेखः—

१–प्रथमं स्थानम् (१)–एकस्थानम् (१)–एकम्	२–द्वितीयं स्थानम् (२)–द्विस्थानम् (१०)–दशकम्	३–तृतीयं स्थानम् (३)–त्रिस्थानम् (१०००)–शतकम्	४–चतुर्थं स्थानम् (४)–चतुःस्थानम् (१०००)–सहस्रम्
०–०–(०)	१–०–(१०)	१०–०–(१००)	१००–०–(१०००)
०–१–(१)	१–१–(११)	१०–१–(१०१)	१००–१–(१००१)
०–२–(२)	२–१–(२१)	१०–२–(१०२)	१००–२–(१००२)
०–३–(३)	३–१–(३१)	१०–३–(१०३)	१००–३–(१००३)
०–४–(४)	४–१–(४१)	१०–४–(१०४)	१००–४–(१००४)
०–५–(५)	५–१–(५१)	१०–५–(१०५)	१००–५–(१००५)
०–६–(६)	६–१–(६१)	१०–६–(१०६)	१००–६–(१००६)
०–७–(७)	७–१–(७१)	१०–७–(१०७)	१००–७–(१००७)
०–८–(८)	८–१–(८१)	१०–८–(१०८)	१००–८–(१००८)
०–९–(९)	९–१–(९१)	१०–९–(१०९)	१००–९–(१००९)
९	९९	९९९	९९९९

२०–नवसंख्याविज्ञान—

विज्ञानानुबन्धी इन चारों संस्थानों के साथ 'नव' (९) संख्या का विशेष सम्बन्ध है। जिसप्रकार वैदिक 'अशीति' शब्द ८० संख्या का एवं 'अन्न' का दोनों का सूचक माना गया है, एवमेव 'नव' शब्द ९ संख्या का, एवं 'नवीनता' का द्योतक माना गया है। '*नवो नवो भवति जायमाना०' इत्यादि मन्त्र

* "नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥
(ऋक्० सं० १०।८५।१९)

में पठित नव शब्द इस 'नूतन' भाव का ही वाचक है। 'नव' शब्द ९ संख्या, तथा नूतनता का वाचक क्यों माना गया ?, इस प्रश्न का उत्तर भी इसी मत्स्यवधान से मिल रहा है। जायमान वस्तु कुछ समय पर्य्यन्त (अपने अपूर्वत्वाभाव के कारण) नवीन कहलाती है, इसलिए तो जायमान का 'नव' (नवीन) कहना अन्वर्थ बनता है। एवं उत्पत्ति का कारणभूत तत्त्व नौ संख्या से युक्त रहता है, इसलिए जायमान को नव (९) संख्या युक्त कहना अन्वर्थ बनता है।

सम्पूर्ण विश्व महाकालावच्छिन्न अम्न्यात्मक, सम्वत्सरमूर्त्ति, विराट्प्रजापति का विवर्त्तमात्र है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् (यजु संहिता) इत्यादि श्रुति के अनुसार सहस्रपादस्थानीय एककल पार्थिव वैश्वानर अग्नि, सहस्राक्षस्थानीय अष्टकल आन्तरीक्ष्य हिरण्यगर्भ वायु, सहस्रशिरःस्थानीय एककल दिव्य सर्वज्ञ इन्द्र की समष्टिरूप, दशकल, अतएव 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध, त्रैलोक्यव्यापक प्रजापतिपुरुष ही प्रजोत्पत्ति का उपादान बनते हैं। महाकालपुरुष की महाशक्ति ही 'महाकाली' नाम से प्रसिद्ध है। महाकाल के क्योंकि १० पर्व हैं, अतएव महासृष्टिविधात्मिका इस महाकाली के भी काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, आदि १० पर्व माने गए हैं, जिनका अन्यत्र विस्तार से निरूपण हुआ है *। इस प्रकार आधिदैविक सृष्टिक्रम में उत्पत्तिकारणभूत प्रजापति अग्नि-वायु इन्द्रानुबन्धिनी १० कलाओं से दशकल बनते हुए पूर्ण बन रहे हैं। इस दृष्टि से पूर्ण संख्या का विश्राम यद्यपि १०-संख्या पर माना जाना चाहिए था। किन्तु १ पर आगे भूमाभाव के विकास का अवरोध है, अतः ९संख्या पर ही पूर्णता मानी गई है। पूर्ण संख्या कभी प्रभवभावी प्रजननकर्म्म का कारण नहीं बनती। "न्यूनाद्धि प्रजाः प्रजायन्ते"(शत०२।१।१।१३) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार न्यूनता ही प्रजोत्पत्ति का कारण है, एवं उत्तरोत्तर विकासानुरूप प्रदेशोपलब्धि से न्यूनभावात्मक यह न्यूनसंख्याक्रम ही पूर्णसंख्याक्रम है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आधार पर हम १० संख्या को तो अपूर्ण कहते हैं, एवं ९ संख्या को पूर्ण कहते हैं।

ज्यौतिष-परिभाषा के अनुसार शून्य (०) को पूर्ण कहा जाता है। इसी को वैदिकपरिभाषा में 'असत्' कहा गया है। सृष्टि व्यक्तभावात्मिका है, मूर्त्त है निरुक्त है। इसका मूलकारण अव्यक्त है अमूर्त है, अनिरुक्त है। अव्यक्तभाव के कारण ही उस सर्वमूल को 'असत्' कहा जाता है, जो कि असत् (शून्य)–A "असदेवेदमग्रेऽसदासीत्, कथमसतः सज्जायेत" के अनुसार वस्तुतः 'सत्' (पूर्ण) है। 'पूर्ण' का लक्षण है– 'पूर्णोवाः'। सर्वतःपाणिपादाक्षिशिरोमुखभाव ही पूर्णता है यही पूर्णभाव है। वस्तु के पदार्थ के केन्द्र से निकलने वाली शक्ति का सर्वत्र समानरूप से वितान होता है। जिसे हम 'शून्य' कहते हैं, वह भी इसी समान-शक्तिवितान से पूर्ण है। आगे के ९ भाव इसी शून्य नामक पूर्णात्मक बिन्दुभाव से विकसित हुए हैं। वह विकासभाव ही ९ संख्या के कारण 'नव' नाम से प्रसिद्ध है।

---

*–'कल्याण' मासिक के 'शक्त्यङ्क' में 'दशमहाविद्या' नाम से इस विषय का संक्षिप्त परिचय निकल चुका है।

A–'असत्' का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक खण्ड में देखना चाहिए।

संख्याविज्ञानक्रम में भी पहिले शून्य ० है, पीछे क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, संख्याओं का समावेश है। इसके अनन्तर शून्य को आगे कर पुनः १-२-३ आदि नौ संख्याओं का समावेश हुआ है। इस धाराप्रवाहिक क्रम से १९-२९-३९-४९-इसप्रकार ९-९ का ही उत्तरोत्तर वितान है। शून्यबिन्दु से आरम्भ कर परमपरार्ध्य संख्या पर्य्यन्त ९-९ का ही साम्राज्य है। शून्याधार पर वितत ९ संख्या की यही पूर्णता है, यही सर्वता है, यही कृत्स्नता है, यही नवीनता है, एवं 'नवो-नवो भवति जायमानः' वाक्य इस नवसंख्याविज्ञान का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। क्योंकि नवसंख्या शून्यप्रतिष्ठा के कारण पूर्ण है, अतएव ९ संख्या से सम्बद्ध संकलन का प्रत्येक पर्व ९ पर ही विश्रान्त है, जो कि समसंकलन अन्य संख्याओं में नहीं है। ९ के पहाड़े का प्रत्येक पर्व संकलन से आपको नवपर्वात्मक ही मिलेगा, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

०–असदात्मक शून्यलक्षण सद्रूप पूर्ण प्रजापतिर्विराट्—०	सहस्रविराट्—नवाक्षर "नवो नवो भवति"
०–सर्वज्ञमूर्त्तिः, इन्द्रप्राणात्मक सहस्रशीर्षस्थानीय, एककला—१	
०–हिरण्यगर्भमूर्त्ति वाय्वात्मक सहस्राक्षस्थानीय, अष्टकला—८	
०–वैश्वानरमूर्त्ति, अग्न्यात्मक, सहस्रपात्स्थानीय, एककला—१	

यह तो हुआ आधिदैविकसृष्टि–अनुबन्धी नवभाव। अब आध्यात्मिक दृष्टि से विचार कीजिए। शुक्र–शोणित के दाम्पत्यभाव से प्रजोत्पत्ति हुई है। शुक्र सौम्य है, शोणित आग्नेय है। आग्नेय शोणित ब्रह्मवेदमय है, सौम्य शुक्र सुब्रह्मवेदमय है। आप ही सुब्रह्मवेद है। यही अथर्व है। भृगुत्रयी, अङ्गिरात्रयी से इसके ५ पर्व हैं। ऋक्, यत्, जू, साम, भेद से आग्नेय ब्रह्मवेद के ४ पर्व हैं। ५+४ के संकलन से शुक्र–शोणित का दाम्पत्यभाव विराट् बन रहा है। यही विराट्संख्या एकत्व न्यूनभाव से प्रजोत्पत्ति का कारण बनती है। यही आध्यात्मिक प्रपञ्च का 'नवो नवो भवति जायमानः' रहस्य है।

२१–शून्यबिन्दुवितान—

जिसे हम शून्य कहते हैं, वही सृष्टि का 'बीज' है। जिस प्रकार सुसूक्ष्म वृक्षबीज कालान्तर में महावृक्ष रूप में विकसित हो जाता है, एवमेव महाकाल–महाकाली के दाम्पत्यभाव से सूक्ष्मरूप यही शून्यबीज महासृष्टि–विकास का कारण बना है। संख्याविज्ञानानुसार केवल शून्यबिन्दु ही परार्घ्य–संख्यापर्य्यन्त विस्तृत हुई है। स्वयं शून्यबिन्दु ऋतलक्षण अप्तत्त्व का वह पिण्डभाव है, जिसके गर्भ में अग्नि प्रतिष्ठित है। इसके विकास की चरम सीमा परार्घ्य संख्या मानी गई है। मूलपिण्ड शून्यबिन्दु है, परार्घ्यभाव इसी का वितान है। यद्यपि चतुःसंस्थानात्मक हमारे वेदशास्त्रप्रकरण में इस महाविकास का कोई उपयोग नहीं है। वैदिक विकास–क्रम सहस्रसंख्या पर ही विश्रान्त है। तथापि वेदानुबन्धी "सहस्रं वै पूर्णम्"–"पूर्णं वै सहस्रम्" इत्यादि वचनों के आधार पर जिन कल्पनिकों ने यह कल्पना कर डाली है कि, "वैदिक युग के ऋषि एक सहस्र संख्या से ही परिचित थे, उन्हें आगे संख्या न आती थी", इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए स्वयं वेद में ही प्रति–पादित संख्याविकास का स्वरूप प्रसङ्गत. उद्धृत कर दिया जाता है। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में इन संख्या विकासों का विस्पष्ट निरूपण हुआ है। विस्तारभिया इस विषय को तूलरूप न देते हुए वेदसम्मता संख्यातालिका, एवं तदनुगता लोकसम्मता संख्यातालिका ही यहाँ उद्धृत कर दी जाती है।

मतान्तरेण वेदसम्मतशून्यवितानपरिलेखः—

१	एकम्	१
२	दशकम्	१ ०
३	शतकम्	१ ० ०
४	सहस्रम्	१ ० ० ०
५	अयुतम्	१ ० ० ० ०
६	लक्षम्	१ ० ० ० ० ०
७	प्रयुतम्	१ ० ० ० ० ० ०
८	कोटिः	१ ० ० ० ० ० ० ०
९	शङ्कु	१ ० ० ० ० ० ० ० ०
१०	अर्बुदम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ०
११	न्यर्बुदम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१२	खर्वं	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१३	निखर्वः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१४	समुद्रः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१५	महासमुद्रः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१६	पद्मम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१७	महापद्मम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१८	अन्त्यम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१९	परार्द्धम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
		० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

लोकसम्मतशून्यवितानपरिलेख.—

१	एकाई	१
२	दहाई	१ ० ०
३	सैकड़ा	१ ० ० ०
४	हजार	१ ० ० ० ०
५	दसहजार	१ ० ० ० ० ०
६	लाख	१ ० ० ० ० ० ०
७	दसलाख	१ ० ० ० ० ० ० ०
८	करोड़	१ ० ० ० ० ० ० ० ०
९	दसकरोड़	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१०	अरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
११	दसअरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१२	खरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१३	दसखरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१४	नील	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१५	दसनील	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१६	पद्म	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१७	दसपद्म	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१८	संख	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१९	दससंख	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
		० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

२२-वेदानुबन्धी-बिन्दुवितान—

यह कहा जा चुका है कि, पूर्णलक्षण शून्यबिन्दु का सात्त्विकरूप अब्गर्भित अग्नि से सम्बन्ध रखता है। अब्गर्भित अग्निलक्षण शून्यबिन्दु का वितान ही अप्तत्त्व का वितान है। इस वितान की चरम सीमा यद्यपि 'परमपरार्द्ध' संख्या है, तथापि मनःप्राणगर्भित वाङ्मय षड्क्षरमण्डल से सम्बद्ध 'वेदसाहस्री' की अपेक्षा से परार्द्ध संख्यात्मक १६ संख्यानों का ग्रहण न होकर '१-१०-१००-१०००' इन चार संख्यानों का ही ग्रहण किया जाता है। सात्त्विकवेदविज्ञानानुरूपी शून्यबिन्दुवितान सहस्र सहस्र संख्या पर ही समाप्त है। सहस्रसंख्यावितानात्मिका इस वेदसाहस्री का सहस्रांशु सूर्य्य को उदाहरण बना कर भलीभाँति स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

सूर्य्यबिम्ब अब्गर्भित सावित्राग्निमय पिण्ड है। "अपां गम्भन्सीद" (ऋक् सं०)-"या रोचने परस्तात् सूर्य्यस्य, याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः" (ऋक् सं० ३।२२।३।) इत्यादि मन्त्र श्रुतियों के अनुसार सावित्राग्निघन सूर्य्य आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित है। सौररश्मियों में अप्तत्त्व अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। इसी अप्तत्त्व के समावेश से सौररश्मियाँ प्रदीप्त हैं। सौरमण्डल में जो ज्योतिर्भाव (प्रकाश) प्रतीत होता रहता है, वह इसी अबाहुति (सोमाहुति) की महिमा है। अप्तत्त्व ही इस सौर सावित्राग्नि का 'अन्न' है। अप्तत्त्व अवस्थाभेद से 'आपः-वायुः-सोमः' भेद से तीन भागों में विभक्त है। फलतः सौराग्नि के अन्न भी त्रिधा विभक्त हो जाते हैं। सूर्य्य मनःप्राणवाङ्मय है। मन ज्ञानशक्तियुक्त है, प्राण क्रियाशक्तियुक्त है, एवं वाग्भाग अर्थशक्तियुक्त है। ज्ञानमय मन, क्रियामयप्राणगर्भित अर्थमय वाग्भाग ही सूर्य्यमूर्त्ति है। अबन्न से सूर्य्य में अर्थशक्ति का, वाय्वन्न से क्रियाशक्ति का, सोमान्न से (ज्ञानानुगत) ज्योतिर्भाव का उदय होता है। सूर्य्य में पिण्डलक्षण जो प्रकाश है, वह सोमान्न का अनुग्रह है। सौररश्मियों में 'प्राणदपानत्'-लक्षण जो क्रियाभाव है, वह वाय्वन्न का अनुग्रह है, एवं सौरसावित्राग्नि में जो अर्थोपादानता है, वह अबन्न का अनुग्रह है। रश्मिवितान ही प्रकाश का जनक है। यह रश्मिवितान सोमाहुति पर ही निर्भर है। अतः हम सोमाहुति को ही प्रकाश का प्रधान जनक मानते हैं। निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र सोमान्न के विविध कर्म्मों का ही स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

> १—महत्तत् सोमो महिषश्चकार अपां यद् गर्भोऽवृणीत देवान्।
> अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्य्ये ज्योतिरिन्दुः॥
>
> (ऋक्सं० ९।९७।४१।)।
>
> २—त्वमिमा ओषधीः सोम! विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
> त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ॥
>
> (ऋक् सं० १।९१।२२।)।

'आपः-वायुः-सोमः' इन तीन अन्नों से सूर्य्य के अग्नि-वायु-आदित्य, इन तीन शरीरों का आप्यायन होता रहता है। अबन्न अग्नि का, वाय्वन्न (शिववाय्वन्न) वायु (रुद्रवायु) का, एवं सोमान्न आदित्य का आप्यायन करता रहता है। अग्निवाय्वादित्यमूर्त्ति सूर्य्य अब्वायुसोमात्मक आपःसमुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित होकर वेदवितान का प्रवर्त्तक बन रहा है। एकमात्र अन्नविकास के आधार पर ही आपः-वायुः-

सोम-अग्नि-वायु-आदित्य ये ४ पर्व प्रतिष्ठित हैं। इनमें आपः विकासाभावलक्षण शून्यबिन्दु है। वायु एकमात्रिक प्रथम विकास है, यही 'एकम्' (१) है। सोम द्विमात्रिक द्वितीय विकास है, सोमसमतुलित अग्नि भी द्विमात्रिक द्वितीय विकास ही है। यही 'दशकम्' (१०) है। वायु त्रिमात्रिक तृतीय विकास है, यही 'शतकम्' (१००) है। एवं आदित्य चतुर्मात्रिक चतुर्थ विकास है, यही 'सहस्रम्' (१०००) है। यहीं वेदानुगत विकासभाव समाप्त है। इसप्रकार आपोमय सौरसंस्था में अप्तत्त्व के आधार पर विकास की चार संस्थाएँ प्रतिष्ठित हो रही हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

गर्भस्थाग्नि-क्याद्यपां—पञ्चस्थानानि	आपः	आपः	आपः	आपः	आपः	अपां पञ्चस्थानानि
	•	१	२	३	४	विकासमात्राः
विकाससमाप्ति	आपः १	वायुः २	सोमः ३	×	×	इति भृगवः स्नेहमयाः
विकाससमाप्ति	×	×	अग्निः ३	वायुः ४	आदित्यः ५	अत्यङ्गिरसस्तेजोमयाः
विकासस्थानानि	•	१	१	१	१ •	गर्भस्थाग्निवशादपां
विकासक्रमाः	विकासाभावः	प्रथमो विकासः	द्वितीयो विकासः	तृतीयो विकासः	चतुर्थो विकासः	विकासावस्थाचतुर्विधाः

पाठकों को स्मरण होगा कि, वेदव्यूहन-प्रकार बतलाते हुए हमने 'दशगर्भं चरसे धापयन्ते' का स्पष्टीकरण किया था—(देखिए 'छन्दोवितानरसलक्षणावेदत्रयी' प्रकरणान्तर्गत—'अभिप्लव-पृष्ठ्यस्तोम-विज्ञान' परिच्छेद, पृ० सं० ३३७, एवं—पृ० सं० २१३)। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, जिस पूर्णलक्षण शून्य बिन्दु का वितान होता है, यह १० मात्रा अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखती है। कारण यही है कि, वेदवितान अवग्गर्भित अग्निप्रजापति के आधार पर होता है। एवं यह अग्नि पूर्वोक्त एककल वैश्वानर, ८ कल हिरण्यगर्भ, एककल सर्वज्ञ नामक अग्निवाय्वादित्य भेद से दशकल बनता हुआ विराट् है। इसी दशकल विराड्भाव की अपेक्षा से उत्तरोत्तर १० १० के क्रम से ही अवग्गर्भित वेदाग्नि का वितान होता है। यह विताननभाव क्योंकि ४ संस्थाओं में १० १० के क्रम से विभक्त है, अतएव 'चत्वार ईं बिभ्रति दशगर्भं चरसे धापयन्ते' यह कहा जाता है।

विकाससंस्था '१ १० १०० १०००' भेद से चार बतलाए गए हैं। इनमें 'एक' विकास शून्यबिन्दु की अपेक्षा जहाँ विकास है, वहाँ दशकादि उत्तर की संख्याओं की अपेक्षा इसे अविकास ही माना जायगा, एवं उस स्थिति में १ को विकास की *मूलप्रतिष्ठा* कहा जायगा, १० १०० १ ०० तीनों को क्रमशः प्रथम द्वितीय तृतीय विकास माना जायगा। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, पूर्व परिशेख में हमनें १ १० १ १० ० को क्रमशः १-२ ३ ४ विकास बतलाते हुए विकास को चतुःस्थान माना है। इस चतुःस्थानात्मक विकास की अपेक्षा से शून्यबिन्दु मूलप्रतिष्ठा है। शून्यबिन्दु की अपेक्षा वह एकत्व, जिसके गर्भ में विराडग्नि की दस मात्रा प्रतिष्ठित हैं, अवश्य ही प्रथम ही विकास माना जायगा। परन्तु एकत्व वस्तुतः एकत्व है। अभी इस की १० कला अविकसित हैं। इस दृष्टि से इसे भी शून्यवत् *अविकासात्मक ही माना जायगा*। एकत्व को मूल बना कर आगे विकसित होने वाली दस कलाओं की समष्टिरूप 'दशक' ही इस दृष्टि से प्रथम विकास माना जायगा। दशगर्भ एकत्व का प्रथम विकास 'दशक' है। 'दशक' की प्रत्येक कला का आगे जाकर १ १ के क्रम से विकास होता है, फलतः १ के १ पर्व हो जाते हैं। 'शतक' नामक यही विकास उस 'एक' का द्वितीय विकास माना जायगा। 'शतक' की प्रत्येक कला का आगे जाकर १ १ के क्रम से पुनः विकास होता है, फलतः १ ० के १० पर्व हो जाते हैं। 'सहस्र' नामक यही विकास उस एक का तृतीय विकास माना जायगा। इसप्रकार शून्यमूलक विकास जहाँ चतुःस्थान कहलाएगा, वहाँ 'एक' मूलक विकास त्रिःस्थान ही माना जायगा।

सूर्य्य को उदाहरण बतलाया गया है। सूर्य्यबिम्ब अग्निगर्भित अन्नरूप है, ऋग्वज्ञिरोमय है। यह सूर्य्यबिम्ब 'एक' है। दशों दिशाओं में सर्वप्रथम इस एक सूर्य्य बिम्ब से १ रश्मियों का विकास होता है, यही 'दशक' नामक प्रथम रश्मिविकास है। आगे जाकर एक एक रश्मि से १ १ रश्मियाँ निकलती हैं, यही 'शतक' नामक दूसरा रश्मिविकास है। पुनः प्रत्येक रश्मि से १ १ रश्मियाँ निकलती हैं, यही 'सहस्र' नामक तृतीय रश्मिविकास है। इसप्रकार महदुक्थलक्षण, महाबिम्बात्मक सूर्य्यपिण्ड '१०-१ १०' इन तीन रश्मिव्यूहनों से अन्ततोगत्वा सहस्रांशु बन जाता है। सहस्रांशु सूर्य्य अपने सहस्ररश्मिवितानमण्डल के केन्द्र में 'तप रहा है'।

'तप रहा है' का अर्थ है—'प्रतपति'। प्रतपति का अर्थ है—'प्राणदपानती'। 'प्राणदपानती' का अर्थ है—'स्वं ददाति'। एवं यह स्वदानलक्षण प्राणदान ही सूर्य्य का तप कर्म्म है। पिण्डस्थ प्राण का

बाहिर की ओर वितत होकर अन्य पदार्थों का उपकार करना ही प्राण का तप है। सद्भाषा में, प्राणदान करना ही तप है। सूर्यबिम्ब से निकल कर रश्मिसंयोग से सर्वत: व्याप्त होने वाला यही प्राण अस्मदादि पार्थिव प्राणियों में प्रविष्ट होकर प्राणिप्रजा के जीवन की प्रतिष्ठा बनता है। दूसरे शब्दों में सौर प्राणकर्म्म ही हमारे जीवन का आधार है, जैसाकि "प्राण: प्रजानामुदयत्येष सूर्य्य:" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

मनोगर्भित, वागाधार (भूताधार) पर प्रतिष्ठित रश्म्यवच्छिन्न प्राण अपने ऊर्ध्वत: गमन के साथ-साथ वाङ्मयी सूर्य्यप्रतिमा को भी वितत करते हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, प्राण बिना वागाधार के आगे नहीं बढ़ सकता। फैलने का धर्म्म यद्यपि प्राण का ही है, परन्तु फैलाव की आधारभूमि वाङ्मय सूर्य्य-पिण्ड ही बनता है। परिणाम इस उक्थवितान का यह होता है, जो 'वितानात्मकब्रह्मवेद' परिच्छेद से गतार्थ है। प्रत्येक प्राणबिन्दु के साथ-साथ एक एक सूर्य्यमूर्त्ति आधाररूप से प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक प्राण का अपना-अपना एक-एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है। प्रत्येक केन्द्र से चारों ओर समवत्तात्मिका प्राणरश्मियों का वितान होता है। मूर्त्ति को केन्द्र बना कर समानरूप से वितत होने वाली रश्मियों का 'महाव्रत' नामक एक मण्डल बन जाता है, जो कि मण्डल सामवेद नाम से प्रसिद्ध है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, प्राणवितानद्वारा सूर्य्यसंस्था में ऐसे सहस्र मण्डल बनते हैं, प्रत्येक उत्तरोत्तर मण्डल पूर्वापेक्षया बृहत् है। पूर्वमण्डलकेन्द्रस्थ प्रतिमारस का ही उत्तरमण्डल में वितान होता है। क्योंकि पूर्व-पूर्व मण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल बृहत् है, अतएव पूर्व-पूर्व उक्थमूर्त्ति का रसलक्षण यजुर्वेदात्मक (उपादान) द्रव्य उत्तरोत्तरमूर्त्ति की अपेक्षा कम होता जाता है। इसी अवस्था से मण्डल जहाँ उत्तरोत्तर बड़े होते जाते हैं, वहाँ मूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर छोटी होती जाती हैं। यही कारण है कि, हम मूल वस्तुपिण्ड से ज्यों-ज्यों दूर हटते जाते हैं, त्यों-त्यों उसका आकार उत्तरोत्तर छोटा दिखलाई पड़ने लगता है। एक बात और, उत्तरोत्तर मूर्त्तियों की अपेक्षा पूर्व-पूर्व मूर्त्तियाँ आकार में तो बड़ी रहती हैं, परन्तु संख्या में कम रहती हैं। क्योंकि उत्तरोत्तर मण्डल की अपेक्षा पूर्व-पूर्व मण्डल छोटा होता है। प्रदेश थोड़ा है, अत: मूर्त्तियाँ अधिक संख्या में विकसित नहीं होतीं। साथ ही पूर्व-पूर्व मूर्त्तियों की अपेक्षा उत्तरोत्तर मूर्त्तियाँ आकार में तो छोटी रहती हैं, परन्तु संख्या अधिक होती है। क्योंकि पूर्व-पूर्व मण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल महान् होता है। प्रदेश बहुत है, अत: मूर्त्तियाँ अधिक संख्या में परिणत हो जाती हैं। परन्तु पूर्वमूर्त्तिरस का उत्तरमूर्त्तिरस में क्रमिक ह्रास है। अतएव संख्या में अधिक होने पर भी आरम्भक द्रव्याल्पता से उत्तर मूर्त्तियों का आकार (शरीर) क्रमश: अल्पाल्प होता जाता है।

सूर्य्यपिण्डकेन्द्र से आरम्भ कर सौरमण्डलपरिधिपर्य्यन्त प्रतिष्ठित '१ १ १ १० ' इन चार संस्थानों की अवस्थिति किस क्रम से व्यवस्थित है?, यह भी देख लीजिए। पिण्डमात्र पृथिवी है, महिमामात्र द्यौ है। द्यावापृथिवी शब्दों की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार सूर्य्यपिण्ड को भी हम 'पृथिवी' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। इस पृथिवी (पिण्डात्मक सूर्य्य) केन्द्र से आरम्भ कर महिमामण्डल की अन्तिम सीमा तक (निधनसामात्मक उदर्कसाममण्डलपर्य्यन्त) ऋजुरूप से पिण्डरस का वितान होता है, जैसाकि रसलक्षण यजुर्वेद नामक परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी ऋजुरेखा को (ऋजुरेखाओं को) हम 'विकासरेखा' कहेंगे। इस विकासरेखा को "पिण्डपृष्ठ-त्रिवृत्पृष्ठ-पञ्चदशपृष्ठ-एकविंशपृष्ठ' भेद से

चार विभामभूमियाँ हैं। पिण्डपृष्ठ (सूर्य्यपृष्ठ) पहिला पूर्णस्थान है, यही दशगर्भ 'एक' (१) रूप है। इसी को वितानात्मिका 'उक्थामद' नामक अनन्त ('सहस्रधा महिमान' सहस्र' भावात्मिका), महिमा मण्डलमुक्त, मूर्च्छियों का मूलप्रभव होने से 'महदुक्थ' कहा जाता है। यही सम्पूर्ण ऋङ्मूर्च्छियों की आधार भूमि है। यही केन्द्रस्थ पूर्णातिमका शून्यबिन्दु का प्रथम पूर्णस्थान है। इससे पुन विकासरेखा आगे चलती है। इसका पर्य्यवसान त्रिवृत्स्तोम (९) पर होता है। इस प्रदेश में उस एक महोक्थमूर्त्ति की दस मूर्च्छियाँ हो जाती हैं। यही दूसरा 'दशक' नामक द्वितीय पूर्णस्थान है। पुनः विकासरेखा ऊर्ध्व वितत होती है। इसका पर्य्यवसान पञ्चदशस्तोम (१५) पर होता है। इस प्रदेश में उन १० उक्थामद मूर्च्छियों की १ ० उक्थामद मूर्च्छियाँ हो जाती हैं। यही ' 'शतक' नामक तृतीय पूर्णस्थान है। पुन विकासरेखा का उर्ध्ववितान होता है। इसका पर्य्यवसान एकविंशस्तोम (२१) पर होता है। इस प्रदेश में १०० मूर्च्छियों की १००० उक्थामद मूर्च्छियाँ हो जाती हैं। यही 'सहस्र' नामक चतुर्थ पूर्णस्थान है। मूलकेन्द्र में बीजरूप से क्योंकि एक सहस्र रसात्मक प्राण ही प्रतिष्ठित हैं, अत एक सहस्र मूर्त्तियों पर विकासरेखा का निधन हो जाता है। आगे विकास के लिए केन्द्रबल समाप्त है। एकमात्र इसी पूर्णता को लक्ष्य में रख कर वेदसाहस्री के सम्बन्ध से सहस्र संख्या को पूर्णसंख्या मान लिया गया है। ऋक्-यजुः-सामातिरिक्त विकासक्रम की दृष्टि से यही शून्य अत ब्रह्म परमपरार्द्धपर्य्यन्त विकसित होता है, यह पूर्वपरिच्छेद में स्पष्ट किया ही जा चुका है। 'अग्निप्लवस्तोमविज्ञान' नामक परिच्छेद में इस चतु स्थान-विकास का परिलेख द्वारा स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

०१—मूलपिण्ड——एकम्——प्रथम पूर्णस्थानं——दशगर्भ——एकधा

०२—त्रिवृत्स्तोम——दशकम्——द्वितेय पूर्णस्थानं——दशत्——दशधा

०३—पञ्चदशस्तोम—शतकम्——तृतीयं पूर्णस्थानं——दशानांदशत्—शतधा

४—एकविंशस्तोम—सहस्रम्——चतुर्थ पूर्णस्थानं——शतानांदशत्—सहस्रधा

(२३)—अग्नि सोमस्वभावानुबन्धी ऋणधनभाव—

अब हमें अपने उस वेदशाखाविभाग की ओर आना है, जिसकी ९-२१ १०१ १ ० शाखाओं के वैज्ञानिक रहस्य के स्पष्टीकरण के लिए शून्यपूर्णानुबन्धी चतु संस्थानों की पूर्वपरिच्छेदों में मीमांसा हुई है। अपूर्णभाव ऋत है, पूर्णभाव सत्य है। ऋतभाव ऋण है, सत्यभाव धन है। भृगुत्रयी ऋत होने से ऋण है, अङ्गिरात्रयी सत्य होने से धन है। अङ्गिरोऽग्नि पूर्ण (समृद्धि) लक्षण धनात्मक है *। भार्गव सोम अपूर्णलक्षण ऋणात्मक है। अथर्ववेद आपोमय होने से ऋत है, त्रयीवेद अग्निवेद होने से सत्य है।

* १—"अग्नेन्यस्मै नृम्णानि धारय"—इत्यकुध्यमो धनानि धारय—इत्येवैतदाह" (शत १४।२।२।३०)।
२—"विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्" (ई० उप० १८)
३—"त्वं नो अग्ने ! सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः ।
अध्याम कर्म्मापसा नवेन देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं न ॥" (ऋक्सं० १।३१।८)

अथर्व का ऋतलक्षण ऋणभाव से सम्बन्ध है, सत्यवेदत्रयी का सत्यलक्षण धनभाव से सम्बन्ध है। एवं सोमाग्न्यनुबन्धी इसी ऋण धनभाव से तात्त्विकवेदचतुष्टयी के उक्त शाखाविभाग हो रहे हैं।

भृगुत्रयी, तथा अङ्गिरात्रयी, दोनों की समष्टि को पञ्चमसलक्षण 'आप' कहा गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि, 'आपः—वायुः—सोम' तीनों में आपः शून्यस्थानीय विकासाभावरूप प्रतिष्ठाभाव है। इस का प्रथम विकास मार्गववायुलक्षण ऋततत्त्व प्रथम स्थान है। वायु की विकासावस्थारूप मार्गव सोम, एवं अङ्गिरोऽग्नि, दशक (१०) नामक द्वितीय विकास है। अग्नि की विकासावस्थारूप रुद्रवायु 'शतक' (१००) स्थानीय तृतीय विकास है। रुद्रविकासावस्थारूप आदित्य 'सहस्र' (१०००) स्थानीय चतुर्थ विकास है। इसप्रकार 'आपः[१]—वायुः[२]—अग्नीषोमौ[३]—वायु[४]—आदित्यः[५]' भेद से "०—१—१० —१०० १०००" आपः के ये पाँच विवर्त बन जाते हैं।

सोम, और अग्नि, दोनों की समान विकासभावा है। दशक स्थान ही सोमस्थान है, दशक स्थान ही अग्निस्थान है। सोम अर्वाक् है, अग्नि पराक् है। दशकलात्मक सोम पूर्व विकास है, दशकलात्मक अग्नि उत्तर विकास है। शत कलात्मक रुद्रवायु अग्न्युत्तरविकास है, सहस्रकलात्मक आदित्य रुद्रवायूत्तरविकास है। इसप्रकार शून्यलक्षण आप के आधार पर प्रतिष्ठित एक लक्षण मार्गववायु दशक लक्षण अर्वाक् सोम, दशक लक्षण पराक्—अग्नि, शतक लक्षण रुद्रवायु, सहस्र लक्षण आदित्य, इन चारों पर्वों की प्रतिष्ठा बना हुआ है। दशक लक्षण दशकल सोम ही 'अथ—अर्वाक्' निर्वचन से अथर्ववेद है, दशक लक्षण दश कल अग्नि ही पराक्—लक्षण ऋग्वेद है, शतक लक्षण रुद्रवायु ही यजुर्वेद है, एवं सहस्र लक्षण आदित्य ही सामवेद है। इस दृष्टि से इन चारों तात्त्विक वेदों की क्रमशः '१ १ १ ०-१ ' शाखा हैं। अग्नि विकासानुबन्धी 'दशक-शतक-सहस्र' ही 'दशक-दशक-शतक-सहस्र' बन कर सोमाग्निवाय्वादित्यरूप अथर्व-ऋग्यजुःसामवेदशाखारूपों में परिणत हो रहे हैं। पूर्व परिच्छेदानुसार सोमात्मक दशक विकासस्थान, अग्न्यात्मक दशक विकासस्थान, दोनों समानस्थानीय हैं। अतएव 'एक' के आधार पर प्रतिष्ठित 'दशक-शतक-सहस्र' इन तीनों विकासस्थानों के त्रित्व का भलीभाँति समन्वय हो जाता है। अब इस शाखाभेदसम्बन्ध में प्रश्न यह बच रहता है कि, यदि विकासस्थानों की अपेक्षा वेदशाखा १०-१०-१ ०-१ इन संख्याओं में विभक्त हैं, तो फिर '९ २१ १ १ १ ' यह संख्याक्रम किस आधार पर प्रतिष्ठित हुआ ?।

उक्त प्रश्न के समाधान के लिए परिच्छेदारम्भ में दिग्दर्शित ऋण—धन—भाव की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पूर्ण संख्या को कम कर देना संख्या का ऋणभाव है, पूर्णसंख्या को अधिक कर देना संख्या का धनभाव है। १ को ९ कर देना ऋणभाव है १ को ११ बना देना धनभाव है। और इसी ऋण-धनभाव के कारण वेदशाखाओं का व्यावहारिक संख्याक्रम प्रतिष्ठित है। सोम दशक विकासस्थानीय होने से दशकल है, १ संख्या से युक्त है। इसप्रकार प्रकृत्या यद्यपि सोमात्मक अथर्व दशक ही है। तथापि सोम के स्वाभाविक संकोचधर्म्म ने अथर्व शाखा—संख्या में ऋणभाव का समावेश कर रक्खा है। स्नेहगुणक सोम संकोचधर्म्मा बनता हुआ भी तेजोगुणक विकासधर्म्मा अग्नि की अपेक्षा ऋणात्मक है। साथ ही अपने स्वाभाविक अन्नभाव से भी यह अन्नादाग्नि की अपेक्षा ऋण है। संकोच, तथा अन्नभाव, इन दो अपूर्ण भावों से सोमस्थानीय चरम विकास (१ वाँ विकास) एकतः ऋणभाव में परिणत हो रहा

है। दूसरे शब्दों में अपने अन्तिम (१० वें) विकास के द्वारा अन्नसोम ने अन्नाद अग्नि में आत्मसमर्पण कर रक्खा है। इसी सहजसिद्ध ऋणभाव से दशक सोम नवक बन रहा है। एवं यही 'नवधा-ऽथर्वणो वेद' है।

च्युयोन्मुख सोम के 'नवक' रूप 'दशर्क' स्थान से समतुलित वृद्धयुन्मुख अग्नि का दशर्क स्थान सोम को आत्मसात् करता हुआ विंशतिस्थान बन रहा है। "अग्निर्जागार तमयं सोम आह" के अनुसार अपने न्योक सोमसखा को अन्नादाग्नि ने अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। जब आप्य सोम अन्ना अग्नि में आहुत हो जाता है, तो अग्निगर्भ में प्रविष्ट सोम अग्न्यात्मक बनता हुआ तद्व्यवहार का ही भाजन बन जाता है, जैसा कि—'यदा द्रव्यं समागच्छते-अर्चं वाख्यायते, नाप्यः' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। अहमूर्ति अन्नादाग्नि इसी दशर्क सोम को गर्भ में लेकर विंशतिमावापन्न बन रहा है। इसप्रकार अन्नात्मक दशर्क के समन्वय से यह अन्नादात्मक दशक विंशतिकलोपेत बन जाता है। सोमापेक्षया यह विंशतिकल ऋगग्नि स्वाभाविक विकासधर्म्म से वृद्धयुन्मुख बनता हुआ घनभाव से युक्त है। बहिर्विकास-स्थानीय २० वाँ अग्निविकास घनभाव से युक्त है। फलतः २० के स्थान में २१ संख्या प्रतिष्ठित हो रही है।

पाठक इस सम्बन्ध में यह प्रश्न कर सकते हैं कि, ऋणस्थानीय सोम जब नवक है, तो इस समन्वय से घनस्थानीय दशर्क अग्नि एकोनविंशति (१९) बन सकता है। फिर इसे विंशति कैसे माना गया ?। प्रश्न समाधि यह होगी कि, ऋणात्मक सोम का जब घनात्मक अग्नि में आत्मसमर्पण होता है, तो ऋणघन की इस समानकालीन प्रवृत्ति में ऋणसोमापेक्षया घनाग्नि बलवान् है। सोमानुबन्धी ऋणभाव, अग्न्यनुबन्धी घनभाव, दोनों जब एक साथ प्रवृत्त होने लगते हैं, तो बलवान् अग्नि के घनभाव से निर्बल सोम का ऋण भाव अभिभूत हो जाता है। घनभाव में परिणत होता हुआ अग्नि ऋणभाव में परिणत होते हुए सोम के पूरे दशर्क का निगरण कर जाता है। इसप्रकार अपने एकत घनभाव से ११ भाव में परिणत होने वाला ऋगग्नि ऋणभावात्मक सोम की ऋणसंख्या का अभिभव करता हुआ पूरे दशर्क का निगरण कर एकविंशतिधा बन जाता है। यही—"एकविंशतिधा वाह्वृच्यम्" है।

द्वितीय विकास स्थानीय अग्नि की विकासावस्था ही वायुलक्षण यजु है। इसको 'शतक' कहा गया है। वायु अग्नि की ही अवस्थान्तर है, अतएव यह भी अग्निवत् विकासोन्मुख बनता हुआ एकत घनभाव से युक्त होता हुआ पूर्ण है। यही 'एकशतमध्वर्युशाखाः' है। चतुर्थ विकासस्थानीय साममय आदित्य सहस्रात्मक है। वाङ्मयमण्डल का स्वरूपनिर्माण करने वाले सहस्र गौतत्त्वों की सीमा सहस्र पर समाप्त है। आगे विकास का अभाव है। वेदसाहस्री की अपेक्षा पूर्वपरिच्छेद कथनानुसार सहस्र पर पूर्णसंख्या का विश्राम है। न यहाँ ऋणभाव है, न घनभाव है। यद्यपि यह ठीक है कि, परार्द्ध संख्या से सम्बन्ध रखने वाले उत्तर संख्या-विकास की अपेक्षा सहस्रसंख्या च्युयोन्मुख बनी हुई है। तथापि वेदसाहस्री का अवस्थान क्योंकि सहस्र पर ही है, अतः इस दृष्टि से उत्तरभावी घनभाव की अविवक्षा कर यहाँ ऋणभाव का (९९९) अभाव ही सिद्ध हो जाता है। फलतः आदित्यात्मक सामवेद की सहस्र ही शाखाएँ हो जाती हैं। यही—"सहस्रवर्त्मा सामवेदः" है।

❋ प्रकरणोपसंहार—

निष्कर्ष यही हुआ कि, प्रकृतिसिद्ध ऋण-धनभावों से '१०-१० १०० १०००' संख्या में विभक्त तात्त्विक वेदशाखाएँ 'ऋण, धन, धन, ऋणधनाभाव' भेद से '९ २१ १०१ १०००' इन शाखाओं में विभक्त हो रही हैं। शब्दवेद शब्दब्रह्म है, तत्त्ववेद परब्रह्म है। निरूप्य परब्रह्म का निरूपक शब्दब्रह्म परब्रह्म की प्रतिकृति है। जो शाखाविभाग परब्रह्म के हैं, वही शाखाविभाग शब्दब्रह्म में व्यवस्थित हुए हैं। अध्ययनसम्प्रदायभेद ही शाखाभेद का कारण नहीं है, अपितु प्राकृतिक-वेदतत्त्व-शाखा-विभाग ही शब्दात्मक वेद के शाखाविभाग की मूलप्रतिष्ठा है। यही प्रकृत प्रकरण का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका आगे के परिच्छेदों से भलीभांति स्पष्टीकरण हो रहा है। तत्त्वात्मक नित्यवेद का प्रतिपादन करने वाला शब्दात्मक अनित्यवेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय ?, इस प्रश्नसमाधि के लिए भूमिका-तृतीय-खण्ड की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हुए भूमिका द्वितीय खण्ड उपरत हो रहा है।

(क)—

		भृगुविकासरूपस्थानम्			अङ्गिरोविकासरूपस्थानम्		ऋ०	ध०		सोमः	अग्निः
आपः	भृगुः	आपः							शून्यस्थानम्		
आपः	भृगुः	वायुः	१				१		एकस्थानम्	०	
आपः	भृगुः	सोमः	१०	अङ्गिराः	अग्निः	१०	१		१ दशकस्थानम्	९	२१
आपः				अङ्गिराः	यमः	१०			१ शतकस्थानम्		१ सु
आपः				अङ्गिराः	आदित्यः	१			सहस्रस्थानम्		१

(ख)—

१	आपः	भृगुः	आपः			०		०	
२	आपः	भृगुः	वायुः			१		९ सोमः	अथर्ववेदः
३	आपः	भृगुः	सोमः	अङ्गिरा	अग्निः	१	१०	२१ सोममयोऽग्निः	ऋग्वेदः
४	आपः			अङ्गिराः	अग्निः		१	२ १ अग्निर्वायव्य	यजुर्वेदः
५	आपः			अङ्गिराः	अग्निः		१०	१००० अग्निरादित्यः	सामवेदः

(ग)—

१	१०	१०	१०	१००	१०००
सोमः	सोमः	सोम	अग्निः	अग्नि	अग्निः
ऋणम्	ऋणम्	ऋणम्	धनम्	धनम्	धनम्
०	९	२१		११	१००
	अथर्ववेद	ऋग्वेद		यजुर्वेद	सामवेद
आपः	वायुः	सोमः	अग्निः	वायु	आदित्यः
१	१०	१०	१०	१००	१००
ऋणम् १	ऋणम् १	धनम् १		धनम् १	न ऋणम् न धनम्

(घ)—

आपः	वायु	सोम		सोम १०	×	×
अथर्वा	अथर्वा	अथर्वा		अग्निः १०	वायु १०	आदित्य १०
०	१	१०		ऋक्	यजुः	साम
आपः	आप	आपः		आपः	आपः	आपः
भृगुः	भृगुः	भृगुः		अङ्गिराः	अङ्गिराः	अङ्गिरा
आपः	वायुः-हंसः	सोमः		अग्नि	वायुः-यमः	आदित्यः
०	१	२		२	३	४
विकासाभावः	प्रथमोविकासः	द्वितीयोविकासः		द्वितीयोविकासः	तृतीयोविकासः	चतुर्थोविकासः
०	१	१०		१	१०	१०
ऋणम् १	ऋणम् १	ऋणम् १		धनम् १	धनम् १	धनम् ०
०	०	९		२१	११	१००

ङ—

१	१०	१०	१०	१००	१०००	विकासा वास्तविक
सोमः	सोमः	सोमः	अग्निः	अग्नि	अग्नि	
ऋणम्	ऋणम्	ऋणम्–धनम्		धनम्	धनम्	
०	९	२१		१०१	१०००	विकासस्थलम्
	अथर्ववेद शाखाः	ऋग्वेदशाखाः		यजुर्वेदशाखा	सामवेदशाखा	वेदब्रह्मशाखाः
आपः	वायुः	सोमः–अग्निः		यमः	आदित्यः	परब्रह्मशाखाः
१	१०	१०–१०		१००	१०००	
ऋणम् १	ऋणम् १	धनम् १		धनम् १	न ऋणं, न धनम्	

ख—

	आपः	वायुः	सोमः	सोमाग्नी	वायुः	आदित्यः	
		अथर्वा	अथर्वा	ऋक्	यजुः	साम	
भाग-आप-अग्निः इति त्रित्यमर्यन्त्रम्	आपः	आप	आपः	आपः	आपः	आपः	समायमापोमाग उद्गीथः
अपां द्वैमाध्यम्—भृगु, अङ्गिरा	भृगुः	भृगुः	भृगुः	अङ्गिरा	अङ्गिरा	अङ्गिरा	उद्गीथस्याधश्चरो भृगुः, ऊर्ध्वश्चरोऽङ्गिरा
अपांविकासक्रमस्थितानिरूपाणि	आपः	वायुर्हंसः	सोमः	अग्नि	वायुर्मयः	आदित्यः	
विकासस्सङ्केताः	०	१	२	२	३	४	
विकासोदर्काः	विकासा भावः	प्रथमो-विकासः	द्वितीयो-विकासः	द्वितीयो-विकासः	तृतीयो-विकासः	चतुर्थो-विकासः	
विकासमात्राः		१	१	१०–१	१	१	
सोमाग्निप्रकृतिभाषाः	ऋणम्	ऋणम्	ऋणम्	धनम्	धनम्	धनम्	
ऋणधनस्थानानि	०	०	१	१	१	०	
विकासस्थिता वेद-शाखाः	०	०	९	२१	१ १	१	

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

'अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखाविभाग' नामक

पञ्चमस्तम्भ—उपरत

५

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

शास्त्रीय-वचनाक्षरार्थसमन्वयात्मक

*परिशिष्ट-विभाग

--*--

श्री :

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्डान्तर्गत–शास्त्रीय–वचनाद्यर्थसमन्वयात्मक

※ परिशिष्ट-विभाग

——※——

(१)–नि षु सीद गणपते ! (पृ० सं० १)—

हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में, तथा स्तोतृगणों में) विराजिए । क्योंकि (विद्वद्गण) आप को ही कवियों में श्रेष्ठतम मेधावी समझते हैं । अपिच (हे गणपते !) आप के (अनुग्रह के) बिना लौकिक अथवा वैदिक, कोई भी कर्म्म सुसम्पन्न नहीं हो सकता (इसलिए प्रत्येक कर्म्म के आरम्भ में आपका प्रथमस्मरण अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है) । हे महनीय गणपते ! आग्नेय त्रिवृत (९), वायव्य पञ्चदश (१५) दिव्य आहवनीयात्मक सप्तदश (१७), आदित्य एकविंश (२१), भास्वरसोमानुगत त्रिणव (२७), तथा दिक्सोमानुगत त्रयस्त्रिंश (३३), इत्यादि विविध वाङ्मय स्तोमों से युक्त, अतएव आर्षप्रज्ञानिष्ठों की दृष्टि से उपयोगी जो यह वाङ्मय स्तोम है, उसे आप निर्विघ्न सुसम्पन्न बनाने का अनुग्रह करेंगे, यही हमारी प्रारम्भिक मङ्गलकामना है ।

—ऋक्सं० १०।११२।९।

(२)–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध ० (पृ० सं० १)—

एक ही प्राणाग्नि अपने विभूतिभाव से अनेकरूपों से प्रज्वलित हो रहा है । एक ही सूर्य्य अपने विष्कम्भ परिणाह–एवं ह्रस्व–भावानुबन्धी मूर्त्ति–मण्डल–पुरुष–रूप से सम्पूर्ण विश्व में अभिव्याप्त हो रहा है । एक ही (अश्वमेध की मेध्यशिरोभूता) उषा सम्वत्सरात्मक कालचक्र के परिवर्त्तन के अनुपात से सम्पूर्ण त्रैलोक्य में प्रतिभासित है । एक ही तो ब्रह्म 'इदं' रूपेण प्रतीयमान इस सर्ग–प्रपञ्च में विभूतिलक्षण विवर्त्त भाव से अभिव्याप्त है ।

—ऋक्सं० ८।५८।२८।२।

(३)–वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे० (पृ १)—

(१)– 'आठ (८) वसु, ग्यारह (११) रुद्र बारह (१२) आदित्य, दो (२) अश्विनीकुमार, इसप्रकार ३३ अवान्तर विभागों में विभक्त (१)–यज्ञियदेवता, (२)–सौम्य देवता, (३)–कर्म्मदेवता, (४)–आत्म देवता, (५)–अभिमानीदेवता, (६)–पुरुषविध चेतन (मनुष्य) देवता, (७)–मन्त्रदेवता, (८)–चन्द्रदेवता, ये अष्टविध सम्पूर्ण देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बना कर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं,

(अयात् 'देवपात्रं वा यदेव वषट्कारः' इत्यादि श्रुति के अनुसार वाङ्मय वषट्कार ही इन सम्पूर्ण देवताओं की आधारभूमि है)। सप्तविंशति (२७) गन्धर्व, पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज, भेद से पञ्चधा विभक्त (५) पशु, अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज-भेदभिन्न चतुर्विध (४) मनु, ये सब (भी) वाक्तत्त्व को आधार बना कर ही उपजीवित हैं। रोदसी-क्रन्दसी-एवं संयती नामक त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप भू-भुव-स्वः-महः-जनत्-तप-सत्यम्-इन सात लोकों की समष्टिरूप सम्पूर्ण भुवन (लोक) वाक्सूत्र में ही प्रोत हैं। इसप्रकार देवता-गन्धर्व-पशु-मनु-लोक-आदि रूप से जो वाग्देवी-'अथो वागेवेदं सर्वम्' के अनुसार सर्वत्र व्याप्त हो रही है, 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (वेदवाङ्मय प्रस्तुत ग्रन्थानुष्ठान में) हमारी प्रार्थना सुने।

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।४।

(४)—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य (पृ० सं० १)—

"अक्षरमिति-(१-अ-२-क्ष-३-रम्-इति) = त्र्यक्षरम्" (ताण्ड्यब्रा० १०।५।१)-"वाग्-इत्येकाक्षरम्"-"एकाक्षरा वै वाक्" इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार वाग्रूप एकाक्षरब्रह्म, किंवा एकाक्षररूप वाग्ब्रह्म ऋतः(प्राण) तत्त्व से सर्वप्रथम समुद्भूत होने के कारण 'ऋतस्य प्रथमजा' नाम से प्रसिद्ध है। ऋत की प्रथमजा यह स्वायम्भुवी वाग्देवी सहस्रधा-महिमान-सहस्रलक्षणा अनन्त वेदों की जननी है, अमृत (पारमेष्ठ्य सोम) की उद्गमभूमि है। ऐसी यह वाग्देवी अमृतवर्षण करती हुई हमारे इस वाङ्मय यज्ञ में पधारे। अपिच (अपने 'आम्भृणी' रूप अर्थस्वरूप से) हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी हमारी यह वाङ्मयी प्रार्थना सुनने का अनुग्रह करे।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।८।८।

(५)—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्० (पृ० सं० १)—

(षोडशकल 'आत्मक्षर' नाम की अपरामप्रकृति से, एवं षोडशकल 'अक्षर' नाम की परामप्रकृति से नित्य संश्लिष्ट षोडशकल, निष्कल परात्परामिन्न) जो अव्ययपुरुष (षोडशीप्रजापति) प्राणप्रकृतिक अव्यक्त-स्वयम्भू ब्रह्मा को (सर्वप्रथम) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित करता है, जो अव्ययब्रह्म इस स्वयम्भूब्रह्म के लिए ऋक्-यत्-जू-साम-लक्षण ब्रह्मनिःश्वसित (तत्त्वात्मक) नित्यकूटस्थ अपौरुषेय वेदों को प्रदान करता है, (मानवीय आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-इन चारों पर्वों में से पुरुषानुगत) आत्मा, तथा बुद्धि-इन दो पर्वों को स्वज्ञानज्योति से ज्योतिष्मान् बनाए रखने वाले इत्थंभूत विश्वाधार-सर्वाधार-(वेदैकवेद्य) उस अव्ययात्म देव को प्रज्ञासक्तिकामनाबन्धनविमोकलक्षणा मुक्ति की कामना से मैं सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर रहा हूँ।

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

(६)—अग्निर्जागार तमृच० कामयन्ते० (पृ० सं० १)—

ब्रह्मनिःश्वसित वेदमूर्ति स्वायम्भुव प्राणाग्निदेव (विश्वनिर्म्माण के लिए) जग पड़े हैं (व्याकभाव में परिणत हो गए हैं)। ऐसे जागरूक प्राणाग्नि (ब्रह्माग्नि-वेदाग्नि) की ऋचाएँ उसकी कामना कर रहीं

है। अग्निदेव जग पड़े हैं, मयरूपात्मक साम इन जागरूक अग्निदेव के अनुगत हो गए हैं। अग्निदेव जग पड़े हैं। ऐसे जागरूक (यजुर्मूर्ति ऋक्सामय) इन अन्नादभूत अग्निदेव से अन्नात्मक सोमदेवता यह आवेदन कर रहे हैं कि, हे जागरूक अन्नादाग्ने! मैं आपका न्योक (निम्न-कक्षा-छोटी श्रेणि में प्रतिष्ठित रहने वाला) मित्र हूँ।

—ऋक्सं० ५।४४।१५।

(७)—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था० (पृ० सं० १)—

(ऋक्सामयजुभावों के सहस्ररश्मिरूप से वितत होने के कारण 'सहस्र' नाम से प्रसिद्ध वेदप्रजापति के) * पञ्चदशस्तोमात्मक उक्थ (नभ्यभाग) सहस्ररूप से ही परित: वितत हो रहे हैं। जिस पारावतपृष्ठ पर्य्यन्त संयतीत्रैलोक्य का द्यावापृथिवीमयरूप व्याप्त है, तत्सीमापर्य्यन्त ही यह सहस्रोक्थमूर्त्ति वेदप्रजापति व्याप्त है। केवल एक सहस्रभाव पर ही इसका स्वरूपावसान नहीं है। अपितु ऋक्सामों के अर्कात्मक न्यूङ्खन से सम्बन्ध रखनें वाली प्रविभजनपरम्परम्पराओं से चारों ओर सहस्र के सहस्रधा महिमात्मक वितान हो जाते हैं। जिस पारावतपृष्ठ-सीमापर्य्यन्त स्वयम्भू ब्रह्म विशेषरूपेण अवस्थित हैं, लोक-वेद-साहस्री से समन्विता यह वाक्-साहस्री उस सीमापर्य्यन्त व्याप्त है। 'किं तत् सहस्रमिति?-इमे लोका, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्' इत्यादि मन्त्रान्तर से अनुप्राणिता लोक-वेद-वाक्-साहस्रियों का महिमात्मक सहस्रधा-सहस्र-वितान ही तो तत्त्वात्मक वेद का वास्तविक स्वरूप है, जिसका प्रस्तुत खण्ड में दिग्दर्शन कराया गया है।

—ऋक्सं० १०।११४।८।

८—ओष्ठापिधाना न कुली० (पृ० सं० १)—

वैदिक-लौकिक-रूप सम्पूर्ण वाग्विवर्त्तों पर शासन करने वाली आम्भृणी-वागृगर्भिता औपनिषद-सिद्धान्तरूपा पारमेष्ठिनी सरस्वती × वाग्देवी मेरे मुख से अनुद्वेगकरी-अर्थगम्भीरा-शिष्टजनसम्मता-शोभना वैखरीवाणी का ही उच्चारण कराने का अनुग्रह करें। इत्थंभूता वाग्देवी ओष्ठपुटद्वयरूप सीमाभाव से सुरक्षित है। वज्रवत्-घनीभूत, अतएव विस्पष्टाक्षर-वर्ण-पद-वाक्यादि के प्रयोग में सर्वथा समर्थ-दन्तपङ्क्ति से घिरी हुई है। तात्पर्य्य-प्राणमयी वाग्देवी से प्रेरिता मेरी वाक् विस्पष्ट, एवं सारार्थवती ही प्रमाणित हो।

—ऐतरेय आरण्यक ३।२।५।

---

* 'अन्तर्य्यामावुप्रदात्-पञ्चदशस्तोमं निरमिमीत'।

—शत० ८।१।१।८।

×—सिद्धान्तमौपनिषद, शुद्धान्तं परमेष्ठिनः।
शोणाधरमहः किञ्चिद्-वीणाधरमुपास्महे ॥

—लघुपाराशरी

(९)–स योऽयं मध्ये प्राण० (पृ० सं० ३)—

सो जो कि सप्तपुरुषपुरुषात्मक इन सप्तविलक्षण विश्व प्राणों में मध्य में–केन्द्र में–प्रतिष्ठित प्राण है, वही इन्द्र है। अपने ऐन्द्रियक (रश्मिरूप) वीर्य्य से यह मध्यस्थ प्राण इतर प्राणों को अपने केन्द्र स्थान से प्रज्वलित करता है। सो जो कि, यह प्राणों का समिन्धन करता है, अतएव इसे 'इन्ध' कहा जा सकता है, जो कि–'इन्ध' शब्द ही देवताओं की परोक्षभाषा में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है।

—शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।२।

(१०)–स यदस्य सर्वस्य० (पृ० सं० ३)—

सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति ने क्योंकि इस तत्त्व को सम्पूर्ण सृष्टिसर्ग के सब से पहिले उत्पन्न किया, अतएव यह तत्त्व 'अग्रि' कहलाया। इस 'अग्रि' (अग्र–प्रथम उत्पन्न) तत्त्व को ही परोक्षभाषा में 'अग्नि' कहा गया है।

—शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।११।

(११)—स समुद्रात्–अमुच्यत० (पृ० सं० ३)—

यह (आग्नेमय अन्वनपाशप्रवर्त्तक) तत्त्व पारमेष्ठ्य समुद्र से ही मुक्त हुआ, अवर्य्यरूप स पारमेष्ठ्य मयव्न्त से पृथक् हुआ। इस मुञ्चनभाव से ही यह तत्त्व 'मुच्यु' कहलाया। उस इस तत्त्व को 'मुच्यु' कहने के स्थान में परोक्षभाषा में 'मृत्यु' कहा गया। क्योंकि देवता (सत्त्वगुणानुगत परोक्ष आत्मनिष्ठ विद्वान्) परोक्ष के तो प्रेमी होते हैं, एवं परामव के हेतुभूत प्रत्यक्ष के शत्रु बने रहते हैं।

—गोपथब्रा० पू० १।७।

(१२)—आप यच्च वृत्वा० (पृ० सं० ४)—

इन पारमेष्ठ्य पानियों (अम्म –नामक प्राणात्मक आप) नें सम्पूर्ण भुवनों का संवरण कर उन पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अतएव इस संवरणधर्म्म से ही इत्थंभूत आपः–तत्त्व 'वरण' कहलाया। उस इस तत्त्व को 'वरण' कहने के स्थान में परोक्षभाषा से 'वरुण' कहा गया।

—गोपथब्रा० पू० १।७।

(१३)—स य स वैश्वानरः० (पृ० सं० ४)—

सो जो कि यह वैश्वानर है, ये ही लोक (लोकात्मक अग्नित्रय) वह वैश्वानर है। महापृथिवी का त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न यह पृथिवीलोक ही पहिला विश्व है। इसका नर (नायक–अधिष्ठाता–अधिष्ठाता) घनावस्थापन्न (घनावस्थापन्न) 'अग्नि' नामक अग्नि ही है। पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न यह अन्तरिक्ष लोक ही दूसरा विश्व है। इसका नर तरलावस्थापन्न (तरलावस्थापन्न) 'वायु' नामक अग्नि ही है। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न यह द्युलोक ही तीसरा विश्व है। इसका नर भरणावस्थापन्न (विरलावस्थापन्न) 'आदित्य' नामक अग्नि हो है। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–इन तीनों विश्वों के अग्नि–वायु–आदित्य–इन

तीन नरों के पारस्परिक सघर्षात्मक सङ्घोबल से उत्पन्न तापधर्म्मा त्रैलोक्य व्यापक (वैश्वानरो यतते सूर्य्येण, आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्) यौगिक अग्नि ही 'वैश्वानर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

—शत० ब्रा० ६।३।१।२।

(१४)—वाग्वै बृहती० (पृ० स० ४)—

अव्यक्त स्वयम्भू की वेदवाक् से समुद्भूता पारमेष्ठिनी सोमप्राणमयी सरस्वतीवाक् से अभिन्ना 'वैकुरवाक्' नाम की वाक् ही बृहतसूर्य्य की जननी बनती हुई 'बृहती' नाम से प्रसिद्ध है। 'बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषा प्रथम' के अनुसार सौरमण्डल के ऊर्ध्व भाग में, एवं पारमेष्ठ्य मण्डल के अन्त में प्रतिष्ठित वाजपेययज्ञ का प्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य उपग्रह ही इस पारमेष्ठ्य-वाक्तत्त्व का प्रवर्ग्यरूप पति है। इसीलिए यह 'बृहस्पति' (बृहतीवाक् का पति) कहलाया है, जो कि यह बृहस्पति सौरमण्डल के ग्रहभूत देवसेनाधिपति बृहस्पति से, तथा लुब्धकबन्धु नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति से सर्वथा विभिन्न तत्त्व माना गया है।

—शत० ब्रा० १४।४।१।२२।

(१५)—सह हैवेमावग्रे लोकावासतु (पृ० स० ४)—

इस निगम के समन्वय के लिए हमें पार्थिवसृष्टि के उस आरम्भ की दशा को लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिस अवस्था में कि पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ—आदि लोकों का विभाजन नहीं हुआ था। अपितु 'समन्विकमिव ह वा ऽइमेऽग्रे लोका आसुः। इत्युन्मृश्या हैव द्यौरास' (शत०ब्रा० १।४।१।२२) के अनुसार भू अन्तरिक्ष द्यौ-तीनों लोक समन्विक बने हुए थे, एक दूसरे के अत्यन्त सन्निकट-एकीभूत से ही थे। द्युलोक मानो हाथ से ही छू लिया जा सकता था। यह वह अवस्था थी, जबकि भूपिण्ड का मूल उत्पादक अप्तत्त्व (अद्भ्य पृथिवी तै० उप०) फेन-मृद्-भावमात्र का अनुगामी बन पाया था। फलस्वरूप पृथिवी (भू) उस समय सर्वथा अल्पालीकृता (अल्पाकीचयुक्त-प्रतिष्ठाशून्य-भाव) थी, जबकि न ओषधियाँ उत्पन्न हुई थीं, न वनस्पतियाँ ('अल्पालीकृता हैष तर्हि पृथिव्यास। नौषधय आसु, नव नस्पतय। तदेवास्य मनस्यास' शत० ब्रा २।२।४।३।)। तदित्थ लोकाभिव्यक्तित्त्व से पूर्व की ऐसी अवस्था थी, जिसे लक्ष्य बना कर ही 'सह हैवामे' इत्यादि वचन प्रवृत्त हुआ है।

श्रुति कहती है कि—"आरम्भदशा में तीनों लोक एक साथ ही विद्यमान थे, अर्थात् तीनों एकाकार बने हुए थे। कालान्तर में घनता का आविर्भाव हुआ, एमूषवराह नामक भूवायु से पार्थिव मृत्परमाणुओं का संघठन-संवरण हुआ। परिणामस्वरूप पृथिवी, औरद्यौ—इन दो पृथक् लोकों का व्यवच्छेद हो गया। पृथक् पृथक् रूप से विलग इन दोनों लोकों के मध्य का जो आकाश प्रदेश था वही 'अन्तरिक्ष' रूप में परिणत हो गया (एवं यही तीसरा मध्यलोक कहलाया)। दोनों के मध्य में यह आकाशलोक 'देखा' गया। अतएव उस आरम्भदशा में इसका इस मध्ये-ईक्षण से विद्वानों ने 'ईक्षम्' नाम कर दिया। दोनों लोकों के अन्तर्भाग (मध्यभाग) में क्योंकि इसका ईक्षण हुआ, अतएव आगे चाकर यही 'ईक्षम्' 'अन्तरीक्षम्' नाम से प्रसिद्ध हो गया, जो कि शब्द आज लोक में 'अन्तरिक्ष' नाम से प्रसिद्ध है।

—शत० ब्रा० ७।१।२।२३।

(९)—स योऽय मध्ये प्राण ० (पृ० स० ३)—

सो यो कि स्वयुपुरुषपुरुषात्मक इन सर्वाग्निलक्षण चित्य प्राणों में मध्य में—केन्द्र में—प्रतिष्ठित प्राण है, वही इन्द्र है। अपने ऐन्द्रियक (रश्मिरूप) वीर्य्य से यह मध्यस्थ प्राण इतर प्राणों को अपने केन्द्र स्थान से प्रज्वलित करता है। सो जो कि, यह प्राणों का समिन्धन करता है, अतएव इसे 'इन्ध' कहा जा सकता है, जो कि—'इन्ध' शब्द ही देवताओं की परोक्षभाषा में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है।

—शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।२।

(१०)—स यदस्य सर्वस्य० (पृ० स० ३)—

सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति ने क्योंकि इस तत्त्व को सम्पूर्ण सृष्टिसर्ग के सब से पहिले उत्पन्न किया, अतएव यह तत्त्व 'अग्रि' कहलाया। इस 'अग्रि' (अग्र—प्रथम उत्पन्न) तत्त्व को ही परोक्षभाषा में 'अग्नि' कहा गया है।

—शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।११।

(११)—स समुद्रात्—अमुच्यत० (पृ० स० ३)—

वह (आपोमय स्पन्दनधाराप्रवर्त्तक) तत्त्व पारमेष्ठ्य समुद्र से ही मुक्त हुआ, अपार्यरूप स पारमेष्ठ्य समुद्र से पृथक् हुआ। इस मुञ्चनभाव से ही यह तत्त्व 'मुच्यु' कहलाया। उस इस तत्त्व को 'मुच्यु' कहने के स्थान में परोक्षभाषा में 'मृत्यु' कहा गया। क्योंकि देवता (सत्त्वगुणानुगत परोक्ष आत्मनिष्ठ विद्वान्) परोक्ष के तो प्रेमी होते हैं, एवं परामव के हेतुभूत प्रत्यक्ष के शत्रु बने रहते हैं।

—गोपथब्रा० पू० १।७।

(१२)—आप यच्च वृत्वा० (पृ० स० ४)—

इन पारमेष्ठ्य पानियों (अम्भ —नामक प्राणात्मक आप) ने सम्पूर्ण भुवनों का संवरण कर उन पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अतएव इस संवरणधर्म्म से ही इत्थंभूत आपः—तत्त्व 'वरण' कहलाया। उस इस तत्त्व को 'वरण' कहने के स्थान में परोक्षभाषा से 'वरुण' कहा गया।

—गोपथब्रा० पू० १।८।

(१३)—स य स वैश्वानर० (पृ० सं० ४)—

सो जो कि यह वैश्वानर है, ये ही लोक (लोकात्मक अग्नित्रय) वह वैश्वानर है। महापृथिवी का त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न यह पृथिवीलोक ही पहिला विश्व है। इसका नर (नायक—अधिष्ठाता—अभिमाता) घनावस्थापन्न (घनावस्थापन्न) 'अग्नि' नामक अग्नि ही है। पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न यह अन्तरिक्ष लोक ही दूसरा विश्व है। इसका नर धर्मावस्थापन्न (तरलावस्थापन्न) 'वायु' नामक अग्नि ही है। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न यह द्युलोक ही तीसरा विश्व है। इसका नर अरुणावस्थापन्न (विरलावस्थापन्न) 'आदित्य' नामक अग्नि ही है। पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यु—इन तीनों विश्वों के अग्नि—वायु—आदित्य—इन

(१६)–एहि ! इम विद्धि० (पृ० स०–१४)–

(पर्वताकारस्तूप-प्रदर्शन के माध्यम से वेदों की अनन्तता, एवं तन्मूला अविज्ञेयता का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् सावित्राग्नि के माध्यम से वेदों की विशयता का दिग्दर्शन कराते हुए आगे चल कर इन्द्र भरद्वाज से कह रहे हैं कि)–हे भरद्वाज ! आओ, देखो इधर । तुम इस तत्त्व को (सावित्राग्नि को) समझो, और यह समझो कि कि, यही 'सर्वविद्या' (अनन्तविद्या की प्रतीकभूता) है । यह उपक्रम करते हुए इन्द्र नें भरद्वाज के लिए सावित्राग्नि का ही स्वरूप विस्पष्ट किया । इसे जान कर, तन्माध्यम से अमृतसम्पत्ति (प्राणस्वरूपपरि– ज्ञान) प्राप्त कर भरद्वाज स्वर्लोक गमन कर गए, एवं वहाँ सावित्राग्निमूलक आदित्य (दिव्य इन्द्रप्राण) के साथ सामुज्यभाव प्राप्त कर लिया । जो विद्वान् सावित्राग्नि के इस रहस्यपूर्ण प्राणस्वरूप को जान लेता है, वह भी प्राणात्मक बनता हुआ भरद्वाजवत् स्वर्गमन करता हुआ आदित्य के साथ सायुज्यभाव प्राप्त कर लेता है । (१) ।

इन्द्र ने जिस सावित्राग्नि का स्वरूपविश्लेषण किया था, वह यह त्रयीविद्या ही तो है । जो इस त्रयीविद्यात्मिका सावित्राग्निविद्या को जान लेता है, वह उतनें (तीनों) लोकों को अपनें अधिकार में कर लेता है, जितनें कि लोक सावित्राग्निमयी त्रयीविद्या (सूर्य्यात्मिका गायत्रीमात्रिकवेदविद्या) से अनुशासित हैं । (२) ।

सर्वविद्या, त्रयीविद्या, अमृतभाव, आदित्य, सावित्रतत्त्व, इत्यादि सब सौर सावित्राग्नि के ही तो (विभिन्न अवस्थानुगत) विभिन्न नाम हैं । तरलावस्थापन्न अग्नि ही तो प्राणवायु है । अतएव ये सब नाम वायु के भी मानें जासकते हैं । विरलावस्थापन्न अग्नि ही इन्द्र, किंवा आदित्य है । अतएव ये सब नाम इन्द्र के भी मानें जासकते हैं । सौर इन्द्रसीमा से सलग्न पारमेष्ठ्य बृहतीपति बृहस्पति का विकास ही तो बृहत् सूर्य्य में इन्द्ररूप से हुआ है । अतएव ये सब नाम पारमेष्ठ्य बृहस्पति के भी माने जासकते हैं । स्वय परमेष्ठी प्रजापति ही तो अपनी आम्भृणीवाक् से समन्विता स्वरस्वतीवाक् के द्वारा वाक्पति बृहस्पति के रूप में परिणत हो रहे हैं । अतएव ये सब नाम प्रजापति के भी माने जासकते हैं । और सर्वान्त में ब्रह्मनि-श्वसित वेदमूर्त्ति अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म ही तो–'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्' इत्यादि के अनुसार आपोमय परमेष्ठी– प्रजापति के रूप में परिणत होरहा है । अतएव सर्वान्त में ये सब नाम ब्रह्म (स्वयम्भू) के मानें जासकते हैं । (यही तो सावित्राग्निमूला ब्रह्मान्ता अनन्तवेदमहिमा है, जिसका सावित्राग्निमाध्यम से महर्षि तित्तिरि ने स्पष्टीकरण किया है) । (३) ।

अनन्तवेद का प्रतीकभूत यह अग्नि पक्ष–पुच्छ–भावों से (तद्रूप–मर्त्य–भौतिक चित्यभावों से) सर्वथा पृथक् वायु (प्राण) ही है । अमृतरूप से सौरमण्डल में व्याप्त यही प्राणाग्नि इस वेदप्रतीकभूत तत्त्व का 'मुख' है, एव नभ्यभावात्मक स्वयं केन्द्रस्थ उक्थात्मक आदित्य (इन्द्र) शिर है । उक्थात्मक इन्द्ररूप आदित्य), एवं अर्कात्मक प्राणवायुरूप मुख, इन्हीं दोनों अग्निरूपों से वे सब इतर प्राण, तथा भूत ओतप्रोत हैं, जो इन दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित हैं । इसी 'सीव्यन' से प्राणवायु–आदित्याग्नि की समष्टि 'सावित्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । (४)

—तै०ब्रा० ३।३।२१।

(१६)—स ऐक्षत प्रजापति ० (पृ० सं० ४)—

सौर सावित्राग्निरूप हिरण्यगर्भप्रजापति ने देखा कि, मैंने जो कि अपने प्राणाग्नि के प्रथमभाग से अग्नि-वायु-आदित्य-इन तीन त्रैलोक्य-प्राणदेवताओं को उत्पन्न कर दिया, अतएव मैं सर्वात्मना क्षीण हो गया (इस निर्म्माण से)। इसी सर्वत्याग से प्रजापति 'सर्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हो गए, जो कि 'सर्वत्सर' शब्द ही आज 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

—शत० ब्रा० ११।१।६।१२।

(१७)—सम्पूषन् विदुषा नय० (पृ० सं० ६)—

हे पृथिवी प्रतिष्ठारूप पूषा देवता ! आप हमें उस सत्वज्ञ विद्वान् की शरण में ले चलिए, जो हमें सर्वथा सरलपद्धति से अपने अनुशासन में ले लेता है। एवं जो—ऐसा भी हो सकता है-वैसा भी हो सकता है-इसप्रकार सन्देह में न डाल कर- ऐसा ही है' इस निश्चित सिद्धान्त से समन्वित कर देता है। (१)

हम पुष्टिप्रवर्त्तक, अतएव 'पूषन्' नाम से प्रसिद्ध उस पार्थिव देवता (के अनुग्रह) से समन्वित हो रहे हैं, जो मूलप्रतिष्ठा के आधारभूत हमारे घरों का अनुशासन करता है। जो कि हमें ये प्रतिष्ठानस्थान ही तुम्हारी प्रतिष्ठा हैं', हमारा इसप्रकार पार्थिव प्रतिष्ठाभावों से उद्बोधन कराते रहते हैं। (२)

इत्थंभूत पार्थिव पूषा देवता का नियति-सापेक्ष व्यवस्थाचक्र कदापि नष्ट नहीं होता है। इस वृत्तात्मक चक्र का मूलप्रतिष्ठात्मक कोश (केन्द्रप्रतिष्ठा) कभी क्षीण नहीं होता। इसका सुतीक्ष्ण तेज कभी कुण्ठित नहीं होता है। (अपितु यह सदा केन्द्रबलानुगति से इस पार्थिव प्रजाओं का अपने पुष्टिगुण से संरक्षण करता रहता है। (३)।

—ऋक् सं० ६।५४।१,२,३।

(१८)—भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुभि ० (पृ० स १३)—

सुप्रसिद्ध वेदस्वाध्यायनिष्ठ महर्षि भरद्वाज शत-शत-शत-क्रम से अपने तीन आयुर्भोगकालों से वेद स्वाध्याय में तल्लीन बने रहे। अपनी अन्तिम अवस्था में जबकि भरद्वाज सर्वथा रलथ-वृद्ध-जरदास्थवत्- बन गए थे-(इनके स्वाध्यायरूप तप से प्रसन्न हो कर अभिमानीभावानुगत) इन्द्रदेवता पधारे, और भरद्वाज को सम्बोधन कर कहने लगे कि, हे भरद्वाज ! यदि हम तुम्हें चतुर्थ आयु और प्रदान कर दें, तो तुम इस आयु का उपयोग किसमें करोगे ? । भरद्वाज कहने लगे कि, भगवन् ! मैं तो उसका भी वेदस्वाध्याय में ही उपयोग करूँगा। इन्द्र ने भरद्वाज के इस उत्तर से मन ही मन सन्तुष्ट होते हुए वेद की अनन्तता के प्रति भरद्वाज का ध्यान आकर्षित करते हुए भरद्वाज को सर्वथा अविज्ञात पर्वताकार तीन वेदस्तूपों को दिखलाया। और फिर इन तीनों पर्वतों में से एक एक मुष्टिभर (मुठ्ठीभर) तत्व इन्द्र ने ले लिया एवं इन्हें लक्ष्य बना कर भरद्वाज से कहने लगे कि—भरद्वाज ! इधर देखो ! (जानते हो मेरी मुष्टियों में क्या है ?) । ये हैं वेद। तुमनें अपने विगत तीन आयुर्भोगकालों में (३ वर्षों में) तीन मुठ्ठीभर ही वेद ले पाया है। अभी तो इतनी अनन्त राशि जानने के लिए शेष है, जिनका तो तुमनें अभी तक स्पर्श भी नहीं किया है। इसीलिए तो वेदों को अनन्त कहा गया है।

—तैत्तिरीय ब्रा० ३।१०।११।

(२०)—प स्ते शतवल्शो विरोह० (पृ० स० २३)—

यज्ञिय कर्म्मकाण्ड में परिगृहीत 'यूप' को लक्ष्य बना कर प्रतीकविधा से इसके माध्यम से पारमेष्ठीप्रजापतिरूप अश्वत्थ को लक्ष्य बनाते हुए ऋषि कह रहे हैं कि, हे वनस्पते ! आप अपनी सैकड़ों (पूर्ण) शाखाओं में वितान कीजिए। हम भी आपके वितान के साथ साथ सहस्रशाखारूप में (अनन्तरूप से) वितानभाव प्राप्त करें। हे वनस्पते ! सुतीक्ष्ण और सावित्राग्नि के तत्वगकम्म से ही इस यज्ञरूप महत्त्वभाव की प्राप्ति के लिए आपको इस यज्ञ में हमने यूपात्मक स्थाणु मूलप्रतिष्ठा) रूप में परिणत किया है।

—ऋक्सं० ३।८।११।

(२१)—गौरीर्मिमाय सलिलानि० (पृ०स० २४)—

देखिए-उपनिषद्भूमिका तृतीयखण्ड—४४-४८ पृष्ठ

(२२)—शतब्रघ्न इषुस्तव० (पृ०स० २४)—

हे (अरक्षपकेन्द्रस्थ) इन्द्र ! आपका यह इषु (रश्मिरूप बाण) शतभाव से वितत हो, सहस्र पर्णात्मक बने। आप इस शत-सहस्ररूप इषु से युद्धकम्म में असुरों को परास्त करते हैं। एक-दश-शत-सहस्र-रूप रश्मिभावों का ही वेन्महिमारूप में वितान होता है। यही रश्मिरूप वह सहस्रधा-महिमान-सहस्र सम्वत्सर मण्डल है जिसमें असुर प्रवेश नहीं कर पाते, यही रहस्यविद्या है।

—ऋक्सं० ८।६६।७।

(२३)—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था० (पृ०स० २४)—

— देखिए उपनिषद्भूमिका द्वितीय खण्ड—परिशिष्टविभागानुगता प्र स० ८

(२४)—असद्वा इदमग्र आसीत्० (पृ०स०२४)—

वर्तमान सृष्टिदशा में 'इदं' रूपेण (अङ्गुली-निर्देशरूपेण) जो कुछ भाव हमें प्रतीत हो रहा है यह अपनी इस व्यक्त सृष्ट-सृष्टिदशा से पूर्व 'असत्' ही था। तात्त्विक लोग प्रश्न करते हैं कि, (सृष्टिमूलभूत) वह 'असत्' क्या था ? (अर्थात् असत्-तत्त्व का क्या स्वरूप था !)। उत्तर देते हैं-ऋषि ही सृष्टि से पूर्व 'असत्' थे। पुनः प्रश्न हुआ-वे ऋषि कौन थे ! (अर्थात् ऋषितत्त्व का क्या स्वरूप था !)। उत्तर प्राप्त होता है-प्राण ही वे ऋषि थे। वे सत्व क्यों कि इस सम्पूर्ण चर-अचर-प्रपञ्च से इसके इसीप्रकार के सृष्ट-व्यक्त-भौतिक-स्वरूप की इच्छा करते हुए वागव्यापाररूप श्रम, तथा प्राणव्यापाररूप तप से गतिशील बने। अतएव 'ऋषिगन' निर्वचन से गतिधर्मा वे असत्प्राण 'ऋषि'नाम से प्रसिद्ध हुए।

—शत० ब्रा० ६।१।१।१।

उपरतञ्चाय परिशिष्टविभाग

——※——

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड

(पञ्चस्तम्भात्मक)

उपरत

|||

प्रीयतामनेन—आत्मदेवतेति शम्